आदिपुराण (Adi Purana)

By आचार्य जिनसेन

चतुर्विंश पर्व- आद्य मंगल- भगवान्के केवल्योत्पत्ति और चक्ररत्नकी उत्पत्तिकी एकसाथ सूचना मिलनेपर केवल्यपूजाके लिये समवसरणमें जाना और पूजाके अन्तमें उनके एक सौ आठ नामों द्वारा भगवान्का स्तवन करना- भरतके द्वारा स्तुति कर चुकनेपर भगवान्से मार्ग तथा मार्गका फल आदिके स्वरूपके जाननेकी इच्छा प्रकट करना- भरतके प्रश्नके बाद भगवान् आदिनाथकी दिव्यध्वनिका होना; उन्होंने उसमें जीवाजीवादि तत्त्वोंका तथा षट्द्रव्यका विस्तृत विवेचन किया- श्री जिनेन्द्रके मुखसे दिव्य ध्वनि सुनकर भरत चक्रधर बहुत ही प्रसन्न हुए तथा सम्यग्दर्शन और व्रतकी शुद्धिको प्राप्त हुए; अन्य भव्य जीव भी यथायोग्य विशुद्धिको प्राप्त हुए- पुरिमताल नगरका स्वामी भरतका अनुज वृषभसेन नामक मुख्य गणधर हुए; राजा श्रेयांस तथा सोमप्रभ आदि भी दीक्षा लेकर गणधर हुए; ब्राह्मी और सुन्दरी भी दीक्षा लेकर गणिनीपदको प्राप्त हुईं; मरीचिको छोड़कर प्रायः सभी भ्रष्ट मुनि भगवान्के समीपमें प्रायश्चित्त लेकर फिरसे मुनि हो गये; भरतराज भगवान्की पूजा कर बड़े वैभवके साथ अपनी राजधानीमें वापिस लौटे---

---

पञ्चविंश पर्व- भरतके चले जाने और दिव्यध्वनिके बन्द हो जानेके कारण जब वहाँ बिलकुल शान्ति छा गई तब आठ प्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय और अनन्त चतुष्टयसे सुशोभित आद्य जिनेन्द्रकी सौधर्मेन्द्र स्तुति करने लगा; इसी के अन्तर्गत जन्म, केवलज्ञानके तथा देवकृत अतिशयोंका वर्णन है; साधारण स्तुति करनेके बाद पीठिका द्वारा सहस्रनामरूप महास्तवनकी भूमिका डाली- सहस्रनाम स्तवन- स्तवनके बाद इन्द्रने भगवान्से विहार करनेकी प्रार्थना की; तदनन्तर भगवान्का विहार हुआ; विहारका वर्णन---

---

षड्विंश पर्व

- भरत चक्रवर्तीका दिग्विजयके लिये प्रस्थान
- सेना, रथ, गज, अश्व आदिका प्रयाण एवं वैभव-वर्णन

सप्तविंश पर्व

अष्टाविंश पर्व

एकोनत्रिंश पर्व

त्रिंश पर्व

एकत्रिंश पर्व

द्वात्रिंश पर्व

त्रयस्त्रिंश पर्व

चतुस्त्रिंश पर्व

पञ्चत्रिंश पर्व

षट्त्रिंश पर्व

सप्तत्रिंश पर्व

अष्टात्रिंश पर्व

एकोनचत्वारिंश पर्व

चत्वारिंश पर्व

एकचत्वारिंश पर्व

द्विचत्वारिंश पर्व

त्रिचत्वारिंश पर्व

चतुश्चत्वारिंश पर्व

पञ्चचत्वारिंश पर्व

षट्चत्वारिंश पर्व

सप्तचत्वारिंश पर्व

आदिपुराण (प्रथम पर्व)

कथामुखवर्णन

> श्रीमते सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे । धर्मचक्रभृते भर्त्रे नमः संसारभीमुषे ॥ १ ॥

जो अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरंग और अष्टप्रातिहार्यरूप बहिरंग ऐश्वर्यसे सुशोभित हैं, जिन्होंने समस्त ज्ञेय पदार्थोंको जाननेवाले केवलज्ञानरूपी साम्राज्यका पद प्राप्त कर लिया है, जो धर्मचक्रके धारक हैं, लोकत्रयके अधिपति हैं और पंच परावर्तनरूप संसारका भय नष्ट करनेवाले हैं, ऐसे श्री अर्हन्तदेवको हमारा नमस्कार है। विशेष--इस श्लोकमें सब विशेषण ही विशेषण हैं विशेष्य नहीं है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि उक्त विशेषण जिसमें पाये जायें वही वन्दनीय है। उक्त विशेषण अर्हन्तदेवमें पाये जाते हैं अतः यहाँ उन्हींको नमस्कार किया गया है। अथवा 'श्रीमते' पद विशेष्यवाचक है। श्री ऋषभदेवके एक हजार आठ नामोंमें एक श्रीमत् नाम भी है जैसा कि आगे इसी ग्रन्थमें कहा जावेगा--'श्रीमान् स्वयंभूर्वृषभः' आदि। अतः यहाँ कथानायक श्री भगवान् ऋषभदेवको नमस्कार किया गया है। टिप्पणकारने इस श्लोकका व्याख्यान विविध प्रकारसे किया है जिसमें उन्होंने अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, भरत चक्रवर्ती, बाहुबली, वृषभसेन गणधर तथा पार्श्वनाथ तीर्थंकर आदिको भी नमस्कार किया गया प्रकट किया है। अतः उनके अभिप्रायके अनुसार कुछ विशेष व्याख्यान यहाँ भी किया जाता है। भगवान् ऋषभदेवके पक्षका व्याख्यान ऊपर किया जा चुका है। अरहन्त परमेष्ठीके पक्षमें 'श्रीमते' शब्दका अर्थ अरहन्त परमेष्ठी लिया जाता है; क्योंकि वह अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मीसे सहित होते हैं। सिद्ध परमेष्ठीके पक्षमें 'सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे' पदका अर्थ सिद्ध परमेष्ठी किया जाता है; क्योंकि वह सम्पूर्ण ज्ञानियोंके साम्राज्यके पदको--लोकाग्रनिवासको प्राप्त हो चुके हैं। आचार्य परमेष्ठीके पक्षमें 'धर्मचक्रभृते' पदका अर्थ आचार्य लिया जाता है; क्योंकि वह उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंके चक्र अर्थात् समूहको धारण करते हैं। उपाध्याय परमेष्ठीके पक्षमें 'भर्त्रे' पदका अर्थ उपाध्याय किया जाता है; क्योंकि वह अज्ञानान्धकारसे दूर हटाकर सम्यग्ज्ञानरूपी सुधाके द्वारा सब जीवोंका भरण-पोषण करते हैं और साधु परमेष्ठीके पक्षमें 'संसारभीमुषे' शब्दका अर्थ साधु किया जाता है क्योंकि वह अपनी सिंहवृत्तिसे संसार-सम्बन्धी भयको नष्ट करनेवाले हैं। इस श्लोकमें जो 'श्रीमते' आदि पद हैं उनमें जातिवाचक होनेसे एकवचनका प्रत्यय लगाया गया है अतः भूत भविष्यत् वर्तमान कालसम्बन्धी समस्त तीर्थंकरोंको भी इसी श्लोकसे नमस्कार सिद्ध हो जाता है। भरत चक्रवर्तीके पक्षमें इस प्रकार व्याख्यान है--जो नवनिधि और चौदह रत्नरूप लक्ष्मीका अधिपति है, जो सकलज्ञानवान् जीवोंके संरक्षणरूप साम्राज्यपदको प्राप्त है, (सकलाश्च ते ज्ञानाश्च सकलज्ञाः, सकलज्ञानां जीवानामवने रक्षणे तथाभूतं यत्साम्राज्यपदं तत् ईयुषे) जो पूर्व जन्ममें

किये हुए धर्मके प्रभावसे चक्ररत्नको धारण करता है, (धर्मेण--पुराकृतसुकृतेन प्राप्तं यच्चक्रं तत् बिभर्तीति धर्मचक्रभृत्) जो षट्खण्ड भरतक्षेत्रकी रक्षा करनेवाला है और जिसने संसारके जीवोंका भय नष्ट किया है अथवा षट्खण्ड भरतक्षेत्रमें सब ओर भ्रमण करनेमें जिसे किसी प्रकारका भय नहीं हुआ है (समन्तात् सरणं संसरणं संसारस्तस्मिन् भियं मुष्णातीति संसारभीमुट्) अथवा जो समीचीन चक्रके द्वारा सबका भय नष्ट करनेवाला है (अरेः सम्बन्धी चक्रे संसारं, सम्यक् च तत् चक्रं च संसारं तेन भियं मुष्णातीति संसारभीमुट्) ऐसे तद्भवमोक्षगामी चक्रधर भरतको नमस्कार है। बाहुबलीके पक्षमें निम्न प्रकार व्याख्यान है--जो भरत चक्रधरको धर्मयुद्धमें परास्त कर उत्तम शौर्यलक्ष्मीसे युक्त हुए हैं, जो धर्मके द्वारा अथवा धर्मके लिए चक्ररत्नको धारण करनेवाले भरतके स्तवन आदिसे केवलज्ञानरूप साम्राज्यके पदको प्राप्त हुए हैं। एक वर्षके कठिन कायोत्सर्गके बाद भरत-द्वारा वन्दन आदि किये जानेपर ही भगवान् बाहुबली स्वामीने निःशल्य हो क्षपकश्रेणी धारण कर केवलज्ञान प्राप्त किया था। जो 'भर्त्रे' (कामस्य भर्ता च तस्मै) कामदेव और राजा दोनों हैं अथवा 'भर्त्रे' (श्रियः भर्त्रे तस्मै)--लक्ष्मीके अधिपति हैं और कर्मबन्धनको नष्ट कर संसारका भय अपहरण करनेवाले हैं ऐसे श्री बाहुबली स्वामीको नमस्कार हो। इस पक्षमें श्लोकका अन्वय इस प्रकार करना चाहिए--श्रीमते, धर्मचक्रभृता, सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे, संसारभीमुषे, भर्त्रे, नमः। वृषभसेन गणधरके पक्षमें व्याख्यान इस प्रकार है। 'श्रीमते' यह पद चतुर्थ्यन्त न होकर सप्तम्यन्त है--(श्रिया--स्याद्वादलक्ष्म्या उपलक्षितं यद् जिनशासनं तस्मिन्) अर्थात् जो स्याद्वादलक्ष्मीसे उपलक्षित जिनशासन--अर्थात् श्रुतज्ञानके द्वारा परोक्ष रूपसे समस्त पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके साम्राज्यको प्राप्त हैं, जो धर्मचक्र अर्थात् द्वादशाङ्गरूप समूहको धारण करनेवाले हैं, जीवादि पदार्थोंके अनन्त स्वभावोंको पालते हैं, मुनिसंघके अधिपति हैं और अपने सदुपदेशोंके द्वारा संसारका भय नष्ट करनेवाले हैं ऐसे वृषभसेन गणधरको नमस्कार हो। 'धर्मं धरणीन्द्रं चक्राकारेण बिभर्तीति धर्मचक्रभृत् पार्श्वतीर्थकरः'। उक्त व्युत्पत्तिके अनुसार 'धर्मचक्रभृते' शब्दका अर्थ पार्श्वनाथ भी होता है अतः इस श्लोकमें भगवान् पार्श्वनाथको भी नमस्कार किया गया है। इसी प्रकार जयकुमार, नारायण, बलभद्र आदि अन्य कथानायकोंको भी नमस्कार किया गया है। विशेष व्याख्यान संस्कृत टिप्पणसे जानना चाहिए। इस श्लोकके चारों चरणोंके प्रथम अक्षरोंसे इस ग्रन्थका प्रयोजन भी ग्रन्थकर्ताने व्यक्त किया है--'श्रीसाधन' अर्थात् कैवल्यलक्ष्मीको प्राप्त करना ही इस ग्रन्थके निर्माणका प्रयोजन है ॥ १ ॥

> नमस्तमःपटच्छन्नजगदुद्योतहेतवे । जिनेन्द्रांशुमते तत्त्वप्रभाभाभारभासिने ॥ २ ॥

जो अज्ञानान्धकाररूप पटलसे आच्छादित जगत्को प्रकाशित करनेवाले हैं तथा सब ओर फैलनेवाली तत्त्वज्ञानरूपी प्रभाके भारसे अत्यन्त उद्भासित--शोभायमान हैं, ऐसे श्री जिनेन्द्ररूपी सूर्यको हमारा नमस्कार है ॥ २ ॥

> जयत्यजर्यमाहात्म्यं विनाश्य सितकुशासनम् । शासनं जैनमुद्भासि मुक्तिलक्ष्म्येकशासनम् ॥ ३ ॥

जिसकी महिमा अजेय है, जो मिथ्यादृष्टियोंके कुशासनका खण्डन करनेवाला है, जो नय-प्रमाणके प्रकाशसे सदा प्रकाशित रहता है और मोक्षलक्ष्मीका प्रधान कारण है, ऐसा जिनशासन निरन्तर जयवन्त रहे ॥ ३ ॥

> रत्नत्रयमयं जैनं जयत्यदः । यस्य प्रसादादजयन् दुरितारातिवाहिनीम् ॥ ४ ॥

श्री अरहन्त भगवान्ने जिसके द्वारा पापरूपी शत्रुओंकी सेनाको सहज ही जीत लिया था, ऐसा जयशील जिनेन्द्रप्रणीत रत्नत्रयरूपी रथ हमेशा जयवन्त रहे ॥ ४ ॥

> यः साम्राज्यमधःस्थायि गीर्वाणाधिपवैभवम् । तृणाय मन्यमानः सन् प्राव्राजीदग्रिमः पुमान् ॥ ५ ॥

जिन अग्रपुरुष-पुरुषोत्तम (भगवान् वृषभदेव) ने इन्द्रके वैभवको तिरस्कृत करनेवाले अपने साम्राज्यको तृणके समान तुच्छ समझते हुए मुनिदीक्षा धारण की थी ॥ ५ ॥

> यमनुप्राव्रजन् भूरि सहस्राणि महीक्षिताम् । इक्ष्वाकूणां अभूतानां स्वामिसक्त्यैव केवलम् ॥ ६ ॥

जिनके साथ ही केवल स्वामिभक्तिसे प्रेरित होकर इक्ष्वाकु और भोजवंशके बड़े-बड़े हजारों राजाओंने दीक्षा ली थी ॥ ६ ॥

> व्रतं यस्य सदोन्मुक्तं निर्वोढुमसहिष्णवः । वन्यं पर्णफलैः कायं वृत्त्या वन्यैः प्रपेदिरे ॥ ७ ॥

जिनके निर्दोष चारित्रको धारण करनेके लिए असमर्थ हुए कच्छ-महाकच्छ आदि अनेक राजाओंने वृक्षोंके पत्ते तथा छालको पहनना और वनमें पैदा हुए कन्द-मूल आदिका भक्षण करना प्रारम्भ कर दिया था ॥ ७ ॥

> अनश्वांस्तपस्तेपे चिरं सोढ्वा परीषहान् । सर्वं सहत्वमाध्याय निर्जरासाधनं परम् ॥ ८ ॥

जिन्होंने आहार-पानीका त्याग कर सर्वंसहा पृथिवीकी तरह सब प्रकारके उपसर्गोंके सहन करनेका दृढ़ विचार कर अनेक परीषह सहे थे तथा कर्मनिर्जराके मुख्य कारण तपको चिरकाल तक तपा था ॥ ८ ॥

> चिरं तपस्यतो यस्य जटा जटिल बभुस्तराम् । ध्यानाग्निकर्मेन्धननिर्यद् धूमशिखा इव ॥ ९ ॥

चिरकाल तक तपस्या करनेवाले जिन भगवान्के मस्तकपर बढ़ी हुई जटाएँ ध्यानरूपी अग्निमें जलाये गये कर्मरूप ईंधनसे निकलती हुई धूमकी शिखाओंके समान शोभायमान होती थीं ॥ ९ ॥

> मर्यादाविविक्षया हेतोर्विहरन्तं यदृच्छया । चलन्तमिव सौवर्णं मेरुं यमीक्षन्ते स्म सुरासुराः ॥ १० ॥

मर्यादा प्रकट करनेके अभिप्रायसे स्वेच्छापूर्वक चलते हुए जिन भगवान्‌को देखकर सुर और असुर ऐसा समझते थे मानो सुवर्णमय मेरु पर्वत ही चल रहा है ॥ १० ॥

> श्रेयसि प्रयते दानं यस्मै तुष्ट्या प्रसेदुषि । पञ्चाश्चर्यमयीं वृष्टिं ववृषुः सुरवारिदाः ॥ ११ ॥

जिन भगवान्‌को हस्तिनापुरके राजा श्रेयांसके दान देनेपर देवरूप मेघोंने प्रसन्न होकर पाँच प्रकारके आश्चर्यरूप रत्नोंकी वर्षा की थी ॥ ११ ॥

> उदपादि विभोर्यस्य घातिकर्मारिनिर्जयात् । केवलज्ञानसंज्ञं तत् परं ज्योतिर्लोकालोकावभासकम् ॥ १२ ॥

कुछ समय बाद घातियाकर्मरूपी शत्रुओंको पराजित कर देनेपर जिन्हें लोकालोकको प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति प्राप्त हुई थी ॥ १२ ॥

> येनाभ्यधायि सद्धर्मः कर्मारातिनिबर्हणः । सदःसरोरुहाम्भोजवनदीधितिमालिना ॥ १३ ॥

जो समवसरणारूपी सरोवरमें बैठे हुए भव्य जीवोंके मुखरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान थे, और जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट करनेवाले समीचीन धर्मका उपदेश दिया था ॥ १३ ॥

> निशम्य स्वाम्वयमाहात्म्यं प्रनृत्तो वल्कलैर्वृतः । स सोख्यमगमत् साक्षात् चण्डीश्वर इवोत्कलः ॥ १४ ॥

और जिनसे अपने वंशका माहात्म्य सुनकर वल्कलोंको धारण किये हुए भरतपुत्र मरीचिने उल्लसित होकर नृत्य किया था ॥ १४ ॥

> तमादिदेवं नाभ्येयं पूज्यं वृषभध्वजम् । प्रणौमि प्रणिपत्याहं भक्त्या मुहुर्मुहुः ॥ १५ ॥

ऐसे उन नाभिराजाके पुत्र वृषभचिह्नसे सहित आदिदेव (प्रथम तीर्थंकर) भगवान् वृषभदेवको मैं नमस्कार कर एकाग्रचित्तसे बार-बार उनकी स्तुति करता हूँ ॥ १५ ॥

> अजितादीन् महावीरपर्यन्तान् परमेश्वरान् । जिनेन्द्रान् पर्युपासेऽहं धर्मसाम्राज्यनायकान् ॥ १६ ॥

इनके पश्चात्, जो धर्मसाम्राज्यके अधिपति हैं, ऐसे अजितनाथको आदि लेकर महावीर पर्यन्त तेईस तीर्थंकरोंको भी नमस्कार करता हूँ ॥ १६ ॥

> सकलज्ञानसाम्राज्ययौवराज्यपदे स्थितान् । संस्तौमि गणाधीशानाप्तज्ञानकण्ठिकान् ॥ १७ ॥

इसके बाद, केवलज्ञानरूपी साम्राज्यके युवराज पदमें स्थित रहनेवाले तथा सम्यग्ज्ञानरूपी कण्ठाभरणको प्राप्त हुए गणधरोंकी मैं बार-बार स्तुति करता हूँ ॥ १७ ॥

> अनादिनिधनं तुङ्गमनेकलदायिनम् । पावनं विपुलच्छायां श्रुतस्कन्धतरुं श्रयत ॥ १८ ॥

हे भव्य पुरुषो! जो द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आदि और अन्तसे रहित है, उन्नत है, अनेक फल देनेवाला है, और विस्तृत तथा सघन छायासे युक्त है, ऐसे श्रुतस्कन्धरूपी वृक्षकी उपासना करो ॥ १८ ॥

> एवं त्रिधात्मभिः स्तौत्रैः कृतमङ्गलसत्क्रियः । पुराणं संग्रहीष्यामि त्रिषष्टिपुरुषश्रितम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार देव गुरु शास्त्रके स्तवनों-द्वारा मंगळरूप सत्क्रियाको करके मैं तिरेसठ शलाका (चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र) पुरुषोंसे आश्रित पुराणका संग्रह करूँगा ॥ १९ ॥

> तीर्थेशानामपि चक्रेषां हलिनामर्धचक्रिणाम् । त्रिषष्टिलक्षणं वृत्तं वक्ष्ये तद्द्विषामपि ॥ २० ॥

तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों और उनके शत्रुओं--प्रतिनारायणोंका भी त्रिषष्टिलक्षणयुक्त पुराण कहूँगा ॥ २० ॥

> पुरातनत्वात् पुराणं स्यात् तन्महन्महदाश्रयात् । महद्भिर्दिष्टत्वात् महाश्रेयोऽनुशासनात् ॥ २१ ॥

यह चरित्र अत्यन्त प्राचीन कालसे प्रचलित है इसलिए पुराण कहलाता है। इसमें महापुरुषोंका वर्णन किया गया है अथवा तीर्थंकर आदि महापुरुषोंने इसका उपदेश दिया है, अथवा इसके पढ़नेसे महान् कल्याणकी प्राप्ति होती है इसलिए इसे महापुराण कहते हैं ॥ २१ ॥

> पूर्वं पुराणंमाश्रित्य प्रसृतत्वात् पुरातनम् । महच्च स्वमहिम्नैव तन्महैत्यभिधीयते ॥ २२ ॥

प्राचीन कवियोंके आश्रयसे इसका प्रसार हुआ है इसलिए इसकी पुराणता--प्राचीनता प्रसिद्ध ही है तथा इसकी महत्ता इसके माहात्म्यसे ही प्रसिद्ध है इसलिए इसे 'महापुराण' कहते हैं, ऐसा भी कितने ही विद्वान् महापुराणकी निरुक्ति-अर्थ करते हैं ॥ २२ ॥

> महापुरुषसंबन्धि महाभ्युदयशासनम् । महापुराणमाम्नातं मतमेतन्महर्षिभिः ॥ २३ ॥

यह पुराण महापुरुषोंसे सम्बन्ध रखनेवाला है तथा महान् अभ्युदय--स्वर्ग मोक्षादि कल्याणोंका कारण है इसलिए महर्षि लोग इसे महापुराण मानते हैं ॥ २३ ॥

> ऋषिप्रणीतत्वादाषं सूक्तं सूनृतशासनात् । धर्मानुशासनाच्चेदं धर्मशास्त्रमिति स्मृतम् ॥ २४ ॥

यह ग्रन्थ ऋषिप्रणीत होनेके कारण 'आर्ष', सत्यार्थका निरूपक होनेसे 'सूक्त' तथा धर्मका प्ररूपक होनेके कारण 'धर्मशास्त्र' माना जाता है ॥ २४ ॥

> इति ह आस इतीदं स्याद् वृत्तं तदन्वयात् । इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नायं चामनन्ति तत् ॥ २५ ॥

'इति ह आस (आसीत्)' अर्थात् यहाँ ऐसा हुआ--ऐसी अनेक कथाओंका इसमें निरूपण होनेसे ऋषिगण इसे 'इतिहास', 'इतिवृत्त', 'ऐतिह्य' और 'आम्नाय' भी मानते हैं ॥ २५ ॥

> पुराणमितिहासाख्यं यत्प्रोवाच गणाधिपः । तदप्यहमधीवेक्ष्य केवलं भक्तियोदितः ॥ २६ ॥

जिस इतिहास नामक महापुराणका कथन स्वयं गणधरदेवने किया है उसे मैं मात्र भक्तिसे प्रेरित होकर कहूँगा क्योंकि मैं अल्पज्ञानी हूँ ॥ २६ ॥

> धुरं गणभृतोक्तां विवक्षोर्मे महात्मनः । विवक्षोरिव दभ्रस्य पुंस्त्वमारभटं महत् ॥ २७ ॥

बड़े-बड़े बैलों-द्वारा उठाने योग्य भारको उठानेकी इच्छा करनेवाले बछड़ेको जैसे बड़ी कठिनता पड़ती है वैसे ही गणधरदेवके द्वारा कहे हुए महापुराणको कहनेकी इच्छा रखनेवाले मुझ अल्पज्ञको पड़ रही है ॥ २७ ॥

> क्व गम्भीरः पुराणाब्धिः क्व चाहंबोधदुर्विधः । अगाधं महोदधिं दोर्भ्यां तितीर्षुर्यामि हास्यताम् ॥ २८ ॥

कहाँ तो यह अत्यन्त गम्भीर पुराणरूपी समुद्र और कहाँ मुझ जैसा अल्पज्ञानी! मैं अपनी भुजाओंसे यहाँ समुद्रको तैरना चाहता हूँ इसलिए अवश्य ही हँसीको प्राप्त होऊँगा ॥ २८ ॥

> अथवास्त्वेतदल्पोऽपि यद् घटेऽहं स्वशक्तितः । लूनवालधिरप्युक्षा किं नोत्पुच्छयते तराम् ॥ २९ ॥

अथवा ऐसा समझिए कि मैं अल्पज्ञानी होकर भी अपनी शक्तिके अनुसार इस पुराणको कहनेके लिए प्रयत्न कर रहा हूँ जैसे कि कटी पूँछवाला भी बैल क्या अपनी कटी पूँछको नहीं उठाता ? अर्थात् अवश्य उठाता है ॥ २९ ॥

> गणाधीशैः प्रणीतेऽपि पुराणेऽस्मिन्नहं यते । सिंहैरासेविते मार्गे शृगोऽन्यैः केन वार्यते ॥ ३० ॥

यद्यपि यह पुराण गणधरदेवके द्वारा कहा गया है तथापि मैं भी यथाशक्ति इसके कहनेका प्रयत्न करता हूँ। जिस रास्तेसे सिंह चले हैं उस रास्तेसे हिरण भी अपनी शक्त्यनुसार यदि गमन करना चाहता है तो उसे कौन रोक सकता है ? ॥ ३० ॥

> पुराणऋषिभिः क्षुण्णे कथामार्गेऽस्ति मे गतिः । पौरस्त्यैः शोधितं मार्गं को वा नानुव्रजेज्जनः ॥ ३१ ॥

प्राचीन कवियों-द्वारा क्षुण्ण किये गये--निरूपण कर सुगम बनाये गये कथामार्गमें मेरी भी गति है क्योंकि आगे चलनेवाले पुरुषोंके द्वारा जो मार्ग साफ कर दिया जाता है फिर उस मार्गमें कौन पुरुष सरलतापूर्वक नहीं जा सकता है ? अर्थात् सभी जा सकते हैं ॥ ३१ ॥

महाकरीन्द्रसंमर्दे विरलीकृतपादपे । वने वन्येभकलभाः सुखेन स्युः स्वैरचारिणः ॥ ३२ ॥

अथवा बड़े-बड़े हाथियोंके मर्दन करनेसे जहाँ वृक्ष बहुत ही विरल कर दिये गये हैं ऐसे वनमें जंगली हाथियोंके बच्चे सुखपूर्वक जहाँ-तहाँ घूमते ही हैं ॥ ३२ ॥

महातिमिपृथुप्रोथपथीकृतजलेऽर्णवे । अतीत्य पर्यटन्त्येव ननु पोतोनशावकाः ॥ ३३ ॥

अथवा जिस समुद्रमें बड़े-बड़े मगरमच्छोंने अपने विशाल मुखोंके आघातसे मार्ग साफ कर दिया है उसमें उन मगरमच्छोंके छोटे-छोटे बच्चे भी अपनी इच्छासे घूमते ही हैं ॥ ३३ ॥

सुभटास्त्रसंपातनिरुद्धपतियोधिके । भटब्रुवोऽपि विश्रब्धं वल्गन्त्येव रणाङ्गणे ॥ ३४ ॥

अथवा जिस रणभूमिमें बड़े-बड़े शूर-वीर योद्धाओंने अपने शस्त्र-प्रहारोंसे शत्रुओंको रोक दिया है उसमें कायर पुरुष भी अपनेको योद्धा मानकर निःशंक हो उछलता है ॥ ३४ ॥

तत्पुराणकवीनेव मत्वा हस्तावलम्बनम् । महतोऽस्य पुराणाब्धेस्तरणायोद्यतोऽस्म्यहम् ॥ ३८ ॥

इसलिए मैं प्राचीन कवियोंको ही हाथका सहारा मानकर इस पुराणरूपी समुद्रको तैरनेके लिए तत्पर हुआ हूँ ॥ ३८ ॥

महत्यस्मिन् पुराणाब्धौ शाखाशततरङ्गके । स्खलितं यत्प्रमादान्मे तद् बुधाः क्षन्तुमर्हथ ॥ ३६ ॥

सैकड़ों शाखारूप तरंगोंसे व्याप्त इस पुराणरूपी महासमुद्रमें यदि मैं कदाचित् प्रमादसे स्खलित हो जाऊँ--अज्ञानसे कोई भूल कर बैठूँ तो विद्वज्जन मुझे क्षमा ही करेंगे ॥ ३६ ॥

कविप्रमादजान् दोषानपास्यास्मात् कथामृतात् । सन्तो गुणान् जिघृक्षन्तु गुणगृद्धो हि सज्जनः ॥ ३७ ॥

सज्जन पुरुष कविके प्रमादसे उत्पन्न हुए दोषोंको छोड़कर इस कथारूपी अमृतसे मात्र गुणोंके ही ग्रहण करनेकी इच्छा करें क्योंकि सज्जन पुरुष गुण ही ग्रहण करते हैं ॥ ३७ ॥

> सुभाषितामृतरससम्भृतेऽस्मिन् कथोदधौ । दोषग्राहानपाहाय यतध्वं सारसंग्रहे ॥ ३८ ॥

उत्तम-उत्तम उपदेशरूपी रत्नोंसे भरे हुए इस कथारूप समुद्रमें मगरमच्छोंको छोड़कर सार वस्तुओंके ग्रहण करनेमें ही प्रयत्न करना चाहिए ॥ ३८ ॥

> कवयः सिद्धसेनाद्या वयं तु कवयो मताः । मणयः पद्मरागाद्या मणौ काचोऽपि मेचकः ॥ ३९ ॥

पूर्वकालमें सिद्धसेन आदि अनेक कवि हो गये हैं और मैं भी कवि हूँ सो दोनोंमें कवि नामकी तो समानता है परन्तु योग्यतामें उतना ही अन्तर है जितना कि पद्मराग मणि और काँचमें होता है ॥ ३९ ॥

> यद्वचोदर्पणे विश्वं शास्त्रं प्रतिबिम्बितम् । तान् कवीन् बहु मन्येऽहं किमन्यैः कविमानिभिः ॥ ४० ॥

इसलिए जिनके वचनरूपी दर्पणमें समस्त शास्त्र प्रतिबिम्बित थे मैं उन कवियोंको बहुत मानता हूँ--उनका आदर करता हूँ। मुझे उन अन्य कवियोंसे क्या प्रयोजन है जो व्यर्थ ही अपनेको कवि माने हुए हैं ॥ ४० ॥

> नमः पुराणकारेभ्यो यद्वक्त्राब्जे सरस्वती । येषामद्यापि संदृश्ये सूत्रपातायितं वचः ॥ ४१ ॥

उन पुराणके रचनेवाले कवियोंको नमस्कार करता हूँ जिनके मुखकमलमें सरस्वती साक्षात् निवास करती है तथा जिनके वचन अन्य कवियोंकी कवितामें सूत्रपातका कार्य करते हैं--मूलभूत होते हैं ॥ ४१ ॥

> प्रवादिकरियूथानां केसरी नयकेसरः । सिद्धसेनकविर्जीयाद् विकल्पप्रसराङ्कुरः ॥ ४२ ॥

वे सिद्धसेन कवि जयवन्त हों जो कि प्रवादीरूप हाथियोंके झुण्डके लिए सिंहके समान हैं, नैगमादि नय ही जिनकी केसर (अयाल--गरदनपरके बाल) तथा अस्ति-नास्ति आदि विकल्प ही जिनके पैने नाखून थे ॥ ४२ ॥

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे । यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥ ४३ ॥

मैं उन महाकवि समन्तभद्रको नमस्कार करता हूँ जो कि कवियोंमें ब्रह्माके समान हैं और जिनके वचनरूप वज्रपातसे मिथ्यामतरूपी पर्वत चूर-चूर हो जाते थे ॥ ४३ ॥

कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि । यशः समन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ ४४ ॥

उत्तम कविता करनेवाले कवि, शिष्योंको ग्रन्थके मर्म तक पहुँचानेवाले गमक-टीकाकार, तर्क-वितर्क करनेवाले वादी और मनोहर व्याख्यान देनेवाले वाग्मी इन सभीके मस्तकपर समन्तभद्र स्वामीका यश चूडामणिके समान आचरण करनेवाला है, अर्थात् वे सबमें श्रेष्ठ थे ॥ ४४ ॥

श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये । कण्ठीरवायितं येन प्रवादीन्द्रप्रभेदने ॥ ४५ ॥

मैं उन श्रीदत्तके लिए नमस्कार करता हूँ जिनका शरीर तपोलक्ष्मीसे अत्यन्त सुन्दर है और जो प्रवादीरूपी हस्तियोंके विदारणमें सिंहके समान थे ॥ ४५ ॥

विदुष्विणीषु संसत्सु यस्य नामापि कीर्तितम् । नियच्छति मदोद्रेकं यशोभद्रः स पातु नः ॥ ४६ ॥

विद्वानोंकी सभामें जिनका नाम कह देने मात्रसे सबका गर्व दूर हो जाता है वे यशोभद्र मुनीश्वर हमारी रक्षा करें ॥ ४६ ॥

चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रं कविं स्तुमः । यश्चन्द्रोदयं कृत्वा शश्वदाह्लादितं जगत् ॥ ४७ ॥

मैं उन प्रभाचन्द्र कविकी स्तुति करता हूँ जिनका यश चन्द्रमाकी किरणोंके समान अत्यन्त शुक्ल है और जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना करके जगत्को हमेशाके लिए आह्लादित किया है ॥ ४७ ॥

चन्द्रोदयकृतस्तस्य यशः केन न वर्ण्यते । यदाकल्पमनाम्लानि सतां शेखरतां गतम् ॥ ४८ ॥

वास्तवमें चन्द्रोदयकी (न्यायकुमुदचन्द्रोदयकी) रचना करनेवाले उन प्रभाचन्द्र आचार्यके कल्पान्त काल तक स्थिर रहनेवाले तथा सज्जनोंके मुकुटभूत यशकी स्तुति कौन नहीं करता ? अर्थात् सभी करते हैं ॥ ४८ ॥

> यद्वचोऽमृतमास्वाद्य चाराध्यचतुष्टयम् । मोक्षमार्गं स जग्राह शिवकोटिमुनीश्वरः ॥ ४९ ॥

जिनके वचनोंसे प्रकट हुए चारों आराधनारूप मोक्षमार्ग (भगवती आराधना) की आराधना कर जगत्‌के जीव सुखी होते हैं वे शिवकोटि मुनीश्वर भी हमारी रक्षा करें ॥ ४९ ॥

> काव्यानुचिन्तने यस्य प्रबलोल्लासमूर्च्छयः । अर्थान् स्मारयन्तीव जटाचार्यः स नोऽवतात् ॥ ५० ॥

जिनकी जटारूप प्रबल-युक्तियोंसे युक्त वृत्तियाँ--टीकाएँ काव्योंके अनुचिन्तनमें ऐसी शोभायमान होती थीं मानो हमें उन काव्योंका अर्थ ही बतला रही हों, ऐसे वे जटासिंहनन्दि आचार्य (वरांगचरितके कर्ता) हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ ५० ॥

> धर्मानुशासनाद् येषां वक्त्राद् वाङ्मणयोऽमलाः । कथालंकारतां भेजुः काणभिक्षुर्जयत्यसौ ॥ ५१ ॥

वे काणभिक्षु जयवन्त हों जिनके धर्मरूप सूत्रमें पिरोये हुए मनोहर वचनरूप निर्मल मणि कथाशास्त्रके अलंकारपनेको प्राप्त हुए थे अर्थात् जिनके द्वारा रचे गये कथाग्रन्थ सब ग्रन्थोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ हैं ॥ ५१ ॥

> कवीनां तीर्थकृद्देवः किंतरां न प्रवर्त्यते । विदुषां वाङ्मलं क्षोदि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥ ५२ ॥

जो कवियोंमें तीर्थंकरके समान थे अथवा जिन्होंने कवियोंको पथप्रदर्शन करनेके लिए किसी लक्षणग्रन्थकी रचना की थी और जिनका वचनरूपी तीर्थ विद्वानोंके शब्दसम्बन्धी मैलको नष्ट करनेवाला है ऐसे उन देवाचार्य--देवनन्दीका कौन वर्णन कर सकता है ? ॥ ५२ ॥

> भट्टाकलङ्कश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः । विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः ॥ ५३ ॥

भट्टाकलंक, श्रीपाल और पात्रकेसरी आदिके अतिशय निर्मल गुण विद्वानोंके हृदयमें मणिमालाके समान सुशोभित होते हैं ॥ ५३ ॥

> कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित्वस्य च यः पदम् । गमकत्वस्य नेदिष्ठो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः ॥ ५४ ॥

वे वादिसिंह कवि किसके द्वारा पूज्य नहीं हैं जो कि कवित्वकी चरम सीमा, उत्तम व्याख्यान देनेवाले और गमकों--टीकाकारोंमें सबसे उत्तम थे ॥ ५४ ॥

> श्रीवीरसेन इत्यासीद् भट्टारकपृथुप्रथः । स नः पुनातु शुद्धेन धीवैशारद्यभासिना ॥ ५५ ॥

वे अत्यन्त प्रसिद्ध वीरसेन भट्टारक हमें पवित्र करें जिनकी आत्मा स्वयं पवित्र है तथा जो बुद्धि-विशारदतासे भासित हैं ॥ ५५ ॥

> लोकस्थितिः कवित्वं च स्थितं यत्र द्वयं द्वयम् । वाङ्मितया तिरस्कृत्य वचो वाचस्पतेरपि ॥ ५६ ॥

जो कवियोंमें श्रेष्ठ हैं, जो लोकव्यवहार तथा काव्यस्वरूपके महान् ज्ञाता हैं तथा जिनकी वाणीके सामने औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं सुरगुरु बृहस्पतिकी वाणी भी तिरस्कृत--अल्प जान पड़ती है ॥ ५६ ॥

> सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोर्गुरोः । मन्मनःसरसि नित्यं स्यात् पादकुशेशयम् ॥ ५७ ॥

धवलादि सिद्धान्तोंके ऊपर अनेक उपनिबन्ध--प्रकरणोंके रचनेवाले हमारे गुरुके भी गुरु श्रीवीरसेन भट्टारकके कोमल चरणकमल हमेशा हमारे मनरूप सरोवरमें विद्यमान रहें ॥ ५७ ॥

> धवलां भारतीं यस्य कीर्तिं च विधुनिर्मलाम् । धवलीकृतनिश्शेषभुवनां प्रणमाम्यहम् ॥ ५८ ॥

श्रीवीरसेन गुरुकी धवल, चन्द्रमाके समान निर्मल और समस्त लोकको धवलित करनेवाली वाणी (धवलाटीका) तथा कीर्तिको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ ५८ ॥

> जन्मभूमिस्तपोलक्ष्म्याः श्रुतप्रशमयोर्निधिः । जयसेनमुनिः पातु बुधवृन्दाग्रणीः स नः ॥ ५९ ॥

वे जयसेन गुरु हमारी रक्षा करें जो कि तपोलक्ष्मीके जन्मदाता थे, शास्त्र और शान्तिके भाण्डार थे तथा विद्वानोंके समूहके अग्रणी--प्रधान थे ॥ ५९ ॥

> स पूज्यः सर्वलोकेन कवीनां परमेश्वरः । वागर्थसंग्रहं कृत्स्नं पुराणं यः समग्रहीत् ॥ ६० ॥

वे कवि परमेश्वर लोकमें सर्वलोक-द्वारा पूज्य थे जिन्होंने शब्द और अर्थके संग्रहरूप समस्त पुराणका संग्रह किया था ॥ ६० ॥

> कवयोऽन्येऽपि सन्त्येव कस्तानुद्देष्टुमप्यलम् । सत्कृता ये जगत्पूज्यैस्तन्मया मङ्गलार्थिना ॥ ६१ ॥

इन ऊपर कहे हुए कवियोंके सिवाय और भी अनेक कवि हैं, उनका गुणगान तो दूर रहा नाम मात्र भी कहनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। मंगलकी प्राप्तिकी अभिलाषासे मैं उन जगत्पूज्य सभी कवियोंका सत्कार करता हूँ ॥ ६१ ॥

> ते एव कृतिनो लोके त एव च विचक्षणाः । येषां धर्मकथाङ्गत्वं भारती प्रतिपद्यते ॥ ६२ ॥

संसारमें वे ही पुरुष कृतकृत्य हैं और वे ही चतुर हैं जिनकी कि वाणी धर्मकथाके अंगपनको प्राप्त होती है, अर्थात् जो अपनी वाणी-द्वारा धर्मकथाकी रचना करते हैं ॥ ६२ ॥

> धर्मानुबन्धिनी या स्यात् कविता सैव शस्यते । शेषा पापाश्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते ॥ ६३ ॥

कविता भी वही प्रशंसनीय समझी जाती है जो धर्मशास्त्रसे सम्बन्ध रखती है। धर्मशास्त्रके सम्बन्धसे रहित कविता मनोहर होनेपर भी केवल पापास्त्रवके लिए होती है ॥ ६३ ॥

> केचिन्मिथ्यादृशः काव्यं कुर्वते श्रुतिपेशलम् । तदधर्मानुबन्धित्वान्न सतां प्रीणनक्षमम् ॥ ६४ ॥

कितने ही मिथ्यादृष्टि कानोंको प्रिय लगनेवाले मनोहर काव्यग्रन्थोंकी रचना करते हैं परन्तु उनके वे काव्य अधर्मानुबन्धी होनेसे--धर्मशास्त्रके निरूपक न होनेसे--सज्जनोंको सन्तुष्ट नहीं कर सकते ॥ ६४ ॥

> अश्रुतप्रपञ्चतराः केचित् कवित्वाय कृतोद्यमाः । प्रयान्ति हास्यतां लोके मूका इव विवक्षवः ॥ ६५ ॥

लोकमें कितने ही कवि ऐसे भी हैं जो व्याकरण-शास्त्रादिके विस्तारको न जानकर भी काव्यनिर्माणके लिए उद्यम करते हैं, परन्तु वे बोलनेकी इच्छा रखनेवाले मूक पुरुषकी तरह केवल हँसीको ही प्राप्त होते हैं ॥ ६५ ॥

केचिदन्यवचोलेशानादाय कविमानिनः । छायामारोपयन्त्यन्यां वस्त्रेष्विव वणिग्ब्रुवाः ॥ ६६ ॥

योग्यता न होनेपर भी अपनेको कवि माननेवाले कितने ही लोग दूसरे कवियोंके कुछ वचनोंको लेकर उसकी छाया मात्र कर देते हैं अर्थात् अन्य कवियोंकी रचनामें थोड़ा-सा परिवर्तन कर उसे अपनी मान लेते हैं जैसे कि नकली व्यापारी दूसरोंके थोड़े-से कपड़े लेकर उनमें कुछ परिवर्तन कर व्यापारी बन जाते हैं ॥ ६६ ॥

संभोक्तुमक्षमाः केचित् सरसां कृतिकामिनीम् । सहायान् कामयन्तेऽन्यानकल्पा इव कामुकाः ॥ ६७ ॥

श्रृंगारादि रसोंसे भरी हुई--रसीली कवितारूपी कामिनीके भोगनेमें--उसकी रचना करनेमें असमर्थ हुए कितने ही कवि उस प्रकार सहायकोंकी वांछा करते हैं जिस प्रकार कि स्त्रीसंभोगमें असमर्थ कामीजन औषधादि सहायकोंकी वांछा करते हैं ॥ ६७ ॥

केचिदन्यकृतैरर्थैः शब्दैश्च परिवर्तितैः । प्रसारयन्ति काव्यार्थान् प्रतिशिल्प्येव वाणिजाः ॥ ६८ ॥

कितने ही कवि अन्य कवियों-द्वारा रचे गये शब्द तथा अर्थमें कुछ परिवर्तन कर उनसे अपने काव्यग्रन्थोंका प्रसार करते हैं जैसे कि व्यापारी अन्य पुरुषों-द्वारा बनाये हुए मालमें कुछ परिवर्तन कर अपनी छाप लगाकर उसे बेचा करते हैं ॥ ६८ ॥

केचिद्वर्णोज्ज्वलां वाणीं रचयन्त्यर्थदुर्बलाम् । जातुषी कण्ठिकेवासौ छायामृच्छति नोच्छिखाम् ॥ ६९ ॥

कितने ही कवि ऐसी कविता करते हैं जो शब्दोंसे तो सुन्दर होती है परन्तु अर्थसे शून्य होती है। उनकी यह कविता लाखकी बनी हुई कंठीके समान उत्कृष्ट शोभाको प्राप्त नहीं होती ॥ ६९ ॥

केचिदर्थमपि प्राप्य तद्योग्यपदवर्णनैः । न सतां प्रीणनाय स्युः पात्रा रब्धाश्रियो यथा ॥ ७० ॥

कितने ही कवि सुन्दर अर्थको पाकर भी उसके योग्य सुन्दर पदयोजनाके बिना सज्जन पुरुषोंको आनन्दित करनेके लिए समर्थ नहीं हो पाते जैसे कि भाग्यसे प्राप्त हुई लक्ष्मीको कुपात्र मनुष्य योग्य स्थान-योजनाके बिना सत्पुरुषोंको आनन्दित नहीं कर पाती ॥ ७० ॥

> अनिस्तीर्णप्रकृतारम्भाः केचिन्निर्वहणाकुलाः । कवयो बत सीदन्ति कराक्रान्तकुटुम्बिवत् ॥ ७१ ॥

कितने ही कवि अपने इच्छानुसार काव्य बनानेका प्रारम्भ तो कर देते हैं परन्तु शक्ति न होनेसे उसकी पूर्ति नहीं कर सकते अतः वे टैक्सके भारसे दबे हुए बहुकुटुम्बी व्यक्तिके समान दुःखी होते हैं ॥ ७१ ॥

> आप्तपाशमताभ्यर्णे ग्रन्थैः पोषयन्त्यलम् । कवित्वं वृथैव तेषामकवित्वमुपासितम् ॥ ७२ ॥

कितने ही कवि अपनी कविता-द्वारा कपिल आदि आप्ताभासोंके उपदिष्ट मतका पोषण करते हैं--मिथ्यामार्गका प्रचार करते हैं। ऐसे कवियोंका कविता करना व्यर्थ है क्योंकि कुकवि कहलानेकी अपेक्षा अकवि कहलाना ही अच्छा है ॥ ७२ ॥

> अनभ्यस्तमहाविद्याः कलाशास्त्रबहिष्कृताः । काव्यानि कर्तुमीहन्ते केचित् पश्यत साहसम् ॥ ७३ ॥

कितने ही कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने न्याय, व्याकरण आदि महाविद्याओंका अभ्यास नहीं किया है तथा जो संगीत आदि कलाशास्त्रोंके ज्ञानसे दूर हैं फिर भी वे काव्य करनेकी चेष्टा करते हैं, अहो! इनके साहसको देखो ॥ ७३ ॥

> तस्मादभ्यस्य शास्त्रार्थानुपास्य च महाकवीन् । सधर्मं श्लाघ्यं सुयशः काव्यं कुर्वन्तु धीधनाः ॥ ७४ ॥

इसलिए बुद्धिमानोंको शास्त्र और आगमका अच्छी तरह अभ्यास कर तथा महाकवियोंकी उपासना करके ऐसे काव्यकी रचना करनी चाहिए जो धर्मोपदेशसे सहित हो, प्रशंसनीय हो और यशको बढ़ानेवाला हो ॥ ७४ ॥

> परेषां दूषणाज्जातु न बिभेति कवीश्वरः । किमुलूकभयाद् घोरं ध्वान्तं नोदेति भानुमान् ॥ ७५ ॥

उत्तम कवि दूसरोंके द्वारा निकाले हुए दोषोंसे कभी नहीं डरते। क्या अन्धकारको नष्ट करनेवाला सूर्य उल्लूके भयसे उदित नहीं होता ? ॥ ७५ ॥

> परे तुष्यन्तु वा मा वा कविः स्वार्थं प्रतोहताम् । न पराराधनाच्छ्रेयः श्रेयः सन्मार्गदेशनात् ॥ ७६ ॥

अन्यजन सन्तुष्ट हों अथवा नहीं, कविको अपना प्रयोजन पूर्ण करनेके प्रति ही उद्यम करना चाहिए। क्योंकि कल्याणकी प्राप्ति अन्य पुरुषोंकी आराधनासे नहीं होती किन्तु श्रेष्ठ मार्गके उपदेशसे होती है ॥ ७६ ॥

> पुराणकवयः केचित् केचिद् नवकवीश्वराः । तेषां मतानि भिन्नानि कस्तदाराधने क्षमः ॥ ७७ ॥

कितने ही कवि प्राचीन हैं और कितने ही नवीन हैं तथा उन सबके मत जुदे-जुदे हैं अतः उन सबको प्रसन्न करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ ७७ ॥

> केचित् सौशब्द्यमिच्छन्ति केचिदर्थस्य संपदम् । केचित् समासभूयस्त्वं परे व्यस्तां पदावलीम् ॥ ७८ ॥

क्योंकि कोई शब्दोंकी सुन्दरताको पसंद करते हैं, कोई मनोहर अर्थसम्पत्तिको चाहते हैं, कोई समासकी अधिकताको अच्छा मानते हैं और कोई पृथक्-पृथक् रहनेवाली असमस्त पदावलीको ही चाहते हैं ॥ ७८ ॥

> मृदुबन्धार्थिनः केचित् स्फुटबन्धेषिणः परे । मध्यमाः केचिदन्येषां रुचिस्त्वन्यैव लक्ष्यते ॥ ७९ ॥

कोई मृदुल-सरल रचनाको चाहते हैं, कोई कठिन रचनाको चाहते हैं, कोई मध्यम श्रेणीकी रचना पसन्द करते हैं और कोई ऐसे भी हैं जिनकी रुचि सबसे विलक्षण-अनोखी है ॥ ७९ ॥

> इति भिन्नाभिसन्धित्वाद् दुराराध्या मनीषिणः । पृथग्जनोऽपि सूक्तानामनाविर्भावतः सुहृत् ॥ ८० ॥

इस प्रकार भिन्न-भिन्न विचार होनेके कारण बुद्धिमान् पुरुषोंको प्रसन्न करना कठिन कार्य है। तथा सुभाषितोंसे सर्वथा अपरिचित रहनेवाले मूर्ख मनुष्यको वशमें करना उनकी अपेक्षा भी कठिन कार्य है ॥ ८० ॥

> सतीमपि कथां वक्तां दूषयन्ति हि दुर्जनाः । भुजङ्गा इव सच्छायां चन्दनद्रुममञ्जरीम् ॥ ८१ ॥

दुष्ट पुरुष निर्दोष और मनोहर कथाको भी दूषित कर देते हैं, जैसे चन्दनवृक्षकी मनोहर कान्तिसे युक्त नयी कोंपलोंको सर्प दूषित कर देते हैं ॥ ८१ ॥

सदोषामपि निर्दोषीं करोति सुजनः कृतिम् । घनात्यय इवात्यन्तं सरसीं पङ्कदूषिताम् ॥ ८२ ॥

परन्तु सज्जन पुरुष सदोष रचनाको भी निर्दोष बना देते हैं, जैसे कि शरद् ऋतु पंकसहित सरोवरोंको पंकरहित-निर्मल बना देती है ॥ ८२ ॥

दुर्जना दोषमिच्छन्ति गुणमिच्छन्ति सज्जनाः । स तेषां सहजः शीलो दुश्चिकित्स्यश्चिरादपि ॥ ८३ ॥

दुर्जन पुरुष दोषोंको चाहते हैं और सज्जन पुरुष गुणोंको। उनका यह सहज स्वभाव है जिसकी चिकित्सा बहुत समयमें भी नहीं हो सकती अर्थात् उनका यह स्वभाव किसी प्रकार भी नहीं छूट सकता ॥ ८३ ॥

यतो गुणधनाः सन्तो दुर्जना दोषवित्तकाः । यथा स्वधनमादत्त कः प्रतिबध्नाति जनः ॥ ८४ ॥

जब कि सज्जनोंका धन गुण है और दुर्जनोंका धन दोष, तब उन्हें अपना-अपना धन ग्रहण करनेमें भला कौन बुद्धिमान् पुरुष बाधक होगा ? ॥ ८४ ॥

दोषान् गृह्णन्तु वा कामं गुणास्तिष्ठन्तु नः स्फुटम् । गृहीतदोषं काव्यं हि जायते तद्धि पुष्कलम् ॥ ८५ ॥

अथवा दुर्जन पुरुष हमारे काव्यसे दोषोंको निकाल ही लें जिससे गुण-ही-गुण रह जायें, यह बात हमको अत्यन्त इष्ट है क्योंकि जिस काव्यसे समस्त दोष निकाल लिये गये हों वह काव्य निर्दोष होकर उत्तम हो जायेगा ॥ ८५ ॥

असतां दहति क्षिप्रं चेतो धर्मकथा सताम् । मन्त्रविद्यामिवाकर्ण्य महाग्रहविकारिणाम् ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार मन्त्रविद्याको सुनकर भूत, पिशाच, महाग्रहोंसे पीड़ित मनुष्योंका मन दुःखी होता है उसी प्रकार निर्दोष धर्मकथाको सुनकर दुर्जनोंका मन दुःखी होता है ॥ ८६ ॥

मिथ्यात्वदूषितधियामरुच्यं धर्मभेषजम् । सदप्यसदवाभाति तेषां पित्तोपपामिव ॥ ८७ ॥

जिन पुरुषोंकी बुद्धि मिथ्यात्वसे दूषित होती है उन्हें धर्मरूपी औषधि तो अरुचिकर मालूम होती ही है, साथमें उत्तमोत्तम अन्य पदार्थ भी बुरे मालूम होते हैं, जैसे कि पित्तज्वरवालेको औषधि या अन्य दुग्ध आदि उत्तम पदार्थ भी बुरे-कड़वे मालूम होते हैं ॥ ८७ ॥

> सुभाषितमहामन्त्रान् प्रयुक्तान् कविसन्त्रिभिः । दुर्जनाः प्रकोपमायान्ति मन्त्राहता इवोरगाः ॥ ८८ ॥

कविरूप मन्त्रवादियोंके द्वारा प्रयोगमें लाये हुए सुभाषित रूप मन्त्रोंको सुनकर दुर्जन पुरुष मन्त्राहत सर्पोंके समान प्रकोपको प्राप्त होते हैं ॥ ८८ ॥

> चिरप्ररूढग्रन्थिर्वेणुमूलमिवोत्थितः । नयते न नम्रतां कुटिलः श्वपुच्छसदृशोऽथवा ॥ ८९ ॥

जिस प्रकार बहुत दिनसे जमे हुए बाँसकी गाँठदार जड़ स्वभावसे टेढ़ी होती है उसे कोई सीधा नहीं कर सकता उसी प्रकार चिरसंचित मायाचारसे पूर्ण दुर्जन मनुष्य भी स्वभावसे टेढ़ा होता है उसे कोई सीधा-सरल परिणामी नहीं कर सकता अथवा जिस तरह कोई कुत्तेकी पूँछको सीधा नहीं कर सकता उसी तरह दुर्जनको भी सीधा नहीं कर सकता ॥ ८९ ॥

> सुजनः सुजनीकर्तुमशक्तो यच्चिरादपि । खलः खलीकरोत्येव जगदाशु तदद्भुतम् ॥ ९० ॥

यह एक आश्चर्यकी बात है कि सज्जन पुरुष चिरकालके प्रयत्नके बाद भी जगत्को अपने समान सज्जन बनानेके लिए समर्थ नहीं हो पाते परन्तु दुर्जन पुरुष उसे शीघ्र ही दुष्ट बना देते हैं ॥ ९० ॥

> सौजन्यस्य परा कोटिरनसूया दयालुता । गुणपक्षानुरागश्च दौर्जन्यस्य विपर्ययः ॥ ९१ ॥

ईर्ष्या नहीं करना, दया करना तथा गुणी जीवोंसे प्रेम करना यह सज्जनताकी अन्तिम अवधि है और इसके विपरीत अर्थात् ईर्ष्या करना, निर्दयी होना तथा गुणी जीवोंसे प्रेम नहीं करना यह दुर्जनताकी अन्तिम अवधि है ॥ ९१ ॥

> स्वभावमिति निश्चित्य सुजनस्येतरस्य च । सुजनेष्वनुरागो नो दुर्जनेष्ववधीरणा ॥ ९२ ॥

यह सज्जन और दुर्जनोंका स्वभाव ही है ऐसा निश्चय कर सज्जनोंमें न तो विशेष राग करना चाहिए और न दुर्जनोंका अनादर ही करना चाहिए ॥ ९२ ॥

सतां श्रुतिनिर्वाहार्थं सतो विज्ञाप्य चादरात् । कविताम्भोधिमुत्तर्तुं कृतनिश्चयोऽस्म्यहम् ॥ ९३ ॥

कवियोंके अपने कर्तव्यकी पूर्तिमें सज्जन पुरुष ही अवलम्बन होते हैं ऐसा मानकर मैं अलंकार, गुण, रीति आदि लहरोंसे भरे हुए कवितारूपी समुद्रको पार करना चाहता हूँ अर्थात् सत्पुरुषोंके आश्रयसे ही मैं इस महान् काव्य ग्रन्थको पूर्ण करना चाहता हूँ ॥ ९३ ॥

कवेर्भावोऽथवा कर्म काव्यं तद्विद्भिरिष्यते । तत्प्रतीतार्थमग्राम्यं सालंकारमनाकुलम् ॥ ९४ ॥

काव्यस्वरूपके जाननेवाले विद्वान् कविके भाव अथवा कार्यको काव्य कहते हैं। उनके मतमें वह काव्य सर्वसंमत अर्थसे सहित, ग्राम्यदोषसे रहित, अलंकारसे युक्त और प्रसाद आदि गुणोंसे शोभित होना चाहिए ॥ ९४ ॥

केचिदर्थस्य सौन्दर्यमपरे पदसौष्ठवम् । वाचामलंक्रियां प्राहुस्तद् द्वयं नो मतं मतम् ॥ ९५ ॥

कितने ही विद्वान् अर्थकी सुन्दरताको वाणीका अलंकार कहते हैं और कितने ही पदोंकी सुन्दरताको, किन्तु हमारा मत है कि अर्थ और पद दोनोंकी सुन्दरता ही वाणीका अलंकार है ॥ ९५ ॥

सालंकारमुपारूढरसमद्भूतसौष्ठवम् । अनुच्छिष्टं सतां काव्यं सरस्वत्या मुखायते ॥ ९६ ॥

सज्जन पुरुषोंका बनाया हुआ जो काव्य अलंकारसहित, उत्कृष्ट रसोंसे युक्त, सौन्दर्यसे ओतप्रोत और उच्छिष्टतारहित अर्थात् मौलिक होता है वह काव्य सरस्वतीदेवीके मुखके समान शोभायमान होता है अर्थात् जिस प्रकार शरीरमें मुख सबसे प्रधान अंग है, उसके बिना शरीरकी शोभा और स्थिरता नहीं होती उसी प्रकार सब लक्षणपूर्ण काव्य ही सब शास्त्रोंमें प्रधान है तथा उसके बिना अन्य शास्त्रोंकी शोभा और स्थिरता नहीं हो पाती ॥ ९६ ॥

अस्पष्टबन्धलालित्यमपेतं रसवत्तया । न तत् काव्यमिति ज्ञेयं केवलं कटु वाङ्मयम् ॥ ९७ ॥

जिस काव्यमें न तो रीतिकी रमणीयता है, न पदोंका लालित्य है और न रसका ही प्रवाह है उसे काव्य नहीं कहना चाहिए वह तो केवल कानोंको दुःख देनेवाली ग्रामीण भाषा ही है ॥ ९७ ॥

सुश्लिष्टपदविन्यासं प्रबन्धं रचयन्ति ये । आख्यानरूपं सन्तस्ते महाकवयो मताः ॥ ९८ ॥

जो अनेक अर्थोंको सूचित करनेवाले पदविन्याससे सहित, मनोहर रीतियोंसे युक्त एवं स्पष्ट अर्थसे उद्भासित प्रबन्धों--काव्योंकी रचना करते हैं वे महाकवि कहलाते हैं ॥ ९८ ॥

महापुराणसंबन्धि महानायकगोचरम् । त्रिवर्गफलसंदर्भं महाकाव्यं तदिष्यते ॥ ९९ ॥

जो प्राचीनकालके इतिहाससे सम्बन्ध रखनेवाला हो, जिसमें तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषोंके चरित्रका चित्रण किया गया हो तथा जो धर्म, अर्थ और कामके फलको दिखानेवाला हो उसे महाकाव्य कहते हैं ॥ ९९ ॥

निस्तस्थन् कतिपयैः श्लोकैः सर्वोऽपि स्यात् कविः । पूर्वापरार्थघटितः प्रबन्धो दुष्करः परैः ॥ १०० ॥

किसी एक सामान्य विषयको लेकर कुछ श्लोकोंकी रचना तो सभी कवि कर सकते हैं परन्तु पूर्वापरका सम्बन्ध जोड़ते हुए किसी प्रबन्धकी रचना करना कठिन कार्य है ॥ १०० ॥

शब्दराशिरपर्यन्तः स्वाधीनोऽर्थः स्फुटो रसः । सुलभाश्च प्रतिच्छन्दाः कवित्वे का दरिद्रता ॥ १०१ ॥

जब कि इस संसारमें शब्दोंका समूह अनन्त है, वर्णनीय विषय अपनी इच्छाके आधीन है, रस स्पष्ट हैं और उत्तमोत्तम छन्द सुलभ हैं तब कविता करनेमें दरिद्रता क्या है ? अर्थात् इच्छानुसार सामग्रीके मिलनेपर उत्तम कविता ही करना चाहिए ॥ १०१ ॥

प्रयान् महति शब्दार्थे खिन्नो गहनचारतः । महाकवितरुच्छायां विश्रामायाश्रयेत् कविः ॥ १०२ ॥

विकट शब्दमार्गमें भ्रमण करता हुआ जो कवि अर्थरूपी सघन वनोंमें घूमनेसे खेद-खिन्नताको प्राप्त हुआ है उसे विश्रामके लिए महाकविरूप वृक्षोंकी छायाका आश्रय लेना चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार महावृक्षोंकी छायासे मार्गकी थकावट दूर हो जाती है और चित्त हलका हो जाता है उसी प्रकार महाकवियोंके काव्यग्रन्थोंके परिशीलनसे अर्थाभावसे होनेवाली सब खिन्नता दूर हो जाती है और चित्त प्रसन्न हो जाता है ॥ १०२ ॥

प्रज्ञामूलो गुणोदग्रस्कन्धो वाक्पल्लवोज्ज्वलः । महाकवितरुर्धत्ते यशःकुसुममञ्जरीम् ॥ १०३ ॥

प्रतिभा जिसकी जड़ है, माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण जिसकी उन्नत शाखाएँ हैं और उत्तम शब्द ही जिसके उज्ज्वल पत्ते हैं ऐसा यह महाकविरूप वृक्ष यशरूपी पुष्पमंजरीको धारण करता है ॥ १०३ ॥

प्रज्ञावेलः प्रसादोर्मिर्गुणरत्नपरिग्रहः । महोदारवचोवीचिः कविरम्भोनिधीयते ॥ १०४ ॥

अथवा बुद्धि ही जिसके किनारे हैं, प्रसाद आदि गुण ही जिसमें तरंगें हैं, जो गुणरूपी रत्नोंसे भरा हुआ है, उच्च और मनोहर शब्दोंसे युक्त है तथा जिसमें गुरु-शिष्य-परम्परा रूप विशाल प्रवाह चला आ रहा है ऐसा यह महाकवि समुद्रके समान आचरण करता है ॥ १०४ ॥

अथोक्तमुपयुञ्जीत काव्यरसायनम् । येन कल्पान्तरस्थायि वपुः स्याद् यशोमयम् ॥ १०५ ॥

हे विद्वान् पुरुषो! तुम लोग ऊपर कहे हुए काव्यरूपी रसायनका भरपूर उपयोग करो जिससे कि तुम्हारा यशरूपी शरीर कल्पान्त काल तक स्थिर रह सके। भावार्थ--जिस प्रकार रसायन सेवन करनेसे शरीर पुष्ट हो जाता है उसी प्रकार ऊपर कहे हुए काव्य, महाकवि आदिके स्वरूपको समझकर कविता करनेवालेका यश चिरस्थायी हो जाता है ॥ १०५ ॥

यशोधनं चिकीर्षूणां पुण्यपुण्यपणायिनाम् । परं मूल्यमिहास्नातं काव्यं धर्मकथामयम् ॥ १०६ ॥

जो पुरुष यशरूपी धनका संचय और पुण्यरूपी पण्यका व्यवहार--लेनदेन करना चाहते हैं उनके लिए धर्मकथाको निरूपण करनेवाला यह काव्य मूलधन (पूँजी) के समान माना गया है ॥ १०६ ॥

इदमध्यवसायेहं कथां धर्मानुबन्धिनीम् । प्रस्तुवे प्रस्तुतां सद्भिर्महापुरुषगोचराम् ॥ १०७ ॥

यह विचार कर मैं ऐसी कथाको आरम्भ करता हूँ जो धर्मशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाली है, जिसका प्रारम्भ अनेक सज्जन पुरुषों-द्वारा किया गया है तथा जिसमें ऋषभनाथ आदि महापुरुषोंके जीवनचरित्रका वर्णन किया गया है ॥ १०७ ॥

> विस्तीर्णानेकशाखाढ्यां स्वादुच्छायां फलशालिनीम् । आर्यनिषेवितां रम्यां सतीं कल्पलतामिव ॥ १०८ ॥

जो धर्मकथा कल्पलताके समान फैली हुई अनेक शाखाओं (डालियों, कथा-उपकथाओं) से सहित है, छाया (अनातप, कान्ति नामक गुण) से युक्त है, फलों (मधुर फल, स्वर्ग-मोक्षादिकी प्राप्ति) से शोभायमान है, आर्यों (भोगभूमिज मनुष्य, श्रेष्ठ पुरुषों)-द्वारा सेवित है, मनोहर है और उत्तम है ॥ १०८ ॥

> प्रसन्नामतिगम्भीरां निर्मलां सुखशीतलाम् । निर्वापितजगत्तापां महतीं सरसीमिव ॥ १०९ ॥

अथवा जो धर्मकथा बड़े सरोवरके समान प्रसन्न (स्वच्छ, प्रसादगुणसे सहित) है, अत्यन्त गम्भीर (अगाध, गूढ़ अर्थसे युक्त) है, निर्मल (कीचड़ आदिसे रहित, दुःश्रवत्व आदि दोषोंसे रहित) है, सुखकारी है, शीतल है और जगत्त्रयके संतापको दूर करनेवाली है ॥ १०९ ॥

> गुरुप्रवाहसंभूतिपङ्कां तापविच्छिदाम् । कृतावतार्यां कृतिभिः पुण्यां व्योमापगामिव ॥ ११० ॥

अथवा जो धर्मकथा आकाशगंगाके समान गुरुप्रवाह (बड़े भारी प्रवाह, गुरुपरम्परा) से युक्त है, पंक (कीचड़, दोष) से रहित है, ताप (गरमी, संसारभ्रमणजन्य खेद) को नष्ट करनेवाली है, कुशल पुरुषों (देवों, गणधरादि श्रेष्ठ पुरुषों)-द्वारा किये गये अवतार (प्रवेश, अवगाहन) से सहित है और पुण्य (पवित्र, पुण्यजनक) रूप है ॥ ११० ॥

> चेतःप्रसादजननीं मङ्गलानामशेषतः । क्रोडीकृतजगद्बिम्बां हसन्तीं दर्पणश्रियम् ॥ १११ ॥

अथवा जो धर्मकथा चित्तको प्रसन्न करने, सब प्रकारके मंगलका संग्रह करने तथा अपने-आपमें जगत्त्रयके प्रतिबिम्बित करनेके कारण दर्पणकी शोभाको हँसती हुई-सी जान पड़ती है ॥ १११ ॥

> कल्पाङ्घ्रिपादिवोत्तङ्गादभीष्टफलदायिनः । महाशाखामिवोदग्रं श्रुतस्कन्धादुपाहृताम् ॥ ११२ ॥

अथवा जो धर्मकथा अत्यन्त उन्नत और अभीष्ट फल देनेवाले श्रुतस्कन्धरूपी कल्पवृक्षसे प्राप्त हुई श्रेष्ठ बड़ी शाखाके समान शोभायमान हो रही है ॥ ११२ ॥

प्रथमानुयोगनाम्नो गम्भीरस्योदधेरपि । वेलामिव बृहद्वानां प्रस्तुतार्थमहाजलाम् ॥ ११३ ॥

अथवा जो धर्मकथा प्रथमानुयोगरूपी गहरे समुद्रकी वेला (किनारे) के समान महागम्भीर शब्दोंसे सहित है और फैले हुए महान् अर्थरूप जलसे युक्त है ॥ ११३ ॥

आक्षिप्ताशेषतन्त्रार्थां विक्षिप्तपरशासनाम् । सतां संवेगजननीं निर्वेदरसबृंहिणीम् ॥ ११४ ॥

जो धर्मकथा स्वर्ग मोक्षादिके साधक समस्त तन्त्रोंका निरूपण करनेवाली है, मिथ्यामतको नष्ट करनेवाली है, सज्जनोंके संवेगको पैदा करनेवाली और वैराग्य रसको बढ़ानेवाली है ॥ ११४ ॥

अद्भुतार्थां महाचित्रां परमार्थबृहत्कथाम् । सूत्रैरनेकैरारब्धां गुणवद्भिः पुरातनैः ॥ ११५ ॥

जो धर्मकथा आश्चर्यकारी अर्थोंसे भरी हुई है, अत्यन्त मनोहर है, सत्य अथवा परम प्रयोजनको सिद्ध करनेवाली है, अनेक अवान्तर कथाओंसे युक्त है और गुणवान् पूर्वाचार्यों-द्वारा जिसकी रचना की गयी है ॥ ११५ ॥

यशःप्रदां शुभां पुण्यां भुक्तिमुक्तिफलप्रदाम् । पूर्वानुपूर्वीमाश्रित्य वक्ष्ये तां श्रृणुत सजनाः ॥ ११६ ॥

जो यश तथा कल्याणको करनेवाली है, पुण्यरूप है और स्वर्ग-मोक्षादि फलोंको देनेवाली है, ऐसी उस धर्मकथाको मैं आचार्योंकी आम्नायके अनुसार कहूँगा। हे सज्जन पुरुषो, उसे तुम सब ध्यानसे सुनो ॥ ११६ ॥

कथाकथकयोरत्र श्रोतॄणामपि लक्षणम् । व्यावर्त्य वर्णिते शास्त्रे कथारम्भे मनीषिभिः ॥ ११७ ॥

बुद्धिमानोंको इस कथारम्भके पहले ही कथा, वक्ता और श्रोताओंके लक्षण अवश्य ही कहना चाहिए ॥ ११७ ॥

पुरुषार्थोपयोगित्वात् त्रिवर्गकथनात् कथा । तत्रापि धर्मभूयिष्ठां सद्धर्मकथां विदुः ॥ ११८ ॥

मोक्ष पुरुषार्थके उपयोगी होनेसे धर्म, अर्थ तथा कामका कथन करना कथा कहलाती है। जिसमें धर्मका विशेष निरूपण होता है उसे बुद्धिमान् पुरुष सत्कथा कहते हैं ॥ ११८ ॥

धर्मफलाभ्युदयाङ्गत्वादर्थकामफला कथा । तद्विना विकथैवासावपुण्यास्रवकारणम् ॥ ११९ ॥

धर्मके फलस्वरूप जिन अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है उनमें अर्थ और काम भी मुख्य हैं, अतः धर्मके फल दिखनेके लिए अर्थ और कामका वर्णन करना भी कथा कहलाती है। यदि यह अर्थ और कामकी कथा धर्मकथासे रहित हो तो विकथा ही कहलायेगी और मात्र पापास्त्रवका ही कारण होगी ॥ ११९ ॥

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसंसिद्धिरञ्जसा । सद्धर्मस्तत्प्रबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता ॥ १२० ॥

जिससे जीवोंको स्वर्ग आदि अभ्युदय तथा मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है वास्तवमें वही धर्म कहलाता है उससे सम्बन्ध रखनेवाली जो कथा है उसे सद्धर्मकथा कहते हैं ॥ १२० ॥

प्राहुः सप्तकथाङ्गानि सप्तर्द्धिभूषणाः । तैर्भूषिता कथा ज्ञेया नटीव रसिका जनैः ॥ १२१ ॥

सप्त ऋद्धियोंसे शोभायमान गणधरादि देवोंने इस सद्धर्मकथाके सात अंग कहे हैं। इन सात अंगोंसे भूषित कथा अलंकारोंसे सजी हुई नटीके समान अत्यन्त सरस हो जाती है ॥ १२१ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं तथा तीर्थं कालो भावः फलं महत् । प्रकृतं चेत्यमून्याहुः सप्तैवाङ्गानि सूरयः ॥ १२२ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भाव, महाफल और प्रकृत ये सात अंग कहलाते हैं। आचार्योंके अनुसार इनका निरूपण अवश्य होना चाहिए ॥ १२२ ॥

द्रव्यं जीवादि षोढा स्यात् क्षेत्रं त्रिभुवनस्थितिः । जिनेन्द्रचरितं तीर्थं कालस्त्रेधा प्रकीर्तितः ॥ १२३ ॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह छह द्रव्य हैं, ऊर्ध्व, मध्य और पाताल ये तीन लोक क्षेत्र हैं, जिनेन्द्रदेवका चरित्र ही तीर्थ है और भूत, भविष्यत् और वर्तमान यह तीन प्रकारका काल है ॥ १२३ ॥

प्रकृतं वर्ण्यते यत् स्यात् फलं तत्त्वावबोधनम् । भावः क्षयोपशमजस्तस्य स्यात् क्षायिकोऽथवा ॥ १२४ ॥

क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक ये दो भाव हैं, तत्त्वज्ञानका होना महाफल कहलाता है और वर्णनीय कथावस्तुको प्रकृत कहते हैं ॥ १२४ ॥

> इत्यमूनि कथाङ्गानि यत्र सा सत्कथा मता । यथावसरमेवैषां प्रपञ्चो दर्शयिष्यते ॥ १२५ ॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए सात अंग जिस कथामें पाये जायें उसे सत्कथा कहते हैं। इस ग्रन्थमें भी अवसरके अनुसार इन अंगोंका विस्तार दिखाया जायेगा ॥ १२५ ॥

> व्याख्याता कथकः शास्ता सद्वृत्तः स्थिरधीर्वशी । स्पष्टेन्द्रियः प्रशस्ताङ्गः स्पष्टमृष्टेष्टवाग्गुणः ॥ १२६ ॥

ऊपर कही हुई कथाका कहनेवाला आचार्य वही पुरुष हो सकता है जो सदाचारी हो, स्थिरबुद्धि हो, इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला हो, जिसकी सब इन्द्रियाँ समर्थ हों, जिसके अंगोपांग सुन्दर हों, जिसके वचन स्पष्ट, परिमार्जित और सबको प्रिय लगनेवाले हों ॥ १२६ ॥

> यः सर्वज्ञमताम्भोधिवाधीतविमलांशयः । अशेषवाङ्मलापायादुज्ज्वला यस्य भारती ॥ १२७ ॥

जिसका आशय जिनेन्द्रमतरूपी समुद्रके अवगाहनसे प्रक्षालित हुआ और निर्मल हो तथा जिसकी वाणी समस्त दोषोंके अभावसे अत्यन्त उज्ज्वल हो ॥ १२७ ॥

> श्रीमाञ्जितसभो वाग्मी प्रगल्भः प्रतिभासवान् । यः सतां संमतव्याख्यो वाग्विमर्दभरक्षमः ॥ १२८ ॥

जो श्रीमान् हो, सभाओंको वश करनेवाला हो, प्रशस्त वचन बोलनेवाला हो, गम्भीर हो, प्रतिभासे युक्त हो, जिसके व्याख्यानको सत्पुरुष पसंद करते हों और अनेक प्रश्न तथा कुतर्कोंको सहनेवाला हो ॥ १२८ ॥

> दयालुर्वत्सलको धीमान् परेङ्गितविशारदः । निष्णातश्च विश्वविद्यासु स शास्ता कथयेत् कथाम् ॥ १२९ ॥

जो दयालु हो, प्रेमी हो, दूसरेके अभिप्रायको समझनेमें निपुण हो, जिसने समस्त विद्याओंका अध्ययन किया हो और धीर-वीर हो, ऐसे पुरुषको ही कथा कहनी चाहिए ॥ १२९ ॥

नानोपाख्यानकुशलो नानाभाषाविशारदः । नानाशास्त्रकलाभिज्ञः स भवेत् कथकः सताम् ॥ १३० ॥

जो अनेक उदाहरणोंके द्वारा वस्तुस्वरूप कहनेमें कुशल है, संस्कृत, प्राकृत आदि अनेक भाषाओंमें निपुण है तथा अनेक शास्त्र और कलाओंका जानकार है, वही सत्पुरुषोंमें उत्तम वक्ता माना जाता है ॥ १३० ॥

नाङ्गुलीस्फोटनं कुर्यान् न नेत्रादि नर्तयेद् मुहुः । नाधिक्षिपेन्न च हसेन्नात्युच्चैर्न शनैर्वदेत् ॥ १३१ ॥

वक्ताको चाहिए कि वह कथा कहते समय न अंगुलियाँ चटकाये, न नेत्र ही चलावे, न किसीपर आक्षेप करे, न हँसे, न जोरसे बोले और न धीरे ही बोले ॥ १३१ ॥

यतः प्रभाषितव्यं स्यात् सभामध्ये कदाचन । संश्राव्यमुद्धतं ब्रूयाद् वचः सम्यगनाकुलम् ॥ १३२ ॥

यदि कदाचित् सभाके बीचमें वक्ताको बोलना पड़े तो उद्धतपना छोड़कर सत्य-प्रमाणित वचन इस प्रकार कहे जिससे किसीको क्षोभ न हो ॥ १३२ ॥

हितं मितं च धर्म्यं च प्रशस्तं च वचस्करम् । प्रसङ्गेऽपि न ब्रूयादधर्म्यमपयशस्करम् ॥ १३३ ॥

वक्ताको हमेशा वही वचन बोलना चाहिए जो हितकारी हो, परिमित हो, धर्मोपदेशसे सहित हो और यशको बढ़ानेवाला हो। प्रसंग आनेपर भी अधर्मयुक्त तथा अपयशको फैलानेवाले वचन नहीं कहना चाहिए ॥ १३३ ॥

इत्यालोच्य कथायुक्तिमयुक्तिपरिहारिणीम् । प्रस्तौयाद् यः कथावस्तु स शास्ता वदतां वरः ॥ १३४ ॥

इस प्रकार अयुक्तियोंका परिहार करनेवाली कथाकी युक्तियोंका सम्यक् प्रकारसे विचार कर जो वर्णनीय कथावस्तुका प्रारम्भ करता है वह वक्ताओंमें श्रेष्ठ वक्ता समझा जाता है ॥ १३४ ॥

आक्षेपणीं कथां कुर्यात् प्राज्ञः स्वमतसंग्रहे । विक्षेपणीं कथां तज्ज्ञः कुर्यात् परमतापहौ ॥ १३५ ॥

बुद्धिमान् वक्ताको चाहिए कि वह अपने मतकी स्थापना करते समय आक्षेपणी कथा कहे तथा मिथ्या मतका खण्डन करते समय विक्षेपणी कथा कहे ॥ १३५ ॥

> संवेदिनीं कथां कुर्यात् पुण्यफलसंपत्प्रदर्शने । निर्वेदिनीं कथां कुर्याद् वैराग्यजननं प्रति ॥ १३६ ॥

पुण्यके फलस्वरूप विभूति आदिका वर्णन करते समय संवेदिनी कथा कहे तथा वैराग्य उत्पादनके समय निर्वेदिनी कथा कहे ॥ १३६ ॥

> इति धर्मकथाङ्गत्वान्नावधार्या चतुर्विधीम् । कथां यथार्हं श्रोतृभ्यः शास्ता प्रतिपादयेत् ॥ १३७ ॥

इस प्रकार धर्मकथाके अंगभूत आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी रूप चारों कथाओंका विचार कर श्रोताओंकी योग्यतानुसार वक्ताको कथन करना चाहिए ॥ १३७ ॥

> धर्मश्रुतौ नियुक्ता ये श्रोतारस्ते मता बुधैः । तेषां च सदसद्भावव्यक्तौ दृष्टान्तकल्पना ॥ १३८ ॥

जो हमेशा धर्मशास्त्र सुननेमें लगे रहते हैं विद्वानोंने उन्हें श्रोता माना है। उनके अच्छे और बुरे भावोंके जाननेके लिए नीचे लिखे अनुसार दृष्टान्तोंकी कल्पना की जाती है ॥ १३८ ॥

> मृच्छागिहस्त्यजमार्जारशुककङ्कशिलाहिभिः । गोहंसमहिषच्छिद्रपृषदंशजलोककैः ॥ १३९ ॥

मिट्टी, छलनी, बकरा, बिलाव, तोता, बगुला, पाषाण, सर्प, गाय, हंस, भैंसा, फूटा घड़ा, डाँस और जोंक इस प्रकार चौदह प्रकारके श्रोताओंके दृष्टान्त समझना चाहिए ॥ १३९ ॥

> श्रोतारः सप्तधा भिन्नाः स्युरुत्तमाधममध्यमाः । अन्यादृशोऽपि बहवः किं तेषामियत्तया ॥ १४० ॥

भावार्थ--(१) जैसे मिट्टी पानीका संसर्ग रहते हुए कोमल रहती है, बादमें कठोर हो जाती है। इसी प्रकार जो श्रोता शास्त्र सुनते समय कोमलपरिणामी हों परन्तु बादमें कठोरपरिणामी हो जायें वे मिट्टीके समान श्रोता हैं। (२) जिस प्रकार छलनी सारभूत आटेको नीचे गिरा देती है और चोकरको बचा रखती है उसी प्रकार जो श्रोता वक्ताके उपदेशमें-से सारभूत तत्त्वको छोड़कर निःसार तत्त्वको ग्रहण करते हैं वे छलनीके समान श्रोता हैं। (३) जो अत्यन्त कामी हैं अर्थात् शास्त्रोपदेशके समय शृंगारका वर्णन सुनकर जिनके परिणाम कामरूप हो जावें वे अजके समान

श्रोता हैं। (४) जैसे अनेक उपदेश मिलनेपर भी बिलाव अपनी हिंसक प्रवृत्ति नहीं छोड़ता, सामने आते ही चूहेपर आक्रमण कर देता है उसी प्रकार जो श्रोता बहुत प्रकारसे समझानेपर भी क्रूरताको नहीं छोड़ें, अवसर आनेपर दुष्ट प्रवृत्ति करने लगें वे मार्जारके समान श्रोता हैं। (५) जैसे तोता स्वयं अज्ञानी है, दूसरोंके द्वारा कहलानेपर ही कुछ सीख पाता है वैसे ही जो श्रोता स्वयं ज्ञानसे रहित हैं, दूसरोंके बतलानेपर ही कुछ शब्द मात्र ग्रहण कर पाते हैं वे शुकके समान श्रोता हैं। (६) जो बगुलेके समान बाहरसे भद्रपरिणामी मालूम होते हों परन्तु जिनका अन्तरंग अत्यन्त दुष्ट हो वे बगुलेके समान श्रोता हैं। (७) जिनके परिणाम हमेशा कठोर रहते हैं तथा जिनके हृदयमें समझाये जानेपर जिनवाणीरूप जलका प्रवेश नहीं हो पाता वे पाषाणके समान श्रोता हैं। (८) जैसे साँपको पिलाया हुआ दूध भी विषरूप हो जाता है, वैसे ही जिनके सामने उत्तमसे-उत्तम उपदेश भी खराब असर करता है वे सर्पके समान श्रोता हैं। (९) जैसे गाय घास खाकर दूध देती है वैसे ही जो थोड़ा-सा उपदेश सुनकर बहुत लाभ लिया करते हैं वे गायके समान श्रोता हैं। (१०) जो केवल सार वस्तुको ग्रहण करते हैं वे हंसके समान श्रोता हैं। (११) जैसे भैंसा पानी तो थोड़ा पीता है पर समस्त पानीको गदला कर देता है, इसी प्रकार जो श्रोता उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं परन्तु अपने दुर्वचनोंसे समस्त सभामें क्षोभ पैदा कर देते हैं वे महिषके समान श्रोता हैं। (१२) जिनके हृदयमें कुछ भी उपदेश नहीं ठहरे वे भग्न घटके समान श्रोता हैं। (१३) जो उपदेश तो बिलकुल ही ग्रहण न करें परन्तु सारी सभाको व्याकुल कर दें वे डाँसके समान श्रोता हैं। (१४) जो गुण छोड़कर सिर्फ अवगुणोंको ही ग्रहण करें वे जोंकके समान श्रोता हैं। इन ऊपर कहे हुए श्रोताओंके उत्तम, मध्यम और अधमके भेदसे तीन-तीन भेद होते हैं। इनके सिवाय और भी अन्य प्रकारके श्रोता हैं परन्तु उन सबकी गणनासे क्या लाभ है ? ॥ १४० ॥

> गोहंससदृशान् प्राहुत्तमान् कच्छकोपमान् । मध्यमान् मृत्शुकप्रख्यानधमान् शेषकल्पितान् ॥ १४१ ॥

इन श्रोताओंमें जो श्रोता गाय और हंसके समान हैं वे उत्तम कहलाते हैं, जो मिट्टी और तोताके समान हैं उन्हें मध्यम जानना चाहिए और बाकीके समान अन्य सब श्रोता अधम माने गये हैं ॥ १४१ ॥

> शेमुष्यब्धितुलादण्डनिकषोपलसन्निभाः । श्रोतारः सत्कथारत्नपरीक्षाध्यक्षका मताः ॥ १४२ ॥

जो श्रोता नेत्र, दर्पण, तराजू और कसौटीके समान गुण-दोषोंके बतलानेवाले हैं वे सत्कथारूप रत्नोंके परीक्षक माने गये हैं ॥ १४२ ॥

> श्रोता न लभते किञ्चित् फलं वाञ्छेत् कथाश्रुतौ । नेच्छेद् वक्ता च सत्कारधनभेषजसंस्क्रियाः ॥ १४३ ॥

श्रोताओंको शास्त्र सुननेके बदले किसी सांसारिक फलकी चाह नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार वक्ताको भी श्रोताओंसे सत्कार, धन, औषधि और आश्रय--घर आदिकी इच्छा नहीं करनी चाहिए ॥ १४३ ॥

> फलेनैव केवलं पुण्यं सन्मार्गप्रभवेन वै । श्रेयोऽर्था हि सतां चेष्टा न तु लोकपरिपक्तये ॥ १४४ ॥

स्वर्ग, मोक्ष आदि कल्याणोंकी अपेक्षा रखकर ही वक्ताको सन्मार्गका उपदेश देना चाहिए तथा श्रोताको सुनना चाहिए क्योंकि सत्पुरुषोंकी चेष्टाएँ वास्तविक कल्याणकी प्राप्तिके लिए ही होती हैं, अन्य लौकिक स्वार्थके लिए नहीं ॥ १४४ ॥

> श्रोता शुश्रूषणाद्यैश्च स्वैर्गुणैर्युक्तः प्रशस्यते । वक्ता च वत्सलत्वाद्यैः स्वोक्तगुणभूषणैः ॥ १४५ ॥

जो श्रोता शुश्रूषा आदि गुणोंसे युक्त होता है वह प्रशंसनीय माना जाता है। इसी प्रकार जो वक्ता वात्सल्य आदि गुणोंसे भूषित होता है वही प्रशंसनीय माना जाता है ॥ १४५ ॥

> शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा । स्मृत्यूहापोहनिर्णीतीः श्रोतुश्चैतान् गुणान् विदुः ॥ १४६ ॥

शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, स्मृति, ऊहा, अपोह और निर्णीति ये श्रोताओंके आठ गुण जानना चाहिए। भावार्थ-- सत्कथाको सुननेकी इच्छा होना शुश्रूषा गुण है, सुनना श्रवण है, समझकर ग्रहण करना ग्रहण है, बहुत समय तक उसकी धारणा रखना धारण है, पिछले समय ग्रहण किये हुए उपदेश आदिका स्मरण करना स्मरण है, तर्क-द्वारा पदार्थके स्वरूपके विचार करनेकी शक्ति होना ऊहा है, हेय वस्तुओंको छोड़ना अपोह है और युक्तिद्वारा पदार्थका निर्णय करना निर्णीति गुण है। श्रोताओंमें इनका होना अत्यन्त आवश्यक है ॥ १४६ ॥

> सत्कथाश्रवणात् पुण्यं श्रोतुर्यदुपचीयते । तेनाभ्युदयसंसिद्धिः क्रमात्रिःश्रेयसस्थितिः ॥ १४७ ॥

सत्कथाके सुननेसे श्रोताओंको जो पुण्यका संचय होता है उससे उन्हें पहले तो स्वर्ग आदि अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है और फिर क्रमसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ १४७ ॥

> इत्याप्तोक्त्यनुसारेण कथितं वः कथामुखम् । कथावतारसंबन्धं वक्ष्यामः शृणुताधुना ॥ १४८ ॥

इस प्रकार मैंने आगमके अनुसार आप लोगोंसे कथामुख (कथाके प्रारम्भ) का वर्णन किया है। अब इस कथाके अवतारका सम्बन्ध कहता हूँ सो सुनो ॥ १४८ ॥

इत्यनुश्रूयते देवः पुराकल्पे युगादितः । अध्युवास मुदा काञ्चित् कैलासादौ यदृच्छया ॥ १४९ ॥

गुरुपरम्परासे ऐसा सुना जाता है कि पहले तृतीय कालके अन्तमें नाभिराजके पुत्र भगवान् ऋषभदेव विहार करते हुए अपनी इच्छासे पृथिवीके मुकुटभूत कैलास पर्वतपर आकर विराजमान हुए ॥ १४९ ॥

तत्रासीनं सुरैः सर्वैः परिचेरे सपर्यया । कृताञ्जलि किरीटाग्रसंदष्टकरकुड्मलाः ॥ १५० ॥

कैलासपर विराजमान हुए उन भगवान् ऋषभदेवकी देवोंने भक्तिपूर्वक पूजा की तथा जुड़े हुए हाथोंको मुकुटसे लगाकर स्तुति की ॥ १५० ॥

सभावि Standart कृत्वा सुत्रामा त्रिजगद्गुरोः । प्रीतः प्रवर्तयामास प्राप्तकैवल्यसंपदः ॥ १५१ ॥

उसी पर्वतपर त्रिजगद्गुरु भगवानको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई, उससे हर्षित होकर इन्द्रने वहाँ समवसरणकी रचना करायी ॥ १५१ ॥

तत्र देवसभे देवं स्थितमप्यद्भुतस्थितिम् । प्रणेमे मुदामेत्य भरतो भक्तिनिर्भरः ॥ १५२ ॥

देवाधिदेव भगवान् आश्चर्यकारी विभूतिके साथ जब समवसरण सभामें विराजमान थे तब भक्तिसे भरे हुए महाराज भरतने हर्षके साथ आकर उन्हें नमस्कार किया ॥ १५२ ॥

स तं स्तुतिभिरन्याभिरभ्यर्च्य मुदमुद्वहन् । यथोचितं सभास्थानमध्यास्त विनयानतः ॥ १५३ ॥

महाराज भरतने मनुष्य और देवोंसे पूजित उन जिनेन्द्रदेवकी हर्षसे भरे हुए अनेक स्तोत्रों-द्वारा पूजा की और फिर वे विनयसे नम्र होकर अपने योग्य स्थानपर बैठ गये ॥ १५३ ॥

सभा समासुरसुरा पीत्वा धर्म्यामृतं विभोः । ततोऽभूत् पद्मिनीबोधं भुञ्जानांशुरिवाग्र्यभाः ॥ १५४ ॥

देदीप्यमान देवोंसे भरी हुई वह सभा भगवान्से धर्मरूपी अमृतका पान कर उस तरह संतुष्ट हुई थी जिस तरह कि सूर्यके तेज किरणोंका पान कर कमलिनी संतुष्ट होती है ॥ १५४ ॥

> मध्येसभमथोत्थाय भरतो रचिताञ्जलिः । व्यजिज्ञपदिदं वाक्यं प्रश्रयो मूर्तिमानिव ॥ १९५ ॥

इसके अनन्तर मूर्तिमान् विनयकी तरह महाराज भरत हाथ जोड़ सभाके बीच खड़े होकर यह वचन कहने लगे ॥ १९५ ॥

> ब्रुवतोऽस्य मुखाम्भोजाल्लसद्दन्तांशुकेसरात् । निर्ययौ मधुरा हृद्या सुव्यक्ता भारती ॥ १९६ ॥

प्रार्थना करते समय महाराज भरतके दाँतोंकी किरणरूपी केशरसे शोभायमान मुखसे जो मनोहर वाणी निकल रही थी वह ऐसी मालूम होती थी मानो उनके मुखसे प्रसन्न हुई उज्ज्वलवर्णधारिणी सरस्वती ही निकल रही हो ॥ १९६ ॥

> यतः प्रबोधिता सेयं सभेयं ससुरासुरा । प्रफुल्लवदनाम्भोजा व्यक्तमम्भोजिनीयते ॥ १९७ ॥

हे देव, देव और धरणेन्द्रोंसे भरी हुई यह सभा आपके निमित्तसे प्रबोध--प्रकृष्ट ज्ञानको (पक्षमें विकासको) पाकर कमलिनीके समान शोभायमान हो रही है क्योंकि सबके मुख कमलके समान अत्यन्त प्रफुल्लित हो रहे हैं ॥ १९७ ॥

> तमःप्रलयलीनस्य जगतः स्रजनं प्रति । त्वयामृतमिवासिक्तमिदमालोक्यते वचः ॥ १९८ ॥

हे भगवन्, आपके यह दिव्य वचन अज्ञानान्धकाररूप प्रलयमें नष्ट हुए जगत्‌की पुनरुत्पत्तिके लिए सींचे गये अमृतके समान मालूम होते हैं ॥ १९८ ॥

> नोदभाविष्यन् यदि ध्वान्तविच्छिदस्तव वचोऽंशवः । तमोऽन्धं जगत् कृत्स्नमपतिष्यदिदं ध्रुवम् ॥ १९९ ॥

हे देव, यदि अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाले आपके वचनोंके किरण प्रकट नहीं होते तो निश्चयसे यह समस्त जगत् अज्ञानरूपी सघन अन्धकारमें पड़ा रहता ॥ १९९ ॥

> युष्मत्संदर्शनादेतत् देवानां नः कृतार्थता । कस्य वा न भवेत् तृप्तिर्लब्धे महति सन्निधौ ॥ १६० ॥

हे देव, आपके दर्शन मात्रसे ही मैं कृतार्थ हो गया हूँ, यह ठीक ही है महानिधिको पाकर कौन कृतार्थ नहीं होता ? ॥ १६० ॥

> श्रुत्वा पुनस्त्वद्वाक्यं कृतार्थतरकोऽस्म्यहम् । दृष्ट्वामृतं तृप्यति लोकः किं पुनस्तद्रसोपभुक् ॥ १६१ ॥

आपके वचन सुनकर तो मैं और भी अधिक कृतार्थ हो गया क्योंकि जब लोग अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं तब उसका स्वाद लेनेवाला क्या तृप्त नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य ही होगा ॥ १६१ ॥

> यथैव किलारण्ये वृष्टिर्हृद्या इति श्रुतिः । स्पष्टीभूताद्य मे देव सा हि धर्मवृष्ट्या यस्त्वया ॥ १६२ ॥

हे नाथ, वनमें मेघका बरसना सबको अच्छा लगता है यह कहावत जो सुनी जाती थी सो आज यहाँ आपके द्वारा धर्मरूपी जलकी वर्षा देखकर मुझे प्रत्यक्ष हो गयी। भावार्थ--जिस प्रकार वनमें पानीकी वर्षा सबको अच्छी लगती है उसी प्रकार इस कैलासके काननमें आपके द्वारा होनेवाली धर्मरूपी जलकी वर्षा सबको अच्छी लग रही है ॥ १६२ ॥

> त्वयोपदिष्टतां गत्वा किं नाम परिशेषितम् । धूतान्धतमसो भानुर्भास्यं किमवशेषयेत् ॥ १६३ ॥

हे भगवन्, उपदेश देते हुए आपने किस पदार्थको छोड़ा है ? अर्थात् किसीको भी नहीं। क्या सघन अन्धकारको नष्ट करनेवाला सूर्य किसी पदार्थको प्रकाशित करनेसे बाकी छोड़ देता है ? अर्थात् नहीं ॥ १६३ ॥

> त्वयोपदर्शिते तत्त्वे सतां मोमुह्यते न धीः । महत्यादर्शिते वर्त्मन्यनन्धः कः परिस्खलेत् ॥ १६४ ॥

हे भगवन्, आपके द्वारा दिखलाये हुए तत्त्वोंमें सत्पुरुषोंकी बुद्धि कभी भी मोहको प्राप्त नहीं होती। क्या महापुरुषोंके द्वारा दिखाये हुए विशाल मार्गमें नेत्रवाला पुरुष कभी गिरता है ? अर्थात् नहीं गिरता ॥ १६४ ॥

> त्वद्वचोविस्तरे दृश्यं सर्वमेतन्मयेक्षितम् । त्रैलोक्यश्रीमुखालोकमङ्गलादर्शतायिते ॥ १६५ ॥

हे स्वामिन्, तीनों लोकोंकी लक्ष्मीके मुख देखनेके लिए मंगल दर्पणके समान आचरण करनेवाले आपके इन वचनोंके विस्तारमें प्रतिबिम्बित हुई संसारकी समस्त वस्तुओंको यद्यपि मैं देख रहा हूँ ॥ १६५ ॥

तथापि किमपि प्रष्टुमिच्छा मे हृदि वर्तते । भवद्वचोऽमृतामीक्ष्णं पिपासा तत्र कारणम् ॥ १६६ ॥

तथापि मेरे हृदयमें कुछ पूछनेकी इच्छा उठ रही है, उस इच्छाका कारण आपके वचनरूपी अमृतके निरन्तर पान करते रहनेकी लालसा ही समझनी चाहिए ॥ १६६ ॥

गणपमुत्सृज्य साक्षात् त्वां प्रष्टुं क इवाहंकृतः । नाहं गणयाम्येतदतिभक्तिर्हिनोति माम् ॥ १६७ ॥

हे देव, यद्यपि लोग कह सकते हैं कि गणधरको छोड़कर साक्षात् आपसे पूछनेवाला यह कौन है ? तथापि मैं इस बातको कुछ नहीं समझता, आपकी सातिशय भक्ति ही मुझे आपसे पूछनेके लिए प्रेरित कर रही है ॥ १६७ ॥

तत्त्वविशेषैषितैषा मे किमु मुग्धत्वमादरः । श्रद्धोद्रेकोऽथवा कश्चिन्मुखरीकुरुतेऽथ माम् ॥ १६८ ॥

हे भगवन्, पदार्थका विशेषस्वरूप जाननेकी इच्छा, अधिक लाभकी भावना, श्रद्धाकी अधिकता अथवा कुछ करनेकी इच्छा ही मुझे आपके सामने वाचाल कर रही है ॥ १६८ ॥

भगवन् श्रोतुकामोऽस्मि विश्वगुह्यधर्मसंग्रहम् । पुराणं महतां पुंसां प्रसीद कुरु मे दयाम् ॥ १६९ ॥

हे भगवन्, मैं तीर्थंकर आदि महापुरुषोंके उस पुराणको सुनना चाहता हूँ जिसमें सर्वप्रणीत समस्त धर्मोंका संग्रह किया गया हो। हे देव, मुझपर प्रसन्न होइए, दया कीजिए ॥ १६९ ॥

त्वत्समाः कति सर्वज्ञा मत्समाः कति चक्रिणः । केशवाः कति वा देवाः सरामाः कति तद्द्विषः ॥ १७० ॥

और कहिए कि आपके समान कितने सर्वज्ञ-तीर्थंकर होंगे ? मेरे समान कितने चक्रवर्ती होंगे ? कितने नारायण, कितने बलभद्र और कितने उनके शत्रु-प्रतिनारायण होंगे ? ॥ १७० ॥

अतीतं चरितं तेषां किमासीद् वर्तमानम् । भविष्यं च ज्ञातुकामोऽस्मि वद मे वदतां वर ॥ १७१ ॥

उनका अतीत चरित्र कैसा था ? वर्तमानमें और भविष्यमें कैसा होगा ? हे वक्तृश्रेष्ठ, यह सब मैं आपसे सुनना चाहता हूँ ॥ १७१ ॥

> किंनामानश्च ते सर्वे किंगोत्राः किंसनाभयः । किंलक्षणाः किमाकाराः किमाहार्याः किमायुधाः ॥ १७२ ॥

हे सबका हित करनेवाले जिनेन्द्र, यह भी कहिए कि वे सब किन-किन नामोंके धारक होंगे ? किस-किस गोत्रमें उत्पन्न होंगे ? उनके सहोदर कौन-कौन होंगे ? उनके क्या-क्या लक्षण होंगे ? वे किस आकारके धारक होंगे ? उनके क्या-क्या आभूषण होंगे ? उनके क्या-क्या अस्त्र होंगे ? ॥ १७२ ॥

> किं तेषामायुषो मानं किं देहोत्सेधमन्तरम् । कौतूहलमिदं जातं विश्वविद् विश्वजनीनं मे ॥ १७३ ॥

उनकी आयु और शरीरका प्रमाण क्या होगा ? एक-दूसरेमें कितना अन्तर होगा ? हे सर्वज्ञ, यह सब जाननेका मुझे कौतूहल उत्पन्न हुआ है ॥ १७३ ॥

> कस्मिन् युगे कियन्तो वा युगांशाः किं युगान्तरम् । युगानां परिवर्तो वा कतिकृत्वः प्रवर्तते ॥ १७४ ॥

किस युगमें कितने युगोंके अंश होते हैं ? एक युगसे दूसरे युगमें कितना अन्तर होगा ? युगोंका परिवर्तन कितनी बार होता है ? ॥ १७४ ॥

> युगांशाः कति वाख्याताः के वा मनवो मन्वते च किम् । किं वा मन्वन्तरं देव तन्मे ब्रूहि तत्त्वतः ॥ १७५ ॥

युगके कौन-से भागमें मनु-कुलकर उत्पन्न होते हैं ? वे क्या जानते हैं ? एक मनुसे दूसरे मनुके उत्पन्न होने तक कितना अन्तर होता है ? हे देव, सो यथार्थ रीतिसे मुझे इन सब तत्त्वोंका स्वरूप कहिए ॥ १७५ ॥

> लोकं कालावतारं च वंशोत्पत्तिलयस्थितीः । वर्णसंभूतिमन्यच्च बुभुत्सेऽहं भवन्मुखात् ॥ १७६ ॥

इसके सिवाय लोकका स्वरूप, कालका अवतरण, वंशोंकी उत्पत्ति, विनाश और स्थिति तथा क्षत्रिय आदि वर्णोंकी उत्पत्ति भी मैं आपके श्रीमुखसे जानना चाहता हूँ ॥ १७६ ॥

अनादिवासनोद्भूतमिथ्याज्ञानसमुत्थितम् । नुद मे संशयध्वान्तं जिनार्क वचनांशुभिः ॥ १७७ ॥

हे जिनेन्द्रसूर्य, अनादिकालकी वासनासे उत्पन्न हुए मिथ्याज्ञानसे सातिशय बढ़े हुए मेरे इस संशयरूपी अन्धकारको आप अपने वचनरूप किरणोंके द्वारा शीघ्र ही नष्ट कीजिए ॥ १७७ ॥

इति प्रश्नमुपन्यस्य भरतः श्रोतुमातुरः । विरराम यथास्थानमासीनश्च सभासदि ॥ १७८ ॥

इस प्रकार प्रश्न कर महाराज भरत जब चुप हो गये और कथा सुननेमें उत्सुक होते हुए अपने योग्य आसनपर बैठ गये ॥ १७८ ॥

लब्धावसरमुद्भूतं सुसंबद्धमनुद्धतम् । अभ्यनन्दन् मुदा युक्तं प्रश्नमस्येशितुर्विशाम् ॥ १७९ ॥

तब समस्त सभाने भरत महाराजके इस प्रश्नकी सातिशय प्रशंसा की जो कि समयके अनुसार किया गया था, प्रकाशमान अर्थोंसे भरा हुआ था, पूर्वापर सम्बन्धसे सहित था तथा उद्धतपनेसे रहित था ॥ १७९ ॥

यतस्तं सत्कथाप्रश्नात्तदुदितदृशः सुराः । पुष्पवृष्टिमिवोत्सेदुः प्रतीता भरतं प्रति ॥ १८० ॥

उस समय उनके इस प्रश्नको सुनकर सब देवता लोग महाराज भरतकी ओर आँख उठाकर देखने लगे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वे उनपर पुष्पवृष्टि ही कर रहे हैं ॥ १८० ॥

साधु भो भरताधीश प्रतीक्ष्योऽसि त्वमद्य नः । प्रशशंसुरितीन्द्रास्तं प्रश्रयात् को न शस्यते ॥ १८१ ॥

हे भरतेश्वर, आप धन्य हैं, आज आप हमारे भी पूज्य हुए हैं। इस प्रकार इन्द्रोंने उनकी प्रशंसा की थी, सो ठीक ही है, विनयसे किसकी प्रशंसा नहीं होती ? अर्थात् सभीकी होती है ॥ १८१ ॥

प्रश्नाद्विनापि सर्वज्ञः सर्ववित् स कृपानिधिः । तत्प्रश्नान्तमविज्ञासीत् प्रतिपत्त्रनुरोधतः ॥ १८२ ॥

संसारके सब पदार्थोंको एक साथ जाननेवाले भगवान् वृषभनाथ यद्यपि प्रश्नके बिना ही भरत महाराजके अभिप्रायको जान गये थे तथापि वे श्रोताओंके अनुरोधसे प्रश्नके पूर्ण होनेकी प्रतीक्षा करते रहे ॥ १८२ ॥

> इति विज्ञापितस्तेन भगवानादितीर्थकृत् । व्याजहार पुराणाथमतिगम्भीरया गिरा ॥ १८३ ॥

इस प्रकार महाराज भरतके द्वारा प्रार्थना किये गये आदिनाथ भगवान् सातिशय गम्भीर वाणीसे पुराणका अर्थ कहने लगे ॥ १८३ ॥

> अपरिस्पन्दतालुकादेरस्पष्टदशनद्युतेः । स्वयंभुवो मुखाम्भोजाज्जाता चित्रा सरस्वती ॥ १८४ ॥

उस समय भगवान्‌के मुखसे जो वाणी निकल रही थी वह बड़ा ही आश्चर्य करनेवाली थी क्योंकि उसके निकलते समय न तालु, कण्ठ, ओष्ठ आदि अवयव ही हिलते थे और न दाँतोंकी किरण ही प्रकट हो रही थी ॥ १८४ ॥

> प्रसवावासमेतस्याः स्रष्टुर्मुखसरोरुहम् । तत्र लब्धात्मलाभा सा यज्जगद्व्यवसाययत् ॥ १८५ ॥

अथवा सचमुचमें भगवानका मुखकमल ही इस सरस्वतीका उत्पत्तिस्थान था उसने वहाँ उत्पन्न होकर ही जगत्‌को प्रबोधित किया ॥ १८५ ॥

> विवक्षया विनैवास्य दिव्यो वाक्प्रसरोऽभवत् । महतां चेष्टितं चित्रं जगदभ्युज्जिहीर्षताम् ॥ १८६ ॥

भगवान्‌के मुखसे जो दिव्य ध्वनि प्रकट हो रही थी वह बोलनेकी इच्छाके बिना ही प्रकट हो रही थी, सो ठीक है क्योंकि जगत्‌का उद्धार चाहनेवाले महापुरुषोंकी चेष्टाएँ आश्चर्य करनेवाली ही होती हैं ॥ १८६ ॥

> एकरूपापि सा वाणी प्राप्य श्रोतॄन् पृथग्विधान् । भेजे नानात्मतां कुल्योदकावलिरिवाङ्घ्रिपान् ॥ १८७ ॥

जिस प्रकार नहरोंके जलका प्रवाह एकरूप होनेपर भी अनेक प्रकारके वृक्षोंको पाकर अनेकरूप हो जाता है उसी प्रकार जिनेन्द्रदेवकी वाणी एकरूप होनेपर भी पृथक्-पृथक् श्रोताओंको पाकर अनेकरूप हो जाती है। भावार्थ-- भगवान्‌की दिव्यध्वनि उद्गम स्थानसे एकरूप ही प्रकट होती है परन्तु उसमें सर्वभाषारूप परिणमन होनेका अतिशय होता है जिससे सब श्रोता लोग उसे अपनी-अपनी भाषामें समझ जाते हैं ॥ १८७ ॥

> कृतकृत्योऽपि स कृती यदैषिष्ट जगद्गुरुः । प्रायो महतां चेष्टा परार्थेन निसर्गतः ॥ १८८ ॥

वे जगद्गुरु भगवान् स्वयं कृतकृत्य होकर भी धर्मोपदेशके द्वारा दूसरोंकी भलाईके लिए उद्योग करते थे। इससे सिद्ध होता है कि महापुरुषोंकी चेष्टाएँ स्वभावसे ही परोपकारके लिए होती हैं ॥ १८८ ॥

> तन्मुखात् प्रसृता वाणी श्रयन्ती तां महतीं सभाम् । प्रीणयामास सौधीव धारा संतापहारिणी ॥ १८९ ॥

उनके मुखसे प्रकट हुई दिव्यवाणीने उस विशाल सभाको अमृतकी धाराके समान सन्तुष्ट किया था क्योंकि अमृतधाराके समान ही उनकी वाणी भव्य जीवोंका सन्ताप दूर करनेवाली थी, जन्म-मरणके दुःखसे छुड़ानेवाली थी ॥ १८९ ॥

> यत्पृष्टमादितस्तेन तत् सर्वं जगदेकधीः । वाचस्पतिरनायासात् सर्वं प्रत्यवबोधयत् ॥ १९० ॥

महाराज भरतने पहले जो कुछ पूछा था उस सबको भगवान् ऋषभदेव बिना किसी कष्टके क्रमपूर्वक कहने लगे ॥ १९० ॥

> प्रोचे यदुत्सर्पिणीकालसंबन्धि त्रिषष्टिलक्षणम् । पुराणमतिगम्भीरं व्याजहार जगद्गुरुः ॥ १९१ ॥

जगद्गुरु भगवान् ऋषभदेवने सबसे पहले उत्सर्पिणीकालसम्बन्धी तिरेसठ शलाकापुरुषोंका चरित्र निरूपण करनेवाले अत्यन्त गम्भीर पुराणका निरूपण किया ॥ १९१ ॥

> ततोऽवसर्पिणीकालमाश्रित्य प्रस्तुतां कथाम् । प्रस्तोष्यन् स पुराणं पीठिकां प्राक्समादधे ॥ १९२ ॥

फिर अवसर्पिणीकालका आश्रय कर तत्सम्बन्धी तिरेसठ शलाकापुरुषोंकी कथा कहनेकी इच्छासे पीठिकासहित उनके पुराणका वर्णन किया ॥ १९२ ॥

> युगादिजं यत् पुराणं यत्प्रोवाच गिरांपतिः । तच्च श्रुत्वा वृषभसेनाद्यस्तदादिजगदधीश्वरः ॥ १९३ ॥

भगवान् ऋषभनाथने तृतीय कालके अन्तमें जो पूर्वकालीन इतिहास कहा था, वृषभसेन गणधरने उसे अर्थरूपसे अध्ययन किया ॥ १९३ ॥

> श्रुत्वा स्वायम्भुवीं वाणीमवधार्यार्थतः स्वयम् । जगद्धिताय सोऽग्रन्थीत् तत्पुराणं गणाग्रणीः ॥ १९४ ॥

तदनन्तर गणधरोंमें प्रधान वृषभसेन गणधरने भगवान्‌की वाणीको अर्थरूपसे हृदयमें धारण कर जगत्‌के हितके लिए उसकी पुराणरूपसे रचना की ॥ १९४ ॥

> शेषैरपि तथा तीर्थकृद्भिर्गणधरैरपि । महर्द्धिभिश्च यथास्तार्थं तत्पुराणं प्रकाशितम् ॥ १९५ ॥

वही पुराण अजितनाथ आदि शेष तीर्थंकरों, गणधरों तथा बड़े-बड़े ऋषियों-द्वारा प्रकाशित किया गया ॥ १९५ ॥

> ततो युगावसानेऽभूद् वीरः सिद्धार्थनन्दनः । विपुलाद्रिमलंकुर्वन्नेकदास्तारिघातकः ॥ १९६ ॥

तदनन्तर चतुर्थ कालके अन्तमें एक समय सिद्धार्थ राजाके पुत्र भगवान् महावीर स्वामी विहार करते हुए राजगृहीके विपुलाचल पर्वतपर आकर विराजमान हुए ॥ १९६ ॥

> अथोपसृत्य संप्रैक्षत पश्चिमं तीर्थनायकम् । पप्रच्छ च पुराणार्थं श्रेणिको विनयानतः ॥ १९७ ॥

इसके बाद पता चलनेपर मगधदेशके अधिपति विनयवान् श्रेणिक महाराजने जाकर उन अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरसे उस पुराणको पूछा ॥ १९७ ॥

> तं प्रत्यनुग्रहं मत्वा प्रत्यबुद्ध्य गणाधिपः । पुराणसंग्रहं कृत्स्नमन्वबोधत स गौतमः ॥ १९८ ॥

महाराज श्रेणिकके प्रति महावीर स्वामीके अनुग्रहका विचार कर गौतम गणधरने उस समस्त पुराणका वर्णन किया ॥ १९८ ॥

> कालादन्वस्मृतं तत्र गौतमेन महर्षिणा । ततोऽबोधि सुधर्माख्यस्ततो जम्बूनाम्ने समर्पयत् ॥ १९९ ॥

गौतम स्वामी चिरकाल तक उसका स्मरण-चिन्तवन करते रहे, बादमें उन्होंने उसे सुधर्माचार्यसे कहा और सुधर्माचार्यने जम्बू स्वामीसे कहा ॥ १९९ ॥

> ततः प्रभृत्यविच्छिन्नगुरुपर्वक्रमागतम् । पुराणमधुनास्माभिर्यथाशक्ति प्रकाश्यते ॥ २०० ॥

उसी समयसे लेकर आज तक यह पुराण बीचमें नष्ट नहीं होनेवाली गुरुपरम्पराके क्रमसे चला आ रहा है। इसी पुराणका मैं भी इस समय शक्तिके अनुसार प्रकाश करूँगा ॥ २०० ॥

> तत्रोक्तं मूलतन्त्रस्य पश्चिमस्तीर्थकृत् । गौतमश्चानुचक्रस्य प्रत्यासत्तिक्रमाश्रयात् ॥ २०१ ॥

इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि इस पुराणके मूलकर्ता अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हैं और निकट क्रमकी अपेक्षा उत्तर ग्रन्थकर्ता गौतम गणधर हैं ॥ २०१ ॥

> श्रेणिकप्रश्नमुद्दिश्य गौतमः प्रत्यभाषत । इतीदमनुसन्धाय प्रबन्धोऽयं निबध्यते ॥ २०२ ॥

महाराज श्रेणिकके उद्देश्य करके गौतम स्वामीने जो उत्तर दिया था उसीका अनुसन्धान-विचार कर मैं इस पुराण ग्रन्थकी रचना करता हूँ ॥ २०२ ॥

> इदमामुखं कथासंबन्धसूचनम् । कथाप्रामाण्यसंसिद्धावुपयोगीति वर्णितम् ॥ २०३ ॥

आमुख नामक यह प्रकरण कथाके सम्बन्धको सूचित करनेवाला है तथा कथाकी प्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिए उपयोगी है अतः मैंने यहाँ उसका वर्णन किया है ॥ २०३ ॥

> पुराणमृषिभिः प्रोक्तं प्रमाणं सूक्तमाञ्जसम् । ततः श्रद्धेयमध्येयं ध्येयं श्रेयोऽर्थिनामिदम् ॥ २०४ ॥

यह पुराण ऋषियोंके द्वारा कहा गया है इसलिए निश्चयसे प्रमाणभूत है। अतएव आत्मकल्याण चाहनेवालोंको इसपर श्रद्धा, अध्ययन और ध्यान करना चाहिए ॥ २०४ ॥

पुण्यमिदं पवित्रं च मङ्गल्यं च । इदमायुष्यमग्र्यं च यशस्यं स्वर्ग्यमेव च ॥ २०५ ॥

यह पुराण पुण्य बढ़ानेवाला है, पवित्र है, उत्तम मंगलरूप है, आयु बढ़ानेवाला है, श्रेष्ठ है, यश बढ़ानेवाला है और स्वर्ग प्रदान करनेवाला है ॥ २०५ ॥

इदमर्चयतां शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः । पठतां क्षेममारोग्यं शृण्वतां कर्मनिर्जरा ॥ २०६ ॥

जो मनुष्य इस पुराणकी पूजा करते हैं उन्हें शान्तिकी प्राप्ति होती है, उनके सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं; जो इसके विषयमें जो कुछ पूछते हैं उन्हें तुष्टि और पुष्टिकी प्राप्ति होती है; जो इसे पढ़ते हैं उन्हें आरोग्य तथा अनेक मंगलोंकी प्राप्ति होती है और जो सुनते हैं उनके कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है ॥ २०६ ॥

इतो दुःस्वप्ननिर्णाशः सुस्वप्नस्फूर्तिरेव च । इतोऽभीष्टफलव्यक्तिर्निमित्तमिदं पश्यताम् ॥ २०७ ॥

इस पुराणके अध्ययनसे दुःख देनेवाले स्वप्न नष्ट हो जाते हैं तथा सुख देनेवाले अच्छे स्वप्नोंकी प्राप्ति होती है, इससे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है तथा विचार करनेवालोंको शुभ-अशुभ आदि निमित्तों-शकुनोंकी उपलब्धि भी होती है ॥ २०७ ॥

वृषभकविभिर्यातं मार्गं यमेव पुरा तमेवाहमुपि गन्तुं प्रवृत्तस्तत उपहास्यतामेमि । अथवा किमत्र चित्रं पतत्पतिलङ्घितं गगनशिखरं नाक्रामेयुः किमु मशकादयः ॥ २०८ ॥

पूर्वकालमें वृषभसेन आदि गणधर जिस मार्गसे गये थे इस समय मैं भी उसी मार्गसे जाना चाहता हूँ अर्थात् उन्होंने जिस पुराणका निरूपण किया था उसीका निरूपण मैं भी करना चाहता हूँ सो इससे मेरी हँसी ही होगी, इसके सिवाय और हो क्या सकता है ? अथवा यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि जिस आकाशमें गरुड़ आदि बड़े-बड़े पक्षी उड़ते हैं उसमें क्या छोटे-छोटे पक्षी नहीं उड़ते ? अर्थात् अवश्य उड़ते हैं ॥ २०८ ॥

इति वृषभकवीन्द्रद्योतितं मार्गमेनं वयमपि यथावद् द्योतयामः स्वशक्त्या । सवितृकिरणजालैर्द्योतिते व्योममार्गे विरलगुरुडुगणोऽयं भासयेत् किं न लोके ॥ २०९ ॥

इस पुराणरूपी मार्गको वृषभसेन आदि गणधरोंने जिस प्रकार प्रकाशित किया है उसी प्रकार मैं भी इसे अपनी शक्तिके अनुसार प्रकाशित करता हूँ। क्योंकि लोकमें जो आकाश सूर्यकी किरणोंके समूहसे प्रकाशित होता है उसी

आकाशको क्या तारागण प्रकाशित नहीं करते ? अर्थात् अवश्य करते हैं। भावार्थ--मैं इस मार्गमें अवश्य प्रवृत्त हुआ हूँ परन्तु उसका जैसा विशद निरूपण वृषभसेन आदि गणधरोंने किया था वैसा मैं नहीं कर सकता। जैसे तारागण आकाशको प्रकाशित करते अवश्य हैं परन्तु सूर्यकी भाँति प्रकाशित नहीं कर पाते ॥ २०९ ॥

> हृद्याम्भोजं प्रबोधं निजसद्विधया भव्यसत्त्वानामादधत् । मिथ्यावादान्धकारस्थितिमपघटयद् वाङ्मयूखप्रतानैः । सद्वृत्तं शुद्धमार्गप्रकटनमहिमालम्बि भानोर्बिम्बप्रस्पर्धीद्धर्द्धि जैनं जगति विजयतां पुण्यमेतत् पुराणम् ॥ २१० ॥

बोध-सम्यग्ज्ञान (पक्षमें विकास) की प्राप्ति कराकर सातिशय भव्य जीवोंके हृदयरूपी कमलोंके संकोचको दूर करनेवाला, वचनरूपी किरणोंके विस्तारसे मिथ्यामतरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाला, सद्वृत्त-सदाचारका निरूपण करनेवाला अथवा उत्तम छन्दोंसे सहित (पक्षमें गोलाकार), शुद्ध मार्ग-रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग (पक्षमें कण्टकादिरहित उत्तम मार्ग) को प्रकाशित करनेवाला और इद्धर्द्धि-प्रकाशमान शब्द तथा अर्थरूप सम्पत्तिसे (पक्षमें उज्ज्वल किरणोंसे युक्त) सूर्यबिम्बके साथ स्पर्धा करनेवाला यह जिनेन्द्रदेवसम्बन्धी पवित्र-पुण्यवर्धक पुराण जगत्में सदा जयवन्त रहे ॥ २१० ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे कथामुखवर्णनं नाम प्रथमं पर्व ॥ १ ॥

आदिपुराण (द्वितीय पर्व)

उपोद्धात / कथामुखवर्णन

> तमादिदेवं देवानामानिन्द्यं स्वयंभुवम् । प्रणम्य तत्पुराणस्य वच्म्युपोद्घातविस्तरम् ॥ १ ॥

अब मैं देवाधिदेव अनिन्द्य स्वयम्भू भगवान् वृषभदेवको नमस्कार कर उनके इस महापुराणसम्बन्धी उपोद्घात-प्रारम्भका विस्तारके साथ कथन करता हूँ ॥ १ ॥

> अथातो धर्मजिज्ञासासमाहितमतिः कृती । श्रेणिकः परिपप्रच्छ गौतमं गणभृत्प्रभुम् ॥ २ ॥

अथानन्तर धर्मका स्वरूप जाननेमें जिसकी बुद्धि लग रही है, ऐसे बुद्धिमान् श्रेणिक महाराजने गणनायक गौतम स्वामीसे पूछा ॥ २ ॥

> स्वामिन् श्रुतमिदं सर्वं स्वायम्भुवान्मुखात् । ग्रन्थतः श्रोतुमिच्छामि पुराणं त्वदनुग्रहात् ॥ ३ ॥

हे भगवन्, श्रीवर्द्धमान स्वामीके मुखसे यह सम्पूर्ण पुराण अर्थरूपसे मैंने सुना है अब आपकी कृपासे मैं इसे ग्रन्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

> त्वमकारणबन्धुर्नस्त्वमकारणवत्सलः । त्वमकारणवैद्योऽसि दुःखार्तज्वरितात्मनाम् ॥ ४ ॥

हे स्वामिन्, आप हमारे अकारण बन्धु हैं, हमपर बिना कारणके ही प्रेम करनेवाले हैं तथा जन्म-मरण आदि दुःखदायी रोगोंसे पीड़ित संसारी प्राणियोंके लिए अकारण-स्वार्थरहित वैद्य हैं ॥ ४ ॥

> पुण्याभिषेकमभितः कुर्वन्तीव शिरस्सु नः । व्योमगङ्गाम्बुसच्छाया युष्मत्पादनखांशवः ॥ ५ ॥

हे देव, आकाशगंगाके जलके समान स्वच्छ आपके पादनखोंकी किरणें जो हमारे सिरोंपर पड़ रही हैं वे ऐसी मालूम होती हैं मानो हमारा सब ओरसे अभिषेक ही कर रही हों ॥ ५ ॥

> तपोदीप्तितरोद्भूता या कान्तिस्ते प्रतायिनी । अकालेऽप्यनुसन्धत्ते सान्द्रबालातपश्रियम् ॥ ६ ॥

हे स्वामिन्, उग्र तपस्याकी लब्धिसे सब ओर फैलनेवाली आपके शरीरकी आभा असमयमें ही प्रातःकालीन सूर्यकी सान्द्र-सघन शोभाको धारण कर रही है ॥ ६ ॥

> त्वया जगदिदं कृत्स्नमविद्यामीलितेक्षणम् । प्रबोधमानीतं भास्वतेवाब्जिनीवनम् ॥ ७ ॥

हे नाथ, जिस प्रकार सूर्य रातमें निमीलित हुए कमलोंको शीघ्र ही प्रबोधित-विकसित कर देता है उसी प्रकार आपने अज्ञानरूपी निद्रामें निमीलित-सोये हुए इस समस्त जगत्को प्रबोधित-जाग्रत कर दिया है ॥ ७ ॥

> अभ्लेन्दुकिरणैः स्पष्टमभालीढं यदन्तरम् । तमो देवयोदपास्तं तद् ध्वान्तं वचोऽंशुभिः ॥ ८ ॥

हे देव, हृदयके जिस अज्ञानरूपी अन्धकारको चन्द्रमा अपनी किरणोंसे छू नहीं सकता तथा सूर्य भी अपनी रश्मियोंसे जिसका स्पर्श नहीं कर सकता उसे आप अपने वचनरूपी किरणोंसे अनायास ही नष्ट कर देते हैं ॥ ८ ॥

> शब्दोच्छिखाः स्फुरन्त्येता बुद्ध्याद्या ऋद्धयो मुनेः । कर्मेन्धनदहोद्दीप्ताः सप्तार्चिष इवार्चिषः ॥ ९ ॥

हे योगिन्, उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आपकी यह बुद्धि आदि सात ऋद्धियाँ ऐसी मालूम होती हैं मानो कर्मरूपी ईंधनके जलानेसे उद्दीप्त हुई अग्निकी सात शिखाएँ ही हों ॥ ९ ॥

> इदं पुण्याश्रमस्थानं पवित्रं त्वत्परिग्रहात् । रक्षारण्यमिवाभाति तपोवृद्धेर्निराकुलम् ॥ १० ॥

हे मुनीश्वर, आपके आश्रयसे ही यह समवसरण पुण्यका आश्रमस्थान तथा पवित्र हो रहा है अथवा ऐसा मालूम होता है मानो तपरूपी लक्ष्मीका उपद्रवरहित रक्षावन ही हो ॥ १० ॥

> धन्या यदत्र वर्तन्ते वन्या मृगगणा इमे । तृणाहाराः परं तृप्ता न जानन्ति दुरापदम् ॥ ११ ॥

हे नाथ, इस समवसरणमें जो वनचर पशु बैठे हुए हैं वे धन्य हैं, इनका शरीर मीठी घासके खानेसे अत्यन्त पुष्ट हो रहा है, ये दुष्ट पशुओं-द्वारा होनेवाली पीड़ाको कभी जानते ही नहीं हैं ॥ ११ ॥

> पादप्रधावनोत्सृष्टैः कमण्डलुजलैरिव । वर्धन्ते नूनममी बालमृगाः पयःसिक्तवत् ॥ १२ ॥

पादप्रक्षालन-द्वारा इधर-उधर गिरे हुए कमण्डलुके जलसे पवित्र हुए ये हरिणोंके बच्चे इस तरह बढ़ रहे हैं मानो अमृत पीकर ही बढ़ रहे हों ॥ १२ ॥

> सिंहस्तनन्धयानेष हरिणी पाययत्यमून् । सिंहधेनुस्तनं चापि स्पृशन्ति कलभा इमे ॥ १३ ॥

इस ओर ये हथिनियाँ सिंहके बच्चेको अपना दूध पिला रही हैं और ये हाथीके बच्चे स्वेच्छासे सिंहिनीके स्तनोंका स्पर्श कर रहे हैं--दूध पी रहे हैं ॥ १३ ॥

> अहो चित्रं यद्वाचोऽप्यमी मुग्धा मृगा अपि । भजन्ति भगवत्पादच्छायां मुनिगणा इव ॥ १४ ॥

अहो! बड़े आश्चर्यकी बात है कि जिन हरिणोंको बोलना भी नहीं आता वे भी मुनियोंके समान भगवान्के चरणकमलोंकी छायाका आश्रय ले रहे हैं ॥ १४ ॥

> अच्छिन्नवल्कलाश्चामी प्रसूनफलशालिनः । धर्मारामतरूयन्ते परितो वनपादपाः ॥ १५ ॥

जिनकी छालोंको कोई छील नहीं सका है तथा जो पुष्प और फलोंसे शोभायमान हैं ऐसे सब ओर फैले हुए ये वनके वृक्ष ऐसे मालूम होते हैं मानो धर्मरूपी बगीचेके ही वृक्ष हों ॥ १५ ॥

> इमा वनलता रम्याः प्रफुल्ला भ्रमरावृताः । न विदुः करसंबाधां राजन्वत्य इव प्रजाः ॥ १६ ॥

ये फूली हुई और भ्रमरोंसे घिरी हुई वनलताएँ कितनी सुन्दर हैं! ये सब न्यायवान् राजाकी प्रजाकी तरह कर-बाधा (हाथसे फल-फूल आदि तोड़नेका दुःख, पक्षमें टैक्सका दुःख) को तो जानती ही नहीं हैं ॥ १६ ॥

> तपोवनमिदं चारु परितो विपुलाचलम् । दयावनमिवोद्भूतं प्रसादयति मे मनः ॥ १७ ॥

आपका यह मनोहर तपोवन जो कि विपुलाचल पर्वतके चारों ओर विद्यमान है, प्रकट हुए दयावनके समान मेरे मनको आनन्दित कर रहा है ॥ १७ ॥

> इमे तपोधना दीक्षतपसो वातवल्कलाः । भवत्पादप्रसादेन मोक्षमार्गमुपासते ॥ १८ ॥

हे भगवन्, उग्र तपश्चरण करनेवाले ये दिगम्बर तपस्वीजन केवल आपके चरणोंके प्रसादसे ही मोक्षमार्गकी उपासना कर रहे हैं ॥ १८ ॥

> इति प्रस्पष्टमाहात्म्यः कुशलस्त्वं जगदनुग्रहे । भगवन् भव्यसार्थस्य सार्थवाहत्वमागतः ॥ १९ ॥

हे भगवन्, आपका माहात्म्य अत्यन्त प्रकट है, आप जगत्के उपकार करनेमें सातिशय कुशल हैं अतएव आप भव्य समुदायके सार्थवाह--नायक गिने जाते हैं ॥ १९ ॥

> तत् ब्रूहि महायोगिन् न ते किञ्चिदगोचरः । तव ज्ञानांशवो दिव्याः प्रसरन्ति जगत्त्रये ॥ २० ॥

हे महायोगिन्, संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो आपके ज्ञानका विषय न हो, आपकी मनोहर ज्ञानकिरणें तीनों लोकोंमें फैल रही हैं, इसलिए हे देव, आप ही यह पुराण कहिए ॥ २० ॥

> विज्ञाप्यमन्यदप्यस्ति समाधाय मनः श्रृणु । येन ते भगवन् चित्तं दृढं स्यान्मदनुग्रहे ॥ २१ ॥

हे स्वामिन्, इसके सिवाय एक बात और कहनी है उसे चित्त स्थिर कर सुन लीजिए जिससे मेरा उपकार करनेमें आपका चित्त और भी दृढ़ हो जाये ॥ २१ ॥

> पुरा चरितमज्ञानान्मया दुष्कृतं महत् । तन्निबन्धनशान्त्यर्थं प्रायश्चित्तं चराम्यहम् ॥ २२ ॥

वह बात यह है कि मैंने पहले अज्ञानवश बड़े-बड़े दुराचरण किये थे, अब उन पापोंकी शान्तिके लिए ही यह प्रायश्चित्त ले रहा हूँ ॥ २२ ॥

हिंसानृतास्तेयपरद्रव्यारम्भपरिग्रहैः । मया संचितमज्ञेन पुरैनो निरयोचितम् ॥ २३ ॥

हे नाथ, मुझ अज्ञानीने पहले हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीसेवन और अनेक प्रकारके आरम्भ तथा परिग्रहादिके द्वारा अत्यन्त घोर पापोंका संचय किया है ॥ २३ ॥

अपि च मुनिवधानन्दस्तीव्रो मिथ्यादृशा मया । येनायुष्कर्म दुर्मोचं बद्धं नरकगतिं प्रति ॥ २४ ॥

और तो क्या, मुझ मिथ्यादृष्टिने मुनिराजके वध करनेमें भी बड़ा आनन्द माना था जिससे मुझे नरक ले जानेवाले नरकायु कर्मका ऐसा बन्ध हुआ जो कभी छूट नहीं सकता ॥ २४ ॥

तस्मादिदं मुदा विद्मः श्रोतुमाद्यं पुरातनम् । निष्क्रयो दुष्कृतस्यास्तु मम पुण्यकथाश्रुतिः ॥ २५ ॥

इसलिए हे प्रभो, उस पवित्र पुराणके प्रारम्भसे कहनेके लिए मुझपर प्रसन्न होइए क्योंकि उस पुण्यरूप पुराणके सुननेसे मेरे पापोंका अवश्य ही निराकरण हो जायेगा ॥ २५ ॥

इति प्रश्रयिणीं वाचमुदीर्य मगधाधिपः । व्यरमद्दशनज्योत्स्नाकृतपुष्पाञ्जलिस्तुतिः ॥ २६ ॥

इस प्रकार दाँतोंकी कान्तिरूपी पुष्पोंके द्वारा पूजा और स्तुति करते हुए मगधसम्राट् विनयके साथ ऊपर कहे हुए वचन कहकर चुप हो गये ॥ २६ ॥

ततस्तमृषयो दीप्ततपोलक्ष्मीविभूषणाः । प्रशशंसुरिति प्रीता मुदा मगधेश्वरम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर श्रेणिकके ऊपर प्रसन्न हुए और तीव्र तपश्चरणरूपी लक्ष्मीसे शोभायमान मुनिजन नीचे लिखे अनुसार उन बुद्धिमान् श्रेणिक महाराजकी प्रशंसा करने लगे ॥ २७ ॥

साधु भो मगधाधीश साधु प्रश्नविदां वर । पुराणप्रश्नेन त्वया नूनं प्रीणितं मनः ॥ २८ ॥

हे मगधेश्वर, तुम धन्य हो, तुम प्रश्न पूछनेवालोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ हो इसलिए और भी धन्य हो। आज महापुराणसम्बन्धी प्रश्न पूछते हुए तुमने हम लोगोंके चित्तको बहुत ही हर्षित किया है ॥ २८ ॥

यत् प्रच्छिषितमस्माभिर्यदेव परमार्षजम् । तदेव त्वत्प्रसादेन संवादः समुपस्थितः ॥ २९ ॥

हे श्रेणिक, श्रेष्ठ अक्षरोंसे सहित जिस पुराणको हम लोग पूछना चाहते थे उसे ही तुमने पूछा है। देखो, यह कैसा अच्छा सम्बन्ध मिला है ॥ २९ ॥

बुभुत्सावेदनं प्रश्नः स ते धर्मो बुभुत्सितः । धर्मं बुभुत्सता नूनं विश्वमेव बुभुत्सितम् ॥ ३० ॥

जाननेकी इच्छा प्रकट करना प्रश्न कहलाता है। आपने अपने प्रश्नमें धर्मका स्वरूप जानना चाहा है। सो हे श्रेणिक, धर्मका स्वरूप जाननेकी इच्छा करते हुए आपने सारे संसारको जानना चाहा है अर्थात् धर्मका स्वरूप जाननेकी इच्छासे आपने अखिल संसारके स्वरूपको जाननेकी इच्छा प्रकट की है ॥ ३० ॥

पश्य धर्मतरोरर्थः फलं कामस्तु तद्रसः । त्रिवर्गत्रितयस्यास्य मूलं पुण्यकथाश्रुतिः ॥ ३१ ॥

हे श्रेणिक, देखो, यह धर्म एक वृक्ष है। अर्थ उसका फल है और काम उसके फलोंका रस है। धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंको त्रिवर्ग कहते हैं, इस त्रिवर्गकी प्राप्तिका मूल कारण धर्मशास्त्र सुनना है ॥ ३१ ॥

धर्मादर्थस्तथा कामः स्वर्गश्चेत्यभिधीयते । धर्मः कामार्थयोर्मूलमित्यायुष्मन् विनिश्चिनु ॥ ३२ ॥

हे आयुष्मन्, तुम यह निश्चय करो कि धर्मसे ही अर्थ, काम, स्वर्गकी प्राप्ति होती है। सचमुच वह धर्म ही अर्थ और कामका उत्पत्तिस्थान है ॥ ३२ ॥

धर्मार्थी सर्वकामार्थी धर्मार्थी धनसौख्यवान् । धर्मो हि मूलं सर्वासां धनर्द्धिसुखसंपदाम् ॥ ३३ ॥

जो धर्मकी इच्छा रखता है वह समस्त इष्ट पदार्थोंकी इच्छा रखता है। धर्मकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य ही धनी और सुखी होता है क्योंकि धन, ऋद्धि, सुख-सम्पत्ति आदि सबका मूल कारण एक धर्म ही है ॥ ३३ ॥

धर्मः कामदुधा धेनुर्धर्मश्चिन्तामणिर्महान् । धर्मः कल्पतरुः स्थेयान् धर्मो हि निधिरक्षयः ॥ ३४ ॥

मनचाही वस्तुओंको देनेके लिए धर्म ही कामधेनु है, धर्म ही महान् चिन्तामणि है, धर्म ही स्थिर रहनेवाला कल्पवृक्ष है और धर्म ही अविनाशी निधि है ॥ ३४ ॥

> पश्य धर्मस्य माहात्म्यं योऽपायात् परिरक्षति । धर्मे स्थितं नरं दृष्ट्वा व्यतिक्रामन्ति देवताः ॥ ३५ ॥

हे श्रेणिक, देखो धर्मका कैसा माहात्म्य है, जो पुरुष धर्ममें स्थिर रहता है--निर्मल धर्मका आचरण करता है, वह उसे अनेक संकटोंसे बचाता है। तथा देवता भी उसपर आक्रमण नहीं कर सकते, दूर-दूर ही रहते हैं ॥ ३५ ॥

> विचारनृपलोकात्मदिव्यप्रत्ययतोऽपि च । धर्मस्य परमं माहात्म्यं निर्विचारमवेहि भोः ॥ ३६ ॥

हे बुद्धिमान्, विचार, राजनीति, लोकप्रसिद्धि, आत्मानुभव और उत्तम ज्ञानादिको प्राप्तिसे भी धर्मका अचिन्त्य माहात्म्य जाना जाता है। भावार्थ--द्रव्योंकी अनन्त शक्तियोंका विचार, राज-सम्मान, लोकप्रसिद्धि, आत्मानुभव और अवधि-मनःपर्यय आदि ज्ञान इन सबको प्राप्ति धर्मसे ही होती है। अतः इन सब बातोंको देखकर धर्मका अलौकिक माहात्म्य जानना चाहिए ॥ ३६ ॥

> स धर्मो विनिपातेभ्यो धृत्वा जीवं दधात्यदः । ध्रुवे चाम्युदयस्थाने निरपायसुखोदये ॥ ३७ ॥

यह धर्म नरक-निगोद आदिके दुःखोंसे इस जीवकी रक्षा करता है और अविनाशी सुखसे युक्त मोक्षस्थानमें इसे पहुँचा देता है इसलिए इसे धर्म कहते हैं ॥ ३७ ॥

> स च धर्मः पुराणार्थः पुराणं पञ्चधा विदुः । क्षेत्रं कालोऽथ तीर्थं च सत्पुंसस्तद्विचेष्टितम् ॥ ३८ ॥

जो पुराणका अर्थ है वही धर्म है, मुनिजन पुराणको पाँच प्रकारका मानते हैं--क्षेत्र, काल, तीर्थ, सत्पुरुष और उनकी चेष्टाएँ ॥ ३८ ॥

> क्षेत्रं त्रैलोक्यविन्यासः कालस्त्रैकाल्यविस्तरः । मुक्त्युपायो भवेत् तीर्थं पुरुषास्तन्निषेविणः ॥ ३९ ॥

ऊर्ध्व, मध्य और पातालरूप तीन लोकोंकी जो रचना है उसे क्षेत्र कहते हैं। भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप तीन कालोंका जो विस्तार है उसे काल कहते हैं। मोक्षप्राप्तिके उपायभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको तीर्थ कहते हैं। इस तीर्थको सेवन करनेवाले शलाकापुरुष सत्पुरुष कहलाते हैं ॥ ३९ ॥

न्याय्यमाचरितं तेषां क्रिया दुरितच्छिदाम् । इति कृत्स्नः पुराणार्थः प्रश्ने संभावितस्त्वया ॥ ४० ॥

और पापोंको नष्ट करनेवाले उन सत्पुरुषोंके न्यायोपेत आचरणको उनकी चेष्टाएँ अथवा क्रियाएँ कहते हैं। हे श्रेणिक, तुमने पुराणके इस सम्पूर्ण अर्थको अपने प्रश्नमें समाविष्ट कर दिया है ॥ ४० ॥

अहो प्रसन्नगम्भीरः प्रश्नस्ते विश्वगोचरः । क्षेत्रक्षेत्रज्ञसन्मार्गकालसच्चरिताश्रयः ॥ ४१ ॥

अहो श्रेणिक, तुम्हारा यह प्रश्न सरल होनेपर भी गम्भीर है, सब तत्त्वोंसे भरा हुआ है तथा क्षेत्र, क्षेत्रको जाननेवाला आत्मा, सन्मार्ग, काल और सत्पुरुषोंका चरित्र आदिका आधारभूत है ॥ ४१ ॥

इममेव पुराणं प्रश्नं पप्रच्छ भरतः पुरुम् । अथाप्यनुयुगे सम्राट् सगरोऽजितमच्युतम् ॥ ४२ ॥

हे बुद्धिमान् श्रेणिक, युगके आदिमें भरत चक्रवर्तीने भगवान् आदिनाथसे यही प्रश्न पूछा था और यही प्रश्न चक्रवर्ती सगरने भगवान् अजितनाथसे पूछा था ॥ ४२ ॥

अतोऽपि प्रमाणभूतेयं वक्तृश्रोतृपरम्परा । त्वयाद्यालंकृता धीमन् पृच्छतेमं महाधियम् ॥ ४३ ॥

आज तुमने भी अत्यन्त बुद्धिमान् गौतम गणधरसे यही प्रश्न पूछा है। इस प्रकार वक्ता और श्रोताओंकी जो प्रमाणभूत-सच्ची परम्परा चली आ रही थी उसे तुमने सुशोभित कर दिया है ॥ ४३ ॥

त्वं प्रष्टा भगवान् वक्ता सहशुश्रूषवो वयम् । सामग्री नेदृशी जातु जाता नैव जनिष्यते ॥ ४४ ॥

हे श्रेणिक, तुम प्रश्न करनेवाले, भगवान् महावीर स्वामीके गणधर उत्तर देनेवाले और हम सब तुम्हारे साथ सुननेवाले हैं। हे राजन्, ऐसी सामग्री पहले न तो कभी मिली है और न कभी मिलेगी ॥ ४४ ॥

तस्मात् पुण्यकथामेनां श्रोतुकामाः स्म वयम् । प्रज्ञापारमितो देवो वक्तुमुत्सहतामयम् ॥ ४५ ॥

इसलिए पूर्ण प्रज्ञाको धारण करनेवाले ये गौतम स्वामी इस पुण्य कथाका कहना प्रारम्भ करें और हम सब तुम्हारे साथ सुनें ॥ ४५ ॥

> इति संहर्षयन्तस्तं धर्मे ते समाधानचक्षुषः । ततो गणधरस्तोत्रं पेठुरित्युच्चकैस्तदा ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वे सब ऋषिजन महाराज श्रेणिकको धर्ममें उत्साहित कर एकाग्रचित्त हो उच्च स्वरसे गणधर स्वामीका नीचे लिखा हुआ स्तोत्र पढ़ने लगे ॥ ४६ ॥

> नो प्रत्यक्षविदां बोधैरप्यबुद्धप्रभोदयम् । प्रत्यक्षस्तवनैः स्तोतुं त्वां वयं किल मुत्सुकाः ॥ ४७ ॥

हे स्वामिन्, यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञानके धारक बड़े-बड़े मुनि भी अपने ज्ञान-द्वारा आपके अभ्युदयको नहीं जान सके हैं तथापि हम लोग प्रत्यक्ष स्तोत्रोंके द्वारा आपकी स्तुति करनेके लिए तत्पर हुए हैं सो यह एक आश्चर्यकी ही बात है ॥ ४७ ॥

> चतुर्दशमहाविद्यास्थानाकूपारपारगम् । त्वामृषे स्तोतुकामाः स्मः केवलं भक्तियोदिताः ॥ ४८ ॥

हे ऋषे, आप चौदह पूर्व (महाविद्या) रूपी सागरके पारगामी हैं अतः हम लोग मात्र भक्तिसे प्रेरित होकर ही आपकी स्तुति करना चाहते हैं ॥ ४८ ॥

> भगवन् भवसंसारदुःखान्मुञ्च शिवाकरम् । पताकेवोच्छ्रिता भाति कीर्तिरेषा विधूज्ज्वला ॥ ४९ ॥

हे भगवन्, आप भव्य जीवोंको मोक्षस्थानकी प्राप्ति करानेवाले हैं, आपकी चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कीर्ति फहराती हुई पताकाके समान शोभायमान हो रही है ॥ ४९ ॥

> आवालवालीकृताम्भोधिपाताला कीर्तिवल्लरी । जगन्नाडीतरोरग्रमाक्रामति तवोच्छिखा ॥ ५० ॥

हे प्रभो, चारों ओर फैले हुए समुद्रको जिसने अपना आलवाल (क्यारी) बनाया है ऐसी बढ़ती हुई आपकी यह कीर्तिरूपी लता इस समय त्रसनाड़ीरूपी वृक्षके अग्रभागपर आक्रमण कर रही है--उसपर आरूढ़ हुआ चाहती है ॥ ५० ॥

> त्वामामनन्ति मुनयो योगिनामधियोगिनम् । त्वां गण्यं गणनातीतगुणं गणधरं विदुः ॥ ५१ ॥

हे नाथ, बड़े-बड़े मुनि भी यह मानते हैं कि आप योगियोंमें महायोगी हैं, प्रसिद्ध हैं, असंख्यात गुणोंके धारक हैं तथा संघके अधिपति--गणधर हैं ॥ ९१ ॥

> गौर्वाग् गौः प्रकृष्टो यस्याः सा च स्वन्भारती । तां वेत्सि तामधीषे च यतस्त्वं गौतमो मतः ॥ ९२ ॥

उत्कृष्ट वाणीको 'गौ' कहते हैं और वह उत्कृष्ट वाणी सर्वज्ञ-तीर्थंकरकी दिव्य ध्वनि ही हो सकती है, उसे आप जानते हैं अथवा उसका अध्ययन करते हैं इसलिए आप गौतम माने गये हैं अर्थात् आपका यह नाम सार्थक है ॥ ९२ ॥

> गोतमादागतो देवः स्वर्गाग्राद् गौतमो मतः । तेन प्रोक्तमधीयानस्त्वं चासौ गौतमश्रुतिः ॥ ९३ ॥

अथवा ऐसा समझिए कि भगवान् वर्धमान स्वामी, गोतम अर्थात् उत्तम स्वर्गके अग्रभागसे अवतीर्ण हुए हैं इसलिए वर्धमान स्वामीको गोतम कहते हैं। इन गोतम नामवाले वर्धमान स्वामी-द्वारा कही हुई दिव्यध्वनिको आप पढ़ते हैं, जानते हैं, इसलिए लोग आपको गौतम कहते हैं ॥ ९३ ॥

> इन्द्रेण प्राप्तपूजत्वादिरन्द्रभूतिस्त्वमिष्यसे । साक्षात् सर्वज्ञपुत्रस्त्वमाप्तसंज्ञानकण्ठिकः ॥ ९४ ॥

आपने इन्द्रके द्वारा की हुई अर्चारूपी विभूतिको प्राप्त किया है इसलिए आप इन्द्रभूति कहलाते हैं तथा आपको आप्तज्ञानरूपी कण्ठाभरण प्राप्त हुआ है अतः आप सर्वज्ञ श्री वर्धमान स्वामीके साक्षात् पुत्रके समान हैं ॥ ९४ ॥

> चतुर्भिरामलैर्बोधैरबुद्धस्त्वं जगद् यतः । प्रज्ञापारमितं पूतं त्वां प्राहुस्ततो बुधाः ॥ ९५ ॥

हे देव, आपने अपने चार निर्मल ज्ञानोंके द्वारा समस्त संसारको जान लिया है तथा आप बुद्धिके पारको प्राप्त हुए हैं इसलिए विद्वान् लोग आपको बुद्ध कहते हैं ॥ ९५ ॥

> तमोऽन्तरतिक्रान्तं परं ज्योतिस्त्वामदृष्ट्वा दुरासदम् । ज्योतिर्मयः प्रदीपोऽसि त्वं तस्याभिप्रकाशनात् ॥ ९६ ॥

हे देव, आपको बिना देखे अज्ञानान्धकारसे परे रहनेवाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योतिका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, आप उस ज्योतिके प्रकाशक होनेसे ज्योतिस्वरूप अनोखे दीपक हैं ॥ ९६ ॥

श्रुतदेव्याहितस्नेहप्रज्वाला बोधदीपिका । तवैषा प्रज्वलत्युच्चैर्द्योतयन्ती जगद्गृहम् ॥ ५७ ॥

हे स्वामिन्, श्रुतदेवताके द्वारा अनुराग धारण करनेवाली आपकी सम्यग्ज्ञानरूपी दीपिका जगतरूपी घरको प्रकाशित करती हुई अत्यन्त शोभायमान हो रही है ॥ ५७ ॥

सान्द्रो वाक्प्रकरो दिव्यो विधूय जगतां तमः । प्रकाशयति सन्मार्गं रवेरिव मयूखराट् ॥ ५८ ॥

आपके दिव्य वचनोंका समूह लोगोंके मिथ्यात्वरूपी अन्धकारको नष्ट करता हुआ सूर्यकी किरणोंके समूहके समान समीचीन मार्गका प्रकाश करता है ॥ ५८ ॥

अहो लोकातिगा प्रज्ञा विद्यानां पारदृश्वरी । श्रुतस्कन्धमहासिन्धोरभजद् यानपात्रताम् ॥ ५९ ॥

हे देव, आपकी यह प्रज्ञा लोकमें सबसे चढ़ी-बढ़ी है, समस्त विद्याओंमें पारंगत है और द्वादशांगरूपी समुद्रमें जहाजपनेको प्राप्त है--अर्थात् जहाजका काम देती है ॥ ५९ ॥

त्वयावतारिता तुङ्गाद् महावीरहिमाचलात् । श्रुतामरसरित् पुण्या निर्धुनानाखिलं रजः ॥ ६० ॥

हे देव, आपने अत्यन्त ऊँचे वर्धमान स्वामीरूपी हिमालयसे उस श्रुतज्ञानरूपी गंगा नदीका अवतरण कराया है जो कि स्वयं पवित्र है और समस्त पापरूपी रजको धोनेवाली है ॥ ६० ॥

प्रत्यक्षं चेतरेणैव द्वितयं ते वचोनिधेः । केवलं केवलिन्येकस्ततस्त्वं श्रुतकेवली ॥ ६१ ॥

हे देव, केवली भगवानमें मात्र एक केवलज्ञान ही होता है और आपमें प्रत्यक्ष-परोक्षके भेदसे दो प्रकारका ज्ञान विद्यमान है इसलिए आप श्रुतकेवली कहलाते हैं ॥ ६१ ॥

पारेतमः परंधाम प्रवेष्टुमनसो वयम् । तद्द्वारोद्घाटनं बीजं त्वामुपास्य लभेमहि ॥ ६२ ॥

हे देव, हम लोग मोह अथवा अज्ञानान्धकारसे रहित मोक्षरूपी परम धाममें प्रवेश करना चाहते हैं अतः आपकी उपासना कर आपसे उसका द्वार उघाड़नेका कारण प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ६२ ॥

> ब्रह्मणेनोदिता विज्ञास्त्वं हि ब्रह्मविदो मुनिः । परं ब्रह्म त्वदायत्तं ततो ब्रह्मविदो विदुः ॥ ६३ ॥

हे देव, आप सर्वज्ञ देवके द्वारा कही हुई समस्त विद्याओंको जानते हैं इसलिए आप ब्रह्मविद् कहलाते हैं तथा परब्रह्मरूप सिद्ध पदकी प्राप्ति होना आपके अधीन है ऐसा ब्रह्मका स्वरूप जाननेवाले योगीश्वर भी कहते हैं ॥ ६३ ॥

> मुनयो ज्ञाननिलयाः पदमूर्ध्वं विधित्सवः । त्वां मूर्ध्ना वन्दिनो नित्यं तदुपायमुपासते ॥ ६४ ॥

हे देव, जो ज्ञानी मुनि मोक्ष प्राप्त करनेके इच्छुक हैं वे आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हुए उसके उपायभूत--सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उपासना करते हैं ॥ ६४ ॥

> महायोगिन् नमस्तुभ्यं महाप्राज्ञ नमोऽस्तु ते । नमो महात्मने तुभ्यं नमस्त्रात्रे महर्द्धये ॥ ६५ ॥

हे देव, आप महायोगी हैं--ध्यानी हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप महाबुद्धिमान् हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप महात्मा हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप जगत्त्रयके रक्षक और बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥ ६५ ॥

> नमोऽवधिजुषे तुभ्यं नमो देशावधित्विषे । परमावधये तुभ्यं नमः सर्वावधिस्पृशे ॥ ६६ ॥

हे देव, आप देशावधि, परमावधि और सर्वावधिरूप अवधिज्ञानको धारण करनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥ ६६ ॥

> कोष्ठबुद्धे नमस्तुभ्यं नमस्ते बीजबुद्धये । पदानुसारिन् संभिन्नश्रोतस्तुभ्यं नमो नमः ॥ ६७ ॥

हे देव, आप कोष्ठबुद्धि नामक ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं अर्थात् जिस प्रकार कोठेमें अनेक प्रकारके धान्य भरे रहते हैं उसी प्रकार आपके हृदयमें भी अनेक पदार्थोंका ज्ञान भरा हुआ है, अतः आपको नमस्कार हो। आप बीजबुद्धि नामक ऋद्धिसे सहित हैं अर्थात् जिस प्रकार उत्तम जमीनमें बोया हुआ एक भी बीज अनेक फल उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार आप भी आगमके बीजरूप एक-दो पदोंको ग्रहण कर अनेक प्रकारके ज्ञानको प्रकट कर देते हैं इसलिए आपको नमस्कार हो। आप पदानुसारी ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं अर्थात् आगमके आदि, मध्य, अन्तको अथवा जहाँ-कहींसे भी एक पदको सुनकर भी समस्त आगमको जान लेते हैं अतः आपको नमस्कार हो। आप संभिन्नश्रोतृ ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं अर्थात् आप नौ योजन चौड़े और बारह योजन लम्बे क्षेत्रमें फैले हुए चक्रवर्तीके

कटकसम्बन्धी समस्त मनुष्य और तिर्यञ्चोंके अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक मिले हुए शब्दोंको एक साथ ग्रहण कर सकते हैं अतः आपको बार-बार नमस्कार हो ॥ ६७ ॥

> नमोऽस्त्वृजुमते तुभ्यं नमस्ते विपुलात्मने । नमः प्रत्येकबुद्धाय स्वयंबुद्धाय वै नमः ॥ ६८ ॥

आप ऋजुमति और विपुलमति नामक दोनों प्रकारके मनःपर्ययज्ञानसे सहित हैं अतः आपको नमस्कार हो। आप प्रत्येकबुद्ध हैं इसलिए आपको नमस्कार हो तथा आप स्वयंबुद्ध हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ६८ ॥

> अभिन्नदशपूर्विभ्यः प्राप्तपूजाय ते नमः । नमस्ते पूर्वविद्यानां विश्वासां पारदृश्वने ॥ ६९ ॥

हे स्वामिन्, दशपूर्वोंका पूर्ण ज्ञान होनेसे आप जगत्में पूज्यताको प्राप्त हुए हैं अतः आपको नमस्कार हो। इसके सिवाय आप समस्त पूर्व विद्याओंके पारगामी हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥ ६९ ॥

> दीप्तोग्रतपसे तुभ्यं नमस्तप्तमहातपः । नमो घोरगुणब्रह्मचारिणे घोरतेजसे ॥ ७० ॥

हे नाथ, आप पक्षोपवास, मासोपवास आदि कठिन तपस्याएँ करते हैं, आतापनादि योग लगाकर चिरकाल तक कठिन-कठिन तप तपते हैं, अनेक गुणोंसे सहित अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और अत्यन्त तेजस्वी हैं, अतः आपको नमस्कार हो ॥ ७० ॥

> अष्टानां विक्रियर्द्धीनामशेषां सिद्धिमीयुषे । आमर्षखेलवाग्विप्रुड्जलसर्वौषधे नमः ॥ ७१ ॥

हे देव, आप अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व इन आठ विक्रिया ऋद्धियोंकी सिद्धिको प्राप्त हुए हैं अर्थात् (१) आप अपने शरीरको परमाणुके समान सूक्ष्म कर सकते हैं, (२) सुमेरुके समान भी स्थूल बना सकते हैं, (३) अत्यन्त भारी (वजनदार) कर सकते हैं, (४) हलका (कम वजनदार) बना सकते हैं, (५) आप जमीनपर बैठे-बैठे ही मेरु पर्वतकी चोटी छू सकते हैं अथवा देवोंके आसन कम्पायमान कर सकते हैं, (६) आप अढ़ाई द्वीपमें चाहे जहाँ जा सकते हैं अथवा जलमें स्थलकी तरह और स्थलमें जलकी तरह गमन कर सकते हैं, (७) आप चक्रवर्तीके समान विभूतिको प्राप्त कर सकते हैं और (८) विरोधी जीवोंको भी वशीभूत कर सकते हैं, अतः आपको नमस्कार है। इनके सिवाय हे देव, आप आमर्ष, खेल, वाग्विप्रुट्, जल और सर्वौषधि आदि ऋद्धियोंसे सुशोभित हैं अर्थात् (१) आपके वमनकी वायु समस्त रोगोंको नष्ट कर सकती है, (२) आपके मुखसे निकले हुए कफको स्पर्श कर बहनेवाली वायु सब रोगोंको हर सकती है, (३) आपके मुखसे निकली हुई वायु सब रोगोंको नष्ट

कर सकती है, (४) आपके मलको स्पर्श कर बहती हुई वायु सब रोगोंको हर सकती है और (५) आपके शरीरको स्पर्श कर बहती हुई वायु सब रोगोंको दूर कर सकती है, इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ७१ ॥

> नमोऽमृतमधुक्षीरसर्पिरास्राविणेऽस्तु ते । नमो मनोवचःकायबलिनां ते बलीयसे ॥ ७२ ॥

हे देव, आप अमृतस्राविणी, मधुस्राविणी, क्षीरस्राविणी और घृतस्राविणी आदि रस ऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं अर्थात् (१) भोजनमें मिला हुआ विष भी आपके प्रभावसे अमृतरूप हो सकता है, (२) भोजन मीठा न होनेपर भी आपके प्रभावसे मीठा हो सकता है, (३) आपके प्रभावसे भोजनगृह अथवा भोजनमें दूध झरने लग सकता है और (४) आपके प्रभावसे भोजनगृहमें घीकी कमी दूर हो सकती है, अतः आपको नमस्कार हो। इनके सिवाय आप मनोबल, वचनबल और कायबल ऋद्धिसे सम्पन्न हैं अर्थात् आप समस्त द्वादशांगका अन्तर्मुहूर्तमें अर्थरूपसे चिन्तवन कर सकते हैं, समस्त द्वादशांगका अन्तर्मुहूर्तमें शब्दों-द्वारा उच्चारण कर सकते हैं और शरीरसम्बन्धी अतुल बलसे सहित हैं, अतः आपको नमस्कार हो ॥ ७२ ॥

> जलजंघाफलश्रेणीतन्तुपुष्पाम्बरश्रयात् । चारणर्द्धिजुषे तुभ्यं नमोऽक्षीणमहर्द्धये ॥ ७३ ॥

हे देव, आप जलचारण, जंघाचारण, फलचारण, श्रेणीचारण, तन्तुचारण, पुष्पचारण और अम्बरचारण आदि चारण ऋद्धियोंसे युक्त हैं अर्थात् (१) आप जलमें भी स्थलके समान चल सकते हैं तथा ऐसा करनेपर जलकायिक और जलचर जीवोंको आपके द्वारा किसी प्रकारकी बाधा नहीं होगी, (२) आप बिना कदम उठाये ही आकाशमें चल सकते हैं, (३) आप वृक्षोंमें लगे फलोंपर-से गमन कर सकते हैं और ऐसा करनेपर भी वे फल वृक्षसे टूटकर नीचे नहीं गिरेंगे, (४) आप आकाशमें श्रेणीबद्ध गमन कर सकते हैं, बीचमें आये हुए पर्वत आदि भी आपको नहीं रोक सकते, (५) आप सूत अथवा मकड़ीके जालके तन्तुओंपर गमन कर सकते हैं पर वे आपके भारसे टूटेंगे नहीं, (६) आप पुष्पोंकी परागपर भी गमन कर सकते हैं परन्तु वे आपके भारसे नहीं टूटेंगे और न उसमें रहनेवाले जीवोंको किसी प्रकारका कष्ट होगा, और (७) इनके सिवाय आप आकाशमें भी सर्वत्र गमनागमन कर सकते हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो। हे स्वामिन्, आप अक्षीण ऋद्धिके धारक हैं अर्थात् आप जिस भोजनशालामें भोजन कर लेंगे उसका भोजन चक्रवर्तीके कटकको खिलानेपर भी क्षीण नहीं होगा और आप यदि छोटे-से स्थानमें भी बैठकर धर्मोपदेश आदि देंगे तो उस स्थानपर समस्त मनुष्य और देव आदिके बैठनेपर भी संकीर्णता नहीं होगी, इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ७३ ॥

> त्वमेव परमो बन्धुस्त्वमेव परमा गतिः । त्वामेव भजमानानां भवन्ति ज्ञानसंपदः ॥ ७४ ॥

हे नाथ, संसारमें आप ही परम बन्धु हैं, आप ही उत्तम गति हैं और आपकी सेवा करनेवाले पुरुषोंको ज्ञानरूपी सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है ॥ ७४ ॥

> त्वयैव कथिता विश्वा विहिता धर्मसंहिता । अत एव नमस्तुभ्यममी कुर्वन्ति योगिनः ॥ ७५ ॥

हे भगवन्, इस संसारमें आपने ही समस्त धर्मशास्त्रोंका वर्णन किया है अतः ये बड़े-बड़े योगी आपको ही नमस्कार करते हैं ॥ ७५ ॥

> त्वत्त एव परं श्रेयो मन्यमानास्ततो वयम् । तव पादाम्बुजच्छायां त्वय्यास्तिक्यादुपास्महे ॥ ७६ ॥

हे देव, मोक्षरूपी परम कल्याणकी प्राप्ति आपसे ही होती है ऐसा मानकर हम लोग आपमें श्रद्धा रखते हुए आपके चरणरूप कमलोंकी छायाका आश्रय लेते हैं ॥ ७६ ॥

> वाग्गुप्तेस्त्वत्स्तुतौ हानिर्मनोगुप्तेस्तव स्मृतौ । कायगुप्तेः प्रणामे ते काममस्तु सदापि नः ॥ ७७ ॥

हे देव, आपकी स्तुति करनेसे हमारी वचनगुप्तिकी हानि होती है, आपका स्मरण करनेसे मनोगुप्तिमें बाधा पहुँचती है तथा आपको नमस्कार करनेमें कायगुप्तिकी हानि होती है सो भले ही हो हमें इसकी चिन्ता नहीं, हम सदा ही आपकी स्तुति करेंगे, आपका स्मरण करेंगे और आपको नमस्कार करेंगे ॥ ७७ ॥

> स्तुत्वेति स्तुतिभिः स्तुत्यं भवन्तं भुवनाधिकम् । पुराणश्रुतिमेवैनां फलत्वेन प्रार्थयामहे ॥ ७८ ॥

हे स्वामिन्, जगत्में श्रेष्ठ और स्तुति करनेके योग्य आपको हम लोगोंने जो ऊपर लिखे अनुसार स्तुति की है उसके फलस्वरूप हमें तिरसठ शलाकापुरुषोंका पुराण सुनाइए, यही हम सब प्रार्थना करते हैं ॥ ७८ ॥

> पुराणश्रुतितो धर्मो योऽस्माकमभिसंस्कृतः । पुराणकवितामेव तस्मादाशास्महे वयम् ॥ ७९ ॥

हे देव, पुराणके सुननेसे हमें जो सुयोग्य धर्मकी प्राप्ति होगी उससे हम कवितारूप पुराणकी ही आशा करते हैं ॥ ७९ ॥

> त्वत्पादाराधनात् पुण्यं यदस्माभिरुपार्जितम् । तदेव फलभूयान्नः परार्ध्या संपदुर्जिता ॥ ८० ॥

हे नाथ, आपके चरणोंकी आराधना करनेसे हमारे जो कुछ पुण्यका संचय हुआ है उससे हमें भी आपकी इस उत्कृष्ट महासम्पत्तिकी प्राप्ति हो ॥ ८० ॥

> त्वत्प्रसादादियं देव सफला प्रार्थनास्तु नः । अद्य राजर्षिणानेन श्रोतॄननुगृहाण नः ॥ ८१ ॥

हे देव, आपके प्रसादसे हमारी यह प्रार्थना सफल हो। आज राजर्षि श्रेणिकके साथ-साथ हम सब श्रोताओंपर कृपा कीजिए ॥ ८१ ॥

> मुनीनां स्तोत्रसंपत्तैस्तत्क्षणं प्रविजृम्भितः । पुण्यो मुनिसमाजेऽस्मिन् महान् कलकलोऽभवत् ॥ ८२ ॥

इस प्रकार मुनियोंने जब उच्च स्वरसे स्तोत्रोंसे जो गणधर गौतम स्वामीकी स्तुति की थी उससे उस समय मुनिसमाजमें पुण्यवर्धक बड़ा भारी कोलाहल होने लगा था ॥ ८२ ॥

> एवं स्तुवद्भिरोधेन मुनिवृन्दारकैस्तदा । प्रसादितो गणेन्द्रोऽभूद् वशिनो हि योगिनः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार समुदाय बनाकर बड़े-बड़े मुनियोंने जब गणधर देवकी स्तुति की तब वे प्रसन्न हुए। सो ठीक ही है क्योंकि योगीजन भक्तिके द्वारा वशीभूत होते ही हैं ॥ ८३ ॥

> ततो प्रशान्तगम्भीरं स्तुत्वा मुनिभिरर्थितः । मनं व्यापारयामास गौतमस्तदनुग्रहे ॥ ८४ ॥

इस प्रकार मुनियोंने जब बड़ी शान्ति और गम्भीरताके साथ स्तुति कर गणधर महाराजसे प्रार्थना की तब उन्होंने उनके अनुग्रहमें अपना चित्त लगाया--उस ओर ध्यान दिया ॥ ८४ ॥

> ततः प्रशान्तसंजल्पे प्रभ्यक्तकरकुड्मले । शुश्रूषावहिते साधुसमाजे निःशब्दं स्थिते ॥ ८५ ॥

इसके अनन्तर जब स्तुतिसे उत्पन्न होनेवाला कोलाहल शान्त हो गया और सब लोग हाथ जोड़कर पुराण सुननेकी इच्छासे सावधान हो चुपचाप बैठ गये ॥ ८५ ॥

> वाङ्मलानां अशेषाणामपायादतिनिर्मलाम् । शारदां दशनज्योत्स्नाव्याजेन स्फुटयन्निव ॥ ८६ ॥

तब वे भगवान् गौतम स्वामी दाँतोंकी चमकती किरणोंके बहाने मानो शब्दसम्बन्धी समस्त दोषोंके अभावसे अत्यन्त निर्मल हुई सरस्वती देवीको ही साक्षात् प्रकट करते हुए ॥ ८६ ॥

> सुभाषितामहारत्नप्रसारमिव दर्शयन् । स्वातन्त्र्याद् जिघृक्षूणां भक्तिमूल्येन योगिनाम् ॥ ८७ ॥

भक्तिरूपी मूल्यके द्वारा अपनी इच्छानुसार खरीदनेके अभिलाषी मुनिजनोंको सुभाषित रूपी महारत्नोंका समूह ही दिखलाते हुए ॥ ८७ ॥

> लसद्दशनदीप्तांशुप्रसूनैराकिरन् सदः । सरस्वतीप्रवेशाय पूर्वरङ्गमिवारचयन् ॥ ८८ ॥

अपने दाँतोंके किरणरूपी पुष्प सारी सभामें बिखेरते हुए, जिससे ऐसा मालूम होता था मानो सरस्वती देवीके प्रवेशके लिए रंगभूमिको ही सजा रहे हों ॥ ८८ ॥

> मनःप्रसादमभितो विभजन्निव चायतैः । दृष्टिपातैः प्रसन्नैश्च समां प्रक्षालयन्निव ॥ ८९ ॥

मनकी प्रसन्नताको विभक्त करनेके लिए ही मानो सब ओर फैली हुई अपनी स्वच्छ और प्रसन्न दृष्टिके द्वारा समस्त सभाका प्रक्षालन करते हुए ॥ ८९ ॥

> तपोऽनुभावसंजातमध्यासीनोऽपि विष्टरम् । जगतामुपरीवोच्चैर्महिम्ना घटितस्थितिः ॥ ९० ॥

यद्यपि वे ऋषिराज तपश्चरणके प्रभावसे प्राप्त हुए आसनपर बैठे हुए थे तथापि अपने उत्कृष्ट माहात्म्यसे ऐसे मालूम होते थे मानो समस्त लोकके ऊपर ही बैठे हों ॥ ९० ॥

> सरस्वतीपरिक्लेशमनिच्छन्निव नाधिकम् । नाप्यङ्गोपकरणस्पन्दमभित्रमुखसौष्ठवः ॥ ९१ ॥

उस समय वे न तो सरस्वतीको ही अधिक कष्ट देना चाहते थे और न इन्द्रियोंको ही अधिक चलायमान करना चाहते थे तथा बोलते समय उनके मुखका सौन्दर्य भी नष्ट नहीं हुआ था ॥ ९१ ॥

न स्विद्यन्न परिम्लायन्न त्रस्यन्न परिस्खलन् । सरस्वतीमतिप्रौढामनायासेन योजयन् ॥ ९२ ॥

उस समय उन्हें न तो पसीना आता था, न परिश्रम ही होता था, न किसी बातका भय ही लगता था और न वे बोलते-बोलते स्खलित ही होते थे, वे बिना किसी परिश्रमके ही अतिशय प्रौढ़-गम्भीर वाणीको प्रकट कर रहे थे ॥ ९२ ॥

सममृज्वायतंस्थानमास्थाय रचितासनम् । कायोत्सर्गेण कायेन वैराग्यस्येव रूपयन् ॥ ९३ ॥

वे उस समय सम, सीधे और लम्बे स्थानपर पर्यङ्कासनसे बैठे हुए थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो शरीर-द्वारा वैराग्यकी अन्तिम सीमाको ही प्रकट कर रहे हों ॥ ९३ ॥

करं वामं स्वपर्यङ्के निधायोत्तानितं शनैः । देशनाहस्तमुत्क्षिप्य दक्षिणेन च दर्शयन् ॥ ९४ ॥

उस समय उनका बायाँ हाथ उत्तान था और दाहिना हाथ उपदेश देनेके लिए कुछ ऊपरको उठा हुआ था जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो वे मार्दव (विनय) धर्मको नृत्य ही करा रहे हों अर्थात् उच्चतम विनय गुणको प्रकट कर रहे हों ॥ ९४ ॥

व्याजहारातिगम्भीरमधुरोदारया गिरा । भगवान् गौतमस्वामी श्रोतृन् संबोधयन्निति ॥ ९५ ॥

भगवान् गौतम स्वामी श्रोताओंको सम्बोधित करते हुए अतिशय गम्भीर, मधुर और उदार वाणीसे कहने लगे ॥ ९५ ॥

श्रुतं मया श्रुतस्कन्धादायुष्मन्तो महाधियः । निबोधत पुराणं मे यथावत् कथयामि वः ॥ ९६ ॥

वे कहने लगे--हे आयुष्मान् बुद्धिमान् भव्यजनो, मैंने श्रुतस्कन्धसे जैसा कुछ इस पुराणको सुना है सो ज्यों-का-त्यों आप लोगोंके लिए कहता हूँ, आप लोग ध्यानसे समझें ॥ ९६ ॥

यत् प्रजापतये पूर्वं भरतायादितीर्थकृत् । प्रोवाच तदहं सर्वं वक्ष्ये श्रेणिक ते शृणु ॥ ९७ ॥

हे श्रेणिक, आदि प्रजापति प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेवने भरत चक्रवर्तीके लिए जो पुराण कहा था उसे ही मैं आज तुम्हारे लिए कहता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ९७ ॥

> महाधिकाराश्चत्वारः श्रुतस्कन्धस्य वर्णिताः । तेषामाद्योऽनुयोगोऽयं प्रथमो वर्ण्यतेऽधुना ॥ ९८ ॥

श्रुतस्कन्धके चार महाधिकार वर्णित किये गये हैं उनमें पहले अनुयोगका नाम प्रथमानुयोग है। प्रथमानुयोगमें तीर्थंकर आदि सत्पुरुषोंके चरित्रका वर्णन होता है ॥ ९८ ॥

> द्वितीयः करणादिः स्यादनुयोगः स वर्ण्यते । त्रैलोक्यक्षेत्रसंस्थानं कुलपत्रेऽधिरोपितम् ॥ ९९ ॥

दूसरे महाधिकारका नाम करणानुयोग है। इसमें तीनों लोकोंका वर्णन उस प्रकार लिखा होता है जिस प्रकार किसी ताम्रपत्रपर किसीकी वंशावली लिखी होती है ॥ ९९ ॥

> चरणानुयोगस्तृतीयः स्यादनुयोगो जिनोदितः । यत्र मुनीन्द्राणां श्रावकाणां च परा शुद्धिरुदाहृता ॥ १०० ॥

जिनेन्द्रदेवने तीसरे महाधिकारको चरणानुयोग बतलाया है। इसमें मुनि और श्रावकोंके चारित्रकी शुद्धिका निरूपण होता है ॥ १०० ॥

> चतुर्थो द्रव्यानुयोगस्तु द्रव्याणां यत्र निर्णयः । प्रमाणनयनिक्षेपैः संख्याक्षेत्रादिभिः क्रमात् ॥ १०१ ॥

चौथा महाधिकार द्रव्यानुयोग है, इसमें प्रमाण, नय, निक्षेप तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व, निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान आदिके द्वारा द्रव्योंका निर्णय किया जाता है ॥ १०१ ॥

> आनुपूर्व्यादिभेदेन पञ्चधोपक्रमो मतः । स पुराणावतारेऽस्मिन् योजनीयो यथागमम् ॥ १०२ ॥

आनुपूर्वी आदिके भेदसे उपक्रमके पाँच भेद माने गये हैं। इस पुराणके प्रारम्भमें उन उपक्रमोंका शास्त्रानुसार सम्बन्ध कर लेना चाहिए ॥ १०२ ॥

प्रकृतस्यार्थतत्त्वस्य श्रोतृबुद्धौ समर्पणम् । उपक्रमोऽसौ विज्ञेयस्तथोपोद्घात इत्यपि ॥ १०३ ॥

प्रकृत अर्थात् जिसका वर्णन करनेकी इच्छा है ऐसे पदार्थको श्रोताओंकी बुद्धिमें बैठा देना--उन्हें अच्छी तरह समझा देना सो उपक्रम है, इसका दूसरा नाम उपोद्घात भी है ॥ १०३ ॥

आदिपुराण (भाषा-वचनिका सहित)

द्वितीय पर्व (कथामुखवर्णन - शेषांश)

> आनुपूर्व्या तथा नाम प्रमाणं साभिधेयकम् । अर्थाधिकारश्चेत्येवं पञ्चैते स्युरुपक्रमाः ॥ १०४ ॥

१ आनुपूर्वी, २ नाम, ३ प्रमाण, ४ अभिधेय और ५ अर्थाधिकार ये उपक्रमके पाँच भेद हैं ॥१०४॥

> पूर्वानुपूर्व्या प्रथमक्रमोऽयं दिशि संमतः । यथातथानुपूर्व्या स्यात् कांचिद्गणनां श्रितः ॥ १०५ ॥

यदि चारों महाधिकारोंको पूर्वानुपूर्वीसे गिना जाये तो प्रथमानुयोग पहला अनुयोग होता है और यदि पश्चानुपूर्वीसे गिना जाये तो यही प्रथमानुयोग अन्तका अनुयोग होता है। अपनी इच्छानुसार जहाँ कहींसे भी गणना करनेपर यह दूसरा तीसरा आदि किसी भी संख्याका हो सकता है ॥१०५॥

> श्रुतस्कन्धानुयोगानां चतुर्णां प्रथमो मतः । अतोऽनुयोगं प्रथमं प्राहुस्तत्त्वार्थशंसिनः ॥ १०६ ॥

यथार्थ नाम कहनेको नाम उपक्रम कहते हैं। यह प्रथमानुयोग श्रुतस्कन्धके चारों अनुयोगोंमें सबसे पहला है इसलिए इसका प्रथमानुयोग यह नाम सार्थक गिना जाता है ॥१०६॥

> प्रमाणमधुनास्योक्तं श्रुतस्य ग्रन्थतोऽर्थतः । ग्रन्थगौरवभीरूणां श्रोतृणामनुरोधतः ॥ १०७ ॥

ग्रन्थ-विस्तारके भयसे डरनेवाले श्रोताओंके अनुरोधसे संक्षेपमें इस ग्रन्थका प्रमाण कहता हूँ। वह प्रमाण अक्षरोंकी संख्या तथा अर्थ इन दोनोंकी अपेक्षा बतलाया जाता है ॥१०७॥

> सोऽर्थतोऽपरिमेयोऽपि संख्येयः शब्दतो मतः । कृत्स्नस्य वाङ्मयस्यास्य संख्येयत्वानतिक्रमात् ॥ १०८ ॥

यद्यपि यह प्रथमानुयोग रूप ग्रन्थ अर्थकी अपेक्षा अपरिमेय है-संख्यासे रहित है तथापि शब्दोंकी अपेक्षा परिमेय है-संख्येय है, जब कि सम्पूर्ण द्वादशांग श्रुतज्ञान ही संख्येय पदोंका धारक है तब उसका एक अंश प्रथमानुयोग असंख्येय कैसे हो सकता है? ॥१०८॥

> द्वे लक्षे पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि चतुःशतम् । चत्वारिंशत्तथा द्वे च कोट्योऽस्मिन् ग्रन्थसंख्यया ॥ १०९ ॥

ग्रन्थसंख्याकी अपेक्षा इस प्रथमानुयोगमें दो लाख पचपन हजार चार सौ बयालीस करोड़ (२५५४४२ कोटि) श्लोक होते हैं ॥१०९॥

> एकत्रिंशच्च लक्षाः स्युः शतानां पञ्चसप्ततिः । ग्रन्थसंख्या च विज्ञेया श्लोकेनानुष्टुभेन हि ॥ ११० ॥

और इकतीस लाख पचहत्तर सौ श्लोक होते हैं। यह ग्रन्थसंख्या ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् श्लोकोंके द्वारा जाननी चाहिए। कुल मिलाकर प्रथमानुयोगमें दो लाख करोड़, पचपन हजार करोड़, चार सौ बयालीस करोड़ और इकतीस लाख सात हजार पाँच सौ (२५५४४२३१०७५००) श्लोक होते हैं ॥११०॥

> ग्रन्थप्रमाणनिश्चित्यै पदसंख्योपवर्ण्यते । पञ्चैव तु सहस्राणि पदानां गणना मता ॥ १११ ॥

इस प्रकार ग्रन्थप्रमाणका निश्चय कर अब उसके पदोंकी संख्याका वर्णन करते हैं। प्रथमानुयोग ग्रन्थके पदोंकी गणना पाँच हजार मानी गयी है ॥१११॥

> शतानि षोडश स्युश्चतुस्त्रिंशच्च कोटयः । त्र्यशीतिकक्षाः सप्तैव सहस्राणि शताष्टकम् ॥ ११२ ॥

सोलह सौ चौंतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ... ॥११२॥

अष्टाशीतिश्च वर्णाः स्युः संहता मध्यमं पदम् । पदेनैतेन मीयन्ते पूर्वाङ्गग्रन्थविस्तराः ॥ ११३ ॥

और अठासी (१६३४८३०७८८८) अक्षरोंके मिलनेसे एक मध्यम पद होता है। इस मध्यमपदके द्वारा ही ग्यारह अंग तथा चौदह पूर्वोंके ग्रन्थविस्तारका प्रमाण मापा जाता है ॥११३॥

द्रव्यप्रमाणमित्युक्तं भावतस्तु श्रुताह्वयम् । प्रमाणमविसंवादि परमर्षिप्रणीतकम् ॥ ११४ ॥

यह जो ऊपर प्रमाण बतलाया है सो द्रव्यश्रुतका ही है, भावश्रुतका नहीं है। वह भावकी अपेक्षा श्रुतज्ञान रूप है, जो कि यथार्थ, विरोधरहित और केवलिप्रणीत है ॥११४॥

पुराणस्यास्य वक्तव्यं कृत्स्नं वाङ्मयमिष्यते । यतो नास्माद् बहिर्भूतं किमप्यस्ति वचोऽपि वा ॥ ११५ ॥

सम्पूर्ण वाङ्मय ही इस पुराणका अभिधेय विषय है क्योंकि इसके बाहर न तो कोई विषय ही है और न शब्द ही है ॥११५॥

यथा महार्घरत्नानां प्रसूतिर्मकराकरात् । तथा सूक्तरत्नानां प्रभवोऽस्मात् पुराणतः ॥ ११६ ॥

जिस प्रकार महामूल्य रत्नोंकी उत्पत्ति समुद्रसे होती है उसी प्रकार सुभाषितरूपी रत्नोंकी उत्पत्ति इस पुराणसे होती है ॥११६॥

तीर्थकृच्चक्रवर्तीन्द्रबलकेशवसम्पदः । मुनीनामृद्धयश्चास्य वक्तव्याः सह हेतुभिः ॥ ११७ ॥

इस पुराणमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, इन्द्र, बलभद्र और नारायणोंकी सम्पदाओं तथा मुनियोंकी ऋद्धियोंका उनकी प्राप्तिके कारणोंके साथ-साथ वर्णन किया जायेगा ॥११७॥

संसारी मुक्तस्तथा बन्धो मोक्षस्तद्द्वयकारणम् । षड् द्रव्याणि पदार्थाश्च नवैतस्यार्थसंग्रहः ॥ ११८ ॥

इसी प्रकार संसारी जीव, मुक्त जीव, बन्ध, मोक्ष, इन दोनोंके कारण, छह द्रव्य और नव पदार्थ ये सब इस ग्रन्थका अर्थसंग्रह है अर्थात् इस सबका इसमें वर्णन किया जायेगा ॥११८॥

> जगत्त्रयनिवेशश्च त्रैकाल्यस्य च संग्रहः । जगतः सृष्टिसंहारौ चेति कृत्स्नमिहोच्यते ॥ ११९ ॥

इस पुराणमें तीनों लोकोंकी रचना, तीनों कालोंका संग्रह, संसारकी उत्पत्ति और विनाश इन सबका वर्णन किया जायेगा ॥११९॥

> मार्गो मार्गफलं चेति पुरुषार्थसमुच्चयः । यावान् प्रविस्तरस्तस्य धत्ते सोऽस्याभिधेयताम् ॥ १२० ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मार्ग, मोक्ष रूप इसका फल तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये पुरुषार्थ इन सबका जो कुछ विस्तार है वह सब इस ग्रन्थकी अभिधेयताको धारण करता है अर्थात् उसका इसमें कथन किया जायेगा ॥१२०॥

> किमन्यदतिविस्तार्या धर्मसृष्टिरविप्लुता । यावती सास्य वक्तव्यपदवीमवगाहते ॥ १२१ ॥

अधिक कहनेसे क्या, जो कुछ जितनी निर्दोष धर्मकी सृष्टि है वह सब इस ग्रन्थकी वक्तव्य पद्धतिमें आ जाती है ॥ १२१॥

> सुभाषितं यदन्यत्र चिरादपि सुभाषितम् । सुसूक्ष्मं दर्शिताशेषं तद्ग्रहीष्यसि पदे पदे ॥ १२२ ॥

जो सुभाषित दूसरी जगह बहुत समय तक खोजनेपर भी नहीं मिल सकते उनका संग्रह इस पुराणमें अपनी इच्छानुसार पद-पदपर किया जा सकता है ॥१२२॥

> यदत्र सुस्थितं वस्तु तदन्यत्रापि सुस्थितम् । यदत्र दुःस्थितं नाम तत्सर्वत्रैव दुःस्थितम् ॥ १२३ ॥

इस ग्रन्थमें जो पदार्थ उत्तम ठहराया गया है वह दूसरी जगह भी उत्तम होगा तथा जो इस ग्रन्थमें बुरा ठहराया गया है वह सभी जगह बुरा ही ठहराया जायेगा। भावार्थ--यह ग्रन्थ पदार्थोंकी अच्छाई तथा बुराईकी परीक्षा करनेके लिए कसौटीके समान है ॥१२३॥

एवं महाभिधेयस्य पुराणस्यास्य भूयसः । क्रियतेऽर्थाधिकाराणामियत्ता संविदोऽधुना ॥ १२४ ॥

इस प्रकार यह महापुराण बहुत भारी विषयोंका निरूपण करनेवाला है। अब इसके अर्थाधिकारोंकी संख्याका नियम कहते हैं ॥१२४॥

त्रयः षष्टिरिहार्थाधिकाराः प्रोक्ता महर्षिभिः । कथापुरुषसंख्यायास्तत्प्रमाणानतिक्रमात् ॥ १२५ ॥

इस ग्रन्थमें तिरसठ महापुरुषोंका वर्णन किया जायेगा इसलिए उसी संख्याके अनुसार ऋषियोंने इसके तिरसठ ही अधिकार कहे हैं ॥१२५॥

त्रिषष्ट्यवयवः सोऽयं पुराणस्कन्ध उच्यते । अवान्तराधिकाराणामपर्यन्तोऽत्र विस्तरः ॥ १२६ ॥

इस पुराण स्कन्धके तिरसठ अधिकार या अवयव अवश्य हैं परन्तु इसके अवान्तर अधिकारोंका विस्तार अमर्यादित है ॥१२६॥

तीर्थकृत्सु पुराणेषु शेषाणामपि संग्रहः । चतुर्विंशतिरेवात्र पुराणानीति केचन ॥ १२७ ॥

कोई-कोई आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि तीर्थंकरोंके पुराणोंमें चक्रवर्ती आदिके पुराणोंका भी संग्रह हो जाता है इसलिए चौबीस ही पुराण समझना चाहिए ॥१२७॥

पुराणं ऋषभस्याद्यं द्वितीयमजितेशिनः । तृतीयं संभवस्येष्टं चतुर्थमभिनन्दने ॥ १२८ ॥

पहला पुराण भगवान् वृषभनाथका, दूसरा अजितनाथका, तीसरा संभवनाथका और चौथा अभिनन्दननाथका है ॥ १२८॥

सुमतौ पञ्चमं प्रोक्तं षष्ठं पद्मप्रभस्य च । सप्तमं स्यात्सुपार्श्वस्य चन्द्रप्रभोऽष्टमं जगौ ॥ १२९ ॥

पाँचवाँ सुमतिनाथका, छठा पद्मप्रभका, सातवाँ सुपार्श्वनाथका और आठवाँ चन्द्रप्रभका कहा गया है ॥१२९॥

नवमं पुष्पदन्तस्य दशमं शीतले जिनः । आचख्यौ श्रेयांसस्तस्माद् द्वादशं वासुपूज्यगम् ॥ १३० ॥

नौवाँ पुष्पदन्तका, दसवाँ शीतलनाथका, ग्यारहवाँ श्रेयांसनाथका और बारहवाँ वासुपूज्यका कहा है ॥१३०॥

त्रयोदशं च विमले ततोऽनन्तजितः परम् । जिने धर्मे च पञ्चाग्रं षोडशं शान्तीशितुः ॥ १३१ ॥

तेरहवाँ विमलनाथका, चौदहवाँ अनन्तनाथका, पन्द्रहवाँ धर्मनाथका और सोलहवाँ शान्तिनाथ स्वामीका है ॥१३१॥

कुन्थोः सप्तदशं ज्ञेयमरस्याष्टादशं मतम् । मल्लेरेकोनविंशं स्याद् विंशं च मुनिसुव्रते ॥ १३२ ॥

सत्रहवाँ कुन्थुनाथका, अठारहवाँ अरनाथका, उन्नीसवाँ मल्लिनाथका और बीसवाँ मुनिसुव्रतनाथका जानना चाहिए ॥१३२॥

एकविंशं नमेर्भर्तुर्नेमेर्द्वाविंशमर्हतः । पार्श्वस्य त्रयोविंशं चतुर्विंशं च सन्मतेः ॥ १३३ ॥

इक्कीसवाँ नमिनाथ स्वामीका, बाईसवाँ नेमिनाथ अर्हन्तका, तेईसवाँ पार्श्वनाथका और चौबीसवाँ सन्मति-महावीर स्वामीका है ॥१३३॥

पुराणान्येवमेतानि चतुर्विंशतिरर्हताम् । महापुराणमेतेषां समूहः परिभाष्यते ॥ १३४ ॥

इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरोंके ये चौबीस पुराण हैं, इनका जो समूह है वही महापुराण कहलाता है ॥१३४॥

पुराणं महदद्यत्वे यदस्माभिरनुस्मृतम् । पुरा युगान्ते तन्नूनं कियदप्यवशिष्यते ॥ १३८ ॥

आज मैंने जिस महापुराणका वर्णन किया है वह इस अवसर्पिणी युगके अन्तमें निश्चयसे बहुत ही अल्प रह जायेगा ॥१३८॥

दोषाद् दुःषमकालस्य प्रहास्यन्ते धियो नृणाम् । तासां हानेः पुराणस्य हीयते ग्रन्थविस्तरः ॥ १३६ ॥

क्योंकि दुःषम नामक पाँचवें कालके दोषसे मनुष्योंकी बुद्धियाँ उत्तरोत्तर घटती जायेंगी और बुद्धियोंके घटनेसे पुराणके ग्रन्थका विस्तार भी घट जायेगा ॥१३६॥

तथाहीदं पुराणं वः सुधर्मा श्रुतकेवली । गुणैः सदृक्षो नेष्यत्यखिलं मदनन्तरम् ॥ १३७ ॥

इसका स्पष्ट निरूपण इस प्रकार समझना चाहिए--हमारे पीछे श्रुतकेवली सुधर्माचार्य, जो कि हमारे ही समान गुणोंवाले हैं, इस महापुराणको पूर्णरूपसे प्रकाशित करेंगे ॥१३७॥

जम्बूनामा ततः श्रीमान् पुराणं चापि शुश्रुवान् । प्रथयिष्यति लोकेऽस्मिंश्चरमोऽयं केवलिनामिह ॥ १३८ ॥

उनसे यह सम्पूर्ण पुराण श्री जम्बूस्वामी सुनेंगे और वे अन्तिम केवली होकर इस लोकमें उसका पूर्ण प्रकाश करेंगे ॥ १३८॥

अहं सुधर्मा जम्ब्वाद्यौ निखिलश्रुतधारिणः । क्रमात् केवल्यमुत्पाद्य निर्वास्यामस्ततो वयम् ॥ १३९ ॥

इस समय मैं, सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी तीनों ही पूर्ण श्रुतज्ञानको धारण करनेवाले हैं-श्रुतकेवली हैं। हम तीनों क्रम-क्रमसे केवलज्ञान उत्पन्न कर मुक्त हो जायेंगे ॥१३९॥

त्रयाणामस्मदादीनां त्रयाणां केवलिनामिह । द्वाषष्टिवर्षपिण्डः स्याद् वर्धमानात् परम् ॥ १४० ॥

हम तीनों केवलियोंका काल भगवान् वर्धमान स्वामीकी मुक्ति (निर्वाण) के बाद बासठ (६२) वर्षका होगा ॥१४०॥

ततो विष्णुश्च विद्युन्नन्दित्रिश्चापराजितः । गोवर्धनो भद्रबाहुरित्याचार्या महाधियः ॥ १४१ ॥

तदनन्तर सौ वर्षमें क्रम-क्रमसे विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच बुद्धिमान् आचार्य होंगे ॥ १४१॥

चतुर्दशमहाविद्यास्थानानां पारगा इमे । पुराणं द्योतयिष्यन्ति क्रमेण शरदां शतम् ॥ १४२ ॥

ये आचार्य ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूप महाविद्याओंके पारंगत अर्थात् श्रुतकेवली होंगे और सौ वर्ष पर्यन्त पुराणको सम्पूर्ण रूपसे प्रकाशित करते रहेंगे ॥१४२॥

विशाखप्रोष्ठिलाचार्यौ क्षत्रियो जयसाह्वयः । नागसेनश्च सिद्धार्थो धृतिषेणस्तथैव च ॥ १४३ ॥

इनके अनन्तर क्रमसे विशाखाचार्य, प्रोष्ठिलाचार्य, क्षत्रियाचार्य, जयाचार्य, नागसेन, सिद्धार्थ और धृतिषेण ॥१४३॥

विजयो बुद्धिमान् गङ्गो धर्मादिश्चन्दनः । सेनश्च दशपूर्वाणां धारकाः स्युर्यथाक्रमम् ॥ १४४ ॥

तथा विजय, बुद्धिमान् (बुद्धिल), गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य ग्यारह अंग और दश पूर्वोंके धारक होंगे ॥ १४४॥

त्र्यशीतिशतमब्दानामेतेषां कालसंग्रहः । तदा च कृत्स्नमेवेदं पुराणं विस्तरिष्यते ॥ १४५ ॥

उनका काल १८३ वर्ष होगा। उस समय तक इस पुराणका पूर्ण प्रकाश होता रहेगा ॥१४५॥

ततो नक्षत्रनामा च जयपालो महातपाः । पाण्डवोध्रुवसेनश्च कंसाचार्य इति क्रमात् ॥ १४६ ॥

इनके बाद क्रमसे नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंसाचार्य ॥१४६॥

एकादशाङ्गविद्यानां पारगाः स्युर्मुनीश्वराः । विंशं द्विशतमब्दानामेतेषां काल इष्यते ॥ १४७ ॥

ये पाँच महा तपस्वी मुनि होंगे। ये सब ग्यारह अंगोंके धारक होंगे, इनका समय २२० (दो सौ बीस) वर्ष माना जाता है ॥१४७॥

तदा पुराणमेतत् तु पादोनं प्रथयिष्यते । भाजनाभावतो भूयो हीयते ज्ञाननिष्ठता ॥ १४८ ॥

उस समय यह पुराण एक भाग कम अर्थात् तीन चतुर्थांश रूपमें प्रकाशित रहेगा। फिर योग्य पात्रोंका अभाव होनेसे भगवान्का कहा हुआ यह ज्ञाननिष्ठ पुराण उत्तरोत्तर ही कम होता जायेगा ॥१४८॥

सुभद्रो यशोभद्रो भद्रबाहुर्महायशाः । लोहाचार्यश्चेत्यमी स्युः प्रथमाङ्गाब्धिपारगाः ॥ १४९ ॥

इनके बाद सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य ये चार आचार्य होंगे जो कि विशाल कीर्तिके धारक और प्रथम अंग (आचारांग) रूपी समुद्रके पारगामी होंगे ॥१४९॥

शरदां शतमेषां स्यात् कालोऽष्टादशभिर्युतः । तृतीयो भागः पुराणस्य तदास्य प्रतनिष्यते ॥ १५० ॥

इन सबका समय एक सौ अठारह (११८) वर्ष होगा। उस समय इस पुराणका एक चौथाई भाग ही विस्तृत रह जायेगा ॥१५०॥

ततः क्रमात् प्रहायेदं पुराणं स्वल्पमात्रया । धीप्रमोषादिदोषेण विरलैर्धारयिष्यते ॥ १५१ ॥

इसके अनन्तर अर्थात् वर्धमान स्वामीके मोक्ष जानेसे ६८३ (छह सौ तिरासी) वर्ष बाद यह पुराण क्रम-क्रमसे थोड़ा-थोड़ा घटता जायेगा। उस समय लोगोंकी बुद्धि भी कम होती जायेगी इसलिए विरले आचार्य ही इसे अल्परूपमें धारण कर सकेंगे ॥१५१॥

ज्ञानविज्ञानसंपन्नगुरुपर्वान्वयादिदम् । प्रमाणमथवाल्पं वा यदा यत्र प्रकाशते ॥ १५२ ॥

इस प्रकार ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न गुरुपरिपाटी-द्वारा यह पुराण जब और जिस मात्रामें प्रकाशित होता रहेगा ॥ १५२॥

तदापीदमनुस्मृत्य प्रविध्यन्ति धीधनाः । जिनसेनाग्रगाः पूज्याः कवीनां परमेश्वराः ॥ १५३ ॥

उसका स्मरण करनेके लिए जिनसेन आदि महाबुद्धिमान् पूज्य और श्रेष्ठ कवि ग्रन्थ-रचनामें प्रवृत्त होंगे ॥१५३॥

प्रमाणमिदमेवैषां यदाज्ञातं स्वयम्भुवा । पुराणाभासमभ्येतत् केवलं वाङ्मलं विदुः ॥ १५४ ॥

श्री वर्धमान स्वामीने जिसका निरूपण किया है वह पुराण ही श्रेष्ठ और प्रामाणिक है। इसके सिवाय और सब पुराण पुराणाभास हैं, उन्हें केवल वाणीके दोषमात्र जानना चाहिए ॥१५४॥

नामापि श्रुतं पुनाति परमेष्ठिनाम् । किं पुनर्मुहुरापीतं तत्कथाश्राव्यामृतम् ॥ १५५ ॥

जब कि परमपरमेष्ठियोंका नाम लेना ही जीवोंको पवित्र कर देता है तब बार-बार उनकी कथारूप अमृतका पान करना तो कहना ही क्या है? वह तो अवश्य ही जीवोंको पवित्र कर देता है-कर्ममलसे रहित कर देता है ॥१५५॥

तद् भव्यजनैः श्रद्धैरवगाह्यमिदं मुहुः । पुराणं पुण्यपूरत्नैर्भूतम्ब्धीयितं महत् ॥ १५६ ॥

जब यह बात है तो श्रद्धालु भव्य जीवोंको पुण्यरूपी रत्नोंसे भरे हुए इस पुराणरूपी समुद्रमें अवश्य ही अवगाहन करना चाहिए ॥१५६॥

तत्र पूर्वानुपूर्व्येदं पुराणमनुवर्ण्यते । तत्राद्यस्य पुराणस्य कारिकां विदुषां विदुः ॥ १५७ ॥

ऊपर जिस पुराणका लक्षण कहा है अब यहाँ पूर्वानुपूर्वीसे उसीको कहेंगे और उसमें भी सबसे पहले भगवान् वृषभनाथके पुराणकी कारिका कहेंगे ॥१५७॥

स्थितिः कुलधरोत्पत्तिर्वंशानामथ सम्भवः । पुरोः साम्राज्यमार्हन्त्यं निर्वाणं युगविच्छिदा ॥ १५८ ॥

कालका वर्णन, कुलकरोंकी उत्पत्ति, वंशोंका निकलना, भगवान्का साम्राज्य, अरहन्त अवस्था, निर्वाण और युगका विच्छेद होना ॥१५८॥

एते महाधिकाराः स्युः पुराणे वृषभेशिनः । यथावसरमन्येषु पुराणेष्वपि कल्पयेत् ॥ १५९ ॥

ये श्री वृषभनाथके पुराणमें महाधिकार हैं। अन्य पुराणोंमें जो अधिकार होंगे वे समयानुसार बताये जायेंगे ॥१५९॥

> एतावदुच्यतेऽस्यात्र कथायाः पीठिकामितः । वक्ष्ये कालावतारं च स्थितिं च कुलभृतामपि ॥ १६० ॥

यह इस कथाका पीठबन्ध है, अब आगे इस कथाकी पीठिका, कालावतार और कुलकरोंकी स्थिति कहेंगे ॥१६०॥

> प्रणिगदति ततोऽत्थं गौतमे भक्तिनम्रा मुनिपरिषदशेषा श्रोतुकामा पुराणम् । मगधनृपतिसार्धा सावधाना तदाभूद्धितमवगणयेद् वा कः सुधीराप्तवाक्यम् ॥ १६१ ॥

इस प्रकार गौतम स्वामीके कहनेपर भक्तिसे नम्र हुई वह मुनियोंकी समस्त सभा पुराण सुननेकी इच्छासे श्रेणिक महाराजके साथ सावधान हो गयी, सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो कि आप्त पुरुषोंके हितकारी वचनोंका अनादर करे ॥१६१॥

> इत्याचार्यपरम्परीणममलं पुण्यं पुराणं पुरा प्रोक्तं यद्भगवतानुवाच वृषभश्चक्रादिमन्नै जिनः । तन्नः पापकलङ्कपङ्कमखिलं प्रक्षाल्य शुद्धिं परां देयात् पुण्यवचोजलं परमिदं तीर्थं जगत्पावनम् ॥ १६२ ॥

इस प्रकार जो आचार्य-परम्परासे प्राप्त हुआ है, निर्दोष है, पुण्यरूप है और जगत्के आदिमें भरत चक्रवर्तीके लिए भगवान् वृषभदेवके द्वारा कहा गया था, ऐसा यह जगत्को पवित्र करनेवाला उत्कृष्ट तीर्थस्वरूप पुराणरूपी पवित्र जल तुम लोगोंके समस्त पाप कलंकरूपी कीचड़को धोकर तुम्हें परम शुद्धि प्रदान करे ॥१६२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे कथामुखवर्णनं नाम द्वितीयं पर्व ॥२॥

तृतीय पर्व (पीठिकावर्णन)

> पुराणं मुनिमानम्य जिनं वृषभमच्युतम् । महतस्तत्पुराणस्य पीठिका व्याकरिष्यते ॥ १ ॥

मैं उन वृषभनाथ स्वामीको नमस्कार करके इस महापुराणकी पीठिकाका व्याख्यान करता हूँ जो कि इस अवसर्पिणी युगके सबसे प्राचीन मुनि हैं, जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओंको जीत लिया है और विनाशसे रहित हैं ॥१॥

> अनादिनिधनः कालो वर्तनालक्षणो मतः । लोकमात्रः सुसूक्ष्माणुपरिच्छिन्नप्रमाणकः ॥ २ ॥

कालद्रव्य अनादिनिधन है, वर्तना उसका लक्षण माना गया है (जो द्रव्योंकी पर्यायोंके बदलनेमें सहायक हो उसे वर्तना कहते हैं)। यह द्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु बराबर है और असंख्यात होनेके कारण समस्त लोकाकाशमें भरा हुआ है। भावार्थ--कालद्रव्यका एक-एक परमाणु लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर स्थित है ॥२॥

> सोऽसंख्येयोऽप्यनन्तस्य वस्तुराशेरुपग्रहे । वर्तनायां स्वगतानन्तसामर्थ्यपरिवृंहितः ॥ ३ ॥

उस कालद्रव्यमें अनन्त पदार्थोंके परिणमन करानेकी सामर्थ्य है अतः वह स्वयं असंख्यात होकर भी अनन्त पदार्थोंके परिणमनमें सहकारी होता है ॥३॥

> यथा कुलालचक्रस्य भ्रान्तेर्हेतुरधःशिला । तथा कालः पदार्थानां वर्तनोपग्रहे मतः ॥ ४ ॥

जिस प्रकार कुम्हारके चाकके घूमनेमें उसके नीचे लगी हुई कील कारण है उसी प्रकार पदार्थोंके परिणमन होनेमें कालद्रव्य सहकारी कारण है ॥४॥

> स्वतोऽपि विवर्तमानः सोऽर्थानां परिवर्तकः । यथास्वं गुणपर्य्यायैर्न चान्योऽन्यं संप्लवः ॥ ५ ॥

संसारके समस्त पदार्थ अपने-अपने गुणपर्यायों-द्वारा स्वतः ही परिणमनको प्राप्त होते रहते हैं और कालद्रव्य उनके उस परिणमनमें मात्र सहकारी कारण होता है। जब कि पदार्थोंका परिणमन अपने-अपने गुणपर्याय रूप होता है तब अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि वे सब पदार्थ सदा पृथक्-पृथक् रहते हैं अर्थात् अपना स्वरूप छोड़कर परस्परमें मिलते नहीं हैं ॥५॥

> सोऽस्तिकायेष्वसंपादान्नास्तीत्येके विमन्वते । षड्द्रव्येषूपदिष्टत्वाद्युक्तियोगाच्च तद्गतिः ॥ ६ ॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ये पाँच अस्तिकाय हैं अर्थात् कायवान् होकर बहुप्रदेशी हैं। इनमें कालद्रव्यका पाठ नहीं है, इसलिए वह है ही नहीं इस प्रकार कितने ही लोग मानते हैं। परन्तु उनका वह मानना ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि एक प्रदेशी होनेके कारण कालद्रव्यका पञ्चास्तिकायोंमें पाठ नहीं है तथापि छह द्रव्योंमें तो उसका पाठ किया गया है। इसके सिवाय युक्तिसे भी कालद्रव्यका सद्भाव सिद्ध होता है। वह युक्ति इस प्रकार है कि संसारमें जो घड़ी, घण्टा आदि व्यवहारकाल प्रसिद्ध है वह पर्याय है। पर्यायका मूलभूत कोई-न-कोई पर्यायी

अवश्य होता है क्योंकि बिना पर्यायीके पर्याय नहीं हो सकती इसलिए व्यवहारकालका मूलभूत मुख्य कालद्रव्य है ॥६॥

मुख्यसद्भावतस्त्वस्ति व्यवहारप्रतीतितः । मुख्यादृते न गौणोऽस्ति सिंहो माणवको यथा ॥ ७ ॥

मुख्य पदार्थके बिना गौण पदार्थकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। जैसे कि वास्तविक सिंहके बिना किसी प्रतापी बालकमें सिंहका व्यवहार नहीं किया जा सकता, वैसे ही मुख्य कालके बिना घड़ी, घण्टा आदिमें कालद्रव्यका व्यवहार नहीं किया जा सकता। परन्तु होता अवश्य है इससे कालद्रव्यका अस्तित्व अवश्य मानना पड़ता है ॥७॥

प्रदेशप्रचयापायात् कालस्यानस्तिकायता । गुणप्रचययोगोऽस्य द्रव्यवार्त्ताप्यतोगता ॥ ८ ॥

यद्यपि इसमें एकसे अधिक बहुप्रदेशोंका अभाव है इसलिए इसे अस्तिकायोंमें नहीं गिना जाता है तथापि इसमें अगुरुलघु आदि अनेक गुण तथा उनके विकारस्वरूप अनेक पर्याय अवश्य हैं क्योंकि यह द्रव्य है, जो-जो द्रव्य होता है उसमें गुणपर्यायोंका समूह अवश्य रहता है। द्रव्यत्वका गुणपर्यायोंके साथ जैसा सम्बन्ध है वैसा बहुप्रदेशोंके साथ नहीं है। अतः बहुप्रदेशोंका अभाव होनेपर भी काल पदार्थ द्रव्य माना जा सकता है और इस तरह काल नामक पृथक् पदार्थकी सत्ता सिद्ध हो जाती है ॥८॥

अस्तिकायश्रुतिर्वक्ति कालस्यानस्तिकायताम् । अचेतनं विपक्षत्वाज्जीवकायश्रुतिर्यथा ॥ ९ ॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशको अस्तिकाय कहनेसे ही यह सिद्ध होता है कि कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है क्योंकि विपक्षीके रहते हुए ही विशेषणकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है। जिस प्रकार छह द्रव्योंमें चेतनरूप आत्मद्रव्यको जीव कहना ही पुद्गलादि शेष द्रव्योंको अजीव सिद्ध कर देता है उसी प्रकार जीवादिको अस्तिकाय कहना ही कालको अनस्तिकाय सिद्ध कर देता है ॥९॥

कालोऽन्यो व्यवहारात्मा मुख्यकालव्यपाश्रयः । परापरत्वसंसूच्यो वर्णितः सर्वदर्शिभिः ॥ १० ॥

इस मुख्य कालके अतिरिक्त जो घड़ी, घण्टा आदि है वह व्यवहारकाल कहलाता है। यहाँ यह याद रखना आवश्यक होगा कि व्यवहारकाल मुख्य कालसे अलग नहीं है वह उसीके आश्रय प्रवृत्त हुआ उसकी पर्याय ही है। यह छोटा है, यह बड़ा है आदि बातोंसे व्यवहारकाल स्पष्ट जाना जाता है ऐसा सर्वज्ञदेवने वर्णन किया है ॥१०॥

प्रवृत्तो द्रव्यकालेन वर्तनालक्षणेन यः । कालः पूर्वापरीभूतो व्यवहाराय कल्पते ॥ ११ ॥

वह व्यवहारकाल वर्तना लक्षणरूप निश्चय कालद्रव्यके द्वारा ही प्रवर्तित होता है और वह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान रूप होकर संसारका व्यवहार चलानेके लिए समर्थ होता है अथवा कल्पित किया जाता है ॥११॥

समयावलिकोच्छ्वास-नालिकादिप्रभेदतः । ज्योतिश्चक्रभ्रमायत्तं कालचक्रं विदुर्बुधाः ॥ १२ ॥

वह व्यवहारकाल समय, आवलि, उच्छ्वास, नाड़ी आदिके भेदसे अनेक प्रकारका होता है। यह व्यवहारकाल सूर्यादि ज्योतिश्चक्रके घूमनेसे ही प्रकट होता है ऐसा विद्वान् लोग जानते हैं ॥१२॥

भवायुष्कायकर्मादिस्थितिसंकलनात्मकः । सोऽनन्तसमयस्तस्य परिवर्तोऽप्यनन्तधा ॥ १३ ॥

यदि भव, आयु, काय और कर्म आदिकी स्थितिका समय जोड़ा जाये तो वह अनन्त समयरूप होता है और उसका परिवर्तन भी अनन्त प्रकारसे होता है ॥१३॥

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ द्वौ भेदौ तस्य कीर्तितौ । उत्सर्पादवसर्पाच्च बलायुर्देहवर्ष्मणाम् ॥ १४ ॥

उस व्यवहारकालके दो भेद कहे जाते हैं--१ उत्सर्पिणी और २ अवसर्पिणी। जिसमें मनुष्योंके बल, आयु और शरीरका प्रमाण क्रम-क्रमसे बढ़ता जाये उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमें वे क्रम-क्रमसे घटते जायें उसे अवसर्पिणी कहते हैं ॥१४॥

कोटीकोट्यो युगेकस्य प्रमा सागरसंख्यया । शेषस्याप्येवमेवेष्टा तावुभौ कल्प इष्यते ॥ १५ ॥

उत्सर्पिणी कालका प्रमाण दस कोड़ाकोड़ी सागर है तथा अवसर्पिणी कालका प्रमाण भी इतना ही है। इन दोनोंको मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्प काल होता है ॥१५॥

षोढा तु पुनरेकैको भिद्यते स्वभिदात्मनि । तन्नामान्यनुकीर्त्यन्ते श्रृणु राजन् यथाक्रमम् ॥ १६ ॥

हे राजन्, इन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके प्रत्येकके छह-छह भेद होते हैं। अब क्रमसे उनके नाम कहे जाते हैं सो सुनो ॥१६॥

> द्विरुक्तसुषमाद्यासीद् द्वितीया सुषमा मता । सुषमा दुःषमान्त्यान्या सुषमान्ता च दुःषमा ॥ १७ ॥

अवसर्पिणी कालके छह भेद ये हैं--पहला सुषमासुषमा, दूसरा सुषमा, तीसरा सुषमादुःषमा, चौथा दुःषमासुषमा... ॥१७॥

> पञ्चमी दुःषमा ज्ञेया षष्ठी चातिदुःषमा मता । भेदा इमेऽवसर्पिण्या उत्सर्पिण्या विपर्ययाः ॥ १८ ॥

पाँचवाँ दुःषमा और छठा अतिदुःषमा अथवा दुःषमादुःषमा ये अवसर्पिणीके भेद जानना चाहिए। उत्सर्पिणी कालके भी छह भेद होते हैं जो कि उक्त भेदोंसे विपरीत रूप हैं, जैसे १ अतिदुःषमा, २ दुःषमा, ३ दुःषमासुषमा, ४ सुषमादुःषमा, ५ सुषमा और ६ सुषमासुषमा ॥१८॥

> समा कालविभागः स्यात् सुदुःखावहमोहयोः । सुषमा दुःषमेत्येवमतोऽन्वर्थत्वमेतयोः ॥ १९ ॥

समा कालके विभागको कहते हैं तथा सु और दुर् उपसर्ग क्रमसे अच्छे और बुरे अर्थमें आते हैं। सु और दुर् उपसर्गोंको पृथक्-पृथक् समाके साथ जोड़ देने तथा व्याकरणके नियमानुसार स को ष कर देनेसे सुषमा तथा दुःषमा शब्दोंकी सिद्धि होती है। जिनका अर्थ क्रमसे अच्छा काल और बुरा काल होता है, इस तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके छहों भेद सार्थक नामवाले हैं ॥१९॥

> उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालौ सान्तरभिदाविमौ । स्थित्युत्सर्पावसर्पाभ्यां लब्धान्वर्थाभिधानकौ ॥ २० ॥

इसी प्रकार अपने अवान्तर भेदोंसे सहित उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल भी सार्थक नामसे युक्त हैं क्योंकि जिसमें स्थिति आदिकी वृद्धि होती रहे उसे उत्सर्पिणी और जिसमें घटती होती रहे उसे अवसर्पिणी कहते हैं ॥२०॥

> कालचक्रपरिभ्रान्त्या षट्समापरिवर्तनैः । तावुभौ परिवर्तेते तामिस्रेतरपक्षवत् ॥ २१ ॥

ये उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दोनों ही भेद कालचक्रके परिभ्रमणसे अपने छहों कालोंके साथ-साथ कृष्णपक्ष और शुक्लपक्षकी तरह घूमते रहते हैं अर्थात् जिस तरह कृष्णपक्षके बाद शुक्लपक्ष और शुक्लपक्षके बाद कृष्णपक्ष

बदलता रहता है उसी तरह अवसर्पिणीके बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणीके बाद अवसर्पिणी बदलती रहती है ॥ २१॥

> पुरास्यामवसर्पिण्यां पृथिव्यां भारतेऽह्वये । मध्यसं खण्डमाश्रित्य प्रवृत्ता प्रथमा समा ॥ २२ ॥

पहले इस भरतक्षेत्रके मध्यवर्ती आर्यखण्डमें अवसर्पिणीका पहला भेद प्रवृत्त था ॥२२॥

> सागरोपमकोटीनां कोटी स्याच्चतुराहता । अस्य कालस्य परिमा तदा स्थितिरियं मता ॥ २३ ॥

सुषमासुषमा नामका वह काल बीत रहा था उस कालका परिमाण चार कोड़ाकोड़ी सागर था, उस समय यहाँ नीचे लिखे अनुसार व्यवस्था थी ॥२३॥

> देवोत्तरकुरुक्ष्मासु या स्थितिः समवस्थिता । सा स्थितिर्भारतेऽप्यत्र युगारम्भे समजायत ॥ २४ ॥

देवकुरु और उत्तरकुरु नामक उत्तर भोगभूमियोंमें जैसी स्थिति रहती है ठीक वैसी ही स्थिति इस भरतक्षेत्रमें युगके प्रारम्भ अर्थात् अवसर्पिणीके पहले कालमें थी ॥२४॥

> तदा स्थितिर्मनुष्याणां त्रिपल्योपमसम्मिता । षट्सहस्राणि चापानां तदुच्छ्रायः सुसङ्गतः ॥ २५ ॥

उस समय मनुष्योंकी आयु तीन पल्यकी होती थी और शरीरकी ऊँचाई छह हजार धनुषकी थी ॥२५॥

> वज्रास्थिबन्धनोपेतः सौम्याः सुन्दराकारचारवः । निष्टप्तकनकच्छाया दीप्यन्ते ते नरोत्तमाः ॥ २६ ॥

उस समय यहाँ जो मनुष्य थे उनके शरीरके अस्थिबन्धन वज्रके समान सुदृढ़ थे, वे अत्यन्त सौम्य और सुन्दर आकारके धारक थे। उनका शरीर तपाये हुए सुवर्णके समान देदीप्यमान था ॥२६॥

> मुकुटं कुण्डलं हारो मेखला कटकाङ्गदौ । केयूरं यज्ञसूत्रं च तेषां शश्वद् विभूषणम् ॥ २७ ॥

मुकुट, कुण्डल, हार, करधनी, कड़ा, बाजूबन्द और यज्ञोपवीत इन आभूषणोंको वे सर्वदा धारण किये रहते थे ॥ २७॥

> स्वपुण्योदयसंजातरूपलावण्यसंपदः । रंरम्यन्ते स्म नारीभिः सुरा इव सुरालये ॥ २८ ॥

वहाँके मनुष्योंको पुण्यके उदयसे अनुपम रूप, सौन्दर्य तथा अन्य सम्पदाओंकी प्राप्ति होती रहती है इसलिए वे स्वर्गमें देवोंके समान अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहते हैं ॥२८॥

> उपहाससत्त्वा महासत्त्वा महोरस्का महौजसः । महानुभावास्ते सर्वे महीयन्ते सहोदयाः ॥ २९ ॥

वे पुरुष सबके सब बड़े बलवान्, बड़े धीर-वीर, बड़े तेजस्वी, बड़े प्रतापी, बड़े सामर्थ्यवान् और बड़े भाग्यशाली होते हैं। उनके वक्षःस्थल बहुत ही विस्तृत होते हैं तथा वे सब पूज्य समझे जाते हैं ॥२९॥

> तेषामाहारसंभीतिर्जायते दिवसैस्त्रिभिः । कुवलीफलमात्रं च दिव्यान्नं विष्वणन्ति ते ॥ ३० ॥

उन्हें तीन दिन बाद भोजनकी इच्छा होती है सो कल्पवृक्षोंसे प्राप्त हुए बदरीफल (बेर) बराबर उत्तम भोजन ग्रहण करते हैं ॥३०॥

> निर्व्यायामा निरासङ्गा निर्निहारा निराधयः । निस्स्वेदास्ते निराबाधा जीवन्ति पुरुषायुषम् ॥ ३१ ॥

उन्हें न तो कोई परिश्रम करना पड़ता है, न कोई रोग होता है, न मलमूत्रादिकी बाधा होती है, न मानसिक पीड़ा होती है, न पसीना ही आता है और न अकालमें उनकी मृत्यु ही होती है। वे बिना किसी बाधाके पूर्ण जीवन बिताते हैं ॥३१॥

> स्त्रियोऽपि तावदायुष्कास्तावदुत्सेधवृत्तयः । कल्पद्रुमेषु शोभन्ते कल्पवल्ल्य इवोज्ज्वलाः ॥ ३२ ॥

वहाँकी स्त्रियाँ भी उतनी ही आयुकी धारक होती हैं, उनका शरीर भी उतना ही ऊँचा होता है और वे अपने पुरुषोंके साथ ऐसी शोभायमान होती हैं जैसी कल्पवृक्षोंपर लगी हुई कल्पलताएँ ॥३२॥

> पुरुषेष्वनुरक्तास्तास्ते च तास्वनुरागिणः । यावज्जीवमसंक्लिष्टा भुञ्जते भोगसंपदः ॥ ३३ ॥

वे स्त्रियाँ अपने पुरुषोंमें अनुरक्त रहती हैं और पुरुष अपनी स्त्रियोंमें अनुरक्त रहते हैं। वे दोनों ही अपने जीवन पर्यन्त बिना किसी क्लेशके भोग-सम्पदाओंका उपभोग करते रहते हैं ॥३३॥

> स्वभावसुन्दरं रूपं स्वभावमधुरं वचः । स्वभावचतुरा चेष्टा तेषां स्वर्गौकसां यथा ॥ ३४ ॥

देवोंके समान उनका रूप स्वभावसे सुन्दर होता है, उनके वचन स्वभावसे मीठे होते हैं और उनकी चेष्टाएँ भी स्वभावसे चतुर होती हैं ॥३४॥

> रुच्याहारगृहातोद्य-माल्यभूषास्तरादिकम् । भोगसाधनमेतेषां सर्वं कल्पतरूद्भवम् ॥ ३५ ॥

इच्छानुसार मनोहर आहार, घर, वस्त्र, माला, आभूषण और शय्या आदि समस्त भोगोपभोगकी सामग्री इन्हें इच्छा करते ही कल्पवृक्षोंसे प्राप्त हो जाती है ॥३५॥

> मन्दगन्धवहाधूत-चलदंशुकपल्लवाः । नित्यप्रभाश्च राजन्ते कल्पोपपदपादपाः ॥ ३६ ॥

जिनके पल्लवरूप वस्त्र मन्द-मन्द सुगन्धित वायुके द्वारा हमेशा हिलते रहते हैं, ऐसे सदा प्रकाशमान रहनेवाले वहाँके कल्पवृक्ष अत्यन्त शोभायमान रहते हैं ॥३६॥

> कालानुभावसम्भूतक्षेत्रसामर्थ्यबृंहिताः । कल्पद्रुमास्तथा तेषां कल्पन्तेऽभीष्टसिद्धये ॥ ३७ ॥

सुषमासुषमा नामक कालके प्रभावसे उत्पन्न हुई क्षेत्रकी सामर्थ्यसे वृद्धिको प्राप्त हुए वे कल्पवृक्ष वहाँके जीवोंको मनोवांछित पदार्थ देनेके लिए सदा समर्थ रहते हैं ॥३७॥

> मनोभिरुचितान् भोगान् यस्मात् पुण्यकृतां नृणाम् । कल्पयन्ति ततस्तज्ज्ञैर्निरुक्ताः कल्पपादपाः ॥ ३८ ॥

वे कल्पवृक्ष पुण्यात्मा पुरुषोंको मनचाहे भोग देते रहते हैं इसलिए जानकार पुरुषोंने उनका 'कल्पवृक्ष' यह नाम सार्थक ही कहा है ॥३८॥

> मद्याङ्गतूर्यविभूषास्रग्ज्योतिर्दीपगृहाह्वकाः । भोजनाभाजनवस्त्राङ्गा दशधा कल्पशाखिनः ॥ ३९ ॥

वे कल्पवृक्ष दस प्रकारके हैं--१ मद्यांग, २ तूर्यांग, ३ विभूषांग, ४ स्रगंग (मालांग), ५ ज्योतिरंग, ६ दीपांग, ७ गृहांग, ८ भोजनांग, ९ भाजनांग और १० वस्त्रांग ॥३९॥

> इति स्वनामनिर्दिष्टाः कुर्वन्तोऽर्थक्रियाममी । संज्ञाभिरेव विस्पष्टास्ततो नातिप्रतन्यते ॥ ४० ॥

वे सब अपने-अपने नामके अनुसार ही कार्य करते हैं इसलिए इनके नाम मात्र कह दिये हैं, अधिक विस्तारके साथ उनका कथन नहीं किया है ॥४०॥

> तथा भुक्त्वा चिरं भोगान् स्वपुण्यपरिपाकजान् । विलीयन्ते विगतायुष्कास्ते घना इव शारदाः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार वहाँके मनुष्य अपने पूर्वोपार्जित पुण्यके उदयसे चिरकाल तक मनोवांछित भोग भोगकर आयु समाप्त होते ही शरदृऋतुके मेघोंके समान विलीन हो जाते हैं ॥४१॥

> जृम्भिकारम्भमात्रेण सत्कालोत्थक्षुतेन वा । जीवितान्ते तनुं त्यक्त्वा ते त्रिदिवं यान्त्यनेनसः ॥ ४२ ॥

आयुके अन्तमें पुरुषको जम्हाई आती है और स्त्रीको छींक। उसीसे पुण्यात्मा पुरुष अपना-अपना शरीर छोड़कर स्वर्ग चले जाते हैं ॥४२॥

> स्वभावमार्दवोपेत-मनोवाक्कायकर्मिणः । भव्यानुकम्पितं यान्ति तेषां नान्या गतिस्ततः ॥ ४३ ॥

उस समयके मनुष्य स्वभावसे ही कोमल परिणामी होते हैं, इसलिए वे भद्रपुरुष मरकर स्वर्ग ही जाते हैं। स्वर्गके सिवाय उनकी और कोई गति नहीं होती ॥४३॥

इत्येष कालभेदोऽवसर्पिण्यां वर्ण्यते मया । उदक्कुरुसमः शेषो विधिरत्रावधार्यताम् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार अवसर्पिणी कालके प्रथम सुषमासुषमा नामक कालका कुछ वर्णन किया है। यहाँकी और समस्त विधि उत्तरकुरुके समान समझना चाहिए ॥४४॥

ततो यथाक्रमं तस्मिन् काले याते प्रमन्दताम् । यातासु वृक्षवीर्यायुःशरीरोत्सेधवृत्तिषु ॥ ४५ ॥

इसके अनन्तर जब क्रम-क्रमसे प्रथम काल पूर्ण हुआ और कल्पवृक्ष, मनुष्योंका बल, आयु तथा शरीरकी ऊँचाई आदि सब घटतीको प्राप्त हो चले ॥४५॥

सुषमालक्षणः काल्यो द्वितीयः समवर्तत । सागरोपमकोटीनां तिस्रः कोट्योऽस्य संमितिः ॥ ४६ ॥

तब सुषमा नामक दूसरा काल प्रवृत्त हुआ। इसका प्रमाण तीन कोड़ाकोड़ी सागर था ॥४६॥

तदास्मिन् भारते वर्षे मध्यभोगभुवां स्थितिः । जायते स्म परां भूमिं तन्वाना कल्पपादपैः ॥ ४७ ॥

उस समय इस भारतवर्षमें कल्पवृक्षोंके द्वारा उत्कृष्ट विभूतिको प्रकट करती हुई मध्यम भोगभूमिकी अवस्था प्रचलित हुई ॥४७॥

तदा मर्त्या देवाभा द्विपल्योपमजीविताः । चतुःसहस्रचापोच्चविग्रहाः शुभचेष्टिताः ॥ ४८ ॥

उस वक्त यहाँके मनुष्य देवोंके समान कान्तिके धारक थे, उनकी आयु दो पल्यकी थी, उनका शरीर चार हजार धनुष ऊँचा था तथा उनकी सभी चेष्टाएँ शुभ थीं ॥४८॥

कलाधरकलास्पर्धिदेहज्योत्स्नास्मितोज्ज्वलाः । दिनद्वयेन भुञ्जाना वा मण्योःक्षमात्रकम् ॥ ४९ ॥

उनके शरीरकी कान्ति चन्द्रमाकी कलाओंके साथ स्पर्धा करती थी अर्थात् उनसे भी कहीं अधिक सुन्दर थी, उनकी मुसकान बड़ी ही उज्ज्वल थी। वे दो दिन बाद कल्पवृक्षसे प्राप्त हुए बहेड़ेके बराबर उत्तम अन्न खाते थे ॥४९॥

शेषो विधिस्तु विज्ञेयो हरिवर्षसमो मतः । ततः क्रमेण कालेऽस्मिन् ह्यवसर्पत्यनुक्रमात् ॥ ९० ॥

उस समय यहाँकी शेष सब व्यवस्था हरिक्षेत्रके समान थी। फिर क्रमसे जब द्वितीय काल पूर्ण हो गया... ॥९०॥

प्रहीणा वृक्षवीर्यादिविशेषाः प्राक्तना यदा । जघन्यभोगभूमीनां मर्यादाविरभूत्तदा ॥ ९१ ॥

और कल्पवृक्ष तथा मनुष्योंके बल, विक्रम आदि घट गये तब जघन्य भोगभूमिकी व्यवस्था प्रकट हुई ॥९१॥

अथावसरसम्प्राप्तस्तृतीयः कालपर्ययः । प्रवृत्तः सुषमापूर्वा दुःषमां मर्यादामलङ्घयन् ॥ ९२ ॥

उस समय न्यायवान् राजाके सदृश मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता हुआ तीसरा सुषमादुःषमा नामका काल यथासमय प्रवृत्त हुआ ॥९२॥

सागरोपमकोटीनां द्वयं द्व्यर्धसंस्थितौ । मनुष्या भारते वर्षे बभूवुः पल्योपमायुषः ॥ ९३ ॥

उसकी स्थिति दो कोड़ाकोड़ी सागरकी थी। उस समय इस भारतवर्षमें मनुष्योंकी स्थिति (आयु) एक पल्यकी थी ॥ ९३॥

द्व्यूतिप्रमितोच्छायाः प्रियङ्गुश्यामविग्रहाः । एकान्तरेण सम्प्राप्तधात्रीफलमिताशनाः ॥ ९४ ॥

उनके शरीर एक कोश (दो हजार धनुष) ऊँचे थे, वे प्रियंगुके समान श्यामवर्ण थे और एक दिनके अन्तरसे आँवलेके बराबर भोजन ग्रहण करते थे ॥९४॥

ततस्तृतीयकालेऽस्मिन् व्यतिक्रामत्यनुक्रमात् । पल्योपमाष्टभागस्तु यदास्मिन् परिशिष्यते ॥ ९५ ॥

इस प्रकार क्रमशः तीसरा काल व्यतीत होनेपर जब इसमें पल्यका आठवाँ भाग शेष रह गया ॥९५॥

कल्पानोकहवीर्याणां क्रमादेव परिच्युतौ । ज्योतिरङ्गास्तदा वृक्षा गता मन्दप्रकाशताम् ॥ ५६ ॥

तब कल्पवृक्षोंकी सामर्थ्य घट गयी और ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंका प्रकाश अत्यन्त मन्द हो गया ॥५६॥

पुष्पवन्तावथाषाढ्यां पौर्णमास्यां स्फुरत्प्रभौ । सायाह्ने प्रादुरास्तां तौ गगनोभयभागयोः ॥ ५७ ॥

तदनन्तर किसी समय आषाढ़ सुदी पूर्णिमाके दिन सायंकालके समय आकाशके दोनों भागोंमें अर्थात् पूर्व दिशामें उदित होता हुआ चमकीला चन्द्रमा और पश्चिममें अस्त होता हुआ सूर्य दिखलायी पड़ा ॥५७॥

चामीकरमयौ पोताविव तौ गगनार्णवे । वियद्द्विजस्य निर्याणलिखितौ तिलकाविव ॥ ५८ ॥

उस समय वे सूर्य और चन्द्रमा ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो आकाशरूपी समुद्रमें सोनेके बने हुए दो जहाज ही हों अथवा आकाशरूपी हस्तीके गण्डस्थलके समीप सिन्दूरसे बने हुए दो चन्द्रक (गोलाकार चिह्न) ही हों ॥५८॥

पौर्णमासीविलासिन्याः करयोः स्फुरदुज्ज्वलौ । परस्परकराश्लिष्टौ जातुषाविव कन्दुकौ ॥ ५९ ॥

अथवा पूर्णिमारूपी स्त्रीके दोनों हाथोंपर रखे हुए खेलनेके परस्पर मिले हुए लाखके बने दो चमकीले मनोहर गोले ही हों ॥५९॥

आदिपुराण (भाषा-वचनिका सहित)

> जगद्गृहमहाद्वारि विन्यस्तौ कालभूभृतः । नवराज्यप्रवेशाय कुम्भाविव हिरण्मयौ ॥ ६० ॥

अथवा आगे होनेवाले दुःषमसुषमा नामक कालके नवीन राजाके प्रवेशके लिए जगत्रूपी घरके विशाल दरवाजेपर रखे हुए मानो दो सुवर्णकलश ही हों ॥६०॥

> ताराफेनग्रहनक्रवियत्सागरमध्यगौ । चामीकरमयौ दिव्यौ जलक्रीडागृहाविव ॥ ६१ ॥

अथवा तारारूपी फेन और बुध, मंगल आदि ग्रहरूपी मगरमच्छोंसे भरे हुए आकाशरूपी समुद्रके मध्यमें सुवर्णके दो मनोहर दिव्य जलक्रीड़ागृह ही बने हों ॥६१॥

> सद्वृत्तावप्यसङ्गाप्तौ साधुवर्गानुकारिणौ । शीततीव्राकरत्वाच्च सदसद्भूमिपाविव ॥ ६२ ॥

अथवा सद्वृत्त-गोलाकार (पक्षमें सदाचारी) और असंग-अकेले (पक्षमें परिग्रहरहित) होनेके कारण साधुसमूहका अनुकरण कर रहे हों अथवा शीतकर-शीतल किरणोंसे युक्त (पक्षमें अल्प कर लेनेवाले) और तीव्रकर-उष्ण किरणोंसे युक्त (पक्षमें अधिक कर लेनेवाले) होनेके कारण क्रमसे न्यायी और अन्यायी राजाका ही अनुकरण कर रहे हों ॥६२॥

> प्रतिश्रुतिरिति ख्यातस्तदा कुलधरोऽपरिमः । विभ्वलल्लोकातिगं तेजः प्रजानां नेत्रवद् बभौ ॥ ६३ ॥

उस समय वहाँ प्रतिश्रुति नामसे प्रसिद्ध पहले कुलकर विद्यमान थे जो कि सबसे अधिक तेजस्वी थे और प्रजाजनोंके नेत्रके समान शोभायमान थे अर्थात् नेत्रके समान प्रजाजनोंको हितकारी मार्ग बतलाते थे ॥६३॥

पल्यस्य दशमो भागस्तस्यायुर्जिनदेशितम् । धनुषां द्विसहस्रं तु शतैरधिकमष्टभिः ॥ ६४ ॥

जिनेन्द्रदेवने उनकी आयु पल्यका दसवाँ भाग और शरीरकी ऊँचाई एक हजार आठ सौ धनुष बतलायी है ॥६४॥

जाज्वल्यमानमकुटो लसन्मकरकुण्डलः । मेरोरिवोरसि स्थितो हारनिर्झरः ॥ ६५ ॥

उनके मस्तकपर प्रकाशमान मुकुट शोभायमान हो रहा था, कानोंमें मकराकार कुण्डल चमक रहे थे और वे स्वयं मेरुके समान ऊँचे थे इसलिए उनके वक्षःस्थलपर पड़ा हुआ रत्नोंका हार झरनेके समान मालूम होता था ॥६५॥

नानाभरणभाभारभासुरोदारविग्रहः । प्रोत्सर्पत्तेजसा स्वेन निर्भर्त्सितविग्रहः ॥ ६६ ॥

उनका उन्नत और श्रेष्ठ शरीर नाना प्रकारके आभूषणोंकी कान्तिके भारसे अतिशय प्रकाशमान हो रहा था, उन्होंने अपने बढ़ते हुए तेजसे दूसरे शरीरोंको भी तिरस्कृत कर दिया था ॥६६॥

मेयो जगद्गृहोन्मानमानदण्ड इवोच्छ्रितः । दधज्जन्मान्तराभ्यासजनितं बोधमिद्धधीः ॥ ६७ ॥

वे बहुत ही ऊँचे थे इसलिए ऐसे मालूम होते थे मानो जगत्रूपी घरकी ऊँचाईको नापनेके लिए खड़े किये गये मापदण्ड ही हों। इसके सिवाय वे जन्मान्तरके संस्कारसे प्राप्त हुए अवधिज्ञानको भी धारण किये हुए थे इसलिए वही सबमें उत्कृष्ट बुद्धिमान् गिने जाते थे ॥६७॥

स्फुरद्दन्तांशुसलिलेर्मुहुः प्रक्षालयन् दिशः । प्रजानां प्रीणनं वाक्यं सुधाया रसमिवोद्गिरन् ॥ ६८ ॥

वे देदीप्यमान दाँतोंकी किरणोंरूपी जलसे दिशाओंका बार-बार प्रक्षालन करते हुए जब प्रजाको सन्तुष्ट करनेवाले वचन बोलते थे तब ऐसे मालूम होते थे मानो अमृतका रस ही प्रकट कर रहे हों ॥६८॥

अदृष्टपूर्वा तौ दृष्ट्वा समीतान् भोगभूमिजान् । भीतेर्निवर्तयामास तत्स्वरूपमिति ब्रुवन् ॥ ६९ ॥

पहले कभी नहीं दिखनेवाले सूर्य और चन्द्रमाको देखकर भयभीत हुए भोगभूमिज मनुष्योंको उन्होंने उनका निम्नलिखित स्वरूप बतलाकर भयरहित किया था ॥६९॥

एतौ तौ प्रतिदृश्येते सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहाः । ज्योतिरङ्गप्रभापायात् कालह्रासवशोत्थवात् ॥ ७० ॥

उन्होंने कहा--हे भद्र पुरुषो! तुम्हें जो ये दिख रहे हैं वे सूर्य और चन्द्रमा नामक ग्रह हैं। अभी तक इनका प्रकाश ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंके प्रकाशसे आच्छादित रहता था, परन्तु अब चूँकि कालदोषके वशसे ज्योतिरंग वृक्षोंका प्रभाव कम हो गया है अतः दिखने लगे हैं ॥७०॥

भ्रमन्तौ नित्यमेवैतौ भास्यतोऽमूं महाद्युतौ । न वस्ताभ्यां भयं किञ्चिदतो मा भैष्ट भद्रकाः ॥ ७१ ॥

ये महाकान्तिके धारक हैं तथा आकाशमें सर्वदा घूमते रहते हैं। इनसे तुम लोगोंको कोई भय नहीं है, अतः भयभीत नहीं होओ ॥७१॥

इति ब्रुवति तस्मिंस्तु प्रत्याश्वासो महानभूत् । क्षेत्रे सोऽतः परं चास्मिन् नियोगांन् भाविनोऽन्वशात् ॥ ७२ ॥

प्रतिश्रुतिके इन वचनोंसे उन लोगोंको बहुत ही आश्वासन हुआ। इसके बाद प्रतिश्रुतिने इस भरतक्षेत्रमें होनेवाली आगामी व्यवस्थाओंका निरूपण किया ॥७२॥

प्रतिश्रुतिरयं धीरो यन्नः प्रत्यश्रृणोद् वचः । इतीडां चक्रिरे नाम्ना ते तं संप्रीतमानसाः ॥ ७३ ॥

इन धीर-वीर प्रतिश्रुतिने हमारे वचन सुने हैं इसलिए प्रसन्नचित्त होकर उन भोगभूमिजोंने 'प्रतिश्रुति' इसी सार्थक नामसे उनकी स्तुति की ॥७३॥

भद्र धीमन् महाभाग चिरंजीव प्रसीद नः । यानपात्रायितं येन त्वयास्मद्व्यसनार्णवे ॥ ७४ ॥

और कहा कि--हे भद्र, हे धीमन्, हे महाभाग! आप चिरंजीव रहें तथा हमपर प्रसन्न हों क्योंकि आपने हमारे दुःखरूपी समुद्रमें नौकाका काम दिया है अर्थात् हितका उपदेश देकर हमें दुःखरूपी समुद्रसे पार किया है ॥७४॥

इति स्तुत्वार्यकास्ते तं सत्कृत्य च पुनः पुनः । लब्ध्वानुज्ञास्ततः प्रीत्या स्वमोको जग्मुः सजानयः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार प्रतिश्रुतिका स्तवन तथा बार-बार सत्कार कर वे सब आर्य पुरुष उनकी आज्ञानुसार प्रसन्नतापूर्वक अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ अपने-अपने घर चले गये ॥७५॥

मनौ याति दिवं तस्मिन् काले गलति च क्रमात् । मन्वन्तरमसंस्येया वर्षकोटीर्व्यतीत्य च ॥ ७६ ॥

इसके बाद क्रम-क्रमसे समयके व्यतीत होने तथा प्रतिश्रुति कुलकरके स्वर्गवासी हो जानेपर जब असंख्यात करोड़ वर्षोंका मन्वन्तर (एक कुलकरके बाद दूसरे कुलकरके उत्पन्न होने तक बीचका काल) व्यतीत हो गया ॥७६॥

सन्मतिः सन्मतिर्नाम्ना द्वितीयोऽभून्मनुस्तदा । प्रोत्सर्पदंशुकः प्रोच्चैश्चलत्कल्पतरूपमः ॥ ७७ ॥

तब समीचीन बुद्धिके धारक सन्मति नामके द्वितीय कुलकर उत्पन्न हुए। उनके वस्त्र बहुत ही शोभायमान थे तथा वे स्वयं अत्यन्त ऊँचे थे इसलिए चलते-फिरते कल्पवृक्षके समान मालूम होते थे ॥७७॥

स कुन्तली किरीटी च कुण्डली हारभूषितः । स्रग्वी मलयजाक्षिप्तवपुरत्यन्तमाबभौ ॥ ७८ ॥

उनके केश बड़े ही सुन्दर थे, वे अपने मस्तकपर मुकुट धारण किये हुए थे, कानोंमें कुण्डल पहने थे, वक्षःस्थल हारसे सुशोभित था, माला पहने थे और चन्दनसे चर्चित थे; इन सब कारणोंसे वे अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे ॥७८॥

तस्यायुरममप्रख्यमासीत् संख्येयहायनम् । सहस्रं त्रिशतीयुक्तमुत्सेधो वपुषो मतः ॥ ७९ ॥

उनकी आयु अममके बराबर संख्यात वर्षोंकी थी और शरीरकी ऊँचाई एक हजार तीन सौ धनुष थी ॥७९॥

ज्योतिर्विटपिनां भूयोऽप्यासीत् कान्तिप्रमन्दिमा । प्रहीणाभिमुखं तेजो निर्वास्यति हि दीपवत् ॥ ८० ॥

इनके समयमें ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंकी प्रभा बहुत ही मन्द पड़ गयी थी तथा उनका तेज बुझते हुए दीपकके समान नष्ट होनेके सम्मुख ही था ॥८०॥

नभोऽङ्गणमथापूर्य तारकाः प्रचकाशिरे । नात्यन्धकारकलुषां वेलां प्राप्य शशीमुखे ॥ ८१ ॥

एक दिन रात्रिके प्रारम्भमें जब थोड़ा-थोड़ा अन्धकार था तब तारागण आकाशरूपी आँगनको व्याप्त कर सब ओर प्रकाशमान होने लगे ॥८१॥

अकस्मात् तारका दृष्ट्वा संभ्रान्तान् सर्वजन्तून् । भीतिर्विचालयामास प्राणिहिंसेव योगिनः ॥ ८२ ॥

उस समय अकस्मात् तारोंको देखकर भोगभूमिज मनुष्य अत्यन्त भ्रममें पड़ गये अथवा अत्यन्त व्याकुल हो गये। उन्हें भयने इतना कम्पायमान कर दिया जितना कि प्राणियोंकी हिंसा मुनिजनोंको कम्पायमान कर देती है ॥८२॥

स सन्मतिरनुध्याय क्षणं प्रावोचदार्यकान् । नोत्पातः कोऽप्ययं भद्रास्तस्मान्मा गात भीवशोम् ॥ ८३ ॥

सन्मति कुलकरने क्षण-भर विचार कर उन आर्य पुरुषोंसे कहा कि हे भद्र पुरुषो! यह कोई उत्पात नहीं है इसलिए आप व्यर्थ ही भयके वशीभूत न हों ॥८३॥

एतास्तास्तारका व्योम्नि नक्षत्रमण्डलम् । ग्रहा इमे सदोद्द्योता दृश्यन्ते तारकितं नभः ॥ ८४ ॥

ये तारे हैं, यह नक्षत्रोंका समूह है, ये सदा प्रकाशमान रहनेवाले सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह हैं और यह तारोंसे भरा हुआ आकाश है ॥८४॥

ज्योतिश्चक्रमिदं शश्वद् व्योममार्गे कृतस्थिति । स्पष्टतामधुनायातं ज्योतिरङ्गप्रभाक्षयात् ॥ ८५ ॥

यह ज्योतिश्चक्र सदा ही आकाशमें विद्यमान रहता है, अबसे पहले भी विद्यमान था, परन्तु ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंके प्रकाशसे तिरोहित था। अब उन वृक्षोंकी प्रभा क्षीण हो गयी है इसलिए स्पष्ट दिखायी देने लगा है ॥ ८५॥

इतः प्रभृत्यहोरात्रविभागश्च भविष्यति । उदयास्तमयैः सूर्याचन्द्रमसोः सहतारयोः ॥ ८६ ॥

आजसे लेकर सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदिका उदय और अस्त होता रहेगा और उससे रात-दिनका विभाग होता रहेगा ॥८६॥

> ग्रहणग्रहनिक्षेपदिनान्ययनसंक्रमात् । ज्योतिर्ज्ञानस्य बीजानि सोऽन्ववोचद् द्विजाग्रणीः ॥ ८७ ॥

उन बुद्धिमान् सन्मतिने सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, ग्रहोंका एक राशिसे दूसरी राशिपर जाना, दिन और अयन आदिका संक्रमण बतलाते हुए ज्योतिष विद्याके मूल कारणोंका भी उल्लेख किया था ॥८७॥

> अथ तद्वचनादार्या जाताः सपदि निर्भयाः । स हि लोकोत्तरं ज्योतिः प्रजानामुपकारकम् ॥ ८८ ॥

वे आर्य लोग उनके वचन सुनकर शीघ्र ही भयरहित हो गये। वास्तवमें वे सन्मति प्रजाका उपकार करनेवाली कोई सर्वश्रेष्ठ ज्योति ही थे ॥८८॥

> अयं सन्मतिरेवास्तु प्रभुर्नः सन्मतिप्रदः । इति प्रशस्य संपूज्य ययुस्ते तं स्वमास्पदम् ॥ ८९ ॥

समीचीन बुद्धिके देनेवाले यह सन्मति ही हमारे स्वामी हों, इस प्रकार उनकी प्रशंसा और पूजा कर वे आर्य पुरुष अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥८९॥

> ततोऽन्तरमसंख्येयाः कोटीरुल्लङ्घ्य वत्सरान् । तृतीया मनुरत्रासीत् क्षेमंकरसमाह्वयः ॥ ९० ॥

इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्षोंका मन्वन्तर बीत जानेपर इस भारतक्षेत्रमें क्षेमंकर नामके तीसरे मनु हुए ॥९०॥

> युगबाहुर्महाकायः पृथुवक्षाः स्फुरत्प्रभः । सोऽत्यशेत गिरिं मेरुं ज्वलन्मुकुटचूलिकः ॥ ९१ ॥

उनकी भुजाएँ युगके समान लम्बी थीं, शरीर ऊँचा था, वक्षःस्थल विशाल था, आभा चमक रही थी तथा मस्तक मुकुटसे शोभायमान था। इन सब बातोंसे वे मेरु पर्वतसे भी अधिक शोभायमान हो रहे थे ॥९१॥

> अरटप्रमितं यस्य बभूवायुर्महौजसः । देहोत्सेधश्च चापानाममुष्यासीच्छताष्टकम् ॥ ९२ ॥

इस महाप्रतापी मनुकी आयु अरट प्रमाण वर्ष थी और शरीरकी ऊँचाई आठ सौ धनुष थी ॥९२॥

> पुरा किल शमासक्ता वन्याः प्रजानां हस्तलालिताः । तदा तु विकृतिं भेजुर्व्यात्तास्या भीषणस्वनाः ॥ ९३ ॥

पहले जो वनके सिंह, व्याघ्र आदि पशु अत्यन्त भद्रपरिणामी थे जिनका लालन-पालन प्रजा अपने हाथसे ही किया करती थी, वे अब इनके समय विकारको प्राप्त होने लगे--मुँह फाड़ने लगे और भयंकर शब्द करने लगे ॥९३॥

> तेषां विक्रियया सार्धं भयेन तत्रसुः प्रजाः । पप्रच्छुस्ते तमभ्येत्य मनुं स्थितमविस्मितम् ॥ ९४ ॥

उनकी इस भयंकर गर्जनासे मिले हुए विकार भावको देखकर प्रजाजन डरने लगे तथा बिना किसी आश्चर्यके निश्चल बैठे हुए क्षेमंकर मनुके पास जाकर उनसे पूछने लगे ॥९४॥

> इमे वन्यमृगाः पूर्वे स्वादीयोभिस्तृणाङ्कुरैः । रसायनसमैः पुष्यैः सरसां सलिलैरपि ॥ ९५ ॥

हे देव! सिंह, व्याघ्र आदि जो पशु पहले बड़े शान्त थे, जो अत्यन्त स्वादिष्ट घास खाकर और तालाबोंका रसायनके समान रसीला पानी पीकर पुष्ट हुए थे... ॥९५॥

> अङ्काधिरोपणैर्हस्तलालनैरपि सान्त्विताः । अस्माभिरतिविश्रब्धाः संवसन्तोऽप्युपद्रवाः ॥ ९६ ॥

जिन्हें हम लोग अपनी गोदीमें लेकर अपने हाथोंसे सहलाते थे, हम जिनपर अत्यन्त विश्वास करते थे और जो बिना किसी उपद्रवके हम लोगोंके साथ-साथ रहा करते थे... ॥९६॥

> इदानीं तु विना दोषैः श्रृङ्गैरभिभवन्ति नः । दंष्ट्राभिर्नखराग्रैश्च विभिन्दन्ति च दारुणाः ॥ ९७ ॥

आज वे ही दारुण पशु बिना किसी कारणके हम लोगोंको सींगोंसे मारते हैं, दाढ़ों और नखोंसे हमें विदारण किया चाहते हैं और अत्यन्त भयंकर दीख पड़ते हैं ॥९७॥

कोऽभ्युपायोऽत्र सन्देह क्षेमं नः क्षेमसाधनम् । क्षेमंकरो हि सम्भाव्यो जगतः क्षेमचिन्तनैः ॥ ९८ ॥

हे महाभाग! आप हमारा कल्याण करनेवाला कोई उपाय बतलाइए। चूँकि आप सकल जगत्का क्षेम-कल्याण सोचते रहते हैं इसलिए सच्चे क्षेमंकर हैं ॥९८॥

इति तद्वचनाज्जातसौहार्दो मनुरब्रवीत् । सत्यमेतत्तथापूर्वमिदानीं तु भयंकरः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार उन मनुष्योंके वचन सुनकर क्षेमंकर मनुको भी उनसे मित्रभाव उत्पन्न हो गया और वे कहने लगे कि आपका कहना ठीक है। ये पशु पहले वास्तवमें शान्त थे परन्तु अब भयंकर हो गये हैं ॥९९॥

तदिमे परिहर्तव्याः कालाद्विकृतिमागताः । कर्तव्यो न च विश्वासो बाधां कुर्वन्त्युपेक्षिताः ॥ १०० ॥

इसलिए इन्हें छोड़ देना चाहिए। ये कालके दोषसे विकारको प्राप्त हुए हैं अब इनका विश्वास नहीं करना चाहिए। यदि तुम इनकी उपेक्षा करोगे तो ये अवश्य ही बाधा करेंगे ॥१००॥

इत्याकर्ण्य वचस्तस्य परिजह्रुस्तदा मृगान् । शृङ्गिणो दंष्ट्रिणः क्रूरान् नराः सुशमभाजनैः ॥ १०१ ॥

क्षेमंकरके उक्त वचन सुनकर उन लोगोंने सींगवाले और दाढ़वाले दुष्ट पशुओंका साथ छोड़ दिया, केवल निरुपद्रवी गाय-भैंस आदि शान्त पशुओंके साथ रहने लगे ॥१०१॥

व्यतीयुषि ततः काले मनोरस्य व्यतिक्रमे । मन्वन्तरमसंख्येयाः समाकोटीर्विलङ्घ्य च ॥ १०२ ॥

क्रम-क्रमसे समय बीतनेपर क्षेमंकर मनुकी आयु पूर्ण हो गयी। उसके बाद जब असंख्यात करोड़ वर्षोंका मन्वन्तर व्यतीत हो गया... ॥१०२॥

समुन्नतो महोदग्रविग्रहो दोषविग्रहः । अग्रेसरः सतामासीन्मनुः क्षेमंधराह्वयः ॥ १०३ ॥

तब अत्यन्त ऊँचे शरीरके धारक, दोषोंका निग्रह करनेवाले और सज्जनोंमें अग्रसर क्षेमंधर नामक चौथे मनु हुए ॥१०३॥

तुटिकाब्दमितं यस्य बभूवायुर्महात्मनः । शतानि सप्त चापानां सप्ततिः पञ्च चोच्छ्रितिः ॥ १०४ ॥

उन महात्माकी आयु तुटिक प्रमाण वर्षोंकी थी और शरीरकी ऊँचाई सात सौ पचहत्तर धनुष थी ॥१०४॥

यदा प्रबलतां यातः श्वापदसत्त्वा महाक्रुधः । तदा लकुटयष्ट्याद्यैः स रक्षाविधिमन्वशात् ॥ १०५ ॥

इनके समयमें जब सिंह, व्याघ्र आदि दुष्ट पशु अतिशय प्रबल और क्रोधी हो गये तब इन्होंने लकड़ी, लाठी आदि उपायोंसे इनसे बचनेका उपदेश दिया ॥१०५॥

क्षेमंधर इति ख्यातिं प्रजानां क्षेमधारणात् । स दधे श्वापदसत्त्वेभ्यो रक्षोपायानुशासनैः ॥ १०६ ॥

चूँकि इन्होंने दुष्ट पशुओंसे रक्षा करनेके उपायोंका उपदेश देकर प्रजाका कल्याण किया था इसलिए इनका 'क्षेमंधर' यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ था ॥१०६॥

पुनर्मन्वन्तरं तद्वत् संजातं पूर्ववत्क्रमात् । ततः सीमंकरो जज्ञे प्रजानां पुण्यपाकतः ॥ १०७ ॥

इनके बाद पहलेकी भाँति फिर भी असंख्यात करोड़ वर्षोंका मन्वन्तर पड़ा। फिर सुपात्र प्रजाके पुण्योदयसे सीमंकर नामके पाँचवें मनु उत्पन्न हुए ॥१०७॥

स चित्रवस्त्रमाल्यादिभूषितं वपुरुद्वहन् । सुरेन्द्रः स्वर्गलक्ष्म्येव भोगलक्ष्म्योपलालितः ॥ १०८ ॥

इनका शरीर चित्र-विचित्र वस्त्रों तथा माला आदिसे शोभायमान था। जैसे इन्द्र स्वर्गकी लक्ष्मीका उपभोग करता है वैसे ही यह भी अनेक प्रकारकी भोगलक्ष्मीका उपभोग करते थे ॥१०८॥

कमलप्रमितं तस्य प्राहुरायुर्महाधियः । शतानि सप्त पञ्चाशदुच्छ्रायो धनुषां मतः ॥ १०९ ॥

महाबुद्धिमान् आचार्योंने उनकी आयु कमल प्रमाण वर्षोंकी बतलायी है तथा शरीरकी ऊँचाई सात सौ पचास धनुषकी ॥१०९॥

> कल्पद्रुमा यदा जाता विरला मन्दकाः फलेः । तदा तेषु विसंवादो बभूवैषां परस्परम् ॥ ११० ॥

इनके समयमें जब कल्पवृक्ष अल्प रह गये और फल भी अल्प देने लगे तब इसी कारणसे जब लोगोंमें परस्पर विवाद होने लगा... ॥११०॥

> ततो बहुविधं मत्वा वाचा सीमविधिं व्यधात् । अतः सीमकराख्यां तैरन्वितोऽन्वर्थतां गताम् ॥ १११ ॥

तब सीमंकर मनुने सोच-विचारकर वचनों-द्वारा कल्पवृक्षोंकी सीमा नियत कर दी अर्थात् इस प्रकारकी व्यवस्था कर दी कि इस जगहके कल्पवृक्षसे इतने लोग काम लें और इस जगहके कल्पवृक्षसे उतने लोग काम लें। प्रजाने उक्त व्यवस्थासे ही उन मनुका 'सीमंकर' यह सार्थक नाम रख लिया था ॥१११॥

> पुनर्मन्वन्तरं प्राग्वदतिलङ्घ्य महीयसः । ततः सीमंधरो नाम्ना समजायत पुण्यधीः ॥ ११२ ॥

इनके बाद पहलेकी भाँति मन्वन्तर व्यतीत होनेपर सीमंधर नामके छठे मनु उत्पन्न हुए। उनकी बुद्धि बहुत ही पवित्र थी ॥११२॥

> नलिनप्रमितायुष्को नलिनास्येक्षणद्युतिः । धनूंषि पञ्चवर्गाग्रमुच्छ्रितः शतसप्तकम् ॥ ११३ ॥

वह नलिन प्रमाण आयुके धारक थे, उनके मुख और नेत्रोंकी कान्ति कमलके समान थी तथा शरीरकी ऊँचाई सात सौ पच्चीस धनुषकी थी ॥११३॥

> अत्यन्तविरला जाताः द्रुमा यदा मन्दफला यदा । नृणां महान् विसंवादः केशाकेशि तदात्यभूत् ॥ ११४ ॥

इनके समयमें जब कल्पवृक्ष अत्यन्त थोड़े रह गये तथा फल भी बहुत थोड़े देने लगे और उस कारणसे जब लोगोंमें भारी कलह होने लगा, कलह ही नहीं, एक-दूसरेको बाल पकड़-पकड़कर मारने लगे... ॥११४॥

> क्षेमवृत्तिं ततस्तेषां दधानः स मनुस्तदा । सीमानि तरुगुल्मादिचिह्नितान्यकरोत् पुरः ॥ ११५ ॥

तब उन सीमंधर मनुने कल्याण स्थापनाकी भावनासे कल्पवृक्षोंकी सीमाओंको अन्य अनेक वृक्ष तथा छोटी-छोटी झाड़ियोंसे चिह्नित कर दिया था ॥११५॥

> ततोऽन्तरमभूद् भूयोऽप्यसंख्या अब्जकोटयः । हीयमानेषु सर्वेषु नियोगेष्वनुपूर्वशः ॥ ११६ ॥

इनके बाद फिर असंख्यात करोड़ वर्षोंका अन्तर हुआ और कल्पवृक्षोंकी शक्ति आदि हरएक उत्तम वस्तुओंमें क्रम-क्रमसे घटती होने लगी... ॥११६॥

> तदन्तरव्यतिक्रान्तावभूद् विमलवाहनः । मनूनां सप्तमो भोगलक्ष्म्यालिङ्गितविग्रहः ॥ ११७ ॥

तब मन्वन्तरको व्यतीत कर विमलवाहन नामके सातवें मनु हुए। उनका शरीर भोगलक्ष्मीसे आलिंगित था ॥११७॥

> पद्मप्रमितमस्यायुः पद्माश्लिष्टतनोरभूत् । धनुःशतानि सप्तैव समुत्सेधोऽस्य वर्णितः ॥ ११८ ॥

उनकी आयु पद्म प्रमाण वर्षोंकी थी और शरीर सात सौ धनुष ऊँचा था ॥११८॥

> हस्तिनां च गजादीनां बभूवारोहणक्रमः । कुथाराङ्कुशपर्याणमुखभाण्डाद्युपक्रमैः ॥ ११९ ॥

इन्होंने हाथी, घोड़ा आदि सवारीके योग्य पशुओंपर कुथार, अंकुश, पलान, तोबरा आदि लगाकर सवारी करनेका उपदेश दिया था ॥११९॥

> पुनरन्तरमत्राभूदसंख्येयाब्दकोटयः । ततोऽष्टमो मनुर्जातश्चक्षुष्मानिति शब्दितः ॥ १२० ॥

इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्षोंका अन्तराल रहा। फिर चक्षुष्मान् नामके आठवें मनु उत्पन्न हुए ॥१२०॥

> पद्माङ्गप्रमितायुष्कश्चापानां पञ्चसप्ततिः । षट्शतान्यप्युदग्रच्छ्रीरुच्छ्रिताङ्गो बभूव सः ॥ १२१ ॥

वे पद्मांग प्रमाण आयुके धारक थे और छह सौ पचहत्तर धनुष ऊँचे थे। उनके शरीरकी शोभा बड़ी ही सुन्दर थी ॥१२१॥

तस्य कालेऽभवत्तेषां क्षणं पुत्रमुखेक्षणम् । अदृष्टपूर्वमार्याणां महदुत्त्रासकारणम् ॥ १२२ ॥

इनके समयसे पहलेके लोग अपनी सन्तानका मुख नहीं देख पाते थे, उत्पन्न होते ही माता-पिताकी मृत्यु हो जाती थी, परन्तु अब वे क्षण-भर पुत्रका मुख देखकर मरने लगे। उनके लिए यह नयी बात थी इसलिए भयका कारण हुई ॥१२२॥

स ततः सपदि संजातसाध्वसानायकांस्तदा । तद्याथात्म्योपदेशेन स संत्रासमथौज्मयत् ॥ १२३ ॥

उस समय भयभीत हुए आर्य पुरुषोंको चक्षुष्मान् मनुने यथार्थ उपदेश देकर उनका भय छुड़ाया था ॥१२३॥

चक्षुष्मानिति तेनाभूत् स यतोऽनेन तेऽर्भकाः । जनयित्रोः क्षणं जाताश्चक्षुर्दर्शनगोचरम् ॥ १२४ ॥

चूँकि उनके समय माता-पिता अपने पुत्रोंको क्षण-भर देख सके थे इसलिए उनका 'चक्षुष्मान्' यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ ॥१२४॥

पुनरप्यन्तरं तावद् वर्षकोटीर्विलङ्घ्य च । यशस्वानित्यभून्नाम्ना यशस्वी नवमो मनुः ॥ १२५ ॥

तदनन्तर करोड़ों वर्षोंका अन्तर व्यतीत कर यशस्वान् नामके नवम मनु हुए। वे बड़े ही यशस्वी थे ॥१२५॥

कुमुदप्रमितं यस्य परमायुर्महीयसः । षट्शतानि च पञ्चाशद्धनूंषि च तनूच्छ्रितिः ॥ १२६ ॥

उन महापुरुषकी आयु कुमुद प्रमाण वर्षोंकी थी। उनके शरीरकी ऊँचाई छह सौ पचास धनुषकी थी ॥१२६॥

यस्य काले प्रजा जन्यमुखालोकपुरस्सरम् । कृताशिषः क्षणं स्थित्वा लोकान्तरमुपागमन् ॥ १२७ ॥

उनके समयमें प्रजा अपनी सन्तानका मुख देखनेके साथ-साथ उन्हें आशीर्वाद देकर तथा क्षण-भर ठहर कर परलोक गमन करती थी--मृत्युको प्राप्त होती थी ॥१२७॥

यशस्वानित्यभूत्तेन शशंसुस्तद्यशो यतः । प्रजाः सुप्रजसः प्रीतैः पुत्राशासनदेशनात् ॥ १२८ ॥

इनके उपदेशसे प्रजा अपनी सन्तानोंको आशीर्वाद देने लगी थी इसलिए उत्तम सन्तानवाली प्रजाने प्रसन्न होकर इनका यश वर्णन किया, इसी कारण उनका 'यशस्वान्' यह सार्थक नाम पड़ गया था ॥१२८॥

ततोऽन्तरमतिक्रम्य तत्प्रायोग्याब्दसंमितम् । अभिचन्द्रोऽभवन्नाम्ना चन्द्रसौम्याननो मनुः ॥ १२९ ॥

इनके बाद करोड़ों वर्षोंका अन्तर व्यतीत कर अभिचन्द्र नामके दसवें मनु उत्पन्न हुए। उनका मुख चन्द्रमाके समान सौम्य था ॥१२९॥

कुमुदाङ्गमितायुष्को ज्वलन्मुकुटकुण्डलः । पञ्चवर्गाग्रषट्चापशतोत्सेधः स्फुरत्तनुः ॥ १३० ॥

कुमुदांग प्रमाण उनकी आयु थी, उनका मुकुट और कुण्डल अतिशय देदीप्यमान था। वे छह सौ पच्चीस धनुष ऊँचे तथा देदीप्यमान शरीरके धारक थे ॥१३०॥

कल्पद्रुम इवोत्तङ्गफलशाली महाद्युतिः । स बभार यथास्थानं नानाभरणमञ्जरीः ॥ १३१ ॥

यथायोग्य अवयवोंमें अनेक प्रकारके आभूषणरूप मंजरियोंको धारण किये हुए थे। उनका शरीर महाकान्तिमान् था और स्वयं पुण्यके फलसे शोभायमान थे इसलिए फूले-फले तथा ऊँचे कल्पवृक्षके समान शोभायमान होते थे ॥१३१॥

यस्य काले प्रजास्तोकमङ्के वोढ्वा सकौतुकम् । आशास्यप्राङ्क्रीडनं चक्रुर्निशि चन्द्रामिदर्शनैः ॥ १३२ ॥

उनके समय प्रजा अपनी-अपनी सन्तानोंका मुख देखने लगी--उन्हें आशीर्वाद देने लगी तथा रातके समय कौतुकके साथ चन्द्रमा दिखला-दिखलाकर उनके साथ कुछ क्रीड़ा भी करने लगी ॥१३२॥

ततोऽभिचन्द्र इत्यासीद्यतश्चन्द्राभिमुखस्थिताः । पुत्रानाक्रीडयामासुस्तत्काले तन्मताज्जनाः ॥ १३३ ॥

उस समय प्रजाने उनके उपदेशसे चन्द्रमाके सम्मुख खड़ा होकर अपनी सन्तानोंको क्रीड़ा करायी थी--उन्हें खिलाया था इसलिए उनका 'अभिचन्द्र' यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ ॥१३३॥

> पुनरन्तरमुल्लङ्घ्य तत्प्रायोग्यसमाशतैः । चन्द्राभ इत्यभूत् ख्यातश्चन्द्रास्यः कालविन्मनुः ॥ १३४ ॥

फिर उतना ही अन्तर व्यतीत होनेपर चन्द्राभ नामके ग्यारहवें मनु हुए। उनका मुख चन्द्रमाके समान था, ये समयकी गतिविधिके जाननेवाले थे ॥१३४॥

> नयुतप्रमितायुष्को विमल्लक्षणोज्ज्वलः । धनुषां षट्शतान्युच्चैः प्रोदर्कसमद्युतिः ॥ १३५ ॥

इनकी आयु नयुत प्रमाण वर्षोंकी थी। ये अनेक शोभायमान सामुद्रिक लक्षणोंसे उज्ज्वल थे। इनका शरीर छह सौ धनुष ऊँचा था तथा उदय होते हुए सूर्यके समान देदीप्यमान था ॥१३५॥

> स पुष्कलाः कला बिभ्रदुदितो जगतां प्रियः । स्मितज्योत्स्नाभिराह्लादं शशीव समजीजनत् ॥ १३६ ॥

ये समस्त कलाओं-विद्याओंको धारण किये हुए ही उत्पन्न हुए थे, जनताको अतिशय प्रिय थे तथा अपनी मन्द मुसकानसे सबको आह्लादित करते थे इसलिए उदित होते ही सोलह कलाओंको धारण करनेवाले लोकप्रिय और चन्द्रिकासे युक्त चन्द्रमाके समान शोभायमान होते थे ॥१३६॥

> यस्य कालेऽतिसंप्रीताः सपुत्राशिष एव च । आशिषा सह जीवन्ति दिनानि कतिचित् प्रजाः ॥ १३७ ॥

इनके समय प्रजाजन अपनी सन्तानोंको आशीर्वाद देकर अत्यन्त प्रसन्न तो होते ही थे, परन्तु कुछ दिनों तक उनके साथ जीवित भी रहने लगे थे ॥१३७॥

> ततो लोकान्तरप्राप्तिमभजन्त यथासुखम् । स तदाह्लादनादासीच्चन्द्राभ इति विश्रुतः ॥ १३८ ॥

तथा उसके बाद परलोकको प्राप्त होते थे। उन्होंने चन्द्रमाके समान सब जीवोंको आह्लादित किया था इसलिए उनका 'चन्द्राभ' यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ था ॥१३८॥

> मरुद्देवोऽभवत्तस्मात् कुलकृदनन्तरम् । स्थित्युचितान्तरमुल्लङ्घ्य प्रजानामुत्सवो वपुः ॥ १३९ ॥

तदनन्तर अपने योग्य अन्तरको व्यतीत कर प्रजाके नेत्रोंको आनन्द देनेवाले, मनोहर शरीरके धारक मरुद्देव नामके बारहवें कुलकर उत्पन्न हुए ॥१३९॥

> शतानि पञ्च पञ्चाग्रां सप्ततिं च समुच्छ्रितिम् । धनूंषि नयुताङ्गायुर्दिवस्कानिव भास्वरः ॥ १४० ॥

उनके शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ पचहत्तर धनुषकी थी और आयु नयुतांग प्रमाण वर्षोंकी थी। वे सूर्यके समान देदीप्यमान थे ॥१४०॥

> स तेजस्वी सुखालोकः सोदयोऽनस्तसंगतिः । भूमिष्ठोऽप्यम्बरोद्भासी भास्वानिव विलक्षणः ॥ १४१ ॥

अथवा वे स्वयं ही एक विलक्षण सूर्य थे, क्योंकि सूर्यके समान तेजस्वी होनेपर भी लोग उन्हें सुखपूर्वक देख सकते थे जब कि चकाचौंधके कारण सूर्यको कोई देख नहीं सकता। सूर्यके समान उदय होनेपर भी वे कभी अस्त नहीं होते थे--उनका कभी पराभव नहीं होता था जब कि सूर्य अस्त हो जाता है और जमीनमें स्थित रहते हुए भी वे आकाशको प्रकाशित करते थे जब कि सूर्य आकाशमें स्थित रहकर ही उसे प्रकाशित करता है (पक्षमें वस्त्रोंसे शोभायमान थे) ॥१४१॥

> यस्य काले प्रजा दीर्घं प्रजाभिः स्वाभिरन्विताः । प्राणिषुस्तन्मुखालोकतत्स्पर्शोत्सवैः ॥ १४२ ॥

इनके समयमें प्रजा अपनी-अपनी सन्तानोंके साथ बहुत दिनों तक जीवित रहने लगी थी तथा उनके मुख देखकर और शरीरको स्पर्श कर सुखी होती थी ॥१४२॥

> स तामुच्छ्वसितं यस्मात्तदायत्तस्वजीविकाः । प्रजा जीवन्ति तेनायं मरुद्देव इतीरितः ॥ १४३ ॥

वे मरुद्देव ही वहाँके लोगोंके प्राण थे क्योंकि उनका जीवन मरुद्देवके ही आधीन था अथवा यों समझिए--वे उनके द्वारा ही जीवित रहते थे इसलिए प्रजाने उन्हें 'मरुद्देव' इस सार्थक नामसे पुकारा था ॥१४३॥

नौद्रोणीसंक्रमादीनि जलदुर्गेष्वकारयत् । गिरिदुर्गेषु सोपानपद्धतीः सोऽधिरोहणे ॥ १४४ ॥

इन्हीं मरुद्देवने उस समय जलरूप दुर्गम स्थानोंमें गमन करनेके लिए छोटी-बड़ी नाव चलानेका उपदेश दिया था तथा पहाड़ रूप दुर्गम स्थानपर चढ़नेके लिए इन्होंने सीढ़ियाँ बनवायी थीं ॥१४४॥

यस्य काले कुतशैलाः कुसमुद्राः कुनिम्नगाः । जाताः सासारमेघाश्च किंराजान इवास्थिराः ॥ १४५ ॥

इन्हींके समयमें अनेक छोटे-छोटे पहाड़, उपसमुद्र तथा छोटी-छोटी नदियाँ उत्पन्न हुई थीं तथा नीच राजाओंके समान अस्थिर रहनेवाले मेघ भी जब कभी बरसने लगे थे ॥१४५॥

ततः प्रसेनजिज्जज्ञे प्रभविष्णुर्मनुर्महान् । कर्मभूमिस्थितावेवमभ्यर्णायां शनैः शनैः ॥ १४६ ॥

इसके बाद समय व्यतीत होनेपर जब कर्मभूमिकी स्थिति धीरे-धीरे समीप आ रही थी--अर्थात् कर्मभूमिकी रचना होनेके लिए जब थोड़ा ही समय बाकी रह गया था तब बड़े प्रभावशाली प्रसेनजित् नामके तेरहवें मनु उत्पन्न हुए ॥१४६॥

पर्वप्रमितमाम्नातं मनोरस्यायुरञ्जसा । शतानि पञ्च चापानां पञ्चाशच्च तदुच्छ्रितिः ॥ १४७ ॥

इनकी आयु एक पर्व प्रमाण थी और शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ पचास धनुषकी थी ॥१४७॥

प्रजानामधिकं चक्षुस्तमोदोषैरविप्लुतम् । सोऽभ्राजदर्क इवाभ्युद्यन् पद्माकरपरिग्रहात् ॥ १४८ ॥

वे प्रसेनजित् महाराज मार्ग-प्रदर्शन करनेके लिए प्रजाके तीसरे नेत्रके समान थे, अज्ञानरूपी दोषसे रहित थे और उदय होते ही पद्मा-लक्ष्मीके करग्रहणसे अतिशय शोभायमान थे, इन सब बातोंसे वे सूर्यके समान मालूम होते थे क्योंकि सूर्य भी मार्ग दिखानेके लिए तीसरे नेत्रके समान होता है, अन्धकारसे रहित होता है और उदय होते ही कमलोंके समूहको आनन्दित करता है ॥१४८॥

तदाभूदर्भकोत्पत्तिर्जरायुपटलावृता । ततस्तत्कर्षणोपायं स प्रजानामुपादिशत् ॥ १४९ ॥

इनके समयमें बालकोंकी उत्पत्ति जरायुसे लिपटी हुई होने लगी अर्थात् उत्पन्न हुए बालकोंके शरीरपर मांसकी एक पतली झिल्ली रहने लगी। इन्होंने अपनी प्रजाको उस जरायुके खींचने अथवा फाड़ने आदिका उपदेश दिया था ॥१४९॥

> तनुसंवरणं यत्तज्जरायुपटलं मलम् । स प्रसेनो जयात्तस्य प्रसेनजिदसौ स्मृतः ॥ १५० ॥

मनुष्योंके शरीरपर जो आवरण होता है उसे जरायुपटल अथवा प्रसेन कहते हैं। तेरहवें मनुने उसे जीतने-दूर करने आदिका उपदेश दिया था इसलिए वे 'प्रसेनजित्' कहलाते थे ॥१५०॥

> प्रसा-प्रसूतिः संरोधात् तस्याः प्रसेन इतीरितः । तद्विधानोपायकथनात् प्रसेनजिद् वा प्रसेनजित् ॥ १५१ ॥

अथवा प्रसा शब्दका अर्थ प्रसूति-जन्म लेना है तथा इन शब्दका अर्थ स्वामी होता है। जरायु उत्पत्तिको रोक लेती है अतः उसीको प्रसेन-जन्मका स्वामी कहते हैं। इन्होंने उस प्रसेनके नष्ट करने अथवा जीतनेके उपाय बतलाये थे इसलिए इनका 'प्रसेनजित्' नाम पड़ा था ॥१५१॥

> तदनन्तरमेवाभून्नाभिः पूज्यतमः प्रभोः । युगादिपुरुषैः पूर्वैरुद्गूढां धुरमुद्वहन् ॥ १५२ ॥

इनके बाद ही नाभिराज नामके कुलकर हुए थे, ये महाबुद्धिमान् थे। इनसे पूर्ववर्ती युग-श्रेष्ठ कुलकरोंने जिस लोकव्यवस्थाके भारको धारण किया था यह भी उसे अच्छी तरह धारण किये हुए थे ॥१५२॥

> पूर्वकोटीमितं यस्य परमायुस्तदुच्छ्रितिः । शतानि पञ्च चापानां पञ्चवर्गाधिकानि वै ॥ १५३ ॥

उनकी आयु एक करोड़ पूर्वकी थी और शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष थी ॥१५३॥

> मुकुटोज्ज्लासिमूर्धासौ कुण्डलाभ्यामलङ्कृतः । सुमेरुरिव चन्द्रार्कसंश्लिष्टाधित्यको बभौ ॥ १५४ ॥

इनका मस्तक मुकुटसे शोभायमान था और दोनों कान कुण्डलोंसे अलंकृत थे इसलिए वे नाभिराज उस मेरु पर्वतके समान शोभायमान हो रहे थे जिसका ऊपरी भाग दोनों तरफ घूमते हुए सूर्य और चन्द्रमासे शोभायमान हो रहा है ॥१५४॥

पार्वणं शशिनं गर्वात् स्खलयन्मुखाम्बुजम् । स्मितोल्लसितदन्तांशुकेसरं भृशमाबभौ ॥ १९५ ॥

उनका मुखकमल अपने सौन्दर्यसे गर्वपूर्वक पौर्णमासीके चन्द्रमाका तिरस्कार कर रहा था तथा मन्द मुसकानसे जो दाँतोंकी किरणें निकल रही थीं वे उसमें केसरकी भाँति शोभायमान हो रही थीं ॥१९५॥

स हारभूषितं वक्षो बभाराभरणोज्ज्वलम् । हिमवानिव गङ्गाम्बुप्रवाहघटितं तटम् ॥ १९६ ॥

जिस प्रकार हिमवान् पर्वत गंगाके जल-प्रवाहसे युक्त अपने तटको धारण करता है उसी प्रकार नाभिराज अनेक आभरणोंसे उज्ज्वल और हारसे भूषित अपने वक्षःस्थलको धारण कर रहे थे ॥१९६॥

सदङ्गुलितलौ बाहू सोऽधत्तागाविबोत्फणौ । केयूररुचिरांसौ स्वाही निधिघटाविव ॥ १९७ ॥

वे उत्तम अँगुलियों और हथेलियोंसे युक्त जिन दो भुजाओंको धारण किये हुए थे वे ऊपरको फण उठाये हुए सर्पोंके समान शोभायमान हो रहे थे। तथा बाजूबन्दोंसे सुशोभित उनके दोनों कंधे ऐसे मालूम होते थे मानो सर्पसहित निधियोंके दो घड़े ही हों ॥१९७॥

सुसंहततरं मध्यं बभार वज्रास्थिबन्धनम् । लोकस्कन्ध इवोर्ध्वाधोविस्तृतश्चारुनाभिकम् ॥ १९८ ॥

वे नाभिराज जिस कटि भागको धारण किये हुए थे वह अत्यन्त सुदृढ़ और स्थिर था, उसके अस्थिबन्ध वज्रमय थे तथा उसके पास ही सुन्दर नाभि शोभायमान हो रही थी। उस कटि भागको धारण कर वे ऐसे मालूम होते थे मानो मध्यलोकको धारण कर ऊपर और अधोभागमें विस्तारको प्राप्त हुआ लोकस्कन्ध ही हो ॥१९८॥

काञ्चीकलापघटितं समं कटितटं दधौ । रत्नद्वीपमिवाम्भोधिः पर्यन्तस्थितरत्नकम् ॥ १९९ ॥

वे करधनीसे शोभायमान कमरको धारण किये थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो सब ओर फैले हुए रत्नोंसे युक्त रत्नद्वीपको धारण किये हुए समुद्र ही हों ॥१९९॥

स्तम्भोपमा दधावूरू परिवृत्तौ सुसंहतौ । जगद्गृहान्तर्विन्यस्तसुस्थितस्तम्भसन्निभौ ॥ १६० ॥

वे नाभिराज मजबूत, गोलाकार और एक-दूसरेसे सटी हुई जिन जंघाओंको धारण किये हुए थे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो जगत्रूपी घरके भीतर खड़े किये हुए दो मजबूत खम्भे ही हों ॥१६०॥

आदिपुराण (भाषा-वचनिका सहित)

मत्वोरखिलमस्योर्ध्वकायं वेधा महाभरम् । उपाजेकमुधूरू स्थिरं जेव्यमधाल्लुबम् ॥ १६१ ॥

उनके शरीरका ऊर्ध्व भाग वक्षःस्थलरूपी शिलासे युक्त होनेके कारण अत्यन्त वजनदार था मानो यह समझकर ही विधाताने उसे निश्चलरूपसे धारण करनेके लिए उनकी ऊरुओं (घुटनोंसे ऊपरका भाग) सहित जंघाओं (पिंडलियों) को बहुत ही मजबूत बनाया था ॥१६१॥

चन्द्राकंसरिदम्भोधिमत्स्यकूर्मादिलक्षणम् । दध्रेडप्यंघिलक्षणं यस्य चराचरमिवाश्रितम् ॥ १६२ ॥

वे जिस चरणतलको धारण किये हुए थे वह चन्द्र, सूर्य, नदी, समुद्र, मत्स्य, कच्छप आदि अनेक शुभलक्षणोंसे सहित था जिससे वह ऐसा मालूम होता था मानो यह चर-अचर रूप सभी संसार सेवा करनेके लिए उसके आश्रयमें आ पड़ा हो ॥१६२॥

इति स्वभावमाधुर्यसौन्दर्यघटितं वपुः । यस्यासीत् तादृशं सुरेन्द्राणामपि जायते दुष्करम् ॥ १६३ ॥

इस प्रकार स्वाभाविक मधुरता और सुन्दरतासे बना हुआ नाभिराजका जैसा शरीर था, मैं मानता हूँ कि वैसा शरीर देवोंके अधिपति इन्द्रोंको भी मिलना कठिन है ॥१६३॥

यस्य काले सुतोत्पत्तौ नाभिनालमदृश्यत । स तन्निकर्तनोपायमादिशान्नाभिरित्यभूत् ॥ १६४ ॥

इनके समयमें उत्पन्न होते वक्त बालककी नाभिमें नाल दिखायी देने लगा था और नाभिराजने उसके काटनेकी आज्ञा दी थी इसलिए इनका 'नाभि' यह सार्थक नाम पड़ गया था ॥१६४॥

तस्यैव काले जलदाः कालिकाकर्बुरत्विषः । प्रादुरासन्नभोमार्गे सान्द्राः सेन्द्रशरासनाः ॥ १६५ ॥

उसी समय आकाशमें कुछ सफेदी लिये हुए काले रंगके सघन मेघ प्रकट हुए थे। वे मेघ इन्द्रधनुषसे सहित थे ॥ १६५॥

नभो नीरन्ध्रमारब्धुं जुजुषुर्जलमुचां चयाः । कालादुद्भूतसामर्थ्यात् संहताः सूक्ष्मपुद्गलाः ॥ १६६ ॥

उस समय कालके प्रभावसे पुद्गल परमाणुओंमें मेघ बनानेकी सामर्थ्य उत्पन्न हो गयी थी, इसलिए सूक्ष्म पुद्गलों-द्वारा बने हुए मेघोंके समूह छिद्ररहित लगातार समस्त आकाशको घेर कर जहाँ-तहाँ फैल गये थे ॥१६६॥

विद्युद्वन्ता महाध्याना वर्षन्तो जहृषिरे घनाः । हैममाला मदिनो नागा इव संबृंहिताः ॥ १६७ ॥

वे मेघ बिजलीसे युक्त थे, गम्भीर गर्जना कर रहे थे और पानी बरसा रहे थे जिससे ऐसे शोभायमान होते थे मानो सुवर्णकी मालाओंसे सहित, मद बरसानेवाले और गरजते हुए हस्ती ही हों ॥१६७॥

घनाघनघनध्वानैः संघट्टाद् गिरिभित्तयः । प्रत्याक्रोशमिवातन्मुः ससंरम्भाः प्रतिस्वनैः ॥ १६८ ॥

उस समय मेघोंकी गम्भीर गर्जनासे टकरायी हुई पहाड़ोंकी दीवारोंसे जो प्रतिध्वनि निकल रही थी उससे ऐसा मालूम होता था मानो वे पर्वतकी दीवारें कुपित होकर प्रतिध्वनिके बहाने आक्रोश वचन (गालियाँ) ही कह रही हों ॥ १६८॥

बवाववाततान् कुर्वन् कलापोधान् कलापिनाम् । घनाघनालिमुक्ताम्भःकणवाही समीरणः ॥ १६९ ॥

उस समय मेघमाला-द्वारा बरसाये हुए जलकणोंको धारण करनेवाला ठण्डा वायु मयूरोंके पंखोंको फैलाता हुआ बह रहा था ॥१६९॥

चातका मधुरं रेणुर्भिनन्द्या घनागमम् । अकस्मात्ताण्डवारम्भमातेने शिखिनां कुलम् ॥ १७० ॥

आकाशमें बादलोंका आगमन देखकर हर्षित हुए चातक पक्षी मनोहर शब्द बोलने लगे और मयूरोंके समूह अकस्मात् ताण्डव नृत्य करने लगे ॥१७०॥

> अभिषेक्तुमिवारब्धा गिरीरम्भोमुचां घटा । मुग्धधारां प्रवर्षन्ती प्रक्षरद्धात् निर्झरान् ॥ १७१ ॥

उस समय धाराप्रवाह बरसते हुए मेघोंके समूह ऐसे मालूम होते थे मानो जिनसे धातुओंके झरने निकल रहे हैं ऐसे पर्वतोंका अभिषेक करनेके लिए तत्पर हुए हों ॥१७१॥

> क्वचिद् गिरिसरित्पूराः प्रावर्तन्त महारयाः । धातुरागारुणा मुक्ता ह्यस्रमोक्षा इवाद्रिषु ॥ १७२ ॥

पहाड़ोंपर कहीं-कहीं गेरूके रंगसे लाल हुए नदियोंके जो पूर बड़े वेगसे बह रहे थे वे ऐसे मालूम होते थे मानो मेघोंके प्रहारसे निकले हुए पहाड़ोंके रक्तके प्रवाह ही हों ॥१७२॥

> घोरनादं वपुर्मुक्त्वा स्थूलधाराः पयोमुचः । अश्रूणीव व्यमुञ्चन्ते शोकार्ताः कल्पवृक्षपरिक्षये ॥ १७३ ॥

बादल गरजते हुए मोटी धारसे बरस रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कल्पवृक्षोंका क्षय हो जानेसे शोकसे पीड़ित हो क्रन्दन ही कर रहे हों-रो-रोकर आँसू बहा रहे हों ॥१७३॥

> मार्दङ्गिककरास्फालनादिव वातनिघट्टनात् । पुष्करेष्विव गम्भीरं ध्वनत्सु जलवाहिषु ॥ १७४ ॥

वायुके आघातसे उन मेघोंसे ऐसा गम्भीर शब्द होता था मानो बजानेवालेके हाथकी चोटसे मृदंगका ही शब्द हो रहा हो ॥१७४॥

> विद्युन्नटी नभोरङ्गे विचित्राकारधारिणी । प्रतिक्षणविघुर्णाङ्गी नृत्तमारभताद्भुतम् ॥ १७५ ॥

उसी समय आकाशमें बिजली चमक रही थी, जिससे ऐसा मालूम होता था मानो आकाशरूपी रंगभूमिमें अनेक रूप धारण करती हुई तथा क्षण-क्षणमें यहाँ-वहाँ अपना शरीर घुमाती हुई कोई नटी अद्भुत नृत्य कर रही हो ॥१७५॥

पयः पयोधरासक्ताः पिबन्तश्चातृप्तिभिः । लब्धमतिप्रीतैश्चातकैरर्भकायितम् ॥ १७६ ॥

उस समय चातक पक्षी ठीक बालकोंके समान आचरण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार बालक पयोधर-माताके स्तनमें आसक्त होते हैं उसी प्रकार चातक पक्षी भी पयोधर-मेघोंमें आसक्त थे, बालक जिस तरह कठिनाईसे प्राप्त हुए पय-दूधको पीते हुए तृप्त नहीं होते उसी तरह चातक पक्षी भी कठिनाईसे प्राप्त हुए पय-जलको पीते हुए तृप्त नहीं होते थे, और बालक जिस प्रकार मातासे प्रेम रखते हैं उसी प्रकार चातक पक्षी भी मेघोंसे प्रेम रखते थे ॥ १७६॥

तडित्कलत्रसंसक्तैः कालापेक्षैर्महाजलैः । कृषिप्राशुकैर्मेघैर्व्यक्तं पामरकायितम् ॥ १७७ ॥

अथवा वे बादल पामर मनुष्योंके समूहके समान आचरण करते थे क्योंकि जिस प्रकार पामर मनुष्य स्त्रीमें आसक्त हुआ करते हैं उसी प्रकार वे भी बिजलीरूपी स्त्रीसे आसक्त थे, पामर मनुष्य जिस प्रकार खेतीके योग्य वर्षाकालकी अपेक्षा रखते हैं उसी प्रकार वे भी वर्षाकालकी अपेक्षा रखते थे, पामर मनुष्य जिस प्रकार महाजड़ अर्थात् महामूर्ख होते हैं उसी प्रकार वे भी महाजल अर्थात् भारी जलसे भरे हुए थे (संस्कृत-साहित्यमें श्लेष आदिके समय ड और ल में अभेद होता है) और पामर मनुष्य जिस प्रकार खेती करनेमें तत्पर रहते हैं उसी प्रकार मेघ भी खेती करानेमें तत्पर थे ॥१७७॥

अबुद्धिपूर्वं मुत्सृज्य मुहुर्मुहुः पयोमुचः । नैकधा विक्रियां भेजुर्वैचित्र्यात् पुद्गलेशितुः ॥ १७८ ॥

यद्यपि वे बादल बुद्धिरहित थे तथापि पुद्गल परमाणुओंकी विचित्र परिणति होनेके कारण शीघ्र ही बरसकर अनेक प्रकारकी विकृतिको प्राप्त हो जाते थे ॥१७८॥

तदा जलधरोन्मुक्तामुक्ताफलरुचोऽप्सटाः । महीं निर्वापयामासुर्दिवाकरकरोष्मणाम् ॥ १७९ ॥

उस समय मेघोंसे जो पानीकी बूँदें गिर रही थीं वे मोतियोंके समान सुन्दर थीं तथा उन्होंने सूर्यके किरणोंके सन्तापसे तप्त हुई पृथ्वीको शीतल कर दिया था ॥१७९॥

ततोऽन्वभूद् वारिक्ष्माखानिवातपगोचरान् । उत्क्लेदाधारावगाहान्तर्नीहारोष्णत्वलक्षणान् ॥ १८० ॥

इसके अनन्तर मेघोंसे पड़े हुए जलकी आर्द्रता, पृथ्वीका आधार, आकाशका अवगाहन, वायुका अन्तर्नीहार अर्थात् पुद्गल परमाणुओंका संचय करना और धूपकी उष्णता इन सब गुणोंके आश्रयसे... ॥१८०॥

> गुणानाश्रित्य सामग्रीं प्राप्य द्रव्यादिलक्षणाम् । संरूढान्यङ्कुरावस्थाप्रवृद्धान्यकणिशानि तु ॥ १८१ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूपी सामग्रीको पाकर खेतोंमें अनेक अंकुर पैदा हुए, वे अंकुर पास-पास जमे हुए थे तथापि अंकुर अवस्थासे लेकर फल लगने तक निरन्तर धीरे-धीरे बढ़ते जाते थे ॥१८१॥

> शनैः शनैर्विवृद्धानि क्षेत्रेष्वविरलं तदा । सस्यान्यकृष्टपच्यानि नानाभेदानि सर्वतः ॥ १८२ ॥

इसी प्रकार और भी अनेक प्रकारके धान्य बिना बोये ही सब ओर पैदा हुए थे ॥१८२॥

> प्रजानां पुण्यसद्भावात् कालादपि च तादृशात् । अवर्तन्त यथाकालं फलदायीनि सर्वतः ॥ १८३ ॥

वे सब धान्य प्रजाके पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मके उदयसे अथवा उस समयके प्रभावसे ही समय पाकर पक गये तथा फल देनेके योग्य हो गये ॥१८३॥

> पदे पितृव्यतिक्रान्तावपत्यानीव तद्गुणाः । कल्पवृक्षोचितं स्थानं तान्यध्यासिषत स्फुटम् ॥ १८४ ॥

जिस प्रकार पिताके मरनेपर पुत्र उनके स्थानपर आरूढ़ होता है उसी प्रकार कल्पवृक्षोंका अभाव होनेपर वे धान्य उनके स्थानपर आरूढ़ हुए थे ॥१८४॥

> नातिवृष्टिरदृष्टा वा तदासीत् किन्तु मध्यमा । वृष्टिस्तत्सर्वधान्यानां फलावाप्तिरविप्लुता ॥ १८५ ॥

उस समय न तो अधिक वृष्टि होती थी और न कम, किन्तु मध्यम दर्जेकी होती थी इसलिए सब धान्य बिना किसी विघ्नबाधाके फलसहित हो गये थे ॥१८५॥

> षाष्टिकाः कलमव्रीहियवगोधूमकङ्गवः । श्यामाकाः कोद्रवाश्चापि नीवारवरकास्तथा ॥ १८६ ॥

साठिया चावल, कलम, व्रीहि, जौ, गेहूँ, कांगनी, सावाँ, कोदों, नीवार (तिन्नी), वरक (बटाने)... ॥१८६॥

> तिलातसीमसूरैलाः ससर्षपधान्यजीरकाः । द्विदलानि मुद्गमाषाद्यं राजमाषनिष्पावकाणकाः ॥ १८७ ॥

तिल, अलसी, मसूर, सरसों, धनिया, जीरा, मूँग, उड़द, अरहर, राजमाष (लोबिया), निष्पाव (मोठ), चना... ॥ १८७॥

> कुलत्थित्रिपुटौ चेति धान्यभेदास्त्वमी मताः । सकुसुम्भाः सकर्पासाः प्रजाजीवनहेतवः ॥ १८८ ॥

कुलथी और तेवरा आदि अनेक प्रकारके धान्य तथा कुसुम्भ (जिससे लाल रंग बनता है) और कपास आदि प्रजाकी आजीविकाके हेतु उत्पन्न हुए थे ॥१८८॥

> उपभोग्येषु धान्येषु सत्स्वप्येपु सदा प्रजाः । तदुपायमजानानाः स्वतोऽभून्मुमुहुर्मुहुः ॥ १८९ ॥

इस प्रकार उपभोगके योग्य इन धान्योंके मौजूद रहते हुए भी उनके उपयोगको नहीं जाननेवाली प्रजा बार-बार मोहको प्राप्त होती थी--वह उन्हें देखकर बार-बार भ्रममें पड़ जाती थी ॥१८९॥

> कल्पद्रुमेषु कार्त्स्न्येन प्रलीनेषु निराश्रयाः । युगस्य परिवर्तेऽस्मिन्नभूवन्नाकुलाः प्रजाः ॥ १९० ॥

इस युग परिवर्तनके समय कल्पवृक्ष बिलकुल ही नष्ट हो गये थे इसलिए प्रजाजन निराश्रय होकर अत्यन्त व्याकुल होने लगे ॥१९०॥

> तीव्राया मशनायाया मुदीर्णाहारसंज्ञकाः । जीवनोपायसंशीति व्याकुलीकृतचेतसः ॥ १९१ ॥

उस समय आहार संज्ञाके उदयसे उन्हें तीव्र भूख लग रही थी परन्तु उसके शान्त करनेका कुछ उपाय नहीं जानते थे इसलिए जीवित रहनेके सन्देहसे उनके चित्त अत्यन्त व्याकुल हो उठे ॥१९१॥

> युगमुख्यमुपासीना नाभिं मनुमपश्चिमम् । ते तं विज्ञापयामासुरिति दीनगिरो नराः ॥ १९२ ॥

अन्तमें वे सब लोग उस युगके मुख्य नायक अन्तिम कुलकर श्री नाभिराजके पास जाकर बड़ी दीनतासे इस प्रकार प्रार्थना करने लगे ॥१९२॥

> अथाद्य कथमेवाद्य नाथानाथा विना द्रुमैः । कल्पदायिभिराकल्पमविस्मार्यैरपुण्यकाः ॥ १९३ ॥

हे नाथ! मनवांछित फल देनेवाले तथा कल्पान्त काल तक नहीं भुलाये जानेके योग्य कल्पवृक्षोंके बिना अब हम पुण्यहीन अनाथ लोग किस प्रकार जीवित रहें? ॥१९३॥

> इमे केचिदितो देव तरुभेदाः समुत्थिताः । शाखाभिः फलनम्राभिराह्वयन्तीव नोऽधुना ॥ १९४ ॥

हे देव! इस ओर ये अनेक वृक्ष उत्पन्न हुए हैं जो कि फलोंके बोझसे झुकी हुई अपनी शाखाओं-द्वारा इस समय मानो हम लोगोंको बुला ही रहे हों ॥१९४॥

> किमिमे परिहर्तव्याः किंवा भोग्यफला इमे । फलेग्रहीनिमेऽस्मान् वा निगृह्णन्त्यनुपान्ति वा ॥ १९५ ॥

क्या ये वृक्ष छोड़ने योग्य हैं? अथवा इनके फल सेवन करने योग्य हैं? यदि हम इनके फल ग्रहण करें तो ये हमें मारेंगे या हमारी रक्षा करेंगे? ॥१९५॥

> अमीषामुपशल्येषु केऽप्यमी तृणगुल्मकाः । फलनम्रशिखा भान्ति विश्वदिक्कमितोऽभितः ॥ १९६ ॥

तथा इन वृक्षोंके समीप ही सब दिशाओंमें ये कोई छोटी-छोटी झाड़ियाँ जम रही हैं, उनकी शिखाएँ फलोंके भारसे झुक रही हैं जिससे ये अत्यन्त शोभायमान हो रही हैं ॥१९६॥

> को ह्येषांमुपयोगः स्याद् विनियोज्याः कथं नु वा । किमिमे स्वैः संग्राह्या न वेतीदं ब्रूहि नः ॥ १९७ ॥

इनका क्या उपयोग है? इन्हें किस प्रकार उपयोगमें लाना चाहिए? और इच्छानुसार इनका संग्रह किया जा सकता है अथवा नहीं? हे स्वामिन्! आज यह सब बातें हमसे कहिए ॥१९७॥

> सर्वं देव सर्वमप्येतद् वयं नाभेरनभिज्ञकाः । पृच्छामो वयमद्यार्तास्ततो नः प्रसीद नः ॥ १९८ ॥

हे देव नाभिराज! आप यह सब जानते हैं और हम लोग अनभिज्ञ हैं--मूर्ख हैं, इसलिए दुखी होकर आपसे पूछ रहे हैं। अतः हम लोगोंपर प्रसन्न होइए और कहिए ॥१९८॥

> इतिकर्तव्यतामूढा नतिभीतास्तदार्यकान् । नाभिन भेतव्यमित्युक्त्वा ब्याजहार पुनः स तान् ॥ १९९ ॥

इस प्रकार जो आर्य पुरुष हमें क्या करना चाहिए इस विषयमें मूढ़ थे तथा अत्यन्त घबराये हुए थे, 'डरो मत' ऐसा कहकर महाराज नाभिराज नीचे लिखे वाक्य कहने लगे ॥१९९॥

> इमे कल्पतरूच्छेदे द्रुमाः पक्वफलानताः । युष्मानद्यानुगृह्णन्ति पुरा कल्पद्रुमा यथा ॥ २०० ॥

चूँकि अब कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं इसलिए पके हुए फलोंके भारसे नम्र हुए ये साधारण वृक्ष ही अब तुम्हारा वैसा उपकार करेंगे जैसा कि पहले कल्पवृक्ष करते थे ॥२००॥

> असंशयं भोग्या एते न कार्या भ्रान्तिरत्र वः । अमी तु परिहर्तव्या दूरादेव विषद्रुमाः ॥ २०१ ॥

हे भद्र पुरुषो! ये वृक्ष तुम्हारे भोग्य हैं इस विषयमें तुम्हें कोई संशय नहीं करना चाहिए। परन्तु (हाथका इशारा कर) इन विषवृक्षोंको दूरसे ही छोड़ देना चाहिए ॥२०१॥

> काश्चन नामौषधयः स्तम्बकर्यादयो मताः । संस्कार्यं भोज्यमन्नाद्यं व्यञ्जनाद्यैः सुसंस्कृतम् ॥ २०२ ॥

ये स्तम्बकारी आदि कोई ओषधियाँ हैं, इनके मसाले आदिके साथ पकाये गये अन्न आदि खाने योग्य पदार्थ अत्यन्त स्वादिष्ट हो जाते हैं ॥२०२॥

> स्वभावमधुराश्चैते दीर्घा दीर्घा इक्षुदण्डकाः । रसीकृत्य प्रपातव्या दन्तैर्यन्त्रैश्च पीडिताः ॥ २०३ ॥

और ये स्वभावसे ही मीठे तथा लम्बे-लम्बे पौंडे और ईखके पेड़ लगे हुए हैं। इन्हें दाँतोंसे अथवा यन्त्रोंसे पेरकर इनका रस निकालकर पीना चाहिए ॥२०३॥

गजकुम्भस्थले तेन तदा निर्वर्तितानि च । पात्राणि विविधान्येषां स्थाल्यादीनि दयालुना ॥ २०४ ॥

उन दयालु महाराज नाभिराजने थाली आदि अनेक प्रकारके बरतन हाथीके गण्डस्थलपर मिट्टी-द्वारा बनाकर उन आर्य पुरुषोंको दिये तथा इसी प्रकार बनानेका उपदेश दिया ॥२०४॥

इत्याद्युपायकथनैः प्रीताः सत्कृत्य तं मनुम् । भेजुस्तद्दर्शितां वृत्तिं प्रजाः कालोचितां तदा ॥ २०५ ॥

इस प्रकार महाराज नाभिराज-द्वारा बताये हुए उपायोंसे प्रजा बहुत ही प्रसन्न हुई। उसने नाभिराज मनुका बहुत ही सत्कार किया तथा उन्होंने उस कालके योग्य जिस वृत्तिका उपदेश दिया था वह उसके अनुसार अपना कार्य करने लगी ॥२०५॥

प्रजानां हितकृद् भूत्वा भोगभूमिस्थितिच्युतौ । नाभिराजस्तदोत्पन्नो भेजे कल्पतरुस्थितिम् ॥ २०६ ॥

उस समय यहाँ भोगभूमिकी व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी, प्रजाका हित करनेवाले केवल नाभिराज ही उत्पन्न हुए थे इसलिए वे ही कल्पवृक्षकी स्थितिको प्राप्त हुए थे अर्थात् कल्पवृक्षके समान प्रजाका हित करते थे ॥२०६॥

पूर्वं व्यावर्ण्यन्ते ये ये प्रतिश्रुत्यादयः क्रमात् । पुरा ते बभूवुस्ते विदेहेषु महाशयाः ॥ २०७ ॥

ऊपर प्रतिश्रुतिको आदि लेकर नाभिराज पर्यन्त जिन चौदह मनुओंका क्रम-क्रमसे वर्णन किया है वे सब अपने पूर्वभवमें विदेह क्षेत्रोंमें उच्च कुलीन महापुरुष थे ॥२०७॥

पुण्योत्कर्षैः पात्रदानाद्यैरनुष्ठानैर्यथोचितैः । सम्यक्त्वग्रहणात् पूर्वं बद्धावाश्चर्यममुषाम् ॥ २०८ ॥

उन्होंने उस भवमें पुण्य बढ़ानेवाले पात्रदान तथा यथायोग्य व्रताचरणरूपी अनुष्ठानोंके द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पहले ही भोगभूमिकी आयु बाँध ली थी... ॥२०८॥

पश्चात् क्षायिकसम्यक्त्वमुपादाय जिनान्तिके । अश्रोत्पद्यन्त स्वायुरन्ते ते श्रुतपूर्विणः ॥ २०९ ॥

बादमें श्री जिनेन्द्रके समीप रहनेसे उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा श्रुतज्ञानकी प्राप्ति हुई थी और जिसके फलस्वरूप आयुके अन्तमें मरकर वे इस भरतक्षेत्रमें उत्पन्न हुए थे ॥२०९॥

> इमान् नियोगानाध्याय प्रजानामित्युपादिशन् । केचिज्जातिस्मरास्तेषु केचिच्चावधिलोचनाः ॥ २१० ॥

इन चौदहमें-से कितने ही कुलकरोंको जातिस्मरण था और कितने ही अवधिज्ञानरूपी नेत्रके धारक थे इसलिए उन्होंने विचार कर प्रजाके लिए ऊपर कहे गये नियोगों-कार्योंका उपदेश दिया था ॥२१०॥

> प्रजानां जीवनोपायमननान्मनवो मताः । आर्याणां कुलसंस्त्यायकृतेः कुलकरा इमे ॥ २११ ॥

ये प्रजाके जीवनका उपाय जाननेसे 'मनु' तथा आर्य पुरुषोंको कुलकी मर्यादासे रहनेका उपदेश देनेसे 'कुलकर' कहलाते थे ॥२११॥

> कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति । युगादिपुरुषाः प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णवः ॥ २१२ ॥

इन्होंने अनेक वंश स्थापित किये थे इसलिए 'कुलधर' कहलाते थे तथा युगके आदिमें होनेसे ये 'युगादिपुरुष' भी कहे जाते थे ॥२१२॥

> वृषभोऽप्यभवत् तीर्थकृच्चैव कुलकृन्मनुः । भरतश्चक्रवर्त्येव कुलभृच्चैव वर्णितः ॥ २१३ ॥

भगवान् वृषभदेव तीर्थंकर भी थे और कुलकर भी माने गये थे। इसी प्रकार भरत महाराज चक्रवर्ती भी थे और कुलधर भी कहलाते थे ॥२१३॥

> आद्यैः पञ्चभिरार्याणां कुलकृद्भिः कृतागसाम् । हाकारलक्षणो दण्डः समवस्थापितस्तदा ॥ २१४ ॥

उन कुलकरोंमें-से आदिके पाँच कुलकरोंने अपराधी मनुष्योंके लिए 'हा!' इस दण्डकी व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है कि तुमने ऐसा अपराध किया ॥२१४॥

हामाकारश्च पञ्चोक्तैः कुलकृद्भिर्निरूपितः । पञ्चभिस्तु ततः शेषैर्हङ्माधिक्रारलक्षणः ॥ २१५ ॥

उनके आगेके पाँच कुलकरोंने 'हा' और 'मा' इन दो प्रकारके दण्डोंकी व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है जो तुमने ऐसा अपराध किया, अब आगे ऐसा नहीं करना। शेष कुलकरोंने 'हा', 'मा' और 'धिक्' इन तीन प्रकारके दण्डोंकी व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है, अब ऐसा नहीं करना और तुम्हें धिक्कार है जो रोकनेपर भी अपराध करते हो ॥ २१५॥

शरीरदण्डनं चैव वधबन्धादिलक्षणम् । नृणां प्रवृद्धदोषाणां भरतेन नियोजितम् ॥ २१६ ॥

भरत चक्रवर्तीके समय लोग अधिक दोष या अपराध करने लगे थे इसलिए उन्होंने वध, बन्धन आदि शारीरिक दण्ड देनेकी भी रीति चलायी थी ॥२१६॥

यदायुरुक्तमेतेषाममममादिप्रसंख्यया । क्रियते तद्विनिश्चित्यै परिभाषोपवर्णनम् ॥ २१७ ॥

इन कुलकरोंकी आयु ऊपर अमम आदिकी संख्या-द्वारा बतलायी गयी है इसलिए अब उनका निश्चय करनेके लिए उनकी परिभाषाओंका निरूपण करते हैं ॥२१७॥

पूर्वाङ्गं वर्षलक्षाणामशीतिश्चतुरोत्तरा । तद्वर्गितं भवेत् पूर्वं तत्कोटी गुणने भवेत् ॥ २१८ ॥

चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वांग होता है। चौरासी लाखका वर्ग करने अर्थात् चौरासी लाखसे गुणा करनेसे जो संख्या आती है उसे पूर्व कहते हैं (८४,००,००० × ८४,००,००० = ७०५६०००००००००५ वर्ष)। इस संख्याको एक करोड़से गुणा करनेसे जो लब्ध आवे उतना एक पूर्व कोटि कहलाता है ॥२१८॥

पूर्वं चतुरशीतिघ्नं पूर्वाङ्गं परिभाष्यते । पूर्वाङ्गताडितं चापि पर्वाङ्गं पर्वमिष्यते ॥ २१९ ॥

पूर्वांगकी संख्यामें चौरासीका गुणा करनेपर जो लब्ध हो उसे पर्व कहते हैं तथा पर्वांगमें पूर्वांग अर्थात् चौरासी लाखका गुणा करनेसे पर्व कहलाता है ॥२१९॥

गुणाकारविधिः सर्वत्र योजनीयो यथाक्रमम् । उत्तरेष्वपि संख्यानविकल्पेषु निराकुलम् ॥ २२० ॥

इसके आगे जो नयुतांग, नयुत आदि संख्याएँ कही हैं उनके लिए भी क्रमसे यही गुणाकार करना चाहिए। भावार्थ-- पर्वको चौरासीसे गुणा करनेपर नयुतांग, नयुतांगको चौरासी लाखसे गुणा करनेपर नयुत, नयुतको चौरासीसे गुणा करनेपर कुमुदांग, कुमुदांगको चौरासी लाखसे गुणा करनेपर कुमुद, कुमुदको चौरासीसे गुणा करनेपर पद्मांग, और पद्मांगको चौरासी लाखसे गुणा करनेपर पद्म, पद्मको चौरासीसे गुणा करनेपर नलिनांग, और नलिनांगको चौरासी लाखसे गुणा करनेपर नलिन होता है। इसी प्रकार गुणा करनेपर आगेकी संख्याओंका प्रमाण निकलता है ॥२२०॥

तेषां संख्याप्रभेदानां नामानीमान्यनुक्रमात् । कीर्त्यन्तेऽनादिसिद्धान्तपदरूढानि यानि वै ॥ २२१ ॥

अब क्रमसे उन संख्याके भेदोंके नाम कहे जाते हैं जो कि अनादिनिधन जैनागममें रूढ़ हैं ॥२२१॥

पूर्वाङ्गं च तथा पूर्वं पर्वाङ्गं पर्वसंज्ञकम् । नयुताङ्गं परं तस्मान्नयुतं च ततः परम् ॥ २२२ ॥

पूर्वांग, पूर्व, पर्वांग, पर्व, नयुतांग, नयुत... ॥२२२॥

कुमुदाङ्गमतो विद्धि कुमुदाख्यमतः परम् । पद्माङ्गं च ततः पद्मं नलिनाङ्गमतोऽपि च ॥ २२३ ॥

कुमुदांग, कुमुद, पद्मांग, पद्म, नलिनांग... ॥२२३॥

नलिनं कमलत्वं च तथान्यत् कमलं विदुः । त्रुट्यङ्गं त्रुटितं चान्यदटटाङ्गमथाटटम् ॥ २२४ ॥

नलिन, कमलांग, कमल, त्रुट्यंग, त्रुटित, अटटांग, अटट... ॥२२४॥

अममाङ्गमतो ज्ञेयमममाख्यमतः परम् । हाहाङ्गं च तथा हाहा हूहूहाङ्गं प्रतीयताम् ॥ २२५ ॥

अममांग, अमम, हाहांग, हाहा, हूहूहांग, हूहू... ॥२२५॥

> लताङ्गं च लताख्यं च महालताङ्गमेव च । महालता शिरःप्रकम्पितं चान्यत्ततो हस्तप्रहेलितम् ॥ २२६ ॥

लतांग, लता, महालतांग, महालता, शिरःप्रकम्पित, हस्तप्रहेलित... ॥२२६॥

> अचलात्मकमित्येव प्रकारः कालपर्ययः । संख्येयो गणनातीतं विदुः केवलिनः परम् ॥ २२७ ॥

और अचल ये सब उक्त संख्याके नाम हैं जो कि कालद्रव्यकी पर्याय हैं। यह सब संख्येय हैं-संख्यातके भेद हैं, इसके आगेका संख्यासे रहित है-असंख्यात है ॥२२७॥

> यथासंभवमेतेषु मनूनामायुरुच्यताम् । संख्याज्ञानमिदं विद्वान् सुधीः पौराणिको भवेत् ॥ २२८ ॥

ऊपर मनुओं-कुलकरोंकी जो आयु कही है उसे इन भेदोंमें ही यथासंभव समझ लेना चाहिए। जो बुद्धिमान् पुरुष इस संख्याज्ञानको जानता है वही पौराणिक-पुराणका जानकार विद्वान् हो सकता है ॥२२८॥

> आद्यः प्रतिश्रुतिः प्रोक्तः द्वितीयः सन्मतिर्मतः । तृतीयः क्षेमकृन्नाम्ना चतुर्थः क्षेमधर्मनुः ॥ २२९ ॥

ऊपर जिन कुलकरोंका वर्णन कर चुके हैं यथाक्रमसे उनके नाम इस प्रकार हैं--पहले प्रतिश्रुति, दूसरे सन्मति, तीसरे क्षेमंकर, चौथे क्षेमंधर... ॥२२९॥

> सीमंकरस्ततः ज्ञेयः षष्ठः सीमंधरिष्यते । ततो विमलवाहनाख्यश्चक्षुष्मानष्टमो मतः ॥ २३० ॥

पाँचवें सीमंकर, छठे सीमंधर, सातवें विमलवाहन, आठवें चक्षुष्मान्... ॥२३०॥

> यशस्वान्नवमस्तस्मादभिचन्द्रोऽप्यनन्तरः । चन्द्राभोऽस्मात् परं ज्ञेयो मरुदेवस्ततः परम् ॥ २३१ ॥

नौवें यशस्वान्, दसवें अभिचन्द्र, ग्यारहवें चन्द्राभ, बारहवें मरुद्देव... ॥२३१॥

प्रसेनजित् परस्तस्मान्नाभिराजश्चतुर्दशः । वृषभो भरतेशश्च तीर्थचक्रभृतौ स्मृतौ ॥ २३२ ॥

तेरहवें प्रसेनजित् और चौदहवें नाभिराज। इनके सिवाय भगवान् वृषभदेव तीर्थंकर भी थे और मनु भी तथा भरत चक्रवर्ती भी थे और मनु भी ॥२३२॥

प्रतिश्रुतिः प्रत्यश्रृणोत् प्रजानां चन्द्राकसंदर्शनभीतिभाजाम् । स सन्मतिस्तारकिताभ्रमागंसंदर्शने भीतिमपाचकार ॥ २३३ ॥

अब संक्षेपमें उन कुलकरोंके कार्योंका वर्णन करता हूँ--प्रतिश्रुतिने सूर्य चन्द्रमाके देखनेसे भयभीत हुए मनुष्योंके भयको दूर किया था, तारोंसे भरे हुए आकाशके देखनेसे लोगोंको जो भय हुआ था उसे सन्मतिने दूर किया था ॥ २३३॥

क्षेमंकरः क्षेमकृदार्यवर्गे क्षेमंधरः क्षेमकृतेः प्रजासु । सीमंकरः सीमकृतान्नृणां सीमंधरः सीमकृतेस्तरूणाम् ॥ २३४ ॥

क्षेमंकरने प्रजामें क्षेम-कल्याणका प्रचार किया था, क्षेमंधरने कल्याण धारण किया था, सीमंकरने आर्य पुरुषोंकी सीमा नियत की थी, सीमंधरने कल्पवृक्षोंकी सीमा निश्चित की थी ॥२३४॥

वाहोपदेशाद् विमलादिवाहः पुत्राननालोकनसांप्रदायात् । चक्षुष्मदार्यो मनुरग्रगोऽभूद् यशस्वदाख्यस्तदभिष्टवेन ॥ २३५ ॥

विमलवाहनने हाथी आदिपर सवारी करनेका उपदेश दिया था, सबसे अग्रसर रहनेवाले चक्षुष्मान्ने पुत्रके मुख देखनेकी परम्परा चलायी थी, यशस्वानका सब कोई यशोगान करते थे ॥२३५॥

सोऽक्रीडयच्चन्द्रमसाभिचन्द्रस्त्वङ्के सुतान् कियदप्यजीविः । मरुत्सुरोऽभूच्चिरजीवनाप्तैः प्रसेनजिद् गर्भमलापहारात् ॥ २३६ ॥

अभिचन्द्रने बालकोंकी चन्द्रमाके साथ क्रीड़ा करानेका उपदेश दिया था, चन्द्राभके समय माता-पिता अपने पुत्रोंके साथ कुछ दिनों तक जीवित रहने लगे थे, मरुद्देवके समय माता-पिता अपने पुत्रोंके साथ बहुत दिनों तक जीवित रहने लगे थे, प्रसेनजित्ने गर्भके ऊपर रहनेवाले जरायु रूपी मलके हटानेका उपदेश दिया था ॥२३६॥

> नाभिश्च तन्नाभिनिकर्तनेन प्रजासमाश्वासनहेतुरासीत् । सोऽजीजनत् तं भुवनैकनाथं महामनाः सूनुमनुमादिराजम् ॥ २३७ ॥

और नाभिराजने नाभि-नाल काटनेका उपदेश देकर प्रजाको आश्वासन दिया था। उन नाभिराजने त्रिभुवननाथ आदिराज ऋषभदेवको उत्पन्न किया था ॥२३७॥

> एवं युगादिपुरुषोद्भवमादरेण तस्मिन् निरूपयति गौतमसद्गणेशे । सा साधुसंसद्खिला सह मागधेन राज्ञा प्रमोदमचिरात् परमाजगाम ॥ २३८ ॥

इस प्रकार जब गौतम गणधरने बड़े आदरके साथ युगके आदिपुरुषों-कुलकरोंकी उत्पत्तिका कथन किया तब वह मुनियोंकी समस्त सभा राजा श्रेणिकके साथ परम आनन्दको प्राप्त हुई ॥२३८॥

> सकलमनुनियोगात् कालभेदं च षोढा परिषदि जिनसेनाचार्यमुख्यो निरूप्य । तदनु पुरुनाम्नः पुण्यमाद्यं पुराणं कथयितुमुदियाय श्रेणिकाकर्णयेति ॥ २३९ ॥

उस समय महावीर स्वामीकी शिष्यपरम्पराके सर्वश्रेष्ठ आचार्य गौतम स्वामीने कालके छह भेदोंका तथा कुलकरोंके नियोगोंका निरूपण कर भगवान् आदिनाथका पवित्र पुराण कहनेके लिए तत्पर हुए और मगधेश्वरसे बोले कि हे श्रेणिक! सुनो ॥२३९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे पीठिकावर्णनं नाम तृतीयं पर्व ॥३॥

आदिपुराण (भाषा-वचनिका सहित)

चतुर्थ पर्व (लोकाख्यान एवं विदेह-गन्धिलदेश वर्णनः श्लोक १-८८)

> यस्त्रिपर्वीमिमां पुण्यामधीते मतिमान् पुमान् । सोऽधिगम्य पुराणार्थमिहामुत्र च नन्दति ॥ १ ॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य ऊपर कहे हुए पवित्र तीनों पर्वोंका अध्ययन करता है वह सम्पूर्ण पुराणका अर्थ समझकर इस लोक तथा परलोकमें आनन्दको प्राप्त होता है ॥१॥

> अथास्य महतः पीठिकामिमाम् । प्रतिष्ठाप्य ततो वक्ष्ये चरितं ऋषभेशिनः ॥ २ ॥

इस प्रकार महापुराणकी पीठिका कहकर अब श्री वृषभदेव स्वामीका चरित कहूँगा ॥२॥

> लोको देशः पुरं राज्यं तीर्थं दानतपोऽन्वयम् । पुराणेष्वष्टधाख्येयं गतयः फलमित्यपि ॥ ३ ॥

पुराणोंमें लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान, तप, गति और फल इन आठ बातोंका वर्णन अवश्य ही करना चाहिए ॥३॥

> लोकोद्देशनिरुक्त्यादिवर्णनं सविस्तरम् । लोकाख्यानं तदाम्नातं विशोधितदिगन्तरम् ॥ ४ ॥

लोकका नाम कहना, उसकी व्युत्पत्ति बतलाना, प्रत्येक दिशा तथा उसके अन्तरालोंकी लम्बाई, चौड़ाई आदि बतलाना इनके सिवाय और भी अनेक बातोंका विस्तारके साथ वर्णन करना लोकाख्यान कहलाता है ॥४॥

> तदेकदेशदेशादिद्वीपाब्ध्यादिप्रपञ्चनम् । देशाख्यानं तु तज्ज्ञेयं सद्भिः संज्ञानलोचनैः ॥ ५ ॥

लोकके किसी एक भागमें देश, पहाड़, द्वीप तथा समुद्र आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेको जानकार श्रेष्ठ पुरुष देशाख्यान कहते हैं ॥५॥

> भारतादिषु वर्षेषु राजधानीप्ररूपणम् । पुराख्यानमितीष्टं तद् पुरातनविदां मते ॥ ६ ॥

भारतवर्ष आदि क्षेत्रोंमें राजधानीका वर्णन करना, पुराण जाननेवाले आचार्योंके मतमें पुराख्यान अर्थात् नगरवर्णन कहलाता है ॥६॥

> अमुष्मिन्नधिदेशोऽयं नगरं चेति वर्ण्यते । आख्यानं यत्तदाख्यातं राज्याख्यानं जिनागमे ॥ ७ ॥

उस देशका यह भाग अमुक राजाके आधीन है अथवा वह नगर अमुक राजाका है इत्यादि वर्णन करना जैन आगममें राज्याख्यान कहा गया है ॥७॥

> संसाराब्धेरपारस्य तरणे तीर्थमिष्यते । चेष्टितं जिननाथानां तस्योक्तिस्तीर्थसंकथा ॥ ८ ॥

जो इस अपार संसार समुद्रसे पार करे उसे तीर्थ कहते हैं, ऐसा तीर्थ जिनेन्द्र भगवान्का चरित्र ही हो सकता है, अतः उसके कथन करनेको तीर्थाख्यान कहते हैं ॥८॥

> यत्तपः स्यात्तयोर्दानमनीदृग्गुणोदयम् । कथनं तादृशस्यास्य तपोदानकथोच्यते ॥ ९ ॥

जिस प्रकारका तप और दान करनेसे जीवोंको अनुपम फलकी प्राप्ति होती हो उस प्रकारके तप तथा दानका कथन करना तपदानकथा कहलाती है ॥९॥

> नरकादिप्रभेदेन चतस्रो गतयो मताः । तासां संकीर्तनं यद्धि गत्याख्यानं तदिष्यते ॥ १० ॥

नरक आदिके भेदसे गतियोंके चार भेद माने गये हैं, उनके कथन करनेको गत्याख्यान कहते हैं ॥१०॥

> पुण्यपापफलावाप्तिर्जन्तूनां यादृशी भवेत् । तदाख्यानं फलाख्यानं यावन्निःश्रेयसावधि ॥ ११ ॥

संसारी जीवोंको जैसा कुछ पुण्य और पापका फल प्राप्त होता है उसका मोक्षप्राप्ति पर्यन्त वर्णन करना फलाख्यान कहलाता है ॥११॥

> लोकाख्यानं यथोद्देशमिह तावत् प्रतन्यते । कथावसरमन्वेषां ततो वर्णयिष्यते ॥ १२ ॥

ऊपर कहे हुए आठ आख्यानोंमें-से यहाँ क्रमानुसार सबसे पहले लोकाख्यानका वर्णन किया जाता है। अन्य सात आख्यानोंका वर्णन भी समयानुसार किया जायेगा ॥१२॥

> लोक्यन्तेऽस्मिन्निरीक्ष्यन्ते जीवाद्यर्थाः सपर्ययाः । इति लोकस्य लोकत्वं निराहुस्तत्त्वदर्शिनः ॥ १३ ॥

जिसमें जीवादि पदार्थ अपनी-अपनी पर्यायोंसहित देखे जायें उसे लोक कहते हैं। तत्त्वोंके जानकार आचार्योंने लोकका यही स्वरूप बतलाया है [लोक्यन्ते जीवादिपदार्था यस्मिन् स लोकः] ॥१३॥

> निवसन्त्यस्मिन् जीवादिद्रव्यविस्तराः । इति वा निरुक्तं लोकाख्यानमन्वर्थसंज्ञया ॥ १४ ॥

जहाँ जीवादि द्रव्योंका विस्तार निवास करता हो उसे क्षेत्र कहते हैं। सार्थक नाम होनेके कारण विद्वान् पुरुष लोकको ही क्षेत्र कहते हैं ॥१४॥

> नित्यश्चाकृत्रिमो ज्ञेयो जीवाद्यर्थावगाहकः । लोकः स्वाभावनिर्वृत्तः सोऽनन्ताकाशमध्यगः ॥ १५ ॥

जीवादि पदार्थोंको अवगाह देनेवाला यह लोक अकृत्रिम है--किसीका बनाया हुआ नहीं है, नित्य है, इसका कभी सर्वथा नाश नहीं होता, अपने-आप ही बना हुआ है और अनन्त आकाशके ठीक मध्य भागमें स्थित है ॥१५॥

> स्रष्टास्य जगतः कश्चिदस्तीत्येके जगुर्जनाः । तद्दुर्णयनिरासार्थं परीक्ष्यते ॥ १६ ॥

कितने ही मूर्ख लोग कहते हैं कि इस लोकका बनानेवाला कोई-न-कोई अवश्य है। ऐसे लोगोंका दुराग्रह दूर करनेके लिए यहाँ सब-प्रथम सृष्टिवादकी ही परीक्षा की जाती है ॥१६॥

> ईश्वरेण सर्गबहिर्भूतः स्थिता स सृजति तज्जगत् । निराधारश्च कूटस्थः सृष्ट्वा क्वेदं निवेशयेत् ॥ १७ ॥

यदि यह मान लिया जाये कि इस लोकका कोई बनानेवाला है तो यह विचार करना चाहिए कि वह लोकके पहले--लोककी रचना करनेके पूर्व लोकसे बाहर कहाँ रहता था? किस जगह बैठकर लोककी रचना करता था? यदि यह कहो कि वह आधाररहित और नित्य है तो उसने इस सृष्टिको कैसे बनाया और बनाकर कहाँ रखा? ॥१७॥

> एकस्य विश्वात्मकस्यास्य जगतो घटने वपुः । वितनोश्च न तन्त्वादिमूर्त्तिकमुत्पत्तुमहति ॥ १८ ॥

दूसरी बात यह है कि आपने उस ईश्वरको एक तथा शरीररहित माना है इससे भी वह सृष्टिका रचयिता नहीं हो सकता क्योंकि एक ही ईश्वर अनेक रूप संसारकी रचना करनेमें समर्थ कैसे हो सकता है? तथा शरीररहित अमूर्तिक ईश्वरसे मूर्तिक वस्तुओंकी रचना कैसे हो सकती है? क्योंकि लोकमें यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मूर्तिक वस्तुओंकी रचना मूर्तिक पुरुषों-द्वारा ही होती है जैसे कि मूर्तिक कुम्हारसे मूर्तिक घटकी ही रचना होती है ॥१८॥

> कथं वा स सृजेल्लोकं विना करणसामग्रीम् । तानि कृत्वा सृजेल्लोकमिति चेदनवस्थितिः ॥ १९ ॥

एक बात यह भी है--जब कि संसारके समस्त पदार्थ कारण-सामग्रीके बिना नहीं बनाये जा सकते तब ईश्वर उसके बिना ही लोकको कैसे बना सकेगा? यदि यह कहा कि वह पहले कारण-सामग्रीको बना लेता है बादमें लोकको बनाता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आता है। कारण-सामग्रीको बनानेके लिए भी कारण-सामग्रीकी आवश्यकता होती है, यदि ईश्वर उस कारण-सामग्रीको भी पहले बनाता है तो उसे द्वितीय कारण-सामग्रीके योग्य तृतीय कारण-सामग्रीको उसके पहले भी बनाना पड़ेगा। और इस तरह उस परिपाटीका कभी अन्त नहीं होगा ॥१९॥

> तेषां स्वभावसिद्धत्वे लोकेऽप्येतत् प्रसज्यते । किं वा तन्निर्मातुः सिद्धः स्वतःसिद्धिं समाप्नुयात् ॥ २० ॥

यदि यह कहो कि वह कारण-सामग्री स्वभावसे ही--अपने-आप ही बन जाती है, उसे ईश्वरने नहीं बनाया है तो यह बात लोकमें भी लागू हो सकती है--मानना चाहिए कि लोक भी स्वतः सिद्ध है उसे किसीने नहीं बनाया। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी विचारणीय है कि उस ईश्वरको किसने बनाया? यदि उसे किसीने बनाया है तब तो ऊपर लिखे अनुसार अनवस्था दोष आता है और यदि वह स्वतः सिद्ध है--उसे किसीने भी नहीं बनाया है तो यह लोक भी स्वतः सिद्ध हो सकता है--अपने-आप बन सकता है ॥२०॥

> सृजेद् विनापि सामग्र्या स्वतन्त्रः प्रभुरिच्छया । इतीच्छामात्रमेवैतत् कः श्रद्दध्यादयौक्तिकम् ॥ २१ ॥

यदि यह कहो कि वह ईश्वर स्वतन्त्र है तथा सब कुछ बनानेमें समर्थ है इसलिए सामग्रीके बिना ही इच्छामानसे लोकको बना लेता है तो आपको यह इच्छा मात्र है। इस युक्तिशून्य कथनपर भला कौन बुद्धिमान् मनुष्य विश्वास करेगा? ॥२१॥

> कृतार्थस्य विनिर्मित्सा कथमेवास्य युज्यते । अकृतार्थोऽपि न जगत् कर्तुमीष्टे कुलालवत् ॥ २२ ॥

एक बात यह भी विचार करने योग्य है कि यदि वह ईश्वर कृतकृत्य है--सब मनोरथ पूर्ण कर चुका है--उसे अब कोई कार्य करना बाकी नहीं रह गया है तो उसे सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा ही कैसे होगी? क्योंकि कृतकृत्य पुरुषको किसी प्रकारकी इच्छा नहीं होती। यदि यह कहो कि वह अकृतकृत्य है तो फिर वह लोकको बनानेके लिए समर्थ नहीं हो सकता। जिस प्रकार अकृतकृत्य कुम्हार लोकको नहीं बना सकता ॥२२॥

> अमूर्तो निष्क्रियो व्यापी कथमेष जगत् सृजेत् । न सिसृक्षापि तस्यास्ति विक्रियारहितात्मनः ॥ २३ ॥

एक बात यह भी है कि आपका माना हुआ ईश्वर अमूर्तिक है, निष्क्रिय है, व्यापी है और विकाररहित है सो ऐसा ईश्वर कभी भी लोकको नहीं बना सकता क्योंकि यह ऊपर लिख आये हैं कि अमूर्तिक ईश्वरसे मूर्तिक पदार्थोंकी रचना नहीं हो सकती। किसी कार्यको करनेके लिए हस्त-पादादिके संचालन रूप कोई-न-कोई क्रिया अवश्य करनी पड़ती है परन्तु आपने तो ईश्वरको निष्क्रिय माना है इसलिए वह लोकको नहीं बना सकता। यदि सक्रिय मानो तो वह असंभव है क्योंकि क्रिया उसीके हो सकती है जिसके कि अधिष्ठानसे कुछ क्षेत्र बाकी बचा हो परन्तु आपका ईश्वर तो सर्वत्र व्यापी है वह क्रिया किस प्रकार कर सकेगा? इसके सिवाय ईश्वरको सृष्टि रचनेकी इच्छा भी नहीं हो सकती क्योंकि आपने ईश्वरको निर्विकार माना है। जिसकी आत्मामें राग-द्वेष आदि विकार नहीं हैं उसके इच्छाका उत्पन्न होना असम्भव है ॥२३॥

> तथाप्यस्य जगत्सृष्टेः फलमत्राभिधीयताम् । निष्ठितार्थस्य धर्मादिपुरुषार्थेष्वनर्थिनः ॥ २४ ॥

जब कि ईश्वर कृतकृत्य है तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्षमें किसीकी चाह नहीं रखता तब सृष्टिके बनानेमें इसे क्या फल मिलेगा? इस बातका भी तो विचार करना चाहिए ॥२४॥

प्रयोजनं विनैवार्थात् सृजतोऽनर्थसंगतिः । क्रीडार्थं सृजतीदं चेदस्य स्यान्मोहसन्ततिः ॥ २५ ॥

क्योंकि बिना प्रयोजन केवल स्वभावसे ही सृष्टिकी रचना करता है तो उसकी वह रचना निरर्थक सिद्ध होती है। यदि यह कहो कि उसकी यह क्रीड़ा ही है, क्रीड़ा मात्रसे ही जगत्को बनाता है तब तो दुःखके साथ कहना पड़ेगा कि आपका ईश्वर बड़ा मोही है, बड़ा अज्ञानी है जो कि बालकोंके समान निष्प्रयोजन कार्य करता है ॥२५॥

कर्मभिः शरीरादिदेहिनां घटयेद् यदि । नन्वेवमीश्वरो न स्यात् परतन्त्रः कुविन्दवत् ॥ २६ ॥

यदि यह कहो कि ईश्वर जीवोंके शरीरादिक उनके कर्मोंके अनुसार ही बनाता है अर्थात् जो जैसा कर्म करता है उसके वैसे ही शरीरादिकी रचना करता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार माननेसे आपका ईश्वर ईश्वर ही नहीं ठहरता। उसका कारण यह है कि वह कर्मोंकी अपेक्षा करनेसे जुलाहेकी तरह परतन्त्र हो जायेगा और परतन्त्र होनेसे ईश्वर नहीं रह सकेगा, क्योंकि जिस प्रकार जुलाहा सूत तथा अन्य उपकरणोंके परतन्त्र होता है तथा परतन्त्र होनेसे ईश्वर नहीं कहलाता इसी प्रकार आपका ईश्वर भी कर्मोंके परतन्त्र है तथा परतन्त्र होनेसे ईश्वर नहीं कहला सकता। ईश्वर तो सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हुआ करता है ॥२६॥

निमित्तमात्रमिष्टश्चेत् कार्ये कर्मादिहेतुके । सिद्धोपपाद्येऽसौ व्यर्थं पोष्यते किमकल्पकः ॥ २७ ॥

यदि यह कहो कि जीवोंके कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखादि कार्य अपने-आप होते रहते हैं ईश्वर उनमें निमित्त मात्र हो जाता है तो भी आपका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जब सुख-दुःखादि कार्य कर्मोंके अनुसार अपने-आप सिद्ध हो जाते हैं तब खेद है कि आप व्यर्थ ही ईश्वरकी पुष्टि करते हैं ॥२७॥

वत्सलः प्राणिनामेकः सिञ्जिहीर्षुर्जगत्कथम् । ननु सौख्यमयीं सृष्टिं विदध्यादनुपप्लुताम् ॥ २८ ॥

कदाचित् यह कहा जाये कि ईश्वर बड़ा प्रेमी है--दयालु है इसलिए वह जीवोंका उपकार करनेके लिए ही सृष्टिकी रचना करता है तो फिर उसे इस समस्त सृष्टिको सुखरूप तथा उपद्रवरहित ही बनाना चाहिए था। दयालु होकर भी सृष्टिके बहुभागको दुःखी क्यों बनाता है? ॥२८॥

सृष्टप्रयासवैयर्थ्यं सृजतो जगतः सदा । नात्यन्तमसतः सर्गो युक्तो व्योमारविन्दवत् ॥ २९ ॥

एक बात यह भी है कि सृष्टिके पहले जगत् था या नहीं? यदि था तो फिर स्वतः सिद्ध वस्तुके रचनेमें उसने व्यर्थ परिश्रम क्यों किया? और यदि नहीं था तो उसकी वह रचना क्या करेगा? क्योंकि जो वस्तु आकाशकमलके समान सर्वथा असत् है उसकी कोई रचना नहीं कर सकता ॥२९॥

> नोदासीनः सृजेन्मुक्तः संसारी नाप्यनीश्वरः । सृष्टिवादावतारोऽयं ततश्च न कुतश्चन ॥ ३० ॥

यदि सृष्टिका बनानेवाला ईश्वर मुक्त है--कर्ममल कलंकसे रहित है तो वह उदासीन--राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण जगत्की सृष्टि नहीं कर सकता। और यदि संसारी है--कर्ममल कलंकसे सहित है तो वह हमारे-तुम्हारे समान ही ईश्वर नहीं कहलायेगा तब सृष्टि किस प्रकार करेगा? इस तरह यह सृष्टिवाद किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता ॥ ३०॥

> महानधर्मयोगोऽस्य प्रजाः संहरतः स्वयम् । दुष्टनिग्रहबुद्ध्या चेद् वरं नैव ससर्जिरे ॥ ३१ ॥

जरा इस बातका भी विचार कीजिए कि वह ईश्वर लोकको बनाता है इसलिए लोकके समस्त जीव उसकी सन्तानके समान हुए फिर वही ईश्वर सबका संहार भी करता है इसलिए उसे अपनी सन्तानके नष्ट करनेका भारी पाप लगता है। कदाचित् यह कहो कि दुष्ट जीवोंका निग्रह करनेके लिए ही वह संहार करता है तो उससे अच्छा तो यही है कि वह दुष्ट जीवोंको उत्पन्न ही नहीं करता ॥३१॥

> बुद्धिमद्धेतुसान्निध्ये तनूत्पत्तुमर्हति । विशिष्टसंनिवेशादिप्रतीतेर्नगरादिवत् ॥ ३२ ॥

यदि आप यह कहो--कि 'जीवोंके शरीरादिककी उत्पत्ति किसी बुद्धिमान् कारणसे ही हो सकती है क्योंकि उनकी रचना एक विशेष प्रकारकी है। जिस प्रकार किसी ग्राम आदिकी रचना विशेष प्रकारकी होती है अतः वह किसी बुद्धिमान् कारीगरका बनाया हुआ होता है उसी प्रकार जीवोंके शरीरादिककी रचना भी विशेष प्रकारकी है अतः वे भी किसी बुद्धिमान् कर्ताके बनाये हुए हैं और वह बुद्धिमान् कर्ता ईश्वर ही है!' ॥३२॥

> इत्यसाधनमेवैतदीश्वरास्तित्वसाधने । विशिष्टसन्निवेशादेरन्यथाप्युपपत्तितः ॥ ३३ ॥

परन्तु आपका यह हेतु ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं क्योंकि विशेष रचना आदिकी उत्पत्ति अन्य प्रकारसे भी हो सकती है ॥३३॥

चेतनाधिष्ठितं हीदं कर्मनिर्मातृचेष्टितम् । नन्वक्षसुखदुःखादि वैश्वरूप्याय जायते ॥ ३४ ॥

इस संसारमें शरीर, इन्द्रियाँ, सुख-दुःख आदि जितने भी अनेक प्रकारके पदार्थ देखे जाते हैं उन सबकी उत्पत्ति चेतन-आत्माके साथ सम्बन्ध रखनेवाले कर्मरूपी विधाताके द्वारा ही होती है ॥३४॥

निर्माणकर्मनिर्मातृकौशलापादितोदयम् । अङ्गोपाङ्गादिवैचित्र्यमङ्गिनां संगिरामहे ॥ ३५ ॥

इसलिए हम प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि संसारी जीवोंके अंग-उपांग आदिमें जो विचित्रता पायी जाती है वह सब निर्माण नामक नामकर्मरूपी विधाताकी कुशलतासे ही उत्पन्न होती है ॥३५॥

तदेतत्कर्मवैचित्र्याद् भवन्नानात्मकं जगत् । विश्वकर्माणमात्मानं साधयेत् कर्मसारथिम् ॥ ३६ ॥

इन कर्मोंकी विचित्रतासे अनेकरूपताको प्राप्त हुआ यह लोक ही इस बातको सिद्ध कर देता है कि शरीर, इन्द्रिय आदि अनेक रूप संसारका कर्ता संसारी जीवोंकी आत्माएँ ही हैं और कर्म उनके सहायक हैं। अर्थात् ये संसारी जीव ही अपने कर्मके उदयसे प्रेरित होकर शरीर आदि संसारकी रचना करते हैं ॥३६॥

विधिः स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम् । ईश्वरश्चेति पर्याया विश्रुताः कर्मवेधसः ॥ ३७ ॥

विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत कर्म और ईश्वर ये सब कर्मरूपी ईश्वरके पर्यायवाचक शब्द हैं। इनके सिवाय और कोई लोकका बनानेवाला नहीं है ॥३७॥

स्रष्टारमन्तरेणापि व्योमादीनां च सङ्गरात् । सृष्टिवादी स निर्मत्स्र्यः शिष्टैर्दुर्मतिदुर्मदी ॥ ३८ ॥

जब कि ईश्वरवादी पुरुष आकाश, काल आदिकी सत्ता ईश्वरके बिना ही मानते हैं तब उनका यह कहना कहाँ रहा कि संसारकी सब वस्तुएँ ईश्वरके द्वारा ही बनायी गयी हैं? इस प्रकार प्रतिज्ञा भंग होनेके कारण शिष्ट पुरुषोंको चाहिए कि वे ऐसे सृष्टिवादीका निग्रह करें जो कि व्यर्थ ही मिथ्यात्वके उदयसे अपने दूषित मतका अहंकार करता है ॥३८॥

ततोऽसावक्षतोऽनादिनिधनः कालतत्त्ववत् । लोकः जीवादितत्त्वानामाधारात्मा प्रकाशते ॥ ३९ ॥

इसलिए मानना चाहिए कि यह लोक काल द्रव्यकी भाँति ही अकृत्रिम है, अनादिनिधन है--आदि-अन्तसे रहित है और जीव, अजीव आदि तत्त्वोंका आधार होकर हमेशा प्रकाशमान रहता है ॥३९॥

असृज्योऽयमसंहार्यः स्वाभावनियतस्थितिः । अधस्तिर्यगुपर्याख्यैस्त्रिभिर्भेदैः समन्वितः ॥ ४० ॥

न इसे कोई बना सकता है न इसका संहार कर सकता है, यह हमेशा अपनी स्वाभाविक स्थितिमें विद्यमान रहता है तथा अधोलोक, तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक इन तीन भेदोंसे सहित है ॥४०॥

वेत्रासनझल्लरीमृदङ्गैः सदृशः स्मृतः । संस्थानैस्तादृशान् प्राहुस्त्रिलोकाननुपूर्वशः ॥ ४१ ॥

वेत्रासन, झल्लरी और मृदंगका जैसा आकार होता है अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकका भी ठीक वैसा ही आकार होता है। अर्थात् अधोलोक वेत्रासनके समान नीचे विस्तृत और ऊपर संकड़ा है, मध्यलोक झल्लरीके समान सब ओर फैला हुआ है और ऊर्ध्वलोक मृदंगके समान बीचमें चौड़ा तथा दोनों भागोंमें संकड़ा है ॥४१॥

वैशाखस्थः कटीन्यस्तहस्तः स्याद् यतादरः पुमान् । तादृशं लोकसंस्थानमामनन्ति मनीषिणः ॥ ४२ ॥

अथवा दोनों पैर फैलाकर और कमरपर दोनों हाथ रखकर खड़े हुए पुरुषका जैसा आकार होता है बुद्धिमान् पुरुष लोकका भी वैसा ही आकार मानते हैं ॥४२॥

अनन्तानन्तभेदस्य नियतं मध्यमाश्रितः । लोकस्त्रिभिर्वृतो वातैर्भाति रज्जुभिरन्वितः ॥ ४३ ॥

यह लोक अनन्तानन्त प्रदेशवाले आकाशके मध्यभागमें स्थित तथा घनोदधि, घनवात और तनुवात इन तीन प्रकारके विस्तृत वातवलयोंसे घिरा हुआ है और ऐसा मालूम होता है मानो अनेक रस्सियोंसे बना हुआ छाता ही हो ॥४३॥

वातरज्जुभिरानद्धो लोकस्तिसृभिराशिखम् । पटत्रितयसंवीतसुप्रतिष्ठकसन्निभः ॥ ४४ ॥

नीचेसे लेकर ऊपर तक उपर्युक्त तीन वातवलयोंसे घिरा हुआ यह लोक ऐसा मालूम होता है मानो तीन कपड़ोंसे ढका हुआ सुप्रतिष्ठ (ठोना) ही हो ॥४४॥

तिर्यग्लोकस्य विस्तारं रज्जुमेकां प्रचक्षते । चतुर्दशगुणां तु प्राहुर्लोकोच्छ्रितिं पुनः ॥ ४५ ॥

विद्वानोंने मध्यलोकका विस्तार एक राजु कहा है तथा पूरे लोककी ऊँचाई उससे चौदह गुणी अर्थात् चौदह राजु कही है ॥४५॥

अधोमध्योर्ध्वमध्याग्रे लोकविष्कम्भरज्जवः । सप्तैका पञ्च चैका च यथाक्रममुदाहृताः ॥ ४६ ॥

यह लोक अधोभागमें सात राजु, मध्यभागमें एक राजु, ऊर्ध्वलोकके मध्यभागमें पाँच राजु और सबसे ऊपर एक राजु चौड़ा है ॥४६॥

द्वीपाब्धिभिरसंख्यातैर्द्विर्द्विष्क्रमसमाश्रितैः । विभाति वलयाकारैर्मध्यलोको विभूषितः ॥ ४७ ॥

इस लोकके ठीक बीचमें मध्यलोक है जो कि असंख्यात द्वीप-समुद्रोंसे शोभायमान है। वे द्वीप-समुद्र क्रम-क्रमसे दूने-दूने विस्तारवाले हैं तथा वलयके समान हैं। भावार्थ--जम्बूद्वीप थालीके समान तथा बाकी द्वीप समुद्र वलयके समान बीचमें खाली हैं ॥४७॥

मध्यमध्यास्य लोकस्य जम्बूद्वीपोऽस्ति मध्यगः । मेरुनाभिः सुवृत्तात्मा लवणाम्भोधिबेष्टितः ॥ ४८ ॥

इस मध्यलोकके मध्यभागमें जम्बूद्वीप है। यह जम्बूद्वीप गोल है तथा लवणसमुद्रसे घिरा हुआ है। इसके बीचमें नाभिके समान मेरु पर्वत स्थित है ॥४८॥

सप्तभिः क्षेत्रविन्यासैः षड्भिश्च कुलाचलैः । प्रविभक्तः सरिद्भिश्च लक्षयोजनविस्तृतः ॥ ४९ ॥

यह जम्बूद्वीप एक लाख योजन चौड़ा है तथा हिमवत् आदि छह कुलाचलों, भरत आदि सात क्षेत्रों और गंगा, सिन्धु आदि चौदह नदियोंसे विभक्त होकर अत्यन्त शोभायमान हो रहा है ॥४९॥

> स मेरुमौलिराभाति लवणोदधिमेखलः । सर्वाद्वीपसमुद्राणां जम्बूद्वीपोऽधिराजवत् ॥ ५० ॥

मेरु पर्वतरूपी मुकुट और लवणसमुद्ररूपी करधनीसे युक्त यह जम्बूद्वीप ऐसा शोभायमान होता है मानो सब द्वीप-समुद्रोंका राजा ही हो ॥५०॥

> अस्मिन् जम्बूमति द्वीपे मेरोः प्रत्यग्दिशाश्रितः । विषयो गन्धिलामिख्यो भाति स्वर्गैकखण्डवत् ॥ ५१ ॥

इसी जम्बूद्वीपमें मेरु पर्वतसे पश्चिमकी ओर विदेह क्षेत्रमें एक गन्धिल नामक देश है जो कि स्वर्गके एक खण्डके समान शोभायमान है ॥५१॥

> पूर्वापरावधौ यस्य देवाद्रिश्चोर्मिमालिनी । दक्षिणोत्तरपर्यन्तौ सीतोदा नील एव च ॥ ५२ ॥

इस देशकी पूर्व दिशामें देवमाल वक्षारगिरि पर्वत है, पश्चिममें ऊर्मिमालिनी नामकी विभंग नदी है, दक्षिणमें सीतोदा नदी है और उत्तरमें नील पर्वत है ॥५२॥

> यत्र कर्ममलापायाद् विदेहा मुनयः सदा । निर्वान्तीति गता लोके विदेहाख्या भागियम् ॥ ५३ ॥

यह देश विदेह क्षेत्रके अन्तर्गत है। वहाँसे मुनि लोग हमेशा कर्मरूपी मैलको नष्ट कर विदेह (विगत देह)--शरीररहित होते हुए निर्वाणको प्राप्त होते रहते हैं इसलिए इस देशका विदेह नाम सार्थक और रूढ़ि दोनों ही अवस्थाओंको प्राप्त है ॥५३॥

> नित्यप्रमुदिता यत्र प्रजा नित्यकृतोत्सवाः । नित्यं सन्निहितैर्भोगैः धत्ते स्वर्गेऽप्यनादरः ॥ ५४ ॥

उस गन्धिल देशकी प्रजा हमेशा प्रसन्न रहती है तथा अनेक प्रकारके उत्सव किया करती है, उसे हमेशा मनचाहे भोग प्राप्त होते रहते हैं इसलिए वह स्वर्गको भी अच्छा नहीं समझती है ॥५४॥

> निसर्गसुभगा नार्यो निसर्गचतुरा नराः । निसर्गललितालापा बाला यत्र गृहे गृहे ॥ ५५ ॥

उस देशके प्रत्येक घरमें स्वभावसे ही सुन्दर स्त्रियाँ हैं, स्वभावसे ही चतुर पुरुष हैं और स्वभावसे ही मधुर वचन बोलनेवाले बालक हैं ॥५५॥

> वेषैश्चातुर्यं चित्रैर्वैभूषणैश्च धनर्दयः । विलासैः यौवनारम्भाः सूच्यन्ते यत्र देहिनाम् ॥ ५६ ॥

उस देशमें मनुष्योंकी चतुराई उनके चतुराईपूर्ण वेषोंसे प्रकट होती है। उनके आभूषणोंसे उनकी सम्पत्तिका ज्ञान होता है तथा भोग-विलासोंसे उनके यौवनका प्रारम्भ सूचित होता है ॥५६॥

> यत्र सत्पात्रदानेषु प्रीतिः पूजासु चार्जताम् । शक्तिरात्यन्तिकी शीले प्रोषधे च रतिर्नृणाम् ॥ ५७ ॥

वहाँके मनुष्य उत्तम पात्रोंमें दान देने तथा देवाधिदेव अरहन्त भगवान्की पूजा करने ही में प्रेम रखते हैं। वे लोग शीलकी रक्षा करनेमें ही अपनी अत्यन्त शक्ति दिखलाते हैं और प्रोषधोपवास धारण करनेमें ही रुचि रखते हैं ॥ ५७॥

> नैवात्र परलिङ्गानामस्ति जातुचिदुद्भवः । सदोद्याज्जिनार्कस्य खद्योतानामिवाहनि ॥ ५८ ॥

उस गन्धिल देशमें श्री जिनेन्द्ररूपी सूर्यका उदय रहता है इसलिए वहाँ मिथ्यादृष्टियोंका उद्भव कभी नहीं होता जैसे कि दिनमें सूर्यका उदय रहते हुए जुगनुओंका उद्भव नहीं होता ॥५८॥

> यत्रारामाः सदा मत्ताः फलशालिभिः । पथिकानाह्वयन्तीव परपुष्टकलस्वनैः ॥ ५९ ॥

उस देशके बाग फलशाली वृक्षोंसे हमेशा शोभायमान रहते हैं तथा उनमें जो कोकिलाएँ मनोहर शब्द करती हैं उनसे ऐसा जान पड़ता है मानो वे बाग उन कोकिलाओंके द्वारा पथिकोंको बुला ही रहे हैं ॥५९॥

> यस्य सीमविभागेषु शाल्यादिक्षेत्रसंपदः । सदैव फलशालिन्यो भान्ति धर्म्या इव क्रियाः ॥ ६० ॥

उस देशके सीमा प्रदेशोंपर हमेशा फलोंसे शोभायमान धान आदिके खेत ऐसे मालूम होते हैं मानो स्वर्गादि फलोंसे शोभायमान धार्मिक क्रियाएँ ही हों ॥६०॥

> यत्र शालिवनोपान्ते नभसः पतन्तीं शुकावलीम् । शालिगोप्योऽनुमन्यन्ते दधतीं तोरणश्रियम् ॥ ६१ ॥

उस देशमें धानके खेतोंके समीप आकाशसे जो तोतोंकी पंक्ति नीचे उतरती है उसे खेतीकी रक्षा करनेवाली गोपिकाएँ ऐसा मानती हैं मानो हरे-हरे मणियोंका बना हुआ तोरण ही उतर रहा हो ॥६१॥

> मन्दगन्धवहाधूताः शालिवप्राः स्वनैः सह । कृतसंराविणो व्योम्नि त्रासं कुर्वन्तीव पक्षिणाम् ॥ ६२ ॥

मन्द-मन्द हवासे हिलते हुए फलोंके बोझसे झुके हुए वायुके आघातसे शब्द करते हुए वहाँके धानके खेत ऐसे मालूम होते हैं मानो पक्षियोंको उड़ा ही रहे हों ॥६२॥

> यत्र पुण्ड्रेक्षुवाटेपु यन्त्रोत्कारहारिषु । पिबन्ति पथिकाः कामं रसं सुरसमैक्षवम् ॥ ६३ ॥

उस देशमें पथिक लोग कोल्हूके चीं-चीं शब्दोंसे शोभायमान पौंडों तथा ईखोंके खेतोंमें जाकर अपनी इच्छानुसार ईखका मीठा-मीठा रस पीते हैं ॥६३॥

> यत्र कुक्कुटसंपात्या ग्रामाः संसक्तसीमकाः । सीमानः सस्यसंपन्ना निष्फलाङ्घिफलोदयाः ॥ ६४ ॥

उस देशके गाँव इतने समीप बसे हुए हैं कि मुर्गा एक गाँवसे दूसरे गाँव तक सुखपूर्वक उड़कर जा सकता है, उनकी सीमाएँ परस्पर मिली हुई हैं तथा सीमाएँ भी धानके ऐसे खेतोंसे शोभायमान हैं जो थोड़े ही परिश्रमसे फल जाते हैं ॥ ६४॥

> कलासमाप्तिषु प्रायः कलान्तरपरिग्रहः । गुणाधिरोपणीद्धत्यं यत्र चापेषु धन्विनाम् ॥ ६५ ॥

उस देशके लोग जब एक कलाको अच्छी तरह सीख चुकते हैं तभी दूसरी कलाओंका सीखना प्रारम्भ करते हैं अर्थात् वहाँके मनुष्य हर एक विषयका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेका उद्योग करते हैं तथा उस देशमें गुणाधिरोपणीद्धत्य-गुण न रहते हुए भी अपने-आपको गुणी बतानेकी उद्दण्डता नहीं है ॥६५॥

मुनीनां यत्र शैथिल्यं गात्रेषु न समाधिषु । निग्रहः करणग्रामे भूतग्रामे न जातुचित् ॥ ६६ ॥

उस देशमें यदि मुनियोंमें शिथिलता है तो गात्रोंमें ही है अर्थात् लगातार उपवासादिके कारण उनका शरीर ही शिथिल हुआ है, समाधि-ध्यान आदिमें नहीं है। इसके सिवाय निग्रह (दमन) यदि है तो इन्द्रियसमूहमें ही है अर्थात् इन्द्रियोंकी विषयप्रवृत्ति रोकी जाती है, प्राणिसमूहमें कभी निग्रह नहीं होता अर्थात् प्राणियोंका कोई घात नहीं करता ॥६६॥

कुलायेषु शकुन्तानां यत्रोद्घासध्वनिः स्थितः । वर्णसंकरवृत्तान्तश्चित्रादन्यत्र न क्वचित् ॥ ६७ ॥

उस देशमें उद्घासध्वनि (कोलाहल) पक्षियोंके घोंसलोंमें ही है अन्यत्र उद्घासध्वनि (परदेशगमन सूचक शब्द) नहीं है। तथा वर्णसंकरवृत्तान्त (अनेक रंगोंका मेल) चित्रोंके सिवाय और कहीं नहीं है--वहाँके मनुष्य वर्णसंकर-व्यभिचारजात नहीं हैं ॥६७॥

यत्र मङ्गस्तरङ्गेषु गजेषु मदविक्रिया । दण्डपारुष्यमब्जेषु सरस्सु जलसंग्रहः ॥ ६८ ॥

उस देशमें यदि भंग शब्दका प्रयोग होता है तो तरंगोंमें ही (भंग नाम तरंग-लहरका है) होता है, वहाँके मनुष्योंमें कभी भंग (विनाश) नहीं होता। मद-तरुण हाथियोंके गण्डस्थलसे झरनेवाला मद पदार्थ-का विकार हाथियोंमें होता है, वहाँके मनुष्योंमें मद अहंकारका विकार नहीं होता है। दण्ड (कमलपुष्पके भीतरका वह भाग जिसमें कि कमलगट्टा लगता है) की कठोरता कमलोंमें ही है, वहाँके मनुष्योंमें दण्डपारुष्य नहीं है अर्थात् किसीको कड़ी सजा नहीं दी जाती। तथा जलका संग्रह तालाबोंमें ही होता है, वहाँके मनुष्योंमें जल-संग्रह (ड और ल में अभेद होनेके कारण जड़-संग्रह-मूर्ख मनुष्योंका संग्रह) नहीं होता ॥६८॥

स्वर्गावाससमाः पुराः निगमाः कुरुसन्निभाः । विमानस्पर्धिनो गेहाः प्रजा यत्र सुरोपमाः ॥ ६९ ॥

उस देशके नगर स्वर्गके समान हैं, गाँव देवकुरु-उत्तरकुरु भोगभूमिके समान हैं, घर देवोंके विमानोंके साथ स्पर्धा करनेवाले हैं और मनुष्य देवोंके समान हैं ॥६९॥

दिग्नागस्पर्धिनो नागा नार्यो दिक्कन्यकोपमाः । दिक्पाला इव भूपाला बद्धाविष्कृतदिग्भयाः ॥ ७० ॥

उस देशके हाथी ऐरावत आदि दिग्गजोंके साथ स्पर्धा करनेवाले हैं, स्त्रियाँ दिक्कुमारियोंके समान हैं और दिग्विजय करनेवाले राजा दिक्पालोंके समान हैं ॥७०॥

> जनतापच्छिदो यत्र वाप्यः स्वच्छाम्बुसंभृताः । भान्ति तीरतरुच्छायानिरुद्धोष्ण्या बहुप्रपाः ॥ ७१ ॥

उस देशमें मनुष्योंका सन्ताप दूर करनेवाली तथा स्वच्छ जलसे भरी हुई अनेक बावड़ियाँ शोभायमान हो रही हैं। किनारेपर लगे हुए वृक्षोंकी छायासे उन बावड़ियोंमें गरमीका प्रवेश बिलकुल ही नहीं हो पाता है तथा वे प्याऊओंके समान जान पड़ती हैं ॥७१॥

> यत्र कूपतटाकाद्याः कामं स्युर्जलाशयाः । तथापि जनतातापं हरन्ति रसवत्तया ॥ ७२ ॥

उस देशके कुएँ, तालाब आदि भले ही जलाशय (मूर्खपक्षमें जड़तासे युक्त) हों तथापि वे अपनी रसवत्तासे-मधुर जलसे लोगोंका सन्ताप दूर करते हैं ॥७२॥

> विपङ्का ग्राहवत्यश्च स्वच्छाः कुटिलवृत्तयः । अलङ्घ्याः सर्वभोग्याश्च विचित्रा यत्र निम्नगाः ॥ ७३ ॥

उस देशकी नदियाँ ठीक वेश्याओंके समान शोभायमान होती हैं। क्योंकि वेश्याएँ जैसे विपङ्का अर्थात् विशिष्ट पङ्क-पापसे सहित होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी विपङ्का अर्थात् कीचड़रहित हैं। वेश्याएँ जैसे ग्राहवती-धनसंग्रह करनेवाली होती हैं उसी तरह नदियाँ भी ग्राहवती-मगरमच्छोंसे भरी हुई हैं। वेश्याएँ जैसे ऊपरसे स्वच्छ होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी स्वच्छ-साफ हैं। वेश्याएँ जैसे कुटिलवृत्ति-मायाचारिणी होती हैं उसी तरह नदियाँ भी कुटिलवृत्ति-टेढ़ी बहनेवाली हैं। वेश्याएँ जैसे अलङ्घ्य होती हैं-विषयी मनुष्यों-द्वारा उल्लंघित नहीं होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी अलङ्घ्य हैं-गहरी होनेके कारण तैरकर पार करने योग्य नहीं हैं। वेश्याएँ जैसे सर्वभोग्या-ऊँच-नीच सभी मनुष्योंके द्वारा भोग्य होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी सर्वभोग्य-पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी जीवोंके द्वारा भोग्य हैं। वेश्याएँ जैसे विचित्रा-अनेक वर्णकी होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी विचित्रा-अनेकवर्ण-अनेक रंगकी अथवा विविध प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त हैं और वेश्याएँ जैसे निम्नगा-नीच पुरुषोंकी ओर जाती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी निम्नगा-ढालू जमीनकी ओर जाती हैं ॥७३॥

> सरसां तीरदेशेषु रुतं हंसा विकुर्वते । यत्र कण्ठविकालग्नमृणालशकलाकुलाः ॥ ७४ ॥

उस देशमें तालाबोंके किनारे कण्ठमें मृणालका टुकड़ा लग जानेसे व्याकुल हुए हंस अनेक प्रकारके मनोहर शब्द करते हैं ॥७४॥

> वन्या वनमातङ्गा मदमीलितलोचनाः । भ्रमन्त्यविरतं यस्मिन्नाह्वयातुमिव दिग्गजान् ॥ ७५ ॥

उस देशके वनोंमें मदसे निमीलित नेत्र हुए जंगली हाथी निरन्तर इस प्रकार घूमते हैं मानो दिग्गजोंको ही बुला रहे हों ॥७५॥

> यत्र शृङ्गाग्रसंलग्नकर्दमा वृषभा मदैः । उत्खनन्ति स्म दर्पेण स्थलेषु स्थलपद्मिनीः ॥ ७६ ॥

जिसके सींगोंकी नोकपर कीचड़ लगी हुई तथा जो बड़ी कठिनाईसे वशमें किये जा सकते हैं ऐसे साँड बैल इस देशके मैदानोंमें स्थलकमलिनियोंको उखाड़ा करते हैं ॥७६॥

> जैनालयेषु संगीतपटहाम्भोदनिःस्वनैः । यत्र नृत्यन्त्यकालेऽपि शिखिनः प्रोत्सदिष्णवः ॥ ७७ ॥

उस देशके जिनमन्दिरोंमें संगीतके समय जो तबला बजता है, उनके शब्दोंको मेघका शब्द समझकर हर्षसे उन्मत्त हुए मयूर असमयमें ही-वर्षा ऋतुके बिना ही नृत्य करते रहते हैं ॥७७॥

> गवां गणा यथाकालं प्राप्तगर्भाः कृतस्वनाः । पोषयन्ति पयोभिः स्वैर्जनं यत्र घनैः समाः ॥ ७८ ॥

उस देशमें गायें यथासमय गर्भ धारण कर मनोहर शब्द करती हुई अपने पय-दूधसे सबका पोषण करती हैं, इसलिए वे मेघके समान शोभायमान होती हैं क्योंकि मेघ भी यथासमय जलरूप गर्भ धारण कर मनोहर गर्जना करते हुए अपने पय-जलसे सबका पोषण करते हैं ॥७८॥

> बलाकालिपताकाढ्याः स्तनितैर्मन्द्रबृंहिताः । जीमूता यत्र वर्षन्तो भान्ति मत्ता इव द्विपाः ॥ ७९ ॥

उस देशमें बरसते हुए मेघ मदोन्मत्त हाथियोंके समान शोभायमान होते हैं। क्योंकि हाथी जिस प्रकार पताकाओंके सहित होते हैं उसी प्रकार मेघ भी बगुलाओंकी पंक्तियोंसे सहित हैं, हाथी जिस प्रकार गम्भीर गर्जना करते हैं उसी प्रकार मेघ भी गम्भीर गर्जना करते हैं और हाथी जैसे मद बरसाते हैं वैसे ही मेघ भी पानी बरसाते हैं ॥७९॥

> न स्पृशन्ति कराबाधा यत्र राजन्वतीः प्रजाः । सदा सुकालसान्निध्यान्नेतयो नाप्यनीतयः ॥ ८० ॥

उस देशमें सुयोग्य राजाकी प्रजाको कर (टैक्स) की बाधा कभी छू भी नहीं पाती तथा हमेशा सुकाल रहनेसे वहाँ न अतिवृष्टि आदि ईतियाँ हैं और न किसी प्रकारकी अनीतियाँ ही हैं ॥८०॥

> विषयस्यास्य मध्येऽस्ति विजयार्धो महाचलः । किरणैः शुभ्रैरुद्भासन् संनिवार्य कुलाचलान् ॥ ८१ ॥

ऐसे इस गन्धिल देशके मध्य भागमें एक विजयार्ध नामका बड़ा भारी पर्वत है जो अत्यन्त विशाल है तथा अपनी सफेद किरणोंसे कुलाचल पर्वतोंकी हँसी करता हुआ-सा मालूम होता है ॥८१॥

> यो योजनानां पञ्चाशद् विंशतिं धरणीतलात् । उच्छ्रितः शिखरैस्तुङ्गैर्दिवं स्प्रष्टुमिवोद्यतः ॥ ८२ ॥

वह विजयार्ध पर्वत धरातलसे पचास योजन ऊँचा है और ऊँचे शिखरोंसे ऐसा मालूम होता है मानो स्वर्ग लोकका स्पर्श करनेके लिए ही उद्यत हो ॥८२॥

> विस्तीर्णोऽधस्ताद् द्वितौ मूलात् पञ्चाशद्योजनम् । मध्ये त्रिंशत्पृथुर्योऽग्रे दशयोजनविस्तृतिः ॥ ८३ ॥

वह पर्वत मूलसे लेकर दस योजनकी ऊँचाई तक पचास योजन, बीचमें तीस योजन और ऊपर दस योजन चौड़ा है ॥८३॥

> उच्छ्रायस्य तुरीयांशमवगाढश्च यः क्षितौ । गन्धिलादेशविष्कम्भमानदण्ड इवायतः ॥ ८४ ॥

वह पर्वत ऊँचाईका एक चतुर्थांश भाग अर्थात् सवा बारह योजन पृथ्वीके भीतर प्रविष्ट है तथा गन्धिला देशकी चौड़ाईके बराबर लम्बा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो उस देशको नापनेका मापदण्ड ही हो ॥८४॥

> दशयोजनविस्तीर्णश्रेणीद्वयसमाश्रयान् । यो धत्ते खेचरावासान् सुरवेश्मापहासिनः ॥ ८५ ॥

उस पर्वतके ऊपर दस-दस योजन चौड़ी दो श्रेणियाँ हैं जो उत्तर श्रेणी और दक्षिण श्रेणीके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनपर विद्याधरोंके निवासस्थान बने हैं जो अपने सौन्दर्यसे देवोंके विमानोंका भी उपहास करते हैं ॥८५॥

स्वचरीजनसंचारसंक्रान्तपदयावकैः । रक्ताम्बुजोपहारश्रीर्यत्र नित्यं वितन्यते ॥ ८६ ॥

विद्याधर स्त्रियोंके इधर-उधर घूमनेसे उनके पैरोंका जो महावर उस पर्वतपर लग जाता है इससे वह ऐसा शोभायमान होता है मानो उसपर हमेशा लाल-लाल कमलोंका उपहार ही दिया जाता हो ॥८६॥

अभेद्यशक्तिरक्षय्यः सिद्धविद्यैरूपासितः । दधदात्यन्तिकीं शुद्धिं सिद्धात्मेव विभाति यः ॥ ८७ ॥

उस पर्वतकी शक्तिका कोई भेदन नहीं कर सकता, वह अविनाशी है, अनेक विद्याधर उसकी उपासना करते हैं तथा स्वयं अत्यन्त निर्मलताको धारण किये हुए है, इसलिए सिद्ध परमेष्ठीकी आत्माके समान शोभायमान होता है क्योंकि सिद्ध परमेष्ठीकी आत्मा भी अभेद्य शक्तिकी धारक है, अविनाशी है, सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा सेवित है, और कर्ममल आदिसे रहित होनेके कारण स्थायी विशुद्धताको धारण करती है--अत्यन्त निर्मल है ॥८७॥

योऽनादिकालसम्बन्धिशुद्धिशक्तिसमन्वयात् । भव्यात्मनिर्विशेषोऽपि दीक्षायोगपराङ्मुखः ॥ ८८ ॥

अथवा वह पर्वत भव्यजीवके समान है क्योंकि जिस प्रकार भव्य जीव अनादिकालसे शक्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके द्वारा प्राप्त होने योग्य निर्मलताकी शक्तिको धारण करता है, उसी प्रकार वह पर्वत भी अनादिकालसे शुद्धि अर्थात् निर्मलताकी शक्तिको धारण करता है। अन्तर केवल इतना ही है कि पर्वत दीक्षा धारण नहीं कर सकता जब कि भव्य जीव दीक्षा धारण कर तपस्या कर सकता है ॥८८॥

आदिपुराण (चतुर्थ पर्व - श्लोक ८७ से १९८)

> अभेद्यशक्तिरक्षय्यः सिद्धविद्यैरुपासितः । दधदात्यन्तिकीं शुद्धिं सिद्धात्मैव विभाति यः ॥ ८७ ॥

उस पर्वतकी शक्तिका कोई भेदन नहीं कर सकता, वह अविनाशी है, अनेक विद्याधर उसकी उपासना करते हैं तथा स्वयं अत्यन्त निर्मलताको धारण किये हुए है, इसलिए सिद्ध परमेष्ठीकी आत्माके समान शोभायमान होता है क्योंकि सिद्ध परमेष्ठीकी आत्मा भी अभेद्य शक्तिकी धारक है, अविनाशी है, सम्यग्ज्ञानी आत्माओंके द्वारा सेवित है, और कर्ममल आदिसे रहित होनेके कारण स्थायी विशुद्धताको धारण करती है—अत्यन्त निर्मल है ॥ ८७ ॥

> योऽनादिकालसंबन्धिशुद्धशक्तिसमन्वयात् । भव्यात्मनिर्विशेषोऽपि दीक्षायोगपराङ्मुखः ॥ ८८ ॥

अथवा वह पर्वत भव्यजीवके समान है क्योंकि जिस प्रकार भव्य जीव अनादिकालसे शुद्ध अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रके द्वारा प्राप्त होने योग्य निर्मलताकी शक्तिको धारण करता है, उसी प्रकार वह पर्वत भी अनादिकालसे शुद्ध अर्थात् निर्मलताकी शक्तिको धारण करता है। अन्तर केवल इतना ही है कि पर्वत दीक्षा धारण नहीं कर सकता जब कि भव्य जीव दीक्षा धारण कर तपस्या कर सकता है ॥ ८८ ॥

> विद्याधरैः सदाराध्यो निर्मूलात्मा सनातनः । सुनिश्चितप्रमाणो यो धत्ते जैनागमस्थितिम् ॥ ८९ ॥

वह पर्वत हमेशा विद्याधरोंके द्वारा आराध्य है—विद्याधर उसकी सेवा करते हैं, स्वयं निर्मल रूप है, सनातन है—अनादिसे चला आया है और सुनिश्चित प्रमाण है—लम्बाई चौड़ाई आदिके निश्चित प्रमाणसे सहित है, इसलिए ठीक जैनागमकी स्थितिको धारण करता है, क्योंकि जैनागम भी विद्याधरोंके द्वारा—सम्यग्ज्ञानके धारक विद्वान पुरुषोंके द्वारा आराध्य है—बड़े-बड़े विद्वान उसका ध्यान, अध्ययन आदि करते हैं, निर्मल रूप है—पूर्वापर विरोध आदि दोषोंसे रहित है, सनातन है—द्रव्य दृष्टिकी अपेक्षा अनादिसे चला आया है, और सुनिश्चित प्रमाण है—युक्तिसिद्ध प्रत्यक्ष परोक्षप्रमाणोंसे प्रसिद्ध है ॥ ८९ ॥

भजन्त्येकाकिनो नित्यं वीतसंसारभीतयः । प्रवृद्धनखरा यं च सिंहा इव चारणाः ॥ ९० ॥

उस पर्वतपर चारण ऋद्धिके धारक मुनि हमेशा सिंहके समान विहार करते रहते हैं क्योंकि जिस प्रकार सिंह अकेला होता है, उसी प्रकार वे मुनि भी एकाकी (अकेले) रहते हैं, सिंहको जैसे इधर-उधर घूमनेका भय नहीं रहता वैसे ही उन मुनियोंको भी इधर-उधर घूमने अथवा चतुर्गतिरूप संसारका भय नहीं होता, सिंहके नख जिस प्रकार बड़े होते हैं उसी प्रकार घोर तपस्याके कारण उन मुनियोंके नख भी बड़े होते हैं और सिंह जिस प्रकार धीर होता है उसी प्रकार वे मुनि भी अत्यन्त धीर-वीर हैं ॥ ९० ॥

यो वितत्य पृथुश्रेणीद्वयं पक्षद्वयोपमम् । समुत्पित्सुरिवाभाति नाकलक्ष्मीदिदृक्षया ॥ ९१ ॥

वह पर्वत अपनी दोनों श्रेणियोंसे ऐसा मालूम होता है मानो दोनों पंख फैलाकर स्वर्गलोककी शोभा देखनेकी इच्छासे उड़ना ही चाहता हो ॥ ९१ ॥

यस्य सानुषु रम्येषु किन्नराः सुरपन्नगाः । रंरम्यमाणाः सुचिरं विस्मरन्ति निजालयान् ॥ ९२ ॥

उस पर्वतके मनोहर शिखरोंपर किन्नर और नागकुमार जातिके देव चिरकाल तक क्रीड़ा करते-करते अपने घरोंको भी भूल जाते हैं ॥ ९२ ॥

यदीया राजतीर्भित्तीः शरन्मेघावली श्रिता । व्यज्यते शीकरासारैः स्तनितैश्चलितैरपि ॥ ९३ ॥

उस पर्वतकी रजतमयी सफेद दीवालोंपर आश्रय लिये हुए शरदऋतुके सफेद बादलोंका पता लोगोंको तब होता है जब कि वे छोटी-छोटी बूँदें बरसते हैं, गरजते हैं और इधर-उधर चलने लगते हैं ॥ ९३ ॥

यस्तुङ्गैः शिखरैर्धत्ते देवावासान् स्फुरन्मणीन् । चूडामणीनिवोदग्रान् सिद्धायतनभूषितान् ॥ ९४ ॥

वह पर्वत अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरों-द्वारा देवोंके अनेक आवासोंको धारण करता है। वे आवास चमकीले मणियोंसे युक्त हैं और उस पर्वतके चूड़ामणिके समान मालूम होते हैं। उन शिखरोंपर अनेक सिद्धायतन (जैनमन्दिर) भी बने हुए हैं ॥ ९४ ॥

दधात्युच्चैः स्वकूटानि मुकुटानीव भूमिभृत् । परार्ध्यरत्नचित्राणि सुरैः श्लाघ्यानि दैवतैः ॥ ९५ ॥

वह विजयार्धपर्वरूपी राजा मुकुटोंके समान अत्यन्त ऊँचे कूटोंको धारण करता है। वे मुकुट अथवा कूट महामूल्य रत्नोंसे चित्र-विचित्र हो रहे हैं तथा सुर और असुर उनकी प्रशंसा करते हैं ॥ ९५ ॥

गुहाद्वयं च यो धत्ते दृढवज्राग्रकपाटकम् । स्वसारधननिक्षेपस्तद्रक्षादुर्गमिवोयतम् ॥ ९६ ॥

वह पर्वत देदीप्यमान वज्रमय कपाटोंसे युक्त दरवाजोंको धारण करता है, जिससे ऐसा मालूम होता है मानो अपने सारभूत धनको रखनेके लिए लम्बे-चौड़े महादुर्ग-किलेको धारण कर रहा हो ॥ ९६ ॥

उत्सङ्गादेत्य नीलादेर्गङ्गासिन्धू महापगे । विशुद्धस्वादुलङ्घ्यस्य यस्य पादान्तमाश्रिते ॥ ९७ ॥

वह पर्वत अत्यन्त विशुद्ध और अलङ्घ्य है इसलिए ही मानो गङ्गा-सिन्धु नामकी महानदियोंने नीलगिरिकी गोदसे (मध्य भागसे) आकर उसके पादों—चरणों—अथवा समीपवर्ती शाखाओंका आश्रय लिया है ॥ ९७ ॥

यस्तटोपान्तसंरूढवनराजीपरिष्कृतः । नीलाम्बरधरस्योच्चैर्धत्ते लाङ्गलिनः श्रियम् ॥ ९८ ॥

वह पर्वत तटके समीप खड़े हुए अनेक वनोंसे शोभायमान है इसलिए नीलवस्त्रको पहने हुए बलभद्रकी उत्कृष्ट शोभाको धारण कर रहा है ॥ ९८ ॥

वनवेदीं समुत्तङ्गां यो बिभर्त्यभितो वनम् । रामणीयकसीमानमिव केनापि निर्मिताम् ॥ ९९ ॥

वह पर्वत वनके चारों ओर बनी हुई ऊँची वनवेदीको धारण किये हुए है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो किसीके द्वारा बनायी गयी सुन्दर सीमा अथवा सौन्दर्यकी अवधिको ही धारण कर रहा हो ॥ ९९ ॥

संचरत्खचरीपादनूपुरारावकर्षकः । यत्र गन्धवहो वाति मन्दं मन्दारवीथिषु ॥ १०० ॥

उस पर्वतपर कल्पवृक्षोंके वनमें सुगन्धित वायु हमेशा धीरे-धीरे बहता रहता है, उस वायुमें इधर-उधर घूमनेवाली विद्याधरियोंके नूपुरोंका मनोहर शब्द भी मिला होता है ॥ १०० ॥

> यं पूर्वापरकोटीभ्यां दिक्कटाकि विघट्टयन् । एक एवोद्वहति माहात्म्यं जगद्गुरुभरक्षमम् ॥ १०१ ॥

वह पर्वत अपनी पूर्व और पश्चिमकी कोटियोंसे दिशाओंके किनारोंका घर्षण करता हुआ ऐसा मालूम होता है मानो जगतके भारीसे भारी भारको धारण करनेमें सामर्थ्य रखनेवाले अपने माहात्म्यको ही प्रकट कर रहा हो ॥ १०१ ॥

> अनायतो यदि व्योम्नि व्यवर्धिष्यत हेलया । तदा जगत्कुटीमध्ये सममास्यत् क्व सोऽचलः ॥ १०२ ॥

यदि यह पर्वत तिर्यग् प्रदेशोंमें लम्बा न होकर क्रीड़ामात्रसे आकाशमें ही बढ़ा जाता तो जगतरूपी कुटीमें कहाँ समाता? ॥ १०२ ॥

> सोऽचलस्तुङ्गवृत्तित्वाद्विशुद्धत्वात्महोच्छ्रयैः । कुलाचलैरिव स्पर्धां शिखरेः कुरुते परैः ॥ १०३ ॥

वह पर्वत इतना ऊँचा और इतना निर्मल है कि अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरों-द्वारा कुलाचलोंके साथ भी स्पर्धाके लिए तैयार रहता है ॥ १०३ ॥

> तस्योत्तरस्यां श्रेण्यामलकेति परा पुरी । सालकैः खचरीवक्त्रैः साकं हसति यद्विधुम् ॥ १०४ ॥

ऐसे उस विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें एक अलका नामकी श्रेष्ठ पुरी है, जो कि अलकावलीयुक्त विद्याधरियोंके मुखके साथ-साथ चन्द्रमाकी भी हँसी उड़ाती है ॥ १०४ ॥

> सा तस्यां नगरी भाति श्रेण्यां प्राप्तमहोदया । शिलायां पाण्डुकाख्यायां जैनीवाभिषेकक्रिया ॥ १०५ ॥

बड़े भारी अभ्युदयको प्राप्त वह नगरी उस उत्तर श्रेणीमें इस प्रकार सुशोभित होती है जिस प्रकार कि पाण्डुक शिलापर जिनेन्द्रदेवकी अभिषेक-क्रिया सुशोभित होती है ॥ १०५ ॥

> महत्यां शब्दविद्यायां प्रक्रियेवातिविस्तृता । सर्वद्रव्यप्रभाषायां नानाभाषात्मतेव या ॥ १०६ ॥

वह अलकापुरी किसी बड़े व्याकरणपर बनी हुई प्रक्रियाके समान अतिशय विस्तृत है तथा भगवत् जिनेन्द्रदेवकी दिव्य ध्वनिमें जिस प्रकार नाना भाषासमता है अर्थात् नाना भाषारूप परिणमन करनेका अतिशय विद्यमान है उसी प्रकार उस नगरीमें भी नाना भाषात्मता है अर्थात् नाना भाषाएँ उस नगरीमें बोली जाती हैं ॥ १०६ ॥

> या धत्ते सालमुच्चैस्तद्गोपुरद्वारमुच्छ्रितम् । वेदिकावलयं यद्वज्जम्बूद्वीपस्थली यथा ॥ १०७ ॥

वह नगरी ऊँचे-ऊँचे गोपुर-दरवाजोंसे सहित अत्यन्त उन्नत प्राकार (कोट) को धारण किये हुए है, जिससे ऐसी जान पड़ती है मानो वेदिकाके वलयको धारण किये हुए जम्बूद्वीपकी स्थली ही हो ॥ १०७ ॥

> यत्परिखा भ्रमद्भृङ्गरुचिराञ्जनरञ्जितैः । पयोजनेत्रैराभाति वीक्षमाणेव खेचरान् ॥ १०८ ॥

उस नगरीकी परिखामें अनेक कमल खिले हुए हैं और उन कमलोंके चारों ओर भौंरे फिर रहे हैं, जिससे ऐसा मालूम होता है मानो वह परिखा इधर-उधर घूमते हुए भ्रमररूपी सुन्दर अञ्जनसे सुशोभित कमलरूपी नेत्रोंके द्वारा वहाँके विद्याधरोंको देख रही हो ॥ १०८ ॥

> शोभायै केवलं यस्याः सालः सपरिखावृतिः । तत्पालखगभूपालभुजरक्षामृताः प्रजाः ॥ १०९ ॥

उस नगरीके चारों ओर परिखासे घिरा हुआ जो कोट है, वह केवल उसकी शोभाके लिए ही है, क्योंकि उस नगरीका पालन करनेवाला विद्याधर नरेश अपनी भुजाओंसे ही प्रजाकी रक्षा करता है ॥ १०९ ॥

> यस्याः सौधावलीशृङ्गसङ्गिनी केतुमालिका । कैलासकूटनिपतद्धंसमालां विडम्बयति ॥ ११० ॥

उस नगरीके बड़े-बड़े पक्के मकानोंके शिखरोंपर फहराती हुई पताकाएँ, कैलासके शिखरपर उतरती हुई हंसमालाको तिरस्कृत करती हैं ॥ ११० ॥

> गृहेषु वापिका यस्यां कलहंसविकूजितैः । मानसं व्याहसन्तीव प्रफुल्लाम्भोरुहश्रियः ॥ १११ ॥

उस नगरीके प्रत्येक घरमें फूले हुए कमलोंसे शोभायमान अनेक वापिकाएँ हैं। उनमें कलहंस (राजहंस) पक्षी मनोहर शब्द करते हैं जिनसे वे ऐसी जान पड़ती हैं मानो मानसरोवरकी हँसी ही कर रही हों ॥ १११ ॥

स्वच्छाम्बुवसना यस्या नीलाम्बुजवतंसकाः । भान्ति पद्मानना यत्र लसत्कुवलयेक्षणाः ॥ ११२ ॥

उस नगरीमें अनेक वापिकाएँ स्त्रियोंके समान शोभायमान हो रही हैं क्योंकि स्वच्छ जल ही उनका वस्त्र है, नील कमल ही कर्णफूल है, कमल ही मुख हैं और चमकते हुए कुवलय ही नेत्र हैं ॥ ११२ ॥

यत्र मर्त्या न मूर्खाः स्युः स्त्रियः शीलविवर्जिताः । नानारामा निवेशाश्च नारामाः फलवर्जिताः ॥ ११३ ॥

उस नगरीमें कोई ऐसा मनुष्य नहीं है जो अज्ञानी हो, कोई ऐसी स्त्री नहीं है जो शीलसे रहित हो, कोई ऐसा घर नहीं है जो बगीचेसे रहित हो और कोई ऐसा बगीचा नहीं है जो फलोंसे रहित हो ॥ ११३ ॥

विनार्हं पूजया यत्र जायन्ते न जनोत्सवाः । विना संन्यासविधिना मरणं च न देहिनाम् ॥ ११४ ॥

उस नगरीमें कभी ऐसे उत्सव नहीं होते जो जिनपूजाके बिना ही किये जाते हों तथा मनुष्योंका ऐसा मरण भी नहीं होता जो संन्यासकी विधिसे रहित हो ॥ ११४ ॥

सस्यान्यकृष्टपच्यानि यत्र नित्यं चकासति । प्रजानां सुकृतानीव वितरन्ति महत्फलम् ॥ ११५ ॥

उस नगरीमें धानके ऐसे खेत निरन्तर शोभायमान रहते हैं जो बिना बोये-बखरे ही समयपर पक जाते हैं और पुण्यके समान प्रजाको महाफल देते हैं ॥ ११५ ॥

यत्रोद्यानेषु वृक्षाणां पयोदैर्बालपादपाः । स्तनन्धया इवाप्राप्तस्थेमानो यत्नरक्षिताः ॥ ११६ ॥

उस नगरीके उपवनोंमें ऐसे अनेक छोटे-छोटे वृक्ष (पौधे) हैं, जिन्हें अभी पूरी स्थिरता-दृढ़ता प्राप्त नहीं हुई है। अन्य लोग उनकी यत्नपूर्वक रक्षा करते हैं तथा बालकोंकी भाँति उन्हें पय-जल (पक्षमें दूध) पिलाते हैं ॥ ११६ ॥

महाब्धाविव सध्वाने स्फुरद्रत्ने वणिक्पथे । विचरन्ति जना यस्यां यादसीव समन्ततः ॥ ११७ ॥

उस नगरीके बाजार किसी महासागरके समान शोभायमान हैं क्योंकि उनमें महासागरके समान ही शब्द होता रहता है, महासागरके समान ही रत्न चमकते रहते हैं, और महासागरमें जिस प्रकार जलजन्तु सब ओर घूमते रहते हैं, उसी प्रकार उनमें भी मनुष्य घूमते रहते हैं ॥ ११७ ॥

> पद्मेष्वेव विकोशत्वं प्रमदास्वेव भीरुता । दन्तच्छदेष्वधरता यत्र निस्त्रिंशतासिषु ॥ ११८ ॥

उस नगरीमें विकोशत्व—(खिल जानेपर कुड्मल-बौड़ीका अभाव) कमलोंमें ही होता है, वहाँके मनुष्योंमें विकोशत्व—(खजानोंका अभाव) नहीं होता। भीरुता केवल स्त्रियोंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें नहीं, अधरता ओठोंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें अधरता-नीचता नहीं है। निस्त्रिंशता-खड्गपना तलवारोंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें निस्त्रिंशता-क्रूरता नहीं है ॥ ११८ ॥

> याच्ञाकरग्रहो यस्यां विवाहेष्वेव केवलम् । मालास्वेव परिम्लानिर्द्विरदेष्वेव बन्धनम् ॥ ११९ ॥

याचना—वधूकी याचना करना और करग्रह—पाणिग्रहण (विवाहकालमें हाथका पकड़ना रूप संस्कारविशेष) विवाहोंमें ही होता है, वहाँके मनुष्योंमें याचना-भिक्षा माँगना और करग्रह-टैक्स वसूल करना अथवा अपराध होनेपर राजा आदिके द्वारा हाथोंका पकड़ा जाना नहीं होता। म्लानता-मुरझा जाना पुष्पमालाओंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें म्लानता-उदासीनता अथवा निष्प्रभता नहीं है और बन्धन-रस्सी वगैरहसे बाँधा जाना केवल हाथियोंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें बन्धन-कारागार आदिका बन्धन नहीं है ॥ ११९ ॥

> जनैर्त्युत्सुकैर्वीक्ष्यं वयस्कान्तं सपुष्पकम् । बाणाङ्कितं यदुद्यानं वधूवरमिव प्रियम् ॥ १२० ॥

उस नगरीके उपवन ठीक वधूवर अर्थात् दम्पतिके समान सबको अतिशय प्रिय लगते हैं क्योंकि वधूवरको लोग जैसे बड़ी उत्सुकतासे देखते हैं उसी प्रकार वहाँके उपवनोंको भी लोग बड़ी उत्सुकतासे देखते हैं। वधूवर जिस प्रकार वयस्कान्त—तरुण अवस्थासे सुन्दर होते हैं उसी प्रकार उपवन भी वयस्कान्त—पक्षियोंसे सुन्दर होते हैं। वधूवर जिस प्रकार सपुष्पक—पुष्पमालाओंसे सहित होते हैं, उसी प्रकार उपवन भी सपुष्पक—फूलोंसे सहित होते हैं और वधूवर जिस प्रकार बाणाङ्कित—बाणचिह्नसे चिह्नित अथवा धनुषबाणसे सहित होते हैं उसी प्रकार उपवन भी बाण जातिके वृक्षोंसे सहित होते हैं ॥ १२० ॥

> इति प्रतीतमाहात्म्या विजयार्धमहीभृतः । सद्वृत्तवर्णसंकीर्णा सा पुरी तिलकायते ॥ १२१ ॥

इस प्रकार जिसका माहात्म्य प्रसिद्ध है और जो अनेक प्रकारके सदाचारी, श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंसे व्याप्त है ऐसी वह अलका नगरी उस विजयार्ध पर्वतरूपी राजाके मस्तकपर गोल तथा उत्तम रंगवाले तिलकके समान सुशोभित होती है ॥ १२१ ॥

> तस्याः पतिरभूत् खेन्द्रमुकुटारूढशासनः । खगेन्द्रोऽतिबलो नाम्ना प्रतिपक्षबलक्षयः ॥ १२२ ॥

उस अलकापुरीका राजा अतिबल नामका विद्याधर था जो कि शत्रुओंके बलका क्षय करनेवाला था और जिसकी आज्ञाको समस्त विद्याधर राजा मुकुटके समान अपने मस्तकपर धारण करते थे ॥ १२२ ॥

> स धर्मविजयी धीरो जिगीषुररिमण्डले । षाड्गुण्येनाजयत् कृत्स्नं विपक्षमनुपेक्षितम् ॥ १२३ ॥

वह अतिबल राजा धर्मसे ही (धर्मयुक्त स्वभावसे) विजयलाभ करता था, धैर्यवान् था और शत्रुसमूहको जीतनेवाला था। उसने सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव इन छह गुणोंसे बड़े-बड़े शत्रुओंको जीत लिया था ॥ १२३ ॥

> स वृद्धसंश्रयी नित्यं विजितेन्द्रियसाधनः । साधनैः प्रतिसामन्तान् लीलयैवोदमूलयत् ॥ १२४ ॥

वह राजा हमेशा वृद्ध पुरुषोंकी संगति करता था तथा उसने इन्द्रियोंके सब विषय जीत लिये थे इसीलिए वह अपनी सेना-द्वारा बड़े-बड़े शत्रुओंको लीलामात्रमें ही उखाड़ देता था—नष्ट कर देता था ॥ १२४ ॥

> महोदयो महोत्तङ्गवंशो भास्वन्महाकरः । महादानेन सोऽपुष्णादाश्रितानिति दिग्द्विपः ॥ १२५ ॥

वह राजा दिग्गजके समान था क्योंकि जिस प्रकार दिग्गज महान उदयसे सहित होता है उसी प्रकार वह राजा भी महान उदय (वैभव) से सहित था, दिग्गज जिस प्रकार ऊँचे वंश (पीठकी रीढ़) का धारक होता है उसी प्रकार वह राजा भी सर्वश्रेष्ठ वंश-कुलका धारक था—उच्च कुलमें पैदा हुआ था। दिग्गज जिस प्रकार भास्वन्महाकर—प्रकाशमान लम्बी सूँडका धारक होता है, इसी प्रकार वह राजा भी देदीप्यमान बड़ी भुजाओंका धारक था तथा दिग्गज जिस प्रकार अपने महादानसे—भारी मदजलसे भ्रमर आदि आश्रित प्राणियोंका पोषण करता है उसी प्रकार वह राजा भी अपने महादान—विपुल दानसे शरणमें आये हुए पुरुषोंका पोषण करता था ॥ १२५ ॥

> लसद्दन्तांशु तस्यास्यं सज्योत्स्नं बिम्बमैन्दवम् । जित्वेव भ्रूपताकाभ्यामुत्क्षिप्ताभ्यां व्यराजत ॥ १२६ ॥

उस राजाके मुखसे शोभायमान दाँतोंकी किरणें निकल रही थीं तथा दोनों भौंहें कुछ ऊपरको उठी हुई थीं इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो उसके मुखने चन्द्रिकासे शोभित चन्द्रमाको जीत लिया है और इसीलिए उसने अपनी भौंहोंरूप दोनों पताकाएँ फहरा रखी हों ॥ १२६ ॥

> सपुष्पकेशमस्याभादुत्तमाङ्गं सदानवम् । त्रिकूटाग्रमिवोपान्तपतच्चामरनिर्झरम् ॥ १२७ ॥

महाराज अतिबलका मस्तक ठीक त्रिकूटाचलके शिखरके समान शोभायमान था क्योंकि जिस प्रकार त्रिकूटाचल सपुष्पक—पुष्पक विमानके स्वामी रावणसे सहित था उसी प्रकार उनका मस्तक भी सपुष्पकेश—अर्थात् पुष्पयुक्त केशोंसे सहित था। त्रिकूटाचलका शिखर जिस प्रकार सदानव—दानवोंसे—राक्षसोंसे सहित था उसी प्रकार उनका मस्तक भी सदानव—हमेशा नूतन था—श्याम केशोंसे सहित था। और त्रिकूटाचलके समीप जिस प्रकार जलके झरने झरा करते हैं इसी प्रकार उनके मस्तकके समीप चँवर ढुल रहे थे ॥ १२७ ॥

> पृथु वक्षःस्थलं हारि हारवल्लीपरिष्कृतम् । क्रीडाद्वीपायितं लक्ष्म्या यस्याभूद् गुणांबुधेः ॥ १२८ ॥

वह राजा गुणोंका समुद्र था, उसका वक्षःस्थल अत्यन्त विस्तृत था, सुन्दर था और हाररूपी लताओंसे घिरा हुआ था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मीका क्रीड़ाद्वीप ही हो ॥ १२८ ॥

> करौ करिकराकारावूरू कामेषुधीणितौ । कुरुविन्दाकृती जङ्घे क्रमादम्बुजसच्छवी ॥ १२९ ॥

उस राजाकी दोनों भुजाएँ हाथीकी सूँडके समान थीं, दोनों जाँघें कामदेवके तरकसके समान थीं, पिण्डलियाँ पद्मरागमणिके समान सुदृढ़ थीं और चरणकमलके समान सुन्दर कान्तिके धारक थे ॥ १२९ ॥

> प्रतिप्रतीकमित्यस्य नैति वर्णनयानया । यद्यच्चारूपमानं स्यात् तत्तदेष जिगीषति ॥ १३० ॥

अथवा इस राजाके प्रत्येक अंगका वर्णन करना व्यर्थ है क्योंकि संसारमें सुन्दर वस्तुओंकी उपमा देने योग्य जो भी वस्तुएँ हैं उन सबको यह अपने अंगोंके द्वारा जीतना चाहता है। भावार्थ—संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा देकर उस राजाके अंगोंका वर्णन किया जाये ॥ १३० ॥

> मनोहराङ्गी तस्याभूत् प्रिया नाम्ना मनोहरा । मनोभवस्य जैत्रीव या रूपशोभया ॥ १३१ ॥

उस राजाकी मनोहर अंगोंको धारण करनेवाली मनोहरा नामकी रानी थी जो अपनी सौन्दर्य-शोभाके द्वारा ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेवका विजयी बाण ही हो ॥ १३१ ॥

> स्मितपुष्पोज्ज्वला भर्तुः प्रियासील्लतिकेव सा । हितानुबन्धिनी वाणी जिनस्येव यशोधरी ॥ १३२ ॥

वह रानी अपने पतिके लिए हास्यरूपी पुष्पसे उज्ज्वल लताके समान प्रिय थी और जिनवाणीके समान हित चाहनेवाली तथा यश बढ़ानेवाली थी ॥ १३२ ॥

> तयोर्महाबलख्यातिरभूत् सूनुरुदारधीः । यस्य जातौ समुद्भूतः प्रीतिः पिण्डीभूतेव बन्धुषु ॥ १३३ ॥

उन दोनोंके अतिशय उदारबुद्धि महाबल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। उस पुत्रके उत्पन्न होते ही उसके समस्त सहोदरोंमें प्रेमभाव एकत्रित हो गया था ॥ १३३ ॥

> कलासु कौशलं शौर्यं शीलं त्यागः प्रज्ञा क्षमा दया । धृतिः सत्यं च शौचं च गुणास्तस्य निसर्गजाः ॥ १३४ ॥

कलाओंमें कुशलता, शूरवीरता, शील, दान, बुद्धि, क्षमा, दया, धैर्य, सत्य और शौच ये उसके स्वाभाविक गुण थे ॥ १३४ ॥

> स्पर्धयेव समं वृद्ध्या विशुद्धाः प्रत्यहं गुणाः । ववृधुः सवपुर्भ्राजिष्णोः क्रियासाम्याद् विवर्धते ॥ १३५ ॥

उस महाबलका शरीर तथा गुण ये दोनों प्रतिदिन परस्परकी ईर्ष्यासे बढ़ते हुए हो रहे थे अर्थात् गुणोंकी वृद्धि देखकर शरीर बढ़ रहा था और शरीरकी वृद्धिसे गुण बढ़ रहे थे। सो ठीक ही है क्योंकि एक स्थानपर रहनेसे तथा क्रियाकी समानता होनेसे ईर्ष्या हुआ ही करती है ॥ १३५ ॥

> राजविद्याश्चतस्रोऽपि सोऽध्येष्ट गुरुसंनिधौ । स ताभिर्विबभौ भानुः स्वाभिर्भाभिरिवांशूमान् ॥ १३६ ॥

उस पुत्रने गुरुओंके समीप आन्वीक्षिकी आदि चारों राजविद्याओंका अध्ययन किया था तथा वह पुत्र उन विद्याओंसे ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि उदय होता हुआ सूर्य अपनी किरणोंसे शोभायमान होता है ॥ १३६ ॥

> सोऽन्वधारयदखिलां विद्यां गुरुसंस्कारयोगतः । दिदीपेऽधिकमर्पिन्धा निधानिक्समन्वितः ॥ १३७ ॥

उसे पूर्व भवके प्रबल संस्कारके योगसे समस्त विद्याएँ स्मरण हो उठीं जिनसे वह वायुके समागमसे अग्निके समान और भी अधिक देदीप्यमान हो गया ॥ १३७ ॥

> प्रश्रयादीन् गुणानस्य दृष्ट्वा योग्यत्वपोषकान् । यौवराज्यपदं तस्मै सोऽनुमेने खगाधिपः ॥ १३८ ॥

महाराज अतिबलने अपने पुत्रकी योग्यता प्रकट करनेवाले विनय आदि गुण देखकर उसके लिए युवराज पद देना स्वीकार किया ॥ १३८ ॥

> संविभक्ता तयोर्लक्ष्मीश्चिरं रेजे श्रितायतिः । हिमवत्यम्बुराशौ च व्योमगङ्गेव संगता ॥ १३९ ॥

उस समय पिता, पुत्र दोनोंमें विभक्त हुई राज्यलक्ष्मी पहलेसे कहीं अधिक विस्तृत हो हिमालय और समुद्र दोनोंमें पड़ती हुई आकाशगंगाकी तरह चिरकाल तक शोभायमान होती रही ॥ १३९ ॥

> स राजा तेन पुत्रेण पुत्री बहुसुतोऽप्यभूत् । नभोमार्गो यथाकेण ज्योतिष्मान्नापरैर्ग्रहैः ॥ १४० ॥

यद्यपि राजा अतिबलके और भी अनेक पुत्र थे तथापि वे उस एक महाबल पुत्रसे ही अपने-आपको पुत्रवान् माना करते थे जिस प्रकार कि आकाशमें यद्यपि अनेक ग्रह होते हैं तथापि वह एक सूर्यग्रहके द्वारा ही प्रकाशमान होता है अन्य ग्रहोंसे नहीं ॥ १४० ॥

> अथान्येद्युरसौ राजा विरक्तो विषयेष्वगात् । वितृष्णः कामभोगेषु प्रव्रज्यायै कृतोद्यमः ॥ १४१ ॥

इसके अनन्तर किसी दिन राजा अतिबल विषयभोगोंसे विरक्त हुए और कामभोगोंसे तृष्णारहित होकर दीक्षाग्रहण करनेके लिए उद्यम करने लगे ॥ १४१ ॥

> विषपुष्पमिवात्यन्तविषमं प्राणनाशनम् । महादृष्टिविषस्थानमिव चात्यन्तभीषणम् ॥ १४२ ॥

उस समय उन्होंने विचार किया कि यह राज्य विषपुष्पके समान अत्यन्त विषम और प्राणहरण करनेवाला है, दृष्टिदोष (सर्प) के स्थानके समान महा भयानक है ॥ १४२ ॥

> निर्मुक्तमाल्यवद् भूयो न भोग्यं मानशालिनाम् । दुष्कलत्रमिवापायि हेयं राज्यममंस्त सः ॥ १४३ ॥

व्यभिचारिणी स्त्रीके समान नाश करनेवाला है तथा भोगी हुई पुष्पमालाके समान उच्छिष्ट है अतः सर्वथा हेय है—छोड़ने योग्य है, स्वाभिमानी पुरुषोंके सेवन करने योग्य नहीं है ॥ १४३ ॥

> भूयोऽप्यचिन्तयद् धीमानिमां संसारवल्लिकाम् । उच्छेत्स्यामि महाध्यानकुठारेण क्षमीभवन् ॥ १४४ ॥

वे बुद्धिमान महाराज अतिबल फिर भी विचार करने लगे कि मैं स्वयं क्षमा धारण कर अथवा ध्यान, अध्ययन आदिके द्वारा समर्थ होकर अपनी आत्म-शक्तिको बढ़ाकर इस संसाररूपी बेलको अवश्य ही उखाड़ूँगा ॥ १४४ ॥

> मूल्यं मिथ्यात्वमेतस्याः कुसुमानि भवान्तरे । जात्यादिकं फलं व्यसनान्यसुभृद्भृङ्गैः सेव्येयं विषयासवे ॥ १४५ ॥

इस संसाररूपी बेलकी मिथ्यात्व ही जड़ है, जन्म-मरण आदि ही इसके पुष्प हैं और अनेक व्यसन अर्थात् दुःख प्राप्त होना ही इसके फल हैं। इसके विषयरूपी आसवका पान करनेके लिए ये प्राणीरूपी भ्रमर निरन्तर इस लताकी सेवा किया करते हैं ॥ १४५ ॥

> यौवनं क्षणविध्वंसि भोगा भुक्ता न तृप्तये । प्रत्युतात्यन्तमेवैतैस्तृष्णाग्निरभिवर्धते ॥ १४६ ॥

यह यौवन क्षणभंगुर है और ये पञ्चेन्द्रियोंके भोग यद्यपि अनेक बार भोगे गये हैं तथापि इनसे तृप्ति नहीं होती, तृप्ति होना तो दूर रही किन्तु तृष्णारूपी अग्निकी सातिशय वृद्धि होती है ॥ १४६ ॥

> शरीरमिदमत्यन्तं पूतिबीभत्सविप्लवम् । विनाश्यतेऽद्य वा वो वा मृत्युवज्रविचूर्णितम् ॥ १४७ ॥

यह शरीर भी अत्यन्त अपवित्र, घृणाका स्थान और नश्वर है। आज अथवा कल बहुत शीघ्र ही मृत्युरूपी वज्रसे पिसकर नष्ट हो जायेगा ॥ १४७ ॥

> शरीरवेणुरत्यन्तफलो दुःखावगुण्ठितः । प्लुष्टः कालाग्निना सद्यो भस्मसात् स्यात् स्फुरद्ध्वनिः ॥ १४८ ॥

अथवा दुःखरूपी फलसे युक्त और परिग्रहरूपी गाँठोंसे भरा हुआ यह शरीररूपी बाँस मृत्युरूपी अग्निसे जलकर चट-चट शब्द करता हुआ शीघ्र ही भस्मरूप हो जायेगा ॥ १४८ ॥

> बन्धवो बन्धनायैव वित्तं दुःखानुबन्धनम् । विषया विषसंपृक्तविषमाशनसंनिभाः ॥ १४९ ॥

ये बन्धुजन बन्धनके समान हैं, धन दुःखको बढ़ानेवाला है और विषय विष मिले हुए भोजनके समान विषम हैं ॥ १४९ ॥

> अलं राज्योपभोगेन लक्ष्मीरतिचलाचला । संपदो जलकल्लोलविलोलाः सर्वमस्थिरम् ॥ १५० ॥

लक्ष्मी अत्यन्त चञ्चल है, सम्पदाएँ जलकी लहरोंके समान क्षणभंगुर हैं, अथवा कहाँतक कहा जाये यह सभी कुछ तो अस्थिर है इसलिए राज्य भोगना अच्छा नहीं—इसे हर एक प्रकारसे छोड़ ही देना चाहिए ॥ १५० ॥

> इति निश्चित्य धीरोऽसावभिषेकपुरःसरम् । सूनवे राज्यसर्वस्वमुदिताय व्यतीतृपत् ॥ १५१ ॥

इस प्रकार निश्चय कर धीर-वीर महाराज अतिबलने राज्याभिषेकपूर्वक अपना समस्त राज्य पुत्र-महाबलके लिए सौंप दिया ॥ १५१ ॥

> संतो गज इवापेतबन्धनो निर्गतो गृहात् । बहुभिः खचरैः सार्धं दीक्षां स समुपाददे ॥ १५२ ॥

और अपने बन्धनसे छुटकारा पाये हुए हाथीके समान घरसे निकलकर अनेक विद्याधरोंके साथ वनमें जाकर दीक्षा ले ली ॥ १८२ ॥

> जिगीषु बलवद्गुप्त्यैः समित्या च सुसंवृतम् । महानागफणारत्नमिव चान्यैर्दुरासदम् ॥ १८३ ॥

इसके अनन्तर महाराज अतिबल पवित्र जिनदीक्षाको धारण कर चिरकाल तक कठिन तपश्चरण करने लगे। उनका वह तपश्चरण किसी विजिगीषु (शत्रुओंपर विजय पानेकी अभिलाषी) सेनाके समान था क्योंकि वह सेना जिस प्रकार गुप्ति-बरछा आदि हथियारों तथा समितियों-समूहोंसे सुसंवृत रहती है, उसी प्रकार उनका वह तपश्चरण भी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति इन तीन गुप्तियोंसे तथा ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पाँच समितियोंसे सुसंवृत—सुरक्षित था। अथवा उनका वह तपश्चरण किसी महासर्पके फणमें लगे हुए रत्नोंके समान अन्य साधारण मनुष्योंको दुर्लभ था ॥ १८३ ॥

> नाभिकालोद्भवत्कल्पतरुजालमिवाम्बरैः । भूषणैश्च परित्यक्तमपेतं दोषवत्तया ॥ १८४ ॥

उनका वह तपश्चरण दोषोंसे रहित था तथा नाभिराजाके समय उत्पन्न हुए वस्त्राभूषणरहित कल्पवृक्षोंके समान शोभायमान था ॥ १८४ ॥

> उदर्कसुखहेतुत्वाद् गुरूणामिव सद्गीरः । नियतावासशून्यत्वात् पततामिव मण्डलम् ॥ १८५ ॥

अथवा यों कहिए कि वह तपश्चरण भविष्यत्कालमें सुखका कारण होनेसे गुरुओंके सद्वचनोंके समान था। निश्चित निवास स्थानसे रहित होनेके कारण पक्षियोंके समूहके समान था ॥ १८५ ॥

> विषादमयदैन्यादिहानेः सिद्धास्पदोपमम् । क्षमाधारतया वातवलयस्थितिमुद्वहत् ॥ १८६ ॥

विषाद, भय, दीनता आदिका अभाव हो जानेसे सिद्धस्थान-मोक्ष-मन्दिरके समान था। क्षमा-शान्तिका आधार होनेके कारण (पक्षमें पृथिवीका आधार होनेके कारण) वातवलयकी उपमाको प्राप्त हुआ-सा जान पड़ता था ॥ १८६ ॥

> निःसंगत्वादिवाभ्यस्तपरमाणुविचेष्टितम् । निर्वाणसाधनत्वाच्च रत्नत्रयमिवामलम् ॥ १८७ ॥

तथा परिग्रहरहित होनेके कारण पृथक् रहनेवाले परमाणुके समान था। मोक्षका कारण होनेसे निर्मल रत्नत्रयके तुल्य था ॥ १५७ ॥

> सोऽत्युदारगुण भूरितेजोभासुरमूर्जितम् । दधद् जैनेन्द्ररूपं च तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥ १५८ ॥

अतिशय उदार गुणोंसे सहित था, विपुल तेजसे प्रकाशमान और आत्मबलसे संयुक्त था। इस प्रकार उन्होंने कठिन तपश्चरण किया ॥ १५८ ॥

> ततः कृताभिषेकोऽसौ बलशाली महाबलः । राज्यभारं दधे नम्रखेचराभ्यर्चितक्रमः ॥ १५९ ॥

इस प्रकार अतिबलके दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् उसके बलशाली पुत्र महाबलने राज्यका भार धारण किया। उस समय अनेक विद्याधर नम्र होकर उसके चरणकमलोंकी पूजा किया करते थे ॥ १५९ ॥

> स दैवबलसंपन्नः कृतधीरविचेष्टितः । बाहुवीर्यं प्रथयामास संहरन् द्विषतां बलम् ॥ १६० ॥

वह महाबल दैव और पुरुषार्थ दोनोंसे सम्पन्न था, उसकी चेष्टाएँ धीर पुरुषोंके समान थीं तथा उसने शत्रुओंके बलका संहार कर अपनी भुजाओंका बल प्रसिद्ध किया था ॥ १६० ॥

> मन्त्रशक्त्या प्रतिध्वस्तसामर्थ्यास्तस्य विद्विषः । महाहय इवाभूवन् विक्रियाविमुखास्तदा ॥ १६१ ॥

जिस प्रकार मन्त्रशक्तिके प्रभावसे बड़े-बड़े सर्प सामर्थ्यहीन होकर विकारसे रहित हो जाते हैं—वशीभूत हो जाते हैं, उसी प्रकार उसकी मन्त्रशक्ति (विमर्श शक्ति) के प्रभावसे बड़े-बड़े शत्रु सामर्थ्यहीन होकर विकारसे रहित (वशीभूत) हो जाते थे ॥ १६१ ॥

> तस्मिन्नारूढमाधुर्ये नृपे प्रीतिं प्रजारतिः । चूतद्रुम इव स्वादुसुपक्वफलशालिनि ॥ १६२ ॥

जिस प्रकार स्वादिष्ट और पके हुए फलोंसे शोभायमान आम्रवृक्षपर प्रजाकी प्रेमपूर्ण दृष्टि पड़ती है, उसी प्रकार माधुर्य आदि अनेक गुणोंसे शोभायमान राजा महाबलपर भी प्रजाकी प्रेमपूर्ण दृष्टि पड़ा करती थी ॥ १६२ ॥

> नात्यर्थमभवत्क्रोधी न चाति मृदुतां गतः । मध्यमां वृत्तिमाश्रित्य स जगद्वशमानयत् ॥ १६३ ॥

वह न तो अत्यन्त कठोर था और न अतिशय कोमलताको ही धारण किये था किन्तु मध्यम वृत्तिका आश्रय कर उसने समस्त जगत्को वशीभूत कर लिया था ॥ १६३ ॥

> उभयेऽपि द्विषस्तेन शमिता भूतिमिच्छता । कालोद्धत्यसमायाता जलदेनेव पांसवः ॥ १६४ ॥

जिस प्रकार ग्रीष्म कालके आश्रयसे उड़ती हुई धूलिको मेघ शान्त कर दिया करते हैं, उसी प्रकार समृद्धि चाहनेवाले उस राजाने समयानुसार उद्धत हुए—गर्वको प्राप्त हुए अन्तरङ्ग (काम, क्रोध, मद, मान, लोभ और मोह) तथा बाह्य दोनों प्रकारके शत्रुओंका नाश कर दिया था ॥ १६४ ॥

> सिद्धिर्धर्मार्थकामानां नाबाधिष्ट परस्परम् । तस्य प्रयोगनैपुण्याद् बन्धुभूयमिवागताः ॥ १६५ ॥

उस राजाके धर्म, अर्थ और काम, परस्परमें किसीको बाधा नहीं पहुँचाते थे—वह समानरूपसे तीनोंका पालन करता था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो इसके कार्यकी चतुराईसे उक्त तीनों वर्ग परस्परमें मित्रताको ही प्राप्त हुए हों ॥ १६५ ॥

> प्रायेण राज्यमासाद्य भवन्ति मदकर्कशाः । नृपेभाः स तु नामाद्यत् प्रत्युतासीत् प्रसन्नधीः ॥ १६६ ॥

राजारूपी हस्ती राज्य पाकर प्रायः मदसे (गर्वसे पक्षमें मदजलसे) कठोर हो जाते हैं परन्तु वह महाबल मदसे कठोर नहीं हुआ था बल्कि स्वच्छ बुद्धिका धारक हुआ था ॥ १६६ ॥

> वयसा रूपसम्पत्त्या कुलजात्यादिभिः परे । भजन्ति मदमस्यैते गुणाः प्रशममादधुः ॥ १६७ ॥

अन्य राजा लोग अवस्था, रूप, ऐश्वर्य, कुल, जाति आदि पाकर मद-गर्व करने लगते हैं परन्तु महाबलके उक्त गुणोंने एक शान्ति भाव ही धारण किया था ॥ १६७ ॥

> राज्यलक्ष्म्याः परं गर्वमुद्वहन्ति नृपात्मजाः । कामविद्येव निर्मोक्षोः साभूत्तस्योपशान्तये ॥ १६८ ॥

प्रायः राजपुत्र राज्यलक्ष्मीके निमित्तसे परम अहङ्कारको प्राप्त हो जाते हैं परन्तु महाबल राज्यलक्ष्मीको पाकर भी शान्त रहता था जैसे कि मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनि कामविद्यासे सदा निर्विकार और शान्त रहते हैं ॥ १६८ ॥

> अन्यायध्वनिरुत्सन्नः क्षितिं तस्मिन् सुराजनि । प्रजानां भयसंक्षोभाः स्वप्नेऽप्यासन्न जातुचित् ॥ १६९ ॥

राजा महाबलके राज्य करनेपर अन्यायका शब्द ही नष्ट हो गया था तथा भय और क्षोभ प्रजाको कभी स्वप्नमें भी नहीं होते थे ॥ १६९ ॥

> चक्षुश्चारो विचारश्च तस्यासीत् कार्यदर्शने । अक्षिणी पुनरस्यास्तां मुखमण्डने दृश्यदर्शने ॥ १७० ॥

उस राजाके राज्यकार्यके देखनेमें गुप्तचर और विचारशक्ति ही नेत्रका काम देते थे। नेत्र तो केवल मुखकी शोभाके लिए अथवा पदार्थोंको देखनेके लिए ही थे ॥ १७० ॥

> अथास्य यौवनारम्भे रूपमासीज्जगत्प्रियम् । पूर्णस्येव शशाङ्कस्य बिभ्रतः सकलाः कलाः ॥ १७१ ॥

कुछ समय बाद यौवनका प्रारम्भ होनेपर समस्त कलाओंके धारक महाबलका रूप उतना ही लोकप्रिय हो गया था जितना कि सोलहों कलाओंको धारण करनेवाले चन्द्रमाका होता है ॥ १७१ ॥

> अदृश्यो मदनोऽनङ्गो दृश्यश्चारुविग्रहः । अमुष्य मदनो दूरमौपम्यपदमप्यगात् ॥ १७२ ॥

राजा महाबल और कामदेव दोनों ही सुन्दर शरीरके धारक थे। अभीतक राजाको कामदेवकी उपमा ही दी जाती थी परन्तु कामदेव अदृश्य हो गया और राजा महाबल दृश्य ही रहे इससे ऐसा मालूम होता था मानो कामदेवने उसकी उपमाको दूरसे ही छोड़ दिया था ॥ १७२ ॥

> तस्याभादलिसङ्काशं मूर्धजेषु शिरोरुहम् । शिरोविन्यस्तमुकुटं मेरुं कूटमिवाश्रितम् ॥ १७३ ॥

उस राजाके मस्तकपर भ्रमरके समान काले, कोमल और घुँघराले बाल थे, ऊपरसे मुकुट लगा था जिससे वह मस्तक ऐसा मालूम होता था मानो काले मेघोंसे सहित मेरु पर्वतका शिखर ही हो ॥ १७३ ॥

ललाटमस्य विस्तीर्णमुन्नतं रुचमादधे । लक्ष्म्या विश्रान्तये क्लृप्तमिव हैमं शिलातलम् ॥ १७४ ॥

इस राजाका ललाट अतिशय विस्तृत और ऊँचा था जिससे ऐसा शोभायमान होता था मानो लक्ष्मीके विश्रामके लिए एक सुवर्णमयी शिला ही बनायी गयी हो ॥ १७४ ॥

भ्रुवौ रुचिर रेजाते कुटिले भृशमायते । मदनस्यास्त्रशालायां धनुषोरिव यष्टिके ॥ १७५ ॥

उस राजाकी अतिशय लम्बी और टेढ़ी भौंहोंकी रेखाएँ ऐसी मालूम होती थीं मानो कामदेवकी अस्त्रशालामें रखी हुई दो धनुषयष्टि ही हों ॥ १७५ ॥

चक्षुषी रेजतुस्तस्य चापोपान्तवर्तिनी । विषमेषोरिवाशेषजिगीषोरिषुयन्त्रके ॥ १७६ ॥

भौंहोंरूपी चापके समीपमें रहनेवाली उसकी दोनों आँखें ऐसी शोभायमान होती थीं मानो समस्त जगत्को जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवके बाण चलानेके दो यन्त्र ही हों ॥ १७६ ॥

सकर्णपालिके चारु रत्नकुण्डलमण्डिते । श्रुताङ्गनासमाक्रीडे लीलादोलायिते दृशाम् ॥ १७७ ॥

उत्तम रत्नोंके कुण्डलोंसे शोभायमान उसके दोनों मनोहर कान ऐसे मालूम होते थे मानो सरस्वती देवीके झूलनेके लिए दो झूले ही पड़े हों ॥ १७७ ॥

दध्रेऽसौ नासिकावंशमुन्नतं मध्यविलोचनम् । तद्वृद्धिस्पर्धिरोधार्थं बद्धं सेतुमिवायतम् ॥ १७८ ॥

दोनों नेत्रोंके बीचमें उसकी ऊँची नाक ऐसी जान पड़ती थी मानो नेत्रोंकी वृद्धिविषयक स्पर्धाको रोकनेके लिए बीचमें एक लम्बा पुल ही बाँध दिया हो ॥ १७८ ॥

मुखमस्य लसद्दन्तदीप्तिकेसरमाबभौ । सहोत्पलमिवोदञ्चद्दन्तच्छदच्छदम् ॥ १७९ ॥

उस राजाका मुख सुगन्धित कमलके समान शोभायमान था, जिसमें दाँतोंकी सुन्दर किरणें ही केशर थीं और ओठ ही जिसके पत्ते थे ॥ १७९ ॥

> पृथुवक्षो बभावास्य हाररोचिर्जलोप्लवम् । धारागृहमिवोदारं लक्ष्म्या निर्वापणं परम् ॥ १८० ॥

हारकी किरणोंसे शोभायमान उसका विस्तीर्ण वक्षःस्थल ऐसा मालूम होता था मानो जलसे भरा हुआ विस्तृत, उत्कृष्ट और सन्तोषको देनेवाला लक्ष्मीका स्नानगृह ही हो ॥ १८० ॥

> केयूररुचिरावेतावंशौ शोभामुपैयतुः । लक्ष्म्या रुचिरौ मन्ये विहारायेव निर्मितौ ॥ १८१ ॥

केयूर (बाहुबन्ध) की कान्तिसे सहित उसके दोनों कंधे ऐसे शोभायमान होते थे मानो लक्ष्मीके विहारके लिए बनाये गये दो मनोहर क्रीड़ाचल ही हों ॥ १८१ ॥

> युगायते बिभर्ति स्म बाहू चारुतलाङ्कितौ । स सुराग इवोदग्रविटपौ पल्लवोज्ज्वलौ ॥ १८२ ॥

वह युग (जुआँरी) के समान लम्बी और मनोहर हथेलियोंसे अंकित भुजाओंको धारण कर रहा था जिससे ऐसा मालूम हो रहा था मानो कोंपलोंसे शोभायमान दो बड़ी-बड़ी शाखाओंको धारण करनेवाला कल्पवृक्ष ही हो ॥ १८२ ॥

> दामोदरनाभिकल्पं मध्यं सवलि ललितं श्रितः । महाब्धिरिव सावर्ते सेकते सम्यक् सैकतम् ॥ १८३ ॥

वह राजा गम्भीर नाभिसे युक्त और त्रिवलिसे शोभायमान मध्य भागको धारण किये हुए था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो भँवर और तरंगोंसे सहित बालूके टीलेको धारण करनेवाला समुद्र ही हो ॥ १८३ ॥

> घने च जघने तस्य मेखलादामवेष्टितम् । बभौ वेदिकया जम्बूद्वीपस्थलमिवावृतम् ॥ १८४ ॥

करधनीसे घिरा हुआ उसका स्थूल नितम्ब ऐसा शोभायमान होता था मानो वेदिकासे घिरा हुआ जम्बूद्वीप ही हो ॥ १८४ ॥

> रम्भास्तम्भातिभावूरू स धत्ते स्म कनद्द्युती । कामिनीदृष्टिबाणानां लक्ष्याविव निवेशितौ ॥ १८५ ॥

देदीप्यमान कान्तिको धारण करने और केलेके स्तम्भकी समानता रखनेवाली उसकी दोनों जाँघें ऐसी शोभायमान होती थीं मानो स्त्रियोंके दृष्टिरूपी बाण चलानेके लिए खड़े किये गये दो निशाने ही हों ॥ १८५ ॥

वज्रशाणस्थिरे जङ्घे सोऽधत्त रुचिराकृती । मनोजजैत्रबाणानां निशानायेव योजिते ॥ १८६ ॥

वह महाबल वज्रके समान स्थिर तथा सुन्दर आकृतिवाली पिण्डलorigको धारण किये हुए था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कामदेवके विजयी बाणोंको तीक्ष्ण करनेके लिए दो शाण ही धारण किये हों ॥ १८६ ॥

पद्मतामरसद्वन्द्वं समसङ्गुलीपल्लवम् । नखांशुकेसरं लक्ष्म्याः कुलगेहायितं पदम् ॥ १८७ ॥

वह अंगुलीरूपी पत्तोंसे युक्त शोभायमान तथा नखोंकी किरणोंरूपी केशरसे युक्त जिन दो चरणकमलोंको धारण कर रहा था वे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मीके रहनेके लिए कुलपरम्परासे चले आये दो घर ही हों ॥ १८७ ॥

इत्थं तस्य रूपमुद्भूतनवयौवनविभ्रमम् । कामनीयकमैकध्यमुपनीतमिवाबभौ ॥ १८८ ॥

इस प्रकार महाबलका रूप बहुत ही सुन्दर था, उसमें नवयौवनके कारण अनेक हाव-भाव विलास उत्पन्न होते रहते थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो सब जगहका सौन्दर्य यहाँपर ही इकट्ठा हुआ हो ॥ १८८ ॥

न केवलमसौ रूपशोभयैवाजयज्जगत् । व्यजेष्ट मन्त्रशक्त्यापि वृद्धसंयोगलब्धया ॥ १८९ ॥

उस राजाने केवल अपने रूपकी शोभासे ही जगत्को नहीं जीता था किन्तु वृद्ध जनोंकी संगतिसे प्राप्त हुई मन्त्रशक्तिके द्वारा भी जीता था ॥ १८९ ॥

तस्याभूवन् महाप्राज्ञाश्चत्वारो मन्त्रिपुङ्गवाः । बहिश्चरा इव प्राणाः सुस्निग्धा दीर्घदर्शिनः ॥ १९० ॥

उस राजाके चार मन्त्री थे जो महाबुद्धिमान्, स्नेही और दीर्घदर्शी थे। वे चारों ही मन्त्री राजाके बाह्य प्राणोंके समान मालूम होते थे ॥ १९० ॥

महामतिश्च संभिन्नमतिः शतमतिस्तथा । स्वयंबुद्धश्च राज्यस्य मूलस्तम्भा इव स्थिराः ॥ १९१ ॥

उनके नाम क्रमसे महामति, संभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध थे। वे चारों ही उस राज्यके स्थिर मूलस्तम्भके समान थे ॥ १९१ ॥

> स्वयंबुद्धोऽभवत् तेषु सम्यग्दर्शनशुद्धधीः । शेषा मिथ्यादृशस्तेऽमी सर्व स्वामिहितोद्यताः ॥ १९२ ॥

उन चारों मन्त्रियोंमें स्वयंबुद्धनामक मन्त्री शुद्ध सम्यग्दृष्टि था और बाकी तीन मन्त्री मिथ्यादृष्टि थे। यद्यपि उनमें इस प्रकारका मतभेद था परन्तु स्वामीके हितसाधन करनेमें वे चारों ही तत्पर रहा करते थे ॥ १९२ ॥

> चतुर्भिः स्वैरमात्यैस्तैः पादैरिव सुयोजितैः । आपन्नातिप्रथां राज्यं वृत्तैः समवृत्तवत् ॥ १९३ ॥

वे चारों ही उस महाबलके राज्यके चरणके समान थे। उनकी उत्तम योजना करनेसे महाबलका राज्य समवृत्तके समान अतिशय विस्तारको प्राप्त हुआ था। भावार्थ—वृत्त छन्द को कहते हैं, उसके तीन भेद हैं—समवृत्त, अर्धसमवृत्त और विषमवृत्त। जिसके चारों पाद-चरण एक समान लक्षणके धारक होते हैं उसे समवृत्त कहते हैं। जिसके प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद एक समान लक्षणके धारक हों उसे अर्धसमवृत्त कहते हैं और जिसके चारों पाद भिन्न-भिन्न लक्षणोंके धारक होते हैं उन्हें विषमवृत्त कहते हैं। जिस प्रकार एक समान लक्षणके धारक चारों पाद—चरणोंकी योजनासे—रचनासे समवृत्त नामक छन्दका भेद प्रसिद्ध होता है तथा अक्षरों आदिकी अपेक्षासे विस्तारको प्राप्त होता है उसी प्रकार उन चारों मन्त्रियोंकी योजनासे—सम्यक् कार्यविभागसे राजा महाबलका राज्य प्रसिद्ध हुआ था तथा अपने अवान्तर विभागोंसे विस्तारको प्राप्त हुआ था ॥ १९३ ॥

> स मन्त्रिभिश्चतुर्भिस्तैः कदाचिच्च त्रिभिः । द्वाभ्यामेकेन वा मन्त्रमविसंवादिनामजत् ॥ १९४ ॥

राजा महाबल कभी पूर्वोक्त चारों मन्त्रियोंके साथ, कभी तीनके साथ, कभी दोके साथ और कभी यथार्थवादी एक स्वयंबुद्ध मन्त्रीके साथ अपने राज्यका विचार किया करता था ॥ १९४ ॥

> स्वयं निश्चितकार्यस्य मन्त्रिणोऽस्यानुशासनम् । चक्रुः स्वयं प्रबुद्धस्य जिनस्येवामरोत्तमाः ॥ १९५ ॥

वह राजा स्वयं ही कार्यका निश्चय कर लेता था। मन्त्री उसके निश्चित किये हुए कार्यकी केवल प्रशंसा मात्र किया करते थे जिस प्रकार कि तीर्थंकर भगवान् दीक्षा लेते समय स्वयं विरक्त होते हैं, लौकान्तिक देव मात्र उनके वैराग्यकी प्रशंसा ही किया करते हैं। भावार्थ—राजा महाबल इतने अधिक बुद्धिमान् और दीर्घदर्शी-विचारक थे कि उनके निश्चित विचारोंको कोई मन्त्री सदोष नहीं कर सकता था ॥ १९५ ॥

> न्यस्तराज्यभरस्तेषु स स्त्रीभिः खचरोचितान् । बुभुजे सुचिरं भोगान् नभोगानामधीशिता ॥ १९६ ॥

अनेक विद्याधरोंके स्वामी राजा महाबल उपर्युक्त चारों मन्त्रियोंपर राज्यभार रखकर अनेक स्त्रियोंके साथ चिरकाल तक विद्याधरोंके योग्य भोगोंको भोगते रहे ॥ १९६ ॥

> खदुरुसुरभिसमीरैः सान्द्रमन्दारवीथीपरिचयसुखशीतैर्धूतसंभोगखेदः । मुहुरुपवनदेशान्
> नन्दनस्पर्धिनीतिजितमदननिवेशान् स्त्रीसहायः स भेजे ॥ १९७ ॥

वे स्त्रियोंके साथ चिरकाल तक कामदेवके निवासस्थानको जीतने और नन्दनवनके प्रदेशोंकी समानता रखनेवाले उपवनोंमें बार-बार विहार करते थे। विहार करते समय घनीभूत मन्दार वृक्षोंके मध्यमें भ्रमण करनेके कारण सुखप्रद स्पर्शवाले, शीतल तथा सुगन्धित वायुके द्वारा उनका संभोगजन्य समस्त खेद दूर हो जाता था ॥ १९७ ॥

> ततश्च सुकृतविपाकादानमत्खेचरेन्द्रस्फुरन्मुकुटमकरिकाग्रैः स्पृष्टपादारविन्दः । चिरमरमत तस्मिन्
> मेरुश्रृङ्गे सुराहो सुरपतिरिव वज्री भाविभास्वज्जिनश्रीः ॥ १९८ ॥

इस प्रकार पुण्यके उदयसे नमस्कार करनेवाले विद्याधरोंके देदीप्यमान मुकुटोंमें लगे हुए मकर आदिके चिह्नोंसे जिसके चरणकमल बार-बार स्पृष्ट हो रहे थे—छुए जा रहे थे और जिसे आगे चलकर तीर्थंकरकी महनीय लक्ष्मी प्राप्त होनेवाली थी ऐसा वह महाबल राजा, मेरुपर्वतपर इन्द्रके समान, विजयार्ध पर्वतपर चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा ॥ १९८ ॥

> इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे श्रीमहाबलाभ्युदयवर्णनं नाम चतुर्थं
> पर्व समाप्तम् ॥ ४ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्य रचित, त्रिषष्टिलक्षण-महापुराण संग्रहमें 'श्रीमहाबलाभ्युदयवर्णन' नामका चतुर्थ पर्व समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

आदिपुराण (पञ्चम पर्व - श्लोक १ से १२०)

> कदाचिदथ तस्याऽऽसीद् वर्षवृद्धिदिनोत्सवः । मङ्गलैर्गीतवादित्रनृत्यारम्भैश्च निर्भरः ॥ १ ॥

तदनन्तर, किसी दिन राजा महाबलकी जन्मगाँठका उत्सव हो रहा था। वह उत्सव मंगलगीत, वादित्र तथा नृत्य आदिके आरम्भसे भरा हुआ था ॥ १ ॥

> सिंहासने तमासीनं तदानीं खचराधिपम् । दुधुवुश्चामरं वारनार्यः क्षीरोदपाण्डुरैः ॥ २ ॥

उस समय विद्याधरोंके अधिपति राजा महाबल सिंहासनपर बैठे हुए थे। अनेक वारांगनाएँ उनपर क्षीरसमुद्रके समान श्वेतवर्ण चामर ढोर रही थीं ॥ २ ॥

> मदनद्रुममञ्जर्यो लावण्यौम्भोधिर्वीचयः । सौन्दर्यकलिका रेजुस्तरुण्यस्तत्समीपगाः ॥ ३ ॥

उनके समीप खड़ी हुई वे तरुण स्त्रियाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो कामदेवरूपी वृक्षकी मञ्जरियाँ ही हों, अथवा सौन्दर्यरूपी सागरकी तरंगें ही हों अथवा सुन्दरताकी कलिकाएँ ही हों ॥ ३ ॥

> पृथुवक्षःस्थलच्छन्नपर्यन्तैर्मुकुटोज्ज्वलैः । खगेन्द्रैः परिवृतोऽसौ गिरिराज इवाद्रिभिः ॥ ४ ॥

अपने-अपने विस्तृत वक्षःस्थलोंसे समीपके प्रदेशको आच्छादित करनेवाले तथा मुकुटोंसे शोभायमान अनेक विद्याधर राजा महाबलको घेरकर बैठे हुए थे। उनके बीचमें बैठे हुए राजा महाबल ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो अनेक पर्वतोंसे घिरा हुआ या उनके बीचमें स्थित सुमेरु पर्वत ही हो ॥ ४ ॥

> तस्य वक्षःस्थले हारो नीहारांशुसमद्युतिः । बभावे हिमवत्सानौ पतन्निव निर्झरः ॥ ५ ॥

उनके वक्षःस्थलपर चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिका धारक—श्वेत हार पड़ा हुआ था जो कि हिमवत् पर्वतके शिखरपर पड़ते हुए झरनेके समान शोभायमान हो रहा था ॥ ५ ॥

> तद्वक्षसि प्रभाविन्द्रनीलमध्यमणिर्भ्रमी । कण्ठिका हंसमालेव भान्ति दात्यूहमध्यगा ॥ ६ ॥

जिस प्रकार विस्तृत आकाशमें जलकाकके इधर-उधर चलती हुई हंसोंकी पंक्ति शोभायमान होती है, उसी प्रकार राजा महाबलके विस्तीर्ण वक्षःस्थलपर इन्द्रनीलमणिसे सहित मोतियोंकी कण्ठी शोभायमान हो रही थी ॥ ६ ॥

> मन्त्रिणश्च तदामात्यसेनापतिपुरोहिताः । श्रेष्ठिनोऽधिकृताश्चान्ये तं परीत्याधतस्थिरे ॥ ७ ॥

उस समय मन्त्री, अमात्य, सेनापति, पुरोहित, सेठ तथा अन्य अधिकारी लोग राजा महाबलको घेरकर बैठे हुए थे ॥ ७ ॥

> स्मितैः संभाषितैः स्थानैर्दानैः संमाननैरपि । तानसौ तर्पयामास वीक्षितैरपि सादरैः ॥ ८ ॥

वे राजा किसीके साथ मुस्कुराकर, किसीके साथ सम्भाषण कर, किसीको स्थान देकर, किसीको दान देकर, किसीका सम्मान कर और किसीकी ओर आदरसहित देखकर उन समस्त सभासदोंको सन्तुष्ट कर रहे थे ॥ ८ ॥

> स गोष्ठीमनुबभूव विद्यागन्धर्वादिचारुविदाम् । स्पर्धमानांश्च तान् पश्यन्नुपश्रोतृसमक्षतः ॥ ९ ॥

वे महाबल संगीत आदि अनेक कलाओंके जानकार विद्वान् पुरुषोंकी गोष्ठीका बार-बार अनुभव करते जाते थे तथा श्रोताओंके समक्ष कलाविद् पुरुष परस्परमें जो स्पर्धा करते थे उसे भी देखते जाते थे ॥ ९ ॥

> सामन्तप्रहितान् दूतान् द्वारस्थैरानीयमानकान् । संभावयन् यथोक्तेन संमानेन पुनः पुनः ॥ १० ॥

इसी बीचमें सामन्तों-द्वारा भेजे हुए दूतोंको द्वारपालोंके हाथ बुलवाकर उनका बार-बार यथायोग्य सत्कार कर लेते थे ॥ १० ॥

परचक्रनरेन्द्राणामानीतानि महत्तरैः । उपायनानि संपश्यन् यथास्वं तांश्च पूजयन् ॥ ११ ॥

तथा अन्य देशोंके राजाओंके प्रतिष्ठित पुरुषों-द्वारा लायी हुई भेंटका अवलोकन कर उनका सम्मान भी करते जाते थे ॥ ११ ॥

प्रजानां परमानन्दमातन्वन्नद्भुतोदयः । स मन्त्रिवर्गेण सहास्तानन्दमण्डपे ॥ १२ ॥

इस प्रकार परम आनन्दको प्रकट करते हुए, आश्चर्यकारी विभवसे सहित वे महाराज महाबल मन्त्रिमण्डलके साथ-साथ स्वेच्छानुसार आनन्दमण्डपमें बैठे हुए थे ॥ १२ ॥

स तदा प्रीतमालोक्य स्वयंबुद्धः समिद्धधीः । स्वामिने हितमित्युच्चैरभाषत विशुद्धवाक् ॥ १३ ॥

उस समय तीक्ष्णबुद्धिके धारक तथा शुद्ध और मनोहर वचन बोलनेवाले स्वयंबुद्ध मन्त्रीने राजाको अतिशय प्रसन्न देखकर स्वामीका हित करनेवाले नीचे लिखे वचन कहे ॥ १३ ॥

भोः श्रृणु खगाधीश वक्ष्ये श्रेयोऽनुबन्धि ते । वेद्याधरीमिमां लक्ष्मीं विद्धि पुण्यफलं विभो ॥ १४ ॥

हे विद्याधरोंके स्वामी, जरा इधर सुनिए, मैं आपके कल्याण करनेवाले कुछ वचन कहूँगा। हे प्रभो, आपको जो यह विद्याधरोंकी लक्ष्मी प्राप्त हुई है उसे आप केवल पुण्यका ही फल समझिए ॥ १४ ॥

धर्मादिष्टार्थसंपत्तिस्ततः कामसुखोदयः । स च संप्रीतये पुंसां धर्मात् सैषा परम्परा ॥ १५ ॥

हे राजन्, धर्मसे इच्छानुसार सम्पत्ति मिलती है, उससे इच्छानुसार सुखकी प्राप्ति होती है और उससे मनुष्य प्रसन्न रहते हैं इसलिए यह परम्परा केवल धर्मसे ही प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

राज्यं च संपदो भोगाः कुले जन्म सुरूपता । पाण्डित्यमायुरारोग्यं धर्मस्यैतत् फलं विदुः ॥ १६ ॥

राज्य, सम्पदाएँ, भोग, योग्य कुलमें जन्म, सुन्दरता, पाण्डित्य, दीर्घ आयु और आरोग्य, यह सब पुण्यका ही फल समझिए ॥ १६ ॥

न हेतुं विना कार्यनिष्पत्तिरिह जातुचित् । प्रदीपेन विना दीप्तिर्दृष्टपूर्वा किमु क्वचित् ॥ १७ ॥

हे प्रभो, जिस प्रकार कारणके बिना कभी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, दीपकके बिना कभी किसीने कहीं प्रकाश नहीं देखा ॥ १७ ॥

अङ्कुरः किं विना बीजाद् विना वृष्टिं पयोमुचः । छत्रमन्तरेणापि नच्छाया विना धर्मान्न संपदः ॥ १८ ॥

बीजके बिना अंकुर नहीं होता, मेघके बिना वृष्टि नहीं होती और छत्रके बिना छाया नहीं होती उसी प्रकार धर्मके बिना सम्पदाएँ प्राप्त नहीं होतीं ॥ १८ ॥

नाधर्मात् सुखसंप्राप्तिर्न विषादस्ति जीवितम् । नोषरात् सस्यनिष्पत्तिर्नाग्नेराह्ऽलादनं मनाक् ॥ १९ ॥

जिस प्रकार विष खानेसे जीवन नहीं होता, ऊसर जमीनसे धान्य उत्पन्न नहीं होते और अग्निसे आह्ऽलाद उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार अधर्मसे सुखकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १९ ॥

यतोऽभ्युदयनैःश्रेयसार्थसिद्धिः सुनिश्चिता । स धर्मस्तस्य धर्मस्य विस्तरं शृणु सांप्रतम् ॥ २० ॥

जिससे स्वर्ग आदि अभ्युदय तथा मोक्षपुरुषार्थकी निश्चित रूपसे सिद्धि होती है उसे धर्म कहते हैं। हे राजन्, मैं इस समय उसी धर्मका विस्तारके साथ वर्णन करता हूँ उसे सुनिए ॥ २० ॥

दयामूलो भवेद् धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम् । दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्तिताः ॥ २१ ॥

धर्म वही है जिसका मूल दया हो और सम्पूर्ण प्राणियोंपर अनुकम्पा करना दया है। इस दयाकी रक्षाके लिए ही उत्तम क्षमा आदि शेष गुण कहे गये हैं ॥ २१ ॥

धर्मस्य लक्षणाङ्गानि दमः क्षान्तिरहिंसता । तपो दानं च शीलं च ध्यानं वैराग्यमेव च ॥ २२ ॥

इन्द्रियोंका दमन करना, क्षमा धारण करना, अहिंसा, तप, दान, शील, ध्यान और वैराग्य ये सब दयारूप धर्मके चिह्न हैं ॥ २२ ॥

> अहिंसा सत्यवादित्वमचौर्यं त्यक्तकामता । निष्परिग्रहता चेति प्रोक्तो धर्मः सनातनः ॥ २३ ॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहका त्याग करना ये सब सनातन (अनादिकालसे चले आये) धर्म कहलाते हैं ॥ २३ ॥

> तस्माद् धर्मफलं ज्ञात्वा सर्वं राज्यादिलक्षणम् । तदर्थिना महाभाग धर्मे कार्या मतिः स्थिरा ॥ २४ ॥

इसलिए हे महाभाग, राज्य आदि समस्त विभूतिको धर्मका फल जानकर उसके अभिलाषी पुरुषोंको अपनी बुद्धि धर्मके विषयमें स्थिर रखनी चाहिए ॥ २४ ॥

> धीमन्निमां श्रियं स्फीतां शाश्वतीं कर्तुमिच्छता । त्वया धर्मोऽनुमन्तव्यः सोऽनुष्ठेयश्च शक्तितः ॥ २५ ॥

हे बुद्धिमान्, यदि आप इस विस्तृत लक्ष्मीको स्थिर करना चाहते हैं तो आपको यह अहिंसादि रूप धर्म मानना चाहिए तथा शक्तिके अनुसार उसका पालन भी करना चाहिए ॥ २५ ॥

> इत्युक्त्वाथ स्वयंबुद्धे स्वामिश्रेयोऽनुबन्धिनि । सधर्ममर्थसंयुक्तं यशस्यं च वचो विरतिमीयुषि ॥ २६ ॥

इस प्रकार स्वामीका कल्याण चाहनेवाला स्वयंबुद्ध मन्त्री जब धर्मसे सहित, अर्थसे भरे हुए और यशको देनेवाले वचन कहकर चुप हो रहा ॥ २६ ॥

> श्रुतस्तद्वचनं सोढुमशक्तो दुर्मदोद्धतः । द्वितीयः सचिवो वाचमित्युवाच महामतिः ॥ २७ ॥

तब उसके वचनोंको सुननेके लिए असमर्थ महामति नामका दूसरा मिथ्यादृष्टि मन्त्री नीचे लिखे अनुसार बोला ॥ २७ ॥

भूतवादमथावलम्ब्य स लौकायतिकीं श्रुतिम् । प्रस्तुवंश्चेतनतत्त्वस्य दूषणे मतिमातनोत् ॥ २८ ॥

महामति मन्त्री भूतवादका आलम्बन कर चार्वाक मतका पोषण करता हुआ जीवतत्त्वके विषयमें दूषण देने लगा ॥ २८ ॥

सति धर्मिणि धर्मस्य घटते देव चिन्तनम् । स एव तावन्नास्त्यात्मा कुतो धर्मः फलं कुतः ॥ २९ ॥

वह बोला—हे देव, धर्मीके रहते हुए ही उसके धर्मका विचार करना संगत (ठीक) होता है परन्तु आत्मा नामक धर्मीका अस्तित्व सिद्ध नहीं है इसलिए धर्मका फल कैसे हो सकता है? ॥ २९ ॥

पृथिव्यप्पवनाग्नीनां संघातादिह चेतना । प्रादुर्भवति मद्याङ्गसंगमान्मदशक्तिवत् ॥ ३० ॥

जिस प्रकार महुआ, गुड़, जल आदि पदार्थोंको मिला देनेसे उसमें मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथिवी, जल, वायु और अग्निके संयोगसे उनमें चेतना उत्पन्न होती है ॥ ३० ॥

ततो न चेतना कायात् पृथगिहास्ति नः । तस्यास्तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेः खपुष्पवत् ॥ ३१ ॥

इसलिए इस शरीरमें पृथिवी आदि भूतोंसे बने हुए हमारे शरीरसे पृथक् रहनेवाला चेतना नामका कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि शरीरसे पृथक् उसकी उपलब्धि नहीं देखी जाती। संसारमें जो पदार्थ प्रत्यक्षरूपसे पृथक् सिद्ध नहीं होते उनका अस्तित्व नहीं माना जाता, जैसे कि आकाशके फूल ॥ ३१ ॥

इत्यस्तित्वे न धर्मः स्यात् पापं वा कस्यचित् । जलबुद्बुदवज्जीवा विलीयन्ते तनुक्षयात् ॥ ३२ ॥

जब कि आत्मतत्त्व नामका जीव पृथक् पदार्थ सिद्ध नहीं होता तब किसीके पुण्य-पाप और धर्माधर्म आदि कैसे सिद्ध हो सकते हैं? शरीरका नाश हो जानेसे ये जीव जलके बबूलेके समान एक क्षणमें विलीन हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

तस्माद् दृष्टसुखं त्यक्त्वा परलोकसुखार्थिनः । व्यर्थक्लेशा नरा मूढा लोकद्वयसुखाच्च्युताः ॥ ३३ ॥

इसलिए जो मनुष्य प्रत्यक्षका सुख छोड़कर परलोकसम्बन्धी सुख चाहते हैं वे दोनों लोकोंके सुखसे भ्रष्ट होकर व्यर्थ ही क्लेश उठाते हैं ॥ ३३ ॥

> तदेषां परलोकार्था वाञ्छा लोभाददोषतः । आमिषं त्यक्त्वा सुखागतं मोहान्मीनाशिन्यपधावति ॥ ३४ ॥

अतएव वर्तमानके सुख छोड़कर परलोकके सुखोंकी इच्छा करना ऐसा है जैसे कि मुखमें आये हुए मांसको छोड़कर मोहवश किसी सियारका मछलीके लिए छलाँग भरना है। अर्थात् जिस प्रकार सियार मछलीकी आशासे मुखमें आये हुए मांसको छोड़कर पछताता है, उसी प्रकार परलोकके सुखोंकी आशासे वर्तमानके सुखोंको छोड़नेवाला पुरुष भी पछताता है—'आधी छोड़ एकको धावे, ऐसा डूबा थाह न पावे' ॥ ३४ ॥

> पिण्डस्थागालिहन्तोऽमी हस्तं प्रेत्य सुखेप्सया । विप्रलब्धाः समुत्सृष्टदृष्टभोगा विचेतसः ॥ ३५ ॥

परलोकके सुखोंकी चाहसे ठगाये हुए जो अज्ञानी मानव प्रत्यक्षके भोगोंको छोड़ देते हैं वे मानो सामने परोसा हुआ भोजन छोड़कर हाथ ही चाटते हैं, अर्थात् परोक्ष सुखकी आशासे वर्तमानके सुख छोड़ना भोजन छोड़कर हाथ चाटनेके तुल्य है ॥ ३५ ॥

> स्वमते युक्तिमित्युक्त्वा विरते भूतवादिनि । विज्ञानमात्रमाश्रित्य प्रस्तुवज्जीवनास्तिताम् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार भूतवादी महामति मन्त्री अपने पक्षको युक्तियाँ देकर जब चुप हो रहा ॥ ३६ ॥

> अकस्माद् वादकण्डूयाविजृम्भितमथोद्वहन् । स्मितं स्वमतसंसिद्धिमित्युपन्यस्यति स्म सः ॥ ३७ ॥

तब वाद करनेकी खुजलीसे उत्पन्न हुए कुछ हास्यको धारण करनेवाला सम्भिन्नमति नामका तीसरा मन्त्री भी केवल विज्ञानवादका आश्रय लेकर जीवका अभाव सिद्ध करता हुआ नीचे लिखे अनुसार अपने मतकी सिद्धि करने लगा ॥ ३७ ॥

> जीववादिन्न ते कश्चिज्जीवोऽस्त्यनुपलब्धितः । विज्ञप्तिमात्रमेवेदं क्षणभङ्गि यतो जगत् ॥ ३८ ॥

वह बोला—हे आत्मवादी स्वयंबुद्ध, आपका कहा हुआ जीव नामका कोई पृथक् पदार्थ नहीं है क्योंकि उसकी पृथक् उपलब्धि नहीं होती। यह समस्त जगत् विज्ञानमात्र है क्योंकि क्षणभंगुर है। जो-जो क्षणभंगुर होते हैं वे सब ज्ञानके विकार होते हैं। यदि ज्ञानके विकार न होकर स्वतन्त्र पृथक् पदार्थ होते तो वे नित्य होते, परन्तु जगत्में कोई नित्य पदार्थ नहीं हैं इसलिए वे सब ज्ञानके विकारमात्र हैं ॥ ३८ ॥

> निरंशं नित्यं विज्ञानं निरन्वयविनश्वरम् । वेद्यवेदकसंवित्तिभागभिन्नं प्रकाशते ॥ ३९ ॥

वह विज्ञान निरंश है—अवान्तर भेदोंसे रहित है, बिना परम्परा उत्पन्न किये ही उसका नाश हो जाता है, और वेद्य-वेदक तथा संवित्तिरूपसे भिन्न प्रकाशित होता है। अर्थात् वह स्वभावतः न तो किसी अन्य ज्ञानके द्वारा जाना जाता है और न किसीको जानता ही है, एक क्षण रहकर समूल नष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

> सन्तानान्वयवृत्तेस्तु स्मृत्याद्यपि घटिष्यते । संवृत्या स च सन्तानः सन्तानिभ्यो न भिद्यते ॥ ४० ॥

वह ज्ञान नष्ट होनेके पहले ही अपनी सांवृतिक सन्तान छोड़ जाता है जिससे पदार्थोंका स्मरण होता रहता है। वह सन्तान अपने सन्तानी ज्ञानसे भिन्न नहीं है ॥ ४० ॥

> प्रत्यभिज्ञानमप्यस्ति वस्तुनि क्षणनश्वरे । यथा लूनपुनर्जातनखकेशादिषु क्वचित् ॥ ४१ ॥

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि विज्ञानकी सांवृतिक प्रतिसन्तान मान लेनेसे पदार्थका स्मरण तो सिद्ध हो जायेगा परन्तु प्रत्यभिज्ञान सिद्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि प्रत्यभिज्ञानकी सिद्धिके लिए पदार्थको अनेक क्षणस्थायी मानना चाहिए जो कि आपने माना नहीं है। पूर्व क्षणमें अनुभूत पदार्थका द्वितीयादि क्षणमें प्रत्यक्ष होनेपर जो जोड़रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उक्त प्रश्नका समाधान इस प्रकार है—क्षणभंगुर पदार्थमें जो प्रत्यभिज्ञान आदि होता है, वह वास्तविक नहीं है किन्तु भ्रान्तिकृत है। जिस प्रकार कि काटे जानेपर फिरसे बढ़े हुए नखों और केशोंमें 'ये वे ही नख केश हैं' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त होता है ॥ ४१ ॥

> ततो विज्ञानसन्तानाद् व्यतिरिक्तो न कश्चन । जीवसंज्ञः पदार्थोऽस्ति प्रेत्यभावफलोपभुक् ॥ ४२ ॥

इसलिए विज्ञानकी सन्तानसे अतिरिक्त जीव नामका कोई पदार्थ नहीं है जो कि परलोकरूप फलको भोगनेवाला हो ॥ ४२ ॥

तदमुत्रामनो दुःखजिहासार्थं प्रयस्यतः । टिट्टिभस्येव भीतिस्ते गगनादापतिष्यतः ॥ ४३ ॥

अतएव परलोकसम्बन्धी दुःख दूर करनेके लिए प्रयत्न करनेवाले आपका परलोकभय वैसा ही है, जैसा कि टिट्टिहरीको अपने ऊपर आकाशके पड़नेका भय होता है ॥ ४३ ॥

इत्युदीर्य स्थिते तस्मिन् मन्त्री शतमतिस्ततः । नैरात्म्यवादमालम्ब्य प्रोचावेत्थं विकत्थनः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार विज्ञानवादी सम्भिन्नमति मन्त्री जब अपना अभिप्राय प्रकट कर चुप हो गया तब अपनी प्रशंसा करता हुआ शतमति नामका चौथा मन्त्री नैरात्म्यवाद (शून्यवाद) का आलम्बन कर नीचे लिखे अनुसार कहने लगा ॥ ४४ ॥

शून्यमेव जगद्विश्वमिदं मिथ्यावभासते । भ्रान्तेः स्वप्नेन्द्रजालादौ हस्त्यादिप्रतिभासवत् ॥ ४५ ॥

यह समस्त जगत् शून्यरूप है। इसमें नर, पशु-पक्षी, घट-पट आदि पदार्थोंका जो प्रतिभास होता है वह सब मिथ्या है। भ्रान्तिसे ही वैसा प्रतिभास होता है जिस प्रकार स्वप्न अथवा इन्द्रजाल आदिमें हाथी आदिका मिथ्या प्रतिभास होता है ॥ ४५ ॥

ततः कुतोऽस्ति वो जीवः परलोकः कुतोऽस्ति वा । असत्सर्वमिदं यस्माद् गन्धर्वनगरादिवत् ॥ ४६ ॥

इसलिए जब कि सारा जगत् मिथ्या है तब तुम्हारा माना हुआ जीव कैसे सिद्ध हो सकता है और उसके अभावमें परलोक भी कैसे सिद्ध हो सकता है? क्योंकि यह सब गन्धर्वनगरकी तरह असत्स्वरूप है ॥ ४६ ॥

अतोऽमी तपसा युक्तास्तपोऽनुष्ठानतत्पराः । वृथा क्लेशमायान्ति परमार्थानभिज्ञकाः ॥ ४७ ॥

अतः जो पुरुष परलोकके लिए तपश्चरण तथा अनेक अनुष्ठान आदि करते हैं, वे व्यर्थ ही क्लेशको प्राप्त होते हैं। ऐसे जीव यथार्थज्ञानसे रहित हैं ॥ ४७ ॥

ग्रीष्मार्तेन यथा दृष्ट्वा मरुभूमौ मरीचिकाः । जलाशयानुधावन्ति तद्वद्भोगार्थिनोऽप्यमी ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार ग्रीष्मऋतुमें मरुभूमिपर पड़ती हुई सूर्यकी चमकीली किरणोंको जल समझकर मृग व्यर्थ ही दौड़ा करते हैं उसी प्रकार ये भोगाभिलाषी मनुष्य परलोकके सुखोंको सच्चा सुख समझकर व्यर्थ ही दौड़ा करते हैं—उनकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करते हैं ॥ ४८ ॥

> इत्युद्यद्राह्मकुदृष्टान्तकुहेतुमिरपार्थकम् । व्यरंसीत् सोऽप्यतो वक्तुं स्वयंबुद्धः प्रचक्रमे ॥ ४९ ॥

इस प्रकार खोटे दृष्टान्त और खोटे हेतुओं-द्वारा सारहीन वस्तुका प्रतिपादन कर जब शतमति भी चुप हो रहा तब स्वयंबुद्ध मन्त्री कहनेके लिए उद्यत हुए ॥ ४९ ॥

> भूतवादिन् मृषा वक्ति स भवानात्मशून्यताम् । भूतेभ्यो व्यतिरिक्तस्य चैतन्यस्य प्रतीतिः ॥ ५० ॥

हे भूतवादिन्, आत्मा नहीं है, यह आप मिथ्या कह रहे हैं क्योंकि पृथिवी आदि भूतचतुष्टयके अतिरिक्त ज्ञानदर्शनरूप चैतन्यकी भी प्रतीति होती है ॥ ५० ॥

> कायात्मकं न चैतन्यं न कायश्चेतनात्मकः । मिथो विरुद्धधर्मत्वात् तयोश्चिदचिदात्मनोः ॥ ५१ ॥

वह चैतन्य शरीररूप नहीं है और न शरीर चैतन्यरूप ही है क्योंकि दोनोंका परस्पर विरुद्ध स्वभाव है। चैतन्य चित्स्वरूप अर्थात् दर्शन-ज्ञानरूप है और शरीर अचित्स्वरूप है—जड़ है ॥ ५१ ॥

> कायचैतन्ययोरैक्यं विरोधिगुणयोगतः । तयोरन्तर्बहीरूपनिर्मासात् खड्गकोशवत् ॥ ५२ ॥

शरीर और चैतन्य दोनों मिलकर एक नहीं हो सकते क्योंकि दोनोंमें परस्परविरोधी गुणोंका योग पाया जाता है। चैतन्यका प्रतिभास तलवारके समान अन्तरङ्गरूप होता है और शरीरका प्रतिभास म्यानके समान बहिरङ्गरूप होता है। भावार्थ—जिस प्रकार म्यानमें तलवार रहती है, यहाँ म्यान और तलवार दोनोंमें अभेद नहीं होता उसी प्रकार ‘शरीरमें चैतन्य रहता है’ यहाँ शरीर और आत्मामें अभेद नहीं होता। प्रतिभासभेद होनेसे दोनों ही पृथक्-पृथक् पदार्थ सिद्ध होते हैं ॥ ५२ ॥

> न भूतकार्यं चैतन्यं घटते तद्गुणोऽपि वा । सतो जात्यन्तरीभावात्तद्विभागेन चेक्षणात् ॥ ५३ ॥

यह चैतन्य न तो पृथिवी आदि भूतचतुष्टयका कार्य है और न उनका कोई गुण ही है। क्योंकि दोनोंकी जातियाँ पृथक्-पृथक् हैं। एक चैतन्यरूप है तो दूसरा जडरूप है। यथार्थमें कार्यकारणभाव और गुणगुणीभाव सजातीय पदार्थोंमें ही होता है विजातीय पदार्थमें नहीं होता। इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि भूतों आदिसे बने हुए शरीरका ग्रहण उसके एक अंशरूप इन्द्रियोंके द्वारा ही होता है जब कि ज्ञानरूप चैतन्यका स्वरूप अतीन्द्रिय है—ज्ञानमात्रसे ही जाना जाता है। यदि चैतन्य, पृथिवी आदिका कार्य अथवा स्वभाव होता तो पृथिवी आदिसे निर्मित शरीरके साथ-ही-साथ इन्द्रियों-द्वारा उसका भी ग्रहण अवश्य होता, परन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शरीर और चैतन्य पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं ॥ ८३ ॥

न विकारोऽपि देहस्य संविद्भवितुमर्हति । भस्मादितद्विकारेभ्यो वैधर्म्यान्मूर्त्यसंभवात् ॥ ८४ ॥

वह चैतन्य शरीरका भी विकार नहीं हो सकता क्योंकि भस्म आदि जो शरीरके विकार हैं, उनसे वह विलक्षण होता है। यदि चैतन्य शरीरका विकार होता तो उसके भस्म आदि विकारोंमें भी चैतन्य होना चाहिए था परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि चैतन्य शरीरका विकार नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि शरीरका विकार मूर्तिक होगा परन्तु यह चैतन्य अमूर्तिक है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसे रहित है—इन्द्रियों-द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता ॥ ८४ ॥

गृहप्रदीपयोर्यद्वत् सम्बन्धो युतसिद्धयोः । आधाराधेयरूपत्वात् तद्वद्देहोपयोगयोः ॥ ८५ ॥

शरीर और आत्माका सम्बन्ध ऐसा है जैसा कि घर और दीपकका होता है। आधार और आधेय रूप होनेसे घर और दीपक जिस प्रकार पृथक् सिद्ध पदार्थ हैं उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी पृथक् सिद्ध पदार्थ हैं ॥ ८५ ॥

सर्वाङ्गीणैकसंविद्प्रतिभासादबाधितात् । प्रत्यङ्गप्रविभक्तेभ्यो भूतेभ्यः संविदो भिदा ॥ ८६ ॥

आपका सिद्धान्त है कि शरीरके प्रत्येक अंगोपांगकी रचना पृथक्-पृथक् भूतचतुष्टयसे होती है सो इस सिद्धान्तके अनुसार शरीरके प्रत्येक अंगोपांगमें पृथक्-पृथक् चैतन्य होना चाहिए क्योंकि आपका मत है कि चैतन्य भूतचतुष्टयका ही कार्य है। परन्तु देखा इससे विपरीत जाता है। शरीरके सब अंगोपांगोंमें एक ही चैतन्यका प्रतिभास होता है, उसका कारण यह भी है कि जब शरीरके किसी एक अंगमें कण्टकादि चुभ जाता है तब सारे शरीरमें दुःखका अनुभव होता है। इससे मालूम होता है कि सब अंगोपांगोंमें व्याप्त होकर रहनेवाला चैतन्य भूतचतुष्टयका कार्य होता तो वह भी प्रत्येक अंगमें पृथक्-पृथक् ही होता ॥ ८६ ॥

न मूर्तिमतो देहाच्चैतन्यमतदात्मकम् । स्याद्धेतुफलभावो हि न मूर्तामूर्तयोः क्वचित् ॥ ८७ ॥

इसके सिवाय इस बातका भी विचार करना चाहिए कि मूर्तिमान् शरीरसे मूर्तिरहित चैतन्यकी उत्पत्ति कैसे होगी? क्योंकि मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् पदार्थोंमें कार्यकारण भाव नहीं होता ॥ ५७ ॥

> अमूर्तमक्षविज्ञानं मूर्तादक्षकदम्बकात् । दृष्टमुत्पद्यमानं चेन्नास्य मूर्तत्वसंभवात् ॥ ५८ ॥

कदाचित् आप यह कहें कि मूर्तिमान् पदार्थसे भी अमूर्तिमान् पदार्थकी उत्पत्ति हो सकती है, जैसे कि मूर्तिमान् इन्द्रियोंसे अमूर्तिमत् ज्ञान उत्पन्न हुआ देखा जाता है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए ज्ञानको हम अमूर्तिक ही मानते हैं ॥ ५८ ॥

> कर्मणा मूर्तेन बद्धो देहं बिभ्रदात्मा मूर्तेन कर्मणा बद्धः । कथंचिदक्षजोऽपि बोधः स्यान्मूर्तिमानतः ॥ ५९ ॥

उसका कारण भी यह है कि यह आत्मा मूर्तिक कर्मोंके साथ बन्धको प्राप्त हो एक रूप हो गया है इसलिए कथञ्चित् मूर्तिक माना जाता है। जब कि आत्मा भी कथञ्चित् मूर्तिक माना जाता है तब इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए ज्ञानको भी मूर्तिक मानना उचित है। इससे सिद्ध हुआ कि मूर्तिक पदार्थोंसे अमूर्तिक पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं होती ॥ ५९ ॥

> कायाकारेण भूतानां परिणामोऽन्यहेतुकः । कर्मसारथिमात्मानं व्यतिरिच्य स कस्ततः ॥ ६० ॥

इसके सिवाय एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि पृथिवी आदि भूतचतुष्टयमें जो शरीरके आकार परिणमन हुआ है वह भी किसी अन्य निमित्तसे हुआ है। यदि उस निमित्तपर विचार किया जाये तो कर्मसहित संसारी आत्माको छोड़कर और दूसरा क्या निमित्त हो सकता है? अर्थात् कुछ नहीं। भावार्थ—कर्मसहित संसारी आत्मा ही पृथिवी आदिको शरीररूप परिणमन करता है, इससे शरीर और आत्माकी सत्ता पृथक् सिद्ध होती है ॥ ६० ॥

> ततः सद्भवनार्थाद्देहात् सद्भवनात् पुनः । जलबुद्बुदवज्जीवं मा मंस्थास्तद्विलक्षणम् ॥ ६१ ॥

यदि कहो कि जीव पहले नहीं था, शरीरके साथ ही उत्पन्न होता है और शरीरके साथ ही नष्ट हो जाता है इसलिए जलके बबूलेके समान है जैसे जलका बबूला जलमें ही उत्पन्न होकर उसीमें नष्ट हो जाता है वैसे ही यह जीव भी शरीरके साथ उत्पन्न होकर उसीके साथ नष्ट हो जाता है सो आपका यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि शरीर और जीव दोनों ही विलक्षण-विसदृश पदार्थ हैं। विसदृश पदार्थसे विसदृश पदार्थकी उत्पत्ति किसी भी तरह नहीं हो सकती ॥ ६१ ॥

अथ देहः किमुपादानं संविदः सहकारि वा । नोपादानमुपादेयाद् विजातीयत्वदर्शनात् ॥ ६२ ॥

आपका कहना है कि शरीरसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है—यहाँ हम पूछते हैं कि शरीर चैतन्यकी उत्पत्तिमें उपादान कारण है अथवा सहकारी कारण? उपादान कारण तो हो नहीं सकता क्योंकि उपादेय-चैतन्यसे शरीर विजातीय पदार्थ है ॥ ६२ ॥

सहकारीति चेदिष्टमुपादानं तु मार्ग्यताम् । सूक्ष्मभूतसमाहारस्तदुपादानमित्यसत् ॥ ६३ ॥

यदि सहकारी कारण मानो तो यह हमें भी इष्ट है परन्तु उपादान कारणकी खोज फिर भी करनी चाहिए। कदाचित् यह कहो कि सूक्ष्म रूपसे परिणत भूतचतुष्टयका समुदाय ही उपादान कारण है, तो आपका यह कहना असत् है क्योंकि सूक्ष्म भूतचतुष्टयके संयोग-द्वारा उत्पन्न हुए शरीरसे वह चैतन्य पृथक् ही प्रतिभासित होता है ॥ ६३ ॥

ततो भूतमयाद् देहाद् व्यतिभिन्नं स्वलक्षणम् । जीवद्रव्यमुपादानं चैतन्यस्येति गृह्यताम् ॥ ६४ ॥

इसलिए जीवद्रव्यको ही चैतन्यका उपादान कारण मानना ठीक है चूँकि वही उसका सजातीय और सुलक्षण है ॥ ६४ ॥

एतेनैव प्रतिक्षिप्तं मदिराङ्गनिदर्शनम् । मदिराङ्गेष्वविरोधिन्या मदशक्तेर्विभावनात् ॥ ६५ ॥

भूतवादीने जो पुष्प, गुड़, पानी आदिके मिलनेसे मदशक्तिके उत्पन्न होनेका दृष्टान्त दिया है, उपर्युक्त कथनसे उसका भी निराकरण हो जाता है क्योंकि मदिराके कारण जो गुड़ आदि हैं, वे जड़ और मूर्तिक हैं तथा उनसे जो मादक शक्ति उत्पन्न होती है वह भी जड़ और मूर्तिक है। भावार्थ—मादक शक्तिका उदाहरण विषम है। क्योंकि प्रकृतमें आप सिद्ध करना चाहते हैं विजातीय द्रव्यसे विजातीयकी उत्पत्ति और उदाहरण दे रहे हैं सजातीय द्रव्यसे सजातीयकी उत्पत्तिका ॥ ६५ ॥

सत्यं भूतोपसृष्टोऽयं भूतवादी वृथैव यः । भूतमात्रमिदं विश्वमभूतं प्रतिपादयेत् ॥ ६६ ॥

सचमुचमें यह भूतवादी चार्वाक भूत-पिशाचोंसे ग्रसित हुआ जान पड़ता है। यदि ऐसा नहीं होता तो इस संसारको जीवरहित केवल पृथिवी, जल, तेज, वायुरूप ही कैसे कहता? ॥ ६६ ॥

पृथिव्यादिष्वनुद्भूतं चैतन्यं पूर्वमस्ति चेत् । नाचेतनेषु चैतन्यशक्तेर्व्यक्तमनन्वयात् ॥ ६७ ॥

कदाचित् भूतवादी यह कहे कि पृथिवी आदि भूतचतुष्टयमें चैतन्यशक्ति अव्यक्तरूपसे पहलेसे ही रहती है सो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन पदार्थमें चेतनशक्ति नहीं पायी जाती, यह बात अत्यन्त प्रसिद्ध है ॥ ६७ ॥

आद्यन्तौ देहिनां देहौ न विना भवतस्तनूम् । पूर्वोत्तरे संविदधिष्ठानत्वान्मध्यदेहवत् ॥ ६८ ॥

इस उपर्युक्त कथनसे सिद्ध हुआ कि जीव कोई भिन्न पदार्थ है और ज्ञान उसका लक्षण है। जैसे इस वर्तमान शरीरमें जीवका अस्तित्व है उसी प्रकार पिछले और आगेके शरीरमें भी उसका अस्तित्व सिद्ध होता है क्योंकि जीवोंका वर्तमान शरीर पिछले शरीरके बिना नहीं हो सकता। उसका कारण यह है कि वर्तमान शरीरमें स्थित आत्मामें जो दुग्धपानादि क्रियाएँ देखी जाती हैं, वे पूर्वभवका संस्कार ही हैं। यदि वर्तमान शरीरके पहले इस जीवका कोई शरीर नहीं होता और यह नवीन ही उत्पन्न हुआ होता तो जीवकी सहसा दुग्धपानादिमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार वर्तमान शरीरके बाद भी यह जीव कोई-न-कोई शरीर धारण करेगा क्योंकि ऐन्द्रियिक ज्ञानसहित आत्मा बिना शरीरके रह नहीं सकता ॥ ६८ ॥

तौ देहौ यत्र तं विद्धि परलोकमसंशयम् । देही च परलोकी स्यात् प्रेत्यभावफलोपभुक् ॥ ६९ ॥

जहाँ यह जीव अपने अगले-पिछले शरीरोंसे युक्त होता है वहीं उसका परलोक कहलाता है और उन शरीरोंमें रहनेवाला आत्मा परलोकी कहा जाता है तथा वही परलोकी आत्मा परलोकसम्बन्धी पुण्य-पापोंके फलको भोगता है ॥ ६९ ॥

जात्यनुस्मरणाज्जीवगतागतविनिश्चयात् । आप्तोक्तिसंभवाच्चैव जीवास्तित्वविनिश्चयः ॥ ७० ॥

इसके सिवाय, जातिस्मरणसे, जीवन-मरणरूप आवागमनसे और आप्तप्रणीत आगमसे भी जीवका पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है ॥ ७० ॥

अन्यप्रेरितमेतस्य शरीरस्य विचेष्टितम् । हिताहितमभिसंधाय यन्त्रस्येव विचेष्टितम् ॥ ७१ ॥

जिस प्रकार किसी यन्त्रमें जो हलन-चलन होता है वह किसी अन्य चालककी प्रेरणासे होता है, इसी प्रकार इस शरीरमें भी जो यातायातरूप हलन-चलन हो रहा है वह भी किसी अन्य चालककी प्रेरणासे ही हो रहा है। वह

चालक आत्मा ही है। इसके सिवाय शरीरकी जो चेष्टाएँ होती हैं, सो हित-अहितके विचारपूर्वक होती हैं—इससे भी जीवका अस्तित्व पृथक् जाना जाता है ॥ ७१ ॥

केवलं भूतसंयोगाद् यदि चैतन्यं प्रजायते । पिठरे रन्धनायाधिश्रिते स्यात्तत्समुद्भवः ॥ ७२ ॥

यदि आपके कहे अनुसार पृथिवी आदि भूतचतुष्टयके संयोगसे जीव उत्पन्न होता है तो भोजन पकानेके लिए आगपर रखी हुई बटलोईमें भी जीवकी उत्पत्ति हो जानी चाहिए क्योंकि वहाँ भी तो अग्नि, पानी, वायु और पृथिवीरूप भूतचतुष्टयका संयोग होता है ॥ ७२ ॥

इत्यादिभूतवादीष्टमतदूषणसंभवात् । अनर्थकं तदुन्मत्तप्रलपितमवधीर्यताम् ॥ ७३ ॥

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भूतवादियोंके मतमें अनेक दूषण हैं, इसलिए यह विचार समझिए कि भूतवादियोंका मत केवल मूर्खोंका प्रलाप है उसमें कुछ भी सार नहीं है ॥ ७३ ॥

विज्ञप्तिमात्रसंसिद्धिर्न विज्ञानादिहास्ति ते । साध्यसाधनयोरैक्यात् कुतस्तत्त्वविनिश्चितिः ॥ ७४ ॥

इसके अनन्तर स्वयंबुद्धने विज्ञानवादीसे कहा कि आप इस जगत्को विज्ञान मात्र मानते हैं—विज्ञानसे अतिरिक्त किसी पदार्थका सद्भाव नहीं मानते परन्तु विज्ञानसे ही विज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि आपके मतानुसार साध्य, साधन दोनों एक हो जाते हैं—विज्ञान ही साध्य होता है और विज्ञान ही साधन होता है। ऐसी हालतमें तत्त्वका निश्चय कैसे हो सकता है? ॥ ७४ ॥

विज्ञानव्यतिरिक्तस्य वाक्यस्येह प्रयोगतः । बहिरर्थस्य संसिद्धेर्विज्ञानं बहु युज्यते ॥ ७५ ॥

एक बात यह भी है कि संसारमें बाह्यपदार्थोंकी सिद्धि वाक्योंके प्रयोगसे ही होती है। यदि वाक्योंका प्रयोग न किया जाये तो किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं होगी और उस अवस्था संसारका व्यवहार बन्द हो जायेगा। यदि वह वाक्य विज्ञानसे भिन्न है तो वाक्योंका प्रयोग रहते हुए विज्ञानाद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ७५ ॥

किं केन साधितं तस्यान्मृषाविज्ञप्तिमात्रकम् । कुतो ग्राह्यादिभेदोऽपि विज्ञानैक्ये निरंशके ॥ ७६ ॥

यदि यह कहो कि वे वाक्य भी विज्ञान ही हैं तो हे सखे, बता कि तूने यह 'संसार विज्ञान मात्र है' इस विज्ञानाद्वैतकी सिद्धि किसके द्वारा की है? इसके सिवाय एक बात यह भी विचारणीय है कि जब तू निरंश निर्विभाग विज्ञानको ही मानता है तब ग्राह्य आदिका भेदव्यवहार किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा? भावार्थ—विज्ञान पदार्थोंको जानता है, इसलिए ग्राहक कहलाता है और पदार्थ ग्राह्य कहलाते हैं। जब तू ग्राह्य-पदार्थोंकी सत्ता ही स्वीकृत नहीं करता तो ग्राहक किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा? यदि ग्राह्यको स्वीकार करता है तो विज्ञानका अद्वैत नष्ट हुआ जाता है ॥ ७६ ॥

> विज्ञप्तिर्विषयाकारशून्या न प्रतिभासते । प्रकाश्येन विना सिद्ध्येत् क्वचित् किन्नु प्रकाशकम् ॥ ७७ ॥

ज्ञानका प्रतिभास घट-पटादि विषयोंके आकारसे शून्य नहीं होता अर्थात् घट-पटादि विषयोंके रहते हुए ही ज्ञान उन्हें जान सकता है, यदि घट-पटादि विषय न हों तो उन्हें जाननेवाला ज्ञान भी नहीं हो सकता। क्या कभी प्रकाश करने योग्य पदार्थके बिना भी कहीं कोई प्रकाशक प्रकाश करनेवाला होता है? अर्थात् नहीं होता। इस प्रकार यदि ज्ञानको मानते हो तो उसके विषयभूत पदार्थोंको भी मानना चाहिए ॥ ७७ ॥

> विज्ञप्त्या परसंवित्तेर्ग्रहः स्याद् वा न वा तव । तद्ग्रहे संविज्ञाननिरालम्बनताक्षतिः ॥ ७८ ॥

हम पूछते हैं कि आपके मतमें एक विज्ञानसे दूसरे विज्ञानका ग्रहण होता है अथवा नहीं? यदि होता है तो आपके माने हुए विज्ञानमें निरालम्बनताका अभाव हुआ अर्थात् वह विज्ञान निरालम्ब नहीं रहा, उसने द्वितीय विज्ञानको जाना इसलिए उन दोनोंमें ग्राह्य-ग्राहक भाव सिद्ध हो गया जो कि विज्ञानाद्वैतका बाधक है ॥ ७८ ॥

> तदग्रहेऽन्यसंतानसाधने का प्रतिक्रिया । अनुमानेन तत्सिद्धौ स्याद् बाह्यार्थसंस्थितिः ॥ ७९ ॥

यदि यह कहो कि एक विज्ञान दूसरे विज्ञानको ग्रहण नहीं करता तो फिर आप उस द्वितीय विज्ञानको जो कि अन्य सन्तानरूप है, सिद्ध करनेके लिए क्या हेतु देंगे? कदाचित् अनुमानसे उसे सिद्ध करोगे तो घट-पट आदि बाह्य पदार्थोंकी स्थिति भी अवश्य सिद्ध हो जायगी क्योंकि जब साध्य-साधनरूप अनुमान मान लिया तब विज्ञानाद्वैत कहाँ रहा। उसके अभावमें अनुमानके विषयभूत घट-पटादि पदार्थ भी अवश्य मानने पड़ेंगे ॥ ७९ ॥

> विश्वं विज्ञप्तिमात्रं चेद् वाग्विज्ञानं मृषाखिलम् । तदभावे बाह्यार्थशून्यत्वात् कुतः सत्येतरस्थितिः ॥ ८० ॥

यदि यह संसार केवल विज्ञानमय ही है, तो फिर समस्त वाक्य और ज्ञान मिथ्या हो जायेंगे, क्योंकि जब बाह्य घट-पटादि पदार्थ ही नहीं हैं तो 'ये वाक्य और ज्ञान सत्य हैं तथा ये असत्य' यह सत्यासत्य व्यवस्था कैसे हो सकेगी? ॥ ८० ॥

> ततोऽस्ति बहिरर्थोऽपि साधनादिप्रयोगतः । तस्माद् विज्ञप्तिवादोऽयं बालभाषितपेलवः ॥ ८१ ॥

जब आप साधन आदिका प्रयोग करते हैं तब साधनसे भिन्न साध्य भी मानना पड़ेगा और वह साध्य घट-पट आदि बाह्य पदार्थ ही होंगे। इस तरह विज्ञानसे अतिरिक्त बाह्य पदार्थोंका भी सद्भाव सिद्ध हो जाता है। इसलिए आपका यह विज्ञानाद्वैतवाद केवल बालकोंकी बोलीके समान सुननेमें ही मनोहर लगता है ॥ ८१ ॥

> शून्यवादेऽपि शून्यत्वप्रतिपादि वचस्तव । विज्ञानं चास्ति वा नेति विकल्पद्वयकल्पना ॥ ८२ ॥

इस प्रकार विज्ञानवादका खण्डन कर स्वयम्बुद्ध शून्यवादका खण्डन करनेके लिए तत्पर हुए। वे बोले कि—आपके शून्यवादमें भी, शून्यत्वका प्रतिपादन करनेवाले वचन और इनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है, या नहीं? इस प्रकार दो विकल्प उत्पन्न होते हैं ॥ ८२ ॥

> वाग्विज्ञानं समस्तीदमिति चेद् ध्मातो भवान् । तद्वत्कृत्स्नस्य संसिद्धेरन्यथा हीयते मतः ॥ ८३ ॥

यदि आप इन विकल्पोंके उत्तरमें यह कहें कि हाँ, शून्यत्वको प्रतिपादन करनेवाले वचन और ज्ञान दोनों ही हैं; तब खेदके साथ कहना पड़ता है कि आप जीत लिये गये क्योंकि वाक्य और विज्ञानकी तरह आपको सब पदार्थ मानने पड़ेंगे। यदि यह कहो कि हम वाक्य और विज्ञानको नहीं मानते तो फिर शून्यवादकी सिद्धि किस प्रकार होगी? भावार्थ—यदि आप शून्यता प्रतिपादक वचन और विज्ञानको स्वीकार करते हैं तो वचन और विज्ञानके विषयभूत जीवादि समस्त पदार्थ भी स्वीकृत करने पड़ेंगे। इसलिए शून्यवाद नष्ट हो जायेगा और यदि वचन तथा विज्ञानको स्वीकृत नहीं करते हैं तब शून्यवादका समर्थन व मनन किसके द्वारा करेंगे? ॥ ८३ ॥

> तदेतत् प्रतिभातीदं शून्यमुन्मत्तरुतोपमम् । ततोऽस्ति जीवो देहाद्यो दयासंयमलक्षणः ॥ ८४ ॥

ऐसी अवस्थामें आपका यह शून्यवादका प्रतिपादन करना उन्मत्त पुरुषके रोनेके समान व्यर्थ है। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि जीव शरीरादिसे पृथक् पदार्थ है तथा दया, संयम आदि लक्षणवाला धर्म भी अवश्य है ॥ ८४ ॥

> सर्वज्ञोपज्ञमेवैतत् प्रमाणं तत्त्वविदां मतम् । आप्तं मन्यामतान्वेवमवहेयान्यतो बुधैः ॥ ८५ ॥

तत्त्वज्ञानी मनुष्य उन्हीं तत्त्वोंको मानते हैं जो सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे हुए हों। इसलिए विद्वानोंको चाहिए कि वे आप्ताभास पुरुषों-द्वारा कहे हुए तत्त्वोंको त्याज्य समझें ॥ ८५ ॥

> इति तद्वचनाज्जाता सर्वतस्तत्त्वनिश्चया । निराशङ्कात्मसद्भावे संप्रीतमद सभापतिः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार स्वयंबुद्ध मन्त्रीके वचनोंसे वह सम्पूर्ण सभा आत्माके सद्भावके विषयमें संशयरहित हो गयी अर्थात् सभीने आत्माका पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया और सभाके अधिपति राजा महाबल भी अतिशय प्रसन्न हुए ॥ ८६ ॥

> परवादिनगास्तेऽपि स्वयंबुद्धवचोऽशनेः । निष्ठुरापातमासाद्य सद्यः प्रम्लानिमागताः ॥ ८७ ॥

वे परवादीरूपी वृक्ष भी स्वयंबुद्ध मन्त्रीके वचनरूपी वज्रके निष्ठुर प्रहारसे शीघ्र ही म्लान हो गये ॥ ८७ ॥

> पुनः प्रशान्तगम्भीरे स्थिते तस्मिन् सदस्यसौ । दृष्टश्रुतानुभूतार्थ संबन्धीदमुदभाषत ॥ ८८ ॥

इसके अनन्तर जब सब सभा शान्तभावसे चुपचाप बैठ गयी तब मन्त्री स्वयंबुद्ध देखे हुए, सुने हुए और अनुभूत पदार्थसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा कहने लगे ॥ ८८ ॥

> श्रृणु भोस्त्वं महाराज वृत्तमाख्यानकं पुरा । खेन्द्रोऽभूदरविन्दाख्यो भवद्वंशशिखामणिः ॥ ८९ ॥

हे महाराज, मैं एक कथा कहता हूँ उसे सुनिए। कुछ समय पहले आपके वंशमें चूड़ामणिके समान एक अरविन्द नामका विद्याधर हुआ था ॥ ८९ ॥

> स ततः पुण्यपाकेन शास्ति स्म परमां पुरीम् । उद्दृप्तप्रतिसामन्तदोर्दपर्पानपसारयन् ॥ ९० ॥

वह अपने पुण्योदयसे अहंकारी शत्रुओंके भुजाओंका दर्प नष्ट करता हुआ इस उत्कृष्ट अलका नगरीका शासन करता था ॥ ९० ॥

विषयानन्वभूद् दिव्यानसौ खेचरगोचरान् । सूनू तस्य हरिचन्द्रश्च कुरुविन्दश्च जज्ञतुः ॥ ९१ ॥

वह राजा विद्याधरोंके योग्य अनेक उत्तमोत्तम भोगोंका अनुभव करता रहता था। उसके दो पुत्र हुए, एकका नाम हरिचन्द्र और दूसरेका नाम कुरुविन्द था ॥ ९१ ॥

स बह्वारम्भसंरम्भरौद्रध्यानाभिसंधिना । बबन्ध नरकायुष्यं तीव्रशातफलोदयम् ॥ ९२ ॥

उस अरविन्द राजाने बहुत आरम्भको बढ़ानेवाले रौद्रध्यानके चिन्तनसे तीव्र दुःख देनेवाली नरकआयुका बन्ध कर लिया था ॥ ९२ ॥

अथ संसदि दाहज्वरविजृम्भितः । बभूव तनुसंतापः कदाचिददतिदुःसहः ॥ ९३ ॥

जब उसके मरनेके दिन निकट आये तब उसके दाहज्वर उत्पन्न हो गया जिससे दिनों-दिन शरीरका अत्यन्त दुःसह सन्ताप बढ़ने लगा ॥ ९३ ॥

कह्लारवारिभिर्भृशं शीतशीतलकानिलैः । न निवृत्तिमगाद् बाढं हारैर्न हरिचन्दनैः ॥ ९४ ॥

वह राजा न तो शीतल जलसे सुवासित कमलोंके द्वारा, न पंखोंकी शीतल हवाके द्वारा, न मणियोंके हारके द्वारा और न चन्दनके लेपके द्वारा ही सुख-शान्ति पा सका था ॥ ९४ ॥

विद्यासु विमुखीभावं स्वासु यातासु भूपतौ । पुण्यक्षयात् परिक्षीणमदशक्तिरिवेभराट् ॥ ९५ ॥

उस समय पुण्यक्षय होनेसे उसकी समस्त विद्याएँ उसे छोड़कर चली गयी थीं इसलिए वह उस गजराजके समान अशक्त हो गया था जिसकी कि मदशक्ति सर्वथा क्षीण हो गयी हो ॥ ९५ ॥

दाहज्वरपरीताङ्गः संतापं सोढुमक्षमः । हरिचन्द्रमथाहूय सुतमित्यादिशत् ततः ॥ ९६ ॥

जब वह दाहज्वरसे समस्त शरीरमें बेचैनी पैदा करनेवाले सन्तापको नहीं सह सका तब उसने एक दिन अपने हरिचन्द्र पुत्रको बुलाकर कहा ॥ ९६ ॥

हे पुत्र ममाङ्गेषु संतापो वर्धतेतराम् । पश्य कह्लाराणां परिम्लानिं तदर्पणात् ॥ ९७ ॥

हे पुत्र, मेरे शरीरमें यह सन्ताप बढ़ता ही जाता है। देखो सौगन्धिक कमलोंकी जो मालाएँ सन्ताप दूर करनेके लिए शरीरपर रखी गयी थीं वे कैसी मुरझा गयी हैं ॥ ९७ ॥

तन्मामुत्तरकुरून् पुत्र गमय स्वविद्यया । तांश्च शीतान् वनोद्देशान् सीतानद्यास्तटाश्रितान् ॥ ९८ ॥

इसलिए हे पुत्र, तुम मुझे अपनी विद्याके द्वारा शीघ्र ही उत्तरकुरु देशमें भेज दो और उत्तरकुरुमें भी उन वनोंमें भेजना जो कि सीतोदा नदीके तटपर स्थित हैं तथा अत्यन्त शीतल हैं ॥ ९८ ॥

यत्र कल्पतरून् धुन्वन् सीतोदावीचिचयोत्थितः । दाहान्मां मातरिश्वास्मादुपशान्तिं स नेष्यति ॥ ९९ ॥

कल्पवृक्षोंको हिलानेवाली तथा सीतोदा नदीकी तरंगोंसे उठी हुई वहाँकी शीतल वायु मेरे इस सन्तापको अवश्य ही शान्त कर देगी ॥ ९९ ॥

इति तद्वचनात् पुत्रः प्रैषिषद् व्योमगामिनीम् । स नृपः साप्यपुण्यस्य नाभूत्तस्योपकारिणी ॥ १०० ॥

पिताके ऐसे वचन सुनकर राजपुत्र हरिचन्द्रने अपनी आकाशगामिनी विद्या भेजी परन्तु राजा अरविन्दका पुण्य क्षीण हो चुका था इसलिए वह विद्या भी उसका उपकार नहीं कर सकी अर्थात् उसे उत्तरकुरु देश नहीं भेज सकी ॥ १०० ॥

विद्यावैमुख्यतो मत्वा पितुर्व्याधिरसाध्यताम् । पुनः कर्तव्यतामूढः सोऽभूदुद्विग्नमानसः ॥ १०१ ॥

जब आकाशगामिनी विद्या भी अपने कार्यसे विमुख हो गयी तब पुत्रने समझ लिया कि पिताकी बीमारी असाध्य है। इससे वह बहुत उदास हुआ और किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया ॥ १०१ ॥

अथान्येद्युरमुष्याङ्गे न्यपतच्छोणितबिन्दवः । मिथः कलहविश्लिष्टगृहकोकिलवालधेः ॥ १०२ ॥

अनन्तर किसी एक दिन दो छिपकलियाँ आपसमें लड़ रही थीं। लड़ते-लड़ते एककी पूँछ टूट गयी, जिससे निकली हुई खूनकी कुछ बूँदें राजा अरविन्दके शरीरपर आकर पड़ीं ॥ १०२ ॥

> तैस्तस्य किंचिदङ्गानि निर्ववुः पापदोषतः । सोऽतुष्यच्चेति दिष्ट्याद्य परं लब्धं मयौषधम् ॥ १०३ ॥

उन खूनकी बूँदोंसे उसका शरीर ठण्डा हो गया—दाहज्वरकी व्यथा शान्त हो गयी। पापके उदयसे वह बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और विचारने लगा कि आज मैंने दैवयोगसे बड़ी अच्छी ओषधि पा ली है ॥ १०३ ॥

> ततोऽन्यं कुरुविन्दाख्यं सूनुमाहूय सोऽवदत् । पुत्र मे रुधिरापूर्णा वाप्येका क्रियतामिति ॥ १०४ ॥

उसने कुरुविन्द नामके दूसरे पुत्रको बुलाकर कहा कि हे पुत्र, मेरे लिए खूनसे भरी हुई एक बावड़ी बनवा दो ॥ १०४ ॥

> पुनरप्यवदच्छन्दविसङ्गगोऽस्मिन् वनान्तरे । मृगा बहुविधाः सन्ति तैस्त्वं प्रकृतमाचर ॥ १०५ ॥

राजा अरविन्दको विभङ्गावधि ज्ञान था इसलिए विचार कर फिर बोला—इसी समीपवर्ती वनमें अनेक प्रकारके मृग रहते हैं, उनसे तू अपना काम कर अर्थात् उन्हें मारकर उनके खूनसे बावड़ी भर दे ॥ १०५ ॥

> स तद्वचनमाकर्ण्य पापभीरुर्विचिन्त्य च । तत्कर्तुमपारयन् पापं मूकं भूत्वा क्षणं स्थितः ॥ १०६ ॥

वह कुरुविन्द पापसे डरता रहता था इसलिए पिताके ऐसे वचन सुनकर तथा कुछ विचारकर पापमय कार्य करनेके लिए असमर्थ होता हुआ क्षण-भर चुपचाप खड़ा रहा ॥ १०६ ॥

> अत्यासन्नमृतिं ज्ञात्वा तं बद्धनरकायुषम् । दिव्यज्ञानदृशः साधोस्तत्कार्येऽभूत् स शंसकः ॥ १०७ ॥

तत्पश्चात् वनमें गया। वहाँ किसी अवधिज्ञानी मुनिसे जब उसे मालूम हुआ कि हमारे पिताकी मृत्यु अत्यन्त निकट है तथा उन्होंने नरकायुका बन्ध कर लिया है तब वह उस पापकर्मके करनेसे रुक गया ॥ १०७ ॥

> अनुलङ्घ्यं पितुर्वाक्यं मन्यमानस्तथाप्यसौ । कृत्रिमैः स्वरसैः पूर्णां वापीमेकामकारयत् ॥ १०८ ॥

परन्तु पिताके वचन भी उल्लंघन करने योग्य नहीं हैं ऐसा मानकर उसने कृत्रिम रुधिर अर्थात् लाखके रंगसे भरी हुई एक बावड़ी बनवायी ॥ १०८ ॥

> स तदाकर्णनात् प्रीतिमगमत् पापपण्डितः । अलब्धपूर्वमासाद्य निधानमिव दुर्गतः ॥ १०९ ॥

पापकार्य करनेमें अतिशय चतुर राजा अरविन्दने जब बावड़ी तैयार होनेका समाचार सुना तब वह बहुत ही हर्षित हुआ जैसे कोई दरिद्र पुरुष पहले कभी प्राप्त नहीं हुए निधानको देखकर हर्षित होता है ॥ १०९ ॥

> लाक्षामारुणरागेण वारिणा विप्रतारितः । बहु मेने स तां पापो वापीं वैतरणीमिव ॥ ११० ॥

जिस प्रकार पापी-नारकी जीव वैतरणी नदीको बहुत अच्छी मानता है उसी प्रकार वह पापी अरविन्द राजा भी लाखके लाल रंगसे धोखा खाकर उसे सचमुचका रुधिर समझकर उस बावड़ीको बहुत अच्छी मान रहा था ॥ ११० ॥

> तत्रानीतश्च तन्मध्ये क्षिप्रं शयितोऽमुतः । निकामं कृतगण्डूषः कृतकं तदबुद्ध्य च ॥ १११ ॥

जब वह उस बावड़ीके पास लाया गया तो आते ही उसके बीचमें सो गया और इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगा। परन्तु कुल्ला करते ही उसे मालूम हो गया कि यह कृत्रिम रुधिर है ॥ १११ ॥

> नरकायुरपर्याप्तं पर्यापयिषन्निव । रुष्टः स सुतमाहन्तुं निष्पपात पापोदधेर्विधुः ॥ ११२ ॥

यह जानकर पापरूपी समुद्रको बढ़ानेके लिए चन्द्रमाके समान वह बुद्धिरहित राजा अरविन्द, मानो नरककी पूर्ण आयु प्राप्त करनेकी इच्छासे ही रुष्ट होकर पुत्रको मारनेके लिए दौड़ा ॥ ११२ ॥

> स रुष्टः पुत्रमाहन्तुमाधावन् पतितोऽन्तरे । स्वासिधेनुकया दीर्णहृदयो मृतिमासदत् ॥ ११३ ॥

परन्तु बीचमें इस तरह गिरा कि अपनी ही तलवारसे उसका हृदय विदीर्ण हो गया तथा वह मर गया ॥ ११३ ॥

प्रपन्नः कुमरणं यातः कुगतिं सोऽधर्मतः । कथेयमद्युनाप्यस्यां नगर्यां जनवल्लभा ॥ ११४ ॥

इस प्रकार वह कुमरणको पाकर पापके योगसे नरकगतिको प्राप्त हुआ। हे राजन्! यह कथा इस अलका नगरीमें लोगोंको आजतक याद है ॥ ११४ ॥

ततो भग्नैकरदनो दन्तीवानमिताननः । उत्खातफणमाणिक्यो महाहिरिव निष्प्रभः ॥ ११५ ॥

जिस प्रकार दाँत टूट जानेसे हाथी अपना मुँह नीचा कर लेता है अथवा जिस प्रकार फणका मणि उखाड़ लेनेसे सर्प तेजरहित हो जाता है ॥ ११५ ॥

पितुर्मानोरिवापायात् कुरुविन्दोऽरविन्दवत् । परिम्लानतनुच्छायः स शोच्यामगमद् दशाम् ॥ ११६ ॥

अथवा सूर्य अस्त हो जानेसे जिस प्रकार कमल मुरझा जाता है उसी प्रकार पिताकी मृत्युसे कुरुविन्दने अपना मुँह नीचा कर लिया, उसका सब तेज जाता रहा तथा सारा शरीर मुरझा गया—शिथिल हो गया। इस प्रकार वह शोचनीय अवस्थाको प्राप्त हुआ था ॥ ११६ ॥

तथात्रेव समुद्भूतः कुले विस्तीर्णवारिधौ । दण्डो नाम्नामवत् खेन्द्रो दण्डितारातिमण्डलः ॥ ११७ ॥

हे राजन्, अब दूसरी कथा सुनिए—समुद्रके समान विस्तीर्ण आपके इस वंशमें एक दण्ड नामका विद्याधर हो गया है। वह बड़ा प्रतापी था। उसने अपने समस्त शत्रुओंको दण्डित किया था ॥ ११७ ॥

मणिमालीव्यभूत्तस्मात् सूनुर्मणिरिवार्णवे । नियोज्य यौवराज्ये तं मुमोद भोगानभुङ्क्त सः ॥ ११८ ॥

जिस प्रकार समुद्रसे मणि उत्पन्न होता है उसी प्रकार उस दण्ड विद्याधरसे भी मणिमाली नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वह बड़ा हुआ तब राजा दण्डने उसे युवराज-पदपर नियुक्त कर दिया और आप इच्छानुसार भोग भोगने लगा ॥ ११८ ॥

अनुभूय सुचिरं भोगान्नातृप्यद् विषयोत्सुकः । प्रत्युतासक्तिमसजत् स्त्रीवस्त्राभरणादिषु ॥ ११९ ॥

वह विषयोंमें इतना अधिक उत्सुक हो रहा था कि चिरकाल तक भोगोंको भोगकर भी तृप्त नहीं होता था बल्कि स्त्री, वस्त्र तथा आभूषण आदिमें पहलेकी अपेक्षा अधिक आसक्त होता जाता था ॥ ११९ ॥

> सोऽत्यन्तविषयासक्तिकृतकौटिल्यचेष्टितः । ममार तीव्रसंक्लेशात् तिरश्चामायुरात्तधीः ॥ १२० ॥

अत्यन्त विषयासक्तिके कारण मायाचारी चेष्टाओंको करनेवाले उस आर्तध्यानी राजाने तीव्र संक्लेश भावोंसे तिर्यञ्च आयुका बन्ध किया ॥ १२० ॥

आदिपुराण (पञ्चम पर्व - श्लोक १२१ से २३९)

> जीवितान्ते स दुर्ध्यानमार्त्तमापूर्य दुर्मतिः । भाण्डागारे निजे मोहान्महानजगरोऽजनि ॥ १२१ ॥

चूँकि मरते समय उसका आर्तध्यान नामका कुध्यान पूर्णताको प्राप्त हो रहा था, इसलिए कुमरणसे मरकर वह मोहके उदयसे अपने भण्डारमें बड़ा भारी अजगर हुआ ॥ १२१ ॥

> स जातिस्मरतां गत्वा भाण्डागारिकवद् भृशम् । तन्प्रवेशे प्रियं सूनुमन्वमंस्त न चापरम् ॥ १२२ ॥

उसे जातिस्मरण भी हो गया था इसलिए वह खजाञ्चीकी तरह भण्डारमें केवल अपने प्रिय पुत्रको ही प्रवेश करने देता था अन्यको नहीं ॥ १२२ ॥

> अन्येद्युरवधिज्ञानलोचनान्मुनिपुङ्गवात् । मणिमाली पितुर्ज्ञात्वा सर्वं वृत्तान्तमशेषतः ॥ १२३ ॥

एक दिन अतिशय बुद्धिमान् राजा मणिमाली किन्हीं अवधिज्ञानी मुनिराजसे पिताके अजगर होने आदिका समस्त वृत्तान्त मालूम कर ॥ १२३ ॥

> पितृभक्त्या स तन्मोहमपहर्तुं समाहितः । तयोरग्रे शनैः स्थित्वा स्नेहगर्भां गिरमभ्यधात् ॥ १२४ ॥

पितृ-भक्तिसे उनका मोह दूर करनेके लिए भण्डारमें गया और धीरेसे अजगरके आगे खड़ा होकर स्नेहयुक्त वचन कहने लगा ॥ १२४ ॥

> पितः पतितवानस्यां कुयोनावधुना कथम् । विषयासङ्गदोषेण मदीयेऽपि परिग्रहे ॥ १२५ ॥

हे पिता, तुमने धन, ऋद्धि आदिमें अत्यन्त ममत्व और विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति की थी इसी दोषसे तुम इस समय इस कुयोनिमें—सर्पपर्यायमें आकर पड़े हो ॥ १२५ ॥

ततो जिह्निदमत्यन्तकटुकं विषयामिषम् । त्यजैनं पितरद्यापि किम्पाकफलसंनिभम् ॥ १२६ ॥

यह विषयरूपी आमिष अत्यन्त कटुक है, दुर्जर है और किम्पाक (विषफल) फलके समान है इसलिए धिक्कारके योग्य है। हे पिताजी, इस विषयरूपी आमिषको अब भी छोड़ दो ॥ १२६ ॥

रथाङ्गवदिदं संसारमनुबध्नाति संततम् । दुस्त्यजं त्यजताप्येतत् कण्ठस्थमिव जीवितम् ॥ १२७ ॥

हे तात, जिस प्रकार रथका पहिया निरन्तर संसार-परिभ्रमण करता रहता है—चलता रहता है, उसी प्रकार यह विषय भी निरन्तर संसार-परिभ्रमण करता रहता है—स्थिर नहीं रहता अथवा संसार चतुर्गतिरूप संसारका अनुबन्ध करता रहता है। यद्यपि यह कण्ठस्थ प्राणोंके समान कठिनाईसे छोड़े जाते हैं परन्तु त्याज्य अवश्य हैं ॥ १२७ ॥

प्रकटीकृतविश्वासं प्राणहारि भयावहम् । व्याधगीतमिवोद्गीतं मृगवर्गप्रतारकम् ॥ १२८ ॥

ये विषय शिकारीके गानेके समान हैं जो पहले मनुष्यरूपी हरिणोंको ठगनेके लिए विश्वास दिलाते हैं और बादमें भयंकर हो प्राणोंका हरण किया करते हैं ॥ १२८ ॥

ताम्बूलमिव संयोगादिदं रागविवर्धनम् । अन्धकारमिवोत्सर्पद् सन्मार्गस्य निरोधनम् ॥ १२९ ॥

जिस प्रकार ताम्बूल चूना, खैर और सुपारीका संयोग पाकर राग—लालिमाको बढ़ाते हैं, उसी प्रकार ये विषय भी स्त्री-पुत्रादिका संयोग पाकर राग—अनुरागको बढ़ाते हैं और बढ़ते हुए अन्धकारके समान समीचीन मार्गको रोक देते हैं ॥ १२९ ॥

जैनं मतमिव प्रायः परिभूतमतान्तरम् । तडिल्लसितवल्लोलं वैचित्र्यात् सुरचापवत् ॥ १३० ॥

जिस प्रकार जैनमत मतान्तरोंका खण्डन कर देता है उसी प्रकार ये विषय भी पिता, गुरु आदिके हितोपदेशरूपी मतोंका खण्डन कर देते हैं। ये बिजलीकी चमकके समान चञ्चल और इन्द्रधनुषके समान विचित्र हैं ॥ १३० ॥

किं वा बहुनोक्तेन पश्येदं विषयोद्भवम् । सुखं संसारकान्तारे परिश्रमयतीप्सितम् ॥ १३१ ॥

अधिक कहनेसे क्या लाभ? देखो, विषयोंसे उत्पन्न हुआ यह विषयसुख इस जीवको संसाररूपी अटवीमें घुमाता है ॥ १३१ ॥

नमोऽस्तु तद्रसासंगविमुखाय स्थिरात्मने । तपोधनगणायेति निनिन्द विषयानसौ ॥ १३२ ॥

जो इस विषयरसकी आसक्तिसे विमुख रहकर अपने आत्माको अपने-आपमें स्थिर रखते हैं ऐसे मुनियोंके समूहको नमस्कार हो। इस प्रकार राजा मणिमालीने विषयोंकी निन्दा की ॥ १३२ ॥

अथासौ पुत्रनिर्दिष्टवाक्यांशुमालिना । गलिताशेषमोहान्धतमसः समजायत ॥ १३३ ॥

तदनन्तर अपने पुत्रके धर्मवाक्यरूपी सूर्यके द्वारा उस अजगरका सम्पूर्ण मोहरूपी गाढ़ अन्धकार नष्ट हो गया ॥ १३३ ॥

ततोऽनुतापं प्राप्य स धृतधर्मौषधो भृशम् । ववाम विषयौत्सुक्यं महाविषमिवोल्वणम् ॥ १३४ ॥

उस अजगरको अपने पिछले जीवनपर भारी पश्चात्ताप हुआ और उसने धर्मरूपी ओषधि ग्रहण कर महाविषके समान भयंकर विषयासक्ति छोड़ दी ॥ १३४ ॥

स परित्यज्य संवेगादाहारं सशरीरकम् । जीवितान्ते तनुं त्यक्त्वा दिव्योऽभून्महर्द्धिकः ॥ १३५ ॥

उसने संसारसे भयभीत होकर आहार-पानी छोड़ दिया, शरीरसे भी ममत्व त्याग दिया और उसके प्रभावसे वह आयुके अन्तमें शरीर त्याग कर बड़ी ऋद्धिका धारक देव हुआ ॥ १३५ ॥

ज्ञात्वा च भवमागत्य संपूज्य मणिमालिने । मणिहारमदत्तासावुन्मिषन्मणिदीधितिम् ॥ १३६ ॥

उस देवने अवधिज्ञानके द्वारा अपने पूर्व भव जान मणिमालीके पास आकर उसका सत्कार किया तथा उसे प्रकाशमान मणियोंसे शोभायमान एक मणियोंका हार दिया ॥ १३६ ॥

> सोऽयं भवतः कण्ठे हारो रत्नांशुभासुरः । लक्ष्यतेऽद्यापि यो लक्ष्म्याः प्रहास इव निर्मलः ॥ १३७ ॥

रत्नोंकी किरणोंसे शोभायमान तथा लक्ष्मीके हासके समान निर्मल वह हार आज भी आपके कण्ठमें दिखायी दे रहा है ॥ १३७ ॥

> इतोऽप्यपरमाख्यानं यथान्यायं निवेदये । सन्ति यद्दर्शिनोऽद्यापि वृद्धाः केचन खेचराः ॥ १३८ ॥

हे राजन्, इसके सिवाय एक और भी वृत्तान्त मैं ज्यों-का-त्यों कहता हूँ। उस वृत्तान्तके देखनेवाले कितने ही वृद्ध विद्याधर आज भी विद्यमान हैं ॥ १३८ ॥

> आसीच्छतबलो नाम्ना भवतीयार्यकः पुरा । प्रजा राजन्वतीः कुर्वन् स्वगुणैरभिगामिकैः ॥ १३९ ॥

शतबल नामके आपके दादा हो गये हैं जो अपने मनोहर गुणोंके द्वारा प्रजाको हमेशा सुयोग्य राजासे युक्त करते थे ॥ १३९ ॥

> सोऽपि भुक्त्वा चिरं भोगान् कदाचिद् भोगनिःस्पृहः । भवत्पितरि निक्षिप्तराज्यभारो महोदयः ॥ १४० ॥

उन भाग्यशाली शतबलने चिरकाल तक राज्य भोग कर आपके पिताके लिए राज्यका भार सौंप दिया था और स्वयं भोगोंसे निःस्पृह हो गये थे ॥ १४० ॥

> सम्यग्दर्शनपूतात्मा गृहीतोपासकव्रतः । निबद्धसुरलोकायुर्विशुद्धपरिणामतः ॥ १४१ ॥

उन्होंने सम्यग्दर्शनसे पवित्र होकर श्रावकके व्रत ग्रहण किये थे और विशुद्ध परिणामोंसे देवायुका बन्ध किया था ॥ १४१ ॥

> कृत्वाऽनशनसद्धर्ममवमोदर्यमप्यदः । यथोचितनियोगेन योगेनान्तेऽत्यजत् तनुम् ॥ १४२ ॥

उन्होंने उपवास, अवमौदर्य आदि सत्प्रवृत्तिको धारण कर आयुके अन्तमें यथायोग्य रीतिसे समाधिमरणपूर्वक शरीर छोड़ा ॥ १४२ ॥

> माहेन्द्रकल्पेऽनल्पर्द्धिरभूदेष सुरामणीः । अणिमादिगुणोपेतः सप्ताम्भोधिमितस्थितिः ॥ १४३ ॥

जिससे माहेन्द्रस्वर्गमें बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक श्रेष्ठ देव हुए। वहाँ वे अणिमा, महिमा आदि गुणोंसे सहित थे तथा सात सागर प्रमाण उनकी स्थिति थी ॥ १४३ ॥

> स चान्यदा महामेरौ नन्दने त्वामुपागतम् । क्रीडाहेतोर्मया सार्धं दृष्ट्वा त्वामब्रवीदिति ॥ १४४ ॥

किसी एक दिन आप सुमेरु पर्वतके नन्दनवनमें क्रीड़ा करनेके लिए मेरे साथ गये हुए थे वहींपर वह देव भी आया था ॥ १४४ ॥

> कुमार परमो धर्मो जैनाभ्युदयसाधनः । न विस्मार्यस्त्वयेत्येवं त्वामशासदतित्वरम् ॥ १४५ ॥

आपको देखकर बड़े आदरके साथ उसने उपदेश दिया था कि 'हे कुमार, यह जिनधर्म ही उत्तम धर्म है, यही स्वर्ग आदि अभ्युदयोंकी प्राप्तिका साधन है इसे तुम कभी नहीं भूलना' ॥ १४५ ॥

> नम्रखेचरराजेन्द्रमस्तकारूढशासनः । सहस्रबल इत्यासीद् भवत्पितृपितामहः ॥ १४६ ॥

हे राजन्, आपके पिताके दादाका नाम सहस्रबल था। अनेक विद्याधर राजा उन्हें नमस्कार करते थे और अपने मस्तकपर उनकी आज्ञा धारण करते थे ॥ १४६ ॥

> स चापि निक्षिप्य लक्ष्मीं शतबले सुते । जग्राह परमां दीक्षां जैनीं निर्वाणसाधनीम् ॥ १४७ ॥

उन्होंने भी अपने पुत्र शतबल महाराजको राज्य देकर मोक्ष प्राप्त करानेवाली उत्कृष्ट जिनदीक्षा ग्रहण की थी ॥ १४७ ॥

विजहार महीं कृत्स्नां द्योतयन् स तपोऽंशुभिः । मिथ्यान्धकारघटनां विघटय्यांशुमानिव ॥ १४८ ॥

वे तपरूपी किरणोंके द्वारा समस्त पृथिवीको प्रकाशित करते और मिथ्यात्वरूपी अन्धकारकी घटाको विघटित करते हुए सूर्यके समान विहार करते रहे ॥ १४८ ॥

अवाप्य केवलं ज्ञानं पूजितो भूसुरासुरैः । ततोऽनन्तमपारं च संप्रापच्छाश्वतं पदम् ॥ १४९ ॥

फिर क्रमसे केवलज्ञान प्राप्त कर मनुष्य, देव और धरणेन्द्रोंके द्वारा पूजित हो अनन्त, अपार और नित्य मोक्ष पदको प्राप्त हुए ॥ १४९ ॥

तथा युष्मत्पिताप्युच्चैः राज्यभूरिभरं महत् । त्वयि निक्षिप्य वैराग्यात् महाप्रव्राज्यमास्थितः ॥ १५० ॥

हे आयुष्मन्, इसी प्रकार इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले आपके पिता भी आपके लिए राज्यभार सौंप कर वैराग्यभावसे उत्कृष्ट जिनदीक्षाको प्राप्त हुए हैं ॥ १५० ॥

पुत्रनप्तृभिरन्यैश्च नम्रखेचरामराधिपैः । सार्धं तपश्चरन्नेष मुक्तिलक्ष्मीं जिघृक्षति ॥ १५१ ॥

और पुत्र, पौत्र तथा अनेक विद्याधर राजाओंके साथ तपस्या करते हुए मुक्तिलक्ष्मीको प्राप्त करना चाहते हैं ॥ १५१ ॥

धर्माधर्मफलस्यैते दृष्टान्तत्वेन दर्शिताः । युष्मद्वंश्याः खगाधीशाः सुप्रतीतकथानकाः ॥ १५२ ॥

हे राजन्, मैंने धर्म और अधर्मके फलका दृष्टान्त देनेके लिए ही आपके वंशमें उत्पन्न हुए उन विद्याधर राजाओंका वर्णन किया है जिनके कि कथारूपी दुन्दुभि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ॥ १५२ ॥

विद्धि ध्यानचतुष्कस्य फलमेतन्निदर्शितम् । पूर्वं द्वयं भवेत् पापं शुभोदर्कं परं द्वयम् ॥ १५३ ॥

आप ऊपर कहे हुए चारों दृष्टान्तोंको चारों ध्यानोंका फल समझिए क्योंकि राजा अरविन्द रौद्रध्यानके कारण नरक गया, दण्ड नामका राजा आर्तध्यानसे भाण्डारमें अजगर हुआ, राजा शतबल धर्मध्यानके प्रतापसे देव हुआ और राजा

सहस्रबलने शुक्लध्यानके माहात्म्यसे मोक्ष प्राप्त किया। इन चारों ध्यानोंमें-से पहलेके दो—आर्त और रौद्र अशुभ ध्यान हैं जो कुगतिके कारण हैं और आगेके दो—धर्म तथा शुक्लध्यान शुभ हैं, वे स्वर्ग और मोक्षके कारण हैं ॥ १५३ ॥

> तस्माद् धर्मजुषां पुंसां भुक्तिमुक्ती न दुर्लभौ । प्रत्यक्षाप्तोपदेशाभ्यामिदं निश्चिनु धीधन ॥ १५४ ॥

इसलिए हे बुद्धिमान् महाराज, धर्मसेवन करनेवाले पुरुषोंको न तो स्वर्गादिकके भोग दुर्लभ हैं और न मोक्ष ही। यह बात आप प्रत्यक्ष प्रमाण तथा सर्वज्ञ वीतरागके उपदेशसे निश्चित कर सकते हैं ॥ १५४ ॥

> इति प्रतीतमाहात्म्यो धर्मो जिनोपदेशितः । त्वयापि भवभीतेन सेव्यः फलं विपुलमिच्छता ॥ १५५ ॥

हे राजन्, यदि आप निर्दोष फल चाहते हैं तो आपको भी जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए प्रसिद्ध महिमासे युक्त इस जैन धर्मकी उपासना करनी चाहिए ॥ १५५ ॥

> श्रुत्वैतद् वचनं स्फीतं स्वयंबुद्धोदितं नृपः । सभा समाजयामास परमास्तिक्यमाश्रिता ॥ १५६ ॥

इस प्रकार स्वयंबुद्ध मन्त्रीके कहे हुए उदार और गम्भीर वचन सुनकर वह सम्पूर्ण सभा बड़ी प्रसन्न हुई तथा परम आस्तिक्य भावको प्राप्त हुई ॥ १५६ ॥

> इदमेवार्हतं तत्त्वमितरोत्थं न तान्तरम् । प्रतीतिरिव सद्वाक्यादाविरासीत् सदः सताम् ॥ १५७ ॥

स्वयंबुद्धके वचनोंसे समस्त सभासदोंको यह विश्वास हो गया कि यह जिनेन्द्रप्रणीत धर्म ही वास्तविक तत्त्व है अन्य मत-मतान्तर नहीं ॥ १५७ ॥

> सुदृष्टिव्रतसंपन्नो गुणशीलविभूषितः । मनोगुप्तो गुरुभक्तः श्रुतवेत्ता महामतिः ॥ १५८ ॥

उस समय समस्त सभासद् उसकी इस प्रकार स्तुति करने लगे कि यह स्वयंबुद्ध सम्यग्दृष्टि है, व्रती है, गुण और शीलसे सुशोभित है, मन, वचन, कायका सरल है, गुरुभक्त है, श्रुतज्ञानका वेत्ता है, अतिशय बुद्धिमान् है ॥ १५८ ॥

श्लाघ्य एष गुणैरेभिः परमश्रावकोचितैः । स्वयंबुद्धो महात्मेति जगदुः सदसस्तदा ॥ १५९ ॥

उत्कृष्ट श्रावकोंके योग्य उत्तम गुणोंसे प्रशंसनीय है और महात्मा है ॥ १५९ ॥

प्रशस्य खचराधीशः प्रतिबुद्धश्च तद्वचः । प्रीतः संपूजयामास स्वयंबुद्धं महाधियम् ॥ १६० ॥

विद्याधरोंके अधिपति महाराज महाबलने भी महाबुद्धिमान् स्वयंबुद्धकी प्रशंसा कर उसके कहे हुए वचनोंको स्वीकार किया तथा प्रसन्न होकर उसका अतिशय सत्कार किया ॥ १६० ॥

अथान्याहनि स्वयंबुद्धो महामेरुगिरिं ययौ । विवन्दिषुर्जिनेन्द्राणां बिम्बानामाहताद्भक्तितः ॥ १६१ ॥

इसके बाद किसी एक दिन स्वयंबुद्ध मन्त्री अकृत्रिम चैत्यालयमें विराजमान जिन-प्रतिमाओंकी भक्तिपूर्वक वन्दना करनेकी इच्छासे मेरुपर्वतपर गया ॥ १६१ ॥

वनैश्चतुर्भिराभान्तं जिनस्येव शुभोदयम् । श्रुतस्कन्धमिवानादिनिधनं सप्रमाणकम् ॥ १६२ ॥

वह पर्वत जिनेन्द्र भगवानके समवसरणके समान शोभायमान हो रहा है क्योंकि जिस प्रकार समवसरण चार (अशोक, सप्तच्छद, आम्र और चम्पक) वनोंसे सुशोभित होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी चार (भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक) वनोंसे सुशोभित है। वह अनादि निधन है तथा प्रमाणसे (एक लाख योजन) सहित है इसलिए श्रुतस्कन्धके समान है क्योंकि द्वादशांग श्रुतस्कन्ध भी अनादिनिधन है और प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंसे सहित है ॥ १६२ ॥

उर्वीभृतामधीशत्वात् सुवृत्तत्वात् सदास्थितेः । प्रवृद्धकटकत्वाच्च सुराजानमिवोन्नतम् ॥ १६३ ॥

अथवा वह पर्वत किसी उत्तम महाराजके समान है क्योंकि जिस प्रकार महाराज अनेक महीभृतों (राजाओं) का अधीश होता है, उसी प्रकार वह पर्वत भी अनेक महीभृतों (पर्वतों) का अधीश है। महाराज जिस प्रकार सुवृत्त (सदाचारी) और सदास्थिति (समीचीन सभासे युक्त) होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी सुवृत्त (गोलाकार) और सदास्थिति (सदा विद्यमान) रहता है। तथा महाराज जिस प्रकार प्रवृद्धकटक (बड़ी सेनाका नायक) होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी प्रवृद्धकटक (ऊँचे शिखरवाला) है ॥ १६३ ॥

सर्वलोकोत्तरत्वाच्च ज्येष्ठत्वात् सर्वभूभृताम् । महत्त्वत् स्वर्णवर्णत्वात् तमाद्यमिव पूरुषम् ॥ १६४ ॥

अथवा वह पर्वत आदिपुरुष श्री वृषभदेवके समान जान पड़ता है क्योंकि भगवान् वृषभदेव जिस प्रकार सर्वलोकोत्तर हैं—लोकमें सबसे श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी सर्वलोकोत्तर है—सब देशोंसे उत्तर दिशामें विद्यमान है। भगवान् जिस प्रकार सब भूभृतोंमें (सब राजाओंमें) ज्येष्ठ थे उसी प्रकार वह पर्वत भी सब भूभृतों (पर्वतों) में ज्येष्ठ-उत्कृष्ट है। भगवान् जिस प्रकार महान् थे उसी प्रकार वह पर्वत भी महान् है और भगवान् जिस प्रकार सुवर्ण वर्णके थे उसी प्रकार वह पर्वत भी सुवर्ण वर्णका है ॥ १६४ ॥

समासादितवज्रत्वादप्सरःसंश्रयादपि । ज्योतिःपरीतमूर्तित्वात् सुरराजमिवापरम् ॥ १६५ ॥

अथवा वह मेरु पर्वत इन्द्रके समान सुशोभित है क्योंकि इन्द्र जिस प्रकार वज्र (वज्र नामक शस्त्र) से सहित होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी वज्र (हीरों) से सहित होता है। इन्द्र जिस प्रकार अप्सरःसंश्रय (अप्सराओंका आश्रय) होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी अप्सरःसंश्रय (जलसे भरे हुए तालाबोंका आधार) है। और इन्द्रका शरीर जिस प्रकार चारों ओर फैलती हुई ज्योति (तेज) से सुशोभित होता है, उसी प्रकार उस पर्वतका शरीर भी चारों ओर फैले हुए ज्योतिषी देवोंसे सुशोभित है ॥ १६५ ॥

चूलिकाग्रसमासन्नसौधर्मनतविमानकम् । स्वर्गलोकधारणे न्यस्तमेकस्तम्भमुच्छ्रितम् ॥ १६६ ॥

सौधर्म स्वर्गका विमान इस पर्वतकी चूलिकाके अत्यन्त निकट है (बालमात्रके अन्तरसे विद्यमान है) इसलिए ऐसा मालूम होता है मानो स्वर्गलोकको धारण करनेके लिए एक ऊँचा खम्भा ही खड़ा हो ॥ १६६ ॥

मेखलाभिर्वनश्रेणीर्दधानं कुसुमोज्ज्वलाः । स्पधयेव कुरुक्ष्माजैः सर्वर्तुफलदायिनीः ॥ १६७ ॥

वह पर्वत अपनी कटनियोंसे जिन वन-पंक्तियोंको धारण किये हुए है वे हमेशा फूलोंसे उज्ज्वल रहती हैं तथा ऐसी मालूम होती हैं मानो देवकुरु-उत्तरकुरुके कल्पवृक्षोंके साथ स्पर्धा करके ही सब ऋतुओंके फल फूल दे रही हों ॥ १६७ ॥

हिरण्मयमहोदग्रवपुषं रत्नभाजुषम् । जिनजन्माभिषेकाय क्लृप्तं पीठमिवामरैः ॥ १६८ ॥

वह पर्वत सुवर्णमय है, ऊँचा है और अनेक रत्नोंकी कान्तिसे सहित है इसलिए ऐसा जान पड़ता है मानो जिनेन्द्रदेवके अभिषेकके लिए देवोंके द्वारा बनाया हुआ सुवर्णमय ऊँचा और रत्नखचित सिंहासन ही हो ॥ १६८ ॥

जिनाभिषेकसंबन्धाज्जिनायतनधारणात् । स्वीकृतं नेव पुण्येन नाकमप्रतिबन्धनम् ॥ १६९ ॥

उस पर्वतपर श्री जिनेन्द्रदेवका अभिषेक होता है तथा अनेक चैत्यालय विद्यमान हैं मानों इन्हीं दो कारणोंसे उत्पन्न हुए पुण्यके द्वारा वह बिना किसी रोक-टोकके स्वर्गको प्राप्त हुआ है अर्थात् स्वर्ग तक ऊँचा चला गया है ॥ १६९ ॥

लवणाम्भोधिफेलाभो वलयश्लक्ष्णवाससः । जम्बूद्वीपमहीभर्तुः किरीटमिव सुस्थितम् ॥ १७० ॥

अथवा वह पर्वत लवणसमुद्रके नीले जलरूपी सुन्दर वस्त्रको धारण किये हुए जम्बूद्वीपरूपी महाराजके अच्छी तरह लगाये गये मुकुटके समान मालूम होता है ॥ १७० ॥

कुलाचलवधूतूङ्गवीचीभङ्गोपशोभिनः । संगीतप्रहतातोद्यविहङ्गरुतशालिनः ॥ १७१ ॥

अथवा यह जगत् एक सरोवरके समान है क्योंकि यह सरोवरकी भाँति ही कुलाचलरूपी बड़ी ऊँची लहरोंसे शोभायमान है, संगीतके लिए बजते हुए बाजोंके शब्दरूपी पक्षियोंके शब्दोंसे सुशोभित है ॥ १७१ ॥

महानदीजलालोलमृणालविकसद्धुतेः । नन्दनादिमहोद्यानविस्तीर्णपत्रसंपदः ॥ १७२ ॥

गंगा-सिन्धु आदि महानदियोंके जलरूपी मृणालसे विभूषित है, नन्दनादि महावनरूपी पत्तोंसे आच्छन्न है ॥ १७२ ॥

सुरासुरसभावासभासिताम्भोजश्रियः । सुखासवरसासक्तजीवभृङ्गावलीभृतः ॥ १७३ ॥

सुर और असुरोंके सभाभवनरूपी कमलोंसे शोभित है, तथा सुखामृतरूपी मकरन्दके प्रेमी जीवरूपी भ्रमरावलिको धारण किये हुए है ॥ १७३ ॥

जगत्पद्माकरस्यास्य मेरुरूपं कलानिलोद्धतम् । विवृद्धमिव किञ्जल्कपुञ्जमापिञ्जरच्छविम् ॥ १७४ ॥

ऐसे इस जगतरूपी सरोवरके बीचमें वह पीत वर्णका सुवर्णमय मेरु पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो प्रलयकालके पवनसे उड़ा हुआ तथा एक जगह इकट्ठा हुआ कमलोंकी केशरका समूह हो ॥ १७४ ॥

सरत्नकटकं भास्वच्चूलिकामुकुटोज्ज्वलम् । सोऽपश्यद् गिरिराजं तं राजन्तं जिनमन्दिरैः ॥ १७५ ॥

वास्तवमें वह पर्वत, पर्वतोंका राजा है क्योंकि राजा जिस प्रकार रत्नजड़ित कटकों (कंगनों) से युक्त होता है उसी प्रकार यह पर्वत भी रत्नजड़ित कटकों (शिखरों) से युक्त है और राजा जिस प्रकार मुकुटसे शोभायमान होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी चूलिकारूपी देदीप्यमान मुकुटसे शोभायमान है। इस प्रकार वर्णनयुक्त तथा जिनमन्दिरोंसे शोभायमान वह पर्वतराज स्वयंबुद्ध मन्त्रीने देखा ॥ १७५ ॥

तमाद्भुतश्रियं पश्यन् अगमत् स परां मुदम् । स्यरूपयच्च पर्यन्तदेशानस्येति विस्मयात् ॥ १७६ ॥

अद्भुत शोभायुक्त उस मेरु पर्वतको देखता हुआ वह मन्त्री अत्यन्त आनन्दको प्राप्त हुआ और बड़े आश्चर्यसे उसके समीपवर्ती प्रदेशोंका नीचे लिखे अनुसार निरूपण करने लगा ॥ १७६ ॥

गिरीन्द्रोऽयं स्वशृङ्गाग्रैः स्पृशन्नाकाशचत्वरम् । लोकनाडीगतायामं प्रमातुं द्युति राजते ॥ १७७ ॥

इस गिरिराजने अपने शिखरोंके अग्रभागसे समस्त आकाशरूपी आँगनको छू लिया है जिससे ऐसा शोभायमान होता है मानो लोकनाड़ीकी लम्बाई ही नाप रहा हो ॥ १७७ ॥

यस्य सानुषु रम्यच्छायानोकहशोभिनः । सार्धं वधूजनैः शश्वदावसन्ति दिवौकसः ॥ १७८ ॥

मनोहर तथा घनी छायावाले वृक्षोंसे शोभायमान इस पर्वतके शिखरोंपर वे देव लोग अपनी-अपनी देवियोंके साथ सदा निवास करते हैं ॥ १७८ ॥

यस्यान्त्यपादास्तटिन्योऽप्यस्मादानीलनिषधं गताः । महतां पादसेवायाः को वा नायातिमाप्नुयात् ॥ १७९ ॥

इस पर्वतके पादवर्ती पर्वत (समीपवर्ती छोटी-छोटी पर्वतश्रेणियाँ) यहाँसे लेकर निषध और नील पर्वत तक चले गये हैं सो ठीक ही है क्योंकि बड़ोंकी चरणसेवा करनेवाला कौन पुरुष बड़प्पनको प्राप्त नहीं होता! ॥ १७९ ॥

अमूनि गजदन्ताख्यान्यक्ष्णस्तत्पादसंस्थिताः । भक्त्येव निषधनीलाभ्यामेव हस्ताः प्रसारिताः ॥ १८० ॥

इसके चरणों (अत्यन्त पर्वतों) के आश्रित रहनेवाले ये गजदन्त पर्वत ऐसे जान पड़ते हैं मानो निषध और नील पर्वतने भक्तिपूर्वक वन्दनाके लिए अपने हाथ ही फैलाये हों ॥ १८० ॥

इमे च द्वे महानद्यौ सीतासीतोदासंज्ञिते । क्रोशद्वयादनासाद्य यातोऽम्भोधिं भयादिव ॥ १८१ ॥

ये सीता, सीतोदा नामकी महानदियाँ मानो भयसे ही इसके पास नहीं आकर दो कोशकी दूरीसे समुद्रकी ओर जा रही हैं ॥ १८१ ॥

यस्य पर्यन्तभूभागं सदालंकुरुते वनम् । भद्रशालपरिक्षेपः कुरुलक्ष्मीमधिक्षिपन् ॥ १८२ ॥

इस पर्वतके चारों ओर यह भद्रशाल वन है जो अपनी शोभासे देवकुरु तथा उत्तरकुरुकी शोभाको तिरस्कृत कर रहा है और अपने वृक्षोंके द्वारा इस पर्वतसम्बन्धी चारों ओरके भूमिभागको सदा अलंकृत करता रहता है ॥ १८२ ॥

इतो नन्दनमुद्यानमितः सौमनसं वनम् । इतः पाण्डुकमाभाति तरुभिर्नित्यपुष्पितैः ॥ १८३ ॥

इधर नन्दनवन, इधर सौमनस वन और इधर पाण्डुक वन शोभायमान है। ये तीनों ही वन सदा फूले हुए वृक्षोंसे अत्यन्त मनोहर हैं ॥ १८३ ॥

इतोऽर्धचन्द्रवृत्ताङ्गाः कुरवश्च चकासते । इतो जम्बूद्रुमः श्रीमानितः शाल्मलिपादपः ॥ १८४ ॥

इधर ये अर्ध चन्द्राकार देवकुरु तथा उत्तरकुरु शोभायमान हो रहे हैं, इधर शोभावान् जम्बूवृक्ष है और इधर यह शाल्मली वृक्ष है ॥ १८४ ॥

अमी जिनेन्द्रगेहाः सन्ति वनेष्वस्य जिनेशिनाम् । रत्नभाभासिभिः श्रृङ्गैर्द्योतयन्तो नभोऽङ्गणम् ॥ १८५ ॥

इस पर्वतके चारों वनोंमें ये जिनेन्द्रदेवके चैत्यालय शोभायमान हैं जो कि रत्नोंकी कान्तिसे भासमान अपने शिखरोंके द्वारा आकाशरूपी आँगनको प्रकाशित कर रहे हैं ॥ १८५ ॥

शश्वत् पुण्यजनाकीर्णः सरागाढ्यः सजिनार्चनः । पर्यन्तस्थसरित्क्षेत्रो नगोऽयं नगरायते ॥ १८६ ॥

यह पर्वत सदा पुण्यजनों (यक्षों) से व्याप्त रहता है, अनेक बाग-बगीचे तथा जिनालयोंसे सहित है, तथा इसके समीप ही अनेक नदियों और विदेह क्षेत्र विद्यमान हैं इसलिए यह किसी नगरके समान मालूम हो रहा है। क्योंकि नगर भी सदा पुण्यजनों (धर्मात्मा लोगों) से व्याप्त रहता है, बाग-बगीचे और जिन-मन्दिरोंसे सहित होता है तथा उसके समीप अनेक नदियाँ और खेत विद्यमान रहते हैं ॥ १८६ ॥

संगतस्याङ्गदभ्रङ्गैः क्षेत्रपत्रोपशोभिनः । जम्बूद्वीपांबुजस्यास्य नगोऽयं कर्णिकायते ॥ १८७ ॥

अथवा यह पर्वत संसारी जीवरूपी भ्रमरोंसे सहित तथा भरतादि क्षेत्ररूपी पत्रोंसे शोभायमान इस जम्बूद्वीपरूपी कमलकी कर्णिकाके समान भासित होता है ॥ १८७ ॥

इति प्रकटितोदारमहिमा नगराट् पतिः । मन्ये जगत्त्रयायाममद्याप्येष विलङ्घते ॥ १८८ ॥

इस प्रकार उत्कृष्ट महिमासे युक्त यह पर्वतोंका राजा, जान पड़ता है कि आज भी तीनों लोकोंकी लम्बाईका उल्लंघन कर रहा है ॥ १८८ ॥

तमित्यावर्णयन् दूरात् स्वयंबुद्धः समासदत् । ध्वजहस्तैरिवाहूतः सादरं जिनमन्दिरैः ॥ १८९ ॥

इस तरह दूरसे ही वर्णन करता हुआ स्वयंबुद्ध मन्त्री उस मेरु पर्वतपर ऐसा जा पहुँचा मानो जिन-मन्दिरोंने अपने ध्वजारूपी हाथोंसे उसे आदरसहित बुलाया ही हो ॥ १८९ ॥

अकृत्रिमाननाद्यन्तान् नित्यालोकान् सुरार्चितान् । चैत्यान् समासाद्य स परां मुदमाययौ ॥ १९० ॥

वहाँ अनादिनिधन, हमेशा प्रकाशित रहनेवाले और देवोंसे पूजित अकृत्रिम चैत्यालयोंको पाकर वह स्वयंबुद्ध मन्त्री परम आनन्दको प्राप्त हुआ ॥ १९० ॥

प्रदक्षिणं च पर्येत्य भूयो भक्त्या प्रणम्य च । भद्रशालादिचैत्यानि वन्दते स्म यथाक्रमम् ॥ १९१ ॥

उसने पहले प्रदक्षिणा दी, फिर भक्तिपूर्वक बार-बार नमस्कार किया और फिर पूजा की। इस प्रकार यथाक्रमसे भद्रशाल आदि वनोंकी समस्त अकृत्रिम प्रतिमाओंकी वन्दना की ॥ १९१ ॥

स सौमनसपौरस्त्यदिग्भागजिनवेश्मनि । कृतार्चनविधिर्भक्त्या प्रणम्य क्षणमासितः ॥ १९२ ॥

वन्दनाके बाद उसने सौमनसवनके पूर्व दिशासम्बन्धी चैत्यालयमें पूजा की तथा भक्तिपूर्वक प्रणाम करके क्षण-भरके लिए वह वहीं बैठ गया ॥ १९२ ॥

विदेहमहाकच्छविषयारिष्टसत्पुरात् । आगतौ सहसैक्षिष्ट मुनी गगनचारिणौ ॥ १९३ ॥

इतनेमें ही उसने पूर्व विदेह क्षेत्रसम्बन्धी महाकच्छ देशके अरिष्ट नामक नगरसे आये हुए, आकाशमें चलनेवाले दो मुनि अकस्मात् देखे ॥ १९३ ॥

आदित्यगतिमप्रण्यं तथारिंजयवन्दनम् । युगन्धरमहातीर्थसरसीहंसनायकौ ॥ १९४ ॥

वे आदित्यगति और अरिंजय नामके मुनि युगन्धर स्वामीके समवसरणरूपी सरोवरके मुख्य हंस थे ॥ १९४ ॥

तावभ्येत्य समभ्यर्च्य प्रणम्य च पुनः पुनः । पप्रच्छेति सुखासीनौ मनीषी स्वमनीषितम् ॥ १९५ ॥

अतिशय बुद्धिमान् स्वयंबुद्ध मन्त्रीने सम्मुख जाकर उनकी पूजा की, बार-बार प्रणाम किया और जब वे सुखपूर्वक बैठ गये तब उनसे नीचे लिखे अनुसार अपने मनोरथ पूछे ॥ १९५ ॥

> भगवन्तौ जगत् सर्वं किंचित् पृच्छामि हृद्गतम् । भवन्तौ हि जगद्बोधविधातौ धत्तोऽमलत्विषम् ॥ १९६ ॥

हे भगवन्, आप सब कुछ जाननेके लिए अवधिज्ञानरूपी प्रकाश धारण करते हैं इसलिए आपसे मैं कुछ मनोगत बात पूछता हूँ, कृपाकर उसे कहिए ॥ १९६ ॥

> अस्मत्स्वामी खगाधीशः ख्यातोऽस्तीह महाबलः । स भव्यसिद्धिराहोस्विद्भव्यः संशयोऽत्र मे ॥ १९७ ॥

हे स्वामिन्, इस लोकमें अत्यन्त प्रसिद्ध विद्याधरोंका अधिपति राजा महाबल हमारा स्वामी है, वह भव्य है अथवा अभव्य? इस विषयमें मुझे संशय है ॥ १९७ ॥

> जिनोपदिष्टसन्मार्गमस्मद्वाक्यात् प्रमाणयन् । स किं श्रद्धास्यते नूनं जिज्ञासे वामनुग्रहात् ॥ १९८ ॥

जिनेन्द्रदेवके कहे हुए सन्मार्गका स्वरूप दिखानेवाले हमारे वचनोंको जैसे वह प्रमाणभूत मानता है वैसे श्रद्धान भी करेगा या नहीं? यह बात मैं आप दोनोंके अनुग्रहसे जानना चाहता हूँ ॥ १९८ ॥

> इति प्रश्नमुपन्यस्य तस्मिन् विश्रान्तिमीयुषि । तयोरादित्यगत्याख्यः समाख्यदवधीक्षणः ॥ १९९ ॥

इस प्रकार प्रश्न कर जब स्वयंबुद्ध मन्त्री चुप हो गया तब उनमें-से आदित्यगति नामके अवधिज्ञानी मुनि कहने लगे ॥ १९९ ॥

> भो भव्य ! भव्य एवासौ प्रत्येष्यति न ते वचः । दशमे जन्मनीतश्च तीर्थकृत्त्वमवाप्स्यति ॥ २०० ॥

हे भव्य, तुम्हारा स्वामी भव्य ही है, वह तुम्हारे वचनोंपर विश्वास करेगा और दसवें भवमें तीर्थंकर पद भी प्राप्त करेगा ॥ २०० ॥

> द्वीपे जम्बूमत्यत्रैव विषये भारतेऽप्यसौ । जनिताभ्युदये युगारम्भे भगवानादितीर्थकृत् ॥ २०१ ॥

वह इसी जम्बूद्वीपके भरत नामक क्षेत्रमें आनेवाले युगके प्रारम्भमें ऐश्वर्यवान् प्रथम-तीर्थंकर होगा ॥ २०१ ॥

> अस्येदं तावद् वृत्तं शृणु त्वं ब्रवीमि समासतः । धर्मबीजमनेनोप्तं यत्र भोगेच्छयान्वितम् ॥ २०२ ॥

अब मैं संक्षेपसे इसके उस भवका वर्णन करता हूँ जहाँ कि इसने भोगोंकी इच्छाके साथ-साथ धर्मरूपी बीज बोया था। हे राजन्, तुम सुनो ॥ २०२ ॥

> इहैवापरतो मेरोर्विदेहे गन्धिलाभिधे । पुरे सिंहपुराभिख्ये पुरन्दरपुरोपमे ॥ २०३ ॥

इसी जम्बूद्वीपमें मेरुसे पश्चिमकी ओर विदेह क्षेत्रमें एक गन्धिला नामका देश है उसमें सिंहपुर नामका नगर है जो कि इन्द्रके नगरके समान सुन्दर है ॥ २०३ ॥

> श्रीषेणोऽभूत्तदा राजा राजेव प्रियदर्शनः । देवी च सुन्दरी तस्य बभूवात्यन्तसुन्दरी ॥ २०४ ॥

उस नगरमें एक श्रीषेण नामका राजा हो गया है। वह राजा चन्द्रमाके समान सबको प्रिय था। उसकी एक अत्यन्त सुन्दर सुन्दरी नामकी स्त्री थी ॥ २०४ ॥

> जयवर्माह्वयः सोऽयं तयोः सूनुरजायत । श्रीवर्मेति च तस्याभूदनुजो जनताप्रियः ॥ २०५ ॥

उन दोनोंके पहले जयवर्मा नामका पुत्र हुआ और उसके बाद उसका छोटा भाई श्रीवर्मा हुआ। वह श्रीवर्मा सब लोगोंको अतिशय प्रिय था ॥ २०५ ॥

> श्रीवर्मा तु निसर्गेण कनीयानभवत् प्रियः । प्रायः प्रजात्वसाम्येऽपि क्वचित् प्रीतिः प्रजायते ॥ २०६ ॥

वह छोटा पुत्र माता-पिताके लिए भी स्वभावसे ही प्यारा था सो ठीक ही है पुत्रत्व समान रहनेपर भी किसीपर अधिक प्रेम होता ही है ॥ २०६ ॥

> जनानुरागमुत्साहं पिता दृष्ट्वा कनीयसि । राज्यपट्टं बबन्धास्य ज्यायांसमवधीरयन् ॥ २०७ ॥

पिता श्रीषेणने मनुष्योंका अनुराग तथा उत्साह देखकर छोटे पुत्र श्रीवर्माके मस्तकपर ही राज्यपट्ट बाँधा और इसके बड़े भाई जयवर्माकी उपेक्षा कर दी ॥ २०७ ॥

> जयवर्माथ निर्वेदं परमं प्राप्य तपोऽग्रहीत् । स्वयंप्रभगुरोः पार्श्वे स्वमपुण्यं विगर्हयन् ॥ २०८ ॥

पिताकी इस उपेक्षासे जयवर्माको बड़ा वैराग्य हुआ जिससे वह अपने पापोंकी निन्दा करता हुआ स्वयंप्रभगुरुसे दीक्षा लेकर तपस्या करने लगा ॥ २०८ ॥

> नवसंयत एवासौ दृष्टवान् महीधरम् । स खेचरेशमुद्वीक्ष्य व्यधात् सनिदानकम् ॥ २०९ ॥

जयवर्मा अभी नवदीक्षित ही था—उसे दीक्षा लिये बहुत समय नहीं हुआ था कि उसने विभूतिके साथ आकाशमें जाते हुए महीधर नामके विद्याधरको आँख उठाकर देखा। उस विद्याधरको देखकर जयवर्माने निदान किया कि मुझे आगामी भवमें बड़े-बड़े विद्याधरोंके भोग प्राप्त हों ॥ २०९ ॥

> महाखेचरभोगा हि भूयासुर्मेऽन्यजन्मनि । इति ध्यायन्नसौ दृष्टो वल्मीकाद् भीष्मभोगिना ॥ २१० ॥

वह ऐसा विचार ही रहा था कि इतनेमें एक भयंकर सर्पने बाँबीसे निकलकर उसे डस लिया ॥ २१० ॥

> ततो मृत्वा विसृष्टासुरिह जातः स महाबलः । सोऽनुभूय महाभोगान् सुखं खेचरोचितान् ॥ २११ ॥

वह भोगोंकी इच्छा करते हुए ही मरा था इसलिए यहाँ महाबल हुआ है और कभी क्षय न करनेवाले विद्याधरोंके उचित भोगोंको भोग रहा है ॥ २११ ॥

> इत्थं भोगेष्वसावेव चिरकालमरज्यत । भवद्वचोऽधुना श्रुत्वा क्षिप्रमेभ्यो विरंस्यति ॥ २१२ ॥

पूर्व भवके संस्कारसे ही वह चिरकाल तक भोगोंमें अनुरक्त रहा है किन्तु आपके वचन सुनकर शीघ्र ही इनसे विरक्त होगा ॥ २१२ ॥

अद्यैव रात्रौ समैक्षिष्ट स्वप्ने दुर्मन्त्रिभिस्त्रिभिः । निमज्ज्यमानमात्मानं बलात् पङ्के सुदुस्तरे ॥ २१३ ॥

आज रातको उसने स्वप्नमें देखा है कि तुम्हारे सिवाय अन्य तीन दुष्ट मन्त्रियोंने उसे बलात्कार किसी भारी कीचड़में फँसा दिया है ॥ २१३ ॥

ततो निर्भर्त्स्य तान् दुष्टान् पङ्कादुद्धृतं त्वया । अभिषिच्य स्वमैक्षिष्ट निविष्टं हरिविष्टपे ॥ २१४ ॥

और तुमने उन दुष्ट मन्त्रियोंकी भर्त्सना कर उसे कीचड़से निकाला है और सिंहासनपर बैठाकर उसका अभिषेक किया है ॥ २१४ ॥

दीप्तामेकां च स ज्वालां क्षीयमाणामनुक्षणम् । क्षणप्रभामिवालोलामपश्यत् क्षणदाक्षये ॥ २१५ ॥

इसके सिवाय दूसरे स्वप्नमें देखा है कि अग्निकी एक प्रदीप्त ज्वाला बिजलीके समान चञ्चल और प्रतिक्षण क्षीण होती जा रही है। उसने ये दोनों स्वप्न आज ही रात्रिके अन्तिम समयमें देखे हैं ॥ २१५ ॥

दृष्ट्वा स्वप्नावतिस्पष्टौ त्वामेव प्रतिपालयन् । आस्ते तस्मात् त्वमाश्वेव गत्वा तं प्रतिबोधय ॥ २१६ ॥

अत्यन्त स्पष्ट रूपसे दोनों स्वप्नोंको देख वह तुम्हारी प्रतीक्षा करता हुआ ही बैठा है इसलिए तुम शीघ्र ही जाकर उसे समझाओ ॥ २१६ ॥

अकथितं पूर्वं त्वत्तः श्रुत्वातिविस्मितः । प्रीतो भवद्वचः कृत्स्नं स करिष्यत्यसंशयम् ॥ २१७ ॥

वह पूछनेके पहले ही आपसे इन दोनों स्वप्नोंको सुनकर अत्यन्त विस्मित होगा और प्रसन्न होकर निःसन्देह आपके समस्त वचनोंको स्वीकृत करेगा ॥ २१७ ॥

तृषितः पयसीवाब्दात् पतिते चातकोऽधिकम् । जात्यन्ध इवानन्ध्यकरणे परमौषधे ॥ २१८ ॥

जिस प्रकार प्यासा चातक मेघसे पड़े हुए जलमें, और जन्मान्ध पुरुष तिमिर रोग दूर करनेवाली श्रेष्ठ ओषधिमें अतिशय प्रेम करता है ॥ २१८ ॥

रुचिं प्रेष्यति सद्धर्मे प्रबोधं प्राप्य मत्तः । दूत्येव मुक्तिकामिन्याः काललब्ध्या प्रयोजितः ॥ २१९ ॥

उसी प्रकार मुक्तिरूपी स्त्रीकी दूतीके समान काललब्धिके द्वारा प्रेरित हुआ महाबल आपसे प्रबोध पाकर समीचीन धर्ममें अतिशय प्रेम करेगा ॥ २१९ ॥

विद्धि तद्भाविपुण्यर्द्धिसूचकं स्वप्नमादिमम् । द्वितीयं च तदीयायुरतिह्रास निवेदकम् ॥ २२० ॥

राजा महाबलने जो पहला स्वप्न देखा है उसे तुम उसके आगामी भवमें प्राप्त होनेवाली विभूतिका सूचक समझो और द्वितीय स्वप्नको उसकी आयुके अतिशय ह्रासको सूचित करनेवाला जानो ॥ २२० ॥

मासावशेषं च जीवितं तस्य निश्चिनु । तदस्य श्रेयसे क्षिप्रं घटेथास्त्वमशीतकः ॥ २२१ ॥

यह निश्चित है कि अब उसकी आयु एक माहकी ही शेष रह गयी है इसलिए हे मन्त्रिन्, इसके कल्याणके लिए शीघ्र ही प्रयत्न करो, प्रमादी न होओ ॥ २२१ ॥

इत्युक्त्वा ततोऽन्तर्धिमगात् खेचरचारणः । समं साधर्मिणादित्यगतिराश्वास्य मन्त्रिणम् ॥ २२२ ॥

यह कहकर और स्वयंबुद्ध मन्त्रीको आशीर्वाद देकर गगनगामी आदित्यगति नामके मुनिराज अपने साथी अरिंजयके साथ-साथ अन्तर्हित हो गये ॥ २२२ ॥

स्वयंबुद्धोऽपि तद्वाक्यश्रवणात् किंचिदाकुलः । द्रुतं पुरं ययौ तस्य प्रतिबोधविधात्सया ॥ २२३ ॥

मुनिराजके वचन सुननेसे कुछ व्याकुल हुआ स्वयंबुद्ध भी महाबलको समझानेके लिए शीघ्र ही वहाँसे लौट आया ॥ २२३ ॥

सत्वरं च समासाद्य तं च दृष्ट्वा महाबलम् । चारणोक्तमशेषमाख्यत् स्वप्नफलावधि ॥ २२४ ॥

और तत्काल ही महाबलके पास जाकर उसे प्रतीक्षामें बैठा हुआ देख प्रारम्भसे लेकर स्वप्नोंके फल तकके विषयको सूचित करनेवाले ऋषिराजके समस्त वचन सुनाने लगा ॥ २२४ ॥

> उच्छेद्यं दुःखानुबन्धानां हन्ता धर्मो जिनोदितः । तस्मात् तस्मिन् रतिं धत्स्व मतिमन्निति चान्वशात् ॥ २२५ ॥

तदनन्तर उसने यह उपदेश भी दिया कि हे बुद्धिमन्, जिनेन्द्र भगवान्‌का कहा हुआ यह धर्म ही समस्त दुःखोंकी परम्पराका नाश करनेवाला है इसलिए उसीमें बुद्धि लगाइए, उसीका पालन कीजिए ॥ २२५ ॥

> ततः स्वायुःक्षयं बुद्ध्वा स्वयंबुद्धात्महाबलः । संन्यसने मतिं धीमानधत्त विधिवत् तदा ॥ २२६ ॥

बुद्धिमान् महाबलने स्वयंबुद्धसे अपनी आयुका क्षय जानकर विधिपूर्वक शरीर छोड़ने—समाधिमरण धारण करनेमें अपना चित्त लगाया ॥ २२६ ॥

> कृत्वाष्टाह्निकमृद्ध्या महामहमहापयत् । दिवसान् स्वगृहोद्यानजिनवेश्मनि भक्तितः ॥ २२७ ॥

अतिशय समृद्धिशाली राजा अपने घरके बगीचेके जिनमन्दिरमें भक्तिपूर्वक आष्टाह्निक महायज्ञ करके वहीं दिन व्यतीत करने लगा ॥ २२७ ॥

> सुतायातिबलाख्याय दत्त्वा राज्यं समृद्धिमत् । सर्वानपृच्छद् मन्त्र्यादीन् परं स्वातन्त्र्यमाश्रितः ॥ २२८ ॥

वह अपना वैभवशाली राज्य अतिबल नामक पुत्रको सौंपकर तथा मन्त्री आदि समस्त लोगोंसे पूछकर परम स्वतन्त्रताको प्राप्त हो गया ॥ २२८ ॥

> सिद्धकूटमुपेत्याथ परार्ध्यं जिनमन्दिरम् । सिद्धार्चास्तत्र संपूज्य संन्यस्यदकुतोभयः ॥ २२९ ॥

तत्पश्चात् शीघ्र ही परमपूज्य सिद्धकूट चैत्यालय पहुँचा। वहाँ उसने सिद्ध प्रतिमाओंकी पूजा कर निर्भय हो संन्यास धारण किया ॥ २२९ ॥

> यावज्जीवं कृताहारशरीरत्यागसंगरः । गुरुसाक्षिकमारुक्षद् वीरशय्याममूढधीः ॥ २३० ॥

बुद्धिमान् महाबलने गुरुकी साक्षीपूर्वक जीवनपर्यन्तके लिए आहार पानी तथा शरीरसे ममत्व छोड़नेकी प्रतिज्ञा की और वीरशय्या आसन धारण किया ॥ २३० ॥

> आरूढश्चाराधनानावं तितीर्षुर्भवाम्भोधिम् । निर्यापकं स्वयंबुद्धं बहु मेने महाबलः ॥ २३१ ॥

वह महाबल आराधणारूपी नावपर आरूढ़ होकर संसाररूपी सागरको तैरना चाहता था इसलिए उसने स्वयंबुद्ध मन्त्रीको निर्यापकाचार्य (सल्लेखनाकी विधि करानेवाले आचार्य, पक्षमें—नाव चलानेवाला खेवटिया) बनाकर उसका बहुत ही सम्मान किया ॥ २३१ ॥

> शत्रौ मित्रे समतां मैत्र्यादींश्च विभावयन् । परोऽभून्मुनिरिवासङ्गस्त्यक्तवाह्यान्तरोपधिः ॥ २३२ ॥

वह शत्रु, मित्र आदिमें समता धारण करने लगा, सब जीवोंके साथ मैत्रीभावका विचार करने लगा, हमेशा तत्पर रहने लगा और बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर परिग्रहत्यागी मुनिके समान मालूम होने लगा ॥ २३२ ॥

> देहाहारपरित्यागव्रतमास्थाय मतिमान् । परमाराधनाशुद्धिं स भेजे सुसमाहितः ॥ २३३ ॥

वह धीर-वीर महाबल शरीर तथा आहार त्याग करनेका व्रत धारण कर आराधनाओंकी परम विशुद्धिको प्राप्त हुआ था, उस समय उसका चित्त भी अत्यन्त स्थिर था ॥ २३३ ॥

> प्रायोपगमनं कृत्वा धीरः स्वपरगोचरान् । उपकारानसौ नेच्छेच्छरीरेऽनिच्छतां गतः ॥ २३४ ॥

उस धीर-वीरने प्रायोपगमन नामका संन्यास धारण कर शरीरसे बिल्कुल ही स्नेह छोड़ दिया था इसलिए वह शरीररक्षाके लिए न तो स्वकृत उपकारोंकी इच्छा रखता था और न परकृत उपकारोंकी। भावार्थ—संन्यास मरणके तीन भेद हैं—१ भक्तप्रत्याख्यान, २ इङ्गिनीमरण और ३ प्रायोपगमन। (१) भक्तप्रतिज्ञा अर्थात् भोजनकी प्रतिज्ञा कर जो संन्यासमरण हो उसे भक्तप्रतिज्ञा कहते हैं, इसका काल अन्तर्मुहूर्तसे लेकर बारह वर्ष तकका है। (२) अपने शरीरकी सेवा स्वयं करे, किसी दूसरेसे रोगादिका उपचार न करावे, ऐसे विधानसे जो संन्यास धारण किया जाता है उसे इङ्गिनीमरण कहते हैं। (३) और जिसमें स्वकृत और परकृत दोनों प्रकारके उपचार न हों उसे प्रायोपगमन कहते हैं। राजा महाबलने प्रायोपगमन नामका तीसरा संन्यास धारण किया था ॥ २३४ ॥

> तथा तपस्यतस्तस्य तनिमानमगात् तनुः । परिणामस्त्ववर्धिष्ट स्मरतः परमेष्ठिनाम् ॥ २३५ ॥

कठिन तपस्या करनेवाले महाबल महाराजका शरीर तो कृश हो गया था परन्तु पञ्चपरमेष्ठियोंका स्मरण करते रहनेसे परिणामोंकी विशुद्धि बढ़ गयी थी ॥ २३५ ॥

> सन्ततोपवासस्य तस्य काये परं शिथिलताऽभवत् । नारूढायाः प्रतिज्ञाया व्रतं हि समहतामिदम् ॥ २३६ ॥

निरन्तर उपवास करनेवाले उन महाबलके शरीरमें शिथिलता अवश्य आ गयी थी परन्तु ग्रहण की हुई प्रतिज्ञामें रंचमात्र भी शिथिलता नहीं आयी थी, सो ठीक है क्योंकि प्रतिज्ञामें शिथिलता नहीं करना ही महापुरुषोंका व्रत है ॥ २३६ ॥

> शिशिर इवारूढकार्यो मुमुचे च रसक्षयात् । मांसासृग्वियुक्तं च देहं सुर इवाबभौ ॥ २३७ ॥

शरीरके रक्त, मांस आदि रसोंका क्षय हो जानेसे वह महाबल शरद् ऋतुके मेघोंके समान अत्यन्त कृश हो गया था। अथवा यों समझिए कि उस समय वह राजा देवोंके समान रक्त, मांस आदिसे रहित शरीर धारण कर रहा था ॥ २३७ ॥

> गृहीतपरमार्थव्रतं वीक्ष्य तं लोचने तदा । दूनादिव क्वचित् संलीने प्राग्विलासाद् विरेमतुः ॥ २३८ ॥

राजा महाबलने मरणका प्रारम्भ करनेवाले व्रत धारण किये हैं, यह देखकर उसके दोनों नेत्र मानो शोकसे ही कहीं जा छिपे थे और पहलेके हाव-भाव आदि विलासोंसे विरत हो गये थे ॥ २३८ ॥

> कपोलौ च संशुष्यद्सृङ्मांसत्वचावपि । रूढौ कान्त्यानपायिन्या नोत्सृष्टा प्राक्तनी रुचिः ॥ २३९ ॥

यद्यपि उसके दोनों कपोलोंके रक्त, मांस तथा चमड़ा आदि सब सूख गये थे तथापि उन्होंने अपनी अविनाशिनी कान्तिके द्वारा पहलेकी शोभा नहीं छोड़ी थी, वे उस समय भी पहलेकी ही भाँति सुन्दर थे ॥ २३९ ॥

आदिपुराण (आचार्य जिनसेन कृत)

> नितान्त इवारूढकार्श्यं तस्य तु रसक्षयात् । मांसासृग्वियुक्तं च देहं सुर इवाबिभत् ॥ २३७ ॥

शरीरके रक्त, मांस आदि रसोंका क्षय हो जानेसे वह महाबल शरद् ऋतुके मेघोंके समान अत्यन्त पाण्डु (श्वेत) हो गया था। अथवा यों समझिए कि उस समय वह राजा देवोंके समान रक्त, मांस आदिसे रहित शरीर धारण कर रहा था ॥ २३७ ॥

> गृहीतमरणारम्भव्रतं तं वीक्ष्य चक्षुषी । क्वापि संलीने प्राग्विकासाद् विरेमतुः ॥ २३८ ॥

राजा महाबलने मरणका प्रारम्भ करनेवाले व्रत धारण किये हैं, यह देखकर उसके दोनों नेत्र मानो शोकसे ही कहीं जा छिपे थे और पहलेके हाव-भाव आदि विलासोंसे विरत हो गये थे ॥ २३८ ॥

> कपोलौ चास्य संशुष्यदसृङ्मांसत्वचावपि । रूढौ कान्त्यानपायिन्या नोज्झितां प्राक्तनीं श्रियम् ॥ २३९ ॥

यद्यपि उसके दोनों कपोल रक्त, मांस तथा चमड़ा आदि सब सूख गये थे तथापि उन्होंने अपनी अविनाशिनी कान्तिके द्वारा पहलेकी शोभा नहीं छोड़ी थी, वे उस समय भी पहलेकी ही भाँति सुन्दर थे ॥ २३९ ॥

> नितान्तपीवरावेतावुभौ कैयूरकिणकर्कशौ । सदास्योज्झितकाठिन्यौ सत्वसाम्यमुपेयतुः ॥ २४० ॥

समाधिग्रहणके पहले उसके जो दोनों कंधे अत्यन्त पुष्ट तथा बाजूबन्दकी रगड़से अत्यन्त कठोर थे उस समय वे भी कठोरताको छोड़कर अतिशय कोमलताको प्राप्त हो गये थे ॥ २४० ॥

> आभुग्नमुदरं तस्य वलीभङ्गमिव क्षमम् । निर्वाते निष्पतत्तोयं सरः शुष्यदिवाबभौ ॥ २४१ ॥

उसका उदर कुछ भीतरकी ओर झुक गया था और त्रिवली भी नष्ट हो गयी थी इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानों हवाके न चलनेसे तरंगरहित सूखता हुआ तालाब ही हो ॥ २४१ ॥

> तपस्तनूनपात्तापाद् व्यदीपेऽधिकमेव सः । कनकाश्मा ह्यवाध्मातः परां शुद्धिं समुद्वहन् ॥ २४२ ॥

जिस प्रकार अग्निमें तपाया हुआ सुवर्ण पाषाण अत्यन्त शुद्धिको धारण करता हुआ अधिक प्रकाशमान होने लगता है उसी प्रकार वह महाबल भी तपरूपी अग्निसे तप्त हो अत्यन्त शुद्धिको धारण करता हुआ अधिक प्रकाशमान होने लगा था ॥ २४२ ॥

> कायसन्तापमप्यस्य सहमानस्य लीलया । बभूवुः परीषहाभग्नास्त्यक्तधैर्यास्य संगरे ॥ २४३ ॥

राजा काय-शरीर-सन्तापको लीलामात्रमें ही सहन कर लेता था तथा कभी किसी विपत्तिसे पराजित नहीं होता था इसलिए उसके साथ युद्ध करते समय परीषह ही पराजयको प्राप्त हुए थे, क्योंकि वे उसे अपने कर्त्तव्यमार्गसे च्युत नहीं कर सके ॥ २४३ ॥

> त्वगस्थिभूयिष्ठदेहोऽपि स जित्वा परीषहान् । स्वसमाधिबलाद् व्यक्तं स तदासीन्महाबलः ॥ २४४ ॥

यद्यपि उसके शरीरमें मात्र चमड़ा और हड्डी ही शेष रह गयी थी तथापि उसने अपनी समाधिके बलसे अनेक परीषहोंको जीत लिया था इसलिए उस समय वह यथार्थ 'महाबल' सिद्ध हुआ था ॥ २४४ ॥

> मूर्ध्नि लोकोत्तमान् सिद्धान् स्थापयन् हृदयेऽर्हतः । शिरःकवचमस्त्रं च स चक्रे साधुभिस्त्रिभिः ॥ २४५ ॥

उसने अपने मस्तकपर लोकोत्तम परमेष्ठीको तथा हृदयमें अरहंत परमेष्ठीको विराजमान किया था और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन तीन परमेष्ठियोंके ध्यानरूपी टोप-कवच और अस्त्र धारण किये थे ॥ २४५ ॥

अपश्यत् परमात्मानमद्राष्टां यस्य चक्षुषी । अश्रौषीत् परमं मन्त्रं श्रोत्रे जिह्वा तमापठत् ॥ २४६ ॥

ध्यानके द्वारा उसके दोनों नेत्र मात्र परमात्माको ही देखते थे, कान परम मन्त्र (णमोकार मन्त्र) को ही सुनते थे और जिह्वा उसीका पाठ करती थी ॥ २४६ ॥

मनोगेहमहेडर्हन्तं विधायासौ निरञ्जनम् । प्रदीपमिव निर्धूतध्वान्तोऽभूद् ध्यानतेजसा ॥ २४७ ॥

वह राजा महाबल अपने मनरूपी मन्दिरमें दीपकके समान कर्ममलकलंकसे रहित अरहंत परमेष्ठीको विराजमान कर ध्यानरूपी तेजके द्वारा मोह अथवा अज्ञानरूपी अन्धकारसे रहित हो गया था ॥ २४७ ॥

द्वाविंशतिदिनान्येष कृतसल्लेखनाविधिः । जीवितान्ते समाधाय मनः स्वं परमेष्ठिषु ॥ २४८ ॥

इस प्रकार महाराज महाबल निरन्तर बाईस दिन तक सल्लेखनाकी विधि करते रहे। जब आयुका अन्तिम समय आया तब उन्होंने अपना मन विशेष रूपसे पञ्चपरमेष्ठियोंमें लगाया ॥ २४८ ॥

नमस्कारपदान्युच्चैर्जपन् निभृतं जपन् । ललाटपट्टविन्यस्तहस्तपङ्कजकुड्मलः ॥ २४९ ॥

उसने हस्तकमल जोड़कर ललाटपर स्थापित किये और मन-ही-मन निश्चल रूपसे नमस्कार मन्त्रका जाप करते हुए ॥ २४९ ॥

कोशादसेरिवान्यत्वं देहाज्जीवस्य भावयन् । भावितात्मा सुखं प्राणानौज्झत् सन्मन्त्रिसाक्षिकम् ॥ २५० ॥

म्यानसे तलवारके समान शरीरसे जीवको पृथक् चिन्तन करते हुए और अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी भावना करते हुए, स्वयम्बुद्ध मन्त्रीके समक्ष सुखपूर्वक प्राण छोड़े ॥ २५० ॥

मन्त्रशक्त्या यथा पूर्वं स्वयंबुद्धो व्यधाद् बलम् । तथापि मन्त्रशक्त्यैव बलं तस्याव्यथाद् महाबले ॥ २५१ ॥

स्वयम्बुद्ध मन्त्री जिस प्रकार पहले अपनी मन्त्रशक्ति (विचारशक्ति) के द्वारा महाबलमें बल (शक्ति अथवा सेना) सन्निहित करता रहता था, उसी प्रकार उस समय भी वह मन्त्रशक्ति (पञ्चनमस्कार मन्त्रके जापके प्रभाव) के द्वारा उसमें आत्मबल सन्निहित करता रहा, उसका आत्मबल नष्ट नहीं होने दिया ॥ २५१ ॥

> साचिव्यं सचिवेनेति कृतमस्य निरत्ययम् । तदा धर्मसहायत्वं निरपेक्षं प्रकुर्वता ॥ २५२ ॥

इस प्रकार निःस्वार्थ भावसे महाराज महाबलकी धर्मसहायता करनेवाले स्वयम्बुद्ध मन्त्रीने अन्त तक अपने मन्त्रीपनेका निर्वाह किया ॥ २५२ ॥

> देहभारमथोत्सृज्य लघुरेक इव क्षणात् । प्रापत् स कल्पमैशानं तल्पसुखसंनिधिम् ॥ २५३ ॥

तदनन्तर वह महाबल उस शरीररूपी भार छोड़ देनेके कारण मानो हलका होकर दिव्य सुख-सामग्रीसे भरे हुए ईशान स्वर्गको प्राप्त हुआ ॥ २५३ ॥

> तत्रोपपादशय्यायामुदपादि महौजसः । विमाने श्रीप्रभे तस्य ललिताङ्गः सुरोत्तमः ॥ २५४ ॥

वहाँ वह श्रीप्रभ नामके अतिशय सुन्दर विमानमें उपपाद शय्यापर बड़ी ऋद्धिका धारक ललिताङ्ग नामका उत्तम देव हुआ ॥ २५४ ॥

> यथा वियति वीताभ्रे सिताभ्रैर्विद्युद् विरोचते । तथा वैक्रियिकी दिव्या तनुरस्याचिराद् बभौ ॥ २५५ ॥

मेघरहित आकाशमें श्वेत बादलोंसहित बिजलीकी तरह उपपाद शय्यापर शीघ्र ही उसका वैक्रियिक शरीर शोभायमान होने लगा ॥ २५५ ॥

> नवयौवनपूर्णोऽभूत् सर्वलक्षणसंवृतः । सुप्तोत्थितो यथा भाति तथा सोऽस्तमुहूर्ततः ॥ २५६ ॥

वह देव अन्तर्मुहूर्तमें ही नवयौवनसे पूर्ण तथा सम्पूर्ण लक्षणोंसे सम्पन्न होकर उपपाद शय्यापर ऐसा सुशोभित होने लगा मानो सब लक्षणोंसे सहित कोई तरुण पुरुष सोकर उठा हो ॥ २५६ ॥

ज्वलत्कुण्डलकेयूरमुकुटाङ्गदभूषणः । स्रग्वी सदंशुकधरः प्रादुरासीन्महाद्युतिः ॥ २५७ ॥

देदीप्यमान कुण्डल, केयूर, मुकुट और बाजूबन्द आदि आभूषण पहने हुए, मालासे सहित और उत्तम वस्त्रोंको धारण किये हुए ही वह अतिशय कान्तिमान् ललिताङ्ग नामक देव उत्पन्न हुआ ॥ २५७ ॥

तस्य रूपं तदा रेजे निमेषालसलोचनम् । सुस्थिरं निष्कम्पस्थितेनेव सरोजकम् ॥ २५८ ॥

उस समय टिमकाररहित नेत्रोंसे सहित उसका रूप निश्चल बैठी हुई दो मछलियोंसहित सरोवरके जलकी तरह शोभायमान हो रहा था ॥ २५८ ॥

बाहुशाखोज्ज्वलः श्रीमत्करपल्लवकोमलः । नेत्राब्जश्च वपुस्तस्य भेजे कल्पद्रुमश्रियम् ॥ २५९ ॥

अथवा उसका शरीर कल्पवृक्षकी शोभा धारण कर रहा था क्योंकि उसकी दोनों भुजाएँ उज्ज्वल शाखाओंके समान थीं, अतिशय शोभायमान हाथोंकी हथेलियाँ कोमल पल्लवोंके समान थीं और नेत्र कमलोंके समान थे ॥ २५९ ॥

अपि वा ललिताङ्गस्य कियत्तद् रूपमयोनिजम् । इत्येव वर्णनास्यास्तु किं वा वर्णनयानया ॥ २६० ॥

अथवा ललिताङ्गदेवके रूपका और अधिक वर्णन करनेसे क्या लाभ है ? उसका वर्णन तो इतना ही पर्याप्त है कि वह योनिके बिना ही उत्पन्न हुआ था और अतिशय सुन्दर था ॥ २६० ॥

पुष्पवृष्टिस्तदापप्तन्मुक्ता कल्पद्रुमैः स्वयम् । दुन्दुभिस्तनितं चास्य जजृम्भे सर्वदिक्तटम् ॥ २६१ ॥

उस समय स्वयं कल्पवृक्षोंके द्वारा ऊपरसे छोड़ी हुई पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी और दुन्दुभिका गम्भीर शब्द दिशाओंको व्याप्त करता हुआ निरन्तर बढ़ रहा था ॥ २६१ ॥

मधुराधूतमन्दारनन्दनादाहृतं रजः । सुगन्धिराववौ मन्दसमीरोऽम्बुकणान् किरन् ॥ २६२ ॥

जलकी छोटी-छोटी बूँदें बिखेरता और नन्दन वनके हिलते हुए कल्पवृक्षोंसे पुष्प-पराग ग्रहण करता हुआ अतिशय सुहावना पवन धीरे-धीरे बह रहा था ॥ २६२ ॥

> ततोऽसौ वलितां किञ्चिद् दृशं व्यापारयन् दिशाम् । समन्तादानमद्देवकोटिदेहप्रभाजुषाम् ॥ २६३ ॥

तदनन्तर सब ओरसे नमस्कार करते हुए करोड़ों देवोंके शरीरकी प्रभासे व्याप्त दिशाओंमें दृष्टि घुमाकर ॥ २६३ ॥

> अहो परममैश्वर्यं किमेतत् कोऽस्मि कि स्विमे । आनमन्त्येत्य मां दूरादित्यासीद् विस्मितः क्षणम् ॥ २६४ ॥

ललिताङ्गदेवने देखा कि यह परम ऐश्वर्य क्या है ? मैं कौन हूँ ? और ये सब कौन हैं जो मुझे दूर-दूरसे आकर नमस्कार कर रहे हैं? ललिताङ्गदेव यह सब देखकर क्षण-भरके लिए अत्यन्त चकित हो गया ॥ २६४ ॥

> क्वायातोऽस्मि कुतो वापि प्रसीदति मे मनः । कस्यैतद् वैभवं स्थानं किमिदं महदास्पदम् ॥ २६५ ॥

मैं यहाँ कहाँ आ गया ? कहाँसे आया ? आज मेरा मन प्रसन्न क्यों हो रहा है ? यह ऐश्वर्य किसका है ? और यह मनोहर महान आश्रम कौन-सा है ? ॥ २६५ ॥

> इति चिन्तयतस्तस्य क्षणादवधिरुद्ययौ । तेनावबुद्धवृत्तान्तः स्वयंबुद्धादिवृत्तकम् ॥ २६६ ॥

इस प्रकार चिन्तन कर ही रहा था कि उसे उसी क्षण अवधिज्ञान प्रकट हो गया। उस अवधिज्ञानके द्वारा ललिताङ्गदेवने स्वयम्बुद्ध मन्त्री आदिके सब समाचार जान लिये ॥ २६६ ॥

> इदं तत् तपसो दिव्यमयं स्वर्गो महाद्युतिः । इमे देवाः समुत्सपद्देहोद्योताः प्रणामिनः ॥ २६७ ॥

यह हमारे तपका मनोहर फल है, यह अतिशय कान्तिमान् स्वर्ग है, ये प्रणाम करते हुए तथा शरीरका प्रकाश सब ओर फैलाते हुए देव हैं ॥ २६७ ॥

> विमानमेतदुद्भासि कल्पपादपवेष्टितम् । इमा मञ्जुगिरो देव्यः शिञ्जानमणिनूपुराः ॥ २६८ ॥

यह कल्पवृक्षोंसे घिरा हुआ शोभायमान विमान है, ये मनोहर शब्द करती तथा रुनझुन शब्द करनेवाले मणिमय नूपुर पहने हुई देवियाँ हैं ॥ २६८ ॥

अप्सरःपरिवारोऽयममितो नृत्यति सस्मितम् । गीयते कलमामन्द्रमितश्च मुरजध्वनिः ॥ २६९ ॥

इधर यह अप्सराओंका समूह मन्द-मन्द हँसता हुआ नृत्य कर रहा है, इधर मनोहर और गम्भीर गान हो रहा है, और इधर यह मृदङ्ग बज रहा है ॥ २६९ ॥

इति निश्चित्य सर्वाणि भवप्रत्ययतोऽवधेः । मणिसिंहासने सुखमासीनो नानारत्नप्रभासुरे ॥ २७० ॥

इस प्रकार भवप्रत्यय अवधिज्ञानसे पूर्वोक्त सभी बातोंका निश्चय कर वह ललिताङ्गदेव अनेक रत्नोंकी किरणोंसे शोभायमान मणिसिंहहासनपर सुखसे बैठा ॥ २७० ॥

जयेश विजयिन् नन्द नेत्रानन्द महाद्युते । वर्धस्वेत्युद्गिरन्तोऽज्ञास्तमासीदन् दिवौकसः ॥ २७१ ॥

नमस्कार करते हुए अनेक देव उसके पास आये। वे देव ऊँचे स्वरसे कह रहे थे कि हे स्वामिन्, आपकी जय हो, हे विजयशील, आप समृद्धिमान् हों, हे नेत्रोंको आनन्द देनेवाले, महाकान्तिमान्, आप सदा बढ़ते रहें—आपके बल-विद्या, ऋद्धि आदिकी सदा वृद्धि होती रहे ॥ २७१ ॥

सप्रश्रयमथोपेत्य स्वनियोगप्रचोदिताः । ते तं विज्ञापयामासुरिति प्रणतमौलयः ॥ २७२ ॥

तत्पश्चात् अपने-अपने नियोगसे प्रेरित हुए अनेक देव विनयसहित उसके पास आये और मस्तक झुकाकर इस प्रकार कहने लगे ॥ २७२ ॥

अङ्ग नाथ प्रतीक्षस्व सज्जीकृतं मज्जनमङ्गलम् । ततः पूजां जिनेन्द्राणां कुरु पुण्यानुबन्धिनीम् ॥ २७३ ॥

कि हे नाथ, स्नानकी सामग्री तैयार है इसलिए सबसे पहले मङ्गल स्नान कीजिए, फिर पुण्यको बढ़ानेवाली जिनेन्द्रदेवकी पूजा कीजिए ॥ २७३ ॥

ततो वरमिदं देव सर्वदैवतराजितम् । समालोक्य स्वभाग्यैः समाजग्मुर्विस्तृतैस्ततः ॥ २७४ ॥

तदनन्तर आपके भाग्यसे प्राप्त हुई तथा अपने-अपने गणों (छोटी टुकड़ियों) के साथ जहाँ-तहाँ (सब ओरसे) आनेवाली देवोंकी सब शोभाका अवलोकन कीजिए ॥ २७४ ॥

> इतः प्रेक्षस्व संप्रेक्ष्याः प्रेक्षागृहमूपागतः । सलीलभ्रूविक्षेपं नर्तकीः सुरसुन्दरीः ॥ २७५ ॥

इधर नाट्यशालामें आकर, लीलासहित भौंहें नचाकर नृत्य करती हुई, दर्शनीय सुन्दर देव नर्तकियोंको देखिए ॥ २७५ ॥

> मनोज्ञवेषभूषाश्च देवीर्देवाश्च मानय । देवभूयत्वसंप्राप्तौ फलमेतावदेव हि ॥ २७६ ॥

हे देव, आज मनोहर वेष-भूषासे युक्त देवी-देवताओंका सम्मान कीजिए क्योंकि निश्चयसे देवपर्यायकी प्राप्तिका इतना ही तो फल है ॥ २७६ ॥

> इति तद्वचनात् सर्वं स सर्वमकरोत् कृती । स्वनियोगानतिक्रान्तिर्महतां भूषणं परम् ॥ २७७ ॥

इस प्रकार कार्यकुशल ललिताङ्गदेवने उन देवोंके वचनानुसार सभी कार्य किये सो ठीक ही है क्योंकि अपने नियोगोंका उल्लंघन नहीं करना ही महापुरुषोंका श्रेष्ठ भूषण है ॥ २७७ ॥

> निष्टप्तकनकच्छायः सप्तहस्तोच्छ्रितग्रहः । वस्त्राभरणमालाद्यैः सहजैरेव मण्डितः ॥ २७८ ॥

वह ललिताङ्गदेव तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् था, सात हाथ ऊँचे शरीरका धारक था, साथ-साथ उत्पन्न हुए वस्त्र, आभूषण और माला आदिसे विभूषित था ॥ २७८ ॥

> सुगन्धिबन्धुरामोदनिःश्वासो लक्षणोज्ज्वलः । स दिव्यान्वभूद् भोगान् अणिमादिगुणैर्युतः ॥ २७९ ॥

सुगन्धित श्वासोच्छ्वाससे सहित था, अनेक लक्षणोंसे उज्ज्वल था और अणिमा, महिमा आदि गुणोंसे युक्त था। ऐसा वह ललिताङ्गदेव निरन्तर दिव्य भोगोंका अनुभव करने लगा ॥ २७९ ॥

> भेजे वर्षसहस्रेण मानसीं स तनुस्थितिम् । पक्षेणैकेन चोच्छ्वासं प्रवीचारोऽस्य कायिकः ॥ २८० ॥

वह एक हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता था, एक पक्षमें श्वासोच्छ्वास लेता था तथा स्त्रीसंभोग शरीर-द्वारा करता था ॥ २८० ॥

> स छायामिवाम्लानिं दधानः स्रजमुज्ज्वलाम् । शरत्काल इवाधत्त स दिव्यमरजोऽम्बरम् ॥ २८१ ॥

वह शरीरकी कान्तिके समान कभी नहीं मुरझानेवाली उज्ज्वल माला तथा शरत्कालके समान निर्मल दिव्य अम्बर (वस्त्र, पक्षमें आकाश) धारण करता था ॥ २८१ ॥

> सहस्राण्यभवन् देव्यश्चत्वार्यस्य परिग्रहः । तासामभून्महादेव्यश्चारुलावण्यविभ्रमाः ॥ २८२ ॥

उस देवके चार हजार देवियाँ थीं तथा सुन्दर लावण्य और विलास-चेष्टाओंसे सहित चार महादेवियाँ थीं ॥ २८२ ॥

> स्वयंप्रभाग्रिमा देवी द्वितीया कनकप्रभा । कनकलतान्यासीद् देवी विद्युल्लतापरा ॥ २८३ ॥

उन चारों महादेवियोंमें पहली स्वयंप्रभा, दूसरी कनकप्रभा, तीसरी कनकलता और चौथी विद्युल्लता थी ॥ २८३ ॥

> रामाभिरभिरामाभिराभिर्भोगानवारतम् । भुञ्जानस्यास्य कालोऽगादनल्पः पुण्यपाकजान् ॥ २८४ ॥

इन सुन्दर स्त्रियोंके साथ पुण्यके उदयसे प्राप्त होनेवाले भोगोंको निरन्तर भोगते हुए इस ललिताङ्गदेवका बहुत काल बीत गया ॥ २८४ ॥

> तदायुर्जलधेर्मध्ये वीचीमाला इवाकुलाः । विलीयन्ते स्म भूयस्यो देव्यः स्वायुःस्थितिच्युतेः ॥ २८५ ॥

उसके आयुरूपी समुद्रमें अनेक देवियाँ अपनी-अपनी आयुकी स्थिति पूर्ण हो जानेसे चंचल तरङ्गोंके समान विलीन हो चुकी थीं ॥ २८५ ॥

पल्योपमपृथक्त्वेनावशिष्टमायुर्यदास्य च । तदोदपादि पुण्यैः स्वैः प्रेयस्यस्य स्वयंप्रभा ॥ २८६ ॥

जब उसकी आयु पृथक्त्वपल्य (तीनसे अधिक और नौसे कम पल्य) के बराबर अवशिष्ट रह गयी तब उसके अपने पुण्यके उदयसे एक स्वयंप्रभा नामकी प्राणप्रिया प्राप्त हुई ॥ २८६ ॥

अथ सा कृतनेपथ्या प्रभातरङ्गविग्रहा । पत्युरुपान्ते रेजे कल्पश्रीरिव रूपिणी ॥ २८७ ॥

वेष-भूषासे सुसज्जित तथा कान्तियुक्त शरीरको धारण करनेवाली वह स्वयंप्रभा पतिके समीप ऐसी सुशोभित होती थी मानो रूपवती स्वर्गकी लक्ष्मी ही हो ॥ २८७ ॥

इयं स्वयंप्रभास्यासीत् परा सौहार्दभूमिका । हृद्या मधुकरस्येव प्रत्यग्रा चूतमञ्जरी ॥ २८८ ॥

जिस प्रकार आमकी नवीन मञ्जरी भ्रमरको अतिशय प्यारी होती है उसी प्रकार वह स्वयंप्रभा ललिताङ्गदेवको अतिशय प्यारी थी ॥ २८८ ॥

स्वयंप्रभाननालोकनाङ्गस्पर्शोत्सवैरयम् । स रेमे करिणीसक्तः करीव सुचिरं नृपः ॥ २८९ ॥

वह देव स्वयंप्रभाका मुख देखकर तथा उसके शरीरका स्पर्श कर हस्तिनीमें आसक्त रहनेवाले हस्तीके समान चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहता था ॥ २८९ ॥

स तया मन्दरे कान्तचन्द्रकान्तशिलातले । रक्षकौकिलवाचालनन्दनादिवनाश्रिते ॥ २९० ॥

वह देव उस स्वयंप्रभाके साथ कभी मनोहर चन्द्रकान्त शिलाओंसे युक्त तथा शुक, कोयल आदि पक्षियों-द्वारा वाचालित नन्दन आदि वनोंसे सहित मेरुपर्वतपर ॥ २९० ॥

नीलादिष्वचलेन्द्रेषु खचराचलसानुषु । कुण्डले रुचके चापि मानुषोत्तरपर्वते ॥ २९१ ॥

कभी नील, निषध आदि बड़े-बड़े पर्वतोंपर, कभी विजयार्धके शिखरोंपर, कभी कुण्डलगिरिपर, कभी रुचकगिरिपर, कभी मानुषोत्तर पर्वतपर ॥ २९१ ॥

नन्दीश्वरमहाद्वीपे द्वीपेष्वन्येषु साब्धिषु । भोगभूम्यादिदेशेषु दिव्यं देवोऽवसत् सुखम् ॥ २९२ ॥

कभी नन्दीश्वर महाद्वीपमें, कभी अन्य अनेक द्वीप-समुद्रोंमें और कभी भोगभूमि आदि प्रदेशोंमें दिव्यसुख भोगता हुआ निवास करता था ॥ २९२ ॥

इति परममुदारं दिव्यभोगं महर्द्धिः सममरवधूभिः सोऽन्वभूदद्भुतश्रीः ।
स्मितहसितविलासस्पष्टचेष्टाभिरिष्टं स्वकृतसुकृतपाकात् साधिकं वारिधेकम् ॥ २९३ ॥

इस प्रकार बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंका धारक और अद्भुत शोभासे युक्त वह ललिताङ्गदेव, अपने किये हुए पुण्य कर्मके उदयसे, मन्द-मन्द मुसकान, हास्य और विलास आदिके द्वारा स्पष्ट चेष्टा करनेवाली अनेक देवाङ्गनाओंके साथ कुछ अधिक एक सागर तक अपनी इच्छानुसार उदार और उत्कृष्ट दिव्यभोग भोगता रहा ॥ २९३ ॥

तनुमुतखलु तीव्रासह्यतापैस्तपोभिर्यदयमकुरुत धीमान् निष्कलङ्कां समुत्र । रुचिररुचिरमाभिः
स्ववधूभिः सहायं सुखमभजत तस्माद् धर्महेतोः कृतार्थः ॥ २९४ ॥

उस बुद्धिमान् ललिताङ्गदेवने पूर्वभवमें अत्यन्त तीव्र असह्य सन्तापको देनेवाले तपश्चरणोंके द्वारा अपने शरीरको निष्कलङ्क किया था इसलिए ही उसने इस भवमें मनोहर कान्तिकी धारक देवियोंके साथ सुख भोगा अर्थात् सुखका कारण तपश्चरण वगैरहसे उत्पन्न हुआ धर्म है अतः सुख चाहनेवालोंको हमेशा धर्मका ही उपार्जन करना चाहिए ॥ २९४ ॥

कुरुत तपसि यत्नं भोगतृष्णामपास्य श्रियमधिकतरां चेद् वाञ्छतार्याः प्रशस्ताम् ।
जिनमवृजिनमार्यास्तद्वचः श्रद्दधध्वं कुकविविरुतमन्यच्छासनं माधिगीध्वम् ॥ २९५ ॥

हे आर्य पुरुषो, यदि अतिशय लक्ष्मी प्राप्त करना चाहते हो तो भोगोंकी तृष्णा छोड़कर तपमें यत्न करो तथा निष्पाप श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा करो और उन्हींके वचनोंका श्रद्धान करो, अन्य मिथ्यादृष्टि कुकवियोंके कहे हुए मिथ्यामतोंका अध्ययन मत करो ॥ २९५ ॥

> यत् त्रिविधपुरुषार्थसमर्थनो यो धर्मः कुकर्मकुटिलाटविसंकुटारः । तं सेवितुं बुधजनाः प्रयतध्वमाद्यं जैने मते कुमतिभेदिनि सौख्यकामाः ॥ २९६ ॥

इस प्रकार जो प्रशंसनीय पुरुषार्थोंका देनेवाला है और कर्मरूपी कुटिल वनको नष्ट करनेके लिए तीक्ष्ण कुठारके समान है ऐसे इस जैनधर्मकी सेवाके लिए हे सुखाभिलाषी पण्डितजनो, सदा प्रयत्न करो और दुर्बुद्धिको नष्ट करनेवाले जैनमतमें आस्था-श्रद्धा करो ॥ २९६ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे ललिताङ्गस्वर्गभोगवर्णनं नाम पञ्चमं पर्व ॥ ५ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें ललिताङ्ग स्वर्गभोग वर्णन नामका पञ्चम पर्व पूर्ण हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठ पर्व (ललिताङ्गस्वर्गच्यवनवर्णन)

> कदाचिदथ तस्यासन् भूषासंबन्धिनोऽमलाः । मणयस्तेजसा हीना निशापायप्रदीपवत् ॥ १ ॥

इसके अनन्तर किसी समय उस ललिताङ्गदेवके आभूषणसम्बन्धी निर्मलमणि अकस्मात् प्रातःकालके दीपकके समान निस्तेज हो गये ॥ १ ॥

> माला च सहजा तस्य महोरःस्थलसङ्गिनी । म्लानिमागादमुष्येव लक्ष्मीर्विश्लेषभीरुका ॥ २ ॥

जन्मसे ही उसके विशाल वक्षःस्थलपर पड़ी हुई माला ऐसी म्लान हो गयी मानो उसके वियोगसे भयभीत हो उसकी लक्ष्मी ही म्लान हो गयी हो ॥ २ ॥

> प्रचकम्पे तदावाससंबन्धी कल्पपादपः । तद्वियोगमहावातधूतः साध्वसमादधत् ॥ ३ ॥

उसके विमानसम्बन्धी कल्पवृक्ष भी ऐसे काँपने लगे मानो उसके वियोगरूपी महावायुसे कम्पित होकर भयको ही धारण कर रहे हों ॥ ३ ॥

> तनुच्छाया च तस्यासीत् सद्यो मन्दायिता तदा । पुण्यातपत्रविश्लेषे तच्छाया क्वावतिष्ठताम् ॥ ४ ॥

उस समय उसके शरीरकी कान्ति भी शीघ्र ही मन्द पड़ गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यरूपी छत्रका अभाव होनेपर उसकी छाया कहाँ रह सकती है ? अर्थात् कहीं नहीं ॥ ४ ॥

> तमालोक्य तदाध्वस्तकान्तिं विवर्णतां गतम् । न शेकुरीशानकल्पजा दिविजाः प्रैक्षितुं शुचा ॥ ५ ॥

उस समय कान्तिसे रहित तथा निष्प्रभताको प्राप्त हुए ललिताङ्गदेवको देखकर ईशानस्वर्गमें उत्पन्न हुए देव शोकके कारण उसे पुनः देखनेके लिए समर्थ न हो सके ॥ ५ ॥

> तस्य दैन्यात् परिप्राप्ता दैन्यं तत्परिचारकाः । तरौ चलति शाखाश्च विशाखाश्च चलन्ति किम् ॥ ६ ॥

ललिताङ्गदेवकी दीनता देखकर उसके सेवक लोग भी दीनताको प्राप्त हो गये सो ठीक है, वृक्षके चलनेपर उसकी शाखा-प्रशाखा आदि क्या विशेष रूपसे नहीं चलने लगते ? अर्थात् अवश्य चलने लगते हैं ॥ ६ ॥

> आजन्मनो यदेतेन निर्विष्टं सुखमामृतम् । तदेव पिण्डितं सर्वं दुःखमिवैतस्यागच्छत् ॥ ७ ॥

उस समय ऐसा मालूम होता था कि इस देवने जन्मसे लेकर आज तक जो देवोंसम्बन्धी सुख भोगे हैं, वे सबके-सब एकीभूत होकर दुःख बनकर ही आये हों ॥ ७ ॥

> स्कण्ठमालिकाम्लानिवचः कल्पास्तमानशे । शीघ्ररूपस्य लोकान्तमणोरिव विसर्पिणः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार शीघ्र गतिवाला परमाणु एक ही समयमें लोकके अन्त तक पहुँच जाता है उसी प्रकार ललिताङ्गदेवकी कण्ठमालाकी म्लानताका समाचार भी उस ईशानस्वर्गके अन्त तक व्याप्त हो गया था ॥ ८ ॥

> अथ सामानिका देवास्तमुपेत्य तथोचितम् । तद्विषादापनोदीदं जगदुर्वचनं बहु ॥ ९ ॥

अथानन्तर सामानिक जातिके देवोंने उसके समीप आकर उस समयके योग्य तथा उसका विषाद दूर करनेवाले नीचे लिखे अनेक वचन कहे ॥ ९ ॥

भो धीर धीरतामेव भावयाद्य शुचं त्यज । जन्ममृत्युजरातङ्कभयानां को न गोचरः ॥ १० ॥

हे धीर, आज अपनी धीरताका स्मरण कीजिए और शोकको छोड़ दीजिए, क्योंकि जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग और भय किसे प्राप्त नहीं होते ! ॥ १० ॥

साधारणीमिमां विद्धि सर्वेषां प्रच्युतिं दिवः । सौरायुषि परिक्षीणे न खं धारयते क्षणम् ॥ ११ ॥

स्वर्गसे च्युत होना सबके लिए साधारण बात है, क्योंकि आयु क्षीण होनेपर यह स्वर्ग क्षण-भर भी धारण करनेके लिए समर्थ नहीं है ॥ ११ ॥

नित्यालोकोऽप्यनालोको द्युलोकः प्रतिभासते । विरामात् पुण्यदीपस्य समस्तादन्धकारितः ॥ १२ ॥

सदा प्रकाशमान रहनेवाला यह स्वर्ग भी कदाचित् अन्धकाररूप प्रतिभासित होने लगता है क्योंकि जब पुण्यरूपी दीपक बुझ जाता है तब यह सब ओरसे अन्धकारमय हो जाता है ॥ १२ ॥

यथा रतिरभूत् स्वर्गे पुण्यपाकादनारतम् । तथैवात्रारतिर्भूयः क्षीणपुण्यस्य जायते ॥ १३ ॥

जिस प्रकार पुण्यके उदयसे स्वर्गमें निरन्तर प्रीति रहा करती है उसी प्रकार पुण्य क्षीण हो जानेपर उसमें अप्रीति होने लगती है ॥ १३ ॥

न केवलं परिम्लानिर्मालायाः सहजन्मनः । पापातपे तपत्यन्ते जन्तोर्म्लानिरपि तनोः ॥ १४ ॥

आयुके अन्तमें देवोंके साथ उत्पन्न होनेवाली माला ही म्लान नहीं होती है किन्तु पापरूपी आतपके तपते रहनेपर देवोंका शरीर भी म्लान हो जाता है ॥ १४ ॥

कम्पते हृदयं पूर्वं चरमं कल्पपादपः । गलति श्रीः पुरा पश्चात् समुच्छाया समं ह्रिया ॥ १५ ॥

देवोंके अन्त समयमें पहले हृदय कम्पायमान होता है, पीछे कल्पवृक्ष कम्पायमान होते हैं। पहले लक्ष्मी नष्ट होती है फिर उसके साथ शरीरकी प्रभा नष्ट होती है ॥ १५ ॥

> जनापरागः प्रागेति पश्चाज्जृम्भिका परा । वाससोरपरागश्च पश्चात् पापोपरागजः ॥ १६ ॥

पापके उदयसे पहले लोगोंमें अस्नेह बढ़ता है फिर जँभाईकी अधिकता होती है, फिर शरीरके वस्त्रोंमें अप्रीति उत्पन्न हो जाती है ॥ १६ ॥

> कामरागावसंसक्तिर्ज्ञानभङ्गादनन्तरम् । मनः पूर्वं तमो रुन्धे चक्षुः पश्चादनीदृशम् ॥ १७ ॥

पहले मान भंग होता है पश्चात् विषयोंकी इच्छा नष्ट होती है। अज्ञानान्धकार पहले मनको रोकता है पश्चात् नेत्रोंको रोकता है ॥ १७ ॥

> प्रत्यासन्नच्युतेरेवं यद् दौःस्थ्यं त्रिदिवौकसः । न तत् स्यान्नारकस्यापि साक्षात् पश्यसि तद् ध्रुवम् ॥ १८ ॥

अधिक कहाँतक कहा जाये, स्वर्गसे च्युत होनेके सम्मुख देवको जो तीव्र दुःख होता है, वह नारकीको भी नहीं हो सकता। इस समय उस भारी दुःखका आप प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं ॥ १८ ॥

> यथोदितस्य सूर्यस्य निश्चितोऽस्तमयः पुरा । तथा पातोन्मुखः स्वर्गो जन्तोरभ्युदयोऽप्ययम् ॥ १९ ॥

जिस प्रकार उदित हुए सूर्यका अस्त होना निश्चित है, उसी प्रकार स्वर्गको प्राप्त हुए जीवोंके अभ्युदयोंका पतन होना भी निश्चित है ॥ १९ ॥

> तस्मात् मा स्म गमः शोकं कुयोन्यावर्त्तपातिनम् । धर्मे मतिं निधत्स्वार्य धर्मो हि शरणं परम् ॥ २० ॥

इसलिए हे आर्य, कुयोनिरूपी आवर्तमें गिरानेवाले शोकको प्राप्त न होइए तथा धर्ममें मन लगाइए, क्योंकि धर्म ही परम शरण है ॥ २० ॥

> अहेतुकं विना कार्यमार्य जातु न दृश्यते । पुण्यं च कारणं प्राहुर्बुधाः स्वर्गापवर्गयोः ॥ २१ ॥

हे आर्य, कारणके बिना कभी कोई कार्य नहीं होता है और चूंकि पण्डितजन पुण्यको ही स्वर्ग तथा मोक्षका कारण कहते हैं ॥ २१ ॥

> तत्पुण्यसाधने जैने शासने मतिमादधत् । विषादमुत्सृजात्रैव त्वमेतेन भवितासि ॥ २२ ॥

इसलिए पुण्यके साधनभूत जिनधर्ममें अपनी बुद्धि लगाकर खेदको छोड़िए, ऐसा करनेसे तुम निश्चय ही पापरहित हो जाओगे ॥ २२ ॥

> इति तद्वचनाद् धैर्यमाश्रित्य स मतिं दधौ । जिनधर्मे परं पञ्चदशाहानि च पूजयन् ॥ २३ ॥

इस प्रकार सामानिक देवोंके कहनेसे ललिताङ्गदेवने धैर्यका अवलम्बन किया, धर्ममें बुद्धि लगायी और पन्द्रह दिन तक समस्त लोकके जिन-चैत्यालयोंकी पूजा की ॥ २३ ॥

> ततोऽच्युतस्य कल्पस्य जिनबिम्बानि पूजयन् । तच्चैत्यवृक्षमूलस्थः स्वायुरन्ते समाहितः ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् अच्युत स्वर्गकी जिनप्रतिमाओंकी पूजा करता हुआ वह आयुके अन्तमें वहीं सावधान चित्त होकर चैत्यवृक्षके नीचे बैठ गया ॥ २४ ॥

> नमस्कारपदान्युच्चैरनुध्यायन् समाध्यसः । साध्वसौ मुकुलीकृत्य करौ प्रायाददृश्यताम् ॥ २५ ॥

तथा वहीं निर्भय हो हाथ जोड़कर उच्चस्वरसे नमस्कार मन्त्रका ठीक-ठीक उच्चारण करता हुआ अदृश्यताको प्राप्त हो गया ॥ २५ ॥

> जम्बूद्वीपे महामेरोर्विदेहे पूर्वदिग्गते । या पुष्कलावतीत्यासीज्जनभूमिस्स्रनोरमा ॥ २६ ॥

इसी जम्बूद्वीपके मेरु पर्वतके पूर्व दिशाकी ओर स्थित विदेह क्षेत्रमें जो महामनोहर पुष्कलावती नामका देश है वह स्वर्गभूमिके समान सुन्दर है ॥ २६ ॥

> स्वर्गभूनिर्विशेषां तां पुरमुत्पलखेटकम् । भूषयत्युत्पलच्छन्ना रक्षिप्रादिसंपदा ॥ २७ ॥

उसी देशमें एक उत्पलखेटक नामका नगर है जो कि कमलोंसे आच्छादित जल, खेतों, कोट और परिखा आदिकी शोभासे उस पुष्कलावती देशको भूषित करता रहता है ॥ २७ ॥

> वज्रबाहुः पतिस्तस्य वज्रीवाज्ञापरोऽभवत् । तस्य श्रीर्वसुन्धरास्यासीद् द्वितीयेव वसुन्धरा ॥ २८ ॥

उस नगरीका राजा वज्रबाहु था जो कि इन्द्रके समान आज्ञा चलानेमें सदा तत्पर रहता था। उसकी रानीका नाम वसुन्धरा था। वह वसुन्धरा सहनशीलता आदि गुणोंसे ऐसी शोभायमान होती थी मानो दूसरी वसुन्धरा-पृथिवी ही हो ॥ २८ ॥

> तयोः सूनुरभूद् भव्यो ललिताङ्गस्ततश्च्युतः । वज्रजङ्घ इति ख्यातिं दधदन्वर्थतां गताम् ॥ २९ ॥

वह ललिताङ्ग नामक देव स्वर्गसे च्युत होकर उन्हीं-वज्रबाहु और वसुन्धराके, वज्रके समान जंघा होनेसे 'वज्रजङ्घ' इस सार्थक नामको धारण करनेवाला पुत्र हुआ ॥ २९ ॥

> स शङ्केव बन्धूनां वर्धयन् सुहृदः कलाः । संकोचयन् द्विषां वृत्तं ययौ वृद्धिमहर्निशम् ॥ ३० ॥

वह वज्रजङ्घ शत्रुरूपी कमलोंको संकुचित करता हुआ बन्धुरूपी कुमुदोंको हर्षित (विकसित) करता था तथा प्रतिदिन कलाओं (चतुराई, पक्षमें चन्द्रमाका सोलहवाँ भाग) की वृद्धि करता था इसलिए द्वितीयाके चन्द्रमाके समान बढ़ने लगा ॥ ३० ॥

> आरूढयौवनस्यास्य रूपसंपदनीदृशी । जाता कान्तिरिवापूर्णमण्डलस्य निशाकृतः ॥ ३१ ॥

जब वह यौवन अवस्थाको प्राप्त हुआ तब उसकी रूपसम्पत्ति अनुपम हो गयी जैसे कि चन्द्रमा क्रम-क्रमसे बढ़कर जब पूर्ण हो जाता है तब उसकी कान्ति अनुपम हो जाती है ॥ ३१ ॥

> शिरस्यस्य सुनिलाश्च केशाः कुञ्चितमूर्धजाः । कामकृष्णभुजङ्गस्य शिशवो नु विजृम्भिताः ॥ ३२ ॥

उसके शिरपर काले चिकने और घुँघराले बाल ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो कामदेवरूपी काले सर्पके बढ़े हुए बच्चे ही हों ॥ ३२ ॥

> नेत्रभृङ्गे मुखाब्जेऽस्य सस्मितांशुककेसरे । धत्ते स्म मधुरा वाणी मकरन्दरसोपमाम् ॥ ३३ ॥

वह मन्दहास्य, नेत्ररूपी भ्रमर और हास्यकी किरणरूपी केशरसे सहित अपने मुखकमलमें मकरन्दरसके समान मनोहर वाणीको धारण करता था ॥ ३३ ॥

> नेत्रद्वन्द्वं रराजैतद् दधद् वृत्तं कर्णयोः । श्रुती ताविवाश्रित्य शिक्षितुं सूक्ष्मदर्शिताम् ॥ ३४ ॥

कानोंसे मिले हुए उसके दोनों नेत्र ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो वे अनेक शास्त्रोंका श्रवण करनेवाले कानोंके समीप जाकर उनसे सूक्ष्मदर्शिता (पाण्डित्य और बारीक पदार्थोंको देखनेकी शक्ति) का अभ्यास ही कर रहे हों ॥ ३४ ॥

> उपकण्ठमसौ बिभ्रद्धारं नीहारसच्छविम् । तारानिकरमास्येन्दोः सेवार्थमुपागतम् ॥ ३५ ॥

वह वज्रजङ्घ अपने कण्ठके समीप जिस हारको धारण किये हुए था वह नीहार-बरफके समान स्वच्छ कान्तिका धारक था तथा ऐसा मालूम होता था मानो मुखरूपी चन्द्रमाकी सेवाके लिए तारोंका समूह ही आया हो ॥ ३५ ॥

> वक्षःस्थलेन शुभ्रेण सोऽधाच्चन्दनचर्चिकाम् । मेरुर्निजदृतीर्लग्नां शारदीमिव चन्द्रिकाम् ॥ ३६ ॥

वह अपने विशाल वक्षःस्थलपर चन्दनका विलेपन धारण कर रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो अपने तटपर शरद् ऋतुकी चाँदनी धारण किये हुए मेरु पर्वत ही हो ॥ ३६ ॥

> मुकुटोज्जासिनो मेरोर्मन्यस्य शिरसोऽन्तिके । बाहू तस्यायतौ नीलनिषधाविव चेरतुः ॥ ३७ ॥

मुकुटसे शोभायमान उसका मस्तक ठीक मेरु पर्वतके समान मालूम होता था और उसके समीप लम्बी भुजाएँ नील तथा निषध गिरिके समान शोभायमान होती थीं ॥ ३७ ॥

> सरिदावर्तगम्भीरा नाभिर्मध्येऽस्य निर्बभौ । नारीदृक्कलभोरोधिवारिखातेव मन्मथे ॥ ३८ ॥

उसके मध्य भागमें नदीके आवर्तके समान गम्भीर नाभि ऐसी जान पड़ती थी मानो स्त्रियोंकी दृष्टिरूपी हथिनियोंको रोकनेके लिए कामदेवके द्वारा खोदा हुआ एक गड्ढा ही हो ॥ ३८ ॥

> रशनावेष्टितं तस्य कटीमण्डलमाबभौ । हेमवेदीपरिक्षिप्तमिव जम्बूद्रुमास्पदम् ॥ ३९ ॥

करधनीसे घिरा हुआ उसका कटिभाग ऐसा शोभायमान था मानो सुवर्णकी वेदिकासे घिरा हुआ जम्बूवृक्षके रहनेका स्थान ही हो ॥ ३९ ॥

> ऊरुद्वन्द्वमभूत्तस्य सुवृत्तं च सुसंहतम् । रामामनोगजाक्रान्तस्तम्भलीलां समुद्वहत् ॥ ४० ॥

स्थिर गोल और एक दूसरेसे मिली हुई उसकी दोनों जाँघ ऐसी जान पड़ती थीं मानो स्त्रियोंके मनरूपी हाथीको बाँधनेके लिए दो स्तम्भ ही हों ॥ ४० ॥

> जङ्घे च वज्रसंकाशे न व्यावर्येते मयाधुना । तन्नाम्नैव गतार्थत्वात् पौनरुक्त्यविवाक्षया ॥ ४१ ॥

उसकी वज्रके समान स्थिर जंघाओं (पिण्डलियों) का तो मैं वर्णन ही नहीं करता क्योंकि वह उसके 'वज्रजङ्घ' नामसे ही गतार्थ हो जाता है। इतना होनेपर भी यदि वर्णन करूँ तो मुझे पुनरुक्ति दोषकी आशंका है ॥ ४१ ॥

> चरणद्वितयं सोऽधादारक्तं रुचिमान्वितम् । श्रितं श्रियानपायिन्या संचारीव स्थलाम्बुजम् ॥ ४२ ॥

उस वज्रजङ्घके कुछ लाल और चिकने दोनों चरण ऐसे जान पड़ते थे मानो अविनाशिनी लक्ष्मीसे आश्रित चलते-फिरते दो स्थलकमल ही हों ॥ ४२ ॥

> रूपसंपदमुष्यैषा शोभिता श्रुतसंपदा । शरच्चन्द्रिकयेवेन्दोर्मूर्तिरानन्दिनी दृशाम् ॥ ४३ ॥

शास्त्रज्ञानसे भूषित उसकी यह रूपसम्पत्ति देखनेवालोंको उतना ही आनन्द देती थी जितना कि शरद् ऋतुकी चाँदनीसे भूषित चन्द्रमाकी मूर्ति देती है ॥ ४३ ॥

पदवाक्यप्रमाणेषु परां प्रावीण्यतां गता । तस्य शास्त्रमयी दृष्टिर्दीपिकेव व्यदीप्यत ॥ ४४ ॥

पद, वाक्य और प्रमाण आदिके विषयमें अतिशय प्रवीणताको प्राप्त हुई उसकी बुद्धि सब शास्त्रोंको स्पष्ट करनेवाली दीपकके समान देदीप्यमान रहती थी ॥ ४४ ॥

स कलाः सकला विद्वान् विनीतात्मा जितेन्द्रियः । राज्यलक्ष्मीकटाक्षाणां लक्ष्यत्वमगमत् कृती ॥ ४८ ॥

वह समस्त कलाओंका ज्ञाता, विनयी, जितेन्द्रिय और कार्यकुशल था इसलिए राज्यलक्ष्मीके कटाक्षोंका भी आश्रय हुआ था, वह उसे प्राप्त करना चाहती थी ॥ ४८ ॥

निसर्गजा गुणास्तस्य विरक्तान् जनमरञ्जयन् । जनानुरागः सोऽपुष्णात् महतीमस्य योग्यताम् ॥ ४६ ॥

उसके स्वाभाविक गुण सब लोगोंको प्रसन्न करते थे तथा उसका स्वाभाविक मनुष्य-प्रेम उसकी बड़ी भारी योग्यताको पुष्ट करता था ॥ ४६ ॥

अनुरागं सरस्वत्यां कीर्तौ प्रणयनिष्ठताम् । लक्ष्म्यां वाल्लभ्यमातन्वन् विदुषां मूर्ध्नि सोऽभवत् ॥ ४७ ॥

वह सदा सरस्वतीमें अनुराग, कीर्तिमें स्नेह और राज्यलक्ष्मीपर भोग करनेका अधिकार (स्वामित्व) रखता था इसलिए विद्वानोंमें सिरमौर समझा जाता था ॥ ४७ ॥

स तथापि कृतप्रज्ञो यौवनं परिमापिवान् । स्वयंप्रभानुरागेण प्रायोऽभूत् स्त्रीषु निःस्पृहः ॥ ४८ ॥

यद्यपि वह बुद्धिमान् वज्रजङ्घ उत्कृष्ट यौवनको प्राप्त हो गया था तथापि स्वयंप्रभाके अनुरागसे वह प्रायः अन्य स्त्रियोंमें निःस्पृह ही रहता था ॥ ४८ ॥

तस्येति परमानन्दात् काले गच्छति धीमतः । स्वयंप्रभा दिवश्च्युत्वा क्वोत्पन्नेत्यधुनोच्यते ॥ ४९ ॥

इस प्रकार उस बुद्धिमान् वज्रजङ्घका समय बड़े आनन्दसे व्यतीत हो रहा था। अब स्वयंप्रभा महादेवी स्वर्गसे च्युत होकर कहाँ उत्पन्न हुई इस बातका वर्णन किया जाता है ॥ ४९ ॥

> अथ स्वयंप्रभा देवी ललिते प्रच्युतिमीयुषि । तद्वियोगाच्चिरं खिन्ना चक्रीव विरहं गता ॥ ५० ॥

ललिताङ्गदेवके स्वर्गसे च्युत होनेपर वह स्वयंप्रभा देवी उसके वियोगसे चकवाके बिना चकवीकी तरह बहुत ही खेदखिन्न हुई ॥ ५० ॥

> ग्रीष्मे द्युतिविहीनेव संतापधारिणी भूयादभूदियम् । समुज्झितककण्ठालापा कोकिलेव घनागमे ॥ ५१ ॥

अथवा ग्रीष्मऋतुमें जिस प्रकार पृथिवी प्रभारहित होकर संताप धारण करने लगती है उसी प्रकार वह स्वयंप्रभा भी पतिके विरहमें प्रभारहित होकर संताप धारण करने लगी और जिस प्रकार वर्षा ऋतुमें कोयल अपना मनोहर आलाप छोड़ देती है उसी प्रकार उसने भी अपना मनोहर आलाप छोड़ दिया था—वह पतिके विरहमें चुपचाप बैठी रहती थी ॥ ५१ ॥

> दिव्यस्येवौषधस्यास्य विरहात्तां तथा सतीम् । आधयोऽपीडयन् गाढं व्याधिकल्पाः सुदुःसहाः ॥ ५२ ॥

जिस प्रकार दिव्य ओषधियोंके अभावमें अनेक कठिन बीमारियाँ दुःख देने लगती हैं उसी प्रकार ललिताङ्गदेवके अभावमें उस पतिव्रता स्वयंप्रभाको अनेक मानसिक व्यथाएँ दुःख देने लगी थीं ॥ ५२ ॥

> ततोऽस्या दृढधर्माख्यो देवोऽन्तःपरिषद्गतः । शुचं दूरीकृत्य सन्मार्गे मतिमासञ्जयत् पराम् ॥ ५३ ॥

तदनन्तर उसकी अन्तःपरिषद्के सदस्य दृढधर्म नामके देवने उसका शोक दूर कर सन्मार्गमें उसकी मति लगायी ॥ ५३ ॥

> सा चित्रप्रतिमावासीत् तदा भोगेषु निःस्पृहा । विमुक्तमतिभास्वत्पुरुषस्येव शेमुषी ॥ ५४ ॥

उस समय वह स्वयंप्रभा चित्रलिखित प्रतिमाके समान अथवा मरणके भयसे रहित शूर-वीर मनुष्यकी बुद्धिके समान भोगोंसे निःस्पृह हो गयी थी ॥ ५४ ॥

> श्रीमती सा भविष्यन्ती भव्यमालेव सङ्गता । षण्मासान् जिनपूजायामुद्यताभून्मनस्विनी ॥ ५५ ॥

जो आगामी पर्यायमें श्रीमती होनेवाली है, ऐसी वह मनस्विनी (विचारशक्तिसे सहित) स्वयंप्रभा, भव्य जीवोंकी श्रेणीके समान धर्मका सेवन करती हुई छह महीने तक बराबर जिनपूजा करनेमें उद्यत रही ॥ ५५ ॥

> ततः सौमनसोद्यानपूर्वदिग्जिनमन्दिरे । मूले चैत्यतरोः सम्यक् स्मरन्ती गुरुपञ्चकम् ॥ ५६ ॥

तदनन्तर सौमनस वनसम्बन्धी पूर्वदिशाके जिनमन्दिरमें चैत्यवृक्षके नीचे पञ्चपरमेष्ठियोंका भले प्रकार स्मरण करते हुए ॥ ५६ ॥

> समाधिना कृतप्राणत्यागा प्राच्योत सा दिवः । तारकेव निशापाये सहसा दृश्यतां गता ॥ ५७ ॥

समाधिपूर्वक प्राण त्याग कर स्वर्गसे च्युत हो गयी। वहाँसे च्युत होते ही वह रात्रिका अन्त होनेपर तारिकाकी तरह क्षण एकमें अदृश्य हो गयी ॥ ५७ ॥

> प्राग्भाषिते विदेहेऽस्ति नगरी पुण्डरीकिणी । तस्याः पतिरभून्नाम्ना वज्रदन्तो महीपतिः ॥ ५८ ॥

जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है, ऐसे विदेह क्षेत्रमें एक पुण्डरीकिणी नगरी है। वज्रदन्त नामक राजा उसका अधिपति था ॥ ५८ ॥

> लक्ष्मीरिवास्य संजाता लक्ष्मीमतिरभूत् प्रिया । स तया कल्पवल्ल्याव वने राजा व्यरोचत ॥ ५९ ॥

उसकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था जो वास्तवमें लक्ष्मीके समान ही सुन्दर शरीरवाली थी। वह राजा उस रानीसे ऐसा शोभायमान होता था जैसे कि कल्पलतासे कल्पवृक्ष ॥ ५९ ॥

तयोः पुत्री बभूवासौ ललिता श्रीमतीति या । पताकेव मनोजस्य रूपसौन्दर्यलोलया ॥ ६० ॥

वह स्वयंप्रभा उन दोनोंके श्रीमती नामसे प्रसिद्ध पुत्री हुई। वह श्रीमती अपने रूप और सौन्दर्यकी लीलासे कामदेवकी पताकाके समान मालूम होती थी ॥ ६० ॥

आदिपुराण (आचार्य जिनसेन कृत)

> नवयौवनमासाद्य मधुमासमिवाधिकम् । लोकस्य प्रमदं तेने बाला मञ्जुकलेव सा ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार वसन्त मासको पाकर चन्द्रमाकी कला लोगोंको अधिक आनन्दित करने लगती है, उसी प्रकार नवयौवनको पाकर यह श्रीमती भी लोगोंको अधिक आनन्दित करने लगी थी ॥ ६१ ॥

> पादाङ्गुष्ठे नखज्योत्स्ना जिग्ये कुरवकच्छविः । अशोकपल्लवच्छाया पादभासाधरीकृता ॥ ६२ ॥

उसके गुलाबी नखोंने कुरवक पुष्पकी कान्तिको जीत लिया था और चरणोंकी आभाने अशोकपल्लवोंकी कान्तिको तिरस्कृत कर दिया था ॥ ६२ ॥

> रणन्नूपुरमत्तालिझङ्कारमुखरीकृते । पादारविन्दे साऽधत्त लक्ष्म्या शश्वत्कृतास्पदे ॥ ६३ ॥

वह श्रीमती, रुनझुन शब्द करते हुए नूपुररूपी मत्त भ्रमरोंकी झंकारसे मुखरित तथा लक्ष्मीके सदा निवासस्थानस्वरूप चरणकमलोंको धारण कर रही थी ॥ ६३ ॥

> चिरं यदुदवासेन दधत् कण्टकितां तनुम् । चक्रे तपोऽमुना तेनाब्जं प्राप्तं तत्पदोपमाम् ॥ ६४ ॥

मैं मानता हूँ कि कमलने चिरकाल तक पानीमें रहकर कण्टकित (रोमाञ्चित, पक्षमें काँटेदार) शरीर धारण किये हुए जो व्रताचरण किया था उसीसे वह श्रीमतीके चरणोंकी उपमा प्राप्त कर सका था ॥ ६४ ॥

> जङ्घे रराजतुस्तस्याः कुसुमेषोरिवेषुधी । ऊरू च बिभ्रतौ कामगजालानानयष्टिम् ॥ ६५ ॥

उसकी दोनों जंघाएँ कामदेवके तरकसके समान शोभित थीं, और ऊरुदण्ड (जाँघें) कामदेवरूपी हस्तीके बन्धन-स्तम्भकी शोभा धारण कर रहे थे ॥ ६५ ॥

> नितम्बबिम्बमेतस्याः सैकतं जलधेरिव । लसद्दुकूलनीरेण स्थगितं रुचिमानशे ॥ ६६ ॥

शोभायमान वस्त्ररूपी जलसे तिरोहित हुआ उसका नितम्बमण्डल किसी नदीके रेतीले टीलेके समान शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥ ६६ ॥

> वलीभं दक्षिणावर्तनाभिमध्यं दधार सा । नद्याव जलमावर्तसंशोभिततरङ्गकम् ॥ ६७ ॥

वह त्रिवलियोंसे सुशोभित तथा दक्षिणावर्त नाभिसे युक्त मध्यभागको धारण कर रही थी इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो भँवरसे शोभायमान और लहरोंसे युक्त आवर्तको धारण करनेवाली नदी ही हो ॥ ६७ ॥

> मध्यं स्तनभराक्रान्तिचिन्तयैवात्ततानवम् । रोमावलिच्छलेनासौ दधेऽवष्टम्भयष्टिकाम् ॥ ६८ ॥

उसका मध्यभाग स्तनोंका बोझ बढ़ जानेकी चिन्तासे ही मानो कृश हो गया था और इसीलिए उसने रोमावलिके छलसे मानो सहारेकी लाठी धारण की थी ॥ ६८ ॥

> नाभिरन्ध्रादधस्तन्वीं रोमराजीमसौ दधे । उपघ्नान्तरमन्विच्छोः कामाहेः पदवीमिव ॥ ६९ ॥

वह नाभिरन्ध्रके नीचे एक पतली रोमराजिको धारण कर रही थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो दूसरा आश्रय खोजते हुए कामदेवरूपी सर्पका मार्ग ही हो ॥ ६९ ॥

> स्ववल्लिरिव बाहू तौ विटपसच्छवी । नखांशुमञ्जरी बिभ्रत् धत्ते स्म कुसुमश्रियम् ॥ ७० ॥

वह श्रीमती स्वयं कल्पलताके समान थी, उसकी भुजाएँ शाखाओंके समान थीं और नखोंकी किरणें पुष्पमञ्जरीकी शोभा धारण करती थीं ॥ ७० ॥

आनीलचूचुकावस्याः कुचकुम्भौ विरेजतुः । पूर्णौ कामरसस्येव नीलरत्नाभिसुद्रितौ ॥ ७१ ॥

जिनका अग्रभाग कुछ-कुछ श्यामवर्ण है ऐसे उसके दोनों स्तन ऐसे शोभायमान होते थे मानों कामरससे भरे हुए और नीलरत्नकी मुद्रासे अंकित दो कलश ही हों ॥ ७१ ॥

स्तनांशुकं शुकच्छायं सम्यक् स्तनतटाश्रितम् । बभासे रक्तपङ्केजकुट्मले शैवलं यथा ॥ ७२ ॥

उसके स्तनतटपर पड़ी हुई हरे रंगकी चोली ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो कमलमुकुलपर पड़ा हुआ शैवाल ही हो ॥ ७२ ॥

हारस्तस्याः स्तनोपान्ते नीहाररुचिनिर्मलः । श्रियमाधत्त फेनस्य पद्मकुट्मलसंस्पृशः ॥ ७३ ॥

उसके स्तनोंके अग्रभागपर पड़ा हुआ बरफके समान श्वेत और निर्मल हार कमलकुड्मल (कमल पुष्पकी बोड़ी) को छूनेवाले फेनकी शोभा धारण कर रहा था ॥ ७३ ॥

ग्रीवाऽस्या राजिभी रेजे कम्बुबन्धुरविभ्रमम् । खण्डितांसा च हंसीव पक्षती सा दधे दृशौ ॥ ७४ ॥

अनेक रेखाओंसे उपलक्षित उसकी ग्रीवा रेखासहित शंखकी शोभा धारण कर रही थी तथा वह स्वयं मनोहर कन्धोंको धारण किये हुए थी जिससे ऐसी मालूम होती थी मानो चिकने पंखोंके मूलभागको धारण किये हुए हंसी हो ॥ ७४ ॥

मुखमस्या दधे चन्द्रपद्मयोः श्रियमक्रमात् । नेत्रानन्दि स्मितज्योत्स्नं दशनैः केसरैरिव ॥ ७५ ॥

नेत्रोंको आनन्द देनेवाला उसका मुख एक ही साथ चन्द्रमा और कमल दोनोंकी शोभा धारण कर रहा था क्योंकि वह मन्दहास्यरूपी चाँदनीसे चन्द्रमाके समान जान पड़ता था और दाँतोंकी किरणरूपी केशरसे कमलके समान मालूम होता था ॥ ७५ ॥

स्वकलावृद्धिहानिभ्यां चिरं चान्द्रायणं व्रतः । कृत्वा शशी प्रापत् तन्मुखस्योपमानताम् ॥ ७६ ॥

चन्द्रमाने अपनी कलाओंकी वृद्धि और हानिके द्वारा चिरकाल तक चान्द्रायण व्रत किया था इसलिए मानो उसके फलस्वरूप ही वह श्रीमतीके मुखकी उपमाको प्राप्त हुआ था ॥ ७६ ॥

> कर्णौ सहोत्पली तस्या नेत्राम्यां लङ्घितौ भृशम् । स्वायतत्वनिरोधिनं को वा सहेतोपान्तवर्तिनम् ॥ ७७ ॥

उसके नेत्र इतने बड़े थे कि उन्होंने उत्पल धारण किये हुए कानोंका भी उल्लंघन कर दिया था सो ठीक ही है, अपना विस्तार रोकनेवालेको कौन सह सकता है ? चाहे वह समीपवर्ती क्यों न हो ॥ ७७ ॥

> कर्णप्रोत्पलवक्त्रे नेत्रोपान्ते स्म लक्ष्यते । दिदृक्षमाणमस्येव शोभामुत्कर्षविहसिनीम् ॥ ७८ ॥

उसके नेत्रोंके समीप कर्णफूलरूपी कमल ऐसे दिखाई देते थे मानो अपनी शोभापर हँसनेवाले नेत्रोंकी शोभाको देखना ही चाहते हों ॥ ७८ ॥

> मुखपङ्कजसंसक्तामलकालीं बभार सा । मलिनानपि नो हन्त श्रितानन्पायिनः ॥ ७९ ॥

वह श्रीमती अपने मुखकमलके ऊपर (मस्तकपर) काली अलकावलीको धारण किये हुए थी सो ठीक ही है, आश्रयमें आये हुए निरुपद्रवी मलिन पदार्थोको भी कौन धारण नहीं करता ? अर्थात् सभी करते हैं ॥ ७९ ॥

> कबरीभारमानम्रं सा दधे मृदुकुञ्चितम् । चन्दनद्रुमशाखाग्र्यां कृष्णाहेर्भोगमायतम् ॥ ८० ॥

वह कुछ नीचेकी ओर लटके हुए, कोमल और घुंघराले केशपाशको धारण कर रही थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो काले सर्पके लम्बायमान शरीरको धारण किये हुए चन्दनवृक्षकी लता ही हो ॥ ८० ॥

> इत्यसौ मदनोन्मादजनिकां रूपसंपदम् । बभार सुरवधूरूपसारांशैरिव निर्मिताम् ॥ ८१ ॥

इस प्रकार वह श्रीमती कामदेवको भी उन्मत्त बनानेवाली रूपसम्पत्तिको धारण करनेके कारण ऐसी मालूम होती थी मानो देवाङ्गनाओंके रूपके सारभूत अंशोंसे ही बनायी गयी हो ॥ ८१ ॥

लक्ष्मीं चलां विनिर्माय यदागो वेधसार्जितम् । तन्निर्मायैव तन्नूनं ततः प्रक्षालितं तदा ॥ ८२ ॥

ऐसा मालूम पड़ता था कि ब्रह्माने लक्ष्मीको चंचल बनाकर जो पाप उपार्जन किया था वह उसने श्रीमतीको बनाकर धो डाला था ॥ ८२ ॥

पितरौ तां प्रपश्यन्तौ नितरां प्रीतिमापतुः । कलामिव सुधासूतेः जनतानन्दकारिणीम् ॥ ८३ ॥

चन्द्रमाकी कलाके समान जनसमूहको आनन्द देनेवाली उस श्रीमतीको देख-देखकर उसके माता-पिता अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होते थे ॥ ८३ ॥

अथानन्तरमेकस्मिन् सुप्ता सौधे हंसांशुनिर्मले । परार्ध्यरत्नसंशोभे स्वर्विमानापहासिनि ॥ ८४ ॥

तदनन्तर किसी एक दिन वह श्रीमती हंसकी किरणोंके समान निर्मल, महामूल्य रत्नोंसे शोभायमान और स्वर्गविमानको भी लज्जित करनेवाले राजभवनमें सो रही थी ॥ ८४ ॥

तदैतदभवत्तस्याः संविधानकमीदृशम् । यशोधरगुरोस्तस्मिन् पुरे कैवल्यसंभवे ॥ ८५ ॥

उसी दिन उससे सम्बन्ध रखनेवाली यह विचित्र घटना हुई कि उसी नगरके मनोहर नामक उद्यानमें श्रीयशोधर गुरु विराजमान थे, उन्हें उसी दिन केवलज्ञान प्राप्त हुआ ॥ ८५ ॥

मनोहराख्यमुद्यानमध्यासीनं तमर्चितुम् । देवाः संप्रापुरारूढविमानाः सह संपदा ॥ ८६ ॥

इसलिए सब देव अपनी विभूतिके साथ विमानोंपर आरूढ़ होकर उनकी पूजा करनेके लिए आये थे ॥ ८६ ॥

पुष्पवृष्टिर्दिशो रुद्ध्वा तदापत्तत् सहालिभिः । स्वर्गलक्ष्म्येव तं द्रष्टुं प्रहिता नयनावली ॥ ८७ ॥

उस समय भ्रमरोंके साथ-साथ दिशाओंको व्याप्त करनेवाली जो पुष्पवर्षा हो रही थी वह ऐसी सुशोभित होती थी मानो यशोधर महाराजके दर्शन करनेके लिए स्वर्गलक्ष्मी-द्वारा भेजी हुई नेत्रोंकी परम्परा ही हो ॥ ८७ ॥

मन्दमाधूतमन्दारसान्द्रकिञ्जल्कपिञ्जरः । पुञ्जितालिस्तथा वातो गुञ्जन् मरुदवावथ ॥ ८८ ॥

उस समय मन्द-मन्द हिलते हुए मन्दारवृक्षोंकी सघन केशरसे कुछ पीला हुआ तथा इकट्ठे हुए भ्रमरोंकी गुंजारसे मनोहर वायु शब्द करता हुआ बह रहा था ॥ ८८ ॥

दुन्दुभीनां महाध्वानै रुरुध्यन्त दिशो दश । सुराणां प्रमदोद्भूतो महान् कलकलोऽप्यभूत् ॥ ८९ ॥

और बजते हुए दुन्दुभि बाजोंके शब्दोंसे दसों दिशाओंको व्याप्त करता हुआ देवोंके हर्षसे उत्पन्न होनेवाला बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥ ८९ ॥

सा तदा तद्ध्वनिं श्रुत्वा निशान्ते सहसोत्थिता । भेजे हंसीव संत्रस्ता मेघगर्जननिःस्वना ॥ ९० ॥

वह श्रीमती प्रातःकालके समय अकस्मात् उस कोलाहलको सुनकर उठी और मेघकी गर्जना सुनकर डरी हुई हंसिनीके समान भयभीत हो गयी ॥ ९० ॥

देवागमे क्षणात्तस्याः प्राग्जन्मस्मृतिराविर्भूत् । सा स्मृत्वा ललिताङ्गं तं मुमूर्छोत्कण्ठिता मुहुः ॥ ९१ ॥

उस समय देवोंका आगमन देखकर उसे शीघ्र ही पूर्वजन्मका स्मरण हो आया, जिससे वह ललिताङ्गदेवका स्मरण कर बार-बार उत्कण्ठित होती हुई मूर्च्छित हो गयी ॥ ९१ ॥

सखीभिरथ सोपायमाश्वास्य व्यजनानिलैः । प्रत्यापत्तिं समानाता तस्थौ भूयोऽप्यवाङ्मुखी ॥ ९२ ॥

तत्पश्चात् सखियोंने अनेक शीतोपचार और पंखोंकी वायुसे आश्वासन देकर उसे सचेत किया परन्तु फिर भी उसने अपना मुँह ऊपर नहीं उठाया ॥ ९२ ॥

मनोहरं प्रभोद्भासि सुन्दरं चारुलक्षणम् । तद्वपुर्मनसीवास्या लिखितं चित्रवद् बभौ ॥ ९३ ॥

उस समय मनोहर, प्रभासे देदीप्यमान, सुन्दर और अनेक उत्तम-उत्तम लक्षणोंसे सहित उस ललिताङ्गका शरीर श्रीमतीके हृदयमें लिखे हुए चित्रके समान शोभायमान हो रहा था ॥ ९३ ॥

> परिपृष्टापि साशङ्कं सखीभिर्जोषमास्त सा । मूकीभूता ललिताङ्गप्राप्तये मौनमेत्यलम् ॥ ९४ ॥

अनेक आशंकाएँ करती हुई सखियोंने उससे उसका कारण भी पूछा परन्तु वह चुपचाप बैठी रही। ललिताङ्गकी प्राप्तिके लिए मुझे मौन रखना ही श्रेयस्कर है ऐसा सोचकर मौन रह गयी ॥ ९४ ॥

> ततः पर्याकुलाः सत्यस्तमुदन्तमशेषतः । गत्वा पितृभ्यामाचख्युः सख्यो वृद्धैः समं तदा ॥ ९५ ॥

तदनन्तर घबड़ायी हुई सखियोंने पहरेदारोंके साथ जाकर उसके माता-पितासे सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ९५ ॥

> तद्वार्ताकर्णनाच्चूर्णं तत्समीपमुपागतौ । पितरौ तदवस्थां च दृष्ट्वा शुचमीयतुः ॥ ९६ ॥

सखियोंकी बात सुनकर उसके माता-पिता शीघ्र ही उसके पास गये और उसकी वह अवस्था देखकर अत्यन्त शोकातुर हुए ॥ ९६ ॥

> एहि पुत्रि परिष्वज्व क्रोडेऽस्माकं विशेति नौ । इति निर्बध्यमानापि मोमुहेव यदास्त सा ॥ ९७ ॥

'हे पुत्री, हमारा आलिंगन कर, गोदमें आ' इस प्रकार समझाये जानेपर भी जब वह मूर्च्छित हो चुपचाप बैठी रही ॥ ९७ ॥

> लक्ष्मीमतिमथोवाच प्रभुरिङ्गितकोविदः । जाता ते पुत्रिका तन्वी सेयमापूर्णयौवना ॥ ९८ ॥

तब समस्त चेष्टाओं और मनके विकारोंको जाननेवाले वज्रदन्त महाराज रानी लक्ष्मीमतीसे बोले—हे प्रिये, अब यह तुम्हारी पुत्री पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त हो गयी है ॥ ९८ ॥

> पश्यास्याः सुदति व्यक्तं वपुरत्यन्तकान्तिमत् । अनीदृशमभूत् स्वर्ग नारीभिरपि दुर्दृशम् ॥ ९९ ॥

हे सुन्दर दाँतोंवाली, देख, यह इसका शरीर कैसा अनुपम और कान्तियुक्त हो गया है। ऐसा शरीर स्वर्गकी दिव्यांगनाओंको भी दुर्लभ है ॥ ९९ ॥

> तदियं विकृतिरेषास्या न दूष्याय सुन्दरि । तेन मा स्म भयं देवि शङ्कमानाऽन्यथा कृथाः ॥ १०० ॥

इसलिए हे सुन्दरि, इस समय इसका यह विकार कुछ भी दोष उत्पन्न नहीं कर सकता। अतएव हे देवि, तू अन्य-रोग आदिकी शंका करती हुई व्यर्थ ही भयको प्राप्त न हो ॥ १०० ॥

> प्राग्जन्मानुभवः कोऽपि नूनमस्या हृदि स्थितः । संस्कारान् प्राक्तनान् प्रायः स्मृत्वा मूर्च्छन्ति जन्तवः ॥ १०१ ॥

निश्चय ही आज इसके हृदयमें कोई पूर्वभवका स्मरण हो आया है क्योंकि संसारी जीव प्रायः पुरातन संस्कारोंका स्मरण कर मूर्च्छित हो ही जाते हैं ॥ १०१ ॥

> इति ब्रुवाण एवोच्चैरुत्तस्थौ सह कान्तया । नियोज्य पण्डितां धात्रीं कन्याश्वासनसंविधौ ॥ १०२ ॥

यह कहते-कहते वज्रदन्त महाराज कन्याको आश्वासन देनेके लिए पण्डिता नामक धायको नियुक्त कर लक्ष्मीमतीके साथ उठ खड़े हुए ॥ १०२ ॥

> तदा कार्यद्वयं तस्य युगपत् समुपस्थितम् । केवलं स्वगुरोश्चक्रसंभूतिश्चायुधालये ॥ १०३ ॥

अपने स्थानपर वापस आनेपर महाराज वज्रदन्तके सामने एक साथ दो कार्य आ उपस्थित हुए। एक तो अपने गुरु यशोधर महाराजको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी अतएव उनकी पूजाके लिए जाना और दूसरा आयुधशालामें चक्ररत्न उत्पन्न हुआ था अतएव दिग्विजयके लिए जाना ॥ १०३ ॥

> तत् कार्यद्वितयमासाद्य बभूव क्षणमाकुलः । प्राग्विधेयं किमग्रेऽत्र स निश्चेतुमशक्नुवन् ॥ १०४ ॥

महाराज वज्रदन्त एक साथ इन दोनों कार्योंका प्रसंग आनेपर निश्चय नहीं कर सके कि इनमें पहले किसे करना चाहिए और इसीलिए वे क्षण-भरके लिए व्याकुल हो उठे ॥ १०४ ॥

> अदः पूर्वं विधातव्यमिति संप्रधारयन् पुनः । केवल्यसंपूजामादौ निश्चितवान् सुधीः ॥ १०५ ॥

तब 'इनमें पहले किसे करना चाहिए' इस बातका विचार करते हुए बुद्धिमान् राजाने निश्चय किया कि सबसे पहले गुरुदेव-यशोधर महाराजके केवलज्ञानकी पूजा करनी चाहिए ॥ १०५ ॥

> यतो दूरात् समापन्नं कार्यं कार्यं मनीषिभिः । व्यतिपाति ततस्तस्मात् प्रधानं कार्यमाचरेत् ॥ १०६ ॥

क्योंकि बुद्धिमान पुरुषोंको दूरवर्ती कार्यकी अपेक्षा निकटवर्ती कार्य ही पहले करना चाहिए, उसके बाद दूरवर्ती मुख्य कार्य करना चाहिए ॥ १०६ ॥

> तत एव हि यत् पुण्यं तस्माच्च विपुलोदयम् । धर्मात्मकं च यत् कार्यं तदर्हत्पूजादिलक्षणम् ॥ १०७ ॥

इसलिए जिस अरहंत पूजासे पुण्य होता है, जिससे बड़े-बड़े अभ्युदय प्राप्त होते हैं, तथा जो धर्ममय आवश्यक कार्य हैं ऐसे अरहन्तपूजा आदि प्रधान कार्योंको ही पहले करना चाहिए ॥ १०७ ॥

> मनसीत्याकलय्यासौ यशोधरगुरोः पराम् । पूजां कर्तुं समुत्तस्थौ पुनः पुण्यानुबन्धिनीम् ॥ १०८ ॥

मनमें ऐसा विचार कर वह राजा वज्रदन्त पुण्य बढ़ानेवाली यशोधर महाराजकी उत्कृष्ट पूजा करनेके लिए उठ खड़ा हुआ ॥ १०८ ॥

> ततः प्रतनया वृत्त्या जगद्गुरुम् । पूजयामास संप्रीतिप्रोल्लसन्मुखपङ्कजः ॥ १०९ ॥

तदनन्तर सेनाके साथ जाकर उसने जगद्गुरु यशोधर महाराजकी पूजा की। पूजा करते समय उसका मुखकमल अत्यन्त प्रफुल्लित हो रहा था ॥ १०९ ॥

> तत्पादौ प्रणमन्नेव सोऽलब्धावधिमद्धीः । विशुद्धपरिणामेन भक्तिः किं न फलिष्यति ॥ ११० ॥

प्रकाशमान बुद्धिके धारक वज्रदन्तने ज्यों ही यशोधर गुरुके चरणोंमें प्रणाम किया त्यों ही उसे अवधिज्ञान प्राप्त हो गया, सो ठीक ही है, विशुद्ध परिणामोंसे की गयी भक्ति क्या फलीभूत नहीं होगी ? अथवा क्या-क्या फल नहीं देगी ? ॥ ११० ॥

> तेनावुद्धाच्युतेन्द्रत्वमात्मनः प्राक्तने भवे । ललिताङ्गप्रियायाश्च दुहितृत्वमिहैतया ॥ १११ ॥

उस अवधिज्ञानसे राजाने जान लिया कि पूर्वभवमें मैं अच्युत स्वर्गका इन्द्र था और यह मेरी पुत्री श्रीमती ललिताङ्गदेवकी स्वयंप्रभा नामक प्रिया थी ॥ १११ ॥

> कृताभिवन्दनस्तस्मात् प्रतिगृह्य सुताम् । पण्डितायै समर्प्याशु प्रव्रजेद् दिग्जयाय सः ॥ ११२ ॥

वह बुद्धिमान् राजा वन्दना आदि करके वहाँसे लौटा और पुत्री श्रीमतीको पण्डिता धायके लिए सौंपकर शीघ्र ही दिग्विजयके लिए चल पड़ा ॥ ११२ ॥

> चक्रपूजां ततः कृत्वा चक्री शक्रसमद्युतिः । प्रास्थितासौ दिशो जेतुं ध्वजिन्या षडङ्गया ॥ ११३ ॥

इन्द्रके समान कान्तिका धारक वह चक्रवर्ती चक्ररत्नकी पूजा करके हाथी, घोड़ा, रथ, पियादे, देव और विद्याधर इस प्रकार छह प्रकारकी सेनाके साथ दिशाओंको जीतनेके लिए गया ॥ ११३ ॥

> अथ पण्डितिकान्येद्युः सुनिभृतं वचः । श्रीमतीं प्रतिबोधाय रहस्येवमभाषत ॥ ११४ ॥

तदनन्तर अतिशय चतुर पण्डिता नामकी धाय किसी एक दिन एकान्तमें श्रीमतीको समझानेके लिए इस प्रकार चातुर्यसे भरे वचन कहने लगी ॥ ११४ ॥

> अशोकवनिकामध्ये चन्द्रकान्तशिलातले । स्थिता सस्नेहमङ्गानि स्पृशन्ती मृदुपाणिना ॥ ११५ ॥

वह उस समय अशोकवाटिकाके मध्य चन्द्रकान्त शिलातलपर बैठी हुई थी तथा अपने कोमल हाथोंसे श्रीमतीके अंगोंका बड़े प्यारसे स्पर्श कर रही थी ॥ ११५ ॥

> मुखपङ्कजसंसर्पिदशनांशुजलप्लवैः । तस्या हृदिसन्तापमिव निर्वापयन्त्यसौ ॥ ११६ ॥

बोलते समय उसके मुखकमलसे जो दाँतोंकी किरणरूपी जलका प्रवाह बह रहा था उससे ऐसी मालूम होती थी मानो वह श्रीमतीके हृदयका सन्ताप ही दूर कर रही हो ॥ ११६ ॥

> अहं पण्डितिका सत्यं पण्डिता कार्ययुक्तिषु । जननीनिर्विशेषास्मि तव प्राणसमा सखी ॥ ११७ ॥

वह कहने लगी—हे पुत्रि, मैं समस्त कार्योंकी योजनामें पण्डिता हूँ—अतिशय चतुर हूँ। इसलिए मेरा पण्डिता यह नाम सत्य है—सार्थक है। इसके सिवाय मैं तुम्हारी माताके समान हूँ और प्राणोंके समान सदा साथ रहनेवाली प्रियसखी हूँ ॥ ११७ ॥

> ततो ब्रूहि विविक्तेऽत्र कन्ये मौनस्य कारणम् । नामयो गोपनीयो हि जनन्यै इति विश्रुतम् ॥ ११८ ॥

इसलिए हे धन्य कन्ये, तू यहाँ मुझसे अपने मौनका कारण कह ! क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि रोग मातासे नहीं छिपाया जाता ॥ ११८ ॥

> मया सुनिपुणं चित्ते पर्यालोचितमीहितम् । ज्ञातुं न तु शक्यं तत् तद् ब्रूहि पतिंवरे ॥ ११९ ॥

मैंने अपने चित्तमें तेरी इस चेष्टाका अच्छी तरहसे विचार किया है परन्तु मुझे कुछ भी मालूम नहीं हुआ इसलिए हे कन्ये, ठीक-ठीक कह ॥ ११९ ॥

> किमेष मदनोन्मादः कश्चिद्वा ग्रहविप्लवः । प्रायो हि यौवनारम्भे जृम्भते कामविभ्रमः ॥ १२० ॥

हे सखि, क्या यह कामका उन्माद है अथवा किसी ग्रहकी पीड़ा है ? प्रायः करके यौवनके प्रारम्भमें कामरूपी ग्रहका विकार हुआ ही करता है ॥ १२० ॥

> इति पृष्टा तया किञ्चिदानम्य मुखपङ्कजम् । पद्मिनीव दिनापाये परिम्लानं महोत्पलम् ॥ १२१ ॥

इस तरह पण्डिता धायके द्वारा पूछे जानेपर श्रीमतीने अपना मुरझाया हुआ मुख इस प्रकार नीचा कर लिया जिस प्रकार कि सूर्यास्तके समय कमलिनी मुरझाकर नीचे झुक जाती है ॥ १२१ ॥

> जगाद श्रीमती तन्वी न शक्तास्मीदृशं वचः । लज्जाविवशमानसा ॥ १२२ ॥

वह मुख नीचा करके कहने लगी—यह सच है कि मैं ऐसे वचन किसीके भी सामने नहीं कह सकती क्योंकि मेरा चित्त लज्जाके पराधीन हो रहा है ॥ १२२ ॥

> किन्तु तेऽद्य पुरो वक्तुं जिह्वेम्यहमुपस्थिता । जननीनिर्विशेषासि चिरं परिचिता च मे ॥ १२३ ॥

किन्तु आज मैं तुम्हारे सामने कहती हुई लज्जित नहीं होती हूँ, उसका कारण भी है कि मैं इस समय अत्यन्त दुःखी हो रही हूँ और आप हमारी माताके तुल्य तथा चिरपरिचिता हैं ॥ १२३ ॥

> तद् वदामि श्रृणु सौम्याङ्गि महतीयं कथा मम । मया प्राग्जन्मचरितं ज्ञातं देवागमेक्षणात् ॥ १२४ ॥

इसलिए हे मनोहराङ्गि, सुन, मैं कहती हूँ। मेरी कथा बहुत बड़ी है। आज देवोंका आगमन देखनेसे मुझे अपने पूर्वभवके चरित्रका स्मरण हो आया है ॥ १२४ ॥

> तत् कीदृशं कथा वेति सर्वं वक्ष्ये सविस्तरम् । स्वप्नानुभूतमिव मे स्मृतौ तत्प्रतिभासते ॥ १२५ ॥

वह पूर्वभवका चरित्र कैसा है अथवा वह कथा कैसी है ? इन सब बातोंको मैं विस्तारके साथ कहती हूँ। वह सब विषय मेरी स्मृतिमें स्वप्नमें अनुभव कियेके समान स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा है ॥ १२५ ॥

> अहं पूर्वभवेऽभूवं धातकीखण्डनामनि । महाद्वीपे सरोजाक्षि स्वर्गभूम्यतिशायिनि ॥ १२६ ॥

हे कमलनयने, इसी मध्यलोकमें एक धातकीखण्ड नामका महाद्वीप है जो अपनी शोभासे स्वर्गभूमिको तिरस्कृत करता है ॥ १२६ ॥

> तत्रास्ति पूर्वमेरोः पूर्वस्मिन् विदेहे प्रत्यगाश्रिते । विषयो गन्धिलाभिख्यो यः कुरूनपि निर्जयेत् ॥ १२७ ॥

इस द्वीपके पूर्व मेरुसे पश्चिम दिशाकी ओर स्थित विदेह क्षेत्रमें एक गन्धिला नामका देश है जो कि अपनी शोभासे देवकुरु और उत्तरकुरुको भी जीत सकता है ॥ १२७ ॥

> तत्राभूत् पाटलीग्रामे नागदत्तो वणिक्सुतः । सुमतिस्तस्य कान्ताभूत् तयोर्जाताः सुता इमे ॥ १२८ ॥

उस देशमें एक पाटली नामका ग्राम है उसमें नागदत्त नामका एक वणिक रहता था। उसकी सुमति नामकी पत्नी थी और उन दोनोंके क्रमसे ॥ १२८ ॥

> नन्दश्च नन्दमित्रश्च नन्दिषेणाह्वयः परः । वरसेनो जयसेनश्च सुतास्तत्सूनवः क्रमात् ॥ १२९ ॥

नन्द, नन्दिमित्र, नन्दिषेण, वरसेन और जयसेन ये पाँच पुत्र ॥ १२९ ॥

> पुत्रिके च तयोर्जाते मदनश्रीपदे तथा । कान्ते तयोरहं जाता निर्नामिति कनीयसी ॥ १३० ॥

तथा मदनकान्ता और श्रीकान्ता नामकी दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। पूर्वभवमें मैं इन्हींके घर निर्नामती नामकी सबसे छोटी पुत्री हुई थी ॥ १३० ॥

> कदापि कानने रम्ये चरिते चारणादिके । गिरावम्बरपूर्वेऽहं तिलके पिहितास्रवम् ॥ १३१ ॥

किसी दिन मैंने चारणचरित नामक मनोहर वनमें अम्बरतिलक पर्वतपर ॥ १३१ ॥

> नानर्द्धिविभवं तुष्टं मुनिं सावधिबोधनम् । इदमप्राक्षमानम्य संबोध्य भगवन्निति ॥ १३२ ॥

दिव्य अवधिज्ञानसे सहित तथा अनेक ऋद्धियोंसे भूषित पिहितास्रव नामक मुनिराजके दर्शन किये। जाकर और नमस्कार कर मैंने उनसे पूछा कि हे भगवन् ॥ १३२ ॥

> केनास्मि कर्मणा जाता कुले दौर्गत्यशालिनि । अहोऽहमतिनिर्विण्णा दीनामनुगृहाण माम् ॥ १३३ ॥

मैं किस कर्मसे इस दरिद्रकुलमें उत्पन्न हुई हूँ ? हे प्रभो, कृपा कर इसका कारण कहिए और मुझ दीन तथा अतिशय उद्विग्न स्त्री-जनपर अनुग्रह कीजिए ॥ १३३ ॥

> इति पृष्टो मुनीन्द्रोऽसौ प्रोवाचेदं गिरा । अस्मिन् विषयेऽमुत्र पुत्रि जातासि कर्मणा ॥ १३४ ॥

इस प्रकार पूछे जानेपर वे मुनिराज मधुर वाणीसे कहने लगे कि हे पुत्रि, पूर्वभवमें तू अपने कर्मोदयसे इसी देशके ॥ १३४ ॥

> पलालपर्वतग्रामे देविलग्रामकूटकात् । सुमतेरुदरे पुत्री धनश्रीरिति विश्रुता ॥ १३५ ॥

पलालपर्वत नामक ग्राममें देविलग्राम नामक पटेलकी सुमति नामकी पत्नीके उदरसे धनश्री नामसे प्रसिद्ध पुत्री हुई थी ॥ १३५ ॥

> व्यक्षिपस्त्वमज्ञानात् श्वनः पूतिकलेवरम् । मुनेः समाधिगुप्तस्य पठतोऽग्रे सदा मुदा ॥ १३६ ॥

किसी दिन तूने पाठ करते हुए समाधिगुप्त मुनिराजके समीप मरे हुए कुत्तेका दुर्गन्धित कलेवर डाला था और अपने इस अज्ञानपूर्ण कार्यसे खुश भी हुई थी ॥ १३६ ॥

> मुनिस्तदवलोक्यासौ त्वामित्यन्वशिषत्तदा । त्वयेदं बालिके कर्म विरूपकमनुष्ठितम् ॥ १३७ ॥

यह देखकर मुनिराजने उस समय तुझे उपदेश दिया था कि बालिके, तूने यह बहुत ही विरुद्ध कार्य किया है ॥ १३७ ॥

> फलिष्यति विपाके ते तीव्रदुःखमहत्फलम् । इहास्त्यधिकमन्यस्मिन् माननीयविमानना ॥ १३८ ॥

भविष्यमें उदयके समय यह तुझे तीव्रदुःख और कटुक फल देगा क्योंकि पूज्य पुरुषोंका किया हुआ अपमान अन्य पर्यायमें अधिक दुःख देता है ॥ १३८ ॥

इति ब्रुवन्तमभ्येत्य क्षमामग्राहयस्तदा । भगवंश्चिदमज्ञानात् क्षमस्व कृतमित्यलम् ॥ १३९ ॥

मुनिराजके ऐसा कहनेपर धनश्रीने उसी समय उनके सामने जाकर अपना अपराध क्षमा कराया और कहा कि हे भगवन्, मैंने यह कार्य अज्ञानवश ही किया है, इसलिए क्षमा कर दीजिए ॥ १३९ ॥

तेनोपशमभावेन जाताऽल्पं पुण्यमाश्रिता । मनुष्यजन्मनोहाद्य कुले परमदुर्गते ॥ १४० ॥

उस उपशम भावसे—क्षमा माँग लेनेसे तुझे कुछ थोड़ा-सा पुण्य प्राप्त हुआ था जिससे तू इस समय मनुष्ययोनिमें इस अतिशय दरिद्र कुलमें उत्पन्न हुई है ॥ १४० ॥

आदिपुराण (आचार्य जिनसेन कृत)

> ततः कल्याणि कल्याणं गृहाणोपोषितं व्रतम् । जिनेन्द्रगुणसंपत्तिं श्रुतज्ञानमपि क्रमात् ॥ १४१ ॥

इसलिए हे कल्याणि, कल्याण करनेवाले जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति और श्रुतज्ञान इन दो उपवास व्रतोंको क्रमसे ग्रहण करो ॥ १४१ ॥

> कृतानां कर्मणामायै सहसा वेरिपाचनम् । तपोऽनशनमाम्नातं विधियुक्तमुपोषितम् ॥ १४२ ॥

हे आर्ये, विधिपूर्वक किया गया यह अनशन तप, किये हुए कर्मोंको बहुत शीघ्र नष्ट करनेवाला माना गया है ॥ १४२ ॥

> तीर्थकृत्त्वस्य पुण्यस्य कारणानीह षोडश । कल्याणान्यग्र पञ्चापि प्रातिहार्याष्टकं तथा ॥ १४३ ॥

तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिके कारणभूत सोलह भावनाएँ, पाँच कल्याणक, आठ प्रातिहार्य ॥ १४३ ॥

> अतिशयाश्चतुस्त्रिंशदिति संचिन्त्य मानसे । या सानुष्ठीयते सद्भिः संपज्जिनगुणादिका ॥ १४४ ॥

तथा चौंतीस अतिशय इन तिरसठ गुणोंको उद्देश्य कर जो उपवास व्रत किया जाता है उसे जिनेन्द्रगुण-सम्पत्ति कहते हैं। भावार्थ—इस व्रतमें जिनेन्द्र भगवानके तिरसठ गुणोंको लक्ष्य कर तिरसठ उपवास किये जाते हैं जिनकी व्यवस्था इस प्रकार है—सोलह कारण भावनाओंकी सोलह प्रतिपदा, पंच कल्याणकोंकी पाँच पंचमी, आठ प्रातिहार्योंकी आठ अष्टमी और चौंतीस अतिशयोंकी बीस दशमी तथा चौदह चतुर्दशी इस प्रकार तिरसठ उपवास होते हैं ॥ १४४ ॥

> उपवासदिनान्यत्र त्रिषष्टिर्मुनिनिर्मिता । श्रुतज्ञानोपवासस्य स्वरूपमधुनोच्यते ॥ १४५ ॥

इस प्रकारसे जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति नामक व्रतमें तिरसठ उपवास करना चाहिए ऐसा गणधरादि मुनियोंने कहा है। अब इस समय श्रुतज्ञान नामक उपवास व्रतका स्वरूप कहा जाता है ॥ १४५ ॥

> अष्टाविंशतिमप्येकादश द्वौ च यथाक्रमम् । अष्टाशीतिमथैकं च चतुर्दश च पञ्च च ॥ १४६ ॥

अट्ठाईस, ग्यारह, दो, अठासी, एक, चौदह, पाँच ॥ १४६ ॥

> द्विविधं षड्द्विधैकसंख्यां च मत्यादिज्ञानपर्ययात् । नामोद्देशक्रमश्चैषां ज्ञानानामभ्यनुस्मृतः ॥ १४७ ॥

छह, दो और एक इस प्रकार मतिज्ञान आदि भेदोंकी एक सौ अठावन संख्या होती है ॥ १४७ ॥

> मतिज्ञानमथैकादशाङ्गानि परिकर्म च । सूत्राण्यष्टौ च पूर्वाण्यपि च चूलिकाम् ॥ १४८ ॥

उनका नामानुसार क्रम इस प्रकार है कि मतिज्ञानके अट्ठाईस, अङ्गोंके ग्यारह, परिकर्मके दो, सूत्रके अठासी, अनुयोगका एक, पूर्वके चौदह, चूलिकाके पाँच ॥ १४८ ॥

> अवधिं च मनःपर्ययाख्यं केवलमेव च । क्रमेणैतान् प्रतीत्यैतान् श्रुतज्ञानमुपोष्यते ॥ १४९ ॥

अवधिज्ञानके छह, मनःपर्ययज्ञानके दो और केवलज्ञानका एक—इस प्रकार इन एक सौ अठावन भेदोंकी प्रतीतिकर जो एक सौ अठावन दिनका उपवास किया जाता है उसे श्रुतज्ञान उपवास व्रत कहते हैं ॥ १४९ ॥

> दिनानां शतमष्टाविंशत्यष्टपञ्चाशताधिकम् । निधाय त्वमेतदालम्ब्य तपोऽनशनमाचर ॥ १५० ॥

हे पुत्रि, तू भी विधिपूर्वक ऊपर कहे हुए दोनों अनशन व्रतोंका आचरण कर ॥ १५० ॥

साक्षाद् ज्ञानसाम्राज्यं विद्ध्योः फलमग्र्यमनयोः । स्वर्गाद्यपि फलं प्राहुर्विद्वांसोऽस्यानुषङ्गिकम् ॥ १९१ ॥

हे पुत्रि, इन दोनों व्रतोंका मुख्य फल केवलज्ञानकी प्राप्ति और गौण फल स्वर्गादिकी प्राप्ति है ॥ १९१ ॥

तपोधनाः पश्य कल्याणि शापानुग्रहयोः क्षमाः । अतिक्रान्तिरतो तेषां लोकद्वयविरोधिनी ॥ १९२ ॥

हे कल्याणि, देख, मुनि शाप देने तथा अनुग्रह करने—दोनोंमें समर्थ होते हैं, इसलिए उनका अपमान करना दोनों लोकोंमें दुःख देनेवाला है ॥ १९२ ॥

वाचातिक्रम एतेषां वाचं निरुणद्धि भवे परे । मनसोल्लङ्घनं चापि स्मृतिमाहन्ति मानसीम् ॥ १९३ ॥

जो पुरुष वचन-द्वारा मुनियोंका उल्लंघन-अनादर करते हैं वे दूसरे भवमें गूँगे होते हैं। जो मनसे निरादर करते हैं उनकी मनसे सम्बन्ध रखनेवाली स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है ॥ १९३ ॥

कायेनातिक्रमस्तेषां कायार्ति साधयेत् पराम् । तस्मात् तपोधनेन्द्राणां कार्यो नातिक्रमो बुधैः ॥ १९४ ॥

और जो शरीरसे तिरस्कार करते हैं उन्हें ऐसे कौन-से दुःख हैं जो प्राप्त नहीं होते हैं ? इसलिए बुद्धिमान् पुरुषोंको तपस्वी मुनियोंका कभी अनादर नहीं करना चाहिए ॥ १९४ ॥

क्षमाधनानां मुनीनां रुषं संधुक्षयन्ति ये । क्षमाभस्मप्रतिच्छन्नं क्रोधाग्नेर्विस्फुलिङ्गकम् ॥ १९५ ॥

हे मुग्धे, जो मनुष्य, क्षमारूपी धनको धारण करनेवाले मुनियोंकी, क्षमारूपी भस्मसे ढकी हुई क्रोधरूपी अग्निके विस्फुलिङ्गोंको प्रज्वलित करते हैं ॥ १९५ ॥

संमोहकाष्ठजनितं प्रातीप्यपवनेरितम् । किं न तैर्नाशितं श्रेयः स्वं हि लोकद्वयाश्रितम् ॥ १९६ ॥

जो मोहरूपी काष्ठसे उत्पन्न हुई है और विरोधरूपी वायुसे प्रेरित हुई है, उनके द्वारा दोनों लोकोंमें होनेवाला अपना कौन-सा हित नष्ट नहीं किया जाता ! ॥ १५६ ॥

> इत्यहं मुनिपतेः पथ्यमनुमत्य यथाविधि । उपोष्य तद् द्वयं स्वायुरन्ते स्वर्गमयासिषम् ॥ १५७ ॥

इस प्रकार मैं मुनिराजके हितकारी वचन मानकर और जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति तथा श्रुतज्ञान नामक दोनों व्रतोंके विधिपूर्वक उपवास कर आयुके अन्तमें स्वर्ग गयी ॥ १५७ ॥

> ललिताङ्गस्य महाभागा कान्ता देवी स्वयंप्रभा । भूत्वा सम्यगथागत्य ततो गुरुमपूजयम् ॥ १५८ ॥

वहाँ ललिताङ्गदेवकी स्वयंप्रभा नामकी मनोहर महादेवी हुई और वहाँसे ललिताङ्गदेवके साथ मध्यलोकमें आकर मैंने व्रत देनेवाले पिहितास्रव गुरुकी पूजा की ॥ १५८ ॥

> कल्पेऽनल्पर्द्धिविभावे श्रीप्रभाधिपसंयुता । भोगान् भुक्त्वात्र जातेति कथापर्यवसानकम् ॥ १५९ ॥

बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाली मैंने उस ईशान स्वर्गमें श्रीप्रभविमानके अधिपति ललिताङ्गदेवके साथ अनेक भोग भोगे तथा वहाँसे च्युत होकर यहाँ वज्रदन्त चक्रवर्तीके श्रीमती नामकी पुत्री हुई हूँ। हे सखि, यहाँतक ही मेरी पूर्वभवकी कथा है ॥ १५९ ॥

> ललिताङ्गश्च्युतो स्वर्गात् षण्मासान् जिनपूजनम् । कृत्वा प्रच्युत्य संभूतिमिहारूढस्तनूदरी ॥ १६० ॥

हे कृशोदरि, ललिताङ्गदेवके स्वर्गसे च्युत होनेपर मैं छह महीने तक जिनेन्द्रदेवकी पूजा करती रही फिर वहाँसे चलकर यहाँ उत्पन्न हुई हूँ ॥ १६० ॥

> तमिदानीमनुस्मृत्य तदन्वेषणसंविधौ । यतेऽहं सादरं तेन मौनमेतद्विधिं श्रिता ॥ १६१ ॥

मैं इस समय उसीका स्मरण कर उसके अन्वेषणके लिए प्रयत्न कर रही हूँ और इसीलिए मैंने मौन धारण किया है ॥ १६१ ॥

> उत्कीर्ण इव टङ्केन पश्याद्यापि मनो मम । अधितिष्ठति दिव्येन रूपेणानङ्गतां गतः ॥ १६२ ॥

हे सखि, देख, वह ललिताङ्ग अब भी मेरे मनमें निवास कर रहा है। ऐसा मालूम होता है मानो किसीने टाँकी-द्वारा उकेरकर सदाके लिए मेरे मनमें स्थिर कर दिया हो। यद्यपि आज उसका वह दिव्य-वैक्रियिक शरीर नहीं है तथापि वह अपनी दिव्य शक्तिसे अनंगता (शरीरका अभाव और कामदेवपना) धारण कर मेरे मनमें अधिष्ठित है ॥ १६२ ॥

> ललिताङ्गवपुः सौम्यं ललितं ललितानने । सहजाताम्बरं हारस्फुरदाभरणोज्ज्वलम् ॥ १६३ ॥

हे सुमुखि, जो अतिशय सौम्य है, सुन्दर है, साथ-साथ उत्पन्न हुए वस्त्र तथा माला आदिसे सहित है, प्रकाशमान आभरणोंसे उज्ज्वल है ॥ १६३ ॥

> पश्याम्यहं सुखस्पर्शं तत्करस्पर्शलालितम् । विना त्वां न च मे गात्रं क्षामतां नैतदुज्झति ॥ १६४ ॥

और सुखकर स्पर्शसे सहित है ऐसे ललिताङ्गदेवके शरीरको मैं सामने देख रही हूँ, उसके हाथके स्पर्शसे लालित सुखद स्पर्शको भी देख रही हूँ परन्तु उसकी प्राप्तिके बिना मेरा यह शरीर कृशताको नहीं छोड़ रहा है ॥ १६४ ॥

> इमेऽश्रुबिन्दवोऽजस्रं निर्यान्ति मम लोचनात् । मद्दुःखमक्षमा द्रष्टुं तमन्वेष्टुमिवोद्यताः ॥ १६५ ॥

ये अश्रुबिन्दु निरन्तर मेरे नेत्रोंसे निकल रहे हैं जिससे ऐसा मालूम होता है कि ये हमारा दुःख देखनेके लिए असमर्थ होकर उस ललिताङ्गको खोजनेके लिए ही मानों उद्यत हुए हैं ॥ १६५ ॥

> इत्युक्त्वा पुनरप्येवमवादीत् श्रीमती सखीम् । शक्ता त्वमेव नान्याऽसि मद्भर्त्रन्वेषणं प्रति ॥ १६६ ॥

इतना कहकर वह श्रीमती फिर भी पण्डिता सखीसे कहने लगी कि हे प्रियसखि, तू ही मेरे पतिको खोजनेके लिए समर्थ है। तेरे सिवाय और कोई यह कार्य नहीं कर सकता ॥ १६६ ॥

> त्वयि स्थितायां सरोजाक्षि कुतोऽद्य स्यान्ममासुखम् । नलिन्याः किमु दौःस्थ्यं दृश्यमाने तपनद्युतौ ॥
> १६७ ॥

हे कमलनयने, आज तेरे रहते हुए मुझे दुःख कैसे हो सकता है ? सूर्यकी प्रभाके देदीप्यमान रहते हुए भी क्या कमलिनीको दुःख होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥ १६७ ॥

> जाता त्वं पण्डिता कार्यघटनास्वतिपण्डिता । तन्ममैतस्य कार्यस्य संसिद्धिस्त्वयि संस्थिता ॥ १६८ ॥

हे सखि, तू समस्त कार्योंको करनेमें अतिशय निपुण है अतएव तू सचमुचमें पण्डिता है—तेरा पण्डिता नाम सार्थक है। इसलिए मेरे इस कार्यकी सिद्धि तुझपर ही अवलम्बित है ॥ १६८ ॥

> ततो रक्ष मम प्राणान् प्राणेशस्य गवेषणैः । स्त्रीणां विपत्प्रतीकारं स्त्रिय एवावलम्बनम् ॥ १६९ ॥

हे सखि, मेरे प्राणपति ललिताङ्गको खोजकर मेरे प्राणोंकी रक्षा कर क्योंकि स्त्रियोंकी विपत्ति दूर करनेके लिए स्त्रियाँ ही अवलम्बन होती हैं ॥ १६९ ॥

> तदुपायं च तेऽद्याहं ब्रवीमि प्रस्तुतसिद्धये । मया विलिखितं पूर्वभवसंबन्धिपट्टकम् ॥ १७० ॥

इस कार्यकी सिद्धिके लिए मैं आज तुझसे एक उपाय बताती हूँ। वह यह है कि मैंने पूर्वभवसम्बन्धी चरित्रको बतानेवाला एक चित्रपट बनाया है ॥ १७० ॥

> चित्रं किञ्चिन्निगूढान्तःप्रकृतं चित्तरञ्जनम् । तद् गृहाण ततो धूर्तानां मनःसंमोहकारणम् ॥ १७१ ॥

उसमें कहीं-कहीं चित्त प्रसन्न करनेवाले गूढ़ विषय भी लिखे गये हैं। इसके सिवाय वह धूर्त मनुष्योंके मनको भ्रान्तिमें डालनेवाला है। हे सखि, तू इसे लेकर जा ॥ १७१ ॥

> पतिब्रुवाश्च ये मिथ्या वैधात्योद्धृतबुद्धयः । तान् स्मितांशुपटैश्छन्नान् कुरु गूढार्थसंविदे ॥ १७२ ॥

धृष्टताके कारण उद्धत बुद्धिको धारण करनेवाले जो पुरुष झूठमूठ ही अपने-आपको पति कहें—मेरा पति बनना चाहें उन्हें गूढ़ विषयोंके संकटमें हास्यकिरणरूपी वस्त्रसे आच्छादित करना अर्थात् चित्रपट देखकर झूठमूठ ही हमारा पति बनना चाहें उनसे तू गूढ़ विषय पूछना जब वे उत्तर न दे सकें तो अपने मन्द हास्यसे उन्हें लज्जित करना ॥ १७२ ॥

इत्युक्त्वा पण्डितावोचत् तच्चित्ताश्वासनं वचः । स्मितांशुमञ्जरीपुञ्जः किरन्तीवोत्पलाञ्जलिम् ॥ १७३ ॥

इस प्रकार जब श्रीमती कह चुकी तब ईषत् हास्यकी किरणोंके बहाने पुष्पांजलि बिखेरती हुई पण्डिता सखी, उसके चित्तको आश्वासन देनेवाले वचन कहने लगी ॥ १७३ ॥

मयि सत्यां मनस्तापो मा गात् ते कलभाषिणि । चूतद्रुमलतावत्यां कोकिलायाः कुतो व्यथा ॥ १७४ ॥

हे मधुरभाषिणि, मेरे रहते हुए तेरे चित्तको सन्ताप नहीं हो सकता क्योंकि आम्रमञ्जरीके रहते हुए कोयलको दुःख कैसे हो सकता है ? ॥ १७४ ॥

कवेर्धिरिव सुश्लिष्टं तेऽहमानेष्ये पतिम् । सरित्पतिरिवोद्योगशालिनं पुरुषं परम् ॥ १७५ ॥

हे सखि, जिस प्रकार कविकी बुद्धि सुश्लिष्ट—अनेक भावोंको सूचित करनेवाले उत्तम अर्थको और लक्ष्मी जिस प्रकार उद्योगशाली मनुष्यको खोज लाती है उसी प्रकार मैं भी तेरे पतिको खोज लाती हूँ ॥ १७५ ॥

घटयिष्यामि ते कार्यं पटुधीरहमुद्यता । दुष्करं नास्ति मे किञ्चित् प्रतोदैरपि जगत्त्रये ॥ १७६ ॥

हे सखि, मैं चतुर बुद्धिकी धारक हूँ तथा कार्य करनेमें हमेशा उद्यत रहती हूँ इसलिए तेरा यह कार्य अवश्य सिद्ध कर दूँगी। तू यह निश्चित जान कि मुझे इन तीनों लोकोंमें कोई भी कार्य कठिन नहीं है ॥ १७६ ॥

नानाभरणविन्यासमतस्त्वं धारय सुन्दरि । वसन्तलतिकेवोद्यत्प्रवालहरसंकुलम् ॥ १७७ ॥

इसलिए हे सुन्दरि, जिस प्रकार माधवीलता वसन्तमें प्रफुल्लित होते हुए प्रवालों और अंकुरोंके समूहको धारण करती है उसी प्रकार अब तू अनेक प्रकारके आभरणोंके विन्यासको धारण कर ॥ १७७ ॥

अत्र संशयो नैव कार्यः कार्यस्य साधने । श्रीमतीप्रार्थितार्थानां भवत्येव ह्यसंशयम् ॥ १७८ ॥

इस कार्यकी सिद्धिमें तुझे संशय नहीं करना चाहिए क्योंकि श्रीमतीके द्वारा चाहे हुए पदार्थोंकी सिद्धि निःसन्देह ही होती है ॥ १७८ ॥

> इत्युक्त्वा पण्डिताश्वास्य तां तदर्पितपट्टकम् । गृहीत्वागमदाश्वेव महापूतजिनालयम् ॥ १७९ ॥

वह पण्डिता इस प्रकार कहकर तथा उस श्रीमतीको समझाकर उसके द्वारा दिये हुए चित्रपटको लेकर शीघ्र ही महापूत नामक अत्यन्त पवित्र जिनमन्दिर गयी ॥ १७९ ॥

> सः सुदूरोच्छ्रितैः कूटैर्लक्ष्यते रत्नभासुरः । पातालादुत्फणस्तोषात् किमप्युद्गमन्निवोरगः ॥ १८० ॥

वह जिनमन्दिर रत्नोंकी किरणोंसे शोभायमान अपने ऊँचे उठे हुए शिखरोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो फण ऊँचा किये हुए शेषनाग ही सन्तुष्ट होकर पाताललोकसे निकला हो ॥ १८० ॥

> वर्णसांकर्यसंभूताश्चित्रकर्मान्विता अपि । यद्भित्तयो जगच्चित्तहारिण्यो गणिका इव ॥ १८१ ॥

उस मन्दिरकी दीवारें ठीक वेश्याओंके समान थीं क्योंकि जिस प्रकार वेश्याएँ वर्ण-संकरतासे उत्पन्न हुई तथा अनेक आश्चर्यकारी कार्योंसे सहित होकर जगत्के कामी पुरुषोंका चित्त हरण करती हैं उसी प्रकार वे दीवारें भी वर्ण-संकरता (काले, पीले, नीले, लाल आदि रंगोंके मेल) से बने हुए अनेक चित्रोंसे युक्त होकर जगत्के सब जीवोंका चित्त हरण करती थीं ॥ १८१ ॥

> दिवामन्याः प्रभा यस्य कनकप्रभया दधुः । मुहुः सद्यः समं यस्य दिवमुन्मीलयेन्निव ॥ १८२ ॥

रातको भी दिन बनानेमें समर्थ और मणियोंसे नित्य विचित्र रहनेवाले अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरोंसे यह मन्दिर ऐसा मालूम होता था मानो स्वर्गका उन्मीलन ही कर रहा है—स्वर्गको भी प्रकाशित कर रहा हो ॥ १८२ ॥

> पठद्भिर्निशं साधुवृन्दैरामन्द्रनिःस्वनम् । प्रजल्पन्निव यो भव्यैर्व्यभाव्यत समागतैः ॥ १८३ ॥

उस मन्दिरमें निरन्तर अनेक मुनियोंके समूह गम्भीर शब्दोंसे स्तोत्रादिकका पाठ करते रहते थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानों वह आये हुए भव्य जीवोंके साथ सम्भाषण ही कर रहा हो ॥ १८३ ॥

यस्य कूटाग्रसंसक्ताः केतवोऽनिलघट्टिताः । विजहुर्वन्दनाभक्त्या साष्टाङ्गमिव देविनाम् ॥ १८४ ॥

उसके शिखरोंके अग्रभागपर लगी हुई तथा वायुके द्वारा हिलती हुई पताकाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों वन्दना-भक्ति आदिके लिए देवोंको ही बुला रही हों ॥ १८४ ॥

तद्वातायननिर्याता धूपधूमाश्चकासिरे । स्वर्गस्योपायनीकर्तुं निर्मिमाणा घनानिव ॥ १८५ ॥

उस मन्दिरके झरोखोंसे निकलते हुए धूपके धूम ऐसे मालूम होते थे मानो स्वर्गको भेंट देनेके लिए नवीन मेघोंको ही बना रहे हों ॥ १८५ ॥

यस्य कूटतटालग्नास्तारास्तरंगरोचिषः । पुष्पोपहारसंमोहमवतन्वन्नभोजुषाम् ॥ १८६ ॥

उस मन्दिरके शिखरोंके चारों ओर जो चंचल किरणोंके धारक तारागण चमक रहे थे वे ऊपर आकाशमें स्थित रहनेवाले देवोंको पुष्पोपहारकी भ्रान्ति उत्पन्न किया करते थे अर्थात् देव लोग यह समझते थे कि कहीं शिखरपर किसीने फूलोंका उपहार तो नहीं चढ़ाया है ॥ १८६ ॥

सद्वृत्तसङ्गतः चित्रसन्दर्भरुचिराकृतिः । यः सुशब्दो महान् भव्यः काव्यबन्ध इवाबभौ ॥ १८७ ॥

वह मन्दिर सद्वृत्तसंगत—सम्यक्चारित्रके धारक मुनियोंसे सहित था, अनेक चित्रोंके समूहसे शोभायमान था, और स्तोत्रपाठ आदिके शब्दोंसे सहित था इसलिए किसी महाकाव्यके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि महाकाव्य भी, सद्वृत्त—वसन्ततिलका आदि सुन्दर-सुन्दर वृत्तोंसे सहित होता है, अनेक चित्रश्लोकोंसे मनोहर होता है और उत्तम-उत्तम शब्दोंसे सहित होता है ॥ १८७ ॥

सपताको रणद्घण्टो यो दृढस्तम्भसंस्थितः । रेजे मन्द्रगभीराङ्गो राजहस्तीव सोऽभवत् ॥ १८८ ॥

उस चैत्यालयपर पताकाएँ फहरा रही थीं, भीतर बजते हुए घण्टे लटक रहे थे, स्तोत्र आदिके पढ़नेसे गम्भीर शब्द हो रहा था, और स्वयं अनेक मजबूत खम्भोंसे स्थिर था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो कोई बड़ा हाथी ही हो ॥ १८८ ॥

> वदतां पुण्यनिनादैर्वन्दारूणां च निस्वनैः । यः संदधावकालेऽपि मदावेशं शिखण्डिषु ॥ १८९ ॥

वह चैत्यालय पाठ करनेवाले मनुष्योंके पवित्र शब्दों तथा वन्दना करनेवाले मनुष्योंकी जय-जय ध्वनिसे असमयमें ही मयूरोंको मदोन्मत्त बना देता था अर्थात् मन्दिरमें होनेवाले शब्दको मेघका शब्द समझकर मयूर वर्षाके बिना ही मदोन्मत्त हो जाते थे ॥ १८९ ॥

> यस्तुङ्गशिखरः शश्वच्चारणैः कृतसंस्तवः । विद्याधरैः समासेव्यो मन्दराद्रिरिवाद्भुतः ॥ १९० ॥

वह चैत्यालय अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे शिखरोंसे सहित था, अनेक चारण (मागध-स्तुतिपाठक) सब उसकी स्तुति किया करते थे और अनेक विद्याधर उसकी सेवा करते थे इसलिए ऐसा शोभायमान होता था मानो मेरु पर्वत ही हो ॥ १९० ॥

> तत्र पट्टकशालायां पण्डिता कृतवन्दना । प्रसार्य पट्टकं तस्थौ परीक्षिपूरागतान् ॥ १९१ ॥

इत्यादि वर्णनयुक्त उस चैत्यालयमें जाकर पण्डिता धायने पहले जिनेन्द्र देवकी वन्दना की फिर वह वहाँकी चित्रशालामें अपना चित्रपट फैलाकर आये हुए लोगोंकी परीक्षा करनेकी इच्छासे बैठ गयी ॥ १९१ ॥

> तं निरीक्ष्य समागत्य साविधाना महाधियः । केचित् किमेतदित्युच्चैर्जजल्पुर्वीक्ष्य विस्मिताः ॥ १९२ ॥

विशाल बुद्धिके धारक कितने ही पुरुष आकर बड़ी सावधानीसे उस चित्रपटको देखने लगे और कितने ही उसे देखकर 'यह क्या है ?' इस प्रकार जोरसे बोलने लगे ॥ १९२ ॥

> तेषां समुचितैर्वाक्यैर्ददती पण्डितोत्तरम् । तत्रास्ते स्म स्मितोद्द्योतकिरन्ती पण्डितायितान् ॥ १९३ ॥

वह पण्डिता समुचित वाक्योंसे उन सबका उत्तर देती हुई और पण्डिताभास-मूर्ख लोगोंपर मन्द हास्यका प्रकाश डालती हुई गम्भीर भावसे वहाँ बैठी थी ॥ १९३ ॥

> अथ दिग्विजयाच्चक्री न्यवर्तत कृतद्विजयः । प्रणतीकृतनिःशेषनरविद्याधरामरः ॥ १९४ ॥

अनन्तर जिसने समस्त दिशाओंको जीत लिया है और जिसे समस्त मनुष्य, विद्याधर और देव नमस्कार करते हैं ऐसा वज्रदन्त चक्रवर्ती दिग्विजयसे वापस लौटा ॥ १९४ ॥

> अभिषिक्तस्तदा द्वात्रिंशत्सहस्रधरणीश्वरैः । चक्रवर्ती परां प्रापत् सम्पत्तिं पुण्यतः किमु ॥ १९५ ॥

उस समय चक्रवर्तीने बत्तीस हजार राजाओं-द्वारा किये हुए राज्याभिषेकमहोत्सवको प्राप्त किया था सो ठीक ही है, पुण्यसे क्या-क्या नहीं प्राप्त होता ? ॥ १९५ ॥

> नराधिपाश्च समाकाराः कराङ्घ्रिवदनादिभिः । तथापि तैः समभ्यर्च्यः स आसीत् पुण्यानुभावतः ॥ १९६ ॥

यद्यपि वह चक्रवर्ती और वे बत्तीस हजार राजा हाथ, पैर, मुख आदि अवयवोंसे समान आकारके धारक थे तथापि वह चक्रवर्ती अपने पुण्यके माहात्म्यसे उन सबके द्वारा पूज्य हुआ था ॥ १९६ ॥

> अनीदृशवपुश्चन्द्रसौम्यास्यः कमलेक्षणः । पुण्येन स वशी सर्वानतिशय्य नरामरान् ॥ १९७ ॥

इसका शरीर अनुपम था, मुख चन्द्रमाके समान सौम्य था, और नेत्र कमलके समान सुन्दर थे। पुण्यके उदयसे वह समस्त मनुष्य और देवोंसे बढ़कर शोभायमान हो रहा था ॥ १९७ ॥

> शङ्खचक्ररथादीनि लक्षणान्यस्य पादयोः । बभुरालिखितानीव लक्ष्म्या लक्षणानि चक्रिणः ॥ १९८ ॥

इसके दोनों पाँवोंमें जो शंख, चक्र, रथ आदिके चिह्न शोभायमान थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानों लक्ष्मीने ही चक्रवर्तीके ये सब लक्षण लिखे हैं ॥ १९८ ॥

> अमोघशासने तस्मिन् भुवं शासति भूभुजि । न दण्ड्यपक्षे कोऽप्यासीत् प्रजानामकृतागसाम् ॥ १९९ ॥

अव्यर्थ आज्ञाके धारक महाराज वज्रदन्त जब पृथिवीका शासन करते थे तब कोई भी प्रजा अपराध नहीं करती थी इसलिए कोई भी पुरुष दण्डका भागी नहीं होता था ॥ १९९ ॥

स बिभ्रद् वक्षसा लक्ष्मीं वक्त्राब्जेन च भारतीम् । प्रणाय्यामिब लोकान्तं प्रेषयामास कीर्तिमेकाकिनीम् ॥ २०० ॥

वह चक्रवर्ती वक्षःस्थलपर लक्ष्मीको और मुखकमलमें सरस्वतीको धारण करता था परन्तु अत्यन्त प्रिय कीर्तिको धारण करनेके लिए उसके पास कोई स्थान ही नहीं रहा इसलिए उसने अकेली कीर्तिको लोकके अन्त तक पहुँचा दिया था ॥ २०० ॥

सुधासूतिरिवोदंशुश्चण्डांशुरिव चोत्करः । स कान्तिं दीप्तिमप्युच्चैरुभयं धारयन्नभूत् ॥ २०१ ॥

वह राजा चन्द्रमाके समान कान्तिमान् और सूर्यके समान तेजस्वी था। आश्चर्यकारी उदयको धारण करनेवाला वह राजा कान्ति और तेज दोनोंको पूर्ण रूपसे धारण करता था ॥ २०१ ॥

पुण्यकल्पतरोरुच्चैः फलानीव महान्त्यलम् । बभूवुस्तस्य रत्नानि चोदशानि प्रियाणि च ॥ २०२ ॥

पुण्यरूपी कल्पवृक्षके बड़े-बड़े फल इतने ही होते हैं, यह बात सूचित करनेके लिए ही मानो उस चक्रवर्तीके चौदह महारत्न प्रकट हुए थे ॥ २०२ ॥

निधयो नव तस्यासन् पुण्यानामिव राशयः । नैरन्तर्येण यैरासीद् गृहवार्ता महोदया ॥ २०३ ॥

उसके यहाँ पुण्यकी राशिके समान नौ अक्षय निधियाँ प्रकट हुई थीं, उन निधियोंसे उसका भण्डार हमेशा भरा रहता था ॥ २०३ ॥

षट्खण्डमण्डितां पृथ्वीमिति संपालयन्नसौ । दशाङ्गोपभोगान् भुक्त्वा चिरं सुखम् ॥ २०४ ॥

इस प्रकार वह पुण्यवान् चक्रवर्ती छह खण्डोंसे शोभित पृथिवीका पालन करता हुआ चिरकाल तक दस प्रकारके भोगोंको भोगता रहा ॥ २०४ ॥

> इति कतिपयैरेवाहोभिः कृतो दिशि विजयो जयसेनया सार्धं स्वां प्रविशन् पुरीम् । सुरसेनया सार्धं शक्रं विशन्तममरावतीमिव स रुरुचे भास्वन्मौलिर्ज्वलन्मणिकुण्डलः ॥ २०५ ॥

इस प्रकार देदीप्यमान मुकुट और प्रकाशमान रत्नजड़ित कुण्डल धारण करनेवाला वह कार्यकुशल चक्रवर्ती कुछ ही दिनोंमें दिग्विजय कर लौटा और अपनी विजयसेनाके साथ राजधानीमें प्रविष्ट हुआ। उस समय वह ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसा कि इन्द्र अपनी देवसेनाके साथ अमरावतीमें प्रवेश करते समय शोभित होता है ॥ २०५ ॥

> विहितनिखिलकृत्योऽप्यात्मपुत्रीविवाहव्यतिकरकरणीये किञ्चिदन्तर्विचिन्तः ।
> पुरमविशदमुदारश्रीपराध्यें पुरीक्षीर्मृदुपवनविधूतप्रोल्लसत्केतुमालम् ॥ २०६ ॥

समस्त कार्य कर चुकनेपर भी जिसके मनमें पुत्री-श्रीमतीके विवाहकी कुछ चिन्ता विद्यमान है, ऐसे उत्कृष्ट शोभाके धारक उस वज्रदन्त चक्रवर्तीने मन्द-मन्द वायुके द्वारा हिलती हुई पताकाओंसे शोभायमान तथा अन्य अनेक उत्तम-उत्तम शोभासे श्रेष्ठ अपने नगरमें प्रवेश किया था ॥ २०६ ॥

> भग्नाश्चन्दनवल्लिकास्तटवने सिन्धोर्लवङ्गातते तत्रासीनसुराङ्गनालसरुचा नेत्रैः शनैर्वीक्षिताः ।
> आभ्रेषु विजयार्धकुन्दरदरीरासज्य सेनाचगाः जित्वा यः पृथिवीं स्वपुण्यफलितां दीर्घं शशास क्षितिम् ॥ २०७ ॥

जिसकी सेनाके लोगोंने चन्दन लताओंसे व्याप्त समुद्रतटके वनोंमें चन्दन लताओंका चूर्ण किया है, उन वनोंमें बैठी हुई देवाङ्गनाओंने जिन्हें अपने विलास भरे सुशोभित नेत्रोंसे धीरे-धीरे देखा है और जिन्होंने विजयार्ध पर्वतकी गुफाओंको स्वच्छ कर उनमें आश्रय प्राप्त किया है ऐसा वह सर्वत्र विजय प्राप्त करनेवाला वज्रदन्त चक्रवर्ती अपने पुण्यके फलसे प्राप्त हुई पृथिवीका चिरकाल तक पालन करता रहा ॥ २०७ ॥

> आक्रामन् वनवेदिकान्तरगतस्तां वैजयार्धी तटीं समुल्लङ्घ्याब्धिवधूं तरङ्कतरलां गङ्गां च सिन्धुं नदीम् । हित्वा चापि कुलभूभृदुन्नतिमपि न्यक्कृत्य चक्रान्वितां प्रापद् यां जिनशासनार्पितमतिः श्रीवज्रदन्तः श्रियम् ॥ २०८ ॥

दिग्विजयके समय जो समुद्रके समीप वनवेदिकाके मध्यभागको प्राप्त हुआ, जिसने विजयार्ध पर्वतके तटोंका उल्लंघन किया, जिसने तरंगोंसे चंचल समुद्रकी स्त्रियोंके समान गंगा और सिन्धु नदीको पार किया और जिसने

कुलाचलोंकी ऊँचाईको तिरस्कृत किया—उसपर अपना अधिकार किया ऐसा वह जिनशासनका ज्ञाता वज्रदन्त चक्रवर्ती समस्त दिशाओंको जीतकर चक्रवर्तीकी पूर्ण लक्ष्मीको प्राप्त हुआ ॥ २०८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे ललिताङ्गस्वर्गच्यवनवर्णनं नाम षष्ठं पर्व ॥ ६ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहमें ललिताङ्गदेवका स्वर्गसे च्युत होने आदिका वर्णन करनेवाला षष्ठ पर्व पूर्ण हुआ ॥ ६ ॥

सप्तम पर्व (श्रीमतीवज्रजङ्घसमागमो नाम)

> अथाहूय सुतां वक्ता तामित्यन्वशिषत् कृती । स्मितांशुसलिलैः सिञ्चन्निवाधिवाधिताम् ॥ १ ॥

अनन्तर कार्य-कुशल चक्रवर्तीने मानसिक पीड़ासे पीड़ित पुत्रीको बुलाकर मन्द हास्यकी किरणरूपी जलके द्वारा सिंचन करते हुएकी तरह नीचे लिखे अनुसार उपदेश दिया ॥ १ ॥

> पुत्रि मा स्म गमः शोकमुपसंहर मौनिताम् । जानामि तव कान्तस्य सर्वं वृत्तान्तमवधित्त्विषा ॥ २ ॥

हे पुत्रि, शोकको मत प्राप्त हो, मौनका संकोच कर, मैं अवधिज्ञानके द्वारा तेरे पतिका सब वृत्तान्त जानता हूँ ॥ २ ॥

> तद् गच्छ पुत्रि स्नाहि प्रसाधनविधिं कुरु । इन्दुबिम्बसविस्तारे पश्य दर्पणे मुखमण्डनम् ॥ ३ ॥

हे पुत्रि, तू शीघ्र ही सुखपूर्वक स्नान कर, अलंकार धारण कर और चन्द्रबिम्बके समान उज्ज्वल दर्पणमें अपने मुखकी शोभा देख ॥ ३ ॥

> अशान च मधुरालापैः प्रीणय स्वसखीजनम् । त्वदिष्टसङ्गमोऽवश्यमद्य श्वो वा भविष्यति ॥ ४ ॥

भोजन कर और मधुर बातचीतसे प्रिय सखीजनोंको सन्तुष्ट कर। तेरे इष्ट पतिका समागम आज या कल अवश्य ही होगा ॥ ४ ॥

> यशोधरमहायोगिकैवल्ये स मयावधिः । समासादि ततोऽजासिं वृत्तं समयावधि ॥ ५ ॥

श्रीयशोधर महायोगीके केवलज्ञान महोत्सवके समय मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ था, उससे मैं कुछ समयका वृत्तान्त जानने लगा हूँ ॥ ५ ॥

> शृणु पुत्रि स्ववृत्तान्तं स्वकान्तस्यापि वृत्तकम् । जन्मान्तरनिविष्टं ते वक्ष्येऽहमनुपूर्वशः ॥ ६ ॥

हे पुत्रि, तू अपने, मेरे और अपने पतिके पूर्व जन्मसम्बन्धी वृत्तान्त सुन। मैं तेरे लिए पृथक्-पृथक् कहता हूँ ॥ ६ ॥

> अस्माद् भवे पञ्चमेऽभूवं जन्मन्यस्यां महाद्युतौ । नगर्यां पुण्डरीकिण्यां स्वर्विमानोपमर्द्धिभिः ॥ ७ ॥

इस भवसे पहले पाँचवें भवमें मैं अपनी ऋद्धियोंसे स्वर्गपुरीके समान शोभायमान और महादेदीप्यमान इसी पुण्डरीकिणी नगरीमें ॥ ७ ॥

> सुतोऽर्धचक्रिणश्चन्द्रकीर्तिरित्यास कीर्तितः । जयकीर्तिर्वयस्यो मे तदासीत् सहवर्धितः ॥ ८ ॥

अर्धचक्रवर्तीका पुत्र चन्द्रकीर्ति नामसे प्रसिद्ध हुआ था। उस समय जयकीर्ति नामका मेरा एक मित्र था जो हमारे ही साथ वृद्धिको प्राप्त हुआ था ॥ ८ ॥

> पितुः क्रमाद्गतां लक्ष्मीमासाद्य वयसोचिताम् । समं तेन वरेणारं चिरमत्रामविद्युतिः ॥ ९ ॥

समयानुसार पितासे कुलपरम्परासे चली आयी उत्कृष्ट राज्यविभूतिको पाकर मैं इसी नगरमें अपने मित्रके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा ॥ ९ ॥

> गृहमेधी गृहीताणुव्रतः सन् कालपर्ययात् । कालान्ते चन्द्रसेनाख्यं गुरुं श्रित्वा समाधये ॥ १० ॥

उस समय मैं अणुव्रत धारण करनेवाला गृहस्थ था। फिर क्रमसे समय बीतनेपर आयुके अन्त समयमें समाधि धारण करनेके लिए चन्द्रसेन नामक गुरुके पास पहुँचा ॥ १० ॥

प्रतिवर्धननाम्न्यत्र सन्निधाने प्रीतिवर्धने । संन्यासविधिनाऽजायं महेन्द्रे तुरीये सुरः ॥ ११ ॥

वहाँ प्रीतिवर्धन नामके उद्यानमें आहार तथा शरीरका त्याग कर संन्यास विधिके प्रभावसे चौथे माहेन्द्र स्वर्गमें उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥

सप्तसागरकालायुःस्थितिः सामानिकः सुरः । जयकीर्तिश्च तत्राभूज्जातो मत्सदृशर्द्धिकः ॥ १२ ॥

वहाँ मैं सात सागरकी आयुका धारक सामानिक जातिका देव हुआ। मेरा मित्र जयकीर्ति भी वहीं उत्पन्न हुआ। वह भी मेरे ही समान ऋद्धियोंका धारक हुआ था ॥ १२ ॥

ततः प्रच्युत्य सम्भूय पुष्करार्द्धे पुरो गते । विदेहे मङ्गलावत्यां रत्तसञ्चयनाम्नि पुरे ॥ १३ ॥

आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत होकर हम दोनों पुष्करार्ध द्वीपके पूर्व मेरुसम्बन्धी पूर्वविदेह क्षेत्रमें स्थित मंगलावती देशके रत्नसंचय नगरमें ॥ १३ ॥

श्रीधरस्य महीभर्तुः स्तनयौ बलकेशवौ । मनोहरात्मजोऽहं तु श्रीवर्मा च विभीषणः ॥ १४ ॥

श्रीधर राजाके पुत्र हुए। मैं बलभद्र हुआ और जयकीर्तिका जीव नारायण हुआ। मेरा जन्म श्रीधर महाराजकी मनोहरा नामकी रानीसे हुआ था और श्रीवर्मा मेरा नाम था ॥ १४ ॥

मनोरमायास्तनयो विभीषण इति स्मृतः । ततो राज्यपदं प्राप्य दीर्घं तत्रारमावहि ॥ १५ ॥

तथा जयकीर्तिका जन्म उसी राजाकी दूसरी रानी मनोरमासे हुआ था और उसका नाम विभीषण था। हम दोनों भाई राज्य पाकर वहाँ दीर्घकाल तक क्रीड़ा करते रहे ॥ १५ ॥

पिता तु मयि निक्षिप्तराज्यभारः सुधार्मणे । दीक्षित्वोपोष्या विस्तीर्णान् उपवासविधीन् बहून् ॥ १६ ॥

हमारे पिता श्रीधर महाराजने मुझपर राज्यभार सौंपकर सुधर्माचार्यसे दीक्षा ले ली और अनेक प्रकारके उपवास करके सिद्ध पद प्राप्त कर लिया ॥ १६ ॥

> मनोहरा मयि स्नेहात् स्थितागारे शुचिव्रता । सुधर्मगुरुनिर्दिष्टमाचरन्ती परं तपः ॥ १७ ॥

मेरी माता मनोहरा मुझपर बहुत स्नेह रखती थी इसलिए पवित्र व्रतोंका पालन करती हुई और सुधर्माचार्यके द्वारा बताये हुए तपोंका आचरण करती हुई वह बहुत दिनों तक घरमें ही रही ॥ १७ ॥

> उपोष्य विधिवत् कर्मक्षपणं विधिमुत्तमम् । जीवितान्ते समाराध्य ललिताङ्गसुरोऽभवत् ॥ १८ ॥

उसने विधिपूर्वक कर्मक्षपण नामक व्रतके उपवास किये थे और आयुके अन्तमें समाधिपूर्वक शरीर छोड़ा था जिससे वह ईशान स्वर्गमें ललिताङ्गदेव हुई ॥ १८ ॥

> ललिताङ्गस्ततोऽसौ मां विभीषणवियोगतः । शुचमापन्नमाश्वेत्य सोपायं प्रत्यबोधयत् ॥ १९ ॥

तदनन्तर कुछ समय बाद मेरे भाई विभीषणकी मृत्यु हो गयी और उसके वियोगसे मैं जब बहुत शोक कर रहा था तब ललिताङ्गदेवने आकर अनेक उपायोंसे मुझे समझाया ॥ १९ ॥

> अङ्ग पुत्र वृथा मा गाः शुचमज्ञो यथा जनः । जननादिभियोः वन्यं भावुका विद्धि संसृतिम् ॥ २० ॥

कि हे पुत्र, तू अज्ञानी पुरुषके समान शोक मत कर और यह निश्चय समझ कि इस संसारमें जन्म-मरण आदिके भय सदा ही हुआ करते हैं ॥ २० ॥

> इति मातृचरस्यास्य ललिताङ्गस्य बोधनात् । शुचमुत्सृज्य धर्मैकचेतसोऽभूत् प्रसन्नधीः ॥ २१ ॥

इस प्रकार जो पहले मेरी माता थी उस ललिताङ्गदेवके समझानेसे मैंने शोक छोड़ा और प्रसन्नचित्त होकर अपना मन धर्ममें लगाया ॥ २१ ॥

> ततो युगन्धरस्यान्ते दीक्षां जैनेश्वरीमहम् । नृपैर्दशसहस्रार्धमितैः सार्धमुपाददे ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् मैंने श्री युगन्धर मुनिके समीप पाँच हजार राजाओंके साथ जिनदीक्षा ग्रहण की ॥ २२ ॥

> यथाविधि तपस्तप्त्वा सिंहनिष्क्रीडितं तपः । सुदुश्चरं महोदर्कं सर्वतोभद्रमप्यदः ॥ २३ ॥

और अत्यन्त कठिन, किन्तु उत्तम फल देनेवाले सिंहनिष्क्रीडित तथा सर्वतोभद्र नामक तपको विधिपूर्वक तपकर ॥ २३ ॥

> सज्ज्ञानविमलालोकः श्रुतज्ञानावधिप्रभः । कल्पेऽच्युतेऽहमभवमिन्द्रो द्वाविंशत्यब्धिजीवितः ॥ २४ ॥

मति, श्रुत, अवधिज्ञानरूपी निर्मल प्रकाशको प्राप्त किया। फिर आयुके अन्तमें मरकर अनल्प ऋद्धियोंसे युक्त अच्युत नामक सोलहवें स्वर्गमें इन्द्र पदवी प्राप्त की। वहाँ मेरी आयु बाईस सागर प्रमाण थी ॥ २४ ॥

> दिव्याननुभवन् भोगान् तत्र कल्पे महाद्युतिः । गत्वा च जननीस्नेहात् ललिताङ्गमपूजयम् ॥ २५ ॥

अत्यन्त कान्तिमान् उस अच्युत स्वर्गमें मैं दिव्य भोगोंको भोगता रहा। किसी दिन मैंने माताके स्नेहसे ललिताङ्गदेवके समीप जाकर उसकी पूजा की ॥ २५ ॥

> प्रीतिवर्धनमारोप्य विमानमतिभास्वरम् । नीत्वा स्वकल्पमेवास्य कृतवानस्मि सत्क्रियाम् ॥ २६ ॥

मैं उसे अत्यन्त चमकीले प्रीतिवर्धन नामके विमानमें बैठाकर अपने स्वर्ग (सोलहवें स्वर्ग) ले गया और वहाँ उसका मैंने बहुत ही सत्कार किया ॥ २६ ॥

> स मे मातृचरस्तस्मिन् कल्पेऽनल्पसुखोदये । भोगाननुभवन् दिव्यान् सकृच्च मयार्चितः ॥ २७ ॥

इस प्रकार मेरी माताका जीव ललिताङ्ग, अत्यन्त सुखसंयुक्त स्वर्गमें दिव्य भोगोंको भोगता हुआ जबतक विद्यमान रहा तबतक मैंने कई बार इसका सत्कार किया ॥ २७ ॥

> ललिताङ्गस्ततश्च्युत्वा जम्बूद्वीपस्य पूर्वके । विदेहे मङ्गलावत्यां रैकस्याद्रेरुदक्तटे ॥ २८ ॥

तदनन्तर ललिताङ्गदेव वहाँसे च्युत होकर जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें मंगलावती देशके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें ॥ २८ ॥

गन्धर्वपुरनाथस्य वासवस्य खगेशिनः । सूनुरासीत् प्रभावत्यां महीधरो नाम्ना महीधरः ॥ २९ ॥

गन्धर्वपुरके राजा वासव विद्याधरके घर उसकी प्रभावती नामकी महादेवीसे महीधर नामका पुत्र हुआ ॥ २९ ॥

महीधरे निजं राज्यभारं निक्षिप्य वासवः । निकटेऽरिञ्जयस्याथ तप्त्वा मुक्तावलीं तपः ॥ ३० ॥

राजा वासव अपना सब राज्यभार महीधरके लिए सौंपकर तथा अरिंजय नामक मुनिराजके समीप मुक्तावली तप तपकर ॥ ३० ॥

निर्वाणमगमत् पद्मावत्याश्च पद्मावती । समाश्रित्य तपस्तप्त्वा परां रत्नावलीमसौ ॥ ३१ ॥

निर्वाणको प्राप्त हुए। रानी प्रभावती पद्मावती आर्यिकाके समीप दीक्षित हो उत्कृष्ट रत्नावली तप तपकर ॥ ३१ ॥

अच्युते कल्पमासाद्य प्रतीन्द्रपदमगात् । महीधरोऽपि संसिद्धविद्योऽभूदद्भुतोदयः ॥ ३२ ॥

अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुई और तबतक इधर महीधर भी अनेक विद्याओंको सिद्ध कर आश्चर्यकारी विभवसे सम्पन्न हो गया ॥ ३२ ॥

कदाचिदथ गत्वाहं पुष्करार्धस्य पश्चिमे । भागे पूर्वविदेहे तं विषयं वत्सकावतीम् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर किसी दिन मैं पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिम भागके पूर्वविदेहसम्बन्धी वत्सकावती देशमें गया ॥ ३३ ॥

तत्र प्रभाकरीपुर्यां विनयन्धरयोगिनः । निर्वाणपूजां निष्ठाप्य महामेरुमथागमम् ॥ ३४ ॥

वहाँ प्रभाकरी नगरीमें श्री विनयन्धर मुनिराजकी निर्वाण-कल्याणकी पूजा की और पूजा समाप्त कर मेरु पर्वतपर गया ॥ ३४ ॥

तत्र नन्दनपूर्वाशाचैत्यालयमुपाश्रितम् । महीधरं समालोक्य विद्यापूजोद्यतं तदा ॥ ३५ ॥

वहाँ उस समय नन्दनवनके पूर्व दिशासम्बन्धी चैत्यालयमें स्थित राजा महीधरको (ललिताङ्गका जीव) विद्याओंकी पूजा करनेके लिए उद्यत देखकर ॥ ३५ ॥

प्रत्यबुबुधमित्युच्चैः सद्यः संबोध्य तं महीधरम् । विद्धि मामच्युताधीशं ललिताङ्गस्त्वमप्यसौ ॥ ३६ ॥

मैंने उसे उच्चस्वरमें इस प्रकार समझाया—अहो महीधर, जानते हो, मैं अच्युत स्वर्गका इन्द्र हूँ और तू ललिताङ्ग है ॥ ३६ ॥

त्वय्यसाधारणी प्रीतिर्ममास्ति जननीचर । तन्मुञ्च विषयान् सङ्गाद् दुःखान् विरमाधुना ॥ ३७ ॥

तू मेरी माताका जीव है इसलिए तुझपर मेरा असाधारण प्रेम है। हे भद्र, दुःख देनेवाले इन विषयोंकी आसक्तिसे अब विरत हो ॥ ३७ ॥

इत्युक्तमात्र एवासौ विरक्तः कामभोगतः । महीकम्पे सुते ज्येष्ठे राज्यभारं समर्पयन् ॥ ३८ ॥

इस प्रकार मैंने उससे कहा ही था कि वह विषयभोगोंसे विरत हो गया और महीकम्प नामक ज्येष्ठ पुत्रके लिए राज्यभार सौंपकर ॥ ३८ ॥

सार्धं खेचरैः सर्वैर्जगन्नन्दनशिष्यताम् । प्रपद्य कनकावल्या प्राणतेन्द्रोऽभवत् सुरः ॥ ३९ ॥

अनेक विद्याधरोंके साथ जगन्नन्दन मुनिका शिष्य हो गया, तथा कनकावली तप तपकर उसके प्रभावसे प्राणत स्वर्गमें बीस सागरकी स्थितिका धारक इन्द्र हुआ ॥ ३९ ॥

विंशत्यब्धिस्थितिस्तत्र भोगान् भुक्त्वा ततश्च्युतः । धातकीखण्डपूर्वाशापश्चिमोरुविदेहतः ॥ ४० ॥

वहाँ वह बीस सागर तक देवोंके अनेक भोगोंको भोगकर धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व दिशासम्बन्धी पश्चिमविदेह क्षेत्रमें ॥ ४० ॥

आदिपुराण (आचार्य जिनसेन कृत)

> गन्धिलाविषयान्तस्थे पाटलीग्रामसंज्ञिते । नागदत्ताह्वयात् पुत्राद्वणिकपुत्रः सुतोऽभवत् ॥ ४१ ॥

गन्धिला देशके अन्तर्गत पाटली नामक ग्राममें नागदत्त वैश्यके सुमति स्त्रीसे ॥ ४१ ॥

> नन्दमित्रः कुमारोऽभूत् स्वयंप्रभापि तद्भवे । निर्नामितिसमाख्या सा तस्यैवासीत् सहोदरा ॥ ४२ ॥

नन्दिमित्र नामका पुत्र हुआ। यह जो स्वयंप्रभा थी वह भी उसी भवमें निर्नामती नामकी उसकी सगी बहिन हुई ॥ ४२ ॥

> नन्दमित्रस्तदा श्रुत्वा पिहितास्रवभाषितम् । श्रुतज्ञानोपवासानां विधिं सर्वमशेषतः ॥ ४३ ॥

उस नन्दिमित्रने पिहितास्रव मुनिराजके मुखसे श्रुतज्ञान उपवास व्रतकी सब विधि सुनकर ॥ ४३ ॥

> स निर्नामत्या सममुपोष्य मुनिना सह । कृत्वा संन्यासमायुष्ये प्राप्तेऽच्युतमुपागमत् ॥ ४४ ॥

निर्नामतीके साथ विधिपूर्वक उसके उपवास किये और आयुके अन्तमें संन्यासपूर्वक मरण कर अच्युत स्वर्गमें अच्युतेन्द्रके श्रीप्रभ विमानमें ॥ ४४ ॥

> प्रतीन्द्रोऽभून्महाभागो विंशत्यब्धिस्थितिस्ततः । च्युतश्चक्री स संभूतो ललिताङ्ग इहाप्यभूत् ॥ ४५ ॥

बीस सागरकी आयुका धारक प्रतीन्द्र हुआ। वहाँसे च्युत होकर वह ललिताङ्गका जीव इस भवमें चक्रवर्ती हुआ है ॥ ४५ ॥

> त्वं च स्वयंप्रभा भूत्वा तदायुषि क्षयं गते । च्युता सती ममैवेयं जातासि सुता श्रीमती ॥ ४६ ॥

और तू भी वहाँ स्वयंप्रभा महादेवी होकर आयु क्षीण होनेपर वहाँसे च्युत हुई और मेरी श्रीमती नामकी पुत्री हुई है ॥ ४६ ॥

> तवापि नन्दिमित्रस्य समानं जीवितं यतः । अच्युतेऽभूत् प्रतीन्द्रेण तस्मात् त्वं च्युतिमागता ॥ ४७ ॥

अच्युत स्वर्गमें तेरी और नन्दिमित्र-प्रतीन्द्रकी आयु समान थी इसलिए तू भी उसीके साथ स्वर्गसे च्युत हुई है ॥ ४७ ॥

> अच्युताद् यौवने काले समासाद्य यशोधरात् । दीक्षामहं गतो मुक्तावलीं तप्त्वा तपः परम् ॥ ४८ ॥

मैं भी अच्युत स्वर्गसे च्युत होकर यहाँ उत्पन्न हुआ। युवावस्था प्राप्त होनेपर श्री यशोधर मुनिराजसे दीक्षा ग्रहण कर उत्कृष्ट मुक्तावली तप तपा ॥ ४८ ॥

> द्वाविंशत्यब्धिसंख्यायुः सर्वार्थेऽहं गमिष्यति । ततः समवसर्प्यैष तीर्थकृद् भविता भवे ॥ ४९ ॥

जिससे मरकर तेईस सागरकी आयुका धारक सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र होऊँगा। वहाँसे च्युत होकर आगामी भवमें तीर्थंकर होऊँगा ॥ ४९ ॥

> नन्दिमित्रस्तथा च्युत्वा जम्बूद्वीपे महीतले । विदेहे पूर्वदिग्भागे देशे पुष्कलावती ॥ ५० ॥

वह नन्दिमित्र अच्युत स्वर्गसे च्युत होकर इस जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें पुष्कलावती देशके ॥ ५० ॥

> पुर्य्यामुत्पलखेटाख्यां वज्रबाहुनराधिपात् । वसुन्धरात्मजो जातो वज्रजङ्घ इति श्रुतः ॥ ५१ ॥

उत्पलखेटक नगरमें राजा वज्रबाहुकी वसुन्धरा रानीके उदरसे वज्रजंघ नामका पुत्र हुआ है ॥ ५१ ॥

स ते भर्ता विधात्रापि न शक्यस्त्वद्वियोजितुम् । कान्तेवानन्यसाधारण्या ज्योत्स्ना चन्द्रमसोऽपि वा ॥ ९२ ॥

जिस प्रकार चन्द्रमाकी असाधारण कान्ति चन्द्रमासे पृथक् नहीं की जा सकती उसी प्रकार विधाता भी उस पतिको तुझसे पृथक् करनेके लिए समर्थ नहीं है ॥ ९२ ॥

पञ्चमेऽहनि संप्राप्तिर्भवित्री ते स्वभर्तुना । पण्डिताद्यैव तद् वृत्तमखिलं ज्ञापयिष्यति ॥ ९३ ॥

आजसे पाँचवें दिन तेरा अपने पतिके साथ समागम होगा और पण्डिता धाय आज ही आकर उसका सब वृत्तान्त कहेगी ॥ ९३ ॥

वज्रबाहुर्महीपालो भ्राता मातुल एव ते । वसुन्धरा च मे स्वसा सा ते मातुलानी भविष्यति ॥ ९४ ॥

वह राजा वज्रबाहु मेरा भाई है इसलिए तेरा मामा हुआ और उसकी रानी वसुन्धरा मेरी बहिन है इसलिए तेरी मामी हुई ॥ ९४ ॥

तयोः सूनुरयं वीरः पित्रोस्त्वं दुहिताऽपि मे । स्वयंवृत्या तवाप्येष पतिर्नान्यो भविष्यति ॥ ९५ ॥

वह वज्रजङ्घ वीर उन दोनोंका पुत्र है और तू मेरी पुत्री है, इसलिए स्वयंवर विधिसे वह वज्रजङ्घ ही तेरा पति होगा, दूसरा नहीं ॥ ९५ ॥

त्वन्मातुलोऽद्य संप्राप्तो वयं तस्याभियाम्यतः । इत्युक्त्वा चक्रभृत् स्वस्थः प्रायादुद्यानमाशु सः ॥ ९६ ॥

तेरा मामा वज्रबाहु आज आ रहा है, इसलिए हम उसकी अगवानीके लिए जाते हैं। ऐसा कहकर वह चक्रवर्ती स्वस्थचित्त होकर शीघ्र ही उद्यानकी ओर चला गया ॥ ९६ ॥

अथानन्तरमेवैषा पण्डिता तत्र चागमत् । विहसन्ती स्मितांशुभिः साञ्जयन्ती दिशो दश ॥ ९७ ॥

चक्रवर्तीके जाते ही वह पण्डिता धाय हँसती हुई और दसों दिशाओंको अपने मन्द हास्यकी किरणोंसे व्याप्त करती हुई वहाँ आ पहुँची ॥ ५७ ॥

> श्रीमतीं तां समासाद्य प्राप्य चाश्वास्य हर्षिता । विवृतास्यसरोरुहा वाचमित्थमभाषत ॥ ५८ ॥

उसने आकर पहले श्रीमतीको आश्वासित किया फिर बड़े हर्षसे प्रफुल्लित मुखकमलको धारण करती हुई नीचे लिखे अनुसार वचन कहने लगी ॥ ५८ ॥

> दिष्ट्या वधूर्विजानासि पूर्णस्तेऽद्य मनोरथः । तं वृत्तान्तं मया साकं सावधानमनाः शृणु ॥ ५९ ॥

हे वधू, बड़े भाग्यसे तू वृद्धिको प्राप्त हो रही है (तेरा भाग्य बड़ा प्रबल है) क्योंकि आज तेरा मनोरथ पूर्ण हो गया है। इसलिए अब तू सावधान होकर मेरे साथ हुआ सब वृत्तान्त सुन ॥ ५९ ॥

> महापूतजिनागारे तव पट्टप्रसारणे । गता बहवः पुरुषाः तदविज्ञाय केवलम् ॥ ६० ॥

तेरे चित्रपटको मैंने महापूत नामक जिनमन्दिरमें फैलाकर रख दिया था, परन्तु बहुत-से पण्डिताभास मनुष्य उसका कुछ भी अभिप्राय न समझकर केवल देखकर ही चले गये ॥ ६० ॥

> ततस्तौ सुभटौ नाम्ना बासवामिततेजसौ । पटमभ्येत्य संवीक्ष्य स्वानुमानादवोचताम् ॥ ६१ ॥

तदनन्तर वासव और अमिततेज नामके दो सुभटने चित्रपटके पास आकर उसे देखा और फिर अपने अनुमानसे कहा कि ॥ ६१ ॥

> स्फुटं पट्टगतं वृत्तं ज्ञायते पूर्वचेष्टितम् । राजपुत्र्या तया जातिस्मृत्या तत् सर्वमुल्लिखितम् ॥ ६२ ॥

इस चित्रपटमें लिखा हुआ पूर्वभवका वृत्तान्त हम दोनों स्पष्ट जानते हैं। किसी राजपुत्रीको जातिस्मरण हुआ है इसलिए उसने अपने पूर्वभवकी सब चेष्टाएँ लिखी हैं ॥ ६२ ॥

> वयं तस्याः पतिर्भूता इति वाचां विदग्धताम् । दर्शयन्तौ मयोक्तौ तौ हास्यं मुक्त्वा चिरादिव ॥ ६३ ॥

हम ही पूर्वभवमें उस राजपुत्रीके पति थे इस प्रकार वे बोलनेकी विदग्धता दिखलाने लगे तब मैं बहुत देर तक हँसी और फिर मैंने कहा कि कदाचित् ऐसा भी हो सकता है ॥ ६३ ॥

> ततो निगूढमर्थं तौ पृष्टौ तत्प्रत्युत्तरमकुर्वन्तौ । लज्जितौ तूष्णीं गतावेवेति पण्डिते ॥ ६४ ॥

अनन्तर जब मैंने उनसे चित्रपटके गूढ़ अर्थ पूछे और वे उसका कुछ भी उत्तर नहीं दे सके तब लज्जित हो दोनों चुपचाप वहाँसे चले गये ॥ ६४ ॥

> अथ श्रीवज्रजङ्घाख्यो मातुलस्य सुतस्तव । दिव्येन रूपेणागच्छत् कामदेव इवापरः ॥ ६५ ॥

इसके बाद दूसरे कामदेवके समान दिव्य रूपको धारण करनेवाला तेरे मामाका पुत्र वज्रजङ्घ कुमार वहाँ आया ॥ ६५ ॥

> अथ प्रदक्षिणीकृत्य मुकुटाञ्चितमस्तकः । जिनं स्तुत्वा प्रणम्यार्च्य चित्रशालामुपाविशत् ॥ ६६ ॥

उस भव्यने आकर पहले जिनालयकी प्रदक्षिणा दी, फिर मस्तक झुकाकर जिनेन्द्रदेवकी स्तुति की, नमस्कार किया, उनकी पूजा की और फिर चित्रशालामें प्रवेश किया ॥ ६६ ॥

> निर्वर्ण्य पट्टकं तत्र श्रीमानिदमभाषत । ज्ञातपूर्वमिवेदं मे चरितं पट्टसंस्थितम् ॥ ६७ ॥

वह श्रीमान् चित्रपटको देखकर बोला कि ऐसा मालूम होता है मानो इस चित्रपटमें लिखा हुआ यह सब चरित्र मेरा पहलेका जाना हुआ ही हो ॥ ६७ ॥

> वर्णनातीतसामर्थ्यं चित्रकर्म विराजते । मानोन्मानप्रमाणाद्यैर्निम्नोन्नतविभागवत् ॥ ६८ ॥

इस चित्रपटपर जो यह चित्र चित्रित किया गया है इसकी शोभा वाणीके अगोचर है। यह लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदिके ठीक-ठीक प्रमाणसे सहित है तथा इसमें ऊँचे-नीचे सभी प्रदेशोंका विभाग ठीक-ठीक दिखलाया गया है ॥ ६८ ॥

> अहो सुनिपुणं चित्रकर्मेदं विमलच्छवि । रसभावान्वितं हारि रेखामाधुर्यसंगतम् ॥ ६९ ॥

अहा, यह चित्र बड़ी चतुराईसे भरा हुआ है, इसकी कान्ति बहुत ही शोभायमान है, यह रस और भावोंसे सहित है, मनोहर है तथा रेखाओंकी मधुरतासे संगत है ॥ ६९ ॥

> अत्रास्मद्भवसंबन्धः पूर्वोऽलेखि सविस्तरम् । श्रीप्रभाधिपतां साक्षात् पश्यामीवेह मामिकाम् ॥ ७० ॥

इस चित्रमें मेरे पूर्वभवका सम्बन्ध विस्तारके साथ लिखा गया है। ऐसा जान पड़ता है मानो मैं अपने पूर्वभवमें होनेवाले श्रीप्रभविमानके अधिपति ललिताङ्गदेवके स्वामित्वको साक्षात् देख रहा हूँ ॥ ७० ॥

> अहो रूपमिदं तन्व्या नितरामभिरोचते । स्वयंप्रभांगसंवादि विचित्राभरणोज्ज्वलम् ॥ ७१ ॥

अहा, यहाँ यह कृशोदरीका रूप अत्यन्त शोभायमान हो रहा है। यह अनेक प्रकारके आभरणोंसे उज्ज्वल है और ऐसा जान पड़ता है मानो स्वयंप्रभाका ही रूप हो ॥ ७१ ॥

> किन्त्वत्र कतिचित् कस्माद् गूढानि प्रकृतानि वै । लोकसंमोहनायेदं जनानामिति चित्रितम् ॥ ७२ ॥

किन्तु इस चित्रमें कितने ही गूढ़ विषय क्यों दिखलाये गये हैं ? मालूम होता है कि अन्य लोगोंको मोहित करनेके लिए ही यह चित्र बनाया गया है ॥ ७२ ॥

> ऐशानः कल्प एषोऽत्र श्रीप्रभं च प्रभास्वरम् । श्रीप्रभाधिपतेः पार्श्वे दृश्यतेऽत्र स्वयंप्रभा ॥ ७३ ॥

यह ईशान स्वर्ग लिखा गया है, यह देदीप्यमान श्रीप्रभ विमान चित्रित किया गया है और यह श्रीप्रभ विमानके अधिपति ललिताङ्गदेवके समीप स्वयंप्रभा देवी दिखलायी गयी है ॥ ७३ ॥

कल्पानोकहवीथीयमिदमुत्फुल्लपङ्कजम् । दोलागृहमितश्चारु रुचिरः कृतकाचलः ॥ ७४ ॥

यह कल्पवृक्षोंकी पंक्ति है, यह खिले हुए कमलोंसे शोभायमान सरोवर है, यह मनोहर दोलागृह है और यह अत्यन्त सुन्दर कृत्रिम क्रीडापर्वत है ॥ ७४ ॥

कृतप्रणयकोपेयं दर्शितात्र पराङ्मुखी । मन्दारवनवीथ्यन्ते मरुतेव समाहता ॥ ७५ ॥

इधर यह प्रणयकोप कर पराङ्मुख बैठी हुई स्वयंप्रभा दिखलायी गयी है जो कल्पवृक्षोंके समीप वायुसे झकोरी हुई कल्पलताके समान शोभायमान हो रही है ॥ ७५ ॥

कनकाद्रितटे क्रीडा ललिता दर्शितावयोः । इतो मणितटोत्सपप्रभाकाण्डपटावृते ॥ ७६ ॥

इधर तट भागपर लगे हुए मणियोंकी फैलती हुई प्रभारूपी परदेसे तिरोहित मेरु पर्वतके तटपर हम दोनोंकी मनोहर क्रीड़ा दिखलायी गयी है ॥ ७६ ॥

निगूढप्रेमसद्भावकैतवापादितेर्ष्यया । शय्योत्सङ्गात् समं यत्र पादोऽर्पितोऽनया ॥ ७७ ॥

इधर, अन्तःकरणमें छिपे हुए प्रेमके साथ कपटसे कुछ ईर्ष्या करती हुई स्वयंप्रभाने यह अपना पैर हठपूर्वक मेरी गोदसे हटाकर शय्याके मध्यभागपर रखा है ॥ ७७ ॥

मणिनूपुरशिञ्जारचारुणा चरणेन माम् । ताडयन्तीह रशनाव्यधाद्रोघं सखीव गौरवात् ॥ ७८ ॥

इधर, यह स्वयंप्रभा मणिमय नूपुरोंकी झंकारसे मनोहर अपने चरणकमलके द्वारा मेरा ताड़न करना चाहती है परन्तु गौरवके कारण ही मानो सखीके समान इस करधनीने उसे रोक दिया है ॥ ७८ ॥

कृतव्यलीककोपं मां प्रसादयितुमानता । स्वोत्तमाङ्गेन पादौ मे घटयन्तीह दर्शिता ॥ ७९ ॥

इधर दिखाया गया है कि मैं बनावटी कोप किये हुए बैठा हूँ और मुझे प्रसन्न करनेके लिए अति नम्रीभूत हुई स्वयंप्रभा अपना मस्तक मेरे चरणोंपर रख रही है ॥ ७९ ॥

> अच्युतेन्द्रसमायोगगुरुपूजादिविस्तरः । दर्शितोऽत्र निगूढस्तु साक्ष्यात् प्रणयजो मिथः ॥ ८० ॥

इधर यह अच्युत स्वर्गके इन्द्रके साथ हुई भेंट तथा पिहितास्रव गुरुकी पूजा आदिका विस्तार दिखलाया गया है, और इस स्थानपर परस्परके प्रेमभावसे उत्पन्न हुआ रति आदि भाव दिखलाया गया है ॥ ८० ॥

> मम प्रणयकोपेऽस्याः पादयोर्निपतन्नहम् । कर्णोत्पलेन लघीयसा ताडितो न हि दर्शितः ॥ ८१ ॥

यद्यपि इस चित्रमें अनेक बातें दिखला दी गयी हैं, परन्तु कुछ बातें छूट भी गयी हैं। जैसे कि एक दिन मैं प्रणय-कोपके समय इस स्वयंप्रभाके चरणोंपर पड़ा था और यह अपने कोमल कर्णफूलसे मेरा ताड़न कर रही थी, परन्तु वह विषय इसमें नहीं दिखाया गया है ॥ ८१ ॥

> सालक्तकपदाङ्गुष्ठमुद्रयास्मदुरःस्थले । वाल्लभ्यलाञ्छनं दत्तं यत्तन्नात्र दर्शितम् ॥ ८२ ॥

एक दिन इसने मेरे वक्षःस्थलपर महावर लगे हुए अपने पैरके अँगूठेसे छाप लगायी थी। वह क्या थी मानो 'यह हमारा पति है' इस बातको सूचित करनेवाला चिह्न ही था। परन्तु वह विषय भी यहाँ नहीं दिखाया गया है ॥ ८२ ॥

> कपोलफलकेऽस्या मया फलितप्रियङ्गुकच्छवि । लिखन् मकरिकापत्रमासीत् नाहमत्र निदर्शितः ॥ ८३ ॥

मैंने इसके प्रियंगु वृक्षके समान कान्तिमान् कपोलफलकपर कितनी ही बार पत्र-रचना की थी, परन्तु वह विषय भी इस चित्रमें नहीं दिखाया है ॥ ८३ ॥

> नूनं स्वयंप्रभाया हस्तनैपुण्यमीदृशम् । नान्यस्य स्त्रीजनस्यैतत् प्रावीण्यं स्यात् कलाविधौ ॥ ८४ ॥

निश्चयसे यह हाथकी ऐसी चतुराई स्वयंप्रभाके सिवाय और किसीकी नहीं हो सकती, क्योंकि चित्रकलाके विषयमें ऐसी चतुराई अन्य किसी स्त्रीके नहीं हो सकती ॥ ८४ ॥

> इति प्रतर्कयन्नेव पर्याकुल इव क्षणम् । शून्यान्तःकरणोऽध्यासीत् किमप्यामीलितेक्षणः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार तर्क-वितर्क करता हुआ वह राजकुमार व्याकुलकी तरह शून्यहृदय और निमीलितनयन होकर क्षण-भर कुछ सोचता रहा ॥ ८५ ॥

> उदश्रुलोचनश्चायं दशामन्त्यामिवोपेयुषः । दैवेन संधारितोऽभ्येत्य तदा सख्येव मूर्च्छया ॥ ८६ ॥

उस समय उसकी आँखोंसे आँसू झर रहे थे, वह अन्तकी मरण अवस्थाको प्राप्त हुआ ही चाहता था कि दैवयोगसे उसी समय मूर्च्छाने सखीके समान आकर उसे पकड़ लिया, अर्थात् वह मूर्च्छित हो गया ॥ ८६ ॥

> तदवस्थं तमालोक्य नाहमेवोत्कनायिता । चित्रस्थान्यपि रूपाणि प्रायान् प्रायोऽन्तराद्रताम् ॥ ८७ ॥

उसकी वैसी अवस्था देखकर केवल मुझे ही विषाद नहीं हुआ था, किन्तु चित्रमें स्थित मूर्तियोंका अन्तःकरण भी आर्द्र हो गया था ॥ ८७ ॥

> प्रत्याश्वासमथानीतः स तदा परिचारिभिः । त्वदर्पितमनोवृत्तिः सोऽद्राक्षीत् त्वन्मयीर्दिशः ॥ ८८ ॥

अनन्तर परिचारकोंने उसे अनेक उपायोंसे सचेत किया किन्तु उसकी चित्तवृत्ति तेरी ही ओर लगी रही। उसे समस्त दिशाएँ ऐसी दिखती थीं मानो तुझसे ही व्याप्त हों ॥ ८८ ॥

> अचिराल्लब्धसंज्ञस्तु प्रष्टवानिति मामसौ । भद्रे केनेदमालेख्यं लिखितं नः पुरेहितम् ॥ ८९ ॥

थोड़ी ही देर बाद जब वह सचेत हुआ तो मुझसे इस प्रकार पूछने लगा कि हे भद्रे, इस चित्रमें मेरे पूर्वभवकी यह चेष्टा किसने लिखी है ? ॥ ८९ ॥

> प्रत्युक्तश्च मयैतस्यास्ति पृथिव्यामेकनायिका । दुहिता मातुलान्यास्ते श्रीमतीति पतिंवरा ॥ ९० ॥

मैंने उत्तर दिया कि तुम्हारी मामीकी एक श्रीमती नामकी पुत्री है, वह स्त्रियोंकी सृष्टिकी एकमात्र मुख्य नायिका है—वह स्त्रियोंमें सबसे अधिक सुन्दर है और पति-वरण करनेके योग्य अवस्थामें विद्यमान है—अविवाहित है ॥ ९० ॥

> तां विद्धि मदनस्यैव पताकामुज्ज्वलांशुकाम् । स्त्रीसृष्टेरन्तिमनिर्माणरेखां माधुर्यशालिनीम् ॥ ९१ ॥

हे राजकुमार, तुम उसे उज्ज्वल वस्त्रसे शोभायमान कामदेवकी पताका ही समझो, अथवा स्त्रीसृष्टिकी माधुर्यसे शोभायमान अन्तिम निर्माणरेखा ही जानो अर्थात् स्त्रियोंमें इससे बढ़कर सुन्दर स्त्रियोंकी रचना नहीं हो सकती ॥ ९१ ॥

> समग्रयौवनारम्भसूत्रपातैरिवायतैः । दृष्टिपातैः स्मरस्तस्याः श्लाघते शरकौशलम् ॥ ९२ ॥

उसके लम्बायमान कटाक्ष क्या हैं मानो पूर्ण यौवनके प्रारम्भको सूचित करनेवाले सूत्रपात ही हैं। उसके उन कटाक्षोंसे ही कामदेव अपने बाणोंके कौशलकी श्लाघा करता है अर्थात् उसके लम्बायमान कटाक्षोंको देखकर मालूम होता है कि उसके यहाँ पूर्ण यौवनका प्रारम्भ हो गया है तथा कामदेव जो अपने बाणोंकी प्रशंसा किया करता है सो उसके कटाक्षोंके भरोसे ही किया करता है ॥ ९२ ॥

> तद्वक्त्रशशिनः पादैरसंसक्तकचाञ्जनैः । दन्तांशवः सदा भान्ति नूनं कुन्दकलोपमाः ॥ ९३ ॥

उसका मुखरूपी चन्द्रमा सदा दाँतोंकी उज्ज्वल किरणोंसे शोभायमान रहता है। इसलिए ऐसा जान पड़ता है मानो लक्ष्मीके हाथमें स्थित क्रीड़ाकमलको ही जीतना चाहता हो ॥ ९३ ॥

> तस्याश्चरणविन्यासे लाक्षारक्तां पदावलीम् । भ्रमरा मन्मथभ्रान्त्या व्यावृण्वन्ति पदे पदे ॥ ९४ ॥

चलते समय, इसके लाक्षारससे रँगे हुए चरणोंको लालकमल समझकर भ्रमर शीघ्र ही घेर लेते हैं ॥ ९४ ॥

> कामविद्यामिवादेष्टुं भ्रमर्यः कर्णशालिनीम् । रटन्त्यः कर्णोत्पले लग्ना नापयान्त्यपि ताडिताः ॥ ९५ ॥

उसके कर्णफूलपर बैठी तथा मनोहर शब्द करती हुई भ्रमरियाँ ऐसी मालूम होती हैं मानों उसे कामशास्त्रका उपदेश ही दे रही हों और इसीलिए वे ताड़ना करनेपर भी नहीं हटती हों ॥ ९५ ॥

> देवस्य वज्रदन्तस्य प्रियपुत्र्या तयादरात् । कलाकौशलमात्मीयमिदालेख्ये प्रदर्शितम् ॥ ९६ ॥

राजा वज्रदन्तकी प्रियपुत्री उस श्रीमतीने ही इस चित्रमें अपना कलाकौशल दिखलाया है ॥ ९६ ॥

> लक्ष्मीरिवार्थिनां श्रेष्ठा सैषा कन्या घनस्तनी । मृग्यमाणा भवन्तं सा नान्योऽस्त्यत्र त्वया समः ॥ ९७ ॥

जो लक्ष्मीकी तरह अनेक अर्थिजनोंके द्वारा प्रार्थनीय है अर्थात् जिसे अनेक अर्थीजन चाहते हैं, जो यौवनवती होनेके कारण स्थूल और कठोर स्तनोंसे सहित है, तथा जो अच्छे-अच्छे मनुष्यों-द्वारा खोज करनेके योग्य है, अर्थात् दुर्लभ है, ऐसी वह श्रीमती आज आपकी खोज कर रही है। आपकी खोजके लिए ही उसने मुझे यहाँ भेजा है। इसलिए समझना चाहिए कि आपके समान और कोई पुण्यवान् नहीं है ॥ ९७ ॥

> ललिताङ्गं ब्रवीति त्वां प्रिया सैषा पतिंवरा । येनेहापि तथा सौम्यो लक्ष्यसे ललिताङ्गवान् ॥ ९८ ॥

वह प्यारी श्रीमती आपका स्वर्गका (पूर्वभवका) नाम ललिताङ्ग बतलाती है। परन्तु वह झूठ है क्योंकि आप इस मनुष्य-भवमें भी सौम्य तथा सुन्दर अंगोंके धारक होनेसे साक्षात् ललिताङ्ग दिखायी पड़ते हैं ॥ ९८ ॥

> इत्युक्तस्तु मया साधु पण्डिते साधु जल्पितम् । विधेर्विलसितं चित्रमदृष्टार्थप्रसिद्धिषु ॥ ९९ ॥

इस प्रकार मेरे कहनेपर वह राजकुमार कहने लगा कि ठीक पण्डिते, ठीक, तुमने बहुत अच्छा कहा। अभिलषित पदार्थोंकी सिद्धिमें कर्मोंका उदय भी बड़ा विचित्र होता है ॥ ९९ ॥

> पश्य जन्मान्तराज्जन्तूनानीयेवमनन्तरे । भवे संघटयत्याशु विधिर्यातोऽनुकूलताम् ॥ १०० ॥

देखो, अनुकूलताको प्राप्त हुआ कर्मोंका उदय एक जन्मान्तरसे लाकर इस दूसरे भवमें भी शीघ्र मिला देता है ॥ १०० ॥

> द्वीपान्तराद् दिशामन्तादन्तरीपादपांनिधेः । विधिर्घटयतीष्टार्थमानीय स्वीप्सितां गतिम् ॥ १०१ ॥

अनुकूलताको प्राप्त हुआ दैव अभीष्ट पदार्थको किसी दूसरे द्वीपसे, दिशाओंके अन्तसे, किसी अन्तरीप (टापू) से अथवा समुद्रसे भी लाकर उसका संयोग करा देता है ॥ १०१ ॥

> इतीदं बहुशः प्रोच्य प्रस्विद्यत्करपल्लवः । तदस्मत्पट्टकं पाणौ जग्राह स कुतूहली ॥ १०२ ॥

इस प्रकार जो अनेक वचन कह रहा था, जिसके हाथसे पसीना निकल रहा था तथा जिसे कौतूहल उत्पन्न हो रहा था, ऐसे उस राजकुमारने वह हमारा चित्रपट अपने हाथमें ले लिया ॥ १०२ ॥

> स्वपट्टकमिदं प्रादात् स मे हस्ते समर्प्य च । यत्र त्वच्चित्रसंवादि सर्वमाभासते स्फुटम् ॥ १०३ ॥

और यह अपना चित्र हमारे हाथमें सौंप दिया। देख, इस चित्रमें तेरे चित्रसे मिलते-जुलते सभी विषय स्पष्ट दिखायी दे रहे हैं ॥ १०३ ॥

> सूत्रक्रमः स्फुटोऽत्रास्ति व्यक्तो वर्णक्रमोऽप्ययम् । क्रमो भावानुकूल्यस्य प्रत्याहार इवास्त्यहो ॥ १०४ ॥

जिस प्रकार प्रत्याहारशास्त्र (व्याकरणशास्त्र) में सूत्र, धातु और प्रत्ययोंका क्रम स्पष्ट रहता है उसी प्रकार इस चित्रमें भी रेखाओं, रंगों और अनुकूल भावोंका क्रम अत्यन्त स्पष्ट दिखाई दे रहा है अर्थात् जहाँ जो रेखा चाहिए वहाँ वही रेखा खींची गयी है; जहाँ जो रंग चाहिए वहाँ वही रंग भरा गया है और जहाँ जैसा भाव दिखाना चाहिए वहाँ वैसा ही भाव दिखाया गया है ॥ १०४ ॥

> अनेनैवार्पितं नूनमनुरागो मनोगतः । स्वस्य मनोरथसंसिद्धौ सत्यंकारोऽर्पितोऽमुना ॥ १०५ ॥

राजकुमारने मुझे यह चित्र क्या सौंपा है मानो अपने मनका अनुराग ही सौंपा है अथवा तेरे मनोरथको सिद्ध करनेके लिए सत्यंकार (बयाना) ही दिया है ॥ १०५ ॥

> ततः करं प्रसार्योच्चैः पुनर्दर्शनमस्तु ते । व्रज व्रजाम इत्युक्त्वा निरयात् स जिनालयात् ॥ १०६ ॥

अपना चित्र मुझे सौंप देनेके बाद राजकुमार हाथ जोड़कर बोला कि आपका फिर भी दर्शन हो, अब आप जाइए हम भी जाते हैं, ऐसा कहकर वह जिनमन्दिरसे बाहर निकल गया ॥ १०६ ॥

> गृहीत्वाहं तदायातमिहागामिति पण्डिता । प्रसारितवती तस्याः पुरस्ताच्चित्रपट्टकम् ॥ १०७ ॥

उसके जानेके बाद मैं भी उसका दिया हुआ चित्रपट लेकर यहाँ आयी हूँ। ऐसा कहकर पण्डिताने वह चित्रपट श्रीमतीके सामने फैलाकर रख दिया ॥ १०७ ॥

> तल्लिखितं निजं वृत्तं जातप्रत्यया सा समाश्वसीत् । चिरोष्णौत्सुक्यसंतापा चातकीव घनाघनम् ॥ १०८ ॥

उस चित्रपटमें अपने पूर्वभवका चरित्र लिखा हुआ देखकर श्रीमतीको विश्वास हो गया और उसे वैसा ही सन्तोष हुआ जैसा कि ग्रीष्मऋतुके संतापसे सन्तप्त हुई चातकीको मेघका आगमन देखकर होता है ॥ १०८ ॥

> यथा शरन्नदीतीरपुलिनं हंसकामिनी । मध्वावलीं द्रुतामास्रशाखां प्राप्य प्रमोदते ॥ १०९ ॥

जिस प्रकार शरद् ऋतुमें नदीके किनारेका रेतीला टीला पाकर हंसी सन्तुष्ट होती है, फूलोंके भारसे झुकी हुई आमकी शाखा पाकर भ्रमरी सन्तुष्ट होती है ॥ १०९ ॥

> यथा कुसुमितं चूतकाननं कलकण्ठिका । द्वीपं नन्दीश्वरं प्राप्य यथा वा प्रमदामरी ॥ ११० ॥

फूले हुए आम्रवनको पाकर कोकिला सन्तुष्ट होती है और नन्दीश्वर द्वीपको पाकर देवाङ्गना सन्तुष्ट होती है ॥ ११० ॥

> तथेदं पट्टकं प्राप्य श्रीमत्यासीदनाकुला । मनोज्ञेष्टार्थसंपत्तौ कस्य वा नोत्सुकं मनः ॥ १११ ॥

उसी प्रकार उस चित्रपटको पाकर श्रीमती भी अत्यन्त प्रसन्न हुई सो ठीक ही है, मनोवाञ्छित उत्तम पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर किसका मन उत्कण्ठित—प्रसन्न नहीं होता ? ॥ १११ ॥

> ततः कृतार्थतां वीक्ष्य समर्थयितुकामया । प्रोचे पण्डितया चाथ श्रीमन्त्यवसरोचितम् ॥ ११२ ॥

तदनन्तर पण्डिता धायने अपने कार्यको सफल हुआ देखकर और उसे और भी अधिक दृढ़ करनेकी इच्छासे अवसरके योग्य ये वचन श्रीमतीसे कहे ॥ ११२ ॥

> दिष्ट्या कल्याणि कल्याणान्यचिरात् त्वमवाप्नुहि । प्रतीहि प्राणनाथेन प्रत्यासन्नं समागमम् ॥ ११३ ॥

हे कल्याणि, बड़े सौभाग्यसे तुझे सब कल्याण शीघ्र प्राप्त होंगे और तू यह निश्चय समझ कि तेरे प्राणनाथके साथ तेरा समागम बहुत ही समीप आ गया है ॥ ११३ ॥

> मागस्मस्त्वमनाश्वासं सोऽन्यत्र गतवानिति । मया सुनिपुणं तस्य भावस्त्वय्युपलक्षितः ॥ ११४ ॥

वह राजकुमार कहीं अन्यत्र चला गया है, ऐसा समझकर तू निराश मत हो, क्योंकि मैंने उस राजकुमारका तेरे ऊपर पूर्ण अनुराग अच्छी तरह देख लिया है ॥ ११४ ॥

> स्थित्वा विलम्बितो द्वारि वीक्षते मां मुहुर्मुहुः । व्रजन्नपि पुरो मार्गं सवलत्येव पदे पदे ॥ ११५ ॥

जब वह जा रहा था तब थोड़ी देर तक दरवाजेपर ठहरकर बार-बार मेरी ओर देखता था और आगे चलता हुआ भी मार्गमें पग-पगपर पीछेकी ओर मुड़कर देखता था ॥ ११५ ॥

> अचिरेणैव संप्राप्तिस्तस्य तेऽस्ति न संशयः । गन्तासि नूनमस्याङ्कं कामिनीव वसन्तके ॥ ११६ ॥

इसलिए शीघ्र ही उसकी प्राप्ति तुझे होगी इसमें संशय नहीं है। जिस प्रकार वसन्तमें कामिनी कामदेवकी गोदमें जाती है उसी प्रकार तू निश्चयसे ही उसके अंकमें जाकर बैठेगी ॥ ११६ ॥

> इत्याश्वास्य सुतां धात्रीं राजा वज्रदन्तो महीपतिः । वज्रजङ्घस्य दातुं तां स्वयंवरमचीकरत् ॥ ११७ ॥

इस प्रकार जब पण्डिता धाय श्रीमतीको आश्वासन दे रही थी उसी समय वज्रदन्त महाराजने वज्रजङ्घके लिए श्रीमतीको देनेकी इच्छासे स्वयंवर मण्डपकी रचना करायी ॥ ११७ ॥

> ततः पुण्डरीकिणीं पुरमुपागमन् महीभृतः । नानादिग्भ्यो महाभागाः कन्यालाभसमुत्सुकाः ॥ ११८ ॥

तदनन्तर कन्या प्राप्त करनेके लिए उत्सुक हुए बड़े-बड़े राजा नाना दिशाओंसे उस पुण्डरीकिणी नगरीमें आये ॥ ११८ ॥

> आयातः सह पित्रासौ वज्रजङ्घोऽपि सादरात् । प्राप्तः स्वयंवरस्थानं लक्ष्मीरूपविराजितः ॥ ११९ ॥

पिता वज्रबाहुके साथ राजकुमार वज्रजङ्घ भी आदरपूर्वक वहाँ आया और अनुपम शोभासे सुशोभित होता हुआ स्वयंवरमण्डपमें पहुँचा ॥ ११९ ॥

> तत्र मञ्चावलोकेषु स्थितान् राज्ञो महाद्युतीन् । दर्शयन्ती कुमारीं तां पण्डिता वाक्यमब्रवीत् ॥ १२० ॥

वहाँ मंचोंपर बैठे हुए महातेजस्वी राजाओंको दिखलाती हुई पण्डिता धाय उस राजकुमारी श्रीमतीसे इस प्रकार वचन कहने लगी ॥ १२० ॥

> अयं राजा महावीरो ह्ययं च धनदप्रभः । अयं च रूपसंपन्नः पश्य कन्ये नराधिपान् ॥ १२१ ॥

हे कन्ये, देख, यह राजा बड़ा शूरवीर है, यह कुबेरके समान ऐश्वर्यशाली है, यह रूपसम्पत्तिसे युक्त है, इस प्रकार सब राजाओंको देख ॥ १२१ ॥

> सर्वानेतान् व्यतिक्रम्य गता सा वज्रजङ्घकम् । पश्यन्ती ललिताङ्गस्य रूपं तस्मिन् विभावितम् ॥ १२२ ॥

वह श्रीमती उन सब राजाओंको छोड़कर वज्रजङ्घके समीप पहुँची, क्योंकि उसने उस वज्रजङ्घमें ही अपने पूर्वभवके पति ललिताङ्गके साक्षात् रूपका अनुभव किया था ॥ १२२ ॥

> तस्य कण्ठे वरासक्तां चिक्षेप वरमालिकाम् । मत्तालिमधुरारावां मन्दारकुसुमोद्भवाम् ॥ १२३ ॥

उसने मत्त भ्रमरोंके मधुर गुंजारसे सहित कल्पवृक्षके फूलोंसे बनी हुई वरमाला उसके कण्ठमें डाल दी ॥ १२३ ॥

> ततो दुन्दुभयः प्रादुर्जगुः पुष्पवृष्टयोऽपतन् । जयजयेति वाद्यानां नादो दिशोऽभिपूरयत् ॥ १२४ ॥

तब देवोंके दुन्दुभि बाजे बजने लगे, ऊपरसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी और 'जय-जय' शब्दोंके साथ वाद्ययन्त्रोंके नादसे दसों दिशाएँ गूंज उठीं ॥ १२४ ॥

> चक्री ततो मुदा युक्तो विवाहं विधिवद्व्यधात् । वज्रजङ्घस्य संयोज्य श्रीमतीं विधिपूर्वकम् ॥ १२५ ॥

तदनन्तर चक्रवर्ती वज्रदन्तने परम हर्षित होकर विधिपूर्वक वज्रजङ्घके साथ श्रीमतीका पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न कराया ॥ १२५ ॥

> ददौ तस्मै वरं राज्यं मणिरत्नविभूषणम् । गजाश्वरथसम्पत्तिं महतीं दातृवत्सलाम् ॥ १२६ ॥

और वज्रजङ्घके लिए उत्तम राज्य, मणिरत्नोंके आभूषण, हाथी, घोड़े, रथ आदिकी विशाल सम्पत्ति प्रदान की ॥ १२६ ॥

> स तया सहितः श्रीमान् वज्रजङ्घो नराधिपः । भुञ्जानो विविधान् भोगान् विजहार यथासुखम् ॥ १२७ ॥

वह श्रीमान् वज्रजङ्घ उस श्रीमतीके साथ अनेक प्रकारके उत्तम भोगोंको भोगता हुआ सुखपूर्वक क्रीड़ा करने लगा ॥ १२७ ॥

> इति तयोः प्रेमाभिवृद्धिं प्राप्य चिरं सुखम् । गच्छति काले पुण्यफलं भुञ्जानयोः परम् ॥ १२८ ॥

इस प्रकार उन दोनोंके प्रेमकी निरन्तर वृद्धि होते हुए और पुण्यके उत्तम फलको भोगते हुए सुखपूर्वक बहुत समय व्यतीत हो गया ॥ १२८ ॥

> कदाचित् प्रातरुत्थाय चक्री वज्रदन्तो महामतिः । चिन्तयामास संसारे वैराग्यैकपरायणः ॥ १२९ ॥

किसी दिन प्रातःकाल उठकर महाबुद्धिमान् वज्रदन्त चक्रवर्तीने वैराग्यपरायण होकर संसारके स्वरूपका इस प्रकार चिन्तन किया ॥ १२९ ॥

> अहो विचित्रं कर्मेदं जन्तूनां भववर्तिनाम् । नित्यं परिणमत्याशु सुखदुःखप्रभेदतः ॥ १३० ॥

अहो, संसारमें रहनेवाले जीवोंका यह कर्म बड़ा ही विचित्र है जो कि निरन्तर सुख और दुःखके भेदोंसे जल्दी-जल्दी बदलता रहता है ॥ १३० ॥

> राज्यलक्ष्मीश्च चञ्चला मेघमालेव दृश्यते । जीवितावधयश्चापि विद्युद्विस्फुरणोपमाः ॥ १३१ ॥

यह राज्यलक्ष्मी बादलोंकी घटाके समान चंचल दिखाई देती है और जीवनकी अवधि भी बिजलीके चमकनेके समान क्षणभंगुर है ॥ १३१ ॥

> तस्माद् धर्मे मतिं कृत्वा त्याज्यः संसारविभ्रमः । इति निश्चित्य चक्रीन्द्रः प्रव्रज्यामाददे परां ॥ १३२ ॥

इसलिए धर्ममें ही मति लगाकर इस संसारके भ्रमको छोड़ देना चाहिए। ऐसा निश्चय कर चक्रवर्तीने उत्कृष्ट जिनदीक्षा धारण कर ली ॥ १३२ ॥

> ज्येष्ठे सुते निजं राज्यं समर्प्य स नराधिपः । गुरोः पार्श्वे तपो घोरं तताप जिनसत्तमः ॥ १३३ ॥

राजा वज्रदन्तने अपने ज्येष्ठ पुत्रके लिए चक्रवर्तीका राज्य सौंप दिया और स्वयं गुरुके समीप जाकर घोर तप तपने लगे ॥ १३३ ॥

> वज्रजङ्घोऽपि सम्प्राप्य स्वपुरं पुण्डरीकिणीम् । श्रीमत्या सहितः प्रेम्णा रेमे भोगाननेकधा ॥ १३४ ॥

वज्रजङ्घ भी अपनी नगरी पुण्डरीकिणीमें श्रीमतीके साथ परम प्रेमसे अनेक प्रकारके भोग भोगता हुआ रमण करने लगा ॥ १३४ ॥

> तयोः समभवत् प्रीतिरनन्या सुदृढा परा । कामदेवरतेरिव परस्परमनोहरा ॥ १३५ ॥

उन दोनोंके आपसमें कामदेव और रतिके समान अत्यन्त मनोहर और दृढ़ अनन्य प्रीति उत्पन्न हो गयी थी ॥ १३५ ॥

> दिव्यैर्भोगैः स रेमेऽत्र कल्पपादपसंनिभः । श्रीमत्या सहितात्मासौ पुण्यकर्ममहोदयात् ॥ १३६ ॥

कल्पवृक्षके समान वह वज्रजङ्घ पुण्यकर्मके भारी उदयसे श्रीमतीके साथ दिव्य भोगोंमें सुखपूर्वक रमण करता था ॥ १३६ ॥

> अचिरेणैव कालेन सा देवी गर्भमादधे । यशोधरगुरोः पादावर्चयन्ती शुचिव्रता ॥ १३७ ॥

कुछ ही समयमें पवित्र व्रतोंको धारण करनेवाली और श्री यशोधर गुरुके चरणोंकी पूजा करनेवाली उस श्रीमती देवीने गर्भ धारण किया ॥ १३७ ॥

> सुषुवे सा सुतं कान्तं सर्वलक्षणसंयुतम् । नाम्ना सुमित्रमित्येवं ख्यातं जगति विश्रुतम् ॥ १३८ ॥

उसने समय पाकर समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न एक सुन्दर पुत्रको जन्म दिया जिसका नाम लोकमें 'सुमित्र' प्रसिद्ध हुआ ॥ १३८ ॥

> तं दृष्ट्वा पितरौ तुष्टौ परमानन्दमापतुः । वर्धमानं कलाभिश्च पूर्णचन्द्रमिवोदितम् ॥ १३९ ॥

उदित हुए पूर्ण चन्द्रमाके समान कलाओंसे वृद्धिको प्राप्त होते हुए उस पुत्रको देखकर उसके माता-पिता परम आनन्दको प्राप्त हुए ॥ १३९ ॥

> अथान्येद्युर्महाराजः श्रीमान् वज्रजङ्घकः । प्रासादे चित्रसंशोभे सुप्तोत्थित इवाभवत् ॥ १४० ॥

किसी एक दिन श्रीमान् महाराज वज्रजङ्घ अनेक चित्रोंसे शोभायमान प्रासादमें सोकर उठे ॥ १४० ॥

> स पश्यन् सर्वतो रम्यान् भोगान् पुण्यफलोदयान् । धर्ममेव परं मेने सर्वसौख्यविधायकम् ॥ १४१ ॥

और चारों ओर पुण्यके उदयसे प्राप्त होनेवाले मनोहर भोगोंको देखकर उन्होंने धर्मको ही समस्त सुखोंका देनेवाला माना ॥ १४१ ॥

> धर्म एव सखा जन्तोर्धर्म एव परं बलम् । धर्म एव परं ज्योतिर्धर्म एव परायणम् ॥ १४२ ॥

क्योंकि जीवोंका धर्म ही सच्चा मित्र है, धर्म ही परम बल है, धर्म ही परम ज्योति है और धर्म ही परम शरण है ॥ १४२ ॥

> इति संचिन्त्य संहृष्टो दानपूजादिकं व्यधात् । पात्रेभ्यो विपुलं द्रव्यं ददौ जिनपदार्चकः ॥ १४३ ॥

ऐसा चिन्तन कर अत्यन्त प्रसन्न हुए वज्रजङ्घने जिनपूजा और दान आदि कार्य किये तथा जिनचरणोंके पूजक होकर सत्पात्रोंके लिए विपुल धन दिया ॥ १४३ ॥

> ततोऽर्हत्प्रतिमां सम्यक् पूजयित्वा विधानतः । श्रीमत्या सह संहृष्टो मुनीन् वन्दितुमुद्यतः ॥ १४४ ॥

तदनन्तर विधिपूर्वक अरहंत भगवान्‌की प्रतिमाकी पूजा करके श्रीमतीके साथ बड़े हर्षसे मुनिराजोंकी वन्दना करनेके लिए उद्यत हुए ॥ १४४ ॥

> तस्याश्चरणविन्यासे लाक्षारक्तां पदावलीम् । भ्रमरा मन्मथभ्रान्त्या व्यावृण्वन्ति पदे पदे ॥ १४५ ॥

चलते समय, इसके लाक्षारससे रँगे हुए चरणोंको लालकमल समझकर भ्रमर शीघ्र ही घेर लेते हैं ॥ १४५ ॥

> कामविद्यामिवादेष्टुं भ्रमर्यः कर्णशालिनीम् । रटन्त्यः कर्णोत्पले लग्ना नापयान्त्यपि ताडिताः ॥ १४६ ॥

उसके कर्णफूलपर बैठी तथा मनोहर शब्द करती हुई भ्रमरियाँ ऐसी मालूम होती हैं मानों उसे कामशास्त्रका उपदेश ही दे रही हों और इसीलिए वे ताड़ना करनेपर भी नहीं हटती हों ॥ १४६ ॥

> देवस्य वज्रदन्तस्य प्रियपुत्र्या तयादरात् । कलाकौशलमात्मीयमिदालेख्ये प्रदर्शितम् ॥ १४७ ॥

राजा वज्रदन्तकी प्रियपुत्री उस श्रीमतीने ही इस चित्रमें अपना कलाकौशल दिखलाया है ॥ १४७ ॥

> लक्ष्मीरिवार्थिनां श्रेष्ठा सैषा कन्या घनस्तनी । मृग्यमाणा भवन्तं सा नान्योऽस्त्यत्र त्वया समः ॥ १४८ ॥

जो लक्ष्मीकी तरह अनेक अर्थिजनोंके द्वारा प्रार्थनीय है अर्थात् जिसे अनेक अर्थीजन चाहते हैं, जो यौवनवती होनेके कारण स्थूल और कठोर स्तनोंसे सहित है, तथा जो अच्छे-अच्छे मनुष्यों-द्वारा खोज करनेके योग्य है, अर्थात् दुर्लभ है, ऐसी वह श्रीमती आज आपकी खोज कर रही है। आपकी खोजके लिए ही उसने मुझे यहाँ भेजा है। इसलिए समझना चाहिए कि आपके समान और कोई पुण्यवान् नहीं है ॥ १४८ ॥

> ललिताङ्गं ब्रवीति त्वां प्रिया सैषा पतिंवरा । येनेहापि तथा सौम्यो लक्ष्यसे ललिताङ्गवान् ॥ १४९ ॥

वह प्यारी श्रीमती आपका स्वर्गका (पूर्वभवका) नाम ललिताङ्ग बतलाती है। परन्तु वह झूठ है क्योंकि आप इस मनुष्य-भवमें भी सौम्य तथा सुन्दर अंगोंके धारक होनेसे साक्षात् ललिताङ्ग दिखायी पड़ते हैं ॥ १४९ ॥

> इत्युक्तस्तु मया साधु पण्डिते साधु जल्पितम् । विधेर्विलसितं चित्रमदृष्टार्थप्रसिद्धिषु ॥ १५० ॥

इस प्रकार मेरे कहनेपर वह राजकुमार कहने लगा कि ठीक पण्डिते, ठीक, तुमने बहुत अच्छा कहा। अभिलषित पदार्थोंकी सिद्धिमें कर्मोंका उदय भी बड़ा विचित्र होता है ॥ १५० ॥

> पश्य जन्मान्तराज्जन्तूनानीयेवमनन्तरे । भवे संघटयत्याशु विधिर्यातोऽनुकूलताम् ॥ १५१ ॥

देखो, अनुकूलताको प्राप्त हुआ कर्मोंका उदय एक जन्मान्तरसे लाकर इस दूसरे भवमें भी शीघ्र मिला देता है ॥ १५१ ॥

द्वीपान्तराद् दिशामन्तादन्तरीपादपांनिधेः । विधिर्घटयतीष्टार्थमानीय स्वीप्सितां गतिम् ॥ १९२ ॥

अनुकूलताको प्राप्त हुआ दैव अभीष्ट पदार्थको किसी दूसरे द्वीपसे, दिशाओंके अन्तसे, किसी अन्तरीप (टापू) से अथवा समुद्रसे भी लाकर उसका संयोग करा देता है ॥ १९२ ॥

इतीदं बहुशः प्रोच्य प्रस्विद्यत्करपल्लवः । तदस्मत्पट्टकं पाणौ जग्राह स कुतूहली ॥ १९३ ॥

इस प्रकार जो अनेक वचन कह रहा था, जिसके हाथसे पसीना निकल रहा था तथा जिसे कौतूहल उत्पन्न हो रहा था, ऐसे उस राजकुमारने वह हमारा चित्रपट अपने हाथमें ले लिया ॥ १९३ ॥

स्वपट्टकमिदं प्रादात् स मे हस्ते समर्प्य च । यत्र त्वच्चित्रसंवादि सर्वमाभासते स्फुटम् ॥ १९४ ॥

और यह अपना चित्र हमारे हाथमें सौंप दिया। देख, इस चित्रमें तेरे चित्रसे मिलते-जुलते सभी विषय स्पष्ट दिखायी दे रहे हैं ॥ १९४ ॥

सूत्रक्रमः स्फुटोऽत्रास्ति व्यक्तो वर्णक्रमोऽप्ययम् । क्रमो भावानुकूल्यस्य प्रत्याहार इवास्त्यहो ॥ १९५ ॥

जिस प्रकार प्रत्याहारशास्त्र (व्याकरणशास्त्र) में सूत्र, धातु और प्रत्ययोंका क्रम स्पष्ट रहता है उसी प्रकार इस चित्रमें भी रेखाओं, रंगों और अनुकूल भावोंका क्रम अत्यन्त स्पष्ट दिखाई दे रहा है अर्थात् जहाँ जो रेखा चाहिए वहाँ वही रेखा खींची गयी है; जहाँ जो रंग चाहिए वहाँ वही रंग भरा गया है और जहाँ जैसा भाव दिखाना चाहिए वहाँ वैसा ही भाव दिखाया गया है ॥ १९५ ॥

आदिपुराण (आचार्य जिनसेन कृत)

सप्तम पर्व (श्रीमती-वज्रजङ्घ-समागम वर्णन)

> तस्याश्चरणविन्यासे लाक्षारक्तां पदावलीम् । भ्रमरा बहु मन्यन्ते मत्वा तामुत्पलावलिम् ॥ १४५ ॥

चलते समय, इसके लाक्षा रससे रँगे हुए चरणोंको लालकमल समझकर भ्रमर शीघ्र ही घेर लेते हैं ॥ १४५ ॥

> कामविद्यामिवादेष्टुं भ्रमर्यः कर्णशौष्किरे । रटन्त्यः कर्णोत्पले लग्ना नापयान्त्यपि ताडिताः ॥ १४६ ॥

उसके कर्णफूलपर बैठी तथा मनोहर शब्द करती हुई भ्रमरियाँ ऐसी मालूम होती हैं मानों उसे कामशास्त्रका उपदेश ही दे रही हों और इसीलिए वे ताड़ना करनेपर भी नहीं हटती हों ॥ १४६ ॥

> देवस्य वज्रदन्तस्य प्रियपुत्र्या तयादरात् । कलाकौशलमात्मीयमिदमालेख्ये प्रदर्शितम् ॥ १४७ ॥

राजा वज्रदन्तकी प्रियपुत्री उस श्रीमतीने ही इस चित्रमें अपना कलाकौशल दिखलाया है ॥ १४७ ॥

> लक्ष्मीरिवार्थिनां प्रार्थ्या सैषा कन्या घनस्तनी । मृग्यमाणापि सत्पात्रैस्त्वां नान्विष्यति पुण्यवान् ॥ १४८ ॥

जो लक्ष्मीकी तरह अनेक अर्थीजनोंके द्वारा प्रार्थनीय है अर्थात् जिसे अनेक अर्थीजन चाहते हैं, जो यौवनवती होनेके कारण स्थूल और कठोर स्तनोंसहित है, तथा जो अच्छे-अच्छे मनुष्यों-द्वारा खोज करनेके योग्य है अर्थात् सुपात्र है, ऐसी वह श्रीमती आज आपकी खोज कर रही है। आपकी खोजके लिए ही उसने मुझे यहाँ भेजा है। इसलिए समझना चाहिए कि आपके समान और कोई पुण्यवान् नहीं है ॥ १४८ ॥

> ललिताङ्ग ब्रवीति त्वां प्रिया त्वं किल तादृशः । येनेहापि भवान् सौम्यो लक्ष्यते ललिताङ्गवान् ॥ १४९ ॥

वह प्यारी श्रीमती आपका स्वर्गका (पूर्वभवका) नाम ललिताङ्ग बतलाती है। परन्तु वह झूठ नहीं है क्योंकि आप इस मनुष्य-भवमें भी सौम्य तथा सुन्दर अंगोंके धारक होनेसे साक्षात् ललिताङ्ग दिखायी पड़ते हैं ॥ १४९ ॥

> इत्युक्तस्तु मया साधु पण्डिते साधु जल्पितम् । विधेर्विलसितं चित्रमदृष्टार्थप्रसिद्धिषु ॥ १५० ॥

इस प्रकार मेरे कहनेपर वह राजकुमार कहने लगा कि ठीक पण्डिते, ठीक, तुमने बहुत अच्छा कहा। अभिलषित पदार्थोंकी सिद्धिमें कर्मोंका उदय भी बड़ा विचित्र होता है ॥ १५० ॥

> पश्य जन्मान्तरान्जन्तूनानीयेवमनन्तरे । भवे संघटयत्याशु विधिर्यातोऽनुकूलताम् ॥ १५१ ॥

देखो, अनुकूलताको प्राप्त हुआ कर्मोंका उदय जीवोंको जन्मान्तरसे लाकर इस दूसरे भवमें भी शीघ्र मिला देता है ॥ १५१ ॥

> द्वीपान्तराद् दिशामन्तादन्तरीपादपांनिधेः । विधिर्घटयतीष्टार्थमानीयोपगतादरात् ॥ १५२ ॥

अनुकूलताको प्राप्त हुआ दैव अभीष्ट पदार्थको किसी दूसरे द्वीपसे, दिशाओंके अन्तसे, किसी अन्तरीप (टापू) से अथवा समुद्रके भीतरसे लाकर उसका संयोग करा देता है ॥ १५२ ॥

> इत्युक्त्वा स तदा पट्टं प्रस्विद्यत्करपल्लवः । तदस्मत्पट्टकं पाणौ जग्राह स कुतूहली ॥ १५३ ॥

इस प्रकार जो अनेक वचन कह रहा था, जिसके हाथसे पसीना निकल रहा था तथा जिसे भारी कौतूहल उत्पन्न हो रहा था, ऐसे उस राजकुमार वज्रजंघने हमारा चित्रपट अपने हाथमें ले लिया ॥ १५३ ॥

> स्वपट्टकमिदं चाथ मम हस्ते समर्पिपत् । यत्र त्वत्कृतसंवादि रूपमालक्ष्यते स्फुटम् ॥ १५४ ॥

और यह अपना चित्रपट हमारे हाथमें सौंप दिया। देख, इस चित्रमें तेरे चित्रसे मिलते-जुलते सभी विषय स्पष्ट दिखायी दे रहे हैं ॥ १९४ ॥

> सूत्रक्रमः स्फुटोऽत्रास्ति व्यक्तो वर्णक्रमोऽप्ययम् । क्रमो भावस्यानुकूल्यस्य प्रत्याहार इवास्त्यहो ॥ १९५ ॥

जिस प्रकार प्रत्याहारशास्त्र (व्याकरणशास्त्र) में सूत्र, वर्ण और धातुओंके अनुबन्धका क्रम स्पष्ट रहता है उसी प्रकार इस चित्रमें भी रेखाओं, रंगों और अनुकूल भावोंका क्रम अत्यन्त स्पष्ट दिखाई दे रहा है अर्थात् जहाँ जो रेखा चाहिए वहाँ वही रेखा खींची गयी है; जहाँ जो रंग चाहिए वहाँ वही रंग भरा गया है और जहाँ जैसा भाव दिखाना चाहिए वहाँ वैसा ही भाव दिखाया गया है ॥ १९५ ॥

> इदमर्पयतानूनमनुरागो मनोगतः । स्वमनोरथसंसिद्धौ सत्यंकारोऽर्पितोऽमुना ॥ १९६ ॥

राजकुमारने मुझे यह चित्र क्या सौंपा है मानो अपने मनका अनुराग ही सौंपा है अथवा तेरे मनोरथको सिद्ध करनेके लिए सत्यंकार (बयाना) ही दिया है ॥ १९६ ॥

> अतः करं प्रसार्यार्यि पुनर्दर्शनमस्तु ते । व्रज व्रजाम इत्युद्गीः निरयात् स जिनालयात् ॥ १९७ ॥

अपना चित्र मुझे सौंप देनेके बाद राजकुमारने हाथ फैलाकर कहा कि हे आर्ये, तेरा दर्शन फिर भी कभी हो, इस समय जाओ, हम भी जाते हैं। इस प्रकार कहकर वह जिनालयसे निकलकर बाहर चला गया ॥ १९७ ॥

> गृहीत्वाहं तद्वार्तामिहागामिति पण्डिता । प्रसारितवती तस्याः पुरस्ताच्चित्रपट्टकम् ॥ १९८ ॥

और मैं उस समाचारको लेकर यहाँ आयी हूँ। ऐसा कहकर पण्डिताने वज्रजंघका दिया हुआ चित्रपट फैलाकर श्रीमतीके सामने रख दिया ॥ १९८ ॥

> तन्निरैक्षत सा चिरं जातप्रत्यया सा समाश्वसीत् । चिरोद्बौढसंतापा चातकीव घनाघनम् ॥ १९९ ॥

उस चित्रपटको उसने बड़ी देर तक गौरसे देखा, देखकर उसे अपने मनोरथ पूर्ण होनेका विश्वास हो गया और उसने सुखकी साँस ली। जिस प्रकार चिरकालसे सन्तप्त हुई चातकी मेघका आगमन देखकर हर्षित होती है ॥ १९९ ॥

यथा शरन्नदीतीरपुलिनं हंसकामिनी । भव्यावलीव सद्ग्रन्थं प्राप्य प्रमोदते ॥ १६० ॥

जिस प्रकार हंसी शरद् ऋतुमें किनारेकी निकली हुई जमीन देखकर प्रसन्न होती है, जिस प्रकार भव्य जीवोंकी पंक्ति अध्यात्मशास्त्रको देखकर प्रमुदित होती है ॥ १६० ॥

यथा कुसुमितं चूतकाननं कलकण्ठिका । द्वीपं नन्दीश्वरं प्राप्य यथा वा प्रमदामरी ॥ १६१ ॥

जिस प्रकार कोयल फूले हुए आमोंके वनको देखकर आनन्दित होती है और जिस प्रकार देवोंकी सेना नन्दीश्वर द्वीपको पाकर प्रसन्न होती है ॥ १६१ ॥

तथेदं पट्टकं प्राप्य श्रीमत्यासीदनाकुला । मनोज्ञेष्टार्थसंपत्तिः कस्य वा नोत्सुकतां हरेत् ॥ १६२ ॥

उसी प्रकार श्रीमती उस चित्रपटको पाकर सन्तुष्ट हुई थी। उसकी सब आकुलता दूर हो गयी थी। सो ठीक ही है, अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति किसकी उत्कण्ठा दूर नहीं करती? ॥ १६२ ॥

ततः कृतार्थतां तस्याः समर्थयितुकामया । प्रोचे पण्डितया वाचा श्रीमतीमवसरोचितम् ॥ १६३ ॥

तत्पश्चात् श्रीमती इच्छानुसार वर प्राप्त होनेसे कृतार्थ हो जायेगी इस बातका समर्थन करनेके लिए पण्डिता श्रीमतीसे उस अवसरके योग्य वचन कहने लगी ॥ १६३ ॥

दैवात् कल्याणि कल्याणान्यचिरात् त्वमवाप्नुहि । प्रतीहि प्राणनाथेन प्रत्यासन्नं समागमम् ॥ १६४ ॥

कि हे कल्याणि, दैवयोगसे अब तू शीघ्र ही अनेक कल्याण प्राप्त कर। तू विश्वास रख कि अब तेरा प्राणनाथके साथ समागम शीघ्र ही होगा ॥ १६४ ॥

मागमस्त्वमनाश्वासं स तूष्णीं गतवानिति । मया सुनिपुणं तस्य भावस्त्वय्युपलक्षितः ॥ १६५ ॥

वह राजकुमार वहाँसे चुपचाप चला गया इसलिए अविश्वास मत कर, क्योंकि उस समय भी उसका चित्त तुझमें ही लगा हुआ था। इस बातका मैंने अच्छी तरह निश्चय कर लिया है ॥ १६५ ॥

विलम्बितो द्वारि वीक्षते मां मुहुर्मुहुः । व्रजन्नपि सुगे मार्गे स्खलतीव पदे पदे ॥ १६६ ॥

वह जाते समय दरवाजेपर बहुत देर तक विलम्ब करता रहा, बार-बार मुझे देखता था और सुखपूर्वक गमन करने योग्य उत्तम मार्गमें चलता हुआ भी पद-पदपर स्खलित होता जाता था ॥ १६६ ॥

स्मयते जुम्भते किञ्चित् स्मरत्याराद्विशोकते । उच्छ्वसित्युष्णं च दीर्घं च पटुरस्मिन् स्मरज्वरः ॥ १६७ ॥

वह हँसता था, जम्हाई लेता था, कुछ स्मरण करता था, दूर तक देखता था और उष्ण तथा लम्बी साँस छोड़ता था। इन सब बातोंसे जान पड़ता था कि उसमें कामज्वर बढ़ रहा है ॥ १६७ ॥

तमेनं बहुमन्येते पितरौ ते नरोत्तमम् । नृपेन्द्रौ भागिनेयत्वाद्वज्रबाहुं सुतं यथा ॥ १६८ ॥

वह वज्रजंघ राजा वज्रदन्तका भानजा है और लक्ष्मीमती देवीके भाईका पुत्र (भतीजा) है। इसलिए तेरे माता-पिता भी उसे बहुत आदरका पात्र समझते हैं ॥ १६८ ॥

लक्ष्मीवान् कुलजो दक्षः स्वरूपोऽभिमतः सताम् । इत्येवमादिर्गुणग्रामस्तस्मिन्नस्ति वरोचितः ॥ १६९ ॥

इसके सिवाय वह लक्ष्मीवान् है, सत्कुलमें उत्पन्न हुआ है, चतुर है, सुन्दर है और सज्जनोंको मान्य है। इस प्रकार उसमें वरके योग्य अनेक गुण विद्यमान हैं ॥ १६९ ॥

सपत्नी श्रीसरस्वत्योर्भूत्वा तं समुपोढधीः । विश्रम्भं विहर कल्याणि कल्याणशतभागिनी ॥ १७० ॥

हे कल्याणि, तू लक्ष्मी और सरस्वतीकी सपत्नी (सौत) होकर सैकड़ों सुखोंका अनुभव करती हुई चिरकाल तक उसके हृदयरूपी मन्दिरमें निवास कर ॥ १७० ॥

सामान्येनोपमा नास्ति लक्ष्म्या नैव सरस्वत्या । यतोऽपूर्वैव लक्ष्मीस्त्वमन्यैव च सरस्वती ॥ १७१ ॥

यदि सामान्य (गुणोंकी बराबरी) की अपेक्षा विचार किया जाये तो लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही तेरी बराबरी नहीं पा सकतीं, क्योंकि तू अनोखी लक्ष्मी है और अनोखी ही सरस्वती है ॥ १७१ ॥

> भिन्नकेसरपत्रेऽस्मिन् शश्वत्सङ्कोचिनि रजोजुषि । सा श्रीरक्षीरिवोद्भूता कुशेशयकुटीरके ॥ १७२ ॥

जिसके पत्ते फटे हुए हैं, जो सदा संकुचित (संकीर्ण) होता रहता है और जो परागरूपी धूलिसहित है ऐसे कमलरूपी झोपड़ीमें जिस लक्ष्मीका जन्म हुआ है उसे लक्ष्मी नहीं कह सकते वह तो अलक्ष्मी है—दरिद्रा है। भला, तुम्हें उसकी उपमा कैसे दी जा सकती है? ॥ १७२ ॥

> सरस्वती च सोच्छिष्टे चलज्जिह्वाग्रपल्लवे । लब्धजन्मा यतस्त्वं तु तवैवाभिजनः शुचिः ॥ १७३ ॥

इसी प्रकार उच्छिष्ट तथा चंचल जिह्वाके अग्रभागरूपी पल्लवपर जिसका जन्म हुआ है वह सरस्वती भी नीच कुलमें उत्पन्न होनेके कारण तेरी उपमाको प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि तेरा कुल अतिशय शुद्ध है—पवित्र कुलमें ही तू उत्पन्न हुई है ॥ १७३ ॥

> तवाङ्गि ललिताङ्गस्य विविक्ते तस्य मानसे । रमस्व राजहंसीव ललितान्यपि वत्सरान् ॥ १७४ ॥

हे ललिताङ्गि (लताके समान सुन्दर अंगोंको धारण करनेवाली), जिस प्रकार पवित्र मानसरोवरमें राजहंसी क्रीड़ा किया करती है उसी प्रकार तू भी ललितांग (वज्रजंघ) के पवित्र और विविक्त हृदयमें अनेक वर्षों तक क्रीड़ा कर ॥ १७४ ॥

> युवयोरुचितं योगं कृत्वा यातु कृतार्थताम् । विधाता जननिर्वादान्मुच्येत कथमन्यथा ॥ १७५ ॥

विधाता तुम दोनोंका योग्य समागम कर कृतकृत्यपनेको प्राप्त हो, क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करता अर्थात् तुम दोनोंका समागम नहीं करता तो लोकनिन्दासे कैसे छूटता? ॥ १७५ ॥

> समाश्वसिहि भद्रे त्वं क्षिप्रमेष्यति ते वरः । त्वद्वरागमने यत्तं पुरमुद्वेलकौतुकम् ॥ १७६ ॥

इसलिए हे भद्रे, धैर्य धर, तेरा पति शीघ्र ही आयेगा, देख, तेरे पतिके आगमनके लिए सारा नगर कैसा अतिशय कौतुकपूर्ण हो रहा है ॥ १७६ ॥

इत्यादितद्गतालापैः अन्यैस्तां सुखमानयत् । पण्डिता सा तु तत्प्राप्तौ नाद्याप्यासीन्निराकुला ॥ १७७ ॥

इस तरह पण्डिताने वज्रजंघसम्बन्धी अनेक मनोहर बातें कहकर श्रीमतीको सुखी किया, परन्तु वह उसकी प्राप्तिके विषयमें अबतक भी निराकुल नहीं हुई ॥ १७७ ॥

तावच्चक्रिणा बन्धुप्रीतिमातन्वता पराम् । गत्वाऽर्धपथमानीतो वज्रबाहुर्महीपतिः ॥ १७८ ॥

इधर पण्डिताने श्रीमतीसे जबतक सब समाचार कहे तबतक महाराज वज्रदन्त, विशाल भ्रातृप्रेमको विस्तृत करते हुए आधी दूर तक जाकर वज्रबाहु राजाको ले आये ॥ १७८ ॥

स्वसुः पतिं स्वसारं च स्वस्त्रीयं च विलोकयन् । प्रापच्चक्री परां प्रीतिं प्रेम्णे दृष्टा हि बन्धुता ॥ १७९ ॥

राजा वज्रदन्त अपने बहनोई, बहन और भानजेको देखकर परम प्रीतिको प्राप्त हुए। सो ठीक ही है क्योंकि इष्टजनोंका दर्शन प्रीतिके लिए ही होता है ॥ १७९ ॥

सुखसंकथया कांश्चित् स्थित्वा कालकलां पुनः । प्राघूर्णकोचितां चक्रे सत्क्रियां तां प्रलम्भिताः ॥ १८० ॥

तदनन्तर कुछ देर तक कुशल-मंगलकी बातें होती रहीं और फिर चक्रवर्तीकी ओरसे सब पाहुनोंका उचित सत्कार किया गया ॥ १८० ॥

चक्रवर्तिकृतां प्राप्य वज्रबाहुः स माननाम् । चक्रिणं बहु संमील्य सत्कारस्तस्य तां कृतः ॥ १८१ ॥

स्वयं चक्रवर्तीके द्वारा किये हुए सत्कारको पाकर राजा वज्रबाहु बहुत प्रसन्न हुआ। सच है, स्वामीके द्वारा किया हुआ सत्कार सेवकोंकी प्रीतिके लिए ही होता है ॥ १८१ ॥

यथासुखं च संतोषात् स्थितेष्वेवं सनाभिषु । ततश्चक्रधरो वाचमित्यवोचत् स्वसुः पतिम् ॥ १८२ ॥

इस प्रकार जब सब बन्धु सन्तोषपूर्वक सुखसे बैठे हुए थे तब चक्रवर्तीने अपने बहनोई राजा वज्रबाहुसे नीचे लिखे हुए वचन कहे ॥ १८२ ॥

> यत् किञ्चिद्रुचितं तुभ्यं वस्तुजालं ममालये । तद् गृहाण यदि प्रीतिर्मयि तेऽस्त्यनियन्त्रणा ॥ १८३ ॥

यदि आपकी मुझपर असाधारण प्रीति है तो मेरे घरमें जो कुछ वस्तु आपको अच्छी लगती हो वही ले लीजिए ॥ १८३ ॥

> अद्यावधि परां कोटिमधिरोहति मे मनः । त्वं सपुत्रः सदारश्च यन्ममाभ्यागतो गृहम् ॥ १८४ ॥

आज आप पुत्र और स्त्रीसहित मेरे घर पधारे हैं इसलिए मेरा मन प्रीतिकी अन्तिम अवधिको प्राप्त हो रहा है ॥ १८४ ॥

> त्वमिष्टबन्धुरायातो गृहं पुत्रैः सदारकः । संविभागोचितः कोऽन्यः प्रस्तावः स्यान्ममेदृशः ॥ १८५ ॥

आप मेरे इष्टबन्धु हैं और आज पुत्रसहित मेरे घर आये हुए हैं इसलिए देनेके योग्य इससे बढ़कर और ऐसा कौन-सा अवसर मुझे प्राप्त हो सकता है? ॥ १८५ ॥

> तददात्वहं वस्तु यन्न मेऽद्य प्रदीयते । प्रणयिप्रणयस्यास्य मा कृथा भङ्गमार्थिनाम् ॥ १८६ ॥

इसलिए इस अवसरपर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मैं आपके लिए न दे सकूँ। हे प्रणयिन्, मुझ प्रार्थीके इस प्रेमको भंग मत कीजिए ॥ १८६ ॥

> इत्युक्तस्तत्प्रियाण्याद्यैश्चक्रिणा प्रत्युवाच सः । त्वत्प्रसादान्ममास्त्यर्थः किं हि प्रार्थ्यमथ त्वयि ॥ १८७ ॥

इस प्रकार मधुर वचनोंसे चक्रवर्तीके वचन सुनकर राजा वज्रबाहुने इस प्रकार उत्तर दिया। हे चक्रिन्, आपके प्रसादसे मेरे यहाँ सब कुछ है, आज मैं आपसे किस वस्तुकी प्रार्थना करूँ? ॥ १८७ ॥

सान्त्वनेनाङ्कितः स्वेन प्रयुक्तेनेति सादरम् । प्रणयस्य परां भूमिमहमारापितस्त्वया ॥ १८८ ॥

आज आपने सम्मानपूर्वक जो मेरे साथ स्वयं सामका प्रयोग किया है—भेंट आदि करके स्नेह प्रकट किया है सो मानो आपने मुझे स्नेहकी सबसे ऊँची भूमिपर ही चढ़ा दिया है ॥ १८८ ॥

कियन्मात्रमिदं देव स्वापतेयं परिक्षयि । त्वयाप्याढ्यङ्करी दृष्टिसमेषाऽर्पिता मयि ॥ १८९ ॥

हे देव, नष्ट होनेवाला यह धन कितनी-सी वस्तु है! यह आपने सम्पन्न बनानेवाली अपनी दृष्टि मुझपर अर्पित कर दी है मेरे लिए यही बहुत है ॥ १८९ ॥

अहमद्य कृतार्थोऽस्मि धन्यो जीवितश्लाघ्यमद्य मे । यद् वीक्षितोऽस्मि देवेन स्नेहनिर्भरया दृशा ॥ १९० ॥

हे देव, आज आपने मुझे स्नेहसे भरी हुई दृष्टिसे देखा है इसलिए मैं आज कृतकृत्य हुआ हूँ, धन्य हुआ हूँ और मेरा जीवन भी आज श्लाघ्य हुआ है ॥ १९० ॥

परोपकृतये बिभ्रत्यर्थवत्त्वं भवद्विधाः । लोकप्रसिद्धसाधुत्वाः शब्दा इव कृतागमाः ॥ १९१ ॥

हे देव, जिस प्रकार लोकमें शास्त्रोंकी रचना करनेवाले तथा प्रसिद्ध धातुओंसे बने हुए जीव, अजीव आदि शब्द परोपकार करनेके लिए ही सार्थकता धारण करते हैं, उसी प्रकार आप-जैसे उत्तम पुरुष भी परोपकार करनेके लिए ही ऐश्वर्य (धन-धान्यादि विभूतियों) को धारण करते हैं ॥ १९१ ॥

तदेव वस्तु वस्तुत्वे सोपयोगं यदर्थिनाम् । अविभक्तधनायास्तु बन्धुताया विशेषतः ॥ १९२ ॥

हे देव, आपको उसी वस्तुसे सन्तोष होता है जो कि याचकोंके उपयोगमें आती है और इससे भी बढ़कर सन्तोष उस वस्तुसे होता है जो कि धन आदिके विभागसे रहित (सम्मिलित रूपसे रहनेवाले) बन्धुओंके उपयोगमें आती है ॥ १९२ ॥

> तदेतत् स्वैरसंभोग्यमास्तां सांन्यासिकं धनम् । न मे मानग्रहः कोऽपि त्वयि मानादरोऽपि वा ॥ १९३ ॥

इसलिए, आपके जिस धनको मैं अपनी इच्छानुसार भोग सकता हूँ ऐसा वह धन धरोहररूपसे आपके ही पास रहे, इस समय मुझे आवश्यकता नहीं है। हे देव, आपसे धन नहीं माँगनेमें मुझे कुछ अहंकार नहीं है और न आपके प्रति कुछ अनादर ही है ॥ १९३ ॥

> प्रार्थयेऽहं तथाप्येतद् युष्मदाज्ञां प्रपूजयन् । श्रीमती वज्रजङ्घाय देया कन्योत्तमा त्वया ॥ १९४ ॥

हे देव, यद्यपि मुझे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है तथापि आपकी आज्ञाको पूज्य मानता हुआ आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप अपनी श्रीमती नामकी उत्तम कन्या मेरे पुत्र वज्रजंघके लिए दे दीजिए ॥ १९४ ॥

> भागिनेयत्वमस्त्येकमाभिजात्यं च तत्कृतम् । योग्यतां तस्य पुष्णाति सत्कारोऽयं त्वया कृतः ॥ १९५ ॥

यह वज्रजंघ प्रथम तो आपका भानजा है, और दूसरे आपका भानजा होनेसे ही इसका उच्चकुल प्रसिद्ध है। तीसरे आज आपने जो इसका सत्कार किया है वह इसकी योग्यताको पुष्ट कर रहा है ॥ १९५ ॥

> अथवैतत् प्रलापेन सर्वथार्हति कन्यकाम् । रुदत्याश्च हसन्त्याश्च प्राघूर्णक इति श्रुतेः ॥ १९६ ॥

अथवा यह सब कहना व्यर्थ है। वज्रजंघ हर प्रकारसे आपकी कन्या ग्रहण करनेके योग्य है। क्योंकि लोकमें ऐसी कहावत प्रसिद्ध है कि कन्या चाहे हँसती हो या रोती हो, अतिथि उसका अधिकारी होता है ॥ १९६ ॥

> तत्प्रसीद विभो दातुं भागिनेयाय कन्यकाम् । सफला प्रार्थना मेऽस्तु कुमारः सोऽस्तु तेऽग्रणीः ॥ १९७ ॥

इसलिए हे स्वामिन्, अपने भानजे वज्रजंघको पुत्री देनेके लिए प्रसन्न होइए। मैं आशा करता हूँ कि मेरी प्रार्थना सफल हो और यह कुमार वज्रजंघ ही उसका पति हो ॥ १९७ ॥

वस्तुवाहनसर्वस्वं लब्धमत्रासकृन्मया । किं तेनालब्धपूर्वं नः कन्यरत्नं प्रदीयताम् ॥ १९८ ॥

हे देव, धन, सवारी आदि वस्तुएँ तो मुझे आपसे अनेक बार मिल चुकी हैं इसलिए उनसे क्या प्रयोजन है? अबकी बार तो कन्या-रत्न दीजिए जो कि पहले कभी नहीं मिला था ॥ १९८ ॥

इति विज्ञापितस्तेन चक्रभृत् प्रत्यपद्यत । तथास्तु संगमो यूनोरनुरूपोऽनयोरिति ॥ १९९ ॥

इस प्रकार राजा वज्रबाहुने जो प्रार्थना की थी उसे चक्रवर्तीने यह कहते हुए स्वीकार कर लिया कि आपने जैसा कहा है वैसा ही हो, युवावस्थाको प्राप्त हुए इन दोनोंका यह समागम अनुकूल ही है ॥ १९९ ॥

प्रकृत्या सुन्दराकारो वज्रजङ्घोऽस्त्वयं वरः । पतिंवरा गुणयुक्ता श्रीमती चास्तु सा वधूः ॥ २०० ॥

स्वभावसे ही सुन्दर शरीरको धारण करनेवाला यह वज्रजंघ वर हो और अनेक गुणोंसे युक्त कन्या श्रीमती उसकी वधू हो ॥ २०० ॥

जन्मान्तरानुबद्धं च प्रेमास्त्येवानयोरतः । समागमोऽस्तु चन्द्रस्य ज्योत्स्नायास्तु यथोचितः ॥ २०१ ॥

इन दोनोंका प्रेम जन्मान्तरसे चला आ रहा है इसलिए इस भवमें भी चन्द्रमा और चाँदनीके समान इन दोनोंका योग्य समागम हो ॥ २०१ ॥

इदं चिन्तितपूर्वं मे कार्यमेतदतिमानुषम् । विधिस्तु प्राकृतस्यास्य सावधानोऽत्र के वयम् ॥ २०२ ॥

इस लोकोत्तर कार्यका मैंने पहलेसे ही विचार कर लिया था। अथवा इन दोनोंका दैव (कर्मोंका उदय) इस विषयमें पहलेसे ही सावधान हो रहा है। इस विषयमें हम लोग कौन हो सकते हैं? ॥ २०२ ॥

इति चक्रधरेणोक्तां वार्त्तां संपूज्य पुण्यधीः । वज्रबाहुः परां कोटिं प्रीतेरध्यारुहत् सः ॥ २०३ ॥

इस प्रकार चक्रवर्तीके द्वारा कहे हुए वचनोंका सत्कार कर वह पवित्र बुद्धिका धारक राजा वज्रबाहु प्रीतिकी परम सीमापर आरूढ़ हुआ—अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥ २०३ ॥

> वसुन्धरा महादेवी पुत्रकल्याणसंपदा । तदा प्रमदविस्तारे न समायेव तत्त नौ ॥ २०४ ॥

उस समय वज्रजंघकी माता वसुन्धरा महादेवी अपने पुत्रकी विवाहरूप सम्पदासे इतनी अधिक हर्षित हुई कि अपने अंगमें भी नहीं समा रही थी ॥ २०४ ॥

> सा तदा सुतकल्याणमहोत्सवसमुद्गतम् । रोमाञ्चमञ्चितं भेजे प्रमदाङ्कुरसन्निभम् ॥ २०५ ॥

उस समय वसुन्धराके शरीरपर पुत्रके विवाहरूप महोत्सवसे रोमांच उठ आये थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो हर्षके अंकुर ही हों ॥ २०५ ॥

> मन्त्रिमुख्यमहामात्यसेनापतिपुरोहिताः । सामन्ताश्च सपौरास्तत्कल्याणं बहु मेनिरे ॥ २०६ ॥

मंत्री, महामंत्री, सेनापति, पुरोहित, सामन्त तथा नगरवासी आदि सभी लोगोंने उस विवाहकी प्रशंसा की ॥ २०६ ॥

> कुमारो वज्रजङ्घोऽयं मनोज्ञसदृशाकृतिः । श्रीमतीयं रते रूपसंपदा निर्जिगीषति ॥ २०७ ॥

यह कुमार वज्रजंघ कामदेवके समान सुन्दर आकृतिका धारक है और यह श्रीमती अपनी सौन्दर्य-सम्पत्तिसे रतिका जीतना चाहती है ॥ २०७ ॥

> अभिरूपः कुमारोऽयं सुरूपा कन्यकानयोः । अनुरूपोऽस्तु संबन्धः सुरदम्पतिलीलयोः ॥ २०८ ॥

यह कुमार सुन्दर है और यह कन्या भी सुन्दरी है इसलिए देव-देवांगनाओंकी लीलाको धारण करनेवाले इन दोनोंका योग्य समागम होना चाहिए ॥ २०८ ॥

> इति प्रमदविस्तारमुद्वहत् तत्पुरं तदा । राजवेश्म च तद् भूयः श्रियमन्यामिवाश्रितम् ॥ २०९ ॥

इस प्रकार आनन्दके विस्तारको धारण करता हुआ वह नगर बहुत ही शोभायमान हो रहा था और राजमहलका तो कहना ही क्या था? वह तो मानो दूसरी ही शोभाको प्राप्त हो रहा था, उसकी शोभा ही बदल गयी थी ॥ २०९ ॥

विवाहमण्डपारम्भं चक्रवर्तिनिदेशतः । महास्थपतिरातेने पराध्यमणिकाञ्चनैः ॥ २१० ॥

चक्रवर्तीकी आज्ञासे विश्वकर्मा नामक मनुष्यरत्नने महामूल्य रत्नों और सुवर्णसे विवाहमण्डप तैयार किया था ॥ २१० ॥

चामीकरमयाः स्तम्भाः तलकुम्भैर्महोदयैः । रत्नसंज्वलितैस्तेनुर्नृपा इव नृपासनेः ॥ २११ ॥

उस विवाहमण्डपमें सुवर्णके खम्भे लगे हुए थे और उनके नीचे रत्नोंसे शोभायमान बड़े-बड़े तलकुम्भ बने हुए थे, उन तलकुम्भोंसे वे सुवर्णके खम्भे ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि सिंहासनोंसे राजा सुशोभित होते हैं ॥ २११ ॥

स्फाटिक्यो भित्तयस्तस्मिन् जनानां प्रतिबिम्बकैः । चित्रिता इव लक्ष्यन्ते प्रेक्षिणां चित्तहारिणः ॥ २१२ ॥

उस मण्डपमें स्फटिककी दीवालोंपर अनेक मनुष्योंके प्रतिबिम्ब पड़ते थे जिनसे वे चित्रित हुई-सी जान पड़ती थीं और इसीलिए दर्शकोंका मन अनुरञ्जित कर रही थीं ॥ २१२ ॥

मणिकुट्टिमभूरस्मिन् नीलरत्नैर्विनिर्मिता । पुष्पोपहारिण्यरुचद् द्यौरिवातततारका ॥ २१३ ॥

उस मण्डपकी भूमि नीलमणिसे बनी हुई थी, इसपर जहाँ-तहाँ फूल बिखेरे गये थे। उन फूलोंसे वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो ताराओंसे व्याप्त नीला आकाश ही हो ॥ २१३ ॥

मुक्तादामानि रम्याणि लम्बितानि व्यरोचिषन् । सफेनानि मृणालानि लम्बितानीव कौतुकात् ॥ २१४ ॥

उस मण्डपके मध्यमें जो मोतियोंकी मालाएँ लटकती थीं वे ऐसी भली मालूम होती थीं मानों किसीने कौतुकवश फेनसहित मृणाल ही लटका दिये हों ॥ २१४ ॥

पद्मरागमयस्तस्मिन् वेदिबन्धोऽभवत् ततः । जनानामिव चित्तस्थो रागस्तन्मयतां गतः ॥ २१५ ॥

उस मण्डपके मध्यमें पद्मरागमणियोंकी एक बड़ी बेदी बनी थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो मनुष्योंके हृदयका अनुराग ही वेदीके आकारमें परिणत हो गया हो ॥ २१५ ॥

> सुधोज्ज्वलानि कूटानि पर्यन्तेष्वस्य रेजिरे । तोषात् सुरविमानानि हसन्तीवात्मशोभया ॥ २१६ ॥

उस मण्डपके प्रान्त भागमें चूनासे पुते हुए सफेद शिखर ऐसे शोभायमान होते थे मानो अपनी शोभासे सन्तुष्ट होकर देवोंके विमानोंकी हँसी ही उड़ा रहे हों ॥ २१६ ॥

> वेदिका कटिसूत्रेण पर्यन्ते सा परिष्कृता । रामणीयकसीम्नेव रुद्धदिक्केन विश्वतः ॥ २१७ ॥

उस मण्डपके सब ओर एक छोटी-सी वेदिका बनी हुई थी, वह वेदिका उसके कटिसूत्रके समान जान पड़ती थी। उस वेदिकारूप कटिसूत्रसे घिरा हुआ मण्डप ऐसा मालूम होता था मानो सब ओरसे दिशाओंको रोकनेवाली सुन्दरताकी सीमासे ही घिरा हो ॥ २१७ ॥

> रत्नैर्विरचितं तस्य बभौ गोपुरमुच्चकैः । प्रोत्सर्पद्रत्नमालाजल रचिताखण्डलायुधम् ॥ २१८ ॥

अनेक प्रकारके रत्नोंसे बहुत ऊँचा बना हुआ उसका गोपुर-द्वार ऐसा मालूम होता था मानो रत्नोंकी फैलती हुई कान्तिके समूहसे इन्द्रधनुष ही बना रहा हो ॥ २१८ ॥

> सर्व रत्नमयस्तस्य द्वारप्रान्ते निवेशितः । लक्ष्म्याः प्रवेशनायेव पर्यन्तोत्क्षिप्तमङ्गलः ॥ २१९ ॥

उस मण्डपका भीतरी दरवाजा सब प्रकारके रत्नोंसे बनाया गया था और उसके दोनों ओर मङ्गल-द्रव्य रखे गये थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मीके प्रवेशके लिए ही बनाया गया हो ॥ २१९ ॥

> स तदाष्टाह्निकों पूजां चक्रे चक्रधरः पराम् । कल्पवृक्षमहारम्भे महापूतजिनालये ॥ २२० ॥

उसी समय वज्रदन्त चक्रवर्तीने महापूत चैत्यालयमें आठ दिन तक अष्टान्हिक नामक महापूजा की थी ॥ २२० ॥

ततः शुभदिने लभ्ये लग्ने शुभमुहूर्त्तके । चन्द्रताराबलोपेते ज्योतिर्विद्भिर्निरूपिते ॥ २२१ ॥

तदनन्तर ज्योतिषियोंके द्वारा बताया हुआ शुभ दिन, शुभ लग्न और चन्द्रमा तथा ताराओंके बलसे सहित शुभ मुहूर्त आया ॥ २२१ ॥

सज्जालंकारनगरे समन्ताद् बद्धतोरणे । सुरलोक इवाभाति युक्ते रुचिरसंपदाम् ॥ २२२ ॥

उस दिन नगर विशेष रूपसे सजाया गया। चारों ओर तोरण लगाये गये तथा और भी अनेक विभूति प्रकट की गयी जिससे वह स्वर्गलोकके समान शोभायमान होने लगा ॥ २२२ ॥

राजवेश्माङ्गणे सान्द्रचन्दनच्छटयोक्षिते । पुष्पोपहारिरागोज्झद्भमैः कृतरोचिषि ॥ २२३ ॥

राजभवनके आँगनमें सब ओर सघन चन्दन छिड़का गया तथा गुंजार करते हुए भ्रमरोंसे सुगन्धित पुष्प सब ओर बिखेरे गये। इन सब कारणोंसे वह राजभवनका आँगन बहुत ही शोभायमान हो रहा था ॥ २२३ ॥

सौवर्णैः कलशैः पूर्णैः पुण्यतोयैः ससौरभैः । अभ्यषिञ्चन् विधानज्ञा विधिवत् तद्वधूवरम् ॥ २२४ ॥

उस आँगनमें वधू-वर बैठाये गये तथा विधि-विधानके जाननेवाले लोगोंने पवित्र जलसे भरे हुए सुगन्धित सुवर्णमय कलशोंसे उनका अभिषेक किया ॥ २२४ ॥

तदा महानकध्वानः शङ्खकोलाहलाकुलः । घनाडम्बरमाक्रम्य जजुम्भे नृपमन्दिरे ॥ २२८ ॥

उस समय राजमन्दिरमें शंखके शब्दसे मिला हुआ बड़े-बड़े दुन्दुभियोंका भारी कोलाहल हो रहा था और वह आकाशको भी उल्लंघन कर सब ओर फैल गया था ॥ २२८ ॥

कल्याणाभिषेके तस्मिन् श्रीमतीवज्रजङ्घयोः । स नासीद् वैशिकस्तोषनिर्भरं न ननर्त यः ॥ २२६ ॥

श्रीमती और वज्रजंघके उस विवाहाभिषेकके समय अन्तःपुरका ऐसा कोई मनुष्य नहीं था जो हर्षसे सन्तुष्ट होकर नृत्य न कर रहा हो ॥ २२६ ॥

वाराङ्गनाश्च कुलवध्वो विदुषां मण्डली तदा । पुण्यैः पुष्पाक्षतैः शेषां साशिषं तावलम्भयन् ॥ २२७ ॥

उस समय वारांगनाएँ, कुलवधुएँ और समस्त विद्वज्जन उन दोनों वर-वधुओंको आशीर्वादके साथ-साथ पवित्र पुष्प और अक्षतोंके द्वारा प्रसाद प्राप्त करा रहे थे ॥ २२७ ॥

श्लक्ष्णपट्टदुकूलानि निष्प्रवाणीनि तौ तदा । क्षीरोदोर्मिमयानीव पर्यधत्तामनन्तरम् ॥ २२८ ॥

अभिषेकके बाद उन दोनों वर-वधूने क्षीरसागरकी तरंगोंके समान अत्यन्त उज्ज्वल, महीन और नवीन रेशमी वस्त्र धारण किये ॥ २२८ ॥

प्रसाधनगृहे रम्ये प्राङ्मुखौ सुनिवेशितौ । तावलंकारसर्वस्वं भेजतुर्मङ्गलोचितम् ॥ २२९ ॥

तत्पश्चात् दोनों वर-वधू अतिशय मनोहर प्रसाधन-गृहमें जाकर पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बैठ गये और वहाँ उन्होंने विवाह-मंगलके योग्य उत्तम-उत्तम आभूषण धारण किये ॥ २२९ ॥

चन्दनेनानुलिप्तौ तौ रचयाञ्चक्रतुर्ललाटिकाम् । चन्दनद्रवविन्यस्तां ललाटे कौतुकोचिताम् ॥ २३० ॥

पहले उन्होंने अपने सारे शरीरमें चन्दनका लेप किया। फिर ललाटपर विवाहोत्सवके योग्य, पिसे हुए चन्दनका तिलक लगाया ॥ २३० ॥

उरस्तारेण हारयष्टिं तौ हरिचन्दनशोभिना । अधत्तां मौक्तिकैः स्थूलैर्वृत्ततारावलिश्रियम् ॥ २३१ ॥

तदनन्तर सफेद चन्दनसे चर्चित अपने विशाल वक्षःस्थलपर गोल नक्षत्र-मालाके समान सुशोभित बड़े-बड़े मोतियोंके बने हुए हार धारण किये ॥ २३१ ॥

स्रजं बबन्धतुर्मूर्ध्नि कचानां कुञ्चितश्रियाम् । सोतापगेव नीलाद्रिशिखरोपान्तवर्तिनी ॥ २३२ ॥

कुटिल केशोंसे सुशोभित उनके मस्तकपर धारण की हुई पुष्पमाला नीलगिरिके शिखरके समीप बहती हुई सीता नदीके समान शोभायमान हो रही थी ॥ २३२ ॥

> कर्णिकामरणस्यास्रौ कर्णयोर्निविविक्षताम् । यद्रत्नाभांशुभिर्भेजे तद्वक्त्राब्जं परां श्रियम् ॥ २३३ ॥

उन दोनोंने कानोंमें ऐसे कर्णभूषण धारण किये थे कि जिनमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे उनका मुख-कमल उत्कृष्ट शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥ २३३ ॥

> आजानुलम्बमानेन तौ प्रालम्बेन रेजिरे । शरज्ज्योत्स्नामयेनेव मृणालच्छविहारिणा ॥ २३४ ॥

वे दोनों शरद् ऋतुकी चाँदनी अथवा श्वेत तन्तुके समान सुशोभित सफेद, घुटनों तक लटकती हुई पुष्पमालाओंसे अतिशय शोभायमान हो रहे थे ॥ २३४ ॥

> कटकाङ्गदकेयूरमुद्रिकादिविभूषणैः । बाहू व्यरुचतां कल्पतरुशाखाच्छवी तयोः ॥ २३५ ॥

कड़े, बाजूबंद, केयूर और अंगूठी आदि आभूषण धारण करनेसे उन दोनोंकी भुजाएँ भूषणांग जातिके कल्पवृक्षकी शाखाओंकी तरह अतिशय सुशोभित हो रही थीं ॥ २३५ ॥

> काञ्चीदाम रसनावेष्टं क्षुद्रघण्टारवाकुलम् । तावनङ्गद्विपस्येव जयडिण्डिममूहतुः ॥ २३६ ॥

उन दोनोंने अपने-अपने नितम्ब भागपर करधनी पहनी थी। उसमें लगी हुई छोटी-छोटी घण्टियाँ (बोरियाँ) मधुर शब्द कर रही थीं। उन करधनियोंसे वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो उन्होंने कामदेवरूपी हस्तीके विजय-सूचक नगाड़े ही धारण किये हों ॥ २३६ ॥

> मणिनूपुरझङ्कारैः क्रमी शिक्षियतुः श्रियम् । श्रीमत्याः पद्मयोर्भृङ्गकलनिःक्वणशोभिनोः ॥ २३७ ॥

श्रीमतीके दोनों चरण मणिमय नूपुरोंकी झंकारसे ऐसे मालूम होते थे मानो भ्रमरोंके मधुर शब्दोंसे शोभायमान कमल ही हों ॥ २३७ ॥

महाऽलङ्कृतिसाचारपूर्तिमात्रे रतं ततः । अत्यर्था सुन्दराकारशोभैवालङ्कृतिस्तयोः ॥ २३८ ॥

विवाहके समय आभूषण धारण करना चाहिए, केवल इसी पद्धतिको पूर्ण करनेके लिए उन्होंने बड़े-बड़े आभूषण धारण किये थे नहीं तो उनके सुन्दर शरीरकी शोभा ही उनका आभूषण थी ॥ २३८ ॥

लक्ष्मीमतिः स्वयं लक्ष्मीरिव पुत्रीमभूषयत् । पुत्रं च भूषयामास साक्षाद् वसुन्धरा ॥ २३९ ॥

साक्षात् लक्ष्मीके समान लक्ष्मीमतिने स्वयं अपनी पुत्री श्रीमतीको अलंकृत किया था और साक्षात् वसुन्धरा (पृथिवी) के समान वसुन्धराने अपने पुत्र वज्रजंघको आभूषण पहनाये थे ॥ २३९ ॥

प्रसाधनविधेरन्ते तावेवं तौ निवेशितौ । रत्नवेद्यां तटे पूर्वं कृतमङ्गलसत्क्रियौ ॥ २४० ॥

इस प्रकार अलंकार धारण करनेके बाद वे दोनों जिसकी मंगलक्रिया पहले ही की जा चुकी है ऐसी रत्न-वेदीपर यथायोग्य रीतिसे बैठाये गये ॥ २४० ॥

मणिप्रदीपरुचिरा मङ्गलैरुपशोभिता । सा वेदी तदाक्रान्ता सामरेवाद्रिराट् तटी ॥ २४१ ॥

मणिमय दीपकोंके प्रकाशसे जगमगाती हुई और मङ्गलद्रव्योंसे सुशोभित वह वेदी उन दोनोंके बैठ जानेसे ऐसी शोभायमान होने लगी थी मानो देव-देवियोंसे सहित मेरु पर्वतका तट ही हो ॥ २४१ ॥

ततो मधुरगम्भीरमानकाः कोणताडिताः । दध्वनुर्ध्वनदम्भोधिगभीरध्वनयस्तदा ॥ २४२ ॥

उस समय समुद्रके समान गम्भीर शब्द करते हुए, डंडोंसे बजाये गये नगाड़े बड़ा ही मधुर शब्द कर रहे थे ॥ २४२ ॥

मङ्गलोद्गानमातेनुर्वारबध्वः कलं तदा । उत्साहान् पेदुरमितो बन्दिनः सह मागधैः ॥ २४३ ॥

वारांगनाएँ मधुर मंगल गीत गा रही थीं और बन्दीजन मागध जनोंके साथ मिलकर चारों ओर उत्साहवर्धक मङ्गल पाठ पढ़ रहे थे ॥ २४३ ॥

> वर्धमानलयव्यक्तानृत्तमारेभिरे तदा । वाराङ्गनाभिर्द्रुतमभीरभन्नूपुरमेखलम् ॥ २४४ ॥

जिनकी भौहें कुछ-कुछ ऊपरको उठी हुई हैं ऐसी वारांगनाएँ लय-तान आदिसे सुशोभित तथा रुन-झुन शब्द करते हुए नूपुर और मेखलाओंसे मनोहर नृत्य कर रही थीं ॥ २४४ ॥

> ततो वधूवरौ सिद्धस्नानाम्भःपूतमस्तकौ । निवेशितौ महाभासौ सत्कामोकरपट्टके ॥ २४५ ॥

तदनन्तर जिनके मस्तक सिद्ध प्रतिमाके जलसे पवित्र किये गये हैं ऐसे वधू-वर अतिशय शोभायमान सुवर्णके पाटेपर बैठ गये ॥ २४५ ॥

> स्वयं स भृङ्गारकरं धृतं चक्रवर्ती महाकरः । हिरण्मयं महारत्नखचितं मुक्ताफलोज्ज्वलम् ॥ २४६ ॥

घुटनों तक लम्बी भुजाओंके धारक चक्रवर्तीने स्वयं अपने हाथमें भृङ्गार धारण किया। वह भृङ्गार सुवर्णका बना हुआ था, बड़े-बड़े रत्नोंसे खचित था तथा मोतियोंसे अतिशय उज्ज्वल था ॥ २४६ ॥

> अशोकपल्लवैर्वक्त्रनिहितैः स तथा बभौ । करपल्लवसच्छायामनुकुर्वन्निवानयोः ॥ २४७ ॥

मुखपर रखे हुए अशोक वृक्षके पल्लवोंसे वह भृङ्गार ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो इन दोनों वर-वधुओंके हस्तपल्लवकी उत्तम कान्तिका अनुकरण ही कर रहा हो ॥ २४७ ॥

> ततो न्यपाति करकाद् धारा तत्करपल्लवे । दूरमावर्जिता दीर्घं भवन्तौ जीवतामिति ॥ २४८ ॥

तदनन्तर आप दोनों दीर्घकाल तक जीवित रहें, मानो यह सूचित करनेके लिए ही ऊँचे भृङ्गारसे छोड़ी गयी जलधारा उन दोनोंके हस्तपर पड़ी ॥ २४८ ॥

> ततः पाणौ महाबाहुर्वज्रजङ्घोऽग्रहीन्मुदा । श्रीमतीं तन्मृदुस्पर्शसुखामीलितलोचनः ॥ २४९ ॥

तत्पश्चात् बड़ी-बड़ी भुजाओंको धारण करनेवाले वज्रजंघने हर्षके साथ श्रीमतीका पाणिग्रहण किया। उस समय उसके कोमल करस्पर्शके सुखसे वज्रजंघके दोनों नेत्र बन्द हो गये थे ॥ २४९ ॥

> श्रीमती तत्करस्पर्शाद् घर्मबिन्दूनधारयत् । चन्द्रकान्तशिलापुत्री चन्द्रांशुस्पर्शनादिव ॥ २५० ॥

वज्रजंघके हाथके स्पर्शसे श्रीमतीके शरीरपर भी पसीना आ गया था जैसे कि चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे चन्द्रकान्त मणिकी बनी हुई पुतलीमें जलबिन्दु उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २५० ॥

> वज्रजङ्घकरस्पर्शात् तनुतोऽस्याश्चिरं गतः । संतापः क्वापि याति स्म भूमेरिव घनागमे ॥ २५१ ॥

जिस प्रकार वर्षाऋतुके आनेपर पृथिवीका संताप नष्ट हो जाता है उसी प्रकार वज्रजंघके हाथके स्पर्शसे श्रीमतीके शरीरका चिरकालीन सन्ताप भी नष्ट हो गया था ॥ २५१ ॥

> वज्रजङ्घसमासङ्गात् श्रीमती व्यद्युतत्तराम् । कल्पवल्लीव संश्लिष्टतुङ्गकल्पमहोरुहा ॥ २५२ ॥

उस समय वज्रजंघके समागमसे श्रीमती किसी बड़े कल्पवृक्षसे लिपटी हुई कल्प-लताकी तरह सुशोभित हो रही थी ॥ २५२ ॥

> सोऽपि पर्यन्तवर्तिन्या तया लक्ष्मीं परां दधात् । स्मरः परया प्रीत्या रतौ कुसुमायुधः ॥ २५३ ॥

वह श्रीमती स्त्री-संसारमें सबसे श्रेष्ठ थी, समीपमें बैठी हुई उस श्रीमतीसे वह वज्रजंघ भी ऐसा सुशोभित होता था जैसे रतिसे कामदेव सुशोभित होता है ॥ २५३ ॥

> गुरुसाक्षिकमित्थं तद् विवाहः परमोदयः । निरवर्तत लोकानां परमानन्दसाधनः ॥ २५४ ॥

इस प्रकार लोगोंको परमानन्द देनेवाला उन दोनोंका विवाह गुरुजनोंकी साक्षीपूर्वक बड़े वैभवके साथ समाप्त हुआ ॥ २५४ ॥

> ततः पाणिगृहीतां तां ते जना बहु मेनिरे । श्रीमती सत्यमेवेयं श्रीमतीत्युद्गिरंस्तदा ॥ २५५ ॥

उस समय सब लोग उस विवाहिता श्रीमतीका बड़ा आदर करते थे और कहते थे कि यह श्रीमती सचमुचमें श्रीमती है अर्थात् लक्ष्मीमती है ॥ २५५ ॥

तौ दम्पती सदाकारौ सुरदम्पतिविभ्रमौ । जनानां पश्यतां चित्तं चिरायामृततायितौ ॥ २५६ ॥

उत्तम आकृतिके धारक, देव-देवांगनाओंके समान विलासको धारण करनेवाले तथा अमृतके समान आनन्द देनेवाले उन वधू और वरको जो भी देखता था उसीका चित्त आनन्दसे सन्तुष्ट हो जाता था ॥ २५६ ॥

तत्कल्याणं समालोक्य देवलोकेऽपि दुर्लभम् । प्रशंसामुमुदं प्राप्तास्तदा तत्रत्यका जनाः ॥ २५७ ॥

जो स्वर्गलोकमें दुर्लभ है ऐसे उस विवाहोत्सवको देखकर देखनेवाले पुरुष परम आनन्दको प्राप्त हुए थे और सभी लोग उसकी प्रशंसा करते थे ॥ २५७ ॥

चक्रवर्ती महाभागः स्त्रीरत्नमिदमुर्जितम् । योग्याय नियोजयामास जनश्लाघास्पदे पदे ॥ २५८ ॥

वे कहते थे कि चक्रवर्ती बड़े भाग्यशाली हैं जिनके यहाँ ऐसा उत्तम स्त्रीरत्न उत्पन्न हुआ है और वह उन्होंने सब लोगोंकी प्रशंसाके स्थानभूत वज्रजंघके योग्य स्थानमें नियुक्त किया है ॥ २५८ ॥

जननी पुण्यवत्यस्या मूर्ध्नि सुप्रजसामसौ । सत्प्रसूनिरियं ख्याता यथा पद्मावती तथा ॥ २५९ ॥

इसकी यह पुण्यवती माता पुत्रवतियोंमें सबसे श्रेष्ठ है जिसने लक्ष्मीके समान कान्तिवाली यह उत्तम सन्तान उत्पन्न की है ॥ २५९ ॥

कुमारेण तपस्तप्तं किमेतेनाम्यजन्मनि । येनैतद् जगत्सारं स्त्रीरत्नममितद्युति ॥ २६० ॥

इस वज्रजंघकुमारने पूर्व जन्ममें कौन-सा तप तपा था जिससे कि संसारका सारभूत और अतिशय कान्तिका धारक यह स्त्रीरत्न इसे प्राप्त हुआ है ॥ २६० ॥

धन्येयं कन्यका श्लाघ्या नान्या पुण्यवतीदृशी । कल्याणभागिना सैषा कुमारं पत्यूचे ॥ २६१ ॥

चूँकि इस श्रीमतीने वज्रजंघको पति बनाया है इसलिए यह कन्या धन्य है, मान्य है और भाग्यशालिनी है। इसके समान और दूसरी कन्या पुण्यवती नहीं हो सकती ॥ २६१ ॥

उपवासः कृतः किमेताभ्यां किं वा तप्तं तपो महत् । किं नु दत्तं किमिष्टं वा किं वाऽऽचरितं व्रतम् ॥ २६२ ॥

पूर्व जन्ममें इन दोनोंने न जाने कौन-सा उपवास किया था, कौन-सा भारी तप तपा था, कौन-सा दान दिया था, कौन-सी पूजा की थी अथवा कौन-सा व्रत पालन किया था ॥ २६२ ॥

अहो धर्मस्य माहात्म्यमहो सत्पात्रसंगमः । महती दत्तिर्महोदर्का दयावल्ली फलत्यहो ॥ २६३ ॥

अहो, धर्मका बड़ा माहात्म्य है, तपश्चरणसे उत्तम सामग्री प्राप्त होती है, दान देनेसे बड़े-बड़े फल प्राप्त होते हैं और दयारूपी बेलपर उत्तम-उत्तम फल फलते हैं ॥ २६३ ॥

नूनमाभ्यां कृता पूजा महतामर्हतां पराम् । पूज्यपूजानुसंधत्ते ननु संपत्परम्पराम् ॥ २६४ ॥

अवश्य ही इन दोनोंने पूर्वजन्ममें महापूज्य अरहन्त देवकी उत्कृष्ट पूजा की होगी क्योंकि पूज्य पुरुषोंकी पूजा अवश्य ही सम्पदाओंकी परम्परा प्राप्त कराती रहती है ॥ २६४ ॥

अतः कल्याणभागित्वं धनर्द्धिविपुलं सुखम् । वाञ्छद्भिर्हतां मार्गे मतिः कार्या हितायिषु ॥ २६५ ॥

इसलिए जो पुरुष अनेक कल्याण, धन-ऋद्धि तथा विपुल सुख चाहते हैं उन्हें स्वर्ग आदि महाफल देनेवाले श्री अरहन्त देवके कहे हुए मार्गमें ही अपनी बुद्धि लगानी चाहिए ॥ २६५ ॥

इत्यादिजनसंल्पैः प्रशस्यौ दम्पती तदा । सुखासीनौ समालम्बे बन्धुभिः परिवारितौ ॥ २६६ ॥

इस प्रकार दर्शक लोगोंके वार्तालापसे प्रशंसनीय वे दोनों वर-वधू अपने बान्धवोंसे परिवारित हो सभा-मण्डपमें सुखसे बैठे थे ॥ २६६ ॥

निर्वित्तैः समुत्सृष्टं कार्पण्यं कृपणैर्जहे । तस्मिन् महोत्सवे ॥ २६७ ॥

उस विवाहोत्सवमें दरिद्र लोगोंने अपनी दरद्रता छोड़ दी थी, कृपण लोगोंने अपनी कृपणता छोड़ दी थी और अनाथ लोग सनाथताको प्राप्त हो गये थे ॥ २६७ ॥

> बन्धवो भृत्यवर्गाश्च दानमानाभिजल्पनैः । अनुजीविजनास्तर्पिता भर्त्रा चक्रिणाऽस्मिन् महोत्सवे ॥ २६८ ॥

चक्रवर्तीने इस महोत्सवरूपी दान, मान, सम्भाषण आदिके द्वारा अपने समस्त बन्धुओंका सम्मान किया था तथा दासी दास आदि भृत्योंको भी सन्तुष्ट किया था ॥ २६८ ॥

> गृहे गृहे महांस्तोषः केतुबन्धो गृहे गृहे । गृहे गृहे वराख्यानं वधूशंसा गृहे गृहे ॥ २६९ ॥

उस समय घर-घर बड़ा सन्तोष हुआ था, घर-घर पताकाएँ फहरायी गयी थीं, घर-घर वरके विषयमें बात हो रही थी और घर-घर वधूकी प्रशंसा हो रही थी ॥ २६९ ॥

> दिने दिने महांस्तोषो धर्मभक्तिर्दिने दिने । दिने दिने महेन्द्रोऽपि यत् पूज्यते स्म वधूवरम् ॥ २७० ॥

उस समय प्रत्येक दिन बड़ा सन्तोष होता था, प्रत्येक दिन धर्ममें भक्ति होती थी और प्रत्येक दिन इन्द्र-जैसी विभूतिसे वधू-वरका सत्कार किया जाता था ॥ २७० ॥

> अथापरेद्युरुत्साहमग्र्यं द्योतयितुमुद्यमी । प्रदोषे दीपिकोद्द्योतैमर्हापूतं ययौ वरः ॥ २७१ ॥

तत्पश्चात् दूसरे दिन अपना धार्मिक उत्साह प्रकट करनेके लिए उद्यत हुआ वर सायंकालके समय अनेक दीपकोंका प्रकाश कर महापूत चैत्यालयको गया ॥ २७१ ॥

> प्रयान्तमनुयाति स्म श्रीमती तं महाद्युतिम् । भास्वन्तमिव रुद्धान्धतमसं भासुरा प्रभा ॥ २७२ ॥

अतिशय कान्तिका धारक वर आगे-आगे जा रहा था और श्रीमती उसके पीछे-पीछे जा रही थी, जैसे कि अन्धकारको नष्ट करनेवाले सूर्यके पीछे उसकी देदीप्यमान प्रभा जाती है ॥ २७२ ॥

पूजाविभूतिं महतीं गृहीत्वा स जिनालयम् । प्रापदुत्तुङ्गकूटाग्रं स सुमेरुमिवोच्छ्रितम् ॥ २७३ ॥

वह वर पूजाकी बड़ी भारी सामग्री साथ लेकर जिनमन्दिर पहुँचा। वह मन्दिर मेरु पर्वतके समान ऊँचा था, क्योंकि उसके शिखर भी अत्यन्त उन्नत थे ॥ २७३ ॥

ततः प्रदक्षिणीकुर्वन् सजानिर्विव्यथे पुरः । रविर्यथा महादीप्त्या परिष्कृतः ॥ २७४ ॥

श्रीमतीके साथ-साथ चैत्यालयकी प्रदक्षिणा देता हुआ वर ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसा कि महाकान्तिसे युक्त सूर्य मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देता हुआ शोभायमान होता है ॥ २७४ ॥

ईर्यापथविशुद्ध्याऽन्तः प्रविश्य जिनमन्दिरम् । तत्रापश्यदृषीन् दीप्ततपसः कृतवन्दनः ॥ २७५ ॥

इसके बाद उसने ईर्यापथशुद्धि की अर्थात् मार्ग चलते समय होनेवाली शारीरिक अशुद्धताको दूर किया तथा प्रमादवश होनेवाली जीवहिंसाको दूर करनेके लिए प्रायश्चित्त आदि किया। अनन्तर, अनेक विभूतियोंको धारण करनेवाले जिनमन्दिरके भीतर प्रवेश कर वहाँ महातपस्वी मुनियोंके दर्शन किये और उनकी वन्दना की ॥ २७५ ॥

ततो गन्धकुटीमध्ये जिनेन्द्रार्चां हिरण्मयीम् । पूजयामास गन्धाद्यैरभिषेकपुरस्सरम् ॥ २७६ ॥

फिर गन्धकुटीके मध्यमें विराजमान जिनेन्द्रदेवकी सुवर्णमयी प्रतिमाकी अभिषेकपूर्वक चन्दन आदि द्रव्योंसे पूजा की ॥ २७६ ॥

कृतार्चनस्ततः सम्यक् प्राञ्जलिर्महामतिः । अर्थ्याभिः स्तुतिभिः साक्षात्कृत्य स्तुत्यं जिनेश्वरम् ॥ २७७ ॥

पूजा करनेके बाद उस महाबुद्धिमान् वज्रजंघने स्तुति करनेके योग्य जिनेन्द्रदेवको साक्षात् कर (प्रतिमाको साक्षात् जिनेन्द्रदेव मानकर) उत्तम अर्थोंसे भरे हुए स्तोत्रोंसे उनकी स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥ २७७ ॥

नमो जिनेशिने तुभ्यमनम्यस्त्वमनाधये । त्वामद्याराधयाम्यीश कर्मशत्रुबिभित्सया ॥ २७८ ॥

हे देव! आप कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, और मानसिक व्यथाओंसे रहित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो। हे ईश, आज मैं कर्मरूपी शत्रुओंका नाश करनेकी इच्छासे आपकी आराधना करता हूँ ॥ २७८ ॥

> अनन्तास्त्वद्गुणाः स्तोतुमशक्या गणपैरपि । भक्त्या तु प्रस्तौम्यद्य भक्तिः श्रेयोऽनुबन्धिनी ॥ २७९ ॥

हे देव, आपके अनन्त गुणोंकी स्तुति स्वयं गणधरदेव भी नहीं कर सकते तथापि मैं भक्तिवश आपकी स्तुति प्रारम्भ करता हूँ क्योंकि भक्ति ही कल्याण करनेवाली है ॥ २७९ ॥

> भक्तः सुखमभ्येति लक्ष्मीस्त्वद्भक्तमश्नुते । त्वय्येव भक्तिः पुंसां भोगान् मुक्तिं च दास्यति ॥ २८० ॥

हे प्रभो, आपका भक्त सदा सुखी रहता है, लक्ष्मी भी आपके भक्त पुरुषके समीप ही जाती है, आपमें अत्यन्त स्थिर भक्ति स्वर्गादिके भोग प्रदान करती है और अन्तमें मोक्ष भी प्राप्त कराती है ॥ २८० ॥

> अतो भजन्ति भव्यास्त्वां मनोवाक्कायशुद्धिभिः । फलार्थिभिर्भगवान् सेव्यो व्यक्तं कल्पतरूयते ॥ २८१ ॥

इसलिए ही भव्य जीव शुद्ध मन, वचन, कायसे आपकी स्तुति करते हैं। हे देव, फल चाहनेवाले जो पुरुष आपकी सेवा करते हैं उनके लिए आप स्पष्ट रूपसे कल्पवृक्षके समान आचरण करते हैं अर्थात् मनचाहा फल देते हैं ॥ २८१ ॥

> त्वया प्रवर्षता धर्मवृष्टिं दुष्कर्मधर्मतः । प्रोदन्यद्भव्यहृद्वारिस्पृहां नवघनायितम् ॥ २८२ ॥

हे प्रभो, आपने धर्मोपदेशरूपी वर्षा करके, दुष्कर्मरूपी सन्तापसे अत्यन्त प्यासे संसारी जीवरूपी चातकोंको नवीन मेघके समान आनन्दित किया है ॥ २८२ ॥

> त्वया प्रदर्शितं मार्गमासेवन्ते हितेषिणः । भास्वता द्योतितं मार्गमिव कार्यार्थिनो जनाः ॥ २८३ ॥

हे देव, जिस प्रकार कार्यकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुष सूर्यके द्वारा प्रकाशित हुए मार्गकी सेवा करते हैं—उसी मार्गसे आते-जाते हैं उसी प्रकार आत्महित चाहनेवाले पुरुष आपके द्वारा दिखलाये हुए मोक्षमार्गकी सेवा करते हैं ॥ २८३ ॥

> संसारोच्छेदने बीजं त्वया तत्त्वं निदर्शितम् । ऐहिकामुष्मिकार्थानां यतः सिद्धिः शरीरीणाम् ॥ २८४ ॥

हे देव, आपके द्वारा निरूपित तत्त्व जन्म-मरणरूपी संसारके नाश करनेका कारण है तथा इसीसे प्राणियोंकी इस लोक और परलोकसम्बन्धी समस्त कार्योंकी सिद्धि होती है ॥ २८४ ॥

> लक्ष्मीसर्वस्वमुज्झित्वा साम्राज्यं प्राज्यवैभवम् । अहो चित्रमुपादात् त्वं मुक्तिश्रियः स्पृहयालुना ॥ २८५ ॥

हे प्रभो, आपने लक्ष्मीके सर्वस्वभूत तथा उत्कृष्ट वैभवसे युक्त साम्राज्यको छोड़कर भी इच्छासहित हो मुक्तिरूपी लक्ष्मीका वरण किया है, यह एक आश्चर्यकी बात है ॥ २८५ ॥

> दयावल्लीपरिष्वक्तो महोदर्को महोन्नतिः । प्रार्थितार्थान् प्रपुष्णासि भवान् कल्पद्रुमो यथा ॥ २८६ ॥

हे देव, आप दयारूपी लतासे वेष्टित हैं, स्वर्ग आदि बड़े-बड़े फल देनेवाले हैं, अत्यन्त उन्नत हैं—उदार हैं और प्रार्थित पदार्थ प्रदान करनेवाले हैं इसलिए आप कल्पवृक्षके समान हैं ॥ २८६ ॥

> घोरान् कर्ममहाशत्रूनुच्चैरुच्छेत्तुमिच्छता । त्वयाऽलम्बि तपोधारं चक्रमायोधनोन्मुखम् ॥ २८७ ॥

हे देव, आपने कर्मरूपी बड़े-बड़े शत्रुओंको नष्ट करनेकी इच्छासे संग्राममें सदा शोभायमान धर्मरूपी चक्रको बिना किसी घबराहटके अपने हाथमें धारण किया है ॥ २८७ ॥

> न भ्रूभङ्गो न दन्तौष्ठो न भिन्नं वदनं तथा । न भिन्नसौष्ठवं स्थानं व्यरच्यरिजये त्वया ॥ २८८ ॥

हे देव, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतते समय आपने न तो अपनी भौंहें चढ़ायीं, न ओठ ही दबाये, न मुखकी शोभा नष्ट की और न अपना स्थान ही छोड़ा है ॥ २८८ ॥

> दयालुनापि दुःसाध्यमोहशत्रुजिगीषया । तपःकुठारे तीक्ष्णाग्रे त्वया व्यापाहृतः करः ॥ २८९ ॥

हे देव, आपने दयालु होकर भी मोहरूपी दुर्जय शत्रुको नष्ट करनेकी इच्छासे अतिशय कठिन तपश्चरणरूपी कुठारपर अपना हाथ चलाया है अर्थात् उसे अपने हाथमें धारण किया है ॥ २८९ ॥

> त्वया संसारदुर्वल्ली रूढाऽज्ञानजलोक्षणैः । नानादुःखफलैर्नम्रैः वर्धिताऽपि न वर्धते ॥ २९० ॥

हे देव, अज्ञानरूपी जलके सींचनेसे उत्पन्न हुई और अनेक दुःखरूपी फलोंको देनेवाली संसाररूपी लता आपके द्वारा वर्धित होकर भी—बढ़ाये जानेपर भी बढ़ती नहीं है, यह भारी आश्चर्यकी बात है (पक्षमें आपके द्वारा छेदी जानेपर बढ़ती नहीं है अर्थात् आपने संसाररूपी लताका इस प्रकार छेदन किया है कि वह फिर कभी नहीं बढ़ती।) भावार्थ—संस्कृतमें 'वृधु' धातुका प्रयोग छेदना और बढ़ाना इन दो अर्थोंमें होता है। श्लोकमें आये हुए 'वर्धिता' शब्दका जब 'बढ़ाना' अर्थमें प्रयोग किया जाता है तब विरोध होता है, और जब 'छेदना' अर्थमें प्रयोग किया जाता है तब उसका परिहार हो जाता है ॥ २९० ॥

> प्रसीदति त्वत्पादपद्मे साऽपि प्रसीदति । विमुखे याति विमुखं भवन्माध्यस्थ्यमीदृशम् ॥ २९१ ॥

हे भगवन्, आपके चरण-कमलके प्रसन्न होनेपर लक्ष्मी प्रसन्न हो जाती है और उनके विमुख होनेपर लक्ष्मी भी विमुख हो जाती है। हे देव, आपकी यह मध्यस्थ दृष्टि ऐसी ही विलक्षण है ॥ २९१ ॥

> प्रातिहार्यमयीं भूतिं तां दधानोऽप्यनन्यगाम् । वीतरागो महांश्चासि जगस्येतज्जिनाद्भुतम् ॥ २९२ ॥

हे जिनेन्द्र, यद्यपि आप अन्यत्र नहीं पायी जानेवाली प्रातिहार्यरूप विभूतिको धारण करते हैं तथापि संसारमें परम वीतराग कहलाते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ २९२ ॥

> तवायं शिशिरच्छायो भात्यशोकतरुर्महान् । शोकमन्तर्भवे भव्यानां विदूरं प्रणुदन्निव ॥ २९३ ॥

शीतल छायासे युक्त तथा आश्रय लेनेवाले भव्य जीवोंके शोकको दूर करता हुआ यह आपका अतिशय उन्नत अशोकवृक्ष बहुत ही शोभायमान हो रहा है ॥ २९३ ॥

> पुष्पवृष्टिं दिवो देवाः किरन्ति त्वां जिनाभितः । परितो मेरुमुत्फुल्ला यथा कल्पमहोरुहाः ॥ २९४ ॥

हे जिनेन्द्र, जिस प्रकार फूले हुए कल्पवृक्ष मेरु पर्वतके सब तरफ पुष्पवृष्टि करते हैं उसी प्रकार ये देव लोग भी आपके सब ओर आकाशसे पुष्पवृष्टि कर रहे हैं ॥ २९४ ॥

दिव्यभाषा तवाशेषभाषाभेदानुकारिणी । विवृणोति मनोध्वान्तमवाचामपि देहिनाम् ॥ २९५ ॥

हे देव, समस्त भाषारूप परिणत होनेवाली आपकी दिव्य ध्वनि उन प्राणियोंके भी मनका अज्ञानान्धकार दूर कर देती है जो कि मनुष्योंकी भाँति स्पष्ट वचन नहीं बोल सकते ॥ २९५ ॥

प्रकीर्णकयुगं भाति त्वां जिनोभयतो धुतम् । पतन्निर्झरसंवादि शशाङ्ककरनिर्मलम् ॥ २९६ ॥

हे जिन, आपके दोनों तरफ ढुलाये जानेवाले, चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल दोनों चँवर ऐसे शोभायमान हो रहे हैं मानो ऊपरसे पड़ते हुए पानीके झरने ही हों ॥ २९६ ॥

चामीकरविनिर्माणं हरिनिर्मितमासनम् । गिरीन्द्रशिखरस्पर्द्धि राजते जिनराज ते ॥ २९७ ॥

हे जिनराज, मेरु पर्वतके शिखरके साथ ईर्ष्या करनेवाला और सुवर्णका बना हुआ आपका यह सिंहासन बड़ा ही भला मालूम होता है ॥ २९७ ॥

ज्योतीर्मण्डलमुत्सर्पन् तवालङ्कुरुते तनुम् । मार्तण्डमण्डलद्वेषि विधुन्वज्जगतां तमः ॥ २९८ ॥

हे देव, सूर्यमण्डलके साथ विद्वेष करनेवाला तथा जगत्के अन्धकारको दूर करनेवाला और सब ओर फैलता हुआ आपका यह भामण्डल आपके शरीरको अलंकृत कर रहा है ॥ २९८ ॥

तवोद्घोषयतीवोच्चैः जगतामेकभर्तृताम् । दुन्दुभिस्तनितं सान्द्रमुच्चैर्वर्त्मनि वामुचाम् ॥ २९९ ॥

हे देव, आकाशमें जो दुन्दुभिका गम्भीर शब्द हो रहा है वह मानो जोर-जोरसे यही घोषणा कर रहा है कि जगत्के एकमात्र स्वामी आप ही हैं ॥ २९९ ॥

> तवाविष्कुरुते देव प्राभवं भुवनातिगम् । विधुबिम्बप्रतिस्पर्द्धि छत्रत्रितयमुच्छ्रितम् ॥ ३०० ॥

हे देव, चन्द्रबिम्बके साथ स्पर्धा करनेवाले और अत्यन्त ऊँचे आपके तीनों छत्र आपके सर्वश्रेष्ठ प्रभावको प्रकट कर रहे हैं ॥ ३०० ॥

> विभ्राजते जिनैतत्ते प्रातिहार्यकदम्बकम् । त्रिजगत्सारसर्वस्वमेकत्र समुपागतम् ॥ ३०१ ॥

हे जिन, ऊपर कहे हुए आपके इन आठ प्रातिहार्योंका समूह ऐसा शोभायमान हो रहा है मानो एक जगह इकट्ठे हुए तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंका सार ही हो ॥ ३०१ ॥

> नोपरोद्धुमलङ्कारो देव तव वैराग्यसंपदम् । सुरैर्विरचितो भक्त्या प्रातिहार्यपरिच्छदः ॥ ३०२ ॥

हे देव, यह प्रातिहार्योंका समूह आपकी वैराग्यरूपी सम्पत्तिको रोकनेके लिए समर्थ नहीं है क्योंकि यह भक्तिवश देवोंके द्वारा रचा गया है ॥ ३०२ ॥

> करिकेसरिदावाग्निनिषादविषमाब्धयः । रोगा बन्धाश्च शाम्यन्ति त्वत्पदानुस्मृतेर्जिन ॥ ३०३ ॥

हे जिनदेव, आपके चरणोंके स्मरणमात्रसे हाथी, सिंह, दावानल, अग्नि, भील, विषम समुद्र, रोग और बन्धन आदि सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं ॥ ३०३ ॥

> गण्डस्थलीगलद्धानमदाम्बुकृतदुर्दिनम् । गजमाघातुकं दृष्ट्वा जयन्ति त्वदनुस्मृतेः ॥ ३०४ ॥

जिसके गण्डस्थलसे झरते हुए मदरूपी जलके द्वारा दुर्दिन प्रकट किया जा रहा है तथा जो आघात करनेके लिए उद्यत है ऐसे हाथीको पुरुष आपके स्मरणमात्रसे ही जीत लेते हैं ॥ ३०४ ॥

> करीन्द्रकुम्भनिर्भेदकठोरनखरा हरिः । क्रमेऽपि पतितं जन्तुं न हन्ति त्वत्पदस्मृतेः ॥ ३०५ ॥

बड़े-बड़े हाथियोंके गण्डस्थल विदीर्ण करनेसे जिसके नख अतिशय कठिन हो गये हैं ऐसा सिंह भी आपके चरणोंका स्मरण करनेसे अपने पैरोंमें पड़े हुए जीवको नहीं मार सकता है ॥ ३०५ ॥

नोपहन्ति दीप्तार्चिरप्यर्चिष्मान् समुत्थितः । त्वत्पदस्मृतिशीताम्बुधाराप्रशमितोदयः ॥ ३०६ ॥

हे देव, जिसकी ज्वालाएँ बहुत ही प्रदीप्त हो रही हैं तथा जो उन बढ़ती हुई ज्वालाओंके कारण ऊँची उठ रही है ऐसी अग्नि यदि आपके चरण-कमलोंके स्मरणरूपी जलसे शान्त कर दी जाये तो फिर वह अग्नि भी उपद्रव नहीं कर सकती ॥ ३०६ ॥

उद्दण्डकृतफणो रोषादुद्गिरन् गरमुल्बणम् । त्वत्पदागदसंस्मृत्या सद्यो भवति निर्विषः ॥ ३०७ ॥

क्रोधसे जिसका फण ऊपर उठा हुआ है और जो भयंकर विष उगल रहा है ऐसा सर्प भी आपके चरणरूपी औषधके स्मरणसे शीघ्र ही विषरहित हो जाता है ॥ ३०७ ॥

वने प्रचण्डलुण्टाककोदण्डरवभीषणे । सार्थाः सार्थाधिपाः स्वैरं प्रयान्ति त्वत्पदानुगाः ॥ ३०८ ॥

हे देव, आपके चरणोंके सेवक धनी व्यापारी जन प्रचण्ड लुटेरोंके धनुषकी टंकारसे भयंकर वनमें भी निर्भय होकर इच्छानुसार चले जाते हैं ॥ ३०८ ॥

अपि चण्डानिलाकाण्डजृम्भणाघूर्णिताणवम् । तरन्त्यर्णवमुद्वेलं हेलया त्वत्पदानुगाः ॥ ३०९ ॥

जो प्रबल वायुकी असामयिक अचानक वृद्धिसे कम्पित हो रहा है ऐसे बड़ी-बड़ी लहरोंवाले समुद्रको भी आपके चरणोंकी सेवा करनेवाले पुरुष सुगमतासे पार हो जाते हैं ॥ ३०९ ॥

अध्यस्थानकृतोत्थानतीव्रव्रणरुजो नराः । सद्यो भवन्त्यनातङ्काः स्मृतत्वत्पदभेषजाः ॥ ३१० ॥

जो मनुष्य कुढंगे स्थानोंमें उत्पन्न हुए फोड़ों आदिके बड़े-बड़े घावोंसे रोगी हो रहे हैं, वे भी आपके चरणरूपी औषधका स्मरण करने मात्रसे तत्काल नीरोग हो जाते हैं ॥ ३१० ॥

कर्मबन्धविनिर्मुक्तं त्वामनुस्मृत्य मानवः । दृढबन्धनबद्धोऽपि भवत्याशु विबन्धनः ॥ ३११ ॥

हे भगवन्, आप कर्मरूपी बन्धनोंसे रहित हैं। इसलिए मजबूत बन्धनोंसे बँधा हुआ भी मनुष्य आपका स्मरण कर तत्काल ही बन्धनरहित हो जाता है ॥ ३११ ॥

> अहं तु विनिहतान्तरायं भक्तिनिष्ठेन चेतसा । पर्युपासे जिनेशं त्वां विघ्नौघोपप्रशान्तये ॥ ३१२ ॥

हे जिनेन्द्रदेव, आपने विघ्नोंके समूहको भी विनिहत किया है—उन्हें नष्ट किया है इसलिए अपने विघ्नोंके समूहको नष्ट करनेके लिए मैं भक्तिपूर्ण हृदयसे आपकी उपासना करता हूँ ॥ ३१२ ॥

> त्वमेको जगतां ज्योतिस्त्वमेको जगतां पतिः । त्वमेको जगतां बन्धुस्त्वमेको जगतां गुरुः ॥ ३१३ ॥

हे देव, एकमात्र आप ही तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाली ज्योति हैं, आप ही समस्त जगत्के एकमात्र स्वामी हैं, आप ही समस्त संसारके एकमात्र बन्धु हैं और आप ही समस्त लोकके एकमात्र गुरु हैं ॥ ३१३ ॥

> त्वमादिः सर्वविद्यानां त्वमादिः सर्वयोगिनाम् । त्वमादिधर्मतीर्थस्य त्वमादिगुरुरङ्गिनाम् ॥ ३१४ ॥

आप ही सम्पूर्ण विद्याओंके आदिस्थान हैं, आप ही समस्त योगियोंमें प्रथम योगी हैं, आप ही धर्मतीर्थके प्रथम प्रवर्तक हैं, और आप ही प्राणियोंके प्रथम गुरु हैं ॥ ३१४ ॥

> सर्वार्थवित् त्वं सर्वेशः सर्वलोकानुकम्पकः । स्तुतिवादस्तवेतावानलमास्तां सविस्तरः ॥ ३१५ ॥

आप ही सबका हित करनेवाले हैं, आप ही सब विद्याओंके स्वामी हैं और आप ही समस्त लोकपर दयालु हैं। हे देव, आपकी स्तुतिका विस्तार कहाँतक किया जाये। अबतक जितनी स्तुति कर चुका हूँ मुझ-जैसे अल्पज्ञके लिए उतनी ही बहुत है ॥ ३१५ ॥

> नत्त्वा देवमित्थमेभिर्वन्द्यैः कृतप्रणामो नान्यत् फलं परिमितं परिमार्गयामि । त्वय्येव भक्तिमचलां जिन मे दिश त्वं सा सर्वमभ्युदयमुक्तिफलं प्रसूते ॥ ३१६ ॥

हे देव, इस प्रकार आपकी वन्दना कर मैं आपको प्रणाम करता हूँ और उसके फलस्वरूप आपसे किसी सीमित अन्य फलकी याचना नहीं करता हूँ। किन्तु हे जिन, आपमें ही मेरी भक्ति सदा अचल रहे यही प्रदान कीजिए क्योंकि वह भक्ति ही स्वर्ग तथा मोक्षके उत्तम फल उत्पन्न कर देती है ॥ ३१६ ॥

> इत्येतं प्रणिपत्य स जिनपतिं स्तुत्वा कृताभ्यर्चनः स श्रीमान् मुनिसङ्घमप्यनुक्रमात् संपूज्य निष्कल्मषम् । भार्यया सह वज्रजङ्घनृपतिस्तामुत्तमर्द्धिं पुरीं प्राविक्षत् प्रमदोदयाज्जिनगुणान् भूयः स्मरन् भूतये ॥ ३१७ ॥

इस प्रकार श्रीमान् वज्रजंघ राजाने जिनेन्द्र देवको उत्तम रीतिसे नमस्कार किया, उनकी स्तुति और पूजा की। फिर पापरहित मुनिसमूहकी भी क्रमसे पूजा की। तदनन्तर श्रीजिनेन्द्रदेवके गुणोंका बार-बार स्मरण करता हुआ वह वज्रजंघ राज्यादिकी विभूति प्राप्त करनेके लिए हर्षसे श्रीमतीके साथ-साथ अनेक ऋद्धियोंसे शोभायमान पुण्डरीकिणी नगरीमें प्रविष्ट हुआ ॥ ३१७ ॥

> लक्ष्मीमानभिषेकपूर्वक मसौ श्रीवज्रजङ्घो भुवि द्वात्रिंशन्मुकुटप्रबद्धमहितः क्ष्माभृत्सहस्रैर्मुहुः । तां कल्याणपरम्परामनुभवन् भोगान् परांश्चाश्रयंस्तया सह दीर्घकालमवसत् तस्मिन् पुरि स्तुवन् जिनान् ॥ ३१८ ॥

वहाँ भरतभूमिके बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओंने उस लक्ष्मीवान् वज्रजंघका राज्याभिषेकपूर्वक भारी सम्मान किया था। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवानकी पूजा करते हुए हजारों राजाओंके द्वारा बार-बार प्राप्त हुई कल्याण-परम्पराका अनुभव करते हुए और श्रीमतीके साथ उत्तमोत्तम भोग भोगते हुए वज्रजंघने दीर्घकाल तक उसी पुण्डरीकिणी नगरीमें निवास किया था ॥ ३१८ ॥

> इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे श्रीमतीवज्रजङ्घसमागमवर्णनं नाम सप्तमं पर्व ॥ ७ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें श्रीमती और वज्रजंघके समागमका वर्णन करनेवाला सातवाँ पर्व पूर्ण हुआ ॥ ७ ॥

आदिपुराण (आचार्य जिनसेन कृत)

अष्टम पर्व (पात्रदान वर्णन)

> अथ तत्रावसदीर्घं स काले चक्रिमन्दिरे । नित्योत्सवे महाभोगसंपदा सोपभोगभाक् ॥ १ ॥

विवाह हो जानेके बाद वज्रजंघने, जहाँ नित्य ही अनेक उत्सव होते रहते थे ऐसे चक्रवर्तीके भवनमें उत्तम-उत्तम भोगोपभोग सम्पदाओंके द्वारा भोगोपभोगोंका अनुभव करते हुए दीर्घकाल तक निवास किया था ॥ १ ॥

> श्रीमतीस्तनसंस्पर्शात् तन्मुखाब्जविलोकनात् । तस्यासीन्महती प्रीतिः सर्वो वस्तुं स्वनिष्ठितम् ॥ २ ॥

वहाँ श्रीमतीके स्तनोंका स्पर्श करने तथा उसके मुखकमलके देखनेसे उसे बड़ी प्रसन्नता होती थी सो ठीक ही है क्योंकि इष्ट वस्तुके आश्रयसे सभीको प्रसन्नता होती है ॥ २ ॥

> तन्मुखाब्जाद् रसामोदौ वाहरन्नपि तृप्यति न नृपः । भूयोऽपि भ्रमरस्येव कामसेवा न तृप्तये ॥ ३ ॥

जिस प्रकार भौंरा कमलसे रस और सुवासको ग्रहण करता हुआ कभी सन्तुष्ट नहीं होता उसी प्रकार राजा वज्रजंघ भी श्रीमतीके मुखरूपी कमलसे रस और सुवासको ग्रहण करता हुआ कभी सन्तुष्ट नहीं होता था। सच है, कामसेवनसे कभी सन्तोष नहीं होता है ॥ ३ ॥

> मुखचन्द्रमस्या विस्रम्भनिर्मिषोत्कया दृशा । कान्तिसहशज्योतिर्ज्योत्स्नयेवातनोदुज्ज्वलम् ॥ ४ ॥

श्रीमतीका मुखरूपी चन्द्रमा चमकीले दाँतोंकी किरणरूपी चाँदनीसे हमेशा समुज्ज्वल रहता था इसलिए वज्रजंघ उसे टिमकार रहित लालसापूर्ण दृष्टिसे देखता रहता था ॥ ४ ॥

> कटाक्षवीक्षणैर्लोलैर्लीलास्मितैश्च कलभाषिते । चेतो बबन्ध सा तस्य स्वस्मिन्नत्यन्तभासुरम् ॥ ५ ॥

श्रीमतीने अत्यन्त मनोहर कटाक्षावलोकन, लीलासहित मुसकान और मधुर भाषणोंके द्वारा उसका चित्त अपने अधीन कर लिया था ॥ ५ ॥

> तनूदरिवलीवीचिरम्येऽपि नाभिकावर्त्तशोभिनि । उदरे कृशमध्याया रेमे स ह्रद इव ॥ ६ ॥

श्रीमतीकी कमर पतली थी और उदर किसी नदीके गहरे कुण्डके समान था। क्योंकि कुण्ड जिस प्रकार लहरोंसे मनोहर होता है उसी प्रकार उसका उदर भी त्रिवलीसे (नाभिके नीचे रहनेवाली तीन रेखाओंसे) मनोहर था और कुण्ड जिस प्रकार आवर्तसे शोभायमान होता है उसी प्रकार उसका उदर भी नाभिरूपी आवर्तसे शोभायमान था। इस तरह जिसका मध्य भाग कृश है ऐसी किसी नदीके कुण्डके समान श्रीमतीके उदर प्रदेशपर वह वज्रजंघ रमण करता था ॥ ६ ॥

> नितम्बपुलिने रम्ये स रेमे चिरमात्मना । काञ्चीविहङ्गसंनादे मत्तहंस इवाचरन् ॥ ७ ॥

तरुण हंसके समान वह वज्रजंघ, करधनीरूपी पक्षियोंके शब्दसे शब्दायमान उस श्रीमतीके मनोहर नितम्बरूपी पुलिनपर चिरकाल तक क्रीड़ा करके सन्तोष धारण करता था ॥ ७ ॥

> स्तनावुभावपि समाहृत्य तत्र व्यापारयन् करौ । करभः पद्मवल्लीव सोऽभासीत् कुड्मलस्पृशा ॥ ८ ॥

स्तनोंसे वस्त्र हटाकर उनपर हाथ फेरता हुआ वज्रजंघ ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि कमलिनीके कुड्मल (डोंडी) का स्पर्श करता हुआ युवा हाथी शोभायमान होता है ॥ ८ ॥

> स्तनसङ्ग्राहिणि रम्ये श्रीखण्डद्रवकर्दमे । उरःसरांसि तस्याः क्रीडन् संकुचांशुकशैवले ॥ ९ ॥

जो स्तनरूपी चक्रवाक पक्षियोंसे सहित है, चन्दनद्रवरूपी कीचड़से युक्त है और स्तनवस्त्र (कंचुकी) रूपी काईसे शोभित है ऐसे उस श्रीमतीके वक्षःस्थलरूपी सरोवरमें वह वज्रजंघ निरन्तर क्रीड़ा करता था ॥ ९ ॥

मृदुबाहुलते कण्ठे गाढमासज्य सुन्दरी । कामपाशायिते नूनं मनोऽबध्नान्मनस्विनी ॥ १० ॥

उस सुन्दरी तथा सहृदया श्रीमतीने कामपाशके समान अपनी कोमल भुजप्रताओंको वज्रजंघके गलेमें डालकर उसका मन बाँध लिया था—अपने वश कर लिया था ॥ १० ॥

मृदुपाणितले स्पर्शे रसगन्धौ मुखाम्बुजे । शब्दं सान्त्वोचितेऽस्याश्च रूपं रूपं निरूपयन् ॥ ११ ॥

वह वज्रजंघ श्रीमतीकी कोमल बाहुओंके स्पर्शसे स्पर्शन इन्द्रियको, मुखरूपी कमलके रस और गन्धसे रसना तथा घ्राण इन्द्रियको, सम्भाषणके समय मधुर शब्दोंको सुनकर कर्ण इन्द्रियको और उसके सौन्दर्यको निरखकर नेत्र इन्द्रियको तृप्त करता था ॥ ११ ॥

सुचिरं तर्पयामास सोऽक्षग्राममशेषतः । सुखमैन्द्रियिकं चेच्छन् नान्या गतिः पराह्निनाम् ॥ १२ ॥

इस प्रकार वह पाँचों इन्द्रियोंको सब प्रकारसे चिरकाल तक सन्तुष्ट करता था सो ठीक ही है इन्द्रियसुख चाहनेवाले जीवोंको इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है ॥ १२ ॥

काञ्चीदाममहानागसंरुद्धे सङ्गतास्पदम् । लिप्साञ्चक्रे कटिस्थाने महतीव निधौ नृपः ॥ १३ ॥

करधनीरूपी महासर्पसे घिरे हुए होनेके कारण अन्यपुरुषोंको अप्राप्य श्रीमतीके कटिभागरूपी बड़े खजानेपर वज्रजंघ निरन्तर वासना स्थिर करता था ॥ १३ ॥

कचग्रहैरुदीर्णोभिः कर्णोत्पलविताडनैः । अवाप प्रणयकोपोऽस्या वज्रजङ्घः सुखाय च ॥ १४ ॥

जब कभी श्रीमती प्रणयकोपसे कुपित होती थी तब वह धीरे-धीरे वज्रजंघके केश पकड़कर खींचने लगती थी तथा कर्णोत्पलके सुकोमल प्रहारोंसे उसका ताड़न करने लगती थी। उसकी इन क्रियाओंसे वज्रजंघको बड़ा ही सन्तोष और सुख होता था ॥ १४ ॥

गलिताभरणन्यासे रतिघर्माम्बुकर्दमे । तस्यासीद्रतिरागाढ्ये सुखोद्रेकः स योषितः ॥ १५ ॥

परस्परकी खींचातानीसे जिसके आभरण अस्त-व्यस्त होकर गिर पड़े हैं तथा जो रतिकालीन स्वेद-बिन्दुओंसे खूब युक्त हो गया है ऐसे श्रीमतीके शरीरमें उसे बड़ा सुखोद्रेक होता था। सो ठीक है, कामीजन इसीको उत्कृष्ट सुख समझते हैं ॥ १५ ॥

> सौधवातायनोपान्तकृतशय्यौ रतिश्रमम् । अपनिन्यतुरास्पृष्टौ वातैर्गन्धवहाप्लुतैः ॥ १६ ॥

राजमहलमें झरोखेके समीप ही इनकी शय्या थी इसलिए झरोखेसे आनेवाली मन्द-मन्द वायुसे इनका रति-श्रम दूर होता रहता था ॥ १६ ॥

> विद्याधरमुखेन्दुराह्लादं लोचने नयनोत्सवम् । स्तनौ स्पर्शसुखासङ्गमस्य तेनुर्दुरासदम् ॥ १७ ॥

श्रीमतीका मुखरूपी चन्द्रमा वज्रजंघके आनन्दको बढ़ाता था, उसके नेत्र, नेत्रोंका सुख विस्तृत करते थे तथा उसके दोनों स्तन अपूर्व स्पर्श-सुखको बढ़ाते थे ॥ १७ ॥

> तत्कन्याऽमृतमासाद्य दिव्योपधमिवानुरः । स काले सेवमानोऽभूत् सुखी निर्मदनज्वरः ॥ १८ ॥

जिस प्रकार कोई रोगी पुरुष उत्तम औषध पाकर समयपर उसका सेवन करता हुआ ज्वर आदिसे रहित होकर सुखी हो जाता है उसी प्रकार वज्रजंघ भी उस कन्यारूपी अमृतको पाकर समयपर उसका सेवन करता हुआ काम-ज्वरसे रहित होकर सुखी हो गया था ॥ १८ ॥

> कदाचिद् नन्दनस्पर्द्धिपरार्द्ध्येषु तरुशोभिषु । गृहोद्यानेषु रेमेऽसौ कान्तयाऽसा महर्द्धिषु ॥ १९ ॥

वह वज्रजंघ कभी तो नन्दन वनके साथ स्पर्धा करनेवाले बड़े-बड़े वृक्षोंसे शोभायमान और महाविभूतिसे युक्त घरके उद्यानोंमें श्रीमतीके साथ रमण करता था ॥ १९ ॥

> कदाचिद् बहिरुद्याने लतागृहविराजिनि । क्रीडाद्रिसहितेऽदीव्यत् प्रियया सममुत्सुकः ॥ २० ॥

और कभी लतागृहों (निकुंजों) से शोभायमान तथा क्रीड़ा-पर्वतोंसे सहित बाहरके उद्यानोंमें उत्सुक होकर क्रीड़ा करता था ॥ २० ॥

सरित्तीरेषु कान्तारविहारेषु कदाचन । स्वयंस्फुटत्स्फुरद्रम्यलताकुसुमशोभिषु ॥ २१ ॥

कभी खिली हुई लताओंसे झरे हुए पुष्पोंसे शोभायमान नदीतट के प्रदेशोंमें विहार करता था ॥ २१ ॥

कदाचिद् दीर्घिकातोये क्रीडन समतनोत् । मकरन्दरजःपुञ्जपिञ्जरेषु स तत्प्रियः ॥ २२ ॥

और कभी कमलोंकी परागरजके समूहसे पीले हुए बावड़ीके जलमें प्रियाके साथ क्रीड़ा करता था ॥ २२ ॥

चामीकरमयैर्यन्त्रैर्जलोत्क्षेपविधिक्रमैः । प्रियामुखाब्जमम्भोभिरसिञ्चत् कूर्णितेक्षणम् ॥ २३ ॥

वह वज्रजंघ जल-क्रीड़ाके समय सुवर्णमय पिचकारियोंसे अपनी प्रिया श्रीमतीके टेढ़े कटाक्षोंवाले मुख-कमलका सिंचन करता था ॥ २३ ॥

साप्यस्य नयनोत्क्षेपं कृतवाञ्छापि नाशकत । स्तनांशुके गलत्याविर्भवद्व्रीडापराङ्मुखी ॥ २४ ॥

श्रीमती जब प्रियपर जल डालनेके लिए पिचकारी उठाती थी तब उसके स्तनोंका आँचल खिसक जाता था और इससे वह लज्जावश विमुख हो जाती थी ॥ २४ ॥

जलकेलिविधौ क्लिन्नं स्तनतटेऽशुकम् । जलच्छायं दधे भूयोऽप्युन्नतं स्तनशोभामकर्षयत् ॥ २८ ॥

जल-क्रीड़ा करते समय श्रीमतीके स्तनतटपर जो महीन वस्त्र पानीसे भीगकर चिपक गया था वह जलकी छायाके समान मालूम होता था, तथा उसने उसके स्तनोंकी शोभा कम कर दी थी ॥ २८ ॥

स्तनकुड्मलसंशोभा मृदुबाहुरुणालिका । सा बभौ नलिनीशोभां मुख्याम्बुजविराजिनी ॥ २६ ॥

श्रीमतीके स्तन कुड्मल (डोडी) के समान, कोमल भुजाएँ मृणालके समान और मुख कमलके समान शोभायमान था इसलिए वह जलके भीतर कमलिनीकी शोभा धारण कर रही थी ॥ २६ ॥

> कर्णोत्पलं क्षिपन्त्यास्याश्चिक्रोड वलिते जले । तन्मुखाम्भोरुहच्छायां स्वाब्जं जेतुमिवाक्षमः ॥ २७ ॥

हमारे ये कमल श्रीमतीके मुखकमलकी कान्तिको जीतनेके लिए समर्थ नहीं हैं—यह विचार कर ही मानों चंचल जलने श्रीमतीके कर्णोत्पलको वापस फेर दिया था ॥ २७ ॥

> धारागृहे स निपतद्धाराबद्धघनागमे । प्रियया विद्युतेवोद्यद् विरेजे सुखनिर्वृतः ॥ २८ ॥

ऊपरसे पड़ती हुई जलधाराओंसे जिसमें सदा वर्षा ऋतु बनी रहती है ऐसे धारागृहमें (फव्वारोंके घरमें) वह वज्रजंघ बिजलीके समान अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ सुखपूर्वक क्रीड़ा करता था ॥ २८ ॥

> कदाचित् सौधपृष्ठेषु तारकाप्रतिबिम्बितैः । पुष्पप्रकरसंकीर्णे रेमे रात्रौ प्रियान्वितः ॥ २९ ॥

और कभी ताराओंके प्रतिबिम्बके बहाने जिनपर उपहारके फूल बिखेरे गये हैं ऐसे राजमहलोंकी खुली छतोंपर रातके समय चाँदनीका उपभोग करता हुआ क्रीड़ा करता था ॥ २९ ॥

> इति तौ चिरकालं भोगैरुपभोगैश्च हारिभिः । वधूवरपुरस्तत् स्वर्गसौख्यातिशायिभिः ॥ ३० ॥

इस प्रकार दोनों दम्पती उस पुण्डरीकिणी नगरीमें स्वर्गलोकके भोगोंसे भी बढ़कर मनोहर भोगोपभोगोंके द्वारा चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहे ॥ ३० ॥

> तयोस्तथाविधैर्भो गैर्जितेन्द्रमहिमोत्सवैः । पात्रदानादिविनोदैश्च तत्र कालोऽगमद् बहुः ॥ ३१ ॥

ऊपर कहे हुए भोगोंके द्वारा, जिनेन्द्रदेवकी पूजा आदि उत्सवोंके द्वारा और पात्र दान आदि मांगलिक कार्योंके द्वारा उन दोनोंका वहाँ बहुत समय व्यतीत हो गया था ॥ ३१ ॥

> उपायनैश्च विविधैः पूजोत्सवपरम्परैः । पुत्रोत्पत्त्यादिसंमदैश्च स कालोऽविदितोऽगमत् ॥ ३२ ॥

वहाँ अनेक लोग आकर वज्रजंघके लिए उत्तम-उत्तम वस्तुएँ भेंट करते थे, पूजा आदिके उत्सव होते रहते थे तथा पुत्र-जन्म आदिके समय अनेक उत्सव मनाये जाते थे जिससे उन दोनोंका दीर्घ समय अनायास ही व्यतीत हो गया था ॥ ३२ ॥

वज्रजङ्घानुजां कन्यामनुरूपासमन्धरीम् । वज्रबाहुर्विभूत्यासावदितामिततेजसे ॥ ३३ ॥

वज्रजंघकी एक अनुन्धरी नामकी छोटी बहन थी जो उसीके समान सुन्दरी थी। राजा वज्रबाहुने वह बड़ी विभूतिके साथ चक्रवर्तीके बड़े पुत्र अमिततेजके लिए प्रदान की थी ॥ ३३ ॥

चक्रिसूनुं तमासाद्य सुतरां पिप्रिये सती । अनुन्धरी नवोढासौ वसन्तमिव कोकिला ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार कोयल वसन्तको पाकर प्रसन्न होती है उसी प्रकार वह नवविवाहिता सती अनुन्धरी, चक्रवर्तीके पुत्रको पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुई थी ॥ ३४ ॥

अथ चक्रधरः पूजासत्कारैरभिपूजितम् । स्वपुरं प्रति यानाय ससर्ज वधूवरम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जब सब कार्य पूर्ण हो चुके तब चक्रवर्ती वज्रदन्त महाराजने अपने नगरको वापस जानेके लिए पूजा सत्कार आदिसे सबका सम्मान कर वर-वधूको विदा कर दिया ॥ ३५ ॥

हस्त्यश्वरथपादातं रत्नं देशं सकोशकम् । तदान्वयिनिकं भूरि यौतुकं प्रददौ महत् ॥ ३६ ॥

उस समय चक्रवर्तीने कन्याके लिए हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, रत्न, देश और खजाना आदि कुलपरम्परासे चला आया बहुत-सा धन दहेजमें दिया था ॥ ३६ ॥

अथ प्रयाणसंक्षोभाद् दम्पत्योस्तत्पुरं तदा । परमाकुलतां भेजे तद्गुणैरन्मनायितम् ॥ ३७ ॥

वज्रजंघ और श्रीमतीने अपने गुणोंसे समस्त पुरवासियोंको उन्मुग्ध कर लिया था इसलिए उनके जानेका क्षोभकारक समाचार सुनकर समस्त पुरवासी अत्यन्त व्याकुल हो उठे थे ॥ ३७ ॥

ततः प्रस्थानगम्भीरभेरीध्वानैः शुभे दिने । प्रयाणमकरोच्छ्रीमान् सदारः सपरिच्छदः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर किसी शुभदिन श्रीमान् वज्रजंघने अपनी पत्नी श्रीमतीके साथ प्रस्थान किया। उस समय उनके प्रस्थानको सूचित करनेवाले नगाड़ोंका गम्भीर शब्द हो रहा था ॥ ३८ ॥

वज्रबाहुर्महाराजो देवी चास्य वसुन्धरा । वज्रजङ्घं सभार्याकं व्रजन्तमनुजग्मतुः ॥ ३९ ॥

वज्रजंघ अपनी पत्नीके साथ आगे चलने लगे और महाराज वज्रबाहु तथा उनकी पत्नी वसुन्धरा रानी उनके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ ३९ ॥

पौरवर्गं तथा मन्त्रिसनापतिपुरोहितान् । सोऽनुव्रजितुमायातान्नातिदूराद् व्यसर्जयत् ॥ ४० ॥

पुरवासी, मन्त्री, सेनापति तथा पुरोहित आदि जो भी उन्हें पहुँचाने गये थे वज्रजंघने उन्हें थोड़ी दूरसे वापस विदा कर दिया था ॥ ४० ॥

हस्त्यश्वरथभूयिष्ठं बलं सहपक्तिकम् । संवाहयन् स संप्रापत् पुरमुत्पलखेटकम् ॥ ४१ ॥

हाथी, घोड़े, रथ और पियादे आदिकी विशाल सेनाका संचालन करता हुआ वज्रजंघ क्रम-क्रमसे अपने उत्पलखेटक नगरमें पहुँचा ॥ ४१ ॥

पराद्धर्यरचनोपेतं सप्रमोदं विशन् पुरम् । पुरन्दर इवाभासीद् द्युतिमान् द्युतिभिः स्फुटम् ॥ ४२ ॥

उस समय उस नगरीमें अनेक उत्तम-उत्तम रचनाएँ की गयी थीं, कई प्रकारके उत्सव मनाये जा रहे थे। उस नगरमें प्रवेश करता हुआ अतिशय देदीप्यमान वज्रजंघ इन्द्रके समान शोभायमान हो रहा था ॥ ४२ ॥

पौराङ्गना महावीथीर्विशन्तं तं प्रियान्वितम् । सुमनोऽञ्जलिभिः स्मेरैर्ववृषुः सौधसंस्थिताः ॥ ४३ ॥

जब वज्रजंघने अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ नगरकी प्रधान-प्रधान गलियोंमें प्रवेश किया तब पुरसुन्दरियोंने महलोंकी छतोंपर चढ़कर उन दोनोंपर बड़े प्रेमके साथ अंजलि भर-भरकर फूल बरसाये ॥ ४३ ॥

पुष्पाक्षतयुतां पुण्यां शेषां पुण्याशिषा समम् । प्रजाः समन्ततोऽभ्येत्य प्रापुस्तौ सादरस्मयम् ॥ ४४ ॥

उस समय सभी ओरसे प्रजाजन आते थे और शुभ आशीर्वादके साथ-साथ पुष्प तथा अक्षतसे मिला हुआ पवित्र प्रसाद उन दोनों दम्पतियोंके समीप पहुँचाते थे ॥ ४४ ॥

ततः प्रहतगम्भीरपटहध्वानसंकुलम् । पुरमुत्तीर्णं पश्यन् स विवेश नृपमन्दिरम् ॥ ४५ ॥

तदनन्तर बजती हुई भेरियोंके गम्भीर शब्दसे व्याप्त तथा अनेक तोरणोंसे अलंकृत नगरकी शोभा देखते हुए वज्रजंघने राजभवनमें प्रवेश किया ॥ ४५ ॥

तत्र श्रीभवने रम्ये सर्वर्तुसुखदायिनि । श्रीमत्या सह संप्रीत्या वज्रजङ्घोऽवसत् सुखम् ॥ ४६ ॥

वह राजभवन अनेक प्रकारकी लक्ष्मीसे शोभित था, महा मनोहर था और सब ऋतुओंमें सुख देनेवाली सामग्रीसे सहित था। ऐसे ही राजमहलमें वज्रजंघ श्रीमतीके साथ-साथ बड़े प्रेम और सुखसे निवास करता था ॥ ४६ ॥

तं राजसदनं दीप्तं प्रीत्यामुष्यै प्रदर्शयन् । तत्र तां व्यनयत् खिन्नां गुरुवियोगतः ॥ ४७ ॥

यद्यपि माता-पिता आदिक गुरुजनोंके वियोगसे श्रीमती खिन्न रहती थी परन्तु वज्रजंघ बड़े प्रेमसे अत्यन्त सुन्दर राजमहल दिखलाकर इसका चित्त बहलाता रहता था ॥ ४७ ॥

पण्डिता सममायाता सखीनामग्रणीः सती । तामसौ रमयामास विनोदनर्तनादिभिः ॥ ४८ ॥

शीलको धारण करनेवाली तथा सब सखियोंमें श्रेष्ठ पण्डिता नामकी सखी भी उसके साथ आयी थी। वह भी नृत्य आदि अनेक प्रकारके विनोदोंसे उसे प्रसन्न रखती थी ॥ ४८ ॥

भोगैरनारतैरेवं काले गच्छत्यनुक्रमात् । श्रीमती सुषुवे पुत्रान् द्व्येकं पञ्चाशतं यमान् ॥ ४९ ॥

इस प्रकार निरन्तर भोगोपभोगोंके द्वारा समय व्यतीत करते हुए उसके क्रमशः उनचास युगल अर्थात् अठानवे पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ४९ ॥

> अथान्येद्युर्महाराजो वज्रबाहुर्महाद्युतिः । शरदम्बुधरोत्थानं सौधाग्रस्थो निरूपयन् ॥ ९० ॥

तदनन्तर किसी एक दिन महाकान्तिमान् महाराज वज्रबाहु राजमहलकी छतपर बैठे हुए शरद् ऋतुके बादलोंका उठाव देख रहे थे ॥ ९० ॥

> दृष्ट्वा तद्विलयं सद्यो निर्वेदं परमागतः । विरक्तस्यास्य चित्तेऽभूदिति चिन्ता गरीयसी ॥ ९१ ॥

उन्होंने पहले जिस मेघको उठता हुआ देखा था उसे तत्कालमें विलीन हुआ देखकर उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे उसी समय संसारके सब भोगोंसे विरक्त हो गये और मनमें इस प्रकार गम्भीर विचार करने लगे ॥ ९१ ॥

> दृष्ट एव पश्यतामेव कथमेष बलाहकः । प्रासादाकृतिरुद्भूतो विलीनश्च क्षणान्तरे ॥ ९२ ॥

देखो, यह शरद् ऋतुका बादल हमारे देखते-देखते राजमहलकी आकृतिको धारण किये हुए था और देखते-देखते ही क्षण-भरमें विलीन हो गया ॥ ९२ ॥

> संपदब्जविलासोऽयं क्षणादेषा विलास्यते । लक्ष्मीस्तडिद्विलोलेयं गता यौवनश्रियः ॥ ९३ ॥

ठीक, इस प्रकार हमारी यह सम्पदा भी मेघके समान क्षण-भरमें विलीन हो जायेगी। वास्तवमें यह लक्ष्मी बिजलीके समान चंचल है और यौवनकी शोभा भी शीघ्र चली जानेवाली है ॥ ९३ ॥

> आपातमात्ररम्याश्च भोगाः पर्यन्ततापिनः । प्रतिक्षणं गलत्यायुर्गलन्नालीकजलं यथा ॥ ९४ ॥

ये भोग प्रारम्भ कालमें ही मनोहर लगते हैं किन्तु अन्तकालमें (फल देनेके समय) भारी संताप देते हैं। यह आयु भी छिदी हुई नालीके जलके समान प्रत्येक क्षण नष्ट होती जाती है ॥ ९४ ॥

> रूपमारोग्यमैश्वर्यमिष्टबन्धुसमागमः । प्रियाङ्गणारतिश्चेति सर्वमप्यनवस्थितम् ॥ ९५ ॥

रूप, आरोग्य, ऐश्वर्य, इष्टजनोंका समागम और प्रिय स्त्रीका प्रेम आदि सभी कुछ अनवस्थित है—क्षणभङ्गुर है ॥ ९५ ॥

विचिन्त्येति चपलां लक्ष्मीं प्रजिहासुः सुधीरसौ । अभिषिच्य सुतं राज्ये वज्रजङ्घं न्यवेशयत् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार विचार कर चंचल लक्ष्मीको छोड़नेके अभिलाषी बुद्धिमान् राजा वज्रबाहुने अपने पुत्र वज्रजंघका अभिषेक कर उसे राज्यकार्यमें नियुक्त किया ॥ ५६ ॥

स राज्यभोगनिर्विण्णस्तूर्णं यमधरान्तिके । नृपैः सार्धं शतानां पञ्चभिर्दीक्षामुपाददे ॥ ५७ ॥

और स्वयं राज्य तथा भोगोंसे विरक्त हो शीघ्र ही श्रीयमधरमुनिके समीप जाकर पाँच सौ राजाओंके साथ जिनदीक्षा ले ली ॥ ५७ ॥

श्रीमतीतनयाश्चामी वीरबाहुपुरोगमाः । ययुः राजर्षिणानेन समं संयमिनोऽभवन् ॥ ५८ ॥

उसी समय वीरबाहु आदि श्रीमतीके अठानवे पुत्र भी इन्हीं राजऋषि वज्रबाहुके साथ दीक्षा लेकर संयमी हो गये ॥ ५८ ॥

ततः समभ्युपारूढशुद्धिभिर्विहरन्नसौ । क्रमप्राप्ततया कैवल्यं पदं प्राप समासदत् ॥ ५९ ॥

वज्रबाहु मुनिराजने विशुद्ध परिणामोंके धारक वीरबाहु आदि मुनियोंके साथ चिरकाल तक विहार किया फिर क्रम-क्रमसे केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षरूपी परमधामको प्राप्त किया ॥ ५९ ॥

वज्रजङ्घस्ततो राज्यसंपदं प्राप्य पैतृकीम् । निरविशच्चिरं भोगान् प्रकृतीरनुरञ्जयन् ॥ ६० ॥

उधर वज्रजंघ भी पिताकी प्राप्त हुई सम्पदाको प्राप्त कर प्रजाको प्रसन्न करता हुआ चिरकाल तक अनेक प्रकारके भोग भोगता रहा ॥ ६० ॥

अथान्यदा महाराजो महाविभूतिसंभृतः । सिंहासने सुखासीनो नरेन्द्रैः परिवेष्टितः ॥ ६१ ॥

अनन्तर किसी एक दिन बड़ी विभूतिके धारक तथा अनेक राजाओंसे घिरे हुए महाराज वज्रजंघ सिंहासनपर सुखसे बैठे हुए थे ॥ ६१ ॥

> तथासीनस्य चोद्यानपाली विकसितं नवम् । सुगन्धिपद्ममानीय तस्य हस्तेऽर्पयन्मुदा ॥ ६२ ॥

कि इतनेमें ही वनपालने एक नवीन खिला हुआ सुगन्धित कमल लाकर बड़े हर्षसे उनके हाथपर अर्पित किया ॥ ६२ ॥

> पाणौ कृत्वा तदाजिघ्रन् स्वाननामोदसुन्दरम् । संप्रीतः करपद्मेन स्निग्धममन्दविभ्रमम् ॥ ६३ ॥

वह कमल राजाके मुखकी सुगन्धके समान सुगन्धित और बहुत ही सुन्दर था। उन्होंने उसे अपने हाथमें लिया और अपने करकमलसे घुमाकर बड़ी प्रसन्नताके साथ सूँघा ॥ ६३ ॥

> तद्गन्धलोलुपं तत्र दृष्ट्वा लोकान्तराश्रितम् । दृष्ट्वाऽलिं विषयासङ्गाद् विरक्तः सुधीरसौ ॥ ६४ ॥

उस कमलके भीतर उसकी सुगन्धिका लोभी एक भ्रमर रुककर मरा हुआ पड़ा था। ज्यों ही बुद्धिमान् महाराजने उसे देखा त्यों ही वे विषयभोगोंसे विरक्त हो गये ॥ ६४ ॥

> अहो मदालिरेषोऽत्र गन्धाकृष्ट्या रसं पिबन् । दिनापाये निरुद्धोऽभून्म्रियते धिग्विषयैषिताम् ॥ ६५ ॥

वे विचारने लगे कि—अहो, यह मदोन्मत्त भ्रमर इसकी सुगन्धिसे आकृष्ट होकर यहाँ आया था और रस पीते-पीते ही सूर्यास्त हो जानेसे इसीमें घिरकर मर गया। ऐसी विषयोंकी चाहको धिक्कार हो ॥ ६५ ॥

> विषया विषमाः पाके किम्पाकसदृशा इमे । आपातरम्या धिङ्निन्दा अनिष्टफलदायिनः ॥ ६६ ॥

ये विषय किम्पाक फलके समान विषम हैं। प्रारम्भकालमें अर्थात् सेवन करते समय तो अच्छे मालूम होते हैं परन्तु फल देते समय अनिष्ट फल देते हैं, इसलिए इन्हें धिक्कार हो ॥ ६६ ॥

> अतो धिगस्तु भोगाङ्गमिदं शरीरिणाम् । विलीयते शरन्मेघविलासमतिपेलवम् ॥ ६७ ॥

प्राणियोंका यह शरीर जो कि विषय-भोगोंका साधन है शरद् ऋतुके मेघके समान क्षण-भरमें विलीन हो जाता है इसलिए ऐसे शरीरको भी धिक्कार हो ॥ ६७ ॥

> तडिदुन्मिषिताकारा लक्ष्मीराकालिकं सुखम् । धृतः स्वप्नविदेशीया विनश्वर्यो विभूतयः ॥ ६८ ॥

यह लक्ष्मी बिजलीकी चमकके समान चंचल है, यह इन्द्रिय-सुख भी अस्थिर है, और धन-धान्यादिकी विभूति भी स्वप्नमें प्राप्त हुई विभूतिके समान शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाली है ॥ ६८ ॥

> भोगान् भोगाहुतान् वोढुं कथमेतान् मनस्विनः । ये विलोभयितुं जन्तूनायान्ति च व्रजन्ति च ॥ ६९ ॥

ये भोग संसारी जीवोंको लुभानेके लिए आते हैं और लुभाकर तुरन्त ही चले जाते हैं ऐसे इन विषयभोगोंको प्राप्त करनेके लिए हे विद्वन्, तुम क्यों भारी प्रयत्न करते हो ॥ ६९ ॥

> वपुरारोग्यमैश्वर्यं यौवनं सुखसंपदः । वस्तुवाहनसर्वस्वं सुरचापवदस्थिरम् ॥ ७० ॥

शरीर, आरोग्य, ऐश्वर्य, यौवन, सुखसम्पदाएँ, गृह, सवारी आदि सभी कुछ इन्द्रधनुषके समान अस्थिर हैं ॥ ७० ॥

> तृणाग्रलग्नवार्बिन्दुर्विनिपातोन्मुखो यथा । तथा प्राणभृतामायुर्विलासो विनिपातुकः ॥ ७१ ॥

जिस प्रकार तृणके अग्रभागपर लगा हुआ जलका बिन्दु पतनके सम्मुख होता है उसी प्रकार प्राणियोंकी आयुका विलास पतनके सम्मुख होता है ॥ ७१ ॥

> अग्रेसरी जरा तस्य पार्ष्णिग्राहाः प्रवृद्धिनः । कषायाटविकैः सार्धं यमराट् समरोन्मुखः ॥ ७२ ॥

यह यमराज संसारी जीवोंके साथ सदा युद्ध करनेके लिए तत्पर रहता है। वृद्धावस्था इसकी सबसे आगे चलनेवाली सेना है, अनेक प्रकारके रोग पीछेसे सहायता करनेवाले बलवान् सैनिक हैं और कषायरूपी भील सदा इसके साथ रहते हैं ॥ ७२ ॥

> अक्षग्रामं दहन्त्येते संतापविषमार्चिषा । विषया विषमोत्थानवेदना मुष्णन्ति चासून ॥ ७३ ॥

ये विषय-तृष्णारूपी विषम ज्वालाओंके द्वारा इन्द्रिय-समूहको जला देते हैं और विषमरूपसे उत्पन्न हुई वेदना प्राणोंको नष्ट कर देती है ॥ ७३ ॥

> प्राणिनां सुखमल्पीयो भूयिष्ठं दुःखमेव तु । ततो ननु तदिहाश्वासः कल्प्येत कुतस्तराम् ॥ ७४ ॥

जब कि इस संसारमें प्राणियोंको सुख तो अत्यन्त अल्प है और दुःख ही बहुत है तब फिर इसमें सन्तोष क्या है? और कैसे हो सकता है? ॥ ७४ ॥

> तनुमान् विषयानीप्सन् क्लेशः प्रागेव वर्धते । भुञ्जानस्तृप्त्ययोगेन विभोगेऽनुशयानवान् ॥ ७५ ॥

विषय प्राप्त करनेकी इच्छा करता हुआ यह प्राणी पहले तो अनेक क्लेशोंसे दुःखी होता है फिर भोगते समय तृप्ति न होनेसे दुःखी होता है और फिर वियोग हो जानेपर पश्चात्ताप करता हुआ दुःखी होता है। भावार्थ—विषय-सामग्रीकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—१ अर्जन, २ भोग और ३ वियोग। यह जीव उक्त तीनों ही अवस्थाओं में दुःखी रहता है ॥ ७५ ॥

> यदद्याढ्यतरं मन्ये श्वस्तदप्याढ्यतरं भवेत् । यदद्य व्यसने मग्नं श्वस्तच्छ्रेयस्तरं भवेत् ॥ ७६ ॥

जो कुल आज अत्यन्त धनाढ्य और सुखी माना जाता है वही कल दरिद्र हो सकता है और जो आज अत्यन्त दुःखी है वही कल धनाढ्य और सुखी हो सकता है ॥ ७६ ॥

> सुखं दुःखानुबन्धीदं सदा सन्निधनं धनम् । संयोगा विप्रयोगास्ता विपदन्ताश्च संपदः ॥ ७७ ॥

यह सांसारिक सुख दुःख उत्पन्न करनेवाला है, धन विनाशसे सहित है, संयोगके बाद वियोग अवश्य होता है और सम्पत्तियोंके अनन्तर विपत्तियाँ आती हैं ॥ ७७ ॥

> इत्यशाश्वतिकं सर्वं जीवलोकं विलोकयन् । विषयान् विषवन्मेने पर्यन्तविरसानसौ ॥ ७८ ॥

इस प्रकार समस्त संसारको अनित्यरूपसे देखते हुए चक्रवर्तीने अन्तमें नीरस होनेवाले विषयोंको विषके समान माना था ॥ ७८ ॥

> इति निर्विद्य भोगेषु साम्राज्यभरमात्मनः । सूनवेऽमिततेजोऽभिधानाय समप्रधित्सति ॥ ७९ ॥

इस तरह विषयभोगोंसे विरक्त होकर चक्रवर्तीने अपने साम्राज्यका भार अपने अमिततेज नामक पुत्रके लिए देना चाहा ॥ ७९ ॥

> प्रधित्सताऽमुना राज्यं सानुजोऽपि न तृप्यते । समादिष्टोऽप्यसौ राज्यं सानुजो राज्यसंपदम् ॥ ८० ॥

और राज्य देनेकी इच्छासे उससे बार-बार आग्रह भी किया परन्तु वह राज्य लेनेके लिए तैयार नहीं हुआ। इसके तैयार न होनेपर इसके छोटे भाइयोंसे कहा गया परन्तु वे भी तैयार नहीं हुए ॥ ८० ॥

> सर्वथैव यदि राज्यं युष्माभिः प्रजिहासितम् । नेच्छाम्यहमनेनार्य मा भूदाज्ञाप्रलोपता ॥ ८१ ॥

अमिततेजने कहा—हे देव, जब आप ही इस राज्यको छोड़ना चाहते हैं तब यह हमें भी नहीं चाहिए। मुझे यह राज्यभार व्यर्थ मालूम होता है। हे पूज्य, मैं आपके साथ ही तपोवनको चलूँगा इससे आपकी आज्ञा भंग करनेका दोष नहीं लगेगा ॥ ८१ ॥

> युष्माभिः सममेवाहं प्रयास्यामि तपोवनम् । यौष्माकी या गतिः सा वै ममापीत्यब्रवीद् गिरम् ॥ ८२ ॥

हमने यह निश्चय किया है कि जो गति आपकी है, वही गति मेरी भी है ॥ ८२ ॥

> ततस्तन्निर्णयं ज्ञात्वा राज्यं तत्सूनवे ददौ । पुण्डरीकाय बालाय सन्तानस्थितिपालिने ॥ ८३ ॥

तदनन्तर, वज्रदन्त चक्रवर्तीने पुत्रोंका राज्य नहीं लेनेका दृढ़ निश्चय जानकर अपना राज्य, अमिततेजके पुत्र पुण्डरीकके लिए दिया। उस समय वह पुण्डरीक छोटी अवस्थाका था और वही सन्तानकी परिपाटीका पालन करनेवाला था ॥ ८३ ॥

> स यशोधरयोगीन्द्रशिष्यं गुणधरं श्रितः । सपुत्रदारो राजर्षिरदीक्षिष्ट नृपैः समम् ॥ ८४ ॥

राज्यकी व्यवस्था कर राजर्षि वज्रदन्त यशोधर तीर्थंकरके शिष्य गुणधर मुनिके समीप गये और वहाँ अपने पुत्र, स्त्रियों तथा अनेक राजाओंके साथ दीक्षित हो गये ॥ ८४ ॥

स्त्रीणां षष्टिसहस्राणि तद्विंशतिमिता नृपाः । प्रभुं तमन्वदीक्षन्त सहस्रं च सुतोत्तमाः ॥ ८५ ॥

महाराज वज्रदन्तके साथ साठ हजार रानियोंने, बीस हजार राजाओंने और एक हजार पुत्रोंने दीक्षा धारण की थी ॥ ८५ ॥

पण्डितापि तदात्मानुरूपां दीक्षां समाददे । तदेव ननु पाण्डित्यं यत् संसारात् समुद्धरेत् ॥ ८६ ॥

उसी समय श्रीमतीकी सखी पण्डिताने भी अपने अनुरूप दीक्षा धारण की—नियम ग्रहण किये थे। वास्तवमें पाण्डित्य वही है जो संसारसे उद्धार कर दे ॥ ८६ ॥

ततश्चक्रधरापायाल्लक्ष्मीमतिरगाच्छुचम् । अनुन्धर्या सहोष्णांशुवियोगान्नलिनी यथा ॥ ८७ ॥

तदनन्तर, जिस प्रकार सूर्यके वियोगसे कमलिनी शोकको प्राप्त होती है उसी प्रकार चक्रवर्ती वज्रदन्त और अमिततेजके वियोगसे लक्ष्मीमती और अनुन्धरी शोकको प्राप्त हुई थीं ॥ ८७ ॥

पुण्डरीकमथादाय पुरं मन्त्रिपुरस्कृतम् । ते प्रविष्टाः पुरीं शोकाद् विच्छायत्वमुपागताम् ॥ ८८ ॥

पश्चात् जिन्होंने दीक्षा नहीं ली थी मात्र दीक्षाका उत्सव देखनेके लिए उनके साथ-साथ गये थे ऐसे प्रजाके लोग, मन्त्रियों-द्वारा अपने आगे किये गये पुण्डरीक बालकको साथ लेकर नगरमें प्रविष्ट हुए। उस समय वे सब शोकसे कान्तिशून्य हो रहे थे ॥ ८८ ॥

ततोऽभून्महती चिन्ता लक्ष्मीमत्या महाभरे । राज्ये बालोऽयमुद्व्यक्तः स्थापितो नप्तृभाण्डकः ॥ ८९ ॥

तदनन्तर लक्ष्मीमतीको इस बातकी भारी चिन्ता हुई कि इतने बड़े राज्यपर एक छोटा-सा अप्रसिद्ध बालक स्थापित किया गया है। यह हमारा नप्तृ (नाती) है ॥ ८९ ॥

कथं नु पालयाम्येनं विना पक्षबलादहम् । वज्रजङ्घस्य वार्त्ताऽद्य प्रहिणोम्यथ धीमतः ॥ ९० ॥

बिना किसी पक्षकी सहायताके मैं इसकी रक्षा किस प्रकार कर सकूँगी। मैं यह सब समाचार आज ही बुद्धिमान् वज्रजंघके पास भेजती हूँ ॥ ९० ॥

> तेनाधिष्ठितमेतस्य राज्यं निष्कण्टकं भवेत् । अन्यथा नश्यति राज्यं वलद्भिर्नृपैः ॥ ९१ ॥

उनके द्वारा अधिष्ठित (व्यवस्थित) हुआ इस बालकका यह राज्य अवश्य ही निष्कण्टक हो जायेगा अन्यथा इसपर आक्रमण कर बलवान् राजा इसे अवश्य ही नष्ट कर देंगे ॥ ९१ ॥

> निश्चित्येति समाहूय तौ मन्दरमालिना । सुन्दर्याश्च खगाधीशौ गन्धर्वपुरपालिनौ ॥ ९२ ॥

ऐसा निश्चय कर लक्ष्मीमतीने गन्धर्वपुरके राजा मन्दरमाली और रानी सुन्दरीके चिन्तागति और मनोगति नामक दो विद्याधर पुत्र बुलाये ॥ ९२ ॥

> चिन्तामनोगती विज्ञावुभौ दक्षौ महाशयान् । सस्नेहौ श्रुताशेषशास्त्रार्थौ कार्यकोविदौ ॥ ९३ ॥

वे दोनों ही पुत्र चक्रवर्तीसे भारी स्नेह रखते थे, पवित्र हृदयवाले, चतुर, उच्चकुलमें उत्पन्न, परस्परमें अनुरक्त, समस्त शास्त्रोंके जानकार और कार्य करनेमें बड़े ही कुशल थे ॥ ९३ ॥

> करण्डस्थिततत्कार्यपत्रकौ सोपायनौ तदा । प्रहिणोद् वज्रजङ्घाय देवी सन्देशपूर्वकम् ॥ ९४ ॥

इन दोनोंको, एक पिटारेमें रखकर समाचारपत्र दिया तथा दामाद और पुत्रीको देनेके लिए अनेक प्रकारकी भेंट दी और नीचे लिखा हुआ सन्देश कहकर उन्हें राजा वज्रजंघके पास भेज दिया ॥ ९४ ॥

> चक्रवर्ती वनं यातः सपुत्रपरिवारकः । पुण्डरीकस्तु राज्येऽस्मिन् पुण्डरीकाननः स्थितः ॥ ९५ ॥

वज्रदन्त चक्रवर्ती अपने पुत्र और परिवारके साथ वनको चले गये हैं—वनमें जाकर दीक्षित हो गये हैं। उनके राज्यपर कमलके समान मुखवाला पुण्डरीक बैठाया गया है ॥ ९५ ॥

> क्व चक्रवर्तिनो राज्यं क्व चायं बालकोऽतिदुर्बलः । तदयं पुंगवोद्धार्ये भारे वत्सो नियोजितः ॥ ९६ ॥

परन्तु कहाँ तो चक्रवर्तीका राज्य और कहाँ यह दुर्बल बालक? सचमुच एक बड़े भारी बैलके द्वारा उठाने योग्य भारके लिए एक छोटा-सा बछड़ा नियुक्त किया गया है ॥ ९६ ॥

> बालोऽयमनवद्ये चावां राज्यं चेदमनायकम् । विशीर्णप्रायमेतस्य त्राता त्वयि तिष्ठति ॥ ९७ ॥

यह पुण्डरीक बालक है और हम दोनों सास-बहू स्त्री हैं इसलिए यह बिना स्वामीका राज्य प्रायः नष्ट हो रहा है। अब इसकी रक्षा आपपर ही अवलम्बित है ॥ ९७ ॥

> अकालहरणं तस्मादागन्तव्यं महाधिया । त्वया त्वत्सन्निधानेन भूयाद् राज्यमनिष्कवम् ॥ ९८ ॥

अतएव अविलम्ब आइए। आप अत्यन्त बुद्धिमान् हैं। इसलिए आपके सन्निधानसे यह राज्य निरुपद्रव हो जायेगा ॥ ९८ ॥

> इति वाचिकमादाय तौ तदोत्पेततुर्नभः । पयोदांस्त्वरया दूरमाकर्षन्तौ समीरणान् ॥ ९९ ॥

ऐसा सन्देश लेकर वे दोनों उसी समय आकाशमार्गसे चलने लगे। उस समय वे समीपमें स्थित मेघोंको अपने वेगसे दूर तक खींचकर ले जाते थे ॥ ९९ ॥

> क्वचिज्जलधरांस्तुङ्गान स्वमार्गस्य निरोधिनः । विभिन्दन्तौ पयोबिन्दून् क्षरतोऽश्रुलवानिव ॥ १०० ॥

वे कहींपर अपने मार्गमें रुकावट डालनेवाले ऊँचे-ऊँचे मेघोंको चीरते हुए जाते। उस समय उन मेघोंसे जो पानीकी बूँदें पड़ रही थीं उनसे ऐसे मालूम होते थे मानो आँसू ही बहा रहे हों ॥ १०० ॥

> तौ पश्यन्तौ नदीर्दूरान् तन्वीरत्यन्तपाण्डुराः । घनागमस्य वियोगेन विरहेणेव योषितः ॥ १०१ ॥

कहीं नदियोंको देखते जाते थे, वे नदियाँ दूर होनेके कारण ऊपरसे अत्यन्त पतली और श्वेत दिखाई पड़ती थीं जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वर्षाकालरूपी पतिके विरहसे कृश और पाण्डुरवर्ण हो गयी हों ॥ १०१ ॥

मन्वानौ दूरभावेन पारिमाण्डल्यमागतान् । भूमाविव निमग्नाङ्गान् भीतापत्याद् गिरीन् ॥ १०२ ॥

वे पर्वत भी देखते जाते थे उन्हें दूरीके कारण वे पर्वत गोल-गोल दिखाई पड़ते थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो सूर्यके संतापसे डरकर जमीनमें ही छिपे जा रहे हों ॥ १०२ ॥

दीर्घिकातोयसंस्थानं न्यस्तमेकमतिवर्तुलम् । सिन्दूरबिन्दुवद् दूरहेतोः प्रेक्षमाणावनुक्षणम् ॥ १०३ ॥

वे बावडियोंका जल भी देखते जाते थे दूरीके कारण वह जल उन्हें अत्यन्त गोल मालूम होता था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो पृथ्वीरूपी स्त्रीने चन्द्रका सफेद तिलक ही लगाया हो ॥ १०३ ॥

क्रमादापततामेतौ पुरमुत्पलखेटकम् । मन्द्रसङ्गीतनिर्घोषबधिरीकृतदिङ्मुखम् ॥ १०४ ॥

इस प्रकार प्रत्येक क्षण मार्गकी शोभा देखते हुए वे दोनों अनुक्रमसे उत्पलखेटक नगर जा पहुँचे। वह नगर संगीत शालाओंसे होनेवाले गम्भीर शब्दोंसे दिशाओंको वधिर (बहरा) कर रहा था ॥ १०४ ॥

दूतैः प्रणीयमानौ च प्रविश्य नृपमन्दिरम् । महाजने समासीनं वज्रजङ्घमपश्यताम् ॥ १०५ ॥

जब वे दोनों भाई राजमन्दिरके समीप पहुँचे तब द्वारपाल उन्हें भीतर ले गये। उन्होंने राजमन्दिरमें प्रवेश कर राजसभामें बैठे हुए वज्रजंघके दर्शन किये ॥ १०५ ॥

कृतप्रणामौ तौ तस्मै पुरो रत्नकरण्डकम् । निक्षिक्षिपतुरन्तस्थपत्रकं सदुपायनम् ॥ १०६ ॥

उन दोनों विद्याधरोंने उन्हें प्रणाम किया और फिर उनके सामने, लायी हुई भेंट तथा जिसके भीतर पत्र रखा हुआ है ऐसा रत्नमय पिटारा रख दिया ॥ १०६ ॥

उद्घाट्य तदन्तस्थं जग्राह कार्यपत्रकम् । निर्णीय विस्मितश्चक्रवर्तिप्राव्रज्य निर्णयात ॥ १०७ ॥

महाराज वज्रजंघने पिटारा खोलकर उसके भीतर रखा हुआ आवश्यक पत्र ले लिया। उसे देखकर उन्हें चक्रवर्तीके दीक्षा लेनेका निर्णय हो गया और इस बातसे वे बहुत ही विस्मित हुए ॥ १०७ ॥

> अहो चक्रधरः पुण्यमाहौ साम्राज्यवैभवम् । विहाय दीक्षामुपादत्त विविक्ताङ्गीमिव स्त्रियम् ॥ १०८ ॥

वे विचारने लगे कि अहो, चक्रवर्ती बड़ा ही पुण्यात्मा है जिसने इतने बड़े साम्राज्यके वैभवको छोड़कर पवित्र अंगवाली स्त्रीके समान दीक्षा धारण की है ॥ १०८ ॥

> अहो पुण्यधनाः पुत्राश्चक्रिणोऽचिन्त्यसाहसाः । अवमत्याधिराज्यं ये त्यक्त्वा पित्रा दिवीक्षिरे ॥ १०९ ॥

अहो! चक्रवर्तीके पुत्र भी बड़े पुण्यशाली और अचिन्त्य साहसके धारक हैं जिन्होंने इतने बड़े राज्यको ठुकराकर पिताके साथ ही दीक्षा धारण की है ॥ १०९ ॥

> पुण्डरीकस्तु संफुल्लपुण्डरीकाननद्युतिः । राज्ये निवेशितो बाला लक्ष्म्याः स्तनन्धयः ॥ ११० ॥

फूले हुए कमलके समान मुखकी कान्तिका धारक बालक पुण्डरीक राज्यके इस महान् भारको वहन करनेके लिए नियुक्त किया गया है ॥ ११० ॥

> मामी च सन्निधानं मे प्रतिपालयति द्रुतम् । तद्राज्यप्रशमायेति निर्णयः कार्यसम्भवः ॥ १११ ॥

और मामी लक्ष्मीमती 'कार्य चलाना कठिन है' यह समझकर राज्यमें शान्ति रखनेके लिए शीघ्र ही मेरा सन्निधान चाहती हैं अर्थात् मुझे बुला रही हैं ॥ १११ ॥

> इति निश्चित्य लेखाथं सुधीः कृत्यकोविदः । स्वयं निर्णीतमर्थं स श्रीमतीमप्यबोधयत् ॥ ११२ ॥

इस प्रकार कार्य करनेमें चतुर बुद्धिमान् वज्रजंघने पत्रका ठीक-ठीक निश्चय कर स्वयं निर्णय कर लिया और अपना निर्णय श्रीमतीको भी समझा दिया ॥ ११२ ॥

> वाचिकेन च संवादं समासाद्य विभावयन् । गन्तुं पुण्डरीकिण्यां मतिमाधात् स धैर्यवान् ॥ ११३ ॥

पत्रके सिवाय उन विद्याधरोंने लक्ष्मीमतीका कहा हुआ मौखिक सन्देश भी सुनाया था जिससे वज्रजंघको पत्रके अर्थका ठीक-ठीक निर्णय हो गया था। तदनन्तर बुद्धिमान् वज्रजंघने पुण्डरीकिणी पुरी जानेका विचार किया ॥ ११३ ॥

> श्रीमतीं च समाश्वास्य तद्वार्त्ताकर्णनाकुलाम् । तया समं समालोच्य प्रयाणं निश्चिचाय सः ॥ ११४ ॥

पिता और भाईके दीक्षा लेने आदिके समाचार सुनकर श्रीमतीको बहुत दुःख हुआ था परन्तु वज्रजंघने उसे समझाया और उसके साथ भी गुण-दोषका विचार कर साथ-साथ वहाँ जानेका निश्चय किया ॥ ११४ ॥

> विसर्ज्य च पुरस्तौ दूतौ कृतसत्क्रियौ । स्वयं तदनुमार्गेण प्रयाणायोद्यतो बभौ ॥ ११५ ॥

तदनन्तर खूब आदर-सत्कारके साथ उन दोनों विद्याधर दूतोंको उन्होंने आगे भेज दिया और स्वयं उनके पीछे प्रस्थान करनेकी तैयारी की ॥ ११५ ॥

> ततो मतिवरानन्दौ धनमित्रोऽप्यकम्पनः । महामन्त्रिपुरोधोऽग्र्यश्रेष्ठिसनाधिनायकाः ॥ ११६ ॥

तदनन्तर मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन इन चारों महामन्त्री, पुरोहित, राजसेठ और सेनापतिोंने ॥ ११६ ॥

> प्रधानपुरुषाश्चान्ये प्रयाणोद्यतबुद्धयः । परिवव्रुर्नरपतिं तं शतक्रतुमिव सुराः ॥ ११७ ॥

तथा और भी चलनेके लिए उद्यत हुए प्रधान पुरुषोंने आकर राजा वज्रजंघको उस प्रकार घेर लिया था जिस प्रकार कि कहीं जाते समय इन्द्रको देव लोग घेर लेते हैं ॥ ११७ ॥

> तस्मिन्नेवाह्नि सोऽथाय प्रस्थानमकरोत् कृती । महान् प्रयाणसंक्षोभस्तदाभूत् कर्मयोगिनाम् ॥ ११८ ॥

उस कार्यकुशल वज्रजंघने उसी दिन शीघ्र ही प्रस्थान कर दिया। प्रस्थान करते समय अधिकारी कर्मचारियोंमें बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥ ११८ ॥

> यूयमाबद्धसौवर्णाः प्रवेयादिपरिच्छदाः । करेणुर्मदहीनाश्च सतीः कुलवधूरिव ॥ ११९ ॥

वे अपने सेवकोंसे कह रहे थे कि तुम रानियोंके सवार होनेके लिए शीघ्र ही ऐसी हथिनियाँ लाओ जिनके गलेमें सुवर्णमय मालाएँ पड़ी हों, पीठपर सुवर्णमय झूलें पड़ी हों और जो मदरहित होनेके कारण कुलीन स्त्रियोंके समान साध्वी हों ॥ ११९ ॥

> राज्ञीनामधिरोहाय सज्जः प्रापयत द्रुतम् । यूयमश्वतरीस्तूर्णं पर्याणयत शीघ्रगाः ॥ १२० ॥

तुम लोग शीघ्र चलनेवाली खच्चरियोंको जीन कसकर शीघ्र ही तैयार करो ॥ १२० ॥

> नृपवल्लिकानां च यूयमर्पयताश्रियम् । काचवाहजनान् युक्तान् गवेषयत दुर्दमान् ॥ १२१ ॥

तुम स्त्रियोंके चढ़नेके लिए पालकी लाओ और तुम पालकी ले जानेवाले मजबूत कहारोंको खोजो ॥ १२१ ॥

> अश्वतरं चेदमापाय्योदकर्माशुगम् । बद्धपर्याणकं यूयं कुरुध्वं सुवयोऽन्वितम् ॥ १२२ ॥

तुम शीघ्रगामी तरुण घोड़ोंको पानी पिलाकर और जीन कसकर शीघ्र ही तैयार करो ॥ १२२ ॥

> भुजिष्याः सर्वकर्मज्ञा यूयमाह्वयत द्रुतम् । पाकधान्यपरिक्षोदशोधनादिनियोगिनीः ॥ १२३ ॥

तुम शीघ्र ही ऐसी दासियाँ बुलाओ जो सब काम करनेमें चतुर हों और खासकर रसोई बनाना, अनाज पीसना, शोधना आदिका कार्य कर सकें ॥ १२३ ॥

> यूयं सेनाग्रगा भूत्वा निवेशं प्रति मूर्च्छिताः । अनुतिष्ठत सत्कायो मानगर्भा महाद्युतीः ॥ १२४ ॥

तुम सेनाके आगे-आगे जाकर योग्य जगहपर डेरा-तम्बू आदि तैयार करो तथा घास-फूस आदिके बड़े-बड़े ढेर लगाकर भी तैयार करो ॥ १२४ ॥

यूयं महानसे व्यग्रा नियुक्ताः सर्वकर्मसु । समज्जैयत तद्योग्यां सामग्रीं निर्विशङ्कया ॥ १२५ ॥

तुम लोग सब सम्पदाओंके अधिकारी हो इसलिए महाराजकी भोजनशालामें नियुक्त किये जाते हो। तुम बिना किसी प्रतिबन्धके भोजनशालाकी समस्त योग्य सामग्री इकट्ठी करो ॥ १२५ ॥

यूयं गोमण्डलं चारु पयस्वद् वत्ससंयुतम् । सोदकेषु प्रदेशेषु सच्छायेष्वभिरक्षत ॥ १२६ ॥

तुम बहुत दूध देनेवाली और बछड़ोंसहित सुन्दर-सुन्दर गायें ले जाओ, मार्गमें उन्हें जलसहित और छायावाले प्रदेशोंमें सुरक्षित रखना ॥ १२६ ॥

यूयमारक्षत व्यात्तं राजकोषं समन्ततः । सपाठीना इवाम्भोधेस्तरङ्गा भासुरातपः ॥ १२७ ॥

तुम लोग हाथमें चमकती हुई तलवार लेकर मछलियोंसहित समुद्रकी तरंगोंके समान शोभायमान होते हुए बड़े प्रयत्नसे राजाके रनवासकी रक्षा करना ॥ १२७ ॥

यूयं कञ्चुकिनो भूत्वा मध्येऽन्तःपुरयोषिताम् । अङ्गरक्षानियोगं स्वमशून्यं कुरुताऽऽदृताः ॥ १२८ ॥

तुम वृद्ध कंचुकी लोग अन्तःपुरकी स्त्रियोंके मध्यमें रहकर बड़े आदरके साथ अंगरक्षाका कार्य करना ॥ १२८ ॥

यूयमत्रैव पाश्चात्याः कर्माण्येवानुतिष्ठत । यूयं समं समागत्य स्वान् स्वान् नियोगान् प्रपश्यत ॥ १२९ ॥

तुम लोग यहाँ ही रहना और पीछेके कार्य बड़ी सावधानीसे करना। तुम साथ-साथ जाओ और अपने-अपने कार्य देखो ॥ १२९ ॥

देशाधिकारिणो गत्वा यूयं चोदयत द्रुतम् । प्रतिग्रहीतुं भूनाथं सामग्र्या स्वानुरूपया ॥ १३० ॥

तुम लोग जाकर देशके अधिकारियोंसे इस बातकी शीघ्र ही प्रेरणा करो कि वे अपनी योग्यतानुसार सामग्री लेकर महाराजको लेनेके लिए आयें ॥ १३० ॥

> यूयं रिरक्षत हस्त्यश्वं यूयं पालयतौष्ट्रकम् । यूयं सवत्सां भूरिक्षीरां गां पालयत यत्नतः ॥ १३१ ॥

तुम हाथियों और घोड़ोंकी रक्षा करना, तुम ऊँटोंका पालन करना और तुम बहुत दूध देनेवाली बछड़ोंसहित गायोंकी रक्षा करना ॥ १३१ ॥

> यूयं जैनेश्वरीमर्च्यां रत्नत्रयपुरःसराम् । यजेत शान्तिकं कर्म समाधाय महीक्षितः ॥ १३२ ॥

तुम महाराजके लिए शान्ति-विधान करके रत्नत्रयके साथ-साथ जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाकी पूजा करो ॥ १३२ ॥

> कृताभिषेचनाः सिद्धशेषां गन्धाम्बुमिश्रिताम् । यूयं क्षिपेत पुण्याशीः शान्तिघोषैः समं प्रभोः ॥ १३३ ॥

तुम पहले जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करो और फिर शान्तिवाचनके साथ-साथ पवित्र आशीर्वाद देते हुए महाराजके मस्तकपर गन्धोदकसे मिले हुए सिद्धोंके शेषाक्षत क्षेपण करो ॥ १३३ ॥

> यूयं नैमित्तिकाः सम्यङ् निरूपितशुभोदयाः । प्रस्थानसमयं ब्रूत यात्रासिद्धये ॥ १३४ ॥

तुम ज्योतिषी लोग ग्रहोंके उदयादिका अच्छा निरूपण करते हो इसलिए महाराजकी यात्राकी सफलताके लिए प्रस्थानका उत्तम समय बताओ ॥ १३४ ॥

> इति तन्नियुक्तानां तदा कोलाहलो महान् । उदतिष्ठत् प्रयाणाय सामग्रीमनुतिष्ठताम् ॥ १३८ ॥

इस प्रकार उस समय वहाँ महाराज वज्रजंघके प्रस्थानके लिए सामग्री इकट्ठी करनेवाले कर्मचारियोंका भारी कोलाहल हो रहा था ॥ १३८ ॥

> ततः करीन्द्रैस्तुरगैः पत्तिमिश्चोद्धतायुधैः । नृपाजिरमभूत् पूर्णं स्यन्दनैश्च समन्ततः ॥ १३६ ॥

तदनन्तर राजभवनके आगेका चौक हाथी, घोड़े, रथ और हथियार लिये हुए पियादोंसे खचाखच भर गया था ॥ १३६ ॥

सितातपत्रैर्मायूरपिच्छच्छत्रैश्च मूर्च्छितैः । निरुद्धमभवद् व्योम घनैरीव सितासितैः ॥ १३७ ॥

उस समय ऊपर उठे हुए सफेद छत्रोंसे तथा मयूरपिच्छके बने हुए नीले-नीले छत्रोंसे आकाश व्याप्त हो गया था जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो कुछ सफेद और कुछ काले मेघोंसे ही व्याप्त हो गया हो ॥ १३७ ॥

छत्राणां मण्डलै रुद्धं तेजोऽपि भास्वतः । सवृत्तानां सन्निधौ मन्दं भवति तेजस्विनामपि ॥ १३८ ॥

उस समय तने हुए छत्रोंके समूहसे सूर्यका तेज भी रुक गया था सो ठीक ही है। सद्वृत्त—सदाचारी पुरुषोंके समीप तेजस्वी पुरुषोंका भी तेज नहीं ठहर पाता। छत्र भी सद्वृत्त—सदाचारी (पक्षमें) गोल थे इसलिए उनके समीप सूर्यका तेज नहीं ठहर पाया था ॥ १३८ ॥

रथानां वारणानां च केतवोऽन्योन्यतोऽस्पृशन् । पवनान्दोलिता दीर्घकालाद् दृष्ट्वेव बन्धवः ॥ १३९ ॥

उस समय रथों और हाथियोंपर लगी हुई पताकाएँ वायुके वेगसे हिलती हुईं आपसमें मिल रही थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो बहुत समय बाद एक दूसरेको देखकर सन्तुष्ट हो परस्परमें मिल ही रही हों ॥ १३९ ॥

अश्वक्षुरक्षताद् भूमेः प्रोत्थिता रेणवः पुरः । मार्गमस्येव निर्देष्टुं नभोमार्गविलङ्घिनः ॥ १४० ॥

घोड़ोंकी टापोंसे उठी हुई धूलि आगे-आगे उड़ रही थी जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह वज्रजंघको मार्ग दिखानेके लिए ही आकाश प्रदेशका उल्लंघन कर रही हो ॥ १४० ॥

करिणां मदधाराभिः शीकरैश्च करोज्झितैः । हयलालाजलैश्चापि शशाम महोरजः ॥ १४१ ॥

हाथियोंकी मदधारासे, उनकी सूँडसे निकले हुए जलके छींटोंसे और घोड़ोंकी लार तथा फेनसे वह सारी धूल जहाँकी तहाँ शान्त हो गयी थी ॥ १४१ ॥

अथ पुराद् विनिर्यान्ती सा चमूर्व्यरुचद् दृशाम् । महानदीव सच्छत्रफेना वाजितरङ्गिका ॥ १४२ ॥

तदनन्तर, नगरसे बाहर निकलती हुई वह सेना किसी महानदीके समान अत्यन्त शोभायमान हो रही थी अर्थात् जिस प्रकार महानदीमें फेन होता है उसी प्रकार उस सेनामें सफेद छत्र थे और नदीमें जिस प्रकार लहरें होती हैं उसी प्रकार उसमें अनेक घोड़े थे ॥ १४२ ॥

> करीन्द्रपृथुग्राहा तुरङ्गतरङ्गाकुला । विलोलासिलतामत्स्या बभौ सा चमूधुनी ॥ १४३ ॥

अथवा बड़े-बड़े हाथी ही जिसमें बड़े-बड़े जलजन्तु थे, घोड़े ही जिसमें तरंगें थीं और चंचल तलवारें ही जिसमें मछलियाँ थीं ऐसी वह सेनारूपी नदी बड़ी ही सुशोभित हो रही थी ॥ १४३ ॥

> ततः समीकृताशेषस्थलनिम्नमहीतला । असावतीव महती प्रससार चमूर्वने ॥ १४४ ॥

उस सेनाने ऊँची-नीची जमीनको सम कर दिया था तथा वह चलते समय बड़े भारी मार्गमें भी नहीं समाती थी इसलिए वह अपनी इच्छानुसार जहाँ-तहाँ फैलकर जा रही थी ॥ १४४ ॥

> वनेभकटमुज्झित्वा दानसक्ता मदालिनः । न्यलीयन्त नृपेभेन्द्रकरटैः प्रक्षरन्मदैः ॥ १४५ ॥

प्रायः नवीन वस्तु ही लोगोंको अधिक आनन्द देती है—संसारमें जो यह कहावत प्रसिद्ध है, वह बिल्कुल ठीक है। इसीलिए तो मदके लोभी भ्रमर जंगली हाथियोंके गण्डस्थल छोड़-छोड़कर राजा वज्रजंघकी सेनाके हाथियोंके मद झरते हुए गण्डस्थलोंमें निलीन हो रहे थे ॥ १४५ ॥

> रम्यान वनतरून् हित्वा राजस्तम्बैरमानभून् । आश्रयन्मधुपाः प्रायः प्रत्यग्रं लोकरञ्जनम् ॥ १४६ ॥

और सुगन्धके लोभी कितने ही भ्रमर वनके मनोहर वृक्षोंको छोड़कर महाराजके हाथियोंपर आ लगे थे ॥ १४६ ॥

> ते समेत्य रस्याणि प्रत्यगृह्णन्निवाध्वनि । फलपुष्पभरोन्नम्रैः सान्द्रच्छायैर्महाद्रुमैः ॥ १४७ ॥

मार्गमें जगह-जगहपर फल और फूलोंके भारसे झुके हुए तथा सघन छायावाले बड़े-बड़े वृक्ष लगे हुए थे। उनसे ऐसा मालूम होता था मानों मनोहर वन उन वृक्षोंके द्वारा मार्गमें महाराज वज्रजंघका सत्कार ही कर रहे हों ॥ १४७ ॥

तदा वनलतापुष्पपल्लवान् कुलस्त्रियः । आजहुरवतंसादिविन्यासाय करैः प्रियैः ॥ १४८ ॥

उस समय स्त्रियोंने कर्णफूल आदि आभूषण बनानेके लिए अपने कर-पल्लवोंसे वनलताओंके बहुत-से फूल और पत्ते तोड़ लिये थे ॥ १४८ ॥

ध्रुवमक्षीणपुष्पर्द्धिं प्राप्तास्ते वनशाखिनः । यत्सैनिकोपभोगेऽपि न जहुः पुष्पसंपदम् ॥ १४९ ॥

मालूम होता है कि उन वनके वृक्षोंको अवश्य ही अक्षीणपुष्प नामकी ऋद्धि प्राप्त हो गयी थी इसीलिए तो सैनिकों-द्वारा बहुत-से फूल तोड़ लिये जानेपर भी उन्होंने फूलोंकी शोभाका परित्याग नहीं किया था ॥ १४९ ॥

हयहेषितमातङ्गबृहद्बृंहितनिस्वनः । मुखरं तद्बलं शष्पसरोवरमथासदत् ॥ १५० ॥

अथानन्तर घोड़ोंके हींसने और हाथियोंकी गम्भीर गर्जनाके शब्दोंसे शब्दायमान वह सेना क्रम-क्रमसे शष्प नामक सरोवरपर जा पहुँची ॥ १५० ॥

यदम्बुजरजःपुञ्जपिञ्जरीकृतवीचिकम् । कनकद्रवसच्छायां बिभ्रत् स्निग्धांशुशीतलम् ॥ १५१ ॥

उस सरोवरकी लहरें कमलोंकी परागके समूहसे पीली-पीली हो रही थीं और इसीलिए वह पिघले हुए सुवर्णके समान पीले तथा शीतल जलको धारण कर रहा था ॥ १५१ ॥

वनषण्डवृतप्रान्तं यदर्कस्यांशवो भृशम् । न तपुः को वा तपेदाद्रन्तरात्मकम् ॥ १५२ ॥

उस सरोवरके किनारेके प्रदेश हरे-हरे वनखण्डोंसे घिरे हुए थे इसलिए सूर्यकी किरणें उसे सन्तप्त नहीं कर सकती थीं सो ठीक ही है जो संवृत है—वन आदिसे घिरा हुआ है (पक्षमें गुप्ति समिति आदिसे कर्मोंका संवर करनेवाला है) और जिसका अन्तःकरण—मध्यभाग (पक्षमें हृदय) आर्द्र है—जलसे सहित होनेके कारण गीला है (पक्षमें दयासे भींगा है) उसे कौन सन्तप्त कर सकता है! ॥ १५२ ॥

विहङ्गरुतैर्नूनं प्राहूयद् नृपसाधनम् । अत्राश्रमे निवेष्टव्यमिहेत्युद्वीचिबाहुकम् ॥ १५३ ॥

उस सरोवरमें लहरें उठ रही थीं और किनारेपर हंस, चकवा आदि पक्षी मधुर शब्द कर रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह सरोवर लहररूपी बाहु उठाकर पक्षियोंके द्वारा मधुर शब्द करता हुआ "यहाँ ठहरिए" इस तरह वज्रजंघकी सेनाको बुला ही रहा हो ॥ १५३ ॥

> ततस्तस्मिन् सरस्यस्य न्यविशत बलं प्रभोः । तरुगुल्मलताच्छन्नपर्यन्ते मन्दमारुते ॥ १५४ ॥

तदनन्तर, जिसके किनारे छोटे-बड़े वृक्ष और लताओंसे घिरे हुए हैं तथा जहाँ मन्द-मन्द वायु बहती रहती है ऐसे उस सरोवरके तटपर वज्रजंघकी सेना ठहर गयी ॥ १५४ ॥

> अकृशाः शफरीव्रीडां चक्रुः स्थानान्यपसारिताः । आदेशैरिव संप्राप्तैः स्थानिनो हन्त्यादयः ॥ १५५ ॥

जिस प्रकार व्याकरणमें 'वध' 'आदेश' आदि प्राप्त होनेपर हन् आदि स्थानी अपना स्थान छोड़ देते हैं उसी प्रकार इस तालाबके किनारे बलवान् प्राणियों-द्वारा ताड़ित हुए दुर्बल प्राणियोंने अपने स्थान छोड़ दिये थे। भावार्थ— सैनिकोंसे डरकर हरिण आदि निर्बल प्राणी अन्यत्र चले गये थे और उनके स्थानपर सैनिक ठहर गये थे ॥ १५५ ॥

> विजहुर्निजनीडानि विहगास्तत्रसुर्मृगाः । मृगेन्द्रा बलसंक्षोभात् शनैः समुदमीलयन् ॥ १५६ ॥

उस सेनाके क्षोभसे पक्षियोंने अपने घोंसले छोड़ दिये थे, मृग भयभीत हो गये थे और सिंहोंने धीरे-धीरे आँखें खोली थीं ॥ १५६ ॥

> शाखाविषक्तभूषादिरुचिरा वनपादपाः । कल्पद्रुमश्रियं भेजुराश्रितैर्मिथुनैर्मिथः ॥ १५७ ॥

सेनाके जो स्त्री-पुरुष वनवृक्षोंके नीचे ठहरे थे उन्होंने उनकी डालियोंपर अपने आभूषण, वस्त्र आदि टाँग दिये थे इसलिए वे वृक्ष कल्पवृक्षकी शोभाको प्राप्त हो रहे थे ॥ १५७ ॥

> कुसुमापचये यत्ताः पादपा विटपैर्नताः । आनुकूल्यमिवातेनुः संस्मृतातिथ्यसत्क्रियाः ॥ १५८ ॥

पुष्प तोड़ते समय वे वृक्ष अपनी डालियोंसे झुक जाते थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वे वृक्ष आतिथ्य-सत्कारको उत्तम समझकर उन पुष्प तोड़नेवालोंके प्रति अपनी अनुकूलता ही प्रकट कर रहे हों ॥ १५८ ॥

कृतावगाहना नार्यः स्तनघ्नं सरोजलम् । रूपसौन्दर्यलोभेन तद्ग्रतीरिव योषितः ॥ १५९ ॥

सेनाकी स्त्रियाँ उस सरोवरके जलमें स्तन तक प्रवेश कर स्नान कर रही थीं, उस समय वे ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो सरोवरका जल उनके सौन्दर्यका लाभ समझकर उन्हें अपने-आपमें निगल ही रहा हो ॥ १५९ ॥

व्रणीभूतदृढस्कन्धान् विगाह्य काचवाहकान् । स्वात्माहुतिव्ययत्रासादचकम्पे वीक्ष्य तत्सरः ॥ १६० ॥

भार ढोनेसे जिनके मजबूत कन्धोंमें बड़ी-बड़ी गट्टे पड़ गयी हैं, ऐसे कहार लोगोंको स्नान करते हुए देखकर वह तालाब 'इनके द्वारा हमारा बहुत-सा जल व्यर्थ ही चला जायगा' मानो इस भयसे ही काँप उठा था ॥ १६० ॥

निक्षिप्य परिधिश्चक्रे दृष्यकुटीभेदा निवेशिताः । विरेजुर्भविष्यज्जिनस्य वनश्रोभिरिवालयाः ॥ १६१ ॥

इस तालाबके किनारे चारों ओर तने हुए तम्बू ऐसे मालूम होते थे मानो वनलक्ष्मीने भविष्यत्कालमें तीर्थंकर होनेवाले वज्रजंघके लिए उत्तम भवन ही बना दिये हों ॥ १६१ ॥

निपत्य भुवि भूयोऽपि प्रोत्थाय कृतबर्हणाः । तैलाभ्यक्ता इवोत्तस्थुर्गजा मल्ला इवोद्धताः ॥ १६२ ॥

जमीनमें लोटनेके बाद खड़े होकर हींसते हुए घोड़े ऐसे मालूम होते थे मानो तेल लगाकर पुष्ट हुए उद्धत मल्ल ही हों ॥ १६२ ॥

मधुपानादिव क्रुद्धा बद्धाः शाखिषु दन्तिनः । सुवंशा जगतां पूज्या बलादाधोरणैस्तदा ॥ १६३ ॥

अपनी उत्तम रीढ़वाले हाथी मद झरनेके कारण कुपित होनेपर ही मानो महावतों-द्वारा बाँध दिये गये थे जैसे कि जगत्पूज्य और कुलीन भी पुरुष मद्यपानके कारण बाँधे जाते हैं ॥ १६३ ॥

यथास्वं सन्निविष्टेषु सैन्येषु स ततो नृपः । शिविरं प्रापदश्वेन जवेनाविदितान्तरम् ॥ १६४ ॥

तदनन्तर जब समस्त सेना अपने-अपने स्थानपर ठहर गयी तब राजा वज्रजंघ मार्ग तय करनेमें चतुर—शीघ्रगामी घोड़ेपर बैठकर शीघ्र ही अपने डेरेमें जा पहुँचे ॥ १६४ ॥

तुरङ्गमखुरोद्धूतरजोलूषितमूर्तयः । स्विद्यन्तः सादिनः प्राप्तास्ते तदाऽऽतपे ॥ १६५ ॥

घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई धूलिसहित जिसके शरीर व्याप्त हो रहे हैं ऐसे घुड़सवार लोग पसीनेसे युक्त होकर उस समय डेरेपर पहुँचे जिस समय कि सूर्य उनके ललाटको तपा रहा था ॥ १६५ ॥

कायमाने महामाने राजा तत्रावसत् सुखम् । सरोजलतरङ्गोत्थमृदुमारुतशीतले ॥ १६६ ॥

जहाँ सरोवरके जलकी तरंगोंसे उठती हुई मन्द वायुके द्वारा भारी शीतलता विद्यमान थी ऐसे तालाबके किनारेपर बहुत ऊँचे तम्बूमें राजा वज्रजंघने सुखपूर्वक निवास किया ॥ १६६ ॥

ततो दमधराभिख्यः श्रीमानम्बरचारणः । समं सागरसेनेन तन्निवेशमुपाययौ ॥ १६७ ॥

तदनन्तर आकाशमें गमन करनेवाले श्रीमान् दमधर नामक मुनिराज, सागरसेन नामक मुनिराजके साथ-साथ वज्रजंघके पड़ावमें पधारे ॥ १६७ ॥

कान्तारचर्यां संधार्य पर्यटन्तौ यदृच्छया । आगच्छन्तौ वने तत्र साम्प्राप्तौ तावुपेयतुः ॥ १६८ ॥

उन दोनों मुनियोंने वनमें ही आहार लेनेकी प्रतिज्ञा की थी इसलिए इच्छानुसार विहार करते हुए वे वज्रजंघके डेरेके समीप आये ॥ १६८ ॥

दूरादेव युगं दृष्ट्वा राजतापश्यन्महामुनी । स्वर्गापवर्गयोर्मार्गाविव प्रक्षीणकल्मषौ ॥ १६९ ॥

वे मुनिराज अतिशय कान्तिके धारक थे, और पापकर्मोंसे रहित थे इसलिए ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो स्वर्ग और मोक्षके साक्षात् मार्ग ही हों ऐसे दोनों मुनियोंको राजा वज्रजंघने दूरसे ही देखा ॥ १६९ ॥

स्वाङ्गदीप्तिविनिर्धूततमसौ तौ ततो मुनी । ससंभ्रमं समुत्थाय प्रतिजग्राह भूमिपः ॥ १७० ॥

जिन्होंने अपने शरीरकी कान्तिसे वनका अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसे दोनों मुनियोंको राजाने ससंभ्रमके साथ उठकर पड़गाहन किया ॥ १७० ॥

> कृताञ्जलिपुटो भक्त्या प्रणम्य प्रणिपत्य तौ । गृहं प्रवेशयामास श्रीमत्या सह पुण्यभाक् ॥ १७१ ॥

पुण्यात्मा वज्रजंघने रानी श्रीमतीके साथ बड़ी भक्तिसे उन दोनों मुनियोंको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और फिर नमस्कार कर भोजनशालामें प्रवेश कराया ॥ १७१ ॥

> प्रक्षालिताङ्घ्री संपूज्य मान्ये स्थाने निवेश्य तौ । प्रणिपत्य मनःकायवचोभिः शुद्धिमुद्वहन् ॥ १७२ ॥

वहाँ वज्रजंघने उन्हें ऊँचे स्थानपर बैठाया, उनके चरणकमलोंका प्रक्षालन किया, पूजा की, नमस्कार किया, अपने मन, वचन, कायको शुद्ध किया ॥ १७२ ॥

> श्रद्धादिगुणसंपत्त्या गुणवद्भ्यां विशुद्धिभाक् । दत्त्वा विधिवदाहारं पञ्चाश्चर्याण्यवाप सः ॥ १७३ ॥

और फिर श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, अलोभ, क्षमा, ज्ञान और शक्ति इन गुणों से विभूषित होकर विशुद्ध परिणामोंसे उन गुणवान् दोनों मुनियोंको विधिपूर्वक आहार दिया। उसके फलस्वरूप नीचे लिखे हुए पञ्चाश्चर्य हुए ॥ १७३ ॥

> रत्नधारां दिवो देवाः पुष्पवृष्ट्या सहाकिरन् । मन्दं व्योमापगावारिकणकीर्मरुदाववौ ॥ १७४ ॥

देव लोग आकाशसे रत्नवर्षा करते थे, पुष्पवर्षा करते थे, आकाशगंगाके जलके सीकर बरसाता हुआ मन्द-मन्द वायु चल रहा था ॥ १७४ ॥

> मन्द्रदुन्दुभिनिर्घोषैः घोषणां च प्रचक्रिरे । अहो दानमहो दानमित्युदैरद्ध दिङ्मुखम् ॥ १७५ ॥

दुन्दुभि बाजोंकी गम्भीर गर्जना हो रही थी और दिशाओंको व्याप्त करनेवाले 'अहो दानम् अहो दानम्' इस प्रकारके शब्द सब ओर फैल रहे थे ॥ १७५ ॥

> ततोऽभिवन्द्य संपूज्य विसृज्य मुनिपुङ्गवौ । काञ्चुकीयादबुद्धैनौ चरमावात्मनः सुतौ ॥ १७६ ॥

तदनन्तर वज्रजंघ, जब दोनों मुनिराजोंको वन्दना और पूजा कर वापस भेज चुका तब उसे अपने कंचुकीके कहनेसे मालूम हुआ कि उक्त दोनों मुनि हमारे ही अन्तिम पुत्र हैं ॥ १७६ ॥

श्रीमत्या सह संश्रित्य तदन्तिकममूत्तयोः । स धर्ममशृणोत् पुण्यकामः सद्गृहमेधिनाम् ॥ १७७ ॥

राजा वज्रजंघ श्रीमतीके साथ-साथ बड़े प्रेमसे उनके निकट गया और पुण्यप्राप्तिकी इच्छासे सद्गृहस्थोंका धर्म सुनने लगा ॥ १७७ ॥

दानं पूजां च शीलं च प्रोषधं च प्रपञ्चतः । श्रुत्वा धर्मं ततोऽपृच्छत् सकान्तः स्वां भवावलीम् ॥ १७८ ॥

दान, पूजा, शील और प्रोषध आदि धर्मोंका विस्तृत स्वरूप सुन चुकनेके बाद राजाने उनसे अपने तथा श्रीमतीके पूर्वभव पूछे ॥ १७८ ॥

मुनिर्दमधरः प्राख्यत् तस्य जन्मावलीमिति । दशनांशुभिरुद्योतमातन्वन् दिङ्मुखेष्वपि ॥ १७९ ॥

उनमें-से दमधर नामके मुनि अपने दाँतोंकी किरणोंसे दिशाओंमें प्रकाश करते हुए उन दोनोंके पूर्वभव कहने लगे ॥ १७९ ॥

चतुर्थे जन्मनीतोऽस्त्वं जम्बूद्वीपविदेहगे । गन्धिले विषये सिंहपुरे श्रीषेणपार्थिवात् ॥ १८० ॥

हे राजन्, तू इस जन्मसे चौथे जन्ममें जम्बूद्वीपके विदेह क्षेत्रमें स्थित गन्धिल देशके सिंहपुर नगरमें राजा श्रीषेण ॥ १८० ॥

सुन्दर्यामतिसुन्दर्यां ज्यायान् सूनुरजायथाः । निर्वेदादार्हतीं दीक्षामादायाव्यक्तसंयतः ॥ १८१ ॥

और अतिशय मनोहर सुन्दरी नामकी रानीके ज्येष्ठ पुत्र हुआ था। वहाँ तूने विरक्त होकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की। परन्तु संयम प्रकट नहीं कर सका ॥ १८१ ॥

विद्याधरेन्द्रभोगेषु बद्धनन्दिर्मतिमापिवान् । प्रागुक्ते धातुकीखण्डे रूप्यगिरेस्तथोत्तरे ॥ १८२ ॥

और विद्याधर राजाओंके भोगोंमें चित्त लगाकर निदानको प्राप्त हुआ ॥ १८२ ॥

> नगर्यामलकाख्यायां व्योमगानामधीशिता । महाबलोऽभूर्भोगांश्च यथाकामं त्वमन्वभूः ॥ १८३ ॥

जिससे पूर्वोक्त धातकीखण्ड देशके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीपर अलका नामकी नगरीमें महाबल हुआ। वहाँ तूने मनचाहे भोगोंका अनुभव किया ॥ १८३ ॥

> स्वयंबुद्धात् प्रबुद्धात्मा जिनपूजापुरस्सरम् । त्यक्त्वा संन्यासरतो देहं ललिताङ्गः सुरोऽभवः ॥ १८४ ॥

फिर स्वयंबुद्ध मन्त्रीके उपदेशसे आत्मज्ञान प्राप्त कर तूने जिनपूजा कर समाधिमरणसे शरीर छोड़ा और ललितांगदेव हुआ ॥ १८४ ॥

> ततश्च्युत्वाऽधुनाभूस्त्वं वज्रजङ्घमहीपतिः । श्रीमती च पुरैकस्मिन् भवे द्वीपे द्वितीयके ॥ १८५ ॥

वहाँसे च्युत होकर अब वज्रजंघ नामका राजा हुआ है। यह श्रीमती भी पहले एक भवमें दूसरे (धातकीखण्ड) द्वीपमें ॥ १८५ ॥

> धातकौ गन्धिले देशे प्रत्यक्पुत्रो कुटुम्बिनः । वराङ्गपर्वतग्रामे जाताल्पसुकृतोदयात् ॥ १८६ ॥

धातकीखण्ड द्वीपमें पूर्व मेरुसे पश्चिमकी ओर गन्धिल देशके वरांगपर्वत नामक ग्राममें किसी गृहस्थकी पुत्री थी। वहाँ कुछ पुण्यके उदयसे ॥ १८६ ॥

> ततस्तत्रैव विषये भूयः पाटलीग्रामकेऽभवत् । निर्नामिका वणिक्पुत्री संश्रित्य पिहितास्रवम् ॥ १८७ ॥

तू उसी देशके पाटली नामक ग्राममें किसी वणिकके निर्नामिका नामकी पुत्री हुई। वहाँ उसने पिहितास्रव नामक मुनिराजके आश्रयसे ॥ १८७ ॥

> विधिनोपोष्य तत्रासीत् तव देवी स्वयंप्रभा । श्रीप्रभःभूदिदानीं च श्रीमती वज्रदन्ततः ॥ १८८ ॥

विधिपूर्वक जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति और श्रुतज्ञान नामक व्रतोंके उपवास किये जिसके फलस्वरूप श्रीप्रभ विमानमें स्वयंप्रभा देवी हुई। जब तुम ललितांगदेवकी पर्यायमें थे तब यह तुम्हारी प्रिय देवी थी और अब यहाँ इस पर्यायमें वज्रदन्त चक्रवर्तीके श्रीमती पुत्री हुई है ॥ १८८ ॥

> श्रुत्वेति स्वं भवं वृत्तं वज्रजङ्घो नराधिपः । पृष्टवानिष्टवर्गस्य भवानतिकुतूहलात् ॥ १८९ ॥

इस तरह राजा वज्रजंघने श्रीमतीके साथ अपने पूर्वभव सुनकर कौतूहलसे अपने इष्ट सम्बन्धियोंके पूर्वभव पूछे ॥ १८९ ॥

> स्वबन्धुनिर्विशेषा मे स्निग्धा मतिवरादयः । तत्प्रसादं समाधातुमर्हसि त्वं मुने सुतान् ॥ १९० ॥

हे नाथ, ये मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन मुझको अपने भाईके समान अतिशय प्यारे हैं इसलिए आप प्रसन्न होइए और इनके पूर्वभव कहिए। इस प्रकार राजाका प्रश्न सुनकर उत्तरमें मुनिराज कहने लगे ॥ १९० ॥

> अयं मतिवरोऽत्रैव जम्बूद्वीपे पुरोगते । विदेहे वत्सकावत्यां विषये त्रिदिवोपमे ॥ १९१ ॥

हे राजन्, इसी जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें एक वत्सकावती नामका देश है जो कि स्वर्गके समान सुन्दर है ॥ १९१ ॥

> तत्र पुर्यां प्रभाकर्यामतिमिश्रो नृपोऽभवत् । विषयेषु विषक्तात्मा बद्धारम्भपरिग्रहः ॥ १९२ ॥

उसमें एक प्रभाकरी नामकी नगरी है। यह मतिवर पूर्वभवमें इसी नगरीमें अतिमित्र नामका राजा था। वह विषयोंमें अत्यन्त आसक्त रहता था। उसने बहुत आरम्भ और परिग्रहके कारण ॥ १९२ ॥

> बद्ध्वायुर्नारके जातः शर्करापङ्कप्रभाह्वये । दशाब्ध्युपमितं कालं नारकीं वेदनामगात् ॥ १९३ ॥

नरक आयुका बन्ध कर लिया था जिससे वह मरकर पंकप्रभा नामके चौथे नरकमें उत्पन्न हुआ। वहाँ दश सागरोपम तक नरकोंके दुःख भोगता रहा ॥ १९३ ॥

> ततो निर्गत्य स व्याघ्रो जातो नगरे समीपगे । पर्वतनाम्नि प्राक्तनात्मीयधननिक्षेपपर्वते ॥ १९४ ॥

उसने पूर्वभवमें पूर्वोक्त प्रभाकरी नगरीके समीप एक पर्वतपर अपना बहुत-सा धन गाड़ रखा था। वह नरकसे निकलकर इसी पर्वतपर व्याघ्र हुआ ॥ १९४ ॥

> अथान्यदा पुराधीशस्तत्रागत्य समावसत् । प्रत्यक् स्वानुजन्मानं व्युत्थितं विजिगीषया ॥ १९५ ॥

तदनन्तर किसी एक दिन प्रभाकरी नगरीका राजा प्रीतिवर्धन अपने प्रतिकूल खड़े हुए छोटे भाईको जीतकर लौटा और उसी पर्वतपर ठहर गया ॥ १९५ ॥

> अथ सानुजन्मानमत्रस्थं नृपमाख्यत् पुरोहितः । अद्य ते महती लाभप्राप्तिर्मुनिवरार्हणात् ॥ १९६ ॥

वह वहाँ अपने छोटे भाईके साथ बैठा हुआ था कि इतनेमें पुरोहितने आकर उससे कहा कि आज यहाँ आपको मुनिदानके प्रभावसे बड़ा भारी लाभ होनेवाला है ॥ १९६ ॥

> स मुनिः कथमेवात्र लभ्यश्चेच्छृणु पार्थिव । वक्ष्ये तदागमोपायं दिव्यज्ञानावलोकितम् ॥ १९७ ॥

हे राजन्, वे मुनिराज यहाँ किस प्रकार प्राप्त हो सकेंगे, इसका उपाय मैं अपने दिव्यज्ञानसे जानकर आपके लिए कहता हूँ, सुनिए— ॥ १९७ ॥

> महानद्य नरेन्द्रस्य प्रमदस्तेन नागराः । सर्वे यूयं प्रबध्नीध्वं केतून् सत्तोरणान् ॥ १९८ ॥

हम लोग नगरमें यह घोषणा दिलाये देते हैं कि आज राजाके बड़े भारी हर्षका समय है इसलिए समस्त नगरवासी लोग अपने-अपने घरोंपर पताकाएँ फहराओ, तोरण बाँधो ॥ १९८ ॥

> गृहाङ्गणानि रथ्याश्च कुरुताशु प्रसूनकैः । सोपहाराणि नीरन्ध्रं इति दत्त्वा प्रघोषणाम् ॥ १९९ ॥

और घरके आँगन तथा नगरकी गलियोंमें सुगन्धित जल सींचकर इस प्रकार फूल बिखेर दो कि बीचमें कहीं कोई जगह खाली न रहे ॥ १९९ ॥

ततो निवारितं दृष्ट्वा पुरमत्रागमिष्यति । विचिन्त्याप्रासुकत्वेन विहारायोग्यमात्मनः ॥ २०० ॥

ऐसा करनेसे नगरमें जानेवाले मुनि अप्रासुक होनेके कारण नगरको अपने विहारके अयोग्य समझ लौटकर यहाँपर अवश्य ही आयेंगे ॥ २०० ॥

पुरोधोवचनात् तुष्टो नृपः प्रीतिवर्धनः । तत् तथैवाकरोत् प्रीतः मुनिरप्यागमत् तथा ॥ २०१ ॥

पुरोहितके वचनोंसे सन्तुष्ट होकर राजा प्रीतिवर्धनने वैसा ही किया जिससे मुनिराज सचमुच वहाँ आये ॥ २०१ ॥

पिहितास्रवनामासौ मासक्षपणसंयुतः । प्रविष्टो नृपतेर्गेहं चरंश्चर्यामनुक्रमात् ॥ २०२ ॥

पिहितास्रव नामके मुनिराज एक महीनेके उपवास समाप्त कर आहारके लिए भ्रमण करते हुए क्रम-क्रमसे राजा प्रीतिवर्धनके घरमें प्रविष्ट हुए ॥ २०२ ॥

ततो नृपतिना तस्मै दत्तं दानं यथाविधि । पातिता च दिवो देवैर्वसुधारा कृतारवम् ॥ २०३ ॥

राजाने उन्हें विधिपूर्वक आहार दान दिया जिससे देवोंने आकाशसे रत्नोंकी वर्षा की और वे रत्न मनोहर शब्द करते हुए भूमिपर पड़े ॥ २०३ ॥

ततस्तदवलोक्यासौ शार्दूलो जातिमस्मरत् । उपशान्तश्च निर्द्वन्द्वः शरीराहारमत्यजत् ॥ २०४ ॥

राजाके पूर्वभवके जीव सिंहने भी वहाँ यह सब देखा जिससे उसे जाति-स्मरण हो गया। वह अतिशय शान्त हो गया, उसकी मूर्छा (मोह) जाती रही और यहाँतक कि उसने शरीर और आहारसे भी ममत्व छोड़ दिया ॥ २०४ ॥

शिलातले निविष्टं च संन्यस्तनिखिलोपधिम् । दिव्यज्ञानमयेनाऽक्ष्णा सहसाऽबुद्ध तं मुनिः ॥ २०५ ॥

वह सब परिग्रह अथवा कषायोंका त्याग कर एक शिलातलपर बैठ गया। मुनिराज पिहितास्रवने भी अपने अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे अकस्मात् सिंहका सब वृत्तान्त जान लिया ॥ २०५ ॥

> ततो नृपमुवाचेत्थं अत्रास्ति श्रावकोपासकः । संन्यासं कुरुते सिंहः स त्वया परिचर्यताम् ॥ २०६ ॥

और जानकर उन्होंने राजा प्रीतिवर्धनसे कहा कि—हे राजन्, इस पर्वतपर कोई सिंह श्रावक होकर (श्रावकके व्रत धारण कर) संन्यास कर रहा है तुम्हें उसकी सेवा करनी चाहिए ॥ २०६ ॥

> स चक्रवर्तितामेत्य भरतस्य पुरोः पुरा । सूनुर्भूत्वा परं धाम प्रयास्यति न संशयः ॥ २०७ ॥

वह आगामी कालमें भरतक्षेत्रके प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभदेवके चक्रवर्ती पटका धारक पुत्र होगा और उसी भवमें मोक्ष प्राप्त करेगा इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २०७ ॥

> इति तद्वचनाज्जातविस्मयो नृपतिस्तदा । गत्वा नृपस्तमद्राक्षीत् कृतसंन्यासमुल्वणम् ॥ २०८ ॥

मुनिराजके इन वचनोंसे राजा प्रीतिवर्धनको भारी आश्चर्य हुआ। उसने मुनिराजके साथ वहाँ जाकर अतिशय साहस करनेवाले सिंहको देखा ॥ २०८ ॥

> ततस्तस्य सपर्यायां साचिव्यमकरोन्नृपः । मुनिश्चास्मै ददौ कर्णजापं भव्यो भवेदसौ ॥ २०९ ॥

तत्पश्चात् राजाने उसकी सेवा अथवा समाधिमें योग्य सहायता की और यह भव्य होनेवाला है यह समझकर मुनिराजने भी उसके कानमें नमस्कार मन्त्र सुनाया ॥ २०९ ॥

> व्याघ्रोऽष्टादशभिर्ध्यातैर्महाधैर्यादुपसंहृतः । दिवाकरप्रभो जज्ञे विमानोऽभूत् तदाज्ञया ॥ २१० ॥

वह सिंह अठारह दिन तक आहारका त्याग कर समाधिसे शरीर छोड़ दूसरे स्वर्गके दिवाकरप्रभ नामक विमानमें दिवाकरप्रभ नामका देव हुआ ॥ २१० ॥

> तदाश्चर्यं समीक्ष्यैव नृपस्यास्य चमूपतिः । मन्त्री पुरोहितश्चाशु प्रशमं परमं गताः ॥ २११ ॥

इस आश्चर्यको देखकर राजा प्रीतिवर्धनके सेनापति, मन्त्री और पुरोहित भी शीघ्र ही अतिशय शान्त हो गये ॥ २११ ॥

नृपदानानुमोदेन कुरुषूत्पत्तितोऽभवन् । ततस्तेऽपि गताः स्वर्गं श्रीमदैशानकल्पगाः ॥ २१२ ॥

इन सभीने राजाके द्वारा दिये हुए पात्रदानकी अनुमोदना की थी इसलिए आयु समाप्त होनेपर वे उत्तरकुरु भोगभूमिमें उत्पन्न हुए और आयुके अन्तमें ऐशान स्वर्गमें लक्ष्मीवान् देव हुए ॥ २१२ ॥

सुरा जाता विमानेशा द्वौ काञ्चनसञ्ज्ञके । विमाने कनकाभोऽभूद् रुषिताख्ये पुरोहितः ॥ २१३ ॥

उनमें-से मन्त्री, कांचन नामक विमानमें कनकाभ नामका देव हुआ, पुरोहित रुषित नामके विमानमें प्रभंजन नामका देव हुआ ॥ २१३ ॥

सेनानीः प्रभानाम्नि प्रभाकरः । ललिताङ्गभवे युष्मत्परिवारा बभूविरे ॥ २१४ ॥

और सेनापति प्रभानामक विमानमें प्रभाकर नामका देव हुआ। आपकी ललितांगदेवकी पर्यायमें ये सब आपके ही परिवारके देव थे ॥ २१४ ॥

ततः प्रच्युत्य शार्दूलश्चरो देवोऽभवत् स ते । मन्त्री मतिवरः सूनुः श्रीमत्यां मतिसागरात् ॥ २१५ ॥

सिंहका जीव वह देवसे च्युत हो मतिसागर और श्रीमतीका पुत्र होकर आपका मतिवर नामका मन्त्री हुआ है ॥ २१५ ॥

अपराजितसेनान्यः च्युतः स्वर्गात् प्रभाकरः । आजवायाश्च पुत्रोऽभूदकम्पनसमाह्वयः ॥ २१६ ॥

प्रभाकरका जीव स्वर्गसे च्युत होकर अपराजित सेनानी और आर्जवाका पुत्र होकर आपका अकम्पन नामका सेनापति हुआ है ॥ २१६ ॥

श्रुतकीर्तेरथानन्तमत्याश्च कनकप्रभः । सुतोऽभूदयमानन्दः पुरोधास्तव संमतः ॥ २१७ ॥

कनकप्रभका जीव श्रुतकीर्ति और अनन्तमतीका पुत्र होकर आपका आनन्द नामका प्रिय पुरोहित हुआ है ॥ २१७ ॥

> प्रभञ्जनश्च्युतस्तस्मात् श्रेष्ठ्यभूद् धनमित्रकः । धनदत्तोदरे जातो धनदत्ताद् धनर्द्धिमान् ॥ २१८ ॥

तथा प्रभंजन देव वहाँसे च्युत होकर धनदत्त और धनदत्ताका पुत्र होकर आपका धनमित्र नामका सम्पत्तिशाली सेठ हुआ है ॥ २१८ ॥

> इति संश्रृण्वन् मुनीन्द्रस्य वचः श्रुत्वा नराधिपः । श्रीमती च तदा धर्मे परं संवेगमापतुः ॥ २१९ ॥

इस प्रकार मुनिराजके वचन सुनकर राजा वज्रजंघ और श्रीमती—दोनों ही धर्मके विषयमें अतिशय प्रीतिको प्राप्त हुए ॥ २१९ ॥

> राजा सविस्मयं भूयोऽप्यपृच्छत् तं मुनीश्वरम् । अमी नकुलशार्दूलगोलाङ्गूलाः ससूकराः ॥ २२० ॥

राजा वज्रजंघने फिर भी बड़े आश्चर्यके साथ उन मुनिराजसे पूछा कि ये नकुल, सिंह, वानर और शूकर चारों जीव ॥ २२० ॥

> कस्मादस्मिन्ननाकीर्णे देशे तिष्ठन्त्यनाकुलाः । भवन्मुखारविन्दावलोकने दत्तदृष्टयः ॥ २२१ ॥

आपके मुख-कमलको देखनेमें दृष्टि लगाये हुए इन मनुष्योंसे भरे हुए स्थानमें भी निर्भय होकर क्यों बैठे हैं? ॥ २२१ ॥

> इति राज्ञाऽनुयुक्तोऽसौ सविद्य इदमब्रवीत् । शार्दूलोऽयं पुरा जातो हस्तिनाख्ये वणिग्वरे ॥ २२२ ॥

इस प्रकार राजाके पूछनेपर ऋद्धिके धारक ऋषिराज बोले कि हे राजन्, यह सिंह पूर्व भवमें इसी देशके ॥ २२२ ॥

> हास्तिनाख्यपुरे रम्ये श्रेष्ठी सागरदत्ततः । धनवत्यामभूत् सूनुरुग्रसेनसमाह्वयः ॥ २२३ ॥

प्रसिद्ध हस्तिनापुर नामक नगरमें सागरदत्त वैश्यसे उसकी धनवती नामकी स्त्रीमें उग्रसेन नामका पुत्र हुआ था ॥ २२३ ॥

अप्रत्याख्यानतः क्रोधात् पृथिवीभेदसंनिभात् । तिर्यङ्गायुर्बबन्धाऽज्ञो निसर्गादतिरोषणः ॥ २२४ ॥

वह स्वभावसे ही अत्यन्त क्रोधी था इसलिए उस अज्ञानीने पृथिवीभेदके समान अप्रत्याख्यानावरण क्रोधके निमित्तसे तिर्यञ्च आयुका बन्ध कर लिया था ॥ २२४ ॥

कोष्ठागारं विनिर्मथ्य निमन्त्र्य घृततण्डुलम् । बलादादाय वेश्याभिः संप्रायच्छदयं दुर्मदी ॥ २२५ ॥

एक दिन उस दुष्टने राजाके भण्डारकी रक्षा करनेवाले लोगोंको घुड़ककर वहाँसे बलपूर्वक बहुत-सा घी और चावल निकालकर वेश्याओंको दे दिया ॥ २२५ ॥

तद्वार्ताकर्णनाद् राज्ञा बन्धितस्तीव्रवेदनः । चपेटाचरणाघातैर्मृत्वा व्याघ्र इहाभवत् ॥ २२६ ॥

जब राजाने यह समाचार सुना तब उसने उसे बँधवा कर थप्पड़, लात, घूँसा आदिकी बहुत ही मार दिलायी जिससे वह तीव्र वेदना सहकर मरा और यहाँ यह व्याघ्र हुआ है ॥ २२६ ॥

वराहोऽयं पुराऽऽसीद् वने पुरे विजयनामनि । सूनुर्वसन्तसेनायां महानन्दनृपादभूत् ॥ २२७ ॥

हे राजन्, यह सूकर पूर्वभवमें विजय नामक नगरमें राजा महानन्दसे उसकी रानी वसन्तसेनामें हरिवाहन नामका पुत्र हुआ था ॥ २२७ ॥

हरिवाहननामाऽसौ अप्रत्याख्यानमानतः । मानस्तम्भसमं बिभ्रत् पित्रोरप्यविनीतकः ॥ २२८ ॥

वह अप्रत्याख्यानावरण मानके उदयसे स्तम्भके समान मानको धारण करता था इसलिए माता-पिताका भी विनय नहीं करता था ॥ २२८ ॥

तिर्यङ्गायुस्ततो बद्ध्वा नेच्छत् पित्रनुशासनम् । धावमानः शिलास्तम्भजर्जरीकृतमस्तकः ॥ २२९ ॥

और इसीलिए उसे तिर्यञ्च आयुका बन्ध हो गया था। एक दिन यह माता-पिताका अनुशासन नहीं मानकर दौड़ा जा रहा था कि पत्थरके खम्भेसे टकराकर उसका सिर फूट गया और इसी वेदनामें आर्तध्यानसे मरकर यह सूकर हुआ है ॥ २२९ ॥

> मृत्वाऽऽर्तं कृत्वा वराहोऽभूद् वानरोऽयं पुरा भवे । पुरे धान्याह्वये जातः कुबेराख्यवणिक्सुतः ॥ २३० ॥

हे राजन्, यह वानर पूर्वभवमें धान्याह्वय नामके नगरमें कुबेर नामक वणिकका उसकी सुदत्ता नामकी स्त्रीके गर्भसे नागदत्त नामका पुत्र हुआ था ॥ २३० ॥

> सुदत्तागर्भसंभूतो नागदत्तसमाह्वयः । अप्रत्याख्यानमायां तां मेषशृङ्गसमां श्रितः ॥ २३१ ॥

वह मेढ़ेके सींगके समान अप्रत्याख्यानावरण मायाको धारण करता था ॥ २३१ ॥

> स्वानुजाया विवाहार्थं स्वापणे स्वापतेयकम् । स्वास्वायासाद् ददानायां सुपरीक्ष्य मुहुर्मुहुः ॥ २३२ ॥

एक दिन इसकी माता, नागदत्तकी छोटी बहनके विवाहके लिए अपनी दूकानसे इच्छानुसार छाँट-छाँटकर कुछ सामान ले रही थी ॥ २३२ ॥

> ततस्तद्वञ्चनोपायमजानन्नात्तधीस्ततः । तिर्यङ्गायुर्वशेनासौ गोलाङ्गूलत्वमित्यगात् ॥ २३३ ॥

नागदत्त उसे ठगना चाहता था परन्तु किस प्रकार ठगना चाहिए? इसका उपाय वह नहीं जानता था इसलिए उसी उधेड़बुनमें लगा रहा और अचानक आर्तध्यानसे मरकर तिर्यञ्च आयुका बन्ध होनेसे यहाँ यह वानर अवस्थाको प्राप्त हुआ है ॥ २३३ ॥

> नकुलोऽयं भवेऽन्यस्मिन् सुप्रतिष्ठितपत्तने । अभूत् कादम्बिको नाम्ना लोलुपो धनलोलुपः ॥ २३४ ॥

और—हे राजन्, यह नकुल (नेवला) भी पूर्वभवमें इसी सुप्रतिष्ठित नगरमें लोलुप नामका हलवाई था। वह धनका बड़ा लोभी था ॥ २३४ ॥

> सोऽन्यदा पार्थिवे चैत्यगृहनिर्मापणोद्यते । इष्टका विष्टिपुरुषैरनाययति दूरतः ॥ २३५ ॥

किसी समय वहाँका राजा जिनमन्दिर बनवा रहा था और उसके लिए वह मजदूरोंसे ईंटें बुलाता था। वह लोभी दुष्ट हलवाई उन ॥ २३५ ॥

> दत्त्वाऽपूपं निगूढं ताः स्वगृहं प्रावेशयद् द्रुतम् । इष्टकास्तत्र कासाञ्चिद् भेदेऽपश्यच्च काञ्चनम् ॥ २३६ ॥

मजदूरोंको कुछ पुआ वगैरह देकर उनसे छिपकर कुछ ईंटें अपने घरमें डलवा लेता था। उन ईंटोंके फोड़नेपर उनमें-से कुछमें सुवर्ण निकला। यह देखकर इसका लोभ और भी बढ़ गया ॥ २३६ ॥

> तल्लोभादिष्टका भूयोऽप्यानाययितुमुद्यतः । पुरुषैश्च शनैस्तेभ्यो दत्त्वाऽपूपादिभोजनम् ॥ २३७ ॥

उस सुवर्णके लोभसे उसने बार-बार मजदूरोंको पुआ आदि देकर उनसे बहुत-सी ईंटें अपने घर मंगाना प्रारम्भ किया ॥ २३७ ॥

> स्वसुताधाममन्येद्युः स गच्छन् पुत्रमात्मनः । प्रोवाच पुत्रकाहारं दत्त्वाऽऽनाय्याश्चैष्टिकाः ॥ २३८ ॥

एक दिन उसे अपनी पुत्रीके गांव जाना पड़ा। जाते समय वह पुत्रसे कह गया कि हे पुत्र, तुम भी मजदूरोंको कुछ भोजन देकर उनसे अपने घरपर ईंटें डलवा लेना ॥ २३८ ॥

> इत्युक्त्वाऽस्मिन् गते पुत्रः तत्तथा नाकरोदततः । स निवृत्त्य ततो दृष्ट्वा रुष्टोऽभूद् दुष्टमानसः ॥ २३९ ॥

यह कहकर वह तो चला गया परन्तु पुत्रने उसके कहे अनुसार घरपर ईंटें नहीं डलवायीं। जब वह दुष्ट लौटकर घर आया और पुत्रसे पूछनेपर जब उसे सब हाल मालूम हुआ तब वह पुत्रसे भारी कुपित हुआ ॥ २३९ ॥

> शिरः पुत्रस्य निर्भिद्य लकुटैरुपलैस्तथा । चरणौ स्वौ च निर्वेदाद् भित्त्वा राजाऽवधीत् ततः ॥ २४० ॥

उस मूर्खने लकड़ी तथा पत्थरोंकी मारसे पुत्रका सिर फोड़ डाला और उस दुःखसे दुःखी होकर अपने पैर भी काट डाले ॥ २४० ॥

> राज्ञा च घातितो भूत्वा नकुलत्वमुपागमत् । अप्रत्याख्यानलोभेन नीतः स दशां दशामिमाम् ॥ २४१ ॥

अन्तमें वह राजाके द्वारा मारा गया और मरकर इस नकुल पर्यायको प्राप्त हुआ है। वह हलवाई अप्रत्याख्यानावरण लोभके उदयसे ही इस दशा तक पहुँचा है ॥ २४१ ॥

> युष्मद्दानं समीक्ष्यैते प्रमोदं परमागताः । प्राप्ता जातिस्मरत्वं च निर्वेदं चाधिकं श्रिताः ॥ २४२ ॥

हे राजन्, आपके दानको देखकर ये चारों ही परम हर्षको प्राप्त हो रहे हैं और इन चारोंको ही जाति-स्मरण हो गया है जिससे ये संसारसे बहुत ही विरक्त हो गये हैं ॥ २४२ ॥

> भवद्दानानुमोदेन बद्धायुष्काः कुरुष्वमी । ततोऽमी भीतिमुत्सृज्य स्थिता धर्मश्रवार्थिनः ॥ २४३ ॥

आपके दिये हुए दानकी अनुमोदना करनेसे इन सभीने उत्तम भोगभूमिकी आयुका बन्ध किया है। इसलिए ये भय छोड़कर धर्मश्रवण करनेकी इच्छासे यहाँ बैठे हुए हैं ॥ २४३ ॥

> इतोऽष्टमे भवे भाविपुनर्भवति भवान् । भवितामी च सर्वेऽपि सेत्स्यन्त्यत्र न संशयः ॥ २४४ ॥

हे राजन्, इस भवसे आठवें आगामी भवमें तुम वृषभनाथ तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे और उसी भवमें ये सब भी सिद्ध होंगे, इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २४४ ॥

> तावच्चाभ्युदयं दिव्यं दिव्यमानुषगोचरम् । भवता सह भोक्ष्यन्ते पुण्यभागिनः ॥ २४५ ॥

और तबतक ये पुण्यशील जीव आपके साथ-साथ ही देव और मनुष्योंके उत्तम-उत्तम सुख तथा विभूतियोंका उपभोग करते रहेंगे ॥ २४५ ॥

> श्रीमती च भवत्तीर्थे दानतीर्थप्रवर्तकः । श्रेयान् भूत्वा परं श्रेयः प्राप्स्यति न संशयः ॥ २४६ ॥

इस श्रीमतीका जीव भी आपके तीर्थमें दानतीर्थकी प्रवृत्ति चलानेवाला राजा श्रेयांस होगा और उसी भवसे उत्कृष्ट कल्याण अर्थात् मोक्षको प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २४६ ॥

> इति चारणयोगीन्द्रवचः श्रुत्वा नराधिपः । वपुः रोमाञ्चितं ततं प्रेमाङ्कुरैरिव ॥ २४७ ॥

इस प्रकार चारण ऋद्धिधारी मुनिराजके वचन सुनकर राजा वज्रजंघका शरीर हर्षसे रोमाञ्चित हो उठा जिससे ऐसा मालूम होता था मानो प्रेमके अंकुरोंसे व्याप्त ही हो गया हो ॥ २४७ ॥

वह हलवाई अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे ही इस दशा तक पहुँचा है ॥ २४१ ॥

हे राजन्, आपके दानको देखकर ये चारों ही परम हर्षको प्राप्त हो रहे हैं और इन चारोंको ही जाति-स्मरण हो गया है जिससे ये संसारसे बहुत ही विरक्त हो गये हैं ॥ २४२ ॥

आपके दिये हुए दानकी अनुमोदना करनेसे इन सभीने उत्तम भोगभूमिकी आयुका बन्ध किया है। इसलिए ये भय छोड़कर धर्मश्रवण करनेकी इच्छासे यहाँ बैठे हुए हैं ॥ २४३ ॥

हे राजन्, इस भवसे आठवें आगामी भवमें तुम वृषभनाथ तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे और उसी भवमें ये सब भी सिद्ध होंगे, इस विषयमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ २४४ ॥

और तबतक ये पुण्यशील जीव आपके साथ-साथ ही देव और मनुष्योंके उत्तम-उत्तम सुख तथा विभूतियोंका अनुभोग करते रहेंगे ॥ २४५ ॥

इस श्रीमतीका जीव भी आपके तीर्थमें दानतीर्थकी प्रवृत्ति चलानेवाला राजा श्रेयांस होगा और उसी भवसे उत्कृष्ट कल्याण अर्थात् मोक्षको प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २४६ ॥

इस प्रकार चारण ऋद्धिधारी मुनिराजके वचन सुनकर राजा वज्रजंघका शरीर अत्यन्त रोमाञ्चित हो उठा जिससे ऐसा मालूम होता था मानो प्रेमके अंकुरोंसे व्याप्त ही हो गया हो ॥ २४७ ॥

> ततोऽभिवन्द्य योगीन्द्रौ नरेन्द्रः प्रिययान्वितः । स्वावासं प्रत्यगात् प्रीतः सह मतिवरादिभिः ॥ २४८ ॥

तदनन्तर राजा उन दोनों मुनिराजोंको नमस्कार कर रानी श्रीमती और अतिशय प्रसन्न हुए मतिवर आदिके साथ अपने डेरेपर लौट आया ॥ २४८ ॥

मुनी च वातरशनौ वायुमन्वयियतुस्तदा । मुनिवृत्तेरसङ्गत्वं ख्यापयन्तौ नभोगतौ ॥ २४९ ॥

तत्पश्चात् वायुरूपी वस्त्रको धारण करनेवाले (दिगम्बर) वे दोनों मुनिराज 'मुनियोंकी वृत्ति परिग्रहरहित होती है' इस बातको प्रकट करते हुए वायुके साथ-साथ ही आकाशमार्गसे विहार कर गये ॥ २४९ ॥

राजापि तद्गुणध्यानसमुत्कण्ठितमानसः । व्यनैषीत् तदहःशेषमम्भोधावेव साधनैः ॥ २८० ॥

राजा वज्रजंघने उन मुनियोंके गुणोंका ध्यान करते हुए उत्कण्ठित चित्त होकर उस दिनका शेष भाग अपनी सेनाके साथ उसी शष्प नामक सरोवरके किनारे व्यतीत किया ॥ २८० ॥

ततः प्रयाणकैः कैश्चित् संप्रापत् पुण्डरीकिणीम् । तत्रापश्यच्च शोकार्तां देवीं लक्ष्मीमतीं सतीम् ॥ २८१ ॥

तदनन्तर वहाँसे कितने ही पड़ाव चलकर वे पुण्डरीकिणी नगरीमें जा पहुँचे। वहाँ जाकर राजा वज्रजंघने शोकसे पीड़ित हुई सती लक्ष्मीमती देवीको देखा ॥ २८१ ॥

अनुन्धरीं च सोत्कण्ठां समाश्वास्य शनैरसौ । पुण्डरीकस्य तद्राज्यमकरोन्निरुपप्लवम् ॥ २८२ ॥

और भाईके मिलनेकी उत्कण्ठासे सहित अपनी छोटी बहन अनुन्धरीको भी देखा। दोनोंको धीरे-धीरे आश्वासन देकर समझाया तथा पुण्डरीकके राज्यको निष्कण्टक कर दिया ॥ २८२ ॥

प्रकृतीरपि सामाद्यैरुपायैः सोऽन्वकालयत् । सामन्तानपि सम्पूज्य यथापूर्वमतिष्ठपत् ॥ २८३ ॥

उसने साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपायोंसे समस्त प्रजाको अनुरक्त किया और सरदारों तथा आश्रित राजाओंका भी सम्मान कर उन्हें पहलेकी भाँति (चक्रवर्तीके समयके समान) अपने-अपने कार्योंमें नियुक्त कर दिया ॥ २८३ ॥

समन्त्रिकं ततो राज्ये बालं बालार्कसन्निभम् । निवेश्य सानुगः प्रापदुत्पलखेटकम् ॥ २८४ ॥

तत्पश्चात् प्रातःकालीन सूर्यके समान देदीप्यमान पुण्डरीक बालकको राज्य-सिंहासनपर बैठाकर और राज्यकी सब व्यवस्था सुयोग्य मन्त्रियोंके हाथ सौंपकर राजा वज्रजंघ अपने परिवारसहित अपने उत्पलखेटक नगरमें आ पहुँचे ॥ २९४ ॥

> अथ परमविभूत्या वज्रजङ्घः प्रविष्टः पुरममरपुराभं प्राविशत् कान्तयाऽसौ । शतमख इव रम्यां नाकभूमीं प्रहृष्टः पुरवरवनितानां लोचनैः पीयमानः ॥ २९५ ॥

उत्कृष्ट शोभासे सुशोभित महाराज वज्रजंघने प्रिया श्रीमतीके साथ बड़े ठाट-बाटसे स्वर्गपुरीके समान सुन्दर अपने उत्पलखेटक नगरमें प्रवेश किया। प्रवेश करते समय नगरकी मनोहर स्त्रियाँ अपने नेत्रों-द्वारा उनके सौन्दर्य-रसका पान कर रही थीं। नगरमें प्रवेश करता हुआ वह राजा ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो स्वर्गमें प्रवेश करता हुआ इन्द्र ही हो ॥ २९५ ॥

> किमयमरमरनाथः किं स्विदीशः धनानां किमुत फणिगणेशः किं नु मूर्त्तोऽनङ्गः । इति पुरनरनारीजल्पनैः श्लाघ्यमानो गृहमविशदुदारश्रीः स कामो महर्द्धिः ॥ २९६ ॥

क्या यह इन्द्र है? अथवा कुबेर है? अथवा धरणेन्द्र है? अथवा शरीरधारी कामदेव ही है? इस प्रकार नगरकी नर-नारियोंकी बातचीतके द्वारा जिनकी प्रशंसा हो रही है ऐसे अत्यन्त शोभायमान और उत्कृष्ट विभूतिके धारक वज्रजंघने अपने श्रेष्ठ भवनमें प्रवेश किया ॥ २९६ ॥

> तत्रासौ सुखमावसत् स्वरुचितान् भोगान् स्वपुण्योर्जितान् कामं कामसमः षड्तुप्रमोदजनने रम्ये मनोहारिणि । संभोगैरूचितैः शचीमिव हरिः सम्भावयन् वल्लभामर्जन् धर्ममनुस्मरन् स्मरतिमः कीर्तिं च तन्वन् दिशि ॥ २९७ ॥

छहों ऋतुओंमें हर्ष उत्पन्न करनेवाले उस मनोहर राजमहलमें कामदेवके समान सुन्दर वह राजा अपने पुण्यके उदयसे प्राप्त हुए मनवांछित भोगोंको भोगता हुआ सुखसे निवास करता था। तथा जिस प्रकार संभोगादि उचित उपायोंके द्वारा इन्द्र इन्द्राणीको प्रसन्न रखता है उसी प्रकार वह वज्रजंघ संभोग आदि उपायोंसे श्रीमतीको प्रसन्न रखता था। वह सदा जैन धर्मका स्मरण रखता था और दसों दिशाओंमें अपनी कीर्ति फैलाता रहता था ॥ २९७ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे श्रीमद्वज्रजङ्घपात्रदानानुवर्णनं नामाष्टमं पर्व ॥ ८ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहमें श्रीमती और वज्रजंघके पात्रदानका वर्णन करनेवाला आठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

नवमं पर्व

अथ त्रिवर्गसंसर्गरम्यं राज्यं प्रकुर्वतः । तस्य कालोऽगमद् भूयान् भोगैः षड्तुसुन्दरैः ॥ १ ॥

अथानन्तर धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गोंके संसर्गसे मनोहर राज्य करनेवाले महाराज वज्रजंघका छहों ऋतुओंके सुन्दर भोग भोगते हुए बहुत-सा समय व्यतीत हो गया ॥ १ ॥

सह शरदारम्भे प्रफुल्लाब्जसरोजले । वनेष्वयुग्मच्छदामोदसुभगेषु विजह्रे ॥ २ ॥

अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ वह राजा शरद् ऋतुके प्रारम्भकालमें फूले हुए कमलोंसे सुशोभित तालाबोंके जलमें और सप्तपर्ण जातिके वृक्षोंकी सुगन्धिसे मनोहर वनोंमें क्रीड़ा करता था ॥ २ ॥

सरित्पुलिनदेशेषु प्रियाजघनहारिषु । राजहंसो ययौ लेभे सप्रीतीमनुयन् सखीम् ॥ ३ ॥

कभी वह श्रेष्ठ राजा, राजहंस पक्षीके समान अपनी सहचरीके पीछे-पीछे चलता हुआ प्रियाके नितम्बके समान मनोहर नदियोंके तटप्रदेशोंपर सन्तुष्ट होता था ॥ ३ ॥

कुर्वन्नीलोत्पलं कर्णौ कान्ताया बतंसकम । शोभाभिवृद्धिमक्ष्णोस्तत्स्तेनाभूत् संनिकर्षयन् ॥ ४ ॥

कभी श्रीमतीके कानोंमें नील कमलका आभूषण पहनाता था। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो उस नील कमलके आभूषणोंके छलसे उसके नेत्रोंकी शोभा ही बढ़ा रहा हो ॥ ४ ॥

> सरसाब्जरजःपुञ्जपिञ्जरं स्तनमण्डलम् । स पश्यन् मन्मथस्येव पेटीं तुतोष भूयसा ॥ ५ ॥

श्रीमतीका स्तनमण्डल तालाबोंकी परागके समूहसे पीला पड़ गया था इसलिए कामदेवके पिटारेके समान जान पड़ता था। राजा वज्रजंघ उस स्तन-मण्डलको देखता हुआ बहुत ही हर्षित होता था ॥ ५ ॥

> वासगेहे समुत्सर्पद्धूपामोदसुगन्धिनि । प्रियास्तनोष्मणा भेजे हिमतौ स परां धृतिम् ॥ ६ ॥

हेमन्त ऋतुमें वह राजा धूपकी फैलती हुई सुगन्धिसे सुगन्धित शयनागारमें श्रीमतीके स्तनोंकी उष्णतासे परम धैर्यको प्राप्त होता था ॥ ६ ॥

> कुङ्कुमालिप्तसर्वाङ्गीमम्लानमुखवारिजाम् । प्रियामरमयद् गाढमाश्लिष्यन् शिशिरागमे ॥ ७ ॥

तथा शिशिर ऋतुका आगमन होनेपर जिसका सम्पूर्ण शरीर केशरसे लिप्त हो रहा है और जिसका मुख-कमल प्रसन्नतासे खिल रहा है ऐसी प्रिया श्रीमतीको गाढ़ आलिङ्गनसे प्रसन्न करता था ॥ ७ ॥

> सभा *मधुमदामत्तकामिनीजनसुन्दरे । वनेषु सहकाराणां स रेमे रामया समम् ॥ ८ ॥

मद्यके मदसे मत्त हुई स्त्रियोंसे हरे-भरे सुन्दर वसन्तमें वह राजा अपनी स्त्रीके साथ-साथ आमोंके वनोंमें क्रीड़ा करता था ॥ ८ ॥

> अशोककलिकां कर्णे न्यस्यन्नस्या मनोभवः । जनचेतोभिदो हृद्यान् शोणिताक्तान् स तीरकान् ॥ ९ ॥

कभी श्रीमतीके कानोंमें अशोक वृक्षकी नयी कली पहनाता था। उस समय वह ऐसा सुशोभित होता था मानो मनुष्यके चित्तको भेदन करनेवाले और रुधिरसे रंगे हुए अपने लाल-लाल बाण पहनाता हुआ कामदेव ही हो ॥ ९ ॥

ग्रीष्मे धर्माम्बुविच्छेदि सरोऽनिलहतक्लमः । जलकेलिविधौ कान्तां रमयन् विजहार सः ॥ १० ॥

ग्रीष्म ऋतुमें पसीनेको सुखानेवाली तालाबोंके समीपवर्ती वायुसे जिसकी सब थकावट दूर हो गयी है, ऐसा वज्रजंघ जलक्रीड़ा कर श्रीमतीको प्रसन्न करता हुआ विहार करता था ॥ १० ॥

चन्दनद्रवसिक्ताङ्गीं प्रियान्तारविभूषणाम् । कण्ठे न्यस्य स कान्ताया मेने न कमपि श्रमम् ॥ ११ ॥

चन्दनके रससे जिसका सारा शरीर लिप्त हो रहा है और जो मुक्ताहार पहने हुए है ऐसी श्रीमतीको गलेमें लगाता हुआ वज्रजंघ गरमीसे पैदा होनेवाले किसी भी परिश्रमको नहीं जानता था ॥ ११ ॥

शिरीषकुसुमैः कान्तामलंकुर्वन् वतंसितैः । रूपिणीमिव नैदाघीं श्रियं तां बहुमंस्त सः ॥ १२ ॥

वह कभी शिरीषके फूलोंके आभरणोंसे श्रीमतीको सजाता था और फिर उसे साक्षात् शरीर धारण करनेवाली ग्रीष्मऋतुकी शोभा समझता हुआ बहुत कुछ मानता था ॥ १२ ॥

घनागमे घनोपान्तस्फुरत्तडिति साध्वसात् । कान्तयाऽश्लेषि विश्लेषभीतया गाढमन्वहम् ॥ १३ ॥

वर्षाऋतुमें जब मेघोंके किनारेपर बिजली चमकती थी उस समय वियोगके भयसे अत्यन्त भयभीत हुई श्रीमती वज्रपातके डरसे वज्रजंघका स्वयं गाढ़ आलिंगन करने लगती थी ॥ १३ ॥

इन्द्रगोपचिता भूमिरामन्द्रस्तनिता घनाः । ऐन्द्रचापं च पान्थानां चक्रुरुत्कण्ठितं मनः ॥ १४ ॥

उस समय इन्द्रगोप नामके लाल-लाल कीड़ोंसे व्याप्त पृथ्वी, गम्भीर गर्जना करते हुए मेघ और इन्द्रधनुष ये सब पथिकोंके मनको बहुत ही उत्कण्ठित बना रहे थे ॥ १४ ॥

नभः स्थगितमस्माभिः सुरगोपैस्तता मही । क्व यायेति न्यरौत्सुर्नु पथिकान् गर्जितैर्घनाः ॥ १५ ॥

उस समय गरजते हुए बादल मानो यह कहकर ही पथिकोंको गमन करनेसे रोक रहे थे कि आकाश तो हम लोगोंने घेर लिया है और पृथ्वी वीरबहूटी कीड़ोंसे भरी हुई है अब तुम कहाँ जाओगे ॥ १५ ॥

> विकासिकुटजच्छन्ना भूधराणामुपत्यकाः । मनोऽस्य निन्युरौत्सुक्यं स्वनैरुन्मदकेकिनाम् ॥ १६ ॥

उस समय खिले हुए कुटज जातिके फूलोंसे व्याप्त पर्वतके समीपकी भूमि मदमत्त हुए मयूरोंके शब्दोंसे राजा वज्रजंघका मन उत्कण्ठित कर रही थी ॥ १६ ॥

> कदम्बसूनसंवाससुरभीकृतसानवः । गिरयोऽस्य मनो जह्रुः प्रावृषि नृत्यच्छिखावले ॥ १७ ॥

जिस समय मयूर नृत्य कर रहे थे ऐसे उस वर्षाके समयमें कदम्बपुष्पोंकी वायुके सम्पर्कसे सुगन्धित शिखरोंवाले पर्वत राजा वज्रजंघका मन हरण कर रहे थे ॥ १७ ॥

> अनेहसि लसद्विद्युदुद्योतितविहायसि । रेमे सौधाग्रशय्यायां निद्रातः प्रियासखः ॥ १८ ॥

जिस समय चमकती हुई बिजलीसे आकाश प्रकाशमान रहता है ऐसे उस वर्षाकालमें राजा वज्रजंघ अपने सुन्दर महलके अग्रभागमें प्रिया श्रीमतीके साथ शयन करता हुआ रमण करता था ॥ १८ ॥

> सरितामुद्धताम्भोभिः प्रियामानप्रधाविभिः । प्रवाहैरतिरस्यासीद् वर्षासु समुपागमे ॥ १९ ॥

वर्षाऋतु आनेपर स्त्रियोंका मान दूर करनेवाले और उच्छलते हुए जलसे शोभायमान नदियोंके पूरसे उसे बहुत ही सन्तोष होता था ॥ १९ ॥

> भोगान् षड्तुजानित्यं भुञ्जानोऽसौ सहाङ्गनः । साक्षात्कृत्येव मूढानां रङ्गः फलमदर्शयत् ॥ २० ॥

इस प्रकार वह राजा वज्रजंघ अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ-साथ छहों ऋतुओंके भोगोंका अनुभव करता हुआ मानो मूढ़ लोगोंको पूर्वभवमें किये हुए अपने तपका साक्षात् फल दिखला रहा था ॥ २० ॥

> तत्र कालागुरूद्धासिधूपधूमाधिवासिते । मणिप्रदीपकद्योतैर्दूरीकृततमस्तरे ॥ २१ ॥

किसी एक दिन वह वज्रजंघ अपने शयनागारमें गया। वह शयनागार कृष्ण अगुरुकी बनी हुई उत्कृष्ट धूपके धूमसे अत्यन्त सुगन्धित हो रहा था, और मणिमय दीपकोंके प्रकाशसे उसका समस्त अन्धकार नष्ट हो गया था ॥ २१ ॥

प्रतिपादिकविन्यस्तरत्नमञ्चोपशोभिनि । दधत्यालम्बिभिर्मुक्ताजालकैर्हसितश्रियम् ॥ २२ ॥

जिनके प्रत्येक पायेमें रत्न जड़े हुए हैं ऐसे अनेक मंचोंसे वह शोभायमान था, और उसमें जो चारों ओर मोतियोंके गुच्छे लटक रहे थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानो हँस ही रहा हो ॥ २२ ॥

कुन्देन्दीवरमन्दारसान्द्रामोदार्षितालिनि । चित्रभित्तिगतानेकरूपकर्ममनोहरे ॥ २३ ॥

कुन्द, इन्दीवर और मन्दार जातिके फूलोंकी तीव्र सुगन्धिके कारण उसमें बहुत-से भ्रमर आकर इकट्ठे हुए थे, तथा दीवालोंपर बने हुए तरह-तरहके चित्रोंसे वह अतिशय शोभायमान हो रहा था ॥ २३ ॥

वासगेहेऽन्यदा शिश्ये तल्पे मृदुनि हारिणि । गङ्गासैकतनिर्मोके दुकूलप्रच्छदोत्थले ॥ २४ ॥

ऐसे उस शयनागारमें वह कोमल, मनोहर और गंगा नदीके बालूदार तटके समान सुशोभित रेशमी वस्त्रसे उज्ज्वल शय्यापर शयन कर रहा था ॥ २४ ॥

प्रियास्तनतटस्पर्शसुखाक्लीलितलोचनः । मेरुकन्दरमाश्रित्य स विद्युदिव वारिदः ॥ २५ ॥

श्रीमतीके स्तनतटके स्पर्शसे उत्पन्न हुए सुखसे जिसके नेत्र निमीलित (बन्द) हो रहे हैं ऐसा वह वज्रजंघ मेरु पर्वतकी कन्दराका आश्रय करते हुए बिजलीसहित बादलके समान शोभायमान हो रहा था ॥ २५ ॥

तत्र वातायनद्वारपिधानारुद्धधूमके । केशसंस्कारधूपोत्थधूमेन क्षणमूर्च्छितौ ॥ २६ ॥

शयनागारको सुगन्धित बनाने और केशोंका संस्कार करनेके लिए उस भवनमें अनेक प्रकारका सुगन्धि धूप जल रहा था। भाग्यवश उस दिन सेवक लोग झरोखेके द्वार खोलना भूल गये थे इसलिए वह धूम उसी शयनागारमें रुकता रहा। निदान, केशोंके संस्कारके लिए जो धूप जल रहा था उसके उठते हुए धूमसे वे दोनों पति-पत्नी क्षण-भरमें मूर्च्छित हो गये ॥ २६ ॥

निरुद्धोच्छ्वासदौःस्थित्यादन्तः किञ्चिदिवाकुलौ । दम्पती तौ निशामध्ये दीर्घनिद्रामुपेयतुः ॥ २७ ॥

उस धूमसे उन दोनोंके श्वास रुक गये जिससे अन्तःकरणमें उन दोनोंको कुछ व्याकुलता हुई। अन्तमें मध्य रात्रिके समय वे दोनों ही दम्पति दीर्घ निद्राको प्राप्त हो गये—सदाके लिए सो गये—मर गये ॥ २७ ॥

> जीवापाये तयोर्देहौ क्षणाद् विच्छायतां गतौ । प्रदीपापायसंवृद्धतमस्कन्धौ यथा गृहौ ॥ २८ ॥

जिस प्रकार दीपक बुझ जानेपर रुके हुए अन्धकारके समूहसे मकान निष्प्रभ—मलीन—हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव निकल जानेपर उन दोनोंके शरीर क्षण-भरमें निष्प्रभ—मलीन—हो गये ॥ २८ ॥

> विद्युतासुरसौ छायां न लेभे सहकान्तया । भ्रष्ट इव कालेन लतासङ्गी कल्पपादपः ॥ २९ ॥

जिस प्रकार समय पाकर उखड़ा हुआ कल्पवृक्ष लतासे सहित होनेपर भी शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार प्राणरहित राजा श्रीमतीके साथ रहते हुए भी शोभायमान नहीं हो रहा था ॥ २९ ॥

> भोगोपभोगहेतुत्वेऽप्यभूत् प्राणापहस्तयोः । धिगिमान् भोगिभोगाभान् भोगान् प्राणापहारिणः ॥ ३० ॥

यद्यपि वह धूप उनके भोगोपभोगका साधन था तथापि उससे उनकी मृत्यु हो गयी इसलिए सर्पके फणाके समान प्राणोंका हरण करनेवाले इन भोगोंको धिक्कार हो ॥ ३० ॥

> तौ तथा भुञ्जानौ तौ संभोगैरुपलालितौ । प्राप्तावेकपदे शोच्यां दशां धिक्संसृतिस्थितिम् ॥ ३१ ॥

जो श्रीमती और राजा उत्तम-उत्तम भोगोंका अनुभव करते हुए हमेशा सुखी रहते थे वे भी उस समय एक ही साथ सोचनीय अवस्थाको प्राप्त हुए थे इसलिए संसारकी ऐसी स्थितिको धिक्कार हो ॥ ३१ ॥

> संपदां जन्तूनां यदि चेदीदृशी दशा । जनाः किमेभिरस्वन्तैः कुरुताप्तमते रतिम् ॥ ३२ ॥

हे भव्यजन, जब कि भोगोपभोगके साधनोंसे ही जीवोंकी ऐसी अवस्था हो जाती है तब अन्तमें दुःख देनेवाले इन भोगोंसे क्या प्रयोजन है? इन्हें छोड़कर जिनेन्द्रदेवके वीतराग मतमें ही प्रीति करो ॥ ३२ ॥

पात्रदानात्तपुण्येन बद्धोदक्कुरवोऽयुषी । तत्रैव दम्पतीभूत्वा सद्यो जन्म प्रपेदतुः ॥ ३३ ॥

उन दोनोंने पात्रदानसे प्राप्त हुए पुण्यके कारण उत्तरकुरु भोगभूमिकी आयुका बन्ध किया था इसलिए क्षण-भरमें वहीं जाकर जन्म-धारण कर लिया ॥ ३३ ॥

जम्बूद्वीपमहामेरोरुत्तरां दिशमाश्रिता । सन्त्युदक्कुरवो नाम स्वरश्रोपरिहासिनः ॥ ३४ ॥

जम्बूद्वीपसम्बन्धी मेरुके उत्तरकी ओर उत्तरकुरु नामकी भोगभूमि है, जो कि अपनी शोभासे सदा स्वर्गकी शोभाको भी हँसती रहती है ॥ ३४ ॥

मद्यवाद्यङ्गभूषास्रग्दीपज्योतिर्गृहाह्वयाः । भोजनाङ्गप्रभृत्याख्या दशधा भूमिरुहः ॥ ३५ ॥

जहाँ मद्यांग, वाद्यांग, भूषणांग, मालांग, दीपांग, ज्योतिरंग, गृहांग, भोजनांग, भाजनांग और वस्त्रांग ये सार्थक नामको धारण करनेवाले दस प्रकारके कल्पवृक्ष हैं ॥ ३५ ॥

यत्र कल्पद्रुमा रम्या दशधा परिकीर्तिताः । नानारत्नमयाः स्फीतप्रभोद्द्योतितदिङ्मुखाः ॥ ३६ ॥

ये कल्पवृक्ष अनेक रत्नोंके बने हुए हैं और अपनी विस्तृत प्रभासे दसों दिशाओंको प्रकाशित करते रहते हैं ॥ ३६ ॥

रसान् मधुमैरेयसीध्वरिष्टासवादिकान् । रसभेदांस्ततामोदान् वितरन्त्यमृतोपमान् ॥ ३७ ॥

इनमें मद्यांग जातिके वृक्ष फैलती हुई सुगन्धिसे युक्त तथा अमृतके समान मिष्ट मधु, मैरेय, सीधु, अरिष्ट और आसव आदि अनेक प्रकारके रस देते हैं ॥ ३७ ॥

कामोद्दीपनसाधर्म्यान्मद्यमित्युपचर्यते । तारवो रसभेदोऽयं यः सेव्यो भोगभूमिजैः ॥ ३८ ॥

कामोद्दीपनकी समानता होनेसे लोकमें ही इन मधु आदिको उपचारसे मद्य कहते हैं। वास्तवमें ये वृक्षोंके एक प्रकारके रस हैं जिन्हें भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले आर्य पुरुष सेवन करते हैं ॥ ३८ ॥

मदस्य करणं यत्तु मद्यं तत् पापिभिः । तद्वर्जनीयमार्याणामन्तःकरणमोहनम् ॥ ३९ ॥

मद्यपायी लोग जिस मद्यका पान करते हैं वह नशा करनेवाला है और अन्तःकरणको नष्ट करनेवाला है, इसलिए आर्यपुरुषोंके लिए सर्वथा त्याज्य है ॥ ३९ ॥

पटहान् मर्दलांस्तालझल्लरीशङ्खकाहलान् । फलन्ति पणवाद्यांश्च वाद्यभेदांस्तदङ्घ्रिपाः ॥ ४० ॥

वाद्यांग जातिके वृक्षोंपर पटह, मृदंग, ताल, झल्लरी, शंख, भेरी, चंग आदि अनेक प्रकारके बाजे फलते हैं ॥ ४० ॥

नूपुराकटिकेयूररुचकाङ्गदमेखलान् । हारान् मुकुटभेदांश्च सूयन्ते भूषणाङ्घ्रपाः ॥ ४१ ॥

भूषणांग जातिके वृक्ष नूपुर, बाजूबन्द, रुचिक, अंगद (अनन्त), करधनी, हार और मुकुट आदि अनेक प्रकारके आभूषण उत्पन्न करते हैं ॥ ४१ ॥

स्रजो नानाविधाः कर्णपूरभेदांश्च पुष्कथान् । सर्वर्तुकुसुमाकीर्णाः सुमनोङ्घा द्रुमास्त्यजन् ॥ ४२ ॥

मालांग जातिके वृक्ष सातों ऋतुओंके फूलोंसे व्याप्त अनेक प्रकारकी मालाएँ और कर्णफूल आदि अनेक प्रकारके कर्णाभरण अधिक रूपसे धारण करते हैं ॥ ४२ ॥

मणिप्रदीपास्तन्वन्ति दीपाङ्गाख्या द्रुमा दिवि । ज्योतिरङ्गाः सदा द्योतमातन्वन्ति तमोनुदम् ॥ ४३ ॥

दीपांग नामके कल्पवृक्ष मणिमय दीपकोंसे शोभायमान रहते हैं और प्रकाशमान कान्तिके धारक ज्योतिरंग जातिके वृक्ष सब ओर प्रकाश फैलाते रहते हैं ॥ ४३ ॥

रम्यान् प्रासादान् सौधान् गृहाणि च सभासदः । चित्रनर्तनशालाश्च संविधापयितुं क्षमाः ॥ ४४ ॥

गृहांग जातिके कल्पवृक्ष, सुन्दर राजभवन, महल, सभागृह, चित्रशाला और नृत्यशाला आदि अनेक प्रकारके भवन तैयार करनेके लिए समर्थ रहते हैं ॥ ४४ ॥

> भोजनाङ्गा वराहारानमृतस्वाददायिनः । फलन्त्यात्तषड्रसानशनादिकान् ॥ ४५ ॥

भोजनांग जातिके वृक्ष, अमृतके समान स्वाद देनेवाले, शरीरको पुष्ट करनेवाले और छहों रससहित अशन-पान आदि उत्तम-उत्तम आहार उत्पन्न करते हैं ॥ ४५ ॥

> अशनं पानकं खाद्यं स्वाद्यं चान्नं चतुर्विधम् । कट्वम्लतिक्तमधुरकषायलावणा रसाः ॥ ४६ ॥

अशन (रोटी, दाल, भात आदि खानेके पदार्थ), पानक (दूध, पानी आदि पीनेके पदार्थ), खाद्य (लड्डू आदि खाने योग्य पदार्थ) और स्वाद्य (पान, सुपारी, जावित्री आदि स्वाद लेने योग्य पदार्थ) ये चार प्रकारके आहार और कड़वा, खट्टा, चरपरा, मीठा, कषायला और खारा ये छह प्रकारके रस हैं ॥ ४६ ॥

> स्थालानि कांस्यपात्राणि शुक्तिसंकारकरकादिकान् । भाजनाङ्गा दिशन्त्याविर्भवच्छाखाविषङ्गिणः ॥ ४७ ॥

भाजनांग जातिके वृक्ष थाली, कटोरा, सीपके आकारके बरतन, संकार और करक (करवा) आदि अनेक प्रकारके बरतन देते हैं। ये बरतन इन वृक्षोंकी शाखाओंमें लटकते रहते हैं ॥ ४७ ॥

> चीनपट्टदुकूलानि प्रावारपरिधानकम् । मृदुश्लक्ष्णमहार्घाणि वस्त्राङ्गा दधति द्रुमाः ॥ ४८ ॥

और वस्त्रांग जातिके वृक्ष रेशमी वस्त्र, दुकूल, चादर, धोती आदि अनेक प्रकारके कोमल, चिकने और महामूल्य वस्त्र धारण करते हैं ॥ ४८ ॥

> न वनस्पतयोऽप्येते न च दिव्यैरधिष्ठिताः । केवलं पृथिवीसारास्तन्मयत्वमुपागताः ॥ ४९ ॥

ये कल्पवृक्ष न तो वनस्पतिकायिक हैं और न देवोंके द्वारा अधिष्ठित हैं, केवल वृक्षके आकार परिणत हुआ पृथिवीका सार ही हैं ॥ ४९ ॥

> अनादिनिधनाश्चैते निसर्गात् फलदायिनः । न हि भावस्वभावानामुपालम्भः पृथग्जनैः ॥ ५० ॥

कल्पवृक्ष अनादिनिधन हैं और स्वभावसे ही फल देनेवाले हैं। इन वृक्षोंका यह ऐसा स्वभाव ही है इसलिए ये वृक्ष वस्त्र तथा बरतन आदि कैसे देते होंगे, इस प्रकार कुतर्क कर इनके स्वरूपमें दूषण लगाना उचित नहीं है। भावार्थ—पदार्थोंके स्वभाव अनेक प्रकारके होते हैं इसलिए उनमें तर्क करनेकी आवश्यकता नहीं है जैसा कि कहा भी है, 'स्वभावोऽतर्कगोचरः' अर्थात् स्वभाव तर्कका विषय नहीं है ॥ ५० ॥

> नूनं दानफलादेते फलन्ति विपुलं फलम् । यथान्यपादपाः काले प्राणिनामुपकारकाः ॥ ५१ ॥

जिस प्रकार आजकलके अन्य वृक्ष अपने-अपने फलनेके समय आनेपर अनेक प्रकारके फल देकर प्राणियोंका उपकार करते हैं उसी प्रकार उपर्युक्त कल्पवृक्ष भी मनुष्योंके दानके फलसे अनेक प्रकारके फल देते हुए वहाँके प्राणियोंका उपकार करते हैं ॥ ५१ ॥

> सर्वरत्नमयं यत्र धरणीतलमुज्ज्वलम् । ख्यातैः सोपहारत्वात् मुच्यते जातु न श्रिया ॥ ५२ ॥

जहाँकी पृथिवी सब प्रकारके रत्नोंसे बनी हुई है और उसपर उज्ज्वल रत्नोंका उपहार पड़ा रहता है इसलिए उसे शोभा कभी छोड़ती ही नहीं ॥ ५२ ॥

> यत्र दूर्वा महीपृष्ठं चतुरङ्गुलसंमिता । शुकच्छायांशुकेनेव प्रच्छादयति हारिणौ ॥ ५३ ॥

जहाँकी भूमिपर हमेशा चार अंगुल प्रमाण मनोहर घास लहलहाती रहती है जिससे ऐसा मालूम होता है कि मानो हरे रंगके रेशमी वस्त्रसे भूमि ढक रही हो अर्थात् जमीनपर हरे रंगका कपड़ा बिछा हो ॥ ५३ ॥

> मृगाश्चरन्ति मन्दाक्षाः कोमलास्तृणसंपदः । स्वादीयोऽमृतसंबाधा रसायणरसास्थया ॥ ५४ ॥

जहाँके मृग स्वादिष्ट, कोमल और मनोहर तृणरूपी सम्पत्तिको रसायन समझकर बड़े हर्षसे चरा करते हैं ॥ ५४ ॥

> खेलत्कलहंसा यत्र विलसत्कनकाम्बुजाः । हंसानां कलनादेन विविक्तेन मनोहराः ॥ ५५ ॥

जहाँ अनेक वापिकाएँ हैं जो कमलोंसे सहित हैं, उनमें सुवर्णके समान कमल फूल रहे हैं और जो हंसोंके मधुर तथा गम्भीर शब्दोंसे अतिशय मनोहर जान पड़ती हैं ॥ ५५ ॥

सरांस्युत्फुल्लपद्मानि वनमुन्मत्तकोकिलम् । क्रीडाद्रयश्च रुचिराः सन्ति यत्र पदे-पदे ॥ ५६ ॥

जहाँ जगह-जगहपर खिले हुए कमलोंसे सुशोभित तालाब, मत्त कोकिलाओंसे भरे हुए वन और सुन्दर क्रीड़ापर्वत हैं ॥ ५६ ॥

कम्पयन् तरुमूलानि मन्दमावाति मारुतः । पटवासमिवातन्वन् मकरन्दरजोऽभितः ॥ ५७ ॥

जहाँ कोमल वायु वृक्षोंको हिलाता हुआ धीरे-धीरे बहता रहता है। वह वायु बहते समय सब ओर कमलोंकी परागको उड़ाता रहता है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो सब ओर सुगन्धित चूर्ण ही फैला रहा हो ॥ ५७ ॥

यत्र गन्धवहाधूतैराकीर्णा पुष्परेणुभिः । वसुधा राजते पीतैः क्षौमेणेवावगुण्ठिता ॥ ५८ ॥

जहाँ वायुके द्वारा उड़कर आये हुए पुष्पपरागसे ढकी हुई पृथिवी ऐसी शोभायमान हो रही है मानो पीले रंगके रेशमी वस्त्रसे ढकी हो ॥ ५८ ॥

यत्रामोदितदिग्भागः पावकैः पुष्पजं रजः । नभसि श्रियमाधत्ते वितानस्योच्छ्रितं मुहुः ॥ ५९ ॥

जहाँ दसों दिशाओंमें वायुके द्वारा उड़-उड़कर आकाशमें इकट्ठा हुआ पुष्पपराग सब ओरसे तने हुए चन्दोवेका रूप धारण करता है ॥ ५९ ॥

यत्र नातपसंबाधा न वृष्टिर्न हिमादयः । नेतयो दन्दशूका वा प्राणिनां भयहेतवः ॥ ६० ॥

जहाँ न गरमीकी बाधा होती है, न पानी बरसता है, न तुषार आदि पड़ता है, न अतिवृष्टि आदि ईतियाँ हैं और न प्राणियोंको भय उत्पन्न करनेवाले साँप, बिच्छू, खटमल आदि दुष्ट जन्तु ही हुआ करते हैं ॥ ६० ॥

न ज्योत्स्ना नाप्यहोरात्रविभागो नर्तुसंक्रमः । नित्यमेकरसा यत्र भावा एषां सुखप्रदाः ॥ ६१ ॥

जहाँ न चाँदनी है, न रात-दिनका विभाग और न ऋतुओंका परिवर्तन ही है, जहाँ सुख देनेवाले सब पदार्थ सदा एक-से रहते हैं ॥ ६१ ॥

वनानि नित्यपुष्पाणि पद्मिन्यो नित्यपङ्कजाः । यत्र नित्यसुखा देशा रत्नपांसुशिराचिताः ॥ ६२ ॥

जहाँके वन सदा फूलोंसे युक्त रहते हैं, कमलिनियोंमें सदा कमल लगे रहते हैं, और रत्नोंकी धूलिसे व्याप्त हुए देश सदा सुखी रहते हैं ॥ ६२ ॥

यत्रोत्पन्ना नरा दिव्यमङ्गुल्याहारमुत्तमम् । वदन्त्युत्तानशय्यायामासप्ताहव्यतिक्रमात् ॥ ६३ ॥

जहाँ उत्पन्न हुए आर्य लोग प्रथम सात दिन तक अपनी शय्यापर चित पड़े रहते हैं। उस समय आचार्योंने हाथका रसीला अंगूठा चूसना ही उनका दिव्य आहार बतलाया है ॥ ६३ ॥

ततो देशान्तरं तेषामामनन्ति मनीषिणः । दम्पतीनां महीरङ्गे जानुभ्यां गमनं मुदा ॥ ६४ ॥

तत्पश्चात् विद्वानोंका मत है कि वे दोनों दम्पती द्वितीय सप्ताहमें पृथ्वीरूपी रंगभूमिमें घुटनोंके बल चलते हुए एक स्थानसे दूसरे स्थान तक जाने लगते हैं ॥ ६४ ॥

सप्ताहेन परेणाथ वदन्तः कलभाषिणः । स्खलद्गति सखेलं च संचरन्ति महीतले ॥ ६५ ॥

तदनन्तर तीसरे सप्ताहमें वे खड़े होकर अस्पष्ट किन्तु मीठी-मीठी बात कहने लगते हैं और गिरते-पड़ते खेलते हुए जमीनपर चलने लगते हैं ॥ ६५ ॥

ततः स्थिरपदन्यासैर्व्रजन्ति दिनसप्तकम् । कलागुणसमायुक्ता निर्विशन्ति गुणांस्ततः ॥ ६६ ॥

फिर चौथे सप्ताहमें अपने पैर स्थिरतासे रखते हुए चलने लगते हैं तथा पाँचवें सप्ताहमें अनेक कलाओं और गुणोंसे सहित हो जाते हैं ॥ ६६ ॥

परेण प्राप्य तारुण्यं संपूर्णा नवयौवनाः । लसद्वस्त्राङ्गभूषाढ्या जायन्ते भोगभागिनः ॥ ६७ ॥

छठे सप्ताहमें पूर्ण जबान हो जाते हैं और सातवें सप्ताहमें अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण धारण कर भोग भोगनेवाले हो जाते हैं ॥ ६७ ॥

नवमासं स्थिता गर्भे रत्नगर्भग्रहोपमे । यत्र दम्पतितामेत्य जायन्ते दानिनो नराः ॥ ६८ ॥

पूर्वभवमें दान देनेवाले मनुष्य ही जहाँ उत्पन्न होते हैं। वे उत्पन्न होनेके पहले नौ माह तक गर्भमें इस प्रकार रहते हैं जिस प्रकार कि कोई रत्नोंके महलमें रहता हो। उन्हें गर्भमें कुछ भी दुःख नहीं होता और स्त्री-पुरुष साथ-साथ ही पैदा होते हैं। वे दोनों स्त्री-पुरुष दम्पतिपनेको प्राप्त होकर ही रहते हैं ॥ ६८ ॥

यदा दम्पतिसंभूतिर्जनयित्रोः परासुता । तदाभूत् तत्प्रजातानां पुत्रादिसंकल्पो न हि देहिनाम् ॥ ६९ ॥

चूँकि वहाँ जिस समय दम्पतिका जन्म होता है उसी समय उनके माता-पिताका देहान्त हो जाता है इसलिए वहाँके जीवोंमें पुत्र आदिका संकल्प नहीं होता ॥ ६९ ॥

क्षुतजृम्भितमात्रेण यन्नाहुरतिसंधिनाम् । स्वभावमार्दवाद् यान्ति दिवमेव मृता नराः ॥ ७० ॥

जहाँ केवल छींक और जँभाई लेने मात्रसे ही प्राणियोंकी मृत्यु हो जाती है अर्थात् अन्त समयमें माताको छींक और पुरुषको जँभाई आती है। जहाँ उत्पन्न होनेवाले जीव स्वभावसे कोमलपरिणामी होनेके कारण स्वर्गको ही जाते हैं ॥ ७० ॥

देहोच्छ्रायं नृणां यत्र नानालक्षणसुन्दरम् । धनुः षट्सहस्राणि विश्रृण्वन्त्याप्तसूक्तयः ॥ ७१ ॥

जहाँ उत्पन्न होनेवाले लोगोंका शरीर अनेक लक्षणोंसे सहित तथा छह हजार धनुष ऊँचा होता है ऐसा आप्तप्रणीत आगम स्पष्ट वर्णन करते हैं ॥ ७१ ॥

पल्यत्रयमितं यत्र देहिनामायुरिष्यते । दिनत्रयेण चाहारः कुवलीफलमात्रकः ॥ ७२ ॥

जहाँ जीवोंकी आयु तीन पल्य प्रमाण होती है और आहार तीन दिनके बाद होता है, वह भी बदरीफल (बेरके फल) बराबर ॥ ७२ ॥

न गदो न जरा तङ्को न वियोगो न शोचनम् । नानिष्टसंप्रयोगश्च न चिन्ता दैन्यमेव च ॥ ७३ ॥

जहाँ उत्पन्न हुए जीवोंके न बुढ़ापा आता है, न रोग होता है, न वियोग होता है, न शोक होता है, न अनिष्टका संयोग होता है, न चिन्ता होती है और न दीनता होती है ॥ ७३ ॥

> न निद्रा नातितन्द्रा वा नात्युन्मेषनिमेषणम् । न शारीरो मलो वापि न लालास्वेदसंभवः ॥ ७४ ॥

न नींद आती है, न आलस्य आता है, न नेत्रोंके पलक झपते हैं, न शरीरमें मल होता है, न लार बहती है और न पसीना ही आता है ॥ ७४ ॥

> न यत्र विरहक्लेशो न यत्र मदनज्वरः । न यत्र खण्डना भोगा न च यत्र महद् भयम् ॥ ७५ ॥

जहाँ न विरहका क्लेश है, न कामज्वर है, न भोगोंका विच्छेद है किन्तु निरन्तर सुख-ही-सुख रहता है ॥ ७५ ॥

> न विषादो न च ग्लानिर्नानिष्टं कुपितं च न । न कार्पण्यमनाचारो न बली यत्र नाबलः ॥ ७६ ॥

जहाँ न विषाद है, न भय है, न ग्लानि है, न अरुचि है, न क्रोध है, न कृपणता है, न अनाचार है, न कोई बलवान् है और न कोई निर्बल है ॥ ७६ ॥

> बालार्कसप्रभाकारा निःस्वेदा नीरजोऽम्बराः । यत्र पुण्योदयान्नित्यं रम्यन्ते च नराः सुखम् ॥ ७७ ॥

जहाँके मनुष्य बालसूर्यके समान देदीप्यमान, पसीनारहित और स्वच्छ वस्त्रोंके धारक होते हैं तथा पुण्यके उदयसे सदा सुखपूर्वक क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ ७७ ॥

> दशाङ्गतसम्भूतं भोगानुभवनोद्भवम् । सुखं यत्रातिशेते स्म चक्रिणो भोगसंपदम् ॥ ७८ ॥

जहाँ दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए भोगोंके अनुभव करनेसे उत्पन्न हुआ सुख चक्रवर्तीकी भोग-सम्पदाओंका भी उल्लंघन करता है अर्थात् वहाँके जीव चक्रवर्तीकी अपेक्षा अधिक सुखी रहते हैं ॥ ७८ ॥

> यत्र दीर्घायुषां नृणामकाले मरणं न च । निरुपद्रवमायुस्ते जीवन्त्युक्तप्रमाणकम् ॥ ७९ ॥

जहाँ मनुष्य बड़ी भारी आयुके धारक होते हैं उनकी असमयमें मृत्यु नहीं होती। वे अपनी तीन पल्य प्रमाण आयु तक निर्विघ्न रूपसे जीवित रहते हैं ॥ ७९ ॥

> सर्वेऽपि समसंभोगाः सर्वे समसुखोदयाः । प्राप्य षड्तुजान् भोगान् यत्र तिष्ठन्त्यनामयाः ॥ ८० ॥

जहाँ सब जीव समान रूपसे भोगोंका अनुभव करते हैं, सबके एक समान सुखका उदय होता है, सभी नीरोग रहकर छहों ऋतुओंके भोगोपभोग प्राप्त करते हैं ॥ ८० ॥

> सर्वेऽपि सुन्दराकाराः सर्वे वज्रास्थिबन्धनाः । सर्वे चिरायुषो यत्र गीर्वाणा इव यत्नतः ॥ ८१ ॥

जहाँ उत्पन्न हुए सभी जीव सुन्दर आकारके धारक हैं, सभी वज्रवृषभनाराचसंहननसे सहित हैं, सभी दीर्घ आयुके धारक हैं और सभी कान्तिसे देवोंके समान हैं ॥ ८१ ॥

> यत्र कल्पतरुच्छायामुपेत्य ललितस्मितौ । दम्पती गीतवादित्रै रमेते सततोत्सवौ ॥ ८२ ॥

जहाँ स्त्री-पुरुष कल्पवृक्षोंकी छायामें जाकर लीलापूर्वक मन्द-मन्द हँसते हुए, गाना-बजाना आदि उत्सवोंसे सदा क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ ८२ ॥

> कलाकुशलता कल्पदेहत्वं कलकण्ठता । मात्सर्येर्ष्यादिवैकल्यमपि यत्र निसर्गजम् ॥ ८३ ॥

जहाँ कलाओंमें कुशल होना, कल्पवृक्षके समान सुन्दर शरीर प्राप्त होना, मधुर कण्ठ होना और मात्सर्य, ईर्ष्या आदि दोषोंका अभाव होना आदि बातें स्वभावसे ही होती हैं ॥ ८३ ॥

> स्वभावसुन्दराकाराः स्वभावललितेहिताः । स्वभावमधुरालापा मोदन्ते यत्र देहिनः ॥ ८४ ॥

जहाँके जीव स्वभावसे ही सुन्दर आकारवाले, स्वभावसे ही मनोहर चेष्टाओंवाले और स्वभावसे ही मधुर वचन बोलनेवाले होते हैं। इस प्रकार वे सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ ८४ ॥

> दानाद् दानानुमोदाद् वा यत्र पात्रसमाश्रयात् । प्राणिनः सुखमेधन्ते यावज्जीवमनामयाः ॥ ८५ ॥

उत्तम पात्रके लिए दान देने अथवा उनके लिए दिये हुए दानकी अनुमोदना करनेसे जीव जिस भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं और जीवनपर्यन्त नीरोग रहकर सुखसे बढ़ते रहते हैं ॥ ८५ ॥

> कुदृष्टयो बलैर्हीनाः केवलं भोगकाङ्क्षिणः । दत्त्वा दानान्यपात्रेषु तिर्यक्त्वं यत्र यान्त्यमी ॥ ८६ ॥

जो जीव मिथ्यादृष्टि हैं, बलवीर्यसे हीन हैं और केवल भोगोंके अभिलाषी हैं वे अपात्रोंमें दान देकर वहाँ तिर्यञ्च पर्यायको प्राप्त होते हैं ॥ ८६ ॥

> दुःशीलाः कुत्सिताचाराः कुवेषा दुरुपोषिताः । मायाचाराश्च हीनाङ्गा मृगा यत्र व्रतच्युताः ॥ ८७ ॥

जो जीव दुःशील हैं—खोटे स्वभावके धारक हैं, मिथ्या आचारके पालक हैं, कुवेषी हैं, मिथ्या उपवास करनेवाले हैं, मायाचारी हैं और व्रतभ्रष्ट हैं वे जिस भोगभूमिमें हरिण आदि पशु होते हैं ॥ ८७ ॥

> यत्र क्रीडति मिथुनं सुखं मृगाणामपि जायते । न मिथोऽस्ति विरोधो वा वैरं निःस्नेहतापि वा ॥ ८८ ॥

और जहाँ पशुओंके युगल भी आनन्दसे क्रीड़ा करते हैं। उनके परस्परमें न विरोध होता है न बैर होता है और न उनका जीवन ही नीरस होता है ॥ ८८ ॥

> इत्यत्यन्तसुखे तस्मिन् क्षेत्रे पात्रप्रदानतः । देवी वज्रजङ्घश्च दम्पतित्वमुपेयतुः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार अत्यन्त सुखोंसे भरे हुए उस उत्तरकुरुक्षेत्रमें पात्रदानके प्रभावसे वे दोनों श्रीमती और वज्रजंघ दम्पती अवस्थाको प्राप्त होकर स्त्री और पुरुषरूपसे उत्पन्न हुए ॥ ८९ ॥

> प्रागुक्ता मृगा जन्म भेजुस्तत्रैव तद्गुणैः । पात्रदानानुमोदेन दिव्यां मानुष्यमाश्रिताः ॥ ९० ॥

जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है ऐसे नकुल, सिंह, वानर और शूकर भी पात्रदानकी अनुमोदनाके प्रभावसे वहींपर दिव्य मनुष्यशरीरको पाकर मन्दपरिणामी आर्य हुए ॥ ९० ॥

> तथा मतिवराद्याश्च तद्वियोगाद् गताः शुचम् । दृढधर्मास्तिके दीक्षां जैनीमाशिश्रियन् परां ॥ ९१ ॥

इधर मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन ये चारों ही जीव श्रीमती और वज्रजंघके विरहसे भारी शोकको प्राप्त हुए और अन्तमें चारोंने ही श्रीदृढधर्म नामके आचार्यके समीप उत्कृष्ट जिनदीक्षा धारण कर ली ॥ ९१ ॥

> ते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राचारसंपदम् । समाराध्य यथाकालं स्वर्गलोकमयासिषुः ॥ ९२ ॥

और चारों ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी सम्पदाकी आराधना कर अपनी-अपनी आयुके अनुसार स्वर्गलोक गये ॥ ९२ ॥

> अधोग्रैवेयकस्याधो विमाने तेऽहमिन्द्रताम् । प्राप्तास्तपोऽनुभावेन तपो हि फलतीप्सितम् ॥ ९३ ॥

वहाँ तपके प्रभावसे अधोग्रैवेयकके सबसे नीचेके विमानमें (पहले ग्रैवेयकमें) अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुए। सो ठीक ही है, तप सबके अभीष्ट फलोंको फलता है ॥ ९३ ॥

> अथातो वज्रजङ्घार्यः कान्तया सममेकदा । कल्पपादपजां लक्ष्मीमीक्षमाणः क्षणं स्थितः ॥ ९४ ॥

अनन्तर एक समय वज्रजंघका आर्य जीव अपनी प्रियाके साथ कल्पवृक्षकी शोभा निहारता हुआ क्षण-भर बैठा ही था ॥ ९४ ॥

> सूर्यप्रभस्य देवस्य नभोयायि विमानकम् । दृष्ट्वा जातिस्मरो भूयस्तत्त्वज्ञः प्रियया सह ॥ ९५ ॥

कि इतनेमें आकाशमें जाते हुए सूर्यप्रभ देवके विमानको देखकर उसे अपनी स्त्रीके साथ-साथ ही जातिस्मरण हो गया और उसी क्षण दोनोंको आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो गया ॥ ९५ ॥

> तावच्चारणयोर्युग्मं दूरादागच्छदैक्षत । तं च तावनुगृह्णन्तौ व्योम्नः समवतेरतुः ॥ ९६ ॥

उसी समय वज्रजंघके जीवने दूरसे आते हुए दो चारण मुनि देखे। वे मुनि भी उसपर अनुग्रह करते हुए आकाशमार्गसे उतर पड़े ॥ ९६ ॥

> दृष्ट्वैव तावनुत्थाय तुष्टो ववन्दे सादरम् । संस्काराः प्राक्तना ह्येते प्रेरयन्त्यङ्गिनो हिते ॥ ९७ ॥

वज्रजंघका वह जीव उन्हें आता हुआ देखकर शीघ्र ही खड़ा हो गया। सच है, पूर्व जन्मके संस्कार ही जीवोंको हित-कार्यमें प्रेरित करते रहते हैं ॥ ९७ ॥

> अभ्युत्तिष्ठन् स रेजेऽथ मुनीन्द्रयोः सह कान्तया । नलिनीसहजो दिवसः सूर्यप्रतिसूर्याविवोद्गतौ ॥ ९८ ॥

दोनों मुनियोंके समक्ष अपनी प्रियाके साथ खड़ा होता हुआ वज्रजंघका जीव ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसे उदित होते हुए सूर्य और प्रतिसूर्यके समक्ष कमलिनीके साथ दिन शोभायमान होता है ॥ ९८ ॥

> तयोरधिपदद्वन्द्वं चकार प्रणामं स सादरम् । आनन्दाश्रुलवैर्न्यस्तैः क्षालयन्निव तत्क्रमौ ॥ ९९ ॥

वज्रजंघके जीवने दोनों मुनियोंके चरणयुगलमें मस्तक चढ़ाया और नमस्कार किया। उस समय उसके नेत्रोंसे हर्षके आँसू निकल-निकल कर मुनिराजके चरणोंपर पड़ रहे थे जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो अश्रुजलसे उनके चरणोंका प्रक्षालन ही कर रहा हो ॥ ९९ ॥

> तावाशीर्भिरथाश्वास्य प्रह्वं तं प्रसदान्वितम् । उपाविशन् समुचितं देशमध्यासीनौ यथाक्रमम् ॥ १०० ॥

वे दोनों मुनि हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए आर्य वज्रजंघको आशीर्वाद-द्वारा आश्वासन देकर मुनियोंके योग्य स्थानपर यथाक्रम बैठ गये ॥ १०० ॥

> ततः सुखोपविष्टौ तौ सोऽपृच्छदिति चारणौ । लसद्दन्तांशुसंतानैः पुष्पाञ्जलिमिवाकिरत् ॥ १०१ ॥

तदनन्तर सुखपूर्वक बैठे हुए दोनों चारण मुनियोंसे वज्रजंघ नीचे लिखे अनुसार पूछने लगा। पूछते समय उसके मुखसे दाँतोंकी किरणोंका समूह निकल रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानों वह पुष्पाञ्जलि ही बिखेर रहा हो ॥ १०१ ॥

भगवन्तौ क्व वास्तव्यौ कुत आगमनं च वा । युष्मदागमने हेतुः किं नु कारणमुच्यताम् ॥ १०२ ॥

वह बोला—हे भगवन्, आप कहाँके रहनेवाले हैं? आप कहाँसे आये हैं और आपके आनेका क्या कारण है? यह सब आज मुझसे कहिए ॥ १०२ ॥

युष्मत्संदर्शनाज्जातं सौहार्दं मेऽद्य मानसम् । प्रसीदति किमु ज्ञातौ पूर्वं बन्धू युवां मम ॥ १०३ ॥

हे प्रभो, आपके दर्शनसे मेरे हृदयमें मित्रताका भाव उमड़ रहा है, चित्त बहुत ही प्रसन्न हो रहा है और मुझे ऐसा मालूम होता है कि मानो आप मेरे परिचित बन्धु हैं ॥ १०३ ॥

इति प्रश्नावसानेऽस्य मुनिर्ज्यायानभाषत । दशनांशुजलोत्पीडैः क्षालयन्निव तं द्रुतम् ॥ १०४ ॥

इस प्रकार वज्रजंघका प्रश्न समाप्त होते ही बड़े मुनि अपने दाँतोंकी किरणोंरूपी जलके समूहसे उसके शरीरका प्रक्षालन करते हुए नीचे लिखे अनुसार उत्तर देने लगे ॥ १०४ ॥

आर्य विद्धि मां स्वयंबुद्धं यतोऽबुद्धाः प्रबुद्धधीः । महाबलभवे जैनं धर्मं कर्मनिवर्हणम् ॥ १०५ ॥

हे आर्य, तू मुझे स्वयंबुद्ध मन्त्रीका जीव जान, जिससे कि तूने महाबलके भवमें सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर कर्मोंका क्षय करनेवाले जैनधर्मका ज्ञान प्राप्त किया था ॥ १०५ ॥

त्वद्वियोगादहं जातनिर्वेदो बोधमाश्रितः । दीक्षित्वाऽभूवमुत्सृष्टदेहः सौधर्मकल्पजः ॥ १०६ ॥

उस भवमें तेरे वियोगसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर मैंने दीक्षा धारण की थी और आयुके अन्तमें संन्यासपूर्वक शरीर छोड़ सौधर्म स्वर्गमें गया ॥ १०६ ॥

स्वयंप्रभविमानेऽग्रे मणिचूलाह्वयः सुरः । साधिकाब्ध्युपमायुष्कस्ततश्च्युत्वा पुनर्द्विजः ॥ १०७ ॥

वहाँ स्वयंप्रभ विमानमें मणिचूल नामका देव हुआ था। वहाँ मेरी आयु एक सागरमें कुछ अधिक थी। तत्पश्चात् वहाँसे च्युत होकर भूलोकमें उत्पन्न हुआ हूँ ॥ १०७ ॥

> जम्बूद्वीपस्थ पूर्वस्मिन् विदेहे पौष्कलाविते । पुर्यां पुण्डरीकिण्यां प्रियसेन महीभृतः ॥ १०८ ॥

जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें स्थित पुष्कलावती देशसम्बन्धी पुण्डरीकिणी नगरीमें प्रियसेन राजा और उनकी महाराज्ञी सुन्दरीके उदरसे प्रीतिकर नामका बड़ा पुत्र हुआ हूँ ॥ १०८ ॥

> सुन्दर्याश्च सुतोऽभूवं ज्यायान् प्रीतिकराह्वयः । प्रीतिदेवः कनीयान् मे मुनिरेष महातपाः ॥ १०९ ॥

और यह महातपस्वी प्रीतिदेव मेरा छोटा भाई है ॥ १०९ ॥

> स्वयंप्रभजिनोपान्ते दीक्षित्वा भ्रातरौ स्वयम् । सावधिज्ञानमाकाशचारणत्वं तपोबलात् ॥ ११० ॥

हम दोनों भाइयोंने भी स्वयंप्रभ जिनेन्द्रके समीप दीक्षा लेकर तपोबलसे अवधिज्ञान तथा आकाशगामिनी चारण ऋद्धि प्राप्त की है ॥ ११० ॥

> बुद्ध्वाऽवधिसहस्राक्षचक्षुर्व्यापार्य साम्प्रतम् । त्वामार्यमिह संभूतं प्रबोधयितुमागतौ ॥ १११ ॥

हे आर्य, हम दोनोंने अपने अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे जाना है कि आप यहाँ उत्पन्न हुए हैं। चूँकि आप हमारे परम मित्र थे इसलिए आपको समझानेके लिए हम लोग यहाँ आये हैं ॥ १११ ॥

> विद्ध्यार्य कुरुष्वार्य पात्रदानविशेषतः । समुत्पन्नमिहात्मानं विशुद्धाद् दर्शनाद् विना ॥ ११२ ॥

हे आर्य, तू निर्मल सम्यग्दर्शनके बिना केवल पात्रदानकी विशेषतासे ही यहाँ उत्पन्न हुआ है यह निश्चय समझ ॥ ११२ ॥

> महाबलभवेऽस्मत्तो बुद्ध्वा त्यक्ततनुस्थितिः । नालब्ध दर्शनं शुद्धं भोगकाङ्क्षानुबन्धतः ॥ ११३ ॥

महाबलके भवमें तूने हमसे ही तत्त्वज्ञान प्राप्त कर शरीर छोड़ा था परन्तु उस समय भोगोंकी आकांक्षाके कारण तू सम्यग्दर्शनकी विशुद्धताको प्राप्त नहीं कर सका था ॥ ११३ ॥

तस्मात्ते दातुमुद्युक्तौ सम्यक्त्वमनुत्तरम् । आयातौ दातुकामौ स्वर्मोक्षसुखसाधनम् ॥ ११४ ॥

अब हम दोनों, सर्वश्रेष्ठ तथा स्वर्ग और मोक्षसम्बन्धी सुखका प्रधान कारणरूप सम्यग्दर्शनको देनेकी इच्छासे यहाँ आये हैं ॥ ११४ ॥

तद् गृहाण सम्यक्त्वं गृहीतुं काल एव ते । काललब्ध्या विना न स्यात् तदुत्पत्तिरिहाङ्गिनाम् ॥ ११५ ॥

इसलिए हे आर्य, आज सम्यग्दर्शन ग्रहण कर। उसके ग्रहण करनेका यह समय है क्योंकि काललब्धिके बिना इस संसारमें जीवोंको सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं होती है ॥ ११५ ॥

देशनाकाललब्ध्यादिवाह्यकारणसंपदि । अन्तःकरणसामग्र्यां भव्यात्मा स्याद् विशुद्धधीः ॥ ११६ ॥

जब देशनालब्धि और काललब्धि आदि बहिरंग कारण तथा करणलब्धिरूप अन्तरंग कारण सामग्रीकी प्राप्ति होती है तभी यह भव्य प्राणी विशुद्ध सम्यग्दर्शनका धारक हो सकता है ॥ ११६ ॥

शमाद् दर्शनमोहस्य सम्यक्त्वादानमादितः । जन्तोरनादिमिथ्यात्वकलङ्कमलहारिणः ॥ ११७ ॥

जिस जीवका आत्मा अनादिकालसे चले हुए मिथ्यात्वरूपी कलंकसे दूषित हो रहा है, उस जीवको सबसे पहले दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम होनेसे औपशमिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है ॥ ११७ ॥

यथा पित्तोदयोद्भ्रान्तस्वान्तवृत्तेस्तदत्ययात् । यथार्थदर्शनं तद्वदन्तर्मोहोपशान्तितः ॥ ११८ ॥

जिस प्रकार पित्तके उदयसे उद्भ्रान्त हुई चित्तवृत्तिका अभाव होनेपर क्षीर आदि पदार्थोंके यथार्थस्वरूपका परिज्ञान होने लगता है, उसी प्रकार अन्तरंगके कारणरूप मोहनीय कर्मका उपशम होनेपर जीव आदि पदार्थोंके यथार्थस्वरूपका परिज्ञान होने लगता है ॥ ११८ ॥

अनिर्धूय तमो नैशं यथा नोदेत्यंशुमान् । तथानुद्धृत्य मिथ्यात्वतमो नोदेति दर्शनम् ॥ ११९ ॥

जिस प्रकार सूर्य रात्रिसम्बन्धी अन्धकारको दूर किये बिना उदित नहीं होता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वरूपी अन्धकारको दूर किये बिना उदित नहीं होता—प्राप्त नहीं होता ॥ ११९ ॥

> त्रिधा विपाट्य मिथ्यात्वप्रकृतिं करणैस्त्रिभिः । भव्यात्मा क्षपयन् कर्मस्थितिं सम्यक्त्वमाप्नुयात् ॥ १२० ॥

यह भव्य जीव, अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों-द्वारा मिथ्यात्वप्रकृतिकी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप तीन खण्ड करके कर्मोंकी स्थिति कम करता हुआ सम्यग्दृष्टि होता है ॥ १२० ॥

> आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं परया मुदा । सम्यग्दर्शनमाम्नातं मूलं ज्ञानचारित्रयोः ॥ १२१ ॥

वीतराग सर्वज्ञ देव, निर्ग्रन्थ आगम और जीवादि पदार्थोंका बड़ी प्रसन्नतासे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका मूल कारण है। इसके बिना वे दोनों नहीं हो सकते ॥ १२१ ॥

> जीवादिमुक्तिपर्यन्ततत्त्वश्रद्धानमञ्जसा । त्रिभिर्मूढैरनालीढमष्टाङ्गं विद्धि दर्शनम् ॥ १२२ ॥

जीवादि सात तत्त्वोंका तीन मूढ़तारहित और आठ अंगसहित यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ॥ १२२ ॥

> तस्य प्रशमसंवेगावास्तिक्यं चानुकम्पनम् । गुणाः श्रद्धारुचिस्पर्शप्रत्ययाश्चेति पर्ययाः ॥ १२३ ॥

प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा ये चार सम्यग्दर्शनके गुण हैं और श्रद्धा, रुचि, स्पर्श तथा प्रत्यय ये उसके पर्याय हैं ॥ १२३ ॥

> तस्य निःशङ्कितत्वादीन्यष्टाङ्गानि निश्चिनु । तैरंशुमिरिवाभाति भानुमान् सद्दर्शनाह्वयम् ॥ १२४ ॥

निःशङ्कित, निःकाङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं। इन आठ अंगरूपी किरणोंसे सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य बहुत ही शोभायमान होता है ॥ १२४ ॥

> शङ्कां जहीहि सन्मार्गे भोगकाङ्क्षामपाङ्कुरु । विचिकित्सामपि त्यक्त्वा भजस्वामूढदृष्टिताम् ॥ १२५ ॥

हे आर्य, तू इस श्रेष्ठ जैनमार्गमें शंकाको छोड़—किसी प्रकारका सन्देह मत कर, भोगोंकी इच्छा दूर कर, ग्लानिको छोड़कर अमूढदृष्टि (विवेकपूर्ण दृष्टि) को प्राप्त कर ॥ १२५ ॥

> गुह्यं गूहस्व धर्मं च गुणस्थाननिगूहनैः । मार्गाच्चलति धर्मस्थे स्थितीकरणमाचर ॥ १२६ ॥

दोषके स्थानोंको छिपाकर समीचीन धर्मकी वृद्धि कर, और मार्गसे विचलित होते हुए धर्मात्माका स्थितीकरण कर ॥ १२६ ॥

> रत्नत्रयवतामार्येष्वादराद् वात्सल्यमातनु । विधत्स्व शासने जैने यथाशक्ति प्रभावनाम् ॥ १२७ ॥

रत्नत्रयके धारक आर्य पुरुषोंके प्रति प्रेमभावका विस्तार कर और जैन-शासनकी शक्तिके अनुसार प्रभावना कर ॥ १२७ ॥

> देवलोकपाखण्डव्यामोहांश्च समुत्सृज । मोहान्धो हि न पश्येत् पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १२८ ॥

देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और पाखण्डमूढ़ता इन तीन मूढ़ताओंको छोड़ क्योंकि मूढ़ताओंसे अन्धा हुआ प्राणी तत्त्वोंको देखता हुआ भी नहीं देखता ॥ १२८ ॥

> प्रतोहि धर्मसर्वस्वं दर्शनं चारुदर्शनम् । तस्मिन् प्राप्ते दुरापानि न सुखानीह देहिनाम् ॥ १२९ ॥

हे आर्य, पदार्थोंके ठीक-ठीक स्वरूपका दर्शन करनेवाले सम्यग्दर्शनको ही धर्मका सर्वस्व समझ, उस सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो चुकनेपर संसारमें ऐसा कोई सुख नहीं रहता जो जीवोंको प्राप्त नहीं होता हो ॥ १२९ ॥

> सफलं तेनैव सज्जन्म स कृतार्थः स पण्डितः । परिस्फुरति निर्व्याजं यस्य सद्दर्शनं हृदि ॥ १३० ॥

इस संसारमें उसी पुरुषने श्रेष्ठ जन्म पाया है, वही कृतार्थ है और वही पण्डित है जिसके हृदयमें छलरहित—वास्तविक सम्यग्दर्शन प्रकाशमान रहता है ॥ १३० ॥

> सिद्धिप्रासादसोपानं विद्धि दर्शनमग्रिमम् । दुर्गतिद्वारसंरोधि कवाटपुटमूर्जितम् ॥ १३१ ॥

हे आर्य, तू यह निश्चित जान कि यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महलकी पहली सीढ़ी है, और नरकादि दुर्गतियोंके द्वारको रोकनेवाला मजबूत किवाड़ है ॥ १३१ ॥

> स्थिरं धर्मतरोर्मूलं द्वारं स्वर्मोक्षवेश्मनः । शीलाभरणहारस्य तरलं तरलोपमम् ॥ १३२ ॥

धर्मरूपी वृक्षकी स्थिर जड़ है, स्वर्ग और मोक्षरूपी घरका द्वार है और शीलरूपी आभूषणके हारके मध्यमें लगा हुआ श्रेष्ठ रत्न है ॥ १३२ ॥

> अलङ्करिष्णु रोचिष्णु रत्नसारमनुत्तरम् । सम्यक्त्वं हृदि धत्स्व मुक्तिश्रोदरविभ्रमम् ॥ १३३ ॥

यह सम्यग्दर्शन जीवोंको अलंकृत करनेवाला है, स्वयं देदीप्यमान है, रत्नोंमें श्रेष्ठ है, सबसे उत्कृष्ट है और मुक्तिरूपी लक्ष्मीके हारके समान है। ऐसे इस सम्यग्दर्शनरूपी रत्नको हे भव्य, तू अपने हृदयमें धारण कर ॥ १३३ ॥

> सम्यग्दर्शनसर्वस्वं येनासादि दुरासदम् । सोऽचिरान्मुक्तिपर्यन्तां सुखसन्ततिमाप्नुयात् ॥ १३४ ॥

जिस पुरुषने अत्यन्त दुर्लभ इस सम्यग्दर्शनरूपी श्रेष्ठ रत्नको पा लिया है वह शीघ्र ही मोक्ष तकके सुखको पा लेता है ॥ १३४ ॥

> लब्धसद्दर्शनो जीवो मुहूर्तमपि यत्नतः । संसारलतिकां भिन्द्यात् कुरुते ह्रसिनीमसौ ॥ १३५ ॥

देखो, जो पुरुष एक मुहूर्तके लिए भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है वह इस संसाररूपी लताको काटकर बहुत ही छोटी कर देता है अर्थात् वह अर्धपुद्गल परावर्तनसे अधिक समय तक संसारमें नहीं रहता ॥ १३५ ॥

> सुदेवत्वसुमानुष्ये जन्मनी लभते नेतरत् । तद्यथा जायते जातु हृदि सम्यक्त्वदर्शनम् ॥ १३६ ॥

जिसके हृदयमें सम्यग्दर्शन विद्यमान है वह उत्तम देव और उत्तम मनुष्य पर्यायमें ही उत्पन्न होता है। उसके नारकी और तिर्यञ्चोंके खोटे जन्म कभी भी नहीं होते ॥ १३६ ॥

> किं वा बहुभिरालापैः श्लाघ्यैरेवास्तु दर्शने । यस्य सद्भावतो येन संसारो यात्यनन्तोऽपि सान्तताम् ॥ १३७ ॥

इस सम्यग्दर्शनके विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ? इसकी तो यही प्रशंसा पर्याप्त है कि सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर अनन्त संसार भी सान्त (अन्तसहित) हो जाता है ॥ १३७ ॥

> तस्माज्जिनेश्वरीमाज्ञामस्मद्वाक्यात् प्रमाणयन् । अनन्यशरणो भूत्वा प्रतिपद्यस्व दर्शनम् ॥ १३८ ॥

हे आर्य, तू मेरे कहनेसे जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको प्रमाण मानता हुआ अनन्यशरण होकर अन्य रागी-द्वेषी देवताओंकी शरणमें न जाकर सम्यग्दर्शन स्वीकार कर ॥ १३८ ॥

> उत्तमाङ्गमिवाङ्गेषु नेत्रद्वयमिवानने । मुख्यमङ्गं प्रवदन्ति सदुदर्शनं विदुः ॥ १३९ ॥

जिस प्रकार शरीरके हस्त, पाद आदि सब अंगोंमें मस्तक प्रधान है और मुखमें नेत्र प्रधान हैं उसी प्रकार मोक्षके समस्त अंगोंमें गणधरादि देव सम्यग्दर्शनको ही प्रधान अंग मानते हैं ॥ १३९ ॥

> अपास्य लोकपाखण्डदेवतासु विमूढताम् । परबोधैरनालीढमुज्ज्वयसीकुरु दर्शनम् ॥ १४० ॥

हे आर्य, तू लोकमूढ़ता, पाखण्डिमूढ़ता और देवमूढ़ताका परित्याग कर जिसे मिथ्यादृष्टि प्राप्त नहीं कर सकते ऐसे सम्यग्दर्शनको उज्ज्वल कर—विशुद्ध सम्यग्दर्शन धारण कर ॥ १४० ॥

> संसारलतिकायाश्च च्छिन्धि सद्दर्शनासिना । नासि त्वमभव्योऽत्र भविष्यत्तीर्थनायक ॥ १४१ ॥

तू सम्यग्दर्शनरूपी तलवारके द्वारा संसाररूपी लताकी जड़को काट। तू अवश्य ही निकट भव्य है और भविष्यत्कालमें तीर्थंकर होनेवाला है ॥ १४१ ॥

> सम्यक्त्वमधिकृत्यैवमाप्तसूक्त्यनुसारतः । व्याहृता देशनास्माभिर्ग्रहीतव्या श्रेयसे त्वया ॥ १४२ ॥

हे आर्य, इस प्रकार मैंने अरहन्त देवके कहे अनुसार, सम्यग्दर्शन विषयको लेकर, यह उपदेश दिया है सो मोक्षरूपी कल्याणकी प्राप्तिके लिए तुझे यह अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए ॥ १४२ ॥

> त्वमप्यम्बालम्बस्व सम्यक्त्वमविलम्बितम् । भवाम्बुधेस्तरण्डं यत् स्त्रैणात् किं बत खिद्यसि ॥ १४३ ॥

इस प्रकार वे मुनिराज आर्य वज्रजंघको समझाकर आर्या श्रीमतीसे कहने लगे कि माता, तू भी बहुत शीघ्र ही संसाररूपी समुद्रसे पार करनेके लिए नौकाके समान इस सम्यग्दर्शनको ग्रहण कर। वृथा ही स्त्रीपर्यायमें क्यों खेद-खिन्न हो रही है? ॥ १४३ ॥

> न हि स्त्रीष्वनुत्पत्तिर्विकलेन्द्रियजातिषु । न च देवनिकायेषु नीचेष्वन्येषु चास्तिके ॥ १४४ ॥

हे माता, विकलेन्द्रियोंमें, असैंज्ञियोंमें, नीचेकी छह पृथिवियोंमें, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें तथा अन्य नीच पर्यायोंमें सम्यग्दृष्टि जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती ॥ १४४ ॥

> धिगिदं स्त्रैणमश्लाध्यं नैर्ग्रन्थ्यप्रतिबन्धि यत् । कारीषाग्निनिभं तापं निराहुस्तत्र तद्विदः ॥ १४५ ॥

इस निन्द्य स्त्रीपर्यायको धिक्कार हो जो कि निर्ग्रन्थ-दिगम्बर मुनिधर्म पालन करनेके लिए बाधक है और जिसमें विद्वानोंने करीष (कण्डाकी आग) की अग्निके समान कामका तीव्र संताप कहा है ॥ १४५ ॥

> तदेतत् स्त्रैणमुत्सृज्य सम्यगाराध्य दर्शनम् । प्राप्तासि परमस्थानसप्तकं त्वमनुक्रमात् ॥ १४६ ॥

हे माता, अब तू निर्दोष सम्यग्दर्शनकी आराधना कर और इस स्त्रीपर्यायको छोड़कर क्रमसे सप्त परम स्थानोंको प्राप्त कर। भावार्थ—१ 'सज्जाति', २ 'सद्गृहस्थता' (श्रावकके व्रत), ३ 'पारिव्राज्य' (मुनियोंके व्रत), ४ 'सुरेन्द्रपद', ५ 'साम्राज्यपद', ६ 'परमार्हन्त्य' (अरहन्तपद), ७ 'सिद्धपद' (निर्वाण) ये सात परम स्थान कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव क्रम-क्रमसे इन परम स्थानोंको प्राप्त होता है ॥ १४६ ॥

> ततः कतिपयैरेव भवौ श्रेयोऽनुबन्धिभिः । ध्यानाग्निदग्धकर्माणौ प्राप्तास्येव परं पदम् ॥ १४७ ॥

आप लोग कुछ पुण्य भवोंको धारण कर ध्यानरूपी अग्निसे समस्त कर्मोंको भस्म कर परम पदको प्राप्त करोगे ॥ १४७ ॥

> इति प्रीतिकराचार्यवचनं स प्रमाणयन् । सजानिरादधे सम्यग्दर्शनं प्रीतमानसः ॥ १४८ ॥

इस प्रकार प्रीतिकर आचार्यके वचनोंको प्रमाण मानते हुए आर्य वज्रजंघने अपनी प्रियाके साथ-साथ प्रसन्नचित्त होकर सम्यग्दर्शन धारण किया ॥ १४८ ॥

> स सद्दर्शनमासाद्य सप्रियापि प्रियेतराम् । पुष्णात्यलब्धलाभो हि देहिनां धृतिमुत्तमाम् ॥ १४९ ॥

वह वज्रजंघका जीव अपनी प्रियाके साथ-साथ सम्यग्दर्शन पाकर बहुत ही सन्तुष्ट हुआ। सो ठीक ही है, अपूर्व वस्तुका लाभ प्राणियोंके महान् सन्तोषको पुष्ट करता ही है ॥ १४९ ॥

> आप्यार्यः सूत्रानुगां दीप्तां सम्यग्दर्शनकण्ठिकाम् । यौवराज्यपदे सोऽस्थात् मुक्तिसाम्राज्यसंपदः ॥ १५० ॥

जिस प्रकार कोई राजकुमार सूत्र (तन्तु) में पिरोयी हुई मनोहर मालाको प्राप्त कर अपनी राज्यलक्ष्मीके युवराज पदपर स्थित होता है उसी प्रकार वह वज्रजंघका जीव भी सूत्र (जैन सिद्धान्त) में पिरोयी हुई मनोहर सम्यग्दर्शनरूपी कण्ठमालाको प्राप्त कर मुक्तिरूपी राज्यसम्पदाके युवराज-पदपर स्थित हुआ था ॥ १५० ॥

> साप्यभूत् सम्यक्त्वकलामवाप्य नितरामतुष्यत् सती । विशुद्धपुंस्त्वयोगेन निर्वाणमभिलाषुका ॥ १५१ ॥

विशुद्ध पुरुषपर्यायके संयोगसे निर्वाण प्राप्त करनेकी इच्छा करती हुई वह सती आर्या भी सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे अत्यन्त सन्तुष्ट हुई थी ॥ १५१ ॥

अलब्धपूर्वं मास्वाद्य सद्दर्शनरसायनम् । प्रापतुस्तौ परां तृप्तिं जैने कर्मनिवर्हणे ॥ १५२ ॥

जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी रसायनका आस्वादन कर वे दोनों ही दम्पती कर्म नष्ट करनेवाले जैन धर्ममें बड़ी दृढ़ताको प्राप्त हुए ॥ १५२ ॥

शार्दूलार्यादयोऽप्याभ्यां समं सद्दर्शनामृतम् । तथा भेजुर्गुरोरस्य पादमूलमुपाश्रिताः ॥ १५३ ॥

पहले कहे हुए सिंह, वानर, नकुल और सूकरके जीव भी गुरुदेव प्रीतिकर मुनिके चरण-मूलका आश्रय लेकर आर्य वज्रजंघ और आर्या श्रीमतीके साथ-साथ ही सम्यग्दर्शनरूपी अमृतको प्राप्त हुए थे ॥ १५३ ॥

तौ दम्पती कृतानन्दसंदर्शितमनोरथौ । मुहुः संस्पृशतुर्धर्मसंवेगाच्चिरतस्तथा ॥ १५४ ॥

जिन्होंने हर्षसूचक चिन्होंसे अपने मनोरथकी सिद्धिको प्रकट किया है ऐसे दोनों दम्पतियोंको दोनों ही मुनिराज धर्म-प्रेमसे बार-बार स्पर्श कर रहे थे ॥ १५४ ॥

जन्मान्तरनिबद्धेन प्रेम्णा विस्फारितेक्षणः । क्षणं मुनिपदाम्भोजसंस्पर्शात् सोऽन्वभूत् धृतिम् ॥ १५५ ॥

वह वज्रजंघका जीव जन्मान्तरसम्बन्धी प्रेमसे आँखें फाड़-फाड़कर श्री प्रीतिकर मुनिके चरण-कमलोंकी ओर देख रहा था और उनके क्षण-भरके स्पर्शसे बहुत ही सन्तुष्ट हो रहा था ॥ १५५ ॥

कृतप्रणाममाशीर्भिराशास्य तमनुस्थितम् । ततो यथोचितं देशं मुनी गन्तुमुद्यतौ ॥ १५६ ॥

तदनन्तर वे दोनों चारण मुनि अपने योग्य देशमें जानेके लिए तैयार हुए। उस समय वज्रजंघके जीवने उन्हें प्रणाम किया और कुछ दूर तक भेजनेके लिए वह उनके पीछे खड़ा हो गया ॥ १५६ ॥

पुनर्दर्शनमस्त्वार्य सम्यक्त्वं मा स्म विस्मर । इत्युक्त्वान्तर्हितौ सद्यश्चारणौ व्योमचारिणौ ॥ १५७ ॥

चलते समय दोनों मुनियोंने उसे आशीर्वाद देकर हितका उपदेश दिया और कहा कि हे आर्य, फिर भी तेरा दर्शन हो, तू इस सम्यग्दर्शनरूपी समीचीन तत्त्वको नहीं भूलना। यह कहकर वे दोनों गगनगामी मुनि शीघ्र ही अन्तर्हित हो गये ॥ १८७ ॥

> गतेऽथ चारणयुगे सोऽभूदुत्कण्ठितस्तदा । प्रियाणाम् विप्रयोगो हि मनस्तापाय कल्प्यते ॥ १८८ ॥

अनन्तर जब दोनों चारण मुनिराज चले गये तब वह वज्रजंघका जीव क्षण एक तक बहुत ही उत्कण्ठित होता रहा। सो ठीक ही है, प्रिय मनुष्योंका विरह मनके सन्तापके लिए ही होता है ॥ १८८ ॥

> मुहुर्मुनिगुणाध्याने राद्ध्वात्मानं पुनः पुनः । इति चिन्तामसौ भेजे चिरं धर्मानुबन्धिनीम् ॥ १८९ ॥

वह बार-बार मुनियोंके गुणोंका चिन्तवन कर अपने मनको स्थिर करता हुआ चिर कालतक धर्म बढ़ानेवाले नीचे लिखे हुए विचार करने लगा ॥ १८९ ॥

> धुनोति दवथुं स्वान्तात् तनोत्यानन्दथुं परम् । धिनोति च मनोवृत्तिं साधुसमागमः ॥ १९० ॥

अहो! कैसा आश्चर्य है कि साधु पुरुषोंका समागम हृदयके सन्तापको दूर करता है, परम आनन्दको बढ़ाता है और मनकी वृत्तिको सन्तुष्ट कर देता है ॥ १९० ॥

> मुष्णाति दुरितं दूरात् परं पुष्णाति योग्यताम् । भूयः श्रेयोऽनुबध्नाति प्रायः साधुसमागतिः ॥ १९१ ॥

प्रायः साधु पुरुषोंका समागम दूरसे ही पापको नष्ट कर देता है, उत्कृष्ट योग्यताको पुष्ट करता है, और अत्यधिक कल्याणको बढ़ाता है ॥ १९१ ॥

> साधवो मुक्तिमार्गस्य साधनेऽर्पितधीधनाः । लोकानुवृत्तिसाध्यांशो नास्ति कश्चन साधुषु ॥ १९२ ॥

ये साधु पुरुष मोक्षमार्गको सिद्ध करनेमें सदा दत्तचित्त रहते हैं। इन्हें सांसारिक मनुष्योंको प्रसन्न करनेका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता ॥ १९२ ॥

परानुग्रहबुद्ध्या तु केवलं मार्गदेशनाम् । कुर्वन्त्यमी प्रगत्यापि निसर्गोऽयं महात्मनाम् ॥ १६३ ॥

ये मुनिजन केवल परोपकार करनेकी बुद्धिसे ही उनके पास जा-जाकर मोक्षमार्गका उपदेश दिया करते हैं। वास्तवमें यह महापुरुषोंका स्वभाव ही है ॥ १६३ ॥

स्वदुःखे निष्प्रणारम्भाः परदुःखेषु दुःखिताः । निरपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्ष्या मुमुक्षवः ॥ १६४ ॥

मोक्षकी इच्छा करनेवाले ये साधुजन अपने दुःख दूर करनेके लिए सदा शान्त रहते हैं अर्थात् अपने दुःख दूर करनेके लिए किसी प्रकारका कोई आरम्भ नहीं करते। परके दुःखोंमें सदा दुःखी रहते हैं अर्थात् उनके दुःख दूर करनेके लिए सदा तत्पर रहते हैं। और दूसरोंके कार्य सिद्ध करनेके लिए निःस्वार्थ भावसे सदा तैयार रहते हैं ॥ १६४ ॥

क्व वयम् क्व निःस्पृहास्ते क्व चैषा भोगभूमिका । तथाप्यनुग्रहेऽस्माकं सावधानास्तपोधनाः ॥ १६५ ॥

कहाँ हम और कहाँ ये अत्यन्त निःस्पृह साधु? और कहाँ यह मात्र सुखोंका स्थान भोगभूमि अर्थात् दिगम्बर मुनियोंका भोगभूमिमें जाकर वहाँके मनुष्योंको उपदेश देना सहज कार्य नहीं है तथापि ये तपस्वी हम लोगोंके उपकारमें कैसे सावधान हैं? ॥ १६५ ॥

भवन्तु सुखिनः सर्वे सत्त्वा इत्येव सर्वदा । यतो यतन्ते तेनैषां यतित्वं सन्निरुच्यते ॥ १६६ ॥

ये साधुजन सदा यही प्रयत्न किया करते हैं कि संसारके समस्त जीव सदा सुखी रहें और इसीलिए वे यति (यतन्ते इति यतिः) कहलाते हैं ॥ १६६ ॥

तथा नाम महीयांसः परार्थे कुर्वते रतिम् । यथाऽस्मासु प्रपेदाते परं हितमुभौ मुनी ॥ १६७ ॥

जिस प्रकार इन चारण ऋद्धिधारी पुरुषोंने दूरसे आकर हम लोगोंका उपकार किया उसी प्रकार महापुरुष दूसरोंका उपकार करनेमें सदा प्रीति रखते हैं ॥ १६७ ॥

अद्यापि चरणौ साक्षात् पश्यामीव पुरःस्थितौ । तपस्तनूनपात्तातपात्तनूकृततनू मुनी ॥ १६८ ॥

तपरूपी अग्निके सन्तापसे जिनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है ऐसे उन चारण मुनियोंको मैं अब भी साक्षात् देख रहा हूँ, मानो वे अब भी मेरे सामने ही खड़े हैं ॥ १६८ ॥

अनयोश्चरणद्वन्द्वे प्रणतं मृदुपाणिना । समाश्वास्य स्नेहाद् मां व्यधातामधिमस्तकम् ॥ १६९ ॥

मैं उनके चरण-कमलोंमें प्रणाम कर रहा हूँ और वे दोनों चारणमुनि कोमल हाथसे मस्तकपर स्पर्श करते हुए मुझे स्नेहके वशीभूत कर रहे हैं ॥ १६९ ॥

अपाययतां मां धर्मतृषितं तन्महोदधौ । अपास्य भोगसंतापं प्रसीदति परां मम ॥ १७० ॥

मुझ, धर्मके प्यासे मानवको उन्होंने सम्यग्दर्शनरूपी अमृत पिलाया है, इसीलिए मेरा मन भोगजन्य सन्तापको छोड़कर अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है ॥ १७० ॥

सत्यं प्रीतिकरो ज्यायान् मुनिर्योऽस्मास्वदर्शयत् । सन्मार्गमुपदेशेन सप्रीतिं चारणेश्वरः ॥ १७१ ॥

वे प्रीतिकर नामके बड़े मुनि सचमुचमें प्रीतिकर हैं क्योंकि उनकी प्रीति सर्वत्रगामी है और मार्गका उपदेश देकर उन्होंने हम लोगोंपर अपार प्रेम दर्शाया है। भावार्थ—जो मनुष्य सब जगह जानेकी सामर्थ्य होनेपर भी किसी खास जगह किसी खास व्यक्तिके पास जाकर उसे उपदेश आदि देवे तो उससे उसकी अपार प्रीतिका पता चलता है। यहाँपर भी उन मुनियोंमें चारण ऋद्धि होनेसे सब जगह जानेकी सामर्थ्य थी परन्तु उस समय अन्य जगह न जाकर वे वज्रजंघके जीवके पास पहुँचे इससे उसके विषयमें उनकी अपार प्रीतिका पता चलता है ॥ १७१ ॥

महाबलभवेऽप्यासीत् स्वयंबुद्धो गुरुर्नः । द्वितीयजन्मनि सम्यग्धर्मदानविशेषतः ॥ १७२ ॥

महाबलके भवमें भी वे मेरे स्वयम्बुद्ध नामक गुरु हुए थे और आज इस भवमें भी सम्यग्दर्शन देकर विशेष गुरु हुए हैं ॥ १७२ ॥

> गुरूणां यदि संसर्गो न भवेत् स्याद् गुणाजनम् । विना गुणाजनात् क्वास्य जन्तोः सफलजन्मता ॥ १७३ ॥

यदि संसारमें गुरुओंकी संगति न हो तो गुणोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती और गुणोंकी प्राप्तिके बिना इस जीवके जन्मकी सफलता कहाँ हो सकती है! ॥ १७३ ॥

> रसोपविद्धः सन् धातुर्यथा याति सुवर्णताम् । तथा गुरुगुणाश्लिष्टो भव्यात्मा शुद्धिमृच्छति ॥ १७४ ॥

जिस प्रकार सिद्ध रसके संयोगसे तांबा आदि धातुएँ सुवर्णपनेको प्राप्त हो जाती हैं उसी प्रकार गुरुदेवके उपदेशसे प्रकट हुए गुणोंके संयोगसे भव्य जीव परम शुद्धिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १७४ ॥

> न बिना यानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः । नर्ते गुरूपदेशात् सुतरोऽयं भवार्णवः ॥ १७५ ॥

जिस प्रकार जलयानके बिना समुद्र नहीं तिरा जा सकता है उसी प्रकार गुरुके उपदेशके बिना यह संसाररूपी समुद्र नहीं तिरा जा सकता ॥ १७५ ॥

> यथान्धतमसच्छन्नान् नार्थान् दीपाद् विनेक्षते । तथा जीवादिभावांश्च नोपदेष्टुर्विनेक्षते ॥ १७६ ॥

जिस प्रकार कोई पुरुष दीपकके बिना गाढ़ अन्धकारमें छिपे हुए घट, पट आदि पदार्थोंको नहीं देख सकता उसी प्रकार यह जीव भी उपदेश देनेवाले गुरुके बिना जीव, अजीव आदि पदार्थोंको नहीं जान सकता ॥ १७६ ॥

> बान्धवा गुरवश्चेति द्वौ संप्रीतये नृणाम् । बान्धवास्त्विहैव स्युर्गुरवोऽमुत्र चात्र च ॥ १७७ ॥

इस संसारमें भाई और गुरु ये दोनों ही पदार्थ मनुष्योंकी प्रीतिके लिए हैं। पर भाई तो इस लोकमें ही प्रीति उत्पन्न करते हैं और गुरु इस लोक तथा परलोक, दोनों ही लोकोंमें विशेष रूपसे प्रीति उत्पन्न करते हैं ॥ १७७ ॥

> यतो गुरुनिदेशेन जाता नः शुद्धिरीदृशी । ततो गुरुपदे भक्तिर्भूयाज्जन्मान्तरेऽपि नः ॥ १७८ ॥

जब कि गुरुके उपदेशसे ही हम लोगोंको इस प्रकारकी विशुद्धि प्राप्त हुई है तब हम चाहते हैं कि जन्मान्तरमें भी मेरी भक्ति गुरुदेवके चरण-कमलोंमें बनी रहे ॥ १७८ ॥

> इति चिन्तयतोऽस्यासीद् दृढा सम्यक्त्वभावना । सा तु कल्पलतेवास्मै सर्वमिष्टं फलिष्यति ॥ १७९ ॥

इस प्रकार चिन्तवन करते हुए वज्रजंघकी सम्यक्त्व भावना अत्यन्त दृढ़ हो गयी। यही भावना आगे चलकर इस वज्रजंघके लिए कल्पलताके समान समस्त अभीष्ट फल देनेवाली होगी ॥ १७९ ॥

> समानभावनाऽनेन साप्यभूच्छ्रीमती पुनः । समानशीलयोश्चासीदाच्छिन्ना प्रीतिरेनयोः ॥ १८० ॥

श्रीमतीके जीवने भी वज्रजंघके जीवके समान ऊपर लिखे अनुसार चिन्तन किया था इसलिए उसकी सम्यक्त्व भावना भी सुदृढ़ हो गयी थी। इन दोनों पति-पत्नियोंका स्वभाव एक-सा था इसलिए दोनोंमें एक-सी अखण्ड प्रीति रहती थी ॥ १८० ॥

> दम्पत्योरिति संप्रीत्या भोगान् निर्विशतोरपि । भोगकालस्तयोर्नूनं प्रापत् पल्यत्रयोन्मितः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार प्रीतिपूर्वक भोग भोगते हुए उन दोनों दम्पतियोंका तीन पल्य प्रमाण भारी काल व्यतीत हो गया ॥ १८१ ॥

> जीवितान्ते सुखं प्राणान् हित्वा तौ पुण्यशेषतः । प्रापतुः कल्पमैशानं गृहं गेहादिव द्रुतम् ॥ १८२ ॥

और दोनों जीवनके अन्तमें सुखपूर्वक प्राण छोड़कर बाकी बचे हुए पुण्यसे एक घरसे दूसरे घरके समान ऐशान स्वर्गमें जा पहुँचे ॥ १८२ ॥

> प्रावृषि स्वयमेवोदेत्य यथा मेघा यथाकालं कृतोदयाः । भोगभूमिभुवां देहास्तथा लीना विशरारवः ॥ १८३ ॥

जिस प्रकार वर्षाकालमें मेघ अपने-आप ही उत्पन्न हो जाते हैं और समय पाकर आप ही विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार भोगभूमिज जीवोंके शरीर अपने-आप ही उत्पन्न होते हैं और जीवनके अन्तमें अपने-आप ही विलीन हो जाते हैं ॥ १८३ ॥

> यथा वैक्रियिके देहे न दोषमलसंभवः । तथा दिव्यमनुष्याणां देहे शुद्धिरुदाहृता ॥ १८४ ॥

जिस प्रकार वैक्रियिक शरीरमें दोष और मल नहीं होते उसी प्रकार भोगभूमिज जीवोंके शरीरमें भी दोष और मल नहीं होते। उनका शरीर भी देवोंके शरीरके समान ही शुद्ध रहता है ॥ १८४ ॥

> विमाने श्रीप्रभे तत्र कल्पेऽभूत् स्फुरत्प्रभः । स वज्रजङ्घार्यो धीमान् श्रीधराह्वयः सुरोऽभवत् ॥ १८५ ॥

वह वज्रजंघ आर्य ऐशान स्वर्गके हमेशा प्रकाशमान रहनेवाले श्रीप्रभ विमानमें देदीप्यमान कान्तिका धारक श्रीधर नामका ऋद्धिधारी देव हुआ ॥ १८५ ॥

> सापि सम्यक्त्वमाहात्म्यात् स्त्रैणाद् विश्लेषमीयुषी । स्वयंप्रभविमानेऽभूत् तत्समाना सुरोत्तमा ॥ १८६ ॥

और आर्या श्रीमती भी सम्यक्त्वके प्रभावसे स्त्रीलिंगसे छुटकारा पाकर उसी ऐशान स्वर्गके स्वयम्प्रभ विमानमें स्वयं नामका उत्तम देव हुई ॥ १८६ ॥

> शार्दूलार्यादयोऽप्यस्मिन् कल्पेऽनल्पसुखोदये । महर्द्धिकाः सुरा जाताः पुण्यतः किं नु दुरासदम् ॥ १८७ ॥

सिंह, नकुल, वानर और शूकरके जीव भी अत्यन्त सुखमय इसी ऐशान स्वर्गमें बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक देव हुए। सो ठीक ही है, पुण्यसे क्या दुर्लभ है? ॥ १८७ ॥

> ऋते धर्मात् कुतः स्वर्गः कुतः स्वर्गादृते सुखम् । तस्मात् सुखार्थिनां सेव्यो धर्मकल्पतरुश्चिरम् ॥ १८८ ॥

इस संसारमें धर्मके बिना स्वर्ग कहाँ? और स्वर्गके बिना सुख कहाँ? इसलिए सुख चाहनेवाले पुरुषोंको चिरकाल तक धर्मरूपी कल्पवृक्षकी ही सेवा करनी चाहिए ॥ १८८ ॥

शार्दूलभूतपूर्वो यः स विमाने मनोहरे । चित्राङ्गदे ज्वलन्मौलिर्भूत्वा चित्राङ्गदोऽमरः ॥ १८९ ॥

जो जीव पहले सिंह था वह चित्रांगद नामके मनोहर विमानमें प्रकाशमान मुकुटका धारक चित्रांगद नामका देव हुआ ॥ १८९ ॥

वराहार्यश्च नन्दार्ये विमाने मणिकुण्डली । ज्वलन्मुकुटकेयूरमणिकुण्डलभूषितः ॥ १९० ॥

शूकरका जीव नन्दार्य नामक विमानमें प्रकाशमान मुकुट, बाजूबन्द और मणिमय कुण्डलोंसे सहित मणिकुण्डली नामका देव हुआ ॥ १९० ॥

नन्द्यावर्ते विमानेऽभूद् वानरार्यो मनोहरः । सुराङ्गनामनोहारिचतुराकारसुन्दरः ॥ १९१ ॥

वानरका जीव नन्द्यावर्त नामक विमानमें मनोहर नामका देव हुआ जो कि देवांगनाओंके मनको हरण करनेवाले सुन्दर आकारसे शोभायमान था ॥ १९१ ॥

प्रभाकरविमानेऽभून्नकुलार्यो मनोरथः । मनोरथशतावाप्तदिव्यभोगामृताशनः ॥ १९२ ॥

और नकुलका जीव प्रभाकर विमानमें मनोरथ नामका देव हुआ जो कि सैकड़ों मनोरथोंसे प्राप्त हुए दिव्य भोगरूपी अमृतका सेवन करनेवाला था ॥ १९२ ॥

इति पुण्योदयात्तेषां स्वर्गलोके सुखभोगिनाम् । रूपसौन्दर्यभोगादिवर्णना ललिताङ्गवत् ॥ १९३ ॥

इस प्रकार पुण्यके उदयसे स्वर्गलोकके सुख भोगनेवाले उन सभी जीवोंके रूप, सौन्दर्य, भोग आदिका वर्णन ललितांगदेवके समान जानना चाहिए ॥ १९३ ॥

इत्युच्चैः प्रमदोदयात् ततो श्रीमानसौ विभुः । स्वर्गश्रीनयनोत्सवं शुचितरं बिभ्रद् वपुर्भासुरम् ।
कान्ताभिः कलभाषिणीभिरुचितान् भोगान् मनोरञ्जनान् भुञ्जन् सततोत्सवैर्यरमत स्वस्मिन् विमानोत्सवे
॥ १९४ ॥

इस प्रकार पुण्यके उदयसे स्वर्गकी लक्ष्मीको नेत्रोंका उत्सव देनेवाले, अत्यन्त पवित्र और चमकीले शरीरको धारण करनेवाला वह ऋद्धिधारी श्रीधर देव मधुर वचन बोलनेवाली देवांगनाओंके साथ मनोहर भोग भोगता हुआ अपने ही विमानमें अनेक उत्सवों-द्वारा रमण करता था ॥ १९४ ॥

> कान्तानां करपल्लवैर्मृदुतलैः संवाह्यमानक्रमः तद्वक्त्रेन्दुविचिस्मितांशुसलिलेः संसिच्यमानो मुहुः । सभ्रूविभ्रमतत्कटाक्षविशिखैरलंक्षयीकृतोऽनुक्षणं भोगाङ्गैरपि सर्वसुखकरैः प्रमुदितो वत्स्यज्जिनः श्रीधरः ॥ १९५ ॥

कभी देवांगनाएँ अपने कोमल करपल्लवोंसे उसके चरण दबाती थीं, कभी अपने मुखरूपी चन्द्रमासे निकलती हुई मन्द मुसकानकी किरणोंरूपी जलसे बार-बार उसका अभिषेक करती थीं और कभी भौंहोंके विलाससे युक्त कटाक्षरूपी बाणोंका उसे लक्ष्य बनाती थीं। इस प्रकार आगामी कालमें तीर्थंकर होनेवाला वह प्रसन्नचित्त श्रीधरदेव भोगोपभोगकी सामग्रीसे प्रत्येक क्षण सन्तुष्ट रहता था ॥ १९५ ॥

> इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे श्रीमतीवज्रजङ्घसम्यग्दर्शनोत्पत्तिवर्णनं नाम नवमं पर्व ॥ ९ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहमें श्रीमती और वज्रजंघके सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला नववाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

> अथान्येद्युरबुद्धासौ प्रयुक्तावधिरञ्जसा । स्वगुरुं केवलज्ञानिनं श्रीप्रभाद्रिमधिष्ठितम् ॥ १ ॥

अथानन्तर किसी एक दिन श्रीधरदेवको अवधिज्ञानका प्रयोग करनेपर यथार्थ रूपसे मालूम हुआ कि हमारे गुरु श्रीप्रभ पर्वतपर विराजमान हैं और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ है ॥ १ ॥

> जगत्प्रीतिकरो योऽसौ गुरुः प्रीतिकराह्वयः । तमर्चितुममीयाय वर्यया वरपूजया ॥ २ ॥

संसारके समस्त प्राणियोंके साथ प्रीति करनेवाले जो प्रीतिकर मुनिराज थे वे ही इसके गुरु थे। उनकी पूजा करनेके लिए अच्छी-अच्छी सामग्री लेकर श्रीधरदेव उनके सम्मुख गया ॥ २ ॥

> श्रीप्रभाद्रौ स गत्वाऽथ सर्वज्ञमभिवन्द्य च । श्रुत्वा धर्मं ततोऽपृच्छदित्यासौ स्वमनीषितम् ॥ ३ ॥

जाते ही उसने श्रीप्रभ पर्वतपर विद्यमान सर्वज्ञ प्रीतिकर महाराजकी पूजा की, उन्हें नमस्कार किया, धर्मका स्वरूप सुना और फिर नीचे लिखे अनुसार अपने मनकी बात पूछी ॥ ३ ॥

> महाबलभवे येऽस्मन्मन्त्रिणो दुर्दृशस्त्रयः । क्व ते लब्धजन्मानः का वा गतिं श्रिताः ॥ ४ ॥

हे प्रभो, मेरे महाबल भवमें जो मेरे तीन मिथ्यादृष्टि मन्त्री थे वे इस समय कहाँ उत्पन्न हुए हैं, वे कौन-सी गतिको प्राप्त हुए हैं? ॥ ४ ॥

> इति पृष्टवते तस्मै सोऽवोचत् सर्वभाववित् । तन्मनोध्वान्तसंतानमपाकुर्वन् वचोऽंशुभिः ॥ ५ ॥

इस प्रकार पूछनेवाले श्रीधरदेवसे सर्वज्ञदेव, अपने वचनरूपी किरणोंके द्वारा उसके हृदयगत समस्त अज्ञानान्धकारको नष्ट करते हुए कहने लगे ॥ ५ ॥

> त्वयि स्वर्गं गतेऽस्मासु लब्धबोधिषु ते त्रयः । धृष्टा दुर्मृतिमापन्ना वियाता बत दुर्गतिम् ॥ ६ ॥

कि हे भव्य, जब तू महाबलका शरीर छोड़कर स्वर्ग चला गया और मैंने रत्नत्रयको प्राप्त कर दीक्षा धारण कर ली तब खेद है कि वे तीनों ढीठ मन्त्री कुमरणसे मरकर दुर्गतिको प्राप्त हुए थे ॥ ६ ॥

> तौ निगोदास्पदं यातौ तमोऽन्धं यत्र केवलम् । तप्ताधिश्रयणोद्वृत्तमयिष्ठैर्यैः समं स्युभिः ॥ ७ ॥

उन तीनोंमें-से महामति और संभिन्नमति ये दो तो उस निगोद स्थानको प्राप्त हुए हैं जहाँ मात्र सघन अज्ञानान्धकारका ही अधिकार है और जहाँ अत्यन्त तप्त खौलते हुए कड़ाहके समान खलबलाहटसे अनेक बार जन्म-मरण होते रहते हैं ॥ ७ ॥

> ययौ शतबुद्धिः स मिथ्यात्वपरिपाकतः । विपाकक्षेत्रमाम्नातं तद्धि दुष्कृतकर्मणाम् ॥ ८ ॥

तथा शतमति मन्त्री अपने मिथ्यात्वके कारण नरक गति गया है। यथार्थमें खोटे कर्मोंका फल भोगनेके लिए नरक ही मुख्य क्षेत्र है ॥ ८ ॥

> मिथ्यात्वविषसंमूढा ये मार्गपरिपन्थिनः । ते यान्ति दीर्घमध्वानं कुयोन्यावर्तसंकुलम् ॥ ९ ॥

जो जीव मिथ्यात्वरूपी विषसे मूर्च्छित होकर समीचीन जैन मार्गका विरोध करते हैं वे कुयोनिरूपी आवर्त्तोंसे व्याप्त इस संसाररूपी मार्गमें दीर्घकाल तक घूमते रहते हैं ॥ ९ ॥

> नूनं यान्ति तमिस्रं हि सज्ज्ञानद्वेषिणो नराः । आप्तोपज्ञमतो धर्मं बुधोऽभ्यस्येदनारतम् ॥ १० ॥

चूँकि सम्यग्ज्ञानके विरोधी जीव अवश्य ही नरकरूपी गाढ़ अन्धकारमें निमग्न होते हैं इसलिए विद्वान् पुरुषोंको सर्वज्ञप्रणीत सम्यग्ज्ञानका ही निरन्तर अभ्यास करना चाहिए ॥ १० ॥

> धर्मेणात्मा व्रजत्यूर्ध्वमधर्मेण त्वधोऽधः । मिश्रस्तु याति मानुष्यमित्याप्तोक्तं विनिश्चिनु ॥ ११ ॥

यह आत्मा धर्मके प्रभावसे स्वर्ग-मोक्ष रूप उच्च स्थानोंको प्राप्त होता है। अधर्मके प्रभावसे अधोगति अर्थात् नरकको प्राप्त होता है। और धर्म-अधर्म दोनोंके संयोगसे मनुष्य-पर्यायको प्राप्त होता है। हे भद्र, तू उपर्युक्त अरहन्तदेवके वचनोंका निश्चय कर ॥ ११ ॥

> स एष शतबुद्धिस्ते मिथ्याज्ञानस्य दायिनः । द्वितीयनरके दुःखमनुभुङ्क्तेऽतिदारुणम् ॥ १२ ॥

वह तुम्हारा शतबुद्धि मन्त्री मिथ्याज्ञानकी दृढ़तासे दूसरे नरकमें अत्यन्त भयंकर दुःख भोग रहा है ॥ १२ ॥

> अहो स्वयं कृतोऽनर्थो जन्तोरघजितात्मनः । यद्धर्माद् विद्विषन् धर्मे कुरुते रतिम् ॥ १३ ॥

पापसे पराजित आत्माको स्वयं किये हुए अनर्थका यह फल है जो उसका धर्मसे द्वेष और अधर्मसे प्रेम होता है ॥ १३ ॥

> धर्मात् सुखमधर्मात्तु दुःखमित्यविगानतः । धर्मैकपरतां धत्ते बुधोऽनर्थजिहासया ॥ १४ ॥

धर्मसे सुख प्राप्त होता है और अधर्मसे दुःख मिलता है, यह बात निर्विवाद प्रसिद्ध है इसीलिए तो बुद्धिमान पुरुष अनर्थोंको छोड़नेकी इच्छासे धर्ममें ही तत्परता धारण करते हैं ॥ १४ ॥

> धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षान्तिः शौचं वितृष्णता । ज्ञानवैराग्यसंपत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः ॥ १५ ॥

प्राणियोंपर दया करना, सच बोलना, क्षमा धारण करना, शौचका पालन करना, तृष्णाका अभाव करना, सम्यग्ज्ञान और वैराग्यरूपी संपत्तिका इकट्ठा करना ही धर्म है और उससे उल्टे अदया आदि भाव अधर्म हैं ॥ १५ ॥

> तनोति विषयासङ्गः सुखसंतोषमन्वहम् । स तीव्रमनुसंधत्ते तापं दीप्त इवानलः ॥ १६ ॥

विषयासक्ति जीवोंके इन्द्रियजन्य सुखकी तृष्णाको बढ़ाती है, इन्द्रियजन्य सुखकी तृष्णा प्रज्वलित अग्निके समान भारी सन्ताप पैदा करती है ॥ १६ ॥

> संतप्तस्तत्प्रतीकारमीप्सन् पापेऽनुरज्यते । द्वेष्टि धर्ममधर्मेण पतत्यधः ॥ १७ ॥

तृष्णासे सन्तप्त हुआ प्राणी उसे दूर करनेकी इच्छासे पापमें अनुरक्त हो जाता है, पापमें अनुराग करनेवाला प्राणी धर्मसे द्वेष करने लगता है और धर्मका त्याग करनेवाला जीव अधर्मके कारण अधोगतिको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

> विपच्यते यथाकालं नरके दुरनुष्ठितम् । अनेहसि समभ्यर्णे यथाऽलकज विषम् ॥ १८ ॥

जिस प्रकार समय आनेपर (प्रायः वर्षाकालमें) पागल कुत्तेका विष अपना असर दिखलाने लगता है उसी प्रकार किये हुए पापकर्म भी समय पाकर नरकमें भारी दुःख देने लगते हैं ॥ १८ ॥

> यथोपचितदोषस्य वृद्धिं गच्छन्ति सङ्कटाः । तथा दुरीहिते पाप्मा माद्रीभवति दुःसहः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार अपथ्य सेवनसे रोगी मनुष्योंका रोग बढ़ जाता है उसी प्रकार पापाचरणसे मिथ्यादृष्टि जीवोंका पाप भी बहुत बड़ा हो जाता है ॥ १९ ॥

> दुःसहः पापकर्मणां पाको ददाति दुःसहं फलम् । येनात्मा पतितः श्वभ्रे क्षणं नापि विमुच्यते ॥ २० ॥

किये हुए पापकर्मोंका परिपाक बहुत ही बुरा होता है। वह सदा कटु फल देता रहता है; जिससे यह जीव नरकमें पड़कर वहाँ क्षण-भरके लिए भी दुःखसे नहीं छूटता ॥ २० ॥

> यादृशं नरके दुःखं तत्रोत्पत्तिः कुतो भवेत् । इति श्रोतुं ततः सम्यक् प्रणिधाय मनः क्षणम् ॥ २१ ॥

नरकोंमें कैसा दुःख है? और वहाँ जीवोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है? यदि तू यह जानना चाहता है तो क्षण-भरके लिए मन स्थिर कर सुन ॥ २१ ॥

> हिंसायां निरता ये स्युर्मृषावादतत्पराः । चौर्यसक्ताः परस्त्रीषु ये रता मद्यपाश्च ये ॥ २२ ॥

जो जीव हिंसा करनेमें आसक्त रहते हैं, झूठ बोलनेमें तत्पर होते हैं, चोरी करते हैं, परस्त्रीरमण करते हैं, और मद्य पीते हैं ॥ २२ ॥

> ये च मिथ्यादृशः क्रूरा रौद्रध्यानपरायणाः । सत्त्वेषु निरनुक्रोशा बह्वारम्भपरिग्रहाः ॥ २३ ॥

जो मिथ्यादृष्टि हैं, क्रूर हैं, रौद्रध्यानमें तत्पर हैं, प्राणियोंपर सदा निर्दय रहते हैं, और बहुत आरम्भ तथा परिग्रह रखते हैं ॥ २३ ॥

> धर्मविद्वेषिणो ये च नित्यमधर्मपरितोषकाः । दूषकाः साधुवर्गस्य मात्सर्योपहताश्च ये ॥ २४ ॥

जो सदा धर्मसे द्रोह करते हैं, अधर्ममें सन्तोष रखते हैं, साधुओंकी निन्दा करते हैं, और मात्सर्यसे उपहत हैं ॥ २४ ॥

> रुष्यन्त्यकारणान्नैव निष्परिग्रहेभ्योऽतिपातकाः । मुनिभ्यो धर्मशीलेभ्यो मधुमांसाशने रताः ॥ २५ ॥

जो धर्मसेवन करनेवाले परिग्रहरहित मुनियोंसे बिना कारण ही क्रोध करते हैं, अतिशय पापी हैं, और मधु तथा मांस खानेमें तत्पर हैं ॥ २५ ॥

> श्वानपालकाः पोषयित्वान्यजीवानां येऽतिनिर्घृणाः । खादका मधुमांसस्य तेषां ये चानुमोदकाः ॥ २६ ॥

जो अन्य जीवोंकी हिंसा करनेवाले कुत्ता, बिल्ली आदि पशुओंको पालते हैं, अतिशय निर्दयी हैं, स्वयं मधु, मांस खाते हैं और उनके खानेवालोंकी अनुमोदना करते हैं ॥ २६ ॥

> ते नराः पापभारेण प्रविशन्ति रसातलम् । विपाकक्षेत्रमेतद्धि विद्धि दुष्कृतकर्मणाम् ॥ २७ ॥

वे सब जीव पापके भारसे नरकमें प्रवेश करते हैं। इस नरकको ही खोटे कर्मोंका फल देनेका क्षेत्र जानना चाहिए ॥ २७ ॥

> जलस्थलचराः क्रूराः सोरगाश्च सरीसृपाः । पापशीलाश्च मानिन्यः पक्षिणश्च सुदारुणाः ॥ २८ ॥

क्रूर जलचर, थलचर, सर्प, सरीसृप, पाप करनेवाली स्त्रियाँ और क्रूर पक्षी आदि जीव नरकमें जाते हैं ॥ २८ ॥

> प्रयान्त्यसंज्ञिनो घर्मां वंशां च सरीसृपाः । पक्षिणस्ते तृतीयां च रौरवीं च महोरगाः ॥ २९ ॥

असंज्ञी तिर्यञ्च जीव घर्मा नामक पहली पृथिवी तक जाते हैं, सरीसृप (सरकनेवाले) दूसरी पृथिवी तक जाते हैं, पक्षी तीसरी पृथिवी तक, और बड़े सर्प चौथी पृथिवी तक जाते हैं ॥ २९ ॥

> सिंहास्तां पञ्चमीं गच्छेयुः षष्ठीं च योषितः । प्रयान्ति सप्तमीं तां च मर्त्या मत्स्याश्च पापिनः ॥ ३० ॥

सिंह पाँचवीं पृथिवी तक, स्त्रियाँ छठवीं पृथिवी तक और पापी मनुष्य तथा महामच्छ सातवीं पृथिवी तक जाते हैं ॥ ३० ॥

> रत्नशर्करावालुक्याः पङ्कधूममहतमःप्रभाः । तमस्तमःप्रभा चेति सप्ताधः श्वभ्रभूमयः ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात पृथिवियाँ हैं जो कि क्रम-क्रमसे नीचे-नीचे हैं ॥ ३१ ॥

> तासां पर्यायनामानि घर्मा वंशा शिलाञ्जना । अरिष्टा मघवी चैव माधवी चेत्यनुक्रमात् ॥ ३२ ॥

घर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माधवी ये सात पृथिवियोंके क्रमशः नामान्तर हैं ॥ ३२ ॥

> तत्र बीभत्सुनिहितं जाले मधुकृतामिव । तेऽधोमुखाः प्रजायन्ते पापिनामुन्नतिः कुतः ॥ ३३ ॥

उन पृथिवियोंमें वे जीव मधुमक्खियोंके छत्तेके समान बने हुए कुम्भी स्थानोंमें नीचेकी ओर मुख करके पैदा होते हैं। सो ठीक ही है, पापी जीवोंकी उन्नति कैसे हो सकती है ॥ ३३ ॥

> अपर्याप्ता भवन्त्याशु तैजसं रूपं जुगुप्सितम् । पर्यापयन्ति दुष्प्रेक्ष्यं विकृताकृति विग्रहम् ॥ ३४ ॥

वे जीव पापकर्मके उदयसे अन्तर्मुहूर्तमें ही दुर्गन्धित, घृणित, देखनेके अयोग्य और बुरी आकृतिवाले शरीरकी पूर्ण रचना कर लेते हैं ॥ ३४ ॥

> पर्याप्ताश्च महीपृष्ठे ज्वलदग्न्यतिदुःसहे । विच्छिन्नबन्धनानीव पत्राणि विप्लवन्त्यधः ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार वृक्षके पत्ते शाखासे सम्बन्ध टूट जानेपर नीचे गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार वे नारकी जीव शरीरकी पूर्ण रचना होते ही उस उत्पत्तिस्थानसे जलती हुई अत्यन्त दुःसह नरककी भूमिपर गिर पड़ते हैं ॥ ३५ ॥

> निपत्य च महीपृष्ठे निशितायुधमूर्धसु । रुवन्ति दुरात्मानश्छिन्नसर्वाङ्गसन्धयः ॥ ३६ ॥

वहाँकी भूमिपर अनेक तीक्ष्ण हथियार गड़े हुए हैं, नारकी उन हथियारोंकी नोंकपर गिरते हैं जिससे उनके शरीरकी सब सन्धियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और इस दुःखसे दुःखी होकर वे पापी जीव रोने-चिल्लाने लगते हैं ॥ ३६ ॥

> भूम्युष्मणा च संतप्ता दुःसहेनाकुलीकृताः । अम्बरीषे तिला यद्वन्निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥ ३७ ॥

तदनन्तर भूमिकी असह्य गरमीसे सन्तप्त होकर व्याकुल हुए नारकी गरम भाड़में डाले हुए तिलोंके समान पहले तो उछलते हैं और फिर नीचे गिर पड़ते हैं ॥ ३७ ॥

> ततस्तेषां निहन्वन्ति गात्राणि निशितायुधैः । नारकाः परुषक्रोधास्तर्जयन्तोऽतिभीषणम् ॥ ३८ ॥

वहाँ पड़ते ही अतिशय क्रोधी नारकी भयंकर तर्जना करते हुए तीक्ष्ण हथियारोंसे उन नवीन नारकियोंके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं ॥ ३८ ॥

> तेषां छिन्नानि गात्राणि संदधत्यपि तत्क्षणम् । दण्डाहतानि वारीणि यद्वद्विक्षिप्य संदधुः ॥ ३९ ॥

जिस प्रकार किसी डण्डेसे ताड़ित हुआ जल बूँद-बूँद होकर बिखर जाता है और फिर क्षण-भरमें मिलकर एक हो जाता है, उसी प्रकार उन नारकियोंका शरीर भी हथियारोंके प्रहारसे छिन्न-भिन्न होकर जहाँ-तहाँ बिखर जाता है और फिर क्षण-भरमें मिलकर एक हो जाता है ॥ ३९ ॥

> वैरमन्योन्यसम्बन्धि निजज्ञानानुभावतः । दण्डांस्तदनुरूपांस्ते योजयन्ति परस्परम् ॥ ४० ॥

उन नारकियोंको अवधिज्ञान होनेसे अपनी पूर्वभवसम्बन्धी घटनाओंका अनुभव होता रहता है, उस अनुभवसे वे परस्पर एक दूसरेको अपना पुराना शत्रु बतलाकर आपसमें दण्ड देते रहते हैं ॥ ४० ॥

> चोदयन्त्यसुराश्चैनान् क्रूरा युध्यध्वमित्यरम् । स्मरयन्तः पूर्ववैराणि प्राक्चतुर्थ्याः सुदारुणाः ॥ ४१ ॥

पहलेकी तीन पृथिवियों तक अतिशय भयंकर असुरकुमार जातिके देव जाकर वहाँके नारकियोंको उनके पूर्वभवके बैरका स्मरण कराकर परस्पर लड़नेके लिए प्रेरणा करते रहते हैं ॥ ४१ ॥

> वज्रचञ्चुपुटैर्गृध्रा भिन्दन्त्येतान् भयङ्कराः । श्वानश्चार्जुनकायास्तु दन्दशूकैः खरैर्नखैः ॥ ४२ ॥

वहाँके भयंकर गीध अपनी वज्रमयी चोंचसे उन नारकियोंके शरीरको चीर डालते हैं और काले-काले कुत्ते अपने पैने नखोंसे फाड़ डालते हैं ॥ ४२ ॥

> भृशक्वाथिततान्नादिरसान् केचित् प्रपायिताः । प्रयान्ति विलयं सद्यो रुदन्तो विस्वरस्वनम् ॥ ४३ ॥

कितने ही नारकियोंको खौलती हुई ताँबा आदि धातुएँ पिलायी जाती हैं जिसके दुःखसे वे बुरी तरह चिल्ला-चिल्लाकर शीघ्र ही विलीन (नष्ट) हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

> इक्षुयन्त्रेषु निक्षिप्य पीड्यन्ते खण्डशः कृताः । उष्ट्रिकासु च निष्क्वाथ्य क्रियन्ते रसतां परे ॥ ४४ ॥

कितने ही नारकियोंके टुकड़े-टुकड़े कर कोल्हू (गन्ना पेलनेके यन्त्र) में डालकर पेलते हैं। कितने ही नारकियोंको कढाईमें खौलाकर उनका रस बनाते हैं ॥ ४४ ॥

> छित्त्वा गात्रेभ्यो मांसानि भक्ष्यन्ते बलिभिः परे । छित्त्वा निशितैः शस्त्रैः परमांसाशिनः पुरा ॥ ४५ ॥

जो जीव पूर्वपर्यायमें मांसभक्षी थे उन नारकियोंके शरीरको बलवान् नारकी अपने पैने शस्त्रोंसे काट-काटकर उनका मांस उन्हें ही खिलाते हैं ॥ ४५ ॥

> संदंशकैर्विदार्यास्यं गले पाटिकया बलात् । आस्यन्ते तापितांल्लोहपिण्डान् मांसप्रियाः पुरा ॥ ४६ ॥

जो जीव पहले बड़े शौकसे मांस खाया करते थे, बलवान् नारकी उनका मुख फाड़कर उनके गलेमें जबरदस्ती तपाये हुए लोहेके गोले निगलाते हैं ॥ ४६ ॥

> सेयं तव प्रियेत्युक्त्वा तप्तायःपुत्रिकां गले । आलिङ्ग्यन्ते बलादन्यैरनलार्चिकणाचिताम् ॥ ४७ ॥

'यह वही तुम्हारी उत्तम प्रिया है' ऐसा कहते हुए बलवान् नारकी अग्निके फुलिंगोंसे व्याप्त तपायी हुई लोहेकी पुतलीका जबरदस्ती गलेसे आलिंगन कराते हैं ॥ ४७ ॥

> संकेतकेतकीवने कर्कशक्रकचच्छदे । त्वामिहोपह्वये कान्ते ह्यभिसमीर्षया ॥ ४८ ॥

जिन्होंने पूर्वभवमें परस्त्रियोंके साथ रति-क्रीड़ा की थी ऐसे नारकियोंसे अन्य नारकी आकर कहते हैं कि तुम्हें तुम्हारी प्रिया अभिसार करनेकी इच्छासे संकेत किये हुए केतकीवनके एकान्तमें बुला रही है ॥ ४८ ॥

> पुरा पराङ्गनासङ्गरतिदुर्ललितानिति । संयोजयन्ति तप्तायःपुत्रिकामिह परे ॥ ४९ ॥

इस प्रकार कहकर उन्हें कठोर करौंत-जैसे पत्तोंवाले केतकीवनमें ले जाकर तपायी हुई लोहेकी पुतलियोंके साथ आलिंगन कराते हैं ॥ ४९ ॥

> तांस्तदालिङ्गनासङ्गात् क्षणमूर्च्छामुपागतान् । तुदन्त्ययोमयैस्तोत्रैर्मर्मसु नारकाः ॥ ५० ॥

उन लोहेकी पुतलियोंके आलिंगनसे तत्क्षण ही मूर्च्छित हुए उन नारकियोंको अन्य नारकी लोहेके पैने परोनोंसे मर्मस्थानोंमें पीटते हैं ॥ ५० ॥

> तदङ्गालिङ्गनासङ्गात् क्षणामीलितलोचनाः । निपतन्ति धरित्रीषु तेऽङ्गारकृतविग्रहाः ॥ ५१ ॥

उन लोहेकी पुतलियोंके आलिंगनकालमें ही जिनके नेत्र दुःखसे बन्द हो गये हैं तथा जिनका शरीर अंगारोंसे जल रहा है ऐसे वे नारकी उसी क्षण जमीनपर गिर पड़ते हैं ॥ ५१ ॥

> भस्त्राग्निदीपितान् केचिदायसान् कूटशाल्मलीन् । आरोप्यन्ते बलात् कैश्चित्
> तीक्ष्णोर्ध्वाधोऽग्रकण्टकान् ॥ ५२ ॥

कितने ही नारकी, जिनपर ऊपरसे नीचे तक पैने काँटे लगे हुए हैं और जो धौंकनीसे प्रदीप्त किये गये हैं ऐसे लोहेके बने हुए सेमरके वृक्षोंपर अन्य नारकियोंको जबरदस्ती चढ़ाते हैं ॥ ५२ ॥

> ते तदारोपणारोधात् कर्षितैरतिकर्षिताः । मुच्यन्ते नारकैः कृच्छ्रात् क्षरत्क्षतजमूर्तयः ॥ ५३ ॥

वे नारकी उन वृक्षोंपर चढ़ते हैं, कोई नारकी उन्हें ऊपरसे नीचेकी ओर गिरा देता है और कोई नीचेसे ऊपरको घसीट ले जाता है। इस तरह जब उनका सारा शरीर छिल जाता है और उससे रुधिर बहने लगता है तब कहीं बड़ी कठिनाईसे छुटकारा पाते हैं ॥ ५३ ॥

> अरुष्कराम्भोपूर्णासु विगाह्यन्ते नदीषु च । क्षणाद् विशीर्णसर्वाङ्गा विलिप्यन्तेऽम्बुचारिभिः ॥ ५४ ॥

कितने ही नारकियोंको भिलावेके रससे भरी हुई नदीमें जबरदस्ती पटक देते हैं जिससे क्षण-भरमें उनका सारा शरीर गल जाता है और उसके खारे जलकी लहरें उन्हें लिप्त कर उनके घावोंको भारी दुःख पहुँचाती हैं ॥ ५४ ॥

> विस्फुलिङ्गमयीं शय्यां ज्वलन्तीमधिशायिताः । शेरते प्लुष्यमाणाङ्गा दीर्घनिद्रासुखेप्सया ॥ ५५ ॥

कितने ही नारकियोंको अंगारोंसे व्याप्त जलती हुई अग्निकी शय्यापर सुलाते हैं। नींद लेकर सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे वे नारकी उसपर सोते हैं जिससे उनका सारा शरीर जलने लगता है ॥ ५५ ॥

> असिपत्रवनान्यन्ये व्रजन्त्युष्णार्दिता यदा । तदा वाति मरुत् तीव्र विस्फुलिङ्गकणान् किरन् ॥ ५६ ॥

गरमीके दुःखसे पीड़ित हुए नारकी ज्यों ही असिपत्र वनमें (तलवारकी धारके समान पैने पत्तोंवाले वनमें) पहुँचते हैं त्यों ही वहाँ अग्निके फुलिंगोंको बरसाता हुआ प्रचण्ड वायु बहने लगता है ॥ ५६ ॥

> तेन पतन्ति पत्राणि शस्त्राणि सर्वायुधमयान्यरम् । तैश्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः फूत्कुर्वन्ति वराककाः ॥ ५७ ॥

उस वायुके आघातसे अनेक आयुधमय पत्ते शीघ्र ही गिरने लगते हैं जिनसे उन नारकियोंका सम्पूर्ण शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है और उस दुःखसे दुःखी होकर वे दीन नारकी रोने-चिल्लाने लगते हैं ॥ ५७ ॥

> अयोमयैस्तु शूल्यमांसीकृताः परैः । पात्यन्ते च गिरेरग्रादधःकृतमुखाः क्षितौ ॥ ५८ ॥

वे नारकी कितने ही नारकियोंको लोहेकी सलाईपर लगाये हुए मांसके समान लोहदण्डोंपर टाँगकर अग्निमें इतना भूनते हैं कि वे सूखकर वल्लूर (शुष्क मांस) की तरह हो जाते हैं और कितने ही नारकियोंको नीचेकी ओर मुँह कर पहाड़की चोटीपर-से पटक देते हैं ॥ ५८ ॥

> क्रकचैर्दारिताः केचिन्मर्मास्थिसन्धिषु । तप्तायःसूचिनिर्भिन्ननखाग्रे दारुणवेदनाः ॥ ५९ ॥

कितने ही नारकियोंके मर्मस्थान और हड्डियोंके सन्धिस्थानोंको पैनी करौंतसे विदीर्ण कर डालते हैं और उनके नखोंके अग्रभागमें तपायी हुई लोहेकी सूइयाँ चुभाकर उन्हें भयंकर वेदना पहुँचाते हैं ॥ ५९ ॥

कांश्चिन्नितान्तशूलाग्रप्रोतांल्लम्बान्त्रसन्ततीन् । भ्रमयत्युच्छलच्छोणशोणितारुणविग्रहान् ॥ ६० ॥

कितने ही नारकियोंको पैने शूलके अग्रभागपर चढ़ाकर घुमाते हैं जिससे उनकी आँतड़ियाँ निकलकर लटकने लगती हैं और छलकते हुए खूनसे उनका सारा शरीर लाल-लाल हो जाता है ॥ ६० ॥

व्रणौघजर्जरीभूतान् कांश्चित् सिञ्चन्ति क्षारवारिभिः । तत्किलाप्यायनं तेषां मूर्च्छाविगलदात्मनाम् ॥ ६१ ॥

इस प्रकार अनेक घावोंसे जिनका शरीर जर्जर हो रहा है ऐसे नारकियोंको वे पापी नारकी खारे पानीसे सींचते हैं। जो नारकी घावोंकी व्यथासे मूर्च्छित हो जाते हैं खारे पानीके सींचनेसे वे पुनः सचेत हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

कांश्चिदुत्तुङ्गशैलाग्रात् पातितानतिनिष्ठुराः । नारकाः प्रहरन्त्येते शतशो वज्रमुष्टिभिः ॥ ६२ ॥

कितने ही नारकियोंको पहाड़की ऊँची चोटीसे नीचे पटक देते हैं, और फिर नीचे आनेपर उन्हें अनेक निर्दय नारकी बड़ी कठोरताके साथ सैकड़ों वज्रमय मुष्टियोंसे मारते हैं ॥ ६२ ॥

अन्यानन्ये विनिघ्नन्ति मुद्गरैरतिनिर्घृणाः । विकीर्णप्रोच्छलच्चक्षुर्गोलकानधिमस्तकम् ॥ ६३ ॥

कितने ही निर्दयी नारकी अन्य नारकियोंको उनके मस्तकपर मुद्गरोंसे मारते हैं जिससे उनके नेत्रोंके गोलक निकलकर बाहर गिर पड़ते हैं ॥ ६३ ॥

मेषवद् योधयन्त्येतान् योधयन्ति मिथोऽसुराः । स्फुरद्ध्वनिदलन्मूर्ध्नोगलन्मस्तिष्ककर्दमान् ॥ ६४ ॥

तीसरी पृथिवी तक असुरकुमार देव नारकियोंका मेढ़ोंके समान झुण्ड बनाकर परस्परमें लड़ाते हैं जिससे उनके मस्तक शब्द करते हुए फट जाते हैं और उनसे रक्त, मांस आदि बहुत-सा मल बाहर निकलने लगता है ॥ ६४ ॥

तप्तलोहासनेष्वन्यान्यासयन्ति पुरोद्धतान् । शय्यासु च निवेश्यन्ते शितायःकण्टकास्तरे ॥ ६५ ॥

जो जीव पहले बड़े उद्दण्ड थे उन्हें वे नारकी तपाये हुए लोहेके आसनपर बैठाते हैं और विधिपूर्वक पैने काँटोंके बिछौनेपर सुलाते हैं ॥ ६५ ॥

> इत्यसह्यां परां दीप्तां नारकीं प्राप्य यातनाम् । उद्विग्नानां मनस्येषा चिन्तोपजायते ॥ ६६ ॥

इस प्रकार नरककी अत्यन्त असह्य और भयंकर वेदना पाकर भयभीत हुए नारकियोंके मनमें यह चिन्ता उत्पन्न होती है ॥ ६६ ॥

> अहो दुरासदा भूमिः प्रदीप्ता ज्वलनार्चिषा । वायवो वान्ति दुःस्पर्शाः स्फुलिङ्गकणवाहिनः ॥ ६७ ॥

कि अहो! अग्निकी ज्वालाओंसे तपी हुई यह भूमि बड़ी ही दुरासद (सुखपूर्वक ठहरनेके अयोग्य) है। यहाँपर सदा अग्निके फुलिंगोंको धारण करनेवाला यह वायु बहता रहता है जिसका कि स्पर्श भी सुखसे नहीं किया जा सकता ॥ ६७ ॥

> दीप्ता दिशश्च दिग्दाहशङ्कां संजनयन्त्यमूः । तप्तपांसुमयीं वृष्टिं किरन्त्यम्बुमुचोऽम्बरात् ॥ ६८ ॥

ये जलती हुई दिशाएँ दिशाओंमें आग लगनेका सन्देह उत्पन्न कर रही हैं और ये मेघ तप्त धूलिकी वर्षा कर रहे हैं ॥ ६८ ॥

> विधारण्यमिदं विश्वग् विषवल्लीभिरानतम् । असिपत्रवनं चेदमसिपत्रैर्भयानकम् ॥ ६९ ॥

यह विषवन है जो कि सब ओरसे विष लताओंसे व्याप्त है और यह तलवारकी धारके समान पैने पत्तोंसे भयंकर असिपत्र वन है ॥ ६९ ॥

> अथाभिसारिकाश्चैमास्तप्तायोमयपुत्रिकाः । काममुद्दीपयन्त्यस्मानालिङ्गन्त्यो बलाद् गले ॥ ७० ॥

ये गरम की हुई लोहेकी पुतलियाँ नीच व्यभिचारिणी स्त्रियोंके समान जबरदस्ती गलेका आलिंगन करती हुई हम लोगोंको अतिशय सन्ताप देती हैं (पक्षमें कामोत्तेजन करती हैं) ॥ ७० ॥

> योधयन्ति बलादस्मानिमे केऽपि महाबलाः । यमेन समरे क्रूराः प्रयुक्ताः कर्मसाक्षिणः ॥ ७१ ॥

ये कोई महाबलवान् पुरुष हम लोगोंको जबरदस्ती लड़ा रहे हैं और ऐसे मालूम होते हैं मानो हमारे पूर्वजन्मसम्बन्धी दुष्कर्मोंकी साक्षी देनेके लिए यमराजके द्वारा ही भेजे गये हों ॥ ७१ ॥

> खरारटितमुद्घोषं ज्वलज्ज्वालाकरालितम् । गिलितुमनलोद्गारि खरोष्ट्रानीकमभिधावति ॥ ७२ ॥

जिनके शब्द बड़े ही भयानक हैं, जो अपनी नासिका ऊपरको उठाये हुए हैं, जो जलती हुई ज्वालाओंसे भयंकर हैं और जो मुँहसे अग्नि उगल रहे हैं ऐसे ऊँट और गधोंका यह समूह हम लोगोंको निगलनेके लिए ही सामने दौड़ा आ रहा है ॥ ७२ ॥

> अमी च भीषणाकाराः कृपाणोद्यतपाणयः । पुरुषास्तर्जयन्त्यस्मानकारणरणोद्धुराः ॥ ७३ ॥

जिनका आकार अत्यन्त भयानक है, जिन्होंने अपने हाथमें तलवार उठा रखी है और जो बिना कारण ही लड़नेके लिए तैयार हैं, ऐसे ये पुरुष हम लोगोंकी तर्जना कर रहे हैं—हम लोगोंको घुड़क रहे हैं—डाँट दिखला रहे हैं ॥ ७३ ॥

> अमी च परुषापाता गृध्रा मूर्ध्नि द्रवन्त्यरम् । श्वगणैश्चैव सारमेयाश्च भीषयन्तेतरामिमे ॥ ७४ ॥

भयंकर रूपसे आकाशसे पड़ते हुए ये गीध शीघ्र ही हमारे सामने आ रहे हैं और ये भोंकते हुए कुत्ते हमें अतिशय भयभीत कर रहे हैं ॥ ७४ ॥

> नूनमेतन्निभेनास्मद् दुरितान्येव निर्दयम् । पीडामुत्पादयन्त्येवमहो व्यसनसन्निधिः ॥ ७५ ॥

निश्चय ही इन दुष्ट जीवोंके छलसे हमारे पूर्वभवके पाप ही हमें इस प्रकार दुःख उत्पन्न कर रहे हैं। बड़े आश्चर्यकी बात है कि हम लोगोंको सब प्रकारके दुःखोंने घेर रखा है ॥ ७५ ॥

> इतः स्वरति पद्घोषो नारकाणां प्रधावताम् । इतश्च करुणाक्रन्दो रोदनोत्थनिःस्वनः ॥ ७६ ॥

इधर यह दौड़ते हुए नारकियोंके पैरोंकी आवाज त्रास उत्पन्न कर रही है और इधर यह करुण विलापसे भरा हुआ किसीके रोनेका शब्द आ रहा है ॥ ७६ ॥

> इतश्च कठोरारावमूर्च्छितः । शिवानां शिवाध्वानः प्रध्वानयति रोदसी ॥ ७७ ॥

इधर यह काँव-काँव करते हुए कौवोंके कठोर शब्दसे विस्तारको प्राप्त हुआ सियारोंका अमंगलकारी शब्द आकाश-पातालको व्याप्त कर रहा है ॥ ७७ ॥

> इतः परुषसंपातपतनाधूननोत्थितः । असिपत्रवने पत्रनिर्मोक्षपरुषध्वनिः ॥ ७८ ॥

इधर यह असिपत्र वनमें कठिन रूपसे चलनेवाले वायुके प्रकम्पनसे उत्पन्न हुआ शब्द तथा उस वायुके आघातसे गिरते हुए पत्तोंका कठोर शब्द हो रहा है ॥ ७८ ॥

> असौ कण्टकितस्कन्धः कूटशाल्मलिपादपः । यस्मिन् स्पृष्टेऽपि नोऽङ्गानि दुनोतीव कण्टकैः ॥ ७९ ॥

जिसके स्कन्ध भागपर काँटे उगे हुए हैं ऐसा यह वही कृत्रिम सेमरका पेड़ है जिसकी याद आते ही हम लोगोंके समस्त अंग काँटे चुभनेके समान दुःखी होने लगते हैं ॥ ७९ ॥

> सैषा वैतरणी नाम सरित् सारुष्कराम्भसा । आस्तां तरणमेतस्याः स्मरणं मे भयावहम् ॥ ८० ॥

इधर यह भिलावेके रससे भरी हुई वैतरणी नामकी नदी है। इसमें तैरना तो दूर रहा इसका स्मरण करना भी भयका देनेवाला है ॥ ८० ॥

> एते च नारकावासाः प्रज्वलन्त्यन्तरोष्मणा । अन्धमृषास्विवावर्ते नीयन्ते यत्र नारकाः ॥ ८१ ॥

ये वही नारकियोंके रहनेके घर (बिल) हैं जो कि गरमीसे भीतर-ही-भीतर जल रहे हैं और जिनमें ये नारकी छिद्ररहित मूषाओंमें गली हुई सुवर्ण, चाँदी आदि धातुओंकी तरह घुमाये जाते हैं ॥ ८१ ॥

> दुःसह्या वेदनास्तीव्राः प्रहारा दुर्धरा इमे । न मुच्यन्ते च प्राणा दुर्निवाराश्च नारकाः ॥ ८२ ॥

यहाँकी वेदना इतनी तीव्र है कि उसे कोई सह नहीं सकता, मार भी इतनी कठिन है कि उसे कोई बरदाश्त नहीं कर सकता। ये प्राण भी आयु पूर्ण हुए बिना छूट नहीं सकते और ये नारकी भी किसीसे रोके नहीं जा सकते ॥ ८२ ॥

> क्व यामः क्व नु तिष्ठामः क्वास्मद्देहं क्व च शेमहे । यत्र यत्रोपसर्पामस्तत्र तत्राधयोऽधिकाः ॥ ८३ ॥

ऐसी अवस्थामें हम लोग कहाँ जायें? कहाँ खड़े हों? कहाँ बैठें? और कहाँ सोयें? हम लोग जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ अधिक-ही-अधिक दुःख पाते हैं ॥ ८३ ॥

> इत्यपारमिदं दुःखं तरिष्यामः कदा वयम् । नाब्धयोऽप्युपमानं नो जीवितस्यानल्पकम् ॥ ८४ ॥

इस प्रकार यहाँके इस अपार दुःखसे हम कब तिरेंगे—कब पार होंगे? हम लोगोंकी आयु भी इतनी अधिक है कि सागर भी उसके उपमान नहीं हो सकते ॥ ८४ ॥

> इत्यनुध्यायतां तेषां योऽन्तस्तापोऽनुसन्ततः । स एव प्राणसंशीर्तिं तानारोपयितुं क्षमः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार प्रतिक्षण चिन्तवन करते हुए नारकियोंको जो निरन्तर मानसिक सन्ताप होता रहता है वही उनके प्राणोंको संशयमें डाले रखनेके लिए समर्थ है अर्थात् उक्त प्रकारके सन्तापसे उन्हें मरनेका संशय बना रहता है ॥ ८५ ॥

> किमत्र बहुनोक्तेन यद्यद् दुःखं सुदारुणम् । तत्तत्पिण्डीकृतं दृष्टं दुस्तरैः पापकर्मभिः ॥ ८६ ॥

इस विषयमें और अधिक कहनेसे क्या लाभ है? इतना ही पर्याप्त है कि संसारमें जो-जो भयंकर दुःख होते हैं उन सभीको, कठिनतासे दूर होने योग्य कर्मोंने नरकोंमें इकट्ठा कर दिया है ॥ ८६ ॥

> अक्ष्णोर्निमेषमात्रं च न तेषां सुखसंगतिः । दुःखमेवानुबन्धीह नारकाणामहर्निशम् ॥ ८७ ॥

उन नारकियोंको नेत्रोंके निमेष मात्र भी सुख नहीं है। उन्हें रात-दिन इसी प्रकार दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ता है ॥ ८७ ॥

> नानादुःखशतावर्ते मग्नानां नरकार्णवे । तेषामास्तां सुखावाप्तिस्तत्स्मृतिश्च सुदूरतः ॥ ८८ ॥

नाना प्रकारके दुःखरूपी सैकड़ों आवर्त्तोंसे भरे हुए नरकरूपी समुद्रमें डूबे हुए उन नारकियोंको सुखकी प्राप्ति तो दूर रही उसका स्मरण होना भी बहुत दूर रहता है ॥ ८८ ॥

> शीतोष्णनरकेष्वेषां दुःखं यदुपजायते । तदसङ्ख्यमचिन्त्यं च तन्न केनोपमीयते ॥ ८९ ॥

शीत अथवा उष्ण नरकोंमें इन नारकियोंको जो दुःख होता है वह असंख्यात और अचिन्त्य है। संसारमें ऐसा कोई पदार्थ भी तो नहीं है जिसके साथ उस दुःखकी उपमा दी जा सके ॥ ८९ ॥

> शीता षष्ठ्यां च सप्तम्यां पञ्चम्यां चोभयं स्मृतम् । पृथिवीषूष्णमुद्दिष्टं चतसृष्वादिमासु च ॥ ९० ॥

पहलेकी चार पृथिवियोंमें उष्ण वेदना है। पाँचवीं पृथिवीमें उष्ण और शीत दोनों वेदनाएँ हैं अर्थात् ऊपरके दो लाख बिलोंमें उष्ण वेदना है और नीचेके एक लाख बिलोंमें शीत वेदना है। छठी और सातवीं पृथिवीमें शीत वेदना है। यह उष्ण और शीतकी वेदना नीचेके नरकोंमें क्रम-क्रमसे बढ़ती हुई है ॥ ९० ॥

> त्रिंशत्पञ्चहताः स्युस्ता दश च क्रमात् । तिस्रः पञ्चभिरूनैका लक्षाः पञ्च च सप्तसु ॥ ९१ ॥

उन सातों पृथिवियोंमें क्रमसे तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच बिल हैं ॥ ९१ ॥

> नरकेषु बिलानि स्युः प्रज्वलन्ति महान्ति च । नारका यत्र पच्यन्ते कुम्भीष्विव पयोऽशनाः ॥ ९२ ॥

ये बिल सदा ही जाज्वल्यमान रहते हैं और बड़े-बड़े हैं। इन बिलोंमें पापी नारकी जीव हमेशा कुम्भीपाक (बन्द घड़ेमें पकाये जानेवाले जल आदि) के समान पकते रहते हैं ॥ ९२ ॥

> एकं त्रीणि तथा सप्त दश सप्तदशापि च । द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशदायुस्तत्राब्धिसंख्यया ॥ ९३ ॥

उन नरकोंमें क्रमसे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तेंतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है ॥ ९३ ॥

> धनुः सार्ष्टं च सप्ताष्टौ हस्तौ षट् चाङ्गुलानि च । धर्मायां नारकोत्सेधो द्विगुणादिषु लक्ष्यते ॥ ९४ ॥

पहली पृथिवीमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल है। और द्वितीय आदि पृथिवियोंमें क्रम-क्रमसे दूनी-दूनी समझनी चाहिए। अर्थात् दूसरी पृथिवीमें पन्द्रह धनुष दो हाथ बारह अंगुल, तीसरी पृथिवीमें इकतीस धनुष एक हाथ, चौथी पृथिवीमें बासठ धनुष दो हाथ, पाँचवीं पृथिवीमें एक सौ पच्चीस धनुष, छठी पृथिवीमें दो सौ पचास धनुष और सातवीं पृथिवीमें पाँच सौ धनुष शरीरकी ऊँचाई है ॥ ९४ ॥

> पोगण्डा हुण्डसंस्थानाः षण्ढकाः पूतिगन्धयः । दुर्वर्णाश्चैव दुःस्पर्शा रूक्षा विस्वरशब्दिताः ॥ ९५ ॥

वे नारकी विकलाङ्ग, हुण्डक संस्थानवाले, नपुंसक, दुर्गन्धयुक्त, बुरे काले रंगके धारक, कठिन स्पर्शवाले, कठोर स्वरसहित तथा अप्रिय (देखनेमें अप्रिय) होते हैं ॥ ९५ ॥

> तमोमयैरिवारब्धा विरूक्षैः परमाणुभिः । जायन्ते कालकालाभा नारका द्रव्यलेश्यया ॥ ९६ ॥

उन नारकियोंका शरीर अन्धकारके समान काले और रूखे परमाणुओंसे बना हुआ होता है। उन सबकी द्रव्यलेश्या अत्यन्त कृष्ण होती है ॥ ९६ ॥

> भावलेश्या तु कापोती जघन्या मध्यमोत्तमा । नीला च मध्यमा नीला नीलोत्कृष्टा च कृष्णया ॥ ९७ ॥

भावलेश्यामें अन्तर है जो कि इस प्रकार है—पहली पृथिवीमें जघन्य कापोती भावलेश्या है, दूसरी पृथिवीमें मध्यम कापोती लेश्या है, तीसरी पृथिवीमें उत्कृष्ट कापोती लेश्या और जघन्य नील लेश्या है, चौथी पृथिवीमें मध्यम नील लेश्या है, पाँचवींमें उत्कृष्ट नील तथा जघन्य कृष्ण लेश्या है ॥ ९७ ॥

> कृष्णा च मध्यमोत्कृष्टा कृष्णा चेति यथाक्रमम् । धर्मादिसप्तमीं यावत् तावत् पृथिवीषु वर्णिता ॥ ९८ ॥

छठी पृथिवीमें मध्यम कृष्ण लेश्या है और सातवीं पृथिवीमें उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या है। इस प्रकार घर्मा आदि सात पृथिवियोंमें क्रमसे भावलेश्याका वर्णन किया गया है ॥ ९८ ॥

> यादृशः कटुकालाबुकाञ्जिकादिसमागमे । रसः कटुरनिष्टश्च तादृशस्तेष्वपि स्मृतः ॥ ९९ ॥

कड़वे तुम्बे और कांजीके संयोगसे जैसा कड़वा और अनिष्ट रस उत्पन्न होता है वैसा ही रस नारकियोंके शरीरमें भी उत्पन्न होता है ॥ ९९ ॥

> श्वमार्जारखरोष्ट्रादिकुणपानां समाहृतौ । यद् दुर्गन्धं भवेत् तन्न देहगन्धस्य नोपमा ॥ १०० ॥

कुत्ता, बिलाव, गधा, ऊँट आदि जीवोंके मृतक कलेवरोंको इकट्ठा करनेसे जो दुर्गन्ध उत्पन्न होती है वह भी इन नारकियोंके शरीरकी दुर्गन्धकी बराबरी नहीं कर सकती ॥ १०० ॥

> महापातकपुञ्जेन दारुणेन हतात्मनाम् । प्रायस्तत्रोपपन्नानां नरके तादृशी गतिः ॥ १०१ ॥

महापापके समूहसे जिनकी आत्मा नष्ट हो चुकी है ऐसे नरकमें उत्पन्न हुए नारकियोंकी प्रायः ऐसी ही दशा होती है ॥ १०१ ॥

> मन्त्री स शतबुद्धिस्ते पापान्धो हतचेतनः । द्वितीयां वंशासंज्ञां तु प्रविश्य श्वभ्रभूमिकाम् ॥ १०२ ॥

वह तुम्हारा शतबुद्धि मन्त्री पापाचारी, पापान्ध और नष्ट-बुद्धि होकर वंशा नामकी दूसरी नरकभूमिमें प्रवेश कर गया है ॥ १०२ ॥

> तत्रासावुक्तदुःखौघान् भुञ्जानो वर्ततेऽधुना । तत्त्वज्ञानदृशा युक्तो गच्छ तं बोधयाशु तम् ॥ १०३ ॥

और वहाँ कहे हुए समस्त दुःखोंको भोग रहा है। तू सम्यग्ज्ञानी है इसलिए शीघ्र ही जाकर उसे समझा ॥ १०३ ॥

> इत्युक्तो मुनिनाथेन श्रीधरः कृतवन्दनः । द्वितीयां वंशासंज्ञां तु विवेश श्वभ्रभूमिकाम् ॥ १०४ ॥

मुनिराजके इस प्रकार वचन सुनकर श्रीधरदेव उन्हें नमस्कार कर वंशा नामकी दूसरी नरकभूमिमें पहुँचा ॥ १०४ ॥

> स तत्र शतबुद्धेश्च दृष्ट्वा दुःखातिविप्लवम् । कृपया परया युक्तः प्रोवाचैनं मुहुर्मुहुः ॥ १०५ ॥

वहाँ जाकर उसने शतबुद्धिको अत्यधिक दुःख भोगते हुए देखा जिससे वह परम कृपासे युक्त होकर उसे बार-बार कहने लगा ॥ १०५ ॥

> शतबुद्धे किमेवं त्वं दुःखार्णवे निमज्जसि । महाबलभवे यस्त्वं ह्यसद्ग्राहपरायणः ॥ १०६ ॥

हे शतबुद्धि, तू इस दुःखरूपी समुद्रमें इस प्रकार क्यों डूब रहा है? महाबलके भवमें जो तू खोटे एकान्त हठमें तत्पर था ॥ १०६ ॥

> प्रापयन् मामधर्मेण निमग्नं मोहसागरे । अधुना किं न जानासि यन्मयोक्तं हितं वचः ॥ १०७ ॥

और जिसने मुझे अधर्मके द्वारा मोहरूपी समुद्रमें निमग्न करना चाहा था, क्या तू आज उस मेरे कहे हुए हितकारी वचनोंको नहीं समझता? ॥ १०७ ॥

> स तं दृष्ट्वा सुसम्प्रीतो विस्मृत्यात्मजमापदम् । जातिस्मरो मुहुः प्रोचे महाबल महाबल ॥ १०८ ॥

वह शतबुद्धि नारकी उस श्रीधरदेवको देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और अपने समस्त दुःखोंको भूलकर जातिस्मरण होनेसे बार-बार 'महाबल! महाबल!' कहकर पुकारने लगा ॥ १०८ ॥

> मन्त्रिभिर्मादृशैः पापैर्विप्रलब्धो भवान् पुरा । धर्मं सम्यगबुद्ध्वापि त्यक्त्वा मामिह पात्यताम् ॥ १०९ ॥

वह बोला कि हे महाबल, मुझ-जैसे पापी मन्त्रियोंके छलसे आप पहले भ्रष्ट हो गये थे, परन्तु आपने धर्मको ठीक-ठीक जानकर उसका पालन किया और मुझे छोड़ दिया जिससे मैं आज यहाँ नरकमें पड़ा हुआ हूँ ॥ १०९ ॥

पापोऽहं मन्दभाग्यश्च यस्त्वद्धितमबुध्यत । मिथ्यात्वविषदिग्धोऽहं पातोऽस्म्यत्र रसातले ॥ ११० ॥

मैं पापी और मन्दभागी हूँ जिसने कि उस समय आपके हितोपदेशको नहीं समझा। मैं मिथ्यात्वरूपी विषसे लिप्त होकर आज इस नरकमें पड़ा हुआ हूँ ॥ ११० ॥

सोऽहं दुःखातिसंतप्तस्त्राता मे भव सत्तम । इत्युक्त्वा पादयोस्तस्य पपात व्यथयाकुलः ॥ १११ ॥

हे सत्तम, मैं दुःखोंसे अत्यधिक सन्तप्त हो रहा हूँ, आप मेरे रक्षक बनिए। ऐसा कहकर वह व्यथासे व्याकुल होकर उसके चरणोंमें गिर पड़ा ॥ १११ ॥

समाश्वास्य तमाह स्म श्रीधरो धर्मतत्त्ववित् । शतबुद्धे समाधत्स्व सम्यक्त्वं सर्वसौख्यदम् ॥ ११२ ॥

धर्मके तत्त्वोंको जाननेवाले श्रीधरदेवने उसे आश्वासन देकर कहा कि हे शतबुद्धि, सब सुखोंको देनेवाले सम्यग्दर्शनको तू धारण कर ॥ ११२ ॥

धर्माद् ऋते न मे त्राता कश्चिद् भुवनमण्डले । तस्माद् धर्मं प्रपद्यस्व जैनं कर्मविनाशनम् ॥ ११३ ॥

इस संसारमें धर्मके सिवाय दूसरा कोई रक्षक नहीं है। इसलिए तू समस्त कर्मोंको नष्ट करनेवाले जैनधर्मको स्वीकार कर ॥ ११३ ॥

इत्युक्तो देवराजेन स मन्त्री लब्धचेतनः । शुद्धं सम्यक्त्वमादत्ते श्रद्दधानो जिनेन्द्रवाक् ॥ ११४ ॥

उस देवराजके इस प्रकार कहनेपर उस मन्त्रीको चेतना प्राप्त हुई और उसने जिनेन्द्रदेवके वचनोंपर श्रद्धा रखकर विशुद्ध सम्यग्दर्शन धारण कर लिया ॥ ११४ ॥

ततः स स्वर्गमालोक्य श्रीधरो मुनिपुङ्गवम् । सम्पूज्य परया भक्त्या स्वविमानमुपागमत् ॥ ११५ ॥

तदनन्तर श्रीधरदेव स्वर्गलोकमें जाकर उन मुनिश्रेष्ठको परम भक्तिसे पूजकर अपने विमानमें आ गया ॥ ११५ ॥

> शतबुद्धिरपि श्वभ्रात् सम्यक्त्वपरिणामतः । निष्क्रम्य जम्बूद्वीपान्तः पुष्कलावतिसंज्ञके ॥ ११६ ॥

शतबुद्धि मन्त्री भी सम्यक्त्वके परिणामोंके प्रभावसे नरकसे निकलकर जम्बूद्वीपके पुष्कलावती नामक देशमें पहुँचा ॥ ११६ ॥

> पुर्यां पुण्डरीकिण्यां जयसेन इति श्रुतः । सुतोऽभूद् वज्रदन्तस्य राज्ञः सुमतिसूनवे ॥ ११७ ॥

और वहाँकी पुण्डरीकिणी नगरीमें राजा वज्रदन्त और रानी सुमतिके जयसेन नामका प्रतापी पुत्र हुआ ॥ ११७ ॥

> स चापि राज्यमासाद्य भुक्त्वा भोगाननुत्तमान् । दीक्षां गृहीत्वा सन्मार्गं समाराध्य मुनीश्वरैः ॥ ११८ ॥

उसने राज्य पाकर उत्तम भोग भोगे और अन्तमें दीक्षा धारण कर मुनीश्वरोंके साथ सन्मार्गकी आराधना की ॥ ११८ ॥

> समाधिमरणं प्राप्य लब्धवानिन्द्रतां दिवि । अच्युतकल्पे महाप्राज्ञः श्रीधरेण सहातिगः ॥ ११९ ॥

और समाधिमरणपूर्वक प्राण छोड़कर वह महाबुद्धिमान् जीव स्वर्गमें इन्द्रपदको प्राप्त हुआ ॥ ११९ ॥

> अथासौ श्रीधरो देवः पालयित्वा स्थितिं दिवि । द्वाविंशत्सागरोपेतां समासाद्य च्युतिं ततः ॥ १२० ॥

इधर वह श्रीधरदेव स्वर्गमें बाईस सागर प्रमाण अपनी स्थिति पूर्ण कर वहाँसे च्युत हुआ ॥ १२० ॥

> धातकीखण्डद्वीपस्य पूर्वस्यामपरैर्विदेहे । सुसीमानाम्नि नगरे प्राप जन्म सुपुण्यभाक् ॥ १२१ ॥

और धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व विदेहमें सुसीमा नामक नगरीमें उसने जन्म धारण किया ॥ १२१ ॥

> अभयघोषस्य चक्रिणो जायायां सुप्रभाह्वये । सुविधिर्नाम संजातो बालार्क इव दीप्तिमान् ॥ १२२ ॥

वह चक्रवर्ती अभयघोषकी रानी सुप्रभाके उदरसे सुविधि नामका बालक हुआ जो कि बालसूर्यके समान देदीप्यमान था ॥ १२२ ॥

> दधन्मूर्ध्ना महापात्रं सुविधिं स महीपतिः । चक्रे तज्जन्मकल्याणं कृतोत्सवपरम्परा ॥ १२३ ॥

राजा अभयघोषने बालक सुविधिका जन्मोत्सव बड़े भारी ठाट-बाटसे मनाया ॥ १२३ ॥

> प्राप वृद्धिमसौ बालः शुक्लपक्षे यथा शशी । कलाविद्यासमायुक्तः सर्वलोकप्रियंवदः ॥ १२४ ॥

वह बालक शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान दिनों-दिन बढ़ने लगा और समस्त विद्याओं तथा कलाओंसे युक्त होकर सभी लोगोंका प्रिय बोलनेवाला हुआ ॥ १२४ ॥

> तस्य रूपं लावण्यं कान्तिश्चासीदनुत्तमा । दृष्ट्वा यं विस्मयं जग्मुर्देवा अपि दिवौकसः ॥ १२५ ॥

उसका रूप, लावण्य और कान्ति इतनी अनुपम थी जिसे देखकर देव भी आश्चर्यचकित हो जाते थे ॥ १२५ ॥

> बिभ्रदुन्नतमुत्तमाङ्‌गं समचतुरस्रसंस्थानम् । प्रासादशिखरोपमं लसच्चूलिकमुज्ज्वलम् ॥ १२६ ॥

वह सुविधि राजा समचतुरस्र संस्थानका धारक था और उसका मस्तक ऊँचा उठा हुआ था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो राजमहलके बीचमें चूलिकासहित मेरु पर्वत ही हो ॥ १२६ ॥

> सार्कचन्द्रतारागणं सचापमिव विहायसम् । कुण्डलाभ्यां भ्रूलताभ्यां लोचनाभ्यां विराजितम् ॥ १२७ ॥

उसका मुख, सूर्य, चन्द्रमा, तारे और इन्द्रधनुषसे सुशोभित आकाशके समान शोभायमान हो रहा था। क्योंकि वह दो कुण्डलोंसे शोभायमान था जो कि सूर्य और चन्द्रमाके समान जान पड़ते थे तथा कुछ ऊँची उठी हुई भौंहोंसहित चमकते हुए नेत्रोंसे युक्त हुआ था इसलिए इन्द्रधनुष और ताराओंसे युक्त हुआ-सा जान पड़ता था ॥ १२७ ॥

> अथवा फूल्लपद्मश्रियं दधद्वक्त्राम्बुजं शुभम् । ओष्ठदलाभ्यां संशोभि मनोज्ञगन्धनिःश्वसत् ॥ १२८ ॥

अथवा उसका मुख एक खिले हुए कमलके समान शोभायमान हो रहा था क्योंकि फूले हुए कमलमें जिस प्रकार उसकी कलिकाएँ विकसित होती हैं, उसी प्रकार उसके मुखमें मनोहर ओठ शोभायमान थे और फूला हुआ कमल जिस प्रकार मनोज्ञ गन्धसे युक्त होता है उसी प्रकार उसका मुख भी श्वासोच्छ्वासकी मनोज्ञ गन्धसे युक्त था ॥ १२८ ॥

> दधन्नासां सुदीर्घां च मुखपद्ममधुं पिबन् । रन्ध्रद्वयेन तस्यासौ रसपानमिवोत्सुकः ॥ १२९ ॥

उसकी नाक स्वभावसे ही लम्बी थी, इसीलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने मुख-कमलकी सुगन्धि सूँघनेके लिए ही लम्बाई धारण की हो। और उसमें जो दो छिद्र थे उनसे ऐसी मालूम होती थी मानो नीचेकी ओर मुँह करके उन छिद्रों-द्वारा उसका रसपान ही कर रही हो ॥ १२९ ॥

> मृणालवलयश्वेतकण्ठश्रियं बिभ्रदुज्ज्वलाम् । मुखाम्बुजस्य विमलं धारयन्निव नालकम् ॥ १३० ॥

उसका गला मृणालवलयके समान श्वेत और शोभायमान था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानों मुखरूपी कमलकी उत्तम नालको ही धारण कर रहा हो ॥ १३० ॥

> महामणिकिरणैर्दीप्तं विशालं वक्षःस्थलं दधत् । पद्मवासिन्या लक्ष्म्याश्च दीपिकासद्मसंनिभम् ॥ १३१ ॥

बड़े-बड़े मणियोंकी किरणोंसे मनोहर उसका विशाल वक्षःस्थल ऐसा शोभायमान होता था मानो कमलवासिनी लक्ष्मीका जलते हुए दीपकोंसे शोभायमान निवासगृह ही हो ॥ १३१ ॥

> अंसावत्युन्नतो तस्य दिग्गजस्येव सद्गतेः । कुम्भाविव रराजाते सुवंशस्य महोन्नतेः ॥ १३२ ॥

वह सुविधि स्वयं दिग्गजके समान शोभायमान था और उसके ऊँचे उठे हुए दोनों कंधे दिग्गजके कुम्भस्थलके समान शोभायमान हो रहे थे। क्योंकि जिस प्रकार दिग्गज सद्गति अर्थात् समीचीन चालका धारक होता है उसी प्रकार वह सुविधि भी सद्गति अर्थात् समीचीन आचरणोंका धारक अथवा सत्पुरुषोंका आश्रय था। दिग्गज जिस प्रकार सुवंश अर्थात् पीठकी रीढ़से सहित होता है इसी प्रकार वह सुविधि भी सुवंश अर्थात् उच्च कुलवाला था और दिग्गज जिस प्रकार महोन्नत अर्थात् अत्यन्त ऊँचा होता है उसी प्रकार वह सुविधि भी महोन्नत अर्थात् अत्यन्त उन्नत था ॥ १३२ ॥

व्यायामशालिनौ चास्य रेजतुः सुभुजौ भुजौ । भूलोकापायरक्षार्थमर्गलाविव संस्थितौ ॥ १३३ ॥

उस राजाकी अत्यन्त सुडौल दोनों भुजाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों उपद्रवोंसे लोककी रक्षा करनेके लिए बनी हुई दो अर्गलाएँ (अड़गेलदण्ड) ही हों ॥ १३३ ॥

नखताराभिरुद्भूतचन्द्रार्कस्फुटलक्षणम् । चारुहस्ततलं यस्यताराग्रहविभूषितम् ॥ १३४ ॥

उसकी दोनों सुन्दर हथेलियाँ नखरूपी ताराओंसे शोभायमान थीं और सूर्य तथा चन्द्रमाके चिन्होंसे सहित थीं इसलिए तारे और सूर्य-चन्द्रमासे सहित आकाशके समान शोभायमान हो रही थीं ॥ १३४ ॥

मध्यमस्यापि मध्यस्य जगन्मध्यविश्रमम् । दधद् कृशमिवोर्ध्वाधोविस्तीर्णं प्रिमण्डलम् ॥ १३५ ॥

उसका मध्य भाग लोकके मध्य भागकी शोभाको धारण करता हुआ अत्यन्त शोभायमान था, क्योंकि लोकका मध्य भाग जिस प्रकार कृश होता है उसी प्रकार उसका मध्य भाग भी कृश था और जिस प्रकार लोकके मध्य भागसे ऊपर और नीचेका हिस्सा विस्तीर्ण होता है उसी प्रकार उसके मध्य भागसे ऊपर नीचेका हिस्सा भी विस्तीर्ण था ॥ १३५ ॥

जघनाभोगमायुक्तं कटिसूत्रमसौ दधे । मेरुनितम्बमालम्बिसेन्द्रचापाम्बुदं यथा ॥ १३६ ॥

जिस प्रकार मेरु पर्वत इन्द्रधनुषसहित मेघोंसे घिरे हुए नितम्ब भाग (मध्य भाग) को धारण करता है उसी प्रकार वह सुविधि भी रत्नोंकी करधनीको धारण किये हुए मध्य भाग (जघन भाग) को धारण करता था ॥ १३६ ॥

सोऽधात् कनकराजीवकिञ्जल्कपरिपिञ्जरौ । ऊरू जगद्गृहोद्गतोरणस्तम्भसन्निभौ ॥ १३७ ॥

वह सुविधि, सुवर्ण कमलके केशरके समान पीली जिन दो ऊरुओंको धारण कर रहा था वे ऐसी मालूम होती थीं मानो जगत्रूपी घरके दो तोरण-स्तम्भ (तोरण बाँधनेके खम्भे) ही हों ॥ १३७ ॥

जङ्घे च सुश्लिष्टे तस्य नृणां चित्तरञ्जके । साक्षड्कारे व्यजेष्टां कवेः काव्यनिबन्धनम् ॥ १३८ ॥

उसकी दोनों जंघाएँ सुश्लिष्ट थीं अर्थात् संगठित होनेके कारण परस्परमें सटी हुई थीं, मनुष्योंके चित्तको प्रसन्न करनेवाली थीं और उनके अलंकारों (आभूषणों) से सहित थीं इसलिए किसी उत्तम कविकी सुश्लिष्ट अर्थात् श्लेषगुणसे सहित मनुष्योंके चित्तको प्रसन्न करनेवाली और उपमा, रूपक आदि अलंकारोंसे युक्त काव्य-रचनाको भी जीतती थीं ॥ १३८ ॥

> तत्क्रमाब्जं मृदुस्पर्शं लक्ष्मीसंवाहनास्पदम् । शोणिमानं दधे कल्पं तरुप्रसवपल्लवात् ॥ १३९ ॥

अत्यन्त कोमल स्पर्शका धारक और लक्ष्मीके द्वारा सेवा करने योग्य (दाबनेके योग्य) उसके दोनों चरण-कमल जिस स्वाभाविक लालिमाको धारण कर रहे थे वह ऐसी मालूम होती थी मानों सेवा करते समय लक्ष्मीके करपल्लवोंसे छूटकर ही लग गयी हो ॥ १३९ ॥

> इत्याविष्कृतरूपेण सामुद्रिकशुभलक्ष्मणा । मनांसि जगतां हृत्वा स बालाद् बालकोऽपि सन् ॥ १४० ॥

इस प्रकार वह सुविधि बालक होनेपर भी अनेक सामुद्रिक शुभ लक्षणोंसे युक्त प्रकट हुए अपने मनोहर रूपके द्वारा संसारके समस्त जीवोंके मनोंको जबरदस्ती हरण करता था ॥ १४० ॥

> स तथा यौवनारम्भे मदनोत्सेककारिणि । वशी युवजरावासीदरिषड्वर्गनिग्रहात् ॥ १४१ ॥

उस जितेन्द्रिय राजकुमारने कामका उद्रेक करनेवाले यौवनके प्रारम्भ समयमें ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छह अन्तरंग शत्रुओंका निग्रह कर दिया था इसलिए वह तरुण होकर भी वृद्धके समान जान पड़ता था ॥ १४१ ॥

> सोऽन्वमंस्त कुलोपेतां सत्कलत्रपरिग्रहम् । उपरोधाद् गुरोः प्राप्तराज्यलक्ष्मीपरिच्छदः ॥ १४२ ॥

उसने यथायोग्य समयपर गुरुजनोंके आग्रहसे उत्तम कुलवाली स्त्रीके साथ पाणिग्रहण करानेकी अनुमति दी थी और छत्र, चमर आदि राज्य-लक्ष्मीके चिह्न भी धारण किये थे, राज्य-पद स्वीकृत किया था ॥ १४२ ॥

> चक्रिणोऽभयघोषस्य स्वस्रीयोऽभूद् यतो युवा । ततश्चक्रिदुहितरं परिणिन्ये मनोरमाम् ॥ १४३ ॥

तरुण अवस्थाको धारण करनेवाला वह सुविधि अभयघोष चक्रवर्तीका भानजा था इसलिए उसने उन्हीं चक्रवर्तीकी पुत्री मनोरमाके साथ विवाह किया था ॥ १४३ ॥

> तयानुकूलया पत्न्या स रेमे सुचिरं नृपः । सुशीलमनुकूलं च कलत्रं कस्य न प्रियम् ॥ १४४ ॥

सदा अनुकूल सती मनोरमाके साथ वह राजा चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा सो ठीक ही है क्योंकि सुशील और अनुकूल स्त्री ही पतिको प्रसन्न कर सकती है ॥ १४४ ॥

> तयोरत्यन्तसंप्रीत्या काले गच्छत्यनन्तरम् । स्वयंप्रभो दिवश्च्युत्वा केशवाख्यः सुतोऽजनि ॥ १४५ ॥

इस प्रकार प्रीतिपूर्वक क्रीड़ा करते हुए उन दोनोंका समय बीत रहा था कि स्वयंप्रभ नामका देव (श्रीमतीका जीव) स्वर्गसे च्युत होकर उन दोनोंके केशव नामका पुत्र हुआ ॥ १४५ ॥

> वज्रजङ्घस्य या कान्ता श्रीमत्याख्या पुराऽभवत् । सैवास्य पुत्रतां याता संसृतिस्थितिरीदृशी ॥ १४६ ॥

वज्रजंघकी पर्यायमें जो इसकी श्रीमती नामकी प्यारी स्त्री थी वही इस भवमें इसका पुत्र हुई है। क्या कहा जाये? संसारकी स्थिति ही ऐसी है ॥ १४६ ॥

> तस्मिन् सुते नृपस्यासीत् प्रीतिरासीद् गरीयसी । सुतमात्रेऽपि जातेऽस्मिन् किमु पूर्वप्रियात्मजे ॥ १४७ ॥

उस पुत्रपर सुविधि राजाका भारी प्रेम था सो ठीक ही है। जब कि पुत्र मात्र ही प्रीतिके लिए होता है तब यदि पूर्वभवका प्रेमपात्र स्त्रीका जीव ही आकर पुत्र उत्पन्न हुआ हो तो फिर कहना ही क्या है? उसपर तो सबसे अधिक प्रेम होता ही है ॥ १४७ ॥

> शार्दूलाद्याश्चत्वारो देवाश्च्युत्वा सुरोत्तमाः । जाताः समानपुण्यत्वादन्योन्यसदृशर्द्धयः ॥ १४८ ॥

सिंह, नकुल, वानर और शूकरके जीव जो कि भोगभूमिके बाद द्वितीय स्वर्गमें देव हुए थे वे भी वहाँसे च्युत होकर इसी वत्सकावती देशमें सुविधिके समान पुण्याधिकारी होनेसे उसीके समान विभूतिके धारक राजपुत्र हुए ॥ १४८ ॥

विभीषणनृपात् पुत्रः प्रियदत्तोदरेऽजनि । चित्राङ्गदः स च्युत्वा वरदत्त इति श्रुतः ॥ १४९ ॥

सिंहका जीव—चित्रांगद देव स्वर्गसे च्युत होकर विभीषण राजासे उसकी प्रियदत्ता नामकी रानीके उदरमें वरदत्त नामका पुत्र हुआ ॥ १४९ ॥

नन्दिषेणनृपान्नन्द्यां सूनुरजायत । मणिकुण्डलनामासौ वरसेनसमाह्वयः ॥ १५० ॥

शूकरका जीव—मणिकुण्डल नामका देव नन्दिषेण राजा और अनन्तमती रानीके वरसेन नामका पुत्र हुआ ॥ १५० ॥

रतिषेणमहीभर्तुश्चन्द्रमत्यां सुतोऽजनि । मनोहराद् दिवश्च्युत्वा चित्राङ्गदसमाह्वयः ॥ १५१ ॥

वानरका जीव—मनोहर नामका देव स्वर्गसे च्युत होकर रतिषेण राजाकी चन्द्रमती रानीके चित्रांगद नामका पुत्र हुआ ॥ १५१ ॥

प्रभञ्जननृपाच्चित्रमालिन्यां स मनोरथः । प्रशान्तमदनः सूनुरजनिष्ट मनोरथः ॥ १५२ ॥

और नकुलका जीव—मनोरथ नामका देव स्वर्गसे च्युत होकर प्रभंजन राजाकी चित्रमालिनी रानीके प्रशान्तमदन नामका पुत्र हुआ ॥ १५२ ॥

ते सर्वे सदृशाकाररूपलावण्यसंपदः । स्वोचितां श्रियमासाद्य चिरं भोगानभुञ्जत ॥ १५३ ॥

समान आकार, समान रूप, समान सौन्दर्य और समान सम्पत्तिको धारण करनेवाले वे सभी राजपुत्र अपने-अपने योग्य राज्यलक्ष्मी पाकर चिरकाल तक भोगोंका अनुभव करते रहे ॥ १५३ ॥

ततोऽमी चक्रिणाम्येत्य प्रणम्य च जिनेश्वरम् । भक्त्या प्रपद्य दीक्षां च प्राव्राज्यमाश्रिताः ॥ १५४ ॥

तदनन्तर किसी दिन वे चारों ही राजा, चक्रवर्ती अभयघोषके साथ जाकर जिनेन्द्रदेवकी वन्दना करनेके लिए गये। वहाँ सबने भक्तिपूर्वक वन्दना की और फिर सभीने विरक्त होकर दीक्षा धारण कर ली ॥ १५४ ॥

नृपैरष्टादशाभ्यस्तसहस्रप्रमितैरसौ । पञ्चभिः साकं सुतैः प्राव्राजीच्चक्रवर्यसौ ॥ १९५ ॥

वह चक्रवर्ती अठारह हजार राजाओं और पाँच हजार पुत्रोंके साथ दीक्षित हुआ था ॥ १९५ ॥

परं संवेगनिवेदपरिणाममुपागताः । ते तेपिरे तपस्तीव्रं स्वर्गापवर्गयोः ॥ १९६ ॥

वे सब उत्कृष्ट संवेग और निर्वेदरूप परिणामोंको प्राप्त होकर स्वर्ग और मोक्षके योग्य कठिन तप तपने लगे ॥ १९६ ॥

दीक्षायां परमा प्रीतिर्धर्मे धर्मफलेषु च । निर्वेदो देहभोगेषु संसारे च विरक्तता ॥ १९७ ॥

धर्म और धर्मके फलमें उत्कृष्ट प्रीति करना संवेग कहलाता है और शरीर, भोग तथा संसारसे विरक्त होनेको निर्वेद कहते हैं ॥ १९७ ॥

नृपस्तु सुविधिः पुत्रस्नेहाद् गार्हस्थ्यमभ्यजन् । उत्कृष्टोपासकस्थाने तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥ १९८ ॥

राजा सुविधि केशव पुत्रके स्नेहसे गृहस्थ अवस्थाका परित्याग नहीं कर सका था, इसलिए श्रावकके उत्कृष्ट पदमें स्थित रहकर कठिन तप तपता था ॥ १९८ ॥

सद्दर्शनं व्रतोद्योतः समता प्रोषधव्रतम् । सचित्तत्यागविरतिर्दिवास्त्रीसङ्गवर्जनम् ॥ १९९ ॥

जिनेन्द्रदेवने गृहस्थोंके ग्यारह स्थान कहे हैं—(१) दर्शनप्रतिमा (२) व्रतप्रतिमा (३) सामायिकप्रतिमा (४) प्रोषधप्रतिमा (५) सचित्तत्यागप्रतिमा (६) दिवामैथुनत्यागप्रतिमा ॥ १९९ ॥

अब्रह्मचर्यमथारम्भपरिग्रहपरिच्युतिः । अनुमत्यादिमुक्तिश्च तथोद्दिष्टपरिवर्जनम् ॥ १६० ॥

(७) ब्रह्मचर्यप्रतिमा (८) आरम्भत्यागप्रतिमा (९) परिग्रहत्यागप्रतिमा (१०) अनुमतित्यागप्रतिमा और (११) उद्दिष्टत्यागप्रतिमा ॥ १६० ॥

> स्थानानि कथितान्याहुरेकादशगणाधिपाः । तेष्वेकादशमं स्थानमाससाद क्रमात् नृपः ॥ १६१ ॥

इन ग्यारह प्रतिमाओंमें-से सुविधि राजाने क्रम-क्रमसे ग्यारहवाँ स्थान—उद्दिष्टत्यागप्रतिमा धारण की थी ॥ १६१ ॥

> पञ्चैवाणुव्रतान्येषु त्रिविधं च गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि व्रतान्याहुर्गृहाश्रमे ॥ १६२ ॥

जिनेन्द्रदेवने गृहस्थाश्रमके उक्त ग्यारह स्थानोंमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतोंका निरूपण किया है ॥ १६२ ॥

> स्थूलात् प्राणातिपाताच्च मृषावादात् तथा स्तेयात् । परस्त्रीसेवनात् तृष्णाप्रकर्षाच्च विरंसनम् ॥ १६३ ॥

स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहसे निवृत्त होनेको क्रमसे अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत कहते हैं ॥ १६३ ॥

> व्रतान्येतानि पञ्च स्युर्भावनासंस्कृतानि च । सम्यक्त्वशुद्धियुक्तानि महोदर्काण्यगारिणाम् ॥ १६४ ॥

यदि इन पाँच अणुव्रतोंको प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाओंसे संस्कृत और सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे युक्त कर धारण किया जाये तो उनसे गृहस्थोंको बड़े-बड़े फलोंकी प्राप्ति हो सकती है ॥ १६४ ॥

> दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः स्याद् गुणव्रतम् । भोगोपभोगसंख्यानमप्याहुस्तद् गुणव्रतम् ॥ १६५ ॥

दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति ये तीन गुणव्रत हैं। कोई-कोई आचार्य भोगोपभोगपरिमाणव्रतको भी गुणव्रत कहते हैं (और देशव्रतको शिक्षाव्रतोंमें शामिल करते हैं) ॥ १६५ ॥

> समता प्रोषधविधिस्तथैवातिथिसंग्रहः । मरणान्ते च संन्यास इत्याहुः शिक्षाव्रतान्यपि ॥ १६६ ॥

सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और मरण समयमें संन्यास धारण करना ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। (अनेक आचार्योंने देशव्रतको शिक्षाव्रतमें शामिल किया है और संन्यासका बारह व्रतोंसे भिन्न वर्णन किया है) ॥ १६६ ॥

> द्वादशात्मकमित्येतद् व्रतं स्याद् गृहमेधिनाम् । स्वर्गसौधस्य सोपानं पिधानमपि दुर्गतेः ॥ १६७ ॥

गृहस्थोंके ये उपर्युक्त बारह व्रत स्वर्गरूपी राजमहलपर चढ़नेके लिए सीढ़ीके समान हैं और नरकादि दुर्गतियोंका आवरण करनेवाले हैं ॥ १६७ ॥

> एवं दर्शनसंपूतौ व्रतशुद्धिमुपेयिवान् । उपासिष्ट स मोक्षस्य मार्गं राजर्षिरूर्जितम् ॥ १६८ ॥

इस प्रकार सम्यग्दर्शनसे पवित्र व्रतोंकी शुद्धताको प्राप्त हुए राजर्षि सुविधि चिरकाल तक उत्कृष्ट मोक्षमार्गकी उपासना करते रहे ॥ १६८ ॥

> अथावसाने नैर्ग्रन्थ्यीं प्रव्रज्यामुपसेदिवान् । सुविधिर्विधिमाराध्य मुक्तिमार्गमनुत्तरम् ॥ १६९ ॥

अनन्तर जीवनके अन्त समयमें परिग्रहरहित दिगम्बर दीक्षाको प्राप्त हुए सुविधि महाराजने विधिपूर्वक उत्कृष्ट मोक्षमार्गकी आराधना कर ॥ १६९ ॥

> समाधिना तनुत्यागादच्युतेन्द्रेऽभवद् विभुः । द्वाविंशत्यब्धिसंख्यातपरमायुर्महर्द्धिकः ॥ १७० ॥

समाधि-मरणपूर्वक शरीर छोड़ा जिससे अच्युत स्वर्गमें इन्द्र हुए। वहाँ उनकी आयु बीस सागर प्रमाण थी और उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थीं ॥ १७० ॥

> केशवश्च परित्यक्तकृत्स्नबाह्यान्तरोपधिः । नैःसङ्गीमाश्रितो दीक्षामतीन्द्रोऽभवदच्युते ॥ १७१ ॥

श्रीमतीके जीव केशवने भी समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर निष्परिग्रह दीक्षा धारण की और आयुके अन्तमें अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र पद प्राप्त किया ॥ १७१ ॥

> पूर्वोक्ता नृपपुत्राश्च वरदत्तादयः स्थिताः । समजायन्त पुण्याः स्वैस्तत्र सामानिकाः सुराः ॥ १७२ ॥

जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ऐसे वरदत्त आदि राजपुत्र भी अपने-अपने पुण्यके उदयसे उसी अच्युत स्वर्गमें सामानिक जातिके देव हुए ॥ १७२ ॥

> अणिमाद्यष्टगुणैश्वर्यं दिव्यं भोगं च निर्विशन् । स रेमे सुचिरं कालमच्युतेन्द्रोऽच्युतस्थितिः ॥ १७३ ॥

प्रभूत आयुको धारण करनेवाला वह अच्युत स्वर्गका इन्द्र अणिमा, महिमा आदि आठ गुण, ऐश्वर्य और दिव्य भोगोंका अनुभव करता हुआ चिरकाल तक क्रीड़ा करता था ॥ १७३ ॥

> दिव्यानुभावमस्यासीद् वपुरभ्यङ्गसुन्दरम् । विवक्षस्वादिबाधाभिरस्पृष्टमतिनिर्मलम् ॥ १७४ ॥

उसका शरीर दिव्य प्रभावसे सहित था, स्वभावसे ही सुन्दर था, क्षुधा आदिकी बाधाओंसे रहित था और अत्यन्त निर्मल था ॥ १७४ ॥

> सन्तानकुसुमोत्तंसमसौ मूर्ध्ना समवहत् । तपःफलमतिस्फीतं पुरस्ताद् दर्शयन्निव ॥ १७५ ॥

वह अपने मस्तकपर सन्तानक वृक्षके पुष्पोंका सेहरा धारण करता था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो पूर्वभवमें किये हुए तपश्चरणके विशाल फलको मस्तकपर उठाकर सबको दिखा ही रहा हो ॥ १७५ ॥

> सहजैर्भूषणैरस्य दद्यौ रुचिरं वपुः । दयावल्लीफलैरूढैः प्रत्यक्षमिव संभृतैः ॥ १७६ ॥

उसका सुन्दर शरीर साथ-साथ उत्पन्न हुए आभूषणोंसे ऐसा मालूम होता था मानो उसके प्रत्येक अंगपर दयारूपी लताके प्रशंसनीय फल ही लग रहे हों ॥ १७६ ॥

> स समचतुरस्रः संरेजे दिव्यलक्षणैः । पुरःपूरैः प्रसूनैश्च यथावचात्मभिः ॥ १७७ ॥

समचतुरस्र संस्थानका धारक वह इन्द्र अपने अनेक दिव्य लक्षणोंसे ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि ऊँचे-नीचे सभी प्रदेशोंमें स्थित फूलोंसे व्याप्त हुआ कल्पवृक्ष सुशोभित होता है ॥ १७७ ॥

सितं सूक्ष्मञ्चूलं तस्य रेजे सोष्णीषपट्टकम् । सतमालमिवाद्रीन्द्रकूटं व्योमापगाश्रितम् ॥ १७८ ॥

काले-काले केश और श्वेतवर्णकी पगड़ीसे सहित उसका मस्तक ऐसा जान पड़ता था मानो तमालवृक्षसे सहित और आकाशगंगाके जलसे युक्त हिमालयका शिखर ही हो ॥ १७८ ॥

मुखमस्य लसन्नेत्रशक्रसंगतमाबभौ । स्मितांशुसितजलाक्रान्तं प्रबुद्धमिव पङ्कजम् ॥ १७९ ॥

उस इन्द्रका मुख-कमल खिले हुए कमलके समान शोभायमान था, क्योंकि जिस प्रकार कमलपर भौंरे होते हैं उसी प्रकार उसके मुखपर शोभायमान नेत्र थे और कमल जिस प्रकार जलसे आक्रान्त होता है उसी प्रकार उसका मुख भी मुसकानकी सफेद-सफेद किरणोंसे आक्रान्त था ॥ १७९ ॥

उरस्तटाग्रप्रथी रम्पे हारं बिभ्रद् विराजते । शारदाम्भोदसंघातमिव मेरोस्तटाश्रितम् ॥ १८० ॥

वह अपने मनोहर और विशाल वक्षःस्थलपर जिस विस्तृत हारको धारण कर रहा था वह ऐसा मालूम होता था मानो मेरु पर्वतके तटपर अवलम्बित शरद् ऋतुके बादलोंका समूह ही हो ॥ १८० ॥

लसदंशुकसंव्रीतं जघनं तस्य राजते । तरङ्गाक्रान्तमम्भोघेरिष सैकतमण्डलम् ॥ १८१ ॥

शोभायमान वस्त्रसे ढँका हुआ उसका नितम्बमण्डल ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों लहरोंसे ढँका हुआ समुद्रका बालूदार टीला ही हो ॥ १८१ ॥

सुवर्णकदलीस्तम्भविभ्रमं रुचिमानशे । तस्योरुद्वितयं चारु सुरनारीमनोहरम् ॥ १८२ ॥

देवांगनाओंके मनको हरण करनेवाले उसके दोनों सुन्दर ऊरु सुवर्ण कदलीके स्तम्भोंका सन्देह करते हुए अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे ॥ १८२ ॥

तस्य पादद्वये लक्ष्मीः काप्यभूदब्जशोभिनि । नखांशुस्वच्छसलिले सरसीव झषाङ्किते ॥ १८३ ॥

उस इन्द्रके दोनों चरण किसी तालाबके समान जान पड़ते थे क्योंकि तालाब जिस प्रकार स्वच्छ जलसे सुशोभित होता है उसी प्रकार उसके चरण भी नखोंकी किरणोंरूपी निर्मल जलसे सुशोभित थे, तालाब जिस प्रकार कमलोंसे शोभायमान होता है उसी प्रकार उसके चरण भी कमलके चिह्नोंसे सहित थे और तालाब जिस प्रकार मच्छ वगैरहसे सहित होता है उसी प्रकार उसके चरण भी मत्स्यरेखा आदिसे युक्त थे। इस प्रकार उसके चरणोंमें कोई अपूर्व ही शोभा थी ॥ १८३ ॥

> इत्युदारतरं बिभ्रद् रूपं वैक्रियिकं वपुः । स तत्र भुङ्क्ते भोगांश्चाच्युतेन्द्रः स्वकल्पजान् ॥ १८४ ॥

इस तरह अत्यन्त श्रेष्ठ और सुन्दर वैक्रियिक शरीरको धारण करता हुआ वह अच्युतेन्द्र अपने स्वर्गमें उत्पन्न हुए भोगोंका अनुभव करता था ॥ १८४ ॥

> षड्भिः रज्जुभिरुपरि कल्पोऽस्त्यच्युतसंज्ञकः । सोऽस्य भुक्तिरभूत् क्षेत्रं पुण्येः किं नु न लभ्यते ॥ १८५ ॥

वह अच्युत स्वर्ग इस मध्यलोकसे छह राजु ऊपर चलकर है तथापि पुण्यके उदयसे वह सुविधि राजाके भोगोपभोगका स्थान हुआ सो ठीक ही है। पुण्यके उदयसे क्या नहीं प्राप्त होता? ॥ १८५ ॥

> तस्य भुक्तौ विमानानां परिसंख्या सतां जिनैः । धातमेकमथैकोनं षष्टिकं परमागमे ॥ १८६ ॥

उस अच्युत स्वर्गमें उपभोगमें आनेवाले विमानोंकी संख्या सर्वज्ञ प्रणीत आगममें जिनेन्द्रदेवने एक-सौ उनसठ कही है ॥ १८६ ॥

> त्रयोविंशं शतं तेषु विमानेषु प्रकीर्णकाः । श्रेणीबद्धास्ततोऽन्ये स्युरतिरुन्द्राः समन्ततः ॥ १८७ ॥

उन एक सौ उनसठ विमानोंमें एक सौ तेईस विमान प्रकीर्णक हैं, एक इन्द्रक विमान है और बाकी बचे पैंतीस बड़े-बड़े श्रेणीबद्ध विमान हैं ॥ १८७ ॥

> त्रयस्त्रिंशत्तथास्य स्युस्त्रायस्त्रिंशाः सुरोत्तमाः । ते च पुत्रीयितास्तेन स्नेहातिशयितधिया ॥ १८८ ॥

उन विमानोंमें तेंतीस त्रायस्त्रिंश जातिके उत्तम देव थे। वह उन्हें अपनी स्नेह-भरी बुद्धिसे पुत्रके समान समझता था ॥ १८८ ॥

> अयुतप्रमिताश्चास्य सामानिकसुरा मताः । ते चास्य सदृशाः सर्वैर्भोगैराज्ञा तु भिद्यते ॥ १८९ ॥

उसके दश हजार सामानिक देव थे। वे सब देव भोगोपभोगकी सामग्रीसे इन्द्रके ही समान थे परन्तु इन्द्रके समान उनकी आज्ञा नहीं चलती थी ॥ १८९ ॥

> आत्मरक्षाश्च तस्योक्ताश्चत्वारि वायुतानि वै । तेऽप्यङ्गरक्षकैस्तुल्या विभूत्यर्थं तु कल्पिताः ॥ १९० ॥

उसके अंगरक्षकोंके समान चालीस हजार आत्मरक्षक देव थे। यद्यपि स्वर्गमें किसी प्रकारका भय नहीं रहता तथापि इन्द्रकी विभूति दिखलानेके लिए ही वे होते हैं ॥ १९० ॥

> अन्तःपरिषदस्याद्या सपादं शतमिष्यते । मध्यमाऽर्धतृतीयं स्याद् बाह्या तद्द्विगुणा मता ॥ १९१ ॥

अन्तःपरिषद्, मध्यमपरिषद् और बाह्यपरिषद्के भेदसे उस इन्द्रकी तीन सभाएँ थीं। उनमें-से पहली परिषद्में एक सौ पच्चीस देव थे, दूसरी परिषद्में दो सौ पचास देव थे और तीसरी परिषद्में पाँच सौ देव थे ॥ १९१ ॥

> चत्वारस्तस्य लोकान्तास्तल्लोकान्तप्रपालकाः । प्रत्येकं द्वात्रिंशत् तेषां देव्यश्च सुरसुन्दरी ॥ १९२ ॥

उस अच्युत स्वर्गके अन्तभागकी रक्षा करनेवाले चारों दिशाओंसम्बन्धी चार लोकपाल थे और प्रत्येक लोकपालकी बत्तीस-बत्तीस देवियाँ थीं ॥ १९२ ॥

> अष्टावस्य महादेव्यो रूपसौन्दर्यसंपदा । तन्मनोलोहमाक्रष्टुं क्लृप्तायस्कान्तपुत्रिकाः ॥ १९३ ॥

उस अच्युतेन्द्रकी आठ महादेवियाँ थीं जो कि अपने रूप और सौन्दर्यरूपी सम्पत्तिके द्वारा इन्द्रके मनरूपी लोहेको खींचनेके लिए बनी हुई चुम्बकमणिमयी पुतलियोंके समान शोभायमान होती थीं ॥ १९३ ॥

> अन्या वल्लमिकास्तस्य त्रिषष्टिः परिकीर्तिताः । एकशोऽग्रमहिष्यर्धतृतीयं त्रिशतैर्वृताः ॥ १९४ ॥

इन आठ महादेवियोंके सिवाय उसके तिरसठ वल्लमिका देवियाँ और थीं। प्रत्येक अग्रमहिषी तीन सौ पचास देवियोंसे घिरी रहती थी ॥ १९४ ॥

> द्वे सहस्रे भवेयुस्ताः ससप्ततिरथोच्चिताः । यत्स्मृतेरप्यहो याः स्युर्याति चेतोऽस्य निर्वृतिम् ॥ १९५ ॥

इस प्रकार सब मिलाकर उसकी दो हजार एकत्रत्तर देवियाँ थीं। इन देवियोंका स्मरण करने मात्रसे ही उसका चित्त सन्तुष्ट हो जाता था--उसकी कामव्यथा नष्ट हो जाती थी ॥ १९५ ॥

> तासां मृदुकरस्पर्शैस्तद्वक्त्राब्जनिरीक्षणैः । स लेभेऽभ्यधिकां तृप्तिं संभोगैरपि मानसैः ॥ १९६ ॥

वह इन्द्र उन देवियोंके कोमल हाथोंके स्पर्शसे, मुखकमलके देखनेसे और मानसिक संभोगसे अत्यन्त तृप्ति (सुख) प्राप्त होता था ॥ १९६ ॥

> षट्चतुष्कसहस्राणि नियुतानि दशापि च । विकरोत्येकशो देवी दिव्यस्थानि योषिताम् ॥ १९७ ॥

इस इन्द्रकी प्रत्येक देवी अपनी विक्रिया शक्तिके द्वारा सुन्दर स्त्रियोंके दस लाख चौबीस हजार सुन्दर रूप बना सकती थी ॥ १९७ ॥

> सप्तानीकान्युशन्त्यस्य मत्ताभ्रनिभदन्तिनः । दन्तिनां सप्तकक्षाः स्युराद्यायामायुतद्वयम् ॥ १९८ ॥

हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, बैल, गन्धर्व और नृत्यकारिणीके भेदसे उस इन्द्रकी सात प्रकारकी सेनाएँ मानी गयी हैं। उनमें मदांध मेघोंके समान हाथियोंकी सेनाकी सात कक्षाएँ थीं, जिनमें पहली कक्षामें बीस हजार हाथी थे और शेष कक्षाओंमें दूनी-दूनी संख्या थी, जो किसी बड़े समुद्रकी तरंगोंके समान जान पड़ती थी ॥ १९८ ॥

> हस्त्यश्वरथपादातवृषगन्धर्वनर्तकी । शेषनिकायेषु द्विगुणा द्विगुणा वीचयः ॥ १९९ ॥

हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, बैल, गन्धर्व और नर्तकी—इन सातों अनीकोंमें प्रत्येक अपने-अपने महत्तर (सेनापति/अधिपति) के अधीन रहती थी ॥ १९९ ॥

> एकैकस्याश्च देव्याः स्यादप्सरःपरिवस्त्रयम् । पञ्चविंशतिः पञ्चाशच्छतं चैव यथाक्रमम् ॥ २०० ॥

उस इन्द्रकी एक-एक देवीकी तीन-तीन सभाएँ थीं। उनमें-से पहली सभामें २८ अप्सराएँ थीं, दूसरी सभामें ५० अप्सराएँ थीं, और तीसरी सभामें सौ अप्सराएँ थीं ॥ २०० ॥

> इत्युक्तपरिवारेण सार्धमच्युतकल्पजाम् । लक्ष्मीं निर्विशतस्तस्य व्यावर्ण्यालमुतैः श्रियम् ॥ २०१ ॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए परिवारके साथ अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न हुई लक्ष्मीका उपभोग करनेवाले उस अच्युतेन्द्रकी उत्कट विभूतिका वर्णन करना कठिन है--जितना वर्णन किया जा चुका है उतना ही पर्याप्त है ॥ २०१ ॥

> मानसोऽस्य प्रवीचारो विष्वाणोऽप्यस्य मानसः । द्वात्रिंशतिसहस्रैश्च समानां सकृदाहरेत् ॥ २०२ ॥

उस अच्युतेन्द्रका कामोपभोग मानसिक था और आहार भी मानसिक था तथा वह बाईस हजार वर्षोंमें एक बार आहार करता था ॥ २०२ ॥

> तमेकादशभिर्मासैः सकृदुच्छ्वसितं भजेत् । त्र्यरत्निप्रमितोत्सेधदिव्यदेहधरश्च सः ॥ २०३ ॥

वह ग्यारह महीनेमें एक बार श्वासोच्छ्वास लेता था और तीन हाथ ऊँचे सुन्दर दिव्य शरीरको धारण करता था ॥ २०३ ॥

> श्रमणेनाच्युतेन्द्रोऽसौ प्रापत् सुरपरम्पराम् । तस्मात्तदर्थिभिर्धर्मे मतिः कार्या जिनोदिते ॥ २०४ ॥

वह अच्युतेन्द्र तपश्चरणके द्वारा ही इस उत्तम देवपरम्पराको प्राप्त हुआ था, इसलिए उत्तम विभूतियोंके अभिलाषी जनोंको जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए धर्ममें ही बुद्धि लगानी चाहिए ॥ २०४ ॥

अथ सुललितवेषाः दिव्ययोषाः सभूषाः सुरभिकुसुममालाः स्रस्तचूलाः सलीलाः ।
मधुरविरुतगानारब्धतानाः सभानाः प्रसभमरमनूनं निन्युरेनं सुरेशम् ॥ २०५ ॥

उस अच्युत स्वर्गमें, जिनके वेश बहुत ही सुन्दर हैं, जो उत्तम आभूषण पहने हुई हैं, जो सुगन्धित पुष्पोंकी मालाओंसे सहित हैं, जिनकी लम्बी चोटी नीचेकी ओर लटक रही है, जो अनेक प्रकारकी लीलाओंसे सहित हैं, जो मधुर शब्दोंसे गाती हुई राग-रागिनियोंका प्रारम्भ कर रही हैं, और जो हर प्रकारसे समान हैं अथवा गर्वसे युक्त हैं, ऐसी देवांगनाएँ उस अच्युतेन्द्रको बड़ा आनन्द प्राप्त करा रही थीं ॥ २०५ ॥

ललितपदविक्षेपैर्भ्रूलताकुञ्चनोद्यैर्नयनयुगविलासैरङ्गहासैः सुहासैः । प्रकटितमृदुभावा
रागभावादिभावैर्जगृहुरथ मनोऽस्याब्जोपमास्या वयस्याः ॥ २०६ ॥

जिनके मुख कमलके समान सुन्दर हैं ऐसी देवांगनाएँ (सखियाँ), अपने मनोहर चरणोंके गमन, भौंहोंके विकार, सुन्दर दोनों नेत्रोंके कटाक्ष, अंगोपांगोंकी चेष्टा, सुन्दर हास्य, प्रकटित कोमल भाव तथा रति आदि अनेक भावों द्वारा उस अच्युतेन्द्रका मन हरण करती रहती थीं ॥ २०६ ॥

तासामिन्दुकलासमले स्ववदनं पश्यन् कपोलाम्बुजे तद्वक्त्राम्बुजसङ्गतां च घटयन्नाघ्रातवक्त्रानिलः ।
व्याधूतैर्हृदि बाणसदृशैर्भ्रूचापमुक्तैर्दृशामुद्विग्नं स्वं हृदयं तदीयकरसंस्पर्शैः समाश्वासयन् ॥ २०७ ॥

वह अच्युतेन्द्र उन देवांगनाओंके चन्द्रकलाके समान निर्मल कपोलरूपी दर्पणमें अपना मुख देखता हुआ, उनके मुखकी वायु (श्वास) को सूँघकर उनके मुखकमलमें भ्रमर-जैसी संगतिको प्राप्त होता हुआ, तथा उनके भौंहरूपी धनुषसे छूटे हुए बाणके सदृश नेत्र-कटाक्षोंसे व्याकुल हुए अपने हृदयको उन्हींके कोमल कर-स्पर्शसे सान्त्वना देता हुआ ॥ २०७ ॥

रेमे रामागणेन्दुद्युतिरुचिततरे स्वे विमाने विमाने भुञ्जानो दिव्यभोगानमरपरिवृतो यान् सुरेभैः सुरेभैः ।
दैवीं पूजां च तन्वन् मुहुरतुलरुचा भासमानोऽसमानो लक्ष्मीवानच्युतेन्द्रः सुचिरमुरुतरं स्वांसकान्तः
सुरेभ्यः ॥ २०८ ॥

स्त्रियोंके मुखरूपी चन्द्रमाओंकी कान्तिसे अतिशय देदीप्यमान, परिमाणरहित अपने विमानमें दिव्य भोगोंको भोगता हुआ, देवोंसे घिरा हुआ, देवगजोंपर सवार होकर गमन करता हुआ, बार-बार जिनेन्द्रदेवकी पूजाका विस्तार करता

हुआ, अतुल कान्तिसे चमकता हुआ, अनुपम, समृद्धिशाली और अपने विशाल कन्धोंकी शोभासे देवोंमें श्रेष्ठ वह अच्युतेन्द्र चिरकाल तक उत्कृष्ट क्रीड़ा करता रहा ॥ २०८ ॥

इति भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे श्रीमदच्युतेन्द्रैश्वर्यवर्णनं नाम दशमं पर्व ॥ १० ॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें अच्युतेन्द्रके ऐश्वर्यका वर्णन करनेवाला दसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ १० ॥

एकादशं पर्व

> स्फुरन्ति यस्य वाक्पूजाप्राप्त्यपाया गुणांशवः । पुनातु भव्यपद्मानां प्रबोधो जिनभास्करः ॥ १ ॥

स्तोत्रों-द्वारा की हुई पूजा ही जिनकी प्राप्तिका उपाय है ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि अनेक गुणरूपी किरणें जिनकी प्रकाशमान हो रही हैं और जो भव्य जीवरूपी कमलोंके वनको विकसित करनेवाला है ऐसा वह जिनेन्द्ररूपी सूर्य तुम सब श्रोताओंको पवित्र करे ॥ १ ॥

> अथ तस्मिन् जिनेन्द्रेन्द्रे भुवं गन्तुं समुद्यते । म्लानिमायात् किलाम्लानपूर्वा तन्मूर्धमालिका ॥ २ ॥

अथानन्तर जब वह अच्युतेन्द्र स्वर्ग छोड़कर पृथिवीपर आनेके सम्मुख हुआ तब उसके मस्तकपर पड़ी हुई कल्पवृक्षके पुष्पोंकी माला अचानक मुरझा गयी। वह माला इससे पहले कभी नहीं मुरझायी थी ॥ २ ॥

> स्वर्गप्रच्युतिलिङ्गानि यथाऽन्येषां सुधाशिनाम् । स्पष्टानि न तथेन्द्राणां किं तु लेशेन कानिचित् ॥ ३ ॥

स्वर्गसे च्युत होनेके चिह्न जैसे अन्य साधारण देवोंके स्पष्ट प्रकट होते हैं वैसे इन्द्रोंके नहीं होते, किन्तु कुछ-कुछ ही प्रकट होते हैं ॥ ३ ॥

> ततोऽबोधि सुरेन्द्रेणासौ स्वर्गप्रच्युतिरात्मनः । तथापि न व्यसीदत् स प्रायो धीरा महात्मनाम् ॥ ४ ॥

माला मुरझानेसे यद्यपि इन्द्रको मालूम हो गया था कि अब मैं स्वर्गसे च्युत होनेवाला हूँ तथापि वह कुछ भी दुःखी नहीं हुआ सो ठीक है, वास्तवमें महापुरुषोंकी बुद्धि सदा ऐसी ही धीर होती है ॥ ४ ॥

षण्मासशेषमात्रायुः सपर्यां तां समातनोत् । प्रारेभे पुण्यधीः प्रायः श्रेयोऽर्थिनो बुधाः ॥ ५ ॥

जब उसकी आयु मात्र छह माहकी बाकी रह गयी तब उस पवित्र बुद्धिके धारक अच्युतेन्द्रने अरहन्तदेवकी पूजा करना प्रारम्भ कर दिया, सो ठीक ही है, प्रायः पण्डितजन आत्मकल्याणके अभिलाषी हुआ ही करते हैं ॥ ५ ॥

स मनः प्रणिधायान्ते पदेषु परमेष्ठिनाम् । निक्षितायुरभूत् पुण्यैः परिशिष्टैरधिष्ठितः ॥ ६ ॥

आयुके अन्त समयमें उसने अपना चित्त पञ्चपरमेष्ठियोंके चरणोंमें लगाया और उपभोग करनेसे बाकी बचे हुए पुण्यकर्मसे अधिष्ठित होकर वहाँकी आयु समाप्त की ॥ ६ ॥

तथापि सुखसाद्भूता महाधैर्या महर्द्धयः । च्यवन्ते यदतः प्राज्ञा धिगेनां संसृतिस्थितिम् ॥ ७ ॥

यद्यपि स्वर्गीक देव सदा सुखके अधीन रहते हैं, महाधैर्यवान् और बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक होते हैं तथापि वे स्वर्गसे च्युत हो जाते हैं, इसलिए बुद्धिमान् कहते हैं कि संसारकी इस स्थितिको धिक्कार हो ॥ ७ ॥

ततोऽच्युतेन्द्रः प्रच्युत्य जम्बूद्वीपे महाद्युतिः । प्राग्विदेहाश्रिते देशे पुष्कलावत्यमिष्टवे ॥ ८ ॥

तदनन्तर वह अच्युतेन्द्र स्वर्गसे च्युत होकर महाकान्तिमान् जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें प्रशंसनीय पुष्कलावती देशमें आया ॥ ८ ॥

नगर्यां पुण्डरीकिण्यां वज्रसेनस्य भूभुजः । श्रीकान्तायाश्च पुत्रोऽभूद् वज्रनाभिरिति प्रभुः ॥ ९ ॥

वहाँ पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीमें वज्रसेन राजा और श्रीकान्ता नामकी रानीके वज्रनाभि नामका समर्थ पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥

तयोरेव सुता जाता वरदत्तादयः क्रमात् । विजयो वैजयन्तश्च जयन्तोऽप्यपराजितः ॥ १० ॥

पहले कहे हुए व्याघ्र आदिके जीव वरदत्त आदि भी क्रमशः उन्हीं राजा-रानीके विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामके चार पुत्र हुए ॥ १० ॥

तदाऽभूवंस्तयोरेव पुत्रास्तेऽपि महोदयाः । पूर्वोद्दिष्टा अहमिन्द्रास्तेऽप्यधोग्रैवेयकाच्च्युताः ॥ ११ ॥

जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है ऐसे मतिवर मन्त्री आदिके जीव जो अधोग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए थे, वे भी वहाँसे च्युत होकर उन्हीं राजा-रानीके सम्पत्तिशाली पुत्र हुए ॥ ११ ॥

सुबाहुरहमिन्द्रोऽभूद् यः प्राङ्मतिवरः कृती । आनन्दोऽभून्महाबाहुः पीठाख्योऽभूदकम्पनः ॥ १२ ॥

जो पहले (वज्रजंघके भवमें) मतिवर नामका बुद्धिमान मन्त्री था वह अधोग्रैवेयकसे च्युत होकर उनका सुबाहु नामका पुत्र हुआ, आनन्द पुरोहितका जीव महाबाहु नामका पुत्र हुआ, और सेनापति अकम्पनका जीव पीठ नामका पुत्र हुआ ॥ १२ ॥

महापीठोऽभवत् सोऽपि धनमित्रवरः सुरः । संस्कारैः प्राक्तनैरेषा घटनानैकत्र देहिनाम् ॥ १३ ॥

तथा धनमित्र सेठका जीव वह देव महापीठ नामका पुत्र हुआ। सो ठीक ही है, जीव पूर्व भवके संस्कारोंसे ही एक जगह एकत्र मिल जाते हैं ॥ १३ ॥

जज्ञे केशवोऽप्येष धनदेवाह्वयोऽभवत् । कुबेरदत्तवणिजोऽनन्तमत्याश्च नन्दनः ॥ १४ ॥

श्रीमतीका जीव केशव, जो कि अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुआ था, वह भी वहाँसे च्युत होकर इसी नगरीमें कुबेरदत्त वणिक्के उसकी स्त्री अनन्तमतीसे धनदेव नामका पुत्र हुआ ॥ १४ ॥

वज्रनाभिरथापूर्णयौवनो बालभास्करः । रराज रुचिरोद्भासी निष्टप्तचामीकरद्युतिः ॥ १५ ॥

अथानन्तर जब वह वज्रनाभि पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त हुआ तब उसका शरीर तपाये हुए सुवर्णके समान अतिशय देदीप्यमान हो उठा और इसीलिए वह प्रातःकालके बालसूर्यके समान बड़ा ही सुशोभित होने लगा ॥ १५ ॥

विनीलकुटिलैः केशैः शिरोऽस्य रुचिमानशे । प्रावृषेण्याम्बुदच्छन्नमिव शृङ्गं महीभृतः ॥ १६ ॥

अत्यन्त काले और टेढ़े केशोंसे उसका सिर ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि वर्षा ऋतुके बादलोंसे ढका हुआ पर्वतका शिखर ॥ १६ ॥

> कुण्डलार्ककरस्पृष्टगण्डपर्यन्तशोभिना । स बभासे मुखाब्जेन पद्माकर इवोन्मिषन् ॥ १७ ॥

कुण्डलरूपी सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे जिसके कपोलोंका प्रान्तभाग शोभायमान हो रहा है ऐसे मुखरूपी कमलसे वह वज्रनाभि खिले हुए कमलोंसे सुशोभित किसी सरोवरके समान शोभायमान हो रहा था ॥ १७ ॥

> ललाटाद्रितटे भ्रूलते रेजतुस्तराम् । नेत्रांशुपुष्पमञ्जर्या मधुपायिततारया ॥ १८ ॥

उसके ललाटरूपी पर्वतके तटपर दोनों भौंहरूपी लताएँ नेत्रोंकी किरणरूपी पुष्पमंजरियों और पुतलीरूपी भ्रमरोंसे बहुत ही अधिक शोभायमान हो रही थीं ॥ १८ ॥

> कामिनीनेत्रभृङ्गालीमाकर्षन् मुखपङ्कजम् । स्वामोदभाविरस्याभूत् स्मितकेशरनिर्गमम् ॥ १९ ॥

उसका मुख श्वासोच्छ्वासकी सुगन्धिसे सहित था, मुसकानरूपी केशरसे युक्त था और स्त्रियोंके नेत्ररूपी भ्रमरोंको आकर्षित करता था, इसलिए ठीक कमलके समान जान पड़ता था ॥ १९ ॥

> कान्त्यासवमिवापातुमापतन्त्यतृपत्तराम् । जननेत्रावलिस्तन्मुखाब्जे विकासिनि ॥ २० ॥

सदा विकसित रहनेवाले उसके मुख-कमलपर जनसमूहके नेत्ररूपी भ्रमरोंकी पंक्ति मानो कान्तिरूपी मद्य (मकरन्द) को पीनेके लिए ही सब ओरसे आकर झपटती थी और उसका पान कर अत्यन्त तृप्त होती थी ॥ २० ॥

> नासिकास्य रुचिं भेजे नेत्रयोर्मध्यवर्तिनी । सीमेव रचिता धात्रा तयोः क्षेत्रानतिक्रमे ॥ २१ ॥

दोनों नेत्रोंके मध्यभागमें रहनेवाली उसकी नाक ऐसी मालूम होती थी मानो अपने-अपने क्षेत्रका उल्लंघन न करनेके लिए ब्रह्माने उनके बीचमें सीमा ही बना दी हो ॥ २१ ॥

हारेण कण्ठपर्यस्तवृत्तिनासौ रुचिं दधे । मृणालवलयेनेव लक्ष्म्यालिङ्गनसङ्गिना ॥ २२ ॥

गलेके समीप पड़े हुए हारसे वह ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो वक्षःस्थलवासिनी लक्ष्मीका आलिंगन करनेवाले मृणालवलय (गोल कमलनाल) से ही शोभायमान हो रहा हो ॥ २२ ॥

वक्षोऽस्य पद्मरागांशुच्छुरितं रुचिमानशे । सान्द्रबालार्कातपच्छन्नसानोः कनकभूभृतः ॥ २३ ॥

पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे व्याप्त हुआ उसका वक्षःस्थल ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उदय होते हुए बालसूर्यकी लाल-लाल सघन प्रभासे आच्छादित हुआ सुवर्णमय मेरु पर्वतका तट ही हो ॥ २३ ॥

वक्षःस्थलस्य पार्श्वस्थौ तस्यांसौ रुचिमापतुः । श्रियः क्रीडार्थमुत्तुङ्गौ भूधराविव संहतौ ॥ २४ ॥

वक्षःस्थलके दोनों ओर उसके ऊँचे कन्धे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मीकी क्रीड़ाके लिए अतिशय ऊँचे दो क्रीड़ा-पर्वत ही बनाये गये हों ॥ २४ ॥

वक्षोभवनपर्यन्ते तोरणस्तम्भविभ्रमम् । बाहू दधतुरस्योच्चैर्हारतोरणधारिणौ ॥ २५ ॥

हाररूपी तोरणको धारण करनेवाली उसकी दोनों भुजाएँ वक्षःस्थलरूपी महलके दोनों ओर खड़े किये गये तोरण बाँधनेके खम्भोंका सन्देह पैदा कर रही थीं ॥ २५ ॥

वज्राङ्गबन्धनस्यास्य मध्येनाभि व्यरोचत । वज्रालानकमुद्भूतं भावि साम्राज्यवारणम् ॥ २६ ॥

जिसके शरीरका गठन वज्रके समान मजबूत है ऐसे उस वज्रनाभिकी नाभिके बीचमें एक अत्यन्त स्पष्ट वज्रका चिह्न दिखाई देता था जो कि आगामी चक्रवर्तित्वरूपी साम्राज्य-हाथीका मानो बाँधनेका खम्भा ही था ॥ २६ ॥

लसद्दुकूलपुलिनं रतिहंसीनिषेवितम् । परां श्रियमधादस्य कटिस्थानसरोवरम् ॥ २७ ॥

जो रेशमी वस्त्ररूपी तटसे शोभायमान था और रतिरूपी हंसिनीसे सेवित था ऐसा उसका कटिप्रदेश किसी सरोवरकी परम शोभा धारण कर रहा था ॥ २७ ॥

सुवृत्तमसृणावूरू तस्य कान्तिमवापताम् । सञ्चरत्कामगन्धेभरोधे क्लृप्ताविवागलौ ॥ २८ ॥

उसके अतिशय गोल और चिकने दोनों ऊरु (जाँघें), यहाँ-वहाँ फिरनेवाले कामदेवरूपी गन्धहस्तीको रोकनेके लिए बनाये गये अर्गल-दण्डों (अर्गलाओं) के समान शोभाको प्राप्त हो रहे थे ॥ २८ ॥

जानुगुल्फान्तरे जङ्घे तस्य श्लिष्यतुरादरात् । सन्धिमेव दृढां धत्तमित्यादेष्टुमिवोद्यते ॥ २९ ॥

घुटनों और पैरके ऊपरकी गाँठों (गुल्फों) के मध्यमें रहनेवाली उसकी दोनों जंघाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो लोगोंको यह उपदेश देनेके लिए ही उद्यत हुई हों कि हमारे समान तुम लोग भी दृढ सन्धि (मेल) धारण करो ॥ २९ ॥

पद्माकारश्रियावस्य पादावङ्गुलिपत्रकौ । चिरं सिषेवे यौ लक्ष्मीनखेन्दुद्युतिकेसरी ॥ ३० ॥

अँगुलीरूपी पत्तोंसे सहित और नखरूपी चन्द्रमाओंकी कान्तिरूपी केशरसे युक्त उसके दोनों चरण कमलकी शोभा धारण कर रहे थे, और इसीलिए लक्ष्मी चिरकालसे उनकी सेवा करती थी ॥ ३० ॥

इति लक्ष्मीपरिष्वङ्गादतिशय्य स्थिताकृतिः । नूनं सुराङ्गनानां स कुर्यात् स्वं स्पृहयालुतम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार लक्ष्मीका आलिंगन करनेसे अतिशय सुन्दरताको प्राप्त हुआ उसका शरीर निश्चय ही देवांगनाओंकी भी रुचि उत्पन्न करता था--देवांगनाएँ भी उसे देखकर कामातुर हो जाती थीं ॥ ३१ ॥

तथापि यौवनारम्भे मदनज्वरकोपिनि । नास्याजनि मदः कोऽपि स्वभ्यस्तश्रुतसंपदः ॥ ३२ ॥

उसने आगम-सम्पत्तिका अच्छी तरह अभ्यास किया था, इसलिए कामज्वरका प्रकोप बढ़ानेवाले यौवनके प्रारम्भ समयमें भी उसे कोई मद उत्पन्न नहीं हुआ था ॥ ३२ ॥

सोऽधीते स्म त्रिवर्गार्थसाधनीर्विपुलोदयाः । समन्त्रा राजविद्यास्ता लक्ष्म्याकर्षणविधौ क्षमाः ॥ ३३ ॥

जो धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाली हैं, जो बड़े-बड़े फलोंको देनेवाली हैं और जो लक्ष्मीका आकर्षण करनेमें समर्थ हैं, ऐसी मन्त्रसहित समस्त राजविद्याएँ उसने पढ़ ली थीं ॥ ३३ ॥

> तस्मिँल्लक्ष्मीसरस्वत्योरतिव्याप्तं हृदम्बुजम् । ईर्ष्ययेवाभजत् कीर्तिर्दिगन्तान् विशदांशुभिः ॥ ३४ ॥

उसपर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही अतिशय व्याप्त (अनुरक्त) थीं, इसलिए उसके यशरूपी निर्मल कीर्ति मानो उन दोनोंकी ईर्ष्यासे ही विशद किरणों द्वारा दसों दिशाओंके अन्त तक भाग गयी थी ॥ ३४ ॥

> कुर्वता तद्गुणसंख्यानं संविदित्सुना । शलाका स्थापिता व्योम्नि तारकानिकरच्छलात् ॥ ३८ ॥

मालूम होता है कि विधाताने उसके गुणोंकी संख्या जाननेकी इच्छासे ही आकाशमें ताराओंके समूहके छलसे अनेक गणना-शलाकाएँ (रेखाएँ) स्थापित की थीं ॥ ३८ ॥

> तस्य तद्रूपमाहात्म्यं सा विद्या तच्च यौवनम् । जनावर्जयन्ति स्म गुणैरावर्ज्यते न कः ॥ ३६ ॥

उसका वह मनोहर रूप, वह विद्या और वह यौवन, सभी कुछ लोगोंको वशीभूत कर लेते थे, सो ठीक ही है, गुणोंसे कौन वशीभूत नहीं होता? ॥ ३६ ॥

> गुणैरस्यैव तेऽप्यन्ये कुमाराः कृतवर्णनाः । ननु चन्द्रगुणानन्दी भजत्युडुगणोऽप्ययम् ॥ ३७ ॥

यहाँ जो वज्रनाभिके गुणोंका वर्णन किया है उसीसे अन्य राजकुमारोंका भी वर्णन समझ लेना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार तारागण चन्द्रमाके गुणोंके कुछ अंशको धारण करते हैं उसी प्रकार वे शेष राजकुमार भी कुछ अंशोंमें वज्रनाभिके गुण धारण करते थे ॥ ३७ ॥

> ततोऽस्य योग्यतां वीक्ष्य वज्रसेनमहाप्रभुः । राज्यलक्ष्मीं समग्रां स्वामस्मिन्नेव न्ययोजयत् ॥ ३८ ॥

तदनन्तर, इसकी योग्यता देखकर वज्रसेन महाराजने अपनी सम्पूर्ण राज्यलक्ष्मी इसीको सौंप दी ॥ ३८ ॥

नृपोऽभिषेकमस्योच्चैः स्वसमक्षमकारयत् । पश्यत्सु सामन्तेषु नृपैर्मुकुटधारिभिः ॥ ३९ ॥

महाराज वज्रसेनने अपने ही सामने बड़े ठाट-बाटसे इसका राज्याभिषेक कराया तथा सामन्तों और मुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा उसका सत्कार कराया ॥ ३९ ॥

नृपासनस्थमेनं ते वीजयन्ति स्म चामरैः । गङ्गातरङ्गसच्छायैर्मन्त्रिभिर्ललितानिलैः ॥ ४० ॥

पट्टबन्धके समय वह राजसिंहासनपर बैठा हुआ था और चामरधारिणी सुन्दर स्त्रियाँ गंगा नदीके तरंगोंके समान निर्मल और मनोहर वायुवाले चामर ढोल रही थीं ॥ ४० ॥

वीज्यमानानि तानीत्थमुत्प्रेक्षते मनो मम । जनापवादजं रजोऽपासितुमुद्यतानि ॥ ४१ ॥

चमर ढोरती हुई उन स्त्रियोंको देखकर मेरा मन यही उत्प्रेक्षा करता है कि वे मानो राज्यलक्ष्मीके ऊपर जनसमूहके अपवादरूपी धूलिको ही दूर करनेके लिए उद्यत हुई हों ॥ ४१ ॥

वक्षसि स्वं रमां चक्रे दृढमस्याकरोत्तदा । पट्टबन्धापदेशेन तस्मिन् प्राध्यकृतेव सा ॥ ४२ ॥

उस समय राज्यलक्ष्मी भी उसके वक्षःस्थलपर दृढ प्रेम करती थी और ऐसी मालूम होती थी मानो पट्टबन्धके छलसे वह उसपर बाँध ही दी गयी हो ॥ ४२ ॥

मुकुटं मकुटी तस्याधान्मूर्ध्नि भूपतिभिः समम् । स्वं भारमवतार्यास्मिन् ससाक्षिकमिवार्पयन् ॥ ४३ ॥

राजाओंमें मुकुटमणि वज्रसेन महाराजने अनेक राजाओंके साथ अपना मुकुट वज्रनाभिके मस्तकपर रखा था। उस समय वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सबकी साक्षीपूर्वक अपना भार ही उतारकर उसे समर्पण कर रहे हों ॥ ४३ ॥

हारेणालंकृतं वक्षो भुजावस्याङ्गदादिभिः । पट्टिकाकटिसूत्रेण कटी पट्टांशुकेन च ॥ ४४ ॥

उस समय उसका वक्षःस्थल हारसे अलंकृत हो रहा था, भुजाएँ बाजूबन्द आदि आभूषणोंसे सुशोभित हो रही थीं और कमर करधनी तथा रेशमी वस्त्रकी पट्टीसे शोभायमान हो रही थी ॥ ४४ ॥

इति कृताभिषेकाय नृपाय नृपसत्तमः । पुनः समं समाश्वास्य महाचक्री भवेत्यमुम् ॥ ४५ ॥

अत्यन्त प्रसन्न वज्रसेन महाराजने, जिसका राज्याभिषेक हो चुका है ऐसे वज्रनाभिके लिए 'तू बड़ा भारी चक्रवर्ती हो!' इस प्रकार अनेक राजाओंके साथ-साथ आशीर्वाद देकर अपना समस्त राज्यभार सौंप दिया ॥ ४५ ॥

अनन्तरं च लोकान्तिकामरैः प्रतिबोधितः । वज्रसेनमहाराजो न्यधान्निष्क्रमणे मतिम् ॥ ४६ ॥

तदनन्तर लौकान्तिक देवोंने आकर महाराज वज्रसेनको प्रतिबोधित किया जिससे उन्होंने दीक्षा धारण करनेमें अपनी बुद्धि लगायी ॥ ४६ ॥

यथोचितामपचितिं तन्वत्सूत्तमनाकिषु । परिनिष्क्रम्य चक्रेऽसौ मुक्तिलक्ष्मीं प्रमोदिनीम् ॥ ४७ ॥

जिस समय इन्द्र आदि उत्तम-उत्तम देव भगवान् वज्रसेनकी यथायोग्य पूजा कर रहे थे उसी समय उन्होंने दीक्षा लेकर मुक्तिरूपी लक्ष्मीको प्रसन्न किया ॥ ४७ ॥

तदा भगवतानेन सहस्रगणमामिताः । महत्याम्रवनोद्याने नृपाः प्रावाजिषुस्तदा ॥ ४८ ॥

उस समय भगवान् वज्रसेनके साथ-साथ आम्रवन नामके बड़े भारी उपवनमें एक हजार अन्य राजाओंने भी दीक्षा ली थी ॥ ४८ ॥

राज्यं निष्कण्टकीकृत्य वज्रनाभिरपालयत् । भगवानपि योगीन्द्रस्तपश्चक्रे विकल्मषम् ॥ ४९ ॥

इधर राजा वज्रनाभि राज्यको निष्कण्टक कर उसका पालन करता था और उधर योगिराज भगवान् वज्रसेन भी निर्दोष तपस्या करते थे ॥ ४९ ॥

राज्यलक्ष्मीपरिष्वङ्गाद् वज्रनाभिस्तुतोष सः । तपोलक्ष्मीसमासङ्गाद् गुरुरस्यातिपिप्रिये ॥ ५० ॥

इधर वज्रनाभि राज्यलक्ष्मीके समागमसे अतिशय सन्तुष्ट होता था और उधर उसके पिता भगवान् वज्रसेन भी तपोलक्ष्मीके समागमसे अत्यन्त प्रसन्न होते थे ॥ ५० ॥

> भ्रातृभिर्धृतिरस्यासीद् राजभिः सुसमाहितैः । गुणैस्तु धृतिमालेने योगी श्रेयोऽनुबन्धिभिः ॥ ८१ ॥

इधर वज्रनाभिको अपने सम्मिलित भाई राजाओंसे बड़ा धैर्य (सन्तोष) प्राप्त होता था और उधर भगवान् वज्रसेन मुनि कल्याण करनेवाले गुणोंसे धैर्य (सन्तोष) को विस्तृत करते थे ॥ ८१ ॥

> वज्रनाभिनृपोऽमात्यैः संविधत्ते स्म राजकम् । मुनीश्वरोऽपि तपोध्यानैर्गुणग्राममपोषयत् ॥ ८२ ॥

इधर वज्रनाभि मन्त्रियोंके द्वारा राजाओंके समूहको अपने अनुकूल करता था और उधर मुनीन्द्र वज्रसेन भी तप और ध्यानके द्वारा गुणोंके समूहका पालन करते थे ॥ ८२ ॥

> निजे राज्याश्रमे पुत्रो मुन्योऽन्त्याश्रमे स्थितः । परार्थबद्धकक्ष्यौ तौ पालयन्ति स्म प्रजाः ॥ ८३ ॥

इधर पुत्र वज्रनाभि अपने राज्याश्रममें स्थित था और उधर पिता भगवान् वज्रसेन अन्तिम मुनि आश्रममें स्थित थे। इस प्रकार वे दोनों ही परोपकारके लिए कमर बाँधे हुए थे और दोनों ही प्रजाकी रक्षा करते थे। (भावार्थ--वज्रनाभि दुष्ट पुरुषोंका निग्रह और शिष्ट पुरुषोंका अनुग्रह कर प्रजाका पालन करता था और भगवान् वज्रसेन आत्मकल्याणका उपदेश देकर जीवोंकी रक्षा करते थे) ॥ ८३ ॥

> वज्रनाभेर्जयागारे चक्रं सास्वरमुद्बभौ । योगिनोऽपि मनोगारे ध्यानचक्रं स्फुरद्द्युतिः ॥ ८४ ॥

वज्रनाभिके शस्त्रागार (आयुधगृह) में देदीप्यमान चक्ररत्न प्रकट हुआ था और मुनिराज वज्रसेनके मनरूपी गृहमें प्रकाशमान तेजका धारक ध्यानरूपी चक्र प्रकट हुआ था ॥ ८४ ॥

> अतो व्यजेष्ट निःशेषां महीं स च महीपतिः । मुनिः कर्मजयावाप्तमहिमा जगतीत्रयीम् ॥ ८५ ॥

राजा वज्रनाभिने उस चक्ररत्नसे समस्त पृथिवीको जीता था और मुनिराज वज्रसेनने कर्मोंकी विजयसे अनुपम प्रभाव प्राप्त कर तीनों लोकोंको जीत लिया था ॥ ८५ ॥

> स्पर्धमानाविवान्योन्यमित्यास्तां तौ जयोद्धुरौ । किन्त्वेकस्य जयोऽत्यल्पः परस्य भुवनातिगः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार विजय प्राप्त करनेसे उत्कट वे दोनों ही पिता-पुत्र परस्पर स्पर्धा करते हुए-से जान पड़ते थे, किन्तु एक (वज्रनाभि) की विजय अत्यन्त अल्प थी--छह खण्ड तक सीमित थी और दूसरे (वज्रसेन) की विजय संसार-भरको अतिक्रान्त करनेवाली थी--सबसे महान् थी ॥ ५६ ॥

> धनदेवोऽपि तस्यासीच्चक्रवर्तिन ऊर्जितम् । पात्रं गृहपत्याख्यं निधौ रत्ने च योजितम् ॥ ५७ ॥

धनदेव (श्रीमती और केशवका जीव) भी उस चक्रवर्तीके निधियों और रत्नोंमें शामिल पूज्य तथा राज्यका अधिपति गृहपति नामका तेजस्वी रत्न हुआ ॥ ५७ ॥

> स कृतार्थीकृताशेषप्रजाश्चिरं भुवं प्रभुः । गुरोस्तीर्थकृतोऽबोधि रत्नत्रयमखण्डितम् ॥ ५८ ॥

इस प्रकार उस बुद्धिमान् और विशाल अभ्युदयके धारक वज्रनाभि चक्रवर्तीने चिरकाल तक पृथिवीका उपभोग कर किसी दिन अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकरसे अत्यन्त दुर्लभ रत्नत्रयका अखण्ड स्वरूप समझा ॥ ५८ ॥

> सद्दृष्टिज्ञानचारित्रत्रयं यः सेवते बुधः । रसायनमिवातर्क्यं सोऽमृतं पदमश्नुते ॥ ५९ ॥

जो चतुर पुरुष रसायनके समान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंका सेवन करता है वह अचिन्त्य और अविनाशी मोक्षरूपी पदको प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

> इत्याकलय्य मनसा चक्री चक्रे तपोमतिम् । जरत्तृणमिवाशेषं साम्राज्यमवमन्य सः ॥ ६० ॥

हृदयसे ऐसा विचार कर उस चक्रवर्तीने अपने सम्पूर्ण साम्राज्यको जीर्ण तृणके समान माना और तप धारण करनेमें बुद्धि लगायी ॥ ६० ॥

> वज्रदन्താह्वये पुत्रे कृतराज्यसमर्पणः । नृपैः स्वमौलिबद्धैश्च सुतैरपि दशामितैः ॥ ६१ ॥

उसने वज्रदन्त नामके अपने पुत्रके लिए राज्य समर्पण कर सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं और एक हजार पुत्रोंके साथ ॥ ६१ ॥

सह भ्रातृभिरष्टाभिर्धनदेवेन चादरात् । जग्राह जिनदीक्षां स मुक्त्यै स्वगुरुसंविधौ ॥ ६२ ॥

आठ भाइयों तथा धनदेवके साथ-साथ मोक्ष प्राप्तिके उद्देश्यसे पिता वज्रसेन तीर्थंकरके समीप भव्य जीवोंके द्वारा आदर करने योग्य जिनदीक्षा धारण की ॥ ६२ ॥

तमन्वयुरुपात्तान्ता जन्मदुःखार्दितास्तपसे वनम् । शीतातः को न कुर्वीत सुधीरातपसेवनम् ॥ ६३ ॥

जन्म-मरणके दुःखोंसे पीड़ित हुए अन्य अनेक राजा तप करनेके लिए उसके साथ वन गये, सो ठीक ही है, शीतसे पीड़ित हुआ कौन बुद्धिमान् पुरुष धूपका सेवन नहीं करेगा? ॥ ६३ ॥

मनोवाक्कायतो हिंसाद् मिथ्यावादात् तथेतरत् । विरतिं स्त्रीप्रसङ्गाच्च स यावज्जीवमग्रहीत् ॥ ६४ ॥

महाराज वज्रनाभिने दीक्षित होकर जीवन पर्यन्तके लिए मन, वचन, कायसे हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रहसे विरति धारण की थी अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँचों महाव्रत धारण किये थे ॥ ६४ ॥

व्रतस्थः समितीर्गुप्तीराददेऽसौ सभावनाः । मात्रष्टकमिदं प्राहुः मुनेरिन्द्राः सभासदः ॥ ६५ ॥

व्रतोंमें स्थिर होकर उसने पाँच महाव्रतोंकी पचीस भावनाओं, पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंको भी धारण किया था। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियाँ तथा कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ दोनों मिलाकर आठ प्रवचनमातृकाएँ कहलाती हैं। प्रत्येक मुनिको इनका पालन अवश्य ही करना चाहिए ऐसा इन्द्रसभा (समवसरण) के सभासद् गणधरादि देवोंने कहा है ॥ ६५ ॥

उत्कृष्टतपसो धीरान् मुनीन् ध्यायन्ननेनसः । एकचर्यां ततो भेजे युक्तः सन्दर्शनेन सः ॥ ६६ ॥

तदनन्तर उत्कृष्ट तपस्वी, धीर, वीर तथा पापरहित मुनियोंका ध्यान करनेवाला और सम्यग्दर्शनसे युक्त वह वज्रनाभि एकचर्याव्रतको प्राप्त हुआ अर्थात् एकाकी विहार करने लगा ॥ ६६ ॥

> एकचरतां प्राप्य दिङ्गज इवागजः । मन्दरं विजहारोर्वीं सवापीं सवने वनम् ॥ ६७ ॥

इस प्रकार वह चक्रवर्ती एकचर्याव्रत प्राप्त कर किसी पहाड़ी हाथीके समान तालाब और वनोंकी शोभा देखता हुआ चिरकाल तक मन्द गतिसे (ईर्यासमितिपूर्वक) पृथिवीपर विहार करता रहा ॥ ६७ ॥

> ततोऽसौ भावयामास भावितात्मा सुधीरधीः । स्वगुरोर्निकटे तीर्थकृत्वस्याङ्गानि षोडश ॥ ६८ ॥

तदनन्तर आत्माके स्वरूपका चिन्तन करनेवाले धीर-वीर वज्रनाभि मुनिराजने अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकरके निकट उन सोलह भावनाओंका चिन्तन किया जो कि तीर्थंकर पद प्राप्त होनेमें कारण हैं ॥ ६८ ॥

> सद्दृष्टिं विनयं शीलव्रतेष्वनतिचारताम् । ज्ञानोपयोगमाभीक्ष्ण्यात् संवेगं चाप्यभावयत् ॥ ६९ ॥

उन्होंने शंकादि दोषरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया, विनय धारण की, शील और व्रतोंके अतिचार दूर किये, निरन्तर ज्ञानोपयोग किया तथा संसारसे संवेग (भय) प्राप्त किया ॥ ६९ ॥

> यथाशक्ति तपस्तेपे स्वयं वीर्यमगोपयन् । त्यागे च मतिमाधत्ते ज्ञानसंयमसाधने ॥ ७० ॥

अपनी शक्तिको न छिपाकर सामर्थ्यानुसार तपश्चरण किया और ज्ञान तथा संयमके साधनभूत त्यागमें चित्त लगाया ॥ ७० ॥

> सावधानः समाधाने साधूनां सोऽभवत् सदा । समाधये हि सर्वोऽयं परिस्पन्दो हितार्थिनाम् ॥ ७१ ॥

साधुओंके व्रत, शील आदिमें विघ्न आनेपर उनके दूर करनेमें वह बार-बार सावधान रहता था, क्योंकि हितैषी पुरुषोंकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ समाधिके लिए अर्थात् दूसरोंके विघ्न दूर करनेके लिए ही होती हैं ॥ ७१ ॥

> स वैयावृत्त्यमातेने व्रतस्थेष्वानयादिषु । अनात्मतरको भूत्वा तपसो हृदयं हि तत् ॥ ७२ ॥

किसी भी साधु पुरुषके रोगादि होनेपर वह उसे अपनेसे अभिन्न मानता हुआ उसकी वैयावृत्त्य (सेवा) करता था, क्योंकि वैयावृत्त्य ही तपका हृदय है--सारभूत तत्त्व है ॥ ७२ ॥

> स तेने भक्तिमर्हत्सु पूजार्हेषु च निष्किकाम् । आचार्यान् सूनृतान् भेजे मुनीनपि बहुश्रुतान् ॥ ७३ ॥

वह पूज्य अरहन्त भगवान्में अपनी निष्कपट भक्तिको विस्तृत करता था, विनयी होकर आचार्योंकी भक्ति करता था, तथा अधिक ज्ञानवान् बहुश्रुत मुनियोंकी भी सेवा करता था ॥ ७३ ॥

> परां प्रवचने भक्तिमादधावानिशं सः । न हि पारयति रागादीन् विजेतुं तन्निराकृतः ॥ ७४ ॥

वह सर्वज्ञ देवके कहे हुए आगममें अपनी उत्कृष्ट भक्ति बढ़ाता रहता था, क्योंकि जो पुरुष प्रवचन-भक्ति (शास्त्रभक्ति) से रहित होता है वह बढ़े हुए रागादि शत्रुओंको नहीं जीत सकता है ॥ ७४ ॥

> अवश्यं बशोऽप्येष चक्रे स्वावश्यकं दधौ । षड्भेदं देशकालादिसव्यपेक्षमनुत्तमम् ॥ ७५ ॥

वह पराधीन न होकर भी स्वाधीन (जितेन्द्रिय) था और द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावकी अपेक्षा रखनेवाले समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकोंका पूर्ण रूपसे पालन करता था ॥ ७५ ॥

> मार्गं प्रकाशयामास तपोज्ञानादिदीधितिः । दधानोऽसौ मुनीनेनो भव्याब्जानां प्रबोधकः ॥ ७६ ॥

तप, ज्ञान आदि किरणोंको धारण करनेवाला और भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेवाला वह मुनिराजरूपी सूर्य सदा जैनमार्गको प्रकाशित (प्रभावित) करता था ॥ ७६ ॥

> वात्सल्यमधिकं चक्रे स मुनिर्धर्मवत्सलः । विनेयान् स्थापयन् मार्गे जिनप्रवचनाश्रितान् ॥ ७७ ॥

आगमके अनुसार चलनेवाले शिष्योंको मार्गमें स्थिर रखता हुआ और धर्ममें प्रेम रखनेवाला वह वज्रनाभि मुनि सभी धर्मात्मा जीवोंपर अधिक प्रेम (वात्सल्य) रखता था ॥ ७७ ॥

> इत्यमूनि महाधैर्यो मुनिश्चिरमभावयत् । तीर्थकृत्वस्य संप्राप्तौ कारणान्येष षोडश ॥ ७८ ॥

इस प्रकार महा धीर-वीर मुनिराज वज्रनाभिने तीर्थंकरत्वकी प्राप्तिके कारणभूत उक्त सोलह भावनाओंका चिरकाल तक चिन्तन किया था ॥ ७८ ॥

ततोऽमूर्भावनाः सम्यग् भावयन् मुनिसत्तमः । स बबन्ध महत् पुण्यं त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥ ७९ ॥

तदनन्तर इन भावनाओंका उत्तम प्रकारसे चिन्तन करते हुए उन श्रेष्ठ मुनिराजने तीन लोकमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाली तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृतिका बन्ध किया ॥ ७९ ॥

स कोष्ठबुद्धिमपरां बीजवृद्धिमथो वराम् । पदानुसारिणीं बुद्धिं संभिन्नश्रोतृतामिति ॥ ८० ॥

वह मुनिराज कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारिणीबुद्धि और संभिन्नश्रोतृबुद्धि इन चार उत्कृष्ट बुद्धियों (ऋद्धियों) को भी प्राप्त हुए ॥ ८० ॥

ताभिर्बुद्धिमहाऋद्धिभिः परलोकगतागतम् । राजर्षी राजविद्याभिरिव सम्यगबुद्ध सः ॥ ८१ ॥

जिस प्रकार कोई राजर्षि राजविद्याओंके द्वारा अपने राज्यके समस्त गमनागमनको जान लेता है, ठीक उसी प्रकार प्रकाशमान ऋद्धियोंके धारक वज्रनाभि मुनिराजने भी ऊपर कही हुई चार प्रकारकी बुद्धि नामक ऋद्धियोंके द्वारा अपने परभव-सम्बन्धी गमनागमनको जान लिया था ॥ ८१ ॥

स दीप्ततपसा दीप्तिं भेजे तप्ततपाः पराम् । उग्रतपाश्च घोरांघो घोरतपसंश्रितः ॥ ८२ ॥

वह दीप्त ऋद्धिके प्रभावसे उत्कृष्ट दीप्तिको प्राप्त हुआ था, तप्त ऋद्धिके प्रभावसे उत्कृष्ट तप तपता था, उग्र ऋद्धिके प्रभावसे उग्र तपश्चरण करता था और भयानक कर्मरूप शत्रुओंके समूहको भेदन करता हुआ घोर ऋद्धिके प्रभावसे घोर तप तपता था ॥ ८२ ॥

स तपोमन्त्रिभिर्द्वन्द्वं मन्त्रयन् योगवित् स्थितः । परलोकजयोद्युक्तो विजिगीषुरिव पुरा यथा ॥ ८३ ॥

मन्त्र (परामर्श) को जाननेवाला वह वज्रनाभि जिस प्रकार पहले राज्य-अवस्थामें विजयका अभिलाषी होकर परलोक (शत्रुसमूह) को जीतनेके लिए तत्पर होता हुआ मन्त्रियोंके साथ बैठकर द्वन्द्व (युद्ध) का विचार किया करता था, उसी प्रकार अब मुनि-अवस्थामें भी पञ्चनमस्कारादि मन्त्रोंका जाननेवाला, कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेका अभिलाषी होकर परलोक (नरकादि पर्यायों) को जीतनेके लिए तत्पर होता हुआ तपरूपी मन्त्रियों (मन्त्रशास्त्रके जानकार योगियों) के साथ द्वन्द्व (आत्मा और कर्म अथवा राग और द्वेष आदि) का विचार किया करता था ॥ ८३ ॥

> अणिमादिगुणोपेतां विक्रियामन्ववाप सः । अङ्ग वाञ्छन् न तामैच्छद् यतीन्द्रो गरिमास्पदम् ॥ ८४ ॥

उदार आशयको धारण करनेवाला वज्रनाभि मुनीन्द्र केवल सिद्ध पदकी ही इच्छा रखता था, उसे ऋद्धियोंकी बिलकुल ही इच्छा नहीं थी, फिर भी अणिमा, महिमा आदि अनेक गुणोंसहित विक्रिया ऋद्धि उसे प्राप्त हुई थी ॥ ८४ ॥

> जलाद्यौषधिसंप्राप्तिरस्यासीज्जगते हिता । कल्पद्रुमफलावाप्तिः कस्य वा नोपकारिणी ॥ ८५ ॥

जगत्का हित करनेवाली जल आदि औषध ऋद्धियाँ भी उसे प्राप्त हुई थीं, सो ठीक ही है, कल्पवृक्षपर लगे हुए फल किसका उपकार नहीं करते? ॥ ८५ ॥

> रसत्यागप्रतिज्ञस्य रससिद्धिरभून्मुनेः । इष्टार्थनिवृत्तिरिष्टार्थादधिकं हि महत् फलम् ॥ ८६ ॥

यद्यपि उन मुनिराजके घी, दूध आदि रसोंके त्याग करनेकी प्रतिज्ञा थी तथापि घी, दूध आदिको झरानेवाली अनेक रस ऋद्धियाँ प्रकट हुई थीं, सो ठीक ही है, इष्ट पदार्थोंके त्याग करनेसे उनसे भी अधिक महाफलोंकी प्राप्ति होती है ॥ ८६ ॥

> स बलर्द्धिसमाधानादसोढोग्रान् परीषहान् । अन्यथा क्षुत्पिपासाद्यं कः सहेत सुदुःसहम् ॥ ८७ ॥

बल ऋद्धिके प्रभावसे बल प्राप्त होनेके कारण वह कठिन-कठिन परीषहोंको भी सह लेता था, सो ठीक ही है, क्योंकि उसके बिना क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदिकी सुदुःसह व्यथाको कौन सह सकता है? ॥ ८७ ॥

> सोऽक्षीणर्द्धिप्रभावेणाक्षीणान्नावसथोऽभवत् । सूनृतं तपोऽदृष्टं महत् पम्फलीत्यक्षयं फलम् ॥ ८८ ॥

उसे अक्षीण ऋद्धि प्राप्त हुई थी, इसीलिए वह जिस दिन जिस घरमें भोजन ग्रहण करता था उस दिन उस घरमें अन्न अक्षय हो जाता था--चक्रवर्तीके कटकको भोजन करानेपर भी वह भोजन क्षीण नहीं होता था। सो ठीक ही है, वास्तवमें तपा हुआ महान् तप अविनाशी फलको फलता ही है ॥ ८८ ॥

विशुद्धभावनः सम्यग् विशुद्ध्यन् स्वविशुद्धिभिः । तदोपशमश्रेणीमारुरोह मुनीश्वरः ॥ ८९ ॥

विशुद्ध भावनाओंको धारण करनेवाले वज्रनाभि मुनिराज जब अपने विशुद्ध परिणामोंसे उत्तरोत्तर विशुद्ध हो रहे थे तब वे उपशम श्रेणीपर आरूढ़ हुए ॥ ८९ ॥

अपूर्वकरणं प्राप्याप्यनिवृत्तिकरणोऽभवत् । स सूक्ष्मरागः संप्रापदुपशान्तकषायताम् ॥ ९० ॥

वे अधःकरणके बाद आठवें अपूर्वकरणका आश्रय कर नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानको प्राप्त हुए और उसके बाद जहाँ राग अत्यन्त सूक्ष्म रह जाता है ऐसे सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानको प्राप्त कर उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानको प्राप्त हुए, जहाँ उनका मोहनीय कर्म बिलकुल ही उपशान्त हो गया था ॥ ९० ॥

कृत्स्नस्य मोहनीयस्य प्रशमादुपपादितम् । तत्रौपशमिकं प्राप चारित्रं सुविशुद्धिमत् ॥ ९१ ॥

सम्पूर्ण मोहनीय कर्मका उपशम हो जानेसे वहाँ उन्हें अतिशय विशुद्ध औपशमिक चारित्र प्राप्त हुआ ॥ ९१ ॥

सोऽन्तर्मुहूर्तादू भूयोऽपि स्वस्थानस्थोऽभवद् यतिः । नातो मुहूर्तात् तत्रास्ति निसर्गात् स्थितिश्चात्मनः ॥ ९२ ॥

अन्तर्मुहूर्तके बाद वे मुनि फिर भी स्वस्थान अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थानमें स्थित हो गये अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्त ठहरकर वहाँसे च्युत हो उसी गुणस्थानमें आ पहुँचे जहाँसे कि आगे बढ़ना शुरू किया था। उसका खास कारण यह है कि ग्यारहवें गुणस्थानमें आत्माकी स्वाभाविक स्थिति अन्तर्मुहूर्तसे आगे है ही नहीं ॥ ९२ ॥

सोऽबुद्ध परमं ध्यानं सोऽबुद्ध परमं तपः । सोऽबुद्ध परमामिष्टिं सोऽबुद्ध परमं पदम् ॥ ९३ ॥

मुनिराज वज्रनाभि उत्कृष्ट ध्यानको जानते थे, उत्कृष्ट तपको जानते थे, उत्कृष्ट पूजाको जानते थे और उत्कृष्ट पद (सिद्धपद) को जानते थे ॥ ९३ ॥

> ततः कालात्यये धीमान् श्रीप्रभाद्रौ समुन्नते । प्रायोपवेशनं कृत्वा शरीराहारमत्यजत् ॥ ९४ ॥

तत्पश्चात् आयुके अन्त समयमें उस बुद्धिमान् वज्रनाभिने श्रीप्रभ नामक ऊँचे पर्वतपर प्रायोपवेशन (प्रायोपगमन नामका संन्यास) धारण कर शरीर और आहारसे ममत्व छोड़ दिया ॥ ९४ ॥

> रत्नत्रयमयीं शय्यामधिशय्य तपोनिधिः । प्रायेणोपविशन्त्यस्मिन्नित्यन्वर्थमभाषिपत् ॥ ९५ ॥

चूँकि इस संन्यासमें तपस्वी साधु रत्नत्रयरूपी शय्यापर उपविष्ट होता है--बैठता है, इसलिए इसका प्रायोपवेशन नाम सार्थक है ॥ ९५ ॥

> प्रायेणोपगमो यस्मिन् रत्नत्रितयगोचरः । प्रायेणापगमो यस्मिन् दुरितारिकदम्बकात् ॥ ९६ ॥

इस संन्यासमें अधिकतर रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है इसलिए इसे प्रायेणोपगम भी कहते हैं। अथवा इस संन्यासके धारण करनेपर अधिकतर कमरूपी शत्रुओंका अपगम (नाश) हो जाता है इसलिए इसे प्रायेणापगम भी कहते हैं ॥ ९६ ॥

> प्रायेणास्मादशनस्थानादपसृत्य गमोऽटवेः । प्रायोपगमनं चेति तस्य नाम प्रचक्षते ॥ ९७ ॥

उसके रहस्यको जानकर उत्तम मुनियोंने इस संन्यासका एक नाम प्रायोपगमन भी बतलाया है और उसका अर्थ यह कहा है कि जिसमें प्रायः करके (अधिकतर) संसारी जीवोंके रहने योग्य नगर, ग्राम आदिसे हटकर निर्जन वनमें जाना पड़े उसे प्रायोपगमन कहते हैं ॥ ९७ ॥

> स्वपरोपकृतां देहे नापेक्षेताप्रतिक्रियाम् । रिपोरिव शवं त्यक्त्वा देहमास्त निराकुलः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार प्रायोपगमन संन्यास धारण कर वज्रनाभि मुनिराज अपने शरीरका न तो स्वयं ही कुछ उपचार करते थे और न किसी दूसरेसे ही उपचार करानेकी चाह रखते थे। वे तो शरीरसे ममत्व छोड़कर उस प्रकार निराकुल हो गये थे जिस प्रकार कि कोई शत्रु मृतक शरीरको छोड़कर निराकुल हो जाता है ॥ ९८ ॥

त्वगस्थिभूतसर्वाङ्गो मुनिः परिकृशोदरः । सत्त्वमेवावलम्ब्यास्थाद् बहुयात्रानकम्पधीः ॥ ९९ ॥

यद्यपि उस समय उनके शरीरमें चमड़ा और हड्डी ही शेष रह गयी थी एवं उनका उदर भी अत्यन्त कृश हो गया था तथापि वे अपने स्वाभाविक धैर्यका अवलम्बन कर बहुत दिन तक निश्चलचित्त होकर बैठे रहे ॥ ९९ ॥

क्षुधं पिपासां शीतं च तथोष्णं दंशमक्षिकम् । नाग्न्यं तथाऽरतिं स्त्रैणं चर्यां शय्यां निषद्यकाम् ॥ १०० ॥

मुनिमार्गसे च्युत न होने और कर्मोंकी भारी निर्जरा होनेकी इच्छा करते हुए वज्रनाभि मुनिराजने क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नाग्न्य (नग्नता), अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, निषद्या ॥ १०० ॥

आदिपुराण - पर्व ११ (श्लोक १०१ - २२१)

आक्रोशं वधनं चैव तथाऽलाभमदर्शनम् । रोगं च सतृणस्पर्शं प्रज्ञाऽज्ञाने मलं तथा ॥ १०१ ॥

आक्रोश, वध, अलाभ, अदर्शन, रोग, तृणस्पर्श, प्रज्ञा, अज्ञान, मल ॥ १०१ ॥

सत्कारपुरस्कारमसोढेतान् परीषहान् । मार्गाच्यवनमाशंसुर्महतीं निर्जरामपि ॥ १०२ ॥

और सत्कार-पुरस्कार—ये बाईस परीषह मुनिमार्गमें स्थिर रहने और महान् निर्जरा करनेके उद्देश्यसे सहन किये ॥ १०२ ॥

स भेजे क्षान्तिमुत्कृष्टां मार्दवं च तथार्जवम् । शौचं सत्यं तथा संयमं तपस्त्यागं च निष्क्रयः ॥ १०३ ॥

बुद्धिमान्, मदरहित और निष्परिग्रही वज्रनाभि मुनिने उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप और त्याग ॥ १०३ ॥

आकिञ्चन्यमथो ब्रह्मानुष्ठाने च वदतां वरः । धर्मोऽयं दशधा ख्यातो गणेशैरभिसम्मतः ॥ १०४ ॥

तथा आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य—ये वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनिराजने दस धर्म धारण किये, जो कि गणधरोंके द्वारा अत्यन्त सम्मत (इष्ट) हैं ॥ १०४ ॥

सोऽन्विच्छन्ननित्यत्वं सुखायुर्बलसंपदाम् । तथाऽशरणतां चापि जन्ममृत्युजराभये ॥ १०५ ॥

वे प्रति समय अनित्य और अशरण भावनाका चिन्तन करते थे कि संसारके सुख, आयु, बल और सम्पदाएँ सभी अनित्य हैं, तथा मृत्यु, बुढ़ापा और जन्मका भय उपस्थित होनेपर जीवोंको कोई शरण नहीं है ॥ १०५ ॥

संसृतेर्दुःस्वभावत्वं विचित्रपरिवर्तनैः । एकत्वमात्मनो ज्ञानदर्शनात्मत्वमीयुषः ॥ १०६ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप विचित्र परिवर्तनोंके कारण यह संसार अत्यन्त दुःखरूप है (संसार भावना), तथा ज्ञान-दर्शनात्मक स्वभावको प्राप्त होनेवाला आत्मा सदा अकेला रहता है (एकत्व भावना) ॥ १०६ ॥

अन्यत्वमात्मनो देहधनबन्धुकलत्रतः । तथाऽशौचं शरीरस्य नवद्वारमलस्रुतः ॥ १०७ ॥

शरीर, धन, बन्धु और स्त्री आदिसे यह आत्मा सर्वथा भिन्न है (अन्यत्व भावना), तथा इस शरीरके नव द्वारोंसे सदा मल झरता रहता है इसलिए यह सर्वथा अपवित्र है (अशुचि भावना) ॥ १०७ ॥

आस्रवं पुण्यपापात्मकर्मणां सह संवरम् । निर्जरां विपुलां बोधेर्दुर्लभत्वं भवाम्बुधौ ॥ १०८ ॥

जीवके पुण्य-पापरूप कर्मोंका आस्रव होता रहता है (आस्रव भावना), गुप्ति-समिति आदिसे उन कर्मोंका संवर होता है (संवर भावना), तपसे विपुल निर्जरा होती है (निर्जरा भावना), तथा संसार-समुद्रमें बोधि (रत्नत्रय) की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है (बोधिसुलभ भावना) ॥ १०८ ॥

धर्मस्वाख्याततां चेति तत्त्वानुध्यानभावनाः । लेश्याविशुद्धिमधिकां दधानः शुभभावनः ॥ १०९ ॥

और जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा हुआ धर्म ही जीवोंका सच्चा कल्याण करनेवाला है (धर्म भावना तथा लोक भावना)। इस प्रकार तत्त्वोंका चिन्तन करते हुए उन्होंने बारह भावनाओंको भाया। उस समय शुभ भावोंको धारण करनेवाले वे मुनिराज लेश्याओंकी अतिशय विशुद्धिको धारण कर रहे थे ॥ १०९ ॥

द्वितीयवारमारुह्य श्रेणीमुपशमादिकाम् । पृथक्त्ववितर्कमापूर्य समाधिं परमं श्रितः ॥ ११० ॥

वे द्वितीय बार उपशम श्रेणीपर आरूढ़ हुए और पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यानको पूर्ण कर उत्कृष्ट समाधिको प्राप्त हुए ॥ ११० ॥

उपशान्तगुणस्थाने कृतप्राणविसर्जनः । सर्वार्थसिद्धिमभ्येत्य भेजे सोऽहमहमिन्द्रताम् ॥ १११ ॥

अन्तमें उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें प्राण छोड़कर सर्वार्थसिद्धि पहुँचे और वहाँ अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुए ॥ १११ ॥

> द्विष्ट्कयोजनैर्लोकप्रान्तमप्राप्य यत्स्थितम् । सर्वार्थसिद्धिनामाग्र्यं विमानं तदनुत्तरम् ॥ ११२ ॥

यह सर्वार्थसिद्धि नामका विमान लोकके अन्तभागसे बारह योजन नीचे, सबसे अग्रभागमें स्थित और सबसे उत्कृष्ट अनुत्तर विमान है ॥ ११२ ॥

> जम्बूद्वीपसमायामविस्तारपरिमण्डलम् । त्रिषष्टिपटलप्रान्ते चूडारत्नमिव स्थितम् ॥ ११३ ॥

इसकी लम्बाई, चौड़ाई और परिधि (गोलाई) जम्बूद्वीपके बराबर है। यह स्वर्गके तिरसठ पटलोंके अन्तमें चूडामणि रत्नके समान स्थित है ॥ ११३ ॥

> यत्रोत्पन्नवतामर्थाः सिद्ध्यन्त्ययत्नतः । इति सर्वार्थसिद्ध्याख्यां यद् बिभ्रत्यर्थयोगिनाम् ॥ ११४ ॥

चूँकि उस विमानमें उत्पन्न होनेवाले योगियोंके सब मनोरथ बिना किसी प्रयत्नके अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं इसलिए वह 'सर्वार्थसिद्धि' इस सार्थक नामको धारण करता है ॥ ११४ ॥

> महाधिष्ठानमुत्तुङ्गशिखरोल्लासिकेतनैः । समाह्वयिवाभाति यन्मुनीन् सुखदित्सया ॥ ११५ ॥

वह विमान बहुत ही ऊँचा है तथा अपने उत्तुंग शिखरोंपर फहराती हुई पताकाओंसे ऐसा शोभायमान है मानो सुख देनेकी इच्छासे मुनियोंको बुला ही रहा हो ॥ ११५ ॥

> इन्द्रनीलमयीं यत्र भुवं पुष्पोपहारिणीम् । दृष्ट्वा तारकितं व्योम स्मरन्ति स्म दिवौकसः ॥ ११६ ॥

जिसपर अनेक फूल बिखरे हुए हैं ऐसी वहाँकी नीलमणिकी बनी हुई भूमिको देखकर देवतालोगोंको तारोंसे व्याप्त आकाशका स्मरण हो आता है ॥ ११६ ॥

देवानां प्रतिबिम्बानि धारयन्त्यभ्रकासति । सिसृक्षत इवापूर्वं स्वर्गं यन्मणिभित्तयः ॥ ११७ ॥

देवोंके प्रतिबिम्बोंको धारण करनेवाली वहाँकी मणियोंकी दीवारें ऐसी जान पड़ती हैं मानो किसी नये स्वर्गकी सृष्टि ही करना चाहती हों ॥ ११७ ॥

किरणैर्यत्र रत्नानां तमो धूतं विदूरतः । नूनं न कुरुते सङ्घं निर्मला मलिनैः सह ॥ ११८ ॥

वहाँपर रत्नोंकी किरणोंसे अन्धकार दूर भगा दिया गया है, सो ठीक ही है, वास्तवमें निर्मल पदार्थ मलिन पदार्थोंके साथ संगति नहीं करते हैं ॥ ११८ ॥

रत्नांशुभिर्जटिलितैर्यत्र शक्रशरासनम् । पर्यन्ते मण्डलं दीप्तं प्राकारस्य विडम्बयेत् ॥ ११९ ॥

उस विमानके चारों ओर रत्नोंकी किरणोंसे जो इन्द्रधनुष बन रहा है उससे ऐसा आभास होता है मानो चारों ओर चमकीला परकोटा (कोट) ही बनाया गया है ॥ ११९ ॥

लम्बिताः पुष्पमालाश्च यत्र कान्ताः सुगन्धयः । सौमनस्यमिवेन्द्राणां सूचयन्त्योऽतिकोमलाः ॥ १२० ॥

वहाँपर लटकती हुई सुगन्धित और अतिशय कोमल फूलोंकी मालाएँ ऐसी सुशोभित होती हैं मानो वहाँके इन्द्रोंके सौमनस्य (प्रसन्नता / उत्तम मन) को ही सूचित कर रही हों ॥ १२० ॥

मुक्तामयानि दामानि यत्राभान्ति निरन्तरम् । विस्पष्टदशनांशूनि हसितानीव तच्छ्रियः ॥ १२१ ॥

उस विमानमें निरन्तर रूपसे लगी हुई मोतियोंकी मालाएँ ऐसी जान पड़ती हैं मानो दाँतोंकी स्पष्ट किरणोंसे शोभायमान वहाँकी लक्ष्मीका हास्य ही हो ॥ १२१ ॥

इत्यकृत्रिमनिःशेषपरार्ध्यरचनाञ्चिते । तत्रोपपादशयने पर्याप्तिं स जगाम वै ॥ १२२ ॥

इस प्रकार अकृत्रिम और समस्त श्रेष्ठ रचनाओंसे सुशोभित उस विमानमें उपपाद-शय्यापर वह देव क्षण-भरमें पर्याप्तियोंको प्राप्त हो गया ॥ १२२ ॥

> दोषधातुमलस्पर्शवर्जितं चारुलक्षणम् । क्षणादाविरभूदस्य रूपमापूर्णयौवनम् ॥ १२३ ॥

दोष, धातु और मलके स्पर्शसे रहित, सुन्दर लक्षणोंसे युक्त तथा पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त हुआ उसका शरीर क्षण-भरमें ही प्रकट हो गया ॥ १२३ ॥

> अम्लानशोभमस्याभाद् वपुरव्याजसुन्दरम् । दृशोरुत्सवमातन्वदमृतेनेव निर्मितम् ॥ १२४ ॥

जिसकी शोभा कभी म्लान नहीं होती, जो स्वभावसे ही सुन्दर है और जो नेत्रोंको आनन्द देनेवाला है ऐसा उसका शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानो अमृतके द्वारा ही बनाया गया हो ॥ १२४ ॥

> शुभाः सुगन्धयः श्लक्ष्णा लोके ये केवलाणवः । तैरेवास्य देहनिर्माणमभूत् पुण्यानुभावतः ॥ १२५ ॥

इस लोकमें जो शुभ, सुगन्धित और चिकने परमाणु थे, पुण्योदयके कारण उन्हीं परमाणुओंसे उसके शरीरकी रचना हुई थी ॥ १२५ ॥

> पर्याप्त्यनन्तरं शय्यामावसन् कान्तिभिर्वृतः । अशोभत नभोरङ्गे शशीवाखण्डमण्डलः ॥ १२६ ॥

पर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद उपपाद-शय्यापर अपने ही शरीरकी कान्तिरूपी चाँदनीसे घिरा हुआ वह अहमिन्द्र ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि आकाशमें चाँदनीसे घिरा हुआ पूर्णमण्डल चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥ १२६ ॥

> अङ्कन्यस्तः स तच्छत्पमावसन् क्षणमाबभौ । गङ्गासैकतमाश्रित्य तरुणो हंसराडिव ॥ १२७ ॥

उस उपपाद-शय्यापर बैठा हुआ वह दिव्यहंस (अहमिन्द्र) क्षण-मात्र तक ऐसा शोभायमान होता रहा जैसा कि गंगा नदीके बालूके टीलेपर अकेला बैठा हुआ तरुण हंस शोभायमान होता है ॥ १२७ ॥

सिंहासनमथाभ्यर्णमलंकुर्वन्नभादसौ । मण्डलं निषधोत्सङ्गमिव भानुमान् ॥ १२८ ॥

उत्पन्न होनेके बाद वह अहमिन्द्र निकटवर्ती सिंहासनको अलंकृत करता हुआ ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि निषध पर्वतके मध्यभागपर आश्रित हुआ सूर्य शोभायमान होता है ॥ १२८ ॥

स्वपुण्याम्भःपयोराशावभ्यषेचि न केवलम् । अलंचक्रे च शारीरैर्गुणैरिव विभूषणैः ॥ १२९ ॥

वह अहमिन्द्र केवल अपने पुण्यरूपी जलके द्वारा ही अभिषिक्त नहीं हुआ था, किन्तु शारीरिक गुणोंके समान अनेक दिव्य आभूषणोंसे भी अलंकृत हुआ था ॥ १२९ ॥

सोऽधिवक्षःस्थलं दध्रे स्रजमेव न केवलम् । सहजां दिव्यलक्ष्मीं च यावदायुरविप्लुताम् ॥ १३० ॥

उसने अपने वक्षःस्थलपर केवल दिव्य माला ही धारण नहीं की थी, किन्तु जीवनपर्यन्त नष्ट न होनेवाली, साथ-साथ उत्पन्न हुई स्वर्गकी सहज लक्ष्मी भी धारण की थी ॥ १३० ॥

अस्नातलिप्तदीप्ताङ्गः सहजाम्बरभूषणः । सोऽद्योतत दिवौकसां द्युलोकैकशिखामणिः ॥ १३१ ॥

स्नान और विलेपनके बिना ही जिसका शरीर सदा देदीप्यमान रहता है और जो साथ-साथ उत्पन्न हुए दिव्य वस्त्र तथा आभूषणोंसे शोभायमान है, ऐसा वह अहमिन्द्र देवोंके अग्रभागमें ऐसा सुशोभित होता था मानो स्वर्गलोकका अद्वितीय शिखामणि अथवा सूर्य ही हो ॥ १३१ ॥

शुचिस्फटिकनिर्मासिनिर्मलोदारविग्रहः । स बभौ प्रज्वलन्मौलिः पुण्यराशिरिवोच्छिखः ॥ १३२ ॥

जिसका निर्मल और उत्कृष्ट शरीर शुद्ध स्फटिकके समान अत्यन्त शोभायमान था तथा जिसके मस्तकपर देदीप्यमान मुकुट शोभायमान हो रहा था, ऐसा वह अहमिन्द्र मानो ऊँची उठी हुई शिखावाली पुण्यकी राशिके समान सुशोभित होता था ॥ १३२ ॥

किरीटाङ्गदकेयूरकुण्डलादिपरिष्कृतः । स्रग्वी वस्त्रधरो धीमान् दध्रे कल्पद्रुमश्रियम् ॥ १३३ ॥

वह अहमिन्द्र मुकुट, बाजूबन्द, केयूर और कुण्डल आदि आभूषणोंसे सुशोभित था, मालाएँ और दिव्य वस्त्र धारण किये हुए था तथा स्वयं शोभासे सम्पन्न था, इसलिए किसी कल्पवृक्षकी शोभा धारण कर रहा था ॥ १३३ ॥

> अणिमादिगुणैः श्लाघ्यां दधद् वैक्रियिकीं तनुम् । स्वक्षेत्रे विजहारासौ जिनेन्द्रार्चाः समर्चयन् ॥ १३४ ॥

अणिमा, महिमा आदि गुणोंसे प्रशंसनीय वैक्रियिक शरीरको धारण करनेवाला वह अहमिन्द्र जिनेन्द्रदेवकी अकृत्रिम प्रतिमाओंकी पूजा करता हुआ अपने ही क्षेत्रमें विहार करता था ॥ १३४ ॥

> सङ्कल्पमात्रसंसिद्धैर्दिव्यैर्गन्धाक्षतादिभिः । पुण्यानुबन्धिनीं पूजां जिनेशस्य व्यधाद् विभुः ॥ १३५ ॥

और संकल्प-मात्रसे प्राप्त हुए दिव्य गन्ध, अक्षत आदिके द्वारा विधिवत् पुण्यानुबन्धी पुण्यको बढ़ानेवाली श्री जिनदेवकी पूजा करता था ॥ १३५ ॥

> तत्रस्थ एव चाशेषभुवनोदरवर्तिनीः । आनर्चार्चा जिनेन्द्राणां सोऽग्रणीः पुण्यकर्मणाम् ॥ १३६ ॥

वह अहमिन्द्र पुण्यात्मा जीवोंमें सबसे प्रधान था, इसलिए उसी सर्वार्थसिद्धि विमानमें स्थित रहकर ही समस्त लोकके मध्यवर्ती प्रदेशोंमें विद्यमान जिनप्रतिमाओंकी पूजा करता था ॥ १३६ ॥

> जिनार्चास्तुतिवादेषु वाचं चित्तं तद्गुणे । वपुः प्रणमने तस्य पुण्यधीः स न्ययोजयत् ॥ १३७ ॥

उस पुण्यात्मा अहमिन्द्रने अपने वचनोंकी प्रवृत्ति जिनप्रतिमाओंके स्तवन करनेमें लगायी थी, अपना मन उनके गुणोंके चिन्तन करनेमें लगाया था और अपना शरीर उन्हें नमस्कार करनेमें लगाया था ॥ १३७ ॥

> धर्मगोष्ठीष्वनाहूतमिलितैः स्वसमर्द्धिभिः । संभाषणादरोऽस्यासीदहमिन्द्रैः शुभेच्छुभिः ॥ १३८ ॥

धर्मगोष्ठियोंमें बिना बुलाये सम्मिलित होनेवाले, अपने ही समान ऋद्धियोंको धारण करनेवाले और शुभ भावोंसे युक्त अन्य अहमिन्द्रोंके साथ संभाषण करनेमें उसे बड़ा आदर होता था ॥ १३८ ॥

क्षालयन्निव दिग्भित्तीः स्मितांशुसलिलप्लवैः । सहाहमिन्द्रैरुद्दण्डैः स चक्रे धर्मसंकथाम् ॥ १३९ ॥

अतिशय शोभाका धारक वह अहमिन्द्र कभी तो अपने मन्दहास्यकी किरणरूपी जलके पूरोंसे दिशारूपी दीवारोंको प्रक्षालित करता हुआ अन्य अहमिन्द्रोंके साथ धर्मचर्चा (तत्त्वचर्चा) करता था ॥ १३९ ॥

स्वावासोपान्तिकोद्यानसरःपुलिनभूमिषु । दिव्यहंसश्चिरं रेमे विहरन् स यदृच्छया ॥ १४० ॥

और कभी अपने निवासस्थानके समीपवर्ती उपवनके सरोवरके तटवर्ती बालूके टीलोंपर दिव्य राजहंसके समान अपनी इच्छानुसार स्वच्छन्द विहार करता हुआ चिरकाल तक क्रीड़ा करता था ॥ १४० ॥

परक्षेत्रविहारस्तु नाहमिन्द्रेषु विद्यते । शुक्ललेश्यानुभावेन स्वैर्भोगैस्तृप्तिमापुषाम् ॥ १४१ ॥

अहमिन्द्रोंका परक्षेत्रमें विहार नहीं होता, क्योंकि परम विशुद्ध शुक्ललेश्याके प्रभावसे वे अपने ही भोगोंके द्वारा परम सन्तोषको प्राप्त रहते हैं ॥ १४१ ॥

स्वस्थाने या च संप्रीतिर्निरपायसुखोदये । न साऽन्यत्र ततोऽमीषां न स्पृहा परभूमिषु ॥ १४२ ॥

अहमिन्द्रोंको अपने उपद्रवरहित सुखमय स्थानमें जो उत्तम प्रीति होती है वह अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त हो सकती, यही कारण है कि उनकी परक्षेत्रमें जानेकी तनिक भी इच्छा नहीं होती ॥ १४२ ॥

अहमिन्द्रोऽस्मि नेन्द्रोऽन्यो ममेत्येवं परस्परम् । अहमिन्द्राख्यया ख्यातिं गतास्ते हि सुरोत्तमाः ॥ १४३ ॥

'मैं ही इन्द्र हूँ, मेरे सिवाय अन्य कोई इन्द्र नहीं है' इस प्रकार सब समान होनेसे वे अपनेमें अहम्-इन्द्र पदका अनुभव करते हैं और इसीलिए वे उत्तम देव 'अहमिन्द्र' नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥ १४३ ॥

नासूया परनिन्दा वा नात्मश्लाघा न मत्सरः । केवलं सुखसाद्भूता दीव्यन्ते ते प्रमोदिनः ॥ १४४ ॥

उन अहमिन्द्रोंके न तो परस्परमें असूया है, न परनिन्दा है, न आत्मप्रशंसा है और न ईर्ष्या ही है। वे केवल सुखमय होकर हर्षयुक्त होते हुए निरन्तर क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ १४४ ॥

> स एष परमानन्दं बिभ्राणश्चात्मसंभवम् । त्रयस्त्रिंशत्पयोराशिप्रमितायुर्महाद्युतिः ॥ १४५ ॥

वह वज्रनाभिका जीव अहमिन्द्र अपने आत्माके अधीन उत्पन्न हुए उत्कृष्ट परमानन्दको धारण करता था, तेतीस सागर प्रमाण उसकी आयु थी और स्वयं अतिशय देदीप्यमान था ॥ १४५ ॥

> समेन चतुरस्रेण संस्थानेनातिसुन्दरम् । हस्तमात्रोच्छ्रितं रूपं हंसाभं धवलं दधौ ॥ १४६ ॥

वह समचतुरस्र संस्थानसे अत्यन्त सुन्दर, एक हाथ ऊँचे और हंसके समान श्वेत वर्णवाले दिव्य शरीरको धारण करता था ॥ १४६ ॥

> सहजांशुकस्रग्भूषाविभूषाभिरलंकृतम् । सौन्दर्यस्येव संदोहं दधानो रुचिरं वपुः ॥ १४७ ॥

वह साथ-साथ उत्पन्न हुए दिव्य वस्त्र, दिव्य माला और दिव्य आभूषणोंसे विभूषित जिस मनोहर शरीरको धारण करता था वह ऐसा जान पड़ता था मानो सौन्दर्यका समूह ही हो ॥ १४७ ॥

> प्रशस्तललितोदात्तधीरनेपथ्यविभ्रमः । स्वदेहप्रसरज्ज्योत्स्नाक्षीराब्धौ मग्नविग्रहः ॥ १४८ ॥

उस अहमिन्द्रकी वेशभूषा तथा विलास-चेष्टाएँ अत्यन्त प्रशस्त, ललित (मनोहर), उदात्त (उत्कृष्ट) और धीर थीं। इसके सिवाय वह स्वयं अपने शरीरकी फैलती हुई प्रभारूपी क्षीरसागरमें सदा निमग्न रहता था ॥ १४८ ॥

> स्फुरदाभरणोद्योतद्योतिताखिलदिङ्मुखः । तेजोराशिरिवैकध्यमुपनीतोऽतिभास्वरः ॥ १४९ ॥

जिसने अपने चमकते हुए आभूषणोंके प्रकाशसे दसों दिशाओंको प्रकाशित कर दिया था ऐसा वह अहमिन्द्र ऐसा जान पड़ता था मानो एकत्र हुआ अतिशय प्रकाशमान तेजका पुंज ही हो ॥ १४९ ॥

विशुद्धलेश्यः श्वेताङ्गदेहदीधितिदिग्दिधुक् । सौधेनेव रसेनाप्तनिर्माणः सुखनिर्वृतः ॥ १६० ॥

वह परम विशुद्ध लेश्याका धारक था और अपने शरीरकी शुद्ध तथा श्वेत प्रकाशमान किरणोंसे दसों दिशाओंको लिप्त करता था, इसलिए सदा सुखी रहनेवाला वह अहमिन्द्र ऐसा मालूम होता था मानो अमृतरसके द्वारा ही बनाया गया हो ॥ १६० ॥

सुधाशिनां सुनासीरप्रमुखाणामगोचरम् । संप्राप्तः परमानन्दप्रदं पदमनुत्तरम् ॥ १६१ ॥

इस प्रकार वह अहमिन्द्र ऐसे उत्कृष्ट पदको प्राप्त हुआ जो सौधर्मादि इन्द्रोंके भी अगोचर है, परमानन्द देनेवाला है और सबसे श्रेष्ठ अनुत्तर पद है ॥ १६१ ॥

त्रिसहस्राधिकत्रिंशत्सहस्राब्दव्यतिक्रमे । मानसं दिव्यमाहारमदत्ते धृतिमान् यतिः ॥ १६२ ॥

वह अहमिन्द्र तेतीस हजार वर्ष व्यतीत होनेपर मानसिक दिव्य आहार ग्रहण करता हुआ धैर्य धारण करता था ॥ १६२ ॥

मासैः षोडशभिः पक्षदशमिश्च व्यतिक्रमैः । प्राप्तोच्छ्वासस्थितिस्तत्र सोऽहमिन्द्रोऽतरत् सुखम् ॥ १६३ ॥

और सोलह महीने पन्द्रह दिन व्यतीत होनेपर श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता था। इस प्रकार वह अहमिन्द्र वहाँ सर्वार्थसिद्धिमें सुखपूर्वक निवास करता था ॥ १६३ ॥

लोकनाडीगतं योग्यं मूर्त्तद्रव्यं सपर्ययम् । स्वावधिज्ञानदीपेन द्योतयन् सोऽच्युतोऽभवत् ॥ १६४ ॥

अपने अवधिज्ञानरूपी दीपकके द्वारा त्रसनालीमें रहनेवाले जानने योग्य रूपी (मूर्तिक) पदार्थोंको उनकी पर्यायोंसहित प्रत्यक्ष प्रकाशित करता हुआ वह अहमिन्द्र अतिशय शोभायमान होता था ॥ १६४ ॥

स्वक्षेत्रमात्रां विक्रियां कर्तुमस्य सामर्थ्यमस्त्यभूत् । वीतरागस्तु तन्नेच्छेद् यते निष्प्रयोजनम् ॥ १६५ ॥

उस अहमिन्द्रके अपने अवधिज्ञानके क्षेत्र बराबर विक्रिया करनेकी भी सामर्थ्य थी, परन्तु वह रागरहित वीतराग होनेके कारण बिना प्रयोजन कभी विक्रिया नहीं करता था ॥ १९५ ॥

> नलिनोपमं मुखं तस्य नेत्रे नीलोत्पलोपमे । कपोलाविन्दुसच्छायौ बिम्बकान्तिधरोऽधरः ॥ १९६ ॥

उसका मुख कमलके समान था, नेत्र नीले कमलके समान थे, गाल चन्द्रमाके तुल्य कान्तिमान् थे और अधर पके हुए बिम्बफलकी कान्तिको धारण करता था ॥ १९६ ॥

> इत्यादिवर्णनातीतं वपुरस्यातिभास्वरम् । कामनीयकसर्वस्वमेकीभूतामिवावपुः ॥ १९७ ॥

अभीतक जितना वर्णन किया है उससे भी अधिक सुन्दर और अतिशय चमकीला उसका शरीर ऐसा शोभायमान होता था मानो एक जगह इकट्ठा किया गया सौन्दर्यका सर्वस्व (सार) ही हो ॥ १९७ ॥

> आहारकशरीरं यन्निर्लङ्कारप्रभास्वरम् । योगिनामृद्धिजं तेन सदृशमस्थाचकाद् वपुः ॥ १९८ ॥

छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंके आहारक ऋद्धिसे उत्पन्न होनेवाला और आभूषणोंके बिना ही देदीप्यमान रहनेवाला जो आहारक शरीर होता है, ठीक उसके समान ही उस अहमिन्द्रका शरीर देदीप्यमान हो रहा था (विशेषता इतनी ही थी कि वह आभूषणोंसे प्रकाशमान था) ॥ १९८ ॥

> एकान्तशान्तरूपं यत् सुखमाप्तेन निरूपितम् । तदैकध्यमिवापन्नमभूत्तस्मिन् सुरोत्तमे ॥ १९९ ॥

जिनेन्द्रदेवने जिस एकान्त और शान्तरूप सुखका निरूपण किया है, मालूम पड़ता है वह सभी सुख उस अहमिन्द्रमें जाकर एकत्र हुआ था ॥ १९९ ॥

> तेऽप्यष्टौ भ्रातरस्तस्य धनदेवोऽप्यनन्यधीः । जातास्तत्सदृशा एव देवाः पुण्यानुभावतः ॥ १६० ॥

वज्रनाभिके वे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सुबाहु, महाबाहु, पीठ और महापीठ नामके आठों भाई तथा एकाग्र बुद्धिका धारक धनदेव ये नौ जीव भी अपने पुण्यके प्रभावसे उसी सर्वार्थसिद्धिमें वज्रनाभिके समान ही अहमिन्द्र हुए ॥ १६० ॥

इति तत्राऽहमिन्द्रास्ते भुञ्जाना मोक्षसुखोपमम् । सुखं निष्प्रवीचाराश्चिरमासन् प्रमोदिनः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार उस सर्वार्थसिद्धिमें वे अहमिन्द्र मोक्षतुल्य सुखका अनुभव करते हुए प्रवीचार (स्त्री-संभोग) के बिना ही चिरकाल तक आनन्दित रहते थे ॥ १६१ ॥

पूर्वोक्तसप्रवीचारसुखादनन्तगुणात्मकम् । सुखमव्याहतं तेषां जायते पुण्योदयात् ॥ १६२ ॥

उन अहमिन्द्रोंके शुभ कर्मके उदयसे जो निर्बाध सुख प्राप्त होता है वह पहले कहे हुए प्रवीचारसहित सुखसे अनन्त गुना होता है ॥ १६२ ॥

संसारे स्त्रीसमासङ्गाद् भवेत् सुखसमागमः । तदभावे कुतस्तेषां सुखमित्यत्र चोद्यते ॥ १६३ ॥

यदि कोई ऐसा प्रश्न करे कि जब संसारमें स्त्री-समागमसे ही जीवोंको सुखकी प्राप्ति होती है तब उन अहमिन्द्रोंके स्त्री-समागम न होनेपर सुख कैसे हो सकता है? तो उसके समाधानके लिए इस प्रकार विचार किया जाता है ॥ १६३ ॥

या निर्वृतितामाप्ता शमुशन्तीह देहिनाम् । सा कथं स्यात् सरागाणां द्वन्द्वोपहतचेतसाम् ॥ १६४ ॥

चूँकि इस संसारमें जिनेन्द्रदेवने आकुलतारहित वृत्तिको ही सच्चा सुख कहा है, इसलिए वह सुख उन सरागी जीवोंके कैसे हो सकता है जिनके कि चित्त काम-द्वन्द्व आदि अनेक प्रकारकी आकुलताओंसे व्याकुल हो रहे हैं? ॥ १६४ ॥

नाऽशान्तो लभते चेतःसंमोहाद् गात्रसादनात् । तृष्णानुबन्धात् संतापरूपत्वाच्च यथा ज्वरः ॥ १६५ ॥

जिस प्रकार चित्तमें मोह उत्पन्न करनेसे, शरीरमें शिथिलता लानेसे, तृष्णा (प्यास) बढ़ानेसे और सन्तापरूप होनेसे ज्वर सुखरूप नहीं होता, उसी प्रकार चित्तमें मोह, शरीरमें शिथिलता, तृष्णा और सन्ताप बढ़ानेका कारण होनेसे कामज्वर भी सुखरूप नहीं हो सकता ॥ १६५ ॥

मदनज्वरसंतप्तस्तत्प्रतीकारवाञ्छया । स्त्रियं सेवते श्रान्तो यथा कद्वपि भेषजम् ॥ १६६ ॥

जिस प्रकार कोई रोगी पुरुष रोग दूर करनेके लिए कड़वी ओषधिका भी सेवन करता है, उसी प्रकार कामज्वरसे सन्तप्त हुआ यह प्राणी भी उस वेदनाको दूर करनेकी इच्छासे स्त्रीरूप ओषधिका सेवन करता है ॥ १६६ ॥

> मनोज्ञविषयास्वादस्तृष्णायै न वितृप्तये । तृष्णाग्निना च संतप्तः कथं नाम सुखी जनः ॥ १६७ ॥

मनोहर विषयोंका आस्वादन केवल तृष्णा बढ़ानेके लिए है न कि तृप्ति (सन्तोष) के लिए, तब तृष्णारूपी ज्वालासे सन्तप्त हुआ यह जीव सुखी कैसे हो सकता है? ॥ १६७ ॥

> तन्नौषधं यह्न रुजापघाताय तदौषधमनौषधम् । यन्नोदपादि तृष्णाया विघाताय न तज्जलं जलम् ॥ १६८ ॥

जो ओषधि रोग दूर नहीं कर सके वह ओषधि नहीं अनौषधि है, और जो जल प्यास दूर नहीं कर सके वह जल नहीं है ॥ १६८ ॥

> न विहन्त्यापदं यच्च नार्थतस्तद्धनं धनम् । तथा तृष्णाच्छिदे यन्न न तद् विषयजं सुखम् ॥ १६९ ॥

जो धन आपत्तिको नष्ट नहीं कर सके वह यथार्थमें धन नहीं है, इसी प्रकार जो विषय-सुख तृष्णाको नष्ट नहीं कर सके वह सच्चा विषयजन्य सुख नहीं है ॥ १६९ ॥

> रुजामेव प्रतीकारो यत् स्त्रीसंभोगजं सुखम् । निर्व्याधिः स्वास्थ्यमापन्नः कुरुते किं नु भेषजम् ॥ १७० ॥

स्त्री-संभोगसे उत्पन्न हुआ सुख केवल कामरोगका प्रतीकार-मात्र है। क्या ऐसा मनुष्य भी ओषधि सेवन करता है जो रोगरहित है और स्वस्थ है? (भावार्थ--जिस प्रकार रोगरहित स्वस्थ मनुष्य ओषधिका सेवन किये बिना ही सुखी रहता है उसी प्रकार कामेच्छारहित वीतराग अहमिन्द्र स्त्री-संभोग न करता हुआ भी पूर्ण सुखी रहता है) ॥ १७० ॥

> न तत् स्वास्थ्यं सुखं नैतद् विषयेष्वनुरागिणाम् । ते हि पूर्वे तदारम्भे चान्ते च विदाहिनः ॥ १७१ ॥

विषयोंमें अनुराग करनेवाले जीवोंको जो सुख प्राप्त होता है वह उनका यथार्थ स्वास्थ्य नहीं है और न वह सच्चा सुख है, क्योंकि वे विषय सेवन करनेके पूर्व, सेवन करते समय और परिणाममें केवल सन्ताप ही देते हैं ॥ १७१ ॥

मनोनिर्वृत्तिमेवेह सुखं वाञ्छन्ति कोविदाः । तत्कुतो विषयान्धानां नित्यमायस्तचेतसाम् ॥ १७२ ॥

विद्वान् पुरुष उसी सुखको सच्चा सुख मानते हैं जिसमें कि विषयोंसे मनकी पूर्ण निवृत्ति हो जाती है, परन्तु ऐसा सुख उन विषयान्ध पुरुषोंको कैसे प्राप्त हो सकता है जिनका चित्त सदा विषयोंके लिए ही खेद-खिन्न बना रहता है? ॥ १७२ ॥

विषयानुभवे जातं यत् पराधीनमाश्रिणाम् । साबाधं सान्तरं बन्धकारणं दुःखमेव तत् ॥ १७३ ॥

विषयोंका अनुभव करनेपर प्राणियोंको जो सुख होता है वह पराधीन है, बाधाओंसे सहित है, सान्तर (अस्थिर) है और कर्मबन्धका कारण है, इसलिए वह सुख नहीं किन्तु दुःख ही है ॥ १७३ ॥

तृष्णापातमात्ररसिका विषया विषदारुणाः । तदुद्भूतं सुखं ज्ञेयं कण्डूकण्डूयनोपमम् ॥ १७४ ॥

ये विषय विषके समान अत्यन्त दारुण हैं जो कि सेवन करते समय ही अच्छे मालूम होते हैं। वास्तवमें उन विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख खाज खुजलानेके सुखके समान है (खुजलाते समय तो सुख होता है किन्तु बादमें तीव्र जलन और दुःख पैदा होता है) ॥ १७४ ॥

दग्धव्रणे यथा सान्द्रचन्दनद्रवचर्चनम् । किञ्चिदाश्वासजननं तथा विषयजं सुखम् ॥ १७५ ॥

जिस प्रकार जले हुए घावपर गाढ़े चन्दनका लेप कुछ थोड़ा-सा आराम उत्पन्न करता है, उसी प्रकार विषय-सेवनसे उत्पन्न हुआ सुख केवल थोड़ी देरका आश्वस्त भाव उत्पन्न करता है ॥ १७५ ॥

दुष्टव्रणे यथा क्षारशस्त्रपाताद्युपक्रमः । प्रतीकारो रुजां जन्तोस्तथा विषयसेवनम् ॥ १७६ ॥

जिस प्रकार सड़े हुए घावपर क्षार या शस्त्र चलानेका उपक्रम केवल रोगके निवारणके लिए किया जाता है, उसी प्रकार जीवोंका विषय-सेवन केवल कामरूप रोगका प्रतीकार-मात्र है ॥ १७६ ॥

प्रियाङ्गनाङ्गसंसर्गाद् यदीह सुखमङ्गिनाम् । ननु पक्षिम्मृगादीनां तिरश्चामस्तु तत्सुखम् ॥ १७७ ॥

यदि इस संसारमें प्रिय स्त्रीके अंगोंके संसर्गसे ही जीवोंको सुख होता हो, तो वह सुख पक्षी, मृग आदि तिर्यञ्चोंको भी समान रूपसे होना चाहिए ॥ १७७ ॥

> शुनीमिन्द्रमहे पूतिव्रणीभूतकुयोनिकाम् । स्वच्छन्दं सेवमानः श्वा सुखी चेत् स्त्रीजुषां सुखम् ॥ १७८ ॥

यदि स्त्रीसेवन करनेसे सुख होता हो तो कार्तिकके महीनेमें दुर्गन्धयुक्त और व्रणोंसे भरी योनिवाली कुतियाको स्वच्छन्दतापूर्वक भोगनेवाला कुत्ता भी सुखी माना जाना चाहिए ॥ १७८ ॥

> निम्बद्रुमे यथोत्पन्नः कीटस्तिक्तं रसं पिबन् । मधुरं मन्यते तद्वत् तथा विषयिणोऽप्यमी ॥ १७९ ॥

जिस प्रकार नीमके वृक्षमें उत्पन्न हुआ कीड़ा उसके कड़वे रसको पीता हुआ भी उसे मीठा समझता है, उसी प्रकार संसारमें उत्पन्न हुए ये विषयी पुरुष भी विषय-भोगको सुख मानते हैं ॥ १७९ ॥

> संभोगजनितं खेदं सुखबुद्ध्या जुषन्त्यमी । अथात्र रतिमायान्ति श्वावस्करकीटकाः ॥ १८० ॥

ये संसारी जीव संभोगजनित दुःखको ही सुख मानकर उसकी सेवा करते हैं और उसीमें प्रीति पाते हैं, जैसे विष्ठाके कीड़े विष्ठाके दुर्गन्धित रसमें ही आनन्द मानते हैं ॥ १८० ॥

> विषयानुभवाद् जन्तो रतिमात्रं प्रजायते । रतिश्चेत् सुखमित्युक्तं तत् स्यान्मेध्यादनेऽपि च ॥ १८१ ॥

विषयोंका सेवन करनेसे प्राणियोंको केवल रति (आसक्ति) उत्पन्न होती है। यदि उस रतिको ही सुख मान लिया जाये तो विष्ठा आदि अपवित्र वस्तुओंके खानेमें भी सुख मानना पड़ेगा ॥ १८१ ॥

> यथामी रतिमासाद्य विषयाननुभुञ्जते । तथा श्वशूकरं कुलं तद् भुङ्क्तेऽमेध्यमद्भुतम् ॥ १८२ ॥

क्योंकि विषयी मनुष्य जिस प्रकार प्रीतिपूर्वक विषयोंका उपभोग करते हैं, उसी प्रकार कुत्ते और शूकरोंका समूह भी तो बड़े चावसे विष्ठा आदि अपवित्र वस्तुएँ खाता है ॥ १८२ ॥

गूथकीटस्य यद् भुक्तौ विष्ठायाः परमं सुखम् । तथा विषयानीप्सोः स्याद् जन्तोर्विगर्हितम् ॥ १८३ ॥

जिस प्रकार विष्ठाके कीड़ेको विष्ठाके रसका पान करना ही उत्कृष्ट सुख मालूम होता है, उसी प्रकार विषय-सेवनकी इच्छा करनेवाले प्राणीको भी निन्दनीय विषयोंका सेवन उत्कृष्ट सुख मालूम होता है ॥ १८३ ॥

विषयाननुभुञ्जानः स्तम्भी भवति सवेपथुः । श्वसन् प्रस्विन्नसर्वाङ्गः सुखी चेदत्र दुःख्यपि कः ॥ १८४ ॥

जो पुरुष विषयोंका उपभोग करता है उसका सारा शरीर काँपने लगता है, श्वास तीव्र हो जाती है और सारा शरीर पसीनेसे तर हो जाता है। यदि ऐसा प्राणी भी सुखी माना जाये तो फिर संसारमें दुःखी कौन होगा? ॥ १८४ ॥

आयासमात्रमत्राज्ञः सुखमित्यभिमन्यते । विषयाशाविमूढात्मा श्वेवास्थिदशनैर्दशन् ॥ १८५ ॥

जिस प्रकार सूखी हड्डीको दाँतोंसे चबाता हुआ कुत्ता परिश्रमको ही सुख मानता है (यद्यपि उसे कोई रस नहीं मिलता), उसी प्रकार विषयोंकी तृष्णासे मोहित हुआ अज्ञानी प्राणी भी विषय-भोगके परिश्रम-मात्रको ही सुख मान बैठता है ॥ १८५ ॥

अतः स्वाभाविकं कर्मक्षयात् तत्प्रशमादपि । यदाह्लादनमेतत् स्यात् सुखं नान्यव्यपाश्रयम् ॥ १८६ ॥

इसलिए कर्मोंके क्षयसे अथवा उपशमसे जो स्वाभाविक आत्मानन्द प्रकट होता है वही सच्चा सुख है, वह सुख बाह्य वस्तुओंके आश्रयसे कभी उत्पन्न नहीं हो सकता ॥ १८६ ॥

परिवारादिसामग्र्या स्यात् सुखं कल्पवासिनाम् । तदभावेऽहमिन्द्राणां कुतस्त्यमिति चेत् सुखम् ॥ १८७ ॥

यदि कोई कहे कि स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंको परिवार और ऋद्धि आदिकी सामग्रीसे सुख होता है, परन्तु अहमिन्द्रोंके वह बाह्य सामग्री नहीं है, अतः उसके अभावमें उन्हें सुख कहाँसे हो सकता है? ॥ १८७ ॥

परिवारादिसत्तामात्रं किं सुखं किमु तद्भजेत् । तत्सेवा सुखमित्येवमत्र स्याद् द्वितयी गतिः ॥ १८८ ॥

तो इसका समाधान यह है कि परिवार आदिकी सामग्रीकी सत्ता-मात्रसे सुख होता है अथवा उसके उपभोगसे? ये दो ही विकल्प हो सकते हैं ॥ १८८ ॥

सान्तःपुरो धनर्द्धीद्धपरिवारो ज्वरी नृपः । सुखी स्याद् यदि सन्मात्राद् विषयात् सुखमीप्सितम् ॥ १८९ ॥

यदि सामग्रीकी केवल सत्ता-मात्रसे ही सुख माना जाये तो उस राजाको भी सुखी होना चाहिए जिसके पास अन्तःपुरकी स्त्रियाँ, धन, ऋद्धि और परिवार विद्यमान हैं किन्तु जो तीव्र ज्वरसे पीड़ित है ॥ १८९ ॥

तत्सेवा सुखमित्यत्र दत्तमेवोत्तरं पुरा । तत्सेवी तीव्रमायस्तः कथं वा सुखभाग् भवेत् ॥ १९० ॥

और यदि कहो कि सामग्रीके उपभोगसे सुख होता है तो इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि परिवार आदिका उपभोग करनेवाला पुरुष तीव्र परिश्रम और आकुलतासे ग्रस्त रहता है, अतः वह सुखी कैसे हो सकता है? ॥ १९० ॥

पश्यैते विषयाः स्वप्नभोगाभा विप्रलम्भकाः । अनवस्थायुकाः कुतस्तेभ्यः सुखमार्थधियां नृणाम् ॥ १९१ ॥

देखो, ये विषय स्वप्नमें देखे गये भोगोंके समान क्षणभंगुर और धोखा देनेवाले हैं, इसलिए निरन्तर आर्तध्यानमें रहनेवाले मनुष्योंको उन विषयोंसे सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? ॥ १९१ ॥

विषयानर्जयन्नेव तावद् दुःखं महत् लभेत् । तद्रक्षाचिन्तने भूयो भवेदत्यन्तमार्त्तधीः ॥ १९२ ॥

पहले तो यह जीव विषयोंके उपार्जन करनेमें ही बड़ा भारी दुःख पाता है, और फिर उनके प्राप्त होनेपर उनकी रक्षाकी चिन्तामें निरन्तर आर्तध्यानसे पीड़ित रहता है ॥ १९२ ॥

तद् वियोगे पुनर्दुःखमपारं परिवर्तते । पूर्वानुभूतविषयान् स्मृत्वा स्मृत्वाऽवसीदति ॥ १९३ ॥

तदनन्तर उन विषयोंके नष्ट हो जानेपर अपार दुःख होता है, क्योंकि पहले भोगे हुए विषयोंका बार-बार स्मरण करके यह प्राणी बहुत ही दुःखी होता है ॥ १९३ ॥

अनाशितं भवानेतान् विषयान् धिगपायिनः । येषामासेवनं नैव संतापोपशान्तये ॥ १९४ ॥

जो कभी तृप्ति नहीं देते, विनाशशील हैं और जिनका सेवन जीवोंके संतापको शान्त नहीं कर सकता, ऐसे इन विषयोंको धिक्कार है ॥ १९४ ॥

वह्निरिवेन्धनैः क्षुब्धः स्रोतोभिरिव वारितैः । न जातु विषये जन्तोरुपभुक्तेर्वितृष्णता ॥ १९५ ॥

जिस प्रकार ईंधन डालनेसे अग्निकी ज्वाला शान्त नहीं होती और नदियोंके जलसे समुद्र कभी तृप्त नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए विषयोंसे कभी जीवोंकी तृष्णा दूर नहीं होती ॥ १९५ ॥

लवणाम्बु यथा पीत्वा तृष्यत्यतितरां नरः । तथा विषयसंभोगैः परां तृष्णां प्रगच्छति ॥ १९६ ॥

जिस प्रकार खारा पानी पीकर मनुष्य और भी अधिक प्यासा हो जाता है, उसी प्रकार यह जीव विषयोंके संभोगसे और भी अधिक तीव्र तृष्णाको प्राप्त हो जाता है ॥ १९६ ॥

अहो विषयिणां व्यापादिन्द्रियवशात्मनाम् । विषयामिषगृध्नुनामचिन्त्यं दुःखमापतेत् ॥ १९७ ॥

अहो, जिनकी आत्मा पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंके आधीन हो रही है और जो विषयरूपी मांसके लोभी हैं, ऐसे विषयी जीवोंको अचिन्त्य दुःखोंका सामना करना पड़ता है ॥ १९७ ॥

वने वनगजास्तुङ्गा यूथपाः प्रोन्मदिष्णवः । अवटे सोदन्ति करिणीस्पर्शमोहिताः ॥ १९८ ॥

वनोंमें बड़े-बड़े उत्तुंग और मदोन्मत्त जंगली हाथी, जो कि अपने यूथके अधिपति होते हैं, वे भी हथिनीके स्पर्शसे मोहित होकर गड्ढोंमें गिरकर दुःख पाते हैं (स्पर्शन इन्द्रियका दुष्परिणाम) ॥ १९८ ॥

वने सरसि संफुल्लकह्लारस्वादुवारिणि । मत्स्यो बडिशमासाद्य जीवनाशं प्रणश्यति ॥ १९९ ॥

जिसका जल खिले हुए कमलोंसे स्वादिष्ट हो रहा है ऐसे सरोवरमें स्वच्छन्द विचरनेवाली मछली बंसीमें लगे हुए मांसके लोभसे अपने प्राण गँवा बैठती है (रसना इन्द्रियका दुष्परिणाम) ॥ १९९ ॥

मधुव्रतो मदामोदमाजिघ्रन् मदहस्तिनाम् । मृत्युमाह्वयते गुञ्जन् कर्णतालाभिपादनैः ॥ २०० ॥

मदोन्मत्त हाथियोंके मदकी सुगन्धको सूँघनेवाला भौंरा गुंजार करता हुआ उन हाथियोंके कानोंके थपेड़ोंकी चोटसे मृत्युको प्राप्त होता है (घ्राण इन्द्रियका दुष्परिणाम) ॥ २०० ॥

शलभः पवनान्दोलदीपार्चिषि पतन् मुहुः । दग्धुमिच्छत्यनिच्छोऽपि कज्जलीकृतविग्रहः ॥ २०१ ॥

पतंगा वायुसे हिलती हुई दीपककी लौपर बार-बार गिरता है जिससे उसका शरीर काजलके समान काला जल जाता है और वह अनिच्छापूर्वक मृत्युको प्राप्त होता है (चक्षु इन्द्रियका दुष्परिणाम) ॥ २०१ ॥

यथेष्टगतिका दुष्टे मृदुस्वादुतृणाङ्कुरे । गीतासङ्गाद् वधं यान्ति वनेषु मृगयोषितः ॥ २०२ ॥

जो हरिणियाँ जंगलमें अपनी इच्छानुसार स्वच्छन्द घूमती हैं तथा कोमल और स्वादिष्ट तृणांकुर चरती हैं, वे भी शिकारीके गीतोंमें आसक्त होकर वधको प्राप्त हो जाती हैं (कर्ण इन्द्रियका दुष्परिणाम) ॥ २०२ ॥

इत्येकशोऽपि विषये विपदः स्युर्निषेविते । किं पुनर्विषयाः सर्वे सामस्त्येन निषेविताः ॥ २०३ ॥

इस प्रकार जब एक-एक इन्द्रियका विषय सेवन करनेपर इतनी बड़ी विपत्तियाँ आती हैं, तब फिर पाँचों ही इन्द्रियोंके विषयोंका एक साथ सेवन करनेपर क्या दशा होगी? ॥ २०३ ॥

हृतोऽयं विषयैर्जन्तुः स्रोतोभिः सरितामिव । दुःखावर्ते गम्भीरे नरके सोदति ॥ २०४ ॥

जिस प्रकार नदीके तीव्र प्रवाहमें बहा हुआ पदार्थ किसी गहरे भँवरमें पड़कर चक्कर खाता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंके विषयोंसे खींचा हुआ यह प्राणी नरकरूपी अथाह गड्ढेमें गिरकर दुःखोंके भँवरोंमें डूबता-उतराता रहता है ॥ २०४ ॥

विषयैर्विप्रलब्धोऽयं धीरस्त्वतिधनायते । धनायामास्थितो जन्तुः क्लेशानाप्नोति दुःसहान् ॥ २०५ ॥

विषयोंसे ठगा हुआ यह जीव निरन्तर अधिक धनकी तृष्णा करता है और उस धनके लिए प्रयत्न करते हुए असह्य क्लेशोंको प्राप्त होता है ॥ २०५ ॥

क्लिष्टोऽसौ बहुभिः क्लेशैः स्यादलाभे शुचं गतः । तस्य लाभेऽप्यसंतुष्टो दुःखमेवानुधावति ॥ २०६ ॥

अनेक क्लेशोंसे पीड़ित होकर यदि अभीष्ट धन न मिले तो शोकको प्राप्त होता है, और यदि धन प्राप्त भी हो जाये तो भी असन्तुष्ट रहकर अधिक तृष्णावश दुःखके पीछे ही दौड़ता है ॥ २०६ ॥

ततस्तद्रागतद्द्वेषदूषितात्मा जडाशयः । कर्म बध्नाति दुर्वारं येनामुत्रावसीदति ॥ २०७ ॥

तदनन्तर राग और द्वेषसे अपनी आत्माको दूषित कर वह अज्ञानी जीव ऐसे दुर्वार कर्म बाँधता है जिससे परलोकमें अत्यन्त दुःखी होता है ॥ २०७ ॥

कर्मणानेन दौःस्थ्यं दुर्गतावभिसंश्रितः । दुःखार्तिकामवाप्नोति महतीमतिगर्हिताम् ॥ २०८ ॥

उस कर्मके कारण यह जीव नरकादि दुर्गतिमें दुःखमय स्थितिको प्राप्त होता है और वहाँ अत्यन्त निन्दनीय महान् दुःखोंकी वेदना पाता है ॥ २०८ ॥

विषयानीहते दुःखी तत्प्राप्तावतिगृध्नुमान् । ततोऽतिदुरनुष्ठानैः कर्म बध्नात्यशर्मदम् ॥ २०९ ॥

वहाँ दुःखी होकर यह जीव फिर भी विषयोंकी चाह करता है और उनकी प्राप्तिमें तीव्र गृद्धि (लालसा) रखता हुआ खोटे अनुष्ठानोंसे दुःखदायी अशुभ कर्मोंका बन्ध करता है ॥ २०९ ॥

इति भूयोऽपि तेनैव चक्रकेण परिभ्रमन् । संसारापारदुर्वारौ पतत्यत्यन्तदुस्तरे ॥ २१० ॥

इस प्रकार कर्म-बन्ध और दुःख-भोगके इसी चक्रमें बार-बार परिभ्रमण करता हुआ यह जीव संसाररूपी अपार और अत्यन्त दुस्तर समुद्रमें गिरता रहता है ॥ २१० ॥

तस्माद् विषयजामेनां मत्वानर्थपरम्पराम् । विषयेषु रतिस्त्याज्या तीव्रदुःखानुबन्धिषु ॥ २११ ॥

इसलिए इस समस्त अनर्थ-परम्पराको विषयोंसे ही उत्पन्न हुआ जानकर तीव्र दुःखोंके कारणभूत इन विषयोंमें आसक्ति (प्रीति) का परित्याग कर देना चाहिए ॥ २११ ॥

कारीषाग्नीष्टकापाकतार्णाग्निसदृशा अमी । त्रयोऽमी वेदसंतापास्तद्वां जन्तुः कथं सुखी ॥ २१२ ॥

स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन तीनों ही वेदोंके संताप क्रमशः सूखे उपलोंकी अग्नि, ईंटोंके पकानेके भट्ठेकी अग्नि और तृणकी अग्निके समान तीव्र माने गये हैं, तब उन वेदोंको धारण करनेवाला संसारी जीव सुखी कैसे हो सकता है? ॥ २१२ ॥

ततोऽधिकमिदं दिव्यं सुखमप्रविचारकम् । देवानामहमिन्द्राणामिति निश्चिनु मागध ॥ २१३ ॥

इसलिए हे श्रेणिक (मागध), तू यह निश्चय जान कि अहमिन्द्र देवोंका जो प्रवीचाररहित दिव्य स्वाभाविक सुख है वह विषयी जनोंके सुखसे कहीं अधिक श्रेष्ठ है ॥ २१३ ॥

सुखमेतेन सिद्धार्था विषयातिगम् । अप्रमेयं च यदात्मोत्थमुत्तमम् ॥ २१४ ॥

इस अहमिन्द्र-सुखके निरूपणसे सिद्ध भगवान्‌के उस अनुपम सुखका भी कथन हो जाता है जो कि विषयोंसे अतीत है, अप्रमेय (असीम) है, अनन्त है और केवल आत्मासे ही उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रिय सुख है ॥ २१४ ॥

यद्दिव्यं यच्च मानुष्यं सुखं त्रैकाल्यगोचरम् । तदप्येकत्र पिण्डीकृतं न सिद्धक्षणसुखस्य तत् ॥ २१५ ॥

देवलोक और मनुष्यलोकसम्बन्धी तीनों कालोंका समस्त सुख यदि एकत्र पिण्डित कर दिया जाये, तो भी वह सिद्धोंके एक क्षणके सुखके बराबर भी नहीं हो सकता ॥ २१५ ॥

सिद्धानां सुखमात्मोत्थमव्याबाधमक्लमजम् । परमाह्लादरूपं तदनौपम्यमनुत्तरम् ॥ २१६ ॥

सिद्धोंका वह सुख आत्मासे ही उत्पन्न, बाधाओंसे रहित, क्लेशरहित, परम आह्लादरूप, अनुपम और सर्वश्रेष्ठ है ॥ २१६ ॥

> सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्ताः शीतीभूता निरुत्सुकाः । सिद्धा इव सुखिनः सिद्धा अहमिन्द्रास्पदे यतः ॥ २१७ ॥

जो सिद्ध परमेष्ठी समस्त द्वन्द्वोंसे रहित, शान्त और उत्कण्ठारहित होकर परम सुखी हैं, अहमिन्द्र भी उसी प्रकार अपने स्थानपर द्वन्द्वरहित होकर सुखी सिद्ध होते हैं ॥ २१७ ॥

> निरतिशयमुदारं निष्प्रवीचारमाविष्कृतसुकृतफलानां कल्पलोकोत्तराणाम् । सुखममरवराणां दिव्यमव्याजहृद्यं शिवसुखमिव तेषां संमुखायातमासीत् ॥ २१८ ॥

जिनके पुण्यका फल प्रकट हुआ है ऐसे स्वर्गलोकसे आगे (सर्वार्थसिद्धिमें) रहनेवाले उन वज्रनाभि आदि अहमिन्द्रोंको जो सुख प्राप्त हुआ था वह ऐसा जान पड़ता था मानो मोक्षका सुख ही उनके सम्मुख आ गया हो, क्योंकि जिस प्रकार मोक्षका सुख अतिशयरहित, उदार, प्रवीचाररहित, दिव्य और स्वाभाविक रूपसे मनोहर होता है, उसी प्रकार उन अहमिन्द्रोंका सुख भी परम शान्त और सुखदायी था ॥ २१८ ॥

> सुकृतदुरितयोः संसृतौ चेतनानां द्वितयमुदितमाप्तैः कर्मबन्धानुरूपम् । सुकृतविकृतभेदात् तच्च कर्म द्विभेदं मधुरकटुकपाकं भुक्तमेके तथाऽन्नम् ॥ २१९ ॥

इस संसारमें जीवोंको जो सुख और दुःख होते हैं वे दोनों ही अपने-अपने कर्मबन्धके अनुसार होते हैं ऐसा श्री सर्वज्ञदेवने कहा है। वह कर्म पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकारका है। जिस प्रकार खाये हुए एक ही अन्नका मधुर और कटु रूपसे दो प्रकारका विपाक (परिणाम) देखा जाता है, उसी प्रकार उन पुण्य और पापरूपी कर्मोंका भी क्रमशः मधुर (सुखदायी) और कटु (दुःखदायी) फल देखा जाता है ॥ २१९ ॥

> सुकृतफलमुदारं विद्धि सर्वार्थसिद्धौ दुरितफलमुदग्रं सप्तमीनारकाणाम् । शमदमयमयोगैः पुण्यमाजामशमदमयमानां जायते दुष्कृतेन ॥ २२० ॥

पुण्यकर्मोंका उत्कृष्ट फल सर्वार्थसिद्धिमें और पापकर्मोंका उत्कृष्ट फल सातवें नरकके नारकियोंमें जानना चाहिए। मनको शान्त रखने, इन्द्रियोंका दमन करने और निर्दोष चारित्र पालनेसे पुण्यात्मा जीवोंको पुण्यका उत्कृष्ट फल प्राप्त होता है, और इसके विपरीत चलनेसे पापी जीवोंको पापका तीव्र फल प्राप्त होता है ॥ २२० ॥

> कृतमतिरिति धीमान् शाङ्करीं श्रीजिनाज्ञां शमदमयमशुद्ध्यै भावयेदस्ततन्द्रः ।
> सुखमनुपममीप्सुर्दुःखभारं जिहासुर्निकटतरजिनश्रीर्वज्रनाभिर्यथायम् ॥ २२१ ॥

जिस प्रकार बहुत ही शीघ्र तीर्थंकर पद प्राप्त करनेवाले इस वज्रनाभिने शम, दम और यम (चारित्र) की विशुद्धिके लिए आलस्यरहित होकर श्री जिनेन्द्रदेवकी कल्याणकारिणी आज्ञाका चिन्तन किया था, उसी प्रकार अनुपम सुखके अभिलाषी और दुःखके भारको छोड़नेकी इच्छा करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंको भी प्रमादरहित होकर श्री जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा तथा दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओंका चिन्तन करना चाहिए ॥ २२१ ॥

> इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे श्रीमद्वज्रनाभेः सर्वार्थसिद्धिगमनवर्णनं नामैकादशं पर्व ॥ ११ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध श्री भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें श्री भगवान् वज्रनाभिके सर्वार्थसिद्धिगमनका वर्णन करनेवाला ग्यारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशं पर्व (श्लोक १ - ८०)

अथ तस्मिन् समापन्ने स्वलोकाद् भुवमेष्यति । यद्वृत्तं जगत्त्यस्मिन् तद्वक्ष्ये शृणु साम्प्रतम् ॥ १ ॥

अनन्तर गौतम स्वामी कहने लगे कि जब वह वज्रनाभिका जीव अहमिन्द्र स्वर्गलोकसे पृथिवीपर अवतार लेनेके सम्मुख हुआ, तब इस संसारमें जो वृत्तान्त हुआ था अब मैं उसे ही कहूँगा, आप लोग ध्यान देकर सुनिए ॥ १ ॥

समेत्य मुनयः सर्वे पुराणार्थकोविदम् । पप्रच्छुर्मुनिनाथं तं गौतमं गणनायकम् ॥ २ ॥

इसी बीचमें मुनियोंने एकत्र होकर पुराणके अर्थको जाननेवाले और वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्री गौतम गणधरसे प्रश्न किया ॥ २ ॥

अस्मिन् भरतवर्षेऽस्मिन् भोगभूमिस्थितिच्युतौ । कर्मभूमिव्यवस्थायां प्रवृत्तायां यथायथम् ॥ ३ ॥

कि हे भगवन्! जब इस भारतवर्षमें भोगभूमिकी स्थिति नष्ट हो गयी थी और क्रमशः कर्मभूमिकी व्यवस्था फैल रही थी ॥ ३ ॥

तथा कुलकरोत्पत्तिस्त्वया प्रागेव वर्णिता । नाभिराजश्च तत्रान्त्यो विश्वक्षत्रगणाग्रणीः ॥ ४ ॥

उस समय जो कुलकरोंकी उत्पत्ति हुई थी उसका वर्णन आप पहले ही कर चुके हैं। उन कुलकरोंमें अन्तिम कुलकर नाभिराज हुए थे जो कि समस्त क्षत्रिय-समूहके प्रधान थे ॥ ४ ॥

स एष धर्मसर्गस्य सूत्रधारं महाधियम् । इक्ष्वाकुज्येष्ठममलं कथं समजीजनत् ॥ ५ ॥

उन नाभिराजने धर्मरूपी सृष्टिके सूत्रधार, महाबुद्धिमान् और इक्ष्वाकुकुलके ज्येष्ठ निर्मल भगवान् ऋषभदेवको किस प्रकार उत्पन्न किया था? ॥ ५ ॥

> तथा स्वर्गावतारादिकल्याणैश्वर्यमुन्नतम् । श्रोतुं त्वयाऽऽख्यायमानं त्वदनुग्रहात् ॥ ६ ॥

तथा उनके स्वर्गावतार आदि कल्याणकोंका उन्नत ऐश्वर्य कैसा था? आपके अनुग्रहसे हम लोग यह सब सुनना चाहते हैं ॥ ६ ॥

> तन्मुनीनां प्रश्नावसानेऽथ ब्याजहार गणाधिपः । तान् मुनीन् विकल्मषान् कुर्वन् शुचिभिर्दशनांशुभिः ॥ ७ ॥

इस प्रकार जब उन मुनियोंका प्रश्न समाप्त हुआ तब गणनायक गौतम स्वामी अपने दाँतोंकी निर्मल किरणोंके द्वारा मुनिजनोंको पापरहित करते हुए बोले ॥ ७ ॥

> अस्मिन् जम्बूमति द्वीपे भरते खचराचलात् । दक्षिणे मध्यमे खण्डे कालसन्धौ पुरोदिते ॥ ८ ॥

कि हम पहले जिस कालसन्धिका वर्णन कर चुके हैं उस कालसन्धि (भोगभूमिका अन्त और कर्मभूमिके प्रारम्भ) के समय इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें विजयार्ध पर्वतसे दक्षिणकी ओर मध्यम आर्यखण्डमें ॥ ८ ॥

> पूर्वोक्तकुलकृद्वन्द्यो नाभिराजोऽग्रिमोऽप्यभूत् । व्यावर्णितारुरुत्सेधरूपसौन्दर्यविभ्रमः ॥ ९ ॥

चौदह कुलकरोंमें अन्तिम होनेपर भी सबसे श्रेष्ठ नाभिराज हुए थे, जिनकी आयु, शरीरकी ऊँचाई, रूप, सौन्दर्य और विलास आदिका वर्णन पहले किया जा चुका है ॥ ९ ॥

> सनाभिर्भाविनां राज्ञां सनाभिः स्वगुणांशुभिः । भास्वानिव बभौ लोके भास्वन्मौलिर्महाद्युतिः ॥ १० ॥

देदीप्यमान मुकुटसे शोभायमान और महाकान्तिके धारक वे नाभिराज आगामी होनेवाले राजाओंके बन्धु थे और अपने गुणरूपी किरणोंसे लोकमें सूर्यके समान शोभायमान हो रहे थे ॥ १० ॥

शशीव स कलाधारस्तेजस्वी भानुमानिव । प्रभुः शक्र इवाभीष्टफलदः कल्पशाखिवत् ॥ ११ ॥

वे चन्द्रमाके समान कलाओं (विद्याओं) के आधार थे, सूर्यके समान तेजस्वी थे, इन्द्रके समान प्रभुत्वसम्पन्न (ऐश्वर्यशाली) थे और कल्पवृक्षके समान मनचाहे फल देनेवाले थे ॥ ११ ॥

तस्यासीन्मरुदेवीति देवी देवीव सा शची । रूपलावण्यकान्तिश्रीमतिद्युतिविभूतिभिः ॥ १२ ॥

उन नाभिराजके मरुदेवी नामकी रानी थी जो कि अपने रूप, लावण्य, कान्ति, शोभा, बुद्धि, दीप्ति और विभूति आदि गुणोंसे इन्द्राणी देवीके समान थीं ॥ १२ ॥

सा कल्पेवैन्दवी कान्त्या जनतानन्ददायिनी । स्वर्गस्त्रीरूपसर्वस्वमुच्चित्येव विनिर्मिता ॥ १३ ॥

वह अपनी कान्तिसे चन्द्रमाकी कलाके समान सब लोगोंको आनन्द देनेवाली थी और ऐसी मालूम होती थी मानो स्वर्गकी स्त्रियोंके रूपका सार एकत्र करके ही बनायी गयी हो ॥ १३ ॥

तन्वङ्गी पक्वबिम्बोष्ठी सुभ्रूरुन्नतपयोधरा । मनोभुवा जगज्जेतुं सा पताकेव दर्शिता ॥ १४ ॥

उसका शरीर कृश था, ओठ पके हुए बिम्बफलके समान लाल थे, भौंहें सुन्दर थीं और स्तन उन्नत थे। उन सबसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेवने जगत्को जीतनेके लिए अपनी ध्वजा ही दिखायी हो ॥ १४ ॥

रूपं लावण्यमुद्भूतं हावं भावं च विभ्रमम् । भावयित्वा कृती कोऽपि नाट्यशास्त्रं व्यधात् तदा ॥ १५ ॥

ऐसा मालूम होता है कि किसी चतुर विद्वान्ने उसके रूपकी सुन्दरता, लावण्य, हाव, भाव और विलासका अच्छी तरह विचार करके ही नाट्यशास्त्रकी रचना की हो ॥ १५ ॥

तद्वाण्याः संविभक्तानि भावयन् स्वरमण्डलम् । प्रणीतगीतशास्त्रार्थो जनो जगति विश्रुतः ॥ १६ ॥

मालूम होता है कि गान्धर्वशास्त्रकी रचना करनेवाले भरतादि मुनियोंने उसकी मधुर वाणीमें ही संगीतके निषाद, ऋषभ, गान्धार आदि समस्त स्वरोंका विचार कर गीतशास्त्रका प्रणयन किया था, जिससे वे जगत्में प्रसिद्ध हुए ॥ १६ ॥

> रूपसर्वस्वहरणं कृत्वान्यस्त्रीजनस्य सा । दुष्टस्य नृपतेर्वृत्तिं व्यनक्ति स्म किमात्मना ॥ १७ ॥

उस मरुदेवीने अन्य स्त्रियोंके रूपरूपी सर्वस्व धनका हरण कर उन्हें दरिद्र बना दिया था, इसलिए स्पष्ट ही ऐसा मालूम होता था मानो उसने किसी दुष्ट राजाकी प्रवृत्तिका ही अनुसरण किया हो ॥ १७ ॥

> सा दधे पदयोर्द्वन्द्वे लक्षणानि विचक्षणा । प्रणिन्युर्लक्षणं सत्या यैरुदाहरणीकृतैः ॥ १८ ॥

वह चतुर मरुदेवी अपने दोनों चरणोंमें अनेक सामुद्रिक शुभ लक्षण धारण किये हुए थी। मालूम होता है कि उन लक्षणोंको ही उदाहरण मानकर कवियोंने अन्य स्त्रियोंके शुभ लक्षणोंका निरूपण किया है ॥ १८ ॥

> रक्ताङ्गुलिदलैः पादौ दधतू विबुधैर्नुतौ । नखदीधितिसन्तानलसत्केसरशोभिनौ ॥ १९ ॥

उसके दोनों ही चरण कोमल लाल अँगुलियोंरूपी दलोंसे सहित थे और नखोंकी किरणरूपी देदीप्यमान केशरसे सुशोभित थे, इसलिए कमलोंके समान जान पड़ते थे और देवोंसे पूजित होकर साक्षात् लक्ष्मीको धारण कर रहे थे ॥ १९ ॥

> जित्वा रक्ताब्जमेतस्याः क्रमौ संप्राप्तनिर्वृती । नखांशुमञ्जरीव्याजात् स्मितमातेनतुर्ध्रुवम् ॥ २० ॥

मालूम होता है कि उसके चरणोंने लाल कमलोंको जीत लिया था, इसीलिए वे सन्तुष्ट होकर नखोंकी किरणरूपी मंजरियोंके छलसे मन्द-मन्द हँस रहे थे ॥ २० ॥

> नखैः कुरबकच्छायौ क्रमौ जित्वाप्यनिर्वृतौ । विजिग्याते गतेनास्या हंसीनां गतिविभ्रमम् ॥ २१ ॥

उसके दोनों चरण नखोंके द्वारा कुरबक पुष्पोंकी कान्तिको जीतकर भी सन्तुष्ट नहीं हुए, इसीलिए उन्होंने अपनी गतिसे हंसिनियोंकी मनोहर गतिको भी जीत लिया ॥ २१ ॥

> मणिनूपुरझङ्कारमुखरौ सुभ्रुवः क्रमौ । पद्माविव रणद्भृङ्गसङ्गतौ रुचिमापतुः ॥ २२ ॥

सुन्दर भौंहोंवाली उस मरुदेवीके दोनों चरण मणिमय नूपुरोंकी झंकारसे सदा शब्दायमान रहते थे, इसलिए गुंजार करते हुए भ्रमरोंसे सहित कमलोंके समान सुशोभित होते थे ॥ २२ ॥

> निगूढगुल्फसन्धी तौ युक्तपाणिपरिग्रहात् । विद्धि यानासनाभ्यां च तत्क्रमौ विजिगीषुताम् ॥ २३ ॥

उसके दोनों चरण किसी विजिगीषु राजाकी शोभा धारण कर रहे थे, क्योंकि जिस प्रकार विजिगीषु राजा सन्धिको गुप्त रखता है, पार्ष्णि (सेना) से युक्त होता है और यान तथा आसनका कुशल प्रयोग करता है, उसी प्रकार उसके चरण भी गूढ गुल्फ-सन्धियोंसे युक्त, सुन्दर पार्ष्णि (एड़ी) वाले तथा सुन्दर गमन व बैठनेकी शोभासे युक्त थे ॥ २३ ॥

> शोभा जङ्घाद्वये याऽस्याः काप्यन्यत्र न सा हता । अन्योन्योपमयैवातो वर्णनं तत्र वर्ण्यते ॥ २४ ॥

उसकी दोनों जंघाओंमें जो शोभा थी वह अन्यत्र कहीं नहीं थी। उन दोनोंकी उपमा परस्पर ही दी जा सकती थी (वाम जंघाकी दक्षिणसे और दक्षिणकी वामसे), इसलिए उनका वर्णन किसी अन्यकी उपमा देकर नहीं किया जा सकता था ॥ २४ ॥

> जानुद्वयं समाश्लिष्टं यदस्याः कामनीयकम् । तदेवालं जगज्जेतुं किं तरां चिन्तयानया ॥ २५ ॥

अत्यन्त मनोहर और परस्परमें मिले हुए उसके दोनों घुटने ही जगत्को जीतनेके लिए समर्थ थे, इसमें अधिक विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी ॥ २५ ॥

> ऊरुद्वयमुदारश्रीश्चारु हारि सुखावहम् । स्पर्धयेव सुरस्त्रीभिरतिरम्यं बभार सा ॥ २६ ॥

उसके दोनों ऊरु (जाँघें) उत्कृष्ट शोभाके धारक, सुन्दर, मनोहर और सुख देनेवाले थे, जिससे ऐसा मालूम होता था मानो देवांगनाओंके साथ स्पर्धा करके ही उसने ऐसे सुन्दर ऊरु धारण किये हों ॥ २६ ॥

वामोरुरिति या रूढिः स्वासात् कर्तुमन्यथा । वामवृत्ती कृतावरू मन्येऽन्यस्त्रीजयेऽनया ॥ २७ ॥

मैं ऐसा मानता हूँ कि संसारमें स्त्रियोंके लिए जो 'वामोरु' (सुन्दर जाँघोंवाली) शब्द प्रसिद्ध था, उस मरुदेवीने अन्य स्त्रियोंको जीतनेके लिए अपने दोनों ऊरुओंको उनके प्रति वामवृत्ति (शत्रुवत पराजित करनेवाले) बना लिया था ॥ २७ ॥

कलत्रस्थानमेतस्याः स्थानीकृत्य मनोभुवा । विनिर्जितं जगन्नूनमप्यूनपरिमण्डलम् ॥ २८ ॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कामदेवने मरुदेवीके विशाल नितम्बमण्डलको ही अपना प्रधान स्थान बनाकर इस सम्पूर्ण विस्तृत जगत्को जीत लिया था ॥ २८ ॥

कटीमण्डलमेतस्याः काञ्चीशालपरिष्कृतम् । आसीद् दुर्गमनङ्गस्य जगड्डामरकारिणः ॥ २९ ॥

करधनीरूपी परकोटेसे घिरा हुआ उसका कटिमण्डल ऐसा मालूम होता था मानो जगत्भरमें विप्लव करनेवाले कामदेवका अभेद्य किला ही हो ॥ २९ ॥

लसद्दुकूलसंसक्तां काञ्चीं सा व्यदधात् फणी । स्रस्तनिर्मोकमिव चन्दनवल्लरी ॥ ३० ॥

जिस प्रकार चन्दनकी लता केंचुली छोड़े हुए सर्पको धारण करती है, उसी प्रकार वह मरुदेवी भी रेशमी वस्त्रसे सटी हुई करधनीको धारण कर रही थी ॥ ३० ॥

रोमराजिर्विनीलास्या रेजे मध्यतनूदरे । इन्द्रनीलमयी कामस्यालम्बनयष्टिरिव ॥ ३१ ॥

उस मरुदेवीके कृश उदरभागपर अत्यन्त काली रोमावली ऐसी सुशोभित होती थी मानो इन्द्रनीलमणिकी बनी हुई कामदेवकी आलम्बन-यष्टि (सहारेकी लाठी) ही हो ॥ ३१ ॥

तनुमध्यं बभारासौ वलिभं निम्ननाभिकम् । शरन्नदीव सावर्तं स्रोतः सूक्ष्मतरङ्गकम् ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार शरद्‌ऋतुकी नदी भँवरोंसे युक्त और पतली-पतली लहरोंसे सुशोभित जलप्रवाहको धारण करती है, उसी प्रकार वह मरुदेवी भी त्रिवलीसे युक्त और गहरी नाभिसे शोभायमान अपने पतले मध्यभाग (कमर) को धारण करती थी ॥ ३२ ॥

> स्तनादस्याः समुत्तुङ्गौ तावुभौ परिणाहिनौ । यौवनश्रीविलासाय क्लृप्तौ क्रीडाचलाविव ॥ ३३ ॥

उसके अतिशय ऊँचे और विशाल दोनों स्तन ऐसे शोभायमान होते थे मानो तारुण्य-लक्ष्मीकी क्रीड़ाके लिए बनाये गये दो क्रीड़ा-पर्वत ही हों ॥ ३३ ॥

> धृतांशुकमसौ दध्रे स्तनद्वयमनुत्तमम् । वीचिरुद्धमिवानोज्ञमिथुनं सुरनिम्नगा ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार आकाशगंगा लहरोंके बीच ढके हुए दो चक्रवाक पक्षियोंको धारण करती है, उसी प्रकार वह मरुदेवी महीन वस्त्रसे आच्छादित दोनों मनोहर स्तनोंको धारण कर रही थी ॥ ३४ ॥

> स्तनद्वयस्य मध्यस्था लसद्धाररुचिरसौ । सरोजकुड्मलाभ्यर्णस्थितफेना यथाऽब्जिनी ॥ ३५ ॥

जिसके स्तनोंके मध्यभागमें मोतियोंके हारकी सफेद किरणें शोभायमान हो रही थीं वह मरुदेवी उस कमलिनीके समान सुशोभित हो रही थी जिसके खिले हुए कमलोंके पास सफेद फेन लगा हुआ हो ॥ ३५ ॥

> व्यराजीत् कन्धरेणास्या सूक्ष्मराजीविराजिना । उल्लिख्य घटितेनेव धात्रा निर्माणकौशलात् ॥ ३६ ॥

सूक्ष्म रेखाओं (कम्बुरेखाओं) से सुशोभित उसका कण्ठ बहुत ही सुन्दर लगता था, मानो विधाताने अपना निर्माण-कौशल दिखानेके लिए ही सूक्ष्म रेखाएँ उकेरकर उसकी रचना की हो ॥ ३६ ॥

> अधिकन्धरमाबद्धहारयष्टिव्यरोचत । पतद्गिरिसरिच्छ्रोतःसानुलेखेव मेदिनी ॥ ३७ ॥

जिसके कण्ठमें मोतियोंका हार लटक रहा था ऐसी वह मरुदेवी पर्वतके उस तटके समान शोभायमान होती थी जिसपर ऊपरसे पहाड़ी नदीके जलका श्वेत प्रवाह पड़ रहा हो ॥ ३७ ॥

शिरीषसुकुमाराङ्ग्यास्तस्या बाहू विरेजतुः । कल्पवल्ल्या इवाग्र्यौ विटपौ मणिभूषणौ ॥ ३८ ॥

शिरीषके पुष्पके समान अतिशय कोमल अंगोंवाली उस मरुदेवीकी मणियोंके आभूषणोंसे सुशोभित दोनों भुजाएँ ऐसी शोभायमान होती थीं मानो मणियोंके आभूषणोंसे युक्त कल्पलताकी दो मुख्य शाखाएँ ही हों ॥ ३८ ॥

मृदुबाहुलते तस्याः करपल्लवसंश्रिताम् । नखांशूलसितव्याजाद् दधतुः पुष्पमञ्जरीम् ॥ ३९ ॥

उसकी दोनों कोमल बाहुलताएँ कररूपी पल्लवोंसे युक्त थीं और वे नखोंकी चमकदार किरणोंके बहाने पुष्पमंजरियोंको धारण कर रही थीं ॥ ३९ ॥

अशोकपल्लवच्छायं बिभ्रती करपल्लवम् । पाणौ कृतमिवाशेषं मनोरागमुवाह सा ॥ ४० ॥

अशोक वृक्षके पल्लवके समान लाल-लाल करपल्लवोंको धारण करती हुई वह मरुदेवी ऐसी जान पड़ती थी मानो हाथोंमें रखे हुए अपने मनके समस्त अनुरागको ही धारण कर रही हो ॥ ४० ॥

सा दधे किमपि स्रस्तावंसौ हंसीव पक्षती । आलम्बिकबरीभारवाहिकाखिन्नताविव ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार हंसिनी कुछ नीचे झुके हुए पंखोंके मूलभागको धारण करती है, उसी प्रकार वह मरुदेवी कुछ नीचेकी ओर झुके हुए दोनों कन्धोंको धारण कर रही थी, जो मानो लटकती हुई लम्बी चोटीका भार उठानेके कारण ही नीचे झुक गये हों ॥ ४१ ॥

मुखेन्दुः सरोजाक्ष्या जहास शशिमण्डलम् । सदा विमलतां बिभ्रत् कलङ्कपरिवर्जितः ॥ ४२ ॥

उस कमलनयनीका मुखचन्द्र चन्द्रमण्डलकी हँसी उड़ा रहा था, क्योंकि उसका मुख सदा पूर्ण और कलंकरहित रहता था, जबकि चन्द्रमा कलाहीन और कलंकसहित होता है ॥ ४२ ॥

दिवा विनष्टेन्दुश्रीरब्जश्रीर्नक्तदूषिता । तन्मुखस्य सदोज्ज्वला श्रीर्वद केनोपमीयते ॥ ४३ ॥

चन्द्रमाकी शोभा दिनमें नष्ट हो जाती है और कमलकी शोभा रात्रिमें म्लान हो जाती है, इसलिए सदा उज्ज्वल रहनेवाले उसके मुखकी शोभाकी तुलना किस पदार्थसे की जाये? तुम ही कहो ॥ ४३ ॥

> दशनच्छदरागोऽस्याः स्मितांशुच्छुरिताङ्गकः । पयःकणावकीर्णस्य विद्रुमस्य जयति श्रियम् ॥ ४४ ॥

मन्दहास्यकी किरणोंसे युक्त उसके दोनों लाल ओठोंकी कान्ति जलके कणोंसे व्याप्त मूँगेकी शोभाको भी जीत रही थी ॥ ४४ ॥

> सुकण्ठ्याः कण्ठनादोऽस्या गीतगोष्ठीषु पप्रथे । मौर्वीरव इवाकृष्टधनुषः पुष्पधन्वनः ॥ ४५ ॥

उत्तम कण्ठवाली उस मरुदेवीके कण्ठका मधुर स्वर संगीतकी गोष्ठियोंमें ऐसा प्रसिद्ध था मानो कामदेवके खींचे हुए धनुषकी डोरीका मनोहर शब्द ही हो ॥ ४५ ॥

> कपोलावलकानस्या बभाते प्रतिबिम्बितान् । शुद्धिभाजोऽनुगृह्णन्ति मलिनानपि संश्रितान् ॥ ४६ ॥

उसके दोनों कपोल अपनेमें प्रतिबिम्बित काले केशोंको धारण कर रहे थे, सो ठीक ही है, शुद्धताको प्राप्त हुए उत्तम पदार्थ शरणमें आये हुए मलिन पदार्थोंपर भी अनुग्रह करते हैं ॥ ४६ ॥

> आयतं नासिकाग्रमस्या मुखमभिस्थितम् । तदामोदमिवाघ्रातुं प्राङ्मुखं समुदञ्चितम् ॥ ४७ ॥

मुखके आगे स्थित हुआ उसकी नासिकाका लम्बा अग्रभाग ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उसके मुखकी श्वास-सुगन्धको सूँघनेके लिए ही उद्यत हुआ हो ॥ ४७ ॥

> नयनोत्पलयोः कान्तिस्तस्याः कर्णान्तमाश्रयत् । कर्णेजपत्वमन्योन्यस्पर्धयेव चिकीर्षतोः ॥ ४८ ॥

उसके नयन-कमलोंकी कान्ति कानोंके समीप तक पहुँच गयी थी, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो दोनों नेत्र परस्परकी स्पर्धासे एक-दूसरेके विरुद्ध कानमें चुगली कर रहे हों ॥ ४८ ॥

श्रुतेनालङ्कृतावस्याः श्रोत्रौ पुनरलङ्कृतौ । कर्णाभरणविन्यासैः सरस्वत्या इवार्चनैः ॥ ४९ ॥

यद्यपि उसके दोनों कान शास्त्र-श्रवणसे अलंकृत थे, तथापि सरस्वती देवीकी पूजाके पुष्पोंके समान कर्णभूषण पहनाकर वे फिरसे अलंकृत किये गये थे ॥ ४९ ॥

ललाटेनाष्टमीचन्द्रचारुणाऽस्या व्यरोचत । मनोज्ञश्रीविकासिन्या दर्पणेनेव हारिणा ॥ ५० ॥

अष्टमीके चन्द्रमाके समान सुन्दर उसका ललाट अतिशय देदीप्यमान हो रहा था और ऐसा मालूम पड़ता था मानो कामदेवकी लक्ष्मीरूपी स्त्रीका मनोहर दर्पण ही हो ॥ ५० ॥

विनीलैरसकैरस्या मुखपद्मं मधुपायितम् । आभ्यां च निर्जिता सज्ज्या मदनस्य धनुर्लता ॥ ५१ ॥

उसके अत्यन्त काले केश मुखकमलपर मँडराते हुए भौंरोंके समान जान पड़ते थे, और उसकी भौंहोंने कामदेवकी डोरीसहित धनुषलताको भी जीत लिया था ॥ ५१ ॥

कचभारो बभौ तस्या विनीलकुटिलायतः । मुखेन्दुग्रासलोभेन विधुंतुद इवाश्रितः ॥ ५२ ॥

उसके अतिशय काले, घुंघराले और लम्बे केशोंका समूह ऐसा शोभायमान होता था मानो मुखरूपी चन्द्रमाको ग्रसनेके लोभसे राहु ही आ बैठा हो ॥ ५२ ॥

विस्रस्तकबरीबन्धविगलत्कुसुमोत्करैः । सोपहारामिव क्षोणीं चक्रे चङ्क्रमणेपु सा ॥ ५३ ॥

वह मरुदेवी चलते समय कुछ-कुछ ढीली हुई अपनी चोटीसे नीचे गिरते हुए पुष्पोंके समूहसे पृथिवीको उपहारसहित करती जाती थी ॥ ५३ ॥

समसुप्रविभक्ताङ्गमिस्यस्या वपुरूर्जितम् । स्त्रीसर्गस्य प्रतिच्छन्दभावेनेव विधिर्व्यधात् ॥ ५४ ॥

इस प्रकार जिसके प्रत्येक अंग-प्रत्यंगका सुडौल और सुन्दर विभाग था, ऐसा उसका सुदृढ़ शरीर देखकर ऐसा लगता था मानो विधाताने सम्पूर्ण स्त्री-सृष्टिके लिए एक आदर्श प्रतिमान (नमूना) ही बनाया हो ॥ ५४ ॥

यशस्विनी सुचिरायुश्च सुप्रजाश्च यशस्विनी । पतिपत्नी च या नारी सा तु तामनुवर्णिता ॥ ९५ ॥

संसारमें जो स्त्रियाँ अतिशय यशवाली, दीर्घायुवाली, उत्तम सन्तानवाली, मंगलाचारिणी और उत्तम पतिवाली थीं, वे सब मरुदेवीके पश्चात् ही गिनी जाती थीं, अर्थात् मरुदेवी उन सबमें अग्रगण्य थीं ॥ ९५ ॥

सा खनिर्गुणरत्नानां साऽवनिः पुण्यसंपदाम् । शुद्धापि श्रुतदेवीव सानधीत्यैव पण्डिता ॥ ९६ ॥

वह गुणरूपी रत्नोंकी खान थी, पुण्यरूपी सम्पदाओंकी पृथिवी थी, पवित्र सरस्वती देवीके समान थी और बिना पढ़े ही साक्षात् पण्डिता थी ॥ ९६ ॥

सौभाग्यस्य परा कोटिः सौरूप्यस्य परा स्थितिः । सौहार्दस्य परा प्रीतिः सौजन्यस्य परा गतिः ॥ ९७ ॥

वह सौभाग्यकी चरम सीमा थी, सौन्दर्यकी उत्कृष्ट पराकाष्ठा थी, मित्रताकी परम प्रीति थी और सज्जनताका सर्वश्रेष्ठ आश्रय थी ॥ ९७ ॥

प्रसृतिः कामतत्त्वस्य कलागमसरिच्छ्रुतिः । प्रसूतिर्यशसां साऽऽसीत् सतीत्वस्य परा धृतिः ॥ ९८ ॥

वह कामतत्त्वकी उत्पत्तिस्थान थी, कलाशास्त्ररूपी नदीका प्रवाह थी, समस्त यशोंकी जन्मभूमि थी और पातिव्रत्य धर्मकी परम मर्यादा थी ॥ ९८ ॥

अकृतः किल विवाहः सुरराजेन चोदिताः । सुरोत्तमा महाभूत्या चक्रुस्तस्या विवाहमहोत्सवम् ॥ ९९ ॥

उस मरुदेवीके विवाहके समय इन्द्रकी आज्ञासे प्रेरित हुए उत्तम देवोंने बड़ी भारी विभूतिके साथ उसका विवाहोत्सव सम्पन्न किया था ॥ ९९ ॥

पुण्यसम्पत्तिरेवास्या जननीत्वमुपागता । सलज्जात्वं गता सख्यं गुणाः परिजनायिताः ॥ ६० ॥

पुण्यरूपी सम्पत्ति ही उसकी माता बनी थी, लज्जा उसकी सखी बनी थी और दया-दाक्षिण्यादि गुण ही उसके परिवारके जन बने हुए थे ॥ ६० ॥

> रूपप्रभावविज्ञानैरिति रूढिं परां गता । सा मनोद्विरदस्यालम्भेजेऽऽलानयष्टिताम् ॥ ६१ ॥

रूप, प्रभाव और विज्ञान आदिके द्वारा वह परम प्रसिद्धिको प्राप्त हुई थी तथा अपने स्वामी नाभिराजके मनरूपी हाथीको बाँधनेके लिए आलान-स्तम्भ (खम्भे) के समान बनी हुई थी ॥ ६१ ॥

> तद्वक्त्रेन्दोः स्मितज्योत्स्ना तन्वती नयनोत्सवम् । तच्चेतोऽम्बुधेः क्षोभमनुवेलं समातनोत् ॥ ६२ ॥

उसके मुखरूपी चन्द्रमाकी मुसकानरूपी चाँदनी नेत्रोंको उत्सव प्रदान करती हुई अपने पति नाभिराजके मनरूपी समुद्रमें निरन्तर आनन्दका ज्वार बढ़ाती रहती थी ॥ ६२ ॥

> रूपलावण्यसम्पत्त्या साक्षात् श्रीरिव सा मता । सताविव मुनिस्तस्यामतानीत् स परां रतिम् ॥ ६३ ॥

महाराज नाभिराज रूप और लावण्यकी सम्पत्तिसे उसे साक्षात् लक्ष्मीके समान मानते थे, और उसके प्रति अपना उत्कृष्ट अनुराग उसी प्रकार रखते थे जिस प्रकार मुनि विशुद्ध बुद्धिमें अपना अनुराग रखते हैं ॥ ६३ ॥

> परिहासेष्वमर्मस्पृक् संभोगेष्वनुवर्तिनी । साचिव्यमकरोत् तस्य कामस्य प्रणयस्य च ॥ ६४ ॥

वह परिहासके समय किसी मर्मस्थलको पीड़ा न पहुँचाती हुई और संभोगकालमें सर्वथा पतिके अनुकूल रहती हुई उनके काम और स्नेहके विषयमें मन्त्रिणीका कार्य करती थी ॥ ६४ ॥

> साऽभवत् प्रेयसी तस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसी । शचीव देवराजस्य परा प्रणयभूमिका ॥ ६५ ॥

वह मरुदेवी नाभिराजको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय थी, वे उससे उतना ही अगाध स्नेह करते थे जितना इन्द्र इन्द्राणीसे करता है ॥ ६५ ॥

स तया कल्पवल्ल्याव लसद्दुकूलभूषया । समाश्लिष्टतनुः श्रीमान् कल्पद्रुम इवाद्युतत् ॥ ६६ ॥

शोभाशाली महाराज नाभिराज देदीप्यमान वस्त्र और आभूषणोंसे सुशोभित उस मरुदेवीसे आलिंगित होकर ऐसे शोभायमान होते थे जैसे कल्पलतासे वेष्टित कल्पवृक्ष ही हो ॥ ६६ ॥

स एव पुण्यवाँल्लोके सा च पुण्यवती सती । ययोरयोनिजन्माऽसौ भविता सविताऽऽत्मजः ॥ ६७ ॥

संसारमें महाराज नाभिराज ही सबसे अधिक पुण्यवान् थे और मरुदेवी ही सबसे अधिक पुण्यवती सती थी, क्योंकि जिनके स्वयम्भू भगवान् वृषभदेव (सविता) पुत्ररूपसे उत्पन्न होनेवाले थे ॥ ६७ ॥

तौ दम्पती तदा तत्र भोगैकरसतां गतौ । भोगभूमिश्रियं साक्षादकुरुतामिव वियुक्तामपि ॥ ६८ ॥

उस समय भोगोपभोगोंमें अतिशय तल्लीन वे दोनों दम्पती ऐसे जान पड़ते थे मानो नष्ट हुई भोगभूमिकी लक्ष्मीको ही पुनः साक्षात् प्रकट कर रहे हों ॥ ६८ ॥

ताभ्यामलंकृते पुण्ये देशे कल्पाङ्घ्रिपात्यये । तत्पुण्यैर्मुहुराहूतः पुरुहूतः पुरीं व्यधात् ॥ ६९ ॥

नाभिराज और मरुदेवीसे अलंकृत उस पवित्र देशमें जब कल्पवृक्षोंका अभाव हो गया, तब उनके पुण्यके प्रभावसे बार-बार प्रेरित होकर इन्द्रने वहाँ एक दिव्य नगरीकी रचना की ॥ ६९ ॥

सुराः ससंभ्रमास्तत्र पाकशासनशासनात् । तां पुरीं परमानन्दादकुरुत सुरपुरीनिभाम् ॥ ७० ॥

इन्द्रकी आज्ञासे देवोंने बड़े हर्ष और आदरके साथ स्वर्गपुरीके समान उस नगरीका निर्माण किया ॥ ७० ॥

स्वर्गस्यैतत् प्रतिच्छन्दं भूलोकेऽस्मिन् विधित्सुभिः । विशेषरमणीयैव निर्ममे साऽमरैः पुरी ॥ ७१ ॥

उन देवोंने उस नगरीको विशेष रूपसे रमणीय बनाया, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इस मध्यलोकमें स्वर्गलोकका प्रतिरूप रखनेकी इच्छासे ही उन्होंने उसे रचा हो ॥ ७१ ॥

स्वस्य त्रिदशावासः संकीर्ण इत्यवमन्य तम् । परःशतजनावासभूमिकामिव ते व्यधुः ॥ ७२ ॥

'हमारा स्वर्ग छोटा है क्योंकि वह केवल त्रिदशावास (तीस या देवोंका ही निवास) है' ऐसा मानकर मानो उन्होंने सैकड़ों-हजारों मनुष्योंके रहने योग्य उस विशाल नगरीकी रचना की ॥ ७२ ॥

इतस्ततश्च विक्षिप्तानानीयानीय मानवान् । पुरीं निवेशयामासुर्विन्यासैस्तैर्विधैः पुनः ॥ ७३ ॥

उस समय जो मनुष्य जहाँ-तहाँ बिखरे हुए रहते थे, देवोंने उन सबको लाकर उस नगरीमें बसाया और सबके सुभीतेके लिए विविध प्रकारके उपयोगी स्थानोंकी व्यवस्था की ॥ ७३ ॥

नरेन्द्रभवनं रम्यं सुरैर्मध्ये निवेशितम् । सुरेन्द्रभवनस्पर्धि विविधविभवान्वितम् ॥ ७४ ॥

उस नगरीके मध्यभागमें देवोंने मनोहर राजभवन बनाया, जो इन्द्रभवनके साथ स्पर्धा करनेवाला और विविध बहुमूल्य वैभवसे सम्पन्न था ॥ ७४ ॥

सुधर्मा सूत्रधारोऽस्याः शिल्पिनः कल्पजाः सुराः । वास्तुजातं मही सर्वो सोढ्वा नास्तु कथं पुरी ॥ ७५ ॥

जब उस नगरीका सूत्रधार (शिल्पाचार्य) इन्द्र था, कल्पवासी देव कारीगर थे और सम्पूर्ण पृथिवी ही वास्तु-सामग्री बनी हुई थी, तब वह नगरी परम प्रशंसनीय क्यों न होती? ॥ ७५ ॥

उदञ्चद्गोपुरां तां वप्रप्राकारपरिखादिभिः । अयोध्यां न परा जेतुं गुणेनाप्यरिभिः पुनः ॥ ७६ ॥

देवोंने उस नगरीको ऊँचे गोपुरों, धूलिकोट (वप्र), चार दरवाजोंवाले पत्थरके प्राकार और गहरी खाइयोंसे सुशोभित किया। वह नगरी शत्रुओंसे अजेय होनेके कारण नामसे ही नहीं, गुणोंसे भी 'अयोध्या' थी ॥ ७६ ॥

साकेतरूढिरप्यस्याः श्लाघ्यैव स्वैर्निकेतनैः । स्वनिकेतमिवाह्वयद्भिर्वास्तुकेतुबाहुभिः ॥ ७७ ॥

उस नगरीका 'साकेत' नाम भी सर्वथा सार्थक था, क्योंकि पताकारूपी भुजाओंको फहराते हुए उसके ऊँचे-ऊँचे भवन मानो स्वर्गके भवनोंको अपने यहाँ बुलानेके लिए संकेत कर रहे थे ॥ ७७ ॥

> सुकोशलेति सा ख्याता देशस्याभिधया पुनः । विनीतजनताकीर्णा विनीतेति च सा स्मृता ॥ ७८ ॥

सुकोशल देशमें स्थित होनेके कारण वह 'सुकोशला' नामसे भी विख्यात हुई, और शिक्षित, सभ्य तथा विनीत प्रजासे व्याप्त होनेके कारण वह 'विनीता' भी कहलाती थी ॥ ७८ ॥

> ततो सुकोशला भाविप्रथीयस्योरुधायिनः । नाभिलक्ष्मीं दधानाऽसौ राजधानी सुविश्रुता ॥ ७९ ॥

वह सुकोशला नामकी राजधानी अत्यन्त प्रसिद्ध थी और आगे होनेवाले बड़े भारी देशके नाभि-स्थान (केन्द्र) की शोभाको धारण करती हुई सुशोभित होती थी ॥ ७९ ॥

> राजवेश्मपरिखावप्रप्राकारसङ्गतम् । तद्वत्स्यन्नगराणां प्रतिच्छन्दायितं पुरम् ॥ ८० ॥

राजभवन, खाई, वप्र और प्राकारसे युक्त वह नगर ऐसा जान पड़ता था मानो आगामी कर्मभूमिके समयमें बननेवाले नगरोंकी रचनाके लिए एक आदर्श नक्शा ही बनाया गया हो ॥ ८० ॥

द्वादशं पर्व (श्लोक ८१ - १८७)

> अथाह्नि सुमुहूर्ते च सुयोगे शुभलक्ष्मणि । पुण्याहघोषणां तत्र चक्रुः सुराः प्रमोदिनः ॥ ८१ ॥

तदनन्तर उस अयोध्या नगरीमें सब देवोंने मिलकर शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभ योग और शुभ लग्नमें हर्षित होकर पुण्याहवाचनकी घोषणा की ॥ ८१ ॥

> अभ्यवात्तां तदानीं तौ तन्नगरं महर्द्धिकम् । दम्पती मुदितावाप्तसम्पत्परम्परी ॥ ८२ ॥

अनेक सम्पदाओंकी परम्पराको प्राप्त हुए महाराज नाभिराज और मरुदेवीने अत्यन्त आनन्दित होकर उस पुण्याहवाचनके समय ही उस महर्द्धियुक्त नगरीमें प्रवेश कर निवास करना आरम्भ किया ॥ ८२ ॥

> विश्वदृश्वाऽनयोः पुत्रो जनितेति शतक्रतुः । तयोः पूजां व्यधत्तोच्चैरभिषेकपुरःसरम् ॥ ८३ ॥

'इन दोनोंके सर्वदर्शी भगवान् ऋषभदेव पुत्ररूपसे जन्म लेंगे' यह जानकर इन्द्रने अभिषेकपूर्वक उन दोनों माता-पिताकी महान् पूजा की ॥ ८३ ॥

> षण्मासकिरणैतस्मिन् स्वर्गादवतरिष्यति । रत्नवृष्टिं दिवो देवाः पातयामासुरादरात् ॥ ८४ ॥

तदनन्तर जब छह महीने बाद भगवान् ऋषभदेव स्वर्गसे अवतार लेंगे ऐसा जानकर देवोंने बड़े आदरके साथ आकाशसे रत्नोंकी वर्षा की ॥ ८४ ॥

> संक्रन्दननियुक्तेन धनेशेनेह पातिता । साऽभाद् रत्नौघवृष्टिस्तु प्रस्थितेवाग्रतो विभोः ॥ ८५ ॥

इन्द्रके द्वारा नियुक्त कुबेरने जो रत्नोंके समूहकी वर्षा की थी वह ऐसी सुशोभित होती थी मानो भगवान् ऋषभदेवकी सम्पत्ति उत्सुकतावश उनके आगे-आगे पहले ही आ गयी हो ॥ ८५ ॥

> इन्द्रनीलमहानीलपद्मरागांशुसङ्करैः । साऽद्योतत सुरचापश्रीरगुणत्वमिवाश्रिता ॥ ८६ ॥

वह रत्नवृष्टि मरकत, इन्द्रनील और पद्मराग आदि मणियोंकी मिली-जुली किरणोंसे ऐसी देदीप्यमान हो रही थी मानो धनुषके गुणों (डोरी) से रहित होकर सीधी रेखाके रूपमें इन्द्रधनुषकी शोभा ही उतर रही हो ॥ ८६ ॥

> ऐरावतकरोत्सङ्गसमायतकराकृतिः । बभौ पुण्यद्रुमस्येव शिफाप्रारोहसन्ततिः ॥ ८७ ॥

ऐरावत हाथीकी सूँडके समान स्थूल, लम्बी और गोल आकारवाली वह रत्नोंकी धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानो पुण्यरूपी कल्पवृक्षके विशाल अंकुरोंकी परम्परा ही नीचे उतर रही हो ॥ ८७ ॥

> निबिडं रोदसी रुद्ध्वा सा धारा पतन्त्यभात् । सुरद्रुमैरिवोत्सृष्टा प्रारोहपरम्परा ॥ ८८ ॥

आकाश और पृथिवीके अन्तरालको सघन रूपसे रोककर पड़ती हुई वह रत्नोंकी धारा ऐसी जान पड़ती थी मानो कल्पवृक्षोंके द्वारा छोड़ी गयी जटाओंकी अविच्छिन्न परम्परा ही हो ॥ ८८ ॥

> यद्वा हिरण्मयी वृष्टिः खाङ्गणान्निपतन्त्यसौ । ज्योतिर्गणप्रभोच्चैरायान्ती सुरसद्मनः ॥ ८९ ॥

अथवा आकाशरूपी आँगनसे गिरती हुई वह सुवर्ण-रत्नोंकी वर्षा ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो देवविमानोंसे ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट प्रभा ही उतर रही हो ॥ ८९ ॥

> खादतो पतिता रत्नवृष्टिः सा क्षणमुत्प्रेक्षिता जनैः । गर्भस्रुतिर्निधीनां किं जगत्संक्षोभादभूदिति ॥ ९० ॥

आकाशसे गिरती हुई उस रत्नवृष्टिको देखकर लोग क्षण-भरके लिए यही उत्प्रेक्षा करते थे कि जगत्में क्षोभ होनेसे क्या निधियोंका गर्भपात हो रहा है? ॥ ९० ॥

खाङ्गण विप्रकीर्णानि रत्नान्येवं व्यराजिषुः । द्युशाखिनां फलानीव शातितानि सुरद्विपैः ॥ ९१ ॥

आकाशरूपी आँगनमें जहाँ-तहाँ बिखरे हुए वे रत्न ऐसे शोभायमान होते थे मानो देवोंके हाथियोंने कल्पवृक्षोंके फल ही तोड़-तोड़कर गिरा दिये हों ॥ ९१ ॥

खाङ्गण विप्रकीर्णा रत्नधारा रराज सा । विप्रकीर्णेव कालेन तारा तारकावली ॥ ९२ ॥

आकाशरूपी आँगनमें वह असंख्यात रत्नोंकी धारा ऐसी जान पड़ती थी मानो समय पाकर चंचल और चमकीली ताराओंकी पंक्ति ही बिखर गयी हो ॥ ९२ ॥

विद्युदिन्द्रायुधौ किञ्चिज्जटिलौ सुरनायकैः । क्षितौ विगलितौ स्यातामित्यसौ क्षणमैक्ष्यत ॥ ९३ ॥

उस रत्नवर्षाको देखकर क्षण-भरके लिए यही प्रतीत होता था मानो परस्पर मिले हुए बिजली और इन्द्रधनुषको ही देवोंने पृथिवीपर गिरा दिया हो ॥ ९३ ॥

किमेषा वैद्युती दीप्तिः किमुत द्युसदामियम् । द्युतिरिति व्योमचरैरीक्षे क्षणमाशङ्क्य साऽम्बरे ॥ ९४ ॥

आकाशगामी विद्याधर और देव उसे देखकर क्षण-भरके लिए यही आशंका करते थे कि यह आकाशमें बिजलीकी चमक है अथवा देवोंकी दिव्य प्रभा है? ॥ ९४ ॥

सैषा हिरण्मयी वृष्टिर्धनेशेनाभिनिपातिता । विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत् ॥ ९५ ॥

कुबेरने जो यह सुवर्ण और रत्नोंकी वर्षा की थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो जगत्को भगवान्की 'हिरण्यगर्भता' बतलानेके लिए ही की गयी हो ॥ ९५ ॥

षण्मासानिति वर्षेयं पुण्ये नाभिगृहाङ्गणे । स्वर्गावताराद् विभोः प्राक्तरां शुभ्रसन्ततिः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार भगवान्के स्वर्गावतारसे छह महीने पहलेसे ही महाराज नाभिराजके पवित्र आँगनमें रत्न और सुवर्णकी वर्षा हुई थी ॥ ९६ ॥

पश्चाच्च नवमासेषु वर्षेयं तदाऽभवत् । अहो महान् प्रभावोऽस्य तीर्थकृत्वस्य भाविनः ॥ ९७ ॥

और गर्भावतारके पश्चात् भी नौ महीने तक निरन्तर रत्न तथा सुवर्णकी वर्षा होती रही थी, सो ठीक ही है, होनेवाले तीर्थंकरका प्रभाव अत्यन्त महान् और आश्चर्यकारक होता है ॥ ९७ ॥

रत्नगर्भा धरा जाता हृष्टगर्भाः सुरोत्तमाः । क्षोभमायाज्जगदिदं गर्भाधानोत्सवे विभोः ॥ ९८ ॥

भगवान्के गर्भावतार-उत्सवके समय यह समस्त पृथिवी रत्नोंसे परिपूर्ण हो गयी थी, देवगण हर्षित हो गये थे और तीनों लोकोंमें बड़ा भारी क्षोभ (हर्षोल्लास) व्याप्त हो गया था ॥ ९८ ॥

सिक्ता जाह्नवीवारिकणैः सा रत्नैरलंकृता । अवन्ध्यफलदा जगज्जन्तोर्गर्भिणीवाभवत् क्षितिः ॥ ९९ ॥

भगवान्के गर्भावतारके समय यह पृथिवी गंगा नदीके जलकणोंसे सींची गयी थी तथा विविध रत्नोंसे अलंकृत की गयी थी, इसलिए वह भी उत्तम फलको देनेवाली किसी गर्भिणी स्त्रीके समान भारी और शोभासम्पन्न हो गयी थी ॥ ९९ ॥

सा कीर्णा प्रसूनैश्च सिक्ता गन्धाम्बुभिर्बभौ । तदा स्नातानुलिप्तेव भूषिताङ्गी धराजना ॥ १०० ॥

उस समय पुष्पोंसे आच्छादित तथा सुगन्धित जलसे सींची गयी वह पृथिवीरूपी स्त्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो स्नान कर, चन्दनका विलेपन लगाकर और आभूषणोंसे सुसज्जित होकर बैठी हो ॥ १०० ॥

सम्मता नाभिराजस्य पुष्पवत्यरजस्वला । वसुन्धरा तदा वव्रे जिनमातुरनुक्रियाम् ॥ १०१ ॥

उस समय वह पृथिवी भगवान् ऋषभदेवकी माता मरुदेवीकी सदृशताको प्राप्त हो रही थी, क्योंकि जिस प्रकार मरुदेवी नाभिराजको अत्यन्त प्रिय थीं उसी प्रकार पृथिवी उन्हें प्रिय थी, और मरुदेवी जिस प्रकार रजस्वला न होकर पुष्पवती थीं उसी प्रकार पृथिवी भी धूलिरहित (अरजस्क) होकर फूलोंसे आच्छादित (पुष्पवती) थी ॥ १०१ ॥

अथैकदा सा देवी सौधे मृदुनि तल्पके । गङ्गातरङ्गसच्छायदुकूलप्रच्छदोज्ज्वले ॥ १०२ ॥

अनन्तर किसी दिन मरुदेवी राजमहलमें गंगाकी लहरोंके समान श्वेत और रेशमी चादरसे उज्ज्वल कोमल शय्यापर सुखपूर्वक सो रही थीं ॥ १०२ ॥

> सापश्यत् षोडश स्वप्नानिमान् सुकृतसूचकान् । निशायाः पश्चिमे यामे जिनजन्मानुशंसिनः ॥ १०३ ॥

सोते समय उन्होंने रात्रिके पिछले प्रहरमें जिनेन्द्रदेवके जन्मको सूचित करनेवाले तथा महान् पुण्यका फल देनेवाले नीचे लिखे सोलह स्वप्न देखे ॥ १०३ ॥

> गजेन्द्रमैरावतनिभं वृंहितं त्रिमदस्स्रुतम् । स्तनन्तमिव सासारं सा ददर्श घनोपमम् ॥ १०४ ॥

सबसे पहले उन्होंने इन्द्रके ऐरावतके समान एक गजेन्द्र देखा, जो गम्भीर गर्जना कर रहा था तथा जिसके दोनों कपोलों और सूँड इन तीन स्थानोंसे मद झर रहा था, इसलिए वह गर्जते और बरसते हुए वर्षाकालके मेघके समान जान पड़ता था (पहला स्वप्न) ॥ १०४ ॥

> गवेन्द्रं दुन्दुभिस्कन्धं कुमुदापाण्डरद्युतिम् । पीयूषराशिनीकाशं सापश्यन्मन्द्रनिःस्वनम् ॥ १०५ ॥

दूसरे स्वप्नमें उन्होंने एक उत्तम बैल (वृषभ) देखा, जिसके कन्धे नगाड़ेके समान ऊँचे थे, जो श्वेत कमलके समान धवल वर्णवाला था, अमृतकी राशिके समान सुशोभित था और मन्द गम्भीर शब्द कर रहा था (दूसरा स्वप्न) ॥ १०५ ॥

> मृगेन्द्रमिन्दुसच्छायमुल्लसद्रक्तकन्धरम् । ज्योत्स्नया संध्यया चैव घटिताङ्गमिवैक्षत ॥ १०६ ॥

तीसरे स्वप्नमें उन्होंने चन्द्रमाके समान धवल और लाल ग्रीवावाले सिंहको देखा, जो ऐसा मालूम होता था मानो चाँदनी और सन्ध्याकी लालिमासे ही उसका शरीर बना हो (तीसरा स्वप्न) ॥ १०६ ॥

> पद्मा पद्मामयोत्तुङ्गविष्टरे सुरवारणैः । स्नाप्यमानां पयोघटैः साऽद्राक्षीत् स्वामिव श्रियम् ॥ १०७ ॥

चौथे स्वप्नमें उन्होंने कमलमय ऊँचे आसनपर बैठी हुई लक्ष्मीको देखा, जिसका देवोंके हाथी सुवर्णमय कलशोंसे अभिषेक कर रहे थे (चौथा स्वप्न) ॥ १०७ ॥

दामनी कुसुमामोदसमाकृष्टमदाकिनी । तन्मधुव्रतकुलैरिवारब्धगाने सानन्दमैक्षत ॥ १०८ ॥

पाँचवें स्वप्नमें उन्होंने बड़े ही आनन्दके साथ दो पुष्प-मालाएँ देखीं, जिनपर पुष्पोंकी सुगन्धके कारण भौंरोंके समूह मँडरा रहे थे और मधुर गुंजार कर रहे थे, जिससे ऐसा लगता था मानो वे मालाएँ गान कर रही हों (पाँचवाँ स्वप्न) ॥ १०८ ॥

समग्रबिम्बमुद्द्योतं ताराधीशं सतारकम् । दृष्ट्वा स्वमिव वक्त्राब्जं समौक्तिकमलोकयत् ॥ १०९ ॥

छठे स्वप्नमें उन्होंने तारोंसहित पूर्ण चन्द्रमण्डलको देखा, जो अपनी उज्ज्वल चाँदनीसे जगत्को प्रकाशित कर रहा था और मोतियोंसे युक्त हँसते हुए अपने मुखकमलके समान जान पड़ता था (छठा स्वप्न) ॥ १०९ ॥

विधूतध्वान्तमुद्यन्तं भास्वन्तमुदयाचलात् । ज्ञातकुम्भमयं कुम्भमिवाद्राक्षीत् समुत्थितम् ॥ ११० ॥

सातवें स्वप्नमें उन्होंने उदयाचलसे उदित होते हुए तथा अन्धकारको नष्ट करते हुए सूर्यको देखा, जो ऐसा सुवर्णमय कलश जान पड़ता था मानो मांगलिक कार्यके लिए स्थापित किया गया हो (सातवाँ स्वप्न) ॥ ११० ॥

कलशौ हिरण्मयौ पद्मपिहितास्यौ व्यलोकयत् । स्तनकुम्भाविवात्मीयौ समासक्तकराम्बुजौ ॥ १११ ॥

आठवें स्वप्नमें उन्होंने सुवर्णके दो कलश देखे, जिनके मुख कमलोंसे ढके हुए थे, जिससे वे हस्तकमलोंसे आच्छादित अपने दोनों स्तन-कलशोंके समान जान पड़ते थे (आठवाँ स्वप्न) ॥ १११ ॥

क्रीडन्ती सरसि संफुल्लकुमुदोत्पलपङ्कजे । सापश्यन्नयनायामं दृश्यन्ताविव चात्मनः ॥ ११२ ॥

नौवें स्वप्नमें उन्होंने खिले हुए कुमुद और कमलोंसे सुशोभित तालाबमें क्रीड़ा करती हुई दो मछलियाँ देखीं, जो मानो अपने (मरुदेवीके) नेत्रोंकी विशालताको ही प्रदर्शित कर रही थीं (नौवाँ स्वप्न) ॥ ११२ ॥

तरत्सरोजकिञ्जल्कपिञ्जरोदकमैक्षत । सुवर्णद्रवसम्पूर्णमिव दिव्यं सरोवरम् ॥ ११३ ॥

दसवें स्वप्नमें उन्होंने एक सुन्दर सरोवर देखा, जिसका जल तैरते हुए कमलोंके केशरसे पीला हो रहा था, जिससे ऐसा लगता था मानो पिघले हुए सुवर्णसे ही भरा हुआ हो (दसवाँ स्वप्न) ॥ ११३ ॥

> क्षुभ्यन्तमब्धिमुद्वेलं चलत्कल्लोलकाहलम् । साऽद्राक्षीच्छीकरैर्मुक्तामट्टहासमिवोद्यतम् ॥ ११४ ॥

ग्यारहवें स्वप्नमें उन्होंने मर्यादाका उल्लंघन करते हुए क्षुब्ध समुद्रको देखा, जिसकी चंचल तरंगोंसे गम्भीर घोष हो रहा था और जलकणोंके बिखरनेसे ऐसा लगता था मानो वह अट्टहास कर रहा हो (ग्यारहवाँ स्वप्न) ॥ ११४ ॥

> सिंहमासनमुत्तुङ्गं स्फुरन्मणिहिरण्मयम् । सापश्यन्मेरुश्रृङ्गस्य वैदग्धीं प्रकटीकृतम् ॥ ११५ ॥

बारहवें स्वप्नमें उन्होंने एक ऊँचा सिंहासन देखा, जो सुवर्णका बना हुआ था और मणियोंसे देदीप्यमान था, जिससे वह मेरु पर्वतके शिखरकी उत्कृष्ट शोभाको प्रकट कर रहा था (बारहवाँ स्वप्न) ॥ ११५ ॥

> नाकाङ्कयं व्यलोकिष्ट परार्ध्यमणिभासुरम् । स्वसूनोः प्रसवागारमिव देवैरुपाहृतम् ॥ ११६ ॥

तेरहवें स्वप्नमें उन्होंने बहुमूल्य मणियोंसे देदीप्यमान स्वर्गका विमान देखा, जो ऐसा लगता था मानो देवोंके द्वारा भेंट किया हुआ अपने पुत्रका प्रसवगृह ही हो (तेरहवाँ स्वप्न) ॥ ११६ ॥

> फणीन्द्रभवनं भूमिमुद्भिद्योदितमैक्षत । प्राग्दृष्टस्वर्गविमानेन स्पर्धया कर्त्तुमिवोद्यतम् ॥ ११७ ॥

चौदहवें स्वप्नमें उन्होंने पृथिवीको भेदकर ऊपर प्रकट हुआ नागेन्द्रका भवन देखा, जो पहले देखे गये स्वर्गके विमानके साथ स्पर्धा करनेके लिए ही उद्यत हुआ-सा जान पड़ता था (चौदहवाँ स्वप्न) ॥ ११७ ॥

> रत्नानां राशिमुत्सर्पद्रुक्पल्लविताम्बरम् । साऽद्राक्षीद् धरादेव्या निधानमिव दर्शितम् ॥ ११८ ॥

पन्द्रहवें स्वप्नमें उन्होंने अपनी फैलती हुई किरणोंसे आकाशको पल्लवित करनेवाली रत्नोंकी विशाल राशि देखी, जिसे देखकर मरुदेवीने ऐसा समझा मानो पृथिवी देवीने अपना गुप्त खजाना ही प्रकट कर दिया हो (पन्द्रहवाँ स्वप्न) ॥ ११८ ॥

ज्वलद्भासुरनिर्धूमवपुषं विषमार्चिषम् । प्रतापमिव पुत्रस्य मूर्तिमन्तं शिखिम् ॥ ११९ ॥

और सोलहवें स्वप्नमें उन्होंने जलती हुई, प्रकाशमान और धुआँरहित अग्निको देखा, जो ऐसी मालूम होती थी मानो होनेवाले पुत्रका मूर्त्तिमान् प्रताप ही हो (सोलहवाँ स्वप्न) ॥ ११९ ॥

न्यशामयद् वृषं चैकं कनकच्छविम् । प्रविशन्तं वदने स्वप्नान्ते पीनकन्धरम् ॥ १२० ॥

इस प्रकार सोलह स्वप्न देखनेके पश्चात् स्वप्नके अन्तमें उन्होंने देखा कि सुवर्णके समान पीली कान्तिका धारक और ऊँचे कन्धोंवाला एक विशाल वृषभ (बैल) उनके मुखकमलमें प्रवेश कर रहा है ॥ १२० ॥

ततः प्राबोधिकैस्तूर्यैर्ध्वनद्भिः पर्यबुध्यत । बन्दिनां मङ्गलोद्गीतीः श्रृण्वतीति शुभावहाः ॥ १२१ ॥

तदनन्तर बजते हुए प्रातःकालीन बाजोंकी ध्वनिसे वे जाग गयीं और मङ्गल-पाठ करनेवाले बन्दीजनोंके शुभ मंगलमय वचनोंको सुनने लगीं ॥ १२१ ॥

सुखप्रबोधमाधातुमेतस्याः पुण्यपाठकाः । जगुः प्रपठ्यन्त्युच्चैर्मङ्गलान्यस्खलद्गिरः ॥ १२२ ॥

उस समय मरुदेवीको सुखपूर्वक जगानेके लिए जिनकी वाणी अत्यन्त स्पष्ट है ऐसे पुण्यात्मा बन्दीजन उच्च स्वरसे मंगलपाठ पढ़ रहे थे ॥ १२२ ॥

प्रबोधसमयोऽयं ते देवि संमुखमागतः । रचयन् द्रविणोद्भूतैरब्जैरिवाञ्जलिम् ॥ १२३ ॥

हे देवि! यह तुम्हारे जागनेका प्रभात समय उपस्थित हुआ है, जो कि कुछ-कुछ खिले हुए कमलोंके द्वारा मानो तुम्हें हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहा है ॥ १२३ ॥

विभावरी विभात्येषा दधती बिम्बमैन्दवम् । जितं त्वन्मुखकान्त्यैव गलज्ज्योत्स्नापरिच्छदम् ॥ १२४ ॥

तुम्हारे मुखकी कान्तिसे पराजित होनेके कारण ही मानो जिसकी चाँदनी क्षीण हो गयी है ऐसे चन्द्रमण्डलको धारण करती हुई यह रात्रि कैसी शोभित हो रही है ॥ १२४ ॥

विच्छायतां गते सोमे मन्दीकृतादरम् । जगदानन्दयत्वद्य प्रफुल्लं त्वन्मुखांबुजम् ॥ १२५ ॥

हे देवि! अब कान्तिरहित चन्द्रमामें जगत्का आदर कम हो गया है, इसलिए प्रफुल्लित हुआ तुम्हारा यह मुखकमल ही समस्त संसारको आनन्दित करे ॥ १२५ ॥

विदिग्वधूमुखानीन्दुरस्पृशन्नस्फुटैः करैः । आपृच्छिषते नूनं प्रवसन् स्वप्रियाङ्गनाः ॥ १२६ ॥

यह अस्तोन्मुख चन्द्रमा अपनी मन्द किरणों (हाथों) से दिशारूपी वधुओंके मुखका स्पर्श कर रहा है, जिससे ऐसा मालूम होता है मानो परदेश जानेके लिए अपनी प्यारी स्त्रियोंसे विदा माँग रहा हो ॥ १२६ ॥

तारागणोऽयं व्योम्नि विरलैर्लक्ष्यतेऽधुना । विप्रकीर्णेव हारश्रीयमिन्या गतिसंभ्रमात् ॥ १२७ ॥

ताराओंका समूह भी अब आकाशमें कहीं-कहीं विरल दिखाई दे रहा है, जो ऐसा जान पड़ता है मानो जानेकी जल्दीमें रात्रिरूपी नायिकाके मोतियोंके हारके दाने ही बिखर गये हों ॥ १२७ ॥

उदेति कलमादित्यैः सरसि सारसः । स्तौतुकामैरिवास्माभिः समं त्वां स्तुतिभिर्वरैः ॥ १२८ ॥

हे देवि! इधर सरोवरोंमें ये सारस पक्षी मनोहर और गम्भीर शब्द कर रहे हैं, जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो मंगलपाठ करते हुए हम लोगोंके साथ मिलकर तुम्हारी स्तुति ही करना चाहते हों ॥ १२८ ॥

उच्छ्वसत्कमलास्येयमितोऽधिगृहदीर्घिकाम् । स्तवन्ती गायतीवोच्चैरब्जिनी भ्रमररवैः ॥ १२९ ॥

इधर राजमहलकी बावड़ीमें भी कमलिनीके कमलरूपी मुख प्रफुल्लित हो गये हैं और उनपर गूँजते हुए भ्रमरोंके द्वारा मानो कमलिनी उच्च स्वरसे आपकी कीर्तिको गा रही है ॥ १२९ ॥

निशाविरहसंतप्तमितश्चक्राह्वयोर्युगम् । सरस्तरङ्गसंस्पर्शैर्हृद्यैराश्वास्यतेऽधुना ॥ १३० ॥

रात्रिभरके विरहसे सन्तप्त हुआ यह चकवा-चकवीका युगल अब सरोवरकी शीतल तरंगोंके सुखद स्पर्शसे कुछ-कुछ सान्त्वना प्राप्त कर रहा है ॥ १३० ॥

रथाङ्गमिथुनैरथ प्रार्थ्यते मित्रसन्निधिः । तीव्रमायासितैरन्तः करैरिन्दोर्विदाहिभिः ॥ १३१ ॥

अतिशय दाह करनेवाली चन्द्रमाकी किरणोंसे रातभर पीड़ित हुए चकवा-चकवी अब अपने मित्र सूर्यके आगमनकी प्रार्थना कर रहे हैं ॥ १३१ ॥

दुनोति कृकवाकूणां ध्वनिरेष समुच्चरन् । कान्तासन्नवियोगार्त्तिपिशुनः कामिनां मनः ॥ १३२ ॥

शीघ्र होनेवाले प्रियजनोंके वियोगकी सूचना देनेवाली मुर्गोंकी यह प्रातःकालीन बाँग कामी पुरुषोंके चित्तको व्यथित कर रही है ॥ १३२ ॥

यदिन्दोः प्राप्तमान्द्यस्य नोदस्तं मन्दभाः करैः । तदेतदपास्तं तमो नैशं खरांशूदयोन्मुखे ॥ १३३ ॥

कान्तिहीन चन्द्रमाकी मन्द किरणोंसे रात्रिका जो अन्धकार नष्ट नहीं हो सका था, वह अब प्रखर किरणोंवाले सूर्यके उदित होते ही सर्वथा नष्ट हो गया है ॥ १३३ ॥

तमः शाबरमुद्भिद्य करैर्भानोरिहैष्यतः । सेनेवाग्रेसरी सन्ध्या स्फुरत्येषानुरागिणी ॥ १३४ ॥

अपनी किरणोंसे अन्धकारको नष्ट करनेवाले सूर्यके उदित होनेसे पूर्व ही लालिमायुक्त सन्ध्या प्रकट हो गयी है, जो ऐसी जान पड़ती है मानो सूर्यरूपी राजाकी आगे चलनेवाली सेना ही हो ॥ १३४ ॥

मित्रमण्डलमुद्गच्छदिदमातनुते द्वयम् । विकासमब्जिनीषण्डे म्लानिं च कुमुदाकरे ॥ १३५ ॥

यह उदित होता हुआ सूर्यमण्डल एक साथ दो कार्य कर रहा है--एक तो कमलिनियोंके वनमें विकासका विस्तार करता है और दूसरा कुमुदिनियोंके समूहमें म्लानता फैलाता है ॥ १३५ ॥

प्रबुद्धं च समालोक्य पद्मिन्याः पङ्कजाननम् । सासूयेव परिम्लानिं प्रयात्येषा कुमुद्वती ॥ १३६ ॥

अथवा कमलिनीके कमलरूपी मुखको विकसित हुआ देखकर यह कुमुदिनी मानो ईर्ष्यावश ही म्लानताको प्राप्त हो रही है ॥ १३६ ॥

पुरः प्रसारयन्नुच्चैः करानुदेति भानुमान् । प्राचीदिगङ्गनागर्भात् तेजोगर्भ इवार्भकः ॥ १३७ ॥

यह सूर्य अपनी ऊँची किरणों (हाथों) को आगे फैलाता हुआ उदित हो रहा है, जिससे ऐसा मालूम होता है मानो पूर्व दिशारूपी स्त्रीके गर्भसे कोई तेजस्वी बालक ही जन्म ले रहा हो ॥ १३७ ॥

लक्ष्यते निषधोत्सङ्गे भानुरारक्तमण्डलः । समुच्चित्य कृतः सान्ध्यो राग इवेन्द्रैः सुरैः ॥ १३८ ॥

निषध पर्वतके समीप उदित हुआ यह लाल सूर्यमण्डल ऐसा जान पड़ता है मानो देवों और इन्द्रोंके द्वारा एकत्र किया हुआ सम्पूर्ण सन्ध्याओंका लाल रंग ही हो ॥ १३८ ॥

तमो विधूतमभ्रान्तात् चक्रवाकपरिक्लमः । प्रबोधिताऽब्जिनी भानोर्जन्मनोन्मीलितं जगत् ॥ १३९ ॥

सूर्यके उदय होते ही समस्त अन्धकार नष्ट हो गया, चकवा-चकवियोंका क्लेश दूर हो गया, कमलिनियाँ खिल गयीं और सारा संसार प्रकाशमान होकर जाग उठा ॥ १३९ ॥

समन्तादापतत्येष प्रभाते शिशिरोऽनिलः । कमलामोदमाकर्षन् प्रफुल्लादब्जिनीवनात् ॥ १४० ॥

प्रभातके समय खिले हुए कमलोंके वनसे सुगन्धको खींचता हुआ यह शीतल मन्द पवन चारों ओर बह रहा है ॥ १४० ॥

इति प्रस्पष्टमेवैष प्रबोधसमयस्तव । देवि मुञ्चाधुना शय्यां शुद्धां हंसीव सैकतम् ॥ १४१ ॥

इसलिए हे देवि! यह तुम्हारे जागनेका समय स्पष्ट ही आ गया है, अतः जिस प्रकार हंसिनी बालूके टीलेको छोड़ देती है, उसी प्रकार तुम भी अपनी इस निर्मल शय्याको छोड़ो ॥ १४१ ॥

सुप्रभातमस्तु ते नित्यं कल्याणशतभाग् भव । प्राचीवार्कमसोषीष्ठाः पुत्रं त्रैलोक्यदीपकम् ॥ १४२ ॥

तुम्हारा प्रभात सदा मंगलमय हो, तुम सैकड़ों कल्याणोंको प्राप्त होओ, और जिस प्रकार पूर्व दिशा सूर्यको जन्म देती है उसी प्रकार तुम भी तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाले पुत्रको जन्म दो ॥ १४२ ॥

स्वप्नसंदर्शनादेव प्रबुद्धा प्राक्तरां पुनः । प्रबोधितेति तान् दृष्ट्वा सा संप्रमोदमयं जगत् ॥ १४३ ॥

यद्यपि मरुदेवी शुभ स्वप्नोंको देखनेसे पहले ही जाग चुकी थीं, तथापि बन्दीजनोंके इस प्रकार मंगलपाठसे जगाये जानेपर उन्होंने सम्पूर्ण संसारको आनन्दमय देखा ॥ १४३ ॥

प्रबुद्धा च शुभस्वप्नदर्शनानन्दनिर्भरात् । तनुं कण्टकितामुहे साऽब्जिनीव विकासिनी ॥ १४४ ॥

शुभ स्वप्नोंके दर्शनसे जिन्हें अपार आनन्द हो रहा था ऐसी जागी हुई मरुदेवी खिले हुए कमलके समान रोमांचित (कण्टकित) शरीरको धारण कर रही थीं ॥ १४४ ॥

ततस्तद्दर्शनानन्दं वोढुं स्वाङ्गेष्विवाक्षमा । कृतमङ्गलनेपथ्या सा भेजे पत्युरन्तिकम् ॥ १४५ ॥

तदनन्तर वह मरुदेवी स्वप्न देखनेसे उत्पन्न हुए आनन्दको मानो अपने ही अंगोंमें धारण करनेके लिए समर्थ नहीं हुई थी, इसीलिए वह मंगलमय स्नान कर और वस्त्राभूषण धारण कर अपने पतिके समीप पहुँची ॥ १४५ ॥

उचितेन नियोगेन दृष्ट्वा सा नाभिभूभुजम् । तस्मै नृपासनस्थाथ सुखासीना व्यजिज्ञपत् ॥ १४६ ॥

उसने वहाँ जाकर उचित विनयसे महाराज नाभिराजके दर्शन किये और फिर सुखपूर्वक बैठकर, राजसिंहासनपर बैठे हुए महाराजसे इस प्रकार निवेदन किया ॥ १४६ ॥

अद्य यामिनीभागे पश्चिमे सुखनिद्रिता । अद्राक्षं षोडश स्वप्नानिमानत्यद्भुतोदयान् ॥ १४७ ॥

हे देव! आज मैं सुखसे सो रही थी, सोते हुए मैंने रात्रिके पिछले भागमें आश्चर्यजनक फल देनेवाले ये सोलह स्वप्न देखे हैं ॥ १४७ ॥

गजेन्द्रमवदाताङ्गं वृषभं दुन्दुभिस्वनम् । सिंहमुत्तुङ्गशिखरं श्रियं स्नाप्यां सुरद्विपैः ॥ १४८ ॥

स्वच्छ और सफेद शरीरको धारण करनेवाला ऐरावत हाथी, दुन्दुभिके समान गम्भीर शब्द करता हुआ बैल, पर्वतकी चोटीपर स्थित सिंह, देवोंके हाथियों द्वारा नहलायी जाती हुई लक्ष्मी ॥ १४८ ॥

दामनी लम्बमाने खे शीतांशुं द्योतिताम्बरम् । प्रोद्गच्छन्तमब्जिनीबन्धुं बन्धुरं झषयुग्मकम् ॥ १४९ ॥

आकाशमें लटकती हुई दो पुष्पमालाएँ, आकाशको प्रकाशित करता हुआ चन्द्रमा, उदित होता हुआ सूर्य, मनोहर मछलियोंका युगल ॥ १४९ ॥

कलशावरुणापूर्णौ सरः स्वच्छाम्बु साम्बुजम् । वाराशिं क्षुभितावर्त्तं सिंहासनमुरुभासुरम् ॥ १५० ॥

जलसे भरे हुए दो कलश, स्वच्छ जल और कमलोंसे युक्त सरोवर, क्षुब्ध और भँवरोंसे युक्त समुद्र, देदीप्यमान ऊँचा सिंहासन ॥ १५० ॥

विमानमापतत् स्वर्गाद् भुवो भवनमुत्थितम् । रत्नराशिं स्फुरद्रश्मिं शिखिनं ज्वलद्द्युतिम् ॥ १५१ ॥

स्वर्गसे उतरता हुआ विमान, पृथिवीसे प्रकट होता हुआ नागेन्द्रका भवन, चमकती किरणोंवाली रत्नोंकी राशि और प्रज्वलित देदीप्यमान अग्नि ॥ १५१ ॥

दृष्ट्वैतान् षोडश स्वप्नानथादर्शं महीपते । वदनं मे विशन्तं तं वृषभं कनकच्छविम् ॥ १५२ ॥

इन सोलह स्वप्नोंको देखनेके पश्चात् हे राजन्! मैंने देखा कि सुवर्णके समान पीली कान्तिका धारक एक विशाल बैल मेरे मुखकमलमें प्रवेश कर रहा है ॥ १५२ ॥

वदैतेषां फलं देव कौतुकं मे विवर्धते । अपूर्वदर्शनात् कस्य न स्यात् कौतुकवन्मनः ॥ १५३ ॥

हे देव! आप इन स्वप्नोंका फल कहिए, इनके फल जाननेका मेरा कौतूहल निरन्तर बढ़ रहा है, सो ठीक ही है, अपूर्व वस्तुके देखनेसे किसका मन उत्सुक नहीं होता? ॥ १५३ ॥

अथासाववधिज्ञानविबुद्धस्वप्नसत्फलः । जगाद सान्त्वनापूर्वं देव्यै लसद्दशनदीधितिः ॥ १५४ ॥

तदनन्तर अवधिज्ञानके द्वारा जिन्होंने स्वप्नोंका उत्तम फल जान लिया है और जिनके दाँतोंकी किरणें शोभायमान हो रही हैं ऐसे महाराज नाभिराज मरुदेवीको सान्त्वनापूर्वक उनका फल कहने लगे ॥ १५४ ॥

श्रृणु देवि महान् पुत्रो भविता ते गजेक्षणात् । समस्तभुवनज्येष्ठो महावृषभदर्शनात् ॥ १८५ ॥

हे देवि! सुनो, हाथीके देखनेसे तेरे महान् पुत्र होगा, और उत्तम बैल देखनेसे वह समस्त लोकमें ज्येष्ठ (श्रेष्ठ) होगा ॥ १८५ ॥

सिंहेनानन्तवीर्योऽसौ दाम्ना सद्धर्मतीर्थकृत् । लक्ष्म्याऽभिषेकमाप्ताऽसौ मेरोर्मूर्ध्नि सुरोत्तमैः ॥ १८६ ॥

सिंहके देखनेसे वह अनन्त बल (वीर्य) से युक्त होगा, मालाओंके देखनेसे समीचीन धर्मतीर्थका प्रवर्तक होगा, और लक्ष्मीके देखनेसे वह सुमेरु पर्वतके मस्तकपर देवोंके द्वारा जन्माभिषेकको प्राप्त होगा ॥ १८६ ॥

पूर्णेन्दुना जनाह्लादी भास्वता तेजसो निधिः । कलशयोर्निधिभागी स्यात् सुखी मत्स्ययुगेक्षणात् ॥ १८७ ॥

पूर्ण चन्द्रमाके देखनेसे समस्त लोगोंको आनन्द देनेवाला होगा, सूर्यके देखनेसे महान् तेजका निधान होगा, दो कलश देखनेसे अनेक निधियोंको प्राप्त होगा, और मछलियोंका युगल देखनेसे सदा सुखी होगा ॥ १८७ ॥

आदिपुराण - द्वादशं पर्व (उत्तरार्ध)

> सरसा लक्षणोल्लासी सोऽक्षोभ्योऽम्भोधिना भवेत् । सिंहासनेन साम्राज्यमवाप्स्यति जगद्गुरुः ॥ १५८ ॥

सरोवरके देखनेसे अनेक लक्षणोंसे शोभित होगा, समुद्रके देखनेसे अक्षोभ्य होगा और सिंहासनके देखनेसे जगत्का गुरु होकर साम्राज्यको प्राप्त करेगा ॥ १५८ ॥

> स्वविमानावलोकेन स्वर्गादवतरिष्यति । फणीन्द्रभवनालोकात् सोऽवधिज्ञानलोचनः ॥ १५९ ॥

विमान देखनेसे वह स्वर्गसे अवतीर्ण होगा और नागेन्द्रका भवन देखनेसे अवधिज्ञानरूपी लोचनोंसे सहित होगा ॥ १५९ ॥

> गुणानामाकरः प्रोद्यद्रत्नराशिनिशामनात् । कर्मेन्धनहरोऽप्येष निर्धूमज्वलनेक्षणात् ॥ १६० ॥

चमकते हुए रत्नसमूह देखनेसे गुणोंकी खान होगा, और निर्धूम अग्निके देखनेसे कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाला होगा ॥ १६० ॥

> वृषभाकारमादाय सवत्यास्यप्रवेशनात् । एष वृषभो देवः स्वमाधास्यति वपुस्त्वयि ॥ १६१ ॥

तथा तुम्हारे मुखमें जो वृषभने प्रवेश किया है उसका फल यह है कि तुम्हारे गर्भमें साक्षात् भगवान् वृषभदेव अपना शरीर धारण करेंगे ॥ १६१ ॥

> इति तद्वचनाद्देवी वेगेनामित रोमहृत् । हर्षाङ्कुरैरिवाकीर्णा परमानन्दनिर्वृता ॥ १६२ ॥

इस प्रकार नाभिराजके वचन सुनकर उसका सारा शरीर सहसा रोमांचित हो गया जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो परम आनन्दसे निर्भर होकर हर्षके अंकुरोंसे ही व्याप्त हो गया हो ॥ १६२ ॥

> तृतीयकालशेषेऽसावशीतिश्चतुरुत्तरा । पूर्वलक्षास्त्रिवर्षाष्टमासपक्षयुतास्तदा ॥ १ ॥ अवतीर्य युगाद्यन्ते ह्यखिलार्थविमानतः । आषाढासितपक्षस्य द्वितीयायां सुरोत्तमः ॥ २ ॥ उत्तराषाढनक्षत्रे देव्या गर्भसमाश्रितः । स्थितो यथा विबाधोऽसौ मौक्तिकं शुक्तिसम्पुटे ॥ ३ ॥

जब अवसर्पिणी कालके तीसरे सुषमा-दुःषमा नामक कालके चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष आठ माह और एक पक्ष बाकी रह गया था तब आषाढ़ कृष्ण द्वितीयाके दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्रमें वह सर्वार्थसिद्धि विमानसे च्युत होकर मरुदेवीके गर्भमें अवतीर्ण हुआ और वहाँ सीपके सम्पुटमें मोतीकी तरह सब बाधाओंसे रहित होकर स्थित हो गया ॥ १-३ ॥

> ज्ञात्वा तदा स्वचिह्नेन सर्वेऽप्यागुः सुरेश्वराः । पुरं प्रदक्षिणीकृत्य तद्गुरूborderच ववन्दिरे ॥ ४ ॥

उस समय समस्त इन्द्र अपने-अपने यहाँ गर्भकल्याणकके चिह्नोंसे भगवानके गर्भावतारका समय जानकर वहाँ आये और सभीने नगरकी प्रदक्षिणा देकर भगवानके माता-पिताको नमस्कार किया ॥ ४ ॥

> संगीतं समारब्धं वज्रिणा हि सहामरैः । क्वचिद्गीतं क्वचिद्वाद्यं क्वचिन्नृत्यं मनोहरम् ॥ ५ ॥

सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने देवोंके साथ-साथ संगीत प्रारम्भ किया। उस समय कहीं गीत हो रहे थे, कहीं बाजे बज रहे थे और कहीं मनोहर नृत्य हो रहे थे ॥ ५ ॥

> तत्प्राङ्गणं समाक्रान्तं नाकलोकैरिहागतैः । कृत्वा गर्भकल्याणं पुनर्जग्मुर्यथायथम् ॥ ६ ॥

नाभिराजका विशाल आँगन स्वर्गलोकसे आये हुए देवोंके द्वारा खचाखच भर गया था। इस प्रकार गर्भकल्याणकका उत्सव कर वे देव अपने-अपने स्थानोंपर वापस चले गये ॥ ६ ॥

> तदाप्रभृति सुत्रामशासनात्ताः सिषेविरे । दिक्कुमार्यो दासिका इव तत्कालौचितकर्मभिः ॥ १६३ ॥

उसी समयसे लेकर इन्द्रकी आज्ञासे दिक्कुमारी देवियाँ उस समय होने योग्य कार्योंके द्वारा दासियोंके समान मरुदेवीकी सेवा करने लगीं ॥ १६३ ॥

> श्रीर्ह्रीर्धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिलक्ष्म्यौ च देवताः । दधुः शोभां ह्रियं धैर्यं स्तुतिबोधौ विभूतिमत् ॥ १६४ ॥

श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी इन छह कुमारी देवियोंने मरुदेवीके समीप रहकर उसमें क्रमसे अपने-अपने शोभा, लज्जा, धैर्य, स्तुति, बोध और विभूति नामक गुणोंका संचार किया था। अर्थात् श्री देवीने मरुदेवीकी शोभा बढ़ा दी, ह्री देवीने लज्जा बढ़ा दी, धृति देवीने धैर्य बढ़ाया, कीर्ति देवीने स्तुति की, बुद्धि देवीने बोध (ज्ञान) को निर्मल कर दिया और लक्ष्मी देवीने विभूति बढ़ा दी ॥ १६४ ॥

> तस्यासादधुरभ्यर्णवर्तिन्यः स्वानिमान् गुणान् । तत्संस्काराच्च सा रेजे संस्कृतेवाग्निना मणिः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार उन देवियोंके सेवा-संस्कारसे वह मरुदेवी ऐसी सुशोभित होने लगी थी जैसे कि अग्निके संस्कारसे मणि सुशोभित होने लगता है ॥ १६५ ॥

> तास्तस्याः परिचर्यायां गर्भशोधनमादितः । चक्रुः शुचिभिर्द्रव्यैः स्वर्गलोकादुपाहृतैः ॥ १६६ ॥

परिचर्या करते समय देवियोंने सबसे पहले स्वर्गसे लाये हुए पवित्र पदार्थोंके द्वारा माताका गर्भ शोधन किया था ॥ १६६ ॥

> स्वभावविमला चार्वी भूयस्ताभिर्विशोधिता । सा शुचिस्फटिकेनेव घटिताङ्गी तदा बभौ ॥ १६७ ॥

वह माता प्रथम तो स्वभावसे ही निर्मल और सुन्दर थी इतनेपर देवियोंने उसे विशुद्ध किया था। इन सब कारणोंसे वह उस समय ऐसी शोभायमान होने लगी थी मानो उसका शरीर स्फटिक मणिसे ही बनाया गया हो ॥ १६७ ॥

> काश्चिन्मङ्गलधारिण्यः काश्चित्ताम्बूलदायिकाः । काश्चिन्मज्जनपाण्डित्यं काश्चिदासन् प्रसाधिकाः ॥ १६८ ॥

उन देवियोंमें कोई तो माताके आगे आठ मंगलद्रव्य धारण करती थीं, कोई उसे ताम्बूल देती थीं, कोई स्नान कराती थीं और कोई वस्त्राभूषण आदि पहनाती थीं ॥ १६८ ॥

> काश्चिन्महानसे युक्ताः शय्याविरचने पराः । पादसंवाहने काश्चित् काश्चिन्माल्यैरुपाचरन् ॥ १६९ ॥

कोई भोजनशालाके काममें नियुक्त हुईं, कोई शय्या बिछानेके काममें नियुक्त हुईं, कोई पैर दाबनेके काममें नियुक्त हुईं और कोई तरह-तरहकी सुगन्धित पुष्पमालाएँ पहनाकर माताकी सेवा करनेमें नियुक्त हुईं ॥ १६९ ॥

> प्रसाधनविधौ काचित् स्पृशन्ती तन्मुखांबुजम् । सानुरागं व्यधात् सौरी प्रभेवाब्जं सरोरुहः ॥ १७० ॥

जिस प्रकार सूर्यकी प्रभा कमलिनीके कमलका स्पर्श कर उसे अनुरागसहित (लालीसहित) कर देती है उसी प्रकार श्रृङ्गारित करते समय कोई देवी मरुदेवीके मुखका स्पर्श कर उसे अनुरागसहित (प्रेमसहित) कर रही थी ॥ १७० ॥

> ताम्बूलदायिका काचिद् धृतताम्बूलपल्लवा । शुकाध्यासितशाखाग्रा लतेवाभात् कृशोदरी ॥ १७१ ॥

ताम्बूल देनेवाली देवी हाथमें पान लिये हुए ऐसी सुशोभित होती थी मानो जिसकी शाखाके अग्रभागपर तोता बैठा हो ऐसी कोई लता ही हो ॥ १७१ ॥

> काचिदाभरणान्यस्यै ददती स्वकराम्बुजैः । व्यराजीत् कल्पवल्लीव शाखाग्रोद्भिन्नभूषणा ॥ १७२ ॥

कोई देवी अपने कोमल हाथसे माताके लिए आभूषण दे रही थी जिससे वह ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो जिसकी शाखाके अग्रभागपर आभूषण प्रकट हुए हों ऐसी कल्पलता ही हो ॥ १७२ ॥

> ददत्यः काश्चिदंशुं च स्रजो दिव्याः सुमनोमञ्जरीरपि । स्वयं समर्पयामासुः काश्चित् कल्पलता इव ॥ १७३ ॥

मरुदेवीके लिए कोई देवियाँ कल्पलताके समान दिव्य वस्त्र दे रही थीं, कोई दिव्य मालाएँ दे रही थीं ॥ १७३ ॥

> काचित् सौगन्धिकाहूतद्विरेफैरनुलेपनैः । स्वकरस्थैः कृतामोदैर्गन्धयुक्तिरिवारुचत् ॥ १७४ ॥

कोई देवी अपने हाथपर रखे हुए सुगन्धित द्रव्योंके विलेपनसे मरुदेवीके शरीरको सुवासित कर रही थी। विलेपनकी सुगन्धिके कारण उस देवीके हाथपर अनेक भौंरे आकर गुंजार करते थे जिससे वह ऐसी मालूम होती थी मानो सुगन्धित द्रव्योंकी उत्पत्ति आदिका वर्णन करनेवाले गन्धशास्त्रकी युक्ति ही हो ॥ १७४ ॥

> अङ्गरक्षाविधौ काश्चिदुद्धृतासिलता बभुः । तरङ्गिणीरिवोद्भ्रान्तपाठीनाः सुरयोषितः ॥ १७५ ॥

माताकी अङ्ग-रक्षाके लिए हाथमें नङ्गी तलवार धारण किये हुई कितनी ही देवियाँ ऐसी शोभायमान होती थीं मानो जिनमें मछलियाँ चल रही हैं ऐसी तरङ्गिणी (नदी) ही हों ॥ १७५ ॥

> संममार्जुर्महीं काश्चिदाकीर्णां पुष्परेणुभिः । तद्गन्धासङ्गिनो भृङ्गानाधुनानाः स्तनांशुकैः ॥ १७६ ॥

कितनी ही देवियाँ पुष्पकी परागसे भरी हुई राजमहलकी भूमिको बुहार रही थीं और उस परागकी सुगन्धसे आकर इकट्ठे हुए भौरोंको अपने स्तन ढकनेके वस्त्रसे उड़ाती भी जाती थीं ॥ १७६ ॥

> आर्द्रेण स्मापराः क्षौमैश्चन्दनच्छटयोक्षिताम् । क्षितिमार्द्रैर्दुकूलैरन्या निर्ममार्जुस्तन्द्रिताः ॥ १७७ ॥

कितनी ही देवियाँ आलस्यरहित होकर पृथिवीको गीले कपड़ेसे साफ कर रही थीं और कितनी ही देवियाँ घिसे हुए सुगन्धित चन्दनसे पृथिवीको सींच रही थीं ॥ १७७ ॥

> कुर्वते बलिविन्यासं रत्नचूर्णैः पृथग्विधैः । पुष्पैरुपहरन्त्यस्यास्ततामोदैर्दिवौकसाम् ॥ १७८ ॥

कोई देवियाँ माताके आगे रत्नोंके चूर्णसे रङ्गावलीका विन्यास करती थीं—रङ्ग-बिरङ्गे चौक पूरती थीं, बेल-बूटा खींचती थीं और कोई सुगन्धि फैलानेवाले, कल्पवृक्षोंके फूलोंसे माताकी पूजा करती थीं—उन्हें फूलोंका उपहार देती थीं ॥ १७८ ॥

> काश्चिच्छमितविद्यानुभावाः प्रच्छन्नविग्रहाः । नियोगैरुचितैरेनामनारतमुपाचरन् ॥ १७९ ॥

कितनी ही देवियाँ अपना शरीर छिपाकर दिव्य प्रभाव दिखलाती हुई योग्य सेवाओंके द्वारा निरन्तर माताकी शुश्रूषा करती थीं ॥ १७९ ॥

> प्रभातरलितां द्युत्या दधानास्तनुयष्टिकाम् । सौदामिन्य इवानिन्युरुचितं रुचितं च यत् ॥ १८० ॥

बिजलीके समान प्रभासे चमकते हुए शरीरको धारण करनेवाली कितनी ही देवियाँ माताके योग्य और अच्छे लगनेवाले पदार्थ लाकर उपस्थित करती थीं ॥ १८० ॥

> काश्चिदन्तर्हितास्तस्यै दिव्यास्तद्दिव्यानुभावतः । स्रजमंशुकमाहारं भूषां चास्यै समर्पयन् ॥ १८१ ॥

कितनी ही देवियाँ अन्तर्हित होकर अपने दिव्य प्रभावसे माताके लिए माला, वस्त्र, आहार और आभूषण आदि देती थीं ॥ १८१ ॥

> अन्तरिक्षस्थिताः काश्चिदनालक्षितमूर्तयः । यत्नेन रक्ष्यतां देवीत्युच्चैर्गिरमुदाहरन् ॥ १८२ ॥

जिनका शरीर नहीं दिख रहा है ऐसी कितनी ही देवियाँ आकाशमें स्थित होकर बड़े जोरसे कहती थीं कि माता मरुदेवीकी रक्षा बड़े ही प्रयत्नसे की जाये ॥ १८२ ॥

> अतन्व्यंशुकसंधानमासितेष्वासनाहृतिम् । स्थितेषु परितः स्थातुं चक्रुरस्या गृहोचिताः ॥ १८३ ॥

जब माता चलती थीं तब वे देवियाँ उसके वस्त्रोंको कुछ ऊपर उठा लेती थीं, जब बैठती थीं तब आसन लाकर उपस्थित करती थीं और जब खड़ी होती थीं तब सब ओर खड़ी होकर उनकी सेवा करती थीं ॥ १८३ ॥

> काश्चिदुच्चिक्षिपुर्ज्योतिस्तरला मणिदीपिकाः । निशामुखेषु हर्म्याग्राद् विधुन्वानास्तमोऽभितः ॥ १८४ ॥

कितनी ही देवियाँ रात्रिके प्रारम्भकालमें राजमहलके अग्रभागपर अतिशय चमकनेवाली मणियोंके दीपक रखती थीं। वे दीपक सब ओरसे अन्धकारको नष्ट कर रहे थे ॥ १८४ ॥

> काश्चिन्नीराजयामासुरुचितैर्बलिकर्मभिः । न्यस्यन्नस्त्राक्षरैः कृष्टां रक्षां चास्यै न्यवेदयन् ॥ १८५ ॥

कितनी ही देवियाँ सायंकालके समय योग्य वस्तुओंके द्वारा माताकी आरती उतारती थीं, कितनी ही देवियाँ दृष्टिदोष दूर करनेके लिए उतारना उतारती थीं और कितनी ही देवियाँ मन्त्राक्षरोंके द्वारा उसका रक्षाबन्धन करती थीं ॥ १८५ ॥

> निश्यजागरितैस्तन्व्यो निमेषालसलोचनाः । अशिश्रियंस्तथा ह्येता देव्यस्तां बिभ्रतायुधाः ॥ १८६ ॥

निरन्तरके जागरणसे जिनके नेत्र टिमकाररहित हो गये हैं ऐसी कितनी ही देवियाँ रातके समय अनेक प्रकारके हथियार धारण कर माताकी सेवा करती थीं अथवा उनके समीप बैठकर पहरा देती थीं ॥ १८६ ॥

> कदाचिज्जलकेलीभिर्वनक्रीडाभिरन्यदा । कथागोष्ठीभिरन्येषु देव्यस्तस्यै मुदं दधुः ॥ १८७ ॥

वे देवाङ्गनाएँ कभी जलक्रीड़ासे और कभी वनक्रीड़ासे, कभी कथा-गोष्ठीसे (इकट्ठे बैठकर कहानी आदि कहनेसे) उन्हें सन्तुष्ट करती थीं ॥ १८७ ॥

> कदाचिद् गीतगोष्ठीभिर्वाद्यगोष्ठीभिरन्यदा । कर्हिचिन्नृत्यगोष्ठीभिर्देव्यस्तां पर्युपासत ॥ १८८ ॥

वे कभी संगीतगोष्ठीसे, कभी वादित्रगोष्ठीसे और कभी नृत्यगोष्ठीसे उनकी सेवा करती थीं ॥ १८८ ॥

> काश्चित् प्रेक्षणगोष्ठीषु सलीलानर्तितभ्रुवः । वर्धमानलयान् नेदुः साङ्गहाराः सुराङ्गनाः ॥ १८९ ॥

कितनी ही देवियाँ नेत्रोंके द्वारा अपना अभिप्राय प्रकट करनेवाली गोष्ठियोंमें लीलापूर्वक भौंहें नचाती हुई और बढ़ते हुए लयके साथ शरीरको लचकाती हुई नृत्य करती थीं ॥ १८९ ॥

> काश्चिन्नृत्यविनोदेन रेजिरे कृतरेचकाः । व्योम्नि विक्षोलिताङ्ग्यः सौदामिन्य इवोद्गताः ॥ १९० ॥

कितनी ही देवियाँ नृत्यक्रीड़ाके समय आकाशमें जाकर फिरकी लेती थीं और वहाँ अपने चंचल अङ्गों तथा शरीरकी उत्कृष्ट कान्तिसे ठीक बिजलीके समान शोभायमान होती थीं ॥ १९० ॥

काश्चिदारचितैः स्थानैश्चतुर्विस्तृतबाहवः । शिक्षमाणा इवानङ्गाद् धनुर्वेदं जगज्जये ॥ १९१ ॥

नृत्य करते समय नाट्य-शास्त्रमें निश्चित किये हुए स्थानोंपर हाथ फैलाती हुई कितनी ही देवियाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो जगत्को जीतनेके लिए साक्षात् कामदेवसे धनुर्वेद ही सीख रही हों ॥ १९१ ॥

पुष्पवृष्टिं किरन्त्येका परितो रङ्गमण्डलम् । मदनग्रहमावेशे योक्तुकामेव लक्षिता ॥ १९२ ॥

कोई देवी रङ्ग-बिरङ्गे चौकके चारों ओर फूल बिखेर रही थी और उस समय वह ऐसी मालूम होती थी मानो चित्रशालामें कामदेवरूपी ग्रहको नियुक्त ही करना चाहती हो ॥ १९२ ॥

तादृगुरोजसरोजातमुकुलानि चकम्पिरे । नर्तकीरनुचक्रुस्ता मुहुः किल कुतूहलात् ॥ १९३ ॥

नृत्य करते समय उन देवाङ्गनाओंके स्तनरूपी कमलोंकी डोंडियाँ भी हिल रही थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो उन देवाङ्गनाओंके नृत्यका कुतूहलपूर्वक अनुकरण ही कर रही हों ॥ १९३ ॥

अपाङ्गशरसंधानैश्च लताचापकर्षणैः । धनुर्गुणनिकेषासीन्नृत्तगोष्ठी मनोभुवः ॥ १९४ ॥

देवाङ्गनाओंकी उस नृत्यगोष्ठीमें बार-बार भौंहरूपी चाप खींचे जाते थे और उनपर बार-बार कटाक्षरूपी बाण चढ़ाये जाते थे जिससे वह ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेवको धनुषविद्याका किया हुआ अभ्यास ही हो ॥ १९४ ॥

स्मितमुखस्नदन्तांशु पाठ्यं कलविकस्वरम् । सापाङ्गमीक्षितं नृत्तः सलयश्च परिक्रमः ॥ १९५ ॥

नृत्य करते समय वे देवियाँ दाँतोंकी किरणें बिखेरती हुई मुसकराती जाती थीं, स्पष्ट और मधुर गाना गाती थीं, नेत्रोंसे कटाक्ष करती हुई देखती थीं और लयके साथ फिरकी लगाती थीं ॥ १९५ ॥

इतीदमङ्गदाप्यासां धत्तेऽनङ्गशराङ्गताम् । किमङ्ग सङ्गतं नृत्तं राशिकैरङ्गहारकैः ॥ १९६ ॥

इस प्रकार उन देवियोंका वह नृत्य तथा हाव-भाव आदि अनेक प्रकारके विलास, सभी कामदेवके बाणोंके सहायक बाण मालूम होते थे और रसिकताको प्राप्त हुई शरीरसम्बन्धी चेष्टाओंसे मिले हुए उनके शरीरका तो कहना ही क्या है—वह तो हरएक प्रकारसे अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़ता था ॥ १९६ ॥

> चारिभिः करणैश्चित्रैः पुष्पभेदाङ्गवल्गनैः । मनोऽस्याः सुरनर्तक्यो चक्रुः संप्रेक्षणोत्सुकम् ॥ १९७ ॥

वे नृत्य करनेवाली देवियाँ अनेक प्रकारकी गति, तरह-तरहके गीत अथवा नृत्यविशेष, और विचित्र शरीरकी चेष्टासहित पुष्पभेदादिके द्वारा माताके मनको नृत्य देखनेके लिए उत्कण्ठित करती थीं ॥ १९७ ॥

> काश्चित् संगीतगोष्ठीषु दरोद्भिन्नस्मितैर्मुखैः । बभुः पद्मैरिवाब्जिन्यो विरलोद्भिन्नकेसरैः ॥ १९८ ॥

कितनी ही देवाङ्गनाएँ संगीतगोष्ठियोंमें कुछ-कुछ हँसते हुए मुखोंसे ऐसी सुशोभित होती थीं जैसे कुछ-कुछ विकसित हुए कमलोंसे कमलिनियाँ सुशोभित होती हैं ॥ १९८ ॥

> काश्चिदोष्ठाग्रसंदष्टवेणवोऽङ्गुलयो बभुः । मदनाग्निमिवाध्मातुं कृतयत्नाः सुफूत्कृतम् ॥ १९९ ॥

जिनकी अङ्गुलियाँ बहुत ही छोटी-छोटी हैं ऐसी कितनी ही देवियाँ ओठोंके अग्रभागसे वीणा दबाकर बजाती हुई ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो फूत्कारपूर्वक कामदेवरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेके लिए ही प्रयत्न कर रही हों ॥ १९९ ॥

> वेणुध्मा वैणवीं यष्टीं मृजन्त्यः करपल्लवैः । चित्रं पल्लवितांश्चक्रुर्दर्शकानां मनोद्रुमान् ॥ २०० ॥

यह एक बड़े आश्चर्यकी बात थी कि वीणा बजानेवाली कितनी ही देवियाँ अपने हस्तरूपी पल्लवोंसे वीणाकी लकड़ीको साफ करती हुई देखनेवालोंके मनरूपी वृक्षोंको पल्लवित अर्थात् पल्लवोंसे युक्त कर रही थीं। (पक्षमें हर्षित अथवा श्रृङ्गार रससे सहित कर रही थीं।) भावार्थ—उन देवाङ्गनाओंके हाथ पल्लवोंके समान थे, वीणा बजाते समय उनके हाथरूपी पल्लव वीणाकी लकड़ी अथवा उसके तारोंपर पड़ते थे। जिससे वह वीणा पल्लवित अर्थात् नवीन पत्तोंसे व्याप्त हुई-सी जान पड़ती थी परन्तु आचार्यने यहाँपर वीणाको पल्लवित न बताकर देखनेवालोंके मनरूपी वृक्षोंको पल्लवित बतलाया है जिससे विरोधमूलक अलंकार प्रकट हो गया है, परन्तु पल्लवित शब्दका हर्षित अथवा श्रृङ्गार रससे सहित अर्थ बदल देनेपर वह विरोध दूर हो जाता है। संक्षेपमें भाव यह है कि वीणा बजाते समय उन देवियोंके हाथोंकी चपलता, सुन्दरता और बजानेकी कुशलता आदि देखकर दर्शक पुरुषोंका मन हर्षित हो जाता था ॥ २०० ॥

> संगीतकविधौ काश्चित् स्पृशन्त्यः परिवादिनीः । कराङ्गुलीभिरातेनुर्गानमामन्द्रमूर्च्छनाः ॥ २०१ ॥

कितनी ही देवियाँ संगीतके समय गम्भीर शब्द करनेवाली वीणाओंको हाथकी अँगुलियोंसे बजाती हुई गा रही थीं ॥ २०१ ॥

> क्वणा मधुरमारेणुस्तत्कराङ्गुलिताडिताः । अयं तान्त्रो गुणः कोऽपि ताडनाद् याति वश्यताम् ॥ २०२ ॥

उन देवियोंके हाथकी अँगुलियोंसे ताड़ित हुई वीणाएँ मनोहर शब्द कर रही थीं सो ठीक ही है वीणाका यह एक आश्चर्यकारी गुण है कि ताड़नसे ही वश होती है ॥ २०२ ॥

> अधः संदष्टमालोक्य तासां तु दशनच्छदम् । वीणालाबूभिराश्लेषि गाढं तत्तत्स्तनमण्डलम् ॥ २०३ ॥

उन देवाङ्गनाओंके ओठोंको वंशों (बाँसुरी) के द्वारा डसा हुआ देखकर ही मानो वीणाओंके तुम्बोंने उनके कठिन स्तनमण्डलका आलिङ्गन किया। भावार्थ—वे देवियाँ एक साथ बाँसुरी और तुम्बीवाली वीणा बजा रही थीं ॥ २०३ ॥

> कांश्चित् कांस्यध्वनीन् चक्रुर्बभुरुत्क्षिप्तबाहवः । तत्कलाकौशले श्लाघां कर्तुकामा इवात्मनः ॥ २०४ ॥

कितनी ही देवियाँ झाँझ बजाते समय अपनी भुजाएँ ऊपर उठाती थीं जिससे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो उस कला-कौशलके विषयमें अपनी प्रशंसा ही करना चाहती हों ॥ २०४ ॥

> मर्दङ्गास्तत्करस्पर्शात् सदा मन्द्रं विसस्वनुः । तत्कलाकौशलं तासामुत्कुर्वाणा इवोच्चकैः ॥ २०५ ॥

उस समय उन बजानेवाली देवियोंके हाथके स्पर्शसे मृदङ्ग गम्भीर शब्द कर रहे थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो ऊँचे स्वरसे उन बजानेवाली देवियोंके कला-कौशलको ही प्रकट कर रहे हों ॥ २०५ ॥

> मृदङ्गा नैव मो सत्याः पश्यतास्मान् हिरण्मयान् । इतीवोत्क्षिप्तचक्रास्ते मुहुस्तत्कराहताः ॥ २०६ ॥

उन देवियोंके हाथसे बार-बार ताड़ित हुए मृदङ्ग मानो यही ध्वनि कर रहे थे कि देखो, हम लोग मृदङ्ग (मृत्+अङ्ग) अर्थात् मिट्टीके अङ्ग (मिट्टीसे बने हुए) नहीं हैं किन्तु सुवर्णके बने हुए हैं। भावार्थ—मृदङ्ग शब्द रूढ़िसे ही वाजित्रविशेष अर्थको प्रकट करता है ॥ २०६ ॥

> सद्रवा एव नो दुष्टा न वदनीयाः कृतश्रमाः । इतीव सस्वनुर्मन्द्रं पणवाद्याः सुरानकाः ॥ २०७ ॥

उस समय पणव आदि देवोंके बाजे बड़ी गम्भीर ध्वनिसे बज रहे थे मानो लोगोंसे यही कह रहे थे कि हम लोग सदा सुन्दर शब्द ही करते हैं, बुरे शब्द कभी नहीं करते और इसीलिए बहुत परिश्रमसे बजाने योग्य हैं ॥ २०७ ॥

> प्राबोधिकानि काश्चित् शङ्खानाध्मासिषुः पृथून् । स्वकरोत्पीडनं सोढुमक्षमानिव रोरुवन् ॥ २०८ ॥

प्रातःकालके समय कितनी ही देवियाँ बड़े-बड़े शङ्ख बजा रही थीं और वे ऐसे मालूम होते थे मानो उन देवियोंके हाथोंसे होनेवाली पीड़ाको सहन करनेके लिए असमर्थ होकर ही चिल्ला रहे हों ॥ २०८ ॥

> काश्चित् प्राबोधिकैस्तूर्यैः सममुत्तालतालकैः । जगुः कलं च मन्द्रं च मङ्गलानि सुराङ्गनाः ॥ २०९ ॥

प्रातःकालमें माताको जगानेके लिए जो ऊँची तालके साथ तुरही बाजे बज रहे थे उनके साथ कितनी ही देवाङ्गनाएँ मनोहर और गम्भीर रूपसे मङ्गलगान गा रही थीं ॥ २०९ ॥

> इति तत्कृतया देवी स बभौ परिचर्यया । त्रिजगच्छ्रीरिवैकध्यमुपनीता कथंचन ॥ २१० ॥

इस प्रकार उन देवियोंके द्वारा की हुई सेवासे मरुदेवी ऐसी शोभायमान होती थीं मानो किसी प्रकार एकरूपताको प्राप्त हुई तीनों लोकोंकी लक्ष्मी ही हों ॥ २१० ॥

> दिक्कुमारीभिरित्यात्तसंभ्रमं समुपासिता । तत्प्रभावैरिवाविष्टा सा बभार परां श्रियम् ॥ २११ ॥

इस तरह बड़े संभ्रमके साथ दिक्कुमारी देवियोंके द्वारा सेवित हुई उस मरुदेवीने बड़ी ही उत्कृष्ट शोभा धारण की थी और वह ऐसी मालूम पड़ती थी मानो शरीरमें प्रविष्ट हुए देवियोंके प्रभावसे ही उसने ऐसी उत्कृष्ट शोभा धारण की हो ॥ २११ ॥

> अन्तर्वत्नीमथाभ्यर्णे नवमे मासि सादरम् । विशिष्टकाव्यगोष्ठीभिर्देव्यस्तामित्यरञ्जयन् ॥ २१२ ॥

अथानन्तर, नौवाँ महीना निकट आनेपर वे देवियाँ नीचे लिखे अनुसार विशिष्ट-विशिष्ट काव्य-गोष्ठियोंके द्वारा बड़े आदरके साथ गर्भिणी मरुदेवीको प्रसन्न करने लगीं ॥ २१२ ॥

> निगूढार्थक्रियापादैर्बिन्दुमात्राक्षरच्युतैः । देव्यस्तां प्रीणयामासुर्हृद्यैः श्लोकैश्च कैश्चन ॥ २१३ ॥

जिनमें अर्थ गूढ़ है, क्रिया गूढ़ है, पाद (श्लोकका चौथा हिस्सा) गूढ़ है अथवा जिनमें बिन्दु छूटा हुआ है, मात्रा छूटी हुई है या अक्षर छूटा हुआ है ऐसे कितने ही श्लोकोंसे तथा कितने ही प्रकारके अन्य श्लोकोंसे वे देवियाँ मरुदेवीको प्रसन्न करती थीं ॥ २१३ ॥

> किमिन्दुरेको लोकेऽस्मिन् त्वयास्य सुदुरीक्षितः । आछिनत्सि बलादस्य यत्समग्रं कलाधनम् ॥ २१४ ॥

वे देवियाँ कहने लगीं कि हे माता, क्या तुमने इस संसारमें एक चन्द्रमाको ही कोमल (दुर्बल) देखा है जो इसके समस्त कलारूपी धनको जबरदस्ती छीन रही हो। भावार्थ—इस श्लोकमें व्याजस्तुति अलंकार है अर्थात् निन्दाके बहाने देवीकी स्तुति की गयी है। देवियोंके कहनेका अभिप्राय यह है कि आपके मुखकी कान्ति जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही चन्द्रमाकी कान्ति घटती जाती है अर्थात् आपके कान्तिमान मुखके सामने चन्द्रमा कान्तिरहित मालूम होने लगा है। इससे जान पड़ता है कि आपने चन्द्रमाको दुर्बल समझकर उसके कलाविषयक समस्त धनका अपहरण कर लिया है ॥ २१४ ॥

> मुखेन्दुना जितं नूनं तवाब्जं सोढुमक्षमम् । बिम्बमप्यैन्दवं साम्यात् संकोचं यात्यदोऽनिशम् ॥ २१५ ॥

हे माता, आपके मुखरूपी चन्द्रमाके द्वारा यह कमल अवश्य ही जीता गया है क्योंकि इसीलिए वह सदा संकुचित होता रहता है। कमलकी इस पराजयको चन्द्रमण्डल भी नहीं सह सका है और न आपके मुखको ही जीत सका है इसलिए कमलके समान होनेसे वह भी सदा संकोचको प्राप्त होता रहता है ॥ २१५ ॥

> राजीवमलिभिर्जुष्टं सालकेन मुखेन ते । जितं भीरतयाद्यापि याति संकोचनं मुहुः ॥ २१६ ॥

हे माता, चूर्णकुन्तलसहित आपके मुखकमलने भ्रमरसहित कमलको अवश्य ही जीत लिया है इसीलिए तो वह भयसे मानो आज तक बार-बार संकोचको प्राप्त होता रहता है ॥ २१६ ॥

> आजिघ्रन्त्यस्य कुसुमान्यभ्येत्य कमलभ्रमात् । नाभ्यब्जिनीं समभ्येति मरणान्तादिव षट्पदः ॥ २१७ ॥

हे माता, ये भ्रमर तुम्हारे मुखको कमल समझ बार-बार सम्मुख आकर इसे सूँघते हैं और संकुचित होनेवाली कमलिनीसे अपने मरने आदिकी शंका करते हुए फिर कभी उसके सम्मुख नहीं जाते हैं। भावार्थ—आपका मुख-कमल सदा प्रफुल्लित रहता है और कमलिनीका कमल रातके समय निमीलित हो जाता है। कमलके निमीलित होनेसे भ्रमरको हमेशा उसमें बन्द होकर मरनेका भय बना रहता है। आज उस भ्रमरको सुगन्ध ग्रहण करनेके लिए सदा प्रफुल्लित रहनेवाला आपका मुख कमलरूपी निर्भय स्थान मिल गया है इसलिए अब वह कमलिनीके पास नहीं जाता है ॥ २१७ ॥

> नाभिं पार्थिवमन्वेति नलिनं नलिनानने । स्वन्मुखाब्जमुपाघ्राय तृप्तोऽयमिति षट्पदः ॥ २१८ ॥

हे कमलनयनी ! ये भ्रमर आपके मुखरूपी कमलको सूँघकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं इसीलिए वे फिर पृथिवीसे उत्पन्न हुए अन्य कमलके पास नहीं जाते अथवा ये भ्रमर आपके मुखरूपी कमलको सूँघकर सन्तुष्ट होते हुए महाराज नाभिराजका ही अनुकरण करते हैं। भावार्थ—जिस प्रकार आपका मुख सूँघकर आपके पति महाराज नाभिराज सन्तुष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार ये भ्रमर भी आपका मुख सूँघकर सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥ २१८ ॥

> नाभेर्भिमतो योऽयं रक्तो न कामुकः । न कुतोऽप्यधरः कान्त्या यः सदौजोधरः स कः ॥ २१९ ॥

तदनन्तर वे देवियाँ मातासे पहेलियाँ पूछने लगीं। एकने पूछा कि हे माता, बताइए वह कौन पदार्थ है जो कि आपमें रक्त अर्थात् आसक्त है और आसक्त होनेपर भी महाराज नाभिराजको अत्यन्त प्रिय है, कामी भी नहीं है, नीच भी नहीं है, और कान्तिसे सदा तेजस्वी रहता है? इसके उत्तरमें माताने कहा कि मेरा अधर (नीचेका ओठ) ही है क्योंकि वह रक्त अर्थात् लाल वर्णका है, महाराज नाभिराजको प्रिय है, कामी भी नहीं है, शरीरके उच्च भागपर रहनेके कारण नीच भी नहीं है और कान्तिसे सदा तेजस्वी रहता है ॥ २१९ ॥

करे कीदृक् प्रशस्यन्ते रेखा माता सुविभ्रमे । करिणीं च वदास्येन पर्यायेण करेणुका ॥ २२० ॥

किसी दूसरी देवीने पूछा कि हे पतली भौंहोंवाली और सुन्दर विलासोंसे युक्त माता, बताइए आपके हाथके किस स्थानमें कैसी रेखा अच्छी समझी जाती है और हस्तिनीका दूसरा नाम क्या है? दोनों प्रश्नोंका एक ही उत्तर दीजिए। माताने उत्तर दिया 'करेणुका'। भावार्थ—पहले प्रश्नका उत्तर है 'करे+अणुका' अर्थात् हाथमें पतली रेखा अच्छी समझी जाती है और दूसरे प्रश्नका उत्तर है 'करेणुका' अर्थात् हस्तिनीका दूसरा नाम करेणुका है ॥ २२० ॥

किमाहुः सरलोत्तङ्गं सच्छायतरुसंकुलम् । कलमाविश्य किं रम्यं वद सालकाननम् ॥ २२१ ॥

किसी देवीने पूछा—हे मधुर-भाषिणी माता, बताओ कि सीधे, ऊँचे और छायादार वृक्षोंसे भरे हुए स्थानको क्या कहते हैं? और तुम्हारे शरीरमें सबसे सुन्दर अङ्ग क्या है? दोनोंका एक ही उत्तर दीजिए। माताने उत्तर दिया 'सालकानन'। अर्थात् सीधे ऊँचे और छायादार वृक्षोंसे व्याप्त स्थानको 'साल-कानन' (सागौन वृक्षोंका वन) कहते हैं और हमारे शरीरमें सबसे सुन्दर अङ्ग 'सालकानन' (स+अलक+आनन) अर्थात् चूर्णकुन्तल [सुगन्धित चूर्ण लगानेके योग्य आगेके बाल-जुल्फें] सहित मेरा मुख है ॥ २२१ ॥

तवानन्दिनीं रूपसंपदं न ह्लांनिसम्बिके । आहाररतिमुत्सृज्य बहुधामामृतं भज ॥ २२२ ॥

किसी देवीने कहा—हे माता, हे सति, आप आनन्द देनेवाली अपनी रूप-सम्पत्तिको ग्लानि प्राप्त न कराइए और आहारसे प्रेम छोड़कर अनेक प्रकारका अमृत भोजन कीजिए [इस श्लोकमें 'न मा' और 'भुङ्क्ष्व' ये दोनों क्रियाएँ गूढ़ हैं इसलिए इसे क्रियागुप्त कहते हैं] ॥ २२२ ॥

अधुना दरमुत्सृज्य केसरी गिरिकन्दरम् । समुत्पिपतिषुर्गिरेरग्रे धुनोति सटा भयानकम् ॥ २२३ ॥

हे माता, यह सिंह शीघ्र ही पहाड़की गुफाको छोड़कर उसकी चोटीपर चढ़ना चाहता है और इसलिए अपनी भयंकर सटाओं (गरदनपर-के बाल-अयाल) को हिला रहा है। [इस श्लोकमें 'अधुनात्' यह क्रिया गूढ़ रखी गयी है इसलिए यह भी क्रियागुप्त कहलाता है] ॥ २२३ ॥

अधुना जगतां तापममुना गर्भसंभवेन । त्वमेकैव जगतामेकपावनी भुवनाम्बिका ॥ २२४ ॥

हे देवि, गर्भसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रके द्वारा आपने ही जगत्का संताप नष्ट किया है इसलिए आप अकेली ही जगत्को पवित्र करनेवाली हैं और आप ही जगत्की माता हैं। [इस श्लोकमें 'अधुनाः' यह क्रिया गूढ़ है अतः यह भी क्रियागुप्त श्लोक है] ॥ २२४ ॥

> अधुनामरवर्गस्य वर्धतेऽधिकमुत्सवः । अधुनामरसर्गस्य दैत्यचक्रे घटनामिति ॥ २२५ ॥

हे देवि, इस समय देवोंका उत्सव अधिक बढ़ रहा है इसलिए मैं दैत्योंके चक्रमें अरवर्ग अर्थात् आरा समूहकी रचना बिलकुल बन्द कर देती हूँ। [चक्रके बीचमें जो खड़ी लकड़ियाँ लगी रहती हैं उन्हें अर कहते हैं। इस श्लोकमें 'अधुनाम्' यह क्रिया गूढ़ है इसलिए यह भी क्रियागुप्त कहलाता है] ॥ २२५ ॥

> वटवृक्षः पुरोऽयं ते घनच्छायः स्थितो महान् । इत्युक्तोऽपि न तं धर्मे गतोऽप्येकस्तदद्भुतम् ॥ २२६ ॥

कुछ आदमी कड़कती हुई धूपमें खड़े हुए थे उनसे किसीने कहा कि यह तुम्हारे सामने घनी छायावाला बड़ा भारी बड़का वृक्ष खड़ा है! ऐसा कहनेपर भी उनमें-से कोई भी वहाँ नहीं गया। हे माता, कहिए यह कैसा आश्चर्य है? इसके उत्तरमें माताने कहा कि इस श्लोकमें जो 'वटवृक्षः' शब्द है उसकी सन्धि 'बटो+ऋक्षः' इस प्रकार तोड़ना चाहिए और उसका अर्थ ऐसा करना चाहिए कि 'रे लड़के, तेरे सामने यह मेघके समान घनी छायावाला (काला) बड़ा भारी ऋक्ष (भालू) बैठा है' ऐसा कहनेपर कड़ी धूपमें भी उसके पास कोई मनुष्य नहीं गया तो क्या आश्चर्य है [यह स्पष्टान्धक श्लोक है] ॥ २२६ ॥

> मुक्ताहाररुचिः सोष्मा हरिचन्दनचर्चितः । आपाण्डुरुचिराभाति विरहीव तव स्तनः ॥ २२७ ॥

हे माता, आपका स्तन मुक्ताहाररुचि है अर्थात् मोतियोंके हारसे शोभायमान है, उष्णतासे सहित है, सफेद चन्दनसे चर्चित है और कुछ-कुछ सफेद वर्ण है इसलिए किसी विरही मनुष्यके समान जान पड़ता है क्योंकि विरही मनुष्य भी मुक्ताहाररुचि होता है, अर्थात् आहारसे प्रेम छोड़ देता है, काम-ज्वरसम्बन्धी उष्णतासे सहित होता है, शरीरका सन्ताप दूर करनेके लिए चन्दनका लेप लगाये रहता है और विरहकी पीड़ासे कुछ-कुछ सफेद वर्ण हो जाता है। [यह श्लेषोपमालंकार है] ॥ २२७ ॥

> जगतां जनितानन्दो निरस्तदुरितेन्धनः । संतप्तकनकच्छायो जनिता ते स्तनन्धयः ॥ २२८ ॥

हे माता, तुम्हारे संसारको आनन्द उत्पन्न करनेवाला, कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाला और तपाये हुए सुवर्णके समान कान्ति धारण करनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा। [यह श्लोक गूढचतुर्थक कहलाता है क्योंकि इस श्लोकके चतुर्थ पादमें जितने अक्षर हैं वे सबके-सब पहलेके तीन पादोंमें आ चुके हैं जैसे 'जगतां जनितानन्दो निरस्तदुरितेन्धनः। संतप्तकनकच्छायो जनिता ते स्तनन्धयः॥'] ॥ २२८ ॥

> जगज्जयी जितानङ्गः सतां गतिरनन्तरः । तीर्थकृत्कृतकृत्यश्च जयतात्तनयः स ते ॥ २२९ ॥

हे माता, आपका वह पुत्र सदा जयवन्त रहे जो कि जगत्को जीतनेवाला है, कामको पराजित करनेवाला है, सज्जनोंका आधार है, अनन्तरहित है, तीर्थङ्कर है और कृतकृत्य है [यह निरौष्ठ्य श्लोक है क्योंकि इसमें ओठसे उच्चारण होनेवाले प-वर्ग, उपध्मानीय और ओष्ठ्य अक्षर नहीं हैं] ॥ २२९ ॥

> स ते कल्याणि संतानान् दर्शयन् शतशः श्रियः । यास्यत्यनागतिस्थानं शं तता धेहि तत्यति ॥ २३० ॥

हे कल्याणि, हे पतिव्रते, आपका वह पुत्र सैकड़ों कल्याण दिखाकर ऐसे स्थानको (मोक्ष) प्राप्त होगा जहाँसे पुनरागमन नहीं होता इसलिए आप सन्तोषको प्राप्त होओ [यह श्लोक भी निरौष्ठ्य है] ॥ २३० ॥

> द्वीपं नन्दीश्वरं देवा मन्दरागं च सेवितुम् । सुदन्तीन्द्रैस्तदा यान्ति सुन्दरीभिः समुत्सुकाः ॥ २३१ ॥

हे सुन्दर दाँतोंवाली देवि, देखो, ये देव इन्द्रोंके साथ अपनी-अपनी स्त्रियोंको साथ लिये हुए बड़े उत्सुक होकर नन्दीश्वर द्वीप और मन्दराचलपर क्रीड़ा करनेके लिए जा रहे हैं। [यह श्लोक बिन्दुमान् है अर्थात् 'सुदतीन्द्रैः' की जगह 'सुदन्तीन्द्रैः' ऐसा दकारपर बिन्दु रखकर पाठ दिया है, इसी प्रकार 'नदीश्वरं'के स्थानपर बिन्दु रखकर 'नन्दीश्वरं' कर दिया है और 'मदरागं' की जगह बिन्दु रखकर 'मन्दरागं' कर दिया है इसलिए बिन्दुच्युत होनेपर इस श्लोकका दूसरा अर्थ इस प्रकार होता है: हे देवि, ये देवदन्ती अर्थात् हाथियोंके इन्द्रों (बड़े-बड़े हाथियों) पर चढ़कर अपनी-अपनी स्त्रियोंको साथ लिये हुए मदरागं सेवितुं अर्थात् क्रीड़ा करनेके लिए उत्सुक होकर द्वीप और नदीश्वर अर्थात् समुद्रको जा रहे हैं] ॥ २३१ ॥

> क्षरद्बिन्दुभिराभान्ति मुखैरमरवारणाः । घटाघटनया व्योम्नि विचरन्तस्त्रिधा मदाः ॥ २३२ ॥

हे माता, जिनके दो कपोल और एक शुण्ड इस प्रकार तीन स्थानोंसे मद झर रहा है तथा जो मेघोंकी घटाके समान आकाशमें इधर-उधर विचर रहे हैं ऐसे ये देवोंके हाथी जिनपर अनेक बिन्दु शोभायमान हो रहे हैं ऐसे अपने मुखोंसे

बड़े ही सुशोभित हो रहे हैं। [यह बिन्दुच्युतक श्लोक है इसमें बिन्दु शब्दका बिन्दु हटा देने और घटा शब्दपर रख देनेसे दूसरा अर्थ हो जाता है, चित्रालंकारमें श और स में कोई अन्तर नहीं माना जाता, इसलिए दूसरे पक्षमें 'त्रिधा मदाः' की जगह 'त्रिधा श्रुताः' पाठ समझा जायेगा। दूसरा अर्थ इस प्रकार है कि हे देवि ! दो, अनेक तथा बारह इस तरह तीन भेदरूप श्रुतज्ञानके धारण करनेवाले तथा घण्टानाद करते हुए आकाशमें विचरनेवाले ये देवसमूह, मदजलको धारण करनेवाले अपने सुशोभित मुखसे बड़े ही शोभायमान हो रहे हैं।] ॥ २३२ ॥

मकरन्दारुणं तोयं धत्ते तत्पुरखातिका । मकरन्दं क्वचिदुद्बिन्दुजलं मकरदारुणम् ॥ २३३ ॥

हे देवि, उस अयोध्यापुरीकी परिखा ऐसा जल धारण कर रही है जो कमलोंके लाल-लाल परागसे लाल हो रहा है, कहीं कमलोंके सहित है, कहीं उड़ती हुई जलकी छोटी-छोटी बूँदोंसे शोभायमान है और कहीं जलमें विद्यमान मगरमच्छ आदि जलजन्तुओंसे भयंकर है। [इस श्लोकमें जलके वाचक तोय और जल दो शब्द हैं इन दोनोंमें एक व्यर्थ अवश्य है इसलिए जल शब्दके बिन्दुको हटाकर 'जल्मकरदारुण' ऐसा पद बना लेते हैं जिसका अर्थ होता है जलमें विद्यमान मगरमच्छोंसे भयंकर। इस प्रकार यह भी बिन्दुच्युतक श्लोक है। परन्तु 'अलंकारचिन्तामणि'में इस श्लोकको इस प्रकार पढ़ा है 'मकरन्दारुणं तोयं धत्ते तत्पुरखातिका । पद्मार्कं क्वचिदुद्बिन्दु चलन्मकरदारुणम्।' और इसे 'बिन्दुमान् बिन्दुच्युतक'का उदाहरण दिया है जो कि इस प्रकार घटित होता है—श्लोकके प्रारम्भमें 'मकरदारुणं' पाठ था वहाँ बिन्दु देकर 'मकरन्दारुणं' ऐसा पाठ कर दिया और अन्तमें 'चलन्मकरन्दारुण' ऐसा पाठ था वहाँ बिन्दुको च्युत कर चलन्मकरदारुणं (चलते हुए मगरमच्छोंसे भयंकर) ऐसा पाठ कर दिया है।] ॥ २३३ ॥

समं घातुकं बालं क्षणं नोपेक्षते हरिः । का तु कं शीतहिंसे वाञ्छेत् समजंघा सुतं वद ॥ २३४ ॥

हे माता, सिंह अपने ऊपर घात करनेवाली हाथियोंकी सेनाकी क्षण-भरके लिए भी उपेक्षा नहीं करता और हे देवि, शीत ऋतुमें कौन-सी स्त्री क्या चाहती है? माताने उत्तर दिया कि समान जंघाओंवाली स्त्री शीत ऋतुमें पुत्र ही चाहती है। [इस श्लोकमें पहले चरणके 'समं' शब्दमें आकारकी मात्रा च्युत कर 'सामजं' पाठ पढ़ना चाहिए जिससे उसका हाथी अर्थ होने लगता है और अन्तिम चरणके 'सुतं' शब्दमें आकारकी मात्रा बढ़ाकर 'सुतं बालम्' पाठ पढ़ना चाहिए जिससे उसका अर्थ पुत्र होने लगता है। इसी प्रकार प्रथम चरणमें 'समजं'के स्थानमें आकारकी मात्रा बढ़ाकर 'सामजं' पाठ समझना चाहिए जिससे उसका अर्थ 'हाथियोंकी' होने लगता है। इन कारणोंसे यह श्लोक मात्राच्युतक कहलाता है।] ॥ २३४ ॥

जग्ले कयापि दीनं च किमप्याकुलमूर्च्छनम् । विरहेणाङ्गना कान्तसमागमनिराशया ॥ २३८ ॥

हे माता, कोई स्त्री अपने पतिके साथ विरह होनेपर उसके समागमसे निराश होकर व्याकुल और मूर्च्छित होती हुई गद्गद स्वरसे कुछ भी खेदखिन्न हो रही है। [इस श्लोकमें जबतक 'जग्ले' पाठ रहता है और उसका अर्थ 'खेदखिन्न

होना' किया जाता है तबतक श्लोकका अर्थ सुसंगत नहीं होता, क्योंकि पतिके समागमकी निराशा होनेपर किसी स्त्रीका गद्गद स्वर नहीं होता और न खेदखिन्न होनेके साथ 'कुछ भी' विशेषणकी सार्थकता दिखती है इसलिए 'जग्ले' पाठमें 'ल' व्यञ्जनको च्युत कर 'जगे' ऐसा पाठ करना चाहिए। उस समय श्लोकका अर्थ इस प्रकार होगा कि—हे देवि, कोई स्त्री पतिका विरह होनेपर उसके समागमसे निराश होकर स्वरोंके चढ़ाव-उतारको कुछ अव्यवस्थित करती हुई उत्सुकतापूर्वक कुछ भी गा रही है। इस तरह यह श्लोक व्यञ्जनच्युतक कहलाता है] ॥ २३८ ॥

> कः पञ्जरमध्यास्ते कः परुषनिस्वनः । कः प्रतिष्ठा जीवानां कः पाठ्योऽक्षरच्युतः ॥ २३६ ॥
> [शुकः पञ्जरमध्यास्ते काकः परुषनिस्वनः । लोकः प्रतिष्ठा जीवानां श्लोकः पाठ्योऽक्षरच्युतः ॥ २३६ ॥]

किसी देवीने पूछा कि हे माता, पिंजरेमें कौन रहता है? कठोर शब्द करनेवाला कौन है? जीवोंका आधार क्या है? और अक्षरच्युत होनेपर भी पढ़ने योग्य क्या है? इन प्रश्नोंके उत्तरमें माताने प्रश्नवाचक 'कः' शब्दके पहले एक-एक अक्षर और लगाकर उत्तर दे दिया और इस प्रकार करनेसे श्लोकके प्रत्येक पादमें जो एक-एक अक्षर कम रहता था उसकी भी पूर्ति कर दी जैसे देवीने पूछा था 'कः पञ्जरमध्यास्ते' अर्थात् पिंजड़ेमें कौन रहता है? माताने उत्तर दिया 'शुकः पञ्जरमध्यास्ते' अर्थात् पिंजड़ेमें तोता रहता है। 'कः परुषनिस्वनः' कठोर शब्द करनेवाला कौन है? माताने उत्तर दिया 'काकः परुषनिस्वनः' अर्थात् कौवा कठोर शब्द करनेवाला है। 'कः प्रतिष्ठा जीवानाम्' अर्थात् जीवोंका आधार क्या है? माताने उत्तर दिया 'लोकः प्रतिष्ठा जीवानाम्' अर्थात् जीवोंका आधार लोक है। और 'कः पाठ्योऽक्षरच्युतः' अर्थात् अक्षरोंसे च्युत होनेपर भी पढ़ने योग्य क्या है? माताने उत्तर दिया कि 'श्लोकः पाठ्योऽक्षरच्युतः' अर्थात् अक्षरच्युत होनेपर भी श्लोक पढ़ने योग्य है। [यह एकाक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है] ॥ २३६ ॥

> के मधुरारावाः के पुष्पशाखिनः । के वा सुगन्धं केनाखिलाथंदृक् ॥ २३७ ॥
> [केकिनो मधुरारावाः केसराः पुष्पशाखिनः । केतकेन समं गन्धं केवलेनाखिलार्थदृक् ॥ २३७ ॥]

किसी देवीने पूछा कि हे माता, मधुर शब्द करनेवाला कौन है? सिंहकी ग्रीवापर क्या होते हैं? उत्तम गन्ध कौन धारण करता है और यह जीव सर्वज्ञ किसके द्वारा होता है? इन प्रश्नोंका उत्तर देते समय माताने प्रश्नके साथ ही दो-दो अक्षर जोड़कर उत्तर दे दिया और ऐसा करनेसे श्लोकके प्रत्येक पादमें जो दो-दो अक्षर कम थे उन्हें पूर्ण कर दिया। जैसे माताने उत्तर दिया—मधुर शब्द करनेवाले केकी अर्थात् मयूर होते हैं, सिंहकी ग्रीवापर केसर होते हैं, उत्तम गन्ध केतकीका पुष्प धारण करता है, और यह जीव केवलज्ञानके द्वारा सर्वज्ञ हो जाता है। [यह द्व्यक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है] ॥ २३७ ॥

को मञ्जुलालापः को विटपी जरन् । को नृपतिर्वर्ज्यः को विदुषां मतः ॥ २३८ ॥
[कोकिलो मञ्जुलालापः कोटरी विटपी जरन् । कोपनों नृपतिर्वर्ज्यः कोविदो विदुषां मतः ॥ २३८ ॥]

किसी देवीने फिर पूछा कि हे माता, मधुर आलाप करनेवाला कौन है? पुराना वृक्ष कौन है? छोड़ देने योग्य राजा कौन है? और विद्वानोंको प्रिय कौन है? माताने पूर्व श्लोककी तरह यहाँ भी प्रश्नके साथ ही दो-दो अक्षर जोड़कर उत्तर दिया और प्रत्येक पादके दो-दो कम अक्षरोंको पूर्ण कर दिया। जैसे माताने उत्तर दिया—मधुर आलाप करनेवाला कोकिल है, कोटरवाला वृक्ष पुराना वृक्ष है, क्रोधी राजा छोड़ देने योग्य है और विद्वानोंको विद्वान् ही प्रिय अथवा मान्य है। [यह भी द्व्यक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है] ॥ २३८ ॥

का स्वरभेदेषु का रुचिह्वा रुजा । का रमयेत्कान्तं का तारनिस्वना ॥ २३९ ॥
[काकली स्वरभेदेषु कामला रुचिह्वा रुजा । कामुकी रमयेत्कान्तं काहला तारनिस्वना ॥ २३९ ॥]

किसी देवीने पूछा कि हे माता, स्वरोंके समस्त भेदोंमें उत्तम स्वर कौन-सा है? शरीरकी कान्ति अथवा मानसिक रुचिको नष्ट कर देनेवाला रोग कौन-सा है? पतिको कौन प्रसन्न कर सकती है? और उच्च तथा गम्भीर शब्द करनेवाला कौन है? इन सभी प्रश्नोंका उत्तर माताने दो-दो अक्षर जोड़कर दिया जैसे कि स्वरके समस्त भेदोंमें वीणाका स्वर (काकली) उत्तम है, शरीरकी कान्ति अथवा मानसिक रुचिको नष्ट करनेवाला कामला (पीलिया) रोग है, कामिनी स्त्री पतिको प्रसन्न कर सकती है और उच्च तथा गम्भीर शब्द करनेवाली भेरी (काहला) है। [यह श्लोक भी द्व्यक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है] ॥ २३९ ॥

का कला स्वरभेदेषु का सता रुचिह्वा रुजा । का रता रमयेत्कान्तं का हता तारनिस्वना ॥ २४० ॥

किसी देवीने फिर पूछा कि हे माता, स्वरोंके भेदोंमें उत्तम स्वर कौन-सा है? कान्ति अथवा मानसिक रुचिको नष्ट करनेवाला रोग कौन-सा है? कौन-सी स्त्री पतिको प्रसन्न कर सकती है और ताड़ित होनेपर गम्भीर तथा उच्च शब्द करनेवाला बाजा कौन-सा है? इस श्लोकमें पहले ही प्रश्न हैं। माताने इस श्लोकके तृतीय अक्षरोंको हटाकर उसके स्थानपर पहले श्लोकके तृतीय अक्षर बोलकर उत्तर दिया [यह श्लोक एकाक्षरच्युतक और एकाक्षरदत्तक है] ॥ २४० ॥

काकः श्रयते नित्यं काकां सुरतप्रियाम् । कान्तानने वदेदानीं चतुरक्षरविच्युतम् ॥ २४१ ॥
[कामुकः श्रयते नित्यं कामिनीं सुरतप्रियाम् । कान्तानने वदेदानीं चतुरक्षरविच्युतम् ॥ २४१ ॥]

कोई देवी पूछती है कि हे माता, 'किसी वनमें एक कौआ संभोगप्रिय कागलीका निरन्तर सेवन करता है'। इस श्लोकमें चार अक्षर कम हैं उन्हें पूराकर उत्तर दीजिए। माताने चारों चरणोंमें एक-एक अक्षर बढ़ाकर उत्तर दिया कि हे कान्तानने (हे सुन्दर मुखवाली), कामी पुरुष संभोगप्रिय कामिनीका सदा सेवन करता है [यह श्लोक एकाक्षरच्युतक है] ॥ २४१ ॥

तवाम्ब किं वसत्यन्तः का नास्त्यविधवे त्वयि । का हन्ति जनमाहार्यं वदान्त्याक्षरतोऽपरैः ॥ २४२ ॥
[सूनुः, शोकः, रोगः]

किसी देवीने फिर पूछा कि हे माता, तुम्हारे गर्भमें कौन निवास करता है? हे सौभाग्यवती, ऐसी कौन-सी वस्तु है जो तुम्हारे पास नहीं है? और बहुत खानेवाले मनुष्यको कौन-सी वस्तु मारती है? इन प्रश्नोंका उत्तर ऐसा दीजिए कि जिसमें अन्तका व्यञ्जन एक-सा हो और आदिका व्यञ्जन भिन्न-भिन्न प्रकारका हो। माताने उत्तर दिया 'सूनुः', 'शोकः', 'रोगः', अर्थात् हमारे गर्भमें पुत्र निवास करता है, हमारे समीप शोक नहीं है और अधिक खानेवालेको रोग मार डालता है। [इन तीनों उत्तरोंका प्रथम व्यञ्जन अक्षर जुदा-जुदा है और अन्तिम व्यञ्जन सबका एक-सा है] ॥ २४२ ॥

वराशनेषु को रुच्यः को गम्भीरो जलाशयः । कः कान्तस्तव तन्वङ्गि वदादिव्यञ्जनैः पृथक् ॥ २४३ ॥
[सूपः, कूपः, भूपः]

किसी देवीने पूछा कि हे माता, उत्तम भोजनोंमें रुचि बढ़ानेवाला क्या है? गहरा जलाशय क्या है? और तुम्हारा पति कौन है? हे तन्वङ्गि, इन प्रश्नोंका उत्तर ऐसे पृथक्-पृथक् शब्दोंमें दीजिए जिनका पहला व्यञ्जन एक समान नहीं। माताने उत्तर दिया कि 'सूपः', 'कूपः' और 'भूपः', अर्थात् उत्तम भोजनोंमें रुचि बढ़ानेवाला सूप (दाल) है, गहरा जलाशय कुआँ है और हमारा पति भूप (राजा नाभिराज) है ॥ २४३ ॥

केने निष्पाव्यते धान्यं घटयत्यम्ब को घटम् । भुङ्क्ते मूषकवर्गं को वदान्त्याक्षरतः पृथक् ॥ २४४ ॥
[पलालः, कुलालः, बिडालः]

किसी देवीने फिर कहा कि हे माता, अनाजमें-से कौन-सी वस्तु छोड़ दी जाती है? घड़ा कौन बनाता है? और कौन पापी चूहोंको खाता है? इनका उत्तर भी ऐसे पृथक्-पृथक् शब्दोंमें कहिए जिनके पहलेके दो अक्षर भिन्न-भिन्न प्रकारके हों। माताने कहा 'पलालः', 'कुलालः' और 'बिडालः' अर्थात् अनाजमें-से पुआल छोड़ दिया जाता है, घड़ा कुम्हार बनाता है और बिलाव चूहोंको खाता है ॥ २४४ ॥

> संबोध्यसे कथं देवि किमस्त्यर्थे क्रियापदम् । शोभा च कीदृशे व्योम्नि सर्वतोऽद्य निगद्यताम् ॥ २४५ ॥
>
> ['भवति']

कोई देवी फिर पूछती है कि हे देवी, तुम्हारा सम्बोधन क्या है? सत्ता अर्थको कहनेवाला क्रियापद कौन-सा है? और कैसे आकाशमें शोभा होती है? माताने उत्तर दिया 'भवति', अर्थात् मेरा सम्बोधन भवति (भवती शब्दका सम्बोधनका एकवचन) है, सत्ता अर्थको कहनेवाला क्रियापद 'भवति' है (भू-धातुके प्रथम पुरुषका एकवचन) और भवती अर्थात् नक्षत्रसहित आकाशमें शोभा होती है (भवत् शब्दका सप्तमीके एकवचनमें भवति रूप बनता है)। इन प्रश्नोंका 'भवति' उत्तर इसी श्लोकमें छिपा है इसलिए इसे निगूढैकालापक कहते हैं ॥ २४५ ॥

> जिनेन्द्रमानम्रनराकमर्त्यैर्नायकैरर्चितसत्क्रमम् । किमाहुः करिणं चोद्यं लक्षणैः सुरवरदं विदः ॥ २४६ ॥
>
> ['सुरवरदम्']

कोई देवी फिर पूछती है कि माता, देवोंके नायक इन्द्र भी अतिशय नम्र होकर जिनके उत्तम चरणोंकी पूजा करते हैं ऐसे जिनेन्द्रदेवको क्या कहते हैं? और कैसे हाथीको उत्तम लक्षणवाला जानना चाहिए? माताने उत्तर दिया 'सुरवरदम्' अर्थात् जिनेन्द्रदेवको 'सुरवरद'—देवोंको वर देनेवाला कहते हैं और 'सुरवरद' अर्थात् उत्तम शब्द और दाँतोंवाले हाथीको उत्तम लक्षणवाला जानना चाहिए। [इन प्रश्नोंका उत्तर बाहरसे देना पड़ा है इसलिए यह 'बहिरालापिका' कहते हैं] ॥ २४६ ॥

> भो केतकादिवर्णेन सन्ध्यादिसंयुतामुना । शरीरमध्यवर्णेन वद सिंहमुपलक्षय ॥ २४७ ॥
>
> ['केसरी']

किसी देवीने कहा कि हे माता, केतकी आदि फूलोंके वर्णसे, सन्ध्या आदिके वर्णसे और शरीरके मध्यवर्ती वर्णसे तू अपने गर्भस्थ सिंहको ही समझ। यह सुनकर माताने कहा कि ठीक है, केतकीका आदि अक्षर 'के', सन्ध्याका आदि

अक्षर 'स' और शरीरका मध्यवर्ती अक्षर 'री' इन तीनों अक्षरोंको मिलानेसे 'केसरी' यह सिंहवाचक शब्द बनता है इसलिए तुम्हारा कहना सच है। [इसे शब्दप्रहेलिका कहते हैं] ॥ २४७ ॥

> आसादयति रूपं यत् करणेन विना । तत्ते कमलपत्राक्षि भवत्यक्षयमव्ययम् ॥

किसी देवीने फिर कहा कि हे कमलपत्रके समान नेत्रोंवाली माता, 'करेणु' शब्दमें-से क्, र् और ण् अक्षर घटा देनेपर जो शेष रूप बचता है वह आपके लिए अक्षय और अविनाशी हो। हे देवि! बताइए वह कौन-सा रूप है? माताने कहा 'आयुः', अर्थात् करेणु शब्दमें-से क्, र् और ण् व्यञ्जन दूर कर देनेपर अ+ए+उः ये तीन स्वर शेष बचते हैं। अ और ए के बीच व्याकरणके नियमानुसार सन्धि कर देनेसे दोनोंके स्थानमें 'ऐ' आदेश हो जायेगा। इसलिए ऐ+उः ऐसा रूप होगा। फिर इन दोनोंके बीच सन्धि होकर अर्थात् 'ऐ' के स्थानमें 'आय्' आदेश करनेपर आय्+उः = आयुः ऐसा रूप बनेगा। तुम लोगोंने हमारी आयुके अक्षय और अविनाशी होनेकी भावना की है सो उचित ही है।

> कोऽनागा न नृपैर्दण्ड्यः कः खे भाति रवेः सुतः । भीतिः कस्माद् रणे भीरोः कीदृङ्निवेशनं तव
> नानागारविराजितः ॥ २४८ ॥

फिर कोई देवी पूछती है कि हे माता, कौन और कैसा पुरुष राजाओंके द्वारा दण्डनीय नहीं होता? आकाशमें कौन शोभायमान होता है? डर किससे लगता है? और हे भीरु! तेरा निवासस्थान कैसा है? इन प्रश्नोंके उत्तरमें माताने श्लोकका चौथा चरण कहा 'नानागारविराजितः'। इस एक चरणसे ही पहले कहे हुए सभी प्रश्नोंका उत्तर हो जाता है। जैसे, न अनागाः, रविः, आजितः, नानागारविराजितः अर्थात् अपराधरहित मनुष्य राजाओंके द्वारा दण्डनीय नहीं होता, आकाशमें रवि (सूर्य) शोभायमान होता है, डर आजि (युद्ध) से लगता है और मेरा निवासस्थान अनेक घरोंसे विराजमान है। [यह आदिविषम अन्तरालापक श्लोक कहलाता है] ॥ २४८ ॥

> स्वतनौ काऽम्ब गम्भीरा राज्ञो बाहू च कुतः । जले किं नु विगाह्यं स्यात् श्लाघ्या कथं सती ॥ २४९ ॥
> ['नाभिराजानुगाधिकम्']

किसी देवीने फिर पूछा कि हे माता! तुम्हारे शरीरमें गम्भीर क्या है? राजा नाभिराजकी भुजाएँ कहाँतक लम्बी हैं? कैसी और किस वस्तुमें अवगाहन (प्रवेश) करना चाहिए? और हे पतिव्रते, तुम अधिक प्रशंसनीय किस प्रकार हो? माताने उत्तर दिया 'नाभिराजानुगाधिकम्' (नाभि, आजानु, गाधि-कं, नाभिराजानुगा-अधिकम्)। श्लोकके इस एक चरणमें ही सब प्रश्नोंका उत्तर आ गया है जैसे, हमारे शरीरमें गम्भीर (गहरी) नाभि है, महाराज नाभिराजकी भुजाएँ आजानु अर्थात् घुटनों तक लम्बी हैं, गाधि अर्थात् कम गहरे कं अर्थात् जलमें अवगाहन करना चाहिए और मैं नाभिराजकी अनुगामिनी (आज्ञाकारिणी) होनेसे अधिक प्रशंसनीय हूँ। [यहाँ प्रश्नोंका उत्तर श्लोकमें न आये हुए बाहरके शब्दोंसे दिया गया है इसलिए यह बहिरालापक अन्तर्विषम प्रश्नोत्तर है] ॥ २४९ ॥

> तवानुरञ्जनायैता देवि प्राप्ता दिवौकसाम् । नृत्यन्ति करणैश्चित्रैर्नभोरङ्गे सुराङ्गनाः ॥ २५० ॥

[इस प्रकार उन देवियोंने अनेक प्रकारके प्रश्न कर मातासे उन सबका योग्य उत्तर प्राप्त किया। अब वे चित्रबद्ध श्लोकों-द्वारा माताका मनोरंजन करती हुई बोलीं] हे देवि, देखो, आपको प्रसन्न करनेके लिए स्वर्गसे आयी हुई ये देवियाँ आकाशरूपी रङ्गभूमिमें अनेक प्रकारके करणों (नृत्यविशेषों) के द्वारा नृत्य कर रही हैं ॥ २५० ॥

> त्वमम्ब रेचितं पश्य नाटके सुरसान्वितम् । त्वमम्बरे चितं वेश्यं पेटकं सुरसारितम् ॥ २५१ ॥

हे माता, उस नाटकमें होनेवाले रसीले नृत्यको देखिए तथा देवोंके द्वारा छाया हुआ और आकाशमें एक जगह इकट्ठा हुआ यह अप्सराओंका समूह भी देखिए। [यह गोमूत्रिकाबद्ध श्लोक है] ॥ २५१ ॥

> अहो राजते तन्वि परितस्त्वद्गृहाङ्गणम् । वसुधारानिपातेन दधतीव महानिधिम् ॥ २५२ ॥

हे तन्वङ्गि! रत्नोंकी वर्षासे आपके घरके आँगनके चारों ओरकी भूमि ऐसी शोभायमान हो रही है मानो किसी बड़े खजानेको ही धारण कर रही हो ॥ २५२ ॥

> वसुधारानिभेनाद्य स्वर्गश्रीस्त्वामुपासितुम् । सेयमायाति पश्यैनां नानारत्नांशुचित्रिताम् ॥ २५३ ॥

हे देवि! इधर अनेक प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे चित्र-विचित्र पड़ती हुई यह रत्नधारा देखिए। इसे देखकर मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानो रत्नधाराके छलसे यह स्वर्गकी लक्ष्मी ही आपकी उपासना करनेके लिए आपके समीप आ रही है ॥ २५३ ॥

> मुदेऽस्तु वसुधारा ते देवताशीस्तताम्बरा । नताताधा वशीशे त्वं स्वस्त्वनस्तनु ॥ २५४ ॥

जिसकी आज्ञा अत्यन्त प्रशंसनीय है और जो जितेन्द्रिय पुरुषोंमें अतिशय श्रेष्ठ है ऐसी हे माता! देवताओंके आशीर्वादसे आकाशको व्याप्त करनेवाली अत्यन्त सुशोभित, जीवोंकी दरिद्रताको नष्ट करनेवाली और नम्र होकर आकाशसे पड़ती हुई यह रत्नोंकी वर्षा तुम्हारे आनन्दके लिए हो [यह अर्धभ्रम श्लोक है—इस श्लोकके तृतीय और चतुर्थ चरणके अक्षर प्रथम तथा द्वितीय चरणमें ही आ गये हैं।] ॥ २५४ ॥

> इति ताभिः प्रयुक्तानि दुष्कराणि विशेषतः । जानाना सुचिरं भेजे सान्तर्वत्नी सुखासिकाम् ॥ २५५ ॥

इस प्रकार उन देवियोंके द्वारा पूछे हुए कठिन-कठिन श्लोकोंका अर्थ विशेष रूपसे जानती हुई वह गर्भवती मरुदेवी चिरकाल तक सुखपूर्वक निवास करती रही ॥ २५५ ॥

> निसर्गात्तुष्टिरस्याः परिज्ञानेऽभवत् परा । ज्ञानमयं परं ज्योतिरुद्वहन्त्या निजोदरे ॥ २५६ ॥

वह मरुदेवी स्वभावसे ही सन्तुष्ट रहती थी और जब उसे इस बातका परिज्ञान हो गया कि मैं अपने उदरमें ज्ञानमय तथा उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप तीर्थङ्कर पुत्रको धारण कर रही हूँ तब उसे और भी अधिक सन्तोष हुआ था ॥ २५६ ॥

> सा तदात्मीयगर्भास्तर्गतं तेजोऽतिभासुरम् । दधानाऽर्कशुगर्भेव प्राची प्राप परां श्रियम् ॥ २५७ ॥

वह मरुदेवी उस समय अपने गर्भके अन्तर्गत अतिशय देदीप्यमान तेजको धारण कर रही थी इसलिए सूर्यकी किरणोंको धारण करनेवाली पूर्व दिशाके समान अतिशय शोभाको प्राप्त हुई थी ॥ २५७ ॥

> सूचिता वसुधारोरुदीपेनाधः कृतार्थिया । निधिगर्भस्थलीवासौ रेजे राजीवलोचना ॥ २५८ ॥

अन्य सब कान्तियोंको तिरस्कृत करनेवाली रत्नोंकी धारारूपी विशाल दीपकसे जिसका पूर्ण प्रभाव जान लिया गया है ऐसी वह कमलनयनी मरुदेवी किसी दीपकविशेषसे जानी हुई खजानेकी मध्यभूमिके समान सुशोभित हो रही थी ॥ २५८ ॥

> महासत्त्वेन तेनासो गर्भस्थेन बभौ भृशम् । अन्तरत्नैर्गर्भेव भूमिराकरगोचरा ॥ २५९ ॥

जिसके भीतर अनेक रत्न भरे हुए हैं ऐसी रत्नोंकी खानिकी भूमि जिस प्रकार अतिशय शोभाको धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी भी गर्भमें स्थित महाबलशाली पुत्रसे अतिशय शोभा धारण कर रही थी ॥ २५९ ॥

> स मातुरुदरस्थोऽपि न तस्याः पीडामजीजनत् । दर्पणस्थोऽपि किं वह्निर्दहेत् प्रतिबिम्बितः ॥ २६० ॥

वे भगवान् ऋषभदेव माताके उदरमें स्थित होकर भी उसे किसी प्रकारका कष्ट उत्पन्न नहीं करते थे सो ठीक ही है दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुई अग्नि क्या कभी दर्पणको जला सकती है? अर्थात् नहीं जला सकती ॥ २६० ॥

> त्रिवलीभङ्गुरं तस्यास्तथैवास्थात्तनूदरम् । तथापि वर्धते गर्भस्तेजसः प्राभवं हि तत् ॥ २६१ ॥

यद्यपि माता मरुदेवीका कृश उदर पहलेके समान ही त्रिवलियोंसे सुशोभित बना रहा तथापि गर्भ वृद्धिको प्राप्त होता गया सो यह भगवानके तेजका प्रभाव ही था ॥ २६१ ॥

> नोदरे विकृतिः कापि स्तनौ न नीलचुचुकौ । न पाण्डुवदनं चैव गर्भश्चाप्यवर्धताद्भुतम् ॥ २६२ ॥

न तो माताके उदरमें कोई विकार हुआ था, न उसके स्तनोंके अग्रभाग ही काले हुए थे और न उसका मुख ही सफेद हुआ था फिर भी गर्भ बढ़ता जाता था यह एक आश्चर्यकी बात थी ॥ २६२ ॥

> घ्रात्वाऽमोदं मुखमेतस्याः राजाऽश्वास्यैव सोऽतृप्यत् । मदालिरिव पद्मिन्याः पद्ममस्पष्टकेसरम् ॥ २६३ ॥

जिस प्रकार मदोन्मत्त भ्रमर कमलिनीके केसरको बिना खाये ही उसकी सुगन्ध मात्रसे सन्तुष्ट हो जाता है उसी प्रकार उस समय महाराज नाभिराज भी मरुदेवीके सुगन्धियुक्त मुखको सूँघकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे ॥ २६३ ॥

> मातृगर्भे विशुद्धेऽस्मिंस्त्रिबोधविमलाशनः । स्फटिकागारमध्यस्थः प्रदीप इव निश्चलः ॥ २६४ ॥

मरुदेवीके निर्मल गर्भमें स्थित तथा मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंसे विशुद्ध अन्तःकरणको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित होते थे जैसा कि स्फटिक मणिके बने हुए घरके बीचमें रखा हुआ निश्चल दीपक सुशोभित होता है ॥ २६४ ॥

> कुशेशयशय देवं सा दधानोदरेशयम् । कुशेशयस्थितावासीन्मौलिनाद्या दिवौकसाम् ॥ २६५ ॥

अनेक देवोंके मुकुट जिसका सत्कार कर रहे हैं और जो अपने उदरमें नाभि-कमलके ऊपर भगवान् वृषभदेवको धारण कर रही है ऐसी वह मरुदेवी साक्षात् लक्ष्मीके समान शोभायमान हो रही थी ॥ २६५ ॥

निगूढं च शची देवीं सिषेवे किल साप्सराः । मघोनाऽघविघाताय प्रेषितां तां महासतीम् ॥ २६६ ॥

अपने समस्त पापोंका नाश करनेके लिए इन्द्रके द्वारा भेजी हुई इन्द्राणी भी अप्सराओंके साथ-साथ गुप्तरूपसे महासती मरुदेवीकी सेवा किया करती थी ॥ २६६ ॥

सानंसीन्न क्वचित् क्वापि नम्यते स्म स्वयं जनैः । चान्द्री कलेव रुक्श्रेष्ठा देवीव च सरस्वती ॥ २६७ ॥

जिस प्रकार अतिशय शोभायमान चन्द्रमाकी कला और सरस्वती देवी किसीको नमस्कार नहीं करती किन्तु सब लोग उन्हें ही नमस्कार करते हैं इसी प्रकार वह मरुदेवी भी किसीको नमस्कार नहीं करती थी, किन्तु संसारके अन्य समस्त लोग स्वयं उसे ही नमस्कार करते थे ॥ २६७ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन श्लाघ्या सा जगतामभूत् । सा स्रष्टुर्जगतो जन्यभूद् बभूव भुवनाम्बिका ॥ २६८ ॥

इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है? इतना कहना ही बस है कि तीनों लोकोंमें वही एक प्रशंसनीय थी। वह जगत्के स्रष्टा अर्थात् भोगभूमिके बाद कर्मभूमिकी व्यवस्था करनेवाले श्रीवृषभदेवकी जननी थी इसलिए कहना चाहिए कि वह समस्त लोककी जननी थी ॥ २६८ ॥

सा विबभावभिरामतराङ्गी श्रीभिरुपासितमूर्तिरभूमैः । श्रीभवने भुवनैकललाम्नि संविदधन् नृपतिश्च यत् सेवाम् ॥ २६९ ॥

इस प्रकार जो स्वभावसे ही मनोहर अङ्गोंको धारण करनेवाली है, श्री, ह्री आदि देवियाँ जिसकी उपासना करती हैं तथा अनेक प्रकारकी शोभा व लक्ष्मीको धारण करनेवाले महाराज भी स्वयं जिसकी सेवा करते हैं ऐसी वह मरुदेवी, तीनों लोकोंमें अत्यन्त सुन्दर श्रीभवनमें रहती हुई बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ २६९ ॥

अतिरुचिरतराङ्गी कल्पवल्लीव साऽभूत् स्मितकुसुमनिकायैर्दर्शयन्तीव सद्यः । नृपतिरपि तदस्याः पार्श्ववर्ती रराजे सुरतरुरिव तुङ्ग मङ्गलश्रीविभूषः ॥ २७० ॥

अत्यन्त सुन्दर अङ्गोंको धारण करनेवाली वह मरुदेवी मानो एक कल्पलता ही थी और मन्द हास्यरूपी पुष्पोंसे मानो लोगोंको दिखला रही थी कि अब शीघ्र ही फल लगनेवाला है। तथा इसके समीप ही बैठे हुए मङ्गलमय शोभा धारण करनेवाले महाराज नाभिराज भी एक ऊँचे कल्पवृक्षके समान शोभायमान होते थे ॥ २७० ॥

> रुचिरतरमथास्या वक्त्रपद्मं व्यभासीत् स्फुरितदशनरोचिर्मञ्जरीकेसराढ्यम् ।
> वचनमधुरसाशासङ्गनद्राजहंसं जनितहृदयबोधं बालभानुस्समुद्यन् ॥ २७१ ॥

उस समय मरुदेवीका मुख एक कमलके समान जान पड़ता था क्योंकि वह कमलके समान ही अत्यन्त सुन्दर था, सुगन्धित था और प्रकाशमान दाँतोंकी किरणमञ्जरीरूप केशरसे सहित था तथा वचनरूपी परागके रसकी आशासे उसमें अत्यन्त आसक्त हुए महाराज नाभिराज ही पास बैठे हुए राजहंस बने थे। इस प्रकार उसके मुखरूपी कमलको उदित (उत्पन्न) होते हुए बालकरूपी सूर्यने अत्यन्त हर्षको प्राप्त कराया था ॥ २७१ ॥

> मुहुरमृतमिवास्या वक्त्रपूर्णेन्दुरुद्वन् नयनमनुजनेत्रप्रेक्षणीयोऽभिनन्दी । नृपतिरपि सतृष्णस्तत्पिपासुश्च तस्थौ स्वजनकुमुदषण्डेः स्वं विभज्य यथास्वम् ॥ २७२ ॥

तथा उस मरुदेवीका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान था क्योंकि वह भी पूर्ण चन्द्रमाके समान सब लोगोंके मनको उत्कृष्ट आनन्द देनेवाला था और चन्द्रमा जिस प्रकार अमृतकी वर्षा करता है उसी प्रकार उसका मुख भी बार-बार मधुर वचनरूपी अमृतकी सृष्टि करता था। महाराज नाभिराज उसके वचनरूपी अमृतके पानमें बड़े सतृष्ण थे इसलिए वे अपने परिवाररूपी कुमुद-समूहके द्वारा विभक्त कर दिये हुए अपने भागका इच्छानुसार पान करते हुए रमण करते थे। भावार्थ—मरुदेवीकी आज्ञा पालन करनेके लिए महाराज नाभिराज तथा उनका समस्त परिवार तैयार रहता था ॥ २७२ ॥

> इत्याविष्कृतमङ्गला भगवती देव्याभिराक्षादराद् धत्ते या परमोदयं त्रिभुवनेऽप्याश्चर्यभूतं महः । वक्त्रं जिनभाविनो मुदकरं पद्माकरस्यानयन् साकाङ्क्षः प्रतिपालयन् धृतिमधात् नाभिनरेन्द्रोऽधिकाम् ॥ २७३ ॥

इस प्रकार जो प्रकटरूपसे अनेक मङ्गल धारण किये हुए हैं और अनेक देवियाँ आदरके साथ जिसकी सेवा करती हैं ऐसी मरुदेवी परम सुख देनेवाले और तीनों लोकोंमें आश्चर्य करनेवाले भगवान् ऋषभदेवरूपी तेजःपुञ्जको धारण कर रही थी और महाराज नाभिराज कमलोंसे सुशोभित सरोवरके समान जिनेन्द्र होनेवाले पुत्ररूपी सूर्यकी प्रतीक्षा करते हुए बड़ी आकाङ्क्षाके साथ परम सुख देनेवाले भारी धैर्यको धारण कर रहे थे ॥ २७३ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवत्स्वर्गावतरणवर्णनं नाम द्वादशं पर्व समाप्तम् ॥ १२ ॥

> अथर्तो नवमे मासि देवी सुषुवे विभुम् । देवीभिर्ह्रीमुखाभियंथास्वं परिवारिता ॥ १ ॥

अथानन्तर, ऊपर कही हुई श्री, ह्री आदि देवियाँ जिसकी सेवा करती हैं और जो सदा समीपमें विद्यमान रहती हैं ऐसी माता मरुदेवीने नौ महीने व्यतीत होनेपर भगवान् वृषभदेवको उत्पन्न किया ॥ १ ॥

> प्राच्यामिव बन्धुमब्जानां सा लेभे भास्वरं सुतम् । चैत्रे मास्यसिते पक्षे नवम्यामुदये रवेः ॥ २ ॥

जिस प्रकार प्रातःकालके समय पूर्व दिशा कमलोंको विकसित करनेवाले प्रकाशमान सूर्यको प्राप्त करती है उसी प्रकार माता मरुदेवीने चैत्र कृष्ण नवमीके दिन सूर्योदयके समय देदीप्यमान पुत्रको प्राप्त किया ॥ २ ॥

> दिने ब्राह्ममहायोगे जगतामेकवल्लभम् । त्रिशोककिरणोज्भासि त्रिभिरप्यतिविश्रुतम् ॥ ३ ॥

उत्तराषाढ़ नक्षत्र और ब्रह्म नामक महायोगमें मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंसे शोभायमान, बालक होनेपर भी गुणोंसे वृद्ध तथा तीनों लोकोंके एकमात्र स्वामी पुत्रको प्राप्त किया ॥ ३ ॥

> त्रिबोधकिरणोजासिवासाकोऽसौ स्फुरद्द्युतिः । नाभिराजोदयाद्रीन्द्रादुदितो विबभौ विभुः ॥ ४ ॥

तीन ज्ञानरूपी किरणोंसे शोभायमान, अतिशय कान्तिका धारक और नाभिराजरूपी उदयाचलसे उदयको प्राप्त हुआ वह बालकरूपी सूर्य बहुत ही शोभायमान होता था ॥ ४ ॥

> दिशः प्रसादिमासेदुरासीन्निर्मलमम्बरम् । गुणानामस्य वैमल्यमनुकर्तुमिवोद्यतः ॥ ५ ॥

उस समय समस्त दिशाएँ स्वच्छताको प्राप्त हुई थीं और आकाश निर्मल हो गया था। ऐसा मालूम होता था मानो भगवानके गुणोंकी निर्मलताका अनुकरण करनेके लिए ही दिशाएँ और आकाश स्वच्छताको प्राप्त हुए हों ॥ ५ ॥

प्रजानां ववृधे हर्षः सुरा विस्मयमाश्रयन् । अम्लानिकुसुमान्युच्चैः सुमुचुः सुरभूरुहाः ॥ ६ ॥

उस समय प्रजाका हर्ष बढ़ रहा था, देव आश्चर्यको प्राप्त हो रहे थे और कल्पवृक्ष ऊँचेसे प्रफुल्लित फूल बरसा रहे थे ॥ ६ ॥

अताडिताः प्रघुष्यन्तो दध्वनुर्दिविजानकाः । ववुः सुजातयः शीता मरुन्मन्दं तदा ववौ ॥ ७ ॥

देवोंके दुन्दुभि बाजे बिना बजाये ही ऊँचा शब्द करते हुए बज रहे थे और मन्द, शीतल तथा सुगन्धित वायु धीरे-धीरे बह रहा था ॥ ७ ॥

प्रचचाल मही तोषात् नर्तकीव चलद्गिरिः । उद्वेलो जलधिर्नूनमगमत् प्रमदं परम् ॥ ८ ॥

उस समय पहाड़ोंको हिलाती हुई पृथिवी भी हिलने लगी थी मानो सन्तोषसे नृत्य ही कर रही हो और समुद्र भी उछल रहा था मानो परम आनन्दको प्राप्त हुआ हो ॥ ८ ॥

ततोऽभ्युद्धः सुराधीशः सिंहासनविकम्पनात् । प्रयुक्तावधिस्तद्भूतिं विवेद विजितैनसः ॥ ९ ॥

तदनन्तर सिंहासन कम्पायमान होनेसे अवधिज्ञान जोड़कर इन्द्रने जान लिया कि समस्त पापोंको जीतनेवाले जिनेन्द्रदेवका जन्म हुआ ॥ ९ ॥

स जन्माभिषेकाय मतिं चक्रे शतक्रतुः । तीर्थकृद्भाविपद्माब्जबन्धौ तस्मिन्नुदेयुषि ॥ १० ॥

आगामी कालमें उत्पन्न होनेवाले भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेवाले श्री तीर्थङ्कररूपी सूर्यके उदित होते ही इन्द्रने उनका जन्माभिषेक करनेका विचार किया ॥ १० ॥

तदासनानि देवानामकस्मात् प्रचचम्पिरे । देवानुच्चासनेभ्योऽधः पातयन्तीव संभ्रमात् ॥ ११ ॥

उस समय अकस्मात् सब देवोंके आसन कम्पित होने लगे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो उन देवोंको बड़े संभ्रमके साथ ऊँचे सिंहासनोंसे नीचे ही उतार रहे हों ॥ ११ ॥

शिरांसि प्रचचन्मौलिमणीनि प्रणतिं दधुः । सुरासुरगुरोर्जन्म भावयन्तीव विस्मयात् ॥ १२ ॥

जिनके मुकुटोंमें लगे हुए मणि कुछ-कुछ हिल रहे हैं ऐसे देवोंके मस्तक स्वयमेव नम्रीभूत हो गये थे और ऐसे मालूम होते थे मानो बड़े आश्चर्यसे सुर, असुर आदि सबके गुरु भगवान् जिनेन्द्रदेवके जन्मकी भावना ही कर रहे हों ॥ १२ ॥

घण्टाकण्ठीरवध्वानभेरीशङ्खाः प्रदध्वनुः । कल्पेशज्ज्योतिषां व्यन्तरभवनानां च वेश्मसु ॥ १३ ॥

उस समय कल्पवासी, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंके घरोंमें क्रमशः अपने-आप ही घण्टा, सिंहनाद, भेरी और शङ्खोंके शब्द होने लगे थे ॥ १३ ॥

तेषामुदग्रवेगानामब्धीनामिव निःस्वनम् । श्रुत्वा शुश्रुविरे जन्म विबुधा भुवनैशिनः ॥ १४ ॥

उठी हुई तरङ्गोंसे शोभायमान समुद्रके समान उन बाजोंका गम्भीर शब्द सुनकर देवोंने जान लिया कि तीन लोकके स्वामी तीर्थङ्कर भगवानका जन्म हुआ है ॥ १४ ॥

ततश्छक्राज्ञया देव्यो महासेन्यो निर्ययुर्दिवः । तारतम्येन साध्यानां महोदधेरिवोर्मयः ॥ १५ ॥

तदनन्तर महासागरकी तरङ्गोंके समान शब्द करती हुई देवोंकी सेनाएँ इन्द्रकी आज्ञा पाकर अनुक्रमसे स्वर्गसे निकलीं ॥ १५ ॥

हस्त्यश्वरथगन्धर्वनर्तकोपत्तयो वृषाः । सप्तैताः सुरेन्द्राणां महानीकानि निर्ययुः ॥ १६ ॥

हाथी, घोड़े, रथ, गन्धर्व, नृत्य करनेवाले, पियादे और बैल इस प्रकार इन्द्रकी ये सात बड़ी-बड़ी सेनाएँ निकलीं ॥ १६ ॥

अथ सौधर्मकल्पेशो महेरावतहस्तिनम् । आरुह्य सहदेव्या स प्रतस्थे विबुधैर्वृतः ॥ १७ ॥

तदनन्तर सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने इन्द्राणीसहित बड़े भारी (एक लाख योजन विस्तृत) ऐरावत हाथीपर चढ़कर अनेक देवोंसे परिवृत हो प्रस्थान किया ॥ १७ ॥

ततः सामानिकास्त्रायस्त्रिंशाः पारिषदामराः । आत्मरक्षैः सहैवैते सर्वतः पर्यवारयन् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष और लोकपाल जातिके देवोंने उस सौधर्म इन्द्रको चारों ओरसे घेर लिया अर्थात् उसके चारों ओर चलने लगे ॥ १८ ॥

दुन्दुभीनां महाघोषैः सुराणां सिंहनादितैः । महानभूत्तदा ध्वानः सुरानीकेषु विस्फुरन् ॥ १९ ॥

उस समय दुन्दुभि बाजोंके गम्भीर शब्दोंसे तथा देवोंके जय-जय शब्दके उच्चारणसे उस देवसेनामें बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥ १९ ॥

केचिद् हसन्ति नृत्यन्ति वल्गन्त्यास्फोटयन्त्यपि । धावन्त्याग्रे नदन्त्युच्चैर्गायन्ति सुरपुङ्गवाः ॥ २० ॥

उस सेनामें आनन्दित हुए कितने ही देव हँस रहे थे, कितने ही नृत्य कर रहे थे, कितने ही उछल रहे थे, कितने ही विशाल शब्द कर रहे थे, कितने ही आगे दौड़ते थे, और कितने ही गाते थे ॥ २० ॥

नभोऽङ्गणं तदा कृत्स्नमारूढास्त्रिदशाधिपाः । ते स्वैर्विमानैराजग्मुर्वाहनैश्च पृथग्विधैः ॥ २१ ॥

वे सब देव-देवेन्द्र अपने-अपने विमानों और पृथक्-पृथक् वाहनोंपर चढ़कर समस्त आकाशरूपी आँगनको व्याप्त कर आ रहे थे ॥ २१ ॥

तेषामापततां यानविमानैराततं नभः । त्रिषष्टिपटलेभ्योऽन्यत् स्वर्गान्तरमिवासृजत् ॥ २२ ॥

उन आते हुए देवोंके विमान और वाहनोंसे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा मालूम होता था मानो तिरसठ पटलवाले स्वर्गसे भिन्न किसी दूसरे स्वर्गकी ही सृष्टि कर रहा हो ॥ २२ ॥

नभःप्रस्रवणे नाकीन्द्रधेनोद्योताच्छवारिणि । स्मेराण्यप्सरसां वक्त्राण्यातेनुः पङ्कजश्रियम् ॥ २३ ॥

उस समय इन्द्रके शरीरकी कान्तिरूपी स्वच्छ जलसे भरे हुए आकाशरूपी सरोवरमें अप्सराओंके मन्द-मन्द हँसते हुए मुख, कमलोंकी शोभा विस्तृत कर रहे थे ॥ २३ ॥

> अवाङ्मुखाः सुराधीशसेनाच्छन्नरुची च खे । मकरा इव संरेजुरन्तरा सुरवारणाः ॥ २४ ॥

अथवा इन्द्रकी सेनारूपी जलसे भरे हुए आकाशरूपी समुद्रमें ऊपरको शुण्ड किये हुए देवोंके हाथी मगरमच्छोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ २४ ॥

> क्रमादथ सुरानीकांस्यम्बरादवतीर्य सानुकम् । अवतीर्य पुरीं प्रापुरमोध्यां परर्द्धिकाम् ॥ २५ ॥

अनन्तर वे देवोंकी सेनाएँ क्रम-क्रमसे बहुत ही शीघ्र आकाशसे जमीनपर उतरकर उत्कृष्ट विभूतियोंसे शोभायमान अयोध्यापुरीमें जा पहुँची ॥ २५ ॥

> साकेतं विष्वगावेष्ट्य तदास्थुः सुरसैनिकाः । नाभिराजगृहं चापि संरुद्धं तैर्महोत्सवः ॥ २६ ॥

देवोंके सैनिक चारों ओरसे अयोध्यापुरीको घेरकर स्थित हो गये और बड़े उत्सवके साथ आये हुए इन्द्रोंसे राजा नाभिराजका आँगन भर गया ॥ २६ ॥

> प्रसवागारमिन्द्राणी ततः प्राविशदुत्सवात् । तत्रापश्यत् कुमारेण सहितां तां जिनमातरम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर इन्द्राणीने बड़े ही उत्सवसे प्रसूतिगृहमें प्रवेश किया और वहाँ कुमारके साथ-साथ जिनमाता मरुदेवीके दर्शन किये ॥ २७ ॥

> जिनमाता तदा शच्या दृष्टा सा सानुरागया । संध्ययेव दिगुदीची संगता बालभानुना ॥ २८ ॥

जिस प्रकार अनुराग (लाली) सहित सन्ध्या बालसूर्यसे युक्त पूर्व दिशाको बड़े ही प्रेमसे देखती है उसी प्रकार अनुराग (प्रेम) सहित इन्द्राणीने जिनबालकसे युक्त जिनमाताको बड़े ही प्रेमसे देखा ॥ २८ ॥

> ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च जगद्गुरुम् । जिनमातुः पुरः स्थित्वा श्लाघते स्मेति सा सती ॥ २९ ॥

इन्द्राणीने वहाँ जाकर पहले कई बार प्रदक्षिणा दी फिर जगत्के गुरु जिनेन्द्रदेवको नमस्कार किया और फिर जिनमाताके सामने खड़े होकर इस प्रकार स्तुति की ॥ २९ ॥

> त्वमम्ब भुवनान्मातः कल्याणी त्वं हि मङ्गला । महादेवी त्वमेवैका त्वं पुण्या त्वं यशस्विनी ॥ ३० ॥

कि हे माता, तू तीनों लोकोंकी कल्याणकारिणी माता है, तू ही मङ्गल करनेवाली है, तू ही महादेवी है, तू ही पुण्यवती है और तू ही यशस्विनी है ॥ ३० ॥

> इत्यभिष्टुत्य गूढाङ्गी तां मायानिकृतान्यतः । पुरो निक्षिप्य सा तन्वङ्गि मायाशिशुमथापरम् ॥ ३१ ॥

जिसने अपने शरीरको गुप्त कर रखा है ऐसी इन्द्राणीने ऊपर लिखे अनुसार जिनमाताकी स्तुति कर उसे मायामयी नींदसे युक्त कर दिया। तदनन्तर उसके आगे मायामयी दूसरा बालक रख दिया ॥ ३१ ॥

> जगद्गुरुं समादाय कराभ्यां सागमन्मुदम् । चूडामणिमिवोत्सर्पत्तेजसा व्याप्तविष्टपम् ॥ ३२ ॥

तथा निकलते हुए तेजके द्वारा लोकको व्याप्त करनेवाले चूडामणिके समान जगद्गुरु जिनबालकको दोनों हाथोंसे उठाकर वह परम आनन्दको प्राप्त हुई ॥ ३२ ॥

> तद्गात्रस्पर्शमासाद्य सुदुर्लभमसौ तदा । मेने त्रिभुवनैश्वर्यं स्ववशंकृतमिवानिशम् ॥ ३३ ॥

उस समय अत्यन्त दुर्लभ भगवानके शरीरका स्पर्श पाकर इन्द्राणीने ऐसा माना था मानो मैंने तीनों लोकोंका समस्त ऐश्वर्य ही अपने अधीन कर लिया हो ॥ ३३ ॥

> मुहुस्तन्मुखमालोक्य स्पृष्ट्वाऽघ्रातश्च तद्वपुः । परां प्रीतिमसौ भेजे हर्षविस्फारितेक्षणा ॥ ३४ ॥

वह इन्द्राणी बार-बार उनका मुख देखती थी, बार-बार उनके शरीरका स्पर्श करती थी और बार-बार उनके शरीरको सूँघती थी जिससे उसके नेत्र अत्यधिक प्रफुल्लित हो गये थे और वह उत्कृष्ट प्रीतिका अनुभव करती थी ॥ ३४ ॥

ततः कुमारमादाय पुरः सा प्रससार खे । खेचरैरिव संव्याप्तनभसं सान्द्ररश्मिभिः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर जिनबालकको लेकर जाती हुई वह इन्द्राणी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो अपनी देदीप्यमान किरणोंसे आकाशको व्याप्त करनेवाले सूर्यको लेकर जाता हुआ आकाश ही सुशोभित हो रहा हो ॥ ३५ ॥

तदा मङ्गलधारिण्यो दिक्कुमार्यः पुरो ययुः । त्रिजगन्मङ्गलस्यास्य समृद्धय इवोच्छिखाः ॥ ३६ ॥

उस समय तीनों लोकोंमें मङ्गल करनेवाले भगवानके आगे-आगे आठ मङ्गलद्रव्य धारण करनेवाली दिक्कुमारी देवियाँ चल रही थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो इकट्ठी हुई भगवानकी उत्तम ऋद्धियाँ ही हों ॥ ३६ ॥

भृङ्गारं दर्पणं चैव कलशं च सुप्रतिष्ठकम् । ध्वजं चामरमादर्शं तालावृन्ताष्टमङ्गलम् ॥ ३७ ॥

झारी, दर्पण, कलश, सुप्रतिष्ठक (मोंदरा-ठोना), ध्वजा, चमर, दर्पण और ताड़का पंखा ये आठ मङ्गलद्रव्य कहलाते हैं ॥ ३७ ॥

स तदा मङ्गलानां च मङ्गलत्वं परं वहन् । तिरश्चक्रे दीपिकालोकान् अरुणस्तरुरारुणः ॥ ३८ ॥

उस समय मङ्गलोंमें भी मङ्गलपनेको प्राप्त करानेवाले और तरुण सूर्यके समान शोभायमान भगवान, अपनी कान्तिसे दीपकोंके प्रकाशको रोक रहे थे। भावार्थ—भगवानके शरीरकी दीप्तिके सामने दीपकोंका प्रकाश नहीं फैल रहा था ॥ ३८ ॥

ततः पाणितले देव्या देवराजस्य तं न्यधात् । बालार्कमुदये सानौ प्राचीव प्रस्फुरन्मणौ ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् जिस प्रकार पूर्व दिशा प्रकाशमान मणियोंसे सुशोभित उदयाचलके शिखरपर बाल सूर्यको विराजमान कर देती है उसी प्रकार इन्द्राणीने जिनबालकको इन्द्रकी हथेलीपर विराजमान कर दिया ॥ ३९ ॥

गीर्वाणेन्द्रस्तमिन्द्राण्याः करादादाय सादरम् । व्यलोकयत् स तद्रूपं संप्रीतिस्फारितेक्षणः ॥ ४० ॥

इन्द्र आदरसहित इन्द्राणीके हाथसे भगवानको लेकर अपने नेत्रोंको प्रफुल्लित करता हुआ उनका सुन्दर रूप देखने लगा ॥ ४० ॥

> त्वं देव जगतां ज्योतिस्त्वं देव जगतां गुरुः । त्वं देव जगतां त्राता त्वं देव जगतां पतिः ॥ ४१ ॥

तथा नीचे लिखे अनुसार उनकी स्तुति करने लगा—हे देव, आप तीनों जगत्की ज्योति हैं; हे देव, आप तीनों जगत्के गुरु हैं; हे देव, आप तीनों जगत्के विधाता हैं और हे देव, आप तीनों जगत्के स्वामी हैं ॥ ४१ ॥

> त्वामामनन्ति सुधियः केवलज्ञानभास्वतः । उदयाद्रिं मुनीन्द्राणामनिशं च महोन्नतिम् ॥ ४२ ॥

हे नाथ, विद्वान् लोग, केवलज्ञानरूपी सूर्यका उदय होनेके लिए आपको ही बड़े-बड़े मुनियोंके द्वारा वन्दनीय और अतिशय उन्नत उदयाचल पर्वत मानते हैं ॥ ४२ ॥

> त्वया जगदिदं मिथ्याज्ञानान्धतमसावृतम् । प्रकाशिष्यत्यलं भव्यकमलाकरबन्धुना ॥ ४३ ॥

हे नाथ, आप भव्य जीवरूपी कमलोंके समूहको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं। मिथ्याज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारसे ढका हुआ यह संसार अब आपके द्वारा ही प्रबोधको प्राप्त होगा ॥ ४३ ॥

> तुभ्यं नमोऽधिगुरवे नमस्तुभ्यं महाधिये । तुभ्यं नमोऽस्तु भव्याब्जबन्धवे गुणसिन्धवे ॥ ४४ ॥

हे नाथ, आप गुरुओंके भी गुरु हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप महाबुद्धिमान् हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं और गुणोंके समुद्र हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ४४ ॥

> भवतः प्रबोधमिच्छन्तः प्रबुद्धभुवनत्रयात् । तव पादाम्बुजं देव मूर्ध्ना दध्मः शतादरम् ॥ ४५ ॥

हे भगवन्, आपने तीनों लोकोंको जान लिया है इसलिए आपसे ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करते हुए हम लोग आपके चरणकमलोंको बड़े आदरसे अपने मस्तकपर धारण करते हैं ॥ ४५ ॥

> त्वयि प्रणयमाधत्ते मुक्तिलक्ष्मीः समुत्सुका । त्वयि सर्वे गुणाः स्फातिं यान्त्यब्धौ मणयो यथा ॥ ४६ ॥

हे नाथ, मुक्तिरूपी लक्ष्मी उत्कण्ठित होकर आपमें प्रेम रखती हैं और जिस प्रकार समुद्रमें मणि बढ़ते रहते हैं उसी प्रकार आपमें अनेक गुण बढ़ते रहते हैं ॥ ४६ ॥

> स्तुत्वेति स तमारोप्य क्रोडे सुरनायकः । हस्तमुच्चालयामास मेरुप्रस्थानहेतवे ॥ ४७ ॥

इस प्रकार देवोंके अधिपति इन्द्रने स्तुति कर भगवानको अपनी गोदमें धारण किया और मेरु पर्वतपर चलनेकी शीघ्रतासे इशारा करनेके लिए अपना हाथ ऊँचा उठाया ॥ ४७ ॥

> जयेश वर्धतां देव नन्द त्वमित्युच्चैर्गिरः पृथक् । तदा कलकलं चक्रुर्बधिरीकृतदिङ्मुखम् ॥ ४८ ॥

हे ईश ! आपकी जय हो, आप समृद्धिवान् हों और आप सदा बढ़ते रहें इस प्रकार जोर-जोरसे कहते हुए देवोंने उस समय इतना अधिक कोलाहल किया था कि उससे समस्त दिशाएँ बहरी हो गयी थीं ॥ ४८ ॥

> नभोऽङ्गणमथोत्पेतुरुच्चरज्जयघोषणाः । सुरचापानि तन्वन्तः प्रसरद्भूषणांशुभिः ॥ ४९ ॥

तदनन्तर जय-जय शब्दका उच्चारण करते हुए और अपने आभूषणोंकी फैलती हुई किरणोंसे इन्द्रधनुषको विस्तृत करते हुए देव लोग आकाशरूपी आँगनमें ऊपरकी ओर चलने लगे ॥ ४९ ॥

> गन्धर्वारब्धसंगीता नेदुरप्सरसः पुरः । उन्नतस्तनाः समुत्क्षिप्य भ्रूलताश्चित्तरञ्जकाः ॥ ५० ॥

उस समय जिनके स्तन कुछ-कुछ हिल रहे हैं ऐसी अप्सराएँ अपनी भौंहरूपी पताकाएँ ऊपर उठाकर आकाशरूपी रङ्गभूमिमें सबके आगे नृत्य कर रही थीं और गन्धर्वदेव उनके साथ अपना संगीत प्रारम्भ कर रहे थे ॥ ५० ॥

> इतोऽमुतः समाकीर्णं विमानैर्द्युसदां नभः । सरत्नैरुन्मिषन्नेत्रैरिव रेजे विनिर्मलम् ॥ ५१ ॥

रत्न-खचित देवोंके विमानोंसे जहाँ-तहाँ सभी ओर व्याप्त हुआ निर्मल आकाश ऐसा शोभायमान होता था मानो भगवानके दर्शन करनेके लिए उसने अपने नेत्र ही खोल दिये हों ॥ ८१ ॥

> सिताः पयोधरा नीलैरनीकैर्विशदांशुभिः । सबलाकैरिवानीलैः संगता इव रेजिरे ॥ ८२ ॥

उस समय सफेद बादल सफेद पताकाओंसहित काले हाथियोंसे मिलकर ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो बगुला पक्षियोंसहित नीले बादलोंसे मिल रहे हों ॥ ८२ ॥

> महाविमानसंघट्टैः क्षुण्णा जलधरा दिवि । प्रणेशुर्महता रोधाज्जयन्त्येव हि दुर्जयाः ॥ ८३ ॥

कहीं-कहींपर अनेक मेघ देवोंके बड़े-बड़े विमानोंके आघातसे चूर-चूर होकर नष्ट हो गये थे सो ठीक ही है, क्योंकि जो जड़ (जल और मूर्ख) रूप होकर भी बड़ोंसे बैर रखते हैं वे नष्ट होते ही हैं ॥ ८३ ॥

> सुरेभकटदानाम्बुगन्धाकृष्टमधुव्रताः । वनाभोगान् जहुर्लोके सत्यमेव नवप्रियः ॥ ८४ ॥

देवोंके हाथियोंके गण्डस्थलसे झरनेवाले मदकी सुगन्धसे आकृष्ट हुए भौरोंने वनके प्रदेशोंको छोड़ दिया था सो ठीक है क्योंकि यह कहावत सत्य है कि लोग नवप्रिय होते हैं—उन्हें नयी-नयी वस्तु अच्छी लगती है ॥ ८४ ॥

> अङ्गमौलिभिः सुरेन्द्राणां तेजोऽर्कस्य पराहतम् । लीनमप्यविज्ञातं लज्जामिव परां गतम् ॥ ८५ ॥

उस समय इन्द्रोंके मुकुटोंकी प्रभासे सूर्यका तेज पराहत हो गया था—फीका पड़ गया था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो लज्जाको प्राप्त होकर चुपचाप कहींपर जा छिपा हो ॥ ८५ ॥

> दिवाकरकराश्लेषं मुक्त्वा सुरयोषिताम् । देहोद्योता दिशो भेजुर्भोग्या हि बलिनां स्त्रियः ॥ ८६ ॥

पहले सूर्य अपने किरणरूपी हाथोंके द्वारा दिशारूपी अङ्गनाओंका आलिङ्गन किया करता था, किन्तु उस समय इन्द्रोंके शरीरोंका उद्योत सूर्यके उस आलिङ्गनको छुड़ाकर स्वयं दिशारूपी अङ्गनाओंके समीप जा पहुँचा था, सो ठीक ही है स्त्रियाँ बलवान् पुरुषोंके ही भोग्य होती हैं। भावार्थ—इन्द्रोंके शरीरकी कान्ति सूर्यकी कान्तिको फीका कर समस्त दिशाओंमें फैल गयी थी ॥ ८६ ॥

सुरेभरदनोद्युतसरोम्बुजदलाश्रितम् । नृत्तमप्सरसां देवानकरोद् रसिकान् भृशम् ॥ ५७ ॥

ऐरावत हाथीके दाँतोंपर बने हुए सरोवरोंमें कमलदलोंपर जो अप्सराओंका नृत्य हो रहा था वह देवोंको भी अतिशय रसिक बना रहा था ॥ ५७ ॥

श्रृण्वन्तः कलगीतानि किन्नराणां जिनेशिनः । गुणैर्विरचितान्यापुरमराः कर्णयोः फलम् ॥ ५८ ॥

उस समय जिनेन्द्रदेवके गुणोंसे रचे हुए किन्नर देवोंके मधुर संगीत सुनकर देव लोग अपने कानोंका फल प्राप्त कर रहे थे—उन्हें सफल बना रहे थे ॥ ५८ ॥

वपुर्भगवतो दिव्यं पश्यन्तोऽनिमिषेक्षणाः । नेत्रयोरनिमेषत्वं फलं प्रापुस्तदामराः ॥ ५९ ॥

उस समय टिमकाररहित नेत्रोंसे भगवानका दिव्य शरीर देखनेवाले देवोंने अपने नेत्रोंके टिमकाररहित होनेका फल प्राप्त किया था। भावार्थ—देवोंकी आँखोंके कभी पलक नहीं झपते। इसलिए देवोंने बिना पलक झपाये ही भगवानके सुन्दर शरीरके दर्शन किये। सो देव भगवानके सुन्दर शरीरको पलक झपाये बिना ही देख सके थे यही मानो उनके वैसे नेत्रोंका फल था—भगवानका सुन्दर शरीर देखनेके लिए ही मानों विधाताने उनके नेत्रोंको पलकस्पन्द-टिमकाररहित बनाया था ॥ ५९ ॥

स्वाङ्कारोपं सितच्छत्रधृतिं चामरधूननम् । कुर्वन्तः स्वयमेवेन्द्राः प्राहुर्हर्षं निजं परम् ॥ ६० ॥

जिनबालकको गोदमें लेना, उनपर सफेद छत्र धारण करना और चमर ढोलना आदि सभी कार्य स्वयं अपने हाथसे करते हुए इन्द्र लोग भगवानके अलौकिक ऐश्वर्यको प्रकट कर रहे थे ॥ ६० ॥

सौधर्माधिपतेरङ्कमध्यासीनमधीशिनम् । भेजे सितातपत्रेण तदैशानसुरेश्वरः ॥ ६१ ॥

उस समय भगवान, सौधर्म इन्द्रकी गोदमें बैठे हुए थे और ऐशान इन्द्र सफेद छत्र लगाकर उनकी सेवा कर रहा था ॥ ६१ ॥

सनत्कुमारमाहेन्द्रनायकौ धर्मनायकम् । चामरैस्तं व्यधुन्वातां बहुक्षीराब्धिवीचिभिः ॥ ६२ ॥

तथा सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके इन्द्र उनकी दोनों ओर क्षीरसागरकी लहरोंके समान सफेद चमर ढोल रहे थे ॥ ६२ ॥

दृष्ट्वा तदातनीं भूतिं कुदृष्टयस्ततोऽपरे । सन्मार्गरुचिमातेनुरिन्द्रप्रामाण्यमाश्रिताः ॥ ६३ ॥

उस समयकी विभूति देखकर कितने ही अन्य मिथ्यादृष्टि देव इन्द्रको प्रमाण मानकर समीचीन जैनमार्गमें श्रद्धा करने लगे थे ॥ ६३ ॥

कृतसोपानमामेरोरिन्द्रनीलैर्व्यराजत । भक्त्या खमेव सोपानपरिणाममिवाश्रितम् ॥ ६४ ॥

मेरु पर्वत पर्यन्त नील मणियोंसे बनायी हुई सीढ़ियाँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो आकाश ही भक्तिसे सीढ़ीरूप पर्यायको प्राप्त हुआ हो ॥ ६४ ॥

ज्योतिःपटलमुल्लङ्घ्य वव्रजुः सुरनायकाः । अधस्तारकिता व्योम मन्वन्तः सरसीमिव ॥ ६५ ॥

क्रम-क्रमसे वे इन्द्र ज्योतिष-पटलको उल्लङ्घन कर ऊपरकी ओर जाने लगे। उस समय वे नीचे ताराओंसहित आकाशको ऐसा मानते थे मानो कुमुदिनियोंसहित सरोवर ही हो ॥ ६५ ॥

ततः प्रापुः सुराधीशा गिरिराजं तमुच्छ्रितम् । योजनानां सहस्राणि नवतिं च नवैव च ॥ ६६ ॥

तत्पश्चात् वे इन्द्र निन्यानवे हजार योजन ऊँचे उस सुमेरु पर्वतपर जा पहुँचे ॥ ६६ ॥

मकुटश्रीरिवाभाति चूलिका यस्य मूर्धनि । चूडारत्नश्रियं धत्ते यस्यामृतं विमानकम् ॥ ६७ ॥

जिसके मस्तकपर स्थित चूलिका मुकुटके समान सुशोभित होती है और जिसके ऊपर ऋतुविमान चूडामणिकी शोभा धारण करता है ॥ ६७ ॥

यो धत्ते स्वनितम्बेषु वनमेतत् परं महत् । परिधानमिवालीनं वनच्छन्नैर्महाद्रुमैः ॥ ६८ ॥

जो अपने नितम्ब भागपर (मध्यभागपर) घनी छायावाले बड़े-बड़े वृक्षोंसे व्याप्त भद्रशाल नामक महावनको ऐसा धारण करता है मानो हरे रङ्गकी धोती ही धारण किये हो ॥ ६८ ॥

मेखलायामथाधायां बिभर्ति नन्दनं वनम् । कटीसूत्रदामेव नानारत्नमयाकृतिम् ॥ ६९ ॥

उससे आगे चलकर अपनी पहली मेखलापर जो अनेक रत्नमयी वृक्षोंसे सुशोभित नन्दन वनको ऐसा धारण कर रहा है मानो उसकी करधनी ही हो ॥ ६९ ॥

यतः सौमनसोद्यानं बिभर्ति शुकसच्छवि । सपुष्पमुपसंस्थानमिवोल्लसितपल्लवम् ॥ ७० ॥

जो पुष्प और पल्लवोंसे शोभायमान हरे रङ्गके सौमनस वनको ऐसा धारण करता है मानो उसका उत्तरीय वस्त्र ही हो ॥ ७० ॥

यस्यालंकुरुते कूटपर्यन्तं पाण्डुकं वनम् । आहूतमधुपैः पुष्पैः परं शेखरश्रियम् ॥ ७१ ॥

अपनी सुगन्धिसे भ्रमरोंको बुलानेवाले फूलोंके द्वारा मुकुटकी शोभा धारण करता हुआ पाण्डुक वन जिसके शिखरके अग्रभागको सदा अलंकृत करता रहता है ॥ ७१ ॥

यस्मिन् प्रतिवनं दिक्षु चैत्यवेश्मानि स्युः स्फुटम् । जयन्तीव द्युसौधानि स्फुरन्मणिदीप्तिभिः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार जिसके चारों वनोंकी प्रत्येक दिशामें एक-एक जिनमन्दिर चमकते हुए मणियोंकी कान्तिसे ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो स्वर्गके विमानोंकी हँसी ही कर रहे हों ॥ ७२ ॥

हिरण्मयः समुत्तुङ्गो धत्ते यो मौलिविभ्रमम् । जम्बूद्वीपमहीपस्य लवणाम्भोधिवाससः ॥ ७३ ॥

जो पर्वत सुवर्णमय है और बहुत ही ऊँचा है इसलिए जो लवणसमुद्ररूपी वस्त्र पहने हुए जम्बूद्वीपरूपी महाराजके मुकुटका सन्देह पैदा करता रहता है ॥ ७३ ॥

ज्योतिर्गणश्च सातत्यं यं प्रदक्षिणीकरोति च । पुण्याभिषेकसंभारपवित्रीकृतमर्हताम् ॥ ७४ ॥

जो तीर्थङ्कर भगवानके पवित्र अभिषेककी सामग्री धारण करनेसे सदा पवित्र रहता है और अतिशय ऊँचा अथवा समृद्धिशाली है इसीलिए मानो ज्योतिषी देवोंका समूह सदा जिसकी प्रदक्षिणा दिया करता है ॥ ७४ ॥

आराधयन्ति यं नित्यं चारणाः पुण्यवाञ्छया । विद्याधराश्च मुदिता जिनेन्द्रमिव मूर्धनि ॥ ७५ ॥

जो पर्वत जिनेन्द्रदेवके समान अत्यन्त उन्नत (श्रेष्ठ और ऊँचा) है इसीलिए अनेक चारण मुनि हर्षित होकर पुण्य प्राप्त करनेकी इच्छासे सदा जिसकी सेवा किया करते हैं ॥ ७५ ॥

देवोत्तरकुरून् यश्च स्वपादगिरिभिः सदा । आवृत्य पाति निर्बाधं पाति माहात्म्यमुन्नतेः ॥ ७६ ॥

जो देवकुरु और उत्तरकुरु भोगभूमियोंको अपने समीपवर्ती पर्वतोंसे घेरकर सदा निर्वाधरूपसे उनकी रक्षा किया करता है सो ठीक ही है क्योंकि उत्कृष्टताका यही माहात्म्य है ॥ ७६ ॥

यस्य कन्दरभागेषु निवसन्ति सुरासुराः । त्यक्त्वैव स्वर्गमुत्सृज्य नाकशोभापहासिषु ॥ ७७ ॥

स्वर्गलोककी शोभाकी हँसी करनेवाली जिस पर्वतकी गुफाओंमें देव और धरणेन्द्र स्वर्ग छोड़कर अपनी स्त्रियोंके साथ निवास किया करते हैं ॥ ७७ ॥

स पाण्डुकवनोद्देशे पृथुभिः स्फटिकनिर्मिताः । शिला बिभर्ति तीर्थेशामभिषेकक्रियोचिताः ॥ ७८ ॥

जो पाण्डुकवनके स्थानोंमें स्फटिक मणिकी बनी हुई और तीर्थङ्करोंके अभिषेक क्रियाके योग्य विशाल (पाण्डुकादि) शिलाओंको धारण कर रहा है ॥ ७८ ॥

स च विबुधैराराध्यः सतततुंगसमाश्रयः । सौधर्म इव चाभाति संसेव्योऽप्सरसां गणैः ॥ ७९ ॥

और जो मेरु पर्वत सौधर्मेन्द्रके समान शोभायमान होता है क्योंकि जिस प्रकार सौधर्मेन्द्र तुङ्ग अर्थात् श्रेष्ठ अथवा उदार है उसी प्रकार वह मेरु पर्वत भी तुङ्ग अर्थात् ऊँचा है, सौधर्मेन्द्रकी जिस प्रकार अनेक विबुध (देव) सेवा किया

करते हैं उसी प्रकार मेरु पर्वतकी भी अनेक देव अथवा विद्वान् सेवा किया करते हैं, सौधर्मेन्द्र जिस प्रकार सततुंगसमाश्रय अर्थात् ऋतुविमानका आधार अथवा छहों ऋतुओंका आश्रय है और सौधर्मेन्द्र जिस प्रकार अनेक अप्सराओंके समूहसे सेवनीय है उसी प्रकार सुमेरु पर्वत भी अप्सराओं अथवा जलसे भरे हुए सरोवरोंसे शोभायमान है ॥ ७९ ॥

> तमासाद्य सुराः प्रापुः प्रीतिमुन्नतिशालिनम् । रामणीयकसंभूतिं स्वर्गस्येवाधिदेवताम् ॥ ८० ॥

इस प्रकार जो ऊँचाईसे शोभायमान है, सुन्दरताकी खानि है और स्वर्गका मानो अधिष्ठाता देव ही है ऐसे उस सुमेरु पर्वतको पाकर देव लोग बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ ८० ॥

> ततः परोत्य तं प्रीत्या सुरराजः सुरैः समम् । गिरिराजं जिनेन्द्रार्कं मूर्ध्न्यस्य न्यधात् मुदा ॥ ८१ ॥

तदनन्तर इन्द्रने बड़े प्रेमसे देवोंके साथ-साथ उस गिरिराज सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देकर उसके मस्तकपर बालक श्रीजिनेन्द्ररूपी सूर्यको विराजमान किया ॥ ८१ ॥

> तस्य प्रागुत्तराशायां महती पाण्डुकाह्वया । शिलास्ति जिननाथानामभिषेकं बिभर्ति या ॥ ८२ ॥

उस मेरु पर्वतके पाण्डुक वनमें पूर्व और उत्तर दिशाके बीच (ईशान दिशामें) पाण्डुक नामकी एक बहुत बड़ी शिला है जो कि जिनेन्द्र भगवानका जन्माभिषेक धारण करती है ॥ ८२ ॥

> शुचिः सुरभिरत्यन्तरामणीया मनोहरा । पृथिवीवाष्टमी साति या युक्तपरिमण्डला ॥ ८३ ॥

जो शिला पवित्र है, सुगन्धित है, अत्यन्त सुन्दर है, मनको हरण करनेवाली है, और जिसका मण्डल ठीक गोल है इसलिए वह आठवीं पृथिवी (ईषत्प्राग्भार नामक मोक्षशिला) के समान शोभायमान हो रही है ॥ ८३ ॥

> शतायता तदर्धं च विस्तीर्णोच्छ्रिता सता । जिनैर्योजनमानेन सा शिलार्धेन्दुसंस्थितिः ॥ ८४ ॥

जो शिला सौ योजन लम्बी है, पचास योजन चौड़ी है, और अर्धयोजन ऊँची है तथा अर्धचन्द्राकार गोल है ॥ ८४ ॥

क्षीरोदवारिभिर्भूयः क्षालिता या सुरोत्तमैः । शुचित्वस्य परां काष्ठां संबिभर्ति सदोज्ज्वला ॥ ८५ ॥

जो शिला उत्तम देवोंके द्वारा क्षीरसागरके जलसे बार-बार धोयी गयी है इसलिए सदा उज्ज्वल रहती हुई पवित्रताकी उत्कृष्ट सीमाको धारण कर रही है ॥ ८५ ॥

शुचित्वान् महनीयत्वात् पवित्रत्वाच्च साति या । धारणाच्च जिनेन्द्राणां जिनमातेव निर्मला ॥ ८६ ॥

जो अपनी स्वच्छता, पूज्यता और पवित्रताके कारण तथा जिनेन्द्र भगवानको धारण करनेके कारण जिनमाताके समान ही निर्मल शोभा धारण कर रही है ॥ ८६ ॥

यस्यां पुष्पोपहारश्रीर्व्यज्यते जातु नाञ्जसा । सावर्ण्यादिमरौन्मुक्तव्यक्तमुक्ताफलच्छविः ॥ ८७ ॥

जिस स्फटिकमयी पाण्डुकशिलापर चढ़ाये हुए पुष्पोंके उपहारोंकी शोभा समान वर्ण होनेके कारण स्पष्ट रूपसे नहीं दिखती थी, किन्तु मोतियोंके समान ही शोभा धारण करती थी ॥ ८७ ॥

जिनानामभिषेकाय या धत्ते सिंहविष्टरम् । मेरोरिवोपरि परं परार्ध्यं मेरुमुच्चकैः ॥ ८८ ॥

वह पाण्डुकशिला जिनेन्द्रदेवके अभिषेकके लिए सदा बहुमूल्य और श्रेष्ठ सिंहासन धारण किये रहती है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो मेरु पर्वतके ऊपर दूसरा मेरु पर्वत ही रखा हो ॥ ८८ ॥

तत्पर्यन्तेऽथ या धत्ते सुस्थिते दिव्यविष्टरे । जिनाभिषेचने नूनं सौधर्मेशाननाथयोः ॥ ८९ ॥

वह शिला उस मुख्य सिंहासनके दोनों ओर रखे हुए दो सुन्दर आसनोंको और भी धारण किये हुए है। वे दोनों आसन जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करनेके लिए सौधर्म और ऐशान इन्द्रके लिए निश्चित रहते हैं ॥ ८९ ॥

नित्योपहाररुचिरा सुरैरभ्यर्चिता भृशम् । नित्यमङ्गलसंगीतनृत्यवादित्रशोभिनी ॥ ९० ॥

देव लोग सदा इस पाण्डुकशिलाकी पूजा करते हैं, वह देवों-द्वारा चढ़ाई हुई सामग्रीसे निरन्तर मनोहर रहती है और नित्य ही मङ्गलमय संगीत, नृत्य, वादित्र आदिसे शोभायमान रहती है ॥ ९० ॥

> छत्रचामरभृङ्गारसुप्रतिष्ठकदर्पणम् । कलशव्यजनाकानि बहुरूपाणि बिभर्ति या ॥ ९१ ॥

वह शिला, छत्र, चमर, झारी, ठोना (मोंदरा), दर्पण, कलश, ध्वजा और ताड़का पंखा इन आठ मङ्गल द्रव्योंको धारण किये हुई है ॥ ९१ ॥

> यामना शीलमालेव मुनीनामभिसम्मता । जैनी तनुरिवात्यन्तभास्वरा सुरभिः शुचिः ॥ ९२ ॥

वह निर्मल पाण्डुकशिला शीलव्रतकी परम्पराके समान मुनियोंको बहुत ही इष्ट है और जिनेन्द्रदेवके शरीरके समान अत्यन्त देदीप्यमान, मनोज्ञ अथवा सुगन्धित और पवित्र है ॥ ९२ ॥

> स्वयं धौतापि या तैस्तैः शतशः सुरनायकैः । क्षीरार्णवाम्बुभिः पूतैः पुण्यस्येवाकरक्षितिः ॥ ९३ ॥

यद्यपि वह पाण्डुकशिला स्वयं श्वेत है अर्थात् श्वेतवर्ण अथवा उज्ज्वल है तथापि देवोंने क्षीरसागरके पवित्र जलसे उसका सैकड़ों बार प्रक्षालन किया है। वास्तवमें वह शिला पुण्य उत्पन्न करनेके लिए खानिकी भूमिके समान है ॥ ९३ ॥

> यस्याः पर्यन्तदेशेषु रत्नालोकैर्वितन्यते । परितः सुरचापश्रीरन्योन्यव्यतिषङ्गिभिः ॥ ९४ ॥

उस शिलाके समीपवर्ती प्रदेशोंमें चारों ओर परस्परमें मिले हुए रत्नोंके प्रकाशसे इन्द्रधनुषकी शोभाका विस्तार किया जाता है ॥ ९४ ॥

> तस्यामासज्जयन् देवाः स्वासनं दिक्ष्वनुक्रमात् । द्रष्टुकामा जिनस्यास्य जन्मकल्याणसंपदम् ॥ ९५ ॥

जिनेन्द्रदेवके जन्मकल्याणककी विभूतिको देखनेके अभिलाषी देव लोग उस पाण्डुकशिलाको घेरकर सभी दिशाओंमें क्रम-क्रमसे यथायोग्य रूपमें बैठ गये ॥ ९५ ॥

> दिक्पालाश्च यथायोग्यदिग्विदिग्भागसंश्रिताः । तिष्ठन्ति स्म निकायैः स्वैर्जिनोत्सवदिदृक्षया ॥ ९६ ॥

दिक्पाल जातिके देव भी अपने-अपने समूह (परिवार) के साथ जिनेन्द्र भगवानका उत्सव देखनेकी इच्छासे दिशा-विदिशामें जाकर यथायोग्य रूपसे बैठ गये ॥ ९६ ॥

> गगनाङ्गणमारुह्य व्याप्य मेरोरधित्यकाम् । निवेशः सुरसैन्यानामभवत् पाण्डुके वने ॥ ९७ ॥

देवोंकी सेना भी उस पाण्डुक वनमें आकाशरूपी आँगनको रोककर मेरु पर्वतके ऊपरी भागमें व्याप्त होकर जा बैठी ॥ ९७ ॥

> पाण्डुकं वनमारूढं समन्तात् सुरनायकैः । जहासेव दिवो लक्ष्मीं दधत् कुसुमोत्करैः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार चारों ओरसे देव और इन्द्रोंसे व्याप्त हुआ वह पाण्डुक वन ऐसा मालूम होता था मानो वृक्षोंके फूलोंके समूहसे स्वर्गकी शोभाकी हँसी उड़ा रहा हो ॥ ९८ ॥

> स्वस्थानाच्च्यलितः स्वर्गः सत्यमुद्वासितस्तदा । मेरुस्तु स्वर्गतां प्राप धृतनाकेशवैभवः ॥ ९९ ॥

उस समय ऐसा जान पड़ता था कि स्वर्ग अवश्य ही अपने स्थानसे विचलित होकर खाली हो गया है और इन्द्रका समस्त वैभव धारण करनेसे सुमेरु पर्वत ही स्वर्गपनेको प्राप्त हो गया है ॥ ९९ ॥

> ततोऽभिषेचनं कर्तुमिन्द्रः प्रचक्रमे । निवेश्याधिशिलां भद्रे प्राङ्मुखं विभुम् ॥ १०० ॥

तदनन्तर सौधर्म स्वर्गका इन्द्र भगवानको पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके पाण्डुक शिलापर रखे हुए सिंहासनपर विराजमान कर उनका अभिषेक करनेके लिए तत्पर हुआ ॥ १०० ॥

> नभोऽशेषं तदापूर्य सुरदुन्दुभयोऽध्वनन् । आमन्दं सुरनारीभिरारेभे नृत्तमूर्जितम् ॥ १०१ ॥

उस समय समस्त आकाशको व्याप्त कर देवोंके दुन्दुभि बज रहे थे और अप्सराओंने चारों ओर उत्कृष्ट नृत्य करना प्रारम्भ कर दिया था ॥ १०१ ॥

> महान् कालागुरुद्दामधूपधूमस्तदोदगात् । दुरीतं क्षिपन् पुण्यैः पुण्यजनाशयात् ॥ १०२ ॥

उसी समय कालागुरु नामक उत्कृष्ट धूपका धुआँ बड़े परिमाणमें निकलने लगा था और ऐसा मालूम होता था मानो भगवानके जन्माभिषेकके उत्सवमें शामिल होनेसे उत्पन्न हुए पुण्यके द्वारा पुण्यात्मा जनोंके अन्तःकरणसे हटाया गया कलङ्क ही हो ॥ १०२ ॥

> विक्षिप्यन्ते च पुण्यार्घाः साक्षतोदकपुष्पकाः । शान्तिपुष्टिद्युतीः कामैर्विष्वक्पुण्यांशका इव ॥ १०३ ॥

उसी समय शान्ति, पुष्टि और कान्तिकी इच्छा करनेवाले देव चारों ओरसे अक्षत, जल और पुष्पसहित पवित्र अर्घ्य चढ़ा रहे थे जो कि ऐसे मालूम होते थे मानो पुण्यके अंश ही हों ॥ १०३ ॥

> महामण्डपविन्यासस्तत्र चक्रे सुरेश्वरैः । यत्र त्रिभुवनं कृत्स्नमास्ते स्माबाधितं मिथः ॥ १०४ ॥

उस समय वहींपर इन्द्रोंने एक ऐसे बड़े भारी मण्डपकी रचना की थी कि जिसमें तीनों लोकके समस्त प्राणी परस्पर बाधा न पहुँचाते हुए बैठ सकते थे ॥ १०४ ॥

> सुरानोकहसंभूता मालास्तत्रावलम्बिताः । रेजुर्भ्रमरसंगीतैर्गातुकामा इवेशिनम् ॥ १०५ ॥

उस मण्डपमें कल्पवृक्षके फूलोंसे बनी हुई अनेक मालाएँ लटक रही थीं और उनपर बैठे हुए भ्रमर गा रहे थे। उन भ्रमरोंके संगीतसे वे मालाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो भगवानका गुणगान करना चाहती हों ॥ १०५ ॥

> अथ सौधर्मकल्पेशः स्वयं प्रथममज्जने । प्रचक्रे कलशोद्धारं कृतप्रस्तावनाविधिः ॥ १०६ ॥

तदनन्तर प्रथम स्वर्गके इन्द्रने उस अवसरकी समस्त विधि करके भगवानका प्रथम अभिषेक करनेके लिए प्रथम कलश उठाया ॥ १०६ ॥

> ऐशानेन्द्रोऽपि द्योतैः सान्द्रचन्दनचर्चितम् । प्रोदास्थत् कलशं पूर्णं कलशोद्धारमन्त्रवित् ॥ १०७ ॥

और अतिशय शोभायुक्त तथा कलशोद्धार मन्त्रको जाननेवाले दूसरे ऐशानेन्द्रने भी सघन चन्दनसे चर्चित, भरा हुआ दूसरा कलश उठाया ॥ १०७ ॥

> शेषाश्च कल्पेन्द्रैः सानन्दजयघोषणैः । परिचारकतां भेजे यथोक्तपरिचर्यया ॥ १०८ ॥

आनन्दसहित जय-जय शब्दका उच्चारण करते हुए शेष इन्द्र उन दोनों इन्द्रोंके कहे अनुसार परिचर्या करते हुए परिचारक (सेवक) वृत्तिको प्राप्त हुए ॥ १०८ ॥

> इन्द्राणीप्रमुखा देव्यः साप्सरःपरिवारिकाः । बभूवुः परिचारिण्यो मङ्गलद्रव्यसंपदा ॥ १०९ ॥

अपनी-अपनी अप्सराओं तथा परिवारसे सहित इन्द्राणी आदि मुख्य-मुख्य देवियाँ भी मङ्गलद्रव्य धारण कर परिचर्या करनेवाली हुई थीं ॥ १०९ ॥

> शातकुम्भमयैः कुम्भैरम्भः क्षीराम्बुधेः शुचि । सुराः श्रेणीकृतास्तोषादानेतुं प्रस्थितास्ततः ॥ ११० ॥

तत्पश्चात् बहुत-से देव सुवर्णमय कलशोंसे क्षीरसागरका पवित्र जल लानेके लिए श्रेणीबद्ध होकर बड़े सन्तोषसे निकले ॥ ११० ॥

> तद्वपुः स्वायम्भुवं पावनं यत् क्षीराच्छशोणितम् । नान्यदस्तीह तद्योग्यं क्षीराब्धिसलिलादृते ॥ १११ ॥

जो स्वयं पवित्र है और जिसमें रुधिर भी क्षीरके समान अत्यन्त स्वच्छ है ऐसे भगवानके शरीरका अभिषेक करनेके लिए क्षीरसागरके जलके सिवाय अन्य कोई जल योग्य नहीं है ॥ १११ ॥

> मत्वेति नाकिभिर्नूनमनल्पप्रमदोदयैः । पञ्चमस्यार्णवस्याम्भः स्नानीयमुपकल्पितम् ॥ ११२ ॥

ऐसा मानकर ही मानो देवोंने बड़े हर्षके साथ पाँचवें क्षीरसागरके जलसे ही भगवानका अभिषेक करनेका निश्चय किया था ॥ ११२ ॥

अष्टयोजनगम्भीरैर्मुखे योजनविस्तृतैः । प्रारेभे कुम्भैः जन्माभिषेकोत्सवः ॥ ११३ ॥

आठ योजन गहरे, मुखपर एक योजन चौड़े (और उदरमें चार योजन चौड़े) सुवर्णमय कलशोंसे भगवानके जन्माभिषेकका उत्सव प्रारम्भ किया गया था ॥ ११३ ॥

महामाना विरेजुस्ते सुराणामुद्धृताः करैः । कलशाः कल्मषोत्क्षेपशोषिणो विष्वगाशिषाम् ॥ ११४ ॥

कालिमा अथवा पापके विकासको चुरानेवाले, विघ्नोंको दूर करनेवाले और देवोंके द्वारा हाथा-हाथ उठाये हुए वे बड़े भारी कलश बहुत ही सुशोभित हो रहे थे ॥ ११४ ॥

प्रादुरासन्नभोभागे सद्यः पूर्णसुवर्णकुम्भाः । मुक्ताफलाञ्चितग्रीवाश्चन्दनद्रवचर्चिताः ॥ ११५ ॥

जिनके कण्ठभाग अनेक प्रकारके मोतियोंसे शोभायमान हैं, जो घिसे हुए चन्दनसे चर्चित हो रहे हैं और जो जलसे लबालब भरे हुए हैं ऐसे वे सुवर्ण-कलश अनुक्रमसे आकाशमें प्रकट होने लगे ॥ ११५ ॥

तेषामन्योऽन्यहस्ताग्रसंक्रान्तैर्जलपूरितैः । कलशैर्व्यानशे व्योम द्रुतैः सान्ध्यैरिवाम्बुदैः ॥ ११६ ॥

देवोंके परस्पर एकके हाथसे दूसरेके हाथमें जानेवाले और जलसे भरे हुए उन सुवर्णमय कलशोंसे आकाश ऐसा व्याप्त हो गया था मानो वह कुछ-कुछ लालिमायुक्त सन्ध्याकालीन बादलोंसे ही व्याप्त हो गया हो ॥ ११६ ॥

विनिर्ममे भुजसहस्रं तानादित्सुः सुरेश्वरः । स तैः साभरणैरेजे भूषणाङ्ग इवाङ्घ्रिपः ॥ ११७ ॥

उन सब कलशोंको हाथमें लेनेकी इच्छासे इन्द्रने अपने विक्रिया-बलसे अनेक भुजाएँ बना लीं। उस समय आभूषणसहित उन अनेक भुजाओंसे वह इन्द्र ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भूषणाङ्ग जातिका कल्पवृक्ष ही हो ॥ ११७ ॥

दोःसहस्रोद्धृतैः पूर्णैः रौक्मैर्मुक्ताफलान्वितैः । बभौ पुलोमजाजानिः साजनाङ्गद्रुमोपमाम् ॥ ११८ ॥

अथवा वह इन्द्र एक साथ हजार भुजाओं-द्वारा उठाये हुए और मोतियोंसे सुशोभित उन सुवर्णमय कलशोंसे ऐसा शोभायमान होता था मानो भाजनाङ्ग जातिका कल्पवृक्ष ही हो ॥ ११८ ॥

> जयेति प्रथमां धारां सौधर्मेन्द्रोऽभ्यपातयत् । तदा कलकलो भूयान् प्रचक्रे सुरकोटिभिः ॥ ११९ ॥

सौधर्मेन्द्रने जय-जय शब्दका उच्चारण कर भगवानके मस्तकपर पहली जलधारा छोड़ी। उस समय जय-जय-जय बोलते हुए अन्य करोड़ों देवोंने भी बड़ा भारी कोलाहल किया था ॥ ११९ ॥

> सेषा धारा जिनस्याधिमूर्ध्नि रेजे पतन्त्यपाम् । हिमाद्रेः शिरसोवोच्चैश्छिन्नाम्बुद्युनिस्तगा ॥ १२० ॥

जिनेन्द्रदेवके मस्तकपर पड़ती हुई वह जलकी धारा ऐसी शोभायमान होती थी मानो हिमवान् पर्वतके शिखरपर ऊपरसे पड़ती हुई अखण्ड जलवाली आकाशगङ्गा ही हो ॥ १२० ॥

> ततः कल्पेश्वरैः सर्वैः समं धारा निपातिताः । संध्याभ्रैरिव सौवर्णैः कलशैर्वारिपूरितैः ॥ १२१ ॥

तदनन्तर अन्य सभी स्वर्गोंके इन्द्रोंने सन्ध्या समयके बादलोंके समान शोभायमान, जलसे भरे हुए सुवर्णमय कलशोंसे भगवानके मस्तकपर एक साथ जलधारा छोड़ी ॥ १२१ ॥

> गङ्गासिन्ध्वादिभिश्चेमा धारा मूर्ध्न्यप्यधात् प्रभोः । लीलयैव सहिष्णुतामसौ ताः प्रत्यग्रहीद् विभुः ॥ १२२ ॥

यद्यपि वह जलधारा भगवानके मस्तकपर ऐसी पड़ रही थी मानो गङ्गा-सिन्धु आदि महानदियाँ ही मिलकर एक साथ पड़ रही हों तथापि मेरु पर्वतके समान स्थिर रहनेवाले जिनेन्द्रदेव उसे अपने माहात्म्यसे लीलामात्रमें ही सहन कर रहे थे ॥ १२२ ॥

> विरेजरप्सुच्छटा उच्चैः सद्यो नभोऽङ्गणे । जिनाङ्गस्पर्शसंसर्गात् पापादुन्मुक्ता इवोर्ध्वगाः ॥ १२३ ॥

उस समय कितनी ही जलकी बूँदें भगवानके शरीरका स्पर्श कर आकाशरूपी आँगनमें दूर तक उछल रही थीं और ऐसी मालूम होती थीं मानो उनके शरीरके संसर्गसे पापरहित होकर ऊपरको ही जा रही हों ॥ १२३ ॥

> काञ्चनोद्‌गमिता व्योम्नि विबभुः शीकरच्छटाः । छटामिवामरावासप्राङ्‌गणेषु ततांसवः ॥ १२४ ॥

आकाशमें उछलती हुई कितनी ही पानीकी बूँदें ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो देवोंके निवासगृहोंमें चूना ही पोतना चाहती हों ॥ १२४ ॥

> तिर्यग्विचारिणः केचित् स्नानाम्भःशीकरोत्कराः । कर्णपूरश्रियं तेनुर्दिग्वधूमुखसङ्‌गिनीम् ॥ १२५ ॥

भगवानके अभिषेक समयके कितने ही छींटे दिशा-विदिशाओंमें तिरछे फैल रहे थे और वे ऐसे मालूम होते थे मानो दिशारूपी स्त्रियोंके मुखोंपर कर्णफूलोंकी शोभा ही बढ़ा रहे हों ॥ १२५ ॥

> विभोस्तनौ पतिता प्रतिबिम्बिताः । जलधाराः स्फुरन्ति स्म दिष्टिवृद्धयेव संगताः ॥ १२६ ॥

भगवानके निर्मल शरीरपर पड़कर उसीमें प्रतिबिम्बित हुई जलकी धाराएँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो अपनेको बड़ा भाग्यशाली मानकर उन्हींके शरीरके साथ मिल गयी हों ॥ १२६ ॥

> गिरेरिव विभोर्मूर्ध्नि सुरेन्द्रौघैर्निपातिताः । विरेजुर्निर्झराकारा धाराः क्षीरार्णवाम्भसाम् ॥ १२७ ॥

भगवानके मस्तकपर इन्द्रों-द्वारा छोड़ी हुई क्षीरसमुद्रके जलकी धारा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो किसी पर्वतके शिखरपर मेघों-द्वारा छोड़े हुए सफेद झरने ही पड़ रहे हों ॥ १२७ ॥

> तोषादिव समुत्पत्य भूयोऽपि निपतन्त्यधः । जलानि व्यहसन्निव जडतां स्वैः स्वशीकरैः ॥ १२८ ॥

भगवानके अभिषेकका जल सन्तुष्ट होकर पहले तो आकाशमें उछलता था और फिर नीचे गिर पड़ता था। उस समय जो उसमें छोटे-छोटे बारीक छींटे उड़ते थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानो अपनी मूर्खतापर हँस ही रहा हो ॥ १२८ ॥

> स्वर्धुनीशीकरैः सार्धं स्पर्धां कर्तुमिवोद्यमी । क्षीरपूरोऽपवित्रीकृत् स्वर्धामाप्यमृतप्लवः ॥ १२९ ॥

वह क्षीरसागरके जलका प्रवाह आकाशगङ्गाके जलबिन्दुओंके साथ स्पर्धा करनेके लिए ही मानो ऊपर जाते हुए अपने जलकणोंसे स्वर्गके विमानोंको शीघ्र ही पवित्र कर रहा था ॥ १२९ ॥

> पवित्रो भगवान् पूतैस्तदप्युदपाद्यलम् । तदपूतजगदेवेदम् अपावीद् व्याप्तदिङ्मुखम् ॥ १३० ॥

भगवान स्वयं पवित्र थे, उन्होंने अपने पवित्र अङ्गोंसे उस जलको पवित्र कर दिया था और उस जलने समस्त दिशाओंमें फैलकर इस सारे संसारको पवित्र कर दिया था ॥ १३० ॥

> तेनाम्भसा सुरेन्द्राणां चमूः क्षीराम्बुधौ मग्ना । लक्ष्यन्ते स्म तदा देवा मग्ना इवाकुलाः ॥ १३१ ॥

उस अभिषेकके जलमें डूबी हुई देवोंकी सेना क्षण-भरके लिए ऐसी दिखाई देती थी मानो क्षीरसमुद्रमें डूबकर व्याकुल ही हो रही हो ॥ १३१ ॥

> तदम्भः कलशास्यस्थैः सरोजैः सहमापतत् । हंसैरिव परां कान्तिं तत्रापादीन्द्रमस्तकम् ॥ १३२ ॥

वह जल कलशोंके मुखपर रखे हुए कमलोंके साथ सुमेरु पर्वतके मस्तकपर पड़ रहा था इसलिए ऐसी शोभाको प्राप्त हो रहा था मानो हंसोंके साथ ही पड़ रहा हो ॥ १३२ ॥

> अशोकपल्लवैः कुम्भैर्मुखमुक्तस्ततं पयः । सच्छायमभवत् कीर्णं विद्रुमाणामिवाङ्कुरैः ॥ १३३ ॥

कलशोंके मुखसे गिरे हुए अशोकवृक्षके लाल-लाल पल्लवोंसे व्याप्त हुआ वह क्षीरसागरका जल ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो मूँगाके अङ्कुरोंसे ही व्याप्त हो रहा हो ॥ १३३ ॥

> स्फाटिकं स्नानपीठं तत् स्वच्छशोभमभाजयत् । अर्हतः पादप्रसादेन प्रसेदिवदवाधिकम् ॥ १३४ ॥

स्फटिक मणिके बने हुए निर्मल सिंहासनपर जो स्वच्छ जल पड़ रहा था वह ऐसा मालूम होता था मानो भगवानके चरणोंके प्रसादसे और भी अधिक स्वच्छ हो गया हो ॥ १३४ ॥

> रत्नांशुभिः क्वचिद् व्याप्तं विचित्रैस्तद्बभौ पयः । चापं मैन्द्रं द्रवीभूय पयोभावमिवागतम् ॥ १३८ ॥

कहींपर चित्र-विचित्र रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त हुआ वह जल ऐसा शोभायमान होता था, मानो इन्द्रधनुष ही गलकर जलरूप हो गया हो ॥ १३८ ॥

> क्वचिन्महौषधीनां विप्रकीर्णप्रभाभिरभिरञ्जितम् । सन्ध्याभ्रद्रवच्छायां भेजे तत्पावनं पयः ॥ १३६ ॥

कहींपर पद्मरागमणियोंकी फैलती हुई कान्तिसे लाल-लाल हुआ वह पवित्र जल सन्ध्याकालके पिघले हुए बादलोंकी शोभा धारण कर रहा था ॥ १३६ ॥

> हरिनीलोपलच्छायाततं क्वचिददो जलम् । तमो घनमिवैकत्र निलीनं समदृश्यत ॥ १३७ ॥

कहींपर इन्द्रनीलमणियोंकी कान्तिसे व्याप्त हुआ वह जल ऐसा दिखाई दे रहा था मानो किसी एक जगह छिपा हुआ गाढ़ अन्धकार ही हो ॥ १३७ ॥

> क्वचिन्मरकताभीषौ प्रभाभिरनुरञ्जितम् । हरितांशुकसच्छायमभवत् स्नपनोदकम् ॥ १३८ ॥

कहींपर मरकतमणियों (हरे रङ्गके मणियों) की किरणोंके समूहसे मिला हुआ वह अभिषेकका जल ठीक हरे वस्त्रके समान हो रहा था ॥ १३८ ॥

> तदम्बुशीकरैर्व्योम समाक्रामद्भिराबभौ । जिनाङ्गस्पर्शसंतोषात् प्रहासमिव नाटयत् ॥ १३९ ॥

भगवानके अभिषेक जलके उड़ते हुए छींटोंसे आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भगवानके शरीरके स्पर्शसे सन्तुष्ट होकर हँस ही रहा हो ॥ १३९ ॥

> स्नानाम्बुशीकराः केचिद् द्युसीमविलङ्घिनः । स्वर्लक्ष्मीमिव क्रीडन्तः कामप्युच्चैश्चकाशिरे ॥ १४० ॥

भगवानके स्नान-जलकी कितनी ही बूँदें आकाशकी सीमाका उल्लङ्घन करती हुई ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो स्वर्गकी लक्ष्मीके साथ जलक्रीड़ा (फाग) ही करना चाहती हों ॥ १४० ॥

> विष्वगुच्छलिताः काश्चिदप्सु रुद्धदिक्तटाः । व्यावहसीमिवानन्दाद् दिग्वधूभिः समं दधुः ॥ १४१ ॥

सब दिशाओंको रोककर सब ओर उछलती हुई कितनी ही जलकी बूँदें ऐसी मालूम होती थीं मानो आनन्दसे दिशारूपी स्त्रियोंके साथ हँसी ही कर रही हों ॥ १४१ ॥

> दूरमुत्सारयन् स्वैरमासीनान् सुरदम्पतीन् । द्रुतं स क्षीरपूरोऽपि मेरोराशिश्रियत् कटम् ॥ १४२ ॥

अभिषेकजलका प्रवाह अपनी इच्छानुसार बैठे हुए सुरदम्पतियोंको दूर हटाता हुआ शीघ्र ही मेरु पर्वतके निकट जा पहुँचा ॥ १४२ ॥

> उत्सेधं पयोवारिरापतन्मन्दरादथ । आमूतलं पयोराशिरुन्मिमीतेव सर्वतः ॥ १४३ ॥

और मेरु पर्वतसे नीचे भूमि तक पड़ता हुआ वह क्षीरसागरके जलका प्रवाह ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो मेरु पर्वतको खड़े नापसे नाप ही रहा हो ॥ १४३ ॥

> गुहामुखैरिवोद्गीतं शिखरैरिव संहृतम् । कन्दरैरिव निःक्षिप्तं प्राध्वीन्मेरौ पयःप्लवः ॥ १४४ ॥

उस जलका प्रवाह मेरु पर्वतपर ऐसा बढ़ रहा था मानो शिखरोंके द्वारा खकारकर दूर किया जा रहा हो, गुहारूप मुखोंके द्वारा पिया जा रहा हो और कन्दराओंके द्वारा बाहर उगला जा रहा हो ॥ १४४ ॥

> किं गौर्यत्रिदशैर्मुक्तो धूतो मे स्वर्गतामगात् । नूनमित्यकखोद्गारैर्दिद्युते स्नानाम्बुनिर्झरैः ॥ १४५ ॥

उस समय मेरु पर्वतपर अभिषेक जलके जो झरने पड़ रहे थे उनसे ऐसा मालूम होता था मानो वह यह कहता हुआ स्वर्गको धिक्कार ही दे रहा हो कि अब स्वर्ग क्या वस्तु है? उसे तो देवोंने भी छोड़ दिया है। इस समय समस्त देव हमारे यहाँ आ गये हैं इसलिए हमें ही साक्षात् स्वर्ग मानना योग्य है ॥ १४५ ॥

> अप्राप्य व्योम चाच्छाद्य ज्योतिश्चक्रं समस्थगोत् । द्योतयन् मेरुमारुन्धन् क्षीरपूरः स रोदसी ॥ १४६ ॥

उस जलके प्रवाहने समस्त आकाशको ढक लिया था, ज्योतिष्पटलको घेर लिया था, मेरु पर्वतको आच्छादित कर लिया था और पृथिवी तथा आकाशके अन्तरालको रोक लिया था ॥ १४६ ॥

> क्षणमक्षणनीयेषु वनेषु कृतविश्रमः । प्राप्तक्षण इवान्यत्र सस्नौ सोऽम्भःप्लवः क्षणात् ॥ १४७ ॥

उस जलके प्रवाहने मेरु पर्वतके अच्छे वनोंमें क्षण-भर विश्राम किया और फिर सन्तुष्ट हुए के समान वह दूसरे ही क्षणमें उसकी सब जगह व्याप्त हो गया ॥ १४७ ॥

> तरुषखण्डनिरुद्धत्वादन्तर्वणमनुल्बणः । वनवीथीरतीत्यारात् प्रससार पयःप्लवः ॥ १४८ ॥

वह जलका बड़ा भारी प्रवाह वनके भीतर वृक्षोंके समूहसे रुक जानेके कारण धीरे-धीरे चलता था परन्तु ज्यों ही उसने वनके मार्गको पार किया त्यों ही वह शीघ्र ही दूर तक फैल गया ॥ १४८ ॥

> स बभासे पयःपूरः प्रसर्पन्नधिशैलराट् । सितैरिव क्षौमैरनेकैः स्थगयन् स्थगिताम्बरः ॥ १४९ ॥

मेरु पर्वतपर फैलता और आकाशको आच्छादित करता हुआ वह जलका प्रवाह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मेरु पर्वतको सफेद वस्त्रोंसे ढक ही रहा हो ॥ १४९ ॥

> समन्ताद्गिरिमूर्णुन् पयोऽर्णवजलप्लवः । वहन् प्रवाहच्छायां स्वःस्रवन्त्याः पयःस्रुतेः ॥ १५० ॥

सब ओरसे मेरु पर्वतको आच्छादित कर बहता हुआ वह क्षीरसागरके जलका प्रवाह आकाशगङ्गाके जलप्रवाहकी शोभा धारण कर रहा था ॥ १५० ॥

> शब्दाद्वैतमत्वातन्वन् सृष्टिमेवाप्सयीमिव । विललास गुहाः पूरैः प्रध्वनन्तीद्रिकुक्षिषु ॥ १५१ ॥

मेरु पर्वतकी गुफाओंमें शब्द करता हुआ वह जलका प्रवाह ऐसा मालूम होता था मानो शब्दाद्वैतका ही विस्तार कर रहा हो अथवा सारी सृष्टिको जलरूप ही सिद्ध कर रहा हो। भावार्थ—शब्दाद्वैतवादियोंका कहना है कि संसारमें शब्द ही शब्द है शब्दके सिवाय और कुछ भी नहीं है। उस समय सुमेरुकी गुफाओंमें पड़ता हुआ जलप्रवाह भी भारी शब्द कर रहा था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो शब्दाद्वैतवादका समर्थन ही कर रहा हो। ईश्वरसृष्टिवादियोंका कहना है कि यह समस्त सृष्टि पहले जलमयी थी, उसके बाद ही स्थल आदिकी रचना हुई है। उस समय सब ओर जल-

ही-जल दिखलाई पड़ रहा था इसलिए ऐसा मालूम होता था मानो वह सारी सृष्टिको जलमय ही सिद्ध करना चाहता हो ॥ १८१ ॥

> विष्वगाप्लावितो मेरुरप्रप्लवैरामहीतलात् । अज्ञातपूर्वतां भेजे मनसा ज्ञायिनामपि ॥ १८२ ॥

वह मेरु पर्वत ऊपरसे लेकर नीचे पृथिवी तक सभी ओर जलप्रवाहसे तर हो रहा था इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञानी देवोंको भी अज्ञात पूर्व जान पड़ता था अर्थात् ऐसा जान पड़ता था जैसे उसे पहले कभी देखा ही न हो ॥ १८२ ॥

> न मेरुर्यमुत्फुल्लनमेरुतरुराजितः । राजतो गिरिरेष स्यादुल्लसद्बिसपाण्डरः ॥ १८३ ॥

उस समय वह पर्वत शोभायमान कमलके समान सफेद हो रहा था और फूले हुए नमेरु वृक्षोंसे सुशोभित था इसलिए यही मालूम होता था कि वह मेरु नहीं है किन्तु कोई दूसरा चाँदीका पर्वत है ॥ १८३ ॥

> पीयूषस्यैव राशिनुं स्फाटिको नु शिलोच्चयः । सुधाधवलितः किं नु प्रासादस्त्रिजगच्छ्रियः ॥ १८४ ॥

क्या यह अमृतकी राशि है? अथवा स्फटिकमणिका पर्वत है? अथवा चूनेसे सफेद किया गया तीनों जगत्की लक्ष्मीका महल है? ॥ १८४ ॥

> वितर्कमिति तन्वानो गिरिराजे पयःप्लवः । व्यानशे विश्वदिक्कान्तान् दिक्कान्ताः स्नपयन्निव ॥ १८५ ॥

इस प्रकार मेरु पर्वतके विषयमें वितर्क पैदा करता हुआ वह जलका प्रवाह सभी दिशाओंके अन्त तक इस प्रकार फैल गया मानों दिशारूपी स्त्रियोंका अभिषेक ही कर रहा हो ॥ १८५ ॥

> ऊर्ध्वमुच्चलिताः केचित् शीकराः प्रविशन्त्यमूः । श्वेतच्छत्रश्रियं मेरोरातेनुर्विधुनिर्मलाः ॥ १८६ ॥

चन्द्रमाके समान निर्मल उस अभिषेकजलकी कितनी ही बूँदें ऊपरकी ओर उछलकर सब दिशाओंमें फैल गयी थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो मेरु पर्वतपर सफेद छत्रकी शोभा ही बढ़ा रही हों ॥ १८६ ॥

हारनीहारकह्लारकुमुदाम्भोजसत्त्विषः । आसन् पयःपूरा यशःपूरा इवार्हतः ॥ १५७ ॥

हार, बर्फ, सफेद कमल और कुमुदोंके समान सफेद जलके प्रवाह सब ओर प्रवृत्त हो रहे थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनेन्द्र भगवानके यशके प्रवाह ही हों ॥ १५७ ॥

गगनाङ्गणपुष्पोपहारा हारामलत्विषः । दिग्वधूकर्णपूरास्ते बभुः स्नपनाम्बुशीकराः ॥ १५८ ॥

हारके समान निर्मल कान्तिवाले वे अभिषेकजलके छींटे ऐसे मालूम होते थे मानो आकाशरूपी आँगनमें फूलोंके उपहार ही चढ़ाये गये हों अथवा दिशारूपी स्त्रियोंके कानोंके कर्णफूल ही हों ॥ १५८ ॥

शीकरैराकीर्णन्नार्तमालोकान्तविसर्पिभिः । ज्योतिर्लोकमनुप्राप्य ववृधे सोऽम्भसां प्लवः ॥ १५९ ॥

वह जलका प्रवाह लोकके अन्त तक फैलनेवाली अपनी बूँदोंसे ऊपर स्वर्ग तक व्याप्त होकर नीचेकी ओर ज्योतिष्पटल तक पहुँचकर सब ओर वृद्धिको प्राप्त हो गया था ॥ १५९ ॥

स्नानपूरे निमग्नाङ्गयस्तारास्तरत्नरोचिषः । मुक्ताफलश्रियं भजुर्विप्रकीर्णाः समन्ततः ॥ १६० ॥

उस समय आकाशमें चारों ओर फैले हुए तारागण अभिषेकके जलमें डूबकर कुछ चंचल प्रभाके धारक हो गये थे इसलिए बिखरे हुए मोतियोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १६० ॥

तारकाः क्षणमध्यास्य स्नानपूरं विनिःसृताः । पयोलवयुतो रेजुः करकाणामिवावलयः ॥ १६१ ॥

वे तारागण अभिषेकजलके प्रवाहमें क्षण-भर रहकर उससे बाहर निकल आये थे परन्तु उस समय भी उनसे कुछ-कुछ पानी चू रहा था इसलिए ओलोंकी पङ्क्तिके समान शोभायमान हो रहे थे ॥ १६१ ॥

स्नानाम्भसि बसी भानुर्व्यभासीद् विद्रुतोत्थितः । तप्तः पिण्डो महाँल्लौहः पानीयमिव पायितः ॥ १६२ ॥

सूर्य भी उस जलप्रवाहमें क्षण-भर रहकर उससे अलग हो गया था, उस समय वह ठण्डा भी हो गया था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कोई तपा हुआ लोहेका बड़ा भारी गोला पानीमें डालकर निकाला गया हो ॥ १६२ ॥

> पयःपूरे वहत्यस्मिन् श्वेतभानुर्व्यभाव्यत । जलक्रीडामिवोद्बुद्धो जडिमा विहगस्तथा ॥ १६३ ॥

उस बहते हुए जलप्रवाहमें चन्द्रमा ऐसा मालूम होता था मानो ठण्डसे जड़ होकर (ठिठुरकर) धीरे-धीरे तैरता हुआ जलमें पड़ा हुआ हंस ही हो ॥ १६३ ॥

> ग्रहमण्डलं समाकृष्टं पयःपूरेण सर्वतः । विपर्यस्तां गतिं भेजे वक्रचारमिवाश्रितम् ॥ १६४ ॥

उस समय ग्रहमण्डल भी चारों ओर फैले हुए जलके प्रवाहसे आकृष्ट होकर (खिंचकर) विपरीत गतिको प्राप्त हो गया था। मालूम होता है कि उसी कारणसे वह अब भी वक्रमतिका आश्रय लिये हुए है ॥ १६४ ॥

> ऋज्वीभूतां समालम्ब्य किरणैर्जालविप्लुतम् । सिषेवे पूषणं मोहात् आलेयांशुविवाक्षया ॥ १६५ ॥

उस समय जलसे भीगे हुए तथा सीधी पङ्क्तिरूप किरणोंसे युक्त सूर्यको भ्रान्तिसे चन्द्रमा समझकर तारागण भी उसकी सेवा करने लगे थे ॥ १६५ ॥

> ज्योतिश्चक्रं क्षरज्ज्योतिः क्षीरप्रभमनुद्रुवत् । वेलातिक्रमभीत्येव नास्थादेकमपि क्षणम् ॥ १६६ ॥

सम्पूर्ण ज्योतिश्चक्र जिसका तेज नष्ट हो गया था और जो जलप्रवाहके पीछे-पीछे चलने लगा था मानो अवसर चूक जानेके भयसे एक क्षण भी नहीं ठहर सका हो ॥ १६६ ॥

> ज्योतिःपटलमित्यासीत् स्नानोघैः क्षणमाकुलम् । कुलालचक्रमाविद्धमिव तिर्यक्परिश्रमत् ॥ १६७ ॥

इस प्रकार स्नानजलके प्रवाहसे व्याकुल हुआ ज्योतिष्पटल क्षण-भरके लिए, घुमाये हुए कुम्हारके चक्रके समान तिरछा चलने लगा था ॥ १६७ ॥

> पर्यापतद्भिरुत्सङ्गाद् गिरेः सर्वलोकधारिणः । विरलैः स्नानपूरैस्तैर्नृलोकः पावनीकृतः ॥ १६८ ॥

स्वर्गलोकको धारण करनेवाले मेरु पर्वतके मध्य भागसे सब ओर पड़ते हुए भगवानके स्नानजलने जहाँ-तहाँ फैलकर समस्त मनुष्यलोकको पवित्र कर दिया था ॥ १६८ ॥

> निर्वापिता महीं कृत्स्नां कुलाद्रयश्च पवित्रिताः । कृता निरीतयो देशाः प्रजाः क्षेमेण योजिताः ॥ १६९ ॥

उस जलप्रवाहने समस्त पृथिवी सन्तुष्ट (सुखरूप) कर दी थी, सब कुलाचल पवित्र कर दिये थे, सब देश अतिवृष्टि आदि ईतियोंसे रहित कर दिये थे, और समस्त प्रजा कल्याणसे युक्त कर दी थी ॥ १६९ ॥

> कृत्स्नामिति जगन्नाडीं पवित्रीकुर्वतामुना । किं नाम स्नानपूरेण प्राणिनां शेषितं शुभम् ॥ १७० ॥

इस प्रकार समस्त लोकनाड़ीको पवित्र करते हुए उस अभिषेकजलके प्रवाहने प्राणियोंका ऐसा कौन-सा कल्याण बाकी रख छोड़ा था जिसे उसने न किया हो? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ १७० ॥

> अथ तस्मिन् महापूरे ध्वनापूरितदिङ्मुखे । प्रशान्ते शमिताशेषभुवनोष्मण्यरं ततः ॥ १७१ ॥

अथानन्तर अपने गम्भीर शब्दोंसे समस्त दिशाओंको भरनेवाला, तथा समस्त लोककी उष्णता नष्ट करनेवाला वह जलका बड़ा भारी प्रवाह जब बिलकुल ही शान्त हो गया ॥ १७१ ॥

> रिक्तेषु महामेरोः कन्दरेषु महौषधैः । प्रत्याश्वासमिवायत्ते मेरौ सवनकानने ॥ १७२ ॥

जब मेरु पर्वतकी सब कन्दराएँ रिक्त (खाली) हो गयीं, जल और वनसहित मेरु पर्वतने कुछ विश्राम लिया ॥ १७२ ॥

> अग्नौ दह्यमानेषु सुगन्धीन्धनयोनिषु । ज्वलत्सु मणिदीपेषु भक्तिमात्रोपयोगिषु ॥ १७३ ॥

जब सुगन्धित लकड़ियोंकी अग्निमें अनेक प्रकारके धूप जलाये जाने लगे और मात्र भक्ति प्रकट करनेके लिए मणिमय दीपक प्रज्वलित किये गये ॥ १७३ ॥

> पुण्यपाठान् समुद्घोषैः संपठत्सु सुरवन्दिषु । गायन्तीषु सुकण्ठीषु किन्नरीषु कलस्वनम् ॥ १७४ ॥

जब देवोंके वन्दीजन अच्छी तरह उच्च स्वरसे पुण्य बढ़ानेवाले अनेक स्तोत्र पढ़ रहे थे, मनोहर आवाजवाली किन्नरी देवियाँ मधुर शब्द करती हुई गीत गा रही थीं ॥ १७४ ॥

> जिनकल्याणसंबन्धिमङ्गलगीतिनिःस्वनैः । कुर्वत्सु विश्वगीर्वाणलोकस्य श्रवणोत्सवम् ॥ १७५ ॥

जब जिनेन्द्र भगवानके कल्याणकसम्बन्धी मङ्गल गानेके शब्द समस्त देवोंके कानोंका उत्सव कर रहे थे ॥ १७५ ॥

> जिनजन्माभिषेकार्थप्रतिबद्धैर्निदर्शनैः । नाट्यवेदं प्रयुञ्जाने सुरशैलूषपेटके ॥ १७६ ॥

जब नृत्य करनेवाले देवोंका समूह जिनेन्द्रदेवके जन्मकल्याणकसम्बन्धी अर्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अनेक उदाहरणोंके द्वारा नाट्यवेदका प्रयोग कर रहा था—नृत्य कर रहा था ॥ १७६ ॥

> गन्धर्वारब्धसंगीतमृदङ्गध्वनिमिश्रिते । दुन्दुभिध्वनिते मन्द्रे श्रोत्रानन्दं प्रसर्वति ॥ १७७ ॥

जब गन्धर्व देवोंके द्वारा प्रारम्भ किये हुए संगीत और मृदङ्गकी ध्वनिसे मिला हुआ दुन्दुभि बाजोंका गम्भीर शब्द कानोंका आनन्द बढ़ा रहा था ॥ १७७ ॥

> कुचकुम्भैः सुरस्त्रीणां कुङ्कुमाङ्करणैर्हते । हाररोचिःप्रसूनौघकृतपुष्पोपहारके ॥ १७८ ॥

केसर लगे हुए देवाङ्गनाओंके स्तनरूपी कलशोंसे शोभायमान तथा हारोंकी किरणरूपी पुष्पोंके उपहारसे युक्त ॥ १७८ ॥

> मेरौ रङ्गेऽप्सरोवृन्दे सलीलं परिनृत्यति । करणैरङ्गहारैश्च सलयैश्च परिक्रमैः ॥ १७९ ॥

सुमेरु पर्वतरूपी रङ्गभूमिमें अप्सराओंका समूह हाथ उठाकर, शरीर हिलाकर और तालके साथ-साथ फिरकी लगाकर लीलासहित नृत्य कर रहा था ॥ १७९ ॥

> शृण्वत्सु मङ्गलोद्गीतीः सावधानं सुधाशिषु । वर्तमानेषु जनजल्पेषु जिनप्राभवशंसिषु ॥ १८० ॥

जब देव लोग सावधान होकर मङ्गलगान सुन रहे थे और अनेक जनोंके बीच भगवानके प्रभावकी प्रशंसा करनेवाली बात-चीत हो रही थी ॥ १८० ॥

> नान्दीतूर्यरवे विष्वगापूरयति रोदसी । जयघोषप्रतिध्वानैः स्तुवन्तीव महीधरे ॥ १८१ ॥

जब नगाड़े, तुरही आदि बाजोंके शब्द सब ओर आकाश और पृथिवीके बीचके अन्तरालको भर रहे थे, जब जय-घोषणाकी प्रतिध्वनियोंसे मानों मेरु पर्वत ही भगवानकी स्तुति कर रहा था ॥ १८१ ॥

> संचरत्खचरीवक्त्रघर्माम्बुकणचुम्बिनि । धूतोपान्तवने वाति मन्दं मन्दं मरुत्वति ॥ १८२ ॥

जब सब ओर घूमती हुई विद्याधरियोंके मुखके स्वेद जलके कणोंका चुम्बन करनेवाला वायु समीपवर्ती वनोंको हिलाता हुआ धीरे-धीरे बह रहा था ॥ १८२ ॥

> सुरदौवारिकैश्चित्रवेत्रदण्डधरैर्मुहुः । सामाजिकजने विष्वक् सार्यमाणे सकृत्कृतम् ॥ १८३ ॥

जब विचित्र बेंतके दण्ड हाथमें लिये हुए देवोंके द्वारपाल सभाके लोगोंको हुंकार शब्द करते हुए चारों ओर पीछे हटा रहे थे ॥ १८३ ॥

> तत्समुत्सारणत्रासान्मूकीभावमुपागते । अनियुक्तजने सर्वेश्चित्राङ्कित इव स्थिते ॥ १८४ ॥

'हमें द्वारपाल पीछे न हटा दें' इस डरसे कितने ही लोग चित्रलिखितके समान जब चुपचाप खड़े हुए थे ॥ १८४ ॥

> विशुद्धेऽथाभिषेकेऽस्मिन् गते गन्धाम्बुभिः पुनः । ततोऽभिषेक्तुमीशानः शतयज्वा समादधे ॥ १८५ ॥

और जब शुद्ध जलका अभिषेक समाप्त हो गया था तब सौधर्म इन्द्रने सुगन्धित जलसे भगवानका अभिषेक करना प्रारम्भ किया ॥ १८५ ॥

> श्रीमद्गन्धोदकैर्द्रव्यैर्गन्धाहूतमधुव्रतैः । अभ्यषिञ्चत् प्रविधानज्ञो विधातारं शताध्वरः ॥ १८६ ॥

विधिविधानको जाननेवाले इन्द्रने अपनी सुगन्धिसे भ्रमरोंका आह्वान करनेवाले सुगन्धित द्रव्योंसे भगवानका अभिषेक किया ॥ १८६ ॥

> पूता गन्धाम्बुधारासावापतन्ती विभोस्तनौ । तद्गन्धातिशयात् प्राप्तलज्जेवासीदवाङ्मुखी ॥ १८७ ॥

भगवानके शरीरपर पड़ती हुई वह सुगन्धित जलकी पवित्र धारा ऐसी मालूम होती थी मानो भगवानके अङ्गोंकी उत्कृष्ट सुगन्धिसे लज्जित होकर ही अधोमुखी (नीचेको मुख किये हुई) हो गयी हो ॥ १८७ ॥

> कनत्कनकभृङ्गारनालाद्धारा पयोऽनुगा । रेजे भक्तिभरेणेव जिनमानन्तुमुद्यता ॥ १८८ ॥

देदीप्यमान सुवर्णकी झारीके नालसे पड़ती हुई वह सुगन्धित जलकी धारा ऐसी शोभायमान होती थी मानो भक्तिके भारसे भगवानको नमस्कार करनेके लिए ही उद्यत हुई हो ॥ १८८ ॥

> विभोर्देहप्रभोत्सर्पैस्तडिदापिञ्जरैस्तता । साभाद् विभासवौ सर्पिः प्रयुक्तेव शताहुतिः ॥ १८९ ॥

बिजलीके समान कुछ-कुछ पीले भगवानके शरीरकी प्रभाके समूहसे व्याप्त हुई वह धारा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जलती हुई अग्निमें घीकी आहुति ही डाली जा रही हो ॥ १८९ ॥

> निसर्गसुरभिण्यङ्गे विभोरत्यन्तपावने । पतित्वा चरितार्था सा स्ववशादकृत तद्गुणान् ॥ १९० ॥

स्वभावसे सुगन्धित और अत्यन्त पवित्र भगवानके शरीरपर पड़कर वह धारा चरितार्थ हो गयी थी और उसने भगवान्के उक्त दोनों ही गुण अपने अधीन कर लिये थे—ग्रहण कर लिये थे ॥ १९० ॥

सुगन्धिकुसुमैर्गन्धद्रव्यैरपि सुवासिता । साधान्नातिशयं कंचिद् विभोरङ्गेऽम्भसां ततिः ॥ १९१ ॥

यद्यपि वह जलका समूह सुगन्धित फूलों और सुगन्धित द्रव्योंसे सुवासित किया गया था तथापि वह भगवानके शरीरपर कुछ भी विशेषता धारण नहीं कर सका था—उनके शरीरकी सुगन्धिके सामने उस जलकी सुगन्धि फीकी जान पड़ती थी ॥ १९१ ॥

आशाः पूरयन्त्याज्ञा जगदानन्ददायिनी । वसुधारेव धाराऽसौ क्षीरधाराऽस्त्वयं नः ॥ १९२ ॥

वह दूधके समान श्वेत जलकी धारा हम सबके आनन्दके लिए हो जो कि रत्नोंकी धाराके समान समस्त आशाओं (इच्छाओं और दिशाओं) को पूर्ण करनेवाली तथा समस्त जगत्‌को आनन्द देनेवाली थी ॥ १९२ ॥

या पुण्यास्रवधारेव सूते संपत्परम्पराम् । सास्मान् गन्धपयोधारा प्रीणयत्वनिधनं धने ॥ १९३ ॥

जो पुण्यास्रवकी धाराके समान अनेक सम्पदाओंको उत्पन्न करनेवाली है ऐसी वह सुगन्धित जलकी धारा हम लोगोंको कभी नष्ट नहीं होनेवाले रत्नत्रयरूपी धनसे सन्तुष्ट करे ॥ १९३ ॥

या निशातासिधारेव विघ्नवर्गं विनिघ्नती । पुण्यगन्धाम्भसां धारा सा शिवाय सदास्तु नः ॥ १९४ ॥

जो पैनी तलवारकी धारके समान विघ्नोंका समूह नष्ट कर देती है ऐसी वह पवित्र सुगन्धित जलकी धारा सदा हम लोगोंके मोक्षके लिए हो ॥ १९४ ॥

माननीया मुनीन्द्राणां जगतामेकपावनी । अवताद् गन्धाम्बुधारास्मान् या समं व्योमापगायते ॥ १९५ ॥

जो बड़े-बड़े मुनियोंको मान्य है, जो जगत्‌को एकमात्र पवित्र करनेवाली है और जो आकाशगङ्गाके समान शोभायमान है ऐसी वह सुगन्धित जलकी धारा हम सबकी रक्षा करे ॥ १९५ ॥

तनुं भगवतः प्राप्य याता यातिपवित्रताम् । पवित्रीकरोतु नः स्वान्तं धारा गन्धाम्भसामसौ ॥ १९६ ॥

और जो भगवानके शरीरको पाकर अत्यन्त पवित्रताको प्राप्त हुई है ऐसी वह सुगन्धित जलकी धारा हम सबके मनको पवित्र करे ॥ १९६ ॥

> कृत्वा गन्धोदकैरेवमभिषेकं सुरोत्तमाः । जगतां शान्तये शान्तिं घोषयामासुरुच्चकैः ॥ १९७ ॥

इस प्रकार इन्द्र सुगन्धित जलसे भगवानका अभिषेक कर जगत्की शान्तिके लिए उच्च स्वरसे शान्ति-मन्त्र पढ़ने लगे ॥ १९७ ॥

> प्रचक्रुरुत्तमाङ्गेषु चक्रुः सर्वज्ञसंगतम् । स्वर्गस्योपायनं मत्वा जगृहुर्वारिदेवताः ॥ १९८ ॥

तदनन्तर देवोंने उस गन्धोदकको पहले अपने मस्तकोंपर लगाया, फिर सारे शरीरमें लगाया और फिर बाकी बचे हुए को स्वर्ग ले जानेके लिए रख लिया ॥ १९८ ॥

> गन्धाम्बुस्नपनस्यान्ते जयकोलाहलैः सह । अथाभ्युक्षाममराश्चक्रुः सचूर्णं गन्धवारिभिः ॥ १९९ ॥

सुगन्धित जलका अभिषेक समाप्त होनेपर देवोंने जय-जय शब्दके कोलाहलके साथ-साथ चूर्ण किये हुए सुगन्धित जलसे परस्परमें फाग की अर्थात् वह सुगन्धित जल एक-दूसरेपर डाला ॥ १९९ ॥

> निवृत्तावभिषेकस्य कृतावभृथमज्जनाः । परीत्य परमं ज्योतिरानर्चुर्भुवनार्चितम् ॥ २०० ॥

इस प्रकार अभिषेककी समाप्ति होनेपर सब देवोंने स्नान किया और फिर त्रिलोकपूज्य उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप भगवानको प्रदक्षिणा देकर पूजा की ॥ २०० ॥

> गन्धैर्धूपैश्च दीपैश्च साक्षतैः कुसुमोदकैः । मन्त्रपूतैः फलैः खाद्यैः सुरेन्द्रा विभुमीजिरे ॥ २०१ ॥

सब इन्द्रोंने मन्त्रोंसे पवित्र हुए जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, (चरु), दीप, धूप, फल और अर्घ्यके द्वारा भगवानकी पूजा की ॥ २०१ ॥

> कृतार्चाः कृतानिष्टविधाताः कृतपौष्टिकाः । जन्माभिषेकमित्युच्चैर्निनिन्युस्ते निरञ्जिताः ॥ २०२ ॥

इस तरह इन्द्रोंने भगवानकी पूजा की, उसके प्रभावसे अपने अनिष्ट-अमङ्गलोंका नाश किया और फिर पौष्टिक कर्म कर बड़े समारोहके साथ जन्माभिषेककी विधि समाप्त की ॥ २०२ ॥

> इन्द्रेण सह राण्या च समं देवैः परमानन्ददायिनम् । क्षणं मूर्ध्नि स्थितं मेरोः परीत्यैनं प्रणेमतुः ॥ २०३ ॥

तदनन्तर इन्द्र-इन्द्राणीने समस्त देवोंके साथ परम आनन्द देनेवाले और क्षण-भरके लिए मेरु पर्वतपर चूडामणिके समान शोभायमान होनेवाले भगवानकी प्रदक्षिणा देकर उन्हें नमस्कार किया ॥ २०३ ॥

> दिवोऽपतत्तदा पौष्पी वृष्टिर्जलकणैः समम् । मुक्तानन्दाश्रुबिन्दूनां श्रेण्येव त्रिदिवश्रिया ॥ २०४ ॥

उस समय स्वर्गसे पानीकी छोटी-छोटी बूँदोंके साथ फूलोंकी वर्षा हो रही थी और वह ऐसी मालूम होती थी मानो स्वर्गकी लक्ष्मीके हर्षसे पड़ते हुए अश्रुओंकी पङ्क्ति ही हो ॥ २०४ ॥

> रजःपटलमाधूय सुरागसुमनोभवम् । मातरिश्वा ववौ मन्दं स्नानाम्बुशीकरान् किरन् ॥ २०५ ॥

उस समय कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे उत्पन्न हुए पराग-समूहको उड़ाता हुआ और भगवानके अभिषेक-जलकी बूँदें बरसाता हुआ वायु मन्द-मन्द बह रहा था ॥ २०५ ॥

> सज्योतिर्भगवान् मेरुः कुलाचलायिताः सुराः । क्षीरमेघायिताः कुम्भाः सुरसार्थाप्सरायिताः ॥ २०६ ॥

उस समय भगवान् वृषभदेव मेरुके समान जान पड़ते थे, देव कुलाचलोंके समान मालूम होते थे, कलश दूधके मेघोंके समान प्रतिभासित होते थे और देवियाँ जलसे भरे हुए सरोवरोंके समान आचरण करती थीं ॥ २०६ ॥

> स्वयं स्नपयिताद्रीयः स्नानपीठं च पाण्डुकः । आचार्याः किंकरा देवाः स्नानद्रोणी पयोऽर्णवः ॥ २०७ ॥

जिनका अभिषेक करानेवाला स्वयं इन्द्र था, मेरु पर्वत स्नान करनेका पाण्डुकशिला रूप पीठ था, देवियाँ पूजा करनेवाली थीं, देव किङ्कर थे और क्षीरसमुद्र स्नान करनेका कटाह (टब) था ॥ २०७ ॥

> इति संस्तुत्य तं मेरोर्निर्वृत्ते स्नपनोत्सवे । स यस्य भगवान् वृषभो भगवान् पुनातु जगत् ॥ २०८ ॥

इस प्रकार अतिशय प्रशंसनीय मेरु पर्वतपर जिनका स्नान महोत्सव समाप्त हुआ था वे पवित्र तीर्थङ्कर ऋषभदेव भगवान् समस्त जगत्को पवित्र करें ॥ २०८ ॥

> अथ पवनकुमाराः स्वामिव प्राज्यभक्तिं दिशि दिशि विभजन्तो मन्दमन्दं विचेरुः । मुमुचुरमृतगर्भाः शीकरासारधाराः किमपि जलकुमारा मेरुवीथीस्थलीषु ॥ २०९ ॥

अथानन्तर पवनकुमार जातिके देव अपनी उत्कृष्ट भक्तिको प्रत्येक दिशाओंमें वितरण करते हुए के समान धीरे-धीरे चलने लगे और मेघकुमार जातिके देव उस मेरु पर्वतसम्बन्धी भूमिपर अमृतसे मिले हुए जलके छींटोंकी अखण्ड धारा छोड़ने लगे—मन्द-मन्द जलवृष्टि करने लगे ॥ २०९ ॥

त्रयोदशं पर्व (भगवान् जन्माभिषेकवर्णन - शेषांश)

> झपदि विधुतकल्पानोकहैष्णो भगवदा- शिशिरतरतरङ्गोत्क्षेपदक्षेण... परगतिमिव चक्रे यः प्रदक्षिणममुम् ॥ २१० ॥

जो वायु शीघ्र ही कल्पवृक्षोंको हिला रहा था, जो आकाशगंगाकी अत्यन्त शीतल तरंगोंको उछालनेमें समर्थ था और जो किनारेके वनोंसे पुष्पोंका अपहरण कर रहा था ऐसा वायु मेरु पर्वतके चारों ओर घूम रहा था और ऐसा मालूम होता था मानों उसकी प्रदक्षिणा ही कर रहा हो ॥ २१० ॥

> अनुचितमशिवानां स्थातुमत्र त्रिलोक्यां जनयति शिवमस्मिन्मङ्गलोत्सवे विश्वभर्तुः । इति निजमनुशिष्टेरुच्चैर्घोषयन् दुन्दुभीनां सुरकरनिहतानां ध्वान उच्छैर्बभासे ॥ २११ ॥

देवोंके हाथोंसे ताड़ित हुए दुन्दुभि बाजोंका गम्भीर शब्द सुनाई दे रहा था और वह मानो जोर-जोरसे यह कहता हुआ कल्याणकी घोषणा ही कर रहा था कि जब त्रिलोकीनाथ भगवान वृषभदेवका जन्ममहोत्सव तीनों लोकोंमें अनेक कल्याण उत्पन्न कर रहा है तब यहाँ अकल्याणोंका रहना अनुचित है ॥ २११ ॥

> सुरकुजकुसुमानां वृष्टिरत्रापतदुच्चै- रमरकरविकीर्णा विश्वगाकृष्टभृङ्गा । नयनततिरिवार्तविर्भाविता स्वर्गलक्ष्म्या ॥ २१२ ॥

उस समय देवोंके हाथसे बिखरे हुए कल्पवृक्षके फूलोंकी वर्षा बहुत ही ऊँचेसे पड़ रही थी, सुगन्धिके कारण वह चारों ओरसे भ्रमरोंको खींच रही थी और ऐसी मालूम होती थी मानो भगवानके जन्मकल्याणककी पूजा देखनेके लिए स्वर्गकी लक्ष्मीने चारों ओर अपने नेत्रोंकी पंक्ति ही प्रकट की हो ॥ २१२ ॥

> इत्थं तदा सुरासुरैः प्रमुदितैर्जन्माभिषेकोत्सव- स्तस्मिन् शक्रपुरःसरैः सुरगिरौ क्षीरार्णवस्याम्भसि । नृत्यन्तीषु सुराङ्गनासु सहसा सङ्गीतमार्गाश्रयैः स श्रीमान् वृषभः स जगत्त्रयगुरुर्जीयाज्जिनः शाश्वतः ॥ २१३ ॥

इस प्रकार जिस समय अनेक देवांगनाएँ तालसहित नाना प्रकारकी नृत्यकलाके साथ नृत्य कर रही थीं उस समय इन्द्रादि देव और धरणेन्द्रोंने हर्षित होकर मेरु पर्वतपर क्षीरसागरके जलसे जिनका जन्माभिषेकका उत्सव किया था वे परम पवित्र तथा तीनों लोकोंके गुरु श्रीवृषभनाथ जिनेन्द्र सदा जयवन्त हों ॥ २१३ ॥

> जन्मानन्तरमेव यस्य मिलितैर्देवासुराणां गणैः नानायानविमानपत्तिनिवहव्याबद्धरोदोऽङ्कणे । क्षीराब्धेः समुपाहृतैः शुचिजलैः कृत्वाभिषेकं विभोः मेरोर्मूर्धनि जातकर्म विदधे सोऽव्याज्जिनो वः प्रभुः ॥ २१४ ॥

जन्म होनेके अनन्तर ही नाना प्रकारके वाहनों, विमानों और प्यादों आदिके द्वारा आकाशको रोककर इकट्ठे हुए देव और असुरोंके समूहने मेरु पर्वतके मस्तकपर लाये हुए क्षीरसागरके पवित्र जलसे जिनका अभिषेक कर जन्मोत्सव किया था वे प्रथम जिनेन्द्र तुम सबकी रक्षा करें ॥ २१४ ॥

> सद्यः संहृतमौष्ण्यमुष्णकिरणैराप्नोडितं शीकरै- र्धृतं शीतकरैरुढमुडुभिर्बद्धोडुपैः क्रीडितम् । तारौघैस्तर लैस्तरद्भिरधिकं डिण्डीरपिण्डायितं यस्मिन् मज्जनसंविधौ स जयताज्जैनो जगत्पावनः ॥ २१५ ॥

जिनके जन्माभिषेकके समय सूर्यने शीघ्र ही अपनी उष्णता छोड़ दी थी, जलके छींटे बार-बार उछल रहे थे, चन्द्रमाने शीतलताको धारण किया था, नक्षत्रोंने बँधी हुई छोटी-छोटी नौकाओंके समान जहाँ-तहाँ क्रीड़ा की थी, और तैरते हुए चंचल ताराओंके समूहने फेनके पिण्डके समान शोभा धारण की थी वे जगत्को पवित्र करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् सदा जयवन्त हों ॥ २१५ ॥

> सद्यः सस्मितं त्रिदशेश्वरैः सचकितं देवीभिरभ्युत्करैः सानन्दं गजपुङ्गवैः प्रणिहितैराचादरं चारणैः ।
> साशङ्कं गगनचरैः किमिदमित्यालोकितो यः स्फुरन् मेरोर्मूर्धनि स
> नोऽवताज्जिनविभोर्जन्मोत्सवाम्भःप्लवः ॥ २१६ ॥

मेरु पर्वतके मस्तकपर स्फुरायमान होता हुआ, जिनेन्द्र भगवानके जन्माभिषेकका वह जल-प्रवाह हम सबकी रक्षा करे जिसे कि इन्द्रोंने बड़े आनन्दसे, देवियोंने आश्चर्यसे, देवोंके हाथियोंने सूँड ऊँची उठाकर बड़े भयसे, चारण ऋद्धिधारी मुनियोंने एकाग्रचित्त होकर बड़े आदरसे और विद्याधरोंने 'यह क्या है!' ऐसी शंका करते हुए देखा था ॥ २१६ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवज्जन्माभिषेकवर्णनं नाम त्रयोदशं पर्व समाप्तम् ॥ १३ ॥

चतुर्दशं पर्व (भगवान् जातकर्मोत्सववर्णन)

> अथाभिषेकनिर्वृत्तौ शची देवी जगद्गुरोः । प्रसाधनविधौ यत्नमकरोत् कृतकौतुका ॥ १ ॥

अथानन्तर, जब अभिषेककी विधि समाप्त हो चुकी तब इन्द्राणी देवीने हर्षके साथ जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवको अलंकार पहनानेका प्रयत्न किया ॥ १ ॥

> तस्याभिषिक्तमात्रस्य दधतः पावनं वपुः । साङ्गलग्नान्ममार्जास्य कणान् स्वच्छामलोशुकैः ॥ २ ॥

जिनका अभिषेक किया जा चुका है ऐसे पवित्र शरीर धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेवके शरीरमें लगे हुए जलकणोंको इन्द्राणीने स्वच्छ एवं निर्मल वस्त्रसे पोंछा ॥ २ ॥

> स्वासन्नापाङ्गसंक्रान्तसितच्छायं विभोर्मुखम् । प्रमृष्टमपि सा मार्ष्टि भूयो जलकणास्थया ॥ ३ ॥

भगवानके मुखपर, अपने निकटवर्ती कटाक्षोंकी जो सफेद छाया पड़ रही थी उसे इन्द्राणी जलकण समझती थी। अतः पोंछे हुए मुखको भी वह बार-बार पोंछ रही थी ॥ ३ ॥

> अङ्गरागैः सुगन्धिभिः साङ्गमिन्द्राणी गात्रमीशितुः । अन्वलिम्पत लिम्पन्तीवामोदैस्त्रिविष्टपम् ॥ ४ ॥

अपनी सुगन्धिके द्वारा तीनों लोकोंको लिप्त करनेवाले अतिशय सुगन्धित अंगराग द्रव्योंसे उसने भगवानके शरीरपर विलेपन किया ॥ ४ ॥

> गन्धेनामोदिना यस्य शरीरसहजन्मना । गन्धास्ते न्यक्कृताः सर्व सौगन्ध्येनापि संश्रिताः ॥ ५ ॥

यद्यपि वे सुगन्ध द्रव्य उत्कृष्ट सुगन्धिसे सहित थे तथापि भगवानके शरीरकी स्वाभाविक तथा दूर-दूर तक फैलनेवाली सुगन्धने उन्हें तिरस्कृत कर दिया था ॥ ५ ॥

> तिलकं च ललाटेऽस्य शची चक्रे किकादरात् । जगतां तिलकस्तेन किमलंक्रियते विभुः ॥ ६ ॥

इन्द्राणीने बड़े आदरसे भगवानके ललाटपर तिलक लगाया परन्तु जगत्के तिलक-स्वरूप भगवान् क्या उस तिलकसे शोभायमान हुए थे? ॥ ६ ॥

> मन्दारमालयोत्तंसमिन्द्राणी विदधे विभोः । तयालंकृतमूर्धासौ यशसेव व्यरुचद् भृशम् ॥ ७ ॥

इन्द्राणीने भगवानके मस्तकपर कल्पवृक्षके पुष्पोंकी मालासे बना हुआ मुकुट धारण कराया। इन मालाओंसे अलंकृतमस्तक होकर भगवान ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो कीर्तिसे ही अलंकृत किये गये हों ॥ ७ ॥

> जगच्चूडामणेरस्य मूर्ध्नि चूडामणिं दधौ । सत्तां मूर्धाभिषिक्तस्य पौलोमी भक्तिनिर्भरा ॥ ८ ॥

यद्यपि भगवान् स्वयं जगत्के चूड़ामणि थे और सज्जनोंमें सबसे मुख्य थे तथापि इन्द्राणीने भक्तिसे निर्भर होकर उनके मस्तकपर चूड़ामणि रत्न रखा था ॥ ८ ॥

> अनञ्जितासिते नेत्रे दधतः सान्द्रपक्ष्मणी । पुनरञ्जनसंस्कारमाचार इति लम्भिते ॥ ९ ॥

यद्यपि भगवानके सघन बरौनीवाले दोनों नेत्र अंजन लगाये बिना ही श्यामवर्ण थे तथापि इन्द्राणीने नियोग मात्र समझकर उनके नेत्रोंमें अंजनका संस्कार किया था ॥ ९ ॥

> कर्णावविद्धसच्छिद्रौ कुण्डलाभ्यां विरेजतुः । कान्तिदीप्ती मुखे द्रष्टुमिन्द्रकन्यामिवाश्रितौ ॥ १० ॥

भगवानके दोनों कान बिना वेधन किये ही छिद्रसहित थे, इन्द्राणीने उनमें मणिमय कुण्डल पहनाये थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो भगवानके मुखकी कान्ति और दीप्तिको देखनेके लिए सूर्य और चन्द्रमा ही उनके पास पहुँचे हों ॥ १० ॥

> हारिणा मणिहारेण कण्ठशोभा महत्यभूत् । मुक्तिश्रीकण्ठिकादाम्ना चारुणा त्रिजगत्पतेः ॥ ११ ॥

मोक्ष-लक्ष्मीके गलेके हारके समान अतिशय सुन्दर और मनोहर मणियोंके हारसे त्रिलोकीनाथ भगवान वृषभदेवके कण्ठकी शोभा बहुत भारी हो गयी थी ॥ ११ ॥

> बाहोर्युगं च केयूरकटकाङ्गदभूषितम् । तस्य कल्पद्रुमस्येव द्विशाखं शोभतेऽधिकम् ॥ १२ ॥

बाजूबन्द, कड़ा, अनन्त आदिसे शोभायमान उनकी दोनों भुजाएँ ऐसी मालूम होती थीं मानो कल्पवृक्षकी दो शाखाएँ ही हों ॥ १२ ॥

> तस्याङ्घ्रिलम्बिनी दाम किङ्किणीभिर्विराजितम् । कटीतटेऽल्पं कल्पाङ्घ्रिप्रारोहश्रियमुद्वहत् ॥ १३ ॥

भगवानके कटिप्रदेशमें छोटी-छोटी घण्टियोंसे सुशोभित मणिमयी करधनी ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो कल्पवृक्षके अंकुर ही हों ॥ १३ ॥

> पादौ गोमुखनिर्भासैर्मणिभिस्तस्य रेजतुः । वाचालितावितो नूपुरैः सरस्वत्या कृतसेवाविवादरात् ॥ १४ ॥

गोमुखके आकारके चमकीले मणियोंसे आच्छाद्यमान उनके दोनों चरण ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो सरस्वती देवी ही आदरसहित उनकी सेवा कर रही हो ॥ १४ ॥

> लक्ष्म्याः पुञ्ज इवोद्भूतो दीप्त्या राशिरिवोच्छिखः । भाग्यानामिव संपातः स्फुरन्नाभरणैर्विभुः ॥ १५ ॥

उस समय अनेक आभूषणोंसे शोभायमान भगवान ऐसे जान पड़ते थे मानों लक्ष्मीका पुंज ही प्रकट हुआ हो, ऊँची शिखावाली रत्नोंकी राशि ही हो अथवा भोग्य वस्तुओंका समूह ही हो ॥ १५ ॥

> सौन्दर्यस्येव संदोहः सौभाग्यस्येव संनिधिः । गुणानामिव संश्लेषः सालंकारो विभुर्बभौ ॥ १६ ॥

अथवा अलंकारसहित भगवान ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानों सौन्दर्यका समूह ही हो, सौभाग्यका खजाना ही हो अथवा गुणोंका निवासस्थान ही हो ॥ १६ ॥

> निसर्गरुचिरं तस्य वपुरङ्गेषु सालंकृतम् । सुश्लिष्टकाव्यमिव सुश्लिष्टबन्धनम् ॥ १७ ॥

स्वभावसे सुन्दर तथा सुसंगठित भगवानका शरीर अलंकारोंसे युक्त होनेपर ऐसा शोभायमान होने लगा था मानों उपमा, रूपक आदि अलंकारोंसे युक्त तथा सुन्दर रचनासे सहित किसी कविका काव्य ही हो ॥ १७ ॥

> प्रत्यङ्गमपि विन्यस्तैः पौलोम्या मणिभूषणैः । स रेजे कल्पशाखीव शाखोत्लासिविभूषणः ॥ १८ ॥

इस प्रकार इन्द्राणीके द्वारा प्रत्येक अंगमें धारण कराये हुए मणिमय आभूषणोंसे वे भगवान उस कल्पवृक्षके समान शोभायमान हो रहे थे जिसकी प्रत्येक शाखापर आभूषण सुशोभित हो रहे हों ॥ १८ ॥

> इति प्रसाध्य तं देवमिन्द्रोत्सङ्गगतं शची । विस्मयमायासीत् पश्यन्ती रूपसंपदम् ॥ १९ ॥

इस तरह इन्द्राणीने इन्द्रकी गोदीमें बैठे हुए भगवानको अनेक वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत कर जब उनकी रूप-सम्पदा देखी तब वह स्वयं भारी आश्चर्यको प्राप्त हुई ॥ १९ ॥

> संक्रन्दनोऽपि तद्रूपशोभां द्रष्टुं सदातनीम् । सहस्राक्षोऽभवन्नूनं स्पृहयालुरतृप्तिकः ॥ २० ॥

इन्द्रने भी भगवानके उस समयकी रूपसम्बन्धी शोभा देखनी चाही, परन्तु वह दो नेत्रोंसे देखकर सन्तुष्ट नहीं हुआ इसीलिए मालूम होता है कि वह सहस्राक्ष (हजारों नेत्रोंवाला) हो गया था—उसने विक्रिया शक्तिसे हजार नेत्र बनाकर भगवानका रूप देखा था ॥ २० ॥

> तदा निमेषविमुक्तैर्लोचनैस्तं सुरासुराः । ददृशुर्गिरिराजस्य शिखामणिमिव क्षणम् ॥ २१ ॥

उस समय देव और असुरोंने अपने टिमकाररहित नेत्रोंसे क्षण-भरके लिए मेरु पर्वतके शिखामणिके समान सुशोभित होनेवाले भगवानको देखा ॥ २१ ॥

> तदनन्तरं स्तोतुमिन्द्राद्याः सुरोत्तमाः । चक्रुस्तीर्थकरत्वस्य प्राभवं तस्य वर्णयन्तः ॥ २२ ॥

तदनन्तर इन्द्र आदि श्रेष्ठ देव उनकी स्तुति करनेके लिए तत्पर हुए सो ठीक ही है तीर्थंकर होनेवाले पुरुषका ऐसा ही अधिक प्रभाव होता है ॥ २२ ॥

> त्वं देव परमानन्दमस्माकं कर्तुमुद्गतः । किमु प्रबोधमायान्ति विनाऽर्कात् कमलाकराः ॥ २३ ॥

हे देव, हम लोगोंको परम आनन्द देनेके लिए ही आप उदित हुए हैं। क्या सूर्यके उदित हुए बिना कभी कमलोंका समूह प्रबोधको प्राप्त होता है? ॥ २३ ॥

> मिथ्याज्ञानान्धकूपेऽस्मिन् निपतन्तमिमं जनम् । त्वमुद्धर्तुमना धर्महस्तालम्बं प्रदास्यसि ॥ २४ ॥

हे देव, मिथ्याज्ञानरूपी अन्धकूपमें पड़े हुए इन संसारी जीवोंका उद्धार करनेकी इच्छासे आप धर्मरूपी हाथका सहारा देनेवाले हैं ॥ २४ ॥

तव वाक्किरणैर्नूनमस्मच्चेतोगतं तमः । पुरा प्रह्लीयते देव तमो भास्वत्करैरिव ॥ २५ ॥

हे देव, जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंके द्वारा उदय होनेसे पहले ही अन्धकार नष्टप्राय कर दिया जाता है उसी प्रकार आपके वचनरूपी किरणोंके द्वारा भी हम लोगोंके हृदयका अन्धकार नष्ट कर दिया गया है ॥ २५ ॥

त्वमादिदेवो देवानां त्वमादिर्जगतां गुरुः । त्वमादिर्जगतां धाता त्वमादिर्धर्मनायकः ॥ २६ ॥

हे देव, आप देवोंके आदि देव हैं, तीनों जगत्के आदि गुरु हैं, जगत्के आदि विधाता हैं और धर्मके आदि नायक हैं ॥ २६ ॥

त्वमेव जगतां भर्ता त्वमेव जगतां पिता । त्वमेव जगतां त्राता त्वमेव जगतां गतिः ॥ २७ ॥

हे देव, आप ही जगत्के स्वामी हैं, आप ही जगत्के पिता हैं, आप ही जगत्के रक्षक हैं, और आप ही जगत्के नायक हैं ॥ २७ ॥

स्वयं पूतः पुनासि त्वं जगत्सर्वं गुणोत्तमैः । स्वयं धौतो यथा लोकं धवलीकुरुते शशी ॥ २८ ॥

हे देव, जिस प्रकार स्वयं धवल रहनेवाला चन्द्रमा अपनी चाँदनीसे समस्त संसारको धवल कर देता है उसी प्रकार स्वयं पवित्र रहनेवाले आप अपने उत्कृष्ट गुणोंसे सारे संसारको पवित्र कर देते हैं ॥ २८ ॥

अद्य नः कल्याणमाप्स्यन्ति संसारामयरुग्णिनः । उल्लासिता भवद्वाक्यभेषजरसतोपमैः ॥ २९ ॥

हे नाथ, संसाररूपी रोगसे दुःखी हुए ये प्राणी अमृतके समान आपके वचनरूपी ओषधिके द्वारा नीरोग होकर आपसे परम कल्याणको प्राप्त होंगे ॥ २९ ॥

त्वं पवित्रः पवित्रं नः परं ज्योतिस्त्वमक्षरम् । प्रणाश्य निखिलं क्लेशं प्राप्तवानसि तत्पदम् ॥ ३० ॥

हे भगवन्, आप सम्पूर्ण क्लेशोंको नष्ट कर इस तीर्थंकररूप परम पदको प्राप्त हुए हैं, अतएव आप ही पवित्र हैं, आप ही दूसरोंको पवित्र करनेवाले हैं और आप ही अविनाशी उत्कृष्ट ज्योतिःस्वरूप हैं ॥ ३० ॥

कूटस्थो न कूटस्थस्त्वमद्य प्रतिभासि नः । त्वय्येव स्फीतिमेष्यन्ति सर्वे योगजा गुणाः ॥ ३१ ॥

हे नाथ, यद्यपि आप कूटस्थ हैं—नित्य हैं तथापि आज हम लोगोंको कूटस्थ नहीं मालूम होते क्योंकि ध्यानसे होनेवाले समस्त गुण आपमें ही वृद्धिको प्राप्त होते रहते हैं। भावार्थ—जो कूटस्थ (नित्य) होता है उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता अर्थात् न उनमें कोई गुण घटता है और न बढ़ता है, परन्तु हम देखते हैं कि आपमें ध्यान आदि योगाभ्याससे होनेवाले अनेक गुण प्रति समय बढ़ते रहते हैं, इस अपेक्षासे आप हमें कूटस्थ नहीं मालूम होते ॥ ३१ ॥

अस्नातपूतगात्रोऽपि स्नपितोऽस्यद्य मन्दरे । पवित्रयितुमेवैतज्जगदेनोमलीमसम ॥ ३२ ॥

हे देव, यद्यपि आप बिना स्नान किये ही पवित्र हैं तथापि मेरु पर्वतपर जो आपका अभिषेक किया गया है वह पापोंसे मलिन हुए इस जगत्को पवित्र करनेके लिए ही किया गया है ॥ ३२ ॥

युष्मज्जन्माभिषेकेण वयमेव न केवलम् । नीताः पवित्रतां मेरुः क्षीराब्धिस्तज्जलाद्यपि ॥ ३३ ॥

हे देव, आपके जन्माभिषेकसे केवल हम लोग ही पवित्र नहीं हुए हैं किन्तु यह मेरु पर्वत, क्षीरसमुद्र तथा उन दोनोंके जल (अभिषेकका जल) भी पवित्रताको प्राप्त हो गये हैं ॥ ३३ ॥

दिङ्मुखेषूल्लसन्त्येते युष्मत्स्नानाम्बुशीकराः । जगदानन्दिनः सम्यग् यशसामिव राशयः ॥ ३४ ॥

हे देव, आपके अभिषेकके जलकण सब दिशाओंमें ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो संसारको आनन्द देनेवाला और घनीभूत आपके यशका समूह ही हो ॥ ३४ ॥

अविलिप्तसुगन्धिस्त्वमविभूषितसुन्दरः । भक्तेरभ्यर्चितोऽस्माभिर्भूषणैः सानुलेपनैः ॥ ३५ ॥

हे देव, यद्यपि आप बिना लेप लगाये ही सुगन्धित हैं और बिना आभूषण पहने ही सुन्दर हैं तथापि हम भक्तोंने भक्तिवश ही सुगन्धित द्रव्योंके लेप और आभूषणोंसे आपकी पूजा की है ॥ ३५ ॥

> लोकाधिकं दधद्धाम प्रादुरासीस्त्वमात्मभूः । मेरोर्गर्भादिव क्ष्मायस्त्वं देव भुवनैकशिखामणिः ॥ ३६ ॥

हे भगवन्, आप तेजस्वी हैं और संसारमें सबसे अधिक तेज धारण करते हुए प्रकट हुए हैं, इसलिए ऐसे जान पड़ते हैं मानो मेरु पर्वतके गर्भसे संसारका एक शिखामणि—सूर्य ही उदय हुआ हो ॥ ३६ ॥

> सद्योजातश्रुतिं बिभ्रत् स्वर्गावतरणेऽच्युतः । त्वमद्य वामतां वहन् कामनीयकमुद्वहन् ॥ ३७ ॥

हे देव, स्वर्गावतरणके समय आप 'सद्योजात' नामको धारण कर रहे थे, 'अच्युत' (अविनाशी) आप हैं ही और आज सुन्दरताको धारण करते हुए 'वामदेव' इस नामको भी धारण कर रहे हैं, अर्थात् आप ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं ॥ ३७ ॥

> यथा शुद्धाकरोद्भूतो मणिः संस्कारयोगतः । दीप्यतेऽधिकमेवैष जातकर्मभिसंस्कृतः ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार शुद्ध खानसे निकला हुआ मणि संस्कारके योगसे अतिशय देदीप्यमान हो जाता है, उसी प्रकार आप भी जन्माभिषेकरूपी जातकर्मसंस्कारके योगसे अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं ॥ ३८ ॥

> शरीरमात्रं पश्यन्ति न तं पश्यन्ति केचन । इत्यसद् वदतां ज्योतिः प्रत्यक्षोऽसि त्वमद्य नः ॥ ३९ ॥

हे नाथ, यह जो ब्रह्माद्वैतवादियोंका कहना है कि 'सब लोग परब्रह्मकी शरीर आदि पर्यायें ही देख सकते हैं उसे साक्षात् कोई नहीं देख सकते' वह सब झूठ है क्योंकि परं ज्योतिःस्वरूप आप आज हमारे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ ३९ ॥

> त्वामामनन्ति योगीन्द्राः पुराणपुरुषं पुरुम् । कविं पुराणमित्यादि पठन्तः स्तवविस्तरम् ॥ ४० ॥

हे देव, विस्तारसे आपकी स्तुति करनेवाले योगिराज आपको पुराणपुरुष, पुरु, कवि और पुराण आदि मानते हैं ॥ ४० ॥

> पूतात्मने नमस्तुभ्यं नमः ख्यातगुणाय ते । नमो भीतिभिदे नित्यं गुणानामेकभूतये ॥ ४१ ॥

हे भगवन्, आपकी आत्मा अत्यन्त पवित्र है इसलिए आपको नमस्कार हो, आपके गुण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप जन्म-मरणका भय नष्ट करनेवाले हैं और समस्त गुणोंको एकमात्र उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ४१ ॥

> क्षमागुणप्रधानाय नमस्ते क्षितिमूर्तये । जगदाह्लादिने तुभ्यं नमोऽस्तु सलिलात्मने ॥ ४२ ॥

हे नाथ, आप क्षमा (पृथ्वी) के समान क्षमा (शान्ति) गुणको ही प्रधान रूपसे धारण करते हैं इसलिए क्षमा अर्थात् पृथिवीरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, आप जलके समान जगत्को आनन्दित करनेवाले हैं इसलिए जलरूपको धारण करनेवाले आपको नमस्कार हो ॥ ४२ ॥

> निसङ्गवृत्तये तुभ्यं विभूतेरपवह्निने । नमस्तपस्विने शश्वन्महामोहमहीरहे ॥ ४३ ॥

आप वायुके समान परिग्रहरहित हैं, वेगशाली हैं और मोहरूपी बड़े भारी वृक्षको उखाड़नेवाले हैं इसलिए वायुरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो ॥ ४३ ॥

> कर्मेन्धनदहे तुभ्यं नमः पावक मूर्तये । पिशङ्गपिशितोद्दीपसमिद्धध्यानतेजसे ॥ ४४ ॥

आप कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले हैं, आपका शरीर कुछ लालिमा लिये हुए पीतवर्ण तथा पुष्ट है, और आपका ध्यानरूपी तेज सदा प्रदीप्त रहता है इसलिए अग्निरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो ॥ ४४ ॥

> अरजोऽम्बरसङ्गाय नमस्ते गगनात्मने । विभवेऽनाद्यनन्ताय महत्त्वावधये परम् ॥ ४५ ॥

आप आकाशकी तरह पापरूपी धूलिकी संगतिसे रहित हैं, विभु हैं, व्यापक हैं, अनादि अनन्त हैं, निर्विकार हैं, सबके रक्षक हैं इसलिए आकाशरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो ॥ ४५ ॥

> शुचयज्वने नमस्तुभ्यं सर्वक्रतुमयात्मने । निर्वाणदायिने तुभ्यं नमः शीतांशुमूर्तये ॥ ४६ ॥

आप याजकके समान ध्यानरूपी अग्निमें सर्व साकल्यका होम करनेवाले हैं इसलिए याजकरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, आप चन्द्रमाके समान निर्वाण (मोक्ष अथवा आनन्द) देनेवाले हैं इसलिए चन्द्ररूपको धारण करनेवाले आपको नमस्कार हो ॥ ४६ ॥

> नमस्तेऽनन्तबोधाकरविनिर्मुक्तशाक्तये । तीर्थंकरत्वायिने तुभ्यं नमः स्वात्ममूर्तये ॥ ४७ ॥

और आप अनन्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानरूपी सूर्यसे सर्वथा अभिन्न रहते हैं इसलिए सूर्यरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो। हे नाथ, इस प्रकार आप पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, याजक, चन्द्र और सूर्य इन आठ मूर्तियोंको धारण करनेवाले हैं तथा तीर्थंकर होनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो। भावार्थ—अन्यमतावलम्बियोंने महादेवकी पृथ्वी, जल आदि आठ मूर्तियाँ मानी हैं, यहाँ आचार्यने ऊपर लिखे वर्णनसे भगवान वृषभदेवको ही उन आठ मूर्तियोंको धारण करनेवाला महादेव मानकर उनकी स्तुति की है ॥ ४७ ॥

> महाबलाय नमस्तुभ्यं ललिताङ्गाय ते नमः । श्रीमते वज्रजङ्घाय धर्मतीर्थप्रवर्तिने ॥ ४८ ॥

हे नाथ, आप महाबल अर्थात् अतुल्य बलके धारक हैं अथवा इस भवसे पूर्व दसवें भवमें महाबल विद्याधर थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप ललितांग हैं अर्थात् सुन्दर शरीरको धारण करनेवाले अथवा नौवें भवमें ऐशान स्वर्गके ललितांग देव थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप धर्मरूपी तीर्थको प्रवर्तानेवाले ऐश्वर्यशाली और वज्रजंघ हैं अर्थात् वज्रके समान मजबूत जंघाओंको धारण करनेवाले हैं अथवा आठवें भवमें 'वज्रजंघ' नामके राजा थे ऐसे आपको नमस्कार हो ॥ ४८ ॥

> नमः सदाऽऽर्याय ते शुद्धिविस्तृते श्रीधरो ते नमः । नमः सुविधये तुभ्यमच्युतेन्द्राय ते नमः ॥ ४९ ॥

आप आर्य अर्थात् पूज्य हैं अथवा सातवें भवमें भोगभूमिज आर्य थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप दिव्य श्रीधर अर्थात् उत्तम शोभाको धारण करनेवाले हैं अथवा छठे भवमें श्रीधर नामके देव थे ऐसे आपके लिए नमस्कार हो, आप सुविधि अर्थात् उत्तम भाग्यशाली हैं अथवा पाँचवें भवमें सुविधि नामके राजा थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अच्युतेन्द्र अर्थात् अविनाशी स्वामी हैं अथवा चौथे भवमें अच्युत स्वर्गके इन्द्र थे इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ४९ ॥

> वज्रस्तम्भस्थिराङ्गाय नमस्ते वज्रनाभये । सर्वार्थसिद्धिनाथाय सर्वार्थसिद्धिमीयुषे ॥ ५० ॥

आपका शरीर वज्रके खम्भेके समान स्थिर है और आप वज्रनाभि अर्थात् वज्रके समान मजबूत नाभिको धारण करनेवाले हैं अथवा तीसरे भवमें वज्रनाभि नामके चक्रवर्ती थे ऐसे आपको नमस्कार हो। आप सर्वार्थ सिद्धिके नाथ अर्थात् सब पदार्थोंकी सिद्धिके स्वामी तथा सर्वार्थ सिद्धि अर्थात् सब प्रयोजनोंकी सिद्धिको प्राप्त हैं अथवा दूसरे भवमें सर्वार्थसिद्धि विमानको प्राप्त कर उसके स्वामी थे इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ५० ॥

दशावतारचरमपरमौदारिकत्विषे । सूनवे नाभिराजस्य नमोऽस्तु परमेष्ठिने ॥ ५१ ॥

हे नाथ! आप दशावतार चरम अर्थात् सांसारिक पर्यायोंमें अन्तिम अथवा ऊपर कहे हुए महाबल आदि दस अवतारोंमें अन्तिम परमौदारिक शरीरको धारण करनेवाले नाभिराजके पुत्र वृषभदेव परमेष्ठी हुए हैं इसलिए आपको नमस्कार हो। भावार्थ—इस प्रकार श्लेषालंकारका आश्रय लेकर आचार्यने भगवान् वृषभदेवके दस अवतारोंका वर्णन किया है, उसका अभिप्राय यह है कि अन्यमतावलम्बी श्रीकृष्ण विष्णुके दस अवतार मानते हैं। यहाँ आचार्यने दस अवतार बतलाकर भगवान वृषभदेवको ही श्रीकृष्ण-विष्णु सिद्ध किया है ॥ ५१ ॥

भवन्तमित्यभिष्टूय ताम्यदाशास्महे वयम् । भक्तिस्त्वय्येव नो भूयादफलान्यैर्मितैः फलैः ॥ ५२ ॥

हे देव, इस प्रकार आपकी स्तुति कर हम केवल यही फलकी आशा करते हैं कि हम लोगोंकी भक्ति आपमें ही रहे। हमें अन्य परिमित फलोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥ ५२ ॥

इति संस्तूय सुरेन्द्रास्तं परमानन्दनिर्भराः । अयोध्यागमने भूयो मतिं चक्रुः कृतोत्सवाः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार परम आनन्दसे भरे हुए इन्द्रोंने भगवान वृषभदेवकी स्तुति कर उत्सवके साथ अयोध्या जानेका फिर विचार किया ॥ ५३ ॥

तथैवापूरितं भेरीस्तथैवाघोषितो जयः । तथैवैरावतेन्द्रेण स्कन्धारूढं व्यधुर्जितम् ॥ ५४ ॥

अयोध्यासे मेरु पर्वत तक जाते समय जिस प्रकार उत्सव हुआ था उसी प्रकार फिर होने लगा। उसी प्रकार दुन्दुभि बजने लगीं, उसी प्रकार जय-जय शब्दका उच्चारण होने लगा और उसी प्रकार ऐरावत हाथीके कन्धेपर विराजमान किया ॥ ५४ ॥

महाकलकलेर्गीतनृत्यैः सजयघोषणैः । गगनाङ्गणमुत्पत्य ययुस्तामेव तां पुरीम् ॥ ५५ ॥

वे देव बड़ा भारी कोलाहल, गीत, नृत्य और जय-जय शब्दकी घोषणा करते हुए आकाशरूपी आँगनको उल्लंघ कर शीघ्र ही अयोध्यापुरी आ पहुँचे ॥ ५५ ॥

या चकासे गगनोल्लङ्घिशिखरेः पृथुगोपुरैः । स्वर्गमाह्वयमानेव पवनोल्लसितकेतनैः ॥ ५६ ॥

जिनके शिखर आकाशको उल्लंघन करनेवाले हैं और जिनपर लगी हुई पताकाएँ वायुके द्वारा फहरा रही हैं ऐसे गोपुर-दरवाजोंसे वह अयोध्या नगरी ऐसी शोभायमान होती थी मानो स्वर्गपुरीको ही बुला रही हो ॥ ५६ ॥

यस्यां मणिमयी भूमिस्तारकाप्रतिबिम्बितैः । दधौ कुमुद्वती लक्ष्मीमकण्ठां क्षणदामुखे ॥ ५७ ॥

उस अयोध्यापुरीकी मणिमयी भूमि रात्रिके प्रारम्भ समयमें ताराओंका प्रतिबिम्ब पड़नेसे ऐसी जान पड़ती थी मानों कुमुदोंसे सहित सरसीकी अखण्ड शोभा ही धारण कर रही हो ॥ ५७ ॥

या पताकाकरैर्दूरमुत्क्षिप्तैश्चलपल्लवैः । आह्वातुमिद स्वर्गवासिनोऽभूत् कुतूहलात् ॥ ५८ ॥

दूर तक बहनेवाली वायुके द्वारा हिलती हुई पताकाओंसे वह अयोध्या ऐसी मालूम होती थी मानों कौतूहलवश ऊँचे उठाये हुए हाथोंसे स्वर्गवासी देवोंको बुलाना चाहती हो ॥ ५८ ॥

यस्यां मणिमयैर्हर्म्यैः कृतदम्पतिसंश्रयैः । आक्षिप्तेव सुराधीशविमानभोरसंभ्रमम् ॥ ५९ ॥

जिनमें अनेक सुन्दर स्त्री-पुरुष निवास करते थे ऐसे वहाँके मणिमय महलोंको देखकर निःसन्देह कहना पड़ता था कि मानो उन महलोंने इन्द्रके विमानोंकी शोभा छीन ली थी अथवा तिरस्कृत कर दी थी ॥ ५९ ॥

यत्र सौधाग्रसंलग्नैरिन्दुकान्तशिलातलैः । अभ्रपादामिसंस्पर्शात् क्षरद्भिर्ज्जलदायितम् ॥ ६० ॥

वहाँपर चूना गचीके बने हुए बड़े-बड़े महलोंके अग्रभागपर सैकड़ों चन्द्रकान्तमणि जड़े हुए थे, रातमें चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श पाकर उनसे पानी झर रहा था जिससे वे भी मेघके समान मालूम होते थे ॥ ६० ॥

या धत्ते स्म महासौधशिखरैर्मणिभासुरैः । सुरक्षापक्षियं दिक्षु विततां रत्नमामयीम् ॥ ६१ ॥

उस नगरीके बड़े-बड़े राजमहलोंके शिखर अनेक मणियोंसे देदीप्यमान रहते थे, उनसे सब दिशाओंमें रत्नोंका प्रकाश फैलता रहता था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह नगरी इन्द्रधनुष ही धारण कर रही हो ॥ ६१ ॥

सरोजरागमाणिक्यकिरणैः क्वचिदम्बरम् । यत्र संध्याम्बुदच्छन्नमिवालक्ष्यत पाण्डुरम् ॥ ६२ ॥

उस नगरीका आकाश कहीं-कहींपर पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे कुछ-कुछ लाल हो रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानों सन्ध्याकालके बादलोंसे आच्छादित ही हो रहा हो ॥ ६२ ॥

इन्द्रनीलोपलैः सौधकूटलग्नैर्विलङ्घितम् । स्फुरद्भिर्ज्योतिषां चक्रं यत्र नालक्ष्यतस्त्वरे ॥ ६३ ॥

वहाँके राजमहलोंके शिखरोंमें लगे हुए देदीप्यमान इन्द्रनीलमणियोंसे छिपा हुआ ज्योतिश्चक्र आकाशमें दिखाई ही नहीं पड़ता था ॥ ६३ ॥

गिरिकूटतटानीव सौधकूटानि शारदाः । घना यत्राश्रयन्ति स्म सून्नतः कस्य नाश्रयः ॥ ६४ ॥

उस नगरीके राजमहलोंके शिखर पर्वतोंके शिखरोंके समान बहुत ही ऊँचे थे और उनपर शरद् ऋतुके मेघ आश्रय लेते थे सो ठीक ही है क्योंकि जो अतिशय उन्नत (ऊँचा या उदार) होता है वह किसका आश्रय नहीं होता? ॥ ६४ ॥

प्राकारवरयो यस्याश्चामीकरमयोऽभवत् । मणिरत्नप्रभालक्ष्मीं श्रियं मेरौरिवाहसत् ॥ ६५ ॥

उस नगरीका सुवर्णसे बना हुआ परकोटा ऐसा अच्छा शोभायमान हो रहा था मानो अपनेमें जड़े हुए रत्नोंकी किरणोंसे सुमेरु पर्वतकी शोभाकी हँसी ही कर रहा हो ॥ ६५ ॥

यत्खातिका महाम्भोधेर्लीलां यादोभिरुद्धतैः । धत्ते स्म क्षुभितालोलकल्लोलावर्तभीषणा ॥ ६६ ॥

अयोध्यापुरीकी परिखा उद्धत हुए जलचर जीवोंसे सदा क्षोभको प्राप्त होती रहती थी और चंचल लहरों तथा भँवरोंसे भयंकर रहती थी इसलिए किसी बड़े भारी समुद्रकी लीला धारण करती थी ॥ ६६ ॥

जिनप्रसवभूमित्वाद् या शुद्धाकरभूमिवत् । सूते स्म पुरुषानर्घ्यमहारत्नानि कोटिशः ॥ ६७ ॥

भगवान वृषभदेवकी जन्मभूमि होनेसे वह नगरी शुद्ध खानिकी भूमिके समान थी और उसने करोड़ों पुरुषरूपी अमूल्य महारत्न उत्पन्न भी किये थे ॥ ६७ ॥

यस्याश्च बहिरुद्यानैर्नानानोकहाकुलैः । फलच्छायाप्रदैः कल्पतरुच्छाया समं व्यधुः ॥ ६८ ॥

अनेक प्रकारके फल तथा छाया देनेवाले और अनेक प्रकारके वृक्षोंसे भरे हुए वहाँके बाहरी उपवनोंने कल्पवृक्षोंकी शोभा तिरस्कृत कर दी थी ॥ ६८ ॥

यस्याः पर्यन्तमावेष्ट्य स्थिता सा सरयूनदी । लक्ष्णपुलिनसंसुप्तसारसा हंसनादिनी ॥ ६९ ॥

उसके समीपवर्ती प्रान्तको घेरकर सरयू नदी स्थित थी जिसके सुन्दर किनारोंपर सारस पक्षी सो रहे थे और हंस मनोहर शब्द कर रहे थे ॥ ६९ ॥

यां प्राहुर्यरिदुर्लक्ष्यामयोध्यां योधसंकुलाम् । विनीताखण्डमध्यस्था या तन्नाभिरिवाबभौ ॥ ७० ॥

वह नगरी अन्य शत्रुओं द्वारा अजेय थी और स्वयं अनेक योद्धाओंसे भरी हुई थी इसीलिए लोग उसे 'अयोध्या' (जिससे कोई युद्ध नहीं कर सके) कहते थे। उसका दूसरा नाम विनीता भी था और वह आर्यखण्डके मध्यमें स्थित थी इसलिए उसकी नाभिके समान शोभायमान हो रही थी ॥ ७० ॥

तामारुध्य पुरीं विष्वगनीकानि सुधाशिनाम् । तस्थुर्जगन्ति तच्छोभामागतानीव वीक्षितुम् ॥ ७१ ॥

देवोंकी सेनाएँ उस अयोध्यापुरीको चारों ओरसे घेरकर ठहर गयी थीं जिससे ऐसी मालूम होती थी मानो उसकी शोभा देखनेके लिए तीनों लोक ही आ गये हों ॥ ७१ ॥

ततः कतिपयैर्देवैर्देवमादाय सादरम् । प्रविशेश गृहं शक्रः परार्ध्यश्रीपरम्परम् ॥ ७२ ॥

तत्पश्चात् इन्द्रने भगवान् वृषभदेवको लेकर कुछ देवोंके साथ उत्कृष्ट लक्ष्मीसे सुशोभित महाराज नाभिराजके घरमें प्रवेश किया ॥ ७२ ॥

तत्रात्मरचितानेकविन्यासे श्रीगृहाङ्गणे । हर्म्याग्रे स कुमारं तं सौधर्मेन्द्रो न्यवीविशत् ॥ ७३ ॥

और वहाँ जहाँपर देवोंने अनेक प्रकारकी सुन्दर रचना की है ऐसे श्रीगृहके आँगनमें बालकरूपधारी भगवानको सिंहासनपर विराजमान किया ॥ ७३ ॥

> नाभिराजः समुत्क्षिप्तपुलकं गात्रमुद्वहन् । प्रीतिविस्फारिताक्षस्तं ददर्श प्रियदर्शनम् ॥ ७४ ॥

महाराज नाभिराज उन प्रियदर्शन भगवानको देखने लगे, उस समय उनका सारा शरीर रोमांचित हो रहा था, नेत्र प्रीतिसे प्रफुल्लित तथा विस्तृत हो रहे थे ॥ ७४ ॥

> मायानिद्रामपास्य देवी शच्या प्रबोधिता । देवीभिः सममैक्षिष्ट प्रहृष्टा जगतां पतिम् ॥ ७५ ॥

मायामयी निद्रा दूर कर इन्द्राणीके द्वारा प्रबोधको प्राप्त हुई माता मरुदेवी भी हर्षितचित्त होकर देवियोंके साथ-साथ तीनों जगत्के स्वामी भगवान वृषभदेवको देखने लगीं ॥ ७५ ॥

> तेजःपुञ्जमिवोद्भूतं सापश्यत् स्वसुतं सती । बालार्केणेव [सा] तेन दिगैन्द्रीव व्यदीप्यत ॥ ७६ ॥

वह सती मरुदेवी अपने पुत्रको उदय हुए तेजके पुंजके समान देख रही थी और वह उससे ऐसी सुशोभित हो रही थी जैसी कि बालसूर्यसे पूर्व दिशा सुशोभित होती है ॥ ७६ ॥

> शच्या समं च नाकेशं तावद्राशी जगद्गुरोः । पितरौ नितरां प्रीतौ वीक्षन्ते स्म कृतार्थिनौ ॥ ७७ ॥

जिनके मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं ऐसे जगद्गुरु भगवान वृषभदेवके माता-पिता अतिशय प्रसन्न होते हुए इन्द्राणीके साथ-साथ इन्द्रको देखने लगे ॥ ७७ ॥

> ततस्तौ जगतां पूज्यौ पूजयामास सादरः । विचित्रैर्भूषणैः स्रग्भिरंशुकैश्च महार्घकैः ॥ ७८ ॥

तदनन्तर इन्द्रने नाना प्रकारके आभूषणों, मालाओं और बहुमूल्य वस्त्रोंसे उन जगत्पूज्य माता-पिताकी पूजा की ॥ ७८ ॥

तौ प्रीतः प्रशंसन् वै सौधर्मेन्द्रः कृतीः समस्तान् । युवां पुण्यधुरीणौ स्तो ययोर्लोकाग्रणीः सुतः ॥ ७९ ॥

फिर वह सौधर्म स्वर्गका इन्द्र अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उन दोनोंकी इस प्रकार स्तुति करने लगा कि आप दोनों पुण्यके धनसे सहित हैं तथा बड़े ही धन्य हैं क्योंकि समस्त लोकमें श्रेष्ठ पुत्र आपके ही हुआ है ॥ ७९ ॥

युवामेव महाभागौ युवां कल्याणभागिनौ । युवां न प्रति लोकेऽस्ति युवामपि गुरोर्गुरू ॥ ८० ॥

इस संसारमें आप दोनों ही महाभाग्यशाली हैं, आप दोनों ही अनेक कल्याणोंको प्राप्त होनेवाले हैं और लोकमें आप दोनोंकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है, क्योंकि आप जगत्के गुरुके भी गुरु अर्थात् माता-पिता हैं ॥ ८० ॥

भो नाभिराज सत्यं त्वं समृद्धोदयाचलः । देवी प्राच्येव यज्ज्योतिरेषा वः परमुद्बभौ ॥ ८१ ॥

हे नाभिराज, सच है कि आप ऐश्वर्यशाली उदयाचल हैं और रानी मरुदेवी पूर्व दिशा है क्योंकि यह पुत्ररूपी परम ज्योति आपसे ही उत्पन्न हुई है ॥ ८१ ॥

देवधिष्ण्यमिवागारमिदमावयोः सदा । युवां च नः शश्वत् पितरौ जगतां पितुः ॥ ८२ ॥

अतएव आपका यह घर हम लोगोंके लिए जिनालयके समान पूज्य है और आप जगत्पिताके भी माता-पिता हैं इसलिए हम लोगोंको सदा पूज्य हैं ॥ ८२ ॥

इत्यभिष्टूय तौ देवं च समर्प्य तयोः करे । शतक्रतुः क्षणं तस्थौ कुर्वंस्तामेव संकथाम् ॥ ८३ ॥

इस प्रकार इन्द्रने माता-पिताकी स्तुति कर उनके हाथोंमें भगवानको सौंप दिया और फिर उन्हींके जन्माभिषेककी उत्तम कथा कहता हुआ वह क्षण-भर वहींपर खड़ा रहा ॥ ८३ ॥

तौ तस्माद् यथावृत्तमावेदितजिनोत्सवौ । प्रमदस्य परां कोटिमारूढौ विस्मयस्य च ॥ ८४ ॥

इन्द्रके द्वारा जन्माभिषेककी सब कथा मालूम कर माता-पिता दोनों ही हर्ष और आश्चर्यकी अन्तिम सीमापर आरूढ़ हुए ॥ ८४ ॥

> जातकर्मोत्सवं भूयश्चक्रतुस्तौ शतक्रतोः । लब्ध्वानुमतिमिन्द्रस्य समं पौरजनैरपि ॥ ८५ ॥

माता-पिताने इन्द्रकी अनुमति प्राप्त कर अनेक उत्सव करनेवाले पुरवासी लोगोंके साथ-साथ बड़ी विभूतिसे भगवानका फिर भी जन्मोत्सव किया ॥ ८५ ॥

> सा केतुमालिकाकीर्णा पुरी साकेतसाह्वया । तदाऽऽसीत् स्वर्गमाह्वातुं संकुलेवासकोतुका ॥ ८६ ॥

उस समय पताकाओंकी पंक्तिसे भरी हुई वह अयोध्यानगरी ऐसी मालूम होती थी मानो कौतुकवश स्वर्गको बुलानेके लिए इशारा ही कर रही हो ॥ ८६ ॥

> पुरी स्वर्गपुरीवासी समाः पौरा दिवौकसाम् । तदा संभूषिताः पुरनार्योऽप्सरसः समाः ॥ ८७ ॥

उस समय वह अयोध्या नगरी स्वर्गपुरीके समान जान पड़ती थी, नगरवासी लोग देवोंके तुल्य जान पड़ते थे और अनेक वस्त्राभूषण धारण किये हुई नगरनिवासिनी स्त्रियाँ अप्सराओंके समान जान पड़ती थीं ॥ ८७ ॥

> धूपामोदैर्दिशो व्याप्ताः पटवासैस्ततं नभः । संगीतमुरजध्वानैर्दिचक्रं बधिरीकृतम् ॥ ८८ ॥

धूपकी सुगन्धिसे सब दिशाएँ भर गयी थीं, सुगन्धित चूर्णसे आकाश व्याप्त हो गया था और संगीत तथा मृदंगोंके शब्दसे समस्त दिशाएँ बहरी हो गयी थीं ॥ ८८ ॥

> पुरवीध्यस्तदाऽभूवन् रत्नचूर्णैर्विभूषिताः । निरुद्धातपसंपाताः प्रचलोकेतनांशुकैः ॥ ८९ ॥

उस समय नगरकी सब गलियाँ रत्नोंके चूर्णसे अलंकृत हो रही थीं और हिलती हुई पताकाओंके वस्त्रोंसे उनमें धूपका आना रुक गया था ॥ ८९ ॥

> चलत्पताकामाबद्धतोरणान्वितगोपुरम् । कृतरूपशोभमारब्धसंगीतरवरुद्धदिक् ॥ ९० ॥

उस समय उस नगरमें सब स्थानोंपर पताकाएँ हिल रही थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह नगर नृत्य ही कर रहा हो। उसके गोपुर-दरवाजे बँधे हुए तोरणोंसे शोभायमान हो रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानों वह अपने मुखकी सुन्दरता ही दिखला रहा हो ॥ ९० ॥

> प्रनृत्यदिव सौमुख्यमिव तद्दधत् पुरी । सनेपथ्यमिवानन्दात् प्रजल्पदिव चाभवत् ॥ ९१ ॥

जगह-जगह वह नगर सजाया गया था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वस्त्राभूषण ही धारण किये हो और प्रारम्भ किये हुए संगीतके शब्दसे उस नगरकी समस्त दिशाएँ भर रही थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह परस्परमें बातचीत ही कर रहा हो अथवा गा रहा हो ॥ ९१ ॥

> प्रवृत्तैर्गीतनृत्यैश्च वाद्यैश्च बहुमंगलैः । संसक्तः पौरजनः सर्वोऽप्यासीदानन्दनिर्भरः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार आनन्दसे भरे हुए समस्त पुरवासी जन गीत, नृत्य, वादित्र तथा अन्य अनेक मंगल-कार्योंमें व्यग्र हो रहे थे ॥ ९२ ॥

> नासीत् कश्चिद् दरिद्रोऽत्र दीनो वाऽत्र न कोऽपि च । नासीत् कोऽप्यपूर्णकामों न तदा कोऽप्यकौतुकः ॥ ९३ ॥

उस समय उस नगरमें न तो कोई दीन रहा था, न निर्धन रहा था, न कोई ऐसा ही रहा था जिसकी इच्छाएँ पूर्ण नहीं हुई हों और न कोई ऐसा ही था जिसे आनन्द उत्पन्न नहीं हुआ हो ॥ ९३ ॥

> सप्रमोदमयं विश्वमित्यातन्वन्महोत्सवः । यथा मेरौ तथैवास्मिन् पुरे सान्तःपुरेऽभवत् ॥ ९४ ॥

इस तरह सारे संसारको आनन्दित करनेवाला वह महोत्सव जैसा मेरु पर्वतपर हुआ था वैसा ही अन्तःपुरसहित इस अयोध्यानगरमें हुआ ॥ ९४ ॥

दृष्ट्वा प्रमुदितं तेषां हृष्टः प्रमोदं प्रकाशयन् । संक्रन्दनो मनोवृत्तिमानन्दानन्दनाटके ॥ ९५ ॥

उन नगरवासियोंका आनन्द देखकर अपने आनन्दको प्रकाशित करते हुए इन्द्रने आनन्द नामक नाटक करनेमें अपना मन लगाया ॥ ९५ ॥

कृतारम्भे महेन्द्रस्य प्रवृत्तः संगीतविस्तरः । गन्धर्वस्तद्विधानज्ञैर्मार्द्गौपवहनादिभिः ॥ ९६ ॥

ज्यों ही इन्द्रने नृत्य करना प्रारम्भ किया त्यों ही संगीत-विद्याके जाननेवाले गन्धर्वोंने अपने बाजे वगैरह ठीक कर विस्तारके साथ संगीत करना प्रारम्भ कर दिया ॥ ९६ ॥

कृतानुकरणं नाट्यं तत्प्रयोज्यं गुणान्वितम् । स चागमो महेन्द्राणां यथान्यायमनुस्मृतः ॥ ९७ ॥

पहले किसीके द्वारा किये हुए कार्यका अनुकरण करना नाट्य कहलाता है, वह नाट्य, नाट्यशास्त्रके अनुसार ही करनेके योग्य है और उस नाट्यशास्त्रको इन्द्र देव ही अच्छी तरह जानते हैं ॥ ९७ ॥

वस्तृणां तत्प्रयोक्तृत्वे लालित्यं वच्य वर्ण्यते । पात्रात्तरेऽपि संक्रान्तं यत् सतां चित्तरञ्जनम् ॥ ९८ ॥

जो नाट्य या नृत्य शिष्य-प्रतिशिष्यरूप अन्य पात्रोंमें संक्रान्त होकर भी सज्जनोंका मनोरंजन करता रहता है यदि इसे स्वयं उसका निरूपण करनेवाला ही करे तो फिर उसकी मनोहरताका क्या वर्णन करना है? ॥ ९८ ॥

ततः श्रव्यं च दृश्यं च तत्प्रयुक्तं महात्मनाम् । पाठ्यैर्नानाविधैश्चित्रैरङ्गाभिनयैरपि ॥ ९९ ॥

तदनन्तर अनेक प्रकारके पाठों और चित्र-विचित्र शरीरकी चेष्टाओंसे इन्द्रके द्वारा किया हुआ वह नृत्य महात्मा पुरुषोंके देखने और सुनने योग्य था ॥ ९९ ॥

विलिखितः कुतपोऽस्य क्षितिः सकुलाभोधरा । रङ्गो त्रिभुवनाभोगः सहस्राक्षो महानटः ॥ १०० ॥

उस समय अनेक प्रकारके बाजे बज रहे थे, तीनों लोकोंमें फैली हुई कुलाचलोंसहित पृथिवी ही उसकी रंगभूमि थी, स्वयं इन्द्र प्रधान नृत्य करनेवाला था ॥ १०० ॥

चतुर्दशं पर्व (भगवान् जातकर्मोत्सववर्णन - शेषांश)

> प्रेक्षका नाभिराजाद्याः समाराध्यो जगद्गुरुः । फलं त्रिवर्गसंशुद्धिः परमानन्द एव च ॥ १०१ ॥

नाभिराज आदि उत्तम-उत्तम पुरुष उस नृत्यके दर्शक थे, जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव उसके आराध्य (प्रसन्न करने योग्य) देव थे, और धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थोंकी शुद्धि तथा परमानन्दरूप मोक्षकी प्राप्ति होना ही उसका फल था ॥ १०१ ॥

> इत्येकशोऽपि संप्रीत्यै वस्तुजातमिदं सताम् । किं तु तत्सर्वसंदोहः पुण्योदयात् समागतः ॥ १०२ ॥

इन ऊपर कही हुई वस्तुओंमें-से एक-एक वस्तु भी सज्जन पुरुषोंको प्रीति उत्पन्न करनेवाली है फिर पुण्योदयसे पूर्वोक्त सभी वस्तुओंका समुदाय किसी एक जगह आ मिले तो कहना ही क्या है? ॥ १०२ ॥

> कृतं समवतारं तु त्रिवर्गफलसाधनम् । जन्माभिषेकसंबद्धं प्रायुङ्क्तानन्तरं तदा हरिः ॥ १०३ ॥

उस समय इन्द्रने पहले त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) रूप फलको सिद्ध करनेवाला गर्भावतारसम्बन्धी नाटक किया और फिर जन्माभिषेकसम्बन्धी नाटक करना प्रारम्भ किया ॥ १०३ ॥

> तदा प्रयुक्तमन्यच्च दशावतारसंभ्रमैः । दशावतारसंदर्भमधिकृत्य जिनेशिनः ॥ १०४ ॥

तदनन्तर इन्द्रने भगवानके महाबल आदि दशावतार सम्बन्धी वृत्तान्तको लेकर अनेक रूप दिखलानेवाले अन्य अनेक नाटक करना प्रारम्भ किये ॥ १०४ ॥

> तत्प्रयोगविधौ पूर्वं पूर्वरङ्गं समाहितः । प्रारेभे मञ्चबाधानां विघाताय समाहितः ॥ १०५ ॥

उन नाटकोंका प्रयोग करते समय इन्द्रने सबसे पहले, विघ्नोंका नाश करनेके लिए मंगलाचरण किया और फिर सावधान होकर पूर्वरंगका प्रारम्भ किया ॥ १०५ ॥

पूर्वरङ्गप्रसङ्गेन पुष्पाञ्जलिपुरःसरम् । ताण्डवारम्भमेवाग्रे सुरप्राग्रहोऽग्रहीत् ॥ १०६ ॥

पूर्वरंगके प्रारम्भ करते समय इन्द्रने पुष्पाञ्जलि क्षेपण करते हुए सबसे पहले ताण्डव नृत्य प्रारम्भ किया ॥ १०६ ॥

प्रयोज्य नान्दीमन्तेऽस्याः प्रविशन् रङ्गभूमिम् हरिः । उत्तमं सङ्गीतनेपथ्यं नाटयवेदावतारवित् ॥ १०७ ॥

ताण्डव नृत्यके प्रारम्भमें उसने नान्दी पाठ किया और फिर मंगल कर चुकनेके बाद रंग-भूमिमें प्रवेश किया। उस समय नाट्यशास्त्रको जाननेवाला और मंगलमय वस्त्राभूषण धारण करनेवाला वह इन्द्र बहुत ही शोभायमान हो रहा था ॥ १०७ ॥

स रङ्गाङ्गणमासाद्य वैशाखस्थानमास्थितः । लोकस्कन्ध इवोद्भूतो मरुद्भरभितो वृतः ॥ १०८ ॥

जिस समय वह रंग-भूमिमें अवतीर्ण हुआ था उस समय वह वैशाख-आसनसे खड़ा हुआ था अर्थात् पैर फैलाकर अपने दोनों हाथ कमरपर रखे हुए था और चारों ओरसे मरुत् अर्थात् देवोंसे घिरा हुआ था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानों मरुत् अर्थात् वातवलयोंसे घिरा हुआ लोकस्कन्ध ही हो ॥ १०८ ॥

रङ्गमध्यगतो रेजे क्षिपन् पुष्पाञ्जलिं हरिः । विभजन्निव पीतावशेषनाट्यरसं स्वयम् ॥ १०९ ॥

रंग-भूमिके मध्यमें पुष्पाञ्जलि बिखेरता हुआ वह इन्द्र ऐसा भला मालूम होता था मानो अपने पान करनेसे बचे हुए नाट्यरसको दूसरोंके लिए बाँट ही रहा हो ॥ १०९ ॥

लक्षितोच्चैर्नेपथ्यो लसन्नयनसन्ततिः । स बभौ कल्पशाखीव सप्रसूनसमूषणः ॥ ११० ॥

वह इन्द्र अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषणोंसे शोभायमान था और उत्तम नेत्रोंका समूह धारण कर रहा था इसलिए पुष्पों और आभूषणोंसे सहित किसी कल्पवृक्षके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ११० ॥

पुष्पाञ्जलिः पतन् रेजे मत्तालिभिरनुद्रुतः । ददृशे यत्र वृत्रघ्नः कल्माषितनभोऽङ्गणः ॥ १११ ॥

जिसके पीछे अनेक मदोन्मत्त भौंरे दौड़ रहे हैं ऐसी वह पड़ती हुई पुष्पाञ्जलि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आकाशको चित्र-विचित्र करनेवाला इन्द्रके नेत्रोंका समूह ही हो ॥ ११११ ॥

> स्फुरन्ती परितस्तार तारास्य नयनावली । यवनिकाच्छदप्रख्या रङ्गभूमेर्बभौ श्रियम् ॥ ११२ ॥

बड़े-बड़े नेत्रोंकी पंक्तियोंकी यवनिका (परदा) की शोभा धारण करनेवाली अपनी फैलती हुई प्रभासे रंगभूमिको चारों ओरसे आच्छादित कर रही थी ॥ ११२ ॥

> तालबद्धैः पदविक्षेपैः समन्ताद्रङ्गमण्डपे । परिक्रामन्नसौ रेजे विमानेनेव काश्यपीम् ॥ ११३ ॥

वह इन्द्र तालके साथ-साथ पैर रखकर रंगभूमिके चारों ओर घूमता हुआ ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो पृथिवीको नाप ही रहा हो ॥ ११३ ॥

> कृतपुष्पाञ्जलेरस्य ताण्डवारम्भसंभ्रमे । पुष्पवर्षं दिवो मुमुचुः सुरास्तद्भक्तिहर्षिताः ॥ ११४ ॥

जब इन्द्रने पुष्पाञ्जलि क्षेपण कर ताण्डव नृत्य करना प्रारम्भ किया तब उसकी भक्तिसे प्रसन्न हुए देवोंने स्वर्ग अथवा आकाशसे पुष्पवृष्टि की थी ॥ ११४ ॥

> तदा पुष्करवाद्यानि सर्वाण्यपि दध्वनुः क्रमात् । दिक्प्रान्तेषु प्रतिध्वानमातन्वानानि कोटिशः ॥ ११८ ॥

उस समय दिशाओंके अन्तभाग तक प्रतिध्वनिको विस्तृत करते हुए पुष्कर आदि करोड़ों बाजे एक साथ गम्भीर शब्दोंसे बज रहे थे ॥ ११८ ॥

> वीणा च मधुरमाराद् वल्गु वंशा रराणिषुः । समतालप्रबन्धाश्च समं तालैरराणिषुः ॥ ११६ ॥

वीणा भी मनोहर शब्द कर रही थी, मनोहर मुरली भी मधुर शब्दोंसे बज रही थी और उन बाजोंके साथ-ही-साथ तालसे सहित संगीतके शब्द हो रहे थे ॥ ११६ ॥

> उपवादकवाद्यानि परिवादकवादितैः । युक्तानि संगतास्तेव साङ्गत्यं हि सयोनिषु ॥ ११७ ॥

वीणा बजानेवाले मनुष्य जिस स्वर वा लयसे वीणा बजा रहे थे, साथके अन्य बाजोंके बजानेवाले मनुष्य भी अपने-अपने बाजोंको उसी स्वर वा शैलीसे मिलाकर बजा रहे थे सो ठीक ही है एक-सी वस्तुओंमें मिलाप होना ही चाहिए ॥ ११७ ॥

> काकलीकलमव्यक्ततारमूर्च्छनमुज्जगौ । तदोपवीणयन्तीभिः किन्नरीभिरनुल्बणम् ॥ ११८ ॥

उस समय वीणा बजाती हुई किन्नरदेवियाँ कोमल, मनोहर, कुछ-कुछ गम्भीर, उच्च और सूक्ष्मरूपसे गा रही थीं ॥ ११८ ॥

> ध्वनन् मधुरं मौखं संबन्धं प्राप्य शिष्यवत् । वृत्तं वंशोचितं वंशे प्रयोगेष्वविवादिभिः ॥ ११९ ॥

जिस प्रकार उत्तम शिष्य गुरुका उपदेश पाकर मधुर शब्द करता है और अनुमानादिके प्रयोगमें किसी प्रकारका वाद-विवाद नहीं करता हुआ अपने उत्तम वंश (कुल) के योग्य कार्य करता है उसी प्रकार वंशी आदि बाँसोंके बाजे भी मुखका सम्बन्ध पाकर मनोहर शब्द कर रहे थे और नृत्य-संगीत आदिके प्रयोगमें किसी प्रकारका विवाद (विरोध) नहीं करते हुए अपने वंश (बाँस) के योग्य कार्य कर रहे थे ॥ ११९ ॥

> प्रयुज्य शुद्धां सधवा पूर्वरङ्गमनुक्रमात् । करणैरङ्गहारैश्च चित्रं प्रायुङ्क्त तं पुनः ॥ १२० ॥

इस प्रकार इन्द्रने पहले तो शुद्ध (कार्यान्तरसे रहित) पूर्वरंगका प्रयोग किया और फिर करण (हाथोंका हिलाना) तथा अंगहार (शरीरका मटकाना) के द्वारा विविधरूपमें उसका प्रयोग किया ॥ १२० ॥

> चित्रैश्च रेचकैः पादकटिकण्ठकराञ्चलैः । ननाट ताण्डवं शक्रः प्रदर्शयन् रसमूर्जितम् ॥ १२१ ॥

वह इन्द्र पाँव, कमर, कण्ठ और हाथोंको अनेक प्रकारसे घुमाकर उत्तम रस दिखलाता हुआ ताण्डवरूप नृत्य कर रहा था ॥ १२१ ॥

> तस्मिन् बाहुसहस्राणि विकृत्य प्रनृत्यति । धरा चरणविन्यासैः स्फुटन्तीव तदाचलत् ॥ १२२ ॥

जिस समय वह इन्द्र विक्रियासे हज़ार भुजाएँ बनाकर नृत्य कर रहा था, उस समय पृथिवी उसके पैरोंके रखनेसे हिलने लगी थी मानों फट रही हो ॥ १२२ ॥

> चेलुश्च कुलाद्रयः सम्यक् तृणानामिव राशयः । प्रभूज्जलाधिरुद्वेलः प्रमदादिव निस्स्वनन् ॥ १२३ ॥

कुलाचल तृणोंकी राशिके समान चंचल हो उठे थे और समुद्र भी मानो आनन्दसे शब्द करता हुआ लहराने लगा था ॥ १२३ ॥

> लसद्बाहुमहोत्सर्पिप्रविग्रहः सुरनायकः । कल्पद्रुम इवाभासीच्चलदुत्सुकभूषणः ॥ १२४ ॥

उस समय इन्द्रकी विस्तृत भुजाएँ बड़ी ही मनोहर थीं, वह स्वयं ही बहुत ऊँचा था और हिलते हुए वस्त्र तथा आभूषणोंसे सहित था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो जिसकी शाखाएँ हिल रही हैं, जो बहुत ऊँचा है और जो हिलते हुए वस्त्र तथा आभूषणोंसे सुशोभित है ऐसा कल्पवृक्ष ही नृत्य कर रहा हो ॥ १२४ ॥

> चलन्मौलिप्रभाभासा परिवेषेण भूस्तलम् । तदा विदीप्यते विद्युत्सहस्रैरिव सर्वतः ॥ १२५ ॥

उस समय इन्द्रके हिलते हुए मुकुटमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंके मण्डलसे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो हज़ारों बिजलियोंसे ही व्याप्त हो रहा हो ॥ १२५ ॥

> विक्षिप्ता बाहुविक्षेपैस्तारकाः परितोऽभ्रमन् । भ्रमणाविद्धविच्छिन्नहारमुक्ताफलश्रियः ॥ १२६ ॥

नृत्य करते समय इन्द्रकी भुजाओंके विक्षेपसे बिखरे हुए तारे चारों ओर फिर रहे थे और ऐसे मालूम होते थे मानो फिरकी लगानेसे टूटे हुए हारके मोती ही हों ॥ १२६ ॥

> नृत्यतोऽस्य भुजोल्लासैः पयोदाश्चाभिघातिताः । पयोलवच्च्युतो मुञ्चन् मुदाऽश्रूणीव सर्वतः ॥ १२७ ॥

नृत्य करते समय इन्द्रकी भुजाओंके विस्तारसे टकराये हुए तथा पानीकी छोटी-छोटी बूँदें छोड़ते हुए मेघ ऐसे मालूम होते थे मानो आनन्दके आँसू ही छोड़ रहे हों ॥ १२७ ॥

> रेचकेषु चलन्मौलिप्रोच्छलन्मणिरोतयः । वेगाविद्धाः समं भ्रमुरलातवलयायिताः ॥ १२८ ॥

नृत्य करते-करते जब कभी इन्द्र फिरकी लेता था तब उसके वेगके आवेशसे फिरती हुई उसके मुकुटके मणियोंकी पंक्तियाँ अलातचक्रकी नाईं भ्रमण करने लगती थीं ॥ १२८ ॥

> नृत्तक्षोभान्महीक्षोभे क्षुभिता जलराशयः । क्षालयन्ति स्म दिग्भित्तीः क्षोभ्यच्छज्जलशीकरैः ॥ १२९ ॥

इन्द्रके उस नृत्यके क्षोभसे पृथिवी क्षुब्ध हो उठी थी, पृथिवीके कम्पित होनेसे समुद्र भी क्षुभित हो उठे थे और उछलते हुए जलके कणोंसे दिशाओंकी भित्तियोंका प्रक्षालन करने लगे थे ॥ १२९ ॥

> क्षणादेकः क्षणात् सर्वः क्षणाद् व्यापी क्षणादणुः । क्षणादारात् क्षणाद् दूरे क्षणाद् व्योम्नि क्षणाद् भुवि ॥ १३० ॥

नृत्य करते समय वह इन्द्र क्षण-भरमें एक रह जाता था, क्षण-भरमें अनेक हो जाता था, क्षण-भरमें सब जगह व्याप्त हो जाता था, क्षण-भरमें छोटा-सा रह जाता था, क्षण-भरमें पास ही दिखाई देता था, क्षण-भरमें दूर पहुँच जाता था, क्षण-भरमें आकाशमें दिखाई देता था, और क्षण-भरमें फिर ज़मीनपर आ जाता था ॥ १३० ॥

> इति प्रतन्वतात्मीयं सामर्थ्यं विक्रियोत्थितम् । इन्द्रजालमिवेन्द्रेण प्रयुक्तमभवत् तदा ॥ १३१ ॥

इस प्रकार विक्रियासे उत्पन्न हुई अपनी सामर्थ्यको प्रकट करते हुए उस इन्द्रने उस समय ऐसा नृत्य किया था मानो इन्द्रजालका खेल ही किया हो ॥ १३१ ॥

> नेदुरप्सरसः शक्रभुजशाखासु सस्मिताः । सलीलललतोत्क्षेपमङ्गहारैश्च सञ्चिताः ॥ १३२ ॥

इन्द्रकी भुजारूपी शाखाओंपर मन्द-मन्द हँसती हुई अप्सराएँ लीलापूर्वक भौंहरूपी लताओंको चलाती हुई, शरीर हिलाती हुई और सुन्दरतापूर्वक पैर उठाती रखती हुई (थिरक-थिरककर) नृत्य कर रही थीं ॥ १३२ ॥

वर्धमानकयैः काश्चित् ताण्डवनृत्यकैः । ननृतुः सुरनर्तक्यश्चित्रैरभिनयैस्तदा ॥ १३३ ॥

उस समय कितनी ही देवनर्तकियाँ वर्धमान लयके साथ, कितनी ही ताण्डव नृत्यके साथ और कितनी ही अनेक प्रकारके अभिनय दिखाती हुई नृत्य कर रही थीं ॥ १३३ ॥

काश्चिदैरावतं पिण्डीं बद्ध्वामराङ्गनाः । प्रानर्तिषुः सुविभ्रान्ताः पिण्ड्यादीन् बिभ्रतीस्तदा ॥ १३४ ॥

कितनी देवियाँ बिजलीका और कितनी ही इन्द्रका शरीर धारण कर नाट्यशास्त्रके अनुसार पिण्डी तथा विभ्रान्त दिखलाती हुई नृत्य कर रही थीं ॥ १३४ ॥

कल्पद्रुमस्य सदृशाः कल्पवल्ल्य इवामराः । रेजिरे सुरराजस्य बाहुशाखासु तास्तदा ॥ १३५ ॥

उस समय इन्द्रकी भुजारूपी शाखाओंपर नृत्य करती हुई वे देवियाँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो कल्पवृक्षकी शाखाओंपर लिपटी हुई कल्पलताएँ ही हों ॥ १३५ ॥

स ताभिः सममारब्धरेचको व्यरुचत्तराम् । चक्रान्दोल इव श्रीमान् चलन्मुकुटशेखरः ॥ १३६ ॥

वह श्रीमान् इन्द्र नृत्य करते समय उन देवियोंके साथ जब फिरकी लगाता था तब उसके मुकुटका सेहरा भी हिल जाता था और वह ऐसा शोभायमान होता था मानों कोई चक्र ही घूम रहा हो ॥ १३६ ॥

सहस्राक्षसमुत्फुल्लविकसत्पद्मजाकरे । ताः पद्मिन्य इवाभूवन् स्मेरवक्त्राम्बुजश्रियः ॥ १३७ ॥

हजार नेत्रोंको धारण करनेवाला वह इन्द्र फूले हुए विकसित कमलोंसे सुशोभित तालाबके समान जान पड़ता था और मन्द-मन्द हँसते हुए मुखरूपी कमलोंकी शोभाको धारण करनेवाली, भुजाओंपर नृत्य करनेवाली वे देवियाँ कमलिनियोंके समान जान पड़ती थीं ॥ १३७ ॥

स्मितांशुभिर्विमिश्राणि तद्वक्त्राणि चकासिरे । विकस्वराणि पद्मानि प्लुतानीवामृतप्लवैः ॥ १३८ ॥

मन्द हास्यकी किरणोंसे मिले हुए उन देवियोंके मुख ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो अमृतके प्रवाहमें डूबे हुए विकसित कमल ही हों ॥ १३८ ॥

> कुलशैलायितानस्य भुजानध्यास्य योषितः । रेजिरे परिनृत्यन्त्यो मूर्तिमन्त्य इव श्रियः ॥ १३९ ॥

कितनी ही देवियाँ कुलाचलोंके समान शोभायमान उस इन्द्रकी भुजाओंपर आरूढ़ होकर नृत्य कर रही थीं और ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो शरीरधारिणी लक्ष्मी ही हों ॥ १३९ ॥

> ऐरावतायतालापस्तम्भवृत्तिसमायतान् । अध्यासीना भुजानस्य वीरलक्ष्म्य इवापराः ॥ १४० ॥

ऐरावत हाथीके बाँधनेके खम्भेके समान लम्बी इन्द्रकी भुजाओंपर आरूढ़ होकर कितनी ही देवियाँ नृत्य कर रही थीं और ऐसी मालूम होती थीं मानो कोई अन्य वीर-लक्ष्मी ही हों ॥ १४० ॥

> हारमुक्ताफलेष्वन्याः संक्रान्तप्रतियातनाः । ननृतुर्बहुरूपिण्यो विद्या इव विडौजसः ॥ १४१ ॥

नृत्य करते समय कितनी ही देवियोंका प्रतिबिम्ब हारके बड़े-बड़े मोतियोंपर पड़ता था जिससे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो इन्द्रकी बहुरूपिणी विद्या ही नृत्य कर रही हो ॥ १४१ ॥

> सुगुल्फं पाणिभिः शक्रस्य न्यस्यन्त्यः क्रमपल्लवान् । सलीलं च नटन्त्यन्याः सूचीनाट्यमिवास्थिताः ॥ १४२ ॥

कितनी ही देवियाँ इन्द्रके हाथोंकी अँगुलियोंपर अपने चरण-पल्लव रखती हुई लीलापूर्वक नृत्य कर रही थीं और ऐसी मालूम होती थीं मानों सूचीनाट्य (सूईकी नोकपर किया जानेवाला नृत्य) ही कर रही हों ॥ १४२ ॥

> अङ्गुलीः करशाखानां सुपर्वाङ्घ्रिदिवेशिनः । वंशयष्टीरिवारुह्य तदग्रे प्रापि ताः पुनः ॥ १४३ ॥

कितनी ही देवियाँ सुन्दर पर्वसहित इन्द्रकी अँगुलियोंके अग्रभागपर अपनी नाभि रखकर इस प्रकार फिरकी लगा रही थीं मानों किसी बाँसकी लकड़ीपर चढ़कर उसके अग्रभागपर नाभि रखकर मनोहर फिरकी लगा रही हों ॥ १४३ ॥

प्रतिबाहुममरेन्द्रस्य संप्नवन्त्योऽमराङ्गनाः । लीलया संचरन्ति स्म पाटयन्त्योऽक्षिसंकुलम् ॥ १४४ ॥

देवियाँ इन्द्रकी प्रत्येक भुजापर नृत्य करती हुई और अपने नेत्रोंके कटाक्षोंको फैलाती हुई बड़े यत्नसे संचार कर रही थीं ॥ १४४ ॥

स्फुटन्तीव दृशोत्पाते कपोलेषु स्फुरन्निव । प्रसरन्निव पादेषु करेषु विलसन्निव ॥ १४५ ॥

उस समय उत्सवको बढ़ाता हुआ वह नाट्यरस उन देवियोंके शरीरमें खूब ही बढ़ रहा था और ऐसा मालूम होता था मानों उनके कटाक्षोंमें प्रकट हो रहा हो, कपोलोंमें स्फुरायमान हो रहा हो, पैरोंमें फैल रहा हो, हाथोंमें विलास कर रहा हो ॥ १४५ ॥

विहसन्निव वक्त्रेषु नेत्रेषु विकसन्निव । रज्यन्निवाङ्गरागेषु निमज्जन्निव नाभिषु ॥ १४६ ॥

मुखोंपर हँस रहा हो, नेत्रोंमें विकसित हो रहा हो, अंगरागोंमें लाल वर्ण हो रहा हो, नाभिमें निमग्न हो रहा हो ॥ १४६ ॥

चलन्निव कटीष्यासां मेखलासु स्खलन्निव । तदा नाट्यरसोऽङ्गेषु ववृधे वर्धितोत्सवः ॥ १४७ ॥

कटिप्रदेशोंपर चल रहा हो और मेखलाओंपर स्खलित हो रहा हो ॥ १४७ ॥

प्रत्यङ्गममरेन्द्रस्य याश्चेष्टा नृत्यतोऽभवन् । ता एव तेषु पात्रेषु संविभक्ता इवारुचन् ॥ १४८ ॥

नृत्य करते हुए इन्द्रके प्रत्येक अंगमें जो चेष्टाएँ होती थीं वे चेष्टाएँ अन्य सभी पात्रोंमें हो रही थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्रने अपनी चेष्टाएँ उन सबके लिए बाँट ही दी हों ॥ १४८ ॥

भावा एव ते रसा एव तदनुभावास्तदिङ्गितम् । अनुप्रवेशितो नूनमात्मा तेष्वमरेशिना ॥ १४९ ॥

उस समय इन्द्रके जैसे जो रस, भाव, अनुभाव और चेष्टाएँ थीं वे ही रस, भाव, अनुभाव और चेष्टाएँ उन सभी पात्रोंमें थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्रने अपनी आत्माको ही उनमें प्रविष्ट करा दिया हो ॥ १४९ ॥

> सोऽभ्यासस्वभुजदण्डेषु नर्तयन् सुरसुन्दरीः । दारवीः पुत्रिका यन्त्रफलकेष्विव यान्त्रिकः ॥ १५० ॥

अपने भुजदण्डोंपर देवनर्तकियोंको नृत्य कराता हुआ वह इन्द्र ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों किसी यन्त्रकी पट्टियोंपर लकड़ीकी पुतलियोंको नचाता हुआ कोई यान्त्रिक अर्थात् यन्त्र चलानेवाला हो ॥ १५० ॥

> ऊर्ध्वमुच्छलयन् व्योम्नि नटन्तीर्दर्शयन् पुनः । क्षणात् कुर्वन्नदृश्यास्ताः सोऽभून्माहेन्द्रजालिकः ॥ १५१ ॥

वह इन्द्र नृत्य करती हुई उन देवियोंको कभी ऊपर आकाशमें उछालता था, कभी सामने नृत्य करती हुई दिखला देता था और कभी क्षण-भरमें उन्हें अदृश्य कर देता था, इन सब बातोंसे वह किसी इन्द्रजालका खेल करनेवालेके समान जान पड़ता था ॥ १५१ ॥

> गुप्ताङ्गं स्वदोर्जाले पृष्ठतो दर्शयन् मुहुः । संभवान् हस्तसंचारमिवासीदाचरन् हरिः ॥ १५२ ॥

नृत्य करनेवाली देवियोंको अपनी भुजाओंके समूहपर गूढ़रूपसे जहाँ-तहाँ घुमाता हुआ वह इन्द्र हाथकी सफाई दिखलानेवाले किसी बाजीगरके समान जान पड़ता था ॥ १५२ ॥

> नर्तयन्नेकतो यूनो युवतीरन्यतो हरिः । भुजशाखासु सञ्जाते दर्शिताद्भुतविक्रियः ॥ १५३ ॥

वह इन्द्र अपनी एक ओरकी भुजाओंपर तरुण देवोंको नृत्य करा रहा था और दूसरी ओरकी भुजाओंपर तरुण देवियोंको नृत्य करा रहा था तथा अद्भुत विक्रिया शक्ति दिखलाता हुआ अपनी भुजारूपी शाखाओंपर स्वयं भी नृत्य कर रहा था ॥ १५३ ॥

> तद्भुजारङ्गभूमौ च ते च नृत्यन्ति परिक्रमैः । सुत्रामा सूत्रधारोऽभून्नाट्यवेदविदांवरः ॥ १५४ ॥

उसकी भुजारूपी रंगभूमिमें वे देव और देवांगनाएँ प्रदक्षिणा देती हुई नृत्य कर रही थीं इसलिए वह इन्द्र नाट्यशास्त्रके जाननेवाले सूत्रधारके समान मालूम होता था ॥ १५४ ॥

> दीप्तरसोदयं नृत्यं ताण्डवमेकतः । अन्यतो ललितं लास्यमन्यतः ॥ १९५ ॥

उस समय एक ओर तो दीप्त और उद्भट रससे भरा हुआ ताण्डव नृत्य हो रहा था और दूसरी ओर सुकुमार प्रयोगोंसे भरा हुआ लास्य नृत्य हो रहा था ॥ १९५ ॥

> विभिन्नरसमित्युच्चैर्दर्शयन् नाट्यमद्भुतम् । सामाजिकजने शक्रः परां प्रीतिमजीजनत् ॥ १९६ ॥

इस प्रकार भिन्न-भिन्न रसवाले, उत्कृष्ट और आश्चर्यकारक नृत्य दिखलाते हुए इन्द्रने सभाके लोगोंमें अतिशय प्रेम उत्पन्न किया था ॥ १९६ ॥

> गन्धर्वनायकारब्धविविधातोद्यसंविधिः । आनन्दनृत्यमित्युच्चैर्मघवा निरवर्तयत् ॥ १९७ ॥

इस प्रकार जिसमें श्रेष्ठ गन्धर्वोंके द्वारा अनेक प्रकारके वाद्य बजाना प्रारम्भ किया गया था ऐसे आनन्द नामक नृत्यको इन्द्रने बड़ी समझके साथ समाप्त किया ॥ १९७ ॥

> सकंसतालसमुद्देशविततध्वनिसंकुलम् । साभ्रं सरसमुद्यानं नृत्यं तदुद्यानमिवोद्बभौ ॥ १९८ ॥

उस समय वह नृत्य किसी उद्यानके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार उद्यान काँस और ताल (ताड़) वृक्षोंसहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी काँसेकी बनी हुई झाँझोंके शब्दोंसहित था, उद्यान जिस प्रकार ऊँचे-ऊँचे बाँसोंके फैलते हुए शब्दोंसे व्याप्त रहता है उसी प्रकार वह नृत्य भी उत्कृष्ट बाँसुरियोंके दूर तक फैलनेवाले शब्दोंसे व्याप्त था, उद्यान जिस प्रकार अप्सर अर्थात् जलभरे सरोवरोंसे सहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी अप्सरा अर्थात् देवनर्तकियोंसे सहित था और उद्यान जिस प्रकार सरस अर्थात् जलसे सहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी सरस अर्थात् शृंगार आदि रसोंसे सहित था ॥ १९८ ॥

> नाभिराजः स देव्या स दृष्ट्वा तन्नाट्यमद्भुतम् । विसिस्मिये परां श्लाघां प्रापञ्च सुरसत्तमैः ॥ १९९ ॥

महाराज नाभिराज मरुदेवीके साथ-साथ वह आश्चर्यकारी नृत्य देखकर बहुत ही चकित हुए और इन्द्रोंके द्वारा की हुई प्रशंसाको प्राप्त हुए ॥ १९९ ॥

यद्वृषो जगज्ज्येष्ठो वर्षिष्यति जगद्धितम् । धर्मामृतमितीन्द्रास्तमकार्षुर्वृषभाह्वयम् ॥ १६० ॥

ये भगवान वृषभदेव जगत्-भरमें ज्येष्ठ हैं और जगत्का हित करनेवाले धर्मरूपी अमृतको वर्षा करेंगे इसलिए ही इन्द्रोंने उनका वृषभदेव नाम रखा था ॥ १६० ॥

वृषेण हि विराजन्ते धर्मास्तेन यतो जिनः । ततोऽयं वृषभस्वामीत्याह्वयेत स्म पुरन्दरः ॥ १६१ ॥

अथवा वृष श्रेष्ठ धर्मको कहते हैं और तीर्थंकर भगवान उस वृष अर्थात् श्रेष्ठ धर्मसे शोभायमान हो रहे हैं इसलिए ही इन्द्रने उन्हें 'वृषभ-स्वामी' इस नामसे पुकारा था ॥ १६१ ॥

स्वर्गावतरणे दृष्टः स्वप्नेऽस्य वृषभो यतः । जनन्या वृषभं देवास्ततस्तं समजीजनन् ॥ १६२ ॥

अथवा उनके गर्भावतरणके समय माता मरुदेवीने एक वृषभ देखा था इसलिए ही देवोंने उनका 'वृषभ' नामसे आह्वान किया था ॥ १६२ ॥

पुरुदेव इति ख्यातिं बभारान्वर्थतां गताम् । पुरुहूतः स्वयं देवमाहूयन्नाख्ययानया ॥ १६३ ॥

इन्द्रने सबसे पहले भगवान् वृषभनाथको 'पुरुदेव' इस नामसे पुकारा था इसलिए इन्द्र अपने पुरुहूत (पुरु अर्थात् भगवान् वृषभदेव को बुलानेवाला) नामको सार्थक ही धारण करता था ॥ १६३ ॥

ततस्तस्य सवयोभ्यान् वेषान्सुरकुमारकान् । निरूप्य परिचर्यायै दिवं जग्मुः शचीश्वराः ॥ १६४ ॥

तदनन्तर वे इन्द्र भगवानकी सेवाके लिए समान अवस्था, समान रूप और समान वेषवाले देवकुमारोंको निश्चित कर अपने-अपने स्वर्गको चले गये ॥ १६४ ॥

धात्रीत्वेन नियोजिताश्चास्य देव्यः शक्रेण सादरम् । मज्जने मण्डने पाने संस्कारे क्रीडनेऽपि च ॥ १६५ ॥

इन्द्रने आदरसहित भगवानको स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, दूध पिलाने, शरीरके संस्कार (तेल, काजल आदि लगाना) करने और क्रीड़ा करानेके कार्यमें अनेक देवियोंको धाय बनाकर नियुक्त किया था ॥ १६५ ॥

> ततोऽसौ स्मितमातन्वन् संसर्पन् मणिभूमिषु । पित्रोर्मुदं ततानाग्रे चेष्टाभिर्लोभनान्वितः ॥ १६६ ॥

तदनन्तर आश्चर्यकारक चेष्टाओंको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेव अपनी पहली अवस्था (शैशव अवस्था) में कभी मन्द-मन्द हँसते थे और कभी मणिमयी भूमिपर अच्छी तरह चलते थे, इस प्रकार वे माता-पिताका हर्ष बढ़ा रहे थे ॥ १६६ ॥

> जगदानन्दि नेत्राणामुत्सवप्रदमूर्जितम् । कलाभिरुज्ज्वलं तदस्यासीद् बाल्यं शशिनो यथा ॥ १६७ ॥

भगवानकी वह बाल अवस्था ठीक चन्द्रमाकी बाल्य अवस्थाके समान थी, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमाकी बाल्य अवस्था जगत्को आनन्द देनेवाली होती है उसी प्रकार भगवानकी बाल्य अवस्था भी जगत्को आनन्द देनेवाली थी, चन्द्रमाकी बाल्य अवस्था जिस प्रकार नेत्रोंको उत्कृष्ट आनन्द देनेवाली होती है उसी प्रकार उनकी बाल्यावस्था भी नेत्रोंको उत्कृष्ट आनन्द देनेवाली थी और चन्द्रमाकी बाल्यावस्था जिस प्रकार कलाओंसे उज्ज्वल होती है उसी प्रकार उनकी बाल्यावस्था भी अनेक कलाओं-विद्याओंसे उज्ज्वल थी ॥ १६७ ॥

> मुग्धस्मितमभूदस्य मुखे चन्द्रिकया समम् । तेन पित्रोर्मनस्तोषजलधिर्ववृधे तराम् ॥ १६८ ॥

भगवानके मुखरूपी चन्द्रमापर मन्दहास्यरूपी निर्मल चाँदनी प्रकट रहती थी और उससे माता-पिताका सन्तोषरूपी समुद्र अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त होता रहता था ॥ १६८ ॥

> गीतबन्धः सरस्वत्या लक्ष्म्या हसितविभ्रमः । कीर्तिवल्ल्या विकासोऽस्य मुखे मुग्धस्मयोऽभवत् ॥ १६९ ॥

उस समय भगवानके मुखपर जो मनोहर मन्द हास्य प्रकट हुआ था वह ऐसा जान पड़ता था मानो सरस्वतीका गीतबन्ध अर्थात् संगीतका प्रथम राग ही हो, अथवा लक्ष्मीके हास्यकी शोभा ही हो अथवा कीर्तिरूपी लताका विकास ही हो ॥ १६९ ॥

श्रीमन्मुखाम्बुजेऽस्यासीदव्यक्तपदवाग्झरी । सरस्वतीव तद् बाल्यमनुकर्तुं तदाश्रिता ॥ १७० ॥

भगवानके शोभायमान मुख-कमलमें क्रम-क्रमसे अस्पष्ट वाणी प्रकट हुई जो कि ऐसी जान पड़ती थी मानों भगवानकी बाल्य अवस्थाका अनुकरण करनेके लिए सरस्वती देवी ही स्वयं आयी हों ॥ १७० ॥

स्खलत्पदशनैरिन्द्रनीलभूमौ विनिःसरन् । स रेजे वसुधां रक्तोत्पलैरभ्युपहारयन् ॥ १७१ ॥

इन्द्रनील मणियोंकी भूमिपर धीरे-धीरे गिरते-पड़ते पैरोंसे चलते हुए बालक भगवान् ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पृथिवीको लाल कमलोंका उपहार ही दे रहे हों ॥ १७१ ॥

रत्नपांसुषु चिक्रीड स समं सुरदारकैः । पित्रोर्मनसि सन्तोषमातन्वँल्ललिताकृतिः ॥ १७२ ॥

सुन्दर आकारको धारण करनेवाले वे भगवान् माता-पिताके मनमें सन्तोषको बढ़ाते हुए देवबालकोंके साथ-साथ रत्नोंकी धूलिमें क्रीड़ा करते थे ॥ १७२ ॥

प्रजानां गुणैराह्लादं कुर्वन् सुरहृदि प्रियः । कीर्तिज्योत्स्नापरीतश्च स बभौ बालचन्द्रमाः ॥ १७३ ॥

वे बाल भगवान चन्द्रमाके समान शोभायमान होते थे, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा अपने आह्लादकारी गुणोंसे प्रजाको आनन्द पहुँचाता है उसी प्रकार वे भी अपने आह्लादकारी गुणोंसे प्रजाको आनन्द पहुँचा रहे थे और चन्द्रमाका शरीर जिस प्रकार चाँदनीसे व्याप्त रहता है उसी प्रकार उनका शरीर भी कीर्तिरूपी चाँदनीसे व्याप्त था ॥ १७३ ॥

बालावस्थामतीतस्य तस्याभूद् रुचिरं वपुः । सुरासुरेन्द्रमुकुटैरर्चितस्याथ चक्रिणः ॥ १७४ ॥

जब भगवानकी बाल्यावस्था व्यतीत हुई तब देवोंके द्वारा पूज्य और महाप्रतापी भगवानका कुमार अवस्थाका शरीर बहुत ही सुन्दर हो गया ॥ १७४ ॥

वपुषा वृद्धिमन्वस्य गुणा ववृधिरेऽधिकाः । शुक्लपक्षशशाङ्कस्य कान्तिदीप्त्यादयो यथा ॥ १७५ ॥

जिस प्रकार चन्द्रमण्डलकी वृद्धिके साथ-साथ ही उसके कान्ति, दीप्ति आदि अनेक गुण प्रतिदिन बढ़ते जाते हैं उसी प्रकार भगवानके शरीरकी वृद्धिके साथ-साथ ही अनेक गुण प्रतिदिन बढ़ते जाते थे ॥ १७५ ॥

> वपुः कान्तं प्रिया वाणी मधुरं यच्च वीक्षितम् । जगतः प्रीतिमातेनुः सस्मितं च प्रजल्पितम् ॥ १७६ ॥

उस समय उनका मनोहर शरीर, प्यारी बोली, मनोहर अवलोकन और मुसकाते हुए बातचीत करना यह सब संसारकी प्रीतिको विस्तृत कर रहे थे ॥ १७६ ॥

> कलाश्च सकलास्तस्य ववृधुः सर्वतोदिशम् । हृदयानन्दिने लोकात् सतो यस्य जगत्पतेः ॥ १७७ ॥

जिस प्रकार जगत्के मनको हर्षित करनेवाले चन्द्रमाकी वृद्धि होनेपर उसकी समस्त कलाएँ बढ़ने लगती हैं उसी प्रकार समस्त जीवोंके हृदयको आनन्द देनेवाले जगत्पति भगवानके शरीरकी वृद्धि होनेपर उनकी समस्त कलाएँ बढ़ने लगी थीं ॥ १७७ ॥

> मतिश्रुतावधिसंज्ञानं सहोत्पन्नास्त्रयो गुणाः । ततोऽबोधि स निःशेषा विद्या लोकस्थितीरपि ॥ १७८ ॥

मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ही ज्ञान भगवानके साथ-साथ ही उत्पन्न हुए थे इसलिए उन्होंने समस्त विद्याओं और लोककी स्थितिको अच्छी तरह जान लिया था ॥ १७८ ॥

> विश्वविद्येश्वरस्यास्य विद्याः परिणताः स्वयम् । तस्य जन्मान्तराभ्यासः संस्कारः पुष्कलो यतः ॥ १७९ ॥

वे भगवान समस्त विद्याओंके ईश्वर थे इसलिए उन्हें समस्त विद्याएँ अपने-आप ही प्राप्त हो गयी थीं सो ठीक ही है क्योंकि जन्मान्तरका अभ्यास स्मरण-शक्तिको अत्यन्त पुष्ट रखता है ॥ १७९ ॥

> कलासु कौशलं श्लाघ्यं विश्वविद्यासु पाटवम् । क्रियासु कर्मशूरत्वं स भेजे शिक्षया विना ॥ १८० ॥

वे भगवान् शिक्षाके बिना ही समस्त कलाओंमें प्रशंसनीय चातुर्य, समस्त विद्याओंमें प्रशंसनीय चतुराईको और समस्त क्रियाओंमें प्रशंसनीय कर्मठता (कार्य करनेकी सामर्थ्य) को प्राप्त हो गये थे ॥ १८० ॥

वाग्जालमखिलं तस्य प्रत्यक्षं वाङ्मयं बभौ । येन विश्वस्य लोकस्य वाचस्पतित्वादभूद् गुरुः ॥ १८१ ॥

वे भगवान सरस्वतीके एकमात्र स्वामी थे इसलिए उन्हें समस्त वाङ्मय (शास्त्र) प्रत्यक्ष हो गये थे और इसलिए वे समस्त लोकके गुरु हो गये थे ॥ १८१ ॥

पुराणः स कविर्वाग्मी गमकश्चेति विश्रुतः । कोष्ठबुद्ध्यादयो बोधा येन सन्ति निसर्गजाः ॥ १८२ ॥

वे भगवान पुराण थे अर्थात् प्राचीन बातोंके जानकार थे, कवि थे, उत्तम वक्ता थे, गमक (टीका-आदिके द्वारा पदार्थको स्पष्ट करनेवाले) थे और सबको प्रिय थे क्योंकि कोष्ठबुद्धि आदि अनेक विद्याएँ उन्हें स्वभावसे ही प्राप्त हो गयी थीं ॥ १८२ ॥

क्षायिकं दर्शनं यस्य चेतोमलमपाहरत् । वाग्दोषानखिलान् जित्वा प्रवृत्तास्य सरस्वती ॥ १८३ ॥

उनके क्षायिक सम्यग्दर्शनने उनके चित्तके समस्त मलको दूर कर दिया था और स्वभावसे ही विस्तारको प्राप्त हुई सरस्वती देवीने उनके वचनसम्बन्धी समस्त दोषोंका अपहरण कर लिया था ॥ १८३ ॥

श्रुतं निसर्गतोऽस्यासीत् प्रसूतः प्रशमः श्रुतात् । चेष्टा जगद्धितास्यासीत् साऽपालयत् प्रजाः सदा ॥ १८४ ॥

उन भगवानके स्वभावसे ही श्रुतज्ञान था, उस ज्ञानसे उनके परिणाम बहुत ही शान्त रहते थे। परिणामोंके शान्त रहनेसे उनकी चेष्टाएँ जगत्का हित करनेवाली होती थीं और उन जगत्-हितकारी चेष्टाओंसे वे प्रजाका पालन करते थे ॥ १८४ ॥

यथा यथास्य वर्धन्ते गुणांशा वपुषा समम् । तथा तथास्य जनता बन्धुता चागमन्मुदम् ॥ १८५ ॥

ज्यों-ज्यों शरीरके साथ-साथ उनके गुण बढ़ते जाते थे त्यों-त्यों समस्त जनसमूह और उनके परिवारके लोग हर्षको प्राप्त होते जाते थे ॥ १८५ ॥

स पित्रोः परमानन्दं बन्धुतायाश्च संमदम् । जगज्जनस्य संप्रीतिं वर्धयन् संवृद्धिमगात् ॥ १८६ ॥

इस प्रकार वे भगवान् माता-पिताके परम आनन्दको, बन्धुओंके सुखको और जगत्के समस्त जीवोंकी परम प्रीतिको बढ़ाते हुए वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे ॥ १८६ ॥

परमायुरथास्याभूत् संख्यातं पूर्वलक्षकैः । संपूर्णा पूर्वलक्षाणामशीतिश्चतुरोत्तरा ॥ १८७ ॥

चरम शरीरको धारण करनेवाले भगवानकी सम्पूर्ण आयु चौरासी लाख पूर्वकी थी ॥ १८७ ॥

सुदीर्घदर्शी दीर्घायुर्दीर्घबाहुर्महाद्युतिः । स दीर्घसूत्रो लोकानां बभौ सूत्रविशारदः ॥ १८८ ॥

वे भगवान् दीर्घदर्शी थे, दीर्घ आयुके धारक थे, दीर्घ भुजाओंसे युक्त थे, दीर्घ नेत्र धारण करनेवाले थे और दीर्घ सूत्र अर्थात् गम्भीर विचारके साथ कार्य करनेवाले थे इसलिए तीनों ही लोकोंकी सूत्रधारता-गुरुत्वको प्राप्त हुए थे ॥ १८८ ॥

कदाचिद्विरचिसंख्यानं गान्धर्वादिकतानताम् । स्वमभ्यस्तपूर्वमभ्यस्यन् स्वयमभ्यासयत् परान् ॥ १८९ ॥

भगवान् वृषभदेव कभी तो, जिनका पहले अच्छी तरह अभ्यास किया है ऐसे लिपि विद्या, गणित विद्या तथा संगीत आदि कलाशास्त्रोंका स्वयं अभ्यास करते थे और कभी दूसरोंको कराते थे ॥ १८९ ॥

छन्दोऽवचित्यलङ्कारप्रस्तारादिविवेचनैः । कदाचिदन्वितो गोष्ठीश्चित्राद्यैश्च कलागमैः ॥ १९० ॥

कभी छन्दःशास्त्र, कभी अलंकार शास्त्र, कभी प्रस्तार नष्ट उद्दिष्ट संख्या आदिका विवेचन और कभी चित्र खींचना आदि चित्र शास्त्रोंका मनन करते थे ॥ १९० ॥

कदाचित् पदगोष्ठीभिः काव्यगोष्ठीभिरन्यदा । वावदूकैः समं कैश्चिज्जल्पगोष्ठीभिरेकदा ॥ १९१ ॥

कभी वैयाकरणोंके साथ व्याकरणसम्बन्धी चर्चा करते थे, कभी कवियोंके साथ काव्य विषयकी गोष्ठी करते थे और कभी अधिक बोलनेवाले वादियोंके साथ वाद करते थे ॥ १९१ ॥

क्वचिच्च गीतगोष्ठीभिर्नृत्तगोष्ठीभिरेकदा । क्वचिद् वाद्यप्रगोष्ठीभिर्वीणागोष्ठीभिरन्यदा ॥ १९२ ॥

कभी गीतगोष्ठी, कभी नृत्यगोष्ठी, कभी वाद्यगोष्ठी और कभी वीणागोष्ठीके द्वारा समय व्यतीत करते थे ॥ १९२ ॥

नर्तयन् बहुरूपेण वेषैः सुरचेटकान् । नटयन् करतालेन कथमार्गानुयायिना ॥ १९३ ॥

कभी नाना प्रकारका रूप धरकर नृत्य करते हुए देवकिंकरोंको लयके अनुसार हाथकी ताल देकर नृत्य कराते थे ॥ १९३ ॥

कांश्चिच्छुकरूपेण समासादितविक्रियान् । सुव्यक्तं पाठयंश्च्छ्लोकान् श्लिष्टं मधुराक्षरम् ॥ १९४ ॥

कभी विक्रिया शक्तिसे तोतेका रूप धारण करनेवाले देवकुमारोंको स्पष्ट और मधुर अक्षरोंसे श्लोक पढ़ाते थे ॥ १९४ ॥

हंसविक्रियया लीनान् कूजतो मन्दमन्थरम् । बिसखण्डैः स्वहस्तेन दत्तैः संभावयन्मुहुः ॥ १९५ ॥

कभी हंसकी विक्रिया कर धीरे-धीरे मन्द-मधुर बोलीसे शब्द करते हुए हंसरूपधारी देवोंको अपने हाथसे मृणालके टुकड़े देकर सम्मानित करते थे ॥ १९५ ॥

गजविक्रियया कांश्चित् कलभैः कारितां दशाम् । सान्त्वयन्मुहुरानाड्यकराग्रांश्चीकरन् मुदा ॥ १९६ ॥

कभी विक्रियासे हाथियोंके बच्चोंका रूप धारण करनेवाले देवोंको पुचकार देकर या सूँड़में प्रहार कर उनके साथ आनन्दसे क्रीड़ा करते थे ॥ १९६ ॥

मणिकुट्टिमसंक्रान्तैः स्वैरैः प्रतिबिम्बकैः । कृकवाकुस्थितान् कांश्चिद् योद्धुकामान् समैक्षत ॥ १९७ ॥

कभी मुर्गोंका रूप धारण कर रत्नमयी जमीनमें पड़ते हुए अपने प्रतिबिम्बोंके साथ ही युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले देवोंको देखते थे या उनपर हाथ फेरते थे ॥ १९७ ॥

मल्लविक्रियया कांश्चिद् युयुत्सूनमितद्विषः । प्रोत्साहयन् कृतास्फोटान् बहूनस्थानमितस्ततः ॥ १९८ ॥

कभी विक्रिया शक्तिसे मल्लका रूप धारण कर परस्परमें बिना ही द्वेषके मात्र क्रीड़ा करनेके लिए युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले, गम्भीर गर्जना करते हुए और इधर-उधर नृत्य-सा करते हुए देवोंको प्रोत्साहित करते थे ॥ १९८ ॥

क्रौञ्चसारसरूपेण तारक्रेङ्कारकारिणाम् । शृण्वन्ननुगतं शब्दं केषांचित् श्रुतिपेशलम् ॥ १९९ ॥

कभी क्रौञ्च और सारस पक्षियोंका रूप धारण कर उच्च स्वरसे क्रेङ्कार शब्द करते हुए देवोंके निरन्तर होनेवाले कर्णप्रिय शब्द सुनते थे ॥ १९९ ॥

स्रग्विणः शुचिलिप्ताङ्गान् समेतान् सुरदारकान् । दण्डक्रीडां समायोज्य नर्तयामास वै कदा ॥ २०० ॥

कभी माला पहने हुए, शरीरमें चन्दन लगाये हुए और इकट्ठे होकर आये हुए देवबालकोंको दण्ड क्रीड़ा (डंडेका खेल) में लगाकर नचाते थे ॥ २०० ॥

अनारतं च कुन्देन्दुसुधासिन्धुप्लवामलम् । सुरवन्दिभिरुद्गीतं यशः समाकर्णयत् प्रभुः ॥ २०१ ॥

कभी स्तुति पढ़नेवाले देवोंके द्वारा निरन्तर गाये गये और कुन्द, चन्द्रमा तथा अमृत नदीके जलके छींटोंके समान निर्मल अपने यशको सुनते थे ॥ २०१ ॥

अनलसाभिश्च देवीभिः स्मस्यमानं गृहाङ्गणे । रत्नचूर्णैर्बलिं चित्रं सानन्दमवलोकयन् ॥ २०२ ॥

कभी घरके आँगनमें आलस्यरहित देवियोंके द्वारा बनायी हुई रत्नचूर्णकी चित्रावलीको आनन्दके साथ देखते थे ॥ २०२ ॥

संभावयन् कदाचिच्च प्रकृतीरभिगम्य ताम् । वीक्षितैर्मधुरैः स्निग्धैः सस्मितैः सादरभाषितैः ॥ २०३ ॥

कभी अपने दर्शन करनेके लिए आयी हुई प्रजाका, मधुर और स्नेहभरी दृष्टिके द्वारा तथा मन्द हास्य और आदरसहित संभाषणके द्वारा सत्कार करते थे ॥ २०३ ॥

> कदाचिद् दीर्घिकासत्त्वैः समं सुरकुमारकैः । जलक्रीडाविनोदेन रममाणः ससंमदम् ॥ २०४ ॥

कभी वावड़ियोंके जलमें देवकुमारोंके साथ-साथ आनन्दसहित जलक्रीड़ाका विनोद करते हुए क्रीड़ा करते थे ॥ २०४ ॥

> सारसं जलमासाद्य सारवं हंसकूजितैः । ताम्बूलयन्त्रकैः क्रीडन् जलास्फालकृतारवैः ॥ २०५ ॥

कभी हंसोंके शब्दोंसे शब्दायमान सरयू नदीका जल प्राप्त कर उसमें पानीके आस्फालनसे शब्द करनेवाले लकड़ीके बने हुए यन्त्रोंसे जलक्रीड़ा करते थे ॥ २०५ ॥

> जलकेलिविधावेनं भक्त्या मेघकुमारकाः । भेजुर्धारागृहीभूय फुत्काराः समन्ततः ॥ २०६ ॥

जलक्रीड़ाके समय मेघकुमार जातिके देव भक्तिसे धारागृह (फुहारे) का रूप धारण कर चारों ओरसे फुहारे छोड़ते हुए भगवानकी सेवा करते थे ॥ २०६ ॥

> कदाचिन्नन्दनस्पर्शिशोभाभासिते वने । वनक्रीडां समातन्वन् वयस्यैरन्वितः सुरैः ॥ २०७ ॥

कभी नन्दनवनके साथ स्पर्धा करनेवाले वृक्षोंकी शोभासे सुशोभित नन्दन वनमें मित्र बने हुए देवोंके साथ-साथ वनक्रीड़ा करते थे ॥ २०७ ॥

> वनक्रीडाविनोदेऽस्य विरजोकृतभूतलाः । मन्दं मन्दाररजसा ववुरभ्रं पवनकुमाराः ॥ २०८ ॥

वनक्रीड़ाके विनोदके समय पवनकुमार जातिके देव पृथिवीको धूलिरहित करते थे और उद्यानके वृक्षोंको धीरे-धीरे हिलाते थे ॥ २०८ ॥

> इति कालोचिताः क्रीडा विनोदांश्च स निर्विशन् । आसांचक्रे सुखं देवः समं देवकुमारकैः ॥ २०९ ॥

इस प्रकार देवकुमारोंके साथ अपने-अपने समयके योग्य क्रीड़ा और विनोद करते हुए भगवान् वृषभदेव सुखपूर्वक रहते थे ॥ २०९ ॥

> इति भुवनपतीनामर्चनीयोऽभिगम्यः सकलगुणमणीनामाकरः पुण्यमूर्तिः । सममपरकुमारैर्निर्वशन्
> दिव्यभोगानरमत चिरमस्मिन् पुण्यगेहे स देवः ॥ २१० ॥

इस प्रकार जो तीन लोकके अधिपति—इन्द्रादि देवोंके द्वारा पूज्य हैं, आश्रय लेने योग्य हैं, सम्पूर्ण गुणरूपी मणियोंकी खान हैं और पवित्र शरीरके धारक हैं ऐसे भगवान वृषभदेव महाराज नाभिराजके पवित्र घरमें दिव्य भोग भोगते हुए देवकुमारोंके साथ-साथ चिर काल तक क्रीड़ा करते रहे ॥ २१० ॥

> प्रतिदिनममरेन्द्रेणोपानीतान् भोगसारान् सुरभिकुसुममालाचित्रभूषाम्बरादीन् ।
> ललितसुरकुमारैर्विज्ञतैर्वयस्यैः सममुपहितरागः सोऽन्वभूत् पुण्यपाकात् ॥ २११ ॥

वे भगवान् पुण्यकर्मके उदयसे प्रतिदिन इन्द्रके द्वारा भेजे हुए सुगन्धित पुष्पोंकी माला, अनेक प्रकारके वस्त्र तथा आभूषण आदि श्रेष्ठ भोगोंका अपना अभिप्राय जाननेवाले सुन्दर देवकुमारोंके साथ प्रसन्न होकर अनुभव करते थे ॥ २११ ॥

> स श्रीमान् नृसुरासुरार्चितपदो बाल्येऽप्यबालक्रियो लीलाहासविलासवेषचतुरो बिभ्रद्वपुश्चोत्तमम् ।
> वाग्भिः सूनृतहृद्यसद्गुणयुताभिश्चाह्लादयञ्जगज्जनान् बालेन्दुर्ववृधे शनैरमलिनः कीर्त्युज्ज्वलच्चन्द्रिकः
> ॥ २१२ ॥

जिनके चरण-कमल मनुष्य, सुर और असुरोंके द्वारा पूजित हैं, जो बाल्य अवस्थामें भी वृद्धोंके समान कार्य करनेवाले हैं, जो लीला, आहार, विलास और वेषसे चतुर, उत्कृष्ट तथा सुन्दर शरीर धारण करते हैं, जो जगत्के जीवोंके मनको प्रसन्न करनेवाले अपने वचनरूपी किरणोंके द्वारा उत्तम आनन्दको विस्तृत करते हैं, निर्मल हैं, और कीर्तिरूपी फैलती हुई चाँदनीसे शोभायमान हैं वे भगवान वृषभदेव बालचन्द्रमाके समान धीरे-धीरे वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे ॥ २१२ ॥

तारालीतरलां दधत् समुचितां वक्षःस्थलसङ्गिनीं लक्ष्म्यान्दोलनवल्लरीमिव ततां तां रत्नमालां पृथुम् । ज्योत्स्नासंनभमर्थांशुकं परिदधत् काञ्चीकलापाञ्चितं रेजेऽसौ सुरदारकैरनुसमे क्रीडञ्जिनेन्दुर्भृशम् ॥ २१३ ॥

ताराओंकी पंक्तिके समान चंचल मणियोंके हारको, जो कि लक्ष्मीके झूलेकी लताके समान, समुचित, विस्तृत और वक्षःस्थलपर पड़े हुए बड़े भारी हारको धारण किये हुए तथा करधनीसे सुशोभित चाँदनी तुल्य वस्त्रोंको पहने हुए वे जिनेन्द्ररूपी चन्द्रमा नक्षत्रोंके समान देवकुमारोंके साथ क्रीड़ा करते हुए अतिशय सुशोभित होते थे ॥ २१३ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवज्जातकर्मोत्सववर्णनं नाम चतुर्दशं पर्व समाप्तम् ॥ १४ ॥

यौवनारम्भविकसत् पूर्णं वपुरभून्मनोहरम् । स्वभावसुन्दरः शश्वच्छशी कि पुनः शरदागमे ॥ १ ॥

अथानन्तर, यौवन अवस्था होनेपर भगवानका शरीर बहुत ही मनोहर हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि चन्द्रमा स्वभावसे ही सुन्दर होता है यदि शरद् ऋतुका आगमन हो जाये तो फिर कहना ही क्या है? ॥ १ ॥

तप्तकाञ्चनच्छायं निस्स्वेदं नीरजोऽमलम् । क्षीराच्छरक्तं दिश्यसंस्थानं वज्रसंहतम् ॥ २ ॥

उनका रूप बहुत ही सुन्दर और असाधारण हो गया था, वह तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिवाला था, पसीनेसे रहित था, धूलि और मलसे रहित था, दूधके समान सफेद रुधिर, समचतुरस्र नामक सुन्दर संस्थान और वज्रवृषभनाराच संहननसे सहित था ॥ २ ॥

सौरूप्यस्य परां कोटिं दधानं सौरभस्य च । अष्टोत्तरसहस्रेण लक्षणानामलंकृतम् ॥ ३ ॥

वह शरीर सुन्दरता और सुगन्धिकी परम सीमा धारण कर रहा था, और एक हजार आठ लक्षणोंसे अलंकृत था ॥ ३ ॥

अप्रमेयमहावीर्यं दधत् प्रियहितं वचः । कान्तमविर्भूदस्य रूपमप्राकृतं वपुः ॥ ४ ॥

अप्रमेय था, महाशक्तिशाली था, और प्रिय तथा हितकारी वचन धारण करता था ॥ ४ ॥

> मुकुटालंकृतं कान्तं शिरो नीलशिरोरुहम् । सुरेन्द्ररत्ननिचितं मेरोः शृङ्गमिवोबभौ ॥ ५ ॥

काले-काले केशोंसे युक्त तथा मुकुटसे अलंकृत उनका मस्तक ऐसा सुशोभित होता था मानो नीलमणियोंसे मनोहर मेरु पर्वतका शिखर ही हो ॥ ५ ॥

> मस्तकन्यस्तविस्तीर्णा मालास्य कल्पानोकहसंभवा । हिमवत्कूटमावेष्ट्य पतन्तीवामरापगा ॥ ६ ॥

उनके मस्तकपर पड़ी हुई कल्पवृक्षके पुष्पोंकी माला ऐसी अच्छी मालूम होती थी मानो हिमगिरिके शिखरोंको घेरकर ऊपरसे पड़ी हुई आकाशगंगा ही हो ॥ ६ ॥

> ललाटपट्टे विस्तीर्णे रुचिरस्य महत्यभूत् । शारदाकेलिललिता क्रीडास्थललीलां वितन्वती ॥ ७ ॥

उनके चौड़े ललाटपट्टपर-की भारी शोभा ऐसी मालूम होती थी मानो सरस्वती देवीके सुन्दर विलास अथवा क्रीड़ा करनेके स्थलकी शोभा ही बढ़ा रही हो ॥ ७ ॥

> भ्रूलते रेजतुर्भूयस्तरङ्गाङ्कितटालिते । वागुरौ मदनैणस्य रन्ध्रसंवरणाय कल्पिते ॥ ८ ॥

ललाटरूपी सरोवरके तटपर आश्रय लेनेवाली भगवानकी दोनों भौंहरूपी लताएँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो कामदेवरूपी हिरणको रोकनेके लिए दो जाल ही बनाये हों ॥ ८ ॥

> नयनोत्पलयोरस्य कान्तिरानीलतारयोः । आसीद् द्विरिफसंसक्तमहोत्पलदलश्रियोः ॥ ९ ॥

काली पुतलियोंसे सुशोभित भगवानके नेत्ररूपी कमलोंकी कान्ति, जिनपर भ्रमर बैठे हुए हैं ऐसे कमलोंकी पंखुड़ियोंके समान थी ॥ ९ ॥

> मणिकुण्डलभूषाभ्यां कर्णावस्य व्यराजतुः । पर्यन्तौ गगनस्येव चन्द्राभ्याममलंकृतौ ॥ १० ॥

मणियोंके बने हुए कुण्डलरूपी आभूषणोंसे उनके दोनों कान ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानों चन्द्रमा और सूर्यसे अलंकृत आकाशके दो किनारे ही हों ॥ १० ॥

> मुखेन्दौ या द्युतिस्तस्य न सान्यत्र त्रिविष्टपे । सुधायां या तृप्तिः सा किं क्वचिदन्यत्र लक्ष्यते ॥ ११ ॥

भगवानके मुखरूपी चन्द्रमामें जो कान्ति थी वह तीन लोकमें किसी भी दूसरी जगह नहीं थी सो ठीक ही है, अमृतमें जो सन्तोष होता है, वह क्या किसी दूसरी जगह दिखाई देता है? ॥ ११ ॥

> स्मितांशुरुचिरं तस्य मुखमापाटलाधरम् । लसद्दलस्य पद्मस्य सफेनस्य श्रियं दधौ ॥ १२ ॥

उनका मुख मन्दहाससे मनोहर था, और लाल-लाल अधरसे सहित था इसलिए फेनसहित पाँखुरीसे युक्त कमलकी शोभा धारण कर रहा था ॥ १२ ॥

> नासिकांशुका क्रियमायति शोभिनीम् । सरस्वत्यवताराय कल्पितेव प्रणालिका ॥ १३ ॥

भगवानकी लम्बी और ऊँची नाक सरस्वती देवीके अवतरणके लिए बनायी गयी प्रणालीके समान शोभायमान हो रही थी ॥ १३ ॥

> धत्ते स्म रुचिरा रेखाः कन्धरोऽस्याभ्युपायतः । उल्लिख्य घटितो धात्रा वक्त्रप्रासादकनकस्तम्भः ॥ १४ ॥

उनका कण्ठ मनोहर रेखाएँ धारण कर रहा था। वह उनसे ऐसा मालूम होता था मानो विधाताने मुखरूपी घरके लिए उकेर कर एक सुवर्णका स्तम्भ ही बनाया हो ॥ १४ ॥

> महानायकसंसक्तां हारयष्टिमुरो दधे । गुणवद्राजपुत्राणां प्रवृत्तामिव संहताम् ॥ १५ ॥

वे भगवान अपने वक्षःस्थलपर महानायक अर्थात् बीचमें लगे हुए श्रेष्ठ मणिसे युक्त जिस हारयष्टिको धारण कर रहे थे वह महानायक अर्थात् श्रेष्ठ सेनापतिसे युक्त, गुणरूपी क्षत्रियोंकी सुसंगठित सेनाके समान शोभायमान हो रही थी ॥ १५ ॥

> इन्द्रच्छदं महाहारमधत्तासौ स्फुरद्द्युतिः । वक्षसा सानुनाद्रीन्द्रो यथा निर्झरसंप्लवम् ॥ १६ ॥

जिस प्रकार सुमेरु पर्वत अपने शिखरपर पड़ते हुए झरने धारण करता है उसी प्रकार भगवान वृषभदेव अपने वक्षःस्थलपर अतिशय देदीप्यमान इन्द्रच्छद नामक हारको धारण कर रहे थे ॥ १६ ॥

> रुचिरेण हारिणा तेन तद्वक्षो रुचिमानशे । गङ्गाप्रवाहसंसक्तहिमाद्रितटसंभवाम् ॥ १७ ॥

उस मनोहर हारसे भगवानका वक्षःस्थल गंगा नदीके प्रवाहसे युक्त हिमालय पर्वतके तटके समान शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥ १७ ॥

> वक्षस्सरसि रम्येऽस्य हाररोचिश्छटाम्भसा । चकार सुचिरं खेलं दिव्यश्रीकलहंसिका ॥ १८ ॥

भगवानका वक्षःस्थल सरोवरके समान सुन्दर था। वह हारकी किरणरूपी जलसे भरा हुआ था और उसपर दिव्य लक्ष्मीरूपी कलहंसी चिरकाल तक क्रीड़ा करती थी ॥ १८ ॥

> वक्षःश्रीगेहपर्यन्ते प्रोच्चैरंसौ व्यराजतुः । जयलक्ष्मीकृतावासो समुच्चाट्टालकाविव ॥ १९ ॥

भगवानका वक्षःस्थल लक्ष्मीके रहनेका घर था, उसके दोनों ओर ऊँचे उठे हुए उनके दोनों कन्धे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो जयलक्ष्मीके रहनेकी दो ऊँची अटारी ही हों ॥ १९ ॥

> बाहू केयूरसंघट्टमसृणांसौ दधे विभुः । कल्पपादपशाखेवाभीष्टफलदौ श्रीलताश्रितौ ॥ २० ॥

बाजूबन्दके संघट्टनसे जिनके अग्रभाग चिकने हो रहे हैं और जो शोभारूपी लतासे सहित हैं ऐसी जिन भुजाओंको भगवान् धारण कर रहे थे वे अभीष्ट फल देनेवाले कल्पवृक्षोंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥ २० ॥

> नखानूहे सुखाळोकान् सरलाङ्गुलिसंश्रितान् । दशावतारसंभुक्तलक्ष्मीविभ्रमदर्पणान् ॥ २१ ॥

सुख देनेवाले प्रकाशसे युक्त तथा सीधी अँगुलियोंके आश्रित भगवानके हाथोंके नखोंको मैं समझता हूँ कि वे उनके महाबल आदि दस अवतारोंमें भोगी हुई लक्ष्मीके विलास-दर्पण ही थे ॥ २१ ॥

मध्यकायेऽसौ नाभिमद्धन्नाभिनन्दनः । सरसीमिव मन्दाक्षलक्ष्मीहंसीनिषेविताम् ॥ २२ ॥

महाराज नाभिराजके पुत्र भगवान् वृषभदेव अपने शरीरके मध्यभागमें जिस नाभिको धारण किये हुए थे वह लक्ष्मीरूपी हंसीसे सेवित तथा आवर्तसे सहित सरसीके समान सुशोभित हो रही थी ॥ २२ ॥

समेखलमथात् काञ्चीदामसहितं सांशुकम् । नितम्बमिव भूभर्तुः सतडिच्छरदम्बुदम् ॥ २३ ॥

करधनी और वस्त्रसहित भगवानका जघनभाग ऐसी शोभा धारण कर रहा था मानो बिजली और शरद् ऋतुके बादलोंसे सहित किसी पर्वतका कटितट (मध्यभाग) ही हो ॥ २३ ॥

ऊरूयुगं दधे धीरः काञ्चनेश्वरीभास्वरम् । आन्दोलनयुगस्तम्भाविव श्रियोर्जयोद्धुरौ ॥ २४ ॥

धीर-वीर भगवान् सुवर्णके समान देदीप्यमान जिन दो ऊरुओं (घुटनोंसे ऊपरका भाग) को धारण कर रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मी देवीके झूलेके दो ऊँचे स्तम्भ ही हों ॥ २४ ॥

जङ्घे मदनमातङ्गलङ्घ्यार्गेलविभ्रमे । लक्ष्म्या सम्मर्दितेवेव परां कान्तिमवापताम् ॥ २५ ॥

कामदेवरूपी हाथीके उल्लंघन न करने योग्य अर्गलोंके समान शोभायमान भगवानकी दोनों जंघाएँ इस प्रकार उत्कृष्ट कान्तिको प्राप्त हो रही थीं मानो लक्ष्मीदेवीने स्वयं उबटन कर उन्हें उज्ज्वल किया हो ॥ २५ ॥

पादारविन्दयोः कान्तिः केनोपमीयते । त्रिजगल्लक्ष्म्याः समाश्लेषसौभाग्यमदशालिनोः ॥ २६ ॥

भगवानके दोनों ही चरणकमल तीनों लोकोंकी लक्ष्मीके आलिंगनसे उत्पन्न हुए सौभाग्यके गर्वसे बहुत ही शोभायमान हो रहे थे, संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसके कि साथ उनकी उपमा दी जा सके ॥ २६ ॥

इत्थमस्याविर्भूत् कान्तिरालकाग्रान्नखाग्रतः । नूनमन्यत्र नालब्ध सा प्रतिष्ठां स्ववाञ्छिताम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार पैरोंके नखके अग्रभागसे लेकर शिरके केशोंके अग्रभाग तक भगवानके शरीरकी कान्ति प्रकट हो रही थी और ऐसी मालूम होती थी मानो उसे किसी दूसरी जगह अपनी इच्छानुसार स्थान प्राप्त नहीं हुआ था इसलिए वह अनन्य गति होकर भगवानके शरीरमें आ प्रविष्ट हुई हो ॥ २७ ॥

> निसर्गसुन्दरं तस्य वपुर्वज्रास्थिबन्धनम् । विषशस्त्राद्यभेद्यं च भेजे मेरुसमां छविम् ॥ २८ ॥

भगवानका शरीर स्वभावसे ही सुन्दर था, वज्रमयी हड्डियोंके बन्धनसे सहित था, विष शस्त्र आदिसे अभेद्य था और इसीलिए वह मेरु पर्वतके समान कान्तिको प्राप्त हो रहा था ॥ २८ ॥

> यत्र वज्रमयास्थीनि वज्रेण वेष्टितानि च । वज्रनाराचकीलितानि तत्संहननमीशितुः ॥ २९ ॥

जिस संहननमें वज्रमयी हड्डियाँ वज्रोंसे वेष्टित होती हैं और वज्रमयी कीलोंसे कीलित होती हैं, भगवान वृषभदेवका वही वज्रवृषभनाराचसंहनन था ॥ २९ ॥

> अदोषजा महातन्त्रा नास्य देहे व्यधुः स्थितिम् । वायोश्चलिताङ्गानां यथा मेरुरगोचरः ॥ ३० ॥

वात, पित्त और कफ इन तीन दोषोंसे उत्पन्न हुई व्याधियाँ भगवानके शरीरमें स्थान नहीं कर सकी थीं सो ठीक ही है, वृक्ष अथवा अन्य पर्वतोंको कम्पित करनेवाली वायु मेरु पर्वतपर अपना असर नहीं दिखा सकती ॥ ३० ॥

> न जराऽस्य न खेदो वा नोपघातोऽपि जातुचित् । केवलं सुखसापेक्षं महीतलेऽप्यमहीयत ॥ ३१ ॥

उनके शरीरमें न कभी बुढ़ापा आता था, न कभी उन्हें खेद होता था और न कभी उनका उपघात (असमयमें मृत्यु) ही हो सकता था। वे केवल सुखके अधीन होकर पृथिवीरूपी शय्यापर पूजित होते थे ॥ ३१ ॥

> तदस्य रुरुचे रूपं परमौदारिकाख्यम् । महाभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां मूलकारणम् ॥ ३२ ॥

जो महदाभ्युदयरूप मोक्षका मूल कारण था ऐसा भगवानका परमौदारिक शरीर अत्यन्त शोभायमान हो रहा था ॥ ३२ ॥

मानोन्मानप्रमाणानामन्यूनाधिकतां श्रितम् । संस्थानमाद्यमस्यासीच्चतुरस्रं समन्ततः ॥ ३३ ॥

भगवानके शरीरका आकार, लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई आदि सब ओर हीनाधिकतासे रहित था, उनका समचतुरस्रसंस्थान था ॥ ३३ ॥

यथास्य रूपसंपत्तिस्तथा सौख्यं च पप्रथे । न हि कल्पपादपोद्भूतिरनाभरणभासुरा ॥ ३४ ॥

भगवान वृषभदेवकी जैसी रूप-सम्पत्ति प्रसिद्ध थी वैसी ही उनकी भोगोपभोगकी सामग्री भी प्रसिद्ध थी, सो ठीक ही है क्योंकि कल्पवृक्षोंकी उत्पत्ति आभरणोंसे देदीप्यमान हुए बिना नहीं रहती ॥ ३४ ॥

लक्षणानि बभुर्मत्तु देहमाश्रित्य निर्मलम् । ज्योतिषामिव बिम्बानि मेरोर्मणिमयं तटम् ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार सुमेरु पर्वतके मणिमय तटको पाकर ज्योतिषी देवोंके मण्डल अतिशय शोभायमान होने लगते हैं उसी प्रकार भगवानके निर्मल शरीरको पाकर सामुद्रिक शास्त्रमें कहे हुए लक्षण अतिशय शोभायमान होने लगे थे ॥ ३५ ॥

विभुः कल्पतरुच्छायां बभाराभरणोज्ज्वलः । शुभानि लक्षणास्यस्मिन् कुसुमानीव रेजिरे ॥ ३६ ॥

अथवा अनेक आभूषणोंसे उज्ज्वल भगवान् कल्पवृक्षकी शोभा धारण कर रहे थे और अनेक शुभ लक्षण उसपर लगे हुए फूलोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ३६ ॥

तानि श्रीवृक्षशङ्खाब्जस्वस्तिकाङ्कुशतोरणम् । प्रकीर्णकसितच्छत्रसिंहासनध्वजकेतनम् ॥ ३७ ॥

वे लक्षण इस प्रकार हैं—श्रीवृक्ष, शंख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चामर, श्वेत छत्र, सिंहासन और पताका ॥ ३७ ॥

मत्स्यौ कुम्भौ च कूर्म्मं च चक्रमम्भोधिः सरोवरम् । विमानमभवनं नागो नरनार्यौ वृषो हरिः ॥ ३८ ॥

दो मीन, दो कुम्भ, कच्छप, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, मनुष्य, स्त्री, वृषभ और सिंह ॥ ३८ ॥

> बाणबाणासने मेरुः सुरराट् सुरनिम्नगा । पुरं गोपुरमन्दार्कौ जात्यश्वस्तालवृन्तकम् ॥ ३९ ॥

बाण, धनुष, मेरु, इन्द्र, देवगंगा, पुर, गोपुर, चन्द्रमा, सूर्य, उत्तम घोड़ा और तालवृन्त (पंखा) ॥ ३९ ॥

> वेणुर्वीणा शिखी जम्बूपद्मांशुकविपणिः । स्फुरन्ति कुण्डलादीनि विचित्राभरणानि च ॥ ४० ॥

बाँसुरी, वीणा, शिखी (मयूर), जम्बूफल, कमल, रेशमी वस्त्र, विपणि (दूकान), चमकते हुए कुण्डल आदि विचित्र आभूषण ॥ ४० ॥

> उद्यान फलितं क्षेत्रं सुपक्वकलमावृतम् । रत्नद्वीपः समुद्रश्च क्षितिः श्रीश्च सरस्वती ॥ ४१ ॥

फलोंसे युक्त उद्यान, पके हुए धान्योंसे सुशोभित खेत, रत्नद्वीप, समुद्र, पृथिवी, लक्ष्मी और सरस्वती ॥ ४१ ॥

> सुरभिः सौरभयश्च चूडारत्नं महार्णवः । कल्पवल्ली हिरण्यं च जम्बूद्वीपः शशी रविः ॥ ४२ ॥

कामधेनु, वृषभ, चूडामणि, महासमुद्र, कल्पलता, सुवर्ण, जम्बूद्वीप, चन्द्रमा और रवि (सूर्य) ॥ ४२ ॥

> ग्रहास्तारास्तथा दीप्तं सिद्धार्थपादपः । प्रातिहार्याण्यहार्याणि मङ्गलान्यपराणि च ॥ ४३ ॥

ग्रह, नक्षत्र, तारे, सिद्धार्थ वृक्ष, आठ प्रातिहार्य और आठ मंगलद्रव्य ॥ ४३ ॥

> लक्षणान्येवमादीनि विभोरष्टोत्तरं शतम् । व्यञ्जनान्यपराण्यासन् शतानि नवसंख्यया ॥ ४४ ॥

इन्हें आदि लेकर एक सौ आठ प्रधान लक्षण और तिल, मसूरिका आदि नौ सौ व्यञ्जन भगवानके शरीरमें विद्यमान थे ॥ ४४ ॥

> अभिरामं वपुर्भर्तुर्लक्षणैरिरुज्ज्वलैः । ज्योतिर्भिरिव संकीर्णं गगनप्राङ्गणं बभौ ॥ ४५ ॥

इन मनोहर और श्रेष्ठ लक्षणोंसे व्याप्त हुआ भगवानका शरीर ज्योतिषी देवोंसे भरे हुए आकाशरूपी आँगनकी तरह शोभायमान हो रहा था ॥ ४५ ॥

> लक्ष्मणां शुभं किंचिदस्त्यन्तर्लक्षणं शुभम् । येन तैः संगतं स्पष्टं लब्धमकल्मषम् ॥ ४६ ॥

चूँकि उन लक्षणोंको भगवानका निर्मल शरीर स्पर्श करनेके लिए प्राप्त हुआ था इसलिए जान पड़ता है कि उन लक्षणोंके अन्तर्लक्षण कुछ शुभ अवश्य थे ॥ ४६ ॥

> शुद्धस्वान्तनिकेतान्तर्विरागस्य जगद्गुरोः । लक्ष्मीः कथमपि प्रापदवकाशं महौजसः ॥ ४७ ॥

रागद्वेषरहित जगद्गुरु भगवान वृषभदेवके अतिशय कठिन मनरूपी घरमें लक्ष्मी जिस प्रकार बड़ी कठिनाईसे अवकाश पा सकी थी। भावार्थ—भगवान स्वभावसे ही वीतराग थे, राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करना अच्छा नहीं समझते थे ॥ ४७ ॥

> सरस्वती प्रियास्यासीत् कीर्तिश्चाकल्पवर्तिनी । लक्ष्मीं विद्युल्लतालोलां मन्दप्रेम्णेव सोऽवहत् ॥ ४८ ॥

भगवानको दो स्त्रियाँ ही अत्यन्त प्रिय थीं—एक तो सरस्वती और दूसरी कल्पान्तकाल तक स्थिर रहनेवाली कीर्ति। लक्ष्मी विद्युतल्ताके समान चंचल होती है इसलिए भगवान उसपर बहुत थोड़ा प्रेम रखते थे ॥ ४८ ॥

> तदीयरूपलावण्ययौवनादिगुणोद्गमैः । आकृष्टा जनतानेत्रभ्रमरा नान्यतो रेमिरे ॥ ४९ ॥

भगवानके रूप-लावण्य, यौवन आदि गुणरूपी पुष्पोंसे आकृष्ट हुए मनुष्योंके नेत्ररूपी भ्रमर दूसरी जगह कहीं भी रमण नहीं करते थे—आनन्द नहीं पाते थे ॥ ४९ ॥

> नाभिराजोऽथैकदा दृष्ट्वा यौवनारम्भमीशितुः । परिणाययितुं देवमिति चिन्तां मनस्यधात् ॥ ५० ॥

किसी एक दिन महाराज नाभिराज भगवानकी यौवन अवस्थाका प्रारम्भ देखकर अपने मनमें उनके विवाह करनेकी चिन्ता इस प्रकार करने लगे ॥ ५० ॥

> देवोऽयमनिकाङ्क्षोऽङ्ग कास्य स्याच्चित्तहारिणी । सुन्दरी मन्दरागेऽस्मिन् प्रारम्भः कठिनः किल ॥ ५१ ॥

कि यह देव अतिशय सुन्दर शरीरके धारक हैं, इनके चित्तको हरण करनेवाली कौन-सी सुन्दर स्त्री हो सकती है? कदाचित् इनका चित्त हरण करनेवाली सुन्दर स्त्री मिल भी सकती है, परन्तु इनका विषयराग अत्यन्त मन्द है, इसलिए इनके विवाहका प्रारम्भ करना ही कठिन कार्य है ॥ ५१ ॥

> अपि चायं महानस्ति प्रारम्भो धर्मतीर्थप्रवर्तने । सोऽसिपत्रीय गन्तेभो नियमात् प्रविशेद् वनम् ॥ ५२ ॥

और दूसरी बात यह है कि इनका धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेमें भारी उद्योग है, इसलिए ये नियमसे सब परिग्रह छोड़कर मत्त हस्तीकी नाईं वनमें प्रवेश करेंगे अर्थात् वनमें जाकर दीक्षा धारण करेंगे ॥ ५२ ॥

> तथापि काललब्धिः स्याद्यावदस्य तपस्यितुम् । तावत्कलत्रमुचितं चिन्त्यं लोकानुरोधतः ॥ ५३ ॥

तथापि तपस्या करनेके लिए जबतक इनकी काललब्धि आती है तबतक इनके लिए लोकव्यवहारके अनुरोधसे भार्याका विचार करना चाहिए ॥ ५३ ॥

> अतः पुण्यवता काचित्तुलिताभिजनो वधूः । कलहंसीव निष्पङ्कमस्यावसतु मानसम् ॥ ५४ ॥

इसलिए जिस प्रकार हंसी निष्पंक अर्थात् कीचड़रहित मानस (मानसरोवर) में निवास करती है उसी प्रकार कोई योग्य और कुलीन स्त्री इनके निष्पंक अर्थात् निर्मल मानस (मन) में निवास करे ॥ ५४ ॥

> इति निश्चित्य लक्ष्मीवान् नाभिराजोऽतिसंभ्रमी । समास्थ्यमुपगम्येदमुवाच वदतां वरम् ॥ ५५ ॥

यह निश्चय कर लक्ष्मीवान् महाराज नाभिराज बड़े ही आदर और हर्षके साथ भगवानके पास जाकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवानसे शान्तिपूर्वक इस प्रकार कहने लगे कि ॥ ५५ ॥

> देव किंचिद् विवक्षामि सावधानमितः श्रृणु । त्वयोपकारो लोकस्य करणीयो जगत्पते ॥ ५६ ॥

हे देव, मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ इसलिए आप सावधान होकर सुनिए। आप जगत्के अधिपति हैं, इसलिए आपको जगत्का उपकार करना चाहिए ॥ ५६ ॥

> हिरण्यगर्भः स्रष्टा त्वं जगतः स्वयंभूरसि । निमित्तमात्रं नृपतेः पितृमन्या वयं त्वयि ॥ ५७ ॥

हे देव, आप जगत्की सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा हैं तथा स्वभू हैं अर्थात् अपने-आप ही उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि आपकी उत्पत्तिमें अपने-आपको पिता माननेवाले हम लोग छल मात्र हैं ॥ ५७ ॥

> रवेश्चोद्यसमुद्भूतौ निमित्तमुदयाचलः । स्वतस्तु भास्वानुद्याति तथैवास्मद् भवानपि ॥ ५८ ॥

जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेमें उदयाचल निमित्त मात्र है क्योंकि सूर्य स्वयं ही उदित होता है उसी प्रकार आपकी उत्पत्ति होनेमें हम निमित्त मात्र हैं क्योंकि आप स्वयं ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ५८ ॥

> यदस्य गर्भगृह मातुस्त्वं स्थित्वा पद्मविष्टरे । निधाय स्वां परां शक्तिमद्भूतो निष्कलोऽस्यतः ॥ ५९ ॥

आप माताके पवित्र गर्भगृहमें कमलरूपी दिव्य आसनपर अपनी उत्कृष्ट शक्ति रखकर उत्पन्न हुए हैं, इसलिए आप वास्तवमें शरीररहित हैं ॥ ५९ ॥

> गुरुरप्यहमथापि स्वामिन्यभ्यर्थये विभुम् । दृष्टिं विधेहि लोकस्य सर्जनं प्रति संप्रति ॥ ६० ॥

हे देव, यद्यपि मैं आपका यथार्थमें पिता नहीं हूँ, निमित्त मात्रसे ही पिता कहलाता हूँ तथापि मैं आपसे एक अभ्यर्थना करता हूँ कि आप इस समय संसारकी सृष्टिकी ओर भी अपनी दृष्टि दीजिए ॥ ६० ॥

> त्वामादिपुरुषं दृष्ट्वा लोकोऽप्येवं प्रवर्तताम् । महतां मार्गवर्तिन्यः प्रजाः सुप्रजसो ह्यमूः ॥ ६१ ॥

आप आदिपुरुष हैं इसलिए आपको देखकर अन्य लोग भी ऐसी ही प्रवृत्ति करेंगे क्योंकि जिनके उत्तम सन्तान होनेवाली है ऐसी यह प्रजा महापुरुषोंके ही मार्गका अनुगमन करती है ॥ ६१ ॥

अतः कलत्रमग्र्येष्टं परिणेतुं मनः कुरु । प्रजासन्ततिरेवं हि नोच्छेत्स्यति विदांवर ॥ ६२ ॥

इसलिए हे विद्वानोंमें श्रेष्ठ, आप इस संसारमें किसी श्रेष्ठ कन्याके साथ विवाह करनेके लिए मन कीजिए क्योंकि ऐसा करनेसे प्रजाकी सन्ततिका उच्छेद नहीं होगा ॥ ६२ ॥

प्रजासन्तत्यविच्छेदे धर्मस्य च परंपरः । मनुजधर्मोऽयं तनो देवेनमच्युतः ॥ ६३ ॥

प्रजाकी सन्ततिका उच्छेद नहीं होनेपर धर्मकी सन्तति बढ़ती रहेगी इसलिए हे देव, मनुष्योंके इस अविनाशी विवाहरूपी धर्मको अवश्य ही स्वीकार कीजिए ॥ ६३ ॥

देवेमं गृहिणां धर्मं विद्धि दारपरिग्रहम् । सन्तानरक्षणे यत्नः कार्यो हि गृहमेधिनाम् ॥ ६४ ॥

हे देव, आप इस विवाह कार्यको गृहस्थोंका एक धर्म समझिए क्योंकि गृहस्थोंको सन्तानकी रक्षाका प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिए ॥ ६४ ॥

त्वया गुरुमतोऽयं जनः केनापि हेतुना । न चेन्मोघं वचोऽस्य स्यादिष्टं हि गुरुलङ्घनम् ॥ ६५ ॥

यदि आप मुझे किसी भी कारणसे गुरु मानते हैं तो आपको मेरे वचनोंका किसी भी कारणसे उल्लंघन नहीं करना चाहिए क्योंकि गुरुओंके वचनोंका उल्लंघन करना इष्ट नहीं है ॥ ६५ ॥

इत्युदीर्य गिरं धीरो व्यरंसीन्नाभिपार्थिवः । देवस्तु सस्मितं चक्रे वचः प्रतिच्छदोमिति ॥ ६६ ॥

इस प्रकार वचन कहकर धीर-वीर महाराज नाभिराज चुप हो रहे और भगवानने हँसते हुए 'ओम्' कहकर उनके वचन स्वीकार कर लिये अर्थात् विवाह कराना स्वीकृत कर लिया ॥ ६६ ॥

किमेतत् पितृदाक्षिण्यं किं प्रजानुग्रहेषिता । नियोगः कोऽपि वा तादृग् येनैच्छत्तादृशं वशी ॥ ६७ ॥

इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले भगवानने जो विवाह करानेकी स्वीकृति दी थी वह क्या उनके पिताकी चतुराई थी, अथवा प्रजाका उपकार करनेकी इच्छा थी अथवा वैसा कोई पूर्वोपार्जित नियोग ही था ॥ ६७ ॥

ततोऽस्यानुमतिं ज्ञात्वा विशङ्को नाभिभूपतिः । महद् विवाहकल्याणमकरोत्परया मुदा ॥ ६८ ॥

तदनन्तर भगवान्‌की अनुमति जानकर नाभिराजने निःशंक होकर बड़े हर्षके साथ विवाहका बड़ा भारी उत्सव किया ॥ ६८ ॥

सुरेन्द्रानुमतात् प्राप्य सुशीले चारुलक्षणे । सती सुरुचिराकारे वरयामास नाभिभूपतिः ॥ ६९ ॥

महाराज नाभिराजने इन्द्रकी अनुमतिसे सुशील, सुन्दर लक्षणोंवाली, सती और मनोहर आकारवाली दो कन्याओंकी याचना की ॥ ६९ ॥

स्वसारौ कच्छमहाकच्छयोर्वयस्याः पतिंवरे । यशस्वती सुनन्दाख्ये स एवं पर्यणीनयत् ॥ ७० ॥

वे दोनों कन्याएँ कच्छ महाकच्छकी बहने थीं, बड़ी ही रूपवती और यौवनवती थीं, यशस्वती और सुनन्दा उनका नाम था। उन्हीं दोनों कन्याओंके साथ नाभिराजने भगवान्‌का विवाह कर दिया ॥ ७० ॥

विभोः पुरुगुणो देवः परिणेतेति संभ्रमात् । परं कल्याणमातेनुः सुराः प्रीतिपरायणाः ॥ ७१ ॥

बहुत-से गुणोंको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेव विवाह कर रहे हैं इस हर्षसे देवोंने प्रसन्न होकर अनेक उत्तम-उत्तम उत्सव किये थे ॥ ७१ ॥

पश्यन् पाणिगृहीतौ ते नाभिराजः सनाभिभिः । समं समतुषत् प्रायः लोकधर्मप्रियो जनः ॥ ७२ ॥

महाराज नाभिराज अपने परिवारके लोगोंके साथ, दोनों पुत्रवधुओंको देखकर भारी सन्तुष्ट हुए सो ठीक ही है क्योंकि संसारी जीवोंको विवाह आदि लौकिक धर्म ही प्रिय होता है ॥ ७२ ॥

पुरुदेवस्य कल्याणे मरुदेवी मुदं ययौ । दारकर्मणि पुत्राणां प्रीत्युत्कर्षो हि योषिताम् ॥ ७३ ॥

भगवान् वृषभदेवके विवाहोत्सवमें मरुदेवी बहुत ही सन्तुष्ट हुई थी सो ठीक ही है, पुत्रके विवाहोत्सवमें स्त्रियोंको अधिक प्रेम होता ही है ॥ ७३ ॥

विवृद्धा सा मुदा देवी पुत्रकल्याणसंपदा । कलयेन्दोरिवाम्भोधिर्वेला कल्लोलमालिनी ॥ ७४ ॥

जिस प्रकार चन्द्रमाकी कलासे लहरोंकी मालासे भरी हुई समुद्रकी वेला बढ़ने लगती है उसी प्रकार भाग्योदयसे प्राप्त होनेवाली पुत्रकी विवाहोत्सवरूप सम्पदासे मरुदेवी बढ़ने लगी थीं ॥ ७४ ॥

पुरोर्विवाहकल्याणे प्रीतिं भेजे जनोऽखिलः । स्वभोगीनतया भर्तुर्भोगान् लोकोऽनुरुध्यते ॥ ७५ ॥

भगवानके विवाहोत्सवमें सभी लोग आनन्दको प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है। मनुष्य स्वयं ही भोगोंकी इच्छा रखते हैं इसलिए वे स्वामीको भोग स्वीकार करते देखकर उनका अनुसरण करने लगते हैं ॥ ७५ ॥

प्रमोदाय नृलोकस्य न परं स महोत्सवः । स्वर्गलोकेऽप्यसौ संप्रीतिमतनोद् गरीयसीम् ॥ ७६ ॥

भगवानका वह विवाहोत्सव केवल मनुष्यलोककी प्रीतिके लिए ही नहीं हुआ था, किन्तु उसने स्वर्गलोकमें भी भारी प्रीतिको विस्तृत किया था ॥ ७६ ॥

वरोरू चारुजङ्घे ते मृदुपादपयोरुहे । सुश्रोणिनाधरेणापि कायेनाजयतां जगत् ॥ ७७ ॥

भगवान वृषभदेवकी दोनों महादेवियाँ उत्कृष्ट ऊरुओं, सुन्दर जंघाओं और कोमल चरण-कमलोंसे सहित थीं। यद्यपि उनका सुन्दर कटिभाग अधर अर्थात् नीचा था (पक्षमें नाभिसे नीचे रहनेवाला था) तथापि उससे संयुक्त शरीरके द्वारा उन्होंने समस्त संसारको जीत लिया था ॥ ७७ ॥

वराङ्गे तनुमुदरे रोमराजिं तनीयसीम् । दधाने कामसन्धेममदस्तुतिमिवाग्रिमाम् ॥ ७८ ॥

वे दोनों ही देवियाँ अत्यन्त सुन्दर थीं, उनका उदर कृश था और उस कृश उदरपर वे जिस पतली रोम-राजिको धारण कर रही थीं वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथीके मदकी अग्रधारा ही हो ॥ ७८ ॥

नाभिं कामरसस्यैककूपिकां बिभृतः स्म ते । रोमराजीलतामूलबद्धां पालीमिवोभितः ॥ ७९ ॥

वे देवियाँ जिस नाभिको धारण कर रही थीं वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कामरूपी रसकी कूपिका ही हो अथवा रोमराजिरूपी लताके मूलमें चारों ओरसे बँधी हुई पाली ही हो ॥ ७९ ॥

> उत्तुङ्गाब्जकुड्मले दीर्घरोमराज्येकनालके । ते पद्मिन्यौ वियाधर्ते सह चूचुकषट्पदे ॥ ८० ॥

जिस प्रकार कमलिनी कमलपुष्पकी बोंडियोंको धारण करती है उसी प्रकार वे देवियाँ स्तनरूपी कमलकी बोंडियोंको धारण कर रही थीं, कमलिनियोंके कमल जिस प्रकार एक नालसहित होते हैं उसी प्रकार उनके स्तनरूपी कमल भी रोमराजिरूपी एक नालसहित थे और कमलोंपर जिस प्रकार भौंरे बैठते हैं उसी प्रकार उनके स्तनरूपी कमलोंपर भी चूचुकरूपी भौंरे बैठे हुए थे। इस प्रकार वे दोनों ही देवियाँ ठीक कमलिनियोंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥ ८० ॥

> मुक्ताहारेण ताभ्यान्तस्तपस्तेपे स्वनामजम् । यतोऽवाप स तत्कण्ठकुचस्पर्शसुखामृतम् ॥ ८१ ॥

उनके गलेमें जो मुक्ताहार अर्थात् मोतियोंके हार पड़े हुए थे, मालूम होता है कि उन्होंने अवश्य ही अपने नामके अनुसार (मुक्ताहार) आहार-त्याग अर्थात् उपवासरूप तप तपा था और इसीलिए उन मुक्ताहारोंने अपने उक्त तपके फलस्वरूप उन देवियोंके कण्ठ और स्तनोंके स्पर्शसे उत्पन्न हुए सुखरूपी अमृतको प्राप्त किया था ॥ ८१ ॥

> एकावल्या स्तनोपान्तस्पर्शिन्या ते विरेजतुः । सख्या कण्ठसङ्गिन्या स्वच्छया स्निग्धमुक्तया ॥ ८२ ॥

कण्ठमें पड़े हुए एकावली अर्थात् एक लड़के हारसे वे दोनों ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो किसी सखीके सम्बन्धसे ही शोभायमान हो रही हों; क्योंकि जिस प्रकार सखी स्तनोंके समीपवर्ती भागका स्पर्श करती है उसी प्रकार वह एकावली भी उनके स्तनोंके समीपवर्ती भागका स्पर्श कर रही थी, सखी जिस प्रकार कण्ठसे संसर्ग रखती है अर्थात् कण्ठालिंगन करती है उसी प्रकार वह एकावली भी उनके कण्ठसे संसर्ग रखती थी अर्थात् कण्ठमें पड़ी हुई थी, सखी जिस प्रकार स्वच्छ अर्थात् कपटरहित-निर्मलहृदय होती है उसी प्रकार वह एकावली भी स्वच्छ-निर्मल थी और सखी जिस प्रकार स्निग्धमुक्ता होती है अर्थात् स्नेहपूर्वक छोड़ी-भेजी जाती है, उसी प्रकार वह एकावली भी स्निग्धमुक्ता थी अर्थात् चिकने मोतियोंसे सहित थी ॥ ८२ ॥

> हारं नक्षत्रमालाख्यं ते स्तनान्तरलम्बिनम् । दधतुः कुचसंस्पर्शाद् हसन्तमिब रोचिषा ॥ ८३ ॥

वे देवियाँ अपने स्तनोंके बीचमें लटकते हुए जिस नक्षत्रमाला अर्थात् सत्ताईस मोतियोंके हारको धारण किये हुई थीं वह अपनी किरणोंसे ऐसा मालूम होता था मानो स्तनोंका स्पर्श कर आनन्दसे हँस ही रहा हो ॥ ८३ ॥

> भुजलते चाव्यौं वधिषातां सुसंहते । नखांशुकुसुमोद्भेदे दधाने हसितश्रियम् ॥ ८४ ॥

वे देवियाँ नखोंकी किरणरूपी पुष्पोंके विकाससे हास्यकी शोभाको धारण करनेवाली कोमल, सुन्दर और सुसंगठित भुजलताओंको धारण कर रही थीं ॥ ८४ ॥

> मुखेन्दुभ्यां कान्तिमधान्मुग्धस्मितांशुभिः । ज्योत्स्नालक्ष्मीं समातन्वन् जगतां कान्तदर्शनः ॥ ८५ ॥

उन दोनोंके मुखरूपी चन्द्रमा भारी कान्तिको धारण कर रहे थे, वे अपने सुन्दर मन्द हास्यकी किरणोंके द्वारा चाँदनीकी शोभा बढ़ा रहे थे, और सब संसारको बहुत ही सुन्दर जान पड़ते थे ॥ ८५ ॥

> सुपक्ष्मणी तयोर्नेत्रे रेजाते स्निग्धतारके । यथोत्पले समुत्फुल्ले केसरालग्नषट्पदे ॥ ८६ ॥

उत्तम बरौनी और चिकनी अथवा स्नेहयुक्त पुतलियोंसहित उनके नेत्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनके केशरोंपर भ्रमर आ लगे हैं ऐसे फूले हुए कमल ही हों ॥ ८६ ॥

> नामकर्मविनिर्माणरुचिरे भ्रूलते तयोः । मन्मथस्यापि कोदण्डलता नानुग्रहीतुमलं तराम् ॥ ८७ ॥

सुन्दर भौंहोंवाली उन देवियोंकी दोनों भौंहें नामकर्मके द्वारा इतनी सुन्दर बनी थीं कि कामदेवकी धनुषलता भी उनकी बराबरी नहीं कर सकती थी ॥ ८७ ॥

> नीलोत्पलावतंसेन श्रुती दधतुः प्रियम् । मिथः प्रमित्सुनेवोच्चैरायतिं नयनाब्जयोः ॥ ८८ ॥

उन महादेवियोंके कान नीलकमलरूपी कर्ण-भूषणोंसे ऐसी शोभा धारण कर रहे थे मानो नेत्ररूपी कमलोंकी अतिशय लम्बाईको परस्परमें नापना ही चाहते थे ॥ ८८ ॥

> ते ललाटतटालम्बानलकान् दधतुः शुभान् । सुवर्णपट्टपर्यन्तखचितेन्द्रोपलत्विषः ॥ ८९ ॥

वे देवियाँ अपने ललाट-तटपर लटकते हुए जिन अलकोंको धारण कर रही थीं वे सुवर्णपट्टके किनारेपर जड़े हुए इन्द्रनीलमणियोंके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥ ८९ ॥

स्रस्तस्रक्कबरीग्रन्थस्तयोरत्प्रेक्षितो जनैः । कृष्णाहिरिव शुक्लाहिं निगीर्योद्गिरन् मुहुः ॥ ९० ॥

जिनपर-की पुष्पमालाएँ ढीली होकर नीचेकी ओर लटक रही थीं ऐसे उन देवियोंके केशपाशोंके विषयमें लोग ऐसी उत्प्रेक्षा करते थे कि मानो कोई काले साँप सफेद साँपको निगलकर फिरसे उगल रहे हों ॥ ९० ॥

मूर्ति स्वभावमधुरामाकृतिं भूषणोज्ज्वलाम् । दधतुर्विपुलां लीलां कल्पवल्ल्योः स्फुरन्त्योः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार स्वभावसे मधुर और आभूषणोंसे उज्ज्वल आकृतिको धारण करनेवाली वे देवियाँ कान्तिमती कल्पलताओंकी शोभा धारण कर रही थीं ॥ ९१ ॥

मुनयोरपि रूपं जनानामतिरिच्यभूत् । एताभ्यां निर्जिताः सर्वाः स्त्रियम्मन्याः सुरस्त्रियः ॥ ९२ ॥

इन दोनोंके उस सुन्दर रूपको देखकर लोगोंकी यही बुद्धि होती थी कि वास्तवमें इन्होंने अपने-आपको स्त्री माननेवाली देवांगनाओंको जीत लिया है ॥ ९२ ॥

स ताभ्यां कीर्तिलक्ष्मीभ्यामिव तस्थौ नरोत्तमः । ते च तेन समं रेजतुर्महानद्यौ सागरेणेव संगताः ॥ ९३ ॥

वरोंमें उत्तम भगवान वृषभदेव उन देवियोंसे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो कीर्ति और लक्ष्मीसे ही शोभायमान हो रहे हों और वे दोनों भगवानसे इस प्रकार मिली थीं जिस प्रकारकी महानदियाँ समुद्रसे मिलती हैं ॥ ९३ ॥

रूपवत्यौ द्युतिमती कान्ते ते मनो जह्रतुर्विभोः । जयपताके इवाशेषं जिगीषोर्वैजयन्तिके ॥ ९४ ॥

वे देवियाँ बड़ी ही रूपवती थीं, कान्तिमती थीं, सुन्दर थीं और समस्त जगत्को जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवकी पताकाके समान थीं और इसीलिए ही उन्होंने भगवान् वृषभदेवका मन हरण कर लिया था ॥ ९४ ॥

आकृष्टमनसोऽभूवन् ता अपि भुवनेशिना । हारयष्ट्योरिवारक्तमणिना मध्यमुद्गतेन ॥ ९५ ॥

जिस प्रकार बीचमें लगा हुआ कान्तिमान् पद्मरागमणि हारयष्टियोंके मध्यभागको अनुरंजित अर्थात् लाल वर्ण कर देता है उसी प्रकार उत्कृष्ट कान्ति या इच्छासे युक्त भगवान् वृषभदेवने भी उन देवियोंके मनको अनुरंजित—प्रसन्न कर दिया था ॥ ९५ ॥

> बहुशो भग्नमानोऽपि पुरोऽस्य मनोभवः । चचार गूढसंचारं कारणं चात्र चिन्त्यताम् ॥ ९६ ॥

यद्यपि कामदेव भगवान् वृषभदेवके सामने अनेक बार अपमानित हो चुका था तथापि वह गुप्त रीतिसे अपना संचार करता ही रहता था। विद्वानोंको इसका कारण स्वयं विचार लेना चाहिए ॥ ९६ ॥

> नूनं प्रकाशात्मा यदुद्रेकं हृदिशयोऽक्षमः । अनङ्गतां तदा भेजे सोपाया हि जिगीषवः ॥ ९७ ॥

मालूम होता है कि कामदेव स्पष्टरूपसे भगवानको बाधा देनेके लिए समर्थ नहीं था इसलिए वह उस समय शरीररहित अवस्थाको प्राप्त हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि विजयकी इच्छा करनेवाले पुरुष अनेक उपायोंसे सहित होते हैं—कोई-न-कोई उपाय अवश्य करते हैं ॥ ९७ ॥

> अनङ्गत्वात्तन्नूनमेनयोः प्रविशन् वपुः । दुर्गाश्रित इवानङ्गो विव्याध तं स्वसायकैः ॥ ९८ ॥

अथवा कामदेव शरीररहित होनेके कारण इन देवियोंके शरीरमें प्रविष्ट हो गया था और वहाँ किलेके समान स्थित होकर अपने बाणोंके द्वारा भगवानको घायल करता था ॥ ९८ ॥

> ताभ्यामिति समं भोगान् भुञ्जानस्य जगद्गुरोः । कालो महानगादेकक्षणवत् सततक्षणैः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार उन देवियोंके साथ भोगोंको भोगते हुए जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवका बड़ा भारी समय निरन्तर होनेवाले उत्सवोंसे क्षण-भरके समान बीत गया था ॥ ९९ ॥

> अथान्यदा महादेवी सौधे सुप्ता यशस्वती । स्वप्नेऽपश्यन् महीं मेरुं दधिं चार्कं च सोडुपम् ॥ १०० ॥

अथानन्तर किसी समय यशस्वती महादेवी महलकी छतपर सो रही थीं। सोते समय उसने स्वप्नमें जलती हुई पृथिवी, सुमेरु पर्वत, चन्द्रमासहित सूर्य, हंससहित सरोवर तथा चंचल लहरोंवाला समुद्र देखा ॥ १०० ॥

सरः सहसमम्भोधिं च चलद्वीचिकमैक्षत । दृष्ट्वैवं सा व्यबुद्धासौ बन्दिगणानां स्तुतिनिःस्वनैः ॥ १०१ ॥

यह सब देखनेके बाद मंगल-पाठ पढ़ते हुए बन्दीजनोंके शब्द सुनकर वह जाग पड़ी ॥ १०१ ॥

अयि विबुध्यस्व यशस्वति कल्याणशतभागिनि । प्रबोधसमयोऽयं ते सहाब्जिन्या प्रबोधिनी ॥ १०२ ॥

उस समय बन्दीजन इस प्रकार मंगल-पाठ पढ़ रहे थे कि हे दूसरोंका कल्याण करनेवाली और स्वयं सैकड़ों कल्याणोंको प्राप्त होनेवाली देवि, अब तू जाग, क्योंकि तू कमलिनीके समान शोभा धारण करनेवाली है—इसलिए यह तेरा जागनेका समय है। भावार्थ—जिस प्रकार यह समय कमलिनीके जागृत-विकसित होनेका है, उसी प्रकार तुम्हारे जागृत होनेका भी है ॥ १०२ ॥

मुदे तवाद्य भूयासुरीमे स्वप्नाः शुभावहाः । महीमेरूदधीन्द्वर्कसरोवरपुरःसराः ॥ १०३ ॥

हे मातः, पृथिवी, मेरु, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा और सरोवर आदि जो अनेक मंगल करनेवाले ये स्वप्न देखे हैं वे तुम्हारे आनन्दके लिए हों ॥ १०३ ॥

नमस्सरोवरेऽन्विष्य चिरं तिमिरशैवलम् । खेदादिवाधुनाभ्येति शशिहंसोऽस्तपादपम् ॥ १०४ ॥

हे देवि, यह चन्द्रमारूपी हंस चिरकाल तक आकाशरूपी सरोवरमें अन्धकाररूपी शैवालको खोजकर अब खेदखिन्न होनेसे ही मानो अस्ताचलरूपी वृक्षका आश्रय ले रहा है अर्थात् अस्त हो रहा है ॥ १०४ ॥

ज्योत्स्नाम्भसि चिरं तीर्त्वा तारहंस्यो नभोह्रदे । नूनं निवेष्टुमस्ताद्रेः शिखराण्याश्रयन्त्यमूः ॥ १०५ ॥

ये तारारूपी हंसियाँ आकाशरूपी द्रहके चाँदनीरूपी जलमें चिरकाल तक तैरकर अब मानो निवास करनेके लिए ही अस्ताचलके शिखरोंका आश्रय ले रही हैं—अस्त हो रही हैं ॥ १०५ ॥

निद्राकषायितैर्नेत्रैः कोकीनां सेर्ष्यमीक्षितः । तद्दृष्टितृषितात्मेष विधुर्विच्छायतां गतः ॥ १०६ ॥

हे देवि, यह चन्द्रमा कान्तिरहित हो गया है, ऐसा मालूम होता है कि रात्रिके समय चकवियोंने निद्राके कारण लाल हुए अपने नेत्रोंसे इसे ईर्ष्याके साथ देखा है इसलिए मानो उनकी दृष्टिके दोषसे ही दूषित होकर यह कान्तिरहित हो गया है ॥ १०६ ॥

> प्रयाति यामिनी यामान् निवास्तेतुं पुरोगतान् । ज्योत्स्नांशुक्रेन संवेष्ट्य तारासर्वस्वमात्मनः ॥ १०७ ॥

हे देवि, अब यह रात्रि भी अपने नक्षत्ररूपी धनको चाँदनीरूपी वस्त्रमें बाँधकर भागी जा रही है, ऐसा मालूम होता है मानो वह आगे गये हुए (बीते हुए) प्रहरोंके पीछे ही जाना चाहती हो ॥ १०७ ॥

> इतोऽस्तमेति शीतांशुरितो भास्वानुदीयते । जगत्संपद नेचित्र्यमुपदेष्टुं समुद्यतौ ॥ १०८ ॥

इस ओर यह चन्द्रमा अस्त हो रहा है और इस ओर सूर्यका उदय हो रहा है, ऐसा जान पड़ता है मानो ये संसारकी विचित्रताका उपदेश देनेके लिए ही उद्यत हुए हों ॥ १०८ ॥

> तारका गगनाम्भोदौ मुक्ताफलनिश्रियाः । अरुणीर्बानलेनेसा विलीयन्ते गतत्विषः ॥ १०९ ॥

हे देवि, आकाशरूपी समुद्रमें मोतियोंके समान शोभायमान रहनेवाले ये तारे सूर्यरूपी बड़वानलके द्वारा कान्ति-रहित होकर विलीन होते जा रहे हैं ॥ १०९ ॥

> सरितः सैकतादेव चक्रवाको रुवन् रुवन् । अन्विच्छति प्रियां चक्रीं निशाविरहविह्वलः ॥ ११० ॥

रात-भर विरहसे व्याकुल हुआ यह चकवा नदीके बालूके टीलेपर स्थित होकर रोता-रोता ही अपनी प्यारी चकवीको ढूँढ़ रहा है ॥ ११० ॥

> अत्र हंसयुवा प्रियं सुषुप्सति स्म सति । मृणालशकलेनाङ्गं कण्डूयञ्चञ्चुलम्बिना ॥ १११ ॥

हे सति, इधर यह जवान हंस चोंचमें दबाये हुए मृणाल-खण्डसे शरीरको खुजलाता हुआ हंसीके साथ शयन करना चाहता है ॥ १११ ॥

> अब्जिनीयमितो धत्ते विकसत्पङ्कजाननम् । दिवा ग्लानिमासाद्य नम्रास्येयं कुमुद्वती ॥ ११२ ॥

हे देवि, इधर यह कमलिनी अपने विकसित कमलरूपी मुखको धारण कर रही है और इधर यह कुमुदिनी मुरझाकर नम्रमुख हो रही है अर्थात् खिले हुए कुमुदोंको नीचा कर रही है ॥ ११२ ॥

> सरःपुलिनेष्वेताः कुरर्यः कुर्वते रुतम् । युष्मन्नूपुरसंवादि तारं मधुरमेव च ॥ ११३ ॥

इधर तालाबके किनारोंपर ये कुरर पक्षियोंकी स्त्रियाँ तुम्हारे नूपुरके समान उच्च और मधुर शब्द कर रही हैं ॥ ११३ ॥

> नीडेभ्य उच्चलन्त्येते कृतकोलाहलस्वनाः । प्राभातिकमिव स्तोत्रं पठन्तोऽमी शकुन्तयः ॥ ११४ ॥

इस समय ये पक्षी कोलाहल करते हुए अपने-अपने घोंसलोंसे उड़ रहे हैं और ऐसे जान पड़ते हैं मानो प्रातःकालका मंगल-पाठ ही पढ़ रहे हों ॥ ११४ ॥

> अप्राप्ततैलसंस्काराः परिक्षीणदशा इमे । काञ्चुकीयैः समं दीपा यान्ति कालेन मन्दताम् ॥ ११५ ॥

इधर प्रातःकालका समय पाकर ये दीपक कंचुकियों (राजाओंके अन्तःपुरमें रहनेवाले वृद्ध या नपुंसक पहरेदारों) के साथ-साथ ही मन्दताको प्राप्त हो रहे हैं क्योंकि जिस प्रकार कंचुकी तैलके संस्कारसे रहित होते हैं उसी प्रकार दीपक भी प्रातःकाल होनेपर तैलके द्वारा की हुई सजावटसे रहित हो रहे हैं, और कंचुकी जिस प्रकार परिक्षीण दशा अर्थात् वृद्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार दीपक भी परिक्षीण दशा अर्थात् क्षीण बत्तीवाले हो रहे हैं ॥ ११५ ॥

> तव गेहे स्थिता देवि स्वस्त्यङ्गलविधित्सया । कुब्जवासनिकाप्रायः परिवारः प्रतीक्षते ॥ ११६ ॥

हे देवि, इधर तुम्हारे घरमें तुम्हारा मंगल करनेकी इच्छासे यह कुब्जक तथा वामन आदिका परिवार तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है ॥ ११६ ॥

> विमुञ्च शयनां तल्पं नदीपुलिनसंनिभम् । हंसीव राजहंसस्य वल्लभा मानसाश्रया ॥ ११७ ॥

इसलिए जिस प्रकार मानसरोवरपर रहनेवाली, राजहंस पक्षीकी प्रिय वल्लभा—हंसी नदीका किनारा छोड़ देती है उसी प्रकार भगवान् नाभिराजके मनमें रहनेवाली और उनकी प्रिय वल्लभा तू भी शय्या छोड़ ॥ ११७ ॥

> इत्युच्चैर्वन्दिवृन्देषु पठत्सु समयोचितम् । प्राबोधिकानकध्वानैः सा विनिद्रामवच्छनैः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार जब बन्दीजनोंके समूह जोर-जोरसे मंगल-पाठ पढ़ रहे थे तब वह यशस्वती महादेवी जगानेवाले दुन्दुभियोंके शब्दोंसे धीरे-धीरे निद्रारहित हुई—जाग उठी ॥ ११८ ॥

> विमुक्तशयना चैषा कृतमङ्गलमज्जना । प्रष्टुकामा स्वदृष्टानां स्वप्नानां तत्त्वतः फलम् ॥ ११९ ॥

और शय्या छोड़कर प्रातःकालका मंगलस्नान कर प्रीतिसे रोमाञ्चितशरीर हो अपने देखे हुए स्वप्नोंका यथार्थ फल पूछनेके लिए ॥ ११९ ॥

> प्रीतिकण्टकिता भेजे पद्मिनीवार्कमुद्गतम् । प्राणनाथं जगत्प्राणिस्रान्तध्वान्तनुदं विभुम् ॥ १२० ॥

संसारके प्राणियोंके हृदयवर्ती अन्धकारको दूर करनेवाले अतिशय प्रकाशमान और सबके स्वामी भगवान् वृषभदेवके समीप उस प्रकार पहुँची जिस प्रकार कमलिनी संसारके मध्यवर्ती अन्धकारको नष्ट करनेवाले और अतिशय प्रकाशमान सूर्यके सम्मुख पहुँचती है ॥ १२० ॥

> तमुपेत्य सुरासीना स्वोचिते मणिविष्टरे । लक्ष्मीरिव रुचिं भेजे भर्तुरभ्यर्णवर्तिनी ॥ १२१ ॥

भगवानके समीप जाकर वह महादेवी अपने योग्य सिंहासनपर सुखपूर्वक बैठ गयी। उस समय महादेवी साक्षात् लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही थी ॥ १२१ ॥

> सा पप्रच्छ स्वप्नमालां तस्मै न्यवेदयत् । दिव्यचक्षुरसौ देवस्तत्फलानीत्यभाषत ॥ १२२ ॥

तदनन्तर उसने रात्रिके समय देखे हुए समस्त स्वप्न भगवानसे निवेदन किये और अवधि-ज्ञानरूपी दिव्य नेत्र धारण करनेवाले भगवानने भी नीचे लिखे अनुसार उन स्वप्नोंका फल कहा कि ॥ १२२ ॥

> अद्रिणा देवि पुत्रमाप्तासि गिरीन्द्राच्चक्रवर्तिनम् । वदत्या प्रतापितामर्कः शास्तीन्दुः कान्तिसंपदम् ॥ १२३ ॥

हे देवि, स्वप्नोंमें जो तूने सुमेरु पर्वत देखा है उससे मालूम होता है कि तेरे चक्रवर्ती पुत्र होगा। सूर्य उसके प्रतापको और चन्द्रमा उसकी कान्तिरूपी सम्पदाको सूचित कर रहा है ॥ १२३ ॥

> सरोजाक्षि सरोदृष्टेस्तेजस्वी पद्मवासिनीम् । वोढा व्यूढोरसा पुण्यलक्षणाहितविग्रहः ॥ १२४ ॥

हे कमलनयने, सरोवरके देखनेसे तेरा पुत्र अनेक पवित्र लक्षणोंसे चिह्नितशरीर होकर अपने विस्तृत वक्षःस्थलपर कमलवासिनी-लक्ष्मीको धारण करनेवाला होगा ॥ १२४ ॥

> महीप्रसन्नतां दृष्ट्वा महीं सागरवाससम् । प्रतिपालयिता देवि विश्वराट् तव पुत्रकः ॥ १२५ ॥

हे देवि, पृथिवीका प्रसन्न होना देखनेसे मालूम होता है कि तुम्हारा वह पुत्र चक्रवर्ती होकर समुद्ररूपी वस्त्र धारण करनेवाली समस्त पृथिवीका पालन करेगा ॥ १२५ ॥

> सागराच्चरमस्त्वेष तरीता जन्मसागरम् । ज्यायान् पुत्रशतस्यायमिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ॥ १२६ ॥

और समुद्र देखनेसे प्रकट होता है कि वह चरमशरीरी होकर संसाररूपी समुद्रको पार करनेवाला होगा। इसके सिवाय इक्ष्वाकु-वंशको आनन्द देनेवाला वह पुत्र तेरे सौ पुत्रोंमें सबसे ज्येष्ठ पुत्र होगा ॥ १२६ ॥

> इति श्रुत्वा वचो भर्तुः सा तदा प्रमदोदयात् । ववृधे जलधेर्वेला चन्द्रे समुदिते यथा ॥ १२७ ॥

इस प्रकार पतिके वचन सुनकर उस समय वह देवी हर्षके उदयसे ऐसी वृद्धिको प्राप्त हुई थी जैसी कि चन्द्रमाका उदय होनेपर समुद्रकी वेला वृद्धिको प्राप्त होती है ॥ १२७ ॥

> ततः सर्वार्थसिद्धिस्थो योऽसौ व्याघ्रचरः सुरः । सुबाहुरहमिन्द्रोऽतश्च्युत्वा तद्गर्भमावसत् ॥ १२८ ॥

तदनन्तर राजा अतिगृद्धका जीव जो पहले व्याघ्र था, फिर देव हुआ, फिर सुबाहु हुआ और फिर सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ था, वहाँसे च्युत होकर यशस्वती महादेवीके गर्भमें आकर निवास करने लगा ॥ १२८ ॥

> सा गर्भमवहद् देवी देवाद् दिव्यानुभावजम् । येन नासहताकं च समाक्रान्तमदम्बरे ॥ १२९ ॥

वह देवी भगवान वृषभदेवके दिव्य प्रभावसे उत्पन्न हुए गर्भको धारण कर रही थी। यही कारण था कि वह अपने ऊपर आकाशमें चलते हुए सूर्यको भी सहन नहीं करती थी ॥ १२९ ॥

> सापश्यत् स्वमुखच्छायां वीरसूरसिदर्पणे । तत्र प्रातोपिकीं दृष्ट्वा छायां नासोढ मानिनी ॥ १३० ॥

वीर पुत्रको पैदा करनेवाली वह देवी अपने हाथमें रखी हुई तलवाररूपी दर्पणमें अपना मुख देखती थी और अतिशय मान करनेवाली वह उस तलवारमें पड़ती हुई अपनी प्रतिकूल छायाको भी नहीं सहन कर सकती थी ॥ १३० ॥

> अन्तर्वत्नीमपश्यत् तां पतिरुत्सुकया दृशा । जलगर्भाभिवाम्भोदमालीं काले शिखावलः ॥ १३१ ॥

जिस प्रकार वर्षाका समय आनेपर मयूर जलसे भरी हुई मेघमालाको बड़ी ही उत्सुक दृष्टिसे देखते हैं उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव भी उस गर्भिणी यशस्वती देवीको बड़ी ही उत्सुक दृष्टिसे देखते थे ॥ १३१ ॥

> रत्नगर्भा यथा भूमिः फलगर्भेव वल्लरी । तेजोगर्भा च दिक् प्राची बभौ सा रुचिमानशे ॥ १३२ ॥

वह यशस्वती देवी, जिसके गर्भमें रत्न भरे हुए हैं ऐसी भूमिके समान, जिसके मध्यमें फल लगे हुए हैं ऐसी बेलके समान, अथवा जिसके मध्यमें सूर्यरूपी तेज छिपा हुआ है ऐसी पूर्व दिशाके समान अत्यन्त शोभाको प्राप्त हो रही थी ॥ १३२ ॥

> सा मन्दं गमनं भेजे मणिकुट्टिमभूमिषु । हंसाव नूपुरोदारशिञ्जानैमञ्जुभाषिणी ॥ १३३ ॥

वह रत्नखचित पृथिवीपर हंसीकी तरह नूपुरोंके उदार शब्दोंसे मनोहर शब्द करती हुई मन्द-मन्द गमन करती थी ॥ १३३ ॥

> सावष्टम्भपदन्यासैर्मुद्रयन्तीव सा धराम् । स्वभुङ्क्त्यै मन्थरं यातमभजन् मणिकुट्टिमे ॥ १३४ ॥

मणियोंसे जड़ी हुई जमीनपर स्थिरतापूर्वक पैर रखकर मन्दगतिसे चलती हुई वह यशस्वती ऐसी जान पड़ती थी मानो पृथिवी हमारे ही भोगके लिए है ऐसा मानकर उसपर मुहर ही लगाती जाती थी ॥ १३४ ॥

> उदरेऽस्या वलीभङ्गो नादृश्यत यथा पुरा । अङ्गं सत्सूनुस्त्वेवं दिग्विजयं सूचयन्नसौ ॥ १३५ ॥

उसके उदरपर गर्भावस्थासे पहलेकी तरह ही गर्भावस्थामें भी वलीभंग अर्थात् नाभिसे नीचे पड़नेवाली रेखाओंका भंग नहीं दिखाई देता था और उससे मानों यही सूचित होता था कि उसका पुत्र अभंग नाशरहित दिग्विजय प्राप्त करेगा (यद्यपि स्त्रियोंके गर्भावस्था में नाभिसे नीचेकी रेखाओंका विनाश हो जाता है, परन्तु उत्तम स्त्री होनेके कारण यशस्वतीके वह विनाश प्रकट नहीं हुआ था) ॥ १३५ ॥

> नीलिमा तत्कुचाग्राण्यसंस्पृशद् गर्भसंभवे । गर्भस्थोऽस्याः सुतोऽन्येषां निर्दहेन्नूनमुन्नतिम् ॥ १३६ ॥

गर्भ धारण करनेपर उसके स्तनोंका अग्रभाग काला हो गया था और उससे यही सूचित होता था कि उसके गर्भमें स्थित रहनेवाला बालक अन्य राजाओंकी उन्नतिको अवश्य ही जला देगा—नष्ट कर देगा ॥ १३६ ॥

> दोहदः परमोदात्तमाहारे मन्दिता रुचिः । सालसं गतमावासात् स्रस्ताङ्गं शयनं भुवि ॥ १३७ ॥

परम उत्कृष्ट दोहद उत्पन्न होना, आहारमें रुचिका मन्द पड़ जाना, आलस्यसहित गमन करना, शरीरको शिथिल कर जमीनपर सोना ॥ १३७ ॥

> मुखमापाण्डु गण्डान्तं वीक्षणं सालसेक्षितम् । आपाटलाधरं वक्त्रं सस्नासुरभि वासितम् ॥ १३८ ॥

मुखका गालों तक कुछ-कुछ सफेद हो जाना, आलस-भरे नेत्रोंसे देखना, ओष्ठोंका कुछ सफेद और लाल होना और मुखसे विशेष सुगन्ध आना ॥ १३८ ॥

इत्येतानि गर्भचिह्नानि मनः पत्युररञ्जयन् । ववृधे च शनैर्गर्भः द्विषच्छक्तीररञ्जयन् ॥ १३९ ॥

इस प्रकार यशस्वतीके गर्भके सब चिह्न भगवान वृषभदेवके मनको अत्यन्त प्रसन्न करते थे और शत्रुओंकी शक्तियोंको शीघ्र ही विजय करता हुआ वह गर्भ धीरे-धीरे बढ़ता जाता था ॥ १३९ ॥

नवमासेष्वतीतेषु तदा साऽसूत सुतम् । प्राचीवार्कं स्फुरत्तेजःपरिवेषं महोदयम् ॥ १४० ॥

जिसका मण्डल देदीप्यमान तेजसे परिपूर्ण है और जिसका उदय बहुत ही बड़ा है ऐसे सूर्यको जिस प्रकार पूर्व दिशा उत्पन्न करती है, उसी प्रकार नौ महीने व्यतीत होनेपर उस यशस्वती महादेवीने देदीप्यमान तेजसे परिपूर्ण और महापुण्यशाली पुत्रको उत्पन्न किया ॥ १४० ॥

शुभे दिने शुभे लग्ने योगे धुरुधुराह्वये । सा प्रासोष्ट सुताग्रण्यं स्फुरत्साम्राज्यलक्षणम् ॥ १४१ ॥

भगवान वृषभदेवके जन्म समयमें जो शुभ दिन, शुभ लग्न, शुभ योग, शुभ चन्द्रमा और शुभ नक्षत्र आदि पड़े थे वे ही शुभ दिन आदि उस समय भी पड़े थे, अर्थात् उस समय, चैत्र कृष्ण नवमीका दिन, मीन लग्न, धुरुधुर योग, धन राशिका चन्द्रमा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्र था। उसी दिन यशस्वती महादेवीने सम्राट्के शुभ लक्षणोंसे शोभायमान ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न किया था ॥ १४१ ॥

आलिङ्ग्य पृथिवीं दोर्भ्यां यदसावुदपद्यत । अतोऽयं सार्वभौमस्त्वं जगुर्नैमित्तिकास्तदा ॥ १४२ ॥

वह पुत्र अपनी दोनों भुजाओंसे पृथिवीका आलिंगन कर उत्पन्न हुआ था इसलिए निमित्तज्ञानियोंने कहा था कि वह समस्त पृथिवीका अधिपति—अर्थात् चक्रवर्ती होगा ॥ १४२ ॥

सुतेन्दुनातिसौम्येन व्यद्योतच्छर्वरीव सा । बालार्केण पितुरासीद् दिवसस्येव दीप्तता ॥ १४३ ॥

वह पुत्र चन्द्रमाके समान सौम्य था इसलिए माता-यशस्वती उस पुत्ररूपी चन्द्रमासे रात्रिके समान सुशोभित हुई थी, इसके सिवाय वह पुत्र प्रातःकालके सूर्यके समान तेजस्वी था इसलिए पिता-भगवान् वृषभदेव उस बालकरूपी सूर्यसे दिनके समान देदीप्यमान हुए थे ॥ १४३ ॥

पितामहौ च तं दृष्ट्वा प्रमोदं परमियतुः । यथा सबेलो जलधिरुदये शशिशशिनोः ॥ १४४ ॥

जिस प्रकार चन्द्रमाका उदय होनेपर अपनी वेलासहित समुद्र हर्षको प्राप्त होता है उसी प्रकार भरतका जन्म होनेपर उसके दादा और दादी अर्थात् महारानी मरुदेवी और महाराज नाभिराज दोनों ही परम हर्षको प्राप्त हुए थे ॥ १४४ ॥

तां तदा वर्धयामासुः पुण्याशीर्भिः पुरन्ध्रिकाः । सुखं प्रसूता पुत्राणां शतमित्यधिकोत्सवः ॥ १४५ ॥

उस समय अधिक हर्षित हुई पतिपुत्रवती स्त्रियाँ 'तू इसी प्रकार सौ पुत्र उत्पन्न कर' इस प्रकारके शुभ आशीर्वादोंसे उस यशस्वती देवीको बढ़ा रही थीं ॥ १४५ ॥

तदानन्दमहाभेर्यः क्षुभिताः कोणकोटिभिः । दध्वनुर्घनदम्भोदगम्भीरं राजमन्दिरे ॥ १४६ ॥

उस समय राजमन्दिरमें करोड़ों डण्डोंसे ताड़ित हुईं आनन्दको देनेवाली बड़ी-बड़ी भेरी मेघके समान गम्भीर शब्दसे बजने लगीं ॥ १४६ ॥

त्रुटिपटहझल्लर्यः पणवास्तुणवास्तदा । सतूर्यकाहलास्तालाः प्रमदादिव सस्वनुः ॥ १४७ ॥

उस समय त्रुटि, पटह, झल्लरी, पणव, तुणव, तूर्य, काहल और ताल आदि समस्त बाजे मानो आनन्दसे ही शब्द करने लगे ॥ १४७ ॥

तदा सुरभिरम्लानिरपतत् कुसुमोध्करः । दिवो देवकरोन्मुक्तो भ्रमद्भ्रमरसेवितः ॥ १४८ ॥

उस समय आकाशसे देवोंके हाथोंसे छोड़े हुए, सुगन्धित, अम्लान और मँडराते हुए भ्रमरोंसे सेवित पुष्पोंकी वर्षा होने लगी ॥ १४८ ॥

मदुमन्दममन्देन मन्दाररजसा ततः । ववावधावद् रजसाम्छटाशिशिरो मरुत् ॥ १४९ ॥

तदनन्तर कल्पवृक्षोंकी सघन परागसे धूलिको दबानेवाला और जलकणोंसे अत्यन्त शीतल मन्द-सुगन्धित पवन बहने लगा ॥ १४९ ॥

> जयेत्यमानुषी वाग् जजृम्भे पथि वायुचाम् । दध्वंसिरे दिशः सर्वा दिशो दिशन्त्यः परम् ॥ १५० ॥

आकाशमार्गमें देवोंकी 'जय हो, जय हो' ऐसी अमानुषी दिव्य ध्वनि फैलने लगी और समस्त दिशाएँ अतिशय प्रसन्नताको धारण करने लगीं ॥ १५० ॥

> वर्धमानलयैर्नृत्तमारभन्त जिताप्सरः । साभिनयाः सुरनर्तक्यो यत्कान्तिर्हेलया जिताः ॥ १५१ ॥

अप्सराओंको जीतनेवाली और अभिनयमें निपुण देवनर्तकियाँ वर्धमान लयके साथ ऐसा नृत्य करने लगीं जिससे उन्होंने अपनी कान्तिसे सहज ही अप्सराओंको जीत लिया ॥ १५१ ॥

> पुरवीध्यस्तदा रेजुश्चन्दनाम्बुछटोक्षिताः । कृताभिरूपशोभाभिः प्रहसन्त्यो दिवं श्रिया ॥ १५२ ॥

उस समय चन्दनमिश्रित जलके छिड़कावसे सुशोभित हुई नगरकी सब गलियाँ अपनी अलौकिक शोभासे मानो स्वर्गपुरीकी हँसी ही उड़ा रही थीं ॥ १५२ ॥

> रत्नतोरणविन्यासाः पुरे तत्र गृहे गृहे । इन्द्रचापतडिद्वल्लीललिता बभुरुद्वभाः ॥ १५३ ॥

उस नगरके घर-घरमें बँधे हुए रत्नमय तोरण इन्द्रधनुष और बिजलीकी लताके समान अतिशय सुन्दर और देदीप्यमान शोभाको धारण कर रहे थे ॥ १५३ ॥

आदिपुराण - पञ्चदश पर्व (उत्तरार्ध)

> तदानन्दमहाभेर्यः शतशः कोणकोटिभिः । दध्वनुर्घनदम्भोदगम्भीरं राजमन्दिरे ॥ १४६ ॥

उस समय राजमन्दिरमें करोड़ों दण्डोंसे ताड़ित हुए आनन्दके बड़े-बड़े नगाड़े गरजते हुए मेघोंके समान गम्भीर शब्द कर रहे थे ॥ १४६ ॥

> तुटीपटहझल्लर्यः पणवास्तुणवास्तदा । सतूर्यकाहलास्तालाः प्रमदादिव नेदिरे ॥ १४७ ॥

तुटी, पटह, दुन्दुभि, झल्लरी, शहनाई, पणव, तुणव, शंख, तूर्य, काहल और ताल आदि अनेक बाजे उस समय मानो हर्षसे ही शब्द कर रहे थे--बज रहे थे ॥ १४७ ॥

> तदा सुरभिरम्लानिरपतत् कुसुमोध्करः । दिवो देवकरोन्मुक्तो भ्रमद्भ्रमरसेवितः ॥ १४८ ॥

उस समय सुगन्धित, विकसित, भ्रमण करते हुए भौंरोंसे सेवित और देवोंके हाथसे छोड़ा हुआ फूलोंका समूह आकाशसे पड़ रहा था--बरस रहा था ॥ १४८ ॥

> मुहुर्मन्दममन्देन मन्दाररजसा ततः । ववावधूतधूलीको रजसामपच्छटाशिशिरो मरुत् ॥ १४९ ॥

कल्पवृक्षके पुष्पोंके भारी परागसे भरा हुआ, धूलिको दूर करनेवाला और जलके छींटोंसे शीतल हुआ सुकोमल वायु मन्द-मन्द बह रहा था ॥ १४९ ॥

> जयेत्यमानुषी जज्ञे जृम्भे पथि च वामुचाम् । जिगीषन्त्यो दिशः सर्वा विबुधानां प्रपथिरे ॥ १५० ॥

उस समय आकाशमें "जय-जय" इस प्रकारकी देवोंकी वाणी बढ़ रही थी और देवियोंके “चिरंजीव रहो” इस प्रकारके शब्द समस्त दिशाओंमें अतिशय रूपसे विस्तारको प्राप्त हो रहे थे ॥ १६० ॥

> वर्धमानलयैर्नृत्तमारप्सत जिताप्सरः । वराङ्गनाः सुरनर्तक्यो यकाभिर्हेलया जिताः ॥ १६१ ॥

जिन्होंने अपने रूपसे अप्सराओंको जीत लिया है और जिन्होंने अपनी नृत्यकलासे देवोंकी नर्तकियोंको अनायास ही पराजित कर दिया है ऐसी नृत्य करनेवाली स्त्रियाँ बढ़ते हुए तालके साथ नृत्य तथा संगीत आरम्भ कर रही थीं ॥ १६१ ॥

> पुरवीथ्यस्तदा रेजुश्चन्दनाम्भश्छटोक्षिताः । कृताभिरुपशोभाभिः प्रहसन्त्यो दिवः श्रियम् ॥ १६२ ॥

उस समय चन्दनके जलसे सींची गयी नगरकी गलियाँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो अपनी सजावटके द्वारा स्वर्गकी शोभाकी हँसी ही कर रही हों ॥ १६२ ॥

> रत्नतोरणविन्यासाः पुरे गेहे गृहे तदा । इन्द्रचापतडिद्वल्लीललितं विदधुर्नभः ॥ १६३ ॥

उस समय आकाशमें इन्द्रधनुष और बिजलीरूपी लताकी सुन्दरताको धारण करते हुए रत्ननिर्मित तोरणोंकी सुन्दर रचनाएँ घर-घर शोभायमान हो रही थीं ॥ १६३ ॥

> कृतललन्तिका रत्नचूर्णैर्भूमिषु महोदराः । कुम्भा हिरण्मया रेजुः हैमाब्जपिहिताननाः ॥ १६४ ॥

जहाँ रत्नचूर्णसे अनेक प्रकारके बेलबूटोंकी रचना की गयी है ऐसी भूमिपर बड़े-बड़े उदरवाले अनेक सुवर्णकलश रखे हुए थे। उन कलशोंके मुख सुवर्णकमलोंसे ढके हुए थे इसलिए वे बहुत ही शोभायमान हो रहे थे ॥ १६४ ॥

> तस्मिन् पुरे नृपस्यासीद् या पुरी सापि सोत्सवा । यथाब्धिवृद्धौ वर्धेत याति वेलाश्रिता नदी ॥ १६५ ॥

जिस प्रकार समुद्रकी वृद्धि होनेसे उसके किनारेकी नदी भी वृद्धिको प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार राजाके घर उत्सव होनेसे वह समस्त अयोध्यानगरी उत्सवसे सहित हो रही थी ॥ १६५ ॥

न दरिद्रस्तदासीत् तन्नदीनोदकभूयसीम् । दानधारां नृपेन्द्रेऽद्रौ मुञ्चत्यन्वर्थदानिनि ॥ १८६ ॥

उस समय भगवान वृषभदेवरूपी हाथी समुद्रके जलके समान भारी दानकी धारा (सुवर्ण आदि वस्तुओंके दानकी परम्परा, पक्षमें- मदजलकी धारा) बरसा रहे थे इसलिए वहाँ कोई भी दरिद्र नहीं रहा था ॥ १८६ ॥

इति प्रमोदमुत्पाद्य पुरेऽन्तःपुरके परम् । उदियाय विधुः श्रीमान् प्रालेयद्युतिसप्रभः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार अन्तःपुरसहित समस्त नगरमें परम हर्ष उत्पन्न करता हुआ वह बालकरूपी चन्द्रमा भगवान् वृषभदेवरूपी उदयाचलसे उदय हुआ था ॥ १८७ ॥

प्रमोद्भरतः प्रेमनिर्भरा बन्धुता तदा । तमाह भरतं नाम्ना समस्तभरताधिपम् ॥ १८८ ॥

उस समय प्रेमसे भरे हुए बन्धुओंके समूहने बड़े भारी हर्षसे, समस्त भरतक्षेत्रके अधिपति उस पुत्रको 'भरत' इस नामसे पुकारा था ॥ १८८ ॥

तन्नाम्ना भारतं वर्षमिति हासीज्जनास्पदम् । हिमाद्रेरासमुद्रान्तं क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ॥ १८९ ॥

इतिहासके जाननेवालोंका कहना है कि जहाँ अनेक आर्य पुरुष रहते हैं ऐसा यह हिमवन् पर्वतसे लेकर समुद्र पर्यन्तका चक्रवर्तियोंका क्षेत्र उसी 'भरत' पुत्रके नामके कारण भारतवर्ष रूपसे प्रसिद्ध हुआ है ॥ १८९ ॥

स तन्वन्परमानन्दं बन्धुताकुमुदाकरे । धुन्वन् वैरिकलध्वान्तमवृधद् बालचन्द्रमाः ॥ १६० ॥

वह बालकरूपी चन्द्रमा भाई-बन्धुरूपी कुमुदसमूहमें आनन्दको बढ़ाता हुआ और शत्रुओंके कुलरूपी अन्धकारको नष्ट करता हुआ बढ़ रहा था ॥ १६० ॥

प्रपीतं धयतो मातुः स्तन्यं गण्डूषितं मुहुः । समुद्गिरन् यशो दिक्षु विभजन्निव विद्यते ॥ १६१ ॥

माता यशस्वतीके स्तनोंका दुग्ध पान करता हुआ वह बालक जब कभी मुँह भरकर बार-बार उगलता था तब वह ऐसा देदीप्यमान होता था मानो अपना यश ही दिशाओंमें बाँट रहा हो ॥ १६१ ॥

स्मितैश्च हसितैर्मुग्धैः सर्पणैर्मणिभूमिषु । मन्मनालपितैः पित्रोः स संप्रतिमजीजनत् ॥ १६२ ॥

वह बालक मन्द मुसकान, मनोहर हास, मणिमयी भूमिपर घुटनोंके बल चलना और अव्यक्त मधुर भाषण आदि लीलाओंसे माता-पिताके परम हर्षको उत्पन्न करता था ॥ १६२ ॥

यथायं वृद्धिमगमद् वृद्धिर्गुणानां सहजन्मनाम् । नूनं ते सौन्दर्यात् तद्वृद्धयमुविधायिनः ॥ १६३ ॥

जैसे-जैसे वह बालक बढ़ता जाता था वैसे-वैसे ही उसके साथ-साथ उत्पन्न हुए स्वाभाविक गुण भी बढ़ते जाते थे, ऐसा मालूम होता था मानो वे गुण उसकी सुन्दरतापर मोहित होनेके कारण ही उसके साथ-साथ बढ़ रहे थे ॥ १६३ ॥

अन्नप्राशनचौलोपनयनादीननुक्रमात् । क्रियाविधीन् विधाज्ञस्तस्य चक्रे पिता स्वयम् ॥ १६४ ॥

विधिको जाननेवाले भगवान वृषभदेवने अनुक्रमसे अपने उस पुत्रके अन्नप्राशन (पहली बार अन्न खिलाना), चौल (मुण्डन) और उपनयन (यज्ञोपवीत) आदि संस्कार स्वयं किये थे ॥ १६४ ॥

ततः क्रमभुवो बाल्यकौमारान्तर्भुवो भिदाः । सोऽतीत्य यौवनावस्थां प्रापदानन्दिनीं दृशाम् ॥ १६५ ॥

तदनन्तर उस भरतने क्रम-क्रमसे होनेवाली बालक और कुमार अवस्थाके बीचके अनेक भेद व्यतीत कर नेत्रोंको आनन्द देनेवाली युवावस्था प्राप्त की ॥ १६५ ॥

गतिः पैतृकगत्याभा समाक्रान्तत्रिविष्टपम् । तदेवास्य वपुर्दीप्तं तदेव हसितं स्मितम् ॥ १६६ ॥

इस भरतका अपने पिता भगवान वृषभदेवके समान ही गमन था, उन्हींके समान तीनों लोकोंको उल्लंघन करनेवाला देदीप्यमान शरीर था और उन्हींके समान मन्द हास्य था ॥ १६६ ॥

सैव वाणी कला सैव सा विद्या सैव च द्युतिः । तदेव शीलं विज्ञानं सर्वमस्य पितुर्यथा ॥ १६७ ॥

इस भरतकी वाणी, कला, विद्या, द्युति, शील और विज्ञान आदि सब कुछ वही थे जो कि उसके पिता भगवान् वृषभदेवके थे ॥ १६७ ॥

> इति तन्मयतां प्राप्तं पुत्रं दृष्ट्वोदिताः प्रजाः । आत्मा वै पुत्रनामासीदित्यगीषत यन्मृषा ॥ १६८ ॥

इस प्रकार पिताके साथ तन्मयताको प्राप्त हुए भरत-पुत्रको देखकर उस समय प्रजा कहा करती थी कि पिताका आत्मा ही पुत्र नामसे कहा जाता है [आत्मा वै पुत्रनामासीद्] यह बात बिल्कुल सच है ॥ १६८ ॥

> पित्रा ख्यातरूपादिगुणः प्रत्यक्षमनमथः । स संमतः सतामासीत् स्वैर्गुणैरभिरामितः ॥ १६९ ॥

स्वयं पिताके द्वारा जिसके रूपादि गुणोंकी प्रशंसा की गयी है, जो साक्षात् कामदेवके समान है ऐसा वह भरत अपने मनोहर गुणोंके द्वारा सज्जन पुरुषोंको बहुत ही मान्य हुआ था ॥ १६९ ॥

> पितुर्मनोऽप्ययं प्रीत्या मनुरेवोद्गतः परम् । मनो मनोभवाकारः प्रजानामप्युवास सः ॥ १७० ॥

वह बालक अपने प्रेमसे भगवान् वृषभनाथके मनको भी अपने प्रेमके अधीन कर लेता था इसलिए लोग कहा करते थे कि यह सोलहवाँ मनु ही उत्पन्न हुआ है और वह कामदेवके समान सुन्दर आकारवाला था इसलिए समस्त प्रजाके मनमें निवास किया करता था ॥ १७० ॥

> जयलक्ष्म्यानपायिन्या वपुस्तस्यातिभास्वरम् । पुञ्जीकृतमिवैकत्र क्षात्रं तेजः प्रकाशते ॥ १७१ ॥

उसका शरीर कभी नष्ट नहीं होनेवाली विजयलक्ष्मीसे सदा देदीप्यमान रहता था इसलिए ऐसा सुशोभित होता था मानो किसी एक जगह इकट्ठा किया हुआ क्षत्रियोंका तेज ही हो ॥ १७१ ॥

> दिव्यमानुषतामस्य व्यापयद्वपुरूर्जितम् । तेजोमयैरिवारब्धमणुभिरित्यद्भुततरम् ॥ १७२ ॥

'यह कोई अलौकिक पुरुष है [मनुष्य रूपधारी देव है'] इस बातको प्रकट करता हुआ भरतका बलिष्ठ शरीर ऐसा शोभायमान होता था मानो वह तेजरूप परमाणुओंसे ही बना हुआ था ॥ १७२ ॥

तस्योत्तमाङ्गमुत्तुङ्गं मौलिरत्नांशुकोशलम् । सचूलिकमिवादीन्द्रशिखरं सुविराजते ॥ १७३ ॥

अत्यन्त ऊँचे मुकुटमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे शोभायमान उसका मस्तक चूलिका सहित मेरु पर्वतके शिखरके समान अतिशय शोभायमान होता था ॥ १७३ ॥

क्रमसम्वर्धितं सुवृत्तं च शिरोऽस्य व्यराजत । धात्रा निवेशितं दिव्यमातपत्रमिव श्रियः ॥ १७४ ॥

क्रम-क्रमसे ऊँचा होता हुआ उसका गोल सिर ऐसा अच्छा शोभायमान होता था मानो विधाताने [वक्षःस्थलपर रहनेवाली] लक्ष्मीके लिए छत्र ही बनाया हो ॥ १७४ ॥

शिरोऽस्याकुञ्चितस्निग्धविनीलैः सहजैः कजैः । विनीलरत्नविन्यस्तं शिरस्त्राणमवारुहत् ॥ १७५ ॥

कुछ-कुछ टेढ़े, चिकने, काले और एक साथ उत्पन्न हुए बालोंसे शोभायमान उसका मस्तक ऐसा जान पड़ता था मानों उसपर इन्द्रनीलमणिकी बनी हुई टोपी ही रखी हो ॥ १७५ ॥

ऋज्वीं मनोवचःकायवृत्तिमुद्वहतो भृशम् । केशान्तानलिसङ्काशां भेजे कुटिलता परा ॥ १७६ ॥

भरत अपने मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको बहुत ही सरल रखता था इसलिए जान पड़ता था कि उसकी कुटिलता उसके भौंरोंके समान काले केशोंके अन्त भागमें ही जाकर रहने लगी ॥ १७६ ॥

रराज वदनं तस्य दशनांशुप्रकेसरम् । सदा सुरभिनिःश्वासपवनाहूतषट्पदम् ॥ १७७ ॥

दाँतोंकी किरणोंरूपी केसर सहित और सुगन्धित श्वासोच्छ्वासके पवन-द्वारा भ्रमरोंका आह्वान करनेवाला उसका मुखकमल बहुत ही शोभायमान होता था ॥ १७७ ॥

मुखमस्य मुखालोकमखण्डपरिमण्डलम् । शशाङ्कमण्डलस्याधात् कान्तिं संपूर्णकान्तिकम् ॥ १७८ ॥

अथवा उसका मुख पूर्ण चन्द्रमण्डलकी शोभा धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमण्डलके देखनेसे सुख होता है उसी प्रकार उसका मुख देखनेसे भी सबको सुख होता था, जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमण्डल अखण्ड गोलाईसे सहित होता है उसी प्रकार उसका मुख भी अखण्ड मण्डलसे सहित था और जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमण्डल अखण्ड कान्तिसे युक्त होता है उसी प्रकार उसका मुख भी अखण्ड कान्तिसे युक्त था ॥ १७८ ॥

> कर्णाभरणदीप्तांशुपरिवेषेण सङ्गता । मुखेन्दुरस्य दन्तोत्थचन्द्रिकामभितः किरन् ॥ १७९ ॥

चारों ओर दाँतोंकी किरणोंरूपी चाँदनीको फैलाता हुआ उसका मुखरूपी चन्द्रमा कर्णाभूषणकी देदीप्यमान किरणोंके गोल परिमण्डलसे बहुत ही शोभायमान होता था ॥ १७९ ॥

> रवौ दीप्तिर्विधौ कान्तिर्विकासोऽब्जे महोत्पले । इति व्यस्ता गुणाः प्रापुस्तदास्ये सहयोगिताम् ॥ १८० ॥

सूर्यमें दीप्ति, चन्द्रमामें कान्ति और कमलमें विकास इस प्रकार ये सब गुण अलग-अलग रहते हैं परन्तु भरतके मुखपर वे सब गुण सहयोगिताको प्राप्त हुए थे अर्थात् साथ-साथ विद्यमान रहते थे ॥ १८० ॥

> क्षयी विधुः परिक्षेपी पद्मः संकोचभाग् निशि । मुखं सदा पूर्णमस्य निर्दोषं क्वोपमीयते ॥ १८१ ॥

चन्द्रमा क्षय-वृद्धि सहित है और कमल प्रत्येक रात्रिमें संकोचको प्राप्त होता रहता है परन्तु उसका मुख सदा विकसित रहता था और कभी संकोचको प्राप्त नहीं होता था--पूर्ण रहता था इसलिए उसकी उपमा किसके साथ दी जाये? उसका मुख सर्वथा अनुपम था ॥ १८१ ॥

> सदा विकासिन्या तन्मुखाब्जस्य शोभया । पराजितं वनवासाय प्रस्थितं वनजं ध्रुवम् ॥ १८२ ॥

ऐसा मालूम होता है कि उसका मुखकमल सदा विकसित रहनेवाली लक्ष्मीसे मानो हार ही गया था और इसलिए वह वन अथवा जलमें निवास करनेके लिए प्रस्थान कर रहा था ॥ १८२ ॥

> पट्टबन्धोचितस्यास्य ललाटस्याहता द्युतेः । तिग्मांशोरंशवो नूनं विनिर्माणाङ्गतां गताः ॥ १८३ ॥

पट्टबन्धके उचित और अतिशय कान्तियुक्त उसके ललाटके बननेमें निश्चय ही सूरजकी किरणें सहायक सिद्ध हुई थीं ॥ १८३ ॥

> विलोक्य विकसत्कान्ती तत्कपोलौ विमण्डलः । स्वपराजयनिर्वेदाद् गतः शङ्के कलङ्किताम् ॥ १८४ ॥

शोभायमान कान्तिसे युक्त उसके दोनों कपोल देखकर चन्द्रमा अवश्य ही पराजित हो गया था और इसलिए ही मानो विरक्त होकर वह सकलंक अवस्थाको प्राप्त हुआ था ॥ १८४ ॥

> भ्रूलते ललिते तस्य लीलां दधतुरूर्जिताम् । वैजयन्त्याविवोत्क्षिप्ते मदनेन महीतले ॥ १८५ ॥

उसकी दोनों भौंहरूपी सुन्दर लताएँ ऐसी अच्छी शोभा धारण कर रही थीं मानो दिग्विजयके समय कामदेवके द्वारा फहरायी हुई दो पताकाएँ ही हों ॥ १८५ ॥

> मुखप्राङ्गणपुष्पोपहारः शोभितदिङ्मुखः । नेत्रोत्पलविकासोऽस्य परां प्रथयन् मुदम् ॥ १८६ ॥

उसके नेत्ररूपी नील कमलोंका विकास मुखरूपी आँगनमें पड़े हुए फूलोंके उपहारके समान शोभायमान हो रहा था तथा समस्त दिशाओंको चित्र-विचित्र कर रहा था और इसीलिए वह आनन्दको विस्तृत कर अतिशय प्रसिद्ध हो रहा था ॥ १८६ ॥

> तरलापाङ्गमाभास्य सश्रुतावपि लङ्घितौ । कर्णौ लोलात्मनां प्रायो नानुल्लङ्घ्योऽस्ति कश्चन ॥ १८७ ॥

उसके चञ्चल कटाक्षोंकी आभाने श्रवणक्रियासे युक्त (पक्षमें उत्तम-उत्तम शास्त्रोंके ज्ञानसे युक्त) उसके दोनों कानोंका उल्लंघन कर दिया था सो ठीक ही है चञ्चल अथवा अस्थिर हृदयवाले प्रायः किसका उल्लंघन नहीं करते? अर्थात् सभीका उल्लंघन करते हैं ॥ १८७ ॥

> अर्धापाङ्गेक्षणेनापि शरेणेव मनोभुवः । कामिन्यो हृदि सम्भिन्ना ययुः सद्योऽतिरक्तताम् ॥ १८८ ॥

कामदेवके बाणोंके समान उसके अर्धनेत्रों (कटाक्षों) के अवलोकनसे हृदयमें घायल हुई स्त्रियाँ शीघ्र ही अतिशय रक्त हो जाती थीं। भावार्थ—जिस प्रकार बाणसे घायल हुई स्त्रियाँ अतिशय रक्त अर्थात् अत्यन्त रुधिरसे लाल-लाल हो जाती हैं उसी प्रकार उसके आधे खुले हुए नेत्रोंके अवलोकनसे घायल हुई स्त्रियाँ अतिशय रक्त अर्थात् अत्यन्त आसक्त हो जाती थीं ॥ १८८ ॥

> रत्नकुण्डलयुग्मेन गण्डपर्यन्तचुम्बिना । श्रुतार्थस्य प्रतिमानं विधित्सन्निव सोऽद्युतत् ॥ १८९ ॥

वह कपोलोंके समीप भाग तक लटकनेवाले रत्नमयी कुण्डलोंके जोड़ेसे ऐसा शोभायमान होता था मानो श्रुत और अर्थकी तुलनाका प्रमाण ही करना चाहता हो ॥ १८९ ॥

> मदनाग्नेरिबोद्बोधनालिका ललिताकृतिः । नासिकास्य बभौ किञ्चिदवाग्रा शुकतुण्डवत् ॥ १९० ॥

कुछ नीचेकी ओर झुकी हुई और तोतेकी चोंचके समान लालवर्ण उसकी सुन्दर नाक ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो कामदेवरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेके लिए फूँकनी नाली ही हो ॥ १९० ॥

> प्रवालः पयःकणाकीर्णो बिम्बो वा सुरसच्छविः । सिक्तस्तस्यामृतेनेव स्मितांशुच्छुरितोऽधरः ॥ १९१ ॥

जिस प्रकार जलके कणोंसे व्याप्त हुआ मूँगाका अंकुर शोभायमान होता है उसी प्रकार मन्द हास्यकी किरणोंसे व्याप्त हुआ उसका अधरोष्ठ ऐसा शोभायमान होता था मानो अमृतसे ही सींचा गया हो ॥ १९१ ॥

> कण्ठे हारलता काप्यस्य श्रीरभूद् विभोः । प्रत्यग्रोद्भिन्नमुक्ताद्यैः कम्बोरिवोपमोचिता ॥ १९२ ॥

राजकुमार भरतके हाररूपी लतासे सुन्दर कण्ठमें कोई अनोखी ही शोभा थी। वह नवीन फूले हुए पुष्पोंके समूहसे सुशोभित शंखके कण्ठको उपमा देने योग्य हो रही थी ॥ १९२ ॥

> कण्ठाभरणरत्नांशुसङ्कीर्णं तदुरःस्थलम् । रत्नद्वीपश्रियं धत्ते हारवल्लीपरिष्कृतम् ॥ १९३ ॥

कण्ठाभरणमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे भरा हुआ उसका वक्षःस्थल हाररूपी लतासे घिरे हुए रत्नद्वीपकी शोभा धारण कर रहा था ॥ १९३ ॥

स बभार भुजस्तम्भपर्यन्तपरिलम्बिनीम् । लक्ष्मीदेव्या इवान्दोलवल्लरीं हारवल्लरीम् ॥ १९४ ॥

वह अपनी भुजारूप खंभोंके पर्यन्त भागमें लटकती हुई जिस हाररूपी लताको धारण कर रहा था वह ऐसी मालूम होती थी मानो लक्ष्मीदेवीके झूलाकी लता (रस्सी) ही हो ॥ १९४ ॥

जयश्रीर्भुजयोरस्य बबन्ध प्रेमनिर्भरम् । केयूरकोटिसंघट्टकिणीभूतांसपीठयोः ॥ १९५ ॥

उसकी दोनों भुजाओंके कन्धोंपर बाजूबन्दोंके संघट्टनसे गाँठें पड़ी हुई थीं और इसलिए ही विजयलक्ष्मीने अतिशय प्रेमसे उसकी भुजाओंकी अधीनता स्वीकृत की थी ॥ १९५ ॥

बाहुदण्डेऽस्य भूलोकमानदण्ड इवायते । कुलाचलास्थया तत्र तस्थौ लक्ष्मीः परां रतिम् ॥ १९६ ॥

उसके बाहुदण्ड पृथिवीको नापनेके दण्डके समान बहुत ही लम्बे थे और उन्हें कुलाचल समझकर उनपर रहनेवाली लक्ष्मी परम प्रीति विस्तृत करती थी ॥ १९६ ॥

शङ्खचक्रगदाकूर्मझषादिशुभलक्षणैः । रेजे हस्ततलं तस्य नभस्तलमिवोडुभिः ॥ १९७ ॥

जिस प्रकार अनेक नक्षत्रोंसे आकाश शोभायमान होता है उसी प्रकार शंख, चक्र, गदा, कूर्म और मीन आदि शुभ लक्षणोंसे उसका हस्त-तल शोभायमान था ॥ १९७ ॥

अंसावलम्बिना ब्रह्मसूत्रेणासौ दधे श्रियम् । हिमाद्रिरिव गङ्गायाः स्रोतसोत्सङ्गसङ्गिना ॥ १९८ ॥

कन्धेपर लटकते हुए यज्ञोपवीतसे वह भरत ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसा कि ऊपर बहती हुई गङ्गा नदीके प्रवाहसे हिमालय सुशोभित रहता है ॥ १९८ ॥

इसन्निवोधरं कायमुर्ध्वकायोऽस्य दिद्युते । कटकाङ्गदकेयूरहाराद्यैः स्वैर्विभूषणैः ॥ १९९ ॥

उसके शरीरका ऊपरी भाग कड़े, अनन्त, बाजूबन्द और हार आदि अपने-अपने आभूषणोंसे ऐसा देदीप्यमान हो रहा था मानो अपने अधोभागकी ओर हँस ही रहा हो ॥ १९९ ॥

> वर्णिते पूर्वकायेऽस्य कायो व्यावर्णितोऽधरः । यथोपरि तथाधश्च ननु श्रीः कल्पपादपे ॥ २०० ॥

राजकुमार भरतके शरीरके ऊपरी भागका जैसा कुछ वर्णन किया गया है वैसा ही उसके नीचेके भागका वर्णन समझ लेना चाहिए क्योंकि कल्पवृक्षकी शोभा जैसी ऊपर होती है वैसी ही उसके नीचे भी होती है ॥ २०० ॥

> पुनरुक्तं तथाप्यस्य क्रियते वर्णनादरः । पङ्क्तिभेदे महान् दोषः स्यादित्यद्देशमात्रतः ॥ २०१ ॥

यद्यपि ऊपरके अनुसार उसके अधोभागका वर्णन हो चुका है तथापि उद्देशके अनुसार पुनरुक्त रूपसे उसका वर्णन फिर भी किया जाता है क्योंकि वर्णन करते-करते समूहमें-से किसी एक भागका छोड़ देना भी बड़ा भारी दोष समझा जाता है ॥ २०१ ॥

> लावण्यरसनिष्यन्दवाहिनीं नाभिकूपिकाम् । स बभारापतत्कायगन्धेभस्येव पद्धतिम् ॥ २०२ ॥

लावण्यरूपी रसके प्रवाहको धारण करनेवाली उसकी नाभिरूपी कूपिका ऐसी सुशोभित होती थी मानो आनेवाले कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथीका मार्ग ही हो ॥ २०२ ॥

> स शाररसनोल्लासिदुकूलं जघनं दधौ । सेन्द्रचापशरन्मेघनितम्बमिव भूधरः ॥ २०३ ॥

वह भरतश्रेष्ठ करधनीसे सुशोभित सफेद धोतीसे युक्त जघन भागको धारण कर रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो इन्द्रधनुषसे सहित शरद्-ऋतुके बादलोंसे युक्त नितम्बभाग (मध्यभाग) को धारण करनेवाला पर्वत ही हो ॥ २०३ ॥

> ऊरू स पीवरावूरू युक्तायामौ कनद्द्युती । मनोभुवेव विन्यस्तौ स्तम्भौ स्वे वासवेश्मनि ॥ २०४ ॥

उसके दोनों ऊरु अत्यन्त स्थूल और पुष्ट थे, उनकी लम्बाई भी यथायोग्य थी, और उनका वर्ण भी सुवर्णके समान पीला था इसलिए वे ऐसे मालूम होते थे मानो कामदेवने अपने मन्दिरमें दो खम्भे ही लगाये हों ॥ २०४ ॥

> जङ्घे सुरुचिराकारे चारुकान्ती दधेऽधिराट् । घृष्टे निशितास्त्रेण निखाते चित्तजन्मना ॥ २०५ ॥

उस भरतकी दोनों जङ्घाएँ भी अतिशय मनोहर आकारवाली और सुन्दर कान्तिकी धारक थीं तथा ऐसी मालूम होती थीं मानो कामदेवने उन्हें हथियारसे छीलकर गोल ही कर दी हों ॥ २०५ ॥

> तत्पदाम्बुजयोर्युग्ममध्युवासानपायिनी । स्फुरदङ्गुलीपत्रेषु रमेवाभ्रमरोद्भवे ॥ २०६ ॥

उसके दोनों चरण प्रकट होते हुए अङ्गुलिरूपी पत्तोंसे सहित कमलके समान सुशोभित होते थे और उनमें कभी नष्ट नहीं होनेवाली लक्ष्मी भ्रमरीके समान सदा निवास करती थी ॥ २०६ ॥

> तत्क्रमौ तद्गुणं कान्त्या जित्वाप्यब्जजन्मनः । प्रहासमिव चक्राते नखोद्द्योतैर्विसारिभिः ॥ २०७ ॥

उसके दोनों ही पैर ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो अपनी कान्तिसे कमलकी शोभा जीतकर अपने फैलते हुए नखोंके प्रकाशसे उसकी हँसी ही कर रहे हों ॥ २०७ ॥

> चक्रच्छत्रासिदण्डादिरत्नान्यस्य पदाब्जयोः । लग्नानि लक्षणव्याजात् पूर्वसेवामिव व्यधुः ॥ २०८ ॥

उसके चरण-कमलोंमें चक्र, छत्र, असि, दण्ड आदि चौदह रत्नोंके चिह्न बने हुए थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो ये चौदह रत्न, लक्षणोंके बहाने भावी चक्रवर्तीकी पहलेसे ही सेवा कर रहे हों ॥ २०८ ॥

> समाक्रान्तधराचक्रः क्रमयोरेव विक्रमः । सर्वाङ्गीणस्तु केनास्य सोढव्यः स मानिनः ॥ २०९ ॥

जब कि उसके चरणोंका पराक्रम समस्त पृथिवीमण्डलपर आक्रमण करनेवाला था, फिर भला उस अभिमानी भरतके सम्पूर्ण शरीरका पराक्रम कौन सहन कर सकता था ॥ २०९ ॥

> चरमाङ्गतयैवास्य वर्णितं परमाङ्गिकम् । सात्त्विकं तु बलं बाह्यलिङ्गैर्दिग्विजयादिभिः ॥ २१० ॥

उसके शरीरसम्बन्धी बलका वर्णन केवल इतने ही से हो जाता है कि वह चरमशरीरी था अर्थात् उसी भवसे मोक्ष जानेवाला था और उसके आत्मा सम्बन्धी बलका वर्णन दिग्विजय आदि बाह्य चिह्नोंसे हो जाता है ॥ २१० ॥

बलं यच्चक्रभृत्क्षेत्रवर्तिनां नृसुधाशिनाम् । ततोऽधिकतरं तस्य सात्त्विकं भुजयोर्बलम् ॥ २११ ॥

चक्रवर्तीके क्षेत्रमें रहनेवाले समस्त मनुष्य और देवोंमें जितना बल होता है उससे कईगुना अधिक बल चक्रवर्तीकी भुजाओंमें था ॥ २११ ॥

रूपानुरूपमेवास्य बभूवे गुणसम्पदा । गुणैर्विमुच्यते जातु नहि तादृग्विधं वपुः ॥ २१२ ॥

उस भरतके रूपके अनुरूप ही उसमें गुणरूपी सम्पदा विद्यमान थी सो ठीक ही है क्योंकि गुणोंसे वैसा सुन्दर शरीर कभी नहीं छोड़ा जा सकता ॥ २१२ ॥

यत्राकृतिर्गुणास्तत्र वसन्तीति न संशयः । यतोऽस्यानीदृगाकारो गुणैरङ्गीकृतः स्वयम् ॥ २१३ ॥

“जहाँ सुन्दर आकार है वहाँ गुण निवास करते हैं” इस लोकोक्तिमें कुछ भी संशय नहीं है क्योंकि गुणोंने भरतके उपमारहित--सुन्दर शरीरको स्वयं आकर स्वीकृत किया था ॥ २१३ ॥

सत्यं शौचं क्षमा त्यागः प्रज्ञोत्साहौ दया दमः । प्रशमो विनयश्चेति गुणाः सत्त्वानुषङ्गिणः ॥ २१४ ॥

सत्य, शौच, क्षमा, त्याग, प्रज्ञा, उत्साह, दया, दम, प्रशम और विनय--ये गुण सदा उसकी आत्माके साथ-साथ रहते थे ॥ २१४ ॥

कान्तिः शरीरे दीप्तिश्च लावण्यं प्रियवाक्यता । कलाकुशलता चेति शरीरान्वयिनो गुणाः ॥ २१८ ॥

शरीरकी कान्ति, दीप्ति, लावण्य, प्रिय वचन बोलना और कलाओंमें कुशलता ये उसके शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले गुण थे ॥ २१८ ॥

निसर्गरुचिराकारो गुणैरेभिर्विभूषितः । स रेजे नितरां मणिरिव संस्कारयोगतः ॥ २१६ ॥

जिस प्रकार स्वभावसे ही सुन्दर मणि संस्कारके योगसे अत्यन्त सुशोभित हो जाता है उसी प्रकार स्वभावसे ही सुन्दर आकारवाला भरत ऊपर लिखे हुए गुणोंसे और भी अधिक सुशोभित हो गया था ॥ २१६ ॥

अप्राकृताकृतिर्दिव्यमनुष्यो महसां निधिः । लक्ष्म्याः पुञ्ज इवोच्चैस्तैरभवादद्भुतचेष्टितः ॥ २१७ ॥

वह भरत एक दिव्य मनुष्य था, उसकी आकृति भी असाधारण थी, वह तेजका खजाना था और उसकी सब चेष्टाएँ आश्चर्य करनेवाली थीं इसलिए वह लक्ष्मीके अतिशय ऊँचे पुञ्जके समान शोभायमान होता था ॥ २१७ ॥

रूपसम्पदमित्युच्चैर्दृष्ट्वा नान्यत्रभाविनीम् । जनाः पुरातनीमस्य शशंसुः पुण्यसम्पदम् ॥ २१८ ॥

दूसरी जगह नहीं पायी जानेवाली उसकी उत्कृष्ट रूपसम्पदा देखकर लोग उसके पूर्वभव-सम्बन्धी पुण्यसम्पदाकी प्रशंसा करते थे ॥ २१८ ॥

वपुरारोग्यमैश्वर्यं कान्तिः कामनीयकम् । बलमायुर्यशो मेधा वाक्सौभाग्यं विदग्धता ॥ २१९ ॥

सुन्दर शरीर, नीरोगता, ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति, सुन्दरता, बल, आयु, यश, बुद्धि, सर्वप्रिय वचन और चतुरता आदि इस संसारमें जितना कुछ सुखका कारण पुरुषार्थ है वह सब अभ्युदय कहलाता है और वह सब संसारी जीवोंको पुण्यके उदयसे प्राप्त होता है ॥ २१९ ॥

अपि यावान् जगत्यस्मिन् पुरुषार्थः सुखोचितः । स सर्वोऽभ्युदयः पुण्यपरिपाकादिहाङ्गिनाम् ॥ २२० ॥

इस संसारमें जितना कुछ सुखका कारण पुरुषार्थ है वह सब अभ्युदय कहलाता है और वह सब संसारी जीवोंको पुण्यके उदयसे प्राप्त होता है ॥ २२० ॥

न विनाभ्युदयः पुण्यादस्ति कश्चन भूयसा । तस्मादभ्युदयं प्रेप्सुः पुण्यं संचिनुयाद् बुधः ॥ २२१ ॥

पुण्यके बिना किसी भी बड़े अभ्युदयकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिए जो विद्वान् पुरुष अभ्युदय प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें पहले पुण्यका संचय करना चाहिए ॥ २२१ ॥

इत्यानन्दपरम्परां प्रतिदिनं संवर्धयन् स्वैर्गुणैः पित्रोर्बन्धुजनस्य च प्रशमयन् दुःखावहाम् दुःखासिकाम् । नाभेयोदयभूधरादधरितक्षोणीधरादुद्गतः प्रालेयांशुरिवावभौ प्रतिदिनं भूलोकमुद्भासयन् ॥ २२२ ॥

इस प्रकार वह भरत चन्द्रमाके समान शोभायमान हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा अपने शीतलता, सुभगता आदि गुणोंसे सबके आनन्दकी परम्पराको बढ़ाता है उसी प्रकार वह भरत भी अपने दया, उदारता आदि गुणोंसे माता-पिता तथा भाईजनोंके आनन्दकी परम्पराको प्रतिदिन बढ़ाता रहता था, चन्द्रमा जिस प्रकार लोगोंकी दुःखमय परिस्थितिको शान्त करता है उसी प्रकार वह भरत भी लोगोंकी दुःखमय परिस्थितिको शान्त करता था, चन्द्रमा जिस प्रकार समस्त पर्वतोंको नीचा करनेवाले पूर्वाचलसे उदित होता है उसी प्रकार वह भरत भी समस्त राजाओंको नीचा दिखानेवाले भगवान् ऋषभदेवरूपी पूर्वाचलसे उदित हुआ था और चन्द्रमा जिस प्रकार समस्त भूलोकको प्रकाशित करता है उसी प्रकार भरत भी समस्त भूलोकको प्रकाशित करता था ॥ २२२ ॥

श्रीमान् हेमशिलाघनैरपघनैस्तुङ्गो गुरुः प्रकृत्या पादाक्रान्तधरातलो गुरुभरं वोढुं क्षमायाः क्षमः । हारैर्निर्झरचारुकान्तिमुरसा बिभ्रद् विभूषाधरश्चक्राकस्य च भूधरः स सुबभौ मौल्युद्भटोद्भासुरः ॥ २२३ ॥

अथवा वह भरत, चक्ररूपी सूर्यको उदय करनेवाले उदयाचलके समान सुशोभित होता था क्योंकि जिस प्रकार उदयाचल पर्वत सुवर्णमय शिलाओंसे सान्द्र अवयवोंसे शोभायमान होता है उसी प्रकार वह भरत भी सुवर्णके समान सुन्दर मजबूत अवयवोंसे शोभायमान था, जिस प्रकार उदयाचल ऊँचा होता है उसी प्रकार वह भरत भी ऊँचा (उदार) था, उदयाचल जिस प्रकार स्वभावसे ही गुरु-भारी होता है उसी प्रकार वह भरत भी स्वभावसे ही गुरु (श्रेष्ठ) था, उदयाचल जिस प्रकार अपने समीपवर्ती छोटे-छोटे पर्वतोंसे पृथ्वीतलपर आक्रमण कर लिया है उसी प्रकार भरतने भी अपने पाद अर्थात् चरणोंसे दिग्विजयके समय समस्त पृथ्वीतलपर आक्रमण किया था, उदयाचल जिस प्रकार पृथ्वीके विशाल भारको धारण करनेके लिए समर्थ है उसी प्रकार भरत भी पृथिवीका भार धारण करनेके लिए (व्यवस्था करनेके लिए) समर्थ था, उदयाचल जिस प्रकार अपने तटभागपर निर्झरोंकी सुन्दर कान्ति धारण करता है उसी प्रकार भरत भी तटके साथ स्पर्धा करनेवाले अपने हारोंकी सुन्दर कान्ति धारण करता था, और उदयाचल जिस प्रकार देदीप्यमान शिखरोंसे सुशोभित रहता है उसी प्रकार वह भरत भी अपने प्रकाशमान मुकुटसे सुशोभित रहता था ॥ २२३ ॥

सम्पश्यन्नयनोत्सवं सुवदनं तद्वक्त्रमप्रार्थितं संश्रृण्वन् वचनामृतं श्रुतिसुखं सप्रश्रयं सस्पृहः । आलिङ्गन् प्रणतोत्थितं मुहुर्मुहुः स्वोत्सङ्गमध्यापयन् श्रीमानाभिसुतः परां धृतिमगाद् वर्त्स्यज्जिनेशविभुः ॥ २२४ ॥

जिन्हें अरहन्त पदकी लक्ष्मी प्राप्त होनेवाली है ऐसे भगवान वृषभदेव, आँखोंको आनन्द देनेवाले, अत्यन्त सुन्दर और असाधारण भरतके मुखको देखते हुए, कानोंको सुख देनेवाले तथा विनयसहित कहे हुए उसके मधुर वचनोंको सुनते हुए, प्रणाम करनेके बाद उठे हुए भरतको बार-बार आलिंगन कर उसे अपनी गोदमें बैठाते हुए परम सन्तोषको प्राप्त होते थे ॥ २२४ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें भगवान्‌का कुमारकाल, यशस्वती-सुनन्दा-विवाह तथा भरतकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला पन्द्रहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

अथ प्राक् सम्प्रणीता ये यशस्वत्यां स्फुरिमे सुताः । अवतीर्य मूर्ध्नस्तेऽहमिन्द्राः पुरोहिताः ॥ १ ॥

अथानन्तर पहले जिनका वर्णन किया जा चुका है ऐसे वे सर्वार्थसिद्धिके अहमिन्द्र स्वर्गसे अवतीर्ण होकर क्रमसे भगवान वृषभदेवकी यशस्वती रानीसे नीचे लिखे हुए पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १ ॥

पीठो यवीयान् भरतेश्वरात् । महापीठोऽभवत्तस्य सोऽनन्तविजयोऽनुजः ॥ २ ॥

भगवान् वृषभदेवकी पूर्व पर्यायमें जो पीठ नामका भाई था वह अब पीठ नामका भरतका छोटा भाई हुआ। जो राजश्रेष्ठीका जीव महापीठ था वह अनन्तविजय नामका वृषभसेनका छोटा भाई हुआ ॥ २ ॥

विजयोऽनन्तवीर्योऽभूज्जयन्तोऽच्युतोऽभवत् । वैजयन्तो वीर इवास्यासीद्वरवीरोपराजितः ॥ ३ ॥

जो विजय नामका व्याघ्रका जीव था वह अनन्तर-विजयसे छोटा अनन्तवीर्य नामका पुत्र हुआ, जो वैजयन्त नामका शूकरका जीव था वह अनन्तवीर्यका छोटा भाई अच्युत हुआ, जो वानरका जीव जयन्त था वह अच्युतसे छोटा वीर नामका भाई हुआ और जो नेवलाका जीव अपराजित था वह वीरसे छोटा वरवीर हुआ ॥ ३ ॥

इत्येकोनशतं पुत्रा बभूवुर्वृषभेशिनः । भरतस्यानुजन्मानश्चरमाङ्गा महौजसः ॥ ४ ॥

इस प्रकार भगवान् वृषभदेवके यशस्वती महादेवीसे भरतके पीछे जन्म लेनेवाले निन्यानबे पुत्र हुए, वे सभी पुत्र चरमशरीरी तथा बड़े प्रतापी थे ॥ ४ ॥

यशस्वत्यां ब्रह्मा समुदपादयत् । कलामिवापराशायां ज्योत्स्नापक्षोऽपरं विधोः ॥ ५ ॥

तदनन्तर जिस प्रकार शुक्लपक्ष पश्चिम दिशामें चन्द्रमाकी कलाको उत्पन्न (प्रकट) करता है उसी प्रकार ब्रह्मा-भगवान आदिनाथने यशस्वती नामक महादेवीमें ब्राह्मी नामकी पुत्री उत्पन्न की ॥ ५ ॥

> सुनन्दायां महाबाहुरहमिन्द्रोऽवतीर्य । च्युत्वा बाहुबलीत्यासीत् कुमारोऽमरसंनिभः ॥ ६ ॥

आनन्द पुरोहितका जीव जो पहले महाबाहु था और फिर सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ था, वह च्युत होकर भगवान् वृषभदेवकी द्वितीय पत्नी सुनन्दाके देवके समान बाहुबली नामका पुत्र हुआ ॥ ६ ॥

> वज्रजङ्घभवे भगिन्यासीदनुन्दरी । सा सुन्दरीत्यभूत् पुत्री वृषभस्यातिसुन्दरी ॥ ७ ॥

वज्रजङ्घ पर्यायमें भगवान वृषभदेवकी जो अनुन्धरा नामकी बहन थी वह अब इन्हीं वृषभदेवकी सुनन्दा नामक देवीसे अत्यन्त सुन्दरी नामकी पुत्री हुई ॥ ७ ॥

> सुन्दरीं सुतां बाहुबलीशिनम् । लब्ध्वा रुचिं परां भेजे प्राचीवार्कं सह ॥ ८ ॥

सुन्दरी पुत्री और बाहुबली पुत्रको पाकर सुनन्दा महारानी ऐसी सुशोभित हुई थी जिस प्रकार कि प्रभाके साथ-साथ सूर्यको पाकर पूर्वदिशा सुशोभित होती है ॥ ८ ॥

> प्रथमो कामदेवोऽभूद् युवा बाहुबली बली । रूपसम्पदमुत्तुङ्गां दधानोऽनुमतां मताम् ॥ ९ ॥

समस्त मान्य तथा रूपसम्पदाको धारण करनेवाला बलवान् युवा बाहुबली उन चौबीस कामदेवोंमें-से प्रथम कामदेव हुआ था ॥ ९ ॥

> तद्रूपमन्यत्र न क्वचित् । किं मन्दारतरुं मुक्त्वा किमस्त्यन्यत्र हारिभूषणम् ॥ १० ॥

उस बाहुबलीका रूप जैसा था वैसा अन्य कहीं नहीं दिखाई देता था, सो ठीक ही है कल्पवृक्षको छोड़कर क्या कहीं अन्यत्र भी उत्तम आभूषण पाये जाते हैं? ॥ १० ॥

कुटिलास्तस्य केशान्ता विबभुर्भ्रमरत्विषः । मनोभुवः शिरस्त्राणसूक्ष्मलोहवलयैः समाः ॥ ११ ॥

उसके भ्रमरके समान काले तथा कुटिल केशोंके अग्रभाग कामदेवके सिरके कवचके सूक्ष्म लोहेके तारोंके समान शोभायमान होते थे ॥ ११ ॥

ललाटमष्टमीचन्द्रचारु तस्य रुचिमत् । धात्रेव राज्यपट्टस्य निवेशाय पृथुकृतम् ॥ १२ ॥

अष्टमीके चन्द्रमाके समान सुन्दर उसका ललाट ऐसी शोभा धारण कर रहा था मानो विधाताने राज्यपट्टको बाँधनेके लिए ही उसे विस्तृत बनाया हो ॥ १२ ॥

कुण्डलद्वयसंशोभि वक्त्रमदीप्यत । सरोरुहमिवोपान्तवर्तिचक्राह्वयुग्मकम् ॥ १३ ॥

दोनों कुण्डलोंसे शोभायमान उसका मुख ऐसा देदीप्यमान जान पड़ता था मानो जिसके दोनों ओर समीप ही चक्रवा-चकवी बैठे हों-ऐसा कमल ही हो ॥ १३ ॥

नेत्रोत्पलाभ्यां वक्त्रसरोरुहम् । स्मितानन्दपयःपूर्णं लक्ष्म्यावासपवित्रितम् ॥ १४ ॥

मन्द हास्यकी किरणरूपी जलके पूरसे भरा हुआ तथा लक्ष्मीके निवास करनेसे अत्यन्त पवित्र उसका मुखरूपी सरोवर नेत्ररूपी दोनों कमलोंसे भारी सुशोभित होता था ॥ १४ ॥

विजयच्छन्दहारेण वक्षःस्थलप्रलम्बिना । सोऽधान्मरकतागस्य निर्झरशोभिनः ॥ १५ ॥

वह बाहुबली अपने वक्षःस्थलपर लटकते हुए विजयच्छन्द नामके हारसे निर्झरों-द्वारा शोभायमान मरकतमणिमय पर्वतकी शोभा धारण करता था ॥ १५ ॥

अंसावुभौ वक्षसः प्रान्ते श्रियमातेनतुः पराम् । द्वीपस्थलस्य प्रान्ते स्थितौ क्षुद्रनगाविव ॥ १६ ॥

उसके वक्षःस्थलके प्रान्तभागमें विद्यमान दोनों कन्धे ऐसी शोभा बढ़ा रहे थे मानो किसी द्वीपके प्रान्त भागमें विद्यमान दो छोटे-छोटे पर्वत ही हों ॥ १६ ॥

> बाहू तस्य महाबाहोरधातां बलमूर्जितम् । यतो बाहुबलीत्यासीन्नामास्य महसां निधेः ॥ १७ ॥

लम्बी भुजाओंको धारण करनेवाले और तेजके भाण्डारस्वरूप उस राजकुमारकी दोनों ही भुजाएँ भारी बलको धारण करती थीं और इसीलिए उसका बाहुबली नाम सार्थक हुआ था ॥ १७ ॥

> मध्येगात्रमसौ धत्ते गम्भीरं नाभिमण्डलम् । कुलाद्रिरिव पद्मायाः सेवनीयं महत्सरः ॥ १८ ॥

जिस प्रकार कुलाचल पर्वत अपने मध्यभागमें लक्ष्मीके निवास करने योग्य बड़ा भारी सरोवर धारण करता है उसी प्रकार वह बाहुबली अपने शरीरके मध्यभागमें गम्भीर नाभिमण्डल धारण करता था ॥ १८ ॥

> कटीतटं बभावास्य कटिसूत्रेण वेष्टितम् । महाहिनेव विस्तीर्णं तटं हेमागशैलराट् ॥ १९ ॥

करधनीसे घिरा हुआ उसका कटिप्रदेश ऐसा सुशोभित होता था मानो किसी बड़े सर्पसे घिरा हुआ अत्यन्त ऊँचे सुमेरु पर्वतका विस्तृत तट ही हो ॥ १९ ॥

> कदलीस्तम्भनिर्भासावूरू तस्य विरेजतुः । लक्ष्मीकरतलाजस्रस्पर्शादिव समुज्ज्वलौ ॥ २० ॥

केलेके खम्भेके समान शोभायमान उसके दोनों ऊरु ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो लक्ष्मीकी हथेलीके निरन्तर स्पर्शसे ही अत्यन्त उज्ज्वल हो गये हों ॥ २० ॥

> शुशुभाते जङ्घे तस्य विक्रमशालिनः । भविष्यत्प्रतिमायोगतपःसिद्ध्-यङ्गतां गते ॥ २१ ॥

पराक्रमसे सुशोभित रहनेवाले उस बाहुबलीकी दोनों ही जङ्घाएँ शुभ थीं--शुभ लक्षणोंसे सहित थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो वह बाहुबली भविष्यत् कालमें जो प्रतिमायोग तपश्चरण धारण करेगा उसकी सिद्धिके लिए कारण ही हों ॥ २१ ॥

> पादौ मृदुतलौ यस्य लसदङ्गुलिसङ्कुलौ । रुचिं दधतुरारक्तौ रक्ताम्भोजस्य सान्निधौ ॥ २२ ॥

उसके दोनों ही चरण लालकमलकी शोभा धारण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार कमल कोमल होता है उसी प्रकार उसके चरणोंके तलवे भी कोमल थे, कमलोंमें जिस प्रकार दल (पँखुरियाँ) सुशोभित होते हैं उसी प्रकार उसके चरणोंमें अँगुलियाँरूपी दल सुशोभित थे, कमल जिस प्रकार लाल होते हैं उसी प्रकार उसके चरण भी लाल थे और कमलोंपर जिस प्रकार लक्ष्मी निवास करती है उसी प्रकार उसके चरणोंमें भी लक्ष्मी (शोभा) निवास करती थी ॥ २२ ॥

> इत्यसौ सुतनुर्धत्ते दधानश्चरमं वपुः । सम्माति स्म कथं नाम मानिनीहृत्कुटीरके ॥ २३ ॥

इस प्रकार परम उदार और चरमशरीरको धारण करनेवाला वह बाहुबली मानिनी स्त्रियोंके हृदयरूपी छोटी-सी कुटीमें कैसे प्रवेश कर गया था? भावार्थ—स्त्रियोंका हृदय बहुत ही छोटा होता है और बाहुबलीका शरीर बहुत ही ऊँचा (सवा पाँच-सौ धनुष) था इसके सिवाय वह चरमशरीरी वृद्ध (पक्षमें उसी भवसे मोक्ष जानेवाला) था, मानिनी स्त्रियाँ चरमशरीरी अर्थात् वृद्ध पुरुषको पसन्द नहीं करती हैं, इन सब कारणोंके रहते हुए भी उसका वह शरीर स्त्रियोंका मान दूर कर उनके हृदयमें प्रवेश कर गया यह भारी आश्चर्यकी बात थी ॥ २३ ॥

> स्वप्नेऽपि तस्य रूपं तदनन्यमनसो जनाः । पश्यन्ति स्म मनोहारि निखातमिव चेतसि ॥ २४ ॥

जिनका मन दूसरी जगह नहीं जाकर केवल बाहुबलीमें ही लगा हुआ है ऐसी स्त्रियाँ स्वप्नमें भी उस बाहुबलीके मनोहर रूपको इस प्रकार देखती थीं मानो वह रूप उनके चित्तमें उकेर ही दिया गया हो ॥ २४ ॥

> मनोभवो मनोजश्च मनोभूर्धन्मथो मदनः । कामोऽनङ्गश्चेति व्याजह्रुस्तं मृगीदृशः ॥ २५ ॥

उस समय स्त्रियाँ उसे मनोभव, मनोज, मनोभू, मन्मथ, अङ्गज, मदन और अनन्यज आदि नामोंसे पुकारती थीं ॥ २५ ॥

> सुमनोमञ्जरीबाणैरिक्षुधन्वा किलाङ्गकः । जगत्सम्मोहकारीति कः श्रद्दध्यादयुक्तिकम् ॥ २६ ॥

ईख ही जिसका धनुष है ऐसा कामदेव अपने पुष्पोंकी मञ्जरीरूपी बाणोंसे समस्त जगत्का संहार कर देता है, इस युक्तिरहित बातपर भला कौन विश्वास करेगा? भावार्थ—कामदेवके विषयमें ऊपर लिखे अनुसार जो किंवदन्ती प्रसिद्ध है वह सर्वथा युक्तिरहित है, हाँ, बाहुबली-जैसे कामदेव ही अपने अलौकिक बल और सौन्दर्यके द्वारा जगत्का संहार कर सकते थे ॥ २६ ॥

> समा भरतराजेन रूपेण सर्व एव ते । विद्याकलाद्युतिदीप्त्या सौन्दर्यकला ॥ २७ ॥

इस प्रकार वे सभी राजकुमार विद्या, कला, दीप्ति, कान्ति और सुन्दरताकी लीलासे राजकुमार भरतके समान थे ॥ २७ ॥

> शतमेकोत्तरं पुत्रास्ते भरतादयः । क्रमात् प्रापुर्युवावस्थां मदावस्थामिव द्विपाः ॥ २८ ॥

जिस प्रकार हाथी क्रम-क्रमसे मदावस्थाको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार भगवान वृषभदेवके वे भरत आदि एक सौ एक पुत्र क्रम-क्रमसे युवावस्थाको प्राप्त हुए ॥ २८ ॥

> यौवनमभूत्तेषु रमणीयतरं तदा । उद्यानपादपौघेषु वसन्तस्येव जृम्भितम् ॥ २९ ॥

जिस प्रकार बगीचेके वृक्षसमूहोंपर वसन्तऋतुका खिलना अतिशय मनोहर जान पड़ता है उसी प्रकार उस समय उन राजकुमारोंमें वह यौवन अतिशय मनोहर जान पड़ता था ॥ २९ ॥

> स्मितांशुमञ्जरीः सताम्रान् पाणिपल्लवान् । भुजशाखा दधुर्यूनां पार्थिवाः ॥ ३० ॥

युवावस्थाको प्राप्त हुए वे सभी पार्थिव अर्थात् राजकुमार पार्थिव अर्थात् पृथिवीसे उत्पन्न होनेवाले वृक्षोंके समान थे क्योंकि वे सभी वृक्षोंके समान ही मन्दहास्यरूपी सफेद मञ्जरी, लाल वर्णके हाथरूपी पल्लव और फल देनेवाली ऊँची-ऊँची भुजारूपी शाखाओंको धारण करते थे ॥ ३० ॥

> तदामोदेन वासितास्तच्छिरोरुहाः । गन्धान्धैरलिभिर्लीनैः सोपचया इव ॥ ३१ ॥

जिसकी सुगन्धि सब ओर फैल रही है ऐसी वस्तुओंसे इन राजकुमारोंके सिरके बाल सुगन्धित किये जाते थे, उस सुगन्धिसे अन्धे होकर भ्रमर आकर उन बालोंमें विलीन होते थे जिससे वे बाल ऐसे मालूम होते थे जैसे मानो वृद्धिसे सहित ही हो रहे हों ॥ ३१ ॥

> तन्मुखामोदमाघ्रातुमायान्ती भृङ्गसन्ततिः । सर्वाङ्गीणं तदामोदमन्वभूत् क्षणमाकुला ॥ ३२ ॥

उन राजकुमारोंके मुखकी सुगन्धिको सूँघनेके लिए जो भ्रमरोंकी पंक्ति आती थी वह क्षण-भरके लिए व्याकुल होकर उनके समस्त शरीरमें व्याप्त हुई सुगन्धिका अनुभव करने लगती थी। भावार्थ—उनके समस्त शरीरसे सुगन्धि आ रही थी इसलिए 'मैं पहले किस जगहकी सुगन्धि ग्रहण करूँ' इस विचारसे भ्रमर क्षण भरके लिए व्याकुल हो जाते थे ॥ ३२ ॥

> रत्नकुण्डलयुग्मेन सकराहेण भूषितम् । श्रोत्रद्वयं बभौ तेषां मदनेनेव चिह्नितम् ॥ ३३ ॥

उन राजकुमारोंके दोनों कान मकरके चिह्नसे चिह्नित रत्नमयी कुण्डलोंसे अलंकृत थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेवने उनपर अपना चिह्न ही लगा दिया हो ॥ ३३ ॥

> नेत्रोत्पलानि तेषामिषून् कृत्य मनोभवः । भ्रूलताचापयष्टिभ्यां स्त्रीसृष्टिं वशमानयत् ॥ ३४ ॥

कामदेवने उनके नेत्ररूपी कमलोंको बाण बनाकर और उनकी भौंहरूपी लताओंको धनुषकी यष्टि बनाकर समस्त स्त्रियोंको अपने वशमें कर लिया था ॥ ३४ ॥

> वपुर्दीप्तं मुखं चारु नेत्रविक्रमः । कर्णाविम्यर्णविश्रान्तनेत्रोत्पलावतंसितौ ॥ ३५ ॥

उनका शरीर देदीप्यमान था, मुख सुन्दर था, नेत्रोंका विलास मनोहर था और कान समीपमें विश्राम करनेवाले नेत्ररूपी कमलोंसे सुशोभित थे ॥ ३५ ॥

> भ्रुवौ ललितचेष्टाढ्ये ललाटं नासिकाञ्चिता । कपोलावनुपमातीतौ वपोदितशशिश्रियौ ॥ ३६ ॥

उनकी भौंहें विलाससे सहित थीं, ललाट प्रशंसनीय था, नासिका सुशोभित थी और उपमारहित कपोल चन्द्रमाकी शोभाको भी तिरस्कृत करनेवाले थे ॥ ३६ ॥

> रागरसेनेव रञ्जितौ दशनच्छदौ । शब्दो मेघनिर्घोषगम्भीरः श्रुतिपेशलः ॥ ३७ ॥

उनके ओठ कुछ-कुछ लाल रङ्गके थे मानो अनुरागके रससे ही लाल वर्णके हो गये हों और स्वर मेघके शब्दके समान गम्भीर तथा कानोंको प्रिय था ॥ ३७ ॥

सूत्रभागानुग्रथितैर्जगच्चेतोऽभिनन्दिभिः । कण्ठ्यैरिवाक्षरैः शुद्धैः कण्ठो मुक्ताफलैर्वृतः ॥ ३८ ॥

उनके कण्ठ जिन मोतियोंसे घिरे हुए थे वे ठीक कण्ठसे उच्चारण होने योग्य अक्षरोंके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार अक्षर सूत्रभाग अर्थात् मूल ग्रन्थके अनुसार गुम्फित होते हैं उसी प्रकार वे मोती भी सूत्रभाग अर्थात् धागेमें पिरोये हुए थे, अक्षर जिस प्रकार जगत्के प्राणियोंके चित्तको आनन्द देनेवाले होते हैं उसी प्रकार वे मोती भी उनके चित्तको आनन्द देनेवाले थे, अक्षर जिस प्रकार कण्ठस्थानसे उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार मोती भी कण्ठस्थानमें पड़े हुए थे, और अक्षर जिस प्रकार शुद्ध अर्थात् निर्दोष होते हैं उसी प्रकार वे मोती भी शुद्ध अर्थात् निर्दोष थे ॥ ३८ ॥

वक्षः श्रिया परिष्वक्तमंसौ विजयश्रिया । व्यायामकर्कशौ बाहू पीनावजानुलम्बिनौ ॥ ३९ ॥

उनका वक्षःस्थल लक्ष्मीसे आलिङ्गित था, कन्धे विजयलक्ष्मीसे आलिङ्गित थे और घुटनों तक लम्बी भुजाएँ व्यायामसे कठोर थीं ॥ ३९ ॥

नाभिः शोभानिधानोर्वी चार्वी निर्वापणी दृशाम् । तनुमध्यं जगन्मध्यनिर्विशेषमशेषतः ॥ ४० ॥

उनकी नाभि शोभारूपी खजानेकी भूमि थी, सुन्दर थी और नेत्रोंको सन्तोष देनेवाली थी। इसी प्रकार उनका मध्यभाग अर्थात् कटिप्रदेश भी ठीक जगत्के मध्यभागके समान था ॥ ४० ॥

लसद्वसनमामुक्तजघनं मञ्जुशोभितम् । क्रायमाणमिवानङ्गनृपतेः कृतनिर्वृति ॥ ४१ ॥

जिनपर वस्त्र शोभायमान हो रहा है और करधनी लटक रही है ऐसे उनके स्थूल नितम्ब ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेवरूपी राजाके सुख देनेवाले कपड़ेके बने हुए तम्बू ही हों ॥ ४१ ॥

पीनौ चारुरुचावूरू नारीजनमनोरमौ । जङ्घे विनिर्जितानङ्गनिषङ्गरुचिराकृतौ ॥ ४२ ॥

उनके ऊरु स्थूल थे, सुन्दर कान्तिके धारक थे और स्त्रीजनोंका मन हरण करनेवाले थे। उनकी जङ्घाएँ कामदेवके तरकशकी सुन्दर आकृतिको भी जीतनेवाली थीं ॥ ४२ ॥

> सर्वाङ्गसङ्गतां कान्तिमिवोच्चित्य स्रुतामधः । क्रमौ विनिर्मितौ धात्रा न्यक्कृतारुणपङ्कजौ ॥ ४३ ॥

अपनी शोभासे लाल कमलोंका भी तिरस्कार करनेवाले उनके दोनों पैर ऐसे जान पड़ते थे मानो समस्त शरीरमें रहनेवाली जो कान्ति नीचेकी ओर बहकर गयी थी उसे इकट्ठा करके ही विधाताने बनाये गये हों ॥ ४३ ॥

> तेषां प्रत्यक्षमप्युद्धा शोभा स्वात्मगतैव या । तत्समुत्कीर्तनेनैवालं वर्णनान्तरम् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार उन राजकुमारोंके प्रत्येक अङ्गमें जो प्रशंसनीय शोभा थी वह उन्हींके शरीरमें थी--वैसी शोभा किसी दूसरी जगह नहीं थी इसलिए अन्य पदार्थोंका वर्णन कर उनके शरीरकी शोभाका वर्णन करना व्यर्थ है ॥ ४४ ॥

> निसर्गरुचिराण्येषां वपूंषि मणिभूषणैः । भूयिष्ठं रुरुचिरे पुष्पैर्लतानीव विकासिभिः ॥ ४५ ॥

उन राजकुमारोंके स्वभावसे ही सुन्दर शरीर मणिमयी आभूषणोंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि खिले हुए फूलोंसे लताएँ सुशोभित रहती हैं ॥ ४५ ॥

> तेषां विभूषणान्यासन् मुक्तानवरत्नमयानि वै । यष्टयो हारभेदाश्च रत्नावत्यश्च विविधाः ॥ ४६ ॥

उन राजकुमारोंके यष्टि, हार और रत्नावली आदि, मोती तथा रत्नोंके बने हुए अनेक प्रकारके आभूषण थे ॥ ४६ ॥

> यष्टिः शीर्षकं चोपशीर्षकं चावघाटकम् । प्रकाण्डकं च तरलप्रबन्धश्चेति पञ्चधा ॥ ४७ ॥

उनमें-से यष्टि नामक आभूषण शीर्षक, उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्डक और तरलप्रबन्धके भेदसे पाँच प्रकारका होता है ॥ ४७ ॥

> केषाञ्चिच्छीर्षकं यष्टिः केषाञ्चिदुपशीर्षकम् । अवघाठकमन्येषामपरेषां प्रकाण्डकम् ॥ ४८ ॥

उन राजकुमारोंमें किन्हींके शीर्षक, किन्हींके उपशीर्षक, किन्हींके अवघाटक, किन्हींके प्रकाण्डक और किन्हींके तरलप्रतिबन्ध नामकी यष्टि कण्ठका आभूषण हुई थी ॥ ४८ ॥

तरलप्रतिबन्धश्च केषाञ्चित् कण्ठभूषणम् । मणिमध्याश्च शुद्धाश्च तास्तेषां यष्टयोऽभवन् ॥ ४९ ॥

उनकी वे पाँचों प्रकारकी यष्टियाँ मणिमध्या और शुद्धाके भेदसे दो-दो प्रकारकी थीं। [जिसके बीचमें एक मणि लगा हो उसे मणिमध्या और जिसके बीचमें मणि नहीं लगा हो उसे शुद्धा यष्टि कहते हैं।] ॥ ४९ ॥

सूत्रमेकावली प्रोक्ता यष्टिः स्यान्मणिमध्यमा । रत्नावली भवेत् सैव सुवर्णमणिचित्रिता ॥ ५० ॥

मणिमध्यमा यष्टिको सूत्र तथा एकावली भी कहते हैं, और यदि यही मणिमध्यमा यष्टि सुवर्ण तथा मणियोंसे चित्र-विचित्र हो तो उसे रत्नावली भी कहते हैं ॥ ५० ॥

युक्तप्रमाणसौवर्णमणिमाणिक्यमौक्तिकैः । सान्तरं प्रथिता भूषा भवेयुरपवर्तिका ॥ ५१ ॥

यथास्थान निश्चित प्रमाणवाले सुवर्णमणि, माणिक्य और मोतियोंके द्वारा जो बीचमें अन्तर दे-देकर गूँथी जाती है उसे अपवर्तिका कहते हैं ॥ ५१ ॥

यष्टिः शीर्षकसंज्ञा स्यान्मध्येकस्थूलमौक्तिका । मध्यैस्त्रिभिः क्रमस्थूलैर्मौक्तिकैरुपशीर्षकम् ॥ ५२ ॥

जिसके बीचमें एक बड़ा स्थूल मोती हो उसे शीर्षक यष्टि कहते हैं और जिसके बीचमें क्रम-क्रमसे बढ़ते हुए तीन मोती हों उसे उपशीर्षक कहते हैं ॥ ५२ ॥

प्रकाण्डकं क्रमस्थूलैः पञ्चभिर्मध्यमौक्तिकैः । मध्यादनुक्रमाद्धीनैर्मौक्तिकैरवघाटकम् ॥ ५३ ॥

जिसके बीचमें क्रम-क्रमसे बढ़ते हुए पाँच मोती लगे हों उसे प्रकाण्डक कहते हैं, जिसके बीचमें एक बड़ा मणि हो और उसके दोनों ओर क्रम-क्रमसे घटते हुए छोटे-छोटे मोती लगे हों उसे अवघाटक कहते हैं ॥ ५३ ॥

तरलप्रतिबन्धः स्यात् सर्वतः सममौक्तिकैः । तथैव मणियुक्तानामूह्या भेदास्त्रिधात्मनाम् ॥ ५४ ॥

और जिसमें सब जगह एक समान मोती लगे हों उसे तरलप्रतिबन्ध कहते हैं। ऊपर जो एकावली, रत्नावली और अपवर्तिका ये मणियुक्त यष्टियोंके तीन भेद कहे हैं उनके भी ऊपर लिखे अनुसार प्रत्येकके शीर्षक, उपशीर्षक आदि पाँच-पाँच भेद समझ लेना चाहिए ॥ ५४ ॥

> हारो यष्टिकलापः स्यात् स चैकादशधा मतः । इन्द्रच्छन्दादिभेदेन यष्टिसंख्याविशेषतः ॥ ५५ ॥

यष्टि अर्थात् लड़ियोंके समूहको हार कहते हैं। वह हार लड़ियोंकी संख्याके न्यूनाधिक होनेसे इन्द्रच्छन्द आदिके भेदसे ग्यारह प्रकारका होता है ॥ ५५ ॥

> यष्ट्योऽष्टसहस्रं तु यत्रेन्द्रच्छन्दसंज्ञकः । स हारः परमोदारः शक्रचक्रजिनेशिनाम् ॥ ५६ ॥

जिसमें एक हजार आठ लड़ियाँ हों उसे इन्द्रच्छन्द हार कहते हैं। वह हार सबसे उत्कृष्ट होता है और इन्द्र, चक्रवर्ती तथा जिनेन्द्रदेवके पहननेके योग्य होता है ॥ ५६ ॥

> तदर्धप्रमितो यस्तु विजयच्छन्दसंज्ञकः । सोऽर्धचक्रधरस्योक्तो हारोऽन्येषु च केषुचित् ॥ ५७ ॥

जिसमें इन्द्रच्छन्द हारसे आधी अर्थात् पाँच सौ चार लड़ियाँ हों उसे विजयच्छन्द हार कहते हैं। यह हार अर्धचक्रवर्ती तथा बलभद्र आदि अन्य पुरुषोंके पहनने योग्य कहा गया है ॥ ५७ ॥

> शतमष्टोत्तरं यत्र यष्टिहार एव सः । एकाशीत्या भवेद् देवच्छन्दो मौक्तिकयष्टिभिः ॥ ५८ ॥

जिसमें एक सौ आठ लड़ियाँ हों उसे हार कहते हैं और जिसमें मोतियोंकी इक्यासी लड़ियाँ हों उसे देवच्छन्द कहते हैं ॥ ५८ ॥

> चतुःषष्ट्यार्धहारः स्याच्चतुःपञ्चाशता पुनः । भवेद् रश्मिकलापाख्यो गुच्छो द्वात्रिंशता मतः ॥ ५९ ॥

जिसमें चौंसठ लड़ियाँ हों उसे अर्धहार, जिसमें चौवन लड़ियाँ हों उसे रश्मिकलाप और जिसमें बत्तीस लड़ियाँ हों उसे गुच्छ कहते हैं ॥ ५९ ॥

यष्टीनां सप्तविंशत्या भवेन्नक्षत्रमालिका । शोभां नक्षत्रमालाया या धत्ते स्वमौक्तिकैः ॥ ६० ॥

जिसमें सत्ताईस लड़ियाँ हों उसे नक्षत्रमाला कहते हैं। यह हार अपने मोतियोंसे अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्रोंकी मालाकी शोभाकी हँसी करता हुआ-सा जान पड़ता है ॥ ६० ॥

चतुर्विंशत्यार्धगुच्छो विंशत्या माणवाह्वयः । भवेन्मौक्तिकयष्टीनां तदर्धेनार्धमाणवः ॥ ६१ ॥

मोतियोंकी चौबीस लड़ियोंके हारको अर्धगुच्छ, बीस लड़ियोंके हारको माणव और दस लड़ियोंके हारको अर्धमाणव कहते हैं ॥ ६१ ॥

इन्द्रच्छन्दादिहारास्ते यदा स्युर्मणिमध्यमाः । माणवाख्या विभूषाः स्युस्तत्पदोपपदास्तदा ॥ ६२ ॥

ऊपर कहे हुए इन्द्रच्छन्द आदि हारोंके मध्यमें जब मणि लगा दिया जाता है तब उन नामोंके साथ माणव शब्द और भी सुशोभित होने लगता है अर्थात् इन्द्रच्छन्दमाणव, विजयच्छन्दमाणव आदि कहलाने लगते हैं ॥ ६२ ॥

स चैकशीर्षकः शुद्धहारः स्याच्छीर्षकात् परः । पुनर्हन्दाद्युपदः स एकादशभेदभाक् ॥ ६३ ॥

जो एक शीर्षक हार है वह शुद्ध हार कहलाता है। यदि उसके आगे इन्द्रच्छन्द आदि उपपद भी लगा दिये जायें तो वह भी ग्यारह भेदोंसे युक्त हो जाता है ॥ ६३ ॥

तथोपशीर्षकादीनामपि शुद्धात्मनां भिदाः । प्रत्येकमेकादश स्युर्हाराः पञ्चपञ्चाशदेव हि ॥ ६४ ॥

इसी प्रकार उपशीर्षक आदि शुद्ध हारोंके भी ग्यारह-ग्यारह भेद होते हैं। इस प्रकार सब हार पचपन प्रकारके होते हैं ॥ ६४ ॥

मणिशेषाः फलकहाराख्यो मणिमध्योऽर्धमाणवे । त्रिहेमफलकः पञ्चफलको वा यदा भवेत् ॥ ६५ ॥

अर्धमाणव हारके बीचमें यदि मणि लगाया गया हो तो उसे फलकहार कहते हैं। उसी फलकहारमें जब सोनेके तीन अथवा पाँच फलक लगे हों तो उसके सोपान और मणिसोपानके भेदसे दो भेद हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

सोपानमणिसोपानद्वैविध्यात् स ततो द्विधा । सोपानाख्यस्तु शुद्धैः स्यान्मणिसोपानको मणियुक्तैः ॥ ६६ ॥

अर्थात् जिसमें सोनेके तीन फलक लगे हों उसे सोपान कहते हैं और जिसमें सोनेके पाँच फलक लगे हों उसे मणिसोपान कहते हैं। इन दोनों हारोंमें इतनी विशेषता है कि सोपान नामक हारमें सिर्फ सुवर्णके ही फलक रहते हैं और मणिसोपान नामके हारमें रत्नोंसे जड़े हुए सुवर्णके फलक रहते हैं। (सुवर्णके गोल दाने-गुरिया-को फलक कहते हैं) ॥ ६६ ॥

इत्यमूनि युगारम्भे कण्ठोरोभूषणानि च । सृष्ट्वासजत् स्वपुत्रेभ्यो यथास्वं ते च तद् दधुः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार कर्मयुगके प्रारम्भमें भगवान् वृषभदेवने अपने पुत्रोंके लिए कण्ठ और वक्षःस्थलके अनेक आभूषण बनाये, और उन पुत्रोंने भी यथायोग्य रूपसे वे आभूषण धारण किये ॥ ६७ ॥

विभूषणैः कण्ठ्यैस्तैरङ्गसङ्गिमिश्चान्यैः । ते नृपा ब्यराजन्त ज्योतिर्गणमया इव ॥ ६८ ॥

इस तरह कण्ठ तथा शरीरके अन्य अवयवोंमें धारण किये हुए आभूषणोंसे वे राजकुमार ऐसे सुशोभित होते थे मानों ज्योतिषी देवोंका समूह हों ॥ ६८ ॥

अङ्गतेजस्विनां मध्ये भरतोऽर्क इवाद्युतत् । शशीव जगतः कान्तो युवा बाहुबली बभौ ॥ ६९ ॥

उन सब राजकुमारोंमें तेजस्वियोंमें भी तेजस्वी भरत सूर्यके समान सुशोभित होता था और समस्त जगत्में अत्यन्त सुन्दर युवा बाहुबली चन्द्रमाके समान शोभायमान होता था ॥ ६९ ॥

शेषाश्च ग्रहनक्षत्रतारागणनिभा बभुः । ब्राह्मी दीप्तिरिवैतेषां मज्ज्योत्स्नेव सुन्दरी ॥ ७० ॥

अन्य सब राजपुत्र ग्रह, नक्षत्र तथा तारागणके समान शोभायमान होते थे। उन सब राजपुत्रोंमें ब्राह्मी दीप्तिके समान और सुन्दरी चाँदनीके समान सुशोभित होती थी ॥ ७० ॥

स तैः परिवृतः पुत्रैः भगवान् वृषभो विभुः । ज्योतिर्गणैः परिक्षिप्तो यथा मेरुर्महोदयः ॥ ७१ ॥

उन सब पुत्र-पुत्रियोंसे घिरे हुए सौभाग्यशाली भगवान वृषभदेव ज्योतिषी देवोंके समूहसे घिरे हुए ऊँचे मेरु पर्वतकी तरह सुशोभित होते थे ॥ ७१ ॥

अथैकदा सुखासीनो भगवान् हरिविष्टरे । मतिं व्यापारयामास कलाविद्योपदेशने ॥ ७२ ॥

अथानन्तर किसी एक समय भगवान वृषभदेव सिंहासनपर सुखसे बैठे हुए थे, कि उन्होंने अपना चित्त कला और विद्याओंके उपदेश देनेमें व्यापारित किया ॥ ७२ ॥

आसीनाः पुत्रिके भर्तुर्ब्राह्मीसुन्दर्यभिध्वे । कृतमङ्गलनेपथ्ये सम्प्राप्ते निकटं गुरोः ॥ ७३ ॥

उसी समय उनकी ब्राह्मी और सुन्दरी नामकी पुत्रियाँ माङ्गलिक वेष-भूषा धारण कर अपने गुरु पिताके निकट पहुँचीं ॥ ७३ ॥

ते च किञ्चिदिवोद्भूतस्तनकुड्मलशोभिनि । वयस्यनन्तरे बाल्याद् वर्तमाने मनोहरे ॥ ७४ ॥

वे दोनों ही पुत्रियाँ कुछ-कुछ उठे हुए स्तनरूपी कुड्मलोंसे शोभायमान और बाल्यावस्थाके अनन्तर प्राप्त होनेवाली किशोर अवस्थामें वर्तमान थीं अतएव अतिशय सुन्दर जान पड़ती थीं ॥ ७४ ॥

मेधाविन्यौ विनीते च सुशीले शुभलक्षणे । रूपवत्यौ यशस्विन्यौ श्लाघ्ये मानवतीजनैः ॥ ७५ ॥

वे दोनों ही कन्याएँ बुद्धिमती थीं, विनीत थीं, सुशील थीं, सुन्दर लक्षणोंसे सहित थीं, रूपवती थीं और मानिनी स्त्रियोंके द्वारा भी प्रशंसनीय थीं ॥ ७५ ॥

अधिक्षोणि पदन्यासैर्हंसीगतिविगर्हिभिः । रक्ताम्बुजोपहारस्य कुर्वत्यौ परितः प्रियम् ॥ ७६ ॥

हंसोंकी चालको भी तिरस्कृत करनेवाली अपनी सुन्दर चालसे जब वे पृथिवीपर पैर रखती हुई चलती थीं, तब वे चारों ओर लालकमलोंके उपहारकी शोभाको विस्तृत करती थीं ॥ ७६ ॥

नखदर्पणसंक्रान्तस्वाङ्गच्छायापदेशतः । कान्त्या न्यक्कृत्य दिक्कन्याः पादाभ्यां क्रष्टुमुद्यते ॥ ७७ ॥

उनके चरणोंके नखरूपी दर्पणोंपर जो उन्हींके शरीरका प्रतिबिम्ब पड़ता था उसके छलसे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अपनी कान्तिसे तिरस्कृत हुई दिक्कन्याओंको अपने चरणोंसे रौंदनेके लिए ही तैयार हुई हों ॥ ७७ ॥

सलीलं पदविन्यासै रणन्नूपुरनिःस्वनैः । शिक्षयन्त्याविवाहूय हंसीः स्वं गतिविभ्रमम् ॥ ७८ ॥

लीलासहित पैर रखकर चलते समय रुनझुन शब्द करते हुए उनके नूपुरोंसे जो सुन्दर शब्द होते थे उनसे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो नूपुरोंके शब्दोंके बहाने हंसियोंको बुलाकर उन्हें अपनी गतिका सुन्दर विलास ही सिखला रही हों ॥ ७८ ॥

चारूरू जङ्घे तद् कान्तिमतिरेकिणीम् । जनानां दृक्पथे नूनं विक्षिपन्त्याविवासितः ॥ ७९ ॥

जिनके ऊरु अतिशय सुन्दर और जंघाएँ अतिशय कान्तियुक्त हैं ऐसी वे दोनों पुत्रियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो उनकी बढ़ती हुई कान्तिको वे लोगोंके नेत्रोंके मार्गमें चारों ओर स्वयं ही फेंक रही हों ॥ ७९ ॥

दाने जघनमारोहे काञ्चीतूर्यरवोदितम् । सौभाग्यदेवतावासमिवैकांशुकवितानकम् ॥ ८० ॥

वे पुत्रियाँ जिस स्थूल जघन भागको धारण कर रही थीं वह करधनी तथा वस्त्रोंसे सुशोभित था और ऐसा मालूम होता था मानो करधनीरूपी बाजोंसे सुशोभित और कपड़ेके चँदोवासे युक्त सौभाग्य देवताके रहनेका घर ही हो ॥ ८० ॥

लावण्यदेवता पूज्यैर्यजमानेन मन्मथैः । हेमकुण्डमिवानिम्नं दधत्यौ नाभिमण्डलम् ॥ ८१ ॥

वे कन्याएँ जिस गम्भीर नाभिमण्डलको धारण किए हुई थीं वह ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवरूपी यजमानने लावण्यरूपी देवताकी पूजाके लिए होमकुण्ड ही बनाया हो ॥ ८१ ॥

वहन्त्यौ किञ्चिदुद्भूतश्यामिकां रोमराजिकाम् । मनोभवगृहावेशधूपधूमशिखामिव ॥ ८२ ॥

जिसमें कुछ-कुछ कालापन प्रकट हो चुका है ऐसी जिस रोमराजीको वे पुत्रियाँ धारण कर रही थीं वह ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेवके गृह-प्रवेशके समय खेई हुई धूपके धूमकी शिखा ही हो ॥ ८२ ॥

तनुमध्ये कृशोदर्यावारक्तकरपल्लवे । स्पृहाद् बाहुलते किञ्चिदुद्गतस्तनकुड्मले ॥ ८३ ॥

उन दोनों कन्याओंका मध्यभाग कृश था, उदर भी कृश था, हाथके पल्लव कुछ-कुछ लाल थे, भुजलताएँ कोमल थीं और स्तनरूपी कुड्मल कुछ-कुछ ऊँचे उठे हुए थे ॥ ८३ ॥

तयो रुधिरं हारमाक्रान्तस्तनमण्डलम् । तदाङ्गोपगूहनात् सुखमाप्तमिवोद्भासिभिः ॥ ८४ ॥

वे अपने स्तनमण्डलपर पड़े हुए जिस मनोहर हारको धारण किए हुई थीं वह अपनी किरणोंसे ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो उनके आलिंगनसे उत्पन्न हुए सुखकी आसक्तिसे हँस ही रहा हो ॥ ८४ ॥

सुकण्ठ्यौ कोकिलालापनिन्दिमधुरस्वरे । ताम्राधरे दरोद्भिन्नस्मितांशुरुचिरानने ॥ ८५ ॥

उनके कण्ठ बहुत ही सुन्दर थे, उनका स्वर कोयलकी वाणीके समान मनोहर और मधुर था, ओठ ताम्रवर्ण अर्थात् कुछ-कुछ लाल, और मुख कुछ-कुछ प्रकट हुए मन्दहास्यकी किरणोंसे मनोहर थे ॥ ८५ ॥

सुदन्त्यौ ललितापाङ्गवीक्षिते सान्द्रपक्ष्मणी । मदनस्येव चापेन्दू दधाने नयनोत्पले ॥ ८६ ॥

उनके दाँत सुन्दर थे, कटाक्षों-द्वारा देखना मनोहर था, नेत्रोंकी बरौनी सघन थी और नेत्ररूपी नीलकमल कामदेवके विजयी धनुषके समान थे ॥ ८६ ॥

लसत्कपोलसंक्रान्तैरलकप्रतिबिम्बकैः । ह्रेपयन्त्यावभिव्यक्तलक्ष्मणः शशिनः श्रियम् ॥ ८७ ॥

शोभायमान कपोलोंपर पड़े हुए केशोंके प्रतिबिम्बसे वे कन्याएँ, जिसमें कलंक प्रकट दिखायी दे रहा है ऐसे चन्द्रमाकी शोभाको भी लज्जित कर रही थीं ॥ ८७ ॥

समाल्यं कबरीभारं दधाने तरङ्गितम् । स्रवन्तः संक्रान्तगाङ्गाद्यौघं प्रवाहमिव यामुनम् ॥ ८८ ॥

वे मालासहित जिस केशपाशको धारण कर रही थीं वह ऐसा मालूम होता था मानो जिसके भीतर गङ्गा नदीका प्रवाह मिला हुआ है ऐसा यमुना नदीका लहराता हुआ प्रवाह ही हो ॥ ८८ ॥

इति प्रत्यङ्गसङ्गिन्या कान्त्या कान्ततमाकृती । सौन्दर्यस्येव सन्दोहमेकीकृत्य विनिर्मिते ॥ ८९ ॥

इस प्रकार प्रत्येक अंगमें रहनेवाली कान्तिसे उन दोनोंकी आकृति अत्यन्त सुन्दर थी और उससे वे ऐसी प्रतीत होती थीं मानो सौन्दर्यके समूहको एक स्थानपर इकट्ठा करके ही बनायी गयी हों ॥ ८९ ॥

किमेते दिव्यकन्ये स्तः किं नु स्तः फणीशिनाम् । दिक्कन्ये किमुत स्यातां किं वा सौभाग्यदेवते ॥ ९० ॥

क्या ये दोनों दिव्य कन्याएँ हैं? अथवा नागकन्याएँ हैं? अथवा दिक्कन्याएँ हैं? अथवा सौभाग्य देवियाँ हैं? ॥ ९० ॥

किमिमे श्रीसरस्वत्यौ किं वा तदधिदेवते । किं वा तदवतारोऽयमेवंरूपः प्रतीयते ॥ ९१ ॥

अथवा लक्ष्मी और सरस्वती देवी हैं? अथवा उनकी अधिष्ठात्री देवी हैं? अथवा उनका अवतार है? ॥ ९१ ॥

द्वे लक्ष्म्याविमे जगन्नाथमहावार्धेः किमुद्गते । कल्याणभागिनी चैषां अनयोरियमाकृतिः ॥ ९२ ॥

अथवा क्या जगन्नाथ (भगवान् वृषभदेव) रूपी महासमुद्रसे उत्पन्न हुई दो लक्ष्मियाँ हैं? क्योंकि इनकी यह आकृति अनेक कल्याणोंका अनुभव करानेवाली है ॥ ९२ ॥

इति संश्लाध्यमाने ते जनैरुत्पन्नविस्मयैः । सप्रश्रयमुपाश्रित्य जगन्नाथं प्रणेमतुः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार लोग बड़े आश्चर्यके साथ जिनकी प्रशंसा करते हैं ऐसी उन दोनों कन्याओंने विनयके साथ भगवानके समीप जाकर उन्हें प्रणाम किया ॥ ९३ ॥

> प्रणते ते समुत्थाप्य दूरान्नमितमस्तके । प्रीत्या स्वमङ्कमारोप्य स्पृष्ट्वाघ्नाय च मस्तके ॥ ९४ ॥

दूरसे ही जिनका मस्तक नम्र हो रहा है ऐसी नमस्कार करती हुई उन दोनों पुत्रियोंको उठाकर भगवानने प्रेमसे अपनी गोदमें बैठाया, उनपर हाथ फेरा और उनका मस्तक सूँघा ॥ ९४ ॥

> सप्रहासमुवाचैवमेतं वो सुरैः समम् । यास्यथोऽद्यामरोद्यानं नैवमेते गताः सुराः ॥ ९८ ॥

और हँसते हुए उनसे बोले कि आओ, तुम समझती होगी कि हम आज देवोंके साथ अमरवनको जायेंगी परन्तु अब ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि देव लोग पहले ही चले गए हैं ॥ ९८ ॥

> इत्याक्रीड्य क्षणं भूयोऽप्येवमाख्यद् गिरांपतिः । युवां युवजनश्लाध्ये शीलेन विनयेन च ॥ ९६ ॥

इस तरह भगवान् वृषभदेव क्षणभर उन दोनों पुत्रियोंके साथ क्रीड़ा कर फिर कहने लगे कि तुम अपने शील और विनयगुणके कारण युवावस्थाके लोगोंके द्वारा भी बहुत श्लाघनीय हो ॥ ९६ ॥

> यद्वपुर्यच्चेदमिदं शीलमनीदृशम् । विद्यया चेद्विभूष्येत सफलं जन्म वो भवेत् ॥ ९७ ॥

तुम दोनोंका यह शरीर, यह अवस्था और यह अनुपम शील यदि विद्यासे विभूषित किया जाये तो तुम दोनोंका यह जन्म सफल हो सकता है ॥ ९७ ॥

> विद्यावान् पूज्यते लोके सम्पदं याति कोविदैः । विद्यावती च नारी स्यात् स्त्रीरत्नमिति शंसिता ॥ ९८ ॥

इस लोकमें विद्यावान् पुरुष पण्डितोंके द्वारा भी सम्मानको प्राप्त होता है और विद्यावती स्त्री भी स्त्रीरत्नके श्रेष्ठ पदको प्राप्त होती है ॥ ९८ ॥

> विद्या यशस्करी लोके विद्या श्रेयस्करी मता । सम्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी ॥ ९९ ॥

विद्या ही मनुष्योंका यश करनेवाली है, विद्या ही पुरुषोंका कल्याण करनेवाली है, अच्छी तरहसे आराधना की गयी विद्या देवता ही सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली है ॥ ९९ ॥

> विद्या कामदुहा धेनुर्विद्या चिन्तामणिर्नृणाम् । त्रिवर्गफलितां सूते विद्या सम्पत्परम्पराम् ॥ १०० ॥

विद्या मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु है, विद्या ही चिन्तामणि है, विद्या ही धर्म, अर्थ तथा काम रूप फलसे सहित सम्पदाओंकी परम्परा उत्पन्न करती है ॥ १०० ॥

> विद्या बन्धुश्च मित्रं च विद्या कल्याणकारकम् । सहयायि धनं विद्या विद्या सर्वार्थसाधनी ॥ १०१ ॥

विद्या ही मनुष्योंका बन्धु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करनेवाली है, विद्या ही साथ-साथ जानेवाला धन है और विद्या ही सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाली है ॥ १०१ ॥

> तद्विद्याग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुतं युवाम् । सम्प्राप्तग्रहणकालोऽयं युष्माकमुचितो गुणैः ॥ १०२ ॥

इसलिए हे पुत्रियो, तुम दोनों विद्या ग्रहण करनेका प्रयत्न करो क्योंकि तुम दोनोंके विद्या ग्रहण करनेका यही उचित काल है ॥ १०२ ॥

> इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके । अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं सपर्यया ॥ १०३ ॥

भगवान् वृषभदेवने ऐसा कहकर तथा बार-बार उन्हें आशीर्वाद देकर अपने चित्तमें स्थित श्रुत देवताको आदरपूर्वक सुवर्णके विस्तृत पट्टेपर स्थापित किया ॥ १०३ ॥

> विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकाम् । उपादिशल्लिपिं संख्यास्थानं चाहुरनुक्रमात् ॥ १०४ ॥

फिर दोनों हाथोंसे अकारादि वर्णमाला लिखकर उन्हें लिपि (लिखनेका) उपदेश दिया और अनुक्रमसे इकाई, दहाई आदि अंकोंके द्वारा उन्हें संख्याके ज्ञानका भी उपदेश दिया। (भगवानने दाहिने हाथसे वर्णमाला और बायें हाथसे संख्या लिखी थी) ॥ १०४ ॥

ततो भगवतो वक्त्रान्निःसृतामक्षरावलीम् । सिद्धं नम इति व्यक्तमङ्गलां सिद्धमातृकाम् ॥ १०५ ॥

तदनन्तर जो भगवानके मुखसे निकली हुई है, जिसमें "सिद्धं नमः" इस प्रकारका मंगलाचरण अत्यन्त स्पष्ट है, जिसका नाम सिद्धमातृका है ॥ १०५ ॥

अकारादिहकारान्तां शुद्धां मुक्तावलीमिव । स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भेवमुपेयुषीम् ॥ १०६ ॥

जो स्वर और व्यञ्जनके भेदसे दो भेदोंको प्राप्त है, जो शुद्ध मोतियोंकी मालाके समान है ऐसी अकारको आदि लेकर हकार पर्यन्त ॥ १०६ ॥

अयोगवाहपर्यन्तां सर्वविद्यासु सन्तताम् । संयोगाक्षरसम्भूतिं नेकबीजाक्षरैश्चिताम् ॥ १०७ ॥

तथा विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय इन अयोगवाह पर्यन्त समस्त अक्षरोंवाली, जो समस्त विद्याओंमें पायी जाती है, जिसमें अनेक संयुक्त अक्षरोंकी उत्पत्ति है और जो अनेक बीजाक्षरोंसे व्याप्त है ॥ १०७ ॥

ब्राह्मी सम्यग् दधारैनां मेधाविन्यतिसुन्दरी । सुन्दरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यगधारयत् ॥ १०८ ॥

ऐसी समस्त शुद्ध वर्णमालाको बुद्धिमती ब्राह्मी पुत्रीने धारण किया और अतिशय सुन्दरी सुन्दरीदेवीने इकाई दहाई आदि स्थानोंके क्रमसे गणित शास्त्रको अच्छी तरह धारण किया ॥ १०८ ॥

न विना वाङ्मयात् किञ्चिदस्ति शास्त्रं कलापि वा । ततो वाङ्मयमेवादौ वेधास्ताभ्यामुपादिशत् ॥ १०९ ॥

वाङ्मयके बिना न तो कोई शास्त्र है और न कोई कला है इसलिए भगवान् वृषभदेवने सबसे पहले उन पुत्रियोंके लिए वाङ्मयका उपदेश दिया था ॥ १०९ ॥

सुमेधसावसम्मोहादध्येषातां गुरोर्मुखात् । वाग्देव्याविव निःशेषं वाङ्मयं शब्दतोऽर्थतः ॥ ११० ॥

अत्यन्त बुद्धिमती उन कन्याओंने सरस्वती देवीके समान अपने पिताके मुखसे संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे रहित शब्द तथा अर्थ रूप समस्त वाङ्मयका अध्ययन किया था ॥ ११० ॥

> पदविद्यामधिच्छन्दोविचितिं वागलंकृतिम् । त्रयीं समुदितामेतां तद्विदो वाङ्मयं विदुः ॥ १११ ॥

वाङ्मयके जाननेवाले गणधरादि देव व्याकरण शास्त्र, छन्दशास्त्र और अलंकार शास्त्र इन तीनोंके समूहको वाङ्मय कहते हैं ॥ १११ ॥

> तदा स्वायम्भुवं नाम पदशास्त्रमभून् महत् । वृत्तत्परशताध्यायैरतिगम्भीरमब्धिवत् ॥ ११२ ॥

उस समय स्वायम्भुव अर्थात् भगवान वृषभदेवका बनाया हुआ एक बड़ा भारी व्याकरण शास्त्र प्रसिद्ध हुआ था, उसमें सौसे भी अधिक अध्याय थे और वह समुद्रके समान अत्यन्त गम्भीर था ॥ ११२ ॥

> छन्दोविचितिमप्येवं नानाध्यायैरुपादिशत् । उक्तात्युक्तादिभेदांश्च षड्विंशतिमदर्शयत् ॥ ११३ ॥

इसी प्रकार उन्होंने अनेक अध्यायोंमें छन्दशास्त्रका भी उपदेश दिया था और उसके उक्ता, अत्युक्ता आदि छब्बीस भेद भी दिखलाये थे ॥ ११३ ॥

> प्रस्तारं नष्टमुद्दिष्टमेकद्वित्रिलघुक्रियाम् । सङ्ख्यामध्वाध्वयोगं च ब्याजहार गिरांपतिः ॥ ११४ ॥

अनेक विद्याओंके अधिपति भगवानने प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, एकद्वित्रिलघुक्रिया, सङ्ख्या और अध्वाध्वयोग छन्दशास्त्रके इन छह प्रत्ययोंका भी निरूपण किया था ॥ ११४ ॥

> उपमादीनलङ्कारांस्तन्मार्गद्वयविस्तरम् । दश प्राणानलङ्कारसङ्ग्रहे विभुरभ्यधात् ॥ ११८ ॥

भगवानने अलङ्कारका संग्रह करते समय अथवा अलङ्कारसंग्रह ग्रन्थमें उपमा, रूपक आदि अलंकारोंका कथन किया था, उनके शब्दालंकार और अर्थालंकार रूप दो मार्गोंका विस्तारके साथ वर्णन किया था और श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओज, कान्ति तथा समाधि इन दश प्राण अर्थात् गुणोंका भी निरूपण किया था ॥ ११८ ॥

अथानयोः पदज्ञानदीपिकाभिः प्रकाशिताः । कलाविद्याश्च निःशेषाः स्वयं परिणतिं ययुः ॥ ११६ ॥

अथानन्तर ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियोंकी पदज्ञान (व्याकरण-ज्ञान) रूपी दीपिकासे प्रकाशित हुई समस्त विद्याएँ और कलाएँ अपने आप ही परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हो गयी थीं ॥ ११६ ॥

इति ह्याधीतनिर्दोषविद्ये ते गुरोरनुग्रहात् । वाग्देवतावचाराय सुपात्रत्वमुपेयतुः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार गुरु अथवा पिताके अनुग्रहसे जिन्होंने समस्त निर्दोष विद्याएँ पढ़ ली हैं ऐसी वे दोनों पुत्रियाँ सरस्वती देवीके अवतार लेनेके लिए सुपात्रताको प्राप्त हुई थीं ॥ ११७ ॥

पुत्राणां च यथाऽऽम्नायं विनयादन्वशिषद्विभुः । शास्त्राणि व्याजहाराथ सुपुत्रेभ्यो जगद्गुरुः ॥ ११८ ॥

जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवने इसी प्रकार अपने भरत आदि पुत्रोंको भी विनयी बनाकर क्रमसे आम्नायके अनुसार अनेक शास्त्र पढ़ाये ॥ ११८ ॥

भरतायार्थशास्त्रं च भरतं च ससङ्ग्रहम् । अध्यायैरतिविस्तीर्णैः स्फुटीकृत्य जगौ गुरुः ॥ ११९ ॥

भगवानने भरत पुत्रके लिए अत्यन्त विस्तृत--बड़े-बड़े अध्यायोंसे स्पष्ट कर अर्थशास्त्र और सङ्ग्रह (प्रकरण) सहित नाट्यशास्त्र कहा था ॥ ११९ ॥

विभुर्वृषभसेनाय गीतवाद्यार्थसङ्ग्रहम् । गान्धर्वशास्त्रमाचख्यौ यत्राध्यायाः परश्शतम् ॥ १२० ॥

स्वामी वृषभदेवने अपने पुत्र वृषभसेनके लिए जिसमें गाना, बजाना आदि अनेक पदार्थोंका संग्रह है और जिसमें सौसे भी अधिक अध्याय हैं ऐसे गान्धर्वशास्त्रका व्याख्यान किया था ॥ १२० ॥

अनन्तविजयायाख्याद् विद्यां चित्रकलां श्रिताम् । नानाध्यायशताकीर्णां साकलाः सकलाः कलाः ॥ १२१ ॥

अनन्तविजय पुत्रके लिए नाना प्रकारके सैकड़ों अध्यायोंसे भरी हुई चित्रकला-सम्बन्धी विद्याका उपदेश दिया और लक्ष्मी या शोभासहित समस्त कलाओंका निरूपण किया ॥ १२१ ॥

> विश्वकर्ममतं चास्मै वास्तुविद्यामुपादिशत् । अध्यायविस्तरस्तत्र बहुभेदोऽवधारितः ॥ १२२ ॥

इसी अनन्तविजय पुत्रके लिए उन्होंने सूत्रधारोंकी विद्या तथा मकान बनानेकी वास्तुविद्याका उपदेश दिया। उस विद्याके प्रतिपादक शास्त्रोंमें अनेक अध्यायोंका विस्तार था तथा उसके अनेक भेद थे ॥ १२२ ॥

> कामनीतिमथ स्त्रीणां पुरुषाणां च लक्षणम् । आयुर्वेदं धनुर्वेदं हस्तिचाश्वांगगोचरम् ॥ १२३ ॥

बाहुबली पुत्रके लिए उन्होंने कामनीति, स्त्री-पुरुषोंके लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, हाथी-घोड़ा आदिके लक्षण जाननेके शास्त्र ॥ १२३ ॥

> तथा रत्नपरीक्षां च बाहुबल्याख्यसूनवे । व्याचख्यौ बहुधाऽऽम्नातैरध्यायैरतिविस्तृतैः ॥ १२४ ॥

तथा रत्नपरीक्षा आदिक शास्त्र अनेक प्रकारके बड़े-बड़े अध्यायोंके द्वारा सिखलाये ॥ १२४ ॥

> किमुक्तेन बहुनोक्तेन शास्त्रं लोकोपकारि यत् । तत्सर्वमादिकर्ताऽसौ पुत्रेभ्यः समदर्शयत् ॥ १२५ ॥

इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है? संक्षेपमें इतना ही बस है कि लोकका उपकार करनेवाले जो-जो शास्त्र थे भगवान् आदिनाथने वे सब अपने पुत्रोंको सिखलाये ॥ १२५ ॥

> समुद्दीपितविद्यस्य काप्यासीद्दीप्तिता विभोः । स्वभावभास्वरस्येव भास्वतः शरदागमे ॥ १२६ ॥

जिस प्रकार स्वभावसे देदीप्यमान रहनेवाले सूर्यका तेज शरद्ऋतुके आनेपर और भी अधिक हो जाता है उसी प्रकार जिन्होंने अपनी समस्त विद्याएँ प्रकाशित कर दी हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवका तेज उस समय भारी अद्भुत हो रहा था ॥ १२६ ॥

सुताधीतनिःशेषविद्यैरुतदीपितः । किरणैरिव तिग्मांशुरासादितशरद्द्युतिः ॥ १२७ ॥

जिन्होंने समस्त विद्याएँ पढ़ ली हैं ऐसे पुत्रोंसे भगवान् आदिनाथ उस समय उस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार कि शरद्ऋतुमें अधिक कान्तिको प्राप्त होनेवाला सूर्य अपनी किरणोंसे सुशोभित होता है ॥ १२७ ॥

सुतैः कलत्रैश्च वृतस्य भुवनेशिनः । महान् कालो व्यतीयाय भुञ्जानस्य दिवं सुखम् ॥ १२८ ॥

अपने पुत्रों और इष्ट स्त्रियोंसे घिरे हुए भगवान वृषभदेवका बहुत भारी समय निरन्तर अनेक प्रकारके दिव्य भोग भोगते हुए व्यतीत हो गया ॥ १२८ ॥

ततः कुमारकालोऽस्य प्रदिष्टो मुनिसत्तमैः । विंशतिः पूर्वलक्षाणां पूर्यते स्म महाधियः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार अनेक प्रकारके भोगोंका अनुभव करते हुए भगवानका बीस लाख पूर्व प्रमाण कुमारकाल पूर्ण हुआ था ऐसी उत्तम मुनिगणधरदेवने गणना की है ॥ १२९ ॥

अत्रान्तरे महौषध्यो दीप्तोपध्यश्च पादपाः । सर्वौषधयः कालाज्जाताः प्रक्षीणशक्तिकाः ॥ १३० ॥

इसी बीचमें कालके प्रभावसे महौषधि, दीप्तौषधि, कल्पवृक्ष तथा सब प्रकारकी ओषधियाँ शक्तिहीन हो गयी थीं ॥ १३० ॥

सस्यान्यकृष्टपच्यानि यान्यासन् पूर्वसम्भवे । प्रायस्तान्यपि मन्दानि ययुर्विरलतां भुवि ॥ १३१ ॥

मनुष्योंके निबाहके लिए जो बिना बोये हुए उत्पन्न होनेवाले धान्य थे वे भी कालके प्रभावसे मन्द होकर प्रायः करके विरलताको प्राप्त हो गये थे--जहाँ कहीं कुछ-कुछ मात्रामें ही रह गये थे ॥ १३१ ॥

रसवीर्यविपाकैस्ते प्रहीणाः पादपा यदा । अशक्यैर्दाहबाधाभिः प्रजा व्याकुलतां गताः ॥ १३२ ॥

जब कल्पवृक्ष रस, वीर्य और विपाक आदिसे रहित हो गये तब वहाँकी प्रजा भूख आदि अनेक बाधाओंसे व्याकुलताको प्राप्त होने लगी ॥ १३२ ॥

> तत्प्रहाणान्मनोवृत्तिं दधाना व्याकुलीकृताम् । नाभिराजमुपासेदुः प्रजा जीवितकाम्यया ॥ १३३ ॥

कल्पवृक्षोंके रस, वीर्य आदिके नष्ट होनेसे व्याकुल मनोवृत्तिको धारण करती हुई प्रजा जीवित रहनेकी इच्छासे महाराज नाभिराजके समीप गयी ॥ १३३ ॥

> नाभिराजाज्ञया भूयस्ततोऽन्तिकमुपाययुः । प्रजाः प्रणतमूर्द्धानो जीवितोपायलित्सया ॥ १३४ ॥

तदनन्तर नाभिराजकी आज्ञासे प्रजा भगवान वृषभनाथके समीप गयी और अपने जीवित रहनेके उपाय प्राप्त करनेकी इच्छासे उन्हें मस्तक झुकाकर नमस्कार करने लगी ॥ १३४ ॥

> तं विज्ञापयामासुरित्युपेत्य सनातनम् । प्रजाः प्रजातसंत्रासाः शरण्यं शरणाश्रिताः ॥ १३८ ॥

अथानन्तर अन्नादिके नष्ट होनेसे जिसे अनेक प्रकारके भय उत्पन्न हो रहे हैं और जो सबको शरण देनेवाले भगवानकी शरणको प्राप्त हुई है ऐसी प्रजा सनातन-भगवानके समीप जाकर इस प्रकार निवेदन करने लगी कि ॥ १३८ ॥

> आकाङ्क्षन्त्यो जीविकां देव त्वां वयं शरणं श्रिताः । तन्नस्त्रायस्व लोकेश तदुपायप्रदर्शनात् ॥ १३६ ॥

हे देव, हम सब जीविका प्राप्त करनेकी इच्छासे आपकी शरणमें आये हुए हैं इसलिए हे तीन लोकके स्वामी, आप उसके उपाय दिखाकर हम लोगोंकी रक्षा कीजिए ॥ १३६ ॥

> सद्यो मूलादुच्छिन्नाः पितृकल्पा महाद्रुमाः । फलन्त्यकृष्टपच्यानि सस्यान्यपि च नाधुना ॥ १३७ ॥

हे विभो, जो कल्पवृक्ष हमारे पिताके समान थे--पिताके समान ही हम लोगोंकी रक्षा करते थे वे सब मूलसहित नष्ट हो गये हैं और जो धान्य बिना बोये ही उत्पन्न होते थे वे भी अब नहीं फलते हैं ॥ १३७ ॥

क्षुत्पिपासादिबाधाश्च दुन्वन्त्यस्मान्समुत्थिताः । न क्षमाः क्षणमप्येकं प्राणितुं प्रोज्झिताशनाः ॥ १३८ ॥

हे देव, बढ़ती हुई भूख-प्यास आदिकी बाधाएँ हम लोगोंको दुःखी कर रही हैं। अन्न-पानीसे रहित हुए हम लोग अब एक क्षण भी जीवित रहनेके लिए समर्थ नहीं हैं ॥ १३८ ॥

शीतातपमहावातप्रवर्षोपप्लवश्च नः । निराश्रयानदुनोत्यथ ब्रूहि नस्तत्प्रतिक्रियाम् ॥ १३९ ॥

हे देव, शीत, आतप, महावायु और वर्षा आदिका उपद्रव आश्रयरहित हम लोगोंको दुःखी कर रहा है इसलिए आज इन सबके दूर करनेके उपाय कहिए ॥ १३९ ॥

त्वां देवमादिकर्तारं कल्पाङ्घ्रिपमिवोन्नतम् । समाश्रिताः कथं भीतेः स्थानं स्याम वयं विभो ॥ १४० ॥

हे विभो, आप इस युगके आदि कर्ता हैं और कल्पवृक्षके समान उन्नत हैं, आपके आश्रित हुए हम लोग भयके स्थान कैसे हो सकते हैं? ॥ १४० ॥

ततोऽस्माकं यथाऽद्य स्याज्जीविका निरुपद्रवा । तथोपदेष्टुमुद्योगं कुरु देव प्रसीद नः ॥ १४१ ॥

इसलिए हे देव, जिस प्रकार हम लोगोंकी आजीविका निरुपद्रव हो जाये, आज उसी प्रकार उपदेश देनेका प्रयत्न कीजिए और हम लोगोंपर प्रसन्न हूजिए ॥ १४१ ॥

इत्याकर्ण्य वचस्तेषां करुणाप्रेरिताशयः । मनः प्रणिदधावेवं भगवानादिपूरुषः ॥ १४२ ॥

इस प्रकार प्रजाजनोंके दीन वचन सुनकर जिनका हृदय दयासे प्रेरित हो रहा है ऐसे भगवान आदिनाथ अपने मनमें ऐसा विचार करने लगे कि ॥ १४२ ॥

पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता । सैवाद्य प्रवर्तनीयाऽत्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः ॥ १४३ ॥

पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्रमें जो स्थिति वर्तमान है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है उसीसे यह प्रजा जीवित रह सकती है ॥ १४३ ॥

> षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः । यथा ग्रामगृहादीनां संस्थानाश्च पृथग्विधाः ॥ १४४ ॥

वहाँ जिस प्रकार असि, मसि आदि छह कर्म हैं, जैसी क्षत्रिय आदि वर्णोंकी स्थिति है और जैसी ग्राम-घर आदिकी पृथक्-पृथक् रचना है ॥ १४४ ॥

> तथात्राप्युचिता वृत्तिरुपायैरेभिरङ्गिनाम् । नोपायास्तमृतेऽप्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति ॥ १४५ ॥

उसी प्रकार यहाँपर भी होनी चाहिए। इन्हीं उपायोंसे प्राणियोंकी आजीविका चल सकती है। इनकी आजीविकाके लिए और कोई उपाय नहीं है ॥ १४५ ॥

> कर्मभूरथ सञ्जाता व्यतीते कल्पभूरुहाम् । ततोऽत्र कर्मभिः षड्भिः प्रजानां जीविकोचिता ॥ १४६ ॥

कल्पवृक्षोंके नष्ट हो जानेपर अब यह कर्मभूमि प्रकट हुई है, इसलिए यहाँ प्रजाको असि, मसि आदि छह कर्मोंके द्वारा ही आजीविका करना उचित है ॥ १४६ ॥

> इत्याकलय्य तत्क्षेमवृत्त्युपायं क्षणं विभुः । मुहुराश्वासयामास मा भैष्टेति तदा प्रजाः ॥ १४७ ॥

इस प्रकार स्वामी वृषभदेवने क्षणभर प्रजाके कल्याण करनेवाली आजीविकाका उपाय सोचकर उसे बार-बार आश्वासन दिया कि तुम भयभीत मत होओ ॥ १४७ ॥

> अथानुध्यानमात्रेण विभोः शक्रः सहामरैः । प्रापत्तज्जीवनोपायानित्थं चक्रे विभागशः ॥ १४८ ॥

अथानन्तर भगवानके स्मरण करने मात्रसे देवोंके साथ इन्द्र आया और उसने नीचे लिखे अनुसार विभाग कर प्रजाकी जीविकाके उपाय किये ॥ १४८ ॥

> शुभे दिने सुनक्षत्रे शुभयोगे शुभे ग्रहे । स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषूच्चैरानुकूल्ये जगद्गुरोः ॥ १४९ ॥

शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, शुभ मुहूर्त और शुभ लग्नके समय तथा सूर्य आदि ग्रहोंके अपने-अपने उच्च स्थानोंमें स्थित रहने और जगद्गुरु भगवानके हर एक प्रकारकी अनुकूलता होनेपर ॥ १४९ ॥

> कृतप्रथममाङ्गल्ये सुरेन्द्रो जिनमन्दिरम् । न्यवेशयत् पुरस्यास्य मध्ये दिक्ष्वप्यनुक्रमात् ॥ १५० ॥

इन्द्रने प्रथम ही मांगलिक कार्य किया और फिर उसी अयोध्या पुरीके बीचमें जिनमन्दिरकी रचना की। इसके बाद पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर इस प्रकार चारों दिशाओंमें भी यथाक्रमसे जिनमन्दिरोंकी रचना की ॥ १५० ॥

> कोसलादीन् महादेशान् साकेतादिपुराणि च । सारामसीमनिगमान् खेटखर्वटन्यवेशयत् ॥ १५१ ॥

तदनन्तर कौशल आदि महादेश, अयोध्या आदि नगर, वन और सीमासहित गाँव तथा खेट-खर्वट आदिकी रचना की थी ॥ १५१ ॥

> देशाः सुकोसलावन्तीपुण्ड्रोड्राश्मकरम्यकाः । कुरुकाशीकलिङ्गाङ्गवङ्गसुह्माः ससुद्रकाः ॥ १५२ ॥

सुकौशल, अवन्ती, पुण्ड्र, ओड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, बंग, सुह्म, समुद्रक ॥ १५२ ॥

> काश्मीरोशीनरानर्तवत्सपञ्चालमालवाः । दशार्णाः कच्छमगधा विदर्भाः कुरुजाङ्गलम् ॥ १५३ ॥

काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल ॥ १५३ ॥

> करहाटमहाराष्ट्रसौराष्ट्राभीरकोङ्कणाः । वनवासान्ध्रकर्णाटकोसलाश्चोलकेरलाः ॥ १५४ ॥

करहाट, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाट, कोसल, चोल, केरल ॥ १५४ ॥

दार्वाभिसारसौवीरशूरसेनापरान्तकाः । विदेहसिन्धुगान्धारपत्तनाश्चेदिपल्लवाः ॥ १५५ ॥

दार्व, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिन्धु, गान्धार, पत्तन, चेदि, पल्लव ॥ १५५ ॥

काम्बोजा रट्टबाह्लीकतुरुष्कशककेकयाः । निवेशितास्तथान्येऽपि विभक्ता विषयास्तदा ॥ १५६ ॥

काम्बोज, रट्ट, बाह्लीक, तुरुष्क, शक और केकय इन देशोंकी रचना की तथा इनके सिवाय उस समय और भी अनेक देशोंका विभाग किया ॥ १५६ ॥

अदेवमातृकाः केचिद् विषया देवमातृकाः । परे साधारणविज्ञा यथास्वं ते निवेशिताः ॥ १५७ ॥

इन्द्रने उन देशोंमें-से कितने ही देश यथासम्भव रूपसे अदेवमातृक अर्थात् नदी-नहरों आदिसे सींचे जानेवाले, कितने ही देश देवमातृक अर्थात् वर्षाके जलसे सींचे जानेवाले और कितने ही देश साधारण अर्थात् दोनोंसे सींचे जानेवाले निर्माण किये थे ॥ १५७ ॥

अभूपपर्वैस्यतैर्भू रम्याऽत्तेजनास्पदैः । त्रिदिवखण्डैरिवोद्यातैः कौतुकाद्धरणीतलम् ॥ १५८ ॥

जो पहले नहीं थे नवीन ही प्रकट हुए ऐसे उन देशोंसे यह पृथिवीतल ऐसा सुशोभित होता था मानो कौतुकवश स्वर्गके टुकड़े ही आये हों ॥ १५८ ॥

देशैः साधारणानूपजाङ्गलैस्तैस्तता मही । रेजे रजतभूम्यारद् राराधैव पयोनिधेः ॥ १५९ ॥

विजयार्ध पर्वतके समीपसे लेकर समुद्र पर्यन्त कितने ही देश साधारण थे, कितने ही बहुत जलवाले थे और कितने ही जलकी दुर्लभतासे सहित थे, उन देशोंसे व्याप्त हुई पृथ्वी भारी सुशोभित होती थी ॥ १५९ ॥

तदन्तेष्वन्तपालानां दुर्गाणि परितोऽदधात् । स्थानानि लोकपालानां यथा स्वर्धामसीमसु ॥ १६० ॥

जिस प्रकार स्वर्गके धामों-स्थानोंकी सीमाओंपर लोकपाल देवोंके स्थान होते हैं उसी प्रकार उन देशोंकी अन्त सीमाओंपर भी सब ओर अन्तपाल अर्थात् सीमारक्षक पुरुषोंके किले बने हुए थे ॥ १६० ॥

> तदन्तरालदेशाश्च बभूवुरनुरक्षिताः । लुब्धकारण्यचरटपुलिन्दशबरादिभिः ॥ १६१ ॥

उन देशोंके मध्यमें और भी अनेक देश थे जो लुब्धक, आरण्य, चरट, पुलिन्द तथा शबर आदि म्लेच्छ जातिके लोगोंके द्वारा रक्षित रहते थे ॥ १६१ ॥

> मध्ये जनपदा रेजू राजधान्यः परिष्कृताः । वप्रप्राकारपरिखागोपुराट्टालकादिभिः ॥ १६२ ॥

उन देशोंके मध्यभागमें कोट, प्राकार, परिखा, गोपुर और अटारी आदिसे शोभायमान राजधानियाँ सुशोभित हो रही थीं ॥ १६२ ॥

> तानि स्थानीयसंज्ञानि दुर्गाण्यावृत्य सर्वतः । ग्रामादीनां निवेशोऽभूद् यथामिहितलक्ष्मणाम् ॥ १६३ ॥

जिनका दूसरा नाम स्थानीय है ऐसे राजधानीरूपी किलेको घेरकर सब ओर शास्त्रोक्त लक्षणवाले गाँवों आदिकी रचना हुई थी ॥ १६३ ॥

> ग्रामाकृतिपरिक्षेपमात्राः स्युरुचिता गृहाः । शूद्रकर्षकभूयिष्ठाः सारामाः सजलाशयाः ॥ १६४ ॥

जिनमें बाड़से घिरे हुए घर हों, जिनमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हों तथा जो बगीचा और तालाबोंसे सहित हों, उन्हें ग्राम कहते हैं ॥ १६४ ॥

> ग्रामः कुलशतेनेष्टो निकृष्टः समधिष्ठितः । परस्तत्पञ्चशत्या स्यात् समृद्धकृषीबलः ॥ १६५ ॥

जिसमें सौ घर हों उसे निकृष्ट अर्थात् छोटा गाँव कहते हैं तथा जिसमें पाँच सौ घर हों और जिसके किसान धनसम्पन्न हों उसे बड़ा गाँव कहते हैं ॥ १६५ ॥

> क्रोशद्विक्रोशसीमानो ग्रामाः स्युरधमोत्तमाः । सम्पन्नसस्यसुक्षेत्राः प्रभूतयवसोदकाः ॥ १६६ ॥

छोटे गाँवोंकी सीमा एक कोसकी और बड़े गाँवोंकी सीमा दो कोसकी होती है। इन गाँवोंके धान्यके खेत सदा सम्पन्न रहते हैं और इनमें घास तथा जल भी अधिक रहता है ॥ १६६ ॥

> सरिद्गिरिद्रोग्रष्टिक्षीरकण्टकशाखिनः । वनानि सेतवश्चेति तेषां सीमोपलक्षणम् ॥ १६७ ॥

नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान, क्षीरवृक्ष अर्थात् थूहर आदिके वृक्ष, करील आदि कँटीले वृक्ष, वन और सेतु ये सब उन गाँवोंकी सीमाके चिह्न कहलाते हैं अर्थात् नदी आदिसे गाँवोंकी सीमाका विभाग किया जाता है ॥ १६७ ॥

> तत्कर्तृभोक्तृनियमो योगक्षेमानुचिन्तनम् । विष्टिदण्डकराणां च निबन्धो राजसाद्भवेत् ॥ १६८ ॥

गाँवके बसाने और उपभोग करनेवालोंके योग्य नियम बनाना, नवीन वस्तुके बनाने और पुरानी वस्तुकी रक्षा करनेके उपाय, वहाँके लोगोंसे बेगार कराना, अपराधियोंका दण्ड करना तथा जनतासे कर वसूल करना आदि कार्य राजाओंके अधीन रहते थे ॥ १६८ ॥

> परिखागोपुराट्टालवप्रप्राकारमण्डितम् । नानाभवनविन्यासं सवनं सजलाशयम् ॥ १६९ ॥

जो परिखा, गोपुर, अटारी, कोट और प्राकारसे सुशोभित हो, जिसमें अनेक भवन बने हुए हों, जो बगीचे और तालाबोंसे सहित हो ॥ १६९ ॥

> पुरमेवंविधं शस्तमुचितं देशमध्यगम् । पूर्वोत्तरप्रवाहं स्यात् प्रधानपुरुषोचितम् ॥ १७० ॥

जो उत्तम रीतिसे अच्छे स्थानपर बसा हुआ हो, जिसमें पानीका प्रवाह पूर्व और उत्तरके बीचवाली ईशान दिशाकी ओर हो और जो प्रधान पुरुषोंके रहनेके योग्य हो वह प्रशंसनीय पुर अथवा नगर कहलाता है ॥ १७० ॥

> सरिद्गिरिभ्यां संरुद्धं खेटमाहुर्मनीषिणः । केवलं गिरिसंरुद्धं खर्वटं तत्प्रचक्षते ॥ १७१ ॥

जो नगर नदी और पर्वतसे घिरा हुआ हो उसे बुद्धिमान् पुरुष खेट कहते हैं और जो केवल पर्वतसे घिरा हुआ हो उसे खर्वट कहते हैं ॥ १७१ ॥

> मडम्बमामनान्ति ज्ञाः पञ्चग्रामशतीवृतम् । पत्तनं तत्समुद्रान्ते यन्नौभिरवलीयते ॥ १७२ ॥

जो पाँच सौ गाँवोंसे घिरा हो उसे पण्डितजन मडम्ब मानते हैं और जो समुद्रके किनारे हो तथा जहाँपर लोग जहाजोंके द्वारा उतरते हैं (आते-जाते हैं) उसे पत्तन कहते हैं ॥ १७२ ॥

> तदेव द्रोणमुखं ज्ञेयं निम्नगातरमाश्रितम् । संवाहस्तु शिरोव्यूढधान्यसञ्चय इष्यते ॥ १७३ ॥

जो किसी नदीके किनारेपर हो उसे द्रोणमुख कहते हैं और जहाँ मस्तक पर्यन्त ऊँचे-ऊँचे धान्यके ढेर लगे हों वह संवाह कहलाता है ॥ १७३ ॥

> पुरभेदप्रभेदानाम् अमीषां च क्वचित् क्वचित् । विधीयतामवस्था शुभा यथोद्देशमितस्ततः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार पृथिवीपर जहाँ-तहाँ अपने-अपने योग्य स्थानोंके अनुसार कहीं-कहींपर ऊपर कहे हुए गाँव, नगर आदिकी रचना हुई थी ॥ १७४ ॥

> शतान्यष्टौ च चत्वारि द्वे च स्युर्ग्रामसंख्यया । राजधान्यास्तथा द्रोणमुखखर्वटयोः क्रमात् ॥ १७५ ॥

एक राजधानीमें आठ सौ गाँव होते हैं, एक द्रोणमुखमें चार सौ गाँव होते हैं और एक खर्वटमें दो सौ गाँव होते हैं ॥ १७५ ॥

> दशग्राम्यास्तु मध्ये यो महान् ग्रामः स संग्रहः । तथा घोषाकरादीनामपि लक्ष्म विकल्प्यताम् ॥ १७६ ॥

दस गाँवोंके बीच जो एक बड़ा भारी गाँव होता है उसे संग्रह (जहाँपर हर एक वस्तुओंका संग्रह रखा जाता हो) कहते हैं। इसी प्रकार घोष तथा आकर आदिके लक्षणोंकी भी कल्पना कर लेनी चाहिए अर्थात् जहाँपर बहुत घोष (अहीर) रहते हैं उसे घोष कहते हैं और जहाँपर सोने, चाँदी आदिकी खान हुआ करती है उसे आकर कहते हैं ॥ १७६ ॥

> इति विभागमित्युच्चैः कुर्वन् गीर्वाणनायकः । तदा पुरन्दरख्यातिमगादन्वर्थतां गताम् ॥ १७७ ॥

इस प्रकार इन्द्रने उत्तम ढंगसे नगर, गाँवों आदिका विभाग किया था इसलिए वह उसी समयसे "पुरन्दर" इस सार्थक नामको प्राप्त हुआ था ॥ १७७ ॥

> ततः प्रजा निवेश्यैषु स्थानेषु सृष्ट्राशया । जगाम कृतकार्यो गां मघवानुज्ञया प्रभोः ॥ १७८ ॥

तदनन्तर इन्द्र भगवानकी आज्ञानुसार इन नगर, गाँव आदि स्थानोंमें प्रजाको बसाकर कृतकृत्य होता हुआ प्रभुकी आज्ञा ले स्वर्गको चला गया ॥ १७८ ॥

> असिर्मषिः कृषिविद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च । कर्माण्येतानि षट् स्युः प्रजाजीवनहेतवः ॥ १७९ ॥

असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कार्य प्रजाकी आजीविकाके कारण हैं ॥ १७९ ॥

> तां वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मतिकौशलात् । उपादिक्षत् सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरुः ॥ १८० ॥

भगवान वृषभदेवने अपनी बुद्धिकी कुशलतासे प्रजाके लिए इन्हीं छह कर्मों-द्वारा वृत्ति (आजीविका) करनेका उपदेश दिया था सो ठीक ही है क्योंकि उस समय वे भगवान् सरागी ही थे, वीतराग नहीं थे। भावार्थ—सांसारिक कार्योंका उपदेश सराग अवस्थामें दिया जा सकता है ॥ १८० ॥

> तत्रासिकर्म खड्गाद्यैर्मषिलिपिविधौ स्मृता । कृषिर्भक्षणे प्रोक्ता विद्या शास्त्रोपजीवने ॥ १८१ ॥

उन छह कर्मोंमें-से तलवार आदि शस्त्र धारणकर सेवा करना असिकर्म कहलाता है, लिखकर आजीविका करना मषिकर्म कहलाता है, जमीनको जोतना-बोना कृषिकर्म कहलाता है, और विद्या अर्थात् पढ़ाकर या नृत्य-गायन आदिके द्वारा आजीविका करना विद्याकर्म है ॥ १८१ ॥

> वाणिज्यं वणिजां वृत्तिः शिल्पं स्यात् करकौशलम् । तत् चित्रकलापत्रच्छेदादि बहुधा स्मृतम् ॥ १८२ ॥

व्यापार करना वाणिज्य है और हस्तकी कुशलतासे जीविका करना शिल्पकर्म है, वह शिल्पकर्म चित्र खींचना, फूल-पत्ते काटना आदिकी अपेक्षा अनेक प्रकारका माना गया है ॥ १८२ ॥

> उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तेनादिवेधसा । क्षत्रिया वैश्याः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः ॥ १८३ ॥

उसी समय आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने तीन वर्णोंकी स्थापना की थी जो कि क्षतत्राण अर्थात् विपत्तिसे रक्षा करना आदि गुणोंके द्वारा क्रमसे क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहलाते थे ॥ १८३ ॥

> क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमलभन्त तदाऽभवन् । वैश्याश्च कृषिवणिज्यपशुपाल्योपजीविताः ॥ १८४ ॥

उस समय जो शस्त्र धारणकर आजीविका करते थे वे क्षत्रिय हुए, जो खेती, व्यापार तथा पशुपालन आदिके द्वारा जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे ॥ १८४ ॥

> तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः । कारवो रजकाद्याः स्युस्तदन्ये स्युरकारवः ॥ १८५ ॥

और जो उनकी सेवा-शुश्रूषा करते थे वे शूद्र कहलाते थे। वे शूद्र दो प्रकारके थे—एक कारु और दूसरा अकारु। धोबी आदि शूद्र कारु कहलाते थे और उनसे भिन्न अकारु कहलाते थे ॥ १८५ ॥

> कारवोऽपि द्विधा ज्ञेयाः स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः । तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कल्पकादयः ॥ १८६ ॥

कारु शूद्र भी स्पृश्य तथा अस्पृश्यके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं। उनमें-से जो प्रजासे बाहर रहते हैं उन्हें अस्पृश्य अर्थात् स्पर्श करनेके अयोग्य कहते हैं और नाई वगैरहको स्पृश्य अर्थात् स्पर्श करनेके योग्य कहते हैं ॥ १८६ ॥

> यथायथं स्वोचितं कर्म प्रजा दधुः । विवाहजातिसम्बन्धव्यवहारश्च तन्मतम् ॥ १८७ ॥

उस समय प्रजा अपने-अपने योग्य कर्मोंको यथायोग्य रूपसे करती थी। अपने वर्णकी निश्चित आजीविकाको छोड़कर कोई दूसरी आजीविका नहीं करता था इसलिए उनके कार्योंमें कभी संकर (मिलावट) नहीं होता था। उनके विवाह, जाति-सम्बन्ध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान् आदिनाथकी आज्ञानुसार ही होते थे ॥ १८७ ॥

> यावती जगती वृत्तिरपापोपहता च या । सा सर्वास्य मतेनासीत् स हि धाता सनातनः ॥ १८८ ॥

उस समय संसारमें जितने पापरहित आजीविकाके उपाय थे वे सब भगवान् वृषभदेवकी सम्मतिसे प्रवृत्त हुए थे सो ठीक है क्योंकि सनातन ब्रह्मा भगवान् आदिनाथ ही हैं ॥ १८८ ॥

युगादिशिक्षणात्तेन यद्विधं च कृतं युगम् । अतः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः ॥ १८९ ॥

चूँकि युगके आदिमें भगवान् वृषभदेवने इस प्रकार कर्मयुगका प्रारम्भ किया था इसलिए पुराणके जाननेवाले उन्हें "कृतयुग" नामसे जानते हैं ॥ १८९ ॥

आषाढमासबहुलप्रतिपद्दिवसे कृतौ । कृत्वा कृतयुगारम्भं प्राजापत्यमुपेयिवान् ॥ १९० ॥

वे भगवान् वृषभदेव आषाढ मासके कृष्णपक्षकी प्रतिपदाके दिन कृतयुगका प्रारम्भ करके प्राजापत्य (प्रजापतिपने)को प्राप्त हुए थे अर्थात् प्रजापति कहलाने लगे थे ॥ १९० ॥

कियत्यपि गते काले षट्कर्मविनियोगतः । यदा सौस्थित्यमायाताः प्रजाः क्षेमेण योजिताः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार जब कितना ही समय व्यतीत हो गया और छह कर्मोंकी व्यवस्थासे सब प्रजा कुशलतापूर्वक सुखसे रहने लगी ॥ १९१ ॥

तदाविरासीद् द्यावापृथिव्योः प्रभावान् महत् । आधिराज्येऽभिषिक्तस्य सुरैरागत्य सत्वरम् ॥ १९२ ॥

तब देवोंने आकर शीघ्र ही उनका सम्राट् पदपर अभिषेक किया, उस समय उनका प्रभाव स्वर्गलोक और पृथिवीलोकमें खूब ही प्रकट हो रहा था ॥ १९२ ॥

धृतैः श्रुताद्रैर्दिव्यैः सलिलैरादिवेधसः । कृतोऽभिषेक इत्येवं वर्णनास्तु किमन्यया ॥ १९३ ॥

यद्यपि भगवानके राज्याभिषेकका अन्य विशेष वर्णन करनेसे कोई लाभ नहीं है, इतना वर्णन कर देना ही बहुत है कि आदरसे भरे हुए देवोंने दिव्य जलसे उन आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवका अभिषेक किया था ॥ १९३ ॥

तथाप्यनूद्यते किञ्चित् प्रस्तुतं वर्णनान्तरम् । सुप्रतीतमपि प्रायो यन्नावेत्ति पृथग्जनः ॥ १९४ ॥

तथापि उसका कुछ अन्य वर्णन कर दिया जाता है क्योंकि प्रायः साधारण मनुष्य अत्यन्त प्रसिद्ध बातको भी नहीं जानते हैं ॥ १९४ ॥

तदा किल जगद् दिव्यं बभूवानन्दनिर्भरम् । दिवोऽवतस्तरे देवाः पुरोधाय पुरन्दरम् ॥ १९५ ॥

उस समय समस्त संसार आनन्दसे भर गया था, देव इन्द्रको आगे कर स्वर्गसे अवतीर्ण हुए थे—उतरकर अयोध्यापुरी आये थे ॥ १९५ ॥

कृतोपशोभमभवत् पुरं साकेतसाह्वयम् । हर्म्याग्रभूमिकानिबद्धकेतुमालाकुलाम्बरम् ॥ १९६ ॥

उस समय अयोध्यापुरी खूब ही सजायी गयी थी। उसके मकानोंके अग्रभागपर बाँधी गयी पताकाओंसे समस्त आकाश भर गया था ॥ १९६ ॥

सदानन्दमहाभेर्यः प्रणेदुर्नृपमन्दिरे । मङ्गलानि जगुर्वारनार्यो ननृतुः सुराङ्गनाः ॥ १९७ ॥

उस समय राजमन्दिरमें बड़ी आनन्द-भेरियाँ बज रही थीं, वारस्त्रियाँ मंगलगान गा रही थीं और देवांगनाएँ नृत्य कर रही थीं ॥ १९७ ॥

सुरवैतालिका जगुरुत्साहान् सह मङ्गलैः । प्रचक्रुरमरास्तोषाज्जय जीवेति घोषणाम् ॥ १९८ ॥

देवोंके बन्दीजन मंगलोंके साथ-साथ भगवानके पराक्रम पढ़ रहे थे और देव लोग सन्तोषसे "जय जीव", इस प्रकारकी घोषणा कर रहे थे ॥ १९८ ॥

अथास्य पृथिवीमध्ये रत्नारचितवेदिके । सुरशिल्पिसमारब्धपरार्ध्यनिर्मण्डपे ॥ १९९ ॥

राज्याभिषेकके प्रथम ही पृथिवीके मध्यभागमें जहाँ मिट्टीकी वेदी बनायी गयी थी और उस वेदीपर जहाँ देव-कारीगरोंने बहुमूल्य—श्रेष्ठ आनन्दमण्डप बनाया था ॥ १९९ ॥

रजश्चूर्णचयन्यस्तरङ्गावल्युपचित्रिते । प्रत्यग्रोद्भिन्नविक्षिप्तसुमनःप्रकराञ्चिते ॥ २०० ॥

जो चूर्णसमूहसे बनी हुई रंगावलीसे चित्रित हो रहा था, जो नवीन खिले हुए बिखेरे गये पुष्पोंके समूहसे सुशोभित था ॥ २०० ॥

मणिकुट्टिमसंक्रान्तबिम्बमौक्तिकलम्बने । लसद्वितानकक्षौमच्छायाविश्रितरज्जके ॥ २०१ ॥

जहाँ मणियोंसे जड़ी हुई जमीनमें ऊपर लटकते हुए मोतियोंका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, जहाँ रेशमी वस्त्रके शोभायमान चँदोवेकी छायासे रंगभूमि चित्रित हो रही थी ॥ २०१ ॥

धृतमङ्गलनागस्त्रीरुद्धसञ्चारवर्त्मनि । पर्यन्तनिहितानल्पभङ्गद्रव्यसम्पदि ॥ २०२ ॥

जहाँ मंगल द्रव्योंको धारण करनेवाली देवांगनाओंसे आने-जानेका मार्ग रुक गया था, जहाँ समीपमें बहुत-से मंगलद्रव्य रखे हुए थे ॥ २०२ ॥

सुरवारवधूहस्तविधूतचलचामरे । अन्योन्यहस्तसंक्रान्तनानास्नानपरिच्छदे ॥ २०३ ॥

जहाँ देवोंकी अप्सराएँ अपने हाथोंसे चंचल चँवर ढोल रही थीं, जहाँ स्नानकी सामग्रीको लोग परस्पर एक दूसरेके हाथमें दे रहे थे ॥ २०३ ॥

सुलीलापदविन्याससञ्चरच्चारुकासिनी । रणन्नूपुरझंकारमुखरीकृतदिङ्मुखे ॥ २०४ ॥

जहाँ लीलापूर्वक पैर रखकर इधर-उधर चलती हुई देवांगनाओंके रुनझुन शब्द करते हुए नूपुरोंकी झनकारसे समस्त दिशाएँ शब्दायमान हो रही थीं ॥ २०४ ॥

नृपाङ्गणमहारङ्गे वृतमङ्गलसंग्रहे । निवेश्य प्राङ्मुखं देवमुचिते हरिविष्टरे ॥ २०५ ॥

और जहाँ अनेक मंगलद्रव्योंका संग्रह हो रहा था ऐसे राजमहलके आँगनरूपी रंगभूमिमें योग्य सिंहासनपर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके भगवान वृषभदेवको बैठाया ॥ २०५ ॥

गन्धर्वारब्धसङ्गीतमृदङ्गामन्द्रनिःस्वने । त्रिविष्टपकुटीक्रोडमाक्रामति सदिक्तटम् ॥ २०६ ॥

और जब गन्धर्व देवोंके द्वारा प्रारम्भ किए हुए संगीतके समय होनेवाला मृदङ्गका गम्भीर शब्द समस्त दिक्तटोंके साथ-साथ तीन लोकरूपी कुटीके मध्यमें व्याप्त हो रहा था ॥ २०६ ॥

> नृत्यन्तीनाङ्कनापादनिःस्वनानुगतस्वरम् । गायन्तीषु यशो जिष्णोः किन्नरीषु श्रवःसुखम् ॥ २०७ ॥

तथा नृत्य करती हुई देवांगनाओंके चरणोंके नूपुरोंके स्वरमें स्वर मिलाकर किन्नर जातिकी देवियाँ कानोंको सुख देनेवाला भगवानका यश गा रही थीं ॥ २०७ ॥

> ततोऽभिषेचनं कर्तु मारेभिरे सुराः । शातकुम्भमयान्यैश्च कुम्भैस्तीर्थाम्बुसम्भृतैः ॥ २०८ ॥

उस समय देवोंने तीर्थजलसे भरे हुए सुवर्णके कलशोंसे भगवान वृषभदेवका अभिषेक करना प्रारम्भ किया ॥ २०८ ॥

> गङ्गासिन्ध्वोर्महानद्यो रथाप्य धरणीतलम् । प्रपाते हिमवत् कूटाद् यदम्बु समुपाहृतम् ॥ २०९ ॥

भगवानके राज्याभिषेकके लिए गङ्गा और सिन्धु इन दोनों महानदियोंका वह जल लाया गया था जो हिमवत्पर्वतके शिखरसे धारा रूपमें नीचे गिर रहा था तथा जिसने पृथिवीतलको छुआ तक भी नहीं था। भावार्थ—नीचे गिरनेसे पहले ही जो बरतनोंमें भर लिया गया था ॥ २०९ ॥

> यच्च स्वच्छं पयः प्राप्य गङ्गाकुण्डाद् समाहृतम् । सिन्धुकुण्डादुपागीतं सिन्धोर्यत् केवलं पयः ॥ २१० ॥

इसके सिवाय गङ्गाकुण्डसे गङ्गा नदीका स्वच्छ जल लाया गया था और सिन्धुकुण्डसे सिन्धु नदीका निर्मल जल लाया गया था ॥ २१० ॥

> रोष्यारोष्यापगानां च सलिलं यदनाविलम् । तत्तत्कुण्डह्रदापाते समासादितजन्मकम् ॥ २११ ॥

इसी प्रकार रोहिता, रोहितास्या आदि अन्य नदियोंका स्वच्छ जल भी उनके गिरनेके कुण्डोंसे लाया गया था ॥ २११ ॥

> श्रीदेवीभिश्च यदानीतं पद्मादिसरसां पयः । हेमारविन्दकिञ्जल्कपुञ्जसञ्जातरञ्जनम् ॥ २१२ ॥

श्री देवी आदि देवियाँ भी पद्म आदि सरोवरोंका वह जल लायी थीं जो कि सुवर्णमय कमलोंकी केसरके समूहसे पीतवर्ण हो गया था ॥ २१२ ॥

> यद्वारि सन्ध्याकालिकह्लारिस्वादु सोत्पलम् । श्रेष्ठं तन्मौक्तिकोद्गारैः क्षारं लावणसंप्लवम् ॥ २१३ ॥

सायंकालके समय खिलनेवाले सुगन्धित कमलोंकी सुगन्धसे मधुर, अतिशय मनोहर और नील कमलोंसहित तालाबोंका जल लाया गया था। जो बाहर प्रकट हुए मोतियोंके समूहसे अत्यन्त श्रेष्ठ है ऐसा लवणसमुद्रका जल भी लाया गया था ॥ २१३ ॥

> या नन्दीश्वरद्वीपवाप्यो नन्दोत्तरादयः । सुप्रसन्नोदकास्तासाम् आपोऽन्याश्च समन्ततः ॥ २१४ ॥

नन्दीश्वर द्वीपमें जो अत्यन्त स्वच्छ जलसे भरी हुई नन्दोत्तरा आदि वापिकाएँ हैं उनका भी स्वच्छ जल लाया गया था ॥ २१४ ॥

> क्षीरोदधेः पयः क्षीरसिन्धोर्नन्दीश्वराणवात् । स्वयम्भूरमणाब्धेश्च दिव्यैः कुम्भैर्हिरण्मयैः ॥ २१५ ॥

इसके सिवाय क्षीरसमुद्र, नन्दीश्वर समुद्र तथा स्वयम्भूरमण समुद्रका भी जल सुवर्णसे बने हुए दिव्य कलशोंमें भरकर लाया गया था ॥ २१५ ॥

> इत्याम्नातैर्जलैरेभिरभिषिक्तो जगद्गुरुः । स्वयम्पूततमैरङ्गैः पुनाते तानि केवलम् ॥ २१६ ॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए प्रसिद्ध तीर्थोंके जलसे भगवान वृषभदेवका अभिषेक किया गया था। चूँकि भगवानका शरीर स्वयं ही पवित्र था अतः अभिषेकसे वह क्या पवित्र होता? केवल भगवानने ही अपने स्वयं पवित्र अंगोंसे उस जलको पवित्र कर दिया था ॥ २१६ ॥

> सुरैरावर्जिता वारां धारा मूर्ध्नि विभोरभात् । राज्यलक्ष्म्या निवेशोऽयमिति मत्वा निपातिता ॥ २१७ ॥

उस समय भगवानके मस्तकपर देवोंके द्वारा छोड़ी हुई जलकी धारा ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो उस मस्तकको राज्यलक्ष्मीका आश्रय समझ कर ही छोड़ी गयी हो ॥ २१७ ॥

> चराचरगुरोर्मूर्ध्नि पतन्त्यो रेजुरप्छटाः । जगत्तापच्छिदः स्वच्छा गुणानामिव सम्पदः ॥ २१८ ॥

चर और अचर पदार्थोंके गुरु भगवान वृषभदेवके मस्तकपर पड़ती हुई जलकी छटाएँ ऐसी शोभायमान होती थीं मानो संसारका सन्ताप नष्ट करनेवाली और निर्मल गुणोंकी सम्पदाएँ ही हों ॥ २१८ ॥

> सुरेन्द्रैरभिषिक्तस्य सलिलैः सुरसिन्धुजैः । निसर्गशुचिगात्रस्य परा शुद्धिर्बभूव विभोः ॥ २१९ ॥

यद्यपि भगवानका शरीर स्वभावसे ही पवित्र था तथापि इन्द्रने गङ्गा नदीके जलसे उसका अभिषेक किया था इसलिए उसकी पवित्रता और अधिक हो गयी थी ॥ २१९ ॥

> नाकीन्द्राः क्षालयाञ्चक्रुर्न तस्याङ्गानि केवलम् । प्रेक्षकाणां मतिं नेत्राण्यप्यघानि वपूंषि च ॥ २२० ॥

उस समय इन्द्रोंने केवल भगवानके अंगोंका ही प्रक्षालन नहीं किया था किन्तु देखनेवाले पुरुषोंकी मनोवृत्ति, नेत्र और शरीरका भी प्रक्षालन किया था। भावार्थ—भगवानका राज्याभिषेक देखनेसे मनुष्योंके मन, नेत्र तथा समस्त शरीर पवित्र हो गये थे ॥ २२० ॥

> नृत्यत्सुराङ्गनापाङ्गशरास्तस्मिन् महाजले । पायिता इव ते तीव्रा व्यदारयन् नृणां मनांसि ॥ २२१ ॥

उस समय नृत्य करती हुई देवांगनाओंके कटाक्षरूपी बाण उस जलके प्रवाहमें प्रतिबिम्बित हो रहे थे इसलिए ऐसे मालूम होते थे मानो उनपर तेज पानी चढ़ाया गया हो और इसीलिए वे मनुष्योंके चित्तोंका भेदन कर रहे थे ॥ २२१ ॥

> जलैरनाविलैः सुरक्षसङ्गात् पवित्रितैः । धराक्रान्ता तया श्रिया वर्धिता स्वामिसम्पदा ॥ २२२ ॥

भगवानके शरीरके संसर्गसे पवित्र हुई निर्मल जलधारासे समस्त पृथिवी व्याप्त हो गयी थी इसलिए वह ऐसी जान पड़ती थी मानो स्वामी वृषभदेवकी राज्य-सम्पदासे सन्तुष्ट होकर अपने शुभ भाग्यसे बढ़ ही रही हो ॥ २२२ ॥

कृताभिषेको देवेन्द्रैर्भगवान् सुरनायकैः । हेमकुम्भौघैः सान्ध्यैर्मेघैरिव मन्दरभूधरः ॥ २२३ ॥

इन्द्र जब सुवर्णसे बने हुए कलशोंसे भगवानका अभिषेक करते थे तब भगवान ऐसे सुशोभित होते थे जैसे कि सायंकालमें होनेवाले बादलोंसे मन्दर पर्वत सुशोभित होता है ॥ २२३ ॥

ततो मूर्धाभिषिक्ता ये नाभिराजपुरस्सराः । राजव्राजास्तं सिंहाङ्कमभ्यषिञ्चन् युगपत् ॥ २२४ ॥

नाभिराजको आदि लेकर जो बड़े-बड़े राजा थे उन सभीने "सब राजाओंमें श्रेष्ठ यह वृषभदेव वास्तवमें राजाके योग्य है" ऐसा मानकर उनका एक साथ अभिषेक किया था ॥ २२४ ॥

पौरैस्तु नलिनीपत्रपुटैः कुम्भैश्च मार्तिकैः । सारवेणाम्बुना चक्रे पादाभिषेचनम् ॥ २२५ ॥

नगरनिवासी लोगोंने भी किसीने कमलके बने हुए दोनेसे और किसीने मिट्टीके घड़ेसे सरयू नदीका जल लेकर भगवानके चरणोंका अभिषेक किया था ॥ २२५ ॥

मागधाद्याश्च व्यन्तरेन्द्रास्त्रिज्ञानधरमर्चयन् । नाथोऽस्मद्विषयस्थेति प्रीताः पुण्याभिषेचनैः ॥ २२६ ॥

मागध आदि व्यन्तरदेवोंके इन्द्रोंने भी तीन ज्ञानको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेवकी "यह हमारे देशके स्वामी हैं" ऐसा मानकर प्रीतिपूर्वक पवित्र अभिषेकके द्वारा पूजा की थी ॥ २२६ ॥

पूतस्तोयाम्बुभिः स्नात्वा कषायसलिलैः पुनः । धौतो गन्धाम्बुभिर्दिव्यैरस्नाप्यत चरमं विभुः ॥ २२७ ॥

भगवान् वृषभदेवका सबसे पहले तीर्थजलसे अभिषेक किया था, फिर कषाय जलसे अभिषेक किया गया और फिर सुगन्धित द्रव्योंसे मिले हुए सुगन्धित जलसे अन्तिम अभिषेक किया गया था ॥ २२७ ॥

कृतावगाहनो देवो हैमस्नानोदकुण्डके । सुखोष्णैः सलिलैर्धाता सुखमज्जनमन्वभूत् ॥ २२८ ॥

तदनन्तर जिनका अभिषेक किया जा चुका है ऐसे भगवानने कुछ-कुछ गरम जलसे भरे हुए स्नान करने योग्य सुवर्णके कुण्डमें प्रवेश कर सुखकारी स्नानका अनुभव किया था ॥ २२८ ॥

> स्नानान्तोज्झितविक्षिप्तमाल्यांशुकविभूषणैः । भर्तुः प्राप्ताङ्गसंसृष्टिर्दत्तदायेवासीद्धराङ्गना ॥ २२९ ॥

भगवानने स्नान करनेके अन्तमें जो माला, वस्त्र और आभूषण उतारकर पृथिवीपर छोड़ दिये थे उनसे वह पृथिवीरूपी स्त्री ऐसी मालूम होती थी मानो उसे स्वामीके शरीरका स्पर्श करनेवाली वस्तुएँ ही प्रदान की गयी हों ॥ २२९ ॥

> मङ्गलपाठकैरुच्चैः पठत्सु सुरवन्दिषु । राज्यलक्ष्मीसमुद्वाहस्नानं निर्वर्तयाञ्चक्रे विभुः ॥ २३० ॥

इस प्रकार जब देवोंके वन्दीजन उच्च स्वरसे शुभस्नानसूचक मंगल-पाठ पढ़ रहे थे तब भगवान् वृषभदेवने राज्यलक्ष्मीको धारण करने अथवा उसके साथ विवाह करने योग्य स्नानको पूर्ण किया था ॥ २३० ॥

> अथ निर्वर्तितस्नानं कृतनीराजनं विभुम् । अङ्गरागादिना भूषयामासुर्दिव्यैर्भूषाविशेषैः ॥ २३१ ॥

तदनन्तर जिनका अभिषेक पूरा हो चुका है और जिनकी आरती की जा चुकी है ऐसे भगवान्को देवोंने स्वर्गसे लाये हुए माला, आभूषण और वस्त्र आदिसे अलंकृत किया ॥ २३१ ॥

> नाभिराजः स्वहस्तेन मौलिमारोपयत् प्रभोः । महामुकुटबद्धानामधिराट् भगवानिति ॥ २३२ ॥

"महामुकुटबद्ध राजाओंके अधिपति भगवान् वृषभदेव ही हैं" यह कहते हुए महाराज नाभिराजने अपने मस्तकका मुकुट अपने हाथसे उतारकर भगवानके मस्तकपर धारण कराया था ॥ २३२ ॥

> पट्टबन्धो जगद्बन्धोर्ललाटे विनिवेशितः । बभौ राजलक्ष्म्याः स्थिरत्वस्येव बन्धनम् ॥ २३३ ॥

जगत् मात्रके बन्धु भगवान् वृषभदेवके ललाटपर पट्टबन्ध भी बाँधा जो कि ऐसा मालूम होता था मानों यहाँ-वहाँ भागनेवाली चंचल राज्यलक्ष्मीको स्थिर करनेवाला एक बन्धन ही हो ॥ २३३ ॥

समाल्यो दिव्यवसनः कर्णद्वयोल्लसितकुण्डलः । दधार मुकुटं मूर्ध्ना लक्ष्म्याः क्रीडाचलायितम् ॥ २३४ ॥

उस समय भगवान् मालाएँ पहने हुए थे, उत्तम वस्त्र धारण किये हुए थे, उनके दोनों कानोंमें कुण्डल सुशोभित हो रहे थे और वे मस्तकपर लक्ष्मीके क्रीडापर्वतके समान मुकुट धारण किये हुए थे ॥ २३४ ॥

कण्ठे च हारलतां बिभ्रत् कटिसूत्रं कटीतटे । स्कन्धे पवीतमायुक्तं गाङ्गमोधमिवाद्रिराट् ॥ २३८ ॥

वे कण्ठमें हारलता और कमरमें करधनी पहने हुए थे। जिस प्रकार हिमवान् पर्वत गङ्गाका प्रवाह धारण करता है उसी प्रकार वे भी अपने कन्धेपर यज्ञोपवीत धारण किये थे ॥ २३८ ॥

कटकाङ्गदकेयूरभूषितायतदोर्युगः । पर्यङ्गलसन्महाशाखः कल्पशाखीव जङ्गमः ॥ २३६ ॥

उनकी दोनों लम्बी भुजाएँ कड़े, बाजूबन्द और अनन्त आदि आभूषणोंसे विभूषित थीं। उन भुजाओंसे भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो शोभायमान बड़ी-बड़ी शाखाओंसे सहित चलता-फिरता कल्पवृक्ष ही हों ॥ २३६ ॥

सनीलरत्ननिर्माणनूपुरावुद्वहन् क्रमौ । निलीनभृङ्गसङ्कुलरक्ततामरसश्रियौ ॥ २३७ ॥

उनके चरण नीलमणिके बने हुए नूपुरोंसे सहित थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनपर भ्रमर बैठे हुए हैं ऐसे खिले हुए दो लाल कमल ही हों ॥ २३७ ॥

इति प्रत्यङ्गसङ्गिन्या भूषारूपविभूषया । भगवानादिसोऽशोभत भूषणाङ्गद्रुम इव ॥ २३८ ॥

इस प्रकार प्रत्येक अंगमें पहने हुए आभूषणरूपी सम्पदासे आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भूषणांग जातिके कल्पवृक्ष ही हों ॥ २३८ ॥

ततः सानन्दमानन्दनाटकं नाट्यवेदवित् । प्रयुज्यास्थायिका रङ्गे प्रत्यगात् स्वर्गं सहस्रदृक् ॥ २३९ ॥

तदनन्तर नाट्यशास्त्रको जाननेवाला इन्द्र उस सभारूपी रंगभूमिमें आनन्दके साथ "आनन्द" नामका नाटक कर स्वर्गको चला गया ॥ २३९ ॥

> व्रजन्तमनुजग्मुस्तं कृतकार्या दिवौकसः । भगवत्पादसंसेवानियुक्तस्वान्तवृत्तयः ॥ २४० ॥

जो अपना कार्य समाप्त कर चुके हैं और जिनके चित्तकी वृत्ति भगवानके चरणोंकी सेवामें लगी हुई है ऐसे देव और असुर उस इन्द्रके साथ ही अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥ २४० ॥

> अथाधिराज्यमासाद्य नाभिराजस्य सन्निधौ । प्रजानां पालने यत्नमकरोदिति विश्वसृट् ॥ २४१ ॥

अथानन्तर कर्मभूमिकी रचना करनेवाले भगवान वृषभदेवने राज्य पाकर महाराज नाभिराजके समीप ही प्रजाका पालन करनेके लिए नीचे लिखे अनुसार प्रयत्न किया ॥ २४१ ॥

> कृत्वादितः प्रजासर्गं वृत्तिं कृत्वा च योग्याम् । स्वधर्मानतिवृत्त्यैव नियच्छन्नन्वशात् प्रजाः ॥ २४२ ॥

भगवानने सबसे पहले प्रजाकी सृष्टि (विभाग आदि) की, फिर उसकी आजीविकाके नियम बनाये और फिर वह अपनी-अपनी मर्यादाका उल्लंघन न कर सके इस प्रकारके नियम बनाये। इस तरह वे प्रजाका शासन करने लगे ॥ २४२ ॥

> स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद् विभुः । क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रजीविनः ॥ २४३ ॥

उस समय भगवानने अपनी दोनों भुजाओंमें शस्त्र धारण कर क्षत्रियोंकी सृष्टि की थी अर्थात् उन्हें शस्त्रविद्याका उपदेश दिया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो हाथोंमें हथियार लेकर सबल शत्रुओंके प्रहारसे निर्बलोंकी रक्षा करते हैं वे ही क्षत्रिय कहलाते हैं ॥ २४३ ॥

> ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्रामस्राक्षीद् वणिजः प्रभुः । जलस्थलादियात्राभिस्तद्वृत्तिर्वणिजां यतः ॥ २४४ ॥

तदनन्तर भगवानने अपने ऊरुओंसे यात्रा दिखलाकर अर्थात् परदेश जाना सिखलाकर वैश्योंकी रचना की सो ठीक ही है क्योंकि जल, स्थल आदि प्रदेशोंमें यात्रा कर व्यापार करना ही उनकी मुख्य आजीविका है ॥ २४४ ॥

> पृथग्वृत्तिनियताञ्छूद्रान् पादाभ्यामवासृजत् सुधीः । वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ॥ २४५ ॥

हमेशा नीच (सेवा) वृत्तिमें तत्पर रहनेवाले शूद्रोंकी रचना बुद्धिमान् वृषभदेवने पैरोंसे ही की थी क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तम वर्णोंकी सेवा-शुश्रूषा आदि करना ही उनकी अनेक प्रकारकी आजीविका है ॥ २४५ ॥

> मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं भरतः स्रक्ष्यति द्विजान् । अधीत्यध्यापने दाने प्रतिग्रहेऽपीति तत्क्रियाः ॥ २४६ ॥

इस प्रकार तीन वर्णोंकी सृष्टि तो स्वयं भगवान वृषभदेवने की थी, उनके बाद भगवान वृषभदेवके बड़े पुत्र महाराज भरत मुखसे शास्त्रोंका अध्ययन कराते हुए ब्राह्मणोंकी रचना करेंगे। स्वयं पढ़ना, दूसरोंको पढ़ाना, दान लेना तथा दान देना आदि उनके कार्य होंगे ॥ २४६ ॥

> शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या तां वोढुमर्हति । वैश्यस्तु स्वां च शूद्रां च क्षत्रियः स्वां च विशोऽपि च । ब्राह्मणस्तु चतस्रस्ताः ॥ २४७ ॥

वर्णोंकी व्यवस्था तबतक सुरक्षित नहीं रह सकती जबतक कि विवाहसम्बन्धी व्यवस्था न की जाये, इसलिए भगवान् वृषभदेवने विवाह व्यवस्था इस प्रकार बनायी थी कि शूद्र शूद्रकन्याके साथ ही विवाह करे, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी कन्याओंके साथ विवाह नहीं कर सकता। वैश्य वैश्यकन्या तथा शूद्रकन्याके साथ विवाह करे, क्षत्रिय क्षत्रियकन्या, वैश्यकन्या और शूद्रकन्याके साथ विवाह करे, तथा ब्राह्मण ब्राह्मणकन्याके साथ ही विवाह करे, परन्तु कभी किसी देशमें वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्याओंके साथ भी विवाह कर सकता है ॥ २४७ ॥

> स्वामिमां वृत्तिमुत्सृज्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाश्रयेत् । स पार्थिवैर्नियन्तव्यो वर्णसङ्कीर्णिरन्यथा ॥ २४८ ॥

उस समय भगवानने यह भी नियम प्रचलित किया था कि जो कोई अपने वर्णकी निश्चित आजीविका छोड़कर दूसरे वर्णकी आजीविका करेगा वह राजाके द्वारा दण्डित किया जायेगा क्योंकि ऐसा न करनेसे वर्णसंकीर्णता हो जायेगी अर्थात् सब वर्ण एक हो जायेंगे—उनका विभाग नहीं हो सकेगा ॥ २४८ ॥

> कृष्यादिकर्मषट्कं च प्रागेव सृष्टवान् प्रभुः । कर्मभूमिरियं तस्मात्तदासीत्तद्व्यवस्थया ॥ २४९ ॥

भगवान् आदिनाथने विवाह आदिकी व्यवस्था करनेके पहले ही असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य इन छह कर्मोंकी व्यवस्था कर दी थी। इसलिए उक्त छह कर्मोंकी व्यवस्था होनेसे यह कर्मभूमि कहलाने लगी थी ॥ २४९ ॥

> सृष्ट्वैवं ताः प्रजाः कृत्स्नं तद्योगक्षेमसाधनम् । उपाये युक्तितो दण्डं हामाधिक्कारलक्षणम् ॥ २५० ॥

इस प्रकार ब्रह्मा-आदिनाथने प्रजाका विभाग कर उनके योग (नवीन वस्तुकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा) की व्यवस्थाके लिए युक्तिपूर्वक "हा", "मा" और "धिक्कार" इन तीन दण्डोंकी व्यवस्था की थी ॥ २५० ॥

> दुष्टानां निग्रहः शिष्टप्रतिपालनमित्ययम् । न पुरासीत् क्रमो यस्मात् प्रजाः सर्वा निरागसः ॥ २५१ ॥

दुष्ट पुरुषोंका निग्रह करना अर्थात् उन्हें दण्ड देना और सज्जन पुरुषोंका पालन करना यह क्रम कर्मभूमिसे पहले अर्थात् भोगभूमिमें नहीं था क्योंकि उस समय पुरुष निरपराध होते थे—किसी प्रकारका अपराध नहीं करते थे ॥ २५१ ॥

> प्रजा दण्डधरं मुक्त्वा न्यायमेतं भजन्त्यमूः । मत्स्यवन्मत्स्यमश्नन्ति बलीयान् दुर्बलं यतः ॥ २५२ ॥

कर्मभूमिमें दण्ड देनेवाले राजाका अभाव होनेपर प्रजा मात्स्यन्यायका आश्रय करने लगेगी अर्थात् जिस प्रकार बड़े मत्स्य छोटे मत्स्योंको खा जाते हैं उसी प्रकार अन्तरंगका दुष्ट बलवान् पुरुष, निर्बल पुरुषको निगल जायेगा ॥ २५२ ॥

> दण्डभीत्या हि लोकोऽयमपथे नानुधावति । दण्डहस्तो धरस्तस्मात् पार्थिवः पृथिवीं जयेत् ॥ २५३ ॥

यह लोक दण्डके भयसे कुमार्गकी ओर नहीं दौड़ेगा इसलिए दण्ड हाथमें धारण करनेवाला राजाका होना उचित ही है और ऐसा राजा ही पृथिवीको जीत सकता है ॥ २५३ ॥

> पयस्विन्या यथा क्षीरमनुद्द्राहेनोपजीव्यते । गोप्यते च तथा पृथ्वी नातिपीडाकरैः करैः ॥ २५४ ॥

जिस प्रकार दूध देनेवाली गायसे उसे बिना किसी प्रकारकी पीड़ा पहुँचाये दूध दुहा जाता है और ऐसा करनेसे वह गाय भी सुखी रहती है तथा दूध दुहनेवालेकी आजीविका भी चलती रहती है उसी प्रकार राजाको भी प्रजासे धन

वसूल करना चाहिए। वह धन अधिक पीड़ा न देनेवाले करों (टैक्सों) से वसूल किया जा सकता है। ऐसा करनेसे प्रजा भी दुःखी नहीं होती और राज्यव्यवस्थाके लिए योग्य धन भी सरलतासे मिल जाता है ॥ २५४ ॥

> ततो दण्डधरानेतान् न्यमुनेद् युगादिप्रभुः । तदायत्तं हि लोकस्य योगक्षेमानुचिन्तनम् ॥ २५५ ॥

इसलिए भगवान वृषभदेवने नीचे लिखे हुए पुरुषोंको दण्डधर (प्रजाको दण्ड देनेवाला) राजा बनाया है सो ठीक ही है क्योंकि प्रजाके योग और क्षेमका विचार करना उन राजाओंके ही अधीन होता है ॥ २५५ ॥

> समाहूय महाभागान् हर्यकम्पनकाश्यपान् । सोमप्रभं च संपूज्य सस्कृत्य च यथोचितम् ॥ २५६ ॥

भगवानने हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ इन चार महाभाग्यशाली क्षत्रियोंको बुलाकर उनका यथोचित सम्मान और सत्कार किया ॥ २५६ ॥

> कृताभिषेचनानेतान् महामाण्डलिकान् नृपान् । चतुःसहस्रभूनाथपरिवारान् व्यधाद्विभुः ॥ २५७ ॥

तदनन्तर राज्याभिषेक कर उन्हें महामाण्डलिक राजा बनाया। ये राजा चार हजार अन्य छोटे-छोटे राजाओंके अधिपति थे ॥ २५७ ॥

> सोमप्रभः प्रभोराप्तकुरुराजसमाह्वयः । कुरूणामधिराजोऽभूत् कुरुवंशशिखामणिः ॥ २५८ ॥

सोमप्रभ, भगवानसे कुरुराज नाम पाकर कुरुदेशका राजा हुआ और कुरुवंशका शिखामणि कहलाया ॥ २५८ ॥

> हरिर्हरिकान्ताख्यां दधानस्तदनुज्ञया । हरिवंशमलञ्चक्रे श्रीमान् हरिपराक्रमः ॥ २५९ ॥

हरि, भगवानकी आज्ञासे हरिकान्त नामको धारण करता हुआ हरिवंशको अलंकृत करने लगा क्योंकि वह श्रीमान् हरिपराक्रम अर्थात् इन्द्र अथवा सिंहके समान पराक्रमी था ॥ २५९ ॥

> अकम्पनोऽपि सृष्टीशात् प्राप्तश्रीधरनामकः । नाथवंशस्य नेताऽभूत् प्रसादे भुवनेशिनि ॥ २६० ॥

अकम्पन भी, भगवानसे श्रीधर नाम पाकर उनकी प्रसन्नतासे नाथवंशका नायक हुआ ॥ २६० ॥

> काश्यपोऽपि गुरोः प्राप्तमघवाख्यो पतिर्विशाम् । उग्रवंशस्य नेताऽभूत् किन्नाप्यं स्वामिसम्पदा ॥ २६१ ॥

और काश्यप भी गुरु भगवानसे मघवा नाम प्राप्त कर उग्रवंशका मुख्य राजा हुआ सो ठीक ही है, स्वामीकी कृपासे क्या नहीं मिलता है? अर्थात् सब कुछ मिलता है ॥ २६१ ॥

> तथा कच्छमहाकच्छप्रमुखानपि भूमिपान् । सोऽधिराजपदे देवः स्थापयामास सत्कृतान् ॥ २६२ ॥

तदनन्तर भगवान आदिनाथने कच्छ, महाकच्छ आदि प्रमुख-प्रमुख राजाओंका सत्कार कर उन्हें अधिराजके पदपर स्थापित किया ॥ २६२ ॥

> पुत्रानपि तथा योग्यैर्वस्तुवाहनसम्पदा । भगवान् संविधत्ते स्म तद्धि राज्यार्जनं फलम् ॥ २६३ ॥

इसी प्रकार भगवानने अपने पुत्रोंके लिए भी यथायोग्य रूपसे महल, सवारी तथा अन्य अनेक प्रकारकी सम्पत्तिका विभाग कर दिया था सो ठीक ही है क्योंकि राज्यप्राप्तिका यही तो फल है ॥ २६३ ॥

> इक्ष्वाकाणां च तदेक्षूणां रससंग्रहणे नृणाम् । इक्ष्वाकुरित्यभूद् देवो जगतामभिसंस्तुतः ॥ २६४ ॥

उस समय भगवानने मनुष्योंको इक्षुका रस संग्रह करनेका उपदेश दिया था इसलिए जगत्के लोग उन्हें "इक्ष्वाकु" कहने लगे ॥ २६४ ॥

> गौः स्वर्गः स प्रकृष्टोऽभूत् गौतमोऽभिमतः सताम् । स तस्मादागतो देवो गौतमश्रुतिमन्वभूत् ॥ २६५ ॥

'गौ' शब्दका अर्थ स्वर्ग है, जो उत्तम स्वर्ग हो उसे सज्जन पुरुष 'गोतम' कहते हैं। भगवान् वृषभदेव स्वर्गोंमें सबसे उत्तम सर्वार्थसिद्धिसे आये थे इसलिए वे 'गौतम' इस नामको भी प्राप्त हुए थे ॥ २६५ ॥

> काश्यमित्युच्यते तेजः काश्यपस्तस्य पालनात् । जीवनोपायमननान् मनुः कुरुधरोऽप्यसौ ॥ २६६ ॥

'काश्य' तेजको कहते हैं, भगवान् वृषभदेव उस तेजके रक्षक थे इसलिए 'काश्यप' कहलाते थे। उन्होंने प्रजाकी आजीविकाके उपायोंका भी मनन किया था इसलिए वे 'मनु' और 'कुरुधर' भी कहलाते थे ॥ २६६ ॥

> विधाता विश्वकर्मा च स्रष्टा चेत्यादिनामभिः । तमेव व्याहरन्ति स्म जगतां पतिमच्युतम् ॥ २६७ ॥

इनके सिवाय तीनों जगत्के स्वामी और विनाशरहित भगवानको प्रजा 'विधाता', 'विश्वकर्मा' और 'स्रष्टा' आदि अनेक नामोंसे पुकारती थी ॥ २६७ ॥

> त्रिषष्टिलक्षाः पूर्वानां राज्यकालोऽस्य संमितः । स तस्य पुत्रपौत्रादिश्रुतस्याविदितोऽगमत् ॥ २६८ ॥

भगवानका राज्यकाल तिरसठ लाख पूर्व नियमित था सो उनका वह भारी काल, पुत्र-पौत्र आदिसे घिरे रहनेके कारण बिना जाने ही व्यतीत हो गया अर्थात् पुत्र-पौत्र आदिके सुखका अनुभव करते हुए उन्हें इस बातका पता भी नहीं चला कि मुझे राज्य करते समय कितना समय हो गया है ॥ २६८ ॥

> स सिंहासनमारोप्यमध्यासीनो महाद्युतिः । सुखादुपनतां पुण्यात् साम्राज्यश्रियमन्वभूत् ॥ २६९ ॥

महादेदीप्यमान भगवान् वृषभदेवने अयोध्याके राज्यसिंहासनपर आसीन होकर पुण्योदयसे प्राप्त हुई साम्राज्यलक्ष्मीका सुखसे अनुभव किया था ॥ २६९ ॥

> इत्थं युगारम्भरतेऽपि पुण्योदयात् सौख्यं वितन्वति तदा सुरलोकनाथे । सौख्यैरगात् स
> विधिमचिन्त्यधृतिः स धीरो पुण्यार्जने कुरुत यत्नमतो बुधेन्द्राः ॥ २७० ॥

इस प्रकार सुर और असुरोंके गुरु तथा अचिन्त्य धैर्यको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेवको इन्द्र उनके विशाल पुण्योदयके संयोगसे भोगोपभोगकी सामग्री भेजता रहता था जिससे वे सुखपूर्वक सन्तोषको प्राप्त होते रहते थे। इसलिए हे पण्डितजन, पुण्योपार्जन करनेमें प्रयत्न करो ॥ २७० ॥

> पुण्यात सुखं न सुखमस्ति विनापि पुण्यं वीजाद्विना न हि भवेयुरिह प्ररोहाः । पुण्यं च दानदमसंयम सत्यशौचत्यागक्षमादिशुभचेष्टितमूलहेतुः ॥ २७१ ॥

इस संसारमें पुण्यसे ही सुख प्राप्त होता है। जिस प्रकार बीजके बिना अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार पुण्यके बिना सुख नहीं होता। दान देना, इन्द्रियोंको वश करना, संयम धारण करना, सत्यभाषण करना, लोभका त्याग करना, और क्षमाभाव धारण करना आदि शुभ चेष्टाओंसे अभिलषित पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥ २७१ ॥

> पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसाराः लक्ष्मीश्चिरायुरमितं रूपसम्पदो वाचः । साम्राज्यमिन्द्रपदतामपुनर्भवस्य भावस्य निष्ठामाहन्त्यमन्त्यरहिताखिलसौख्यमग्र्यम् ॥ २७२ ॥

सुर, असुर, मनुष्य और नागेन्द्र आदिके उत्तम-उत्तम भोग, लक्ष्मी, दीर्घ आयु, अनुपम रूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्रवर्तीका साम्राज्य, इन्द्रपद, जिसे पाकर फिर संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता ऐसा अरहन्त पद और अन्तमें समस्त सुख देनेवाला श्रेष्ठ निर्वाण पद इन सभीकी प्राप्ति एक पुण्यसे ही होती है ॥ २७२ ॥

> तस्माद् बुधाः कुरुत धर्ममवाप्तुकामाः स्वर्गापवर्गसुखमग्र्यमचिन्त्यवीर्यम् । प्रापय्य सोऽभ्युदयभोगमनन्तसौख्यमानन्त्यमापयति धर्मफलं हि शर्म ॥ २७३ ॥

इसलिए हे पण्डितजन, यदि स्वर्ग और मोक्षके अचिन्त्य महिमावाले श्रेष्ठ सुख प्राप्त करना चाहते हो तो धर्म करो क्योंकि वह धर्म ही स्वर्गके भोग और मोक्षके अविनाशी अनन्त सुखकी प्राप्ति कराता है। वास्तवमें सुखप्राप्ति होना धर्मका ही फल है ॥ २७३ ॥

> दानं प्रयच्छत मुदा मुनिपुङ्गवेभ्यः पूजां कुरुध्वमुपनम्य च तीर्थकृद्भ्यः । शीलाति पालयत पर्वनिषोपवासान् व्रतानि मा स्म विस्मरथ सुखमीप्सवश्चेत् ॥ २७४ ॥

हे सुधीजन, यदि तुम सुख प्राप्त करना चाहते हो तो हर्षित होकर मुनिराजोंके लिए दान दो, तीर्थंकरोंको नमस्कार कर उनकी पूजा करो, शीलव्रतोंका पालन करो और पर्वके दिनोंमें उपवास करना नहीं भूलो ॥ २७४ ॥

श्रीमानिति नित्यभोगनिरतः पुत्रैश्च पौत्रैर्निजैः स्वाङ्गोद्भवैश्च प्रणयैरुपाहितधृतिः सिंहासनाध्यासितः ।
शक्रादित्यपुरःसरैः सुरवरैर्व्यूढोल्लसच्छासनः शास्ति स्माप्रतिशासनो भुविमामासिन्धुसीमामिमाम् ॥
२७८ ॥

इस प्रकार जो ऐश्वर्यशाली वृषभदेव नित्य स्थिर रहनेवाले भोगोंका अनुभव करते थे, स्नेह रखनेवाले अपने पुत्र-पौत्रोंके साथ सन्तोष धारण करते थे, इन्द्र, सूर्य और चन्द्रमा आदि उत्तम-उत्तम देव जिनकी आज्ञा धारण करते थे, और जिनपर किसीकी आज्ञा नहीं चलती थी ऐसे भगवान वृषभदेव सिंहासनपर आरूढ़ होकर इस समुद्रान्त पृथिवीका शासन करते थे ॥ २७८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीआदिपुराणसंग्रहे भगवत्साम्राज्यवर्णनं नाम षोडशं पर्व ॥ १६ ॥

अथान्येद्युर्महास्थानमध्ये नृपशतैर्वृतः । स सिंहासनमध्यास्त यथाऽर्को निषधं तटम् ॥ १ ॥

अथानन्तर किसी एक दिन सैकड़ों राजाओंसे घिरे हुए भगवान् वृषभदेव विशाल सभामण्डपके मध्यभागमें सिंहासनपर ऐसे विराजमान थे, जैसे निषध पर्वतके तटभागपर सूर्य विराजमान होता है ॥ १ ॥

तथासीनं च तं देवं देवराट् पूजयितुम् । साप्सराः ससुरैर्हृष्टः स्वं पदं पर्यमुपासदत् ॥ २ ॥

उस प्रकार सिंहासनपर विराजमान भगवानकी सेवा करनेके लिए इन्द्र, अप्सराओं और देवोंके साथ, पूजाकी सामग्री लेकर वहाँ आया ॥ २ ॥

ततो यथोचितं स्थानमध्यासिष्टाधिविष्टरम् । जयन्नुदयमूर्धस्थमर्कमात्म्यतेजसा ॥ ३ ॥

और अपने तेजसे उदयाचलके मस्तकपर स्थित सूर्यको जीतता हुआ अपने योग्य सिंहासनपर जा बैठा ॥ ३ ॥

आरिराधयिषुर्देवं सुरराट् भक्तिनिर्भरः । प्रायुयुजत् सगन्धर्वां सुरनारीनटीं तदा ॥ ४ ॥

भक्तिविभोर इन्द्रने भगवानकी आराधना करनेकी इच्छासे उस समय अप्सराओं और गन्धर्वोंका नृत्य कराना प्रारम्भ किया ॥ ४ ॥

> नृत्तं तत् सुरनारीणां मनोऽप्यरञ्जयद्विभोः । स्फाटिकों हि मणिः शुद्धोऽप्यादत्ते रागमन्यतः ॥ ५ ॥

उस नृत्यने भगवान वृषभदेवके मनको भी अनुरक्त बना दिया था, सो ठीक ही है, अत्यन्त शुद्ध स्फटिकमणि भी अन्य पदार्थोंके संसर्गसे राग अर्थात् लालिमा धारण कर लेता है ॥ ५ ॥

> राज्यभोगात् कथं नाम विरज्येद् भगवानिति । प्रक्षीणायुर्दशं पात्रं तदा न्ययुङ्क्त मघवा ॥ ६ ॥

भगवान राज्य और भोगोंसे किस प्रकार विरक्त होंगे यह विचार कर इन्द्रने उस समय नृत्य करनेके लिए एक ऐसे पात्रको नियुक्त किया जिसकी आयु अत्यन्त क्षीण हो गयी थी ॥ ६ ॥

> सा नीलाञ्जना नाम ललिता सुरनर्तकी । रसभावलयोपेतं नटन्ती सपरिक्रमम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर वह अत्यन्त सुन्दरी नीलाञ्जना नामकी देवनर्तकी रस, भाव और लयसहित फिरकी लगाती हुई नृत्य कर रही थी ॥ ७ ॥

> क्षणाददृश्यतां प्राप्ता किलायुर्दीपसंक्षये । प्रभातरलितां कान्तिं दधाना तडिदुज्ज्वलाम् ॥ ८ ॥

कि इतनेमें ही आयुरूपी दीपकके क्षय होनेसे वह क्षण-भरमें अदृश्य हो गयी। जिस प्रकार बिजलीरूपी लता देखते-देखते क्षण-भरमें नष्ट हो जाती है उसी प्रकार प्रभासे चंचल और बिजलीके समान उज्ज्वल कान्ति धारण करनेवाली वह देवी देखते-देखते ही क्षण-भरमें नष्ट हो गयी थी ॥ ८ ॥

> सौदामिनीलतेवासौ दृष्टनष्टाऽभवत् क्षणात् । रसभङ्गभयादिन्द्रः सन्दधेऽन्यामपरां वपुः ॥ ९ ॥

उसके नष्ट होते ही इन्द्रने रसभंगके भयसे उस स्थानपर उसके समान रूपवाली दूसरी देवी खड़ी कर दी जिससे नृत्य ज्यों-का-त्यों चलता रहा ॥ ९ ॥

> तदेव स्थानकं रूपं सा भूमिः स परिक्रमः । तथापि भगवान् वेद तस्या रूपान्तरं तदा ॥ १० ॥

यद्यपि दूसरी देवी खड़ी कर देनेके बाद भी वही मनोहर स्थान था, वही मनोहर भूमि थी और वही नृत्यका परिक्रम था तथापि भगवान वृषभदेवने उसी समय उसके स्वरूपका अन्तर जान लिया था ॥ १० ॥

> ततोऽभूच्चेतसीत्यासीच्चिन्ता भोगाद् विरज्यतः । परां संवेगनिर्वेदभावनामुपजग्मुषः ॥ ११ ॥

तदनन्तर भोगोंसे विरक्त और अत्यन्त संवेग तथा वैराग्य भावनाको प्राप्त हुए भगवानके चित्तमें इस प्रकार चिन्ता उत्पन्न हुई कि ॥ ११ ॥

> अहो जगदिदं व्यर्थं श्रीस्तडिद्वल्लरीचला । यौवनं वपुरारोग्यमैश्वर्यं च चलाचलम् ॥ १२ ॥

बड़े आश्चर्यकी बात है कि यह जगत् विनश्वर है, लक्ष्मी बिजलीरूपी लताके समान चंचल है, यौवन, शरीर, आरोग्य और ऐश्वर्य आदि सभी चलाचल हैं ॥ १२ ॥

> रूपयौवनसौभाग्यमदोन्मत्तः पृथग्जनः । बध्नाति स्थायिनीं बुद्धिं किं त्विह स्यान्न विनश्वरम् ॥ १३ ॥

रूप, यौवन और सौभाग्यके मदसे उन्मत्त हुआ अज्ञानी पुरुष इन सबमें स्थिर बुद्धि करता है, परन्तु इसमें कौन-सी वस्तु विनश्वर नहीं है? यहाँ सभी वस्तुएँ विनश्वर हैं ॥ १३ ॥

> सन्ध्यारागनिभा रूपशोभा तारुण्यमुज्ज्वलम् । पल्लवच्छविवत् सद्यः परिम्लानिमुपाश्नुते ॥ १४ ॥

यह रूपकी शोभा सन्ध्याकालकी लालीके समान क्षण-भरमें नष्ट हो जाती है और उज्ज्वल तारुण्य अवस्था पल्लवकी कान्तिके समान शीघ्र ही म्लान हो जाती है ॥ १४ ॥

> यौवनं वनवल्लीनामिव पुष्पं विनश्यति । विषवल्लीनिभा भोगसम्पदो भङ्गु जीवितम् ॥ १५ ॥

वनमें पैदा हुई लताओंके पुष्पोंके समान यह यौवन शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है, भोग-सम्पदाएँ विषबेलके समान हैं और जीवन विनश्वर है ॥ १५ ॥

घटिकाजलधारेव गलत्यायुःस्थितिर्द्रुतम् । शरीरमिदमत्यन्तपूतिगन्धि जुगुप्सितम् ॥ १६ ॥

यह आयुकी स्थिति घटीयन्त्रके जलकी धाराके समान शीघ्रताके साथ गलती जा रही है—कम होती जा रही है, और यह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धित तथा घृणा उत्पन्न करनेवाला है ॥ १६ ॥

निस्सारे खलु संसारे सुखलेशोऽपि दुर्लभः । दुःखं महत्तस्मिन् सुखं वाञ्छति बालिशः ॥ १७ ॥

यह निश्चय है कि इस असार संसारमें सुखका लेशमात्र भी दुर्लभ है और दुःख बड़ा भारी है, फिर भी आश्चर्य है कि मन्दबुद्धि पुरुष उसमें सुखकी इच्छा करते हैं ॥ १७ ॥

स्मृत्वाप्यदः पुरा यन्नरकेषु दुःखमासेवितं महत् । नूनं संविग्नचित्तः कः कुर्याद् भोगेषु स्पृहयालुताम् ॥ १८ ॥

इस जीवने पूर्वभवमें नरकोंमें जो महान् दुःख भोगे हैं यदि उनका स्मरण भी हो जाये तो फिर ऐसा कौन है, जो उन भोगोंकी इच्छा करे ॥ १८ ॥

नूनमार्तधियां भुक्ता भोगाः प्राक्तनकर्मणः । दुःखरूपेण पच्यन्ते निरये निरयोदये ॥ १९ ॥

निश्चयसे आर्तध्यान करनेवाले जीव जितने कुछ भोगोंका अनुभव करते हैं वे सब उन्हें अत्यन्त असाताके उदयसे भरे हुए नरकोंमें दुःखरूप होकर उदय आते हैं ॥ १९ ॥

स्वप्नेऽपि सुखं नास्ति नरके दुःखभूयसि । दुःखं प्रसूयते यतस्तत्र दिवानिशम् ॥ २० ॥

दुःखोंसे भरे हुए नरकोंमें कभी स्वप्नमें भी सुख प्राप्त नहीं होता क्योंकि वहाँ रात-दिन दुःख ही दुःख रहता है और ऐसा दुःख जो कि दुःखके कारणभूत असाता कर्मका बन्ध करनेवाला होता है ॥ २० ॥

ततो विनिःसृतो जन्तुस्तैरश्चं दुःखमायतम् । स्वसात्करोति मन्दात्मा नानायोनिषु पर्यटन् ॥ २१ ॥

उन नरकोंसे किसी तरह निकलकर यह मूर्ख जीव अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ तिर्यंच गतिके बड़े भारी दुःख भोगता है ॥ २१ ॥

> पृथिव्यामप्सु तेजसि च पवने सवनस्पतौ । बंभ्रम्यते महादुःखमश्नुवानो बताज्ञकः ॥ २२ ॥

बड़े दुःखकी बात है कि यह अज्ञानी जीव पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंमें भारी दुःख भोगता हुआ निरन्तर भ्रमण करता रहता है ॥ २२ ॥

> खननोत्तापनज्वालिज्वालाविध्यापनेऽपि च । घनाभिघातैश्छेदैश्च दुःखं तत्रेति दुस्तरम् ॥ २३ ॥

यह जीव उन पृथिवीकायिक आदि पर्यायोंमें खोदा जाना, जलती हुई अग्निमें तपाया जाना, बुझाया जाना, अनेक कठोर आघातोंसे टकरा जाना, तथा छेदा-भेदा जाना आदिके कारण भारी दुःख पाता है ॥ २३ ॥

> सूक्ष्मबादरपर्याप्ततद्विपक्षात्मयोनिषु । पर्यटत्यसकृज्जीवो घटीयन्त्रस्थितिं दधत् ॥ २४ ॥

यह जीव घटीयन्त्रकी स्थितिको धारण करता हुआ सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक अवस्थामें अनेक बार परिभ्रमण करता रहता है ॥ २४ ॥

> त्रसकायेष्वपि प्राणी वधबन्धोपरोधनैः । दुःखावलिकामवाप्नोति सर्वावस्थानुयायिनीम् ॥ २५ ॥

त्रस पर्यायमें भी यह प्राणी मारा जाना, बाँधा जाना और रोका जाना आदिके द्वारा जीवनपर्यन्त अनेक दुःख प्राप्त करता रहता है ॥ २५ ॥

> जन्मदुःखं ततो दुःखं जरारुक् ततोऽधिकम् । इति दुःखशतावर्ते जन्माब्धौ स निमग्नवान् ॥ २६ ॥

सबसे प्रथम इसे जन्म अर्थात् पैदा होनेका दुःख उठाना पड़ता है, उसके अनन्तर बुढ़ापाका दुःख और फिर उससे भी अधिक मृत्युका दुःख भोगना पड़ता है, इस प्रकार सैकड़ों दुःखरूपी आवर्तोंसे भरे हुए संसाररूपी समुद्रमें यह जीव सदा डूबा रहता है ॥ २६ ॥

क्षणान्नश्यन् क्षणाज्जीर्यन् क्षणाज्जन्म प्रपद्यते । जरायुर्गद्दुके मज्जति गौरिव ॥ २७ ॥

यह जीव क्षण-भरमें नष्ट हो जाता है, क्षण-भरमें जीर्ण (बूढ़ा) हो जाता है और क्षण-भरमें फिर जन्म धारण कर लेता है, इस प्रकार जन्म-मरण, बुढ़ापा और रोगरूपी कीचड़में गायकी तरह सदा फँसा रहता है ॥ २७ ॥

अनन्तं कालमित्यज्ञस्तिर्यक्त्वे दुःखमश्नुते । दुःखस्य हि परं धाम तिर्यक्त्वं ब्रुवते जिनाः ॥ २८ ॥

इस प्रकार यह अज्ञानी जीव तिर्यंच योनिमें अनन्त कालतक दुःख भोगता रहता है सो ठीक ही है क्योंकि जिनेन्द्रदेव भी यही मानते हैं कि तिर्यंच योनि दुःखोंका सबसे बड़ा स्थान है ॥ २८ ॥

ततः कथञ्चिद्विनिःसृत्य क्षीणे दुष्कृते मनाक् । मनुष्यभावमाप्नोति कर्मसारथिचोदितः ॥ २९ ॥

तदनन्तर अशुभ कर्मोंके कुछ-कुछ क्षीण होनेपर यह जीव उस तिर्यंच योनिसे बड़ी कठिनतासे बाहर निकलता है और कर्मरूपी सारथिसे प्रेरित होकर मनुष्य पर्यायको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

तत्रापि विविधं दुःखं शारीरं मानसं च यत् । प्राप्नोत्यनिच्छुरेवात्मा निरुद्धः कर्मशत्रुभिः ॥ ३० ॥

वहाँपर भी यह जीव यद्यपि दुःखोंकी इच्छा नहीं करता है तथापि इसे कर्मरूपी शत्रुओंसे निरुद्ध होकर अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक दुःख भोगने पड़ते हैं ॥ ३० ॥

पराराधनदारिद्र्यचिन्ताशोकादिसम्भवम् । दुःखं महन्मनुष्याणां प्रत्यक्षं नरकायते ॥ ३१ ॥

दूसरोंकी आराधना (सेवा) करना, दरिद्रता, चिन्ता और शोक आदिसे मनुष्योंको जो बड़े भारी दुःख प्राप्त होते हैं वे प्रत्यक्ष नरकके समान जान पड़ते हैं ॥ ३१ ॥

शरीरशकटं दुःखदुर्भ्रात्रैः परिवरितम् । दिनैस्त्रिचतुरैरेव पर्यस्यति न संशयः ॥ ३२ ॥

यथार्थमें मनुष्योंका यह शरीर एक गाड़ीके समान है जो कि दुःखरूपी बरतनोंसे भरी है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है कि यह शरीररूपी गाड़ी तीन-चार दिनमें ही उलट जायेगी—नष्ट हो जायेगी ॥ ३२ ॥

दिव्यभावे किलैतेषां सुखमेकं शरीरिणाम् । तत्रापि त्रिदिवाद् भ्रंशः परं दुःखं दुरुत्तरम् ॥ ३३ ॥

यद्यपि देवपर्यायमें कुछ सुख प्राप्त होता है तथापि जब स्वर्गसे इसका पतन होता है तब इसे सबसे अधिक दुःख होता है जिसे पार करना अत्यन्त कठिन है ॥ ३३ ॥

तत्रापीष्टवियोगोऽस्ति न्यूनास्तत्रापि केचन । ततो मानसमेतेषां भूयो दुःखेन लङ्घ्यते ॥ ३४ ॥

उस देवपर्यायमें भी इष्टका वियोग होता है और कितने ही देव अल्पविभूतिके धारक होते हैं जो कि अपनेसे अधिक विभूतिवालेको देखकर दुःखी होते रहते हैं, इसलिए उनका मानसिक दुःख भी बड़े दुःखसे व्यतीत होता है ॥ ३४ ॥

इति संसारचक्रेऽस्मिन् विचित्रैः संसृतिभ्रमैः । दुःस्थमाप्नोति दुष्कर्मपरिपाकादयं जनः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार यह दीन प्राणी इस संसाररूपी चक्रमें अपने खोटे कर्मोंके उदयसे अनेक परिवर्तन करता हुआ दुःख पाता रहता है ॥ ३५ ॥

नारीरूपमयं यन्त्रमिदमत्यन्तपेशलम् । पश्यतामेव नः साक्षात् कथमेतदगात् क्षयम् ॥ ३६ ॥

देखो, यह अत्यन्त मनोहर स्त्रीरूपी यन्त्र (नृत्य करनेवाली नीलांजनाका शरीर) हमारे साक्षात् देखते ही देखते किस प्रकार नाशको प्राप्त हो गया ॥ ३६ ॥

रम्यं मत्वा स्त्रीरूपं बहिरुज्ज्वलम् । पतन्तस्तत्र नश्यन्ति पतङ्गा इव कामुकाः ॥ ३७ ॥

बाहरसे उज्ज्वल दिखनेवाले इस स्त्रीरूपको अत्यन्त मनोहर मानकर कामीजन उसपर पड़ते हैं और अज्ञानी पतंगोंके समान नष्ट हो जाते हैं—अशुभ कर्मोंका संचय कर हमेशाके लिए दुःखी हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

कूटनाटकमेतच्च प्रयुक्तममरेशिना । नूनमस्मत्प्रबोधाय स्मृतिमाधाय धीमता ॥ ३८ ॥

इन्द्रने जो यह कपट नाटक किया है अर्थात् नीलांजनाका नृत्य कराया है सो निश्चय ही उस बुद्धिमानने सोच-विचारकर केवल हमारे बोध करानेके लिए ही ऐसा किया है ॥ ३८ ॥

यथैतदेवमन्यच्च वस्तु यत् किल देहिनाम् । विनश्वरं नियतापादि केवलं तत् प्रतारकम् ॥ ३९ ॥

जिस प्रकार यह नीलांजनाका शरीर भंगुर था—विनाशशील था, इसी प्रकार जीवोंके अन्य भोगोपभोगोंके पदार्थ भी भंगुर हैं, अवश्य नष्ट हो जानेवाले हैं और केवल धोखा देनेवाले हैं ॥ ३९ ॥

किं किलामरणैर्भारैः किं मलैरनुलेपनैः । उन्मत्तचेष्टितैर्नृत्यैरुक्तैः शोच्यैश्च शोचितैः ॥ ४० ॥

इसलिए भाररूप आभरणोंसे क्या प्रयोजन है, मैलके समान सुगन्धित चन्दनादिके विलेपनसे क्या लाभ है, पागल पुरुषकी चेष्टाके समान यह नृत्य भी व्यर्थ है और शोकके समान ये गीत भी प्रयोजनरहित हैं ॥ ४० ॥

यद्यस्ति स्वगता शोभा किं परैराभरणैः कृतम् । यदि नास्ति स्वतः शोभा भारभूतैस्तथापि किम् ॥ ४१ ॥

यदि शरीरकी निजकी शोभा अच्छी है तो फिर अलंकारोंसे क्या करना है और यदि शरीरमें निजकी शोभा नहीं है तो फिर भारस्वरूप इन अलंकारोंसे क्या हो सकता है? ॥ ४१ ॥

तस्माद् धिग् धिगिदं रूपं धिक् संसारमसारकम् । राज्यभोगं धिगेतच्च धिग् धिगाकालिकीः श्रियः ॥ ४२ ॥

इसलिए इस रूपको धिक्कार है, इस असार संसारको धिक्कार है, इस राज्य-भोगको धिक्कार है और बिजलीके समान चंचल इस लक्ष्मीको धिक्कार है ॥ ४२ ॥

इति निर्विद्य भोगेभ्यो विरक्तात्मा सनातनः । मुक्तावुदतिष्ठदाशु काललब्धिमुपाश्रितः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार जिनकी आत्मा विरक्त हो गयी है ऐसे भगवान् वृषभदेव भोगोंसे विरक्त हुए और काललब्धिको पाकर शीघ्र ही मुक्तिके लिए उद्योग करने लगे ॥ ४३ ॥

तदा विशुद्धयस्तस्य हृदये पदमादधुः । मुक्तिलक्ष्म्येव संदिष्टास्तत्सख्यः संमुखागताः ॥ ४४ ॥

उस समय भगवानके हृदयमें विशुद्धियोंने अपना स्थान जमा लिया था और वे ऐसी मालूम होती थीं मानो मुक्तिरूपी लक्ष्मीके द्वारा प्रेरित हुई उसकी सखियाँ ही सामने आकर उपस्थित हुई हों ॥ ४४ ॥

> तदास्य सर्वमप्येतत् शून्यवत् प्रत्यभासत । मुक्त्यङ्गनासमासङ्गे परां चिन्तामुपेयुषः ॥ ४५ ॥

उस समय भगवान् मुक्तिरूपी अंगनाके समागमके लिए अत्यन्त चिन्ताको प्राप्त हो रहे थे, इसलिए उन्हें यह सारा जगत् शून्य प्रतिभासित हो रहा था ॥ ४५ ॥

> सौधर्मेन्द्रस्ततोऽबोधि गुरोरन्तःसमीहितम् । प्रयुक्तावधिरीशस्य बोधिं झटिति पश्यन् ॥ ४६ ॥

भगवान् को बोध उत्पन्न हो गया है अर्थात् वे अब संसारसे विरक्त हो गए हैं, ये जगद्गुरु भगवान् के अन्तःकरणकी समस्त चेष्टाएँ इन्द्रने अपने अवधिज्ञानसे उसी समय जान ली थीं ॥ ४६ ॥

> ततो प्रबोधमाधातुं ततो लौकान्तिकामराः । परिनिष्क्रमणेज्यार्थं ब्रह्मलोकादवातरन् ॥ ४७ ॥

उसी समय भगवानको प्रबोध करानेके लिए और उनके तप कल्याणककी पूजा करनेके लिए लौकान्तिक देव ब्रह्मलोकसे उतरे ॥ ४७ ॥

> ते च सारस्वतादित्या वह्निश्चारुण एव च । गर्दतोयस्तुषितोऽव्याबाधोऽरिष्ट एव च ॥ ४८ ॥

वे लौकान्तिक देव सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट—इस तरह आठ प्रकारके हैं ॥ ४८ ॥

> इत्यष्टधा निकायाख्यां दधाना विबुधोत्तमाः । प्राग्भवेऽभ्यस्तनिःशेषश्रुतार्थाः शुभभावनाः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार आठ प्रकारके निकाय नामको धारण करनेवाले वे सभी देवोंमें उत्तम होते हैं। वे पूर्व भवमें सम्पूर्ण श्रुतज्ञानका अभ्यास करते हैं और उनकी भावनाएँ शुभ रहती हैं ॥ ४९ ॥

ब्रह्मलोकालयाः सौम्याः शुक्लेशा महर्द्धिकाः । तल्लोकान्तनिवासित्वाद् गता लौकान्तिकश्रुतिम् ॥ ५० ॥

वे ब्रह्मलोक अर्थात् पाँचवें स्वर्गमें रहते हैं, सदा सौम्य रहते हैं, उनकी लेश्याएँ शुक्ल होती हैं, वे बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले होते हैं और ब्रह्मलोकके अन्तमें निवास करनेके कारण लौकान्तिक इस नामको प्राप्त हुए हैं ॥ ५० ॥

दिव्यहंसा विरेजुस्ते शिवोरुपुलिनोत्सुकाः । परिनिष्क्रान्तिकल्याणशरदागमशंसिनः ॥ ५१ ॥

वे लौकान्तिक स्वर्गके हंसोंके समान जान पड़ते थे, क्योंकि वे मुक्तिरूपी नदीके तटपर निवास करनेके लिए उत्कण्ठित हो रहे थे और भगवानके दीक्षा-कल्याणकरूपी शरद् ऋतुके आगमनकी सूचना कर रहे थे ॥ ५१ ॥

सुमनोऽञ्जलयो मुक्ता बभूर्लोकान्तिकामरैः । विभोरुपासितुं पादौ स्वचित्तांशा इवार्पिताः ॥ ५२ ॥

उन लौकान्तिक देवोंने आकर जो पुष्पांजलि छोड़ी थी वह ऐसी मालूम होती थी मानो उन्होंने भगवानके चरणोंकी उपासना करनेके लिए अपने चित्तके अंश ही समर्पित किए हों ॥ ५२ ॥

तेऽभ्यर्च्य भगवत्पादौ प्रसूनैः सुरभिद्रुसैः । ततः स्तुतिभिरर्थ्याभिः स्तोतुं प्रारेभिरे विभुम् ॥ ५३ ॥

उन देवोंने प्रथम ही सुगन्धित फूलोंसे भगवानके चरणोंकी पूजा की और फिर अर्थसे भरे हुए स्तोत्रोंसे भगवानकी स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥ ५३ ॥

मोहारिविजयोद्योगमधुना संविवित्सता । भगवन् भव्यलोकस्य बन्धुकृत्यं त्वयेहितम् ॥ ५४ ॥

हे भगवन्! इस समय जो आपने मोहरूपी शत्रुको जीतनेके उद्योगकी इच्छा की है, उससे स्पष्ट सिद्ध है कि आपने भव्यजीवोंके साथ भाईपनेका कार्य करनेका विचार किया है अर्थात् भाईकी तरह भव्यजीवोंकी सहायता करनेका विचार किया है ॥ ५४ ॥

त्वं देव परमं ज्योतिस्त्वां विदुः कारणं परम् । त्वमिदं विश्वमज्ञानप्रपातादुद्धरिष्यसि ॥ ५५ ॥

हे देव! आप परम ज्योति स्वरूप हैं, सब लोग आपको समस्त कार्योंका उत्तम कारण कहते हैं और हे देव! आप ही अज्ञानरूपी प्रपातसे संसारका उद्धार करेंगे ॥ ५५ ॥

त्वयाद्य दर्शितं धर्मतीर्थमासाद्य दुस्तरम् । भव्याः संसारभीमाब्धिमुत्तरिष्यन्ति हेलया ॥ ५६ ॥

हे देव! आज आपके द्वारा दिखलाये हुए धर्मरूपी तीर्थको पाकर भव्यजीव इस दुस्तर और भयानक संसाररूपी समुद्रसे लीला मात्रमें पार हो जायेंगे ॥ ५६ ॥

तव वागंशवो दीप्ता द्योतयन्तोऽखिलं जगत् । भव्यपद्माकरे बोधमाधास्यन्ति रवेरिव ॥ ५७ ॥

हे देव! जिस प्रकार सूर्यकी देदीप्यमान किरणें समस्त जगत् को प्रकाशित करती हुई कमलोंको प्रफुल्लित करती हैं, उसी प्रकार आपके वचनरूपी देदीप्यमान किरणें भी समस्त संसारको प्रकाशित करती हुई भव्यजीवरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करेंगी ॥ ५७ ॥

विधातारं त्वामामनन्ति लोका विजेतारं कर्मविद्विषाम् । नेतारं धर्मतीर्थस्य त्रातारं च जगद्गुरुम् ॥ ५८ ॥

हे देव! लोग आपको जगत् का पालन करनेवाले ब्रह्मा मानते हैं, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले विजेता मानते हैं, धर्मरूपी तीर्थके नेता मानते हैं और सबकी रक्षा करनेवाले जगद्गुरु मानते हैं ॥ ५८ ॥

मोहपङ्के महत्यस्मिन् जगन्मग्नमशेषतः । धर्महस्तावलम्बेन त्वया सद्यः समुद्धरिष्यते ॥ ५९ ॥

हे देव! यह समस्त जगत् मोहरूपी बड़ी भारी कीचड़में फँसा हुआ है, इसका आप धर्मरूपी हाथका सहारा देकर शीघ्र ही उद्धार करेंगे ॥ ५९ ॥

त्वं स्वयम्भूः स्वयं बुद्धः सन्मार्गं मुक्तिपद्धतिम् । यदस्मान् प्रबोधयितास्यकस्मात् करुणार्द्रधीः ॥ ६० ॥

हे देव! आप स्वयम्भू हैं, आपने मोक्षमार्गको स्वयं जान लिया है और आप हम सबको मुक्तिके मार्गका उपदेश देंगे, इससे सिद्ध होता है कि आपका हृदय बिना कारण ही करुणासे आर्द्र है ॥ ६० ॥

> त्वं स्वयं त्रिजगद्भासित्रिनेत्रो धाम लोचनः । यदवेत्सि स्वतः सर्वं मोक्षस्य पदवीं पराम् ॥ ६१ ॥

हे भगवन्! आप स्वयं बुद्ध हैं, आप मति-श्रुत और अवधिज्ञानरूपी तीन दिव्य नेत्रोंको धारण करनेवाले हैं तथा आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकतारूपी मोक्षमार्गको अपने-आप ही जान लिया है, इसलिए आप बुद्ध हैं ॥ ६१ ॥

> स्वयं सन्मार्गमाख्यातुं न त्वं चोद्योऽस्मदादिभिः । किन्त्वास्माको नियोगोऽयं वाचालयति नोऽद्य यत् ॥ ६२ ॥

हे देव! आपने सन्मार्गका स्वरूप स्वयं जान लिया है, इसलिए हमारे-जैसे देवोंके द्वारा आप प्रबोध करानेके योग्य नहीं हैं, तथापि हम लोगोंका यह नियोग ही आज हम लोगोंको वाचाल कर रहा है ॥ ६२ ॥

> जगत्प्रबोधनोद्योगे न त्वमन्यैर्नियुज्यसे । भुवनोद्योतने किं वा केनाप्युत्थाप्यतेऽंशुमान् ॥ ६३ ॥

हे नाथ! समस्त जगत् को प्रबोध करानेका उद्योग करनेके लिए आपको कोई अन्य प्रेरणा नहीं कर सकता, सो ठीक ही है; क्योंकि समस्त जगत् को प्रकाशित करनेके लिए क्या सूर्यको कोई अन्य उकसाता है? अर्थात् नहीं। भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य समस्त जगत् को प्रकाशित करनेके लिए स्वयं तत्पर रहता है, उसी प्रकार समस्त जगत् को प्रबुद्ध करनेके लिए आप स्वयं तत्पर रहते हैं ॥ ६३ ॥

> अथवा बोधितोऽप्यस्मान् बोधयस्यधुनार्थवत् । बोधितोऽपि यथा दीपो भुवनस्योपकारकः ॥ ६४ ॥

अथवा हे जन्म-मरणरहित जिनेन्द्र! आप हमारे द्वारा प्रबोधित होकर भी हम लोगोंको उसी प्रकार प्रबोधित करेंगे जिस प्रकार जलाया हुआ दीपक संसारका उपकारक होता है अर्थात् सबको प्रकाशित करता है ॥ ६४ ॥

> सद्योजातस्त्वमाद्येऽभूः कल्याणे वामतामतः । प्राप्तोऽनन्तरकल्याणे धत्से संप्रत्यघोरताम् ॥ ६५ ॥

हे भगवन्! आप प्रथम गर्भकल्याणकमें सद्योजात अर्थात् शीघ्र ही अवतार लेनेवाले कहलाये, द्वितीय जन्मकल्याणकमें वामता अर्थात् सुन्दरताको प्राप्त हुए और अब उसके अनन्तर तृतीय तपकल्याणकमें अघोरता अर्थात् सौम्यताको धारण कर रहे हैं ॥ ६५ ॥

> भुवनस्योपकाराय कुरु यत्नं त्वमीश्वर । त्वां नवाब्दमिवासेव्य नन्दन्त्वेते भव्यचातकाः ॥ ६६ ॥

हे जगदीश्वर! आप संसारके उपकारके लिए उद्योग कीजिए, ये भव्यजीवरूपी चातक नवीन मेघके समान आपकी सेवा कर सन्तुष्ट हों ॥ ६६ ॥

> तव धर्मसुधासूतौ कालः सनातनः । धर्मसृष्टिं ततो देव विधातुं धातुरर्हसि ॥ ६७ ॥

हे देव! अनादि कालसे चला आया यह काल अब आपके धर्मरूपी अमृत उत्पन्न करनेके योग्य हुआ है, इसलिए हे विधाता! धर्मकी सृष्टि कीजिए—अपने सदुपदेशसे समीचीन धर्मकी रचना कीजिए ॥ ६७ ॥

> जय त्वमीश कर्मारीन् जय मोहमहासुरम् । परीषहभटान् दर्पान् विजयस्व तपोबलात् ॥ ६८ ॥

हे ईश! आप अपने तपोबलसे कर्मरूपी शत्रुओंको जीतिए, मोहरूपी महाअसुरको जीतिए और परीषहरूपी अहंकारी योद्धाओंको भी जीतिए ॥ ६८ ॥

> उत्तिष्ठतां भवान् भूरि भुक्तैर्भोगैरलंतराम् । न स्वादान्तरमेष्वस्ति भूयोऽप्यनुभवेऽङ्गिनाम् ॥ ६९ ॥

हे देव! अब आप शीघ्र उठिए—उद्योग कीजिए, अनेक बार भोगे हुए इन भोगोंको रहने दीजिए—छोड़िए; क्योंकि जीवोंके बार-बार भोगनेपर भी इन भोगोंके स्वादमें कुछ भी अन्तर नहीं आता—नूतनता नहीं आती ॥ ६९ ॥

> इति लौकान्तिकैर्देवैः स्तुवानैरुपनायितः । परिनिष्क्रमणे बुद्धिमधाद् धाता दृढां तदा ॥ ७० ॥

इस प्रकार स्तुति करते हुए लौकान्तिक देवोंने तपश्चरण करनेके लिए जिनसे प्रार्थना की है ऐसे ब्रह्मा—भगवान् वृषभदेवने तपश्चरण करनेमें—दीक्षा धारण करनेमें अपनी दृढ़ बुद्धि लगायी ॥ ७० ॥

तावतैव नियोगेन कृतार्थास्ते दिवं ययुः । हंसा इव नभोवीथीं द्योतयन्तोऽङ्गदीप्तिभिः ॥ ७१ ॥

वे लौकान्तिक देव अपने इतने ही नियोगसे कृतार्थ होकर हंसोंकी तरह शरीरकी कान्तिसे आकाशमार्गको प्रकाशित करते हुए स्वर्गको चले गये ॥ ७१ ॥

आजग्मुस्तन्नभश्चारा नाकिनोऽनेकविक्रियाः । कम्पितासनाः पुरो गत्वा पुरोधायाथ पुरन्दरम् ॥ ७२ ॥

इतनेमें ही आसनोंके कम्पायमान होनेसे भगवानके तप-कल्याणकका निश्चय कर देव लोग अपने-अपने इन्द्रोंके साथ अनेक विक्रियाओंको धारण कर प्रकट होने लगे ॥ ७२ ॥

नभोऽङ्गणमवारुध्य तेऽयोध्यां परितः पुरीम् । तस्थुः स्ववाहनामीका नाकिनाथा निकायशः ॥ ७३ ॥

अथानन्तर समस्त इन्द्र अपने वाहनों और अपने-अपने निकायके देवोंके साथ आकाशरूपी आँगनको व्याप्त करते हुए आये और अयोध्यापुरीके चारों ओर आकाशको घेरकर अपने-अपने निकायके अनुसार ठहर गये ॥ ७३ ॥

ततोऽस्य परिनिष्क्रान्तिमहाकल्याणसंविधौ । महाभिषेकमित्राद्याश्चक्रुः क्षीरार्णवाम्बुभिः ॥ ७४ ॥

तदनन्तर इन्द्रादिक देवोंने भगवानके निष्क्रमण अर्थात् तपःकल्याणक करनेके लिए उनका क्षीरसागरके जलसे महाभिषेक किया ॥ ७४ ॥

अभिषिच्य विभुं देवा भूषयाञ्चक्रुरादृताः । दिव्यैर्विभूषणैर्वस्त्रैर्माल्यैश्च मलयोद्भवैः ॥ ७५ ॥

अभिषेक कर चुकनेके बाद देवोंने बड़े आदरके साथ दिव्य आभूषण, वस्त्र, मालाएँ और मलयागिरि चन्दनसे भगवानका अलंकार किया ॥ ७५ ॥

ततोऽभिषिच्य साम्राज्ये भरतं सूनुमग्रिमम् । भगवान् भारतं वर्षं सनाथं व्यधादिदम् ॥ ७६ ॥

तदनन्तर भगवान् वृषभदेवने साम्राज्य पदपर अपने बड़े पुत्र भरतका अभिषेक कर इस भारतवर्षको उनसे सनाथ किया ॥ ७६ ॥

यौवराज्ये च तं बाहुबलिं समतिष्ठिपत् । तदा राजन्वतीत्यासीत् पृथ्वी ताभ्यामधिष्ठिता ॥ ७७ ॥

और युवराज पदपर बाहुबलीको स्थापित किया। इस प्रकार उस समय यह पृथिवी उक्त दोनों भाइयोंसे अधिष्ठित होनेके कारण राजन्वती अर्थात् सुयोग्य राजासे सहित हुई थी ॥ ७७ ॥

परिनिष्क्रान्तिराज्याभिसंक्रान्तिद्वितयोत्सवे । तदा लोकद्वयेऽप्यासीत् प्रमदनिर्भरम् ॥ ७८ ॥

उस समय भगवान् वृषभदेवका निष्क्रमणकल्याणक और भरतका राज्याभिषेक हो रहा था, इन दोनों प्रकारके उत्सवोंके समय स्वर्गलोक और पृथिवीलोक दोनों ही हर्षनिर्भर हो रहे थे ॥ ७८ ॥

भगवत्परिनिष्क्रान्तिकल्याणोत्सव एकतः । स्फीतर्द्धिरन्यतो जातः पृथ्वीराज्यार्पणक्षणः ॥ ७९ ॥

उस समय एक ओर तो बड़े वैभवके साथ भगवानके निष्क्रमणकल्याणकका उत्सव हो रहा था और दूसरी ओर भरत तथा बाहुबली इन दोनों राजकुमारोंके लिए पृथिवीका राज्य समर्पण करनेका उत्सव किया जा रहा था ॥ ७९ ॥

बद्धकक्षस्तपोराज्ये सज्जो राजर्षिरेकतः । युवानावप्यन्यतो राज्यलक्ष्म्युद्वाहसज्जकौ ॥ ८० ॥

एक ओर तो राजर्षि भगवान् वृषभदेव तपरूपी राज्यके लिए कमर बाँधकर तैयार हुए थे और दूसरी ओर दोनों तरुण कुमार राज्यलक्ष्मीके साथ विवाह करनेके लिए उद्यम कर रहे थे ॥ ८० ॥

एकतः शिविकायाननिर्माणं सुरशिल्पिनाम् । वास्तुवेदिभिरारब्धः पराध्यों मण्डपोऽन्यतः ॥ ८१ ॥

एक ओर तो देवोंके शिल्पी भगवानको वनमें ले जानेके लिए पालकीका निर्माण कर रहे थे और दूसरी ओर वास्तुविद्या अर्थात् महल मण्डप आदि बनानेकी विधि जाननेवाले शिल्पी राजकुमारोंके अभिषेकके लिए बहुमूल्य मण्डप बना रहे थे ॥ ८१ ॥

शचीदेव्यैकतो रङ्गवल्यादिरचना कृता । देव्यान्यतो यशस्वत्या सानन्दं ससुनन्दया ॥ ८२ ॥

एक ओर तो इन्द्राणी देवीने रंगावली आदिकी रचना की थी—रंगीन चौक पूरे थे और दूसरी ओर यशस्वती तथा सुनन्दा देवीने बड़े हर्षके साथ रंगावली आदिकी रचना की थी—तरह-तरहके सुन्दर चौक पूरे थे ॥ ८२ ॥

> एकतो मङ्गलद्रव्यधारिण्यो दिक्कुमारिकाः । अन्यतः कृतनेपथ्या वारमुख्या वरस्त्रियः ॥ ८३ ॥

एक ओर तो दिक्कुमारी देवियाँ मंगल द्रव्य धारण किए हुई थीं और दूसरी ओर वस्त्राभूषण पहने हुई उत्तम वारांगनाएँ मंगल द्रव्य लेकर खड़ी हुई थीं ॥ ८३ ॥

> सुरवृन्दारकैः प्रीतैर्भगवानेकतो वृतः । क्षत्रियाणां सहस्रेण कुमारावन्यतो वृतौ ॥ ८४ ॥

एक ओर भगवान् वृषभदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए श्रेष्ठ देवोंसे घिरे हुए थे और दूसरी ओर दोनों राजकुमार हजारों क्षत्रिय राजाओंसे घिरे हुए थे ॥ ८४ ॥

> पुष्पाञ्जलिः सुरैर्मुक्तः स्तुवानैर्मुहुरेक्तः । अन्यतः साशिषः शेषाः क्षिप्ताः पौरयुवतिभिः ॥ ८५ ॥

एक ओर स्वामी वृषभदेवके सामने स्तुति करते हुए देवगण पुष्पांजलि छोड़ रहे थे और दूसरी ओर पुरवासीजन दोनों राजकुमारोंके सामने आशीर्वादके शेषाक्षत फेंक रहे थे ॥ ८५ ॥

> एकतोऽप्सरसां नृत्तमस्पृष्टधरणीतलम् । सलीलपदविन्यासमसन्यतो वारयोषिताम् ॥ ८६ ॥

एक ओर पृथिवीतलको बिना छुए ही—अधर आकाशमें अप्सराओंका नृत्य हो रहा था और दूसरी ओर वारांगनाएँ लीलापूर्वक पद-विन्यास करती हुई नृत्य कर रही थीं ॥ ८६ ॥

> एकतः सुरतूर्याणां प्रध्वानो रुद्धदिङ्मुखः । नान्दीपटहनिर्घोषप्रविजृम्भितमन्यतः ॥ ८७ ॥

एक ओर समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाले देवोंके बाजोंके महान् शब्द हो रहे थे और दूसरी ओर नान्दी पटह आदि मांगलिक बाजोंके घोर शब्द सब ओर फैल रहे थे ॥ ८७ ॥

एकतः किन्नरारब्धकलमञ्जुनिःक्वणः । अन्यतोऽन्तःपुरस्त्रीणां मङ्गलोद्गीतिनिःस्वनः ॥ ८८ ॥

एक ओर किन्नर जातिके देवोंके द्वारा प्रारम्भ किये हुए मनोहर मंगल गीतोंके शब्द हो रहे थे और दूसरी ओर अन्तःपुरकी स्त्रियोंके मंगल गानोंकी मधुर ध्वनि हो रही थी ॥ ८८ ॥

एकतः सुरकोटीनां जयकोलाहलध्वनिः । पुण्यपाठककोटीनां संपाठध्वनिरन्यतः ॥ ८९ ॥

एक ओर करोड़ों देवोंका जय-जय ध्वनिका कोलाहल हो रहा था और दूसरी ओर पुण्यपाठ करनेवाले करोड़ों मनुष्योंके पुण्यपाठका शब्द हो रहा था ॥ ८९ ॥

इत्युच्चैरभ्यवधैस्तैर्द्व्यप्रहृष्टजनैर्जनैः । परमानन्दसान्द्रीभूतमभूद्राजमन्दिरम् ॥ ९० ॥

इस प्रकार दोनों ही बड़े-बड़े उत्सवोंमें जहाँ देव और मनुष्य संलग्न हो रहे हैं ऐसा वह राज-मन्दिर परम आनन्दसे व्याप्त हो रहा था—उसमें सब ओर हर्ष ही हर्ष दिखाई देता था ॥ ९० ॥

विस्तीर्णराज्यभारस्य विभोरथ युवेश्वरम् । परिनिष्क्रमणोद्योगस्तदा जज्ञे निराकुलः ॥ ९१ ॥

भगवानने अपने राज्यका भार दोनों ही युवराजोंको समर्पित कर दिया था इसलिए उस समय उनका दीक्षा लेनेका उद्योग बिलकुल ही निराकुल हो गया था—उन्हें राज्यसम्बन्धी किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रही थी ॥ ९१ ॥

शेषेभ्योऽपि स्वसूनुभ्यः संविभज्य महीमिमाम् । विभुर्विश्राणयामास निमुमुक्षुरसम्भ्रमी ॥ ९२ ॥

मोक्षकी इच्छा करनेवाले भगवानने सम्भ्रम-आकुलतासे रहित होकर अपने शेष पुत्रोंके लिए भी यह पृथिवी विभक्त कर बाँट दी थी ॥ ९२ ॥

सुरेन्द्रनिर्मितां दिव्यां शिविकां स सुदर्शनाम् । सनाभीक्ष्वाकुराजादीनापृच्छ्यारोहदक्षरः ॥ ९३ ॥

तदनन्तर अक्षर-अविनाशी भगवान्, महाराज नाभिराज आदि परिवारके लोगोंसे पूछकर इन्द्रके द्वारा बनायी हुई सुन्दर सुदर्शन नामकी पालकीपर बैठे ॥ ९३ ॥

सादरं च शचीनाथदत्तहस्तावलम्बनः । प्रतिज्ञामिव दीक्षायामारूढः शिविकां प्रभुः ॥ ९४ ॥

बड़े आदरके साथ इन्द्रने जिन्हें अपने हाथका सहारा दिया था ऐसे भगवान् वृषभदेव दीक्षाकी प्रतिज्ञाके समान पालकीपर आरूढ़ हुए थे ॥ ९४ ॥

दीक्षाङ्गनापरिष्वङ्गपरिवर्धितकौतुकः । प्रशय्यां नु समारूढः प्रभ्वीं शिविकाच्छलात् ॥ ९५ ॥

दीक्षारूपी अंगनाके आलिंगन करनेका जिनका कौतुक बढ़ रहा था ऐसे भगवान् वृषभदेव उस पालकीपर आरूढ़ होते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो पालकीके छलसे दीक्षारूपी अंगनाकी श्रेष्ठ शय्यापर ही आरूढ़ हो रहे हों ॥ ९५ ॥

स्रग्वि मलयजालिप्तदीप्तमूर्तिरलंकृतः । स तस्थौ शिविकारूढस्तपोराज्यमिवोत्तमम् ॥ ९६ ॥

जो मालाएँ पहने हुए हैं, जिनका देदीप्यमान शरीर चन्दनके लेपसे लिप्त हो रहा है और जो अनेक प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो रहे हैं, ऐसे भगवान् वृषभदेव पालकीपर आरूढ़ हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो तपरूपी लक्ष्मीके उत्तम वर ही हों ॥ ९६ ॥

परां विशुद्धिमारूढः प्राक् पश्चाच्छिविकां विभुः । तदाकरोदिवाभ्यासं गुणश्रेण्यधिरोहणे ॥ ९७ ॥

भगवान् वृषभदेव पहले तो परम विशुद्धतापर आरूढ़ हुए थे अर्थात् परिणामोंकी विशुद्धताको प्राप्त हुए थे और बादमें पालकीपर आरूढ़ हुए थे, इसलिए वे उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो गुणस्थानोंकी श्रेणी चढ़नेका अभ्यास ही कर रहे हों ॥ ९७ ॥

पदानि सप्त तां तूर्णं शिविकां प्रथमं नराः । ततो विद्याधरा निन्युर्व्योम्नि सप्तपदान्तरम् ॥ ९८ ॥

भगवानकी उस पालकीको प्रथम ही मनुष्य लोग सात पैंड तक ले गए और फिर विद्याधर लोग आकाशमें सात पैंड तक ले चले ॥ ९८ ॥

स्कन्धाधिरोपितां कृत्वा ततोऽभूमविरूम्बितम् । सुरासुराः खमुत्पेतुरारूढप्रमदोदयाः ॥ ९९ ॥

तदनन्तर वैमानिक और भवनत्रिक देवोंने अत्यन्त हर्षित होकर वह पालकी अपने कन्धोंपर रखी और शीघ्र ही उसे आकाशमें ले गये ॥ ९९ ॥

> पर्याप्तमिदमप्यस्य प्रभोर्माहात्म्यशंसनम् । यत्तदा त्रिदिवाधीशा जाता युग्यकवाहिनः ॥ १०० ॥

भगवान् वृषभदेवके माहात्म्यकी प्रशंसा करना इतना ही पर्याप्त है कि उस समय स्वर्गके अधिपति इन्द्र भी उनकी पालकी ले जानेवाले हुए थे अर्थात् इन्द्र स्वयं उनकी पालकी ढो रहे थे ॥ १०० ॥

> तदाभ्रगणविमुक्तं पुष्पवर्षमामोदि सुभ्रशम् । मन्दाकिनीसीकराहारः शिशिरो मारुतः ॥ १०१ ॥

उस समय देवगण सुगन्धित पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे और गंगानदीके जलकणोंको धारण करनेवाला शीतल वायु बह रहा था ॥ १०१ ॥

> प्रस्थानमङ्गलान्युच्चैर्जगुः सुरबन्दिनः । तदा प्रयाणभेर्यश्च दिग्भागेष्वास्फालिताः सुरैः ॥ १०२ ॥

उस समय देवोंके बन्दीजन उच्च स्वरसे प्रस्थान समयके मंगल पाठ पढ़ रहे थे और देव लोग चारों ओर प्रस्थानसूचक भेरियाँ बजा रहे थे ॥ १०२ ॥

> मोहारिविजयोद्योगसमयोऽयं जगद्गुरोः । इत्युच्चैर्घोषयामासुस्तदा शक्राज्ञयाऽमराः ॥ १०३ ॥

उस समय इन्द्रकी आज्ञा पाकर समस्त देव जोर-जोरसे यही घोषणा कर रहे थे कि जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवका मोहरूपी शत्रु जीतनेके उद्योग करनेका यही समय है ॥ १०३ ॥

> जयकोलाहलं चक्रुस्तदा सर्वे सुरासुराः । तदा चक्रुर्नभोऽशेषमारुध्य प्रमदोदयात् ॥ १०४ ॥

उस समय हर्षित हुए सुर-असुर जातिके सभी देव आनन्दकी अधिकतासे समस्त आकाशको घेरकर भगवानके आगे जय-जय शब्दका कोलाहल कर रहे थे ॥ १०४ ॥

तदा मङ्गलगीतैश्च प्रकृतैर्जयघोषणैः । नभो महानकध्वानैरारुद्धं शब्दसादभूत् ॥ १०५ ॥

मंगलगोतों, बार-बार की गयी जय-घोषणाओं और बड़े-बड़े नगाड़ोंके शब्दोंसे सब ओर व्याप्त हुआ आकाश उस समय शब्दोंके अधीन हो रहा था अर्थात् चारों ओर शब्द ही शब्द सुनाई पड़ते थे ॥ १०५ ॥

देहोद्योतस्तदेन्द्राणां नभः कृत्स्नमदिद्युतत् । दुन्दुभीनां विपुलं ध्वनिर्विश्वमदिध्वनत् ॥ १०६ ॥

उस समय इन्द्रोंके शरीरकी प्रभा समस्त आकाशको प्रकाशित कर रही थी और दुन्दुभियोंका विपुल तथा मनोहर शब्द समस्त संसारको शब्दायमान कर रहा था ॥ १०६ ॥

सुरेन्द्रकरविक्षिप्तैश्चलद्भिरितस्ततः । तदा हंसायितं व्योम्नि चामराणां कदम्बकैः ॥ १०७ ॥

उस समय इन्द्रोंके हाथोंसे ढुराये जानेके कारण इधर-उधर फिरते हुए चमरोंके समूह आकाशमें ठीक हंसोंके समान जान पड़ते थे ॥ १०७ ॥

ध्वनन्तीषु नभो व्याप्य सुरेन्द्रानककोटिषु । कोटिशः सुरचेटानां करकोणामिताडनैः ॥ १०८ ॥

जिस समय भगवान् पालकीपर आरूढ़ हुए थे, उस समय करोड़ों देवकिंकरोंके हाथोंमें स्थित दण्डोंकी ताड़नासे इन्द्रोंके करोड़ों दुन्दुभि बाजे आकाशमें व्याप्त होकर बज रहे थे ॥ १०८ ॥

नटन्तीषु नभोभागे सुरस्त्रीषु सविभ्रमम् । विचित्रकरणोपेतच्छत्रबन्धादिकादिभिः ॥ १०९ ॥

आकाशरूपी आँगनमें अनेक देवांगनाएँ विलाससहित नृत्य कर रही थीं, उनका नृत्य छत्रबन्ध आदिकी चतुराई तथा आश्चर्यकारी अनेक करणों—नृत्यभेदोंसे सहित था ॥ १०९ ॥

गायन्तीषु सुकण्ठीषु किन्नरीषु कलस्वनम् । श्रवःसुखं वरं चारु परिनिष्क्रमणोत्सवम् ॥ ११० ॥

मनोहर कण्ठवाली किन्नर जातिकी देवियाँ अपने मधुर स्वरसे कानोंको सुख देनेवाले मनोहर और मधुर तपःकल्याणोत्सवका गान कर रही थीं—उस समयके गीत गा रही थीं ॥ ११० ॥

मङ्गलानि पठत्सु च उच्चैः सुरवन्दिषु । तत्कालोचितमन्यच्च वचश्चेतोऽनुरञ्जनम् ॥ १११ ॥

देवोंके वन्दीजन उच्च स्वरसे किन्तु उत्तम शब्दोंसे मंगल पाठ पढ़ रहे थे तथा उस समयके योग्य और सबके मनको अनुरक्त करनेवाले अन्य पाठोंको भी पढ़ रहे थे ॥ १११ ॥

भूतेषूद्भूतहर्षेषु चित्रकेतनधारिषु । नानालास्यैः प्रधावत्सु संमर्दमितस्ततः ॥ ११२ ॥

जिन्हें अत्यन्त हर्ष उत्पन्न हुआ है और जो चित्र-विचित्र अनेक प्रकारकी पताकाएँ लिए हुए हैं ऐसे भूत जातिके व्यन्तर देव भीड़में धक्का देते तथा अनेक प्रकारके नृत्य करते हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे ॥ ११२ ॥

शङ्खानाध्मातगण्डेषु पिण्डीभूताङ्गयष्टिषु । सकाहला विलिप्येषु पूरयत्स्वनुरागः ॥ ११३ ॥

देव लोग बड़े अनुरागसे अपने गालोंको फुलाकर और शरीरको पिण्डके समान संकुचित कर तुरही तथा शंख बजा रहे थे ॥ ११३ ॥

अग्रेसरीषु लक्ष्मीषु पद्मव्यग्रपाणिषु । समं समङ्गलार्घाभिर्दिक्कुमारीभिरादरात् ॥ ११४ ॥

हाथोंमें कमल धारण किये हुई लक्ष्मी आदि देवियाँ आगे-आगे जा रही थीं और बड़े आदरसे मंगल द्रव्य तथा अर्घ लेकर दिक्कुमारी देवियाँ उनके साथ-साथ जा रही थीं ॥ ११४ ॥

इत्यमीषु विशेषेषु वर्तमानेषु यथायथम् । संप्रमोदमयं विश्वमातन्वन्नद्भुतोदयः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार जिस समय यथायोग्य रूपसे अनेक विशेषताएँ हो रही थीं, उस समय अद्भुत वैभवसे शोभायमान भगवान् वृषभदेव समस्त संसारको आनन्दित करते हुए सुशोभित हो रहे थे ॥ ११५ ॥

परार्ध्यरत्ननिर्माणं दिव्यं यानमधिष्ठितः । रत्नक्षोणीप्रतिष्ठस्य श्रियं मेरोर्विडम्बयन् ॥ ११६ ॥

वे अमूल्य रत्नोंसे बनी हुई दिव्य पालकीपर आरूढ़ होकर अयोध्यापुरीसे बाहर निकले। उस समय वे रत्नमयी पृथिवीपर स्थित मेरु पर्वतकी शोभाको तिरस्कृत कर रहे थे ॥ ११६ ॥

> कण्ठाभरणभाभारपरिवेषोपरक्तया । मुखार्कभासा न्यक्कुर्वन् ज्योतिर्ज्योतिषेशिनाम् ॥ ११७ ॥

गलेमें पड़े हुए आभूषणोंकी कान्तिके समूहसे उनके मुखपर जो परिधिके आकारका लाल-लाल प्रभामण्डल पड़ रहा था, उससे उनका मुख सूर्यके समान मालूम होता था; उस मुखरूपी सूर्यकी प्रभासे वे उस समय ज्योतिषी देवोंके इन्द्र अर्थात् चन्द्रमाकी ज्योतिको भी तिरस्कृत कर रहे थे ॥ ११७ ॥

> उत्तमाङ्गलतेनोच्चैः मौलिना विमशित्विषा । धुन्यानोऽग्नीन्द्रमौलीनां त्विषामाविष्कृतार्चिषाम् ॥ ११८ ॥

जिससे मणियोंकी कान्ति निकल रही है ऐसे मस्तकपर धारण किये हुए ऊँचे मुकुटसे वे, जिनसे ज्वाला प्रकट हो रही है ऐसे अग्निकुमार देवोंके इन्द्रोंके मुकुटोंकी कान्तिको भी तिरस्कृत कर रहे थे ॥ ११८ ॥

> किरीटोत्सङ्गसङ्गिस्या सुमनःशेखरस्रजा । मनःप्रसादमात्मीयं मूर्ध्नोद्धृत्य दर्शयन् ॥ ११९ ॥

उनके मुकुटके मध्यमें जो पुष्पोंका सेहरा पड़ा हुआ था, उसकी स्वच्छता द्वारा मानो वे भगवान् अपने मनकी प्रसन्नताको ही मस्तकपर धारण कर लोगोंको दिखला रहे थे ॥ ११९ ॥

> प्रसक्तया दृशोर्भासा द्योतयन् समन्ततः । दृग्विहासं सहस्राक्षे सांन्यासिकमिवार्पयन् ॥ १२० ॥

उनके नेत्रोंकी जो स्वच्छ कान्ति चारों ओर फैल रही थी, उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो इन्द्रके लिए संन्यास धारण करनेके समय होनेवाला नेत्रोंका विलास ही अर्पित कर रहे हों अर्थात् इन्द्रको सिखला रहे हों कि संन्यास धारण करनेके समय नेत्रोंकी दृष्टि इतनी प्रशान्त हो जाती है ॥ १२० ॥

> तिरस्कृताधरच्छायैरीषदुद्भिन्निस्मितांशुभिः । क्षालयन्निव निःशेषं रागशेषं स्वशुद्धिभिः ॥ १२१ ॥

कुछ-कुछ प्रकट होती हुई मुसकानकी किरणोंसे उनके ओठोंकी लाल-लाल कान्ति भी छिप जाती थी, जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपनी विशुद्धिके द्वारा बाकी बचे हुए सम्पूर्ण रागको ही धो रहे हों ॥ १२१ ॥

हारेण हारिणा चारुवक्षःस्थलविलम्बिना । विडम्बयन्निवाद्रीन्द्रं प्रान्तपर्यस्तनिर्झरम् ॥ १२२ ॥

उनके सुन्दर वक्षःस्थलपर जो मनोहर हार पड़ा हुआ था, उससे ये भगवान् जिसके किनारेपर झरना पड़ रहा है ऐसे सुमेरु पर्वतकी भी विडम्बना कर रहे थे ॥ १२२ ॥

भुजाभ्यां शोभया दीप्तकटकाङ्गदभूषया । निरस्यन्निव फणीन्द्राणां फणारत्नरूचां चयम् ॥ १२३ ॥

जिनमें कड़े बाजूबन्द आदि आभूषण चमक रहे हैं, ऐसी अपनी भुजाओंकी शोभासे वे नागेन्द्रोंके फणोंमें लगे हुए मणियोंकी कान्तिके समूहकी भर्त्सना कर रहे थे ॥ १२३ ॥

काञ्चीदामपरिक्षिप्तजघनस्थलीकया । स्वीकुर्वन्निव वेद्या रुद्धजम्बूद्वीपस्थलश्रियम् ॥ १२४ ॥

करधनीसे घिरे हुए जघनस्थलकी शोभासे भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो वेदिकासे घिरे हुए जम्बूद्वीपकी शोभा ही स्वीकृत कर रहे हों ॥ १२४ ॥

क्रमोपधानपर्यन्तलसत्पदनखांशुभिः । प्रसादांशैरिवाशेषं पुनानः प्रणतं जनम् ॥ १२५ ॥

ऊपरकी दोनों गाँठोंतक देदीप्यमान होती हुई पैरोंके नखोंकी किरणोंसे वे भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो नमस्कार करते हुए सम्पूर्ण लोगोंको अपनी प्रसन्नताके अंशोंसे पवित्र ही कर रहे हों ॥ १२५ ॥

न्यक्कृताकर्तुरुचा स्वाङ्गदीप्त्या व्याप्तककुब्मुखः । स्वेनौजसाधरीकुर्वन् सर्वान् गीर्वाणनायकान् ॥ १२६ ॥

उस समय सूर्यकी कान्तिको भी तिरस्कृत करनेवाली अपने शरीरकी दीप्तिसे जिन्होंने सब दिशाएँ व्याप्त कर ली हैं, ऐसे भगवान् वृषभदेव अपने ओजसे समस्त इन्द्रोंको नीचा दिखा रहे थे ॥ १२६ ॥

इति प्रत्यङ्गसङ्गिन्या नैःसङ्ग्योचितया श्रिया । निर्वासयन्निवासीङ्गं कालोपलालिताम् ॥ १२७ ॥

इस प्रकार प्रत्येक अंग-उपांगोंसे सम्बन्ध रखनेवाली वैराग्यके योग्य शोभासे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो चिरकालसे पालन-पोषण की हुई परिग्रहकी आसक्तिको ही बाहर निकाल रहे हों ॥ १२७ ॥

> प्रोद्धूतेन सितच्छत्रमण्डलेनामलत्विषा । विधुनेवोपरिस्थेन सेव्यमानः क्लमच्छिदा ॥ १२८ ॥

ऊपर लगे हुए निर्मल कान्तिवाले सफेद छत्रके मण्डलसे वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो क्लेशोंको दूर करनेवाला चन्द्रमा ही ऊपर आकर उनकी सेवा कर रहा हो ॥ १२८ ॥

> प्रकीर्णकप्रतानेन विधूतेनामरेश्वरैः । जन्मोत्सवक्षणप्रीत्या क्षीरोदेनेव सेवितः ॥ १२९ ॥

इन्द्रोंके द्वारा डुलाये हुए चामरोंके समूहसे भगवान् ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो जन्मकल्याणकके क्षण-भरके प्रेमसे क्षीरसागर ही आकर उनकी सेवा कर रहा हो ॥ १२९ ॥

> इत्याविष्कृतमाहात्म्यः सुरेन्द्रैः परितो वृतः । पुरुः पुराद् विनिष्क्रान्तः पौरैरित्यभिनन्दितः ॥ १३० ॥

इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार जिनका माहात्म्य प्रकट हो रहा है और अनेक इन्द्र जिन्हें चारों ओरसे घेरे हुए हैं, ऐसे वे भगवान् वृषभदेव अयोध्यापुरीसे बाहर निकले। उस समय नगरनिवासी लोग उनकी इस प्रकार स्तुति कर रहे थे ॥ १३० ॥

> प्रयात सिद्धये जगन्नाथ शिवः पन्थाः समस्तु ते । निष्पादितार्थः पुनरप्यागन्तव्यं त्वया चिरात् ॥ १३१ ॥

हे जगन्नाथ! आप कार्यकी सिद्धिके लिए जाइए, आपका मार्ग कल्याणमय हो और हे देव! आप अपना कार्य पूरा कर फिर भी शीघ्र ही हम लोगोंके दृष्टिगोचर होइए ॥ १३१ ॥

> नाथानाथं जनं त्रातुं नान्यस्त्वमिव कर्मठः । तस्मादस्मत्परित्राणे प्रणिधेहि मनः पुनः ॥ १३२ ॥

हे नाथ! अनाथ पुरुषोंकी रक्षा करनेके लिए आपके समान और कोई भी समर्थ नहीं है, इसलिए हम लोगोंकी रक्षा करनेमें आप अपना मन फिर भी लगाइए ॥ १३२ ॥

> परानुग्रहकारीणि चेष्टितानि तवाभवन् । निष्प्रतीपं विहायास्मान् कोऽनुग्राह्यस्त्वयापरः ॥ १३३ ॥

हे प्रभो! आपकी समस्त चेष्टाएँ पुरुषोंका उपकार करनेवाली होती हैं, आप बिना कारण ही हम लोगोंको छोड़कर अब और किसका उपकार करेंगे? ॥ १३३ ॥

> इति व्याहृतं प्रसभं च सानुतर्षं सनातनम् । तैस्तैः संजल्पितं पौरैरारात् प्रणमद्भिः ॥ १३४ ॥

इस प्रकार कितने ही नगरनिवासियोंने दूरसे ही मस्तक झुकाकर प्रशंसनीय, स्पष्ट अर्थको कहनेवाले और कामनासहित प्रार्थनाके वचन कहे थे ॥ १३४ ॥

> अहो स भगवान् दूरं देवैरुत्क्षिप्य नीयते । न विद्मः कारणं किञ्चित् क्रीडेयमथवेदृशी ॥ १३५ ॥

उस समय कितने ही नगरवासी परस्परमें ऐसा कह रहे थे कि देव लोग भगवानको पालकीपर सवार कर कहीं दूर ले जा रहे हैं परन्तु हम लोग इसका कारण नहीं जानते अथवा भगवानकी यह कोई ऐसी ही क्रीड़ा होगी ॥ १३५ ॥

> भवेदपि भवेदेतन्नीतो मेरुं पुराप्ययम् । प्रत्यानीतश्च नाकीन्द्रैर्जन्मोत्सवविधिं स्पृशा ॥ १३६ ॥

अथवा यह भी हो सकता है कि पहले इन्द्र लोग जन्मोत्सव करनेकी इच्छासे भगवानको मेरु पर्वतपर ले गये थे और फिर वापस ले आये थे ॥ १३६ ॥

> स एवाद्यापि वृत्तान्तो जात्वस्मद्भाग्यतो भवेत् । ततो न काचनास्माकं व्यथेत्यन्ये मिथोऽब्रुवन् ॥ १३७ ॥

कदाचित् हम लोगोंके भाग्यसे आज फिर भी वही वृत्तान्त हो, इसलिए हम लोगोंको कोई दुःखकी बात नहीं है ॥ १३७ ॥

> अयमेव भगवान् भानुरास्थितः शिविकामिमाम् । देदीप्यतेऽम्बरे धाम्भिः प्रतुदन्निव नो दृशः ॥ १३८ ॥

कितने ही लोग आश्चर्यके साथ कह रहे थे कि पालकीपर सवार हुए ये भगवान् क्या साक्षात् सूर्य हैं? क्योंकि ये सूर्यकी तरह ही अपनी प्रभाके द्वारा हमारे नेत्रोंकी चकाचौंध करते हुए आकाशमें देदीप्यमान हो रहे हैं ॥ १३८ ॥

> एतमौलिविभात्युच्चैस्तप्तचामीकरच्छविः । विभुर्मध्ये सुरेन्द्राणां कुलाद्रीणामिवाद्रिराट् ॥ १३९ ॥

जिस प्रकार कुलाचलोंके बीच चूलिकासहित सुवर्णमय सुमेरु पर्वत शोभित होता है उसी प्रकार इन्द्रोंके बीच मुकुट धारण किये और तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिको धारण किये हुए भगवान् बहुत ही सुशोभित हो रहे हैं ॥ १३९ ॥

> विभोरग्रमुखां दृष्टिं दधानोऽद्भुतविक्रियः । कः स्विदज्ञातरूपोऽस्याज्ञाकरः स्यात् पुरन्दरः ॥ १४० ॥

जो भगवानके ठीक सामने अपनी दृष्टि लगाये हुए है और जिसकी विक्रियाएँ अनेक आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली हैं ऐसा यह कौन है? हाँ, मालूम हो गया कि यह भगवानका आज्ञाकारी सेवक इन्द्र है ॥ १४० ॥

> शिविकावाहिनामेषामङ्गभासो महौजसाम् । समन्तात् प्रोल्लसन्त्येतास्तडितामिव रीतयः ॥ १४१ ॥

इधर देखो, यह पालकी ले जानेवाले महातेजस्वी देवोंके शरीरकी प्रभा चारों ओर फैल रही है और ऐसी मालूम होती है मानो बिजलियोंका समूह ही हो ॥ १४१ ॥

> महत्पुण्यमहो भर्तुरवाङ्मनसगोचरम् । पश्यतानिमिषानेतान् प्रप्रणम्रानितस्ततः ॥ १४२ ॥

अहा, भगवानका पुण्य बहुत ही बड़ा है, वह न तो वचनसे ही कहा जा सकता है और न मनसे ही उसका विचार किया जा सकता है। इधर-उधर भक्तिके भारसे झुके हुए—प्रणाम करते हुए इन देवोंको देखो ॥ १४२ ॥

> इतो मधुरगम्भीरं ध्वनन्त्येते महाणवाः । इतो मन्द्रं मृदङ्गानामुच्चैरूच्चरति ध्वनिः ॥ १४३ ॥

इधर ये देवोंके नगाड़े मधुर और गम्भीर शब्दोंसे बज रहे हैं और इधर यह मृदंगोंका गम्भीर तथा जोरका शब्द हो रहा है ॥ १४३ ॥

इतो नृत्तमितो गीतमितः संगीतमुत्तमम् । इतश्चामरसंघात इतश्चामरसंहतिः ॥ १४४ ॥

इधर नृत्य हो रहा है, इधर गीत गाये जा रहे हैं, इधर संगीत मंगल हो रहा है, इधर चमर ढुराये जा रहे हैं और इधर देवोंका अपार समूह विद्यमान है ॥ १४४ ॥

संचारी दिवि देवाः साप्सराः सविमानकाः । किं वाऽपूर्वमिदं चित्रं लिखितं व्योम्नि केनचित् ॥ १४५ ॥

क्या यह चलता हुआ स्वर्ग है जो अप्सराओं और विमानोंसे सहित है अथवा आकाशमें यह किसीने अपूर्व चित्र लिखा है? ॥ १४५ ॥

किमिन्द्रजालमेतत् स्यादुतास्मन्मतिविभ्रमः । अदृष्टपूर्वमाश्चर्यमीदृशं न हि जातुचित् ॥ १४६ ॥

क्या यह इन्द्रजाल है—जादूगरका खेल है अथवा हमारी बुद्धिका भ्रम है? यह आश्चर्य निश्चय ही अदृष्टपूर्व है, ऐसा आश्चर्य हम लोगोंने पहले कभी नहीं देखा था ॥ १४६ ॥

इति कैश्चित्तदाश्चर्यं पश्यद्भिः प्राप्तविस्मयैः । पुरतः संजल्पितं पौरजल्पकैः सविकल्पकैः ॥ १४७ ॥

इस प्रकार अनेक विकल्प करनेवाले तथा बहुत बोलनेवाले नगरनिवासी लोग भगवानके उस आश्चर्य (अतिशय) को देखकर विस्मयके साथ बहुत-सी बातें कर रहे थे ॥ १४७ ॥

यदा प्रभृति देवोऽयमवतीर्णो धरातलम् । तदा प्रभृति देवानां न गत्यागतिविच्छिदा ॥ १४८ ॥

अनेक पुरुष कह रहे थे कि जबसे इन भगवानने पृथिवीतलपर अवतार लिया है तबसे यहाँ देवोंके आने-जानेमें अन्तर नहीं पड़ता—बराबर देवोंका आना-जाना बना रहता है ॥ १४८ ॥

नृत्यं नीलाञ्जनाख्यायाः पश्यतः सुरयोषितः । उदपादि विभोर्भोगे वैराग्यमनिमित्तकम् ॥ १४९ ॥

नीलांजना नामकी देवांगनाका नृत्य देखते-देखते ही भगवानको बिना किसी अन्य कारणके भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न हो गया है ॥ १४९ ॥

> तत्कालोपनतैर्योग्यैः सुरैर्लौकान्तिकाभिधैः । बोधितस्यास्य वैराग्ये दृढमासीत्ततो मनः ॥ १५० ॥

उसी समय आये हुए माननीय लौकान्तिक देवोंने भगवानको सम्बोधित किया जिससे उनका मन वैराग्यमें और भी अधिक दृढ़ हो गया है ॥ १५० ॥

> विरक्तः कामभोगेभ्यः स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः । सवस्तुवाहनं राज्यं तृणवन्मन्यतेऽधुना ॥ १५१ ॥

काम और भोगोंसे विरक्त हुए भगवान् अपने शरीरमें भी निःस्पृह हो गये हैं, अब वे महल, सवारी तथा राज्य आदिको तृणके समान मान रहे हैं ॥ १५१ ॥

> यथान्धः करटिः स्वैरविहारसुखलिप्सया । प्रविविक्षुर्वनं देवः सुरैः प्रोत्साह्य नीयते ॥ १५२ ॥

जिस प्रकार अपनी इच्छानुसार विहार करनेरूप सुखकी इच्छासे अन्धा हाथी वनमें प्रवेश करता है उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव भी स्वातन्त्र्य सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे वनमें प्रवेश करना चाहते हैं और देव लोग प्रोत्साहित कर उन्हें ले जा रहे हैं ॥ १५२ ॥

> स्वाधीनं सुखमस्त्येव वनेऽपि वसतः प्रभोः । प्रजानां क्षेमवृत्त्यै च पुत्रौ राज्ये निवेशितौ ॥ १५३ ॥

यदि भगवान् वनमें भी रहेंगे तो भी सुख स्वाधीन ही है और प्रजाके सुखके लिए उन्होंने अपने पुत्रोंको राज्य-सिंहासनपर बैठा दिया है ॥ १५३ ॥

> यात्रेयं प्रस्तुता यात्रा भूयाद् भर्तुः सुखावहा । दिष्ट्याऽयं वर्धतां लोको विषीदन्मा स्म कश्चन ॥ १५४ ॥

इसलिए भगवानकी प्रारम्भ की हुई यह यात्रा उन्हें सुख देनेवाली हो तथा ये लोग भी अपने भाग्यसे वृद्धिको प्राप्त हों, कोई विषाद मत करो ॥ १५४ ॥

> सुचिरं जीवताद्देवो जयतादभिनन्द्यतात् । प्रत्यावृत्तः पुनश्चास्मान् रक्षतादक्षतात्मनः ॥ १५५ ॥

अक्षतात्मा अर्थात् जिनका आत्मा कभी भी नष्ट होनेवाला नहीं है ऐसे भगवान् वृषभदेव चिरकालतक जीवित रहें, विजयको प्राप्त हों, समृद्धिमान् हों और फिर लौटकर हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ १८५ ॥

> दीयतेऽद्य महादानं भरतेन महात्मना । विभोराज्ञां समासाद्य जगदाशाप्रपूरणम् ॥ १८६ ॥

महात्मा भरत आज विभुकी आज्ञा लेकर जगत् की आशाएँ पूर्ण करनेवाला महादान दे रहे हैं ॥ १८६ ॥

> वितीर्णेनामुना भूयात् तृप्तिश्चामीकरेण वः । तुरङ्गैरितश्चायोग्यैरितश्चामी करेशवः ॥ १८७ ॥

इधर भरतने जो यह सुवर्ण दान दिया है उससे तुम सबको सन्तोष हो, इधर पलानोंसहित घोड़े दिये जा रहे हैं और इधर ये हाथी वितरण किये जा रहे हैं ॥ १८७ ॥

> इत्युन्मुग्धैः प्रबुद्धैश्च जनालापैः पृथग्विधैः । श्लाघ्यमानः शनैर्नाथः पुरोपान्तं व्यतीत्यिवान् ॥ १८८ ॥

इस प्रकार अजान और ज्ञानवान् सब ही मनुष्योंके अनेक प्रकारके वचनों द्वारा जिनकी स्तुति की जा रही है ऐसे भगवान् वृषभदेवने धीरे-धीरे नगरके बाहर समीपवर्ती प्रदेशको पार किया ॥ १८८ ॥

> ततो संप्रस्थिते भर्तरि यशस्वत्यादिभिः स्त्रियः । अनुप्रचेलुरीशानं शुचान्तर्बाष्पलोचनाः ॥ १८९ ॥

अथानन्तर भगवानके प्रस्थान करनेपर यशस्वती आदि रानियाँ मन्त्रियोंसहित भगवान् के पीछे-पीछे चलने लगीं, उस समय शोकसे उनके नेत्रोंमें आँसू भर रहे थे ॥ १८९ ॥

> लता इव परिम्लानगात्रशोभा विभूषणाः । स्खलत्पदन्यासमन्वजग्मुर्जगत्पतिम् ॥ १९० ॥

लताओंके समान उनके शरीरकी शोभा म्लान हो गयी थी, उन्होंने आभूषण भी उतारकर अलग कर दिये थे और कितनी ही डगमगाते पैर रखती हुई भगवानके पीछे-पीछे जा रही थीं ॥ १९० ॥

> शोकानिलहताः काश्चिदुद्भूतमानसात्ययः । निपेतुर्धरणीपृष्ठे मूर्च्छामीलितलोचनाः ॥ १९१ ॥

कितनी ही स्त्रियाँ शोकरूपी अग्निसे जर्जरित हो रही थीं, उनकी शरीरयष्टि कम्पित हो रही थी और नेत्र मूर्च्छासे निमीलित हो रहे थे; इन सब कारणोंसे वे जमीनपर गिर पड़ी थीं ॥ १६१ ॥

> क्व प्रस्थितोऽसि हा नाथ क्व गत्वास्मान् प्रतीक्षसे । कियदूर्ध्वं च गन्तव्यमित्यन्या मुमुहुर्मुहुः ॥ १६२ ॥

कितनी ही देवियाँ बार-बार यह कहती हुई मूर्च्छित हो रही थीं कि हा नाथ! आप कहाँ जा रहे हैं? कहाँ जाकर हम लोगोंकी प्रतीक्षा करेंगे और अब आपको कितनी दूर जाना है? ॥ १६२ ॥

> हृदये विद्रुतं स्तनयोरुत्कम्पं तनौ । वाचि गद्गदतामक्ष्णोर्बाष्पं चान्याः पृथग् दधुः ॥ १६३ ॥

वे देवियाँ हृदयमें धड़कनको, स्तनोंमें उत्कम्पको, शरीरमें म्लानताको, वचनोंमें गद्गदताको और नेत्रोंमें आँसुओंको धारण कर रही थीं ॥ १६३ ॥

> अमङ्गलमलं बाले रुदत्येति निवारिता । काचिदन्तर्निरुद्धाश्रुः स्फुटन्तीव शुचाभवत् ॥ १६४ ॥

हे बाले! रोकर अमंगल मत कर, इस प्रकार निवारण किये जानेपर किसी स्त्रीने रोना तो बन्द कर दिया था परन्तु उसके आँसू नेत्रोंके भीतर ही रुक गये थे इसलिए वह ऐसी जान पड़ती थी मानो शोकसे फूट रही हो ॥ १६४ ॥

> प्रस्थानमङ्गलं भङ्क्तुमक्षमाः काप्युदश्रुकम् । शुचामन्तःप्रविष्टेव दृक्पुत्रिकाच्छलात् ॥ १६५ ॥

कोई स्त्री प्रस्थानकालके मंगलको भंग करनेके लिए असमर्थ थी इसलिए उसने आँसुओंको नीचे गिरनेसे रोक लिया परन्तु ऐसा करनेसे उसके नेत्र आँसुओंसे भर गए थे जिससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो नेत्रोंकी पुतलिकाके छलसे शोकके भीतर ही प्रविष्ट हो गयी हो ॥ १६५ ॥

> गतिसंभ्रमविच्छिन्नहारव्याकीर्णमौक्तिकाः । स्थूलानश्रुलवान् काश्चिदुत्सृजन्त्यस्तच्छद्मना ॥ १६६ ॥

शीघ्र चलनेके कारण कितनी ही स्त्रियोंके हार टूट गये थे और उनके मोती बिखर गये थे, उन बिखरे हुए मोतियोंसे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो मोतियोंके छलसे आँसुओंकी बड़ी-बड़ी बूँदें ही छोड़ रही हों ॥ १६६ ॥

विस्रस्तकबरीभारा विगलत्कुसुमस्त्रजः । स्रस्तस्तनांशुकाः काश्चिच्छोच्यां दशामधुः ॥ १६७ ॥

कितनी ही स्त्रियोंके केशपाश खुलकर नीचेकी ओर लटकने लगे थे, उनमें लगी हुई फूलोंकी मालाएँ नीचे गिरती जा रही थीं, उनके स्तनोंपरके वस्त्र भी शिथिल हो गये थे और आँखोंसे आँसू बह रहे थे; इस प्रकार वे शोचनीय दशाको धारण कर रही थीं ॥ १६७ ॥

उत्क्षिप्य शिविकास्वन्या निक्षिप्ताः शोकविह्वलाः । कथंकथमपि प्राणैर्न व्ययुज्यन्त सान्त्विताः ॥ १६८ ॥

कितनी ही स्त्रियाँ शोकसे अत्यन्त विह्वल हो गयी थीं इसलिए लोगोंने उठाकर उन्हें पालकियोंमें रख दिया था तथा अनेक प्रकारसे सान्त्वना दी थी, समझाया था। इसीलिए वे जिस किसी तरह प्राणोंसे वियुक्त नहीं हुई थीं—जीवित बची थीं ॥ १६८ ॥

काश्चिद्धीराक्ष्यो धीरिताः स्वामिसम्पदा । विभुमन्वीयुरव्यग्रा अनुव्रताः पतिव्रताः ॥ १६९ ॥

धीर-वीर किन्तु चंचल नेत्रोंवाली कितनी ही राजपत्रियाँ अपने स्वामीके विभवसे ही (देवों द्वारा किये हुए सम्मानसे ही) सन्तुष्ट हो गयी थीं इसलिए वे पतिव्रताएँ बिना किसी आकुलताके भगवानके पीछे-पीछे जा रही थीं ॥ १६९ ॥

प्रस्थानमङ्गले जाते नाभिजातं प्ररोदनम् । सार्थः शनैरनुग्राह्यो मातर्मा स्म रुदः पुनः ॥ १७० ॥

हे माता! यह भगवानका प्रस्थानमंगल हो रहा है इसलिए अधिक रोना अच्छा नहीं, धीरे-धीरे स्वामीके पीछे-पीछे चलना चाहिए। शोक मत करो ॥ १७० ॥

त्वर्यतां त्वर्यतां देवि शोकवेगोऽपवार्यताम् । पश्यायं नीयते देवैर्दिष्ट्यास्मद्दृष्टिगोचरे ॥ १७१ ॥

हे देवि! शीघ्रता करो, शीघ्रता करो, शोकके वेगको रोको, यह देखो देव लोग भगवानको लिये जा रहे हैं, अहो हमारे पुण्योदयसे भगवान् हमारे दृष्टिगोचर हो रहे हैं—हम लोगोंको दिखाई दे रहे हैं ॥ १७१ ॥

इत्यन्तःपुरवृद्धाभिर्मुहुराश्वासिता सती । यशस्वती सुनन्दा च प्रतस्थे पादचारिणी ॥ १७२ ॥

इस प्रकार अन्तःपुरकी वृद्ध स्त्रियोंके द्वारा समझायी गयी यशस्वती और सुनन्दा देवी पैदल ही चल रही थीं ॥ १७२ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन मुक्तसर्वपरिच्छदाः । देव्यो यथाश्रुतं भर्तुरनुमार्गं प्रतस्थिरे ॥ १७३ ॥

इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है, उन देवियोंने ज्यों ही भगवानके जानेके समाचार सुने त्यों ही उन्होंने अपने छत्र चमर आदि सब परिकर छोड़ दिये थे और भगवानके पीछे-पीछे चलने लगी थीं ॥ १७३ ॥

मा भूद् व्याकुलता काचिद् भर्तुरित्यनुयायिभिः । रुद्धः सर्वावरोधस्त्रीसार्थः कस्मिंश्चिदन्तरे ॥ १७४ ॥

भगवानको किसी प्रकारकी व्याकुलता न हो यह विचारकर उनके साथ जानेवाले वृद्ध पुरुषोंने 'यह भगवानकी आज्ञा है' ऐसा कहकर किसी स्थानपर अन्तःपुरकी समस्त स्त्रियोंके समूहको रोक दिया ॥ १७४ ॥

ब्रुवाणैर्भर्तुराज्ञेति राज्ञो वृद्धैर्महत्तरैः । रोधः सरितामोघः प्रवृद्धोऽपि यथार्णवैः ॥ १७५ ॥

और जिस प्रकार नदियोंका बढ़ा हुआ प्रवाह समुद्रसे रुक जाता है उसी प्रकार वह रानियोंका समूह भी वृद्ध पुरुषों (प्रतीहारों) से रुक गया था ॥ १७५ ॥

निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च निन्दन् सौभाग्यमात्मनः । न्यवृत्तस्त्रासनैराश्यो नृपवल्लभिकाजनः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार रानियोंका समूह लम्बी और गरम साँस लेकर आगे जानेसे बिलकुल निराश होकर अपने सौभाग्यकी निन्दा करता हुआ घरको वापस लौट गया ॥ १७६ ॥

महादेव्यौ तु शुद्धान्तमुख्याभिः परिचारिते । भर्तुरिच्छानुवर्तिन्यावन्वगातां सुपूजिते ॥ १७७ ॥

किन्तु स्वामीकी इच्छानुसार चलनेवाली यशस्वती और सुनन्दा ये दोनों ही महादेवियाँ अन्तःपुरकी मुख्य-मुख्य स्त्रियोंसे परिवृत होकर पूजाकी सामग्री लेकर भगवानके पीछे-पीछे जा रही थीं ॥ १७७ ॥

मरुदेव्या समं नाभिराजो राजशतैर्वृतः । विलोकयितुमेवागाद् विभोर्निष्क्रमणोत्सवम् ॥ १७८ ॥

उस समय महाराज नाभिराज भी मरुदेवी तथा सैकड़ों राजाओंसे परिवृत होकर भगवानके तपकल्याणका उत्सव देखनेके लिए उनके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ १७८ ॥

ततः पौरजनैः सार्धं पार्थिवैश्च महान्वयैः । सानुजो भरताधीशो महर्द्ध्याऽन्वगमद् विभुम् ॥ १७९ ॥

सम्राट् भरत भी नगरनिवासियों, मन्त्रियों, उच्च वंशमें उत्पन्न हुए राजाओं और अपने छोटे भाइयोंके साथ-साथ बड़ी भारी विभूति लेकर भगवानके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥ १७९ ॥

नातिदूरं खमुत्पत्य जनानां दृष्टिगोचरे । यथोक्तैर्मङ्गलारम्भैः प्रस्थानमकरोत् प्रभुः ॥ १८० ॥

भगवानने आकाशमें इतनी थोड़ी दूर जाकर कि जहाँसे लोग उन्हें अच्छी तरहसे देख सकते थे, ऊपर कहे हुए मंगलारम्भके साथ प्रस्थान किया ॥ १८० ॥

नातिदूरे पुरस्यास्य नात्यासन्नेऽतिविस्तृतम् । सिद्धार्थकवनोद्देशमभिप्रायाज् जगद्गुरुः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव अत्यन्त विस्तृत सिद्धार्थ नामके वनमें जा पहुँचे, वह वन उस अयोध्यापुरीसे न तो बहुत दूर था और न बहुत निकट ही था ॥ १८१ ॥

ततः प्राप सुरेन्द्राणां रसना व्याप्य रोदसी । वयोवनेरिवाद्वाह्यं कुर्वत् सिद्धार्थकं वनम् ॥ १८२ ॥

तदनन्तर इन्द्रोंकी सेना भी आकाश और पृथिवीको व्याप्त करती हुई उस सिद्धार्थक वनमें जा पहुँची। उस वनमें अनेक पक्षी शब्द कर रहे थे इसलिए वह उनसे ऐसा मालूम होता था मानो इन्द्रोंकी सेनाको बुला ही रहा हो ॥ १८२ ॥

तत्रैकस्मिन् शिलापट्टे सुरैः प्रागुपकल्पिते । प्रथीयसि शुचौ स्वस्मिन् परिणाम इवोन्नते ॥ १८३ ॥

उस वनमें देवोंने एक शिला पहलेसे ही स्थापित कर रखी थी, वह शिला बहुत ही विस्तृत थी, पवित्र थी और उनके परिणामोंके समान उन्नत थी ॥ १८३ ॥

> चन्द्रकान्तमये चन्द्रकान्तशोभावभासिनि । पुञ्जीभूत इवैकत्र स्वस्मिन् यशसि निर्मले ॥ १८४ ॥

वह चन्द्रकान्त मणियोंकी बनी हुई थी और चन्द्रमाकी सुन्दर शोभाकी हँसी कर रही थी इसलिए ऐसी मालूम होती थी मानो एक जगह इकट्ठा हुआ भगवानका निर्मल यश ही हो ॥ १८४ ॥

> स्वभावभास्वरे रम्ये सुवृत्तपरिमण्डले । सिद्धक्षेत्र इव द्रष्टुं ययौ भूतिं नभस्तलात् ॥ १८५ ॥

वह स्वभावसे ही देदीप्यमान थी, रमणीय थी और उसका घेरा अतिशय गोल था इसलिए वह ऐसी मालूम होती थी मानो भगवानके तपःकल्याणककी विभूति देखनेके लिए सिद्धक्षेत्र ही पृथिवीपर उतर आया हो ॥ १८५ ॥

> सुशीतलतरुच्छायानिरुद्धोष्णकरत्विषि । पर्यन्तशाखिशाखाग्रविगलत्कुसुमोत्करे ॥ १८६ ॥

वृक्षोंकी शीतल छायासे उसपर सूर्यका आतप रुक गया था और चारों ओर उगे हुए वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभागसे उसपर फूलोंके समूह गिर रहे थे ॥ १८६ ॥

> श्रीखण्डजलदत्ताच्छच्छटामङ्गलसङ्गते । शच्याः स्वहस्तविन्यस्तरत्नचूर्णोपहारके ॥ १८७ ॥

वह शिला घिसे हुए चन्दन द्वारा दिये गए मांगलिक छींटोंसे युक्त थी तथा उसपर इन्द्राणीने अपने हाथोंसे रत्नोंके चूर्णके उपहार खींचे थे—चौक वगैरह बनाये थे ॥ १८७ ॥

> विकटोत्कटपटीक्लृप्तविचित्रपटमण्डपे । मन्दानिलचलच्चित्रकेतुमालातताम्बरे ॥ १८८ ॥

उस शिलापर बड़े-बड़े वस्त्रोंका आश्चर्यकारी मण्डप बनाया गया था तथा मन्द-मन्द वायुसे हिलती हुई अनेक रंगकी पताकाओंसे उसपरका आकाश व्याप्त हो रहा था ॥ १८८ ॥

> समन्तादुरुधूपोधूधूपामोदितदिङ्मुखे । पर्यन्तनिहितानल्पमङ्गलद्रव्यसम्पदि ॥ १८९ ॥

उस शिलाके चारों ओर उठते हुए धूपके धुओंसे दिशाएँ सुगन्धित हो गयी थीं तथा उस शिलाके समीप ही अनेक मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ रखी हुई थीं ॥ १८९ ॥

> इत्यनल्पगुणे तस्मिन् प्रशस्तवास्तुप्रतिष्ठिते । यानादवातरद् देवः सुरैः क्ष्मामुपतारितात् ॥ १९० ॥

इस प्रकार जिसमें अनेक गुण विद्यमान हैं तथा जो उत्तम घरके लक्षणोंसे सहित है ऐसी उस शिलापर, देवों द्वारा पृथिवीपर रखी गयी पालकीसे भगवान् वृषभदेव उतरे ॥ १९० ॥

> कृतजन्माभिषेकर्द्धिं या शिला पाण्डुकाह्वया । द्युतिं शिलापट्टे विभुस्तस्याः समस्मरत् ॥ १९१ ॥

उस शिलापट्टको देखते ही भगवानको जन्माभिषेककी विभूति धारण करनेवाली पाण्डुकशिलाका स्मरण हो आया ॥ १९१ ॥

> तत्र स्थित्वा क्षणं वासोद्यौ यथास्वमनुशासनैः । विभुः सभाजयामास सभां सन्नुसुरासुराम् ॥ १९२ ॥

तदनन्तर भगवानने क्षण-भर उस शिलापर आसीन होकर मनुष्य, देव तथा धरणेन्द्रोंसे भरी हुई उस सभाको यथायोग्य उपदेशोंके द्वारा सम्मानित किया ॥ १९२ ॥

> भूयोऽपि भगवानुच्चैर्गिरा मन्द्रगभीरया । आपप्रच्छे जगद्बन्धुर्बन्धून् निःस्नेहबन्धनः ॥ १९३ ॥

वे भगवान् जगत् के बन्धु थे और स्नेहरूपी बन्धनसे रहित थे। यद्यपि वे दीक्षा धारण करनेके लिए अपने बन्धुवर्गोंसे एक बार पूछ चुके थे तथापि उस समय उन्होंने फिर भी ऊँची और गम्भीर वाणी द्वारा उनसे पूछा—दीक्षा लेनेकी आज्ञा प्राप्त की ॥ १९३ ॥

> प्रशान्तेऽथ जनक्षोभे दूरे प्रोत्सारिते जने । संगीतसङ्गलारम्भे सुप्रयुक्ते प्रगेतने ॥ १९४ ॥

तदनन्तर जब लोगोंका कोलाहल शान्त हो गया था, सब लोग दूर वापस चले गए थे और प्रातःकालके गम्भीर मंगलगोतोंका प्रारम्भ हो रहा था ॥ १९४ ॥

> ध्येययवनिकां स्थित्वा सुरेन्द्रे परिचारिणि । तत्र समतां सम्यग्भावयन् शुभभावनः ॥ १९५ ॥

तथा इन्द्र स्वयं भगवानकी परिचर्या कर रहा था, तब जिन्होंने अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह छोड़ दिया है और परिग्रहरहित रहनेकी प्रतिज्ञा की है ॥ १९५ ॥

> व्युत्सृष्टान्तर्बहिःसङ्गो नैःसङ्ग्ये कृतसंगरः । वस्त्राभरणमाल्यानि व्यसृजन्मोहहानये ॥ १९६ ॥

जो संसारकी सब वस्तुओंमें समताभावका विचार कर रहे हैं और जो शुभ भावनाओंसे सहित हैं, ऐसे उन भगवान् वृषभदेवने यवनिकाके भीतर मोहको नष्ट करनेके लिए वस्त्र, आभूषण तथा माला वगैरहका त्याग किया ॥ १९६ ॥

> तदङ्गविरहाद् भेजुर्विच्छायत्वं तदा भृशम् । दीप्तान्याभरणानि प्राक् स्थानभ्रंशे हि का रुचिः ॥ १९७ ॥

जो आभूषण पहले भगवानके शरीरपर बहुत ही देदीप्यमान हो रहे थे वे ही आभूषण उस समय भगवानके शरीरसे पृथक् हो जानेके कारण कान्तिरहित अवस्थाको प्राप्त हो गए थे, सो ठीक ही है; क्योंकि स्थानभ्रष्ट हो जानेपर कौन-सी कान्ति रह सकती है? अर्थात् कोई भी नहीं ॥ १९७ ॥

> दासीदासगवाश्वादि यत्किञ्चन सचेतनम् । मणिमुक्ताप्रवालादि यच्च द्रव्यमचेतनम् ॥ १९८ ॥

दासी, दास, गौ, बैल आदि जितना कुछ चेतन परिग्रह था और मणि, मुक्ता, मूँगा आदि जो कुछ अचेतन द्रव्य था ॥ १९८ ॥

> तदशेषं विभुस्त्यक्त्वा निरपेक्षं त्रिसाक्षिकम् । निष्परिग्रहतामुख्यामास्थाय व्रतभावनाम् ॥ १९९ ॥

उस सबका जिसमें निष्परिग्रहताकी ही मुख्यता है ऐसी व्रतोंकी भावना धारण कर, भगवान् वृषभदेवने अपेक्षारहित होकर अपनी, देवोंकी और सिद्धोंकी साक्षीपूर्वक परित्याग कर दिया था ॥ १९९ ॥

ततः प्राङ्मुखमास्थित्वा कृतसिद्धनमस्क्रियः । केशानलमुचादावद्धपल्यङ्कः पञ्चमुष्टिकम् ॥ २०० ॥

तदनन्तर भगवान् पूर्व दिशाकी ओर मुँह कर पद्मासनसे विराजमान हुए और सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार कर उन्होंने पंचमुष्टियोंमें केश-लोंच किया ॥ २०० ॥

संनिलूच्य बहुमोहाग्रवल्लरीः केशसन्ततीः । जातरूपधरो धीरो जैनीं दीक्षामुपाददे ॥ २०१ ॥

धीर-वीर भगवान् वृषभदेवने मोहनीय कर्मकी मुख्य लताओंके समान बहुत-सी केशरूपी लताओंका लोंच कर दिगम्बर रूपके धारक होते हुए जिनदीक्षा धारण की ॥ २०१ ॥

आसाद्य च परं सावद्याद्विरतः सामायिकं व्रतम् । व्रतगुप्तिसमित्यादीन् तद्भेदान् जगृहे विभुः ॥ २०२ ॥

भगवानने समस्त पापारम्भसे विरक्त होकर सामायिक-चारित्र धारण किया तथा व्रत, गुप्ति, समिति आदि चारित्रके भेद ग्रहण किए ॥ २०२ ॥

चैत्रे मास्यसिते पक्षे सुमुहूर्ते शुभोदये । नवम्यामुत्तराषाढे सायाह्नेऽदीक्षत विभुः ॥ २०३ ॥

भगवान् वृषभदेवने चैत्र मासके कृष्ण पक्षकी नवमीके दिन सायंकालके समय दीक्षा धारण की थी। उस दिन शुभ मुहूर्त था, शुभ लग्न थी और उत्तराषाढ़ नक्षत्र था ॥ २०३ ॥

केशान् भगवतो मौलौ चिरवासात् पवित्रितान् । प्रत्यैच्छन्मघवा रत्नपिटकायां प्रीतमानसः ॥ २०४ ॥

भगवानके मस्तकपर चिरकाल तक निवास करनेसे पवित्र हुए केशोंको इन्द्रने प्रसन्नचित्त होकर रत्नोंके पिटारेमें रख लिया था ॥ २०४ ॥

सितांशुकसंवृते पीते रत्नसमुद्गके । स्थिता नीलोत्पलच्छायाः केशा रेजुरिन्दोर्लक्ष्मलेशकाः ॥ २०५ ॥

सफेद वस्त्रसे परिवृत उस बड़े भारी रत्नोंके पिटारेमें रखे हुए भगवानके काले केश ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो चन्द्रमाके काले चिह्नके अंश ही हों ॥ २०५ ॥

> विभूत्तमाङ्गसंस्पर्शादिमे मूर्धन्यतामिताः । स्थाप्याः समुचिते देशे कस्मिंश्चिदनुपद्रुते ॥ २०६ ॥

'ये केश भगवानके मस्तकके स्पर्शसे अत्यन्त श्रेष्ठ अवस्थाको प्राप्त हुए हैं, इसलिए इन्हें उपद्रवरहित किसी योग्य स्थानमें स्थापित करना चाहिए। ॥ २०६ ॥

> पञ्चमस्यार्णवस्यातिपवित्रस्य निसर्गतः । नीत्वोपायनतामेते स्थाप्यास्तस्यैव वा जले ॥ २०७ ॥

पाँचवाँ क्षीरसमुद्र स्वभावसे ही पवित्र है इसलिए उसकी भेंट कर उसीके पवित्र जलमें इन्हें स्थापित करना चाहिए। ॥ २०७ ॥

> धन्याः केशा जगद्धातुर्यदधिमूर्धमधिष्ठिताः । धन्योऽसौ क्षीरसिन्धुश्च यस्तदाप्स्यत्युपायनम् ॥ २०८ ॥

ये केश धन्य हैं जो कि जगत् के स्वामी भगवान् वृषभदेवके मस्तकपर अधिष्ठित हुए थे तथा यह क्षीरसमुद्र भी धन्य है जो इन केशोंको भेंटस्वरूप प्राप्त करेगा।' ॥ २०८ ॥

> इत्याकलय्य शक्रस्तेषामादायाथ सादरम् । विभूत्या परया नीत्वा क्षीरोदे तान्विचिक्षिपत् ॥ २०९ ॥

ऐसा विचारकर इन्द्रने उन केशोंको आदरसहित उठाया और बड़ी विभूतिके साथ ले जाकर उन्हें क्षीरसमुद्रमें डाल दिया ॥ २०९ ॥

> महतां संश्रयान्नूनं यान्तीज्यां मलिना अपि । मलिनैरपि यत्केशैः पूजावाप्ताऽऽश्रितैर्गुरुम् ॥ २१० ॥

महापुरुषोंका आश्रय करनेसे मलिन (नीच) पुरुष भी पूज्यताको प्राप्त हो जाते हैं, यह बात बिलकुल ठीक है; क्योंकि भगवानका आश्रय करनेसे मलिन (काले) केश भी पूज्यताको प्राप्त हुए थे ॥ २१० ॥

वस्त्राभरणमाल्यानि यान्युत्सृष्टान्यधीशिना । तान्यप्यनन्यसामान्यां निन्युः सपर्यमुन्नतिं सुराः ॥ २११ ॥

भगवानने जिन वस्त्र, आभूषण तथा माला वगैरहका त्याग किया था, देवोंने उन सबकी भी असाधारण पूजा की थी ॥ २११ ॥

चतुःसहस्रगणना नृपाः प्राव्राजिषुस्तदा । गुरोर्मतमजानानाः स्वामिभक्त्यैव केवलम् ॥ २१२ ॥

उसी समय चार हजार अन्य राजाओंने भी दीक्षा धारण की थी। वे राजा भगवानका मत (अभिप्राय) नहीं जानते थे, केवल स्वामिभक्तिसे प्रेरित होकर ही दीक्षित हुए थे ॥ २१२ ॥

यदस्मै रुचितं वस्तु तदस्मभ्यं विशेषतः । इति प्रसन्नदीक्षास्ते केवलं द्रव्यलिङ्गिनः ॥ २१३ ॥

जो हमारे स्वामीके लिए अच्छा लगता है, वही हम लोगोंको भी विशेष रूपसे अच्छा लगना चाहिए! बस, यही सोचकर वे राजा दीक्षित होकर द्रव्यलिंगी साधु हो गये थे ॥ २१३ ॥

इच्छानुवर्तनं भर्तुर्भृत्याचारः किलेत्यमी । दधुः समौढ्यं नैर्ग्रन्थ्यं द्रव्यतो न तु भावतः ॥ २१४ ॥

स्वामीके अभिप्रायानुसार चलना ही सेवकोंका काम है, यह सोचकर ही वे अज्ञानके साथ मात्र द्रव्यकी अपेक्षा निर्ग्रन्थ अवस्थाको प्राप्त हुए थे—नग्न हुए थे, भावोंकी अपेक्षा नहीं ॥ २१४ ॥

गरीयसीं गुरौ भक्तिमुच्चैराविश्चिकीर्षवः । तद्वृत्तिं बिभरामासुः पार्थिवास्ते महान्वयाः ॥ २१५ ॥

बड़े-बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए वे राजा, भगवान् में अपनी उत्कृष्ट भक्ति प्रकट करना चाहते थे इसलिए उन्होंने भगवान-जैसी निर्ग्रन्थ वृत्तिको धारण किया था ॥ २१५ ॥

गुरुरेव प्रमाणमस्माकमात्रिकामुत्रिकार्थयोः । इति कच्छादयो दीक्षां भेजिरे नृपपुङ्गवाः ॥ २१६ ॥

इस लोक और परलोक सम्बन्धी सभी कार्योंमें हमें हमारे गुरु—भगवान् वृषभदेव ही प्रमाणभूत हैं, यही विचारकर कच्छ आदि उत्तम राजाओंने दीक्षा धारण की थी ॥ २१६ ॥

> स्नेहात् केचित् परे मोहाद् भयात् केचन पार्थिवाः । तपस्यां संगिरन्ते स्म पुरोधायादिमेधसम् ॥ २१७ ॥

उन राजाओंमें-से कितने ही स्नेहसे, कितने ही मोहसे और कितने ही भयसे भगवान् वृषभदेवको आगे कर अर्थात् उन्हें दीक्षित हुआ देखकर दीक्षित हुए थे ॥ २१७ ॥

> तैः परिवृतो दीप्तो विभुरव्यक्तसंयमैः । कल्पवृक्ष इवोदग्रः परीतो वालपादपैः ॥ २१८ ॥

जिनका संयम प्रकट नहीं हुआ है ऐसे उन द्रव्यलिंगी मुनियोंसे घिरे हुए भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित होते थे मानो छोटे-छोटे कल्पवृक्षोंसे घिरा हुआ कोई उन्नत विशाल कल्पवृक्ष ही हो ॥ २१८ ॥

> स्वभावभास्वरं तेजस्तपोदीप्त्योपबृंहितम् । दधानः शारदोऽर्कश्च दिदीपेतितरां विभुः ॥ २१९ ॥

यद्यपि भगवानका तेज स्वभावसे ही देदीप्यमान था तथापि उस समय तपकी दीप्तिसे वह और भी अधिक देदीप्यमान हो गया था; ऐसे तेजको धारण करनेवाले भगवान् उस सूर्यके समान अतिशय देदीप्यमान होने लगे थे जिसका कि स्वभावभास्वर तेज शरद् ऋतुके कारण अतिशय प्रदीप्त हो उठा है ॥ २१९ ॥

> जातरूपमिवोदारकान्तिकान्ततरं बभौ । जातरूपं प्रभोर्दीप्तं यथार्चिर्जातवेदसः ॥ २२० ॥

जिस प्रकार अग्निकी ज्वालासे तपा हुआ सुवर्ण अतिशय देदीप्यमान होता है उसी प्रकार उत्कृष्ट कान्तिसे अत्यन्त सुन्दर भगवानका नग्न रूप अतिशय शोभायमान हो रहा था ॥ २२० ॥

> ततः स भगवानादिदेवो देवैः कृतार्चनः । दीक्षावल्लया परिष्वक्तः कल्पाङ्घ्रिप इवाबभौ ॥ २२१ ॥

तदनन्तर देवोंने जिनकी पूजा की है ऐसे भगवान् आदिनाथ दीक्षारूपी लतासे आलिंगित होकर कल्पवृक्षके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ २२१ ॥

तदा भगवतो रूपमसमानं विभास्वरम् । पश्यन्नेत्रसहस्रेण नापतृप्तिं शतक्रतुः ॥ २२२ ॥

उस समय भगवानका अनुपम रूप अतिशय देदीप्यमान हो रहा था। उस रूपको इन्द्र हजार नेत्रोंसे देखता हुआ भी तृप्त नहीं होता था ॥ २२२ ॥

ततस्त्रिजगदीशानं परं ज्योतिर्गिरां पतिम् । तुष्टुवुर्हर्षनिर्भराः स्वप्रहृष्टाः परमेष्ठिनम् ॥ २२३ ॥

तत्पश्चात् समस्त इन्द्रोंने अतिशय सन्तुष्ट होकर तीनों लोकोंके स्वामी, उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप और वाचस्पति अर्थात् समस्त विद्याओंके अधिपति भगवान् वृषभदेवकी इस प्रकार जोर-जोरसे स्तुति की ॥ २२३ ॥

जगत्स्रष्टारमीशानमभीष्टफलदायिनम् । त्वामनिष्टविधाताय समभीष्टुमहे वयम् ॥ २२४ ॥

हे स्वामिन्! आप जगत् के स्रष्टा हैं (कर्मभूमिरूप जगत् की व्यवस्था करनेवाले हैं), स्वामी हैं और अभीष्ट फलके देनेवाले हैं, इसलिए हम लोग अपने अनिष्टोंको नष्ट करनेके लिए आपकी अच्छी तरहसे स्तुति करते हैं ॥ २२४ ॥

गुणास्ते गणनातीताः स्तूयन्तेऽस्मद्विधैः कथम् । भक्त्या तथापि तद् व्याजात् कुर्मः प्रोन्नतिमात्मनः ॥ २२५ ॥

हे भगवन्! हम-जैसे जीव आपके असंख्यात गुणोंकी स्तुति किस प्रकार कर सकते हैं? तथापि हम लोग भक्तिके वश स्तुतिके बहाने मात्र अपनी आत्माकी उन्नतिको विस्तृत कर रहे हैं ॥ २२५ ॥

हरन्तं मलापायात् स्फुरन्तीह गुणास्तव । घनोपरोधनिर्मुक्ता ननु चित्रं रवेः कराः ॥ २२६ ॥

हे ईश! जिस प्रकार मेघोंका आवरण हट जानेसे सूर्यकी किरणें स्फुरित हो जाती हैं, उसी प्रकार द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी बहिरंग तथा अन्तरंग मलके हट जानेसे आपके गुण स्फुरित हो रहे हैं ॥ २२६ ॥

त्रिलोकपावनीं पुण्यां धत्से श्रुतिमिवामलाम् । दीक्षां तस्मै नमस्तुभ्यं नमः शान्तिप्रदायिने ॥ २२७ ॥

हे भगवन्! आप जिनवाणीके समान मनुष्यलोकको पवित्र करनेवाली पुण्यरूप निर्मल जिनदीक्षाको धारण कर रहे हैं, इसके सिवाय आप सबका हित करनेवाले हैं और सुख देनेवाले हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ २२७ ॥

शमिताखिलजगत्तापा जगतामेकपावनी । स्वर्धुनीव पुनीयान्नो दीक्षेयं पारमेश्वरी ॥ २२८ ॥

हे भगवन्! आपकी यह पारमेश्वरी दीक्षा गंगा नदीके समान जगत्त्रयका सन्ताप दूर करनेवाली है और तीनों जगत् को मुख्य रूपसे पवित्र करनेवाली है, ऐसी यह आपकी दीक्षा हम लोगोंको सदा पवित्र करे ॥ २२८ ॥

सुवर्णा रुचिरा हृद्या दीप्तरत्नत्रयीकृता । दैवारीवाभिनिष्क्रान्तिः सेयं प्रीणाति नो मनः ॥ २२९ ॥

हे भगवन्! आपकी यह दीक्षा धनकी धाराके समान हम लोगोंको सन्तुष्ट कर रही है; क्योंकि जिस प्रकार धनकी धारा सुवर्णा अर्थात् सुवर्णमय होती है उसी प्रकार यह दीक्षा भी सुवर्णा अर्थात् उत्तम वर्णसहित है। धनकी धारा जिस प्रकार रुचिरा अर्थात् कान्तियुक्त-मनोहर होती है उसी प्रकार यह दीक्षा भी रुचिरा अर्थात् सम्यक्त्वभावको देनेवाली है (रुचिं श्रद्धां राति ददातीति रुचिरा)। धनकी धारा जिस प्रकार हृद्या अर्थात् हृदयको प्रिय लगती है, उसी प्रकार यह दीक्षा भी हृद्या अर्थात् संयमी जनोंके हृदयको प्रिय लगती है और धनकी धारा जिस प्रकार देदीप्यमान रत्नोंसे अलंकृत होती है, उसी प्रकार यह दीक्षा भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी देदीप्यमान रत्नोंसे अलंकृत है ॥ २२९ ॥

मुक्तावुत्तिष्ठमानस्त्वं तत्कालोपनतैः स्फुटम् । नैर्मल्यैः परिणामैः प्राक् पश्चाल्लौकान्तिकामरैः ॥ २३० ॥

हे भगवन्! मुक्तिके लिए उद्योग करनेवाले आप तत्कालीन अपने निर्मल परिणामोंके द्वारा पहले ही प्रबुद्ध हो चुके थे, लौकान्तिक देवोंने तो नियोगवश पीछे आकर प्रतिबोधित किया था ॥ २३० ॥

परिनिष्क्रमणे योऽयमभिप्रायो जगत्प्रभोः । स ते यतः स्वतः जातः स्वयं बुद्धोऽस्यतो विभो ॥ २३१ ॥

हे मुनिनाथ! जगत् के स्वामी आपका, दीक्षा धारण करनेके विषयमें जो यह अभिप्राय हुआ है वह आपको स्वयं ही प्राप्त हुआ है इसलिए आप स्वयम्बुद्ध हैं ॥ २३१ ॥

राज्यलक्ष्मीमसम्भोग्यामाकलय्य चलामिमाम् । क्लेशहानाय निर्वाणदीक्षां त्वमुपागतः ॥ २३२ ॥

हे नाथ! आप इस राज्यलक्ष्मीको भोगके अयोग्य तथा चंचल समझकर ही क्लेशोंको नष्ट करनेके लिए निर्वाणदीक्षाको प्राप्त हुए हैं ॥ २३२ ॥

स्नेहालानमुन्मूल्य विशतोऽद्य वनं तव । न कश्चित् प्रतिरोधोऽस्ति मदान्धस्येव दन्तिनः ॥ २३३ ॥

हे भगवन्! मत्त हस्तीकी तरह स्नेहरूपी खूँटा उखाड़कर वनमें प्रवेश करते हुए आपको आज कोई भी नहीं रोक सकता है ॥ २३३ ॥

स्वप्नसम्भोगनिर्भासा भोगाः सम्पदपि प्रणश्यति । जीवितं चपलं चेत्याधाय मनः शाश्वते पथि ॥ २३४ ॥

हे देव! ये भोग स्वप्नमें भोगे हुए भोगोंके समान हैं, यह सम्पदा नष्ट हो जानेवाली है और यह जीवन भी चंचल है—यही विचार कर आपने अविनाशी मोक्षमार्गमें अपना मन लगाया है ॥ २३४ ॥

अवधूय चलां लक्ष्मीं निर्धूय स्नेहबन्धनम् । संपदं रज इवोद्धूय मुक्त्यङ्गनां समेष्यसि ॥ २३५ ॥

हे भगवन्! आप चंचल लक्ष्मीको दूर कर, स्नेहरूपी बन्धनको तोड़कर और धनको धूलिकी तरह उड़ाकर मुक्तिरूपी अंगनाके साथ जा मिलेंगे ॥ २३५ ॥

राज्यलक्ष्म्याः परिम्लानिं मुक्तिलक्ष्म्याः परां मुदम् । प्रत्यक्षयन्स्तपोवृद्ध्यामासक्तस्त्वं विना रतेः ॥ २३६ ॥

हे भगवन्! आप रतिके बिना ही अर्थात् वीतराग होनेपर भी राज्यलक्ष्मीमें उदासीनताको और मुक्तिलक्ष्मीमें परम हर्षको प्रकट करते हुए तपरूपी लक्ष्मीमें आसक्त हो गये हैं, यह एक आश्चर्यकी बात है ॥ २३६ ॥

> राज्यश्रिया विरक्तोऽसि संरक्तोऽसि तपःप्रियाम् । मुक्तिप्रियां च सोत्कण्ठो नष्टा ते विरागता ॥ २३७ ॥

हे स्वामिन्! आप राजलक्ष्मीमें विरक्त हैं, तपरूपी स्त्रीमें अनुरक्त हैं और मुक्तिरूपी स्त्रीकी उत्कण्ठासे सहित हैं, इससे मालूम होता है कि आपकी विरागता नष्ट हो गयी है। भावार्थ—यह व्याजोक्ति अलंकार है; इसमें ऊपरसे निन्दा मालूम होती है परन्तु यथार्थमें भगवानकी स्तुति प्रकट की गयी है ॥ २३७ ॥

> ज्ञात्वा हेयमुपेयं च हित्वा हेयमथाखिलम् । उपादेयमुपादित्सोः कथं ते समदर्शिता ॥ २३८ ॥

हे भगवन्! आपने हेय और उपादेय वस्तुओंको जानकर छोड़ने योग्य समस्त वस्तुओंको छोड़ दिया है और उपादेयको आप ग्रहण करना चाहते हैं, ऐसी दशामें आप समदर्शी कैसे हो सकते हैं? (यह भी व्याजस्तुति अलंकार है) ॥ २३८ ॥

> पराधीनं सुखं हित्वा सुखं स्वाधीनमीप्सतः । त्यक्त्वाल्पामपि विपुलां चर्दि वाञ्छतो विरतिः क्व ते ॥ २३९ ॥

आप पराधीन सुखको छोड़कर स्वाधीन सुख प्राप्त करना चाहते हैं तथा अल्प विभूतिको छोड़कर बड़ी भारी विभूतिको प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसी हालतमें आपका विरति—पूर्ण त्याग कहाँ रहा? (यह भी व्याजस्तुति है) ॥ २३९ ॥

> आमनन्त्यात्मविज्ञानं योगिनां हृदयं परम् । नैवं तवात्मविज्ञानमात्मवत्पश्यतः परान् ॥ २४० ॥

हे नाथ! योगियोंका आत्मज्ञान मात्र उनके हृदयको जानता है, परन्तु आप अपने समान पर-पदार्थोंको भी जानते हैं इसलिए आपका आत्मज्ञान अद्भुत है ॥ २४० ॥

> तथा परिचरन्त्येते यथा पूर्वं सुरासुराः । गूढं गोपायते श्रीः कुतस्त्यस्ते तपोमदः ॥ २४१ ॥

हे नाथ! समस्त सुर और असुर पहलेके समान अब भी आपकी परिचर्या कर रहे हैं और यह लक्ष्मी भी गुप्त रीतिसे आपकी सेवा कर रही है, तब आपके तपका भाव कहाँ रहा? अर्थात् आप तपस्वी कैसे कहलाये? ॥ २४१ ॥

नैःसङ्गीमास्थितश्चर्यां सुखानुबन्धमप्यहन् । सुखीति कृतिभिर्देव तथाप्यभिरूप्यसे ॥ २४२ ॥

हे भगवन्! यद्यपि आपने निर्ग्रन्थ वृत्ति धारण कर सुख प्राप्त करनेका अभिप्राय भी नष्ट कर दिया है, तथापि कुशल पुरुष आपको ही सुखी कहते हैं ॥ २४२ ॥

ज्ञानशक्तित्रयीमुद्वहन् विमित्सोः कर्मसाधनम् । जिगीषुकृत्यमद्यापि तपोराज्ये तवास्त्यदः ॥ २४३ ॥

हे प्रभो! आप मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानरूपी तीनों शक्तियोंको धारण कर कर्मरूपी शत्रुओंकी सेना खण्डित करना चाहते हैं, इसलिए इस तपश्चरणरूपी राज्यमें आज भी आपका विजिगीषुभाव अर्थात् शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा विद्यमान है ॥ २४३ ॥

उद्बोढान्धतमसध्वंसे बोधितां ज्ञानदीपिकाम् । त्वमादाय चरन् नैव कुत्सितेऽवसीदसि ॥ २४४ ॥

हे ईश! आप मोहरूपी गाढ़े अन्धकारको नष्ट करनेके लिए प्रकाशमान ज्ञानरूपी दीपकको लेकर चल रहे हैं, इसलिए आप क्लेशरूपी गढ़ेमें पड़कर कभी भी दुःखी नहीं होते ॥ २४४ ॥

भट्टारक वरीसृष्टिः कर्मणोऽष्टतयस्य या । तां प्रति प्रज्वलत्येषा त्वद्ध्यानाग्निशिखोच्चिखा ॥ २४५ ॥

हे भट्टारक! ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंकी जो यह बड़ी भारी सेना बनी हुई है उसमें यह आपकी ध्यानरूपी अग्निकी ऊँची शिखा खूब जल रही है ॥ २४५ ॥

दृष्टतत्व वरीसृष्टिः कर्माटव्या वनस्य या । तत्रोत्क्षिप्ता कुठार्येषा रत्नत्रयमयी त्वया ॥ २४६ ॥

हे समस्त पदार्थोंको जाननेवाले तत्त्वज्ञ देव! जो यह हरा-भरा आठों कर्मोंका वन है उसे नष्ट करनेके लिए आपने यह रत्नत्रयरूपी कुल्हाड़ी उठायी है ॥ २४६ ॥

ज्ञानवैराग्यसम्पत्तिस्तवैषानन्यगोचरा । विमुक्तिसाधनायालं भक्तानां च भवोच्छिदे ॥ २४७ ॥

हे भगवन्! किसी दूसरी जगह नहीं पायी जानेवाली आपकी यह ज्ञान और वैराग्यरूपी सम्पत्ति ही आपको मोक्ष प्राप्त करानेके लिए तथा शरणमें आये हुए भक्त पुरुषोंका संसार नष्ट करनेके लिए समर्थ साधन है ॥ २४७ ॥

> इति स्वार्था च परार्था च बोधसम्पदमूर्जिताम् । दधतेऽपि नमस्तुभ्यं विरागाय गरीयसे ॥ २४८ ॥

हे प्रभो! इस प्रकार आप निज-परका हित करनेवाली उत्कृष्ट ज्ञानरूपी सम्पत्तिको धारण करनेवाले हैं तो भी परम वीतराग हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ २४८ ॥

> इत्यभिष्टूय गीर्वाणाः प्रतिजग्मुः स्वमास्पदम् । तद्गुणानुस्मृतिं पूतामादाय स्वेन चेतसा ॥ २४९ ॥

इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र लोग भगवानके गुणोंकी पवित्र स्मृति अपने हृदयमें धारण कर अपने-अपने स्थानोंको चले गये ॥ २४९ ॥

> ततो भरतराजोऽपि गुरुं भक्तिभरानतः । पूजयामास विनयादुच्चावचवचःस्रजा ॥ २५० ॥

तदनन्तर लक्ष्मीवान् महाराज भरतने भी भक्तिके भारसे अतिशय नम्र होकर अनेक प्रकारके वचनरूपी मालाओंके द्वारा अपने पिताकी पूजा की अर्थात् सुन्दर शब्दों द्वारा उनकी स्तुति की ॥ २५० ॥

> अथ भरतनरेशो रुद्रभक्त्या मुनीन्द्रं समधिगतसमाधिं सावधानं स्वसाध्ये ।
> सुरभिसलिलधारागन्धपुष्पाक्षताद्यैः सपदि जितमोहं सप्रदीपैश्च धूपैः ॥ २५१ ॥

तत्पश्चात् उन्हीं भरत महाराजने बड़ी भारी भक्तिसे सुगन्धित जलकी धारा, गन्ध, पुष्प, अक्षत, दीप, धूप और अर्घ्यसे समाधिको प्राप्त हुए (आत्मध्यानमें लीन) और मोक्षप्राप्तिरूप अपने कार्यमें सदा सावधान रहनेवाले, मोहनीय कर्मके विजेता मुनिराज भगवान् वृषभदेवकी पूजा की ॥ २५१ ॥

> परिणतफलभेदैराम्रजम्बूद्विपक्वैरपनसलकुचमोचादाडिमैर्मातुलुङ्गैः । क्रमुकरुचिरगुच्छैर्नारिकेलैश्च भूरि गुरुचरणसपर्यामातनोदाततश्रीः ॥ २५२ ॥

तथा जिनकी लक्ष्मी बहुत ही विस्तृत है ऐसे राजा भरतने पके हुए मनोहर आम, जामुन, कैथ, कटहल, बड़हल, केला, अनार, बिजोरा, सुपारियोंके सुन्दर गुच्छे और नारियलोंसे भगवानके चरणोंकी पूजा की थी ॥ २५२ ॥

> कृतपदयुगपूजो भक्तिनम्रेण मूर्ध्ना धरणिनिहितजानुः प्रोद्गतास्रप्रवाहः ।
> प्रणतिमकृतोचैमौलिमाणिक्यरश्मिप्रविमलसलिलौघैः क्षालयन् भर्तुरङ्घ्री ॥ २८३ ॥

इस प्रकार जो भगवानके चरणोंकी पूजा कर चुके हैं, जिनके दोनों घुटने पृथिवीपर लगे हुए हैं और जिनके नेत्रोंसे आँसू निकल रहे हैं ऐसे राजा भरतने अपने उत्कृष्ट मुकुटमें जड़े हुए मणियोंकी किरणरूप स्वच्छ जलके समूहसे भगवानके चरणकमलोंका प्रक्षालन करते हुए भक्तिसे नम्र हुए अपने मस्तकसे उन्हीं भगवानके चरणोंको नमस्कार किया ॥ २८३ ॥

> स्तुतिभिरनुगतार्थालङ्क्रियाश्लाघिनीभिः प्रकटितगुरुभक्तिः कल्मषध्वंसिनीभिः । सममवनिपुत्रैः
> स्वानुजन्मानुयातैर्भरतपतिरुदारधीरयोध्यामुन्मुखोऽभूत् ॥ २८४ ॥

जिन्होंने उत्तम-उत्तम अर्थ तथा अलंकारोंसे प्रशंसा करने योग्य और पापोंको नष्ट करनेवाली अनेक स्तुतियोंसे गुरुभक्ति प्रकट की है और जो बड़ी भारी विभूतिसे सहित हैं ऐसे राजा भरत अनेक राजपुत्रों और अपने छोटे भाइयोंके साथ-साथ अयोध्याके सम्मुख हुए ॥ २८४ ॥

> अथ सरसिजबन्धौ मन्दमन्दायमानैः परिमृशति कराग्रैः पश्चिमाशाङ्गनास्यम् ।
> अनिलचलच्चारुप्रोल्लसत्केतुमालां प्रभुरविशदसह्यां स्वामिवैतामयोध्याम् ॥ २८५ ॥

अथानन्तर जब सूर्य अपनी मन्द-मन्द किरणोंके अग्रभागसे पश्चिम दिशारूपी स्त्रीके मुखका स्पर्श कर रहा था और वायु शोभायमान पताकाओंके समूहको इधर-उधर हिला रहा था तब अपनी आज्ञाके समान उल्लंघन करनेके अयोग्य अयोध्यापुरीमें महाराज भरतने प्रवेश किया ॥ २८५ ॥

> तत्रस्थो गुरुमादरात् परिचरन् दूरादुदारोदयः कुर्वन् सर्वजनोपकारकरणीं वृत्तिं स्वराज्यस्थितौ । तन्वानः
> प्रमदं सनाभिषु गुरून् सम्भावयन् सादरं भावी चक्रधरो धरां चिरमपादेकातपत्राङ्किताम् ॥ २८६ ॥

जो बड़े भारी अभ्युदयके धारक हैं और जो भावी चक्रवर्ती हैं ऐसे राजा भरत उसी अयोध्यापुरीमें रहकर दूरसे ही आदरपूर्वक भगवान् वृषभदेवकी परिचर्या करते थे, उन्होंने अपने राज्यमें सब मनुष्योंका उपकार करनेवाली वृत्ति (आजीविका) का विधान किया था, वे अपने भाइयोंको सदा हर्षित रखते थे और गुरुजनोंका आदरसहित सम्मान करते थे। इस प्रकार वे उस एक छत्रसे चिह्नित पृथिवीका चिरकाल तक पालन करते रहे ॥ २८६ ॥

> एवं निष्क्रमणे गुरोः समुचितां कृत्वा सपर्याविधिं सम्यक् प्राप्य पुरीं निजामनुगतो राजाधिराजोऽनुजैः । प्रातः प्रातरुत्थितो नृपगणैर्भक्त्या गुरुं संस्मरन् नित्यं विधुतारिचक्रमभुनक् पूर्वं यथासौ जिनः ॥ २८७ ॥

इस प्रकार राजाधिराज भरत तपकल्याणकके समय भगवान् वृषभदेवकी यथोचित पूजा कर छोटे भाइयोंके साथ-साथ अपनी अयोध्यापुरीमें लौटे और वहाँ जिस प्रकार पहले जिनेन्द्रदेव भगवान् वृषभनाथ दिशाओंका पालन करते थे उसी प्रकार वे भी प्रतिदिन प्रातःकाल राजाओंके समूहके साथ उठकर भक्तिपूर्वक गुरुदेवका स्मरण करते हुए शत्रुमण्डलको नष्ट कर समस्त दिशाओंका पालन करने लगे ॥ २८७ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवत्परिनिष्क्रमणं नाम सप्तदशं पर्व ॥ १७ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें भगवान् के तप-कल्याणकका वर्णन करनेवाला सत्रहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

> अथ कायं समुत्सृज्य तपोयोगे समाहितः । वाच्यंयमव्रतमास्थाय तस्थौ विश्वेड् विमुक्तये ॥ १ ॥

अथानन्तर समस्त लोकके अधिपति भगवान् वृषभदेव शरीरमें ममत्व छोड़कर तथा तपोयोगमें सावधान हो मौन धारणकर मोक्षप्राप्तिके लिए स्थित हुए ॥ १ ॥

> षण्मासानशनं कर्तुं प्रतिज्ञाय महाधृतिः । योगैकाग्र्यानिरुद्धान्तर्बहिष्करणविक्रियः ॥ २ ॥

योगोंकी एकाग्रतासे जिन्होंने मन तथा बाह्य इन्द्रियोंके समस्त विकार रोक दिये हैं ऐसे धीर-वीर महासन्तोषी भगवान् छह महीनेके उपवासकी प्रतिज्ञा कर स्थित हुए थे ॥ २ ॥

> वितस्त्यन्तरपादाग्रश्चतुरङ्गुलपार्ष्णिकः । समसृज्ज्वायतं स्थानमास्थाय रचितस्थितिः ॥ ३ ॥

वे भगवान् सम, सीधी और लम्बी जगहमें कायोत्सर्ग धारण कर खड़े हुए थे। उस समय उनके दोनों पैरोंके अग्र भागमें एक वितस्ति अर्थात् बारह अंगुलका और एड़ियोंमें चार अंगुलका अन्तर था ॥ ३ ॥

> कठिनेऽपि शिलापट्टे न्यस्तपादपयोरुहः । लक्ष्म्योपदौकितं गूढमास्थितः पद्मविष्टरम् ॥ ४ ॥

वे भगवान् कठिन शिलापर भी अपने चरणकमल रखकर इस प्रकार खड़े हुए थे मानो लक्ष्मीके द्वारा लाकर रखे हुए गुप्त पद्मासनपर ही खड़े हों ॥ ४ ॥

> किमप्यन्तर्गतं जल्पन्नव्यक्ताक्षरमक्षरः । निगूढनिर्झरारावगुञ्जद्गुह इवाचलः ॥ ५ ॥

वे अक्षर अर्थात् अविनाशी भगवान् भीतर-ही-भीतर अस्पष्ट अक्षरोंसे कुछ पाठ पढ़ रहे थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो जिसकी गुफाएँ भीतर छिपे हुए निर्झरोंके शब्दसे गूँज रही हैं ऐसा कोई पर्वत ही हो ॥ ५ ॥

> सुप्रसन्नोज्ज्वलां मूर्तिं प्रलम्बितभुजद्वयाम् । शमस्येव परां व्यक्तिं दधानो ध्यानसिद्धये ॥ ६ ॥

जिसमें दोनों भुजाएँ नीचेकी ओर लटक रही हैं ऐसी अत्यन्त प्रसन्न और उज्ज्वल मूर्तिको धारण करते हुए वे भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो ध्यानकी सिद्धिके लिए प्रशमगुणकी उत्कृष्ट मूर्ति ही धारण कर रहे हों ॥ ६ ॥

> विमुक्तशिरसि स्फूर्जत् सुव्यक्तपरिमण्डलम् । रोचिष्णुष्णीषमुष्णांशुमण्डलस्पर्द्धि धारयन् ॥ ७ ॥

केशोंके लोंच हो जानेसे जिसका गोल परिमण्डल अत्यन्त स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था, जिसका अग्रभाग अतिशय देदीप्यमान था और जो सूर्यमण्डलके साथ स्पर्धा कर रहा था, ऐसे शिरको वे भगवान् धारण किये हुए थे ॥ ७ ॥

> भ्रूभङ्गभङ्गविमुखं वीक्षणं स्तिमितेक्षणम् । बिभ्रन्मुखमक्लिष्टं सुश्लिष्टदशनच्छदम् ॥ ८ ॥

जो भौंहोंके भंग और कटाक्ष अवलोकनसे रहित था, जिसके नेत्र अत्यन्त निश्चल थे और ओठ खेदरहित तथा मिले हुए थे ऐसे सुन्दर मुखको भगवान् धारण किये हुए थे ॥ ८ ॥

> सुगन्धिमुखनिःश्वासगन्धाहूतैरलिव्रजैः । बहिर्निष्कासिताशुद्धलेश्यांशैरिव लक्षितः ॥ ९ ॥

उनके अत्यन्त सुगन्धित निःश्वासकी सुगन्धसे जो भ्रमरोंके समूह उड़ रहे थे वे ऐसे मालूम होते थे मानो अशुद्ध (कृष्ण, नील आदि) लेश्याओंके अंश ही बाहरको निकल रहे हों ॥ ९ ॥

प्रलम्बितमहाबाहुर्दीप्तप्रोच्चवपुर्विभुः । कल्पवृक्ष इवाग्रशाखाद्वयपरिष्कृतः ॥ १० ॥

उनकी दोनों बड़ी-बड़ी भुजाएँ नीचेकी ओर लटक रही थीं और उनका शरीर अत्यन्त देदीप्यमान तथा ऊँचा था इसलिए वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अग्रभागमें स्थित दो ऊँची शाखाओंसे सुशोभित एक कल्पवृक्ष ही हो ॥ १० ॥

अलक्ष्येणातपत्रेण तपोमाहात्म्यजन्मना । कृतच्छायोऽप्यनास्थावान् स तत्रैवाभवत् प्रभुः ॥ ११ ॥

तपश्चरणके माहात्म्यसे उत्पन्न हुए अलक्षित (किसीको नहीं दिखनेवाले) छत्रने यद्यपि उनपर छाया कर रखी थी तो भी उसकी अभिलाषा न होनेसे वे उससे विरक्त ही थे—अपरिग्रही ही थे ॥ ११ ॥

पर्यन्ततरुशाखाग्रैर्मन्दानिलविधूनितैः । प्रकीर्णकैरिवैकाग्रैर्विधूतैर्विधुतक्लमः ॥ १२ ॥

मन्द-मन्द वायुसे जो समीपवर्ती वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभाग हिल रहे थे उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो बिना यत्नके डुलाये हुए चमरोंसे उनका खेद ही दूर हो रहा हो ॥ १२ ॥

दीक्षानन्तरमुद्भूतमनःपर्ययबोधनः । चतुर्ज्ञानधरः श्रीमान् सान्तर्दीप इवालयः ॥ १३ ॥

दीक्षाके अनन्तर ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हो गया था इसलिए मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानोंको धारण करनेवाले श्रीमान् भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसके भीतर दीपक जल रहे हैं ऐसा कोई महल ही हो ॥ १३ ॥

चतुर्भिर्ज्ञाननेत्रैस्तैरमात्यैरिव चर्चितम् । विलोकयन् विभुः सर्वं परलोकगतागतम् ॥ १४ ॥

जिस प्रकार कोई राजा मन्त्रियोंके द्वारा चर्चा किये जानेपर परलोक अर्थात् शत्रुदेशके सब प्रकारके आना-जाना आदिको देख लेता है—जान लेता है उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव भी अपने सुदृढ़ चार ज्ञानोंके द्वारा सब जीवोंके परलोक अर्थात् पूर्वापरपर्यायसम्बन्धी आना-जाना आदिको देख रहे थे—जान रहे थे ॥ १४ ॥

एवमभ्युत्थितो देवः स्थितः परमनिःस्पृहः । तदामीषां नृपर्षीणां चित्ते क्षोभो महानभूत् ॥ १८ ॥

इस प्रकार भगवान् वृषभदेव जब परम निःस्पृह होकर विराजमान थे तब कच्छ, महाकच्छ आदि राजाओंके चित्तमें बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न होने लगा—उनका धैर्य छूटने लगा ॥ १५ ॥

> मासादि द्वित्रमप्याशु नासीदति मुनिमानिनः । परीषहमहावातैर्भग्ना सद्यो व्रतं जहुः ॥ १६ ॥

दीक्षा धारण किये हुए दो-तीन माह भी नहीं हुए थे कि इतनेमें ही अपनेको मुनि माननेवाले उन राजाओंने परीषहरूपी महावायुसे भग्न होकर शीघ्र ही व्रत छोड़ दिया था ॥ १६ ॥

> अशक्ताः पदवीं गन्तुं गुरोरतिगरीयसीम् । त्यक्त्वाभिमानमित्युच्चैर्जजल्पुस्ते परस्परम् ॥ १७ ॥

गुरुदेव भगवान् वृषभदेवके अत्यन्त कठिन मार्गपर चलनेमें असमर्थ हुए वे कल्पित मुनि अपना-अपना अभिमान छोड़कर परस्परमें जोर-जोरसे इस प्रकार कहने लगे ॥ १७ ॥

> अहो धैर्यमहो स्थैर्यमहो जङ्घाबलं प्रभोः । को नामैवंविधं कृत्वा कुर्यात् साहसमीदृशम् ॥ १८ ॥

कि, अहा आश्चर्य है, भगवानका कितना धैर्य है, कितनी स्थिरता है और इनकी जंघाओंमें कितना बल है? इन्हें छोड़कर और दूसरा कौन है जो ऐसा साहस कर सके? ॥ १८ ॥

> कियन्तमथवा कालं तिष्ठेदेवमतन्द्रितः । सोढ्वा बाधाः क्षुधाद्युत्था गिरीन्द्र इव निश्चलः ॥ १९ ॥

अब ये भगवान् इस तरह आलस्यरहित होकर भूख-प्यास आदिसे उत्पन्न हुई बाधाओंको सहते हुए निश्चल पर्वतकी तरह और कितने समय तक खड़े रहेंगे? ॥ १९ ॥

> तिष्ठेदेकं दिनं द्वे वा त्रीणि वा त्रीणि चत्वारि वा परम् । मासावधिं स्थितिं कुर्वन्नस्मान् क्लेशयतीषिता ॥ २० ॥

हम समझते थे कि भगवान् एक दिन, दो दिन अथवा ज्यादा-से-ज्यादा तीन-चार दिन तक खड़े रहेंगे परन्तु ये भगवान् तो महीनों पर्यन्त खड़े रहकर हम लोगोंको क्लेशित (दुःखी) कर रहे हैं ॥ २० ॥

> तिष्ठतु वा भुक्त्वा पीत्वा निर्वाप्य नः पुनः । अनश्नन् निष्प्रतीकारः स्थित्वा क्षिणोति नः ॥ २१ ॥

अथवा यदि स्वयं भोजन-पान कर और हम लोगोंको भी भोजन-पान आदिसे सन्तुष्ट कर फिर खड़े रहते तो अच्छी तरह खड़े रहते, कोई हानि नहीं थी; परन्तु ये तो बिलकुल ही उपवास धारण कर भूख-प्यास आदिका कुछ भी प्रतीकार नहीं करते और इस प्रकार खड़े रहकर हम लोगोंका नाश कर रहे हैं ॥ २१ ॥

> साध्यं किमथवोद्दिश्य तिष्ठेदूर्ध्वं जगत्पतिः । षाड्गुण्ये पठितो नैष गुणः कोऽपि महीभृताम् ॥ २२ ॥

अथवा न जाने किस कार्यके उद्देश्यसे भगवान् इस प्रकार खड़े हुए हैं? राजाओंके जो सन्धि, विग्रह आदि छह गुण होते हैं उनमें इस प्रकार खड़े रहना ऐसा कोई भी गुण नहीं पढ़ा है ॥ २२ ॥

> अनेकोपद्रवाकीर्णे वनवास्यस्य रक्षया विना । तिष्ठन्न नीतिविद् भर्ता रक्ष्यं ह्यात्मा प्रयत्नतः ॥ २३ ॥

अनेक उपद्रवोंसे भरे हुए इस वनमें अपनी रक्षाके बिना ही जो भगवान् खड़े हुए हैं, उससे ऐसा मालूम होता है कि ये नीतिके जानकार नहीं हैं; क्योंकि अपनी रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए ॥ २३ ॥

> प्रायः प्राणेषु निर्विण्णो देहमुत्स्रष्टुमीहते । निर्विण्णा वयमेतेन तपसा प्राणहारिणा ॥ २४ ॥

भगवान् प्रायः प्राणोंसे विरक्त होकर शरीर छोड़नेकी चेष्टा करते हैं परन्तु हम लोग प्राणहरण करनेवाले इस तपसे ही खिन्न हो गये हैं ॥ २४ ॥

> तस्माद् वनकशिपुभिस्तावत् कन्दमूलफलादिभिः । प्राणयात्रां करिष्यामो यावद्योगविधिर्गुरोः ॥ २५ ॥

इसलिए जबतक भगवानके योगकी अवधि है अर्थात् जबतक इनका ध्यान समाप्त नहीं होता तबतक हम लोग वनमें उत्पन्न हुए कन्द, मूल, फल आदिके द्वारा ही अपनी प्राणयात्रा (जीवन-निर्वाह) करेंगे ॥ २५ ॥

> इति निर्विद्य केचिन्निःस्पृहास्तपोविधौ । ब्रुवाणाः कातरा दीनां वृत्तिं प्रत्युन्मुखाः स्थिताः ॥ २६ ॥

इस प्रकार कितने ही कातर पुरुष तपस्यासे उदासीन होकर अत्यन्त दीन वचन कहते हुए दीनवृत्ति धारण करनेके लिए तैयार हो गये ॥ २६ ॥

> परे परापरज्ञाश्च परितोऽभ्यर्णवर्तिनः । इति कर्तव्यतामूढाः तस्थुरन्तश्चलाचलाः ॥ २७ ॥

हमें क्या करना चाहिए इस विषयमें मूढ़ रहनेवाले कितने ही मुनि पूर्वापर (आगा-पीछा) जाननेवाले भगवानके चारों ओर समीप ही खड़े हो गये और अपने अन्तःकरणको कभी स्थिर तथा कभी चंचल करने लगे। भावार्थ—कितने ही मुनि समझते थे कि भगवान् पूर्वापरके जाननेवाले हैं इसलिए हम लोगोंके पूर्वापरका भी विचार कर हम लोगोंसे कुछ-न-कुछ अवश्य कहेंगे, ऐसा विचारकर उनके समीप ही उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। उस समय जब वे भगवानके गुणोंकी ओर दृष्टि डालते थे तब उन्हें धैर्य प्राप्त होता था और जब अपनी दीन अवस्थापर दृष्टि डालते थे तब उनकी बुद्धि चंचल हो जाती थी—उनका धैर्य छूट जाता था ॥ २७ ॥

> शयाने शयितं पूर्वं भुञ्जाने तिष्ठति स्थितम् । ततो गच्छति राज्यस्थे तपःस्थेऽप्यास्थितं तपः ॥ २८ ॥

वे मुनि परस्परमें कह रहे थे कि जब भगवान् राज्यमें स्थित थे अर्थात् राज्य करते थे तब हम उनके सो जानेपर सोते थे, भोजन कर चुकनेपर भोजन करते थे, खड़े होनेपर खड़े रहते थे और गमन करनेपर गमन करते थे तथा अब जब भगवान् तपमें स्थित हुए अर्थात् जब इन्होंने तपश्चरण करना प्रारम्भ किया तब हम लोगोंने तप भी धारण किया ॥ २८ ॥

> भृत्याचारोऽयमस्माभिः पूर्वं सर्वोऽप्यनुष्ठितः । कालः कुलाभिमानस्य नष्टोऽयं प्राणसंकटे ॥ २९ ॥

इस प्रकार सेवकका जो कुछ कार्य है वह सब हम पहले कर चुके हैं परन्तु हमारे कुलाभिमानका वह समय आज हमारे प्राणोंको संकट देनेवाला बन गया है अथवा इस प्राणसंकटके समय हमारे कुलाभिमानका वह काल नष्ट हो गया है ॥ २९ ॥

> वने प्रविशतोऽस्माभिर्न गृहीतं पयः प्रभोः । यावच्छक्ताः स्थितास्तावदशक्ताः किं नु कुर्महे ॥ ३० ॥

जबसे भगवानने वनमें प्रवेश किया है तबसे हमने जल भी ग्रहण नहीं किया है। भोजन-पानके बिना ही जबतक हम लोग समर्थ रहे तबतक खड़े रहे परन्तु अब सामर्थ्यहीन हो गये हैं इसलिए क्या करें? ॥ ३० ॥

> वृथा कारयते योगं गुरुर्नास्मासु निर्दयः । स्पर्धया सह सर्वेषां मर्तव्यं किमशक्तकैः ॥ ३१ ॥

मालूम होता है कि भगवान् हमपर निर्दय हैं—कुछ भी दया नहीं करते, वे हमसे झूठमूठ ही तपस्या कराते हैं, इनके साथ बराबरीकी स्पर्धा कर क्या हम असमर्थ लोगोंको मर जाना चाहिए? ॥ ३१ ॥

> अनिवृत्तो गृहाद् देवः कोऽस्यानुयातुं पदं क्षमः । देवः स्वच्छन्दचारीति न देवचरितं चरेत् ॥ ३२ ॥

ये भगवान् अब घरको नहीं लौटेंगे, इनके पदका अनुसरण करनेके लिए कौन समर्थ है? ये स्वच्छन्दचारी हैं इसलिए इनका किया हुआ काम किसीको नहीं करना चाहिए ॥ ३२ ॥

> कच्चिज्जीवति मे माता कच्चिज्जीवति मे पिता । कच्चित् स्मरति नः कान्ता कच्चित् सुस्थिताः प्रजाः ॥ ३३ ॥

क्या मेरी माता जीवित है? क्या मेरे पिता जीवित हैं? क्या मेरी स्त्री मेरा स्मरण करती है और क्या मेरी प्रजा अच्छी तरह स्थित है? ॥ ३३ ॥

> इति स्वान्तर्गतं केचिदब्रूवं स्थातुमक्षमाः । गत्वा गत्वा गुरोः पादौ प्रणता गमनोत्सुकाः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार वहाँ ठहरनेके लिए असमर्थ हुए कितने ही लोग अपने मनकी बात स्पष्ट रूपसे कहकर घर जानेकी इच्छासे बार-बार भगवानके सम्मुख जाकर उनके चरणोंको नमस्कार करते थे ॥ ३४ ॥

> अहो कृतधियो धीराः किमप्युद्दिश्य कारणम् । जितात्मा त्यक्तराज्यश्रीः पुनः संयोक्ष्यते तया ॥ ३८ ॥

कोई कहते थे कि अहा, ये भगवान् बड़े ही धीर-वीर हैं, इन्होंने अपनी आत्माको भी वश कर लिया है और इन्होंने किसी-न-किसी कारणको उद्देश्य कर राज्यलक्ष्मीका परित्याग किया है इसलिए फिर भी उससे युक्त होंगे अर्थात् राज्यलक्ष्मी स्वीकृत करेंगे ॥ ३८ ॥

यदायमद्य वा श्वो वा योगं संहृत्य धीरधीः । निजराज्यश्रिया भूयो योक्ष्यते वदतां वरः ॥ ३६ ॥

स्थिर बुद्धिको धारण करनेवाले और बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् वृषभदेव जब आज या कल अपना योग समाप्त कर अपनी राज्यलक्ष्मीसे पुनः युक्त होंगे ॥ ३६ ॥

तदास्मान्स्वामिकार्येऽस्मिन् भग्नोत्साहान् कृतच्छलान् । निर्वासयेदसत्कृत्य संपदश्च व्यपोहयेत् ॥ ३७ ॥

तब भगवानके इस कार्यमें जिन्होंने अपना उत्साह भग्न कर दिया है अथवा छल किया है ऐसे हम लोगोंको अपमानित कर अवश्य ही निकाल देंगे और सम्पत्तिरहित कर देंगे अर्थात् हम लोगोंकी सम्पत्तियाँ हरण कर लेंगे ॥ ३७ ॥

भरतो वा पुरं प्राप्तान् गतानस्मान् विक्लिश्येत् । तद्यावद्योगनिष्पत्तिर्विभोस्तावत् सहामहे ॥ ३८ ॥

अथवा यदि हम लोग भगवानको छोड़कर जाते हैं तो भरत महाराज हम लोगोंको कष्ट देंगे इसलिए जबतक भगवानका योग समाप्त होता है तबतक हम लोग यहीं सब कुछ सहन करें ॥ ३८ ॥

भगवानयमद्य श्वः सिद्धयोगो भविष्यति । सिद्धे योगे कृतक्लेशानस्मानभ्युपपत्स्यते ॥ ३९ ॥

ये भगवान् अवश्य ही आज या कलमें सिद्धयोग हो जायेंगे अर्थात् इनका योग सिद्ध हो जायेगा और योगके सिद्ध हो चुकनेपर अनेक क्लेश सहन करनेवाले हम लोगोंको अवश्य ही अंगीकृत करेंगे—किसी न किसी तरह हमारी रक्षा करेंगे ॥ ३९ ॥

पित्रा गुरुपुत्राद्वा पीडेयं न भवेद् जातु नः । पूजासत्कारलाभैश्च प्रीतः संप्रीणयेत् स नः ॥ ४० ॥

ऐसा करनेसे हम लोगोंको न तो कभी भगवानसे कोई पीड़ा होगी और न उनके पुत्र भरतसे ही। किन्तु प्रसन्न होकर वे दोनों ही पूजा-सत्कार और धनादिके लाभसे हम लोगोंको सन्तुष्ट करेंगे ॥ ४० ॥

इति धीरतया केचिदन्तःक्षोभेऽप्यनातुराः । धारयन्तोऽपि चात्मानं शेकुः स्थापयितुं स्थितौ ॥ ४१ ॥

इस प्रकार कितने ही मुनि अन्तरंगमें क्षोभ रहते हुए भी धीरताके कारण दुःखी नहीं हुए थे और कितने ही पुरुष आत्माको धैर्य देते हुए भी उसे उचित स्थितिमें रखनेके लिए समर्थ नहीं हो सके थे ॥ ४१ ॥

अभिमानधनाः केचिद् भूयोऽपि स्थातुमुद्यताः । पतित्वाप्यवशा भूमौ संस्मरुर्गुरुपादयोः ॥ ४२ ॥

अभिमान ही है धन जिनका ऐसे कितने ही पुरुष फिर भी वहाँ रहनेके लिए उद्यत हुए थे और निर्बल होनेके कारण परवश जमीनपर पड़कर भी भगवानके चरणोंका स्मरण कर रहे थे ॥ ४२ ॥

उच्चावचैस्तथा संजल्पैः सङ्कल्पैश्च पृथग्विधैः । विरम्यते तपःक्लेशाज्जीविकायां च मतिः कृता ॥ ४३ ॥

इस प्रकार राजा अनेक प्रकारके ऊँचे-नीचे भाषण और संकल्प-विकल्प कर तपश्चरणसम्बन्धी क्लेशोंसे विरक्त हो गये और जीविकामें बुद्धि लगाने लगे अर्थात् उपाय सोचने लगे ॥ ४३ ॥

मुखोन्मुखं विभोर्दत्तदृष्टयः पृष्ठतोमुखाः । तस्थुर्लज्जया चान्ये शनैः स्खलितां गतिम् ॥ ४४ ॥

कितने ही लोग लज्जित होकर भगवानके मुखके सम्मुख देखने लगे और कितने ही लोगोंने लज्जाके कारण अपना मुख पीछेकी ओर फेर लिया। इस प्रकार धीरे-धीरे स्खलित गतिको प्राप्त हुए अर्थात् क्रम-क्रमसे जानेके लिए तत्पर हुए ॥ ४४ ॥

अपृष्ट्वापि गुरुं केचित् केचिदापृच्छ्य योगिनम् । परीत्य प्रणताः प्रापुः प्राणयात्रायां मतिम् ॥ ४५ ॥

कितने ही लोग योगिराज भगवान् वृषभदेवसे पूछकर और कितने ही बिना पूछे ही उनकी प्रदक्षिणा देकर और उन्हें नमस्कार कर प्राणयात्रा (आजीविका) के उपाय सोचने लगे ॥ ४५ ॥

त्वमेव शरणं नान्यद् गतिरिहास्ति नः । इति ब्रुवाणा विद्रुताः प्राणत्राणे मतिं दधुः ॥ ४६ ॥

हे प्रभो! आप ही हमें शरणरूप हैं, इस संसारमें हम लोगोंकी और कोई गति नहीं है, ऐसा कहकर भागते हुए कितने ही पुरुष अपने प्राणोंकी रक्षामें बुद्धि लगा रहे थे—प्राणरक्षाके उपाय विचार रहे थे ॥ ४६ ॥

> अपत्रपिष्णवः केचिद् वेपमानप्रतीककाः । गुरोः पराङ्मुखा भूत्वा जाता व्रतपराङ्मुखाः ॥ ४७ ॥

जिनके प्रत्येक अंग थर-थर काँप रहे हैं ऐसे कितने ही लज्जावान् पुरुष भगवानसे पराङ्मुख होकर व्रतोंसे पराङ्मुख हो गये थे अर्थात् लज्जाके कारण भगवानके पाससे दूसरी जगह जाकर उन्होंने व्रत छोड़ दिये थे ॥ ४७ ॥

> पादयोः पतिताः केचित् परित्रायस्व नः प्रभो । क्षुधार्ताः क्षमस्वेति ब्रुवन्तोऽन्तर्हिता गुरोः ॥ ४८ ॥

कितने ही लोग भगवानके चरणोंपर पड़कर कह रहे थे कि "हे प्रभो! हमारी रक्षा कीजिए, हम लोगोंका शरीर भूखसे बहुत ही कृश हो गया है अतः अब हमें क्षमा कीजिए" इस प्रकार कहते हुए वहाँसे अन्तर्हित हो गये थे—अन्यत्र चले गये थे ॥ ४८ ॥

> अहो कुत्सिता ऋषयो जाता महद्गन्तुमक्षमाः । पदवीं तामनालीढामन्यैः सामान्यमर्त्यकैः ॥ ४९ ॥

खेद है कि जिसे अन्य साधारण मनुष्य स्पर्श भी नहीं कर सकते ऐसे भगवानके उस मार्गपर चलनेके लिए असमर्थ होकर वे सब खोटे ऋषि तपस्यासे भ्रष्ट हो गये ॥ ४९ ॥

> किं महादन्तिनो भारं निर्वोढुं दन्तिदारकाः क्षमाः । पुङ्गवैर्वाह्यमथवा धुरं वोढुं किमु दम्यकाः ॥ ५० ॥

सो ठीक ही है; क्योंकि बड़े हाथीके बोझको क्या उसके बच्चे भी धारण कर सकते हैं! अथवा बड़े बैलों द्वारा खींचे जाने योग्य भारको क्या छोटे बछड़े भी ढो सकते हैं? ॥ ५० ॥

> ततः परीषहैर्भग्नाः फलान्याहर्तुमिच्छवः । प्रसरन्ति वनषण्डेषु सरःसु च पिपासिताः ॥ ५१ ॥

तदनन्तर परीषहोंसे पीड़ित हुए वे लोग फल लानेकी इच्छासे वनखण्डोंमें फैलने लगे और प्याससे पीड़ित होकर तालाबोंपर जाने लगे ॥ ५१ ॥

> फलान्याददतो दृष्ट्वा पिपासूंश्च स्वयं जलम् । न्यषेधन्नेवमीहध्वमिति ता वनदेवताः ॥ ५२ ॥

उन लोगोंको अपने ही हाथसे फल ग्रहण करते और पानी पीते हुए देखकर वन-देवताओंने उन्हें मना किया और कहा कि ऐसा मत करो ॥ ५२ ॥

> इदं रूपमदीनानामर्हतां चक्रिणामपि । निषेव्यं कातरत्वस्य पदं मा कार्ष्ट बालिशाः ॥ ५३ ॥

हे मूर्खो! यह दिगम्बर रूप सर्वश्रेष्ठ अर्हन्त तथा चक्रवर्ती आदिके द्वारा भी धारण करने योग्य है, इसे तुम लोग कातरताका स्थान मत बनाओ। अर्थात् इस उत्कृष्ट वेषको धारण कर दीनोंकी तरह अपने हाथसे फल मत तोड़ो और न तालाब आदिका अप्रासुक पानी पीओ ॥ ५३ ॥

> इति तद्वचनाद् भीतास्तद्वेषेण तथेहितुम् । नानाविधानिमान् वेषान् जगृहुर्दीनचेष्टिताः ॥ ५४ ॥

वनदेवताओंके ऐसे वचन सुनकर वे लोग दिगम्बर वेषमें वैसा करनेसे डर गये इसलिए उन दीन चेष्टावाले भ्रष्ट तपस्वियोंने नीचे लिखे हुए अनेक वेष धारण कर लिये ॥ ५४ ॥

> केचिद् वल्कलिनो भूत्वा फलान्याददतुः पयः । परिधाय परे जीर्णं कौपीनं चक्रुरीप्सितम् ॥ ५५ ॥

उनमें-से कितने ही लोग वृक्षोंकी छालरूप वल्कल वस्त्र धारण कर फल खाने लगे और पानी पीने लगे और कितने ही लोग जीर्ण-शीर्ण लंगोटी पहनकर अपनी इच्छानुसार कार्य करने लगे ॥ ५५ ॥

> अपरे भस्मनोद्गुण्ठ्य सर्वाङ्गं जटिनोऽभवन् । एकदण्डधराः केचित् केचिच्चासंस्त्रिदण्डिनः ॥ ५६ ॥

कितने ही लोग शरीरको भस्मसे लपेटकर जटाधारी हो गये, कितने ही एकदण्डको धारण करनेवाले और कितने ही तीन दण्डको धारण करनेवाले साधु बन गये थे ॥ ५६ ॥

> प्राणैराप्तास्तदेत्यादिवेषैर्वृतिरे चिरम् । वल्कलाद्यैः कशिपुभिः स्वच्छैस्तोयैः कन्दादिभिश्च ते ॥ ५७ ॥

इस प्रकार प्राणोंसे पीड़ित हुए वे लोग उस समय ऊपर लिखे अनुसार अनेक वेष धारणकर वनमें होनेवाले वृक्षोंकी छालरूप वस्त्र, स्वच्छ जल और कन्द, मूल आदिके द्वारा बहुत समय तक अपनी वृत्ति (जीवन-निर्वाह) करते रहे ॥ ५७ ॥

> भरताद् बिभ्यतां तेषां देशत्यागः स्वतः समभवत् । ततस्ते वनमाश्रित्य तस्थुस्तत्र कुटीचराः ॥ ५८ ॥

वे लोग भरत महाराजसे डरते थे इसलिए उनका देशत्याग अपने आप ही हो गया था अर्थात् वे भरतके डरसे अपने-अपने नगरोंमें नहीं गये थे किन्तु झोंपड़े बनाकर उसी वनमें रहने लगे थे ॥ ५८ ॥

> तदासंस्तापसाः पूर्वे परिव्राजश्च केचन । पाषण्डिनां ते नेतारो बभूवुर्मोहदूषिताः ॥ ५९ ॥

वे लोग पाखण्डी तपस्वी तो पहलेसे ही थे परन्तु उस समय कितने ही परिव्राजक हो गये थे और मोहोदयसे दूषित होकर पाखण्डियोंमें मुख्य हो गये थे ॥ ५९ ॥

> तोयपुष्पादिसम्भारैः पादावर्चन्ति स्म ते । न देवतान्तरं तेषामासीन्मुक्त्वा स्वयम्भुवम् ॥ ६० ॥

वे लोग जल और पुष्पोंके उपहारसे भगवानके चरणोंकी पूजा करते थे। स्वयम्भू भगवान् वृषभदेवको छोड़कर उनका अन्य कोई देवता नहीं था ॥ ६० ॥

> मरीचिस्तु गुरोर्नप्ता परिव्राड्भूयमास्थितः । मिथ्यात्ववृद्धिमातन्वीतापसिद्धान्तभाषितैः ॥ ६१ ॥

भगवान् वृषभदेवका नाती मरीचिकुमार भी परिव्राजक हो गया था और उसने मिथ्या आगमोंके उपदेशसे मिथ्यात्वकी वृद्धि की थी ॥ ६१ ॥

> ततोऽप्युपशमभूद् योगशास्त्रं सांख्यं च कापिलम् । यैर्मोहितो लोकः सम्यग्ज्ञानपराङ्मुखः ॥ ६२ ॥

योगशास्त्र और सांख्यशास्त्र प्रारम्भमें उसके द्वारा कहे गये थे, जिनसे मोहित हुआ यह जीव सम्यग्ज्ञानसे पराङ्मुख हो जाता है ॥ ६२ ॥

इति तेषु तथाभूतां वृत्तिमासेदिवत्सु सः । तपस्यन् धीबलोपेतस्तथैवास्थान्महामुनिः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार जब कि वे द्रव्यलिंगी मुनि ऊपर कही हुई अनेक प्रकारकी वृत्ति प्राप्त कर चुके थे तब बुद्धिबलसे सहित महामुनि भगवान् वृषभदेव उसी प्रकार तपस्या करते हुए विद्यमान रहे ॥ ६३ ॥

स मेरुरिव निष्कम्पः सोऽक्षोभ्यो जलराशिवत् । स वायुरिव निःसङ्गो निर्लेपोऽम्बरवत् प्रभुः ॥ ६४ ॥

वे प्रभु मेरुपर्वतके समान निष्कम्प थे, समुद्रके समान क्षोभरहित थे, वायुके समान परिग्रहरहित थे और आकाशके समान निर्लेप थे ॥ ६४ ॥

तपस्तापेन दीप्तोऽस्य देहोऽत्यर्थमशोभत । निर्दग्धस्य सुवर्णस्य यद्वत् कान्तिर्भवेत् परा ॥ ६५ ॥

तपश्चरणके तीव्र तापसे भगवानका शरीर बहुत ही देदीप्यमान हो गया था, सो ठीक ही है; तपाये हुए सुवर्णकी कान्ति कुछ अन्य हो ही जाती है ॥ ६५ ॥

त्रयी गुप्तिरभूदस्य परित्राणं च संयमः । गुणाश्च सैनिका जाताः कर्मशत्रुजिगीषवः ॥ ६६ ॥

कर्मशत्रुको जीतनेकी इच्छा करनेवाले भगवानकी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ ही किले आदिके समान रक्षा करनेवाली थीं, संयम ही शरीरकी रक्षा करनेवाला कवच था और सम्यग्दर्शनादि गुण ही उनके सैनिक थे ॥ ६६ ॥

तपोऽनशनमाद्यं स्याद् द्वितीयमवमोदरम् । तृतीयं वृत्तिसंख्यानं रसत्यागश्चतुर्थकम् ॥ ६७ ॥

पहला उपवास, दूसरा अवमौदर्य, तीसरा वृत्तिपरिसंख्यान, चौथा रसपरित्याग ॥ ६७ ॥

पञ्चमं कायसंतापो विविक्तशयनासनम् । षष्ठमित्यस्य बाह्यानि तपांस्यासन् महाधृतेः ॥ ६८ ॥

पाँचवाँ कायक्लेश और छठा विविक्तशय्यासन—यह छह प्रकारका बाह्य तप महा धीर-वीर भगवान् वृषभदेवके था ॥ ६८ ॥

> प्रायश्चित्तादिभेदेन षोढैवाभ्यन्तरं तपः । तत्रास्य ध्यान एवासीत् परं तात्पर्यमीशितुः ॥ ६९ ॥

अन्तरंग तप भी प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यानके भेदसे छह प्रकारका ही है। उनमें-से भगवान् वृषभदेवके ध्यानमें ही अधिक तत्परता रहती थी अर्थात् वे अधिकतर आत्मध्यान ही करते रहते थे ॥ ६९ ॥

> व्रतानि पञ्च पञ्चैव समित्याख्याः सुगुप्तयः । तिस्रः पञ्चेन्द्रियसंरोधाः षोढावश्यकमिष्यते ॥ ७० ॥

पाँच महाव्रत, समिति नामक पाँच सुप्रयत्न, तीन गुप्तियाँ, पाँच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक ॥ ७० ॥

> केशलोञ्चश्च भूशय्या दन्तधावनवर्जनम् । अचेलत्वमथास्नानं स्थितिभोजनमप्यदः ॥ ७१ ॥

केशलोंच, पृथिवीपर सोना, दातौन नहीं करना, नग्न रहना, स्नान नहीं करना, खड़े होकर भोजन करना ॥ ७१ ॥

> एकभक्तं च तस्यासन् गुणा मौलाः पदातयः । तेष्वस्य महती शुद्धिरभूद् ध्यानविशुद्धितः ॥ ७२ ॥

और दिनमें एक बार ही भोजन करना—इस प्रकार अट्ठाईस मूल गुण भगवान् वृषभदेवके विद्यमान थे जो कि उनके पदातियों अर्थात् पैदल चलनेवाले सैनिकोंके समान थे। ध्यानकी विशुद्धताके कारण भगवानके इन गुणोंमें बहुत ही विशुद्धता रहती थी ॥ ७२ ॥

> महानशनमस्यासीत् तपः षण्मासगोचरम् । शरीरोपचयः स्निग्धस्तथैवास्यादहो धृतिः ॥ ७३ ॥

यद्यपि भगवानने छह महीनेका महोपवास तप किया था तथापि उनके शरीरका उपचय पहलेकी तरह ही देदीप्यमान बना रहा था। इससे मालूम पड़ता है कि उनकी धीरता बड़ी ही आश्चर्यजनक थी ॥ ७३ ॥

> नानश्नन्नप्यभूद् भर्तुः स्वल्पोऽप्यङ्गे परिश्रमः । निर्माणातिशयः कोऽपि पुंसः स हि महात्मनः ॥ ७४ ॥

यद्यपि भगवान् बिलकुल ही आहार नहीं लेते थे तथापि उनके शरीरमें लेशमात्र भी परिश्रम नहीं होता था। वास्तवमें भगवान् वृषभदेवकी शरीररचना अथवा उनके निर्माण नामकर्मका ही वह कोई दिव्य अतिशय था ॥ ७४ ॥

संस्कारविरहात् केशा जटीभूतास्तदा विभोः । नूनं सोढुं तपःक्लेशमनुसोढुं तथा स्थिताः ॥ ७५ ॥

उस समय भगवानके केश संस्काररहित रहनेके कारण जटाओंके समान हो गये थे और वे ऐसे मालूम होते थे मानो तपस्याका क्लेश सहन करनेके लिए ही वैसे कठोर हो गये हों ॥ ७५ ॥

मुनेर्मूर्ध्नि विरेजूर्ध्वं प्रसृताः पवनोद्धताः । ध्यानाग्निनेव तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिकाः ॥ ७६ ॥

वे जटाएँ पवनसे उड़कर महामुनि भगवान् वृषभदेवके मस्तकपर ऊपर तक फैल गयी थीं, सो ऐसी जान पड़ती थीं मानो ध्यानरूपी अग्निसे तपाये हुए जीवरूपी स्वर्णसे निकली हुई कालिमा ही हो ॥ ७६ ॥

तत्तपोऽतिशयात्तस्मिन् वनान्तेऽभूत् परा द्युतिः । नक्तं दिवा च बालार्कतेजसेवासमन्ततः ॥ ७७ ॥

भगवानके तपश्चरणके अतिशयसे उस विस्तृत वनमें रात-दिन ऐसी उत्तम कान्ति रहती थी जैसी कि प्रातःकालके सूर्यके तेजसे होती है ॥ ७७ ॥

शाखाः पुष्पफलानम्राः शाखिनां तत्र कानने । बभुर्भगवतः पादौ प्रणमन्त्य इवादरात् ॥ ७८ ॥

उस वनमें पुष्प और फलोंके भारसे नम्र हुई वृक्षोंकी शाखाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो भक्तिके साथ भगवानके चरणोंको नमस्कार ही कर रही हों ॥ ७८ ॥

तस्मिन् वने वनलता भृङ्गसंगीतनिःस्वनैः । उपवीणितमातेनुरिव भक्त्या जगद्गुरोः ॥ ७९ ॥

उस वनमें लताओंपर बैठे हुए भ्रमर संगीतके समान मधुर शब्द कर रहे थे जिससे वे वनलताएँ ऐसी मालूम होती थीं मानो भक्तिपूर्वक वीणा बजाकर जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवका यशोगान ही कर रही हों ॥ ७९ ॥

पर्यन्तवर्तिनः क्षोणीं गलद्भिः कुसुमैस्तरोः । पुष्पोपहारमातन्वन्निव भक्त्यास्य पादयोः ॥ ८० ॥

भगवानके समीपवर्ती वृक्षोंसे जो अपने आप ही फूल गिर रहे थे उनसे वे वृक्ष ऐसे जान पड़ते थे मानो भक्तिपूर्वक भगवानके चरणोंमें फूलोंका उपहार ही विस्तृत कर रहे हों अर्थात् फूलोंकी भेंट ही चढ़ा रहे हों ॥ ८० ॥

मृगशावाः पदोपान्तं स्वैरमध्यासिता मुनेः । तदाश्रमस्य शान्तत्वमाचख्युः सान्निद्रिताः ॥ ८१ ॥

भगवानके चरणोंके समीप ही अपनी इच्छानुसार कुछ-कुछ निद्रा लेते हुए जो हरिणोंके बच्चे बैठे हुए थे वे उनके आश्रमकी शान्तता बतला रहे थे ॥ ८१ ॥

मृगारित्वं समुत्सृज्य सिंहाः संहतवृत्तयः । बभूवुर्गजयूथेन माहात्म्यं तद्धि योगजम् ॥ ८२ ॥

सिंह हरिण आदि जन्तुओंके साथ वैरभाव छोड़कर हाथियोंके झुण्डके साथ मिलकर रहने लगे थे, सो यह सब भगवानके ध्यानसे उत्पन्न हुई महिमा ही थी ॥ ८२ ॥

कण्टकालग्नवालाग्राश्चमरीश्चमरीव्रजाः । नखरैः स्वैरहो व्याघ्राः सानुकम्पं व्यमोचयन् ॥ ८३ ॥

अहा, कैसा आश्चर्य था कि जिनके बालोंके अग्रभाग काँटोंमें उलझ गये थे और जो उन्हें बार-बार सुलझानेका प्रयत्न करती थीं ऐसी चमरी गायोंको बाघ बड़ी दयाके साथ अपने नखोंसे छुड़ा रहे थे अर्थात् उनके बाल सुलझा कर उन्हें जहाँ-तहाँ जानेके लिए स्वतन्त्र कर रहे थे ॥ ८३ ॥

क्षीरं स्रवन्तीर्महाव्याघ्रीरुपगम्य मृगशावकाः । स्वजनन्यास्थया पीत्वा क्षीरं सुखमासते ॥ ८४ ॥

हरिणोंके बच्चे दूध देती हुई वाघिनियोंके पास जाकर और उन्हें अपनी माता समझ इच्छानुसार दूध पीकर सुखी होते थे ॥ ८४ ॥

पदयोरस्य वन्येभाः समुत्फुल्लं सरोरुहम् । ढौकयामासुरापीय तपःशक्तिरहो परा ॥ ८५ ॥

अहा, भगवानके तपश्चरणकी शक्ति बड़ी ही आश्चर्यकारक थी कि जंगली हाथी भी फूले हुए कमल लाकर उनके चरणोंमें चढ़ाते थे ॥ ८५ ॥

बभौ राजीवमारक्तं करिणां पुष्कराश्रितम् । पुष्करशोभां द्विगुणीकुर्वद् भर्तुरुपासने ॥ ८६ ॥

जिस समय वे हाथी फूले हुए कमलों द्वारा भगवानकी उपासना करते थे उस समय उनकी सूँड़के अग्रभागमें स्थित लाल कमल ऐसे सुशोभित होते थे मानो उनके पुष्कर अर्थात् सूँड़के अग्रभागकी शोभाको दूनी कर रहे हों ॥ ८६ ॥

> प्रशमस्य विभोरङ्गाद् विसर्पन्त इवांशवः । प्रसह्य वशमानिन्युरवशानपि तान् मृगान् ॥ ८७ ॥

भगवानके शरीरसे निकलती हुई शान्तिकी किरणोंने कभी किसीके वश न होनेवाले सिंह आदि पशुओंको भी हठात् वशमें कर लिया था ॥ ८७ ॥

> अनश्नतोऽपि नास्यासीत् क्षुद्बाधा जगत्पतेः । संतोषभावनोत्कर्षाज्जयत्युद्रिक्तमप्यदः ॥ ८८ ॥

यद्यपि त्रिलोकीनाथ भगवान् उपवास कर रहे थे—कुछ भी आहार नहीं लेते थे तथापि उन्हें भूखकी बाधा नहीं होती थी, सो ठीक ही है; क्योंकि सन्तोषरूप भावनाके उत्कर्षसे जो अनिच्छा उत्पन्न होती है, वह हर एक प्रकारकी इच्छाओं (लम्पटता) को जीत लेती है ॥ ८८ ॥

> अकम्पन्त समं तदेन्द्राणामासनान्यस्य योगतः । चित्रं हि महतां धैर्यं जगदाकम्पकारणम् ॥ ८९ ॥

उस समय भगवानके ध्यानके प्रतापसे इन्द्रोंके आसन भी कम्पायमान हो गये थे। वास्तवमें यह भी एक बड़ा आश्चर्य है कि महापुरुषोंका धैर्य भी जगत् के कम्पनका कारण हो जाता है ॥ ८९ ॥

> इति षण्मासनिवर्त्यप्रतिमायोगमापुषः । स कालः क्षणवद् भर्तुरगमद् धैर्यशालिनः ॥ ९० ॥

इस तरह छह महीनेमें समाप्त होनेवाले प्रतिमायोगको प्राप्त हुए और धैर्यसे शोभायमान रहनेवाले भगवानका वह लम्बा समय भी क्षणभरके समान व्यतीत हो गया ॥ ९० ॥

> अत्रान्तरे किलायातौ कुमारौ सुकुमारकौ । नृपौ कच्छमहाकच्छनृपयोर्निकटे प्रभोः ॥ ९१ ॥

इसीके बीचमें महाराज कच्छ, महाकच्छके दोनों सुकुमार व तरुण पुत्र भगवानके समीप आये ॥ ९१ ॥

नमिर्विनमिश्चेति प्रतीतौ भक्तिनिर्भरौ । भगवत्पादसंसेवां कर्तुकामौ युवेश्वरौ ॥ ९२ ॥

नमि तथा विनमि उनका नाम था और दोनों ही भक्तिसे निर्भर होकर भगवानके चरणोंकी सेवा करना चाहते थे ॥ ९२ ॥

स्वामिन् समुपयातौ प्रसीदेति कृतानती । पदद्वयेऽस्य संलीनौ भेजतुर्ध्यानविघ्नताम् ॥ ९३ ॥

वे दोनों ही भोगोपभोगविषयक इच्छाओंसे सहित थे इसलिए "हे भगवन्! प्रसन्न होइए" इस प्रकार कहते हुए वे भगवानको नमस्कार कर उनके चरणोंमें लिपट गये और उनके ध्यानमें विघ्न करने लगे ॥ ९३ ॥

त्वयेह पुत्रनप्तृभ्यः संविभक्तमभूदिदम् । साम्राज्यं विस्मृतावत्र तावतो भोगान् प्रयच्छ नौ ॥ ९४ ॥

हे स्वामिन्! आपने अपना यह साम्राज्य पुत्र तथा पौत्रोंके लिए बाँट दिया है। बाँटते समय हम दोनोंको भुला ही दिया—इसलिए अब हमें भी कुछ भोग सामग्री दीजिए ॥ ९४ ॥

इत्येवमनुबध्नन्तौ युक्तायुक्तानभिज्ञकौ । तौ तदा जलपुष्पाद्यैरुपासामासतुरुविभुम् ॥ ९५ ॥

इस प्रकार वे भगवानसे बार-बार आग्रह कर रहे थे, उन्हें उचित-अनुचितका कुछ भी ज्ञान नहीं था और वे दोनों उस समय जल, पुष्प तथा अर्घ्यसे भगवानकी उपासना कर रहे थे ॥ ९५ ॥

ततः स्वासनकम्पेन तदज्ञासीत् फणीश्वरः । धरणेन्द्र इति ख्यातिमुद्वहन् भावनामरः ॥ ९६ ॥

तदनन्तर धरणेन्द्र नामको धारण करनेवाले, भवनवासियोंके अन्तर्गत नागकुमार देवोंके इन्द्रने अपना आसन कम्पायमान होनेसे नमि, विनमिके इस समस्त वृत्तान्तको जान लिया ॥ ९६ ॥

ज्ञात्वावधिदृशा सर्वं तद्वृत्तान्तं ससम्भ्रमम् । ससंभ्रममथोत्थाय सोऽन्तिकं भर्तुरागपत् ॥ ९७ ॥

अवधिज्ञानके द्वारा इन समस्त समाचारोंको जानकर वह धरणेन्द्र बड़े ही आदरके साथ उठा और शीघ्र ही भगवानके समीप आया ॥ ९७ ॥

> पूजाद्रव्यं समुद्भिद्य भुवः प्राप स तत्क्षणात् । समैक्षिष्ट मुनिं दूराद् महामेरुमिवोन्नतम् ॥ ९८ ॥

वह उसी समय पूजाकी सामग्री लिये हुए, पृथिवीको भेदकर भगवानके समीप पहुँचा। वहाँ उसने दूरसे ही मेरु पर्वतके समान ऊँचे मुनिराज वृषभदेवको देखा ॥ ९८ ॥

> समिद्धया तपोदीप्त्या ज्वलद्भासुरविग्रहम् । निवातनिश्चलं दीपमिव योगे समाहितम् ॥ ९९ ॥

उस समय भगवान् ध्यानमें लीन थे और उनका देदीप्यमान शरीर अतिशय बढ़ी हुई तपकी दीप्तिसे प्रकाशमान हो रहा था इसलिए वे ऐसे मालूम होते थे मानो वायुरहित प्रदेशमें रखे हुए दीपक ही हों ॥ ९९ ॥

> कर्माहुतीर्महाध्यानहुताशे दग्धुमुद्यतम् । सुयज्वानमिवाहैयदयापत्नीपरिग्रहम् ॥ १०० ॥

अथवा वे भगवान् किसी उत्तम यज्वा अर्थात् यज्ञ करनेवालेके समान शोभायमान हो रहे थे; क्योंकि जिस प्रकार यज्ञ करनेवाला अग्निमें आहुतियाँ जलानेके लिए तत्पर रहता है उसी प्रकार भगवान् भी महाध्यानरूपी अग्निमें कर्मरूपी आहुतियाँ जलानेके लिए तत्पर थे। और जिस प्रकार यज्ञ करनेवाला अपनी पत्नीसे सहित होता है उसी प्रकार भगवान् भी कभी नहीं छोड़ने योग्य दयारूपी पत्नीसे सहित थे ॥ १०० ॥

> महोदयमुदग्राङ्गं सुवंशं सुष्ठु बन्धनम् । गजं तपोमहास्तम्भे संसक्तं दृढरज्जुभिः ॥ १०१ ॥

अथवा वे मुनिराज एक महागज अर्थात् हाथीके समान मालूम होते थे; क्योंकि जिस प्रकार हाथी महोदय अर्थात् भाग्यशाली होता है उसी प्रकार भगवान् भी महोदय अर्थात् बड़े भारी ऐश्वर्यसे सहित थे। हाथीका शरीर जिस प्रकार ऊँचा होता है, उसी प्रकार भगवानका शरीर भी ऊँचा था; हाथी जिस प्रकार सुवंश अर्थात् पीठकी उत्तम रीढ़से सहित होता है, उसी प्रकार भगवान् भी सुवंश अर्थात् उत्तम कुलसे सहित थे; और हाथी जिस प्रकार रस्सियों द्वारा खम्भेमें बँधा रहता है उसी प्रकार भगवान् भी उत्तम व्रतरूपी रस्सियों द्वारा तपरूपी बड़े भारी खम्भेमें बँधे हुए थे ॥ १०१ ॥

> अकम्पस्थितिमुत्तुङ्गं महासत्त्वैरुपासितम् । महाद्रिमिव बिभ्राणं क्षमाभारसहं वपुः ॥ १०२ ॥

वे भगवान् सुमेरु पर्वतके समान उत्तम शरीर धारण कर रहे थे; क्योंकि जिस प्रकार सुमेरु पर्वत अकम्पायमान रूपसे खड़ा है उसी प्रकार उनका शरीर भी अकम्पायमान रूपसे (निश्चल) खड़ा था; मेरु पर्वत जिस प्रकार ऊँचा होता है, उसी प्रकार उनका शरीर भी ऊँचा था; सिंह, व्याघ्र आदि बड़े-बड़े क्रूर जीव जिस प्रकार सुमेरु पर्वतकी उपासना करते

हैं अर्थात् वहाँ रहते हैं, उसी प्रकार समस्त क्रूर जीव शान्त होकर भगवानके शरीरकी भी उपासना करते थे अर्थात् उनके समीपमें रहते थे; अथवा सुमेरु पर्वत जिस प्रकार इन्द्र आदि महासत्त्व अर्थात् महाप्राणियोंसे उपासित होता है उसी प्रकार भगवानका शरीर भी इन्द्र आदि महासत्त्वोंसे उपासित था; अथवा सुमेरु पर्वत जिस प्रकार महासत्त्व अर्थात् बड़ी भारी दृढ़तासे उपासित होता है उसी प्रकार भगवानका शरीर भी महासत्त्व अर्थात् बड़ी भारी दृढ़ता (धीर-वीरता) से उपासित था; और सुमेरु पर्वत जिस प्रकार क्षमा अर्थात् पृथिवीके भारको धारण करनेमें समर्थ होता है उसी प्रकार भगवानका शरीर भी क्षमा अर्थात् शान्तिके भारको धारण करनेमें समर्थ था ॥ १०२ ॥

> लीनं ध्याने निभृतात्मानमतिगम्भीरचेष्टितम् । निवातस्तिमितस्याब्धेर्न्यक्कुर्वाणं गभीरताम् ॥ १०३ ॥

उस समय भगवानने अपने अन्तःकरणको ध्यानके भीतर लीन कर लिया था तथा उनकी चेष्टाएँ अत्यन्त गम्भीर थीं इसलिए वे वायुके न चलनेसे निश्चल हुए समुद्रकी गम्भीरताको भी तिरस्कृत कर रहे थे ॥ १०३ ॥

> परीषहमहावातैरक्षोभ्यमजलाशयम् । दोषयादोभिरस्पृष्टमपूर्वमिव वारिधिम् ॥ १०४ ॥

अथवा भगवान् किसी अपूर्व समुद्रके समान जान पड़ते थे; क्योंकि उपलब्ध समुद्र तो वायुसे क्षुभित हो जाता है, परन्तु वे परीषहरूपी महावायुसे कभी भी क्षुभित नहीं होते थे; उपलब्ध समुद्र तो जलाशय अर्थात् जल है आशयमें (मध्यमें) जिसके ऐसा होता है परन्तु भगवान् जडाशय अर्थात् जड़ (अविवेक युक्त) है आशय (अभिप्राय) जिनका ऐसे नहीं थे; उपलब्ध समुद्र तो अनेक मगरमच्छ आदि जल-जन्तुओंसे भरा रहता है, परन्तु भगवान् दोषरूपी जल-जन्तुओंसे छुए भी नहीं गये थे ॥ १०४ ॥

> सादरं च समासाद्य पश्यन् भगवतो वपुः । विसिस्मिये तपोलक्ष्म्या परिरब्धमधीयया ॥ १०५ ॥

इस प्रकार भगवान् वृषभदेवके समीप वह धरणेन्द्र बड़े ही आदरके साथ पहुँचा और अतिशय बढ़ी हुई तपरूपी लक्ष्मीसे आलिंगित हुए भगवानके शरीरको देखता हुआ आश्चर्य करने लगा ॥ १०५ ॥

> परीत्य प्रणतः भक्त्या स्तुत्वा च स जगद्गुरुम् । कुमाराविति सोपायमवदत् संवृताकृतिः ॥ १०६ ॥

तदनन्तर ही उस धरणेन्द्रने जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवकी प्रदक्षिणा दी, उन्हें प्रणाम किया, उनकी स्तुति की और फिर अपना वेश छिपाकर वह उन दोनों कुमारोंसे इस प्रकार सयुक्तिक वचन कहने लगा ॥ १०६ ॥

> इमौ युवानौ दृश्येथे सायुधौ विकृताकृती । तपोवनं च पश्यामि प्रशान्तमिदमूर्जितम् ॥ १०७ ॥

हे तरुण पुरुषो! ये हथियार धारण किये हुए तुम दोनों मुझे विकृत आकारवाले दिखलाई दे रहे हो और इस उत्कृष्ट तपोवनको अत्यन्त शान्त देख रहा हूँ ॥ १०७ ॥

> क्व चेदं तपोवनं शान्तं क्व च युवां भीषणाकृती । प्रकाशतमसोरैष सङ्गमो नन्वसङ्गतः ॥ १०८ ॥

कहाँ तो यह शान्त तपोवन, और कहाँ भयंकर आकारवाले तुम दोनों? प्रकाश और अन्धकारके समान तुम्हारा समागम क्या अनुचित नहीं है? ॥ १०८ ॥

> अहो निन्द्यतरा तृष्णा वैरस्थानेऽपि योजयेत् । प्रार्थनाऽर्थिनां का वा युक्तायुक्तविचारणा ॥ १०९ ॥

अहो, यह तृष्णा बड़ी ही निन्दनीय है जो कि अयोग्य स्थानमें भी प्रार्थना कराती है अर्थात् जहाँ याचना नहीं करनी चाहिए वहाँ भी याचना कराती है, सो ठीक ही है; क्योंकि याचना करते समय याचकको योग्य-अयोग्यका विचार ही कहाँ रहता है! ॥ १०९ ॥

> यदनेन वृथा भोगान् देवोऽयं भोगनिःस्पृहः । तद्बीजं शिलातलेऽब्जवाञ्छा चित्रीयतेऽद्य नः ॥ ११० ॥

यह भगवान् तो भोगोंसे विरक्त हैं और तुम दोनों उनसे भोगोंकी इच्छा कर रहे हो, सो तुम्हारी यह शिलातलसे कमलकी इच्छा आज हम लोगोंको आश्चर्ययुक्त कर रही है। भावार्थ—जिस प्रकार पत्थरकी शिलासे कमलोंकी इच्छा करना व्यर्थ है, उसी प्रकार भोगोंकी इच्छासे रहित भगवानसे भोगोंकी इच्छा करना व्यर्थ है ॥ ११० ॥

> भोगाभिलाषुकः स्वयमन्यांश्च मनुते तथा । को नाम स्पृहयेद्धीमान् भोगान् पर्यन्ततापिनः ॥ १११ ॥

जो मनुष्य स्वयं भोगोंकी इच्छासे युक्त होता है वह दूसरोंको भी वैसा ही मानता है; अरे, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो अन्तमें सन्ताप देनेवाले इन भोगोंकी इच्छा करता हो? ॥ १११ ॥

> आपातमात्ररम्याणां भोगानां वशगो महान् । महानप्यर्थितादोषात् तृणवल्लघुतां व्रजेत् ॥ ११२ ॥

प्रारम्भमात्रमें ही मनोहर दिखाई देनेवाले भोगोंके वश हुआ पुरुष चाहे जितना बड़ा होनेपर भी याचनारूपी दोषसे शीघ्र ही तृणके समान लघु हो जाता है ॥ ११२ ॥

> इमौ चेद्भोगकाम्यन्तौ यात भरतान्तिकम् । स हि साम्राज्यधौरेयो राजा नृपपुङ्गवः ॥ ११३ ॥

यदि तुम दोनों भोगोंको चाहते हो तो भरतके समीप जाओ क्योंकि इस समय वही साम्राज्यका भार धारण करनेवाला है और वही श्रेष्ठ राजा है ॥ ११३ ॥

> भगवांस्त्यक्तरागादिसङ्गो देहेऽपि निःस्पृहः । कथं दास्यति वा भोगान् भोगस्पृहावतोः ॥ ११४ ॥

भगवान् तो राग, द्वेष आदि समस्त परिग्रहका त्याग कर चुके हैं और अपने शरीरसे भी निःस्पृह हो रहे हैं, अब ये भोगोंकी इच्छा करनेवाले तुम दोनोंको भोग कैसे दे सकते हैं? ॥ ११४ ॥

> ततोऽलमुपरुद्ध्वैनं यतं मुक्त्यर्थमुद्यतम् । भुक्तिकामौ युवां यात भरतं पर्युपासितुम् ॥ ११५ ॥

इसलिए, जो केवल मोक्ष जानेके लिए उद्योग कर रहे हैं ऐसे इन भगवानके पास धरना देना व्यर्थ है। तुम दोनों भोगके इच्छुक हो अतः भरतकी उपासना करनेके लिए उसके पास जाओ ॥ ११५ ॥

> इति तद्वचनस्यान्ते कुमारौ प्रत्यवोचताम् । परकार्येषु वः कीदृक् तूष्णीं यात महाधियः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार जब वह धरणेन्द्र कह चुका तब वे दोनों नमि, विनमि कुमार उसे इस प्रकार उत्तर देने लगे कि दूसरेके कार्यमें आपकी यह क्या आस्था (आदर, बुद्धि) है? आप महाबुद्धिमान् हैं, अतः यहाँसे चुपचाप चले जाइए ॥ ११६ ॥

> आवामेव कार्यमकार्यं जानीवस्तद्वयं स्वयम् । अनभिज्ञा भवन्तोऽत्र साधयन्तु यथेहितम् ॥ ११७ ॥

क्योंकि इस विषयमें जो योग्य अथवा अयोग्य है उन दोनोंको हम लोग जानते हैं परन्तु आप इस विषयमें अनभिज्ञ हैं इसलिए जहाँ आपको जाना है जाइए ॥ ११७ ॥

वर्षीयांसो यवीयांस इति केवलं वयस्कृतः । न बोधवृद्धिर्वृद्धिक्ये न यून्यपचयो धियः ॥ ११८ ॥

ये वृद्ध हैं और ये तरुण हैं यह भेद तो मात्र अवस्थाका किया हुआ है। वृद्धावस्थामें न तो कुछ ज्ञानकी वृद्धि होती है और न तरुण अवस्थामें बुद्धिका कुछ ह्रास ही होता है ॥ ११८ ॥

प्रायः परिणामेन परिपाकः प्रायेण मन्दिमा । कृतात्मनां वयस्याद्ये बुद्धिरेव विवर्धते ॥ ११९ ॥

बल्कि देखा ऐसा जाता है कि अवस्थाके पकनेसे वृद्धावस्थामें प्रायः बुद्धिकी मन्दता हो जाती है और प्रथम अवस्थामें प्रायः पुण्यवान् पुरुषोंकी बुद्धि बढ़ती रहती है ॥ ११९ ॥

न तद् वयो न दोषाय न गुणाय दशास्तरम् । नवोऽपीन्दुर्जनाह्लादी दहत्यग्निर्जरन्नपि ॥ १२० ॥

न तो नवीन-तरुण अवस्था दोष उत्पन्न करनेवाली है और न वृद्ध अवस्था गुण उत्पन्न करनेवाली है; क्योंकि चन्द्रमा नवीन होनेपर भी मनुष्योंको आह्लादित करता है और अग्नि जीर्ण (बुझनेके सम्मुख) होनेपर भी जलाती ही है ॥ १२० ॥

अपृष्टः कार्यमाचष्टे यः स धृष्टतरो मतः । न हि पृष्टं युष्माभिरावाभ्यां कार्यमीदृशम् ॥ १२१ ॥

जो मनुष्य बिना पूछे ही किसी कार्यको कहता है वह बहुत ढीठ समझा जाता है। हम दोनों ही इस प्रकारका कार्य आपसे पूछना नहीं चाहते फिर आप व्यर्थ ही बीचमें क्यों बोलते हैं? ॥ १२१ ॥

अपृष्टा निर्देशः व्यलीकानिष्टचाटुभिः । छलयन्ति खला लोकं न सवृत्ता भवद्विधाः ॥ १२२ ॥

आप-जैसे कुत्सित आचरणवाले दुष्ट पुरुष बिना पूछे कार्योंका निर्देश कर तथा अत्यन्त असत्य और अनिष्ट चापलूसीके वचन कहकर लोगोंको ठगा करते हैं ॥ १२२ ॥

नानिष्ठभाषिणी जिह्वा चेष्टा नानिष्ठकारिणी । नान्यपघातपरुषा स्मृतिः स्वप्नेऽपि धीमताम् ॥ १२३ ॥

बुद्धिमान् पुरुषोंकी जिह्वा कभी स्वप्नमें भी अशुद्ध भाषण नहीं करती, उनकी चेष्टा कभी दूसरोंका अनिष्ट नहीं करती और न उनकी स्मृति ही दूसरोंका विनाश करनेके लिए कभी कठोर होती है ॥ १२३ ॥

> विदिताखिलवेद्यानां नोपदेशो भवादृशाम् । न्याय्योऽस्मदादिभिः सन्तो यतो न्यायैकजीविकाः ॥ १२४ ॥

जिन्होंने जानने योग्य सम्पूर्ण तत्त्वोंको जान लिया है ऐसे आप-सरीखे बुद्धिमान् पुरुषोंके लिए हम बालकों द्वारा न्यायमार्गका उपदेश दिया जाना योग्य नहीं है; क्योंकि जो सज्जन पुरुष होते हैं वे एक न्यायरूपी जीविकासे ही युक्त होते हैं अर्थात् वे न्यायरूप प्रवृत्तिसे ही जीवित रहते हैं ॥ १२४ ॥

> वयोऽनुरूपोऽयं वपुः सौम्येयमाकृतिः । वचः प्रसन्नमूर्जस्वि व्याचष्टे च प्रबुद्धताम् ॥ १२५ ॥

आयुके अनुकूल धारण किया हुआ आपका यह वेष बहुत ही शान्त है, आपकी यह आकृति भी सौम्य है और आपके वचन भी प्रसादगुणसे सहित तथा तेजस्वी हैं और आपकी बुद्धिमत्ताको स्पष्ट कह रहे हैं ॥ १२५ ॥

> बहिःस्फुरति किमप्यन्तर्गूढं तेजो जनातिगम् । महानुभावतां वक्ति वपुरद्भुतमेव च ॥ १२६ ॥

जो अन्य साधारण पुरुषोंमें नहीं पाया जाता और जो बाहर भी प्रकाशमान हो रहा है ऐसा आपका यह भीतर छिपा हुआ अनिर्वचनीय तेज तथा अद्भुत शरीर आपकी महानुभावताको कह रहा है। भावार्थ—आपके प्रकाशमान लोकोत्तर तेज तथा असाधारण दीप्तिमान् शरीरको देखनेसे मालूम होता है कि आप कोई महापुरुष हैं ॥ १२६ ॥

> इत्यभिव्यक्तनैष्ठिक्या भवान् भद्रप्रकृतिः पुमान् । कार्ये यदस्मदीये मुह्यन्तीह न विद्मः किं नु कारणम् ॥ १२७ ॥

इस प्रकार जिनकी अनेक विशेषताएँ प्रकट हो रही हैं ऐसे आप कोई भद्रपरिणामी पुरुष हैं परन्तु फिर भी आप जो हमारे कार्यमें मोहको प्राप्त हो रहे हैं सो उसका क्या कारण है, यह हम नहीं जानते ॥ १२७ ॥

> गुरुप्रसादनं श्लाघ्यमावाभ्यां फलमीप्सितम् । यूयं तत्प्रतिबन्धारः परकार्येषु शीतलाः ॥ १२८ ॥

गुरु भगवान् वृषभदेवको प्रसन्न करना सब जगह प्रशंसा करने योग्य है और यही हम दोनोंका इच्छित फल है अर्थात् हम लोग भगवानको ही प्रसन्न करना चाहते हैं परन्तु आप उसमें प्रतिबन्ध कर रहे हैं—विघ्न डाल रहे हैं, इसलिए जान पड़ता है कि आप दूसरोंका कार्य करनेमें शीतल अर्थात् उद्योगरहित हैं—आप दूसरोंका भला नहीं होने देना चाहते ॥ १२८ ॥

> परेषां वृद्धिमालोक्य सन्त्वसूयति दुर्जनः । युष्मादृशां तु महतां प्रत्युत सा मुदे ॥ १२९ ॥

दूसरोंकी वृद्धि देखकर दुर्जन मनुष्य ही ईर्ष्या करते हैं। आप-जैसे सज्जन और महापुरुषोंको तो बल्कि दूसरोंकी वृद्धिसे आनन्द होना चाहिए ॥ १२९ ॥

> वनेऽपि वसतो भर्तुः प्रभुत्वं किं परिच्युतम् । पादमूले जगत् सर्वं यस्याद्यापि चराचरम् ॥ १३० ॥

भगवान् वनमें निवास कर रहे हैं इससे क्या उनका प्रभुत्व नष्ट हो गया है? देखो, भगवानके चरणकमलोंके मूलमें आज भी यह चराचर जगत् विद्यमान है ॥ १३० ॥

> कल्पानोकहमुत्सृज्य को वा सामान्यमहीरुहम् । सेवेत बहुचीरोप्सन् फलं विपुलमूर्जितम् ॥ १३१ ॥

आप जो हम लोगोंको भरतके पास जानेकी सलाह दे रहे हैं सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो बड़े-बड़े बहुत-से फलोंकी इच्छा करता हुआ भी कल्पवृक्षको छोड़कर अन्य सामान्य वृक्षकी सेवा करेगा? ॥ १३१ ॥

> महाब्धिमथवा हित्वा मण्यर्थी किं संश्रयेत् । पल्वलं शुष्कशैवालं धान्यार्थी वा पलालकम् ॥ १३२ ॥

अथवा रत्नोंकी चाह करनेवाला पुरुष महासमुद्रको छोड़कर, जिसमें शैवाल भी सूख गयी है ऐसे किसी अल्प सरोवर (तलैया) की सेवा करेगा अथवा धानकी इच्छा करनेवाला पयालका आश्रय करेगा? ॥ १३२ ॥

> भरतस्य गुरोश्चापि किमु नास्त्यन्तरं महत् । गोष्पदस्य समुद्रस्य समकक्ष्यत्वमस्ति या ॥ १३३ ॥

भरत और भगवान् वृषभदेवमें क्या बड़ा भारी अन्तर नहीं है? क्या गोष्पदकी समुद्रके साथ बराबरी हो सकती है? ॥ १३३ ॥

> सर्वत्राम्भःकलिता लोके न सन्ति जलाशयाः । चातकस्याग्रहः कोऽपि यद्वाञ्छत्यम्बुदात् पयः ॥ १३४ ॥

क्या लोकमें स्वच्छ जलसे भरे हुए अन्य जलाशय नहीं हैं जो चातक पक्षी हमेशा मेघसे ही जलकी याचना करता है? यह क्या उसका कोई अनिर्वचनीय हठ नहीं है! ॥ १३४ ॥

> तदुन्नतेरिदं चिन्हं यद् यदभ्युद्यतं महत् । वाञ्छन्ति परमोदारं स्थानमाश्रित्य मानिनः ॥ १३५ ॥

इसलिए अभिमानी मनुष्य जो अत्यन्त उदार स्थानका आश्रय कर किसी बड़े भारी फलकी वांछा करते हैं सो इसे आप उनकी उन्नतिका ही आचरण समझें ॥ १३५ ॥

> इत्यदीनतरां वाचं श्रुत्वाऽहीन्द्रः कुमारयोः । नितरां सोऽतुषच्चित्ते श्लाघ्यं वृत्तं हि मानिनाम् ॥ १३६ ॥

इस प्रकार वह धरणेन्द्र नमि, विनमि दोनों कुमारोंके अदीनतर अर्थात् अभिमानसे भरे हुए वचन सुनकर मनमें बहुत ही सन्तुष्ट हुआ, सो ठीक ही है; क्योंकि अभिमानी पुरुषोंका वृत्त प्रशंसा करने योग्य होता है ॥ १३६ ॥

> अहो महेच्छता यूनोरहो गाम्भीर्यमेतयोः । अहो गुरौ परा भक्तिरहो श्लाघ्या स्पृहानयोः ॥ १३७ ॥

वह धरणेन्द्र मन-ही-मन विचार करने लगा कि अहा, इन दोनों तरुण कुमारोंकी महेच्छता (महाशयता) कितनी बड़ी है, इनकी गम्भीरता भी आश्चर्य करनेवाली है, भगवान् वृषभदेवमें इनकी श्रेष्ठ भक्ति भी आश्चर्यजनक है और इनकी स्पृहा भी प्रशंसा करने योग्य है ॥ १३७ ॥

> इति प्रीतस्तदात्मीयं दिव्यं रूपं प्रदर्शयन् । पुनरित्यवदत् प्रीतिलतायाः कुसुमं वचः ॥ १३८ ॥

इस प्रकार प्रसन्न हुआ धरणेन्द्र अपना दिव्य रूप प्रकट करता हुआ उनसे प्रीतिरूपी लताके पुष्पके समान इस प्रकार वचन कहने लगा ॥ १३८ ॥

> युवां युवजनावस्थौ तुष्टो वां धीरचेष्टितैः । अहं हि धरणो नाम फणिनां पतिरग्रिमः ॥ १३९ ॥

तुम दोनों तरुण होकर भी उत्तम आचरणवाले हो, मैं तुम लोगोंकी धीर-वीर चेष्टाओंसे बहुत ही सन्तुष्ट हुआ हूँ, मेरा नाम धरण है और मैं नागकुमार जातिके देवोंका मुख्य इन्द्र हूँ ॥ १३९ ॥

> मां विद्धीह प्रियं भर्तुः पातालस्वर्गवासिनम् । युवयोर्भोगभागित्वं विधातुं समुपागतम् ॥ १४० ॥

मुझे आप पाताल स्वर्गमें रहनेवाला भगवानका प्रिय समझें तथा मैं यहाँ आप दोनोंको भोगोपभोगकी सामग्रीसे युक्त करनेके लिए ही आया हूँ ॥ १४० ॥

> आदिष्टोऽस्म्यहमीशेन कुमारौ भक्तिकाविमौ । भोगैरिष्टैर्नियुङ्क्ष्वेति ततस्तेनागतो ह्यहम् ॥ १४१ ॥

ये दोनों कुमार बड़े ही भक्त हैं इसलिए इन्हें इनकी इच्छानुसार भोगोंसे युक्त करो। इस प्रकार भगवानने मुझे आज्ञा दी है और इसलिए मैं यहाँ शीघ्र आया हूँ ॥ १४१ ॥

> तदुत्तिष्ठतमापृच्छ्य भगवन्तं जगत्स्रजम् । युवयोर्भोगमथाहं दास्यामि गुरुदेशितम् ॥ १४२ ॥

इसलिए जगत् की व्यवस्था करनेवाले भगवानसे पूछकर उठो। आज मैं तुम दोनोंके लिए भगवानके द्वारा बतलायी हुई भोगसामग्री दूँगा ॥ १४२ ॥

> इत्यस्य वचनात् प्रीतौ कुमारौ तमवोचताम् । सत्यं गुरुः प्रसन्नो नौ भोगान् दित्सति वाञ्छितान् ॥ १४३ ॥

इस प्रकार धरणेन्द्रके वचनोंसे वे कुमार बहुत ही प्रसन्न हुए और उससे कहने लगे कि सचमुच ही गुरुदेव हमपर प्रसन्न हुए हैं और हम लोगोंको मनवांछित भोग देना चाहते हैं ॥ १४३ ॥

> तद् वद धरणाधीश सत्यं मतमीशितुः । गुरोर्मताद् विना भोगा नावयोरभिसम्मताः ॥ १४४ ॥

हे धरणेन्द्र! इस विषयमें भगवानका जो सत्य मत हो वह हम लोगोंसे कहिए; क्योंकि भगवानके मत अर्थात् सम्मतिके बिना हमें भोगोपभोगकी सामग्री इष्ट नहीं है ॥ १४४ ॥

> इत्युक्तवन्तौ प्रत्याय्य सोपायं फणिनां पतिः । जगन्नाथं प्रणम्याशु युवानावनयत् सह ॥ १४५ ॥

इस प्रकार कहते हुए कुमारोंको युक्तिपूर्वक विश्वास दिलाकर धरणेन्द्र भगवानको नमस्कार कर उन्हें शीघ्र ही अपने साथ ले गया ॥ १४५ ॥

> स ताभ्यां फणिनां भर्ता रेजे गगनमुत्पतन् । द्युभ्यां तापप्रकाशाभ्यामिव भानुर्महोदयः ॥ १४६ ॥

महान् ऐश्वर्यको धारण करनेवाला वह धरणेन्द्र उन दोनों कुमारोंके साथ आकाशमें जाता हुआ ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो ताप और प्रकाशके साथ उदित होता हुआ सूर्य ही हो ॥ १४६ ॥

> अथवा फणिकुमाराभ्यामिव ताभ्यां समन्वितः । विनयप्रशमाभ्यां वा युक्तो योगीव योगिराट् ॥ १४७ ॥

अथवा जिस प्रकार विनय और प्रशम गुणसे युक्त हुआ कोई योगिराज सुशोभित होता है उसी प्रकार नागकुमारोंके समान उन दोनों कुमारोंसे युक्त हुआ वह धरणेन्द्र भी अतिशय सुशोभित हो रहा था ॥ १४७ ॥

> स व्योममार्गमुत्पत्य विमानमधिरोप्य तौ । द्रुतं प्राप विजयार्धं भूदेव्या हसितोपमम् ॥ १४८ ॥

वह दोनों राजकुमारोंको विमानमें बैठाकर तथा आकाशमार्गका उल्लंघन कर शीघ्र ही विजयार्ध पर्वतपर जा पहुँचा, उस समय वह पर्वत पृथिवीरूपी देवीके हास्यकी उपमा धारण कर रहा था ॥ १४८ ॥

> स्वपूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्य लवणाम्बुधिम् । मध्ये भारतवर्षस्य स्थितं तन्मानदण्डवत् ॥ १४९ ॥

वह विजयार्ध पर्वत अपने पूर्व और पश्चिमकी कोटियोंसे लवण समुद्र अवगाहन (प्रवेश) कर रहा था और भरतक्षेत्रके बीचमें इस प्रकार स्थित था मानो उसके नापनेका एक दण्ड ही हो ॥ १४९ ॥

> विराजमानमुत्तुङ्गैर्नानारत्नांशुचित्रितैः । मुकुटैरिव कूटैः स्वैः स्वैरमारुद्धखाङ्गणैः ॥ १५० ॥

वह पर्वत ऊँचे, अनेक प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे चित्र-विचित्र और अपनी इच्छानुसार आकाशांगणको घेरनेवाले अपने अनेक शिखरोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो मुकुटोंसे ही सुशोभित हो रहा हो ॥ १५० ॥

> निपतन्निर्झरारावैरापूरितगुहामुखम् । व्याजिहीर्षुमिव भ्रान्तं विश्रान्त्यै सुरदम्पतीन् ॥ १५१ ॥

पड़ते हुए निर्झरोंके शब्दोंसे उसकी गुफाओंके मुख आपूरित हो रहे थे और उनमें ऐसा मालूम होता था मानो अतिशय विश्राम करनेके लिए देव-देवियोंको बुला ही रहा हो ॥ १५१ ॥

> महद्भिरचलोदग्रैः संचरद्भिरितस्ततः । घनाघनैर्घनध्वानैर्विध्वङ्गारूढमेखलम् ॥ १५२ ॥

उसकी मेखला अर्थात् बीचका किनारा पर्वतके समान ऊँचे, यहाँ-वहाँ चलते हुए और गम्भीर गर्जना करते हुए बड़े-बड़े मेघों द्वारा चारों ओरसे ढका हुआ था ॥ १५२ ॥

> स्फुरच्चामीकरप्रस्थैर्दीप्तैरुष्णांशुरश्मिभिः । ज्वलद्दावानलाशङ्कां जनयन्तं नभोजुषाम् ॥ १५३ ॥

देदीप्यमान सुवर्णके बने हुए और सूर्यकी किरणोंसे सुशोभित अपने किनारोंके द्वारा वह पर्वत देव और विद्याधरोंको जलते हुए दावानलकी शंका कर रहा था ॥ १५३ ॥

> भित्त्वा शिखरोपान्ताद् व्यायतान् जलदान् जलैः । आवहन्तं बहुनिर्मायं स्थूलैर्बहुनिझरम् ॥ १५४ ॥

उस पर्वतके शिखरोंके समीप भागसे जो बड़े-बड़े जलप्रवाह पड़ते थे उनसे मेघ जर्जरित हो जाते थे और उनसे उस पर्वतके समीप ही बहुत-से निर्झर बनकर निकल रहे थे ॥ १५४ ॥

> कुसुमामोदलोभेन प्रोत्फुल्ला वनवल्लरीः । विनीलैरंशुकैर्विश्वग् विदधानमलिच्छलात् ॥ १५५ ॥

उस पर्वतपरके वनमें अनेक लताएँ फूली हुई थीं और उनपर भ्रमर बैठे हुए थे, उनसे वह पर्वत ऐसा मालूम होता था मानो सुगन्धके लोभसे वह उन वनलताओंको चारों ओरसे काले वस्त्रोंके द्वारा ढक ही रहा हो ॥ १५५ ॥

लताभवनविश्रान्तकिन्नरोद्गीतिनिःस्वनैः । सदा मनोज्ञं वनोद्देशान् धारयन्तं नितम्बके ॥ १५६ ॥

वह पर्वत अपनी मेखलापर ऐसे प्रदेशोंको धारण कर रहा था जो कि लताभवनोंमें विश्राम करनेवाले किन्नर देवोंके मधुर गीतोंके शब्दोंसे सदा सुन्दर रहते थे ॥ १५६ ॥

लतागृहान्तराबद्धदोलाधिरूढमञ्जरीः । वनाधिदेवतादेश्या वहन्तं वनवीथिषु ॥ १५७ ॥

उस पर्वतपर वनकी गलियोंमें लतागृहोंके भीतर पड़े हुए झूलोंपर झूलती हुई विद्याधरियाँ वनदेवताओंके समान मालूम होती थीं ॥ १५७ ॥

संचरत्खचरीवक्त्रपद्मैः प्रतिबिम्बितैः । दधन्तं महानीलस्थलीरूढाब्जिनीश्रियम् ॥ १५८ ॥

उस पर्वतपर जो इधर-उधर घूमती हुई विद्याधरियोंके मुखरूपी कमलोंके प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानो नीलमणिकी जमीनमें जमी हुई कमलिनियोंकी शोभा ही धारण कर रहा हो ॥ १५८ ॥

विचरत्खचरीचारुचरणाक्तकारुणाः । पूजितामिव रक्ताब्जैर्दधतं स्फाटिकीः स्थलीः ॥ १५९ ॥

वह पर्वत स्फटिकमणिकी बनी हुई उन प्राकृतिक भूमियोंको धारण कर रहा था जो कि इधर-उधर टहलती हुई विद्याधरियोंके सुन्दर चरणोंमें लगे हुए महावरसे लाल वर्ण होनेके कारण ऐसी जान पड़ती थीं मानो लाल कमलोंसे उनकी पूजा ही की गयी हो ॥ १५९ ॥

विदारितगुहाधीरध्वनितानलच्छवीन् । निर्झरानिव विभ्राणं मृगेन्द्रानधिकस्वरम् ॥ १६० ॥

वह पर्वत अपनी गुफाओंमें निर्झरोंके समान सिंहोंको धारण कर रहा था; क्योंकि वे सिंह निर्झरोंके समान ही विदूरलंघी अर्थात् दूर तक लाँघनेवाले, गम्भीर शब्दोंसे युक्त और निर्मल कान्तिके धारक थे ॥ १६० ॥

अध्युपत्यकमारूढप्रणयान् सुरदम्पतीन् । सम्भोगान्ते कृतातूद्यविनोदान् दधतं मिथः ॥ १६१ ॥

वह पर्वत अपनी उपत्यका अर्थात् समीपकी भूमिपर सदा ऐसे देव-देवियोंको धारण करता था जो परस्पर प्रेमसे युक्त थे और सम्भोग करनेके अनन्तर वीणा आदि बाजे बजाकर विनोद किया करते थे ॥ १६१ ॥

> श्रेणीद्वयं वितत्याथ पक्षद्वयमिवोपमितम् । विद्याधराधिवसतीर्बिभ्राणं पुरमुत्तमाम् ॥ १६२ ॥

उस पर्वतकी उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओंमें विद्याधरोंके रहने योग्य उत्तम नगरियाँ थीं, उन दोनों श्रेणियोंको फैलाकर वह पर्वत ऐसा मालूम होता था मानो दोनों पंख फैलाकर बैठा हुआ पक्षी ही हो ॥ १६२ ॥

> अध्यधित्यकमाबद्धकेतनैरिव खेचरैः । दधद्भिः शिखरैः सर्वैर्लङ्घयन्तमिवोच्छ्रितैः ॥ १६३ ॥

उसकी अधित्यका अर्थात् ऊपरकी भूमिपर जो ऊँचे शिखर थे उनपर फहराती हुई पताकाओंसे वह पर्वत ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो आकाशको ही लाँघ रहा हो ॥ १६३ ॥

> अच्छिन्नधारमाच्छन्नधवलद्युतिनिर्झरैः । जगन्नाडीमिवोन्मातुं बिभ्रदायतदण्डकम् ॥ १६४ ॥

उस पर्वतसे लगातार गिरनेवाले धवल कान्तिवाले निर्झरोंसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो जगत् की नाड़ी नापनेके लिए लम्बा दण्ड ही धारण कर रहा हो ॥ १६४ ॥

> चन्द्रकान्तोपलैश्चन्द्रकरास्पर्शादनुक्षणम् । क्षरद्भिर्द्रवमम्भोधिं सिञ्चन्तं स्वतटद्रुमान् ॥ १६५ ॥

चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे चन्द्रकान्त मणियोंसे क्षण-क्षणमें जो जल झरता था उससे वह पर्वत अपने तटवर्ती वृक्षोंको सींचता हुआ जान पड़ता था ॥ १६५ ॥

अष्टादश पर्व (उत्तरार्ध)

> दधच्चान्तोपलैरिन्दुं तारकाः कुमुदोत्करैः । सङ्गिनिर्झरसीकरैर्नक्षत्रस्तोममुच्चकैः स्थितम् ॥ १६६ ॥

वह पर्वत चन्द्रकान्तमणियोंसे चन्द्रमाको, कुमुदोंके समूहसे ताराओंको और निम्न रत्नोंके छींटोंसे नक्षत्रोंको नीचा दिखाकर ही मानों बहुत ऊँचा स्थित था ॥ १६६ ॥

> सितैर्धनैस्तटीः स्पृष्ट्वा श्रयद्भिरनिलाहतैः । कृतोपचयमाबद्धवनाभोगैर्धनात्यये ॥ १६७ ॥

शरद् ऋतुमें जब कभी वायुसे टकराये हुए सफेद बादल वन-प्रदेशोंको व्याप्त कर उसके सफेद किनारोंपर आश्रय लेते थे तब उन बादलोंसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानों कुछ बढ़ गया हो ॥ १६७ ॥

> प्रोन्मुक्तो मेदुरैश्चान्तोपपद्वैस्स धृतायतिः । इति सोधादिवोन्मुक्तैरन्यैः निर्झरारवैः ॥ १६८ ॥

उस पर्वतपर जो निर्झरनोंके शब्द हो रहे थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानो सुमेरु पर्वत केवल ऊँचा ही है हमारे समान शुद्ध नहीं है इसी बातपर मानो जोरका शब्द करता हुआ हँस रहा हो ॥ १६८ ॥

> सुविशुद्धोऽहमामूलादाशिखं रजतोच्चयः । शुद्धाः कुलधरा नैवमितीवाविष्कृतोन्नतिम् ॥ १६९ ॥

मैं बहुत ही शुद्ध हूँ और जड़से लेकर शिखर तक चाँदी-चाँदीका बना हुआ हूँ, अन्य कुलाचल मेरे समान शुद्ध नहीं हैं, यह समझकर ही मानो उसने अपनी ऊँचाई प्रकट की थी ॥ १६९ ॥

> खचरैः सह सम्बन्धाद् गङ्गासिन्ध्वोरधः स्थितेः । जित्वा कुलकुलाद्रीन् विश्रुतं विजयार्द्धताम् ॥ १७०
> ॥

उस पर्वतका विद्याधरोंके साथ सदा संसर्ग रहता था और गंगा तथा सिन्धु नामकी दोनों नदियाँ उसके नीचे होकर बहती थीं। इन्हीं कारणोंसे उसने अन्य कुलाचलोंको जीत लिया था तथा इसी कारणसे वह विजयार्ध इस सार्थक नामको धारण कर रहा था। भावार्थ- अन्य कुलाचलोंपर विद्याधर नहीं रहते हैं और न उनके नीचे गंगा सिन्धु ही बहती हैं, बल्कि हिमवत् नामक कुलाचलके ऊपर बहती हैं। इन्हीं विशेषताओंसे मानो उसने अन्य कुलाचलोंपर विजय प्राप्त कर ली थी और इस विजयके कारण ही उसका विजयार्ध (विजय+आ+ऋद्ध) ऐसा सार्थक नाम पड़ा था ॥ १७० ॥

> अचलस्थितिमुत्तुङ्गं शुद्धिभाजं जगद्गुरुम् । जिनेन्द्रमिव नागेन्द्रैः शश्वदाराध्यमादरात् ॥ १७१ ॥

इन्द्र लोग निरन्तर उस पर्वतकी जिनेन्द्रदेवके समान आराधना करते थे क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव अचल स्थित हैं अर्थात् निश्चल मर्यादाको धारण करनेवाले हैं, उसी प्रकार वह पर्वत भी अचल स्थित था अर्थात् सदा निश्चल रहनेवाला था, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव अनुत्तुंग अर्थात् उत्तम हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी उत्तुंग अर्थात् ऊँचा था, जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार शुद्धिभाक् हैं अर्थात् राग, द्वेष आदि कर्म विकारसे रहित होनेके कारण निर्मल हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी शुद्धिभाक् था अर्थात् धूलि, कंटक आदिसे रहित होनेके कारण स्वच्छ था और जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव जगतके गुरु हैं इसी प्रकार वह पर्वत भी जगतमें श्रेष्ठ अथवा उसका भारी स्वरूप था ॥ १७१ ॥

> अक्षरत्वादभेद्यत्वादलङ्घ्यत्वान्महोन्नतेः । गुरुत्वाच्च जगद्धातुरादधानमनुक्रियाम् ॥ १७२ ॥

अथवा वह पर्वत जगतके विधातात्मा जिनेन्द्रदेवका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव अक्षर अर्थात् विनाशरहित हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी वज्र आदिके न पड़नेसे विनाशरहित था, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव अभेद्य हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी अभेद्य था अर्थात् वज्र आदिसे उसका भेदन नहीं हो सकता था, जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार अलङ्घ्य हैं अर्थात् उनके सिद्धान्तोंका कोई खण्डन नहीं कर सकता उसी प्रकार वह पर्वत भी अलङ्घ्य अर्थात् लाँघनेके अयोग्य था, जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार महोन्नत अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी महोन्नत अर्थात् अत्यन्त ऊँचा था और जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार जगतके गुरु हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी गुरु अर्थात् श्रेष्ठ अथवा भारी था ॥ १७२ ॥

> दिग्जयप्रसवागारं दधानं द्वे गुहाह्वये । सुसंवृते चिरं गूढान्तर्गमनिर्गमम् ॥ १७३ ॥

वह विजयार्ध, चक्रवर्तीके दिग्विजय करनेके लिए प्रसूतिगृहके समान दो गुफाएँ धारण करता था क्योंकि जिस प्रकार प्रसूतिगृह ढका हुआ और सुरक्षित होता है, उसी प्रकार वे गुफाएँ भी ढकी हुई और देवों-द्वारा सुरक्षित थीं तथा जिस प्रकार प्रसूतिगृहके भीतरका मार्ग छिपा हुआ होता है उसी प्रकार उन गुफाओंके भीतर जानेका मार्ग भी छिपा हुआ था ॥ १७३ ॥

> कूटैर्नवभिरुत्तुङ्गैर्मुकुटोपमैः । विराजमानमानीलवनालीपरिधानकम् ॥ १७४ ॥

वह पर्वत ऊँचे-ऊँचे नौ कूटोंसे शोभायमान था जो कि पृथिवी देवीके मुकुटके समान जान पड़ते थे और उसके चारों ओर जो हरे-हरे वनोंकी पंक्तियाँ शोभायमान थीं वे उस पर्वतके नील वस्त्रोंके समान मालूम होती थीं ॥ १७४ ॥

> मूले पञ्चाशतं वृत्तं तदर्द्धं च समुच्छ्रितम् । तत्तूर्यसमवगाढं गां दिव्ययोजनमानतः ॥ १७५ ॥

वह बड़े योजनके प्रमाणसे मूल भागमें पचास योजन चौड़ा था, पचीस योजन ऊँचा था और उससे चौथाई अर्थात् सवा छह योजन पृथ्वीके नीचे गड़ा हुआ था ॥ १७५ ॥

> महीतलाद्दशोत्पत्य त्रिंशद्योजनविस्तृतम् । ततोऽप्यूर्ध्वं दशोत्पत्य दशविस्तृतमग्रतः ॥ १७६ ॥

पृथ्वीके तलसे दस योजन ऊपर जाकर वह तीस योजन चौड़ा था और उससे भी दस योजन ऊपर जाकर अग्रभागमें सिर्फ दस योजन चौड़ा रह गया था ॥ १७६ ॥

> क्वचिदुन्नतं निम्नं क्वचित्समं क्वचित् । क्वचिदुच्चावचग्रावस्थपुटं दधतं तटम् ॥ १७७ ॥

इसका किनारा कहीं ऊँचा था, कहीं नीचा था, कहीं सम था और कहीं ऊँचे-नीचे पत्थरोंसे विषम था ॥ १७७ ॥

> क्वचित् खरांशुकरातप्तरत्नग्रावाग्रगोचरात् । अपसर्पत्कपिव्रातकृतकोलाहलाकुलम् ॥ १७८ ॥

कहीं-कहीं उस पर्वतपर जड़े हुए रत्नमयी पाषाण सूर्यकी किरणोंसे बहुत ही गरम हो गये थे इसलिए उसके आगेके प्रदेशसे बानरोंके समूह हट रहे थे जिससे वह पर्वत उन बानरों-द्वारा किये हुए कोलाहलसे व्याकुल हो रहा था ॥ १७८ ॥

> क्वचित् कण्ठीरवारावत्रस्तानेककपियूथपम् । कलकण्ठीपिकालापवाचालितवनान्तरम् ॥ १७९ ॥

उस पर्वतपर कहीं तो सिंहोंके शब्दोंसे अनेक हाथियोंके झुण्ड भयभीत हो रहे थे और कहीं कोयलोंके मधुर शब्दोंसे वन वाचालित हो रहे थे ॥ १७९ ॥

क्वचिच्छिखीमुखोद्गीर्णकेकारावविभीषितैः । सप्रमोदैरासन्नकान्तारान्तबिलास्तरम् ॥ १८० ॥

कहीं मयूरोंके मुखसे निकली हुई केका वाणीसे भयभीत हुए सर्प बड़े दुःखके साथ वनोंके भीतर अपने-अपने बिलोंमें घुस रहे थे ॥ १८० ॥

चामीकरमयप्रस्थच्छायासंश्रविणोरुभिः । हिरण्मयीरिवाभारूढं तच्छायाभिरिवावृतम् ॥ १८१ ॥

कहीं उस पर्वतपर सुवर्णमय तटोंकी छायामें हरिणियाँ बैठी हुई थीं उनपर उन सुवर्णमय तटोंकी कान्ति पड़ती थी जिससे वे हरिणियाँ सुवर्णकी बनी हुई-सी जान पड़ती थीं ॥ १८१ ॥

क्वचिद्विचित्ररत्नांशुग्रथितेन्द्रधनुर्लताम् । दधानमनिलोद्धूतां ततां कल्पलतामिव ॥ १८२ ॥

कहीं चित्र-विचित्र रत्नोंकी किरणोंसे इन्द्रधनुषकी लता बन रही थी और वह ऐसी मालूम होती थी मानो वायुसे उड़कर चारों ओर फैली हुई कल्पलता ही हो ॥ १८२ ॥

क्वचिच्च विचरद्दिव्यकामिनीनूपुरारवैः । रमणीयसरस्तीरं हंसोद्विरुतसङ्कुलैः ॥ १८३ ॥

कहीं देवांगनाएँ विहार कर रही थीं, उनके नूपुरोंके शब्द हंसिनियोंके शब्दोंसे मिलकर बुलन्द हो रहे थे और उनसे तालाबोंके किनारे बड़े ही रमणीय जान पड़ते थे ॥ १८३ ॥

क्वचिद्विचतुरक्रीडामाचरद्भिरनेकपैः । सलिलान्दोलितात्तानैरादोलितवनद्रुमम् ॥ १८४ ॥

कहीं लीला मात्रमें अपने दाँतोंको उखाड़ डालते हुए बड़े-बड़े हाथी चतुराईके साथ एक विशेष प्रकारकी क्रीड़ा कर रहे थे और उससे उस पर्वतपर-के वनोंके वृक्ष खूब ही हिल रहे थे ॥ १८४ ॥

क्वचित् पुलिनसंप्तसारसीरुतमूर्च्छितैः । कलहंसीकलक्वाणैर्वाचालितसरोजलम् ॥ १८५ ॥

कहीं किनारेपर सोती हुई सारसियोंके शब्दोंमें कलहंसिनियों (बतख) के मनोहर शब्द मिल रहे थे और उनसे तालाबका जल शब्दायमान हो रहा था ॥ १८५ ॥

> क्वचित् क्रुद्धाहिफूत्कारैः श्वसन्तमिव सङ्कटे । क्वचिच्च चामरीयूथैर्हसन्तमिव निर्मलैः ॥ १८६ ॥

कहीं कुपित हुए सर्प फूत्कार शब्द कर रहे थे जिनसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो क्रीड़ा करता हुआ श्वास ही ले रहा हो, और कहीं निर्मल सुरागायोंके झुण्ड फिर रहे थे जिनसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो हँस ही रहा हो ॥ १८६ ॥

> गुहानिलैः क्वचिद्व्यक्तमुच्छ्वसन्तमिवोद्धतैः । क्वचिच्च पवनाधूतैर्घूर्णन्तमिव शाखिभिः ॥ १८७ ॥

कहीं गुफासे निकलती हुई वायुके द्वारा वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो प्रकट रूपसे लम्बी साँस ही ले रहा हो और कहीं पवनसे हिलते हुए वृक्षोंसे ऐसा मालूम होता था मानो वह झूम ही रहा हो ॥ १८७ ॥

> स्थिताभिश्चिन्तयन्तीभिरिष्टकामुकसङ्गमम् । विजने खचरस्त्रीभिर्मूकीभूतमिव क्वचित् ॥ १८८ ॥

कहीं उस पर्वतपर एकान्त स्थानमें बैठी हुई विद्याधरोंकी स्त्रियाँ अपने इष्टकामी लोगोंके समागमका खूब विचार कर रही थीं जिससे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो चुप ही हो रहा हो ॥ १८८ ॥

> क्वचित् चञ्चलत्पुष्पचञ्चरीककलस्वनैः । किमप्यारब्धसङ्गीतमिव व्यायतमूर्च्छनम् ॥ १८९ ॥

और कहीं चंचलतापूर्वक उड़ते हुए भौरोंके मनोहर शब्द हो रहे थे और उनसे वह पर्वत ऐसा मालूम होता था मानों उसने जिसकी आवाज बहुत दूर तक फैल गयी है ऐसे किसी अलौकिक संगीतका ही प्रारम्भ किया हो ॥ १८९ ॥

> कदम्बामोदसंवादिसुरभिश्वसितैर्मुखैः । तरुणार्ककरस्पर्शाद्विबुद्धैरिव पङ्कजैः ॥ १९० ॥

उस पर्वतपर-के वनोंमें अनेक तरुण विद्याधरियाँ अपने-अपने तरुण विद्याधरोंके साथ विहार कर रही थीं। उन विद्याधरियोंके मुख कदम्ब पुष्पकी सुगन्धिके समान सुगन्धित श्वाससे सहित थे और जिस प्रकार तरुण अर्थात् मध्याह्नके सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे कमल खिल जाते हैं उसी प्रकार अपने तरुण पुरुषोंरूपी सूर्यके हाथोंके स्पर्शसे खिले हुए थे— प्रफुल्लित थे ॥ १९० ॥

नेत्रैरंशुमदातानैरिन्दीवरदलायतैः । मदनस्यैव जेतुश्च लालसापाङ्गवीक्षितैः ॥ १९१ ॥

उनके नेत्र मद्यके नशासे कुछ-कुछ लाल हो रहे थे, वे नील कमलके दलके समान लम्बे थे, आलस्यके साथ कटाक्षावलोकन करते थे और ऐसे मालूम होते थे मानो कामदेवके विजयशील अस्त्र ही हों ॥ १९१ ॥

कुटिलैरालिनीलाभैः केशैरतिविसंष्ठुलैः । विस्रस्तकबरीबन्धविगलत्पुष्पदामकैः ॥ १९२ ॥

उनके केश भी कुटिल थे, भ्रमरोंके समान काले थे, चलने-फिरनेके कारण अस्त-व्यस्त हो रहे थे और उनकी चोटीका बन्धन भी ढीला हो गया था जिससे उसपर गूँथी हुई फूलोंकी मालाएँ गिरती चली जाती थीं ॥ १९२ ॥

जितेन्दुक्रान्तिभिः कान्तैः कपोलैरलकाञ्चितैः । मदनस्य सुसंमृष्टैरालेख्यफलकैरिव ॥ १९३ ॥

उनके कपोल भी बहुत सुन्दर थे, चन्द्रमाकी कान्तिको जीतनेवाले थे और अलक अर्थात् आगेके सुन्दर काले घुँघराले बालोंसे चिह्नित थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो अच्छी तरह साफ किये हुए कामदेवके लिखनेके फलक ही हों ॥ १९३ ॥

अधरैः पक्वबिम्बाभैः स्मितांशुभिरनुश्रुतैः । सिन्दूरोत्पलकिरणैर्विद्रुममण्डकैरिव ॥ १९४ ॥

उनके अधरोष्ठ पके हुए बिम्बफलके समान थे और उनपर मन्द हास्यकी किरणें पड़ रही थीं जिससे वे ऐसे सुशोभित होते थे मानो जलकी दो-तीन बूँदोंसे भीगे हुए मूँगाके टुकड़े ही हों ॥ १९४ ॥

परिणाहिभिरुत्तुङ्गैः सुवृत्तैः स्तनमण्डलैः । लसतांशुकस्फुटालक्ष्यकन्यखानखपदैः ॥ १९५ ॥

उनके स्तनमण्डल विशाल ऊँचे और बहुत ही गोल थे, उनका वस्त्र नीचेकी ओर खिसक गया था इसलिए उनपर सुशोभित होनेवाले नखोंके चिह्न साफ-साफ दिखाई दे रहे थे ॥ १९५ ॥

हरिचन्दनसंसृष्टैर्हारज्योत्स्नोपहारिभिः । कुचनर्तनरङ्गैश्च प्रेक्षणीयैरुरोगृहैः ॥ १९६ ॥

उनके वक्षःस्थल-रूपी घर भी देखने योग्य-अतिशय सुन्दर थे क्योंकि वे सफेद चन्दनके द्रवसे साफ किये गये थे, हाररूपी चाँदनीके उपहारसे सुशोभित हो रहे थे और स्तनोंके नाचनेकी रंगभूमिके समान जान पड़ते थे ॥ १९६ ॥

> नखोज्ज्वलैस्ताम्रतलैः सलीलान्दोलितैर्भुजैः । सपुष्पपल्लवोल्लासिकताटविटपोपमैः ॥ १९७ ॥

जिनके नख उज्ज्वल थे, हथेलियाँ लाल थीं, और जो लीला सहित इधर-उधर हिलाई जा रही थीं, उनकी भुजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो फूल और नवीन पत्तोंसे शोभायमान किसी लताकी कोमल शाखाएँ ही हों ॥ १९७ ॥

> तनूदराः कृशोमध्यैस्त्रिवलीतरङ्गाञ्चितैः । नाभिवल्मीकनिर्यद्रोमालीकालपन्नगैः ॥ १९८ ॥

उनका उदर बहुत सुन्दर था, मध्य भाग पतला था और वह त्रिवलिरूपी तरंगोंसे सुशोभित हो रहा था। उनकी नाभिमें-से जो रोमावली निकल रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानों नाभिरूपी बामीसे रोमावलीरूपी काला सर्प ही निकल रहा हो ॥ १९८ ॥

> लसद्दुकूलवसनैर्विपुलैर्जघनस्थलैः । मकरकेतनस्यैव कामभूपकारालयायितैः ॥ १९९ ॥

उनका जघन स्थल भी बहुत बड़ा था, वह रेशमी वस्त्रसे सुशोभित था और करधनीसे सहित था इसलिए ऐसा मालूम होता था मानो कामदेवरूपी राजाका कारागार ही हो ॥ १९९ ॥

> स्खलद्गतिवशादुच्चैरारणन्मणिनूपुरैः । चरणैररुणाम्भोजैरिव व्यक्तालिझङ्कृतैः ॥ २०० ॥

उन विद्याधरियोंके चरण लाल कमलके समान थे, वे डगमगाती हुई चलती थीं इसलिए उनके मणिमय नूपुरोंसे रुनझुन शब्द हो रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो उनके चरणरूपी लाल कमल भ्रमरोंकी झंकारसे युक्त ही हो रहे हों ॥ २०० ॥

> सलीलमन्यपदविन्यासैर्जितहंसीपरिक्रमैः । श्वसितैः सकुचोत्कम्पैर्व्यञ्जितान्तर्गतक्लमैः ॥ २०१ ॥

वे विद्याधरियाँ लीलासहित धीरे-धीरे जा रही थीं, उनकी चालने हंसिनियोंकी चालको भी जीत लिया था, चलते समय उनका उच्छ्वास भी चल रहा था जिससे उनके स्तन कम्पायमान हो रहे थे और उनके अन्तःकरणका खेद प्रकट हो रहा था ॥ २०१ ॥

> समं युवभिरारूढनवयौवनकर्कशाः । विहरन्तीर्वनान्तेषु कामिभिः क्वचिदासताम् ॥ २०२ ॥

इस प्रकार प्राप्त हुए नव यौवनसे सुदृढ़ विद्याधरियाँ अपने तरुण प्रेमियोंके साथ उस पर्वतके वनोंमें कहीं-कहींपर विहार कर रही थीं ॥ २०२ ॥

> अलकालीमिलद्भृङ्गास्तन्वङ्गीः सुकुमारिकाः । लतानुकारिणीरुद्यत्स्मितपुष्पोद्गमश्रियः ॥ २०३ ॥

वह पर्वत अपने प्रत्येक वनमें कहीं-कहीं अकेली ही फिरती हुई विद्याधरियोंको धारण कर रहा था, वे विद्याधरियाँ ठीक लताओंके समान जान पड़ती थीं क्योंकि जिस प्रकार लताओंपर भ्रमर सुशोभित होते हैं उसी प्रकार उनके मस्तकपर भी केशरूपी भ्रमर शोभायमान थे, लताएँ जिस प्रकार पतली होती हैं उसी प्रकार वे भी पतली थीं, लताएँ जिस प्रकार कोमल होती हैं उसी प्रकार उनका शरीर भी कोमल था और लताएँ जिस प्रकार पुष्पोंकी उत्पत्तिसे सुशोभित होती हैं उसी प्रकार वे भी मन्द हास्यरूपी पुष्पोत्पत्तिकी शोभासे सुशोभित हो रही थीं ॥ २०३ ॥

> प्रसूनरचिताकल्पवतंसीकृतपल्लवाः । कुसुमावचयसक्ताः सञ्चरन्तीरितस्ततः ॥ २०४ ॥

उन्होंने फूलोंके आभूषण और पत्तोंके कर्णफूल बनाये थे तथा वे इधर-उधर घूमती हुई फूल तोड़नेमें आसक्त हो रही थीं ॥ २०४ ॥

> वनलक्ष्मीरिवाव्यक्तलक्षणा वनजेक्षणाः । धारयन्तमनन्यासु विद्याधरवधूः क्वचित् ॥ २०५ ॥

उनके नेत्र कमलोंके समान थे तथा और भी प्रकट हुए अनेक लक्षणोंसे वे वनलक्ष्मीके समान मालूम होती थीं ॥ २०५ ॥

> तमेवंगुणमुद्भूतमहाभाग्यं भुवनातिगम् । जिनाधिपमिवासाद्य तुतोष परया मुदा ॥ २०६ ॥

इस प्रकार जिसका माहात्म्य प्रकट हो रहा है और जो तीनों लोकोंका अतिक्रमण करनेवाला है ऐसे जिनेन्द्रदेवके समान उस गिरिराजको पाकर वे नमि, विनमि राजकुमार अतिशय सन्तोषको प्राप्त हुए ॥ २०६ ॥

धुततटवनाभोगा भागीरथीजलवाहिनः परिसरसरोवीचीभेदादुपोढपयःकणाः ।
घनकरिकटादाकृष्टालिप्रजा मरुतो गिरौ प्रसृतवपुषो यूनोरध्वश्रमं व्यपनिन्यिरे ॥ २०७ ॥

जिसने तटवर्ती वनोंके विस्तारको कम्पित किया है, जिसने गङ्गा नदीके तटसम्बन्धी पवन तथा समीपवर्ती तालाबकी लहरोंको भेदन कर अनेक जलकी बूँदें धारण कर ली हैं और जिसने अपनी सुगन्धिके कारण वनके हाथियोंके गण्डस्थलसे भ्रमरोंके समूह अपनी ओर खींच लिये हैं ऐसे उस पर्वतके उपवनोंमें उत्पन्न हुए वायुने उन दोनों तरुण कुमारोंके मार्गका सब परिश्रम दूर कर दिया था ॥ २०७ ॥

मदकलकलकण्ठीडिण्डिमारावरम्या मधुरविरुतभृङ्गीमङ्गलोद्गीतिहृद्याः । परिहृतकुसुमार्घाः सम्पद्भिरभिमरद्भिः फणिपतिमिव शश्वत्प्रत्युदीयुर्वनान्ताः ॥ २०८ ॥

उस पर्वतके वन प्रदेशोंसे प्रचलित हुआ पवन दूर-दूरसे ही धरणेन्द्रके समीप आ रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो उस पर्वतके वनप्रदेश ही धरणेन्द्रके सम्मुख आ रहे हों क्योंकि वे वनप्रदेश मत्त और सुन्दर कोकिलाओंके शब्दरूपी वादित्रोंकी ध्वनिसे शब्दायमान हो रहे थे, भ्रमरियोंके मधुर गुञ्जाररूपी मंगलगानोंसे मनोहर थे और पुष्परूपी अर्घ धारण कर रहे थे ॥ २०८ ॥

रजतगिरिमहीयांसं नातिदूरादुदारं प्रसवभवनमेकं विश्वविद्यानिधीनाम् । जिनमिव भुवनान्तर्व्यापिकीर्तिं प्रपश्यन् प्रमदमधित भूयः सार्द्धमाभ्यां युवाभ्याम् ॥ २०९ ॥

इस प्रकार जो बहुत ही उदार अर्थात् ऊँचा है, जो समस्त विद्यारूपी खजानोंकी उत्पत्तिका मुख्य स्थान है और जिसकी कीर्ति समस्त लोकके भीतर व्याप्त हो रही है, ऐसे जिनेन्द्रदेवके समान सुशोभित उस विजयार्ध पर्वतको समीपसे देखता हुआ वह धरणेन्द्र उन दोनों राजकुमारोंके साथ-साथ अपने मनमें बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ २०९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे धरणेन्द्रविजयार्द्धोपगमनं नामाष्टादशं पर्व ॥ १८ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रह में धरणेन्द्रका विजयार्ध पर्वतपर जाना आदिका वर्णन करनेवाला अठारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंश पर्व

अथास्या मेखलामाद्यामवतीर्णः फणीश्वरः । तत्र व्योमचरेन्द्राणां लोकं तावित्यदीदृशत् ॥ १ ॥

अथानन्तर वह धरणेन्द्र उस पर्वतकी पहली मेखलापर उतरा और वहाँ उसने दोनों राजकुमारोंके लिए विद्याधरोंका वह लोक इस प्रकार कहते हुए दिखाया कि— ॥ १ ॥

गिरिरेष न सम्भविष्णुर्नूनमूर्ध्वं महत्तया । वितत्य तिर्यगात्मानमवगाढो महार्णवम् ॥ २ ॥

ऐसा मालूम होता है मानो यह पर्वत बहुत भारी होनेके कारण इससे अधिक ऊपर जानेके लिए समर्थ नहीं था इसीलिए इसने अपने-आपको इधर-उधर दोनों ओर फैलाकर समुद्रमें जाकर मिला दिया है ॥ २ ॥

श्रेण्यौ सदानपायिन्यौ रूपसम्पद्विराजतः । देव्याविव महाभोगसम्पन्ने धृतायती ॥ ३ ॥

यह पर्वत एक समान सुशोभित है और कभी नष्ट न होनेवाली इसकी ये दोनों श्रेणियाँ महादेवियोंके समान सुशोभित हो रही हैं क्योंकि जिस प्रकार महादेवियाँ महाभोग अर्थात् भोगोपभोगकी विपुल सामग्रीसे सहित होती हैं उसी प्रकार ये श्रेणियाँ भी महाभोग (महा आभोग) अर्थात् बड़े भारी विस्तारसे सहित हैं और जिस प्रकार महादेवियाँ आयति अर्थात् सुन्दर भविष्यको धारण करनेवाली होती हैं उसी प्रकार ये श्रेणियाँ भी आयति अर्थात् लम्बाईको धारण करनेवाली हैं ॥ ३ ॥

योजनानि दशोत्पत्य गिरेरादिममेखलाम् । विद्याधरनिवासोऽयं भाति नाकैकदेशवत् ॥ ४ ॥

पृथिवीसे दस योजन ऊँचा चढ़कर इस पर्वतकी प्रथम मेखलापर यह विद्याधरोंका निवासस्थान है जो कि स्वर्गके एक खण्डके समान शोभायमान हो रहा है ॥ ४ ॥

> विद्याधरा विभास्त्यस्मिन् श्रेणीद्वयमधिष्ठिताः । स्वर्गादिव समागत्य कृतवासाः सुधाशनाः ॥ ५ ॥

इस पर्वतकी दोनों श्रेणियोंमें रहनेवाले विद्याधर ऐसे मालूम होते हैं मानो स्वर्गसे आकर देव लोग ही यहाँ निवास करने लगे हों ॥ ५ ॥

> विद्याधराधिवासोऽयं धत्तेऽस्मल्लोकविभ्रमम् । निषेवितो महाभोगैः फणीन्द्रैरिव खेचरैः ॥ ६ ॥

यह विद्याधरोंका स्थान हम लोगोंके निवासस्थानका सन्देह कर रहा है क्योंकि जिस प्रकार हम लोगों (धरणेन्द्रों) का स्थान महाभोग अर्थात् बड़े-बड़े फणोंको धारण करनेवाले नागेन्द्रोंके द्वारा सेवित होता है उसी प्रकार यह विद्याधरोंका स्थान भी महाभोग अर्थात् बड़े-बड़े भोगोपभोगोंको धारण करनेवाले विद्याधरोंके द्वारा सेवित है ॥ ६ ॥

> रसातलस्य सत्यमद्य स्मराम्यहम् । नागकन्या इव प्रेक्ष्याः पश्यन् खचरकन्यकाः ॥ ७ ॥

नागकन्याओंके समान सुन्दर इन विद्याधर कन्याओंको देखता हुआ सचमुच ही आज मैं पातालके अर्थात् भवनवासियोंके निवासस्थानका स्मरण कर रहा हूँ ॥ ७ ॥

> नास्ति तीव्रं प्रतिभयं स्वचक्रपरचक्रजम् । नेत्यो रोगादिबाधाः सन्तीह जातुचित् ॥ ८ ॥

यहाँ न तो अपने राजाओंसे उत्पन्न हुआ तीव्र भय है और न शत्रु राजाओंसे उत्पन्न होनेवाला तीव्र भय है, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि ईतियाँ भी यहाँ नहीं होती हैं और न यहाँ रोग आदिसे उत्पन्न हुई कभी कोई बाधा ही होती है ॥ ८ ॥

> आदाववसर्पिण्याश्चतुर्थकालस्य या स्थितिः । महाभारतवर्षेऽस्मिन् नात्रोत्कर्षापकर्षता ॥ ९ ॥

इस महाभरत क्षेत्रमें अवसर्पिणी कालसम्बन्धी चतुर्थ कालके प्रारम्भमें मनुष्योंकी जो स्थिति होती है वही यहाँ के मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति होती है और उस चतुर्थ कालके अन्तमें जो स्थिति होती है वही यहाँ की जघन्य स्थिति होती है ॥ ९ ॥

तत्र स्थितिनृणां पूर्वकोटिर्वर्षशतान्तरे । उत्सेधहानिरासप्ता द्व्युक् पञ्चधनुः शतम् ॥ १० ॥

इसी प्रकार चतुर्थ कालके प्रारम्भमें जितनी शरीरकी ऊँचाई होती है उतनी ही यहाँ की उत्कृष्ट ऊँचाई होती है और चतुर्थ कालके अन्तमें जितनी ऊँचाई होती है उतनी ही यहाँ जघन्य ऊँचाई होती है। इसी नियमसे यहाँ की उत्कृष्ट आयु एक करोड़ पूर्व वर्षकी और जघन्य सौ वर्षकी होती है तथा शरीरकी उत्कृष्ट ऊँचाई पाँच सौ धनुष और जघन्य सात हाथकी होती है। भावार्थ- यहाँपर आर्यखण्डकी तरह छहों कालोंका परिवर्तन नहीं होता किन्तु चतुर्थ कालके आदि अन्तके समान परिवर्तन होता है ॥ १० ॥

ऋतुप्रवृत्तयः सर्वाः षट्कर्माणि च कृत्स्नशः । विशेषस्तु महाविद्या ददत्येषामभीप्सितम् ॥ ११ ॥

यहाँपर वर्षा, सरदी, गरमी आदि ऋतुओंका परिवर्तन तथा असि, मषि आदि छह कर्म रूप जितने नियोग होते हैं वे सब पूर्ण रूपसे होते हैं किन्तु यहाँ विशेषता इतनी है कि सब विद्याएँ यहाँ के लोगोंको इनकी इच्छानुसार फल दिया करती हैं ॥ ११ ॥

महाप्रज्ञप्तिविद्याद्याः सिद्ध्यन्तीह खगेशिनाम् । विद्याः कामदुघा यास्ताः फलिष्यन्तीप्सितं फलम् ॥ १२ ॥

यहाँ विद्याधरोंको जो महाप्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ सिद्ध होती हैं वे इन्हें कामधेनुके समान इच्छित फल देती रहती हैं ॥ १२ ॥

कुलजात्याश्रिता विद्यास्तपोविद्याश्च ता द्विधाः । कुलाम्नायागताः पूर्वा यत्नेनाराधिताः पराः ॥ १३ ॥

वे विद्याएँ दो प्रकारकी हैं— एक तो ऐसी हैं जो कुल (पितृपक्ष) अथवा जाति (मातृपक्ष) के आश्रित हैं और दूसरी ऐसी हैं जो तपस्यासे सिद्ध की जाती हैं। इनमें-से पहले प्रकारकी विद्याएँ कुल-परम्परासे ही प्राप्त हो जाती हैं और दूसरे प्रकारकी विद्याएँ यत्नपूर्वक आराधना करनेसे प्राप्त होती हैं ॥ १३ ॥

तासामाराधनोपायः सिद्धायतनसन्निधौ । नद्यद्रौ वा शुचौ देशे द्वीपादिपुलिनादिके ॥ १४ ॥

जो विद्याएँ आराधनासे प्राप्त होती हैं उनकी आराधना करनेका उपाय यह है कि सिद्धायतनके समीपवर्ती अथवा द्वीप, पर्वत या नदीके किनारे आदि किसी अन्य पवित्र स्थानमें— ॥ १४ ॥

तत्र शुचिवेषेण विद्यादेवताभिधैः । महोपवासैराराध्या नित्यार्चनपुरःसरम् ॥ १५ ॥

पवित्र वेष धारण कर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते हुए विद्याकी अधिष्ठात्री देवताकी पूजा करे तथा नित्य पूजापूर्वक उपवास धारण कर उन विद्याओंकी आराधना करे ॥ १५ ॥

सिद्ध्यन्ति विधिनानेन महाविद्या नभोजुषाम् । पुरश्चरणनित्यार्चाजपहोमाद्यनुक्रमात् ॥ १६ ॥

इस विधिसे तथा तपश्चरण, नित्यपूजा, जप और होम आदि अनुक्रमके करनेसे विद्याधरोंको वे महाविद्याएँ सिद्ध हो जाती हैं ॥ १६ ॥

सिद्धविद्यैस्ततः सिद्धप्रतिमार्चनपूर्वकम् । विद्याफलानि भोग्यानि वियद्गमनवल्गुभिः ॥ १७ ॥

तदनन्तर जिन्हें विद्याएँ सिद्ध हो गयी हैं ऐसे आकाशगामी विद्याधर लोग पहले सिद्ध भगवानकी प्रतिमाकी पूजा करते हैं और फिर विद्याओंके फलका उपभोग करते हैं ॥ १७ ॥

यथा विद्या फलान्येषां भोग्यानीह खगेशिनाम् । तथैव स्वैरसम्भोग्याः सस्यादिफलसम्पदः ॥ १८ ॥

इस विजयार्ध गिरिपर ये विद्याधर लोग जिस प्रकार इन विद्याओंके फलका उपभोग करते हैं उसी प्रकार वे धान्य आदि फल सम्पदाओंका भी अपनी इच्छानुसार उपभोग करते हैं ॥ १८ ॥

सस्यान्यकृष्टपच्यानि वाप्यः सोत्फुल्लपङ्कजाः । ग्रामाः संसक्तसीमानः सारामाः सफलद्रुमाः ॥ १९ ॥

यहाँपर धान्य बिना बोये ही उत्पन्न होते हैं, यहाँकी बावडियाँ खिले हुए कमलोंसे सहित हैं, यहाँके गाँवोंकी सीमाएँ एक दूसरेसे मिली हुई रहती हैं, उनमें बगीचे रहते हैं और वे सब फलोंसे लदे हुए वृक्षोंसे सहित होते हैं ॥ १९ ॥

सरत्नसिकता नद्यो हंसाध्यासितसैकताः । दीर्घिका गुणसम्पन्नाः स्वच्छतोया जलाशयाः ॥ २० ॥

यहाँकी नदियाँ रत्नोंकी बालूसे सहित हैं, बावडियों तथा पोखरियोंके किनारे सदा हंस बैठे रहते हैं, और जलाशय स्वच्छ जलसे भरे रहते हैं ॥ २० ॥

> रमणीया वनाभोगाः पुंस्कोकिलकलस्वनैः । लताः कुसुमिता गुञ्जन्मत्तमधुपसंगीतसङ्गताः ॥ २१ ॥

यहाँके वनप्रदेश कोकिलोंकी मधुर कूजनसे मनोहर रहते हैं और फूली हुई लताएँ गुंजार करती हुई भ्रमरियोंके संगीतसे संगत होती हैं ॥ २१ ॥

> चन्द्रकान्तशिलानद्धसोपानाः सरितां गृहाः । खचरीजनसम्भोग्याः सेव्याश्च कृतकाद्रयः ॥ २२ ॥

यहाँपर ऐसे अनेक कृत्रिम पर्वत बने हुए हैं जो चन्द्रकान्तमणिकी बनी हुई सीढ़ियोंसे युक्त हैं, लतागृहोंसे सहित हैं, विद्याधरियोंके सम्भोग करने योग्य हैं और सबके सेवन करने योग्य हैं ॥ २२ ॥

> महापुराकरग्रामसन्निवेशाश्च विस्तृताः । सरित्सरोवरारामशालीक्षुवनमण्डनाः ॥ २३ ॥

यहाँके पुर, खदानें और गाँवोंकी रचना बहुत ही सुन्दर है, वे बहुत ही बड़े हैं और नदी, तालाब, बगीचे, धानके खेत तथा ईखोंके वनोंसे सुशोभित रहते हैं ॥ २३ ॥

> स्त्रीपुंससृष्टिरुद्रिक्ता रत्यनङ्गाकारिणी । समग्रभोगसम्पत्त्या स्वर्भोगिष्वप्यनुत्सुका ॥ २४ ॥

यहाँके स्त्री और पुरुषोंकी सृष्टि रति और कामदेवका अनुकरण करनेवाली है तथा वह हरएक प्रकारके भोगोपभोगकी सम्पदासे भरपूर होनेके कारण स्वर्गके भोगोंमें भी अनुत्सुक रहती है ॥ २४ ॥

> एवंप्राया विशेषा ये नृणां सम्प्रीतिहेतवः । स्वर्गेऽप्यसुलभास्तेऽमी पदे पदे पदे पदे ॥ २५ ॥

इस प्रकार मनुष्योंकी प्रसन्नताके कारणस्वरूप जितने विशेष पदार्थ हैं वे सब भले ही स्वर्गमें दुर्लभ हों परन्तु यहाँ पद-पदपर विद्यमान रहते हैं ॥ २५ ॥

इति रम्यतराशेषविशेषां खचरोचितान् । धत्ते स्वमङ्कमारोप्य कौतुकादिव भूधरः ॥ २६ ॥

इस प्रकार यह पर्वत विद्याधरोंके योग्य अतिशय मनोहर समस्त विशेष पदार्थोंको मानो कौतूहलसे ही अपनी गोद लेकर धारण कर रहा है ॥ २६ ॥

श्रेण्योरस्यैतयोरुक्तशोभासम्पन्निधानयोः । पुराणां संनिवेशोऽयं लक्ष्यतेऽत्यन्तसुन्दरः ॥ २७ ॥

जो ऊपर कही हुई शोभा और सम्पत्तिके निधान (खजाना) स्वरूप हैं ऐसी इन दोनों श्रेणियोंपर यह नगरोंकी बहुत ही सुन्दर रचना दिखाई देती है ॥ २७ ॥

पृथग्दशयतोद्देशे दशयोजनविस्तृते । अनु पर्वतदीर्घत्वमायते चापयोनिधेः ॥ २८ ॥

ये दोनों श्रेणियाँ पृथक्-पृथक् दस योजन चौड़ी हैं और पर्वतकी लम्बाईके समान समुद्र पर्यन्त लम्बी हैं ॥ २८ ॥

विष्कम्भादिकृतः कश्चिन्न भेदस्त्विह कश्चन । आयामस्तूत्तरश्रेण्यां धत्ते साभ्यधिकां स्थितिम् ॥ २९ ॥

इन दोनों श्रेणियोंमें चौड़ाई आदिका किया हुआ तो कुछ भी अन्तर नहीं है परन्तु उत्तर श्रेणीकी लम्बाई दक्षिण श्रेणीकी लम्बाईसे कुछ अधिकता रखती है ॥ २९ ॥

स्वर्गावासापहासीनि पुराण्यत्र चकासति । दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योः पञ्चाशत् षष्टिरित्यपि ॥ ३० ॥

इन्हीं दक्षिण और उत्तर श्रेणियोंमें क्रमसे पचास और साठ नगर सुशोभित हैं। वे नगर अपनी शोभासे स्वर्गके विमानोंकी भी हँसी उड़ाते हैं ॥ ३० ॥

विद्याधरा निवसन्ति नगरेषु महर्द्धिषु । स्वपुण्योपार्जितान् भोगान् भुञ्जानाः स्वर्गिणो यथा ॥ ३१ ॥

बड़ी विभूतिको धारण करनेवाले इन नगरोंमें विद्याधर लोग निवास करते हैं और देवोंकी तरह अपने पुण्योदयसे प्राप्त हुए भोगोंका उपभोग करते हैं ॥ ३१ ॥

पुरः किन्नामितं नाम्ना पुरं भाति पुरो दिशि । सौधैरभ्रंकषैः स्वर्गमिवास्प्रष्टुं समुद्यतः ॥ ३२ ॥

इधर यह पूर्व दिशामें १ किन्नामित नामका नगर है जो कि मानो स्वर्गको छूनेके लिए ही ऊँचे बढ़े हुए गगनचुम्बी राजमहलोंसे सुशोभित हो रहा है ॥ ३२ ॥

अतः किन्नरगीताख्यं पुरमिद्धर्द्धि लक्ष्यते । यस्योद्यानानि सेव्यानि गीतैः किन्नरयोषिताम् ॥ ३३ ॥

यह बड़ी विभूतिको धारण करनेवाला २ किन्नरगीत नामका नगर दिखाई दे रहा है जिसके कि उद्यान किन्नर जातिकी देवियोंके गीतोंसे सदा सेवन करने योग्य रहते हैं ॥ ३३ ॥

नरगीतं विभातीतः पुरमेतन्महर्द्धिकम् । सदा प्रमुदिता यत्र नरा नर्तन्ति सोत्सवाः ॥ ३४ ॥

इधर यह बड़ी विभूतिको धारण करनेवाला ३ नरगीत नामका नगर शोभायमान है, जिसके कि मनुष्य सदा उत्सव करते हुए प्रसन्न रहते हैं ॥ ३४ ॥

बहुकेतुकमेतच्च प्रोल्लसद्बहुकेतुकम् । केतुबाहुभिराह्वातुमस्मानिव समुद्यतम् ॥ ३५ ॥

इधर यह अनेक पताकाओंसे सुशोभित ४ बहुकेतुक नामका नगर है जो कि ऐसा मालूम होता है मानो पताकारूपी भुजाओंसे हम लोगोंको बुलानेके लिए ही तैयार हुआ हो ॥ ३५ ॥

पुण्डरीकमिदं यत्र पुण्डरीकवनेष्वमी । हंसाः कलरुतैर्मन्द्रं स्वनन्ति श्रोत्रहारिभिः ॥ ३६ ॥

जहाँ सफेद कमलोंके वनोंमें ये हंस कानोंको अच्छे लगनेवाले मनोहर शब्दों-द्वारा सदा गम्भीर रूपसे गाते रहते हैं ऐसा यह ५ पुण्डरीक नामका नगर है ॥ ३६ ॥

सिंहध्वजमिदं सैंहैर्ध्वजैः सौधाग्रवर्तिभिः । निरुणद्धि सुरेभाणां मार्गं सिंहविशङ्किनाम् ॥ ३७ ॥

इधर यह ६ सिंहध्वज नामका नगर है जो कि महलोंके अग्रभागपर लगी हुई सिंहके चिह्नसे चिह्नित ध्वजाओंके द्वारा सिंहकी शंका करनेवाले देवोंका मार्ग रोक रहा है ॥ ३७ ॥

> श्वेतकेतुपुरं भाति श्वेतैः केतुभिरुच्छ्रितैः । सौधाग्रवर्तिभिर्द्राघीयः केतुमिवामरम् ॥ ३८ ॥

इधर यह ७ श्वेतकेतु नामका नगर सुशोभित हो रहा है जो कि महलोंके अग्रभागपर फहराती हुई बड़ी-बड़ी सफेद ध्वजाओंसे ऐसा मालूम होता है मानो प्रत्यक्ष कामदेवको ही बुला रहा हो ॥ ३८ ॥

> गरुडध्वजसंज्ञं च पुरमाराद्विराजते । गरुडाश्मविनिर्माणैः सौधाग्रैर्नभसाङ्गणम् ॥ ३९ ॥

इधर यह समीपमें ही, गरुड़मणिसे बने हुए महलोंके अग्रभागसे आकाशरूपी आँगनको व्याप्त करता हुआ ८ गरुडध्वज नामका नगर शोभायमान हो रहा है ॥ ३९ ॥

> श्रीप्रभं श्रीधरं चापि पुरमेतन्मनोहरम् । भातीदं द्वयमन्योन्यस्पर्धयेव श्रियं दधत् ॥ ४० ॥

इधर ये लक्ष्मीकी शोभासे सुशोभित ९ श्रीप्रभ और १० श्रीधर नामके उत्तम नगर हैं, ये दोनों नगर ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो इन्होंने परस्परकी स्पर्धासे ही इतनी अधिक शोभा धारण की हो ॥ ४० ॥

> लोहार्गलमिदं लोहार्गलैरतिदुर्गमम् । अरिञ्जयं च जित्वारीन् हसतीव स्वगोपुरैः ॥ ४१ ॥

लोहेके अर्गलोंसे अत्यन्त दुर्गम है ऐसा यह ११ लोहार्गल नामका नगर है और यह १२ अरिंजय नगर है जो कि अपने गोपुरोंके द्वारा ऐसा मालूम होता है मानो शत्रुओंको जीतकर हँस ही रहा हो ॥ ४१ ॥

> वज्रार्गलं च वज्राख्यं विभातीतः पुरद्वयम् । खनिभिः स्वोपशल्योत्थैः समुन्मेषी दिवानिशम् ॥ ४२ ॥

इस ओर ये १३ वज्रार्गल और १४ वज्राख्य नामके दो नगर सुशोभित हो रहे हैं जो कि अपने समीपवर्ती हीरेकी खानोंसे ऐसे मालूम होते हैं मानो प्रतिदिन बढ़ ही रहे हों ॥ ४२ ॥

> इदं च नगरं विमोचाख्यं पुरमेतत् पुरं जयम् । एताभ्यां निर्जितं नूनमधोऽगात् फणिनां जगत् ॥ ४३ ॥

इधर यह १५ विमोच नामका नगर है और इधर यह १६ जय नामका नगर है। ये दोनों ही नगर ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो भवनवासी देवोंका लोक इनसे पराजित होकर ही नीचे चला गया हो ॥ ४३ ॥

शकटादिमुखी चैव पुरी भाति चतुर्मुखी । चतुर्भिर्गोपुरैस्तुङ्गैर्लङ्घयन्तीव खङ्गणम् ॥ ४४ ॥

इधर यह १७ शकटमुखी नगरी है और इधर यह १८ चतुर्मुखी नगरी सुशोभित हो रही है। यह चतुर्मुखी नगरी अपने ऊँचे-ऊँचे चारों गोपुरोंसे ऐसी मालूम होती है मानो आकाशरूपी आँगनका उल्लंघन ही कर रही हो ॥ ४४ ॥

बहुमुख्यरजस्का च विरजस्का च नामतः । नगर्यो भुवनस्येव यत्र मिलिताः श्रियः ॥ ४५ ॥

यह १९ बहुमुखी, यह २० अरजस्का और यह २१ विरजस्का नामकी नगरी है। ये तीनों ही नगरियाँ ऐसी मालूम होती हैं मानो तीनों लोकोंकी लक्ष्मी ही एक जगह आ मिली हो ॥ ४५ ॥

रथनूपुरपूर्वं च चक्रवालाह्वयं पुरम् । पुरस्ताद्वक्ष्यमाणानां पुराणां तिलकायते ॥ ४६ ॥

जो ऊपर कहे हुए और आगे कहे जानेवाले नगरोंमें तिलकके समान आचरण करता है ऐसा यह २२ रथनूपुरचक्रवाल नामका नगर है ॥ ४६ ॥

राजधानी यमेतस्यां खचरेन्द्रशिरोमणिः । निवसन्ति परां लक्ष्मीं भुञ्जानाः सुकृतोदयात् ॥ ४७ ॥

यह नगर इस श्रेणीकी राजधानी है, विद्याधरोंके चक्रवर्ती (राजा) अपने पुण्योदयसे प्राप्त हुई उत्कृष्ट लक्ष्मीका उपभोग करते हुए इसमें निवास करते हैं ॥ ४७ ॥

मेखलाप्रपुरं रम्यमितः क्षेमपुरी पुरी । अपराजितमेतच्च कामपुष्पमितः पुरम् ॥ ४८ ॥

इधर यह मनोहर २३ मेखलाग्र नगर है, यह २४ क्षेमपुरी नगरी है, यह २५ अपराजित नगर है और इधर यह २६ कामपुष्प नामका नगर है ॥ ४८ ॥

गगनादिचरीयं सा विन्ध्यादिचरी पुरी । परं चक्रपुरं चैतदनन्तरमितोऽपरम् ॥ ४९ ॥

यह २७ गगनचरी नगरी है, यह २८ विन्ध्यचरी नगरी है और यह २९ चक्रपुर नामका नगर है ॥ ४९ ॥

सञ्जयन्तो जयन्ती च विजया वैजयन्त्यपि । क्षेमपुरं च चन्द्राभं सूर्याभं चातिभास्वरम् ॥ ८० ॥

यह ३० संख्याको पूर्ण करनेवाली ३० संजयन्ती नगरी है, यह ३१ जयन्ती, यह ३२ विजया और यह ३३ वैजयन्तीपुरी है। यह ३४ क्षेमपुर, यह ३८ चन्द्राभ और यह अतिशय देदीप्यमान ३६ सूर्याभ नामका नगर है ॥ ८० ॥

रतिकूटं चित्रकूटं महत्कूटं तथैव च । हेमकूटं मेघकूटं विचित्राङ्गं च वैश्रवणम् ॥ ८१ ॥

यह ३७ रतिकूट, यह ३८ चित्रकूट, यह ३९ महाकूट, यह ४० हेमकूट, यह ४१ मेघकूट, यह ४२ विचित्रकूट और यह ४३ वैश्रवणकूट नामका नगर है ॥ ८१ ॥

शशिसूर्यपुरे चापि नित्योद्योतिन्यनुक्रमात् । विमुखी नित्यवाहिन्या पुण्डरीका च पश्चिमा ॥ ८२ ॥

ये अनुक्रमसे ४४ शशिपुर, ४८ सूर्यपुर और ४६ नित्योद्योतिनी नामके नगर हैं। यह ४७ विमुखी, यह ४८ नित्यवाहिनी, यह ४९ पुण्डरीका और यह ८० पश्चिमा नामकी नगरी है ॥ ८२ ॥

नगर्यो दक्षिणश्रेण्यां पञ्चाशत्संख्यया मिताः । प्राकारगोपुरोत्तुङ्गाः खातिकाभिस्त्रिसृभ्रिताः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार दक्षिण-श्रेणीमें ८० नगरियाँ हैं, इन नगरियोंके कोट और गोपुर (मुख्य दरवाजे) बहुत ऊँचे हैं तथा प्रत्येक नगरी तीन-तीन खाइयोंसे घिरी हुई है ॥ ८३ ॥

त्रिसृणामपि खातानामन्तरं दण्डसम्मितम् । दण्डाश्चतुर्दशैतस्या व्यासो द्व्यूनोऽन्ययोर्द्वयोः ॥ ८४ ॥

इन तीनों परिखाओंका अन्तर एक-एक दण्ड अर्थात् धनुष प्रमाण है तथा पहली परिखा चौदह दण्ड चौड़ी है, दूसरी बारह और तीसरी दस दण्ड चौड़ी है ॥ ८४ ॥

विष्कम्भादवगाढाः स्युः पादोनार्द्धत्रिभागशः । सममूलास्ततो वा स्युर्मूलाद्वा चतुरस्त्रिकाः ॥ ८८ ॥

ये परिखाएँ अपनी-अपनी चौड़ाईसे अनुक्रमसे पौनी, आधी और एकतिहाई गहरी हैं अर्थात् पहली परिखा साढ़े दस धनुष, दूसरी छह धनुष और तीसरी सवा तीन धनुषसे कुछ अधिक गहरी है। ये सभी परिखाएँ नीचेसे लेकर ऊपर तक एक-सी चौड़ी हैं ॥ ५५ ॥

रत्नोपलैरुपहिताः स्वर्णेटकचिताश्च ताः । तोयान्तिक्यः परीवाहयुक्ता वा निर्मलोदकाः ॥ ५६ ॥

वे परिखाएँ सुवर्णमयी ईंटोंसे बनी हुई हैं, रत्नमय पाषाणोंसे जड़ी हुई हैं, उनमें ऊपर तक पानी भरा रहता है और वह पानी भी बहुत स्वच्छ रहता है। वे परिखाएँ जलके आने-जानेके परीवाहोंसे भी युक्त हैं ॥ ५६ ॥

पद्मोत्पलावसंसिन्यो यादोदोषहटनक्षमाः । महाब्धिभिरिवा स्पर्धां कुर्वाणास्तुङ्गवीचिभिः ॥ ५७ ॥

उन परिखाओंमें जो लाल और नीले कमल हैं वे उनके कर्णाभरण-से जान पड़ते हैं, वे जलचर जीवोंकी भुजाओंके आघात सहनेमें समर्थ हैं और अपनी ऊँची लहरोंसे ऐसी मालूम होती हैं मानो बड़े-बड़े समुद्रोंके साथ स्पर्धा ही कर रही हों ॥ ५७ ॥

आतुर्दण्डान्तरश्चातो वप्रः षड्धनुरुच्छ्रितः । स्वर्णपांसूपलैश्छन्नः स्वोत्सेधाद्द्विगुणविस्तृतः ॥ ५८ ॥

इन परिखाओंसे चार दण्डके अन्तर (फासला) पर एक कोट है जो कि सुवर्णकी धूलिके बने हुए पत्थरोंसे व्याप्त है, छह धनुष ऊँचा है और बारह धनुष चौड़ा है ॥ ५८ ॥

तस्योर्ध्वनिचयं पृच्छन्ति तथा वप्रस्य पृष्ठकम् । कुम्भकुक्षिसमाकारगोक्षुरक्षोदनिस्तलम् ॥ ५९ ॥

इस कोटपर ऊपरी भाग अनेक कंगूरोंसे युक्त है। वे कंगूरे गायके खुरके समान गोल हैं और घड़ेके उदरके समान चारों ओर उठे हुए आकारवाले हैं ॥ ५९ ॥

वप्रस्योपरि सालोऽभूद् विष्कम्भाद् द्विगुणोच्छ्रितः । चतुर्विंशतिमुद्विद्धो धनुषां तलमूलतः ॥ ६० ॥

इस धूलिकोटिके आगे एक परकोटा है जो कि चौड़ाईसे दूना ऊँचा है। इसकी ऊँचाई मूल भागसे ऊपर तक चौबीस धनुष है अर्थात् वह बारह धनुष चौड़ा और चौबीस धनुष ऊँचा है ॥ ६० ॥

मूर्द्धभिः कपिशीर्षैश्च रचिताग्रः समस्ततः । चित्रहैमेष्टकचितः क्वचिद् रत्नशिलामयः ॥ ६१ ॥

इस परकोटेका अग्रभाग कँगूरों तथा बन्दरके शिरके आकारके शिखरोंसे सजा हुआ है, यह परकोटा चारों ओरसे अनेक प्रकारकी सुवर्णमयी ईंटोंसे व्याप्त है और कहीं-कहींपर रत्नमयी शिलाओंसे भी युक्त है ॥ ६१ ॥

विष्कम्भसमविस्ताराः पञ्चदशायतस्तथा । त्रिंशच्च दण्डानां स्युश्चाला द्विगुणोच्छ्रिताः ॥ ६२ ॥

उस परकोटेपर अट्टालिकाओंकी पंक्तियाँ बनी हुई हैं जो कि परकोटेकी चौड़ाईके समान चौड़ी हैं, पन्द्रह धनुष लम्बी हैं और उससे दूनी अर्थात् तीस धनुष ऊँची हैं ॥ ६२ ॥

त्रिंशद्दण्डान्तराश्चैता मणिहेमविचित्रिताः । उत्सेधसदृशारोहसोपाना गगनस्पृशः ॥ ६३ ॥

ये अट्टालिकाएँ तीस-तीस धनुषके अन्तरपर बनी हुई हैं, सुवर्ण और मणियोंसे चित्र-विचित्र हो रही हैं, इनकी ऊँचाईके अनुसार चढ़नेके लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं और ये सभी अपनी ऊँचाईसे आकाशको छू रही हैं ॥ ६३ ॥

द्वयोरट्टालयोर्मध्ये गोपुरं रत्नतोरणम् । पञ्चाशद्धनुरुत्सेधं तदर्द्धेन च विस्तृतम् ॥ ६४ ॥

दो-दो अट्टालिकाओंके बीचमें एक-एक गोपुर बना हुआ है उसपर रत्नोंके तोरण लगे हुए हैं। ये गोपुर पचास धनुष ऊँचे और पचीस धनुष चौड़े हैं ॥ ६४ ॥

गोपुराट्टालयोर्मध्ये त्रिधनुष्कावगाहनम् । इन्द्रकोशमभूत् सापि धामैर्युक्तं गवाक्षकैः ॥ ६५ ॥

गोपुर और अट्टालिकाओंके बीचमें तीन-तीन धनुष विस्तारवाले इन्द्रकोश अर्थात् बुरज बने हुए हैं। वे बुरज किवाड़सहित झरोखोंसे युक्त हैं ॥ ६५ ॥

तदन्तरेषु राजन्ते शुचयो देवपथा भुवि । त्रिहस्तविस्तृताः पार्श्वे तच्चतुर्गुणमायताः ॥ ६६ ॥

उन बुरजोंके बीचमें अतिशय स्वच्छ देवपथ बने हुए हैं जो कि तीन हाथ चौड़े और बारह हाथ लम्बे हैं ॥ ६६ ॥

> इत्युक्तखातिकावप्रप्राकारैः परितो वृताः । विभान्ते नगर्योऽस्याः परिधानैरिवाङ्गनाः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार ऊपर कही हुई परिखा, कोट और परकोटा इनसे घिरी हुई वे नगरियाँ ऐसी सुशोभित होती हैं मानो वस्त्र पहने हुई स्त्रियाँ ही हों ॥ ६७ ॥

> धनुष्काणां सहस्रं स्यात् तच्चतुष्पथसङ्कुलम् । वीथीनां द्वादशाहत्यं द्वाराण्येकसहस्रकं तु ॥ ६८ ॥

इन नगरियोंमें-से प्रत्येक नगरीमें एक हजार चौक हैं, बारह हजार गलियाँ हैं और छोटे-बड़े सब मिलाकर एक हजार दरवाजे हैं ॥ ६८ ॥

> तदर्द्धानि सकवाटानि राजन्ते नेत्राणीव पुरश्रियाम् । तद्द्विशत्यग्रिमाणि द्वाराणि तानि च ॥ ६९ ॥

इनमें-से आधे अर्थात् पाँच सौ दरवाजे किवाड़सहित हैं और वे नगरीकी शोभाके नेत्रोंके समान सुशोभित होते हैं। इन पाँच सौ दरवाजोंमें भी दो सौ दरवाजे अत्यन्त श्रेष्ठ हैं ॥ ६९ ॥

> पूर्वापरेण रुद्धाः स्युर्योजनानि नवैव ताः । दक्षिणोत्तरतो दीर्घा द्वादश प्राङ्मुखाः स्थिताः ॥ ७० ॥

ये नगरियाँ पूर्वसे पश्चिम तक नौ योजन चौड़ी हैं और दक्षिणसे उत्तर तक बारह योजन लम्बी हैं। इन सभी नगरियोंका मुख पूर्व दिशाकी ओर है ॥ ७० ॥

> राजगेहादिविस्तारमासां को नाम वर्णयेत् । ममापि नागराजस्य यत्र मोमुह्यते मतिः ॥ ७१ ॥

इन नगरियोंके राजभवन आदिके विस्तार वगैरहका वर्णन कौन कर सकता है? क्योंकि जिस विषयमें मुझ धरणेन्द्रकी बुद्धि भी अतिशय मोहको प्राप्त होती है तब औरकी बात ही क्या है? ॥ ७१ ॥

> ग्रामाणां कोटिरेका स्यात् परिवारः पुरं प्रति । तथा खेटमडम्बादिनिवेशश्च पृथग्विधः ॥ ७२ ॥

इन नगरियोंमें-से प्रत्येक नगरीके प्रति एक-एक करोड़ गाँवोंका परिवार है तथा खेट मडम्ब आदिकी रचना जुदी-जुदी है ॥ ७२ ॥

> अकृष्टपच्यैः शाल्यग्र्यैर्धान्यैरन्यैश्च संवृताः । पुण्ड्रेक्षुवनसञ्छन्नसीमानो निगमाः सदा ॥ ७३ ॥

वे गाँव बिना जोते-बोये ही उत्पन्न होनेवाले उत्तम शाली चावलोंसे तथा और भी अनेक प्रकारके धानोंसे सदा हरे-भरे रहते हैं तथा उनकी सीमाएँ पोंडा और ईखोंके वनोंसे सदा ढकी रहती हैं ॥ ७३ ॥

> पुराणामन्तरं चात्र सार्द्धं पञ्चनवत्यधिकं शतम् । प्रमाणयोजनोद्दिष्टं मानमाप्तैर्निदर्शितम् ॥ ७४ ॥

इस विजयार्ध पर्वतपर बसे हुए नगरोंका अन्तर भी सर्वज्ञ देवने प्रमाण योजनके नापसे १९५ योजन बतलाया है ॥ ७४ ॥

> पुराणि दक्षिणश्रेण्यां यथैतानि स्थितानि वै । भवेयुरुत्तरश्रेण्यामपि तानि समृद्धिभिः ॥ ७५ ॥

जिस प्रकार दक्षिण श्रेणीपर इन नगरोंकी रचना बतलायी है ठीक उसी प्रकार उत्तर श्रेणीपर भी अनेक विभूतियोंसे युक्त नगरोंकी रचना है ॥ ७५ ॥

> किन्त्वन्तरं पुराणां स्यात् तत्रैकैकं प्रमाणतः । योजनानां शतं सार्द्धं सप्ततिश्चैव साधिका ॥ ७६ ॥

किन्तु वहाँपर नगरोंका अन्तर प्रमाणयोजनसे कुछ अधिक एक सौ अठहत्तर योजन है ॥ ७६ ॥

> आसां च नामनिर्देशो भवेदद्यमन्वतिक्रमात् । पश्चिमां दिशमारभ्य यावत् षष्टितमं पुरम् ॥ ७७ ॥

पश्चिम दिशासे लेकर साठवें नगर तक उन नगरोंके नाम अनुक्रमसे इस प्रकार हैं— ॥ ७७ ॥

> अलका वारुणी चैव सकैलासा च धारिणी । विद्युत्प्रभं किलिकिलं चूडामणि शशिप्रभे ॥ ७८ ॥

१ अलका, २ वारुणी, ३ कैलास-वारुणी, ४ विद्युत्प्रभ, ५ किलिकिल, ६ चूडामणि और ७ शशिप्रभा ॥ ७८ ॥

सुमेरुः पुष्पचूडं च हंसगर्भं वलाहकी । शिवङ्करं शिवं श्रीहर्म्यं तथा शिवमन्दिरम् ॥ ७९ ॥

८ सुमेरु, ९ पुष्पचूड़, १० हंसगर्भ, ११ वलाहक, १२ शिवंकर, १३ शिव, १४ श्रीहर्म्य और १५ शिवमन्दिर ॥ ७९ ॥

वसुमुत्कं वसुमती नाम्ना सिद्धार्थकं परम् । सूर्यप्रभं ततः केतुमालाख्यं च पुरोत्तमम् ॥ ८० ॥

१६ वसुमुत्क, १७ वसुमती, १८ सिद्धार्थक, १९ सूर्यप्रभ और २० केतुमाला ॥ ८० ॥

सुरेन्द्रकान्तमन्यत् स्यात्ततो गगननन्दनम् । अशोकारह्या विशोका च वीतशोका च सत्पुरी ॥ ८१ ॥

२१ सुरेन्द्रकान्त, २२ गगननन्दन, २३ अशोका, २४ विशोका और २५ वीतशोका ॥ ८१ ॥

अलका तिलकाख्या च तिलकान्तं तथाम्बरम् । मन्दिरं कुमुदं कुन्दं गगनवल्लभम् ॥ ८२ ॥

२६ अलका, २७ तिलका, २८ अम्बरतिलक, २९ मन्दिर, ३० कुमुद, ३१ कुन्द और ३२ गगनवल्लभ ॥ ८२ ॥

ज्योतिःप्रभं च भूतिलकं पुरं गन्धर्वसंज्ञकम् । मुक्ताहारः सनिमिषं चाग्निज्वालमतः परम् ॥ ८३ ॥

३३ ज्योतिःप्रभ, ३४ भूतिलक, ३५ गन्धर्वपुर, ३६ मुक्ताहार, ३७ निमिष और ३८ अग्निज्वाल ॥ ८३ ॥

महाज्वालं च विमलं श्रीनिकेतं जयाह्वयम् । श्रीवासो मणिवज्राख्यं भद्राख्यं सधनक्षयम् ॥ ८४ ॥

३९ महाज्वाल, ४० विमल, ४१ श्रीनिकेत, ४२ जय, ४३ श्रीनिवास, ४४ मणिवज्र, ४५ भद्र और ४६ भवनंजय ॥ ८४ ॥

गोक्षीरफेनसङ्क्षोभ्यं गिर्यादिशिखराह्वयम् । धरणी धारणी दुर्गं दुर्द्धराख्यं सुदर्शनम् ॥ ८५ ॥

४७ गोक्षीर, ४८ फेन, ४९ अक्षोभ्य, ५० गिरिशिखर, ५१ धरणी, ५२ धारण, ५३ दुर्ग, ५४ दुर्धर और ५५ सुदर्शन ॥ ८५ ॥

> माहेन्द्राख्यं तथा पुरं विजयसंज्ञकम् । सुगन्धिनी च वज्राद्धं रत्नाकराह्वयम् ॥ ८६ ॥

५६ महेन्द्रपुर, ५७ विजयपुर, ५८ सुगन्धिनी, ५९ वज्रार्ध और ६० रत्नाकर ॥ ८६ ॥

> इत्येवं चान्त्यमुत्तरस्यां पुराणि वै । श्रेण्यां स्वर्गपुरश्रीणि भान्त्येतानि महान्त्यलम् ॥ ८७ ॥

इस प्रकार उत्तर श्रेणीमें ये बड़े-बड़े साठ नगर सुशोभित हैं, इनकी शोभा स्वर्गके नगरोंके समान है ॥ ८७ ॥

> पुराणीन्द्रपुराणीव सौधानि स्वविमानतः । प्रति प्रतिपुरं रम्यं व्यत्यासीत् प्रतिवैभवम् ॥ ८८ ॥

ये नगर इन्द्रपुरीके समान हैं और बड़े-बड़े भवन देवविमानोंके समान हैं। यहाँका प्रत्येक नगर शोभाकी अपेक्षा दूसरे नगरसे पृथक् ही मालूम होता है तथा हरएक नगरका वैभव भी दूसरे नगरके वैभवकी अपेक्षा पृथक् मालूम होता है अर्थात् यहाँ के नगर एकसे-एक बढ़कर हैं ॥ ८८ ॥

> नराः सुरकुमाराभा नार्यश्चाप्सरसां समाः । स्वातृविषयान् भोगान् भुञ्जतेऽमी यथोचितम् ॥ ८९ ॥

यहाँके मनुष्य देवकुमारोंके समान हैं और स्त्रियाँ अप्सराओंके तुल्य हैं। ये सभी स्त्री-पुरुष अपने-अपने योग्य छहों ऋतुओंके भोग भोगते हैं ॥ ८९ ॥

> इति पुराणि पुराणकवीशिनामपि वचोभिरशक्यनुतोन्नयम् । दधदधित्यकया गिरिरेष ताः
> सुरपुरश्रियमाह्वयते स्वयम् ॥ ९० ॥

इस प्रकार यह विजयार्ध पर्वत ऐसे-ऐसे श्रेष्ठ नगरोंको धारण कर रहा है कि बड़े-बड़े प्राचीन कवि भी अपने वचनों-द्वारा जिनकी स्तुति नहीं कर सकते। इसके सिवाय यह पर्वत अपने ऊपरकी उत्कृष्ट भूमिसे ऐसा मालूम होता है मानो स्वर्गकी लक्ष्मीको ही बुला रहा हो ॥ ९० ॥

गिरिरयं गुरुभिः शिखरैर्दिवं प्रविपुलेन तलेन च भूतलम् । दधदुपान्तचरैः खचरोरगैः प्रथयति त्रिजगच्छ्रियमेकतः ॥ ९१ ॥

यह पर्वत अपने बड़े-बड़े शिखरोंसे स्वर्गको धारण कर रहा है, अपने विस्तृत तलभागसे अधोलोकको धारण कर रहा है और समीपमें ही घूमनेवाले विद्याधर तथा धरणेन्द्रोंसे मध्यलोककी शोभा धारण कर रहा है। इस प्रकार यह एक ही जगह तीनों लोकोंकी शोभा प्रकट कर रहा है ॥ ९१ ॥

निधुवनानि वनान्तलतागृहे मर्दितपल्लवसंस्तरणान्तरे । वितनुतेऽप्युपभोगसुगन्धिभिर्गिरिरयं गगनेचरयोषिताम् ॥ ९२ ॥

जिनमें कोमल पल्लवोंके बिछौने बिछे हुए हैं और जो उपभोगके योग्य चन्दन, कपूर आदिसे सुगन्धित हैं, वनके मध्यमें बने हुए लता-गृहोंसे यह पर्वत विद्याधरियोंकी रतिक्रीड़ाको प्रकट कर रहा है ॥ ९२ ॥

इह सुरासुरकिन्नरपन्नगा नियतमस्य तटेषु महीभृतः । प्रतिवसन्ति समं प्रमदाजनैः स्वरुचितैरचितैरतोत्सवौः ॥ ९३ ॥

इस पर्वतके किनारोंपर देव, असुरकुमार, किन्नर और नागकुमार आदि देव अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ अपनेको अच्छे लगनेवाले तथा अपने-अपने योग्य संभोग आदिका उत्सव करते हुए नियमसे निवास करते रहते हैं ॥ ९३ ॥

सुरनिषेवितितेषु निकुञ्जकेष्वमन्दसरिदुपान्तलताभवनेष्वमूः । प्रणयकोपविजिह्ममुखीर्वधूरनुनयन्ति मुदा नभश्चराः ॥ ९४ ॥

इस पर्वतपर देवोंके सेवन करने योग्य नदियोंके किनारे बने हुए लता-गृहोंमें बैठी हुई तथा प्रणय कोपसे जिनके मुख मलिन अथवा कुटिल हो रहे हैं ऐसी अपनी स्त्रियोंको विद्याधर लोग सदा मनाते रहते हैं— प्रसन्न करते रहते हैं ॥ ९४ ॥

इह मृणालनियोजितबन्धनैरिह कृतं ससरोरुहताडनैः । इह मुखासवसेचनकैः प्रियान् विमुखयन्ति रते कुपिताः स्त्रियः ॥ ९५ ॥

इधर ये कुपित हुई स्त्रियाँ अपने पतियोंको मृणालके बन्धनोंसे बाँधकर रति-क्रीड़ासे विमुख कर रही हैं, इधर कानोंके आभूषण-स्वरूप कमलोंसे ताड़ना करके ही विमुख कर रही हैं और इधर मुखकी मदिरा ही थूककर उन्हें रति-क्रीड़ासे पराङ्मुख कर रही हैं ॥ ९५ ॥

> क्वचिदनङ्गनिवेश इवामरीकलितनर्तनगीतमनोहरः । मदकलध्वनिकोकिलडिण्डिमैः क्वचिदनङ्गजयोत्सवविभ्रमः ॥ ९६ ॥

यह पर्वत कहीं देवांगनाओंके सुन्दर नृत्य और गीतोंसे मनोहर हो रहा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो कामदेवका निवासस्थान ही हो और कहींपर मदोन्मत्त कोयलोंके मधुर शब्दरूपी नगाड़ोंसे युक्त हो रहा है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो कामदेवके विजयोत्सवका विलास ही हो ॥ ९६ ॥

> क्वचिदुपोढपयःकणशीतलैर्धुतसरोजवनैः पवनैः सुखैः ।
> मदकलालिकुलाकुलपादपैरुपवनैरतिरम्यतरोऽभवत् ॥ ९७ ॥

कहीं तो यह पर्वत जलके कणोंको धारण करनेसे शीतल और कमलबनोंको कम्पित करनेवाली वायुसे अतिशय सुखदायी मालूम होता है और कहीं मनोहर शब्द करते हुए भ्रमरोंसे व्याप्त वृक्षोंवाले बगीचोंसे अतिशय सुन्दर जान पड़ता है ॥ ९७ ॥

> क्वचिदनेकद्विपयूथनिषेवितः क्वचिदनेकपतत्पततातः ।
> क्वचिदनेकपरार्ध्यमणिद्युतिच्छुरितराजतसानुविराजितः ॥ ९८ ॥

यह पर्वत कहीं तो हाथियोंके झुण्डसे सेवित हो रहा है, कहीं उड़ते हुए अनेक पक्षियोंसे व्याप्त हो रहा है और कहीं अनेक प्रकारके श्रेष्ठ मणियोंकी कान्तिसे व्याप्त चाँदीके शिखरोंसे सुशोभित हो रहा है ॥ ९८ ॥

> क्वचिदकाण्डविनर्तितकेकिभिर्घननिभैर्हरिनीलतटैर्युतः । क्वचिदकालकृतोषसि रोचिषां परिगतोऽरुणरत्नशिलातटैः ॥ ९९ ॥

यह पर्वत कहींपर नीलमणियोंके बने हुए किनारोंसे सहित है इसके वे किनारे मेघके समान मालूम होते हैं जिससे उन्हें देखकर मयूर असमयमें ही (वर्षा ऋतुके बिना ही) नृत्य करने लगते हैं। और कहीं लाल-लाल रत्नोंकी शिलाओंसे युक्त है, इसकी वे शिलाएँ अकालमें ही प्रातःकालकी लालिमा फैला रही हैं ॥ ९९ ॥

क्वचन काञ्चनभित्तिपराहते रविकरैरतिदीपितकाननः । नभसि सञ्चरतां जनयत्ययं गिरिरुदीर्णदवानलसंशयम् ॥ १०० ॥

कहींपर सुवर्णमय दीवालोंपर पड़कर लौटती हुई सूर्यकी किरणोंसे इस पर्वतपरका वन अतिशय देदीप्यमान हो रहा है जिससे यह पर्वत आकाशमें चलनेवाले विद्याधरोंको दावानल लगनेका सन्देह उत्पन्न कर रहा है ॥ १०० ॥

इति विशेषपरम्परयान्वहं रुचिरया गिरिरेष सुरेशिनाम् । अपि मनांसि विवर्द्धितकौतुकं वितनुते किमुताम्बरचारिणाम् ॥ १०१ ॥

इस प्रकार अनेक विशेषताओंसे सहित यह पर्वत रात-दिन इन्द्रोंके मनको भी बढ़ते हुए कौतुकसे युक्त करता रहता है अर्थात् क्रीड़ा करनेके लिए इन्द्रोंका भी मन ललचाता रहता है तब विद्याधरोंकी तो बात ही क्या है? ॥ १०१ ॥

सुरसरिज्जलसिक्ततटीद्रुमः जलदचुम्बितसानुवनोदकः । मणिशिलैः शिखरैः खचरोषितैर्विजयते गिरिरेष सुराचलान् ॥ १०२ ॥

जिसके किनारेपर उगे हुए वृक्ष गंगा नदीके जलसे सींचे जा रहे हैं और जिसके शिखरोंपर-के वन मेघोंसे चुम्बित हो रहे हैं ऐसा यह विजयार्ध पर्वत विद्याधरोंसे सेवित अपने मणिमय शिखरों-द्वारा मेरु पर्वतोंको भी जीत रहा है ॥ १०२ ॥

सुरनदीसलिलप्लुतपादपैस्तटवनैः कुसुमाञ्चितमूर्द्धभिः । मुखरितालिभिरेष महाचलो विहसतीव सुरोपवनश्रियम् ॥ १०३ ॥

जिनके वृक्ष गंगा नदीके जलसे सींचे हुए हैं, जिनके अग्रभाग फूलोंसे सुशोभित हो रहे हैं और जिनमें अनेक भ्रमर शब्द कर रहे हैं ऐसे किनारेके उपवनोंसे यह पर्वत ऐसा मालूम होता है मानो देवोंके उपवनोंकी शोभाकी हँसी ही कर रहा हो ॥ १०३ ॥

इयमितः सुरसिन्धुरपां छटाः प्रकिरतीह विभाति पुरो दिशि । वहति सिन्धुरितश्च महानदी मुखरिता कलहंसकलस्वनैः ॥ १०४ ॥

इधर यह पूर्व दिशाकी ओर जलके छींटोंकी वर्षा करती हुई गंगा नदी सुशोभित हो रही है और इधर यह पश्चिमकी ओर कलहंस पक्षियोंके मधुर शब्दोंसे शब्दायमान सिन्धु नदी बह रही है ॥ १०४ ॥

> हिमवतः शिरसः किल निर्गते सकललोकहिते सरितावुभे । शुचितयास्य तु पादमुपाश्रिते शुचिरलङ्घ्यतरो हि महोन्नतेः ॥ १०५ ॥

यद्यपि ये दोनों ही गंगा और सिन्धु नदियाँ हिमवत् पर्वतके मस्तकपरके पद्म नामक सरोवरसे निकली हैं तथापि शुचिता अर्थात् पवित्रताके कारण (पक्षमें शुक्लताके कारण) इस विजयार्धके पाद अर्थात् चरणों (पक्षमें प्रत्यन्तपर्वत) की सेवा करती हैं सो ठीक है क्योंकि जो पवित्र होता है उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। पवित्रताके सामने ऊँचाई व्यर्थ है। भावार्थ- गंगा और सिन्धु नदी हिमवत् पर्वतके पद्म नामक सरोवरसे निकलकर गुहाद्वारसे विजयार्ध पर्वतके नीचे होकर बहती हैं। इसी बातका कविने आलंकारिक ढंगसे वर्णन किया है। यहाँ शुचि और शुक्ल शब्द श्लिष्ट हैं ॥ १०५ ॥

> अत्र सदैव सदेवविचेष्टितैः सुकृतिभिः सुकृती खचराधिपः । कृततनयास्तनया इव सत्पितुः समुपयान्ति यथेप्सितसम्पदः ॥ १०६ ॥

जिस प्रकार नीतिमान् पुत्र श्रेष्ठ पितासे मनवांछित फल प्राप्त करते हैं उसी प्रकार पुण्यात्मा, कार्यकुशल और नीतिमान विद्याधर अपने भाग्य और पुरुषार्थके द्वारा इस पर्वतसे सदा मनवांछित फल प्राप्त किया करते हैं ॥ १०६ ॥

> क्षितिरकृष्टपचेलिमसस्यसूः खनिरयत्नजरत्नविशेषसूः । द्रुतरुहश्च वनस्पतयश्च ते दधति पुष्पफलर्द्धिमकालजाम् ॥ १०७ ॥

यहाँकी पृथिवी बिना बोये ही धान्य उत्पन्न करती रहती है, यहाँकी खानें बिना प्रयत्न किये ही उत्तम-उत्तम रत्न पैदा करती हैं और यहाँके ऊँचे-ऊँचे वृक्ष भी असमयमें उत्पन्न हुए पुष्प और फलरूप सम्पत्तिसदा धारण करते रहते हैं ॥ १०७ ॥

> सरसि सारसहंसविकूजितैः कुसुमितासु लतास्वथनिःस्वनैः । उपवनेषु च कोकिलनिक्वणैर्हृदिशयोऽत्र सदा विनिद्रितः ॥ १०८ ॥

यहाँके सरोवरोंपर सारस और हंस पक्षी सदा शब्द करते रहते हैं, फूली हुई लताओंपर भ्रमर गुंजार करते रहते हैं और उपवनोंमें कोयलें शब्द करती रहती हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ कामदेव सदा ही जागृत रहा करता हो ॥ १०८ ॥

> कमलिनीवनरेणुविकर्षिभिः कुसुमितोपवनद्रमधूननैः । रतिपरिश्रमहारिभिरच्युतं तृप्तिमुपैति सदा खचरीजनः ॥ १०९ ॥

जो कमलवनके परागको खींच रहा है, जो उपवनोंके फूले हुए वृक्षोंको हिला रहा है और जो संभोगजन्य परिश्रमको दूर कर देनेवाला है ऐसे वायुसे यहाँकी विद्याधरियाँ सदा सन्तोषको प्राप्त होती रहती हैं ॥ १०९ ॥

> हरिरितः प्रतिगर्जति कानने करिकुलं वनमुज्झति कातरम् । परिगलत्सकलं च मृगीकुलं गिरिनिकुञ्जतलादपसर्पति ॥ ११० ॥

इधर इस वनमें यह सिंह गरज रहा है उसके भयसे यह हाथियोंका समूह वनको छोड़ रहा है और जिनके मुखसे घास भी गिर रहा है ऐसा यह हरिणियोंका समूह भी पर्वतके लतागृहोंसे निकलकर भागा जा रहा है ॥ ११० ॥

> सरसि हंसवधूरियमुत्सुका कमलरेणुविपिञ्जरमञ्जसा । समुपयाति न कोकविशङ्किनी नयनगलदश्रु विरौति च ॥ १११ ॥

इधर तालाबके किनारे यह उत्कण्ठित हुई हंसिनी, जो कमलके परागसे बहुत शीघ्र पीला पड़ गया है ऐसे अपने साथी-प्रिय हंसको चकवा समझकर उसके समीप नहीं जाती है और अश्रु ढालती हुई रो रही है ॥ १११ ॥

> इयमितोऽथ च कोककुटुम्बिनी कमलिनीनवपत्रतिरोहितम् । अनवलोक्य मुहुः सहचारिणं भ्रमति दीनरुतैः परितः सरः ॥ ११२ ॥

इधर यह चकवी कमलिनीके नवीन पत्रोंसे छिपे हुए अपने साथी-चकवाको न देखकर बार-बार दीन शब्द करती हुई तालाबके चारों ओर घूम रही है ॥ ११२ ॥

इह शरदभ्रमलङ्घ्यमाश्रितं मणितटं सुरखेचरकन्यकाः । लघुतया सुसहायमितस्ततः प्रचरयन्ति नयन्ति च स्वेच्छया ॥ ११३ ॥

इधर इस पर्वतके मणिमय किनारोंपर यह शरदऋतुका हलका बादल आ गया है, हलका होनेके कारण इसे सब कोई सुखपूर्वक ले जा सकता है और इसीलिए ये देव तथा विद्याधरोंकी कन्याएँ इसे इधर-उधर चलाती हैं और खींचकर अपनी-अपनी ओर ले जाती हैं ॥ ११३ ॥

असुमतां सुमताममृतात्मिकां धृतघनान्तघनामिव वीचिभिः । प्रसृतकान्तवनाममरापगां वहति सानुभिरेष महाचलः ॥ ११४ ॥

जो सब जीवोंको अतिशय सुखप्रद, जो बहुत बड़ी है, जो अपनी लहरोंसे ऐसी जान पड़ती है मानो उसने शरद्ऋतुके मेघ ही धारण किये हों और जिसका जल वनोंके अन्तभाग तक फैल गया है ऐसी गंगा नदीको भी यह महापर्वत अपने निचले शिखरोंपर धारण कर रहा है ॥ ११४ ॥

दुस्तरां च नितरामवगाहितामनुगतां च समन्तात् सरितां पतिम् । आश्रितान्तलतावनां स्वतटोपमां वहति सिन्धुमयं धरणीधरः ॥ ११५ ॥

और, जो अतिशय विस्तृत है, जो कठिनतासे पार होने योग्य है, जो लगातार समुद्र तक चली गयी है, जिसने लताओंके वनका आश्रय ले लिया है तथा जो अपने किनारेकी उपमाको प्राप्त है ऐसी सिन्धु नदीको भी यह पर्वत धारण कर रहा है ॥ ११५ ॥

इति यदेव यदेव निरूप्यते बहुविशेषगुणैरुचितं गिरौ । किमु तदेव तदेव सुखावहं हृदयहारि दृशां च विलोभनम् ॥ ११६ ॥

इस प्रकार अनेक विशेष गुणोंसे सहित इस पर्वतपर जिसे देखो वही सुख देनेवाला, हृदयको आकृष्ट करनेवाला और आँखोंको लुभानेवाला जान पड़ता है ॥ ११६ ॥

> अधरसानुषु कुसुमाचितेयं नीलवनालीपरिधानलक्ष्मीम् । स्निग्धाग्रलग्ना च सिताभ्रपङ्क्तिः संव्यानलीलामियमातनोति ॥ ११७ ॥

इस पर्वतके निचले शिखरोंपर जो फूलोंसे व्याप्त हरी-हरी वनकी पंक्ति दिखाई दे रही है वह इस पर्वतकी धोतीकी शोभा धारण कर रही है और शिखरके अग्रभागपर जो सफेद-सफेद बादलोंकी पंक्ति लग रही है वह इसकी पगड़ीकी शोभा बढ़ा रही है ॥ ११७ ॥

> तिरस्करिण्येव सिताभ्रपङ्क्त्या परिष्कृतान्तेऽस्य निकुञ्जदेशे । मणिप्रभोत्सर्पहतान्धकारे रतिं भजन्ते खचराः स्वकान्तैः ॥ ११८ ॥

जिनका अन्तभाग परदाके समान सफेद बादलोंकी पंक्तिसे ढका हुआ है और मणियोंकी प्रभाके प्रसारसे जिनका सब अन्धकार नष्ट हो गया है ऐसे इस पर्वतके लतागृहोंमें विद्याधरियाँ विद्याधरोंके साथ क्रीड़ा कर रही हैं ॥ ११८ ॥

> शरद्घनस्योपरि सुस्थिते घने वितानतां तन्वति खेचरीजनः । कृतालयास्तत्र चिरं रिरंसया धनातपेऽप्यध्वनि जानते श्रमम् ॥ ११९ ॥

इस पर्वतके ऊपर शरद्ऋतुका मोटा मेघ चँदोवाकी शोभा बढ़ाता हुआ हमेशा स्थिर रहता है इसलिए विद्याधरियाँ चिरकाल तक रमण करनेकी इच्छासे वहीं अपना घर-सा बना लेती हैं और गरमीके दिनोंमें भी गरमीका दुःख नहीं जानतीं ॥ ११९ ॥

> समुल्लसन्नीलमणिप्रभाप्लुतान् शरद्घनान् कृष्णधनाधनायितान् । विलोक्य हृष्टोऽत्र रुवन् शिखावलः प्रभृत्यति व्याततबर्हमुन्मदः ॥ १२० ॥

ये शरद् ऋतुके बादल भी चमकते हुए इन्द्रनीलमणियोंकी प्रभामें डूबकर काले बादलोंके समान हो रहे हैं, इन्हें देखकर ये मयूर हर्षित हो रहे हैं और मदोन्मत्त होकर शब्द करते हुए पूँछ फैलाकर सुन्दर नृत्य कर रहे हैं ॥ १२० ॥

> सितान् घनानिह तटसम्भृतानिमान् स्थलास्थया समुपागताः खगस्त्रियः । दुकूलवस्त्रे इव चातिविस्तृते विधायिकां विरचयन्ति सम्भ्रमात् ॥ १२१ ॥

इधर ये विद्याधरोंकी स्त्रियाँ पर्वतके किनारेमें मिले हुए सफेद बादलोंको स्थल समझकर उनके पास पहुँची हैं और उनपर इस प्रकार शय्या बना रही हैं मानो बिछे हुए किसी लम्बे-चौड़े रेशमकी जाजमपर ही बना रही हों ॥ १२१ ॥

> सरस्तटे कलरुतसारसाकुले वनद्विपे विशति भयविद्रुताः । नभोधिया समुदगताश्च हंसावली नमःश्रियः पृथुतरहारयष्टिवत् ॥ १२२ ॥

इधर, मनोहर शब्द करते हुए सारस पक्षियोंसे व्याप्त तालाबोंके किनारोंपर ये जंगली हाथी प्रवेश कर रहे हैं जिससे ये हंसोंकी पंक्तियाँ श्रावण मासके डरसे आकाशमें उड़ी जा रही हैं और ऐसी दिखाई देती हैं मानो आकाशरूपी लक्ष्मीके हारकी लड़ियाँ ही हों ॥ १२२ ॥

> क्वचिद्धरिन्मणितटरोचिषां चयैः परिष्कृतं वपुरिह तिग्मदीधितेः । सरोजिनीहरितपलाशमण्डलं नभश्चरैरुपतटमीक्ष्यते मुहुः ॥ १२३ ॥

इधर यह सूर्यका बिम्ब हरे-हरे मणियोंके बने हुए किनारोंकी कान्तिके समूहसे आच्छादित हो गया है इसलिए ये विद्याधर इसे कमलिनीका हरा पत्ता समझकर बार-बार इसी किनारेकी ओर देखते हैं ॥ १२३ ॥

> क्वचिद्वनद्विपकपोलघट्टनैः क्षतत्वचो वनतरवः समन्ततः । रुदन्ति मुञ्चन्तश्च्युतकुसुमाश्रुबिन्दवो निलीनषट्पदकरुणस्वरान्विताम् ॥ १२४ ॥

कहींपर सरोवरके किनारे जंगली हाथियोंके गण्डस्थलकी रगड़से जिनकी छाल गिर गयी है ऐसे वनके वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो फूलरूपी आँसुओंकी बूँदें ढालते हुए और उनके भीतर बैठे हुए भ्रमरोंकी गुंजारके बहाने करुणाजनक शब्द करते हुए रो ही रहे हों ॥ १२४ ॥

> इतः कलं कमलवनेषु रूयते मदोद्धुरैर्वनिकलहंससारसैः । इतश्च कोकिलकलनादमूर्च्छितं मनोहरं शिखिविरुतं प्रतायते ॥ १२५ ॥

इधर कमलबनोंमें मदके कारण जिनके शब्द उत्कट हो गये हैं ऐसे कलहंस और सारस पक्षी मधुर शब्द कर रहे हैं और इधर कोयलोंके मनोहर शब्दोंसे बढ़ा हुआ मयूरोंका मनोहर शब्द विस्तृत हो रहा है ॥ १२५ ॥

इतः शरद्घनघनकालमेघयोर्यदृच्छया वन इव सन्निधिर्भवेत् । मुखोन्मुखप्रहितकरः प्रवर्तते
सितासितद्विरदयोरयं रणः ॥ १२६ ॥

इधर इस वनमें शरद्ऋतुके-से सफेद बादल और वर्षाऋतुके-से काले बादल स्वेच्छासे मिल रहे हैं और ऐसे जान पड़ते हैं मानो सफेद और काले दो हाथी एक-दूसरेके मुँहके सामने सूँड चलाते हुए युद्ध ही कर रहे हों ॥ १२६ ॥

वनस्थलीमनिलविलोभितद्रुमामिमामितः कुसुमरजोऽवगुण्ठिताम् । अलक्षितामधिगमयत्यलिपजाः
समाव्रजन् परिमलग्राहकोऽमितः ॥ १२७ ॥

इधर वायुसे जिसके वृक्ष हिल रहे हैं और जो फूलोंके परागसे बिलकुल ढकी हुई है ऐसी यह वनकी भूमि यद्यपि दिखाई नहीं दे रही है तथापि सुगन्धिका लोलुपी और चारों ओरसे आता हुआ यह भ्रमरोंका समूह इसे दिखला रहा है ॥ १२७ ॥

इतो वनं वनगजयूथसेवितं विभाव्यते मदजलसिक्तपादपम् ।
समापतन्मदकलभृङ्गमालिकासमाकुलद्रुमलतमन्तरान्तरे ॥ १२८ ॥

इधर, जो अनेक जंगली हाथियोंके झुण्डोंसे सेवित है, जिसके वृक्ष उन हाथियोंके मदरूपी जलसे सींचे गये हैं और जिसके वृक्ष तथा लताएँ बीच-बीचमें पड़ते हुए और मदसे मनोहर शब्द करते हुए भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त हो रही हैं ऐसा यह वन कितना सुन्दर सुशोभित हो रहा है ॥ १२८ ॥

अहो खगवनिता विलासवतः सुरभिसरोजवना वनान्तवीथीः । परिहितरसनैः शनैः श्रयन्ते
जितपुलिनैर्जघनैर्घनैः पृथग्भिः ॥ १२९ ॥

इधर, जो सुगन्धित कमलोंके वनोंसे सहित हैं और जो अतिशय मनोहर जान पड़ती हैं ऐसी इन वनकी गलियोंमें ये सुन्दर दाँतोंवाली विद्याधरोंकी स्त्रियाँ करधनी पहने हुए और नदियोंके किनारेके रेतीले टीलोंको जीतनेवाले अपने बड़े-बड़े जघनों (नितम्बों) से धीरे-धीरे जा रही हैं ॥ १२९ ॥

सरसकिसलयप्रसूनक्लृप्तिं विततरिपूणि वनानि नूनमस्मिन् । द्रुतमित इत इत्यमूः खगस्त्रीरलिदूतैरविराममाह्वयन्ति ॥ १३० ॥

इधर, इस पर्वतपर-के वन सरस पल्लवों और पुष्पोंकी रचना मानो बाँट देना चाहते हैं इसीलिए वे भ्रमरोंके मनोहर शब्दोंके बहाने 'इधर इस वृक्षपर आओ, इधर इस वृक्षपर आओ' इस प्रकार निरन्तर इन विद्याधरियोंको बुलाते रहते हैं ॥ १३० ॥

कुसुमितवनषण्डमध्यमेतास्तरुगहनेन घनीकृतान्धकारम् । स्वतनुरुचिविधूतदृष्टिरोधाः खगवनिता बहुदीपिका विशन्ति ॥ १३१ ॥

इधर वृक्षोंकी सघनतासे जिसमें खूब अन्धकार हो रहा है, ऐसे फूले हुए वनके मध्यभागमें अपने शरीरकी कान्तिसे दृष्टिको रोकनेवाले अन्धकारको दूर करती हुई ये विद्याधरियाँ साथमें अनेक दीपक लेकर प्रवेश कर रही हैं ॥ १३१ ॥

कुसुमरसपिपासया निलीनैरलिमिरनारतमारुवद्भिरासाम् । युवतिकरजलूनपल्लवानामनुरुदितं ननु तन्यते लतानाम् ॥ १३२ ॥

इधर, इन तरुण स्त्रियोंने अपने नाखूनोंसे इन लताओंके नवीन-कोमल पत्ते छेद दिये हैं इसलिए फूलोंका रस पीनेकी इच्छासे इन लताओंपर बैठे और निरन्तर गुंजार करते हुए इन भ्रमरोंके द्वारा ऐसा जान पड़ता है मानो इन लताओंके रोनेका शब्द ही फैल रहा हो ॥ १३२ ॥

कुसुमरचितभूषणावतंसाः कुसुमरजःपरिपिञ्जरस्तनास्ताः । कुसुमशरशरासितायताक्ष्यस्तदपचिताय विभान्त्यमूः प्रवृत्ताः ॥ १३३ ॥

इधर, जिन्होंने फूलोंके कर्णभूषण बनाकर पहिने हैं, फूलोंकी परागसे जिनके स्तनमण्डल पीले पड़ गये हैं और जिनकी बड़ी-बड़ी आँखें कामदेवके बाणके समान जान पड़ती हैं ऐसी ये विद्याधरियाँ फूल तोड़नेके लिए इस पर्वतपर इधर-उधर जा रही हैं ॥ १३३ ॥

> ताः सञ्चरन्ति कुसुमाप्रिये तरुण्यः सक्ता लतासु ललिताङ्घ्रिविलोलनेत्राः । तन्व्यो लसन्नखमरीचिसमुद्गताग्रा व्यालोलषट्पदकुला इव हेमवल्ल्यः ॥ १३४ ॥

जिनकी भौंहें सुन्दर हैं, नेत्र अतिशय चंचल हैं, नखोंकी किरणें निकली हुई मञ्जरियोंके समान हैं और जो फूल तोड़नेके लिए वनोंमें तल्लीन हो रही हैं ऐसी ये तरुण स्त्रियाँ जहाँ-तहाँ ऐसी घूम रही हैं मानो निकली हुई मञ्जरियोंसे सुशोभित और चंचल भ्रमरोंके समूहसे युक्त सोनेकी लताएँ ही हों ॥ १३४ ॥

> मृदुतरपवने ययुः प्रफुल्लत् कुसुमितमालतिकासु यत्सुपार्श्वे । सरुदयमधुना भ्रमद्द्विरेफां वीथीरवनिरुहां मलिनाममुष्मिन् ॥ १३५ ॥

जिसमें मन्द-मन्द वायु चल रहा है, फूल खिले हुए हैं और खिली हुई मालतीसे जिसके किनारे अतिशय सुन्दर हो रहे हैं ऐसे इस वनमें इस समय यह वायु भ्रमरोंसे युक्त वृक्षोंकी पंक्तिको हिला रहा है ॥ १३५ ॥

> आधूतकल्पतरुवीथिरतो मरुन्मान् मन्दारमन्तरसुरभीकृताशः । मत्तालिकोकिलरुतानि हरन् समन्तादावाति पल्लवपुटानि शनैर्विभिन्दन् ॥ १३६ ॥

इधर, जिसने कल्पवृक्षोंकी पंक्तियाँ हिलायी हैं, जिसने मन्दार जातिके पुष्पोंकी अन्तरंग परागसे दिशाएँ सुगन्धित कर दी हैं, जो मदोन्मत्त भ्रमरों और कोयलोंके शब्द हरण कर रहा है और जो नवीन कोमल पत्तोंको भेद रहा है ऐसा वायु धीरे-धीरे सब ओर बह रहा है ॥ १३६ ॥

> धृतकमलवने जले तरङ्गानुपराचयन् मकरन्दगन्धबन्धुः । अयमतिशिशिरः शिरस्तरूणां सकुसुममात्मवशं नयत्युदारः ॥ १३७ ॥

इधर, जो कमलबनोंको धारण करनेवाले जलमें लहरें उत्पन्न कर रहा है, फूलोंके रसरूपी सुगन्धिके बन्धुके समान सहित है और अतिशय शीतल है ऐसा यह वायु फूले हुए वृक्षोंके शिखरको अपने वश कर रहा है ॥ १३७ ॥

> मृदितमृदुलताग्रपल्लवैः क्वचिदमिश्रैरणुशीकरोत्करैः । अनुवनमिह नीयतेऽनिलैः कुसुमरजो विधुतं वितानताम् ॥ १३८ ॥

जिसने कोमल लताओंके ऊपरके नवीन पल्लवोंको मसल डाला है और जिसमें निर्झरनोंके जलकी बूँदोंका समूह मण्डलाकार होकर मिल रहा है ऐसा वह वायु अपने द्वारा उड़ाये हुए फूलोंके परागको चँदोवाकी शोभा प्राप्त करा रहा है। भावार्थ- इस वनमें वायुके द्वारा उड़ाया हुआ फूलोंका पराग चँदोवाके समान जान पड़ता है ॥ १३८ ॥

> चलवलयरवैः समन्ततोऽनुगतनूपुरहारिझङ्कृतैः । सुपरिगममिहाम्बरेचरीरतमतिवर्ति वनेषु किन्नरैः ॥ १३९ ॥

इस वनमें होनेवाली विद्याधरियोंकी अतिशय रतिक्रीड़ाको किन्नर लोग चारों ओर फैले हुए चंचल कंकणोंके शब्दोंसे और उनके साथ मिले हुए नूपुरोंकी मनोहर झंकारोंसे सहज ही जान लेते हैं ॥ १३९ ॥

> अत्र गहनपत्रिगणोऽयं श्रोत्रहरं ततः कूजति चित्रम् । सन्नतिपताकं नृत्यति नूनं तत्कृतनादैर्मत्तशिखण्डी ॥ १४० ॥

इधर यह पक्षियोंका समूह इस वनके मध्यमें हम लोगोंके कानोंको आनन्द पहुँचाता तरह-तरहका शब्द कर रहा है और इधर यह मतवाला हुआ मयूर विस्तृत शब्द करता हुआ सचमुच ही पताकासहित नृत्य कर रहा है ॥ १४० ॥

> अस्य महाद्रेरनुतटमेषा राजति नानाद्रुमवनराजी । पवनसमेनासनिलविधूतैर्नर्तितुकामेव विटपैः प्रहृष्टैः ॥ १४१ ॥

इस महापर्वतके किनारे-किनारे नाना प्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित वनकी पंक्ति सुशोभित हो रही है। देखो, वह वायुके द्वारा उड़ाये हुए अपने पल्लवोंसे ऐसी जान पड़ती है मानो नृत्य ही करना चाहती हो ॥ १४१ ॥

> कूजद्द्विरेफा वनराजिरेषा प्रोद्गातुकामेव महीध्रमेनम् । पुष्पाञ्जलिं विक्षिपतीव विश्वग्विकीर्यमाणैः सुमनःप्रतानैः ॥ १४२ ॥

जिसमें अनेक भ्रमर गुंजार कर रहे हैं ऐसी यह वनोंकी पंक्ति ऐसी मालूम होती है मानो इस पर्वतका यश ही गाना चाहती हो और जो इसके चारों ओर फूलोंके समूह बिखरे हुए हैं उनसे यह ऐसी जान पड़ती है मानो इस पर्वतको पुष्पाञ्जलि ही दे रही हो ॥ १४२ ॥

> शाखिनः षट्पदचौरवृन्दैर्विलुप्यमानप्रसवार्थसाराः । क्रोशन्तीव भात्यमुष्मिन् समुच्चरत्कोकिलकूजितेन ॥ १४३ ॥

इस वनके वृक्षोंपर बैठे हुए भ्रमर पुष्परसका पान कर रहे हैं और कोयलें मनोहर शब्द कर रही हैं जिससे ऐसा मालूम होता है मानो भ्रमररूपी चोरोंके समूहने इन वन-वृक्षोंका सब पुष्प-रसरूपी धन लूट लिया है और इसीलिए वे बोलती हुई कोयलोंके शब्दोंके द्वारा मानो हल्ला ही मचा रहे हों ॥ १४३ ॥

> महाद्रेरमुष्य कलधौते प्रदेशे नृत्यतो बर्हिणसङ्घस्य । प्रतिच्छायया व्यक्तमस्मिन् समुत्फुल्लनीलाब्जषण्डस्य लक्ष्मीः ॥ १४४ ॥

इस पर्वतके चाँदीके बने हुए प्रदेशोंपर आकर जो मयूर खूब नृत्य कर रहे हैं उनके पड़ते हुए प्रतिबिम्ब इस पर्वतपर खिले हुए नीलकमलोंके समूहकी शोभा फैला रहे हैं। भावार्थ- चाँदीकी सफेद जमीनपर पड़े हुए मयूरोंके प्रतिबिम्ब ऐसे जान पड़ते हैं मानो पानीमें नील कमलोंका समूह ही फूल रहा हो ॥ १४४ ॥

> अतुलितमहिमा हिमावदातद्युतिरनतिक्रमणीयपुण्यमूर्तिः । रजतगिरिरयं विलङ्घिताब्धिः सुरसरिदोध इवावभाति पृथ्व्याम् ॥ १४५ ॥

इसका माहात्म्य अनुपम है, इसकी कान्ति बर्फके समान अतिशय स्वच्छ है, इसकी पवित्र मूर्तिका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता अथवा यह किसीके भी द्वारा उल्लंघन न करने योग्य पुण्यकी मूर्ति है और इसने स्वयं समुद्र तक पहुँचकर उसे विलोडित कर दिया है इन सभी कारणोंसे यह चाँदीका विजयार्ध पर्वत पृथिवीपर गंगा नदीके प्रवाहके समान सुशोभित हो रहा है ॥ १४५ ॥

> अस्य महाद्रेरनुतटमुच्चैर्द्दृष्ट्वा विनीलामुपवनराजीम् । जलदविशङ्की बर्हिगणोऽयं विरचितबर्हः प्रनृत्यति ॥ १४६ ॥

इस महापर्वतके प्रत्येक ऊँचे तटपर लगी हुई हरी-हरी वनपंक्तिको देखकर इन मयूरोंको मेघोंकी शंका हो रही है जिससे वे हर्षित हो पूँछ फैलाकर नृत्य कर रहे हैं ॥ १४६ ॥

अश्यानुसानु सुरपन्नगखेचराणामाक्रीडनान्युपवनानि विभान्त्यमूनि । नानारुताढ्यसरःसिकतोच्चयानि नित्यप्रवालकुसुमोद्धुरपादपानि ॥ १४७ ॥

जिनमें देव नागेन्द्र और धरणेन्द्र सदा क्रीड़ा किया करते हैं, जिनमें नाना प्रकारके पक्षी, तालाब और बालूके टीले (क्रीड़ाचल) बने हुए हैं और जिनके वृक्ष कोमल पत्ते तथा फूलोंसे निरन्तर उज्ज्वल रहते हैं ऐसे उपवन इस पर्वतके प्रत्येक शिखरपर सुशोभित हो रहे हैं ॥ १४७ ॥

अयं गतोऽर्कस्तटमस्य भूभृतो मूर्च्छति नानामणिकिरणचयैः । चित्रितमूर्तिर्वियति प्रयातः चित्रं पतङ्गच्छविमिह धत्ते ॥ १४८ ॥

इधर, यह सूर्य चलता-चलता इस महापर्वतके किनारे आ गया है और वहाँ अनेक प्रकारके मणियोंके किरणसमूहसे चित्र-विचित्र होनेके कारण आकाशमें किसी अनेक रंगवाले पक्षीकी शोभा धारण कर रहा है ॥ १४८ ॥

मणिद्युतितान्तरैः प्रमुदितोरगैर्व्यन्तरैर्निरभ्रविमण्डलैः स्थगितविश्वदिङ्मण्डलः । मरुद्गतिनिवारिभिः सुरवधूमनोहारिभिर्विभाति शिखराधने गिरिरयं नभोल्लङ्घनः ॥ १४९ ॥

जिनके मध्यभाग मणियोंकी कान्तिसे उज्ज्वल हो रहे हैं, जिनमें नागकुमार और व्यन्तर जातिके देव प्रसन्न होकर क्रीड़ा करते हैं, जिन्होंने सूर्यमण्डलको भी रोक लिया है, जिन्होंने सब दिशाएँ आच्छादित कर ली हैं, जो वायुकी गतिको भी रोकनेवाले हैं, देवांगनाओंके मनका हरण करते हैं और आकाशको उल्लंघन करनेवाले हैं ऐसे बड़े-बड़े सघन शिखरोंसे यह पर्वत कैसा सुशोभित हो रहा है ॥ १४९ ॥

एष भीषणो महाहिरस्य कन्दराद्गिरेरीषदन्निःसरन् पयोनिधेरिवायत उर्मिभिः । कायपेषितान्तिकस्थगुल्मपादपो रोषचण्डफूत्कृतोष्मणा दहत्युपान्तकाननम् ॥ १५० ॥

इधर देखो, जिस प्रकार कोई महामत्स्य समुद्रमें-से धीरे-धीरे निकलता है उसी प्रकार इस पर्वतकी गुफामें-से यह भयंकर अजगर धीरे-धीरे निकल रहा है। इसने अपने शरीरसे समीपवर्ती लता, छोटे-छोटे पौधे और वृक्षोंको पीस डाला है तथा यह क्रोधपूर्वक की गयी फूत्कारकी गरमीसे समीपवर्ती वनको जला रहा है ॥ १५० ॥

> नानामणिरुचिरचितावदाततटभागे सन्ध्यारागे प्रसरति सान्द्रारुणरागे । रौप्योदीध्रा प्रकृतिविरुद्धामपि धत्ते प्रेक्ष्यां शोभां कनकमयाद्रेरयमद्रिः ॥ १६१ ॥

इधर इस पर्वतके किनारेपर अनेक प्रकारके रत्नोंके प्रकाशसे मिली हुई सन्ध्याकालकी गहरी लाली फैल रही है जिससे यह रूपामय होनेपर भी अपनी प्रकृतिसे विरुद्ध सुवर्णमय मेरु पर्वतकी दर्शनीय शोभा धारण कर रहा है ॥ १६१ ॥

> उद्धूतः परमरयेण वायुनोच्चैरासनैस्तटमुपरि प्रस्फुरत्परागः । अस्याद्रेरुपतटमासनं परागः संधत्ते कनककृतातपत्रशोभाम् ॥ १६२ ॥

इधर देखो, इस पर्वतके किनारेके समीप लगे हुए असन जातिके वृक्षोंका बहुत-सा पीले रंगका पराग तीव्र वेगवाले वायुके द्वारा ऊँचा उड़-उड़कर आकाशमें छाया हुआ है और सुवर्णके बने हुए छत्रकी शोभा धारण कर रहा है ॥ १६२ ॥

> मुहुः क्षरन्मदजलाविलाङ्गगण्डभित्तिकण्डूयनव्यतिकरादितगण्डशैलाः । भग्ना द्रुमास्तटभुवो महीभृतोऽस्य संसूचयन्ति पदवीं वनवारणानाम् ॥ १६३ ॥

इधर, झरते हुए मदजलसे भरे हुए हाथियोंके गण्ड-स्थल खुजलानेसे जिनकी छोटी-छोटी चट्टानें अस्त-व्यस्त हो गयी हैं और वृक्ष टूट गये हैं ऐसी इस पर्वतके किनारेकी भूमियाँ मदोन्मत्त हाथियोंका मार्ग सूचित कर रही हैं। भावार्थ- चट्टानों और वृक्षोंका टूटा-फूटा हुआ देखनेसे मालूम होता है कि यहाँ अच्छे-अच्छे मदोन्मत्त हाथी अवश्य ही आते-जाते होंगे ॥ १६३ ॥

> लतागृहेषु वनप्रान्तस्थलान्ते स्फुरद्घोणमाघ्राय तृणमग्न्याम् । यदेवात्र रुचिरं सुरभि तरुगहनं तदेवान्तर्निकुञ्जे जिघत्सन्त्यमुष्मिन् ॥ १६४ ॥

इधर देखो, इस पर्वतके लतागृहोंमें और वनके भीतरी प्रदेशोंमें ये हरिणोंके समूह नाक फुला-फुलाकर बहुत-से घासके समूहको सूँघते हैं और उसमें जो घास अच्छी जान पड़ती है उसे ही खाना चाहते हैं ॥ १६४ ॥

यदन्तरं यद्विधरत्नराज्या सम्प्राप्तनिर्माणमिहाचलेन्द्रे । तत्तत्समासाद्य मृगास्तदानीं भजन्ति जात्यन्तरतामिवैताः ॥ १९५ ॥

इधर देखो, इस पर्वतका जो-जो किनारा जिस-जिस प्रकारके रत्नोंका बना हुआ है, ये हरिण आदि पशु उन-उन किनारोंपर जाकर उसी-उसी प्रकारकी कान्तिको प्राप्त हो जाते हैं और ऐसे मालूम होने लगते हैं मानो इन्होंने किसी दूसरी ही जातिका रूप धारण कर लिया हो ॥ १९५ ॥

हरिन्मणीनां विततान् मयूखान् तृणास्थयास्वाद्य मृगीगणोऽयम् । अलब्धकामस्तदुपात्तभाजि तृणानि सत्यान्यपि नोपयुङ्क्ते ॥ १९६ ॥

इधर, यह हरिणियोंका समूह हरे रंगके मणियोंकी फैली हुई किरणोंको घास समझकर खा रहा है परन्तु उससे उसका मनोरथ पूर्ण नहीं होता इसलिए धोखा खाकर पास हीमें लगी हुई सचमुचकी घासको भी नहीं खा रहा है ॥ १९६ ॥

गायन्तीनां किन्नरीणां वनान्ते श्रृण्वन्गीतं हारिणं तृणमुज्झन् । अर्धग्रस्तोत्सृष्टनिर्यत्तृणाग्रः स्तब्धकर्णोन्मीलिताक्षस्तदास्ते ॥ १९७ ॥

इधर वनके मध्यमें गाती हुई किन्नर जातिकी देवियोंका सुन्दर संगीत सुनकर यह हरिणोंका समूह आधा चबाये हुए तृणोंका ग्रास मुँहसे बाहर निकालता हुआ और नेत्रोंको कुछ-कुछ बन्द करता हुआ चुपचाप खड़ा है ॥ १९७ ॥

यात्यस्तमद्रौ रवौ तरणिबिम्बे महीध्रस्यास्योत्सङ्गे किं गतोऽस्तमिति । इत्याशङ्काव्याकुलास्येति भीतिं प्राक्सायाह्नात् कोककान्तोपकण्ठम् ॥ १९८ ॥

इधर यह सूर्यका बिम्ब इस पर्वतके मध्य शिखरकी ओटमें छिप गया है इसलिए सूर्य क्या अस्त हो गया, ऐसी आशंकासे व्याकुल हुई चकवी सायंकालके पहले ही अपने पतिके पास खड़ी-खड़ी भयको प्राप्त हो रही है ॥ १९८ ॥

> सदा प्रफुल्ला वितता नलिनीः सदा च तन्वन्ति रवानलिम्यः । मदातिमुक्ताः सन्ततमेव नागाः सदा च रम्याः फलिनो वनान्ताः ॥ १५९ ॥

इस पर्वतपर कमलिनियाँ खूब विस्तृत हैं और वे सदा ही फूली रहती हैं, इस पर्वतपर भ्रमरियाँ भी सदा गुंजार करती रहती हैं, हाथी सदा मद झराते रहते हैं और यहाँके वनोंके वृक्ष भी सदा फूले-फले हुए मनोहर रहते हैं ॥ १५९ ॥

> अस्यापि सानौ वनराजिरियं विनीला यदङ्गलग्ना नगपतेः शरदभ्रभासः । यद्वद् विनीलवसनेन प्रति पाण्डुकास्तेर्नीलाम्बरस्य रचिता रचिता ॥ १६० ॥

यह पर्वत शरत् ऋतुके बादलके समान अतिशय स्वच्छ है। इसके शिखरपर लगी हुई यह हरी-भरी वनकी पंक्ति ऐसी शोभा धारण कर रही है मानो बलभद्रके अतिशय सफेद कान्तिको धारण करनेवाले नितम्ब भागपर नीले रंगकी धोती ही पहनायी हो ॥ १६० ॥

> बिभ्रच्छ्रेणीद्वितयविभागे वनषण्डममलं श्रीमानयमवनीध्रद् द्विगुणं । वेगाविद्धरुचिरसिताभ्रोज्ज्वलमूर्तिः पर्यन्तस्थं घनमिव नागं नागः ॥ १६१ ॥

यह सुन्दर पर्वत चन्द्रमाके समान स्वच्छ है और दोनों ही श्रेणियोंके बीचमें हरे-हरे वनोंके समूह धारण कर रहा है, जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो मनोहर और सफेद मेघके समान उज्ज्वल मूर्तिसे सहित तथा वायुके वेगसे आकर दोनों ओर समीपमें लगे हुए काले-काले मेघोंको धारण करनेवाला ऐरावत हाथी ही हो ॥ १६१ ॥

> सुरभिकुसुमरेणूनाकिरन्विश्वदिक्षु परिमलमलितालिर्व्यक्तझङ्कारहृद्यः । प्रतिवनमिह शैत्यं वाति मन्दं नभस्वान् प्रतिविहितनभोगस्त्रीरतसम्भोगखेदः ॥ १६२ ॥

जो सुगन्धित फूलोंकी परागको सब दिशाओंमें फैला रहा है, जो सुगन्धिके कारण मिले हुए भ्रमरोंकी स्पष्ट झंकारसे मनोहर जान पड़ता है और जो विद्याधरियोंके सम्भोगजनित खेदको दूर कर देता है ऐसा वायु इस पर्वतके प्रत्येक वनमें धीरे-धीरे बहता रहता है ॥ १६२ ॥

सुरयुवतिसमानानामस्य योषितो प्रकृतिकृतमियत् स्यादन्तरं व्यक्तरूपम् । स्तम्भितनयनमैन्द्रं स्त्रैणमेकच्छविर्व्यालोलचञ्चलकटाक्षवीक्षाविलासम् ॥ १६३ ॥

देवांगनाओं तथा इस पर्वतपर रहनेवाली स्त्रियोंके बीच प्रकृतिके द्वारा किया हुआ स्पष्ट दीखनेवाला केवल इतना ही अन्तर है कि देवांगनाओंके नेत्र टिमकारसे रहित होते हैं और यहाँकी स्त्रियोंके नेत्र कटाक्षोंके कुछ-कुछ टेढ़े सुन्दर और चंचल कटाक्षोंके विलाससे सहित होते हैं ॥ १६३ ॥

अत्रायमुन्मदमधुपसेव्यमानगण्डस्थलो गजपतिर्वनमाजिहानः । दृष्ट्वा हिरण्मयतटं गिरिभर्तुरस्य दावानलप्रतिभयाद् वनमुज्झति ॥ १६४ ॥

इधर देखो, जिसके गण्डस्थलपर अनेक उन्मत्त भ्रमर बैठ रहे हैं ऐसा यह वनमें प्रवेश करता हुआ गजराज इस गिरिराजके सुवर्णमय तटोंको देखकर दावानलके डरसे वनको छोड़ रहा है ॥ १६४ ॥

अत्रापि नीलं मणितटमुच्चैः पश्यन् मयूरो मुदितः कलापी । केकारवं कुर्वन् विरचितबर्हाटोपो नूनं गणयति नार्थमेतत् ॥ १६५ ॥

इधर, नीलमणिके बने हुए ऊँचे किनारेको देखता हुआ यह मयूर मेघकी आशंकासे हर्षित हो मधुर शब्द करता हुआ पूँछ उठाकर नृत्य कर रहा है सो ठीक ही है क्योंकि मूर्ख स्वार्थी जन सचाईका विचार नहीं करते हैं ॥ १६५ ॥

सरसि कलमुषा रुवन्ति हंसास्तरुषु च कोकिलषट्पदाः स्वनन्ति । फलनमितशिखाश्च पादपौघाश्चलविटपैर्ध्रुवमाह्वयन्त्यनङ्गम् ॥ १६६ ॥

इधर तालाबोंमें ये हंस मधुर शब्द कर रहे हैं और वृक्षोंपर कोयल तथा भ्रमर शब्द कर रहे हैं। इधर फलोंके भारसे जिनकी शाखाएँ नीचेकी ओर झुक गयी हैं ऐसे ये वृक्ष अपनी हिलती हुई शाखाओंसे ऐसे मालूम होते हैं मानो कामदेवको ही बुला रहे हों ॥ १६६ ॥

मन्दं व्रजति काननमध्यादेष वाजिवदनः सभार्यः । संस्पृशन् स्तनतटं दयितायास्तत्सुखानुभवमीलिताक्षः ॥ १६७ ॥

इधर अपनी स्त्रीके स्तन-तटका स्पर्श करता हुआ और उस सुखके अनुभवसे कुछ-कुछ नेत्रोंको बन्द करता हुआ यह किन्नर अपनी स्त्रीके साथ-साथ वनके मध्यभागसे धीरे-धीरे जा रहा है ॥ १६७ ॥

> एष सिंहचमरीमृगकोटीः सानुभिर्वहति निर्मलमूर्तिः । सन्ततीरिव यशोविसरस्य ख्यापयन् लोध्रधवला धरणीध्रः ॥ १६८ ॥

यह विजयार्ध पर्वत अपने शिखरोंपर निर्मल शरीरवाले करोड़ों सिंह, करोड़ों चमरी गायें और करोड़ों मृगोंको धारण कर रहा है और उन सबसे ऐसा मालूम होता है मानो लोध्रवृक्षके समान सफेद अपने यशसमूहकी सन्ततिको ही धारण कर रहा हो ॥ १६८ ॥

> अस्य सानुषु रतिर्विबुधानां राजतेषु वनितानुगतानाम् । सा न नाकवसतो न हिमाद्रौ नापि मन्दरगिरेस्तटभागे ॥ १६९ ॥

अपनी-अपनी देवांगनाओंके साथ विहार करते हुए देवोंको इस पर्वतके रजतमयी शिखरोंपर जो सन्तोष होता है वह उन्हें न तो स्वर्गमें मिलता है, न हिमवान् पर्वतपर मिलता है और न मन्दर पर्वतके किसी तटपर ही मिलता है ॥ १६९ ॥

> गण्डोपले वनकरीन्द्रकपोलकाषसङ्क्रान्तदानसलिलप्लुतमत्र दृष्ट्वा । पश्यन्नयं द्विपविशङ्किमना मृगेन्द्रो भूयोऽभिहन्ति नखरैर्विलिखत्युपान्तम् ॥ १७० ॥

इधर देखो, जो जंगली हाथियोंके गण्डस्थलोंकी रगड़से लगे हुए मद-जलसे तर-बतर हो रहा है, ऐसे इस पहाड़पर-की गोल चट्टानको यह सिंह हाथी समझ रहा है इसीलिए यह उसे देखकर बार-बार उसपर प्रहार करता है और नाखूनोंसे समीपकी भूमिको खोदता है ॥ १७० ॥

> सिंहोऽयमत्र गहने शनकैर्विबुद्धो व्याजृम्भते शिखरमुत्पतितुं प्रवृत्तः । सन्वन् गिरेरधिगुहामुखमङ्गदश्रीः शरच्छशिध्रामकदेहकान्तिः ॥ १७१ ॥

इधर इस वनमें शरद्ऋतुके चन्द्रमाके समान निर्मल शरीरकी कान्ति विद्याधरोंको धारण करता हुआ तथा इस पर्वतके गुफारूपी मुखपर अपनी शोभा बढ़ाता हुआ यह सिंह धीरे-धीरे जागकर जमुहाई ले रहा है और पर्वतके शिखरपर छलांग मारनेकी इच्छा कर रहा है ॥ १७१ ॥

रन्ध्रादद्रेरयमजगरः सामिकर्षन् दधानो भुजङ्गो गुरुरिव गिरेरान्त्रभारो निकेतः । रुद्धश्वासं वदनकुहरं व्याददात्यापतद्भिर्जन्तुभिः स्वं पिण्डं बिलधिया क्षुत्प्रतीकारमिच्छुः ॥ १७२ ॥

इधर यह लतागृहमें अजगर पड़ा हुआ है, यह पर्वतके बिलमें-से अपना आधा शरीर बाहर निकाल रहा है और ऐसा जान पड़ता है मानो एक जगह इकट्ठा हुआ पहाड़ की आँतड़ियोंका बड़ा भारी समूह हो। इसने श्वास रोककर अपना मुँहरूपी बिल खोल रखा है और उसे बिल समझकर उसमें पड़ते हुए जंगली जीवोंके द्वारा यह अपनी क्षुधाका प्रतिकार करना चाहता है ॥ १७२ ॥

अयं जलनिधेर्जलं स्पृशति सानुभिर्वारिधिस्तत्तटानि शिशिरीकरोति गिरिभर्तुरस्यान्यहम् । मरुद्विधुतवीचिशीकरशतैरजस्रोत्थितैर्विमृश्य जनं शिशिरयत्यनुष्णाशयः ॥ १७३ ॥

यह पर्वत अपने नीचे फैले हुए शिखरोंसे समुद्रके जलका स्पर्श करता है और यह समुद्र वायुसे कम्पित होकर निरन्तर उठती हुई लहरोंकी अनेक छोटी-छोटी बूँदोंसे प्रतिदिन इस गिरिराजके तटोंको शीतल करता रहता है सो ठीक ही है क्योंकि जिनका अन्तःकरण अनुष्ण अर्थात् शान्त होता है ऐसे महापुरुष समीपमें आये हुए पुरुषको शीतल अर्थात् शान्त करते ही हैं ॥ १७३ ॥

अम्भोधिपत्युर्हृदयमिवोद्वहन्त्या रसिकतयामुं तटभागम् । पवनविधूतोर्मिकरैः स्नुतानां ननु महतामप्युरु चेतः ॥ १७४ ॥

ये गंगा और सिन्धु नदियाँ रसिक अर्थात् जलसहित और पक्षमें श्रृंगार रससे युक्त होनेके कारण इस पर्वतके हृदयके समान तटको विदीर्ण कर तथा वायुके द्वारा हिलती हुई तरंगोंरूपी अपने हाथोंसे बार-बार स्पर्श करती हुई चली जा रही हैं सो ठीक ही है क्योंकि बड़े पुरुषोंका बड़ा भारी हृदय भी स्त्रियोंके द्वारा भेदन किया जा सकता है ॥ १७४ ॥

सानूनस्य द्रुतमुपयान्ती घनसारतः सारासारा जलदघटैषा समसारान् । तारा तारा धरणिधरस्य स्वरसारा साराद् गर्जन्ती मुहुरुपयाति स्तनितेन ॥ १७५ ॥

जिसकी जल-वर्षा बहुत ही प्रबल है, जो मुक्ताफल अथवा नक्षत्रोंके समान अतिशय निर्मल है और जिसकी गर्जना भी उत्कृष्ट है ऐसी यह मेघोंकी घटा, अधिक मजबूत तथा जिसके सब स्थिर अंश समान हैं ऐसे इस विजयार्ध पर्वतके शिखरोंके समीप यद्यपि बार-बार और शीघ्र-शीघ्र आती है तथापि गर्जनाके द्वारा ही प्रकट होती है। भावार्थ- इस

विजयार्ध पर्वतके सफेद शिखरोंके समीप छाये हुए सफेद-सफेद बादल जबतक गरजते नहीं हैं तबतक दृष्टिगोचर नहीं होते ॥ १७५ ॥

> गम्भीरा सारसमाला सरसीयं सारं कूजत्यत्र सानौ मयूरकान्ते । सारासारा नीरदमाला नभसीयंतारं घनं निस्वनतीतः स्वनसारा ॥ १७६ ॥

इधर इस मनोहर वनके मध्यभागमें तालाबके बीच इधर-उधर श्रेष्ठ गमन करनेवाली यह सारस पक्षियोंकी पंक्ति उच्च स्वरसे शब्द कर रही है और इधर आकाशमें जोरसे बरसती और शब्द करती हुई यह मेघोंकी माला उच्च और गम्भीर स्वरसे गरज रही है ॥ १७६ ॥

> प्रियास्य हेतः सारमणीद्धतटभागं सारं रमणीयम् । सम्भोगान्ते गायति नार्यौ स्वयमेषा चारुतराङ्गं रमणीयम् ॥ १७७ ॥

अनुराग करनेके योग्य, श्रेष्ठ निर्मल और सुन्दर शरीरवाले अपने पतिको प्रसन्न करनेवाली कोई स्त्री संभोगके बाद इस पर्वतके श्रेष्ठ मणियोंसे देदीप्यमान तटभागपर बैठकर जिसके अवान्तर अंग अतिशय सुन्दर हैं, जो श्रेष्ठ हैं, ऊँचे स्वरसे सहित हैं और बहुत मनोहर हैं ऐसा गाना गा रही है ॥ १७७ ॥

> अस्य खचरवधूनितम्बदेशे ललितलतालयसंश्रिता वनिताः । प्रणयपरवशाः समिद्धदीप्तीरियमुपयान्ति विलोक्य सिद्धनार्यः ॥ १७८ ॥

इधर इस पर्वतके मध्यभागपर सुन्दर लतागृहोंमें बैठी हुई पतिसहित प्रेमके परवश और देदीप्यमान कान्तिकी धारक विद्याधरियोंको देखकर सिद्ध जातिके देवोंकी स्त्रियाँ लज्जित हो रही हैं ॥ १७८ ॥

> श्रीमान् वन्द्यो नृसुरखेचरचारणानां सेव्यो जगत्त्रयगुरुश्च विवस्वतः । तुङ्गः शुचिर्भरतसंश्रितपादमूलः पायाद् युवां पुरुरिवानवमो महीध्रः ॥ १७९ ॥

यह विजयार्ध पर्वत भी वृषभ जिनेन्द्रके समान है क्योंकि जिस प्रकार वृषभजिनेन्द्र श्रीमान अर्थात् अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मीसे सहित हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी श्रीमान् अर्थात् शोभासे सहित है। जिस प्रकार वृषभजिनेन्द्र मनुष्य, देव, विद्याधर और चारण ऋद्धि-धारी मुनियोंके द्वारा सेवनीय हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी उनके द्वारा सेवनीय है अर्थात् वे सभी इस पर्वतपर विहार करते हैं। वृषभजिनेन्द्र जिस प्रकार तीनों जगतके गुरु हैं उसी प्रकार यह पर्वत

भी तीनों जगतमें गुरु अर्थात् श्रेष्ठ है। जिस प्रकार वृषभ जिनेन्द्र चन्द्रमाके समान स्वच्छ कीर्तिके धारक हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी चन्द्र-तुल्य स्वच्छ कीर्तिका धारक है, वृषभजिनेन्द्र जिस प्रकार तुंग अर्थात् उत्तम हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी तुंग अर्थात् ऊँचा है, वृषभजिनेन्द्र जिस प्रकार शुचि अर्थात् पवित्र हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी शुचि अर्थात् शुक्ल है तथा जिस प्रकार वृषभजिनेन्द्रके पादमूल अर्थात् चरणकमल भरत चक्रवर्तीके द्वारा आश्रित हैं उसी प्रकार इस पर्वतके पादमूल अर्थात् नीचेके भाग भी दिग्विजयके समय गुफामें प्रवेश करनेके लिए भरत चक्रवर्तीके द्वारा आश्रित हैं अथवा इसके पादमूल भरत क्षेत्रमें स्थित हैं। इस प्रकार भगवान वृषभजिनेन्द्रके समान अतिशय उत्कृष्ट यह विजयार्ध पर्वत तुम दोनोंकी रक्षा करे ॥ १७९ ॥

> इत्थं निशम्य फणिपतेः सवयं ब्रुवाणे तौ तं गिरीशमभिनन्द्य कृतावतारौ । प्राविक्षतां सममनेन पुरं परार्द्ध्यमुत्तुङ्गकेतुरथनूपुरचक्रवालम् ॥ १८० ॥

इस प्रकार युक्तिसहित धरणेन्द्रके वचन कहनेपर उन दोनों राजकुमारोंने भी उस गिरिराजकी प्रशंसा की और फिर उस धरणेन्द्रके साथ-साथ नीचे उतरकर अतिशय-श्रेष्ठ और ऊँची-ऊँची ध्वजाओंसे सुशोभित रथनूपुरचक्रवाल नामके नगरमें प्रवेश किया ॥ १८० ॥

> तत्राधिरोप्य परिविष्टरमीशितारौ युष्मद्विधाविति दधत् खचरान् समस्तान् । राज्याभिषेकमनयोः प्रचकार धीरो विद्याधरीकरधृतैः पृथुहेमकुम्भैः ॥ १८१ ॥

धरणेन्द्रने वहाँ दोनोंको सिंहासनपर बैठाकर सब विद्याधरोंसे कहा कि ये तुम्हारे स्वामी हैं और फिर उस धीर-वीर धरणेन्द्रने विद्याधरियोंके हाथोंसे उठाये हुए सुवर्णके बड़े-बड़े कलशोंसे इन दोनोंका राज्याभिषेक किया ॥ १८१ ॥

> नगर्यो नमिरेयतु संप्रति दक्षिणस्थाः श्रेण्याः श्रियः शतमखोऽधिपतिर्यथैव । सेव्यो भवेद्विनमिरप्यवनम्यमानो विद्याधरैरवहिते हि षष्टिसंस्थः ॥ १८२ ॥

राज्याभिषेकके बाद धरणेन्द्रने विद्याधरोंसे कहा कि जिस प्रकार इन्द्र स्वर्गका अधिपति है उसी प्रकार यह नमि अब दक्षिण श्रेणीका अधिपति हो और अनेक सावधान विद्याधरोंके द्वारा नमस्कार किया गया यह विनमि साठ नगरोंसे युक्त उत्तर-श्रेणीका अधिपति रहे ॥ १८२ ॥

> तौ जगद्गुरुणौ वृषभोऽनुमन्य प्रीतः प्रहितवान् जगतां विधाता । तस्मात् खचरभूपतयोऽनुरागादाज्ञां वहन्तु शिरसेत्यवदत् स धीरः ॥ १८३ ॥

कर्मभूमिरूपी जगतको उत्पन्न करनेवाले जगद्गुरु श्रीमान् भगवान वृषभदेवने अपनी सम्मतिसे इन दोनोंको यहाँ भेजा है इसलिए सब विद्याधर राजा प्रेमसे मस्तक झुकाकर इनकी आज्ञा धारण करें ॥ १८३ ॥

> तत्पुण्यतो गुरुनियोगनिरूपणाच्च नागाधिपस्य रुचितादनुशासनाच्च । ते तद्वचः खचराः प्रतिपेदिरे यत् कार्यं हि सिद्ध्यति महद्भिरधिष्ठितं यत् ॥ १८४ ॥

उन दोनोंके पुण्यसे तथा जगद्गुरु भगवान वृषभदेवकी आज्ञाके निरूपणसे और धरणेन्द्रके योग्य उपदेशसे उन विद्याधरोंने वह सब कार्य उसके कहे अनुसार ही स्वीकृत कर लिया था सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंके द्वारा हाथमें लिया हुआ कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है ॥ १८४ ॥

> गान्धारीं पन्नगपदोपपदे च विद्ये दत्त्वा फणावदधिपो विधिवत् स ताभ्याम् । धीरो विधाय नयविद्विनतौ कुमारौ स्वावासमेव च जगाम कृतप्रहर्षः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार नयोंको जाननेवाले धीर-वीर धरणेन्द्रने उन दोनोंको गान्धारी और पन्नगपदा नामकी दो विद्याएँ दीं और फिर अपना कार्य पूरा कर विनयसे झुके हुए दोनों राजकुमारोंको छोड़कर अपने निवासस्थानपर चला गया ॥ १८५ ॥

> अथ गतवति तस्मिन्नागराजेऽगराजे धृति मधिकमधत्तां तौ कुमारौ कुमारी ।
> मुहुरुपहृतनानानूनभोगैर्नभोगैर्मुकुलितकरमौलि व्यक्तमाराध्यमानौ ॥ १८६ ॥

तदनन्तर नागेन्द्रके चले जानेपर नाना प्रकारके सम्पूर्ण भोगोपभोगोंको बार-बार भेंट करते हुए विद्याधर लोग हाथ जोड़कर मस्तक नवाकर स्पष्ट रूपसे जिनकी सेवा करते हैं ऐसे वे दोनों कुमार उस पर्वतपर बहुत ही सन्तुष्ट हुए थे ॥ १८६ ॥

> नियतिमिव खगाद्रेर्मेखलां तामलङ्घ्यां सुकृतिजननिवासावाप्तनाकानुकाराम् । जिनसमवसूतिं वा विश्वलोकाभिनन्द्यां नमिविनमिकुमानावध्युवासातुमुदात्ताम् ॥ १८७ ॥

जो अपने-अपने भाग्यके समान अलङ्घनीय है, पुण्यात्मा जीवोंका निवास होनेके कारण जो स्वर्गका अनुकरण करती है, तथा जो जिनेन्द्र भगवानके समवसरणके समान सब लोगोंके द्वारा अभिनन्दनीय है ऐसी उस विजयार्ध पर्वतकी मेखलापर वे दोनों राजकुमार सुखपूर्वक रहने लगे थे ॥ १८७ ॥

> विद्यासिद्धिं विधिनियमितां मानयन्तो नयन्तो विद्यावृद्धैः सममभिमतामर्थसिद्धिं प्रसिद्धिम् । विभ्राणास्ते षड्तुसुखदान् निर्विशन्तोऽपि भोगान् तौ तत्रादौ स्थितिविभजतां खेचरैः संविभक्ताम् ॥ १८८ ॥

जिन्होंने स्वयं विधिपूर्वक अनेक विद्याएँ सिद्ध की हैं और विद्यामें चढ़े-बढ़े पुरुषोंके साथ मिलकर अपने अभिलषित अर्थको सिद्ध किया है ऐसे वे दोनों ही कुमार विद्याओंके अधीन प्राप्त होनेवाले तथा छहों ऋतुओंके सुख देनेवाले भोगोंका उपभोग करते हुए उस पर्वतपर विद्याधरोंके द्वारा विभक्त की हुई स्थितिको प्राप्त हुए थे। भावार्थ- यद्यपि वे स्वयं विद्याधर नहीं थे तथापि वहाँ जाकर उन्होंने स्वयं अनेक विद्याएँ सिद्ध कर ली थीं और दूसरे सिद्ध पुरुषोंके साथ मिलकर वे अपना अभिलषित कार्य सिद्ध कर लेते थे इसलिए विद्याधरोंके समान ही भोगोपभोग भोगते हुए रहते थे ॥ १८८ ॥

> आज्ञां मूर्ध्ना खचरनरपाः सन्नतैरुत्तमाङ्गैर्यूनोः सेवामनुनयपरामनयोराचरन्तः । क्वेमौ जातौ क्व च पदमिदं न्यक्कृतारातिचक्रं सूनैर्हृद्याणां घटयति नृणां पुण्यमेव ॥ १८९ ॥

इन दोनों कुमारोंको प्रसन्न करनेवाली सेवा करते हुए विद्याधर लोग अपना-अपना मस्तक झुकाकर उन दोनोंकी आज्ञा धारण करते थे। गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्, ये नमि और विनमि कहाँ तो उत्पन्न हुए और कहाँ उन्हें समस्त शत्रुओंको तिरस्कृत करनेवाला यह विद्याधरोंके इन्द्रका पद मिला। यथार्थमें मनुष्यका पुण्य ही सुखदायी सामग्रीको मिलाता रहता है ॥ १८९ ॥

> नमिरनमयदुच्चैर्भोगसम्पत्प्रतीतान् गगनचरपुरीन्द्रान् दक्षिणश्रेणिभाजः । विनमिरपि विनम्रानातनोति स्म विश्वान् खचरपुरवरेशानुत्तरश्रेणिभाजः ॥ १९० ॥

नमि कुमारने बड़ी-बड़ी भोगोपभोगकी सम्पदाओंको प्राप्त हुए दक्षिण श्रेणीपर रहनेवाले समस्त विद्याधर नगरियोंके राजाओंको नम्रीभूत किया था और विनमिने उत्तर-श्रेणीपर रहनेवाले समस्त विद्याधर नगरियोंके राजाओंको नम्रीभूत किया था ॥ १९० ॥

> तावित्यं प्रविभज्य मण्डलमथो वैद्याधरीं तां श्रियं भुञ्जानौ विजयार्द्धपर्वततटे निष्कण्टकं तस्थतुः । पुण्यादित्यनयोर्विभूतिरभवल्लोकेशपादाश्रितोः पुण्यं तत् कुरुध्वमभ्युदयदां लक्ष्मीं समाशंसवः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार वे दोनों ही राजकुमार विद्याधरोंकी उस लक्ष्मीको विभक्त कर विजयार्ध पर्वतके तटपर निष्कंटक रूपसे रहते थे। हे भव्य जीवो, देखो, भगवान् वृषभदेवके चरणोंका आश्रय लेनेसे इन दोनों कुमारोंको पुण्यसे ही उस प्रकारकी विभूति प्राप्त हुई थी इसलिए जो जीव स्वर्ग आदिकी लक्ष्मी प्राप्त करना चाहते हैं वे एक पुण्यका ही संचय करें ॥ १९१ ॥

> नत्वा देवमिमं चराचरगुरुं त्रैलोक्यनाथार्चितं प्राप्तौ तौ सुखमापतुः समुचितं विद्याधराधीश्वरौ ।
> तस्मादादिगुरुं प्रणम्य शिरसा भक्त्यार्चयन्त्वङ्गिनो नित्यं यः सुखमक्षयं जिनगुणप्राप्तिं च नैश्रेयसीम्
> ॥ १९२ ॥

चर और अचर जगतके गुरु तथा तीन लोकके अधिपतियों-द्वारा पूजित भगवान वृषभदेवको नमस्कार कर ही दोनों भक्त विद्याधरोंके अधीश्वर होकर उचित सुखको प्राप्त हुए थे इसलिए जो भव्य जीव मोक्षरूपी अविनाशी सुख और परम कल्याणरूप जिनेन्द्र भगवानके गुण प्राप्त करना चाहते हैं वे आदिगुरु भगवान वृषभदेवको मस्तक झुकाकर प्रणाम करें और उन्हींकी भक्तिपूर्वक पूजा करें ॥ १९२ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे नमिविनमिराज्यप्रतिष्ठापनं नामैकोनविंशतितमं पर्व ॥ १९ ॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण श्री महापुराणसंग्रहमें नमि-विनमिकी राज्यप्राप्तिका वर्णन करनेवाला उन्नीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

विंश पर्व (पूर्वार्ध)

प्रपूर्यन्ते स्म षण्मासास्तस्याथो योगधारिणः । गुरोर्मेरोरिवाचिन्त्यमाहात्म्यस्याचलस्थितेः ॥ १ ॥

अथानन्तर— जिनका माहात्म्य अचिन्त्य है और जो मेरु पर्वतके समान अचल स्थितिको धारण करनेवाले हैं ऐसे जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवको योग धारण किये हुए जब छह माह पूर्ण हो गये ॥ १ ॥

यतेश्चर्याप्रबोधनार्थं मतिरित्यासीद् यतिर्याप्रबोधने । कायास्थित्यर्थं निर्दोषभिक्षाणान्वेषणं प्रति ॥ २ ॥

तब यतियोंकी चर्या अर्थात् आहार लेनेकी विधि बतलानेके उद्देश्यसे शरीरकी स्थितिके अर्थ निर्दोष आहार ढूँढ़नेके लिए उनकी इस प्रकार बुद्धि उत्पन्न हुई— वे ऐसा विचार करने लगे ॥ २ ॥

अहो कष्टं महावंशा बतेमी नवसंयताः । सन्मार्गस्यापरिज्ञानात् सद्योऽमीभिः पराजिताः ॥ ३ ॥

कि बड़े दुःखकी बात है कि बड़े-बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए ये नवदीक्षित साधु समीचीन मार्गका परिज्ञान न होनेके कारण इन क्षुधा आदि परीषहोंसे शीघ्र ही पराजित हो गये ॥ ३ ॥

मार्गप्रबोधनार्थं च मुक्तेश्च सुखसिद्धये । कायस्थित्यर्थमाहारं दर्शयामस्ततोऽधुना ॥ ४ ॥

इसलिए अब मोक्षका मार्ग बतलानेके लिए और सुखपूर्वक मोक्षकी सिद्धिके लिए शरीरकी स्थितिके अर्थ आहार लेनेकी विधि दिखलाता हूँ ॥ ४ ॥

न केवलं कायः कशनीयो मुमुक्षुभिः । नाप्युत्कटरसैर्हृद्यैः पोषणीयः प्रयत्नतः ॥ ५ ॥

मोक्षाभिलाषी मुनियोंको यह शरीर न तो केवल कृश ही करना चाहिए और न रसीले तथा मधुर मनपसन्द भोजनोंसे इसे पुष्ट ही करना चाहिए ॥ ५ ॥

> वशे यथा स्युरक्षाणि नो विधावन्त्यनुत्पथम् । तथा प्रयतितव्यं स्यात् वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ॥ ६ ॥

किन्तु जिस प्रकार ये इन्द्रियाँ अपने वशमें रहें और कुमार्गकी ओर न दौड़ें उस प्रकार मध्यम वृत्तिका आश्रय लेकर प्रयत्न करना चाहिए ॥ ६ ॥

> दोषनिहरणायेष्टा उपवासाद्युपक्रमाः । प्राणसन्धारणायायमाहारः सूत्रदर्शितः ॥ ७ ॥

वात, पित्त और कफ आदि दोष दूर करनेके लिए उपवास आदि करना चाहिए तथा प्राण धारण करनेके लिए आहार ग्रहण करना भी जैन-शास्त्रोंमें दिखलाया गया है ॥ ७ ॥

> कायक्लेशो मतस्तावन्न संक्लेशोऽस्ति यावता । संक्लेशे हि मनश्चञ्चलं मार्गात् प्रच्युतिरेव च ॥ ८ ॥

कायक्लेश उतना ही करना चाहिए जितनेसे संक्लेश न हो। क्योंकि संक्लेश हो जानेपर चित्त चंचल हो जाता है और मार्गसे भी च्युत होना पड़ता है ॥ ८ ॥

> सिद्धये संयमयात्रायास्तत्तनुस्थितिमिच्छुभिः । ग्राह्यो निर्दोष आहारो रसासङ्गाद् विवर्जिभिः ॥ ९ ॥

इसलिए संयमरूपी यात्राकी सिद्धिके लिए शरीरकी स्थिति चाहनेवाले मुनियोंको रसोंमें आसक्त न होकर निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए ॥ ९ ॥

> भगवानिति निश्चिन्वन् योगं व्युत्सृज्य धीरधीः । चचार महीं पादन्यासैश्चालयन्निव विक्रमम् ॥ १० ॥

इस प्रकार निश्चय करनेवाले धीर-वीर भगवान वृषभदेव योग समाप्त कर अपने चरण-निक्षेपों (पैरों) के द्वारा मानों समस्त पृथिवीको कम्पायमान करते हुए विहार करने लगे ॥ १० ॥

तदा भट्टारके याति महामेराविवोन्नते । धरणी पादविन्यासान् प्रत्यग्रहीदनुकम्पिनी ॥ ११ ॥

जिस समय महामेरुके समान उन्नत भगवान् वृषभदेव विहार कर रहे थे उस समय कम्पायमान हुई यह पृथिवी उनके चरणकमलोंके निक्षेपको स्वीकृत कर रही थी ॥ ११ ॥

सत्यं पादभराक्रान्ता संन्यमज्ज्यदधस्तले । नाभविष्यत्प्रयत्नश्चेत्तपसोर्याश्रिते जिनः ॥ १२ ॥

यदि उस समय भगवान् वृषभदेवने ईर्यासमितिसे युक्त तपश्चरण धारण करनेमें यत्न न किया होता तो सचमुच ही यह पृथिवी उनके चरणोंके भारसे दबकर अधोलोकमें डूब गयी होती। भावार्थ- भगवान् ईर्यासमितिसे गमन करनेके कारण सम्भलकर पैर रखते थे इसलिए पृथिवीपर उनका अधिक भार नहीं पड़ता था ॥ १२ ॥

अथ स पुराकरग्रामान् मडम्बान् सखर्वटान् । सखेटान् विजहारोच्चैः स श्रीमान् जङ्गमाद्रिवत् ॥ १३ ॥

तदनन्तर चलते हुए पर्वतके समान उन्नत और शोभायमान भगवान् वृषभदेवने अनेक नगर, ग्राम, मडम्ब, खर्वट और खेटोंमें विहार किया था ॥ १३ ॥

यतो यतः पदं धत्ते मौनीं चर्यां समाश्रितः । ततस्ततो जनाः प्रीताः प्रणमन्त्येनं सम्भ्रमात् ॥ १४ ॥

मुनियोंकी चर्याको धारण करनेवाले भगवान् जिस-जिस ओर कदम रखते थे अर्थात् जहाँ-जहाँ जाते थे वहीं-वहींके लोग प्रसन्न होकर और बड़े सम्भ्रमके साथ आकर उन्हें प्रणाम करते थे ॥ १४ ॥

प्रसीद देव किं कृत्यमिति केचिज्जगुर्गिरम् । तूष्णीम्भावं भजन्तो च केचित्तमनुवव्रजुः ॥ १५ ॥

उनमें-से कितने ही लोग कहने लगते थे कि हे देव, प्रसन्न होइए और कहिए कि क्या काम है तथा कितने ही लोग चुपचाप जाते हुए भगवानके पीछे-पीछे जाने लगते थे ॥ १५ ॥

परे परार्द्ध्यरत्नानि समानीय गुरोः पुरः । इत्यूचुश्च प्रसीदैनामिज्यां प्रतिगृहाण नः ॥ १६ ॥

अन्य कितने ही लोग बहुमूल्य रत्न लाकर भगवानके सामने रखते थे और कहते थे कि देव, प्रसन्न होइए और हमारी इस पूजाको स्वीकृत कीजिए ॥ १६ ॥

> वस्तुवाहनकोटीश्च विभोः केचिददौकयन् । भगवांस्तास्वनर्थित्वात् तूष्णीकां विजहार सः ॥ १७ ॥

कितने ही लोग करोड़ों पदार्थ और करोड़ों प्रकारकी सवारियाँ भगवानके समीप लाते थे परन्तु भगवानको उन सबसे कुछ भी प्रयोजन नहीं था इसलिए वे चुपचाप आगे विहार कर जाते थे ॥ १७ ॥

> केचित् स्रग्वस्त्रगन्धादीनानयन्ति स्म सादरम् । भगवन् परिधत्स्वेति पटलैः सह भूषणैः ॥ १८ ॥

कितने ही लोग माला, वस्त्र, गन्ध और आभूषणोंके समूह सादर भगवानके समीप लाते थे और कहते थे कि हे भगवन्, इन्हें धारण कीजिए ॥ १८ ॥

> केचित् कन्याः समानीय रूपयौवनशालिनीः । परिणाययितुं देवमुद्यता धिग्विमूढताम् ॥ १९ ॥

कितने ही लोग रूप और यौवनसे शोभायमान कन्याओंको लाकर भगवानके साथ विवाह करानेके लिए तैयार हुए थे सो ऐसी मूर्खताका धिक्कार हो ॥ १९ ॥

> केचिन्मज्जनसामग्र्या संश्रित्योपारुधन् विभुम् । परे भोजनसामग्रीं पुरस्कृत्योपतस्थिरे ॥ २० ॥

कितने ही लोग स्नान करनेकी सामग्री लाकर भगवानको घेर लेते थे और कितने ही लोग भोजनकी सामग्री सामने रखकर प्रार्थना करते थे कि— ॥ २० ॥

> इदं च भोजनमानीतं प्रसीदोपविशासने । इयं च मज्जनसामग्र्या निर्विश स्नानभोजने ॥ २१ ॥

विभो, मैं स्नानकी सामग्रीके साथ-साथ भोजन लाया हूँ, प्रसन्न होइए, इस आसनपर बैठिए और स्नान तथा भोजन कीजिए ॥ २१ ॥

एषोऽञ्जलिः कृतोऽस्माभिः प्रसीदानुगृहाण नः । इत्येकेऽप्यैषिषन् मुग्धा विभुमज्ञाततत्क्रमाः ॥ २२ ॥

चर्याकी विधिको नहीं जाननेवाले कितने ही मूर्ख लोग भगवानसे ऐसी प्रार्थना करते थे कि हे भगवन्, हम लोग दोनों हाथ जोड़ते हैं, प्रसन्न होइए और हमें अनुगृहीत कीजिए ॥ २२ ॥

केचित् पादानुपादाय तत्पांशुस्पर्शपावनैः । प्रणतैर्मस्तकैर्नाथमयाचिषत भुक्तये ॥ २३ ॥

कितने ही लोग भगवानके चरण-कमलोंको पाकर और उनकी धूलिके स्पर्शसे पवित्र हुए अपने मस्तक झुकाकर भोजन करनेके लिए उनसे बार-बार प्रार्थना करते थे ॥ २३ ॥

इदं खाद्यमिदं स्वाद्यमिदं भोज्यं पृथग्विधम् । मुहुर्मुहुरिदं पेयं हृद्यमाप्यायनं तनोः ॥ २४ ॥

और कहते थे कि हे भगवन्, यह खाद्य पदार्थ है, यह स्वाद्य पदार्थ है, यह जुदा रखा हुआ भोज्य पदार्थ है, और यह शरीरको सन्तुष्ट करनेवाला, अतिशय मनोहर बार-बार पाने योग्य पेय पदार्थ है ॥ २४ ॥

तैरित्थंमध्येष्यमाणोऽपि सम्भ्रान्तैरनभिज्ञकैः । न कल्प्यमिति मन्वानस्तूष्णीमेवापसस्तिवान् ॥ २५ ॥

इस प्रकार सम्भ्रान्त हुए कितने ही अज्ञानी लोग भगवानसे बार-बार प्रार्थना करते थे परन्तु 'ऐसा करना उचित नहीं है' यही मानते हुए भगवान् चुपचाप वहाँसे आगे चले जाते थे ॥ २५ ॥

विभोर्निगूढचर्यास्य भावं ज्ञातुमनीश्वराः । केचित् कर्तव्यतामूढाः स्थिताश्चित्रेष्विवार्पिताः ॥ २६ ॥

जिनकी चर्याकी विधि अतिशय गुप्त है ऐसे भगवानके अभिप्रायको जाननेके लिए असमर्थ हुए कितने ही लोग क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए इस विषयमें मूढ़ होकर चित्रलिखितके समान निश्चल ही खड़े रह जाते थे ॥ २६ ॥

अङ्कनिक्षिप्तबालैश्च पादालग्नैर्मदश्रुभिः । क्षणविघ्नितत‍च्चर्यो भूयोऽपि विजहार सः ॥ २७ ॥

अन्य कितने ही लोग गोदमें बालक डालते हुए अपने पुत्र तथा स्त्रियोंसहित भगवानके चरणोंमें आ लगते थे जिससे क्षण-भरके लिए भगवानकी चर्यामें विघ्न पड़ जाता था परन्तु विघ्न दूर होते ही वे फिर भी आगेके लिए विहार कर जाते थे ॥ २७ ॥

> इत्यस्य परमां चर्यां चरतोऽज्ञातचर्यया । जगदाश्चर्यकारिण्या मासाः षण्णेव ते ययुः ॥ २८ ॥

इस प्रकार जगतको आश्चर्य करनेवाली गुप्त चर्यासे उत्कृष्ट चर्या धारण करनेवाले भगवानके छह महीने और भी व्यतीत हो गये ॥ २८ ॥

> ततः संवत्सरे पूर्णे पुरं हास्तिनसाह्वयम् । कुरुजाङ्गलदेशस्य भूषणं वाससाद सः ॥ २९ ॥

इस तरह एक वर्ष पूर्ण होनेपर भगवान् वृषभदेव कुरुजांगल देशके आभूषणके समान सुशोभित हस्तिनापुर नगरमें पहुँचे ॥ २९ ॥

> तस्य पाता तदासीच्च कुरुवंशशिखामणिः । सोमप्रभः प्रसन्नात्मा सोमसौम्यमुखो नृपः ॥ ३० ॥

उस समय उस नगरके रक्षक राजा सोमप्रभ थे। राजा सोमप्रभ कुरुवंशके शिखामणिके समान थे, उनका अन्तःकरण अतिशय प्रसन्न था और मुख चन्द्रमाके समान सौम्य था ॥ ३० ॥

> तस्यानुजः कुमारोऽभूच्छ्रेयान् श्रेयानशेषतः । रूपेण मन्मथः कान्त्या शशी दीप्त्या च भानुमान् ॥ ३१ ॥

उनका एक छोटा भाई था जिसका नाम श्रेयान्सकुमार था। वह श्रेयान्सकुमार गुणोंकी वृद्धिसे श्रेष्ठ था, रूपसे कामदेवके समान था, कान्तिसे चन्द्रमाके समान था और दीप्तिसे सूर्यके समान था ॥ ३१ ॥

> धनदेवचरो योऽसावहमिन्द्रो दिवश्च्युतः । स श्रेयानित्यभूच्छ्रेयः प्रजानां श्रेयसां निधिः ॥ ३२ ॥

जो पहले धनदेव था और फिर अहमिन्द्र हुआ था वह स्वर्गसे चय कर प्रजाका कल्याण करनेवाला और स्वयं कल्याणोंका निधिस्वरूप श्रेयान्सकुमार हुआ था ॥ ३२ ॥

> सोऽदर्शद् भगवत्यस्यां पुरि सन्निधिमेष्यति । शर्वर्याः पश्चिमे यामे स्वप्नानेतान् शुभावहान् ॥ ३३ ॥

जब भगवान् इस हस्तिनापुर नगरके समीप आनेको हुए तब श्रेयान्सकुमारने रात्रिके पिछले पहरमें नीचे लिखे स्वप्न देखे— ॥ ३३ ॥

> सुमेरुमेकमुत्तुङ्गं हिरण्मयमहातनुम् । कल्पवृक्षं च शाखाग्रलम्बिभूषणभूषितम् ॥ ३४ ॥

प्रथम ही सुवर्णमय महा शरीरको धारण करनेवाला और अतिशय ऊँचा सुमेरु पर्वत देखा, दूसरे स्वप्नमें शाखाओंके अग्रभागपर लटकते हुए आभूषणोंसे सुशोभित कल्पवृक्ष देखा ॥ ३४ ॥

> सिंहं चोद्दामसन्ध्याभ्रपिञ्जरोत्कन्धराधरम् । उत्खाततीरशृङ्गाग्रं तथा च वृषभं सितम् ॥ ३५ ॥

तीसरे स्वप्नमें प्रलयकाल अथवा सन्ध्याकालके मेघोंके समान पीली-पीली अयालसे जिसकी ग्रीवा ऊँची हो रही है ऐसा सिंह देखा, चौथे स्वप्नमें जिसके सींगके अग्रभागपर मिट्टी लगी हुई है ऐसा किनारा उखाड़ता हुआ बैल देखा ॥ ३५ ॥

> भास्वन्तं पूर्णचन्द्रं च नयने प्रस्फुरद्द्युती । सरस्वन्तं च प्रोच्चैर्वीचिरत्नाचिताङ्गकम् ॥ ३६ ॥

पाँचवें स्वप्नमें जिनकी कान्ति अतिशय देदीप्यमान हो रही है और जो जगतके नेत्रोंके समान हैं ऐसे सूर्य और चन्द्रमा देखे, छठे स्वप्नमें जिसका जल बहुत ऊँची उठती हुई लहरों और रत्नोंसे सुशोभित हो रहा है ऐसा समुद्र देखा ॥ ३६ ॥

> अष्टमङ्गलधारीणि भूतरूपाणि चाग्रतः । सोऽपश्यद् भगवत्पाददर्शनैकफलानिमान् ॥ ३७ ॥

तथा सातवें स्वप्नमें आठ मंगलद्रव्य धारण कर सामने खड़ी हुई भूत जातिके व्यन्तर देवोंकी मूर्तियाँ देखीं। इस प्रकार भगवानके चरणकमलोंका दर्शन ही जिनका मुख्य फल है ऐसे ये ऊपर लिखे हुए सात स्वप्न श्रेयान्सकुमारने देखे ॥ ३७ ॥

सप्रश्रयमथासाद्य प्रभाते प्रीतमानसः । सोमप्रभाय तान् स्वप्नान् यथादृष्टं न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥

तदनन्तर जिसका चित्त अतिशय प्रसन्न हो रहा है ऐसे श्रेयान्सकुमारने प्रातःकालके समय विनयसहित राजा सोमप्रभके पास जाकर उनसे रात्रिके समय देखे हुए वे सब स्वप्न जैसे-के-तैसे कहे ॥ ३८ ॥

ततः पुरोधाः कल्याणं फलं तेषामभाषत । प्रसरद्दशनज्योत्स्नाप्रधौतककुबन्तरः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर जिसकी फैलती हुई दाँतोंकी किरणोंसे सब दिशाएँ अतिशय स्वच्छ हो गयी हैं ऐसे पुरोहितने उन स्वप्नोंका कल्याण करनेवाला फल कहा ॥ ३९ ॥

मेरुसन्दर्शनाद् ज्ञेयो यो मेरुसम उन्नतम् । मेरौ प्राप्ताभिषेकः स गृहमेष्यति नः स्फुटम् ॥ ४० ॥

वह कहने लगा कि हे राजकुमार, स्वप्नमें मेरुपर्वतके देखनेसे यह प्रकट होता है कि जो मेरुपर्वतके समान अतिशय उन्नत (ऊँचा अथवा उदार) हैं और मेरुपर्वतपर जिसका अभिषेक हुआ है ऐसा कोई देव आज अवश्य ही अपने घर आयेगा ॥ ४० ॥

तद्गुणोन्नतिमन्येऽपि स्वप्नाः संसूचयन्त्यमी । तस्यानुरूपविनयैर्महान् पुण्योदयोऽद्य नः ॥ ४१ ॥

और ये अन्य स्वप्न भी उन्हींके गुणोंकी उन्नतिको सूचित करते हैं। आज उन भगवानके योग्य की हुई विनयके द्वारा हम लोगोंके बड़े भारी पुण्यका उदय होगा ॥ ४१ ॥

प्रशंसां जगति ख्यातिमरूपां लाभसम्पदम् । प्राप्स्यामो नात्र सन्देहः कुमारश्चात्र तत्त्ववित् ॥ ४२ ॥

आज हम लोग जगतमें बड़ी भारी प्रशंसा, प्रसिद्धि और लाभसम्पदाको प्राप्त होंगे— इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं है और कुमार श्रेयान्स भी स्वयं यथार्थ रहस्यको जाननेवाले हैं ॥ ४२ ॥

इति तद्वचनात् प्रीतो तौ कथासु रतो स्थितौ । यावत्तावच्च योगीन्द्रः प्राविशद्धास्तिनं पुरम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार पुरोहितके वचनोंसे प्रसन्न हुए वे दोनों भाई स्वप्न अथवा भगवानकी कथा कहते हुए बैठे ही थे कि इतनेमें ही योगिराज भगवान वृषभदेवने हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ ४३ ॥

> तदा कोलाहलो भूयानभूत्तत्संदिदृक्षया । इतस्ततश्च मिलितां पौराणां मुखनिःसृतः ॥ ४४ ॥

उस समय भगवानके दर्शनोंकी इच्छासे जहाँ-तहाँसे आकर इकट्ठे हुए नगरनिवासी लोगोंके मुखसे निकला हुआ बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥ ४४ ॥

> भगवानादिकृत्स्मान् प्रपावयितुमागतः । पश्यामोऽत्र द्रुतं गत्वा पूजयामश्च भक्तितः ॥ ४५ ॥

कोई कह रहा था कि आदिकर्ता भगवान् वृषभदेव हम लोगोंका पालन करनेके लिए यहाँ आये हैं; चलो, जल्दी चलकर उनके दर्शन करें और भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करें ॥ ४५ ॥

> वनप्रदेशात् भगवान् सर्वज्ञः सनातनः । अनुग्रहीतुमेवास्मानित्यूचुः केचनोचितम् ॥ ४६ ॥

कितने ही लोग ऐसे उचित वचन कह रहे थे कि सनातन भगवान केवल हम लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिए ही वन-प्रदेशसे वापिस लौटे हैं ॥ ४६ ॥

> विभोः परापरज्ञस्य संदर्शनसमुत्सुकाः । पौरास्त्यक्तान्यकर्तव्याः संदधावुरितस्ततः ॥ ४७ ॥

इस लोक और परलोकको जाननेवाले भगवानके दर्शन करनेके लिए उत्कण्ठित हुए कितने ही नगरनिवासी जन अन्य सब काम छोड़कर इधरसे उधर दौड़ रहे थे ॥ ४७ ॥

> अहो स भगवान् दूराल्लक्ष्यते प्रांशुविग्रहः । गिर्यग्रेणेव दिप्तेन जात्यकाञ्चनसच्छविः ॥ ४८ ॥

कोई कह रहा था कि जिनका शरीर सुमेरु पर्वतके समान अतिशय ऊँचा है और जिनकी कान्ति तपाये हुए उत्तम सुवर्णके समान अतिशय देदीप्यमान है ऐसे ये भगवान दूरसे ही दिखाई देते हैं ॥ ४८ ॥

श्रूयते यः श्रुतेनैव जगदेकपितामहः । स नः सनातनो विष्णुर्यतः प्रत्यक्षसन्निधिम् ॥ ४९ ॥

संसारका कोई एक पितामह है ऐसा जो हम लोग केवल कानोंसे सुनते थे वे ही सनातन पितामह भाग्यसे आज हम लोगोंके प्रत्यक्ष हो रहे हैं— हम उन्हें अपनी आँखोंसे भी देख रहे हैं ॥ ४९ ॥

दृष्टेऽस्मिन् नयने नेत्रे श्रुतेऽस्मिन् श्रवणे श्रुती । स्मृतेऽपि जन्तुरज्ञोऽपि प्रपद्येत पवित्रताम् ॥ ५० ॥

इन भगवानके दर्शन करनेसे नेत्र सफल हो जाते हैं, इनका नाम सुननेसे कान सफल हो जाते हैं और इनका स्मरण करनेसे अज्ञानी जीव भी अन्तःकरणकी पवित्रताको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५० ॥

सर्वसङ्गविनिर्मुक्तो दीप्तप्रोत्तुङ्गविग्रहः । घनरोधविनिर्मुक्तो भाति भास्वानिव प्रभुः ॥ ५१ ॥

जिन्होंने समस्त परिग्रहका त्याग कर दिया है और जिनका अतिशय ऊँचा शरीर बहुत ही देदीप्यमान हो रहा है ऐसे ये भगवान मेघोंके आवरणसे छूटे हुए सूर्यके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं ॥ ५१ ॥

इदमाश्चर्यमाश्चर्यं यदेष जगतां पतिः । विहरत्येवमेकाकी त्यक्तसर्वपरिच्छदः ॥ ५२ ॥

यह बड़ा भारी आश्चर्य है कि ये भगवान तीन लोकके स्वामी होकर भी सब परिग्रह छोड़कर इस तरह अकेले ही विहार करते हैं ॥ ५२ ॥

अथवा श्रुतमस्माभिः स्वाधीनसुखकाम्यया । करीव यूथपो नाथो वनं प्रस्थितवानिति ॥ ५३ ॥

अथवा जो हम लोगोंने पहले सुना था कि भगवानने स्वाधीन सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे झुण्डकी रक्षा करनेवाले हाथीके समान वनके लिए प्रस्थान किया है ॥ ५३ ॥

तत्सत्यमधुना जातं मुक्तसङ्गो निरम्बरः । अक्लेशं विहरत्येषमेकक: परमेश्वरः ॥ ५४ ॥

सो वह इस समय सत्य मालूम होता है क्योंकि ये परमेश्वर भगवान् समस्त परिग्रह और वस्त्र छोड़कर बिना किसी कष्टके इच्छानुसार अकेले ही विहार कर रहे हैं ॥ ५४ ॥

> यथास्वं विहरन् देशानस्मद्भाग्यादिहागतः । वन्द्यः पूज्यश्च गम्यश्चेत्येके श्लाघ्यं वचो जगुः ॥ ५५ ॥

ये भगवान् अपनी इच्छानुसार अनेक देशोंमें विहार करते हुए हम लोगोंके भाग्यसे ही यहाँ आये हैं इसलिए हमें इनकी वन्दना करनी चाहिए, पूजा करनी चाहिए और इनके सम्मुख जाना चाहिए, इस प्रकार कितने ही लोग प्रशंसनीय वचन कह रहे थे ॥ ५५ ॥

> चेटि बालकमादाय स्तन्यं पायय याम्यहम् । वन्दितुं भगवतः पादाविति काचित् स्म्यभाषत ॥ ५६ ॥

उस समय कोई स्त्री अपनी दासीसे कह रही थी कि हे दासी, तू बालकको लेकर दूध पिला, मैं भगवानके चरणोंका दर्शन करनेके लिए जाती हूँ ॥ ५६ ॥

> प्रसाधनमिदं तावदास्तां मे सहमज्जनम् । पूतैर्दृग्जलैर्भर्तुः स्नास्यामीत्यपरा जगौ ॥ ५७ ॥

अन्य कोई स्त्री कह रही थी कि यह स्नानकी सामग्री और यह आभूषण पहननेकी सामग्री दूर रहे मैं तो भगवान के दृष्टिरूपी पवित्र जलसे स्नान करूँगी ॥ ५७ ॥

> भगवन्मुखबालार्केर्दृष्ट्या नो मनोऽम्बुजम् । चिरं प्रबोधमायातु पश्यामोऽद्य जगद्गुरुम् ॥ ५८ ॥

भगवानके मुखरूपी बालसूर्यके देखनेसे हमारा यह मनरूपी कमल चिरकाल तक विकासको प्राप्त रहे, चलो, आज जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवके दर्शन करें ॥ ५८ ॥

> अशनं त्यज शीघ्रं च गृहाणार्घं द्रुतं सखि । पूजयामो जगत्पूज्यं गत्वेत्यन्या जगौ गिरम् ॥ ५९ ॥

अन्य कोई स्त्री कह रही थी कि हे सखि, भोजन करना बन्द कर, जल्दी उठ और यह अर्घ हाथमें ले, चलकर जगत्पूज्य भगवानकी पूजा करें ॥ ५९ ॥

> स्नानाशनादिसामग्रीमवमन्य पुरोगताम् । गता द्रष्टुं तदा लोकैर्नृपतेर्दृष्टुं पुरोगतम् ॥ ६० ॥

उस समय नगरनिवासी लोग सामने रखी हुई स्नान और भोजनकी सामग्रीको दूर कर आगे जानेवाले भगवानके दर्शनके लिए जा रहे थे ॥ ६० ॥

> गतानुगतिकाः केचित् केचिद् भक्तिमुपागताः । परे कौतुकसाद्भूता यूथश्रो द्रष्टुमुद्यताः ॥ ६१ ॥

कितने ही लोग अन्य लोगोंको जाते हुए देखकर उनकी देखादेखी भगवानके दर्शन करनेके लिए उद्यत हुए थे। कितने ही भक्तिवश और कितने ही कौतुकके अधीन हो जिनेन्द्रदेवको देखनेके लिए तत्पर हुए थे ॥ ६१ ॥

> इति नानाविधैर्जल्पैः सङ्कल्पैश्च सुसंस्कृतैः । तमीक्षाञ्चक्रिरे पौरा दूरात् त्रातारमानताः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार नगरनिवासी लोग परस्परमें अनेक प्रकारकी बातचीत और आदरसहित अनेक संकल्प-विकल्प करते हुए जगतकी रक्षा करनेवाले भगवानको दूरसे ही नमस्कार कर उनके दर्शन करने लगे ॥ ६२ ॥

> अहंपूर्वमहंपूर्वमित्युपेतैः समन्ततः । तदा रुद्धमभूत् पौरैः पुरमाराजमान्दिरात् ॥ ६३ ॥

'मैं पहले देखूँ, मैं पहले देखूँ' इस प्रकार विचार कर चारों ओरसे आये हुए नगरनिवासी लोगोंके द्वारा वह नगर उस समय राजमहल तक खूब भर गया था ॥ ६३ ॥

> स तु संवेगवैराग्यसिद्धये बद्धपरिकरः । जगत्कायस्वभावादितत्त्वानुध्यानतत्परः ॥ ६४ ॥

उस समय नगरमें यह सब हो रहा था परन्तु भगवान् संवेग और वैराग्यकी सिद्धिके लिए कमर बाँधकर संसार और शरीरके स्वभावका चिन्तवन करते हुए— ॥ ६४ ॥

> मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थान्यनुभावयन् । प्राण्युत्तमाधमज्ञानिष्वविक्षिप्तमतिः क्रमात् ॥ ६५ ॥

प्राणिमात्र, गुणाधिक, दुःखी और अविनयी जीवोंपर क्रमसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाका विचार करते हुए— ॥ ६५ ॥

> युगप्रमितमध्वानं पश्यन्नातिविलम्बितम् । नातिद्रुतं च विन्यस्यन् पादौ गन्धेभलीलया ॥ ६६ ॥

चार हाथ प्रमाण मार्ग देखकर न बहुत धीरे और न बहुत शीघ्र मदोन्मत्त हाथी-जैसी लीलापूर्वक पैर रखते हुए— ॥ ६६ ॥

> तथाप्यस्मिञ्जनाकीर्णे शून्यारण्यकृतास्थया । निराकुलो भगवांश्चान्द्रीं चर्यामाश्रित्य पर्यटन् ॥ ६७ ॥

और मनुष्योंसे भरे हुए नगरको शून्य वनके समान जानते हुए निराकुल होकर चान्द्रीचर्याका आश्रय लेकर विहार कर रहे थे अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा धनवान और निर्धन— सभी लोगोंके घरपर अपनी चाँदनी फैलाता है उसी प्रकार भगवान् भी राग-द्वेषसे रहित होकर निर्धन और धनवान् सभी लोगोंके घर आहार लेनेके लिए जाते थे ॥ ६७ ॥

> यथागृहं प्रविशन् राजमन्दिरम् । प्रवेष्टुकामो व्यगमत् सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार प्रत्येक घरमें यथायोग्य प्रवेश करते हुए भगवान् राजमन्दिरमें प्रवेश करनेके लिए उसके सम्मुख गये सो आश्चर्य कहते हैं कि राग-द्वेषरहित ऐसी समतावृत्ति धारण करना ही सनातन-सर्वश्रेष्ठ प्राचीन धर्म है ॥ ६८ ॥

> ततः सिद्धार्थनामैत्य द्वारपालस्त्वरान्वितः । भगवत्सन्निधिं राज्ञे सानुजाय न्यवेदयत् ॥ ६९ ॥

तदनन्तर सिद्धार्थ नामके द्वारपालने शीघ्र ही जाकर अपने छोटे भाई श्रेयान्सकुमारके साथ बैठे हुए राजा सोमप्रभके लिए भगवानके समीप आनेके समाचार कहे ॥ ६९ ॥

> अथ सोमप्रभो राजा श्रेयानपि युवा तदा । सान्तःपुरौ ससेनान्यौ सामात्यावुदतिष्ठताम् ॥ ७० ॥

सुनते ही राजा सोमप्रभ और तरुण राजकुमार श्रेयान्स, दोनों ही, अन्तःपुर, सेनापति और मन्त्रियोंके साथ शीघ्र ही उठे ॥ ७० ॥

> उपेत्य तौ ततो भक्त्या यावद् राजाङ्गणं बहिः । दूरादवनतौ भर्तुश्चरणौ तौ प्रणेमतुः ॥ ७१ ॥

उठकर वे दोनों भाई राजमहलके आँगन तक बाहर आये और दोनोंने ही दूरसे नम्र होकर भक्तिपूर्वक भगवानके चरणोंको नमस्कार किया ॥ ७१ ॥

> तयोः पाद्यं निवेद्यार्घं प्रदक्षिणपथेन च । तोषं परं जग्मतुस्तौ निधिनेव गृहागते ॥ ७२ ॥

उन्होंने भगवानके चरणकमलोंमें अर्घसहित जल समर्पित किया, अर्थात् उनके पैर धोकर अर्घ चढ़ाया, जगद्गुरु भगवान वृषभदेवकी प्रदक्षिणा दी और यह सब कर वे दोनों ही इतने सन्तुष्ट हुए मानो उनके घर निधि ही आयी हो ॥ ७२ ॥

> तौ तं वीक्ष्य समं हृष्टौ गात्रे पुलकमूहतुः । मलयानलसंस्पर्शाद् भूरुहाविवाङ्कुरं यथा ॥ ७३ ॥

जिस प्रकार मल्यानिलके स्पर्शसे वृक्ष अपने शरीरपर अंकुर धारण करने लगते हैं, उसी प्रकार भगवानके दर्शनसे हर्षित हुए वे दोनों भाई अपने शरीरपर रोमांच धारण कर रहे थे ॥ ७३ ॥

> भगवन्मुखसम्प्रेक्षाविकसन्मुखपङ्कजौ । प्रबुद्धकमलौ प्रातः सरसीव व्यभाताम् ॥ ७४ ॥

भगवानका मुख देखकर जिनके मुखकमल विकसित हो उठे हैं ऐसे वे दोनों भाई ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनमें कमल फूल रहे हों ऐसे प्रातःकालके दो सरोवर ही हों ॥ ७४ ॥

> प्रमोदनिरभरौ भक्तिभरानमितमस्तकौ । प्रश्रयप्रशमौ मूर्ताविव तौ रेजतुस्तदा ॥ ७५ ॥

उस समय वे दोनों हर्षसे भरे हुए थे और भक्तिके भारसे दोनोंके मस्तक नीचेकी ओर झुक रहे थे इसलिए ऐसे सुशोभित होते थे मानो विनय और शान्ति ही मूर्त रूप धारण कर शोभित हो रहे हों ॥ ७५ ॥

आदिपुराण - पर्व २० (श्लोक ७१ - १४१)

> उत्थाय त्वरितं ततो भक्त्या यावद्राजाङ्गणाइद्बहिः । दूरादवनतौ भर्तुश्चरणौ तौ प्रणेमतुः ॥ ७१ ॥

उठकर वे दोनों भाई राजमहलके आँगन तक बाहर आये और दोनोंने ही दूरसे नम्रीभूत होकर भक्तिपूर्वक भगवानके चरणोंको नमस्कार किया ॥ ७१ ॥

> पाद्यमर्घं निवेद्यास्मै तयोः प्रेष्य च जगद्गुरुम् । तौ परं जग्मतुस्तोषं निधौ प्राप्ते गृहागते ॥ ७२ ॥

उन्होंने भगवानके चरणकमलोंमें अर्घसहित जल समर्पित किया, अर्थात् उनके पैर धोकर अर्घ चढ़ाया, जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवकी प्रदक्षिणा दी और यह सब कर वे दोनों ही इतने हर्षित हुए मानो उनके घर निधि ही आयी हो ॥ ७२ ॥

> तं वीक्ष्य मलयस्पर्शान्मुमुचाते तनूरुहैः । गात्रे पुलकमूहतुः मलयानलसंस्पर्शाद् भूरुहावङ्कुरं यथा ॥ ७३ ॥

जिस प्रकार मल्यानिलके स्पर्शसे वृक्ष अपने शरीरपर अंकुर धारण करने लगते हैं, उसी प्रकार भगवानके दर्शनसे हर्षित हुए वे दोनों भाई अपने शरीरपर रोमांच धारण कर रहे थे ॥ ७३ ॥

> भगवन्मुखसंप्रेक्षाविकसन्मुखपङ्कजौ । विशुद्धकमलोद्भासि पद्माकराविव ॥ ७४ ॥

भगवानका मुख देखकर जिनके मुखकमल विकसित हो उठे हैं ऐसे वे दोनों भाई ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनमें कमल खिल रहे हों ऐसे प्रातःकालके दो सरोवर ही हों ॥ ७४ ॥

प्रमोदनिरभरौ भक्तिभरानमितमस्तकौ । प्रश्रयप्रशमौ मूर्ताविव तौ रेजतुस्तदा ॥ ७५ ॥

उस समय वे दोनों हर्षसे भरे हुए थे और भक्तिके भारसे दोनोंके मस्तक नीचेकी ओर झुक रहे थे इसलिए ऐसे सुशोभित होते थे मानो मूर्तिधारी विनय और शान्ति ही हों ॥ ७५ ॥

भगवच्चरणोपांते तौ सदा विदुधुः प्रियम् । सौधर्मेशानकल्पेशौ विभुं द्रष्टुमिवागतौ ॥ ७६ ॥

भगवानके चरणोंके समीप वे दोनों ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भगवानके दर्शन करनेके लिए आये हुए सौधर्म और ऐशान स्वर्गके इन्द्र ही हों ॥ ७६ ॥

पर्यस्तवर्तिनोर्मध्ये तयोर्भर्ता समं राजते । महामेरुरिवोद्भूतो मध्ये निषधनीलयोः ॥ ७७ ॥

दोनों ओर खड़े हुए सोमप्रभ और श्रेयान्सकुमारके बीचमें स्थित भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो निषध और नील पर्वतके बीचमें खड़ा हुआ सुमेरु पर्वत ही हो ॥ ७७ ॥

रूपं विलोक्य भर्तुः स श्रेयाञ्जातिस्मरोऽभवत् । ततो दाने मतिं चक्रे संस्कारैः प्राक्तनैर्युतः ॥ ७८ ॥

भगवानका रूप देखकर श्रेयान्सकुमारको जातिस्मरण हो गया जिससे उसने अपने पूर्वपर्यायसम्बन्धी संस्कारोंसे भगवानके लिए आहार देनेकी बुद्धि की ॥ ७८ ॥

श्रीमतीवज्रजङ्घादिवृत्तान्तं सर्वमेव तत् । तदा चारणयुग्माय ददौ दानं च सोऽस्मरात् ॥ ७९ ॥

उसे श्रीमती और वज्रजंघ आदिका वह समस्त वृत्तान्त याद हो गया तथा उसी समय उन्होंने जो चारण ऋद्धिधारी दो मुनियोंके लिए आहार दिया था उसका भी उसे स्मरण हो गया ॥ ७९ ॥

कालोऽयं गोचरो वेलेयं दानयोग्या मुनीशिनाम् । तेन सत्वरं ददे दानमिति निश्चित्य शुद्धधीः ॥ ८० ॥

यह मुनियोंके लिए दान देने योग्य प्रातःकालका उत्तम समय है ऐसा निश्चय कर पवित्र बुद्धिवाले श्रेयान्सकुमारने भगवानके लिए आहार दान दिया ॥ ८० ॥

श्रद्धादिगुणसंपन्नः पुण्यैर्नवभिरन्वितः । प्रादाद्भगवते दानं श्रेयान् दानादितीर्थकृत् ॥ ८१ ॥

दानके आदि तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले श्रेयान्सकुमारने श्रद्धा आदि सातों गुणसहित और पुण्यवर्धक नवधा भक्तियोंसे सहित होकर भगवानके लिए दान दिया था ॥ ८१ ॥

श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानं चाप्यलुब्धता । क्षमा त्यागश्च विज्ञेयाः प्रोक्ता दानपतेर्गुणाः ॥ ८२ ॥

श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और त्याग ये दानपति अर्थात् दान देनेवालेके सात गुण कहलाते हैं ॥ ८२ ॥

श्रद्धास्तिक्यं सनास्तिक्ये दाने स्यादनादरः । भवेच्छक्तिरनालस्यं भक्तिः स्यात्तद्गुणादरः ॥ ८३ ॥

श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धिको कहते हैं, आस्तिक्य बुद्धि अर्थात् श्रद्धाके न होनेपर दान देनेमें अनादर हो सकता है। दान देनेमें आलस्य नहीं करना सो शक्ति नामका गुण है, पात्रके गुणोंमें आदर करना सो भक्ति नामका गुण है ॥ ८३ ॥

विज्ञानं स्यात् क्रमज्ञत्वं देयासक्तिस्त्वलुप्सता । क्षमा तितिक्षा दृष्टान्तस्त्यागः सद्व्ययोन्मुखः ॥ ८४ ॥

दान देने आदिके क्रमका ज्ञान होना सो विज्ञान नामका गुण है, दान देनेकी वस्तुमें अनासक्ति होना सो अलुब्धता कहते हैं, सहनशीलता होना क्षमा गुण है और उत्तम द्रव्य दानमें देना सो त्याग है ॥ ८४ ॥

इति सप्तगुणोपेतो दाता स्यात् पात्रसंपदि । विमुक्तो निदानाद्यैर्दोषैर्निःश्रेयसोद्यतः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार जो दाता ऊपर कहे हुए सात गुणोंसे सहित और निदान आदि दोषोंसे रहित होकर पात्ररूपी सम्पदामें दान देता है, वह मोक्ष प्राप्त करनेके लिए तत्पर होता है ॥ ८५ ॥

प्रतिग्रहणं प्रोच्चैः स्थानेऽस्य विनिवेशनम् । पादप्रधावनं चार्चा नतिः शुद्धिश्च सा त्रयी ॥ ८६ ॥

मुनिराजका पड़गाहन करना, उन्हें ऊँचे स्थानपर विराजमान करना, उनके चरण धोना, उनकी पूजा करना, उन्हें नमस्कार करना और अपने मन, वचन, कायकी शुद्धि रखना— ॥ ८६ ॥

> विशुद्धिश्चाशनस्येति नवपुण्यानि दानिनाम् । स तानि कुशलश्चक्रे पूर्वसंस्कारचोदितः ॥ ८७ ॥

और आहारकी विशुद्धि रखना, इस प्रकार दान देनेवालेके ये नौ प्रकारके पुण्य अथवा नवधा भक्ति कहलाती है। अतिशय चतुर श्रेयान्सकुमारने पूर्वपर्यायके संस्कारोंसे प्रेरित होकर वे सभी भक्तियाँ की थीं ॥ ८७ ॥

> इष्टोऽयमतिविशिष्टश्चेत्यवधार्य रतिं पराम् । ददौ स भगवते दानं प्रासुकाहारकल्पितम् ॥ ८८ ॥

ये भगवान् अतिशय इष्ट तथा विशिष्ट पात्र हैं ऐसा विचार कर परम सन्तोषको प्राप्त हुए श्रेयान्सकुमारने भगवानके लिए प्रासुक आहारका दान दिया था ॥ ८८ ॥

> सन्तोषो याचनापायोऽसङ्गः स्वात्मप्रधानता । इति मत्वा गुणान् पाणिपात्रेणाहारमिच्छते ॥ ८९ ॥

जो भगवान् सन्तोष रखना, याचनाका अभाव होना, परिग्रहका त्याग करना, और अपने आपकी प्रधानता रहना आदि अनेक गुणोंका विचार कर पाणिपात्रसे ही अर्थात् अपने हाथोंसे ही आहार ग्रहण करते थे ॥ ८९ ॥

> तुष्टिरिष्टेऽप्यसम्प्राप्तेऽप्यसम्प्राप्तावरतिस्तथा । असंयमश्च सर्वत्रेत्येवं स्थित्वाशनेषिणे ॥ ९० ॥

उत्तम आसन मिलनेसे सन्तोष होगा, यदि उत्तम आसन नहीं मिला तो द्वेष होगा और ऐसी अवस्थामें असंयम होगा ऐसा विचार कर जो भगवान् खड़े होकर ही भोजन करते थे ॥ ९० ॥

> कायासुखतितिक्षार्थं सुखासक्तेश्च हानये । धर्मप्रभावनायै च कायक्लेशाभ्युपेयुषे ॥ ९१ ॥

शरीरसम्बन्धी दुःख सहन करनेके लिए, सुखकी आसक्ति दूर करनेके लिए और धर्मकी प्रभावनाके लिए जो भगवान् कायक्लेशको प्राप्त होते थे ॥ ९१ ॥

आकिञ्चन्यप्रधानं यत् परं निर्वाणकारणम् । हिंसारक्षायाचनाद्यैर्दोषैरस्पृष्टमूर्जितम् ॥ ९२ ॥

जिसमें अकिञ्चनताकी ही प्रधानता है, जो मोक्षका साक्षात् कारण है, तथा हिंसा, रक्षा और याचना आदि दोष जिसे छू भी नहीं सकते हैं, जो अत्यन्त बलवान् है— ॥ ९२ ॥

अशक्यं प्रार्थनीयञ्च रहितं च समुपेयुषे । जातरूपं यथाजातमविकारमविप्लवम् ॥ ९३ ॥

साधारण मनुष्य जिसे धारण नहीं कर सकते, जिसे कोई प्राप्त नहीं करना चाहता, और जो तत्कालमें जन्मे हुए बालकके समान निर्विकार तथा उपद्रवरहित है ऐसे नग्न-दिगम्बर रूपको जो भगवान् धारण करते थे ॥ ९३ ॥

तैलाभ्यङ्गादियाच्ञायां लाभालाभादिसंभवे । रागद्वेषोद्भवः सङ्गः केशजप्राणिहिंसनम् ॥ ९४ ॥

तेल आदिकी याचना करना, उसके लाभ और अलाभमें राग-द्वेषका उत्पन्न होना, परिग्रहका सम्बन्ध होना और केशोंमें उत्पन्न होनेवाले जूँ आदि जीवोंकी हिंसा होना— ॥ ९४ ॥

इत्याविदोषसद्भावादस्नानव्रतधारिणे । हायनान्तेऽप्यविच्छिन्नां पुष्टिं तेजश्च बिभ्रते ॥ ९५ ॥

इत्यादि अनेक दोषोंका विचार कर जो भगवान् अस्नान व्रतको धारण करते थे अर्थात् कभी स्नान नहीं करते थे, तथा एक वर्ष तक भोजन न करनेपर भी जो शरीरमें पुष्टि और तेज धारण कर रहे थे ॥ ९५ ॥

क्षुरकर्मक्रियायां तद्योग्यसाधनार्जनरक्षणे । तदपाये च खिन्ना स्यात् केशोल्लुञ्चनमन्वहम् ॥ ९६ ॥

यदि क्षुरा आदिसे बाल बनवाये जायेंगे तो उसके साधन उस्तरा आदि रखने पड़ेंगे, उनकी रक्षा करनी पड़ेगी और उनके खो जानेपर चिन्ता होगी ऐसा विचार कर जो भगवान् हाथसे ही केशलोंच करते थे ॥ ९६ ॥

पञ्चभिः समितिभिर्गुप्ते त्रिभिर्गुप्ताय तायिने । महाव्रताय महते निर्मोहाय निराशिषे ॥ ९७ ॥

जो भगवान् पाँचों इन्द्रियोंको वश कर लेनेसे शान्त थे, तीनों गुप्तियोंसे सुरक्षित थे, सबकी रक्षा करनेवाले थे, महाव्रती थे, महान् थे, मोहरहित थे और इच्छारहित थे ॥ ९७ ॥

संयमक्रियया सर्वप्राणिभ्योऽभयदायिने । सर्वोच्चज्ञानदानाय सर्वस्मै प्रभविष्णवे ॥ ९८ ॥

जो संयम रूप क्रियासे सब प्राणियोंके लिए अभय दान देनेवाले थे, सबका हित करनेवाले थे, और सर्वहितकारी ज्ञान-दान देनेमें समर्थ थे ॥ ९८ ॥

दातुराहारदानस्य महानिस्तारकारिणे । त्रिजगत्सर्वभूतानां सिद्धिमार्गप्रदर्शिने ॥ ९९ ॥

जो आहार-दान देनेवालेको शीघ्र ही संसार-सागरसे पार करनेवाले थे, और तीनों लोकोंके समस्त जीवोंका हित करनेके लिए मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले थे ॥ ९९ ॥

श्रेयान् सोमप्रभेणाथ लक्ष्मीमत्या च सादरम् । रसमिक्षोरदात् प्रासुकमुत्तानीकृतपाणये ॥ १०० ॥

और जिन्होंने अपने दोनों हाथ उत्तान किये थे अर्थात् दोनों हाथोंको सीधा मिलाकर अंजली (खोबा) बनायी थी ऐसे भगवान् वृषभदेवके लिए श्रेयान्सकुमारने राजा सोमप्रभ और रानी लक्ष्मीमतीके साथ-साथ आदरपूर्वक ईखका प्रासुक रस आहारमें दिया था ॥ १०० ॥

पौण्ड्रेक्षुरसधारां तां भगवत्पाणिपात्रके । स समावर्जयन् रेजे पुण्यधाराभिवासराम् ॥ १०१ ॥

वह राजकुमार श्रेयान्स भगवानके पाणिपात्रमें पुण्यधाराके समान उज्ज्वल पौंड़े और ईखके रसकी धारा छोड़ता हुआ बहुत अच्छा सुशोभित हो रहा था ॥ १०१ ॥

रत्नवृष्टिरथापत्तदम्बरादसुरेशिनाम् । करैर्मुक्ता महादानफलस्येव परम्परा ॥ १०२ ॥

तदनन्तर आकाशसे महादानके फलकी परम्पराके समान देवोंके हाथसे छोड़ी हुई रत्नोंकी वर्षा होने लगी ॥ १०२ ॥

तदापत्तद्दिवो देवकरैर्मुक्तालिकुला । वृष्टिः सुमनसां दृष्टिरिव त्रिदिवौकसाम् ॥ १०३ ॥

उसी समय देवोंके हाथोंसे छोड़ी हुई और भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त फूलोंकी वर्षा आकाशसे होने लगी। वह फूलोंकी वर्षा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो देवोंके नेत्रोंकी माला ही हो ॥ १०३ ॥

नेदुः सुरानका मेघवद्बधिरीकृतविष्टपाः । संचचार मरुच्छीतः सुरभिर्मन्दसुन्दरः ॥ १०४ ॥

उसी समय समस्त संसारको वधिर करनेवाले देवोंके नगाड़े गम्भीर शब्द करने लगे और मन्द-मन्द गमन करनेसे सुन्दर शीतल तथा सुगन्धित वायु चलने लगा ॥ १०४ ॥

प्रादुरासीन्महाध्वानो देवानां प्रीतिमीयुषाम् । अहो दानमहो पात्रमहो दातेति रोदसि ॥ १०५ ॥

उसी समय प्रीतिको प्राप्त हुए देवोंका 'अहो दान, अहो पात्र, और अहो दाता' इस प्रकार बड़ा भारी शब्द आकाशरूपी आँगनमें हो रहा था ॥ १०५ ॥

कृतार्थेतरमात्मानं मेने तद् भ्रातृयुग्मकम् । कृतार्थोऽपि यतः पुनात् स्वं गृहाङ्गणम् ॥ १०६ ॥

उस समय उन दोनों भाइयोंने अपने-आपको बहुत ही कृतकृत्य माना था क्योंकि कृतकृत्य हुए भगवान् वृषभदेवने स्वयं उनके घरके आँगनको पवित्र किया था ॥ १०६ ॥

दानानुमोदनात् पुण्यं परोऽपि बहवोऽभजन् । यथाऽसाद्य परं रत्नं स्फटिकस्तद्रुचिं भजेत् ॥ १०७ ॥

उस दानकी अनुमोदना करनेसे और भी बहुत-से लोग परम पुण्यको प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि स्फटिक मणि किसी अन्य उत्कृष्ट रत्नको पाकर उसकी कान्तिको प्राप्त होता ही है ॥ १०७ ॥

कारणं परिणामः स्यात् पुंसो बन्धने पुण्यपापयोः । बाह्यं तु कारणं प्राहुराप्ताः कारणकारणम् ॥ १०८ ॥

यदि यहाँ कोई आशंका करे कि अनुमोदना करनेसे पुण्यकी प्राप्ति किस प्रकार होती है तो उसका समाधान यह है कि पुण्य और पापके बन्ध होनेमें जीवके परिणाम ही कारण हैं, बाह्य कारणोंको तो जिनेन्द्र देवने केवल कारणका कारण अर्थात् शुभ-अशुभ परिणामोंका कारण कहा है ॥ १०८ ॥

परिणामः प्रधानाङ्गं यतः पुण्यस्य साधने । मतं ततोऽनुमन्तृणामपि स्यात् फलोदयः ॥ १०९ ॥

जब कि पुण्यके साधन करनेमें जीवोंके शुभ परिणाम ही प्रधान कारण माने जाते हैं तब शुभ कार्यकी अनुमोदना करनेवाले जीवोंको भी उस शुभ फलकी प्राप्ति अवश्य होती है ॥ १०९ ॥

> कृत्वा तनुस्थितिं धीमान् योगीन्द्रो जनयन् कौतुकम् । प्रणतावभिनन्द्यैतौ प्रत्यगात् प्रस्थितो वनम् ॥ ११० ॥

इस प्रकार महाबुद्धिमान् योगिराज भगवान् वृषभदेव शरीरकी स्थितिके अर्थ आहार-ग्रहण कर और जिन्हें एक प्रकारका कौतुक उत्पन्न हुआ है तथा जो अतिशय नम्रीभूत हैं ऐसे उन दोनों भाइयोंको हर्षित कर पुनः वनकी ओर प्रस्थान कर गये ॥ ११० ॥

> भगवन्तमनुव्रज्य वनं किंचिदन्तरम् । स श्रेयान् कुरुशार्दूलो न्यवृत्तस्त्वरितं पुनः ॥ १११ ॥

कुरुवंशियोंमें सिंहके समान पराक्रमी वह राजा सोमप्रभ और श्रेयान्सकुमार कुछ दूर तक वनको जाते हुए भगवानके पीछे-पीछे गये और फिर रुक-रुककर वापिस लौट आये ॥ १११ ॥

> निष्यपेक्षं वनं यान्तं तं भगवन्तं वनान्तरम् । परावृत्य मुखं किंचिद् वीक्षमाणावनुक्षणम् ॥ ११२ ॥

वे दोनों ही भाई अपना मुख फिराकर निःस्पृह रूपसे वनको जाते हुए भगवानको क्षण-क्षणमें देखते जाते थे ॥ ११२ ॥

> तदुन्मुखौ दृशौ चेतोवृत्तिं च तमनुस्थिताम् । यावद्दृग्गोचरस्तावन्निवर्तयितुमक्षमौ ॥ ११३ ॥

जबतक वे भगवान् आँखोंसे दिखाई देते रहे तबतक वे दोनों भाई भगवानकी ओर लगी हुई अपनी दृष्टिको और उन्हींके पीछे गयी हुई अपनी चित्तवृत्तिको लौटानेके लिए समर्थ नहीं हो सके थे ॥ ११३ ॥

> संकथां तद्गतामेव प्रस्तुवानौ मुहुर्मुहुः । प्रशंसन्तौ तद्गुणान् भूयो मन्यमानौ च संवृता ॥ ११४ ॥

जो बार-बार भगवानकी ही कथा कह रहे थे, बार-बार उन्हींके गुणोंकी स्तुति कर रहे थे, और अपने-आपको कृतार्थ मान रहे थे— ॥ ११४ ॥

भगवत्पादसंस्पर्शपूतामुव्यक्तलक्षणैः । तत्पदैरङ्किकतां प्रीत्या निध्यायन्तौ कृतानती ॥ ११८ ॥

जो भगवानके चरणोंके स्पर्शसे पवित्र हुई तथा अनेक लक्षणोंसे सुशोभित और उन्हींके चरणोंसे चिह्नित भूमिको नमस्कार करते हुए बड़े प्रेमसे देख रहे थे— ॥ ११८ ॥

सुभ्राता कुरुनाथोऽयं धन्यः सुकृती कृती । यस्यायममीदृशो भ्राता जातो जातमहोदयः ॥ ११६ ॥

'जिसके यह ऐसा अद्वितीय पुण्य उपार्जन करनेवाला भाई हुआ है ऐसा यह कुरुवंशियोंका स्वामी राजा सोमप्रभ ही उत्तम भाईसे सहित है, कृतकृत्य है, पुण्यात्मा है और कुशल है'— ॥ ११६ ॥

श्रेयानयं बहु श्रेयान् प्रज्ञा यस्येयमीदृशी । पौरैरित्युन्मुखैरारात् कीर्त्यमानगुणोत्करौ ॥ ११७ ॥

'तथा जिसकी ऐसी उत्तम बुद्धि है ऐसा यह श्रेयान्सकुमार अनेक कल्याणोंसे सहित है' इस प्रकार सामने जाकर पुरवासीजन जिनके गुणोंके समूहका वर्णन कर रहे थे— ॥ ११७ ॥

शूर्पोत्क्षेपाणि रत्नानि महावीथीष्वितस्ततः । संचिन्वानान् यथाकाममानन्दन्तौ च पौरजनान् ॥ ११८ ॥

बड़ी-बड़ी गलियोंमें जहाँ-तहाँ बिखरे हुए सूर्यके समान तेजस्वी रत्नोंको इकट्ठा करनेवाले पुरवासी जनसमूहको जो आनन्दित कर रहे थे— ॥ ११८ ॥

उच्चावचसुरोत्मुक्तरत्नग्रावोन्नतान्तरम् । आक्रम्य नृपाङ्गणं कृच्छ्राज्जनैराशंसितौ मुहुः ॥ ११९ ॥

देवोंके द्वारा बरसाये हुए रत्नरूपी पाषाणोंसे जिसका मध्यभाग ऊँचा-नीचा हो गया है ऐसे राजप्राङ्गणको बड़ी कठिनाईसे उल्लंघन कर भीतर पहुँचे हुए अनेक लोग बार-बार जिनकी प्रशंसा कर रहे हों— ॥ ११९ ॥

पुरं परार्ध्यशोभाभिः कृतमन्यामियाकृतिम् । प्राविक्षतां कृतानन्दौ प्रेक्ष्यमाणौ कुरुध्वजौ ॥ १२० ॥

और जिन्हें नगर-निवासी जन बड़े आनन्दसे देख रहे थे ऐसे उन दोनों कुरुवंशी भाइयोंने उत्कृष्ट सजावटसे अन्य आकृतिको प्राप्त हुएके समान सुशोभित होनेवाले नगरमें प्रवेश किया ॥ १२० ॥

तपोवनमथो भेजे भगवान् कृतपारणः । जगज्जनतया सम्यगभिष्टुतमहोदयः ॥ १२१ ॥

अथानन्तर—संसारके सभी लोग उत्तम प्रकारसे जिनके बड़े भारी अभ्युदयकी प्रशंसा करते हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव पारणा करके तपोवनको चले गये ॥ १२१ ॥

अहो श्रेयस्तदेवासौ श्रेयस्तच्छ्रेय इत्यथ । भूयसा श्रेयसो यशोमयमेवाभून्महादानं हि यशःप्रदम् ॥ १२२ ॥

उस समय 'अहो कल्याण, ऐसा कल्याण, और उस प्रकारका कल्याण' इस तरह समस्त संसार राजकुमार श्रेयान्सके यशसे भर गया था सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम दान यशको देनेवाला होता ही है ॥ १२२ ॥

तदादि तदुपज्ञं च दानं जगति पप्रथे । ततो विस्मयमासेदुः सकला अपि नरेश्वराः ॥ १२३ ॥

संसारमें दान देनेकी प्रथा उसी समयसे प्रचलित हुई और दान देनेकी विधि भी सबसे पहले राजकुमार श्रेयान्सने ही जान पायी थी। दानकी इस विधिसे भरत आदि राजाओंको बड़ा आश्चर्य हुआ था ॥ १२३ ॥

कथं भर्तुरभिप्रायो विदितोऽनेन मौनिनः । कलयन्निति चित्तेन भरटेशो विसिस्मिये ॥ १२४ ॥

महाराज भरत अपने मनमें यही सोचते हुए आश्चर्य कर रहे थे कि इसने मौन धारण करनेवाले भगवानका अभिप्राय कैसे जान लिया ॥ १२४ ॥

सुराश्च विस्मयन्ते स्म ते समं समुपागताः । प्रतीताः श्रेयांसं तं पूजयामासुरादरात् ॥ १२५ ॥

देवोंको भी उससे बड़ा आश्चर्य हुआ था, जिन्हें श्रेयान्सपर बड़ा भारी विश्वास उत्पन्न हुआ था ऐसे उन देवोंने एक साथ आकर बड़े आदरसे उसकी पूजा की थी ॥ १२५ ॥

ततो भरतराजेन श्रेयानप्रच्छि सादरम् । महादानपते ब्रूहि कथं भावोऽस्य लक्षितः ॥ १२६ ॥

तदनन्तर महाराज भरतने आदरसहित राजकुमार श्रेयान्ससे पूछा कि हे महादानपते, कहो तो सही तुमने भगवानका यह अभिप्राय किस प्रकार जान लिया ॥ १२६ ॥

> अदृष्टपूर्वं लोकेऽस्मिन् दानं कोऽवेत्ति चेदृशम् । भगवानिव पूज्योऽसि कुरुराज त्वमद्य नः ॥ १२७ ॥

इस संसारमें पहले कभी नहीं देखी हुई इस दानकी विधिको कौन जान सकता है? हे कुरुराज, आज तुम हमारे लिए भगवानके समान ही पूज्य हुए हो ॥ १२७ ॥

> त्वं दानतीर्थप्रभवः श्रेयान् महापुण्यभागसि । ततस्त्वामिति पृच्छामि यत्सत्यं कथयाद्य मे ॥ १२८ ॥

हे राजकुमार श्रेयान्स, तुम दान-तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले हो, और महापुण्यवान् हो इसलिए मैं तुमसे यह सब पूछ रहा हूँ कि जो सत्य हो वह आज मुझसे कहो ॥ १२८ ॥

> इत्यसौ नरनाथेन पृष्टः श्रेयान् प्रत्यक्षवीविदत् । दशनांशुकलापेन ज्योत्स्नां तन्वन्निवांतरे ॥ १२९ ॥

इस प्रकार महाराज भरत-द्वारा पूछे गये श्रेयान्सकुमार अपने दाँतोंकी किरणोंके समूहसे बीचमें चाँदनीको फैलाते हुएके समान नीचे लिखे अनुसार उत्तर देने लगे— ॥ १२९ ॥

> रुजाहरमथवाऽऽसाद्य सामयः परमौषधम् । पिपासितो वा स्वच्छाच्छवारिकं सरः ॥ १३० ॥

जिस प्रकार रोगी मनुष्य रोगको दूर करनेवाली किसी उत्कृष्ट औषधिको पाकर प्रसन्न होता है अथवा प्यासा मनुष्य स्वच्छ जलसे भरे हुए और कमलोंसे सुशोभित सरोवरको देखकर प्रसन्न होता है— ॥ १३० ॥

> दृष्ट्वा भगवतो रूपं हृष्टे प्रीतेऽक्षिमत्तमे । जातिस्मरणमुद्भूतमतोऽज्ञासिषं गुरोर्मतम् ॥ १३१ ॥

उसी प्रकार भगवानके उत्कृष्ट रूपको देखकर मैं अतिशय प्रसन्न हुआ था और इसी कारण मुझे जातिस्मरण हो गया था जिससे मैंने भगवानका अभिप्राय जान लिया था ॥ १३१ ॥

अहं हि श्रीमती नाम भार्याऽस्य विभोः पुरा । विदेहे पुण्डरीकिण्याममभवं प्राणवल्लभा ॥ १३२ ॥

पूर्वभवमें जब भगवान् वज्रजंघकी पर्यायमें थे तब विदेह-क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीमें मैं इनकी श्रीमती नामकी प्रिय स्त्री हुआ था ॥ १३२ ॥

समं भगवतानेन बिभ्रता वज्रजङ्घताम् । तदा चारणयुग्माय दत्तं दानमभून्मया ॥ १३३ ॥

उस समय वज्रजंघकी पर्यायको धारण करनेवाले इन भगवानके साथ-साथ मैंने दो चारणमुनियोंके लिए दान दिया था ॥ १३३ ॥

विशुद्धतरमुत्कृष्टफलं ख्यातियुगप्रदम् । दानं च काव्यं च पुण्याल्लभ्यमिदं द्वयम् ॥ १३४ ॥

अतिशय विशुद्ध, दोषरहित और प्रसिद्धिका कारण ऐसा महादान देना और काव्य करना ये दोनों ही वस्तुएँ बड़े पुण्यसे प्राप्त होती हैं ॥ १३४ ॥

काचिद्दानस्य संशुद्धिः श्रूयतां मे भरताधिप । अनुग्रहार्थं स्वस्यार्थविसर्गो दानमुच्यते ॥ १३५ ॥

हे भरतक्षेत्रके स्वामी भरत महाराज, दानकी विशुद्धिका कुछ थोड़ा-सा वर्णन आप भी सुनिए—स्व और परके उपकारके लिए मन-वचन-कायकी विशुद्धतापूर्वक जो अपना धन दिया जाता है उसे दान कहते हैं ॥ १३५ ॥

दातुर्विशुद्धता देयं पात्रं च प्रपुनाति सा । शुद्धिर्देयस्य दातारं पुनीते पात्रमप्यदः ॥ १३६ ॥

दान देनेवाले (दाता) की विशुद्धता दानमें दी जानेवाली वस्तु तथा दान लेनेवाले पात्रको पवित्र करती है। दी जानेवाली वस्तुकी पवित्रता देनेवाले दाताको और लेनेवाले पात्रको पवित्र करती है— ॥ १३६ ॥

पात्रस्य शुद्धिर्दातारं देयं चैव पुनात्यदः । नवकोटिविशुद्धं तद्दानं भूरिफलोदयम् ॥ १३७ ॥

और इसी प्रकार लेनेवालेकी विशुद्धि देनेवाले दाताको तथा दी जानेवाली वस्तुको पवित्र करती है इसलिए जो दान नौ प्रकारकी विशुद्धतापूर्वक दिया जाता है वही अनेक फल देनेवाला होता है। भावार्थ—दान देनेमें दाता, देय और पात्रकी शुद्धिका होना आवश्यक है ॥ १३७ ॥

> दाता श्रद्धादिभिर्युक्तो गुणैः पुण्यस्य साधनैः । देयमाहारभैषज्यशास्त्राभयविकल्पितम् ॥ १३८ ॥

पुण्य प्राप्तिके कारण स्वरूप, श्रद्धा आदि गुणोंसे सहित पुरुष दाता कहलाता है और आहार, औषधि, शास्त्र तथा अभयके भेदसे चार प्रकारकी वस्तुएँ देय कहलाती हैं ॥ १३८ ॥

> पात्रं रागादिभिर्दोषैरस्पृष्टं गुणवान् भवेत् । तच्चापि जघन्यादिभेदैर्भेदमुपेयिवत् ॥ १३९ ॥

रागादि दोषोंसे जिसे छुआ भी नहीं गया हो और जो अनेक गुणोंसे सहित हो ऐसा पुरुष पात्र कहलाता है, वह पात्र जघन्य, मध्यम और उत्तम भेदसे तीन प्रकारका होता है। हे राजन्, यह सब मैंने पूर्वभवके स्मरणसे जाना है ॥ १३९ ॥

> मन्दरागः शीलवान् मिथ्यादृष्टिश्च पुरुषो मतः । सदृष्टिर्मध्यमं पात्रं निःशीलव्रतभावनः ॥ १४० ॥

जो पुरुष मिथ्यादृष्टि है परन्तु मन्दकषाय होनेसे व्रत, शील आदिका पालन करता है वह जघन्य पात्र कहलाता है और जो व्रत, शील आदिकी भावनासे रहित सम्यग्दृष्टि है वह मध्यम पात्र कहा जाता है ॥ १४० ॥

> सदृष्टिः शीलसंपन्नः पात्रमुत्तममिष्यते । कुदृष्टिर्यो विशीलश्च नैव पात्रमसौ मतः ॥ १४१ ॥

जो व्रत, शील आदिसे सहित सम्यग्दृष्टि है वह उत्तम पात्र कहलाता है और जो व्रत, शील आदिसे रहित मिथ्यादृष्टि है वह पात्र नहीं माना गया है अर्थात् अपात्र है ॥ १४१ ॥

आदिपुराण - पर्व २० (श्लोक १४२ - २०३)

> दुष्प्रापं पदमाप्नोति जन्तुर्दत्त्वाऽपपात्रके । अशोधितमिवालाबु क्षिप्तं दुग्धान्तरं यथा ॥ १४२ ॥

जो मनुष्य अपात्रके लिए दान देता है वह कुत्सित योनि (कुभोगभूमि) में उत्पन्न होता है क्योंकि जिस प्रकार बिना शुद्धि की हुई तूँबी अपनेमें रखे हुए दूध आदिको दूषित कर देती है उसी प्रकार अपात्र अपने लिए दिये हुए दानको दूषित कर देता है ॥ १४२ ॥

> आमपात्रे यथा क्षिप्तं सद्यः क्षीरादि नश्यति । अपात्रेषु तथा दत्तं द्रविणं स्वामिनं नाशयेत् ॥ १४३ ॥

जिस प्रकार कच्चे बरतनमें रखा हुआ ईखका रस अथवा दूध स्वयं नष्ट हो जाता है और उस बरतनको भी नष्ट कर देता है उसी प्रकार अपात्रके लिए दिया हुआ दान स्वयं नष्ट हो जाता है—व्यर्थ जाता है और उस अपात्रको भी नष्ट कर देता है—अहंकारादिसे युक्त बनाकर विषय-वासनाओंमें फँसा देता है ॥ १४३ ॥

> पात्रं भवेत् तदा विशुद्धगुणधारणात् । यानपात्रमिवेष्टदेशे संप्रापकं च यत् ॥ १४४ ॥

जो अनेक विशुद्ध गुण धारण करनेसे पात्रके समान हो वही पात्र कहलाता है। इसी प्रकार जो जहाजके समान इष्ट स्थानमें पहुँचानेवाला हो वही पात्र कहलाता है ॥ १४४ ॥

> न हि पाषाणसंकीर्णं यानपात्रमुत्तारयेत् परम् । तथा कर्मभराक्रान्तो दोषवान्नैव तारकः ॥ १४५ ॥

जिस प्रकार पत्थरोंसे लदी हुई नाव समुद्रसे किसीको पार नहीं कर सकती (और न स्वयं ही पार हो सकती है) उसी प्रकार कर्मोंके भारसे दबा हुआ दोषवान् पात्र किसीको संसार-समुद्रसे पार नहीं कर सकता (और न स्वयं ही पार हो सकता है) ॥ १४५ ॥

सन्तः परमनिर्वाणसाधनं रूपमुद्वहन् । कायस्थित्यर्थमाहारमिच्छन् ज्ञानादिसिद्धये ॥ १४६ ॥

इसलिए, जो मोक्षके साधनस्वरूप दिगम्बर वेषको धारण करते हैं, जो शरीरकी स्थिति, और ज्ञानादि गुणोंकी सिद्धिके लिए आहारकी इच्छा करते हैं— ॥ १४६ ॥

न वाञ्छन् बलमायुर्वा स्वादुं वा देहपोषणम् । केवलं प्राणवृत्त्यर्थं भुञ्जानो मात्रया ॥ १४७ ॥

जो बल, आयु, स्वाद अथवा शरीरको पुष्ट करनेकी इच्छा नहीं करते, जो केवल प्राणधारण करनेके लिए थोड़े-से ग्रासोंसे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं— ॥ १४७ ॥

पात्रं तद्गुणैरेभिर्मुनिः स्वपरतारकः । तस्मै दत्तं पुनात्यक्षयमपुनर्भवकारणम् ॥ १४८ ॥

और जो निज तथा परको तारनेवाले हैं ऐसे ऊपर लिखे हुए गुणोंसे सहित मुनिराज ही पात्र हो सकते हैं, उनके लिए दिया हुआ आहार अपुनर्भव अर्थात् मोक्षका कारण है ॥ १४८ ॥

तदुदाहरणं चेदं सिद्धमेव महोदयम् । यन्मया दानपुण्यस्य पञ्चाश्चर्यमिहाप्यगात् ॥ १४९ ॥

दानरूपी पुण्यके माहात्म्यको प्रकट करनेके लिए सबसे बड़ा और पुष्ट उदाहरण यही है कि मैंने दानके माहात्म्यसे ही पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये हैं ॥ १४९ ॥

तद्देयं भरत राजर्षे सर्वैर्देयमनुत्तरम् । प्रसरिष्यन्ति पात्राणि भगवत्तीर्थसंनिधौ ॥ १५० ॥

इसलिए हे राजर्षे भरत, हम सबको उत्तम दान देना चाहिए। अब भगवान् वृषभदेवके तीर्थके समय सब जगह पात्र फैल जायेंगे। भावार्थ—भगवानके सदुपदेशसे अनेक मनुष्य मुनिव्रत धारण करेंगे, उन सभीके लिए हमें आहार आदि दान देना चाहिए ॥ १५० ॥

श्रेयांसः संसदां चक्रे यथावदवबोध्य सः । स्वभर्तृभवविस्तारं ततः सदस्याः सर्वे सानुरुचयोऽभवन् ॥
१५१ ॥

राजकुमार श्रेयान्सने उन सब सदस्योंके लिए अपने स्वामी भगवान् वृषभदेवके पूर्वभव विस्तारके साथ कहे जिससे उन सबके उत्तम दान देनेमें रुचि उत्पन्न हुई थी ॥ १९१ ॥

> श्रुत्वा रुचिं परां तस्य पुण्यानुबन्धिनीम् । शुश्रूवान् भरताधीशः परां प्रीतिमवाप सः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार आनन्द उत्पन्न करनेवाले और पुण्य बढ़ानेवाले श्रेयान्सके वचन सुनकर भरत महाराज परमप्रीतिको प्राप्त हुए ॥ १९२ ॥

> सोऽथ संपूज्य तं भूयः परं सौहार्दमुद्वहन् । गुरोर्गुणाननुध्यायन् प्रत्यगात् स स्वमालयम् ॥ १९३ ॥

अतिशय प्रसन्न हुए महाराज भरतने राजा सोमप्रभ और श्रेयान्सकुमारका खूब सम्मान किया, उनपर बड़ा स्नेह प्रकट किया और फिर गुरुदेव-वृषभनाथके गुणोंका चिन्तवन करते हुए अपने घरके लिए वापिस गये ॥ १९३ ॥

> भगवास्थ्य संजातबलवीर्यो महायतिः । भेजे परं तपोयोगं योगविज्जैमकल्पितम् ॥ १९४ ॥

अथानन्तर आहार ग्रहण करनेसे जिनके बल और वीर्यकी उत्पत्ति हुई है जो महा धीर-वीर और योगविद्याके जाननेवाले हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए उत्कृष्ट जिनकल्पको धारण करने लगे ॥ १९४ ॥

> मोहान्धतमसध्वंसकल्पा सन्मार्गदर्शिनी । दिदीपेऽस्य मनोऽगारे समिद्धा बोधदीपिका ॥ १९५ ॥

इनके मनरूपी मन्दिरमें मोहरूपी सघन अन्धकारको नष्ट करनेवाला, समीचीन मार्ग दिखलानेवाला और अतिशय देदीप्यमान ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशमान हो रहा था ॥ १९५ ॥

> गुणान् गुणधिया पश्येद्दोषान् दोषधियापि यः । हेयोपादेयवित् स स्यादविदुषो गतिरीदृशी ॥ १९६ ॥

जो पुरुष गुणोंको गुण-बुद्धिसे और दोषोंको दोष-बुद्धिसे देखता है अर्थात् गुणोंको गुण और दोषोंको दोष समझता है वही हेय (छोड़ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) वस्तुओंका जानकार हो सकता है। अज्ञानी पुरुषको ऐसी अवस्था कहाँ हो सकती है? ॥ १९६ ॥

सतस्तत्त्वपरिज्ञानाद् गुणागुणविभागवित् । गुणेष्वासजति स्मासौ मुक्त्वा दोषानशेषतः ॥ १५७ ॥

वे भगवान् तत्त्वोंका ठीक-ठीक ज्ञाता होनेसे गुण और दोषोंके विभागको अच्छी तरह जानते थे इसलिए वे दोषोंको पूर्ण रूपसे छोड़कर केवल गुणोंमें ही आसक्त रहते थे ॥ १५७ ॥

सावद्यविरतिं सर्वथा कृत्वा महामतिः । तद्भेदान् भावयामास व्रतसंज्ञाविशेषितान् ॥ १५८ ॥

अतिशय बुद्धिमान् भगवान् वृषभदेवने पापरूपी योगोंसे पूर्ण विरक्ति धारण की थी तथा उसके भेद जो कि व्रत कहलाते हैं उनका भी वे पालन करते थे ॥ १५८ ॥

दयाङ्गनापरिष्वङ्गः सत्ये नित्यमनुरक्तता । अस्तेयव्रततात्पर्यं ब्रह्मचर्यैकतानता ॥ १५९ ॥

दयारूपी स्त्रीका आलिंगन करना, सत्यव्रतमें सदा अनुरक्त रहना, अचैर्यव्रतमें तत्पर रहना, ब्रह्मचर्यको ही अपना सर्वस्व समझना— ॥ १५९ ॥

परिग्रहेष्वनासङ्गो विकालशनवर्जनम् । व्रतान्यमूनि तत्सिद्धौ भावयामास भावनाः ॥ १६० ॥

परिग्रहमें आसक्त नहीं होना और असमयमें भोजनका परित्याग करना; भगवान् इन व्रतोंको धारण करते थे और उनकी सिद्धिके लिए निरन्तर नीचे लिखी हुई भावनाओंका चिन्तवन करते थे ॥ १६० ॥

मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिरीर्या कायनियन्त्रणे । विष्वाणसमितिश्चेति प्राथमाह्वयभावनाः ॥ १६१ ॥

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, ईर्यासमिति, कायनियन्त्रण अर्थात् देखभाल कर किसी वस्तुका रखना-उठाना और विष्वाणसमिति अर्थात् आलोकितपानभोजन ये पाँच प्रथम-अहिंसा व्रतकी भावनाएँ हैं ॥ १६१ ॥

क्रोधलोभभयत्यागा हास्यासङ्गविसर्जनम् । सूत्रानुगा च वाणीति द्वितीयव्रतभावनाः ॥ १६२ ॥

क्रोध, लोभ, भय और हास्यका परित्याग करना तथा सूत्रके अनुसार वचन कहना ये पाँच द्वितीय सत्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥ १६२ ॥

मितोचिताहृतिर्ज्ञाताग्रहणान्यग्रहोत्सृथा । सन्तोषो भक्तपाने च तृतीयव्रतभावनाः ॥ १६३ ॥

परिमित-थोड़ा आहार लेना, तपश्चरणके योग्य आहार लेना, श्रावकके प्रार्थना करनेपर आहार लेना, योग्यविधिके विरुद्ध आहार नहीं लेना तथा प्राप्त हुए भोजन-पानमें सन्तोष रखना ये पाँच तृतीय अचौर्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥ १६३ ॥

स्त्रीकथालोकसंसर्गप्राग्रतस्मृतभोजनाः । त्यज्या वृष्यरसेनामी चतुर्थव्रतभावनाः ॥ १६४ ॥

स्त्रियोंकी कथाका त्याग, उनके सुन्दर अंगोपांगोंके देखनेका त्याग, उनके साथ रहनेका त्याग, पहले भोगे हुए भोगोंके स्मरणका त्याग और गरिष्ठ रसका त्याग इस प्रकार ये पाँच चतुर्थ ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥ १६४ ॥

बाह्याभ्यन्तरभेदेषु सचित्ताचित्तवस्तुषु । इन्द्रियार्थेष्वनासङ्गो नैस्सङ्ग्यव्रतभावनाः ॥ १६५ ॥

जिनके बाह्य आभ्यन्तर इस प्रकार दो भेद हैं ऐसे पाँचों इन्द्रियोंके विषयभूत सचित्त अचित्त पदार्थोंमें आसक्तिका त्याग करना सो पाँचवें परिग्रह त्याग व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥ १६५ ॥

धृतिमत्ता क्षमावत्ता ध्यानयोगैकतानता । परीषहाजिगीषा च भावनाः स्युस्तदुत्तराः ॥ १६६ ॥

धैर्य धारण करना, क्षमा रखना, ध्यान धारण करनेमें निरन्तर तत्पर रहना और परीषहोंके आनेपर मार्गसे च्युत नहीं होना—ये चार उक्त व्रतोंकी उत्तर भावनाएँ हैं ॥ १६६ ॥

भावनासंस्कृतान्येवं व्रतान्ययमपालयत् । प्रक्षालने स्वागसां सर्वप्रजानामनुपालकः ॥ १६७ ॥

समस्त जीवोंकी रक्षा करनेवाले भगवान् वृषभदेव अपने पापोंको नष्ट करनेके लिए ऊपर लिखी हुई भावनाओंसे सुसंस्कृत (सहित) ऐसे व्रतोंका पालन करते थे ॥ १६७ ॥

समातृकापदान्येवं व्रतान्यष्टगुणानि च । पाल्यानि भावनीयानि मनीषिभिरतन्द्रितम् ॥ १६८ ॥

इसी प्रकार अन्य बुद्धिमान् मनुष्योंको भी आलस्य छोड़कर मातृकापद अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त तथा चौरासी लाख उत्तरगुणोंसे सहित अहिंसा आदि पाँचों महाव्रतोंका पालन करना चाहिए ॥ १६८ ॥

> यानि कान्यपि शल्यानि गर्हितानि जिनागमे । उत्सृज्य तानि सर्वाणि निःशल्यो विहरेन्मुनिः ॥ १६९ ॥

इसी प्रकार जिनागममें जो निन्दनीय माया, मिथ्यात्व और निदान ऐसी तीन शल्य कही हैं उन सबको छोड़कर और निःशल्य होकर ही मुनियोंको विहार करना चाहिए ॥ १६९ ॥

> स्थितः स्थविरकल्पेऽयं जिनकल्पेऽपि योजिनः । यथागममिहोपेत्य कल्पोऽनुगम्यताम् ॥ १७० ॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए व्रतोंका पालन करना स्थविर कल्प है, इसे जिनकल्पमें भी लगा लेना चाहिए। आगमानुसार स्थविर कल्प धारण कर जिनकल्प धारण करना चाहिए। भावार्थ—ऊपर कहे हुए व्रतोंका पालन करते हुए मुनियोंके साथ रहना, उपदेश देना, नवीन शिष्योंको दीक्षा देना आदि स्थविरकल्प कहलाता है और व्रतोंका पालन करते हुए अकेले रहना, हमेशा आत्मचिन्तवनमें ही लगे रहना जिनकल्प कहलाता है। भगवान् जिनकल्पी होते हैं और यही वास्तवमें उपादेय हैं। साधारण मुनियोंको यद्यपि प्रारम्भ अवस्थामें स्थविरकल्पी होना पड़ता है परन्तु उन्हें अन्तमें जिनकल्पी होनेके लिए उद्योग करते रहना चाहिए ॥ १७० ॥

> अप्रतिक्रमणे वृत्तौ जिनाः सामायिकाद्वये । वर्तन्त्येकान्ततः प्रायश्चतुर्ज्ञानविलोचनाः ॥ १७१ ॥

मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इस प्रकार चार ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले तीर्थंकर परमदेव प्रायः प्रतिक्रमणरहित एक सामायिक नामके चारित्रमें ही रत रहते हैं। भावार्थ—तीर्थंकर भगवानके किसी प्रकारका दोष नहीं लगता इसलिए उन्हें प्रतिक्रमण-छेदोपस्थापना चारित्र धारण करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, वे केवल सामायिक चारित्र ही धारण करते हैं ॥ १७१ ॥

> छेदोपस्थापनभेदप्रपञ्चोऽन्यस्य योगिनाम् । दर्शितस्ते यथाकालं बलायुर्ज्ञानवीक्षया ॥ १७२ ॥

परन्तु उन्हीं तीर्थंकर देवने बल, आयु और ज्ञानकी हीनाधिकता देखकर अन्य साधारण मुनियोंके लिए यथाकाल छेदोपस्थापना चारित्रके अनेक भेद दिखलाये हैं—उनका निरूपण किया है ॥ १७२ ॥

ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यविशेषितम् । रक्षितं संयमत्राणं पञ्चधोक्तं जिनाधिपैः ॥ १७३ ॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यकी विशेषतासे संयमकी रक्षा करनेवाला चारित्र भी जिनेन्द्रदेवने पाँच प्रकारका कहा है। भावार्थ—चारित्रके पाँच भेद हैं—१ ज्ञानाचार, २ दर्शनाचार, ३ चारित्राचार, ४ तपआचार और ५ वीर्याचार ॥ १७३ ॥

ततः संयमसिद्धौ स तपश्चक्रे द्वादशात्मकम् । ज्ञानदर्शनवीर्योपेतश्चचार परमः पुमान् ॥ १७४ ॥

तदनन्तर ज्ञान, दर्शन और बलसे सहित परम पुरुष—भगवान् वृषभदेवने संयमकी सिद्धिके लिए बारह प्रकारका तपश्चरण किया था ॥ १७४ ॥

ततोऽनशनमत्युग्रं तेपे दीप्ततपो मुनिः । अवमोदर्यमप्येकसिक्थादीत्याचरत्तपः ॥ १७५ ॥

अतिशय उग्र तपश्चरणको धारण करनेवाले वे वृषभदेव मुनिराज अनशन नामका अत्यन्त कठिन तप तपते थे और एक सीथ (कण) आदिका नियम लेकर अवमौदर्य (ऊनोदर) नामक तपश्चरण करते थे ॥ १७५ ॥

कदाचिद् वृत्तिसंख्यानं तपोऽतप्त स दुर्धरम् । वीथीचर्यादयो यस्य विशेषा बहुभेदकाः ॥ १७६ ॥

वे भगवान् कभी अत्यन्त कठिन वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप तपते थे जिसके कि वीथी, चर्या आदि अनेक भेद हैं ॥ १७६ ॥

रसत्यागं तपो घोरं तेपे नित्यमतन्द्रितः । क्षीरसर्पिर्गुडादीनि परित्यज्याग्रिमः पुमान् ॥ १७७ ॥

इसके सिवाय वे आदि पुरुष आलस्यरहित हो दूध, घी, गुड़ आदि रसोंका परित्याग कर नित्य ही रसपरित्याग नामका घोर तपश्चरण करते थे ॥ १७७ ॥

त्रिषु कालेषु योगीन्द्रस्तनूग्रमचिक्किशत् । कायस्य निग्रहं प्राहुस्तपः परमदुश्चरम् ॥ १७८ ॥

वे योगिराज वर्षा, शीत और ग्रीष्म इस प्रकार तीनों कालोंमें शरीरको क्लेश देते थे अर्थात् कायक्लेश नामका तप तपते थे। वास्तवमें गणधर देवने शरीरके निग्रह करने अर्थात् कायक्लेश करनेको ही उत्कृष्ट और कठिन तप कहा है ॥ १७८ ॥

> निगृहीतशरीरेण निगृहीतान्यसंशयम् । चक्षुरादीनि रुद्धेषु तेषु रुद्धं मनो भवेत् ॥ १७९ ॥

क्योंकि इसमें कुछ भी संशय नहीं है कि शरीरका निग्रह होनेसे चक्षु आदि सभी इन्द्रियोंका निग्रह हो जाता है और इन्द्रियोंका निग्रह होनेसे मनका निरोध हो जाता है अर्थात् संकल्प-विकल्प दूर होकर चित्त स्थिर हो जाता है ॥ १७९ ॥

> मनोरोधः परं ध्यानं तत्कर्मक्षयसाधनम् । ततोऽनन्तसुखावाप्तिस्ततः कायार्थमाचरेत् ॥ १८० ॥

मनका निरोध हो जाना ही उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है तथा यह ध्यान ही समस्त कर्मोंके क्षय हो जानेका साधन है और समस्त कर्मोंका क्षय हो जानेसे अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है इसलिए शरीरको कृश करना चाहिए ॥ १८० ॥

> गर्भात् प्रभृत्ययं देवो ज्ञानत्रितयमुद्वहन् । मनःपर्ययज्ञानं चाप्युपाददे ॥ १८१ ॥

यद्यपि वे भगवान् वृषभदेव मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंको गर्भसे ही धारण करते थे और मनःपर्यय ज्ञान उन्हें दीक्षाके बाद ही प्राप्त हो गया था— ॥ १८१ ॥

> तपोऽतप्त सिद्धौ ध्रुवभाविनि । ज्ञानलोचनो धीरः सहस्रं वार्षिकं परम् ॥ १८२ ॥

इसके सिवाय सिद्धत्व पद उन्हें अवश्य ही प्राप्त होनेवाला था तथापि सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले धीर-वीर भगवानने हजार वर्ष तक अतिशय उत्कृष्ट और उग्र तप तपा था— ॥ १८२ ॥

> ज्ञानामीहं मुनीशानां कायक्लेशाह्वयं तपः । तपोऽङ्गेषु प्रधानाङ्गमुत्तमाङ्गमियाङ्गिनाम् ॥ १८३ ॥

इससे मालूम होता है कि महामुनियोंको कायक्लेश नामका तप अतिशय अभीष्ट है—उसे वे अवश्य करते हैं। जिस प्रकार प्राणियोंके शरीरमें मस्तक प्रधान होता है उसी प्रकार कायक्लेश नामका तप समस्त बाह्य तपश्चरणोंमें प्रधान होता है ॥ १८३ ॥

> तत्तदातप्त योगीन्द्रः सोढाशेषपरीषहः । तपस्सुदुस्सहतरं परं निर्वाणसाधनम् ॥ १८४ ॥

इसीलिए उस समय समस्त परीषहोंको सहन करनेवाले योगिराज भगवान् वृषभदेव मोक्षका उत्तम साधन और अतिशय कठिन कायक्लेश नामका तप तपते थे ॥ १८४ ॥

> कर्मेन्धनानि निर्दग्धुमुद्यतः स तपोऽग्निना । दिदीपे स महावीरो प्रज्वलन्निव पावकः ॥ १८५ ॥

तपरूपी अग्निसे कर्मरूपी इन्धनको जलानेके लिए तैयार हुए वे धीर-वीर भगवान् प्रज्वलित हुई अग्निके समान अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे ॥ १८५ ॥

> असंख्यातगुणश्रेण्या धुन्वन् कर्मतमोघनम् । तपोदीप्त्यातिदीप्ताङ्गः सोऽंशुमानिव निष्प्रभः ॥ १८६ ॥

उस समय वे असंख्यात गुणश्रेणी निर्जराके द्वारा कर्मरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट कर रहे थे और उनका शरीर तपश्चरणकी कान्तिसे अतिशय देदीप्यमान हो रहा था इसलिए वे ठीक सूर्यके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १८६ ॥

> शय्याऽस्य विजने देशे जागरूकस्य योगिनः । कदाचिदुसनं चासीच्छुचौ विविक्तभूतले ॥ १८७ ॥

सदा जागृत रहनेवाले इन योगिराजकी शय्या किसी एकान्त पवित्र स्थानमें ही होती थी और जब कभी आसन भी पवित्र तथा निर्जीव स्थानमें ही होता था ॥ १८७ ॥

> न निद्रामुपजग्मासौ नासीनश्चामधूदभृशम् । प्रयतो विजहारोर्वी त्यक्तभुक्तिजितेन्द्रियः ॥ १८८ ॥

सदा जाग्रत रहनेवाले और इन्द्रियोंको जीतनेवाले वे भगवान् न तो कभी सोते थे और न एक स्थानपर बहुत बैठते ही थे किन्तु भोगोपभोगका त्याग कर प्रयत्नपूर्वक अर्थात् ईर्यासमितिका पालन करते हुए समस्त पृथिवीमें विहार करते रहते थे। भावार्थ—भगवान् सदा जागृत रहते थे इसलिए उन्हें शय्याकी नित्य आवश्यकता नहीं पड़ती थी परन्तु जब कभी विश्रामके लिए लेटते भी थे तो किसी पवित्र और निर्जन्तु स्थानमें ही शय्या लगाते थे। इसी प्रकार विहारके अतिरिक्त ध्यान आदिके समय एकान्त और पवित्र स्थानमें ही आसन लगाते थे। कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान् विविक्तशय्यासन नामका तपश्चरण करते थे ॥ १८८ ॥

> इति बाह्यं तपः षोढा चरन् परमदुश्चरम् । आभ्यन्तरं च वक्ष्यमाणं भेजे स योगिराट् ॥ १८९ ॥

इस प्रकार वे योगिराज अतिशय कठिन छह प्रकारके बाह्य तपश्चरणका पालन करते हुए आगे कहे जानेवाले छह प्रकारके अन्तरंग तपका भी पालन करते थे ॥ १८९ ॥

> प्रायश्चित्तं तपस्तस्मिन् मुनौ निरतिचारके । चरितार्थमभूत् किं नु भानोरन्तः तमोनुदः ॥ १९० ॥

उन निरतिचार चारित्रके धारक मुनिराज वृषभदेवमें प्रायश्चित्त नामका तप चरितार्थ अर्थात् कृतकार्य हो चुका था सो ठीक ही है क्योंकि सूर्यके बीचमें भी क्या कभी अन्धकार रहता है? अर्थात् कभी नहीं। भावार्थ—अतिचार लग जानेपर उसकी शुद्धता करना प्रायश्चित्त कहलाता है। भगवानके कभी कोई अतिचार लगता ही नहीं था तथा उनका चारित्र सदा निर्मल रहता था इसलिए यथार्थमें उनके निर्दोष चारित्रमें ही प्रायश्चित्त तप चरितार्थ हो चुका था। जिस प्रकार कि सूर्यका काम अन्धकारको नष्ट करना है जहाँ अन्धकार होता है वहाँ सूर्यको अपना प्रकाश-पुञ्ज फैलानेकी आवश्यकता होती है परन्तु सूर्यके बीचमें अन्धकार नहीं होता इसलिए सूर्य अपने विषयमें चरितार्थ अथवा कृतकार्य होता है ॥ १९० ॥

> प्रश्रयश्च तदाप्यासीदाश्रितोऽन्तर्निलीनताम् । विनिताशेषलोकोऽसौ स कुर्यादग्रिमः पुमान् ॥ १९१ ॥

इसी प्रकार इनका विनय नामका तप भी अन्तर्निलीनताको प्राप्त हुआ था अर्थात् उन्हींमें अन्तर्भूत हो गया था क्योंकि वे प्रधान पुरुष सबको नम्र करनेवाले थे फिर भला वे किसकी विनय करते? ॥ १९१ ॥

> अथवा प्रणमन् सिद्धानसौ भेजे सिषिक्षया । नमः सिद्धेभ्य इत्येव यतो दीक्षामुपायत ॥ १९२ ॥

अथवा उन्होंने सिद्ध होनेकी इच्छासे विनयी होकर सिद्ध भगवानकी आराधना की थी क्योंकि 'सिद्धोंके लिए नमस्कार हो' ऐसा कहकर ही उन्होंने दीक्षा धारण की थी ॥ १९२ ॥

> ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यगुणेषु च । आज्ञानुगो विनयोऽप्यासीद् यतमानस्य तत्त्वतः ॥ १९३ ॥

अथवा यथार्थ प्रवृत्ति करनेवाले भगवानकी ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य आदि गुणोंमें यथायोग्य विनय थी इसलिए उनके विनय नामका तप सिद्ध हुआ था ॥ १९३ ॥

> वैयावृत्त्यं च तस्यासीन्मार्गव्यावृत्तमात्रकम् । भगवान् परमेष्ठी हि क्वान्यत्र व्यापृतो भवेत् ॥ १९४ ॥

रत्नत्रय रूप मोक्षमार्गमें व्यापार करना ही उनका वैयावृत्त्य तप कहलाता था क्योंकि वे परमेष्ठी भगवान् रत्नत्रयको छोड़कर और किसमें व्यावृत्ति (व्यापार) करते? भावार्थ—दीन-दुःखी जीवोंकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहनेको वैयावृत्त्य कहते हैं परन्तु यह शुभ कषायका तीव्र उदय होते ही हो सकता है। भगवानकी शुभकषाय भी अतिशय मन्द हो गयी थी इसलिए उनकी प्रवृत्ति बाह्य व्यापारसे हटकर मोक्षमार्ग रूप मार्गमें ही रहती थी। अतः उसीकी अपेक्षा उनके वैयावृत्त्य तप सिद्ध हुआ था ॥ १९४ ॥

> इदमत्र तु तात्पर्यं प्रायश्चित्तादिके त्रये । तपस्यस्मिन्नियन्तृत्वं न नियम्यत्वमीशितुः ॥ १९५ ॥

यहाँ तात्पर्य यह है कि स्वामी वृषभदेवके इन प्रायश्चित्त, विनय और वैयावृत्त्य नामक तीन तपोंके विषयमें केवल नियन्तापन ही था अर्थात् वे इनका दूसरोंके लिए उपदेश देते थे, स्वयं किसीके नियम्य नहीं थे अर्थात् दूसरोंसे उपदेश ग्रहण कर इनका पालन नहीं करते थे। भावार्थ—भगवान् इन तीनों तपोंके स्वामी थे न कि अन्य मुनियोंके समान पालन करते हुए इनके अधीन रहते थे ॥ १९५ ॥

> आसीद् या धर्मसृष्टिस्तत् सर्वं कृत्वा सनातनः । युगादौ प्रथयामास स्वानुष्ठानैर्निदर्शनैः ॥ १९६ ॥

इस संसारमें जो कुछ धर्म-सृष्टि थी सनातन भगवान् वृषभदेवने वह सब उदाहरणस्वरूप स्वयं धारण कर इस युगके आदिमें प्रसिद्ध की थी। भावार्थ—भगवान् धार्मिक कार्योंका स्वयं पालन करके ही दूसरोंके लिए उपदेश देते थे ॥ १९६ ॥

> स्वधीतिनोऽपि तस्यासीत् स्वाध्यायः शुद्धये धियः । सौवाध्यायिकतां प्रापन् यद्दृष्ट्वैवापि संयताः ॥ १९७ ॥

यद्यपि भगवान् स्वयं अनेक शास्त्रों (द्वादशाङ्ग) के जाननेवाले थे तथापि वे बुद्धिकी शुद्धिके लिए निरन्तर स्वाध्याय करते थे क्योंकि इन्हींका स्वाध्याय देखकर मुनि लोग आज भी स्वाध्याय करते हैं। भावार्थ—यद्यपि उनके लिए स्वाध्याय करना अत्यावश्यक नहीं था क्योंकि वे स्वाध्यायके बिना भी सर्वज्ञ-समान जानकार थे तथापि वे अन्य साधारण मुनियोंके हितके लिए स्वाध्यायकी प्रवृत्ति चलाना चाहते थे इसलिए स्वयं भी स्वाध्याय करते थे। उन्हें स्वाध्याय करते देखकर ही अन्य मुनियोंमें स्वाध्यायकी परिपाटी चली थी जो कि आजकल भी प्रचलित है ॥ १९७ ॥

> न बाह्याभ्यन्तरे चास्मिन् तपसि द्वादशात्मनि । न भविष्यति नैवास्ति स्वाध्यायेन समं तपः ॥ १९८ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर भेदसहित बारह प्रकारके तपश्चरणमें स्वाध्यायके समान दूसरा तप न तो है और न आगे ही होगा ॥ १९८ ॥

> स्वाध्यायेऽभिरतो विद्वान्निगृहीतः संवृतेन्द्रियः । भवेदेकाग्रधीर्धीमान् विनयेन समाहितः ॥ १९९ ॥

क्योंकि विनयसहित स्वाध्यायमें तल्लीन हुआ बुद्धिमान् मुनि मनके संकल्प-विकल्प दूर हो जानेसे निश्चल हो जाता है, उसकी सब इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं और उसकी चित्त-वृत्ति किसी एक उत्तम ध्येयके चिन्तवनमें ही स्थिर हो जाती है। भावार्थ—स्वाध्याय करनेवाले मुनिको ध्यानकी प्राप्ति अनायास ही हो जाती है ॥ १९९ ॥

> विविक्तेषु वनान्ताविविविक्तप्रेतवनादिषु । मुहुर्व्युत्सृष्टकायस्य व्युत्सर्गस्तस्य चाभवत् ॥ २०० ॥

वनके प्रदेश, पर्वतोंके शिखर, लतागृह और श्मशानभूमि आदि एकान्त स्थानोंमें शरीरसे ममत्व छोड़कर कायोत्सर्ग करनेवाले भगवानके व्युत्सर्ग नामका पाँचवाँ तपश्चरण भी हुआ था ॥ २०० ॥

> देहाद् विविक्तमात्मानं पश्यन् गुप्तित्रयीं श्रितः । व्युत्सर्गं स तपो भेजे स्वस्मिन् संन्यस्तनिःस्पृहः ॥ २०१ ॥

वे भगवान् आत्माको शरीरसे भिन्न देखते थे और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीनों गुप्तियोंका पालन करते थे। इस प्रकार अपने शरीरमें भी निःस्पृह रहनेवाले भगवान् व्युत्सर्ग नामक तपका अच्छी तरह पालन करते थे ॥ २०१ ॥

> ततो व्युत्सृष्टकायोऽयं ध्यानयोगोऽभवद् विभोः । मुनिर्व्युत्सृष्टकायो हि स्वामी सद्ध्यानसंपदः ॥ २०२ ॥

तदनन्तर स्वामी वृषभदेवके व्युत्सर्गपूर्वक ध्यान नामका तप भी हुआ था, सो ठीक ही है शरीरसे ममत्व छोड़ देनेवाला मुनि ही उत्तम ध्यानरूपी सम्पदाका स्वामी होता है ॥ २०२ ॥

ध्यानाभ्यासं समासाद्य योगी मुनिव्रतोऽभवत् । शेषः परिकरः सर्वो ध्यानमेवोत्तमं तपः ॥ २०३ ॥

योगिराज वृषभदेव ध्यानाभ्यासरूप तपश्चरण करते हुए ही कृतकृत्य हुए थे क्योंकि ध्यान ही उत्तम तप कहाता है उसके सिवाय बाकी सब उसीके साधन मात्र कहलाते हैं। भावार्थ—सबसे उत्तम तप ध्यान ही है क्योंकि कर्मोंकी साक्षात् निर्जरा ध्यानसे ही होती है। शेष ग्यारह प्रकारके तप ध्यानके सहायक कारण हैं ॥ २०३ ॥

आदिपुराण - पर्व २० (श्लोक २०४ - २७३)

> मनोऽक्षग्रामकायानां तपनात् संनिरोधनात् । तपो निरुच्यते सद्भिस्तच्च ज्ञेयं द्वादशात्मकम् ॥ २०४ ॥

मन, इन्द्रियोंका समूह और काय इनके तपन तथा निरोध करनेसे ही तप होता है ऐसा तपके जाननेवाले गणधरादि देव कहते हैं और वह तप अनशन आदिके भेदसे बारह प्रकारका होता है ॥ २०४ ॥

> निरर्गलां निर्जरामिच्छन् महोदर्कं च संवरम् । यतते स्म तपस्यस्मिन् द्विपड्भेदविदांवरः ॥ २०५ ॥

विद्वानोंमें अतिशय श्रेष्ठ वे भगवान् कर्मोंकी बड़ी भारी निर्जरा और उत्तम फल देनेवाले संवरकी इच्छा करते हुए इन बारह प्रकारके तपोंमें सदा प्रयत्नशील रहते थे ॥ २०५ ॥

> सगुप्तिसमिती धर्मं सानुप्रेक्षं क्षमादिकम् । परीषहाञ्जयन् सम्यक् चारित्रं चाचरच्चिरम् ॥ २०६ ॥

वे भगवान् परीषहोंको जीतते हुए गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, क्षमा आदि धर्म और सम्यक् चारित्रका चिरकाल तक पालन करते रहे थे। भावार्थ—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र इन पाँच कारणोंसे नवीन आते हुए कर्मोंका आना रुककर संवर होता है। जिनेन्द्र देवने इन पाँचों ही कारणोंको चिरकाल तक धारण किया था ॥ २०६ ॥

> ततो दिध्यासुनानेन योग्या देशाः सिषेविरे । विविक्ता रमणीया ये विमुक्ता रागकारणैः ॥ २०७ ॥

तदनन्तर ध्यान-धारण करनेकी इच्छा करनेवाले भगवान् ध्यानके योग्य उन-उन प्रदेशोंमें निवास करते थे जो कि एकान्त थे, मनोहर थे और राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाली सामग्रीसे रहित थे ॥ २०७ ॥

> गुहापुलिनगोपञ्चजीर्णोद्यानवनादयः । नात्युष्णशीतसम्पाता देशाः साधारणाश्च ये ॥ २०८ ॥

जहाँ न अधिक गरमी पड़ती हो और न अधिक शीत ही होता हो जहाँ साधारण गरमी-सर्दी रहती हो अथवा जहाँ समान रूपसे सभी आ-जा सकते हों ऐसे गुफा, नदियोंके किनारे, पर्वतके शिखर, जीर्ण उद्यान और वन आदि प्रदेश ध्यानके योग्य क्षेत्र कहलाते हैं ॥ २०८ ॥

> कालो नातिशीतोष्णभूयिष्ठो जनतासुखः । भावो ज्ञानवैराग्यशमक्षान्त्यादिलक्षणः ॥ २०९ ॥

इसी प्रकार जिसमें न बहुत गरमी और न बहुत सर्दी पड़ती हो तथा जो प्राणियोंको दुःखदायी भी न हो ऐसा काल ध्यानके योग्य काल कहलाता है। ज्ञान, वैराग्य, शम और क्षमा आदि भाव ध्यानके योग्य भाव कहलाते हैं— ॥ २०९ ॥

> द्रव्याण्यप्यनुकूलानि यानि संक्लेशहानये । प्रसाधकानि तानीशः सेवेताध्यात्मशुद्धये ॥ २१० ॥

और जो पदार्थ भूख आदिसे उत्पन्न हुए संक्लेशको दूर करनेमें समर्थ हैं ऐसे पदार्थ ध्यानके योग्य द्रव्य कहलाते हैं। स्वामी वृषभदेव ध्यानकी सिद्धिके लिए अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका ही सेवन करते थे ॥ २१० ॥

> कदाचिद् गिरिकुञ्जेषु कदाचिद् गिरिकन्दरे । कदाचिच्चाद्रिशृङ्गेषु दध्यावध्यात्मतत्त्ववित् ॥ २११ ॥

अध्यात्म तत्त्वको जाननेवाले वे भगवान् कभी तो पर्वतपरके लतागृहोंमें, कभी पर्वतकी गुफाओंमें और कभी पर्वतके शिखरोंपर ध्यान लगाते थे ॥ २११ ॥

> क्वचिद् बर्हिणरावारवत्स्योपांतेषु हारिषु । दध्यात् शिलापट्टान् ध्याताऽध्यात्मशुद्धये ॥ २१२ ॥

वे भगवान् अध्यात्मकी शुद्धिके लिए कभी तो ऐसे-ऐसे सुन्दर पहाड़ोंके शिखरोंपर पड़े हुए शिलातलोंपर आरूढ़ होते थे कि जिनके समीप भाग मयूरोंके शब्दोंसे बड़े ही मनोहर हो रहे थे ॥ २१२ ॥

> अगोप्रचारशून्येष्वरण्येषु विविक्तेषु च । निजन्तुके विविक्ते च स्थण्डिलेऽस्थात् समाधये ॥ २१३ ॥

कभी-कभी समाधि (ध्यान) लगानेके लिए वे भगवान् जहाँ गायोंके खुरों तकके चिह्न नहीं थे ऐसे अगम्य वनोंमें उपद्रवशून्य जीवरहित और प्रासुक विषम भूमिपर विराजमान होते थे ॥ २१३ ॥

> कदाचित् प्रान्तपर्यस्तोन्मग्ननिर्झरशीकरैः । कृतशैत्ये नगोत्सङ्गे सोऽगाद्योगैकतानताम् ॥ २१४ ॥

कभी-कभी पानीके छींटे उड़ाते हुए समीपमें बहनेवाले झरनोंसे जहाँ बहुत ठण्ड पड़ रही थी ऐसे पर्वतके ऊपरी भागपर वे ध्यानमें तल्लीनताको प्राप्त होते थे ॥ २१४ ॥

> उल्कासु नक्तं क्रूरैर्भीमैः स्वैरमारब्धताण्डवे । विभुः श्मशाने भूतानां सोऽस्थात् कदाचन ॥ २१५ ॥

कभी-कभी रातके समय जहाँ अनेक राक्षस अपनी इच्छानुसार नृत्य किया करते थे ऐसी श्मशान भूमिमें वे भगवान् ध्यान करते हुए विराजमान होते थे ॥ २१५ ॥

> कदाचिन्निम्नगातीरे शुचि सैकतचारुणि । कदाचिच्च सरस्तीरे वनोद्देशेषु हारिषु ॥ २१६ ॥

कभी शुक्ल अथवा पवित्र बालूसे सुन्दर नदीके किनारेपर, कभी सरोवरके किनारे, कभी मनोहर वनके प्रदेशोंमें— ॥ २१६ ॥

> मनोविक्षेपहीनेषु देशेष्वन्येषु च क्षमी । ध्यानाभ्यासमसौ कुर्वन् विजहार महीमिमाम् ॥ २१७ ॥

और कभी मनकी व्याकुलता न करनेवाले अन्य कितने ही देशोंमें ध्यानका अभ्यास करते हुए उन क्षमाधारी भगवानने इस समस्त पृथिवीमें विहार किया था ॥ २१७ ॥

> मौनी ध्यानी स निर्मानो देशान् प्रविहरन् शनैः । पुरं पुरिमतालाख्यं सुधीरस्तदुपैयिवान् ॥ २१८ ॥

मौनी, ध्यानी और मानसे रहित वे अतिशय बुद्धिमान् भगवान् धीरे-धीरे अनेक देशोंमें विहार करते हुए किसी दिन पुरिमताल नामके नगरके समीप जा पहुँचे ॥ २१८ ॥

नात्यासन्नविदूरेऽस्मादुद्याने शकटाह्वये । प्रशान्ते निराकुले रम्ये विविक्तेऽस्थाद् विगतसाध्वसः ॥ २१९ ॥

उसी नगरके समीप एक शकट नामका उद्यान था जो कि उस नगरसे न तो अधिक समीप था और न अधिक दूर ही था, उस पवित्र, आकुलतारहित, रमणीय, एकान्त और जीवरहित वनमें भगवान् ठहर गये ॥ २१९ ॥

न्यग्रोधपादपस्याधः शिलापट्टं शुचिं महत् । अध्यास्त सुसमाधानमधात् स्थानाय शुद्धधीः ॥ २२० ॥

शुद्ध बुद्धिवाले भगवानने वहाँ ध्यानकी सिद्धिके लिए वटवृक्षके नीचे एक पवित्र तथा लम्बी-चौड़ी शिलापर विराजमान होकर चित्तकी एकाग्रता धारण की ॥ २२० ॥

तत्र पूर्वमुखः स्थित्वा कृतपल्यङ्कबन्धनः । ध्याने प्रणिदधौ चित्तं लेश्याशुद्धिं परां दधत् ॥ २२१ ॥

वहाँ पूर्व दिशाकी ओर मुख कर पद्मासनसे बैठे हुए तथा लेश्याओंकी उत्कृष्ट शुद्धिको धारण करते हुए भगवानने ध्यानमें अपना चित्त लगाया ॥ २२१ ॥

चेतसा मुक्तिहेतुं ध्यायन् परं पदमनुत्तरम् । दधौ सिद्धगुणानष्टौ प्रागेव सुविशुद्धधीः ॥ २२२ ॥

अतिशय विशुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेवने सबसे पहले सर्वश्रेष्ठ मोक्ष-पदमें अपना चित्त लगाया और सिद्ध परमेष्ठीके आठ गुणोंका चिन्तवन किया ॥ २२२ ॥

सम्यक्त्वं दृक् तथा ज्ञानमनन्तं वीर्यमद्भुतम् । सौक्ष्म्यमवगाहनत्वमव्याबाधः सथागुरूघुता ॥ २२३ ॥

अनन्त सम्यक्त्व, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त और अद्भुत वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व और अगुरुलघुत्व ये आठ सिद्धपरमेष्ठीके गुण कहे गये हैं, सिद्धि प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवालोंको इन गुणोंका अवश्य ध्यान करना चाहिए ॥ २२३ ॥

> इत्यष्टौ सिद्धगुणा ज्ञेया ध्येयाः सिद्धिमभीप्सुना । द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद् भावतश्च तथा परे ॥ २२४ ॥

इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावकी अपेक्षा उनके और भी चार साधारण गुणोंका चिन्तवन करना चाहिए ॥ २२४ ॥

> द्वादशगुणैर्युक्तो मुक्तः सूक्ष्मो निरञ्जनः । स ध्येयो योगिभिर्व्यक्तो नित्यः शुद्धैः सुमुक्षुभिः ॥ २२५ ॥

इस तरह जो ऊपर कहे हुए बारह गुणोंसे युक्त हैं, कर्मबन्धनसे रहित हैं, सूक्ष्म हैं, निरञ्जन हैं—रागादि भाव मलोंसे रहित हैं, व्यक्त हैं, नित्य हैं और शुद्ध हैं ऐसे सिद्ध भगवानका मोक्षाभिलाषी मुनियोंको अवश्य ही ध्यान करना चाहिए ॥ २२५ ॥

> ततो दध्यावनुप्रेक्षा दिध्यासुर्धर्ममुत्तमम् । पारिकर्ममितास्तस्य शुभा द्वादशभावनाः ॥ २२६ ॥

पश्चात् उत्तम धर्मध्यानकी इच्छा करनेवाले भगवानने अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन किया क्योंकि शुभ बारह अनुप्रेक्षाएँ ध्यानकी परिवार अवस्थाको ही प्राप्त हैं अर्थात् ध्यानका ही अंग कहलाती हैं ॥ २२६ ॥

> तासां नामस्वरूपं च पूर्वमेवानुवर्णितम् । ततो धर्ममयं ध्यानं प्रपेदे शुद्धिकः ॥ २२७ ॥

उन बारह अनुप्रेक्षाओंके नाम और स्वरूपका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। तदनन्तर बुद्धिकी अतिशय विशुद्धताको धारण करनेवाले भगवान् धर्मध्यानको प्राप्त हुए ॥ २२७ ॥

> आज्ञाविचयमाद्यं तदपायविचयं तथा । विपाकविचयं चान्यत् संस्थानविचयं परम् ॥ २२८ ॥

आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इस प्रकार धर्मध्यानके चार भेद हैं ॥ २२८ ॥

स्वस्वनामव्यक्ततत्त्वानि धर्म्यध्यानानि सोऽध्यगात् । यतोऽभ्युदयपुण्यं स्वर्गप्राग्रसुखसाधनम् ॥ २२९ ॥

जिनका स्वरूप अपने नामसे प्रकट हो रहा है ऐसे ऊपर कहे हुए चारों धर्मध्यान जिनेन्द्रदेवने धारण किये थे क्योंकि उनसे स्वर्ग लोकके श्रेष्ठ सुखके कारणस्वरूप बड़े भारी पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥ २२९ ॥

क्षालितागापरागस्य विरागस्यास्य योगिनः । प्रमादः क्वाप्यभून्नेतः सतां ज्ञानादिशक्तिभिः ॥ २३० ॥

जिनका पापरूपी पराग (धूलि) धुल गया है और जिनके सब विभाव नष्ट हो गये हैं ऐसे योगिराज वृषभदेवके अन्तःकरणमें उस समय ज्ञान, दर्शन आदि शक्तियोंके कारण किसी भी जगह प्रमाद नहीं रह सका था। भावार्थ—धर्मध्यानके समय जिनेन्द्रदेव प्रमादरहित हो 'अप्रमत्त संयत' नामके सातवें गुणस्थानमें विद्यमान थे ॥ २३० ॥

ज्ञानादिपरिणामेषु परां शुद्धिसुपेयुषः । लेशतोऽप्यस्य नाभूवन् लेश्याः क्लेशहेतवः ॥ २३१ ॥

ज्ञान आदि परिणामोंमें परम विशुद्धताको प्राप्त हुए जिनेन्द्रदेवके क्लेश उत्पन्न करनेवाली अशुभ लेश्याएँ अंशमात्र भी नहीं थीं। भावार्थ—उस समय भगवानके शुक्ल लेश्या ही थी ॥ २३१ ॥

तदा ध्यानमयी शक्तिः स्फुरन्ती दुर्धरा विभोः । मोहारिनाशचिह्ना महोल्केव विजृम्भिता ॥ २३२ ॥

उस समय देदीप्यमान हुई भगवान्‌की ध्यानरूपी शक्ति ऐसी दिखाई देती थी मानो मोहरूपी शत्रुके नाशको सूचित करनेवाली बढ़ी हुई बड़ी भारी उल्का ही हो ॥ २३२ ॥

यथा नृपः कृतान्तःप्रकृतिशुद्धिरग्रतः । निकृष्टमध्यमोत्कृष्टविभागेन त्रिधा कृतम् ॥ २३३ ॥

जिस प्रकार कोई राजा अपनी अन्तःप्रकृति अर्थात् मन्त्री आदिको शुद्ध कर—उनको जाँचकर अपनी सेनाके जघन्य, मध्यम और उत्तम ऐसे तीन भेद करता है और उनको आगे कर मरणभयसे रहित हो सब सामग्रीके साथ शत्रुकी सेनाको जीतनेके लिए उठ खड़ा होता है— ॥ २३३ ॥

सैन्यं कृत्वा विशुद्ध्याऽथ कृतान्तः कृतविक्रियः । उत्तस्थौ सर्वसामग्र्या मोहारिपृतनाजये ॥ २३४ ॥

उसी प्रकार भगवान् वृषभदेवने भी अपनी अन्तःप्रकृति अर्थात् मनको शुद्ध कर—संकल्प-विकल्प दूर कर अपनी विशुद्धिरूपी सेनाके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन भेद किये और फिर उन तीनों प्रकारकी विशुद्धिरूपी सेनाको आगे कर यमराज-द्वारा की हुई विक्रिया (मृत्यु-भय) को दूर करते हुए सब सामग्रीके साथ मोहरूपी शत्रु सेना अर्थात् मोहनीय कर्मके अट्ठाईस अवान्तर भेदोंको जीतनेके लिए तत्पर हो गये ॥ २३४ ॥

शिरस्त्राणं तनुत्राणं तस्यासीत् संयमद्वयम् । जेयं सदस्त्रं सद्ध्यानं मोहारानिर्विभिन्त्सतः ॥ २३८ ॥

मोहरूपी शत्रुको भेदन करनेकी इच्छा करनेवाले भगवानने इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम रूप दो प्रकारके संयमको क्रमसे शिरकी रक्षा करनेवाला टोप और शरीरकी रक्षा करनेवाला कवच बनाया था तथा उत्तम ध्यानको जयशील अस्त्र बनाया था ॥ २३८ ॥

बलव्यसनरक्षार्थं ज्ञानामात्याः पुरस्कृताः । विशुद्धपरिणामश्च सेनानीत्वे नियोजितः ॥ २३६ ॥

विशुद्धिरूपी सेनाकी आपत्तिसे रक्षा करनेके लिए उन्होंने ज्ञानरूपी मन्त्रियोंको नियुक्त किया था और विशुद्ध परिणामको सेनापतिके पदपर नियुक्त किया था ॥ २३६ ॥

गुणाः सैनिकतां नीता दुर्भेदा ध्रुवयोधिनः । बले हन्तव्यपक्षे च रागाद्याः प्रतिचर्चिताः ॥ २३७ ॥

जिनका कोई भेदन नहीं कर सकता और जो निरन्तर युद्ध करनेवाले थे ऐसे गुणोंको उन्होंने सैनिक बनाया तथा राग आदि शत्रुओंको उनके मारने योग्य पक्षमें रखा ॥ २३७ ॥

इत्यायोजितसैन्यस्य जयोद्योगे जगद्गुरोः । गुणश्रेणिबलाद् बाणं कर्मसैन्यं च शल्कशः ॥ २३८ ॥

इस प्रकार समस्त सेनाकी व्यवस्था कर जगद्गुरु भगवानने ज्यों ही कर्मोंके जीतनेका उद्योग किया त्यों ही भगवानकी गुण-श्रेणी निर्जराके बलसे कर्मरूपी सेना खण्ड-खण्ड होकर नष्ट होने लगी ॥ २३८ ॥

> यथा यथोत्तरा शुद्धिरास्कन्दति तथा तथा । कर्मसैन्यस्थितेर्भङ्गः संजातश्च रसक्षयः ॥ २३९ ॥

ज्यों-ज्यों भगवानकी विशुद्धि आगे-आगे बढ़ती जाती थी त्यों-त्यों कर्मरूपी सेनाका भंग और रस अर्थात् फल देनेकी शक्तिका विनाश होता जाता था ॥ २३९ ॥

> परप्रकृतिसंक्रान्तिः स्थितिक्षयोरसच्युती । निर्जीर्णिश्च गुणश्रेण्या तदासीत् कर्मवैरिणाम् ॥ २४० ॥

उस समय भगवानके कर्मरूपी शत्रुओंमें परप्रकृतिरूप संक्रमण हो रहा था अर्थात् कर्मोंकी एक प्रकृति दूसरी प्रकृति रूप बदल रही थी, उनकी स्थिति घट रही थी, रस अर्थात् फल देनेकी शक्ति क्षीण हो रही थी और गुण-श्रेणी निर्जरा हो रही थी ॥ २४० ॥

> अकृत प्रकृतिसंक्षोभं मूलस्योन्मूलनं तथा । योगशक्त्या स योगीन्द्रो विजिगीषुरिवातनोत् ॥ २४१ ॥

जिस प्रकार कोई विजयाभिलाषी राजा शत्रुओंकी मन्त्री आदि अङ्गभूत प्रकृतिमें क्षोभ पैदा करता है और फिर मूल सेनाको उखाड़ देता है उसी प्रकार योगिराज भगवान् वृषभदेवने भी अपने योगबलसे पहले कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंमें क्षोभ उत्पन्न किया था और फिर उन्हें जड़सहित उखाड़ फेंकनेका उपक्रम किया था अथवा मूल प्रकृतियोंमें उद्वेलन (उद्वेलन आदि संक्रमणविशेष) किया था ॥ २४१ ॥

> भूयोऽप्रमत्ततां प्राप्य भावयन् शुद्धिमुत्तराम् । आरोहत् क्षपकश्रेणिं निश्रेणीं मोक्षसद्मनः ॥ २४२ ॥

तदनन्तर उत्कृष्ट विशुद्धिकी भावना करते हुए भगवान् अप्रमत्त अवस्थाको प्राप्त होकर मोक्षरूपी महलकी सीढ़ीके समान क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ हुए ॥ २४२ ॥

> अधःप्रवृत्तकरणमप्रमादेन भावयन् । अपूर्वकरणो भूत्वाऽनिवृत्तिकरणोऽभवत् ॥ २४३ ॥

प्रथम ही उन्होंने प्रमादरहित हो अप्रमत्तसंयत नामके सातवें गुणस्थानमें अधःकरणकी भावना की और फिर अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानमें प्राप्त होकर अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थानमें प्राप्त हुए ॥ २४३ ॥

संनाह्य शुक्लं संप्राप्य ध्यानेनात्यन्तशुद्धिकः । मोहराजबलं कृत्स्नमपातयदसाध्वसः ॥ २४४ ॥

वहाँ उन्होंने पृथक्त्ववितर्क नामका पहला शुक्लध्यान धारण किया और उसके प्रवाहसे विशुद्धि प्राप्त कर निर्भय हो मोहरूपी राजाकी समस्त सेनाको पछाड़ दिया ॥ २४४ ॥

अङ्गरक्षानिव स्थाष्टाव कषायान् निष्पिपेष सः । वेदशक्तीस्ततस्तिस्रो नोकषायाह्वयान् भटान् ॥ २४५ ॥

प्रथम ही उन्होंने मोहरूपी राजाके अंगरक्षकके समान अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणसम्बन्धी आठ कषायोंको चूर्ण किया फिर नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और पुरुषवेद ऐसे तीन प्रकारके वेदोंका तथा नोकषाय नामके हास्यादि छह योद्धाओंका नाश किया था ॥ २४५ ॥

ततः संज्वलनक्रोधं महानायकमग्रगम् । मानमप्यस्य पाश्चात्यं मायां लोभं च बादरम् ॥ २४६ ॥

तदनन्तर सबसे मुख्य और सबके आगे चलनेवाले संज्वलन क्रोधका, उसके बाद मानका, मायाका और बादर लोभका भी नाश किया था— ॥ २४६ ॥

प्रमथ्यैतान् महाध्यानरङ्गे चारित्रसद्ध्वजः । निशातज्ञाननिस्त्रिंशो दयाकवचवर्मितः ॥ २४७ ॥

इस प्रकार इन कर्म-शत्रुओंको नष्ट कर महाध्यानरूपी रंगभूमिमें चारित्ररूपी ध्वजा फहराते हुए ज्ञानरूपी तीक्ष्ण हथियार बाँधे हुए और दयारूपी कवचको धारण किये हुए महायोद्धा भगवानने— ॥ २४७ ॥

जग्राह जयभूमिं तामनिवृत्तिमहाभटः । भटानामनिवृत्तानां परानीकं न संमुखम् ॥ २४८ ॥

अनिवृत्ति अर्थात् जिससे पीछे नहीं हटना पड़े ऐसी नौवें गुणस्थान रूप अनिवृत्ति नामकी जयभूमि प्राप्त की सो ठीक ही है क्योंकि पीछे नहीं हटनेवाले शूर-वीर योद्धाओंके आगे शत्रुकी सेना आदि नहीं ठहर सकती ॥ २४८ ॥

करणत्रययाथात्म्यव्यक्तयेऽर्थपदानि वै । ज्ञेयान्यमूनि सूत्रार्थलब्धवर्णैरनुक्रमात् ॥ २४९ ॥

अब अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणोंका यथार्थ स्वरूप प्रकट करनेके लिए आगमके यथार्थ भावको जाननेवाले गणधरादि देवोंने जो ये अर्थसहित पद कहे हैं वे अनुक्रमसे जानने योग्य हैं अर्थात् उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥ २४९ ॥

> करणाः परिणामा ये प्रायः स्युः प्रथमक्षणे । ते भवेयुर्द्वितीयेऽस्मिन् क्षणेऽन्ये च पृथग्विधाः ॥ २५० ॥

अधःप्रवृत्तिकरणके प्रथम क्षणमें जो परिणाम होते हैं वे ही परिणाम दूसरे क्षणमें होते हैं तथा इसी दूसरे क्षणमें पूर्व परिणामोंसे भिन्न और भी परिणाम होते हैं ॥ २५० ॥

> द्वितीयक्षणसंबन्धिपरिणामकदम्बकम् । तच्चान्यच्च तृतीये स्यादेवमाचरमक्षणात् ॥ २५१ ॥

इसी प्रकार द्वितीय क्षणसम्बन्धी परिणामोंका जो समूह है वही तृतीय क्षणमें होता है तथा उससे भिन्न जातिके और भी परिणाम होते हैं, यही क्रम चतुर्थ आदि अन्तिम समय तक होता है— ॥ २५१ ॥

> ततश्चाधःप्रवृत्ताख्यं करणं तन्निरुच्यते । अपूर्वकरणे नैवं ते ह्यपूर्वाः प्रतिक्षणम् ॥ २५२ ॥

इसीलिए इस करणका अधःप्रवृत्तिकरण ऐसा सार्थक नाम कहा जाता है। परन्तु अपूर्वकरणमें यह बात नहीं है क्योंकि वहाँ प्रत्येक समयमें अपूर्व-अपूर्व ही परिणाम होते रहते हैं इसलिए इस करणका भी अपूर्वकरण यह सार्थक नाम है ॥ २५२ ॥

> करणे त्वनिवृत्ताख्ये न निवृत्तिरिहाङ्गिनाम् । परिणामैर्मियस्ते हि समभावाः प्रतिक्षणम् ॥ २५३ ॥

अनिवृत्तिकरणमें जीवोंमें निवृत्ति अर्थात् विभिन्नता नहीं होती क्योंकि इसके प्रत्येक क्षणमें रहनेवाले सभी जीव परिणामोंकी अपेक्षा परस्परमें समान ही होते हैं इसलिए इस करणका भी अनिवृत्तिकरण यह सार्थक नाम है ॥ २५३ ॥

> आद्ये करणे नास्ति स्थितिघाताद्युपक्रमः । हापयेत् केवलं शुद्धयन् बन्धं स्थित्यनुभागयोः ॥ २५४ ॥

इन तीनों करणोंमें-से प्रथम करणमें स्थिति घात आदिका उपक्रम नहीं होता, किन्तु इसमें रहनेवाला जीव शुद्ध होता हुआ केवल स्थिति-बन्ध और अनुभाग-बन्धको कम करता रहता है ॥ २५४ ॥

> अपूर्वकरणेऽप्येवं किं तु स्थित्यनुभागयोः । गुणसंक्रमणे गुणश्रेण्यां कुर्वन् दधौ च निर्जराम् ॥ २६५ ॥

दूसरे अपूर्वकरणमें भी यही व्यवस्था है किन्तु विशेषता इतनी है कि इस करणमें रहनेवाला जीव गुण-श्रेणीके द्वारा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका संक्रमण तथा निर्जरा करता हुआ उन दोनोंके अग्रभागको नष्ट कर देता है ॥ २६५ ॥

> तृतीये करणेऽप्येवं घटमानः सुचेतनः । अकृतान्तरमुच्छिन्द्यात् कर्मारीन् षोडशाष्ट च ॥ २६६ ॥

इसी प्रकार तीसरे अनिवृत्तिकरणमें प्रवृत्ति करनेवाला कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेमें अतिशय चतुर बुद्धिमान् जीव भी परिणामोंकी विशुद्धिमें अन्तर न डालकर सोलह और आठ शत्रुओंको उखाड़ फेंकता है ॥ २६६ ॥

> गत्योरथाधयोर्नामप्रकृतीर्नियतोदयाः । स्त्यानगृद्धित्रिकं चाघ्नेद् घातेनैकेन योगिराट् ॥ २६७ ॥

अथानन्तर योगिराज भगवान् वृषभदेवने नरक और तिर्यञ्चगतिमें नियमसे उदय आनेवाली नामकर्मकी तेरह (१ नरकगति, २ नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, ३ तिर्यग्गति, ४ तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, ५ एकेन्द्रियजाति, ६ द्वीन्द्रियजाति, ७ त्रीन्द्रियजाति, ८ चतुरिन्द्रियजाति, ९ आतप, १० उद्योत, ११ स्थावर, १२ सूक्ष्म और १३ साधारण) और स्त्यानगृद्धि आदि तीन (१ स्त्यानगृद्धि, २ निद्रानिद्रा और ३ प्रचलाप्रचला) इस प्रकार सोलह प्रकृतियोंको एक ही प्रहारसे नष्ट किया ॥ २६७ ॥

> ततोऽष्टौ च कषायांस्तान् हन्यादध्यात्मतत्त्ववित् । पुनः कृतान्तरः शेषाः प्रकृतीरप्यनुक्रमात् ॥ २६८ ॥

तदनन्तर अध्यात्मतत्त्वके जाननेवाले भगवानने आठ कषायों (अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणसम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ) को नष्ट किया और फिर कुछ अन्तर लेकर शेष बची हुई (नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, संज्वलन क्रोध, मान और माया) प्रकृतियोंको भी नष्ट किया ॥ २६८ ॥

> अश्वकर्णक्रियाकृष्टिकरणादिश्च यो विधिः । अत्रानेन व्यधायिष्ठ ततः सूक्ष्मपरोऽभवत् ॥ २६९ ॥

अश्वकर्णक्रिया और कृष्टिकरण आदि जो कुछ विधि होती है वह सब भगवानने इसी अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें की और फिर वे सूक्ष्मसाम्पराय नामके दसवें गुणस्थानमें जा पहुँचे ॥ २६९ ॥

सूक्ष्मीकृतं ततो लोभं जयन्मोहं व्यजेष्ट सः । कर्षितो बलवांस्तोकं युधि विजिगीषुणा ॥ २६० ॥

वहाँ उन्होंने अतिशय सूक्ष्म लोभको भी जीत लिया और इस तरह समस्त मोहनीय कर्मपर विजय प्राप्त कर ली सो ठीक ही है क्योंकि बलवान् शत्रु भी दुर्बल हो जानेपर विजिगीषु पुरुष-द्वारा अनायास ही जीत लिया जाता है ॥ २६० ॥

तदा क्षपकश्रेण्यां दीप्तो मोहारिनिर्जयात् । अङ्गत्यमल्ल इवावल्गन् मुनिरप्रतिमल्लवित् ॥ २६१ ॥

उस समय क्षपकश्रेणीरूपी रंगभूमिमें मोहरूपी शत्रुके नष्ट हो जानेसे अतिशय देदीप्यमान होते हुए मुनिराज वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे किसी कुश्तीके मैदानसे प्रतिवादी (विरोधी पहलवान) के भाग जानेपर विजयी पहलवान सुशोभित होता है ॥ २६१ ॥

ततः क्षीणकषायत्वमक्षीणगुणसंग्रहः । प्राप्य तत्र रजोश्लेषमव्यथात् स्नातको बभौ ॥ २६२ ॥

तदनन्तर अविनाशी गुणोंका संग्रह करनेवाले भगवान् क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानमें प्राप्त हुए। वहाँ उन्होंने सम्पूर्ण मोहनीय कर्मकी धूलि उड़ा दी अर्थात् उसे बिलकुल ही नष्ट कर दिया और स्वयं स्नातक अवस्थाको प्राप्त हो गये ॥ २६२ ॥

ज्ञानदर्शनवीर्यादिविघ्ना ये केचिदुद्धताः । तानशेषान् द्वितीयेन शुक्लध्यानेन चिच्छिदे ॥ २६३ ॥

तदनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मकी जो कुछ उद्धत प्रकृतियाँ थीं उन सबको उन्होंने एकत्ववितर्क नामके दूसरे शुक्लध्यानसे नष्ट कर डाला— ॥ २६३ ॥

घातिकर्मप्रकृतीर्ध्यानाग्निवह्निना । निर्दहन् मुनिरुद्भूतकैवल्योऽभूत् स विश्वदृक् ॥ २६४ ॥

और इस प्रकार वे मुनिराज ध्यानरूपी अग्निके द्वारा अतिशय दुःखदायी चारों घातिया कर्मोंको जलाकर केवलज्ञानी हो लोकालोकके देखनेवाले सर्वज्ञ हो गये ॥ २६४ ॥

अनन्तज्ञानदृग्वीर्यविरतिः शुद्धदर्शनम् । दानादीनां च भोगाद्युपभोगानानन्त्यमाश्रिताः ॥ २६५ ॥

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त चारित्र, शुद्ध सम्यक्त्व, तथा अनन्त दान, लाभ, भोग और उपभोग— ॥ २६५ ॥

नवकेवललब्धीस्ता जिनांशुमालान् प्रभावतः । स भेजे जगदुद्भासो भव्याम्भोजानि बोधयन् ॥ २६६ ॥

इस प्रकार समस्त संसारको प्रकाशित करते हुए और भव्य जीवरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करते हुए वे वृषभ-जिनेन्द्ररूपी सूर्य किरणोंके समान इन अनन्त नौ केवललब्धियोंको प्राप्त हुए ॥ २६६ ॥

इति ध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मेन्धनचयो विभुः । बभासे समुद्भूतकैवल्यविभवो विभवो जिनेश्वरः ॥ २६७ ॥

इस प्रकार जिन्होंने ध्यानरूपी अग्निके द्वारा कर्मरूपी ईंधनके समूहको जला दिया है, जिनके केवलज्ञानरूपी विभूति उत्पन्न हुई है और जिन्हें समवसरणका वैभव प्राप्त हुआ है ऐसे वे जिनेन्द्र भगवान् बहुत ही सुशोभित हो रहे थे ॥ २६७ ॥

फाल्गुने मासि तामिस्रपक्षस्यैकादशीतिथौ । उत्तराषाढनक्षत्रे केवल्यमुदभूद् विभोः ॥ २६८ ॥

फाल्गुन मासके कृष्ण पक्षकी एकादशीके दिन उत्तराषाढ़ा नक्षत्रमें भगवानको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था ॥ २६८ ॥

भगवति जितमोहे केवलज्ञानलक्ष्म्या प्रवृद्धरुचिराशे प्राणमन् भक्तिभारात् । नभसि जयनिनादो
विश्वदिक्कं जजुम्भे सुरपटहरवैर्वारुदमासीत् समन्तात् ॥ २६९ ॥

मोहरूपी शत्रुको जीतनेवाले भगवान् वृषभदेव ज्यों ही केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीसे देदीप्यमान हुए त्यों ही समस्त इन्द्र भक्तिके भारसे नम्रीभूत हो गये अर्थात् उन्होंने भगवानको सिर झुकाकर नमस्कार किया, आकाशमें सभी ओर जय-जय शब्द बढ़ने लगा और आकाशका विवर देवोंके नगाड़ोंके शब्दोंसे व्याप्त हो गया ॥ २६९ ॥

सुरतरुकुसुमानां वृष्टिरापत्तदुच्चैर्भ्रमरमुखरितोद्देशा रयन्ती दिगन्तान् । वरकमलतरङ्गिर्नभसां विमानैर्गगनजलधिरुच्चैरिव बभौ समन्तात् ॥ २७० ॥

उसी समय भ्रमरोंके शब्दोंसे आकाशको शब्दायमान करती हुई तथा दिशाओंके अन्तको संकुचित करती हुई कल्पवृक्षके पुष्पोंकी वर्षा बड़े ऊँचेसे होने लगी और विरल-विरल रूपसे उतरते हुए देवोंके विमानोंसे आकाशरूपी समुद्र ऐसा हो गया मानो उसमें चारों ओर नौकाएँ ही तैर रही हों ॥ २७० ॥

मदकलरुतभृङ्गान्वितः स्निग्धः शीतः शिशिरतरतरङ्गानास्पृशन् मातरिश्वा । धुतसुरभिवनान्तःपद्मकिञ्जल्कबन्धुर्मृदुतरमभितो वाति व्यानशे दिङ्मुखानि ॥ २७१ ॥

उसी समय मदसे मनोहर शब्द करनेवाले भ्रमरोंसे सहित, सुरतरंगिणी नदीकी अत्यन्त शीतल तरंगोंका स्पर्श करता हुआ और खिले हुए सुगन्धित वनके मध्य भागमें स्थित कमलोंकी परागसे भरा हुआ वायु चारों ओर धीरे-धीरे बहता हुआ दिशाओंमें व्याप्त हो रहा था ॥ २७१ ॥

युगपदथ नभस्तोऽनभ्रे मन्दवृष्टिपातो विरजति तदा स्म प्राङ्गणं लोकनाड्याः । समवसरणभूमेः शोधना येन नूनं वितितसलिलबिन्दुबिन्दवो भान्तु जिनेशः ॥ २७२ ॥

जिस समय यह सब हो रहा था उसी समय आकाशसे बादलोंके बिना ही होनेवाली मन्द-मन्द वृष्टि लोकनाड़ीके आँगनको धूलिरहित कर रही थी। उस वृष्टिकी बूँदें चारों ओर फैल रही थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो जगत्के स्वामी वृषभ-जिनेन्द्रके समवसरणकी भूमिको शुद्ध करनेके लिए ही फैल रही हों ॥ २७२ ॥

त्रैलोक्यहृष्टिकरमुत्तममुत्तमोऽसौ प्रमोदं वितन्वन्नुद्भूतकेवलरविर्महाप्रभाभिः । आसीज्जगज्जनहिताय जिनाधिपत्यप्रख्यापकः सपदि तीर्थकरानुभावः ॥ २७३ ॥

इस प्रकार उस समय भगवान् वृषभदेवरूपी उदयाचलपर उत्पन्न हुआ केवलज्ञानरूपी सूर्य जगत्के जीवोंके हितके लिए हुआ था। वह केवलज्ञानरूपी सूर्य तीनों लोकोंमें आनन्दको विस्तृत कर रहा था, जिनेन्द्र भगवानके आधिपत्यको प्रसिद्ध कर रहा था और उनके तीर्थंकरोचित प्रभावको प्रकट कर रहा था ॥ २७३ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवत्कैवल्योत्पत्तिवर्णने नाम विंशतितमं पर्व ॥ २० ॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें भगवानके कैवल्योत्पत्तिका वर्णन करनेवाला बीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ २० ॥

आदिपुराण - पर्व २१ (श्लोक १ - ७२)

> अथातः श्रेणिको राजा प्रणिपत्य स गौतमम् । भगवन् बोद्धुमिच्छामि तत्त्वं ध्यानस्य विस्तरम् ॥ १ ॥

अथानन्तर—श्रेणिक राजाने नम्र होकर महामुनि गौतम गणधरसे पूछा कि हे भगवन्, मैं आपसे ध्यानका विस्तार जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

> किमस्य लक्षणं योगिन् के भेदाः किं च निर्णयः । किं स्वामिकं कियत्कालं किं हेतुः फलमप्यदः ॥ २ ॥

हे योगिराज, इस ध्यानका लक्षण क्या है? इसके कितने भेद हैं? इसकी निरुक्ति (शब्दार्थ) क्या है? इसके स्वामी कौन हैं? इसका समय कितना है? इसका हेतु क्या है? और इसका फल क्या है? ॥ २ ॥

> कोऽस्य भावो भवेत् किं वा स्यादधिष्ठानमीशितुः । भेदानां कानि नामानि कश्चैषामर्थनिश्चयः ॥ ३ ॥

हे स्वामिन्, इसका भाव क्या है? इसका आधार क्या है? इसके भेदोंके क्या-क्या नाम हैं? और उन सबका क्या-क्या अभिप्राय है? ॥ ३ ॥

> किमालम्बनमेतस्य बलाधानं च किं भवेत् । आचक्ष्व सर्वमेवैतद् विदुषां वदतां वर ॥ ४ ॥

इसका आलम्बन क्या है और इसमें बल पहुँचानेवाला क्या है? हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ, यह सब मैं जानना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

> सर्वसाधनसाध्यं यद्ध्यानं मोक्षस्य साधने । तस्याशेषं भगवन् ब्रूहि यद् गोप्यं यतीशिनाम् ॥ ५ ॥

मोक्षके साधनोंमें ध्यान ही सबसे उत्तम साधन माना गया है इसलिए हे भगवन्, इसका यथार्थ स्वरूप कहिए जो कि बड़े-बड़े मुनियोंके लिए भी गोप्य है ॥ ५ ॥

> इति पृष्टवते राज्ञे सद्ध्यानात् गौतमोऽब्रवीत् । प्रसरद्दशनांशुभिर्जलयन्निव तत्तनुम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार पूछनेवाले राजा श्रेणिकसे भगवान् गौतमगणधर अपने दाँतोंकी फैली हुई किरणोंरूपी जलसे उसके शरीरका अभिषेक करते हुए कहने लगे— ॥ ६ ॥

> यत्कर्मक्षपणे कार्ये साधनं परमं तपः । तन्मे ध्यानं सम्यगनुशास्मि यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

कि हे राजन्, जो कर्मोंके क्षय करनेरूप कार्यका मुख्य साधन है ऐसे ध्यान नामके उत्कृष्ट तपका मैं तुम्हारे लिए आगमके अनुसार अच्छी तरह उपदेश देता हूँ ॥ ७ ॥

> ऐकाग्र्येण निरोधो यच्चित्तस्यैकत्र वस्तुनि । ध्यानं तदङ्गिनां शस्तं स्यादाऽन्तर्मुहूर्ततः ॥ ८ ॥

एकाग्र होकर किसी एक ही वस्तुमें जो चित्तका निरोध कर लिया जाता है उसे ध्यान कहते हैं। वह ध्यान वज्रवृषभनाराचसंहननवालोंके अधिकसे-अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है ॥ ८ ॥

> स्थिरमध्यवसायं यत्तद्ध्यानं यच्चलाचलम् । सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव वा ॥ ९ ॥

जो चित्तका परिणाम स्थिर होता है उसे ध्यान कहते हैं और जो चञ्चल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिन्ता, भावना अथवा चित्त कहते हैं ॥ ९ ॥

> छद्मस्थेषु भवेदेतल्लक्षणं विश्वदर्शनाम् । योगास्रवस्य संरोधे ध्यानत्वमुपचर्यते ॥ १० ॥

यह ध्यान छद्मस्थ अर्थात् बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों तकके होता है और तेरहवें गुणस्थानवर्ती सर्वज्ञ देवके भी योगके बलसे होनेवाले आस्रवका निरोध करनेके लिए उपचारसे माना जाता है ॥ १० ॥

स्वबुद्ध्याधीनवृत्ति स्याद् यत्तद्ध्यानं प्रचक्षते । यथार्थमभिसंधायोपध्यायेदपि यत्तथा ॥ ११ ॥

ध्यानके स्वरूपको जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुष ध्यान उसीको कहते हैं जिसकी वृत्ति अपने बुद्धि-बलके अधीन होती है क्योंकि ऐसा ध्यान ही यथार्थमें ध्यान कहा जा सकता है, इससे विपरीत ध्यान अपध्यान कहलाता है ॥ ११ ॥

योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तनिग्रहः । अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः प्रकीर्तिताः ॥ १२ ॥

योग, ध्यान, समाधि, धीरोध अर्थात् बुद्धिकी चञ्चलता रोकना, स्वान्तनिग्रह अर्थात् मनको वशमें करना, और अन्तःसंलीनता अर्थात् आत्माके स्वरूपमें लीन होना आदि सब ध्यानके ही पर्यायवाची शब्द हैं—ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं ॥ १२ ॥

ध्यायत्यर्थाननेनेति ध्यानं करणसाधनम् । ध्यायतीति कर्तृवाच्यं स्वातन्त्र्यस्यापि संभवात् ॥ १३ ॥

आत्मा जिस परिणामसे पदार्थोंका चिन्तवन करता है उस परिणामको ध्यान कहते हैं यह करण-साधनकी अपेक्षा ध्यान शब्दकी निरुक्ति है। आत्माका जो परिणाम पदार्थोंका चिन्तवन करता है उस परिणामको ध्यान कहते हैं यह कर्तृ-वाच्यकी अपेक्षा ध्यान शब्दकी निरुक्ति है क्योंकि जो परिणाम पहले आत्मा रूप कर्ताके परतन्त्र होकर करण कहलाता था वही अब स्वतन्त्र होकर कर्ता कहा जा सकता है ॥ १३ ॥

भावमात्रामिधित्सायां ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते । शक्तिभेदाद् विभिन्नात्मा ग्रहीतॄन् प्रति भात्ययम् ॥ १४ ॥

और भाव-वाच्यकी अपेक्षा करनेपर चिन्तवन करना ही ध्यानकी निरुक्ति है। इस प्रकार शक्तियोंके भेदसे आत्माके अनेक भेद हो जाते हैं इसलिए ग्रहण करनेवालोंको यह आत्मा अनेक प्रकारका भासता है ॥ १४ ॥

यद्यपि ज्ञानपर्यायो ध्यायते ध्येयगोचरः । तथाप्येकाग्रसंदृष्टौ धर्मो बोधादि वान्यताम् ॥ १५ ॥

यद्यपि ध्येय पदार्थको जाननेवाली आत्माकी ज्ञानपर्याय ही ध्यान कहलाती है तथापि ज्ञानमें और ध्यानमें थोड़ा-सा अन्तर है। जब ज्ञान किसी एक ही पदार्थके चिन्तवनमें निश्चल हो जाता है तब वही ज्ञान ध्यान कहलाने लगता है ॥ १५ ॥

मतिज्ञानान्तरोद्भूतं संप्रधार्य यथागमम् । मनोध्यानं तदाहुस्तद्यत् साक्षादिन्द्रियैः स्मृतम् ॥ १६ ॥

और वह ध्यान मतिज्ञानसे ही उत्पन्न होता है ऐसा आगमके अनुसार निश्चय कर मनके द्वारा चिन्तवन करनेको ही मनोध्यान कहते हैं, जो कि प्रत्यक्ष इन्द्रियोंके द्वारा नहीं जाना जा सकता ॥ १६ ॥

यद्वा श्रुतसमुद्भूतं शब्दार्थविषयं च यत् । श्रुतज्ञानं समासाद्य ध्यानं वा तत्प्रचक्षते ॥ १७ ॥

अथवा जो श्रुतज्ञानसे उत्पन्न हुआ है, शब्द और अर्थ दोनोंको ही विषय करता है, ऐसे श्रुतज्ञानको पाकर जो चिन्तवन होता है उसे भी विद्वान् पुरुष ध्यान कहते हैं ॥ १७ ॥

चित्तस्य निश्चला वृत्तिस्तन्मात्रस्यावभासनम् । संप्रज्ञायत इत्येतत् समाधिः संप्रजायते ॥ १८ ॥

जिस समय चित्तकी निश्चल वृत्ति केवल अपने आत्म-स्वरूपको ही प्रकाशित करती है और उस समय केवल आत्म-स्वरूपका ही अनुभव होता है उस समय वह ध्यान सम्प्रज्ञात समाधि कहलाता है ॥ १८ ॥

निर्विकल्पं तु संजातं ध्येयाकारावभासनम् । असंप्रज्ञातमित्येतत् समाधिः संप्रकीर्त्यते ॥ १९ ॥

और जब ध्येय पदार्थके आकारका ज्ञान भी दूर हो जाता है अर्थात् जब समस्त विकल्पोंका अभाव होकर ध्यान होता है तब वह असम्प्रज्ञात समाधि कहलाता है ॥ १९ ॥

संप्रज्ञातोऽपि शस्तोऽयमसंप्रज्ञात उत्तमः । संप्रज्ञातविकल्पानां विनाशस्तत्र लक्ष्यते ॥ २० ॥

इन दोनोंमें-से सम्प्रज्ञात समाधि भी प्रशस्त माना गया है और असम्प्रज्ञात समाधि तो सर्वोत्तम है ही क्योंकि उसमें सम्प्रज्ञात समाधिके भी सब विकल्पोंका विनाश देखा जाता है ॥ २० ॥

यच्चेतसो विकल्पत्वं संकल्पाच्च विवर्धितम् । दुष्प्रणिधानमित्याहुस्तत्प्रसङ्गविचेष्टितम् ॥ २१ ॥

चित्तमें जो अनेक प्रकारके विकल्प उठते हैं वे सब संकल्पके द्वारा ही बढ़ते हैं, इसीको विद्वान् लोग दुष्प्रणिधान कहते हैं— ॥ २१ ॥

ततः स्यादपध्यानं दुर्मतैरनुचिन्तितम् । यस्योदयादयं लोके भवेद् दुर्गतिकातरः ॥ २२ ॥

और ऐसे दुष्प्रणिधानके सम्बन्धसे खोटे चित्तवाले पुरुषोंके द्वारा चिन्तवन किया हुआ अपध्यान होता है जिसके उदयसे यह प्राणी नरक आदि खोटो गतियोंमें दुःख पाकर कातर होता है ॥ २२ ॥

संकल्पं प्रतिजानीयाद् वृत्तिं विषयकाङ्क्षिणीम् । स चाभिनिवेशोऽपि मूढैरनुविधीयते ॥ २३ ॥

विषयोंकी इच्छा करनेवाली जो मनकी वृत्ति है उसे संकल्प जानना चाहिए और मूढ़ पुरुष ही उस संकल्पको धारण करते हैं ॥ २३ ॥

इष्टानिष्टविकल्पेन मोहमेति विमूढधीः । ततो रागादयो भावा दुर्भेदाश्चापि कर्मणः ॥ २४ ॥

संकल्प-विकल्पके वशीभूत हुआ मूर्ख प्राणी पदार्थोंको इष्ट-अनिष्ट समझने लगता है, उससे उसके रागादि भाव उत्पन्न होते हैं और उससे जो कठिनतासे छूट सके ऐसे कर्मबन्धको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

तस्माद् दुष्प्रणिधानं हि संकल्पः समुदीरितः । दुष्प्रणिधानादपध्यानं ततो ध्यानं विवर्जयेत् ॥ २५ ॥

विषयोंमें तृष्णा धारण कर जो मनकी प्रवृत्ति है वह संकल्प कहलाती है, उसी संकल्पको दुष्प्रणिधान कहते हैं और दुष्प्रणिधानसे अपध्यान होता है, इसलिए अपध्यानको छोड़ देना चाहिए ॥ २५ ॥

ततो ध्यानविशुद्ध्यर्थं तत्त्वार्थं भावयेद् बुधः । तत्त्वार्थभावनाज्ज्ञाने शुद्धिर्ध्याने ततो भवेत् ॥ २६ ॥

इसलिए चित्तकी शुद्धिके लिए तत्त्वार्थकी भावना करनी चाहिए क्योंकि तत्त्वार्थकी भावना करनेसे ज्ञानकी शुद्धि होती है और ज्ञानकी शुद्धि होनेसे ध्यानकी शुद्धि होती है ॥ २६ ॥

प्रशस्तमप्रशस्तं च द्विविधं तदुदाहृतम् । शुभाशुभानुध्यानाभ्यां प्रत्येकं च द्विधा स्मृतम् ॥ २७ ॥

शुभ और अशुभ चिन्तवन करनेसे वह ध्यान प्रशस्त तथा अप्रशस्तके भेदसे दो प्रकारका स्मरण किया जाता है। उस प्रशस्त तथा अप्रशस्त ध्यानमें-से भी प्रत्येकके दो-दो भेद हैं। भावार्थ—जो ध्यान शुभ परिणामोंसे किया जाता है

उसे प्रशस्त ध्यान कहते हैं और जो अशुभ परिणामोंसे किया जाता है उसे अप्रशस्त ध्यान कहते हैं। प्रशस्त ध्यानके धर्म्य और शुक्ल ऐसे दो भेद हैं तथा अप्रशस्त ध्यानके आर्त और रौद्र ऐसे दो भेद हैं ॥ २७ ॥

> आर्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति चतुर्विधम् । ध्यानं जिनाधिपैरुक्तं मुनीनामपि संमतम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवानने वह ध्यान आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्लके भेदसे चार प्रकारका वर्णन किया है ॥ २८ ॥

> आद्ये द्वे वर्जनीये स्तो मुमुक्षुभिरपायिनी । संसारसंवृद्धिहेतुत्वाच्छेषे द्वे समुपाश्रयेत् ॥ २९ ॥

इन चारों ध्यानोंमें-से पहले दो अर्थात् आर्त और रौद्र ध्यान छोड़नेके योग्य हैं क्योंकि वे खोटे ध्यान हैं और संसारको बढ़ानेवाले हैं, तथा आगेके दो अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ध्यान मुनियोंको भी ग्रहण करने योग्य हैं ॥ २९ ॥

> स्वानि रूपाणि भेदानां लक्षणानि निरुक्तयः । बलाधानानि चैतेषामधिष्ठानानि चादरात् ॥ ३० ॥

अब इन ध्यानोंके स्वरूप, उनके लक्षण, उनकी निरुक्ति, उनके बलाधान, आधार, काल, भाव और फलका निरूपण करेंगे ॥ ३० ॥

> ऋते भवमथार्तं स्यादार्तध्यानं चतुर्विधम् । इष्टानवाप्त्यनिष्टाप्तिनिदानासातहेतुकम् ॥ ३१ ॥

जो ऋत अर्थात् दुःखमें हो वह पहला आर्तध्यान है, वह चार प्रकारका होता है—पहला इष्ट वस्तुके न मिलनेसे, दूसरा अनिष्ट वस्तुके मिलनेसे, तीसरा निदानसे और चौथा रोग आदिके निमित्तसे उत्पन्न हुआ ॥ ३१ ॥

> विप्रयोगे मनोज्ञस्य तत्संयोगानुचिन्तनम् । अमनोज्ञार्थसंयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम् ॥ ३२ ॥

किसी इष्ट वस्तुके वियोग होनेपर उसके संयोगके लिए बार-बार चिन्तवन करना सो पहला आर्तध्यान है। इसी प्रकार किसी अनिष्ट वस्तुके संयोग होनेपर उसके वियोगके लिए निरन्तर चिन्तवन करना सो दूसरा आर्तध्यान है ॥ ३२ ॥

निदानं भोगकाङ्क्षोत्थं संक्लिष्टस्यान्यभोगतः । स्मृत्यविच्छिन्नकरणं तद्वेदनात्तस्य चेष्टितम् ॥ ३३ ॥

भोगोंकी आकांक्षासे जो ध्यान होता है वह तीसरा निदान नामका आर्तध्यान कहलाता है। यह ध्यान दूसरे पुरुषोंकी भोगोपभोगकी सामग्री देखनेसे संक्लिष्ट परिणामी जीवके होता है और किसी वेदनासे पीड़ित मनुष्यका उस वेदनाको नष्ट करनेके लिए जो बार-बार चिन्तवन होता है वह चौथा आर्तध्यान कहलाता है ॥ ३३ ॥

ऋते विना मनोज्ञार्थादभवदिष्टवियोगजम् । निदानप्रत्ययं चैवमप्राप्तैश्वर्यचिन्तनात् ॥ ३४ ॥

इष्ट वस्तुओंके बिना व्याकुलताके समय जो ध्यान होता है वह इष्टवियोगज नामका पहला आर्तध्यान कहलाता है, इसी प्रकार प्राप्त नहीं हुए इष्ट पदार्थके चिन्तवनसे जो आर्तध्यान होता है वह निदानप्रत्यय नामका तीसरा आर्तध्यान कहलाता है ॥ ३४ ॥

प्राप्ते चाभिमुखायाते भवेत्तद्वच्चतुष्टयम् । भवेच्चतुर्थमप्येवं वेदनोपगमोद्भवम् ॥ ३५ ॥

अनिष्ट वस्तुके संयोगके होनेपर जो ध्यान होता है वह अनिष्टसंयोगज नामका दूसरा आर्तध्यान कहलाता है और वेदना उत्पन्न होनेपर जो ध्यान होता है वह वेदनोपगमोद्भव नामका चौथा आर्तध्यान कहलाता है ॥ ३५ ॥

प्राप्त्यप्राप्त्योर्मनोज्ञेतरार्थयोः स्मृतियोजने । निदानवेदनापायविषये चानुचिन्तने ॥ ३६ ॥

इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए, अनिष्ट वस्तुकी अप्राप्तिके लिए, भोगोपभोगकी इच्छाके लिए और वेदना दूर करनेके लिए जो बार-बार चिन्तवन किया जाता है उसी समय ऊपर कहा हुआ चार प्रकारका आर्तध्यान होता है ॥ ३६ ॥

इत्युक्तमार्तमार्तात्मचिन्त्यं ध्यानं चतुर्विधम् । प्रमादाधिष्ठितं षष्ठगुणस्थानगतं विदुः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार आर्त अर्थात् पीड़ित आत्मावाले जीवोंके द्वारा चिन्तवन करने योग्य चार प्रकारके आर्तध्यानका निरूपण किया। यह कषाय आदि प्रमादसे अधिष्ठित होता है और प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थान तक होता है ॥ ३७ ॥

अप्रशस्तत्रिलेश्याश्रयोपेतं विजृम्भितम् । अन्तर्मुहूर्तकालं तदप्रशस्तावलम्बनम् ॥ ३८ ॥

यह चारों प्रकारका आर्तध्यान अत्यन्त अशुभ, कृष्ण, नील और कापोत लेश्याका आश्रय कर उत्पन्न होता है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त है और आलम्बन अशुभ है ॥ ३८ ॥

> क्षायोपशमिकोऽस्य स्याद् भावस्तिर्यग्गतिः फलम् । दुर्ध्यानमार्ताख्यं हेयं श्रेयोऽर्थिनामिदम् ॥ ३९ ॥

इस आर्तध्यानमें क्षायोपशमिक भाव होता है और तिर्यञ्च गति इसका फल है, इसलिए यह आर्त नामका खोटा ध्यान कल्याण चाहनेवाले पुरुषों-द्वारा छोड़ने योग्य है ॥ ३९ ॥

> अतिप्रसङ्गो वस्तौ स्यात् कौशील्यं कृतघ्नता । अतिलोभो भयोद्वेगानुशोकाश्चास्य लिङ्गिनः ॥ ४० ॥

परिग्रहमें अत्यन्त आसक्त होना, कुत्सित रूप प्रवृत्ति करना, कृतघ्नता करना, व्याज लेकर आजीविका करना, अत्यन्त लोभ करना, भय करना, उद्वेग करना और अतिशय शोक करना ये आर्तध्यानके चिह्न हैं ॥ ४० ॥

> दृश्यते च क्षिप्रमस्य गात्रग्लानिर्विवर्णता । हस्तन्यस्तकपोलत्वं साश्रुतान्यच्च तादृशम् ॥ ४१ ॥

इसी प्रकार शरीरका क्षीण हो जाना, शरीरकी कान्ति नष्ट हो जाना, हाथोंपर गाल रखकर चिन्ता करना, आँसू ढालना तथा इसी प्रकार और-और भी अनेक कार्य आर्तध्यानके बाह्य चिह्न कहलाते हैं ॥ ४१ ॥

> प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः क्रूरः सर्वत्र हिंस्रकः । पुमांस्तत्र भवं विद्धि ध्यानं रौद्रं चतुर्विधम् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार आर्तध्यानका वर्णन पूर्ण हुआ, अब रौद्र ध्यानका निरूपण करते हैं—जो पुरुष प्राणियोंको रुलाता है वह रुद्र, क्रूर अथवा सब जीवोंमें हिंसक कहलाता है ऐसे पुरुषमें जो ध्यान होता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं, वह रौद्रध्यान भी चार प्रकारका होता है ॥ ४२ ॥

> हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयसंरक्षणात्मकम् । रौद्रं तद्गुणस्थानात् प्राक् पञ्चगुणभूमिकम् ॥ ४३ ॥

हिंसानन्द अर्थात् हिंसामें आनन्द मानना, मृषानन्द अर्थात् झूठ बोलनेमें आनन्द मानना, स्तेयानन्द अर्थात् चोरी करनेमें आनन्द मानना और संरक्षणानन्द अर्थात् परिग्रहकी रक्षामें ही रात-दिन लगा रहकर आनन्द मानना ये रौद्रध्यानके चार भेद हैं। यह ध्यान छठे गुणस्थानके पहले-पहले पाँच गुणस्थानोंमें होता है ॥ ४३ ॥

उत्कृष्टवरदुर्लेश्याश्रयोपेतं विजृम्भितम् । अन्तर्मुहूर्तकालोत्थं क्षायोपशमिकं मतम् ॥ ४४ ॥

यह रौद्रध्यान अत्यन्त अशुभ, कृष्ण आदि तीन खोटी लेश्याओंके बलसे उत्पन्न होता है, अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है और पहले आर्तध्यानके समान इसका क्षायोपशमिक भाव होता है ॥ ४४ ॥

वधबन्धाभिसंधानमङ्गच्छेदोपतापने । दण्डपारुष्यमित्यादि हिंसानन्दः स्मृतो बुधैः ॥ ४५ ॥

मारने और बाँधने आदिकी इच्छा रखना, अंग-उपांगोंको छेदना, संताप देना तथा कठोर दण्ड देना आदिको विद्वान् लोग हिंसानन्द नामका रौद्रध्यान कहते हैं ॥ ४५ ॥

हिंसानन्दं समाधाय हिंस्रः प्राणिषु निर्घृणः । हिनस्त्यात्मानमेव प्राक् पश्चाद्धन्त्यथ वा परान् ॥ ४६ ॥

जीवोंपर दया न करनेवाला हिंसक पुरुष हिंसानन्द नामके रौद्रध्यानको धारण कर पहले अपने-आपका घात करता है पीछे अन्य जीवोंका घात करे अथवा न करे। भावार्थ—अन्य जीवोंका मारा जाना उनके आयु कर्मके अधीन है परन्तु मारनेका संकल्प करनेपर हिंसक पुरुष तीव्र कषाय उत्पन्न होनेसे अपने आत्माकी हिंसा अवश्य कर लेता है अर्थात् अपने क्षमा आदि गुणोंको नष्ट कर भाव हिंसाका अपराधी अवश्य हो जाता है ॥ ४६ ॥

तन्दुलमत्स्यः किलैकः स्यात् स्वयम्भूरमणाम्बुधौ । महामत्स्यसमान्दोषानवाप स्मृतिदोषतः ॥ ४७ ॥

स्वयम्भूरमण समुद्रमें जो तन्दुल नामका छोटा मत्स्य रहता है वह केवल स्मृतिदोषसे ही महामत्स्यके समान दोषोंको प्राप्त होता है। भावार्थ—राघव मत्स्यके कानमें जो तन्दुल मत्स्य रहता है वह यद्यपि जीवोंकी हिंसा नहीं कर पाता है केवल बड़े मत्स्यके मुखविवरमें आये हुए जीवोंको देखकर उसके मनमें उन्हें मारनेका भाव उत्पन्न होता है तथापि वह उस भाव-हिंसाके कारण मरकर राघव मत्स्यके समान ही सातवें नरकमें जाता है ॥ ४७ ॥

पुरा किलारविन्दाख्यः खचरो विद्याधराधिपः । रुधिरस्नानतौर्यस्यात् नरकं स विवेश ह ॥ ४८ ॥

इसी प्रकार पूर्वकालमें अरविन्द नामका प्रसिद्ध विद्याधर केवल रुधिरमें स्नान करने रूप रौद्र ध्यानसे ही नरक गया था ॥ ४८ ॥

> आनृशंस्यं हिंसोपकरणादानतत्कथाः । निसर्गहिंस्रता चेति लिङ्गान्यस्य स्मृतानि वै ॥ ४९ ॥

क्रूर होना, हिंसाके उपकरण तलवार आदिको धारण करना, हिंसाकी ही कथा करना और स्वभावसे ही हिंसक होना ये हिंसानन्द रौद्रध्यानके चिह्न माने गये हैं ॥ ४९ ॥

> मृषानन्दो मृषावादैरतिसंधानचिन्तनम् । वाक्पारुष्यादिलिङ्गं तद् द्वितीयं रौद्रमिष्यते ॥ ५० ॥

झूठ बोलकर लोगोंको धोखा देनेका चिन्तवन करना सो मृषानन्द नामका दूसरा रौद्रध्यान है तथा कठोर वचन बोलना आदि इसके बाह्य चिह्न हैं ॥ ५० ॥

> स्तेयानन्दः परद्रव्यहरणे स्मृतियोजनम् । भवेत् संरक्षणानन्दः स्मृत्यर्थार्जनादिषु ॥ ५१ ॥

दूसरेके धनका हरण करने अर्थात् चोरी करनेमें अपना चित्त लगाना—उसीका चिन्तवन करना सो स्तेयानन्द नामका तीसरा रौद्रध्यान है और धनके उपार्जन करने आदिका चिन्तवन करना सो संरक्षणानन्द नामका चौथा रौद्रध्यान है (संरक्षणानन्दका दूसरा नाम परिग्रहानन्द भी है) ॥ ५१ ॥

> प्रतीतव्यतिकरावेतौ दुर्ध्यानौ भुवि । नारकं दुःखमस्याहुः फलं रौद्रस्य दुस्तरम् ॥ ५२ ॥

स्तेयानन्द और संरक्षणानन्द इन दोनों रौद्रध्यानोंके बाह्य चिह्न संसारमें प्रसिद्ध हैं। गणधरदेवने इस रौद्रध्यानका फल अतिशय कठिन नरकगतिके दुःख प्राप्त होना बतलाया है ॥ ५२ ॥

> भ्रूकुटी कुटिला चास्य वक्त्रस्य मुखविक्रियाम् । प्रस्वेदमङ्गकम्पं च नेत्रयोश्चातिताम्रताम् ॥ ५३ ॥

भौंह टेढ़ी हो जाना, मुखका विकृत हो जाना, पसीना आने लगना, शरीर कँपने लगना और नेत्रोंका अतिशय लाल हो जाना आदि रौद्रध्यानके बाह्य चिह्न कहलाते हैं ॥ ५३ ॥

> अनादिसंस्कारवशात् स्यादेतद् दुर्ध्यानद्वयं स्वतः । अनादिवासनोद्भूतमतो तद्विसृजेन्मुनिः ॥ ५४ ॥

अनादिकालकी वासनासे उत्पन्न होनेवाले ये दोनों (आर्त और रौद्र) ध्यान बिना प्रयत्नके ही हो जाते हैं इसलिए मुनियोंको इन दोनोंका ही त्याग करना चाहिए ॥ ५४ ॥

> ध्यानद्वयं विसृज्याधमसंस्तुतं संसारकारणम् । यदुत्तरं शुभं ध्यानं मुनिनाभ्यसितुमिष्यते ॥ ५५ ॥

संसारके कारणस्वरूप पहले कहे हुए दोनों खोटे ध्यानोंका परित्याग कर मुनि लोग आगे कहे जानेवाले जिन दो ध्यानोंका अभ्यास करते हैं वे उत्तम हैं– ॥ ५५ ॥

> तस्य परिकर्मेष्टं देशाद्यवस्थापेक्षया । बहिःसामग्र्यधीनं हि फलमत्र द्वयात्मकम् ॥ ५६ ॥

देश तथा अवस्था आदिकी अपेक्षा रखते हैं, बाह्य सामग्रीके अधीन हैं और इन दोनोंका फल भी गौण तथा मुख्यकी अपेक्षा दो प्रकारका है ॥ ५६ ॥

> शून्यागारे श्मशाने वा जरदुद्यानकेऽपि वा । सरित्पुलिनगिर्यग्रगह्वरे वृक्षमूलके ॥ ५७ ॥

अध्यात्मके स्वरूपको जाननेवाला मुनि, सूने घरमें, श्मशानमें, जीर्ण वनमें, नदीके किनारे, पर्वतके शिखरपर, गुफामें, वृक्षकी कोटरमें– ॥ ५७ ॥

> शुचावन्यतमे देशे चित्तहारिण्यपातके । नात्युष्णशिशिरे नापि प्रवृद्धततमारुते ॥ ५८ ॥

अथवा और भी किसी ऐसे पवित्र तथा मनोहर प्रदेशमें, जहाँ आतप न हो, अतिशय गर्मी और सर्दी न हो, तेज वायु न चलता हो– ॥ ५८ ॥

> निरालोके ससूक्ष्मजन्तुभिरनुपद्रुते । जलसंपातनिर्मुक्ते मन्दमन्दनभस्वति ॥ ५९ ॥

वर्षा न हो रही हो, सूक्ष्म जीवोंका उपद्रव न हो, जलका प्रपात न हो और मन्द-मन्द वायु बह रही हो– ॥ ५९ ॥

> पर्यङ्कमासनं बद्ध्वा सुसन्निविष्टो महीतले । सममृज्वायतं बिभ्रद्गात्रमस्तब्धवृत्तिकम् ॥ ६० ॥

पर्यङ्क आसन बाँधकर पृथिवीतलपर विराजमान हो, उस समय अपने शरीरको सम, सरल और निश्चल रखे— ॥ ६० ॥

> स्वपर्यङ्के करे वामे न्यस्योत्तानं पुनः । तस्योपरितरं पाणिमपि विन्यस्य तत्समम् ॥ ६१ ॥

अपने ऊपर बाँया हाथ इस प्रकार रखे कि जिससे उसकी हथेली ऊपरकी ओर हो, इसी प्रकार दाहिने हाथको भी बाँया हाथपर रखे— ॥ ६१ ॥

> नात्युन्मिषन्न चात्यन्तं निमिषन्मन्दमुच्छ्वसन् । दन्तैर्दन्ताग्रसंधानपरो धीरो यतात्मवान् ॥ ६२ ॥

आँखोंको न तो अधिक खोले ही और न अधिक बन्द ही रखे, धीरे-धीरे उच्छ्वास ले, ऊपर और नीचेकी दोनों दाँतोंकी पंक्तियोंको मिलाकर रखे और धीर-वीर हो मनकी स्वच्छन्द गतिको रोके— ॥ ६२ ॥

> हृदि मूर्ध्नि ललाटे वा नाभौ परत्र वा । स्वाभ्यासाद् विनिवेश्य चित्तं निधायाध्यात्मविन्मुनिः ॥ ६३ ॥

फिर अपने अभ्यासके अनुसार मनको हृदयमें, मस्तकपर, ललाटमें, नाभिके ऊपर अथवा और भी किसी जगह रखकर — ॥ ६३ ॥

> ध्यायेद् द्रव्यादियाथात्म्यमागमार्थानुसारतः । परीषहोत्थिता बाधाः सहमानो निराकुलः ॥ ६४ ॥

परीषहोंसे उत्पन्न हुई बाधाओंको सहता हुआ निराकुल हो आगमके अनुसार जीव-अजीव आदि द्रव्योंके यथार्थस्वरूपका चिन्तवन करे ॥ ६४ ॥

> प्राणायामेऽतितीव्रे स्याद् वशस्याप्यनिलाकुलं मनः । व्याकुलस्य समाधानमगाद् ध्यानसंप्लवः ॥ ६५ ॥

अतिशय तीव्र प्राणायाम होनेसे अर्थात् बहुत देर तक श्वासोच्छ्वासके रोक रखनेसे इन्द्रियोंको पूर्ण रूपसे वशमें न करनेवाले पुरुषका मन व्याकुल हो जाता है। जिसका मन व्याकुल हो गया है उसके चित्तकी एकाग्रता नष्ट हो जाती है और ऐसा होनेसे उसका ध्यान भी छूट जाता है ॥ ६५ ॥

> अपि त्यक्ततनोरप्यस्य समाधिप्रतिपत्तये । मन्दोच्छ्वासनिमेषादिवृत्तेर्नास्तीति निवारणम् ॥ ६६ ॥

इसलिए शरीरसे ममत्व छोड़नेवाले मुनिके ध्यानकी सिद्धिके लिए मन्द उच्छ्वास लेना और पलकोंके लगने, उघड़ने आदिका निषेध नहीं है ॥ ६६ ॥

> समावस्थितकायस्य स्यात् समाधानमञ्जसा । दुःस्थिताङ्गस्य तत्त्यागाद् भवेदाकुलता धियः ॥ ६७ ॥

ध्यानके समय जिसका शरीर समरूपसे स्थित होता है अर्थात् ऊँचा-नीचा नहीं होता है उसके समाधान अर्थात् चित्तकी स्थिरता रहती है और जिसका शरीर विषम रूपसे स्थित है उसके समाधानका भंग हो जाता है और समाधानके भंग हो जानेसे बुद्धिमें आकुलता उत्पन्न हो जाती है– ॥ ६७ ॥

> ततो यथोक्तपल्यङ्कलक्षणासनमास्थितः । ध्यानाभ्यासं समादध्याद् योगी व्याक्षेपमुत्सृजन् ॥ ६८ ॥

इसलिए मुनियोंको ऊपर कहे हुए पर्यङ्क आसनसे बैठकर और चित्तकी चञ्चलता छोड़कर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए ॥ ६८ ॥

> पल्यङ्क इव दिध्यासोः कायोत्सर्गोऽपि शस्यते । समप्रयुक्तसर्वाङ्गो द्वादशदोषवर्जितः ॥ ६९ ॥

ध्यान करनेकी इच्छा करनेवाले मुनिको पर्यङ्क आसनके समान कायोत्सर्ग आसन करनेकी भी आज्ञा है। कायोत्सर्गके समय शरीरके समस्त अंगोंको सम रखना चाहिए और आचार ग्रन्थमें कहे हुए बत्तीस दोषोंका बचाव करना चाहिए ॥ ६९ ॥

> विसंस्थुलासनस्थस्य गात्रे स्यादवश्यं निग्रहः । तन्निग्रहान्मनःपीडा ततश्च विमनस्कता ॥ ७० ॥

जो मनुष्य ध्यानके समय विषम (ऊँचे-नीचे) आसनसे बैठता है उसके शरीरमें अवश्य ही पीड़ा होने लगती है, शरीरमें पीड़ा होनेसे मनमें खेद होता है और मनमें पीड़ा होनेसे आकुलता उत्पन्न हो जाती है। आकुलता उत्पन्न होनेपर कुछ भी ध्यान नहीं किया जा सकता– ॥ ७० ॥

> विमनाश्च किं ध्यायेत् तस्मादिष्टं सुखासनम् । कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कस्ततोऽन्यद्विषमासनम् ॥ ७१ ॥

इसलिए ध्यानके समय सुखासन लगाना ही अच्छा है। कायोत्सर्ग और पर्यङ्क ये दो सुखासन हैं इनके सिवाय बाकी सब विषम अर्थात् दुःख करनेवाले आसन हैं ॥ ७१ ॥

> तदवस्थाद्वयस्यैव प्राधान्यं ध्यायतो यतेः । प्रायस्तत्रापि पल्यङ्कमानायज्ञाः प्रचक्षते ॥ ७२ ॥

ध्यान करनेवाले मुनिके प्रायः इन्हीं दो आसनोंकी प्रधानता रहती है और उन दोनोंमें भी पर्यङ्क आसन अधिक सुखकर माना जाता है ॥ ७२ ॥

आदिपुराण - पर्व २१ (श्लोक ७३ - १९०)

वज्रकाया महासत्त्वाः सर्वावस्थान्तरस्थिताः । श्रूयन्ते ध्यानयोगेन संप्राप्ताः पदमव्ययम् ॥ ७३ ॥

आगममें ऐसा भी सुना जाता है कि जिनका शरीर वज्रमयी है और जो महाशक्तिशाली हैं ऐसे पुरुष सभी आसनोंसे विराजमान होकर ध्यानके बलसे अविनाशी पद (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं ॥ ७३ ॥

बाहुल्यापेक्षया तस्मादवस्थाद्वयसंग्रहः । शक्तानां तूपसर्गाद्यैस्तपस्यद्भिर्न दुष्यति ॥ ७४ ॥

इसलिए कायोत्सर्ग और पर्यङ्क ऐसे दो आसनोंका निरूपण असमर्थ जीवोंकी अधिकतासे किया गया है। जो उपसर्ग आदिके सहन करनेमें अतिशय समर्थ हैं ऐसे मुनियोंके लिए अनेक प्रकारके आसनोंके लगानेमें दोष नहीं है। भावार्थ—वीरासन, पद्मासन, गोदोहासन, धनुरासन आदि अनेक आसन लगानेसे कायक्लेश नामक तपकी सिद्धि होती अवश्य है, पर हमेशा तप शक्तिके अनुसार ही किया जाता है। यदि शक्ति न रहते हुए भी ध्यानके समय दुःखकर आसन लगाया जाये तो उससे चित्त चंचल हो जानेसे शुद्ध तत्त्व-ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकेगी इसलिए आचार्यने यहाँपर अल्पशक्ति पुरुषोंकी बहुलता देख कायोत्सर्ग और पर्यङ्क ऐसे दो सुखासनोंका वर्णन किया है परन्तु जिनके अधिक शक्ति है, जो शीत-उष्ण आदि परीषहोंके सहन करनेमें समर्थ हैं उन्हें विचित्र-विचित्र प्रकारके आसनोंके लगानेका निषेध भी नहीं किया है। आसन लगाते समय इस बातका स्मरण रखना आवश्यक है कि वह केवल बाह्य प्रदर्शनके लिए न हो किन्तु कायक्लेश तपश्चरणके साथ-साथ ध्यानकी सिद्धिका प्रयोजन होना चाहिए। क्योंकि जैन शास्त्रोंमें मात्र बाह्य प्रदर्शनके लिए कुछ भी स्थान नहीं है और न उस आसन लगानेवालेके लिए कुछ आत्मलाभ ही होता है ॥ ७४ ॥

देहावस्था तु या कापि न भवेद् ध्यानोपरोधिनी । तदवस्थो मुनिर्ध्यायेत् स्थित्वा निषद्याधिशय्य वा ॥ ७५ ॥

अथवा शरीरकी जो-जो अवस्था (आसन) ध्यानका विरोध करनेवाली न हो उसी-उसी अवस्थामें स्थित होकर मुनियोंको ध्यान करना चाहिए। चाहें तो वे बैठकर ध्यान कर सकते हैं, खड़े होकर ध्यान कर सकते हैं और लेटकर भी ध्यान कर सकते हैं ॥ ७५ ॥

> देशादिनियमोऽप्येवं प्रायोवृत्तिव्यपाश्रयः । कृतात्मनां तु सर्वोऽपि देशादिर्ध्यानसिद्धये ॥ ७६ ॥

इसी प्रकार देश आदिका जो नियम कहा गया है वह भी प्रायोवृत्तिको लिये हुए है अर्थात् अल्प शक्तिके धारक ध्यान करनेवालोंके लिए देशादिकका नियम है, पूर्ण शक्तिके धारण करनेवालोंके लिए तो सभी देश और सभी काल आदि ध्यानके साधन हैं ॥ ७६ ॥

> स्त्रीपशुक्लीबसंसक्तरहितं विजनं पुनः । सर्वदैवोधितं स्थानं ध्यानकाले विशेषतः ॥ ७७ ॥

जो स्थान स्त्री, पशु और नपुंसक जीवोंके संसर्गसे रहित हो या एकान्त हो वही स्थान मुनियोंके सदा निवास करनेके योग्य समझा गया है और ध्यानके समय तो विशेष कर ऐसा ही स्थान योग्य समझा जाता है ॥ ७७ ॥

> वसतोऽस्य जनाकीर्णे विषयानभिपश्यतः । बाहुल्यादिन्द्रियार्थानां क्वापि व्यग्रीभवेन्मनः ॥ ७८ ॥

जो मुनि मनुष्योंसे भरे हुए शहर आदिमें निवास करते हैं और निरन्तर विषयोंको देखा करते हैं ऐसे मुनियोंका चित्त इन्द्रियोंके विषयोंकी अधिकता होनेसे कदाचित् व्याकुल हो सकता है ॥ ७८ ॥

> ततो विविक्तशायित्वं वने वासोऽथ योगिनाम् । इति साधारणो मार्गो जिनस्थविरकल्पयोः ॥ ७९ ॥

इसलिए मुनियोंको एकान्त स्थानमें ही शयन करना चाहिए और वनमें ही रहना चाहिए। यह जिनकल्पी और स्थविरकल्पी दोनों प्रकारके मुनियोंका साधारण मार्ग है ॥ ७९ ॥

> इत्यमुष्यां व्यवस्थायां युक्ता धीरास्तु केचन । विहरन्ति जनाकीर्णे शून्ये वा समदर्शिनः ॥ ८० ॥

यद्यपि मुनियोंके निवास करनेके लिए यह साधारण व्यवस्था कही गयी है तथापि कितने ही राग-द्वेषरहित धीर-वीर मुनिराज मनुष्योंसे भरे हुए शहर आदि तथा वन आदि शून्य (निर्जन) स्थानोंमें विहार करते हैं ॥ ८० ॥

न चाहोरात्रसंध्यादिलक्षणः कालपर्ययः । नियतोऽस्यास्ति दिध्यासोस्तद्धनं सार्वकालिकम् ॥ ८१ ॥

इसी प्रकार ध्यान करनेके इच्छुक धीर-वीर मुनियोंके लिए दिन-रात और सन्ध्याकाल आदि काल भी निश्चित नहीं है अर्थात् उनके लिए समयका कुछ भी नियम नहीं है क्योंकि वह ध्यानरूपी धन सभी समयमें उपयोग करने योग्य है अर्थात् ध्यान इच्छानुसार सभी समय किया जा सकता है ॥ ८१ ॥

देशकाले हि चेष्टासु सर्वास्वेव समाहिताः । सिद्धाः सिध्यन्ति सेत्स्यन्ति मात्र तन्निगमोऽस्मत्तः ॥ ८२ ॥

क्योंकि सभी देश, सभी काल और सभी चेष्टाओं (आसनों) में ध्यान धारण करनेवाले अनेक मुनिराज आज तक सिद्ध हो चुके हैं, अब हो रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे इसलिए ध्यानके लिए देश, काल और आसन आदिका कोई खास नियम नहीं है ॥ ८२ ॥

यदा यत्र च यस्मिंश्च यथावस्थो मुनिर्भवेत् । ध्यानमवाप्नुयात् स कालः स च देशः स च तस्य ध्यानावस्था स्मृता मता ॥ ८३ ॥

जो मुनि जिस समय, जिस देशमें और जिस आसनसे ध्यानको प्राप्त हो सकता है उस मुनिके ध्यानके लिए वही समय, वही देश और वही आसन उपयुक्त माना गया है ॥ ८३ ॥

इत्येषा ध्यातुरवस्थेयमिदानीं तस्य कीर्त्यते । ध्येयं ध्यानं फलं चेति ध्यातेत्येतच्चतुष्टयम् ॥ ८४ ॥

इस प्रकार यह ध्यान करनेवालेकी अवस्थाका निरूपण किया। अब ध्यान करनेवालेका स्वरूप, ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थ, ध्यान और ध्यानका फल ये चारों ही पदार्थ निरूपण करने योग्य हैं ॥ ८४ ॥

वज्रसंहननं कायमुद्वहन् बलवत्तरम् । प्रौढशौर्यस्तपोयोगे स्वभ्यस्तश्रुतविस्तरः ॥ ८५ ॥

जो वज्रवृषभनाराचसंहनन नामक अतिशय बलवान् शरीरका धारक है, जो तपश्चरण करनेमें अत्यन्त शूर-वीर है, जिसने अनेक शास्त्रोंका अच्छी तरहसे अभ्यास किया है— ॥ ८५ ॥

दूरोत्सारितदुर्ध्यानो दुर्लेश्याः परिवर्जयन् । लेश्याविशुद्धिमालम्ब्य भावयन्नप्रमत्तताम् ॥ ८६ ॥

जिसने आर्त और रौद्र नामके खोटे ध्यानोंको दूर हटा दिया है, जो अशुभ लेश्याओंसे बचता रहता है, जो लेश्याओंकी विशुद्धिका अवलम्बन कर प्रमादरहित अवस्थाका चिन्तवन करता है— ॥ ८६ ॥

प्रज्ञापारमितो योगी ध्याता स्याद् धीबलान्वितः । सूत्रार्थालम्बनः शान्तः सोढाशेषपरीषहः ॥ ८७ ॥

जो बुद्धिके पारको प्राप्त हुआ है अर्थात् जो अतिशय बुद्धिमान् है, योगी है, जो बुद्धिबलसे सहित है, शास्त्रोंके अर्थका आलम्बन करनेवाला है, जो धीर-वीर है और जिसने समस्त परीषहोंको सह लिया है ऐसे उत्तम मुनिको ध्याता कहते हैं ॥ ८७ ॥

अपि चोद्भूतसंवेगः प्राप्तानिर्वेदभावनः । वैराग्यभावनोत्कर्षात् पश्यन् भोगानतर्पकान् ॥ ८८ ॥

इसके सिवाय जिसके संसारसे भय उत्पन्न हुआ है, जिसे वैराग्यकी भावनाएँ प्राप्त हुई हैं, जो वैराग्य-भावनाओंके उत्कर्षसे भोगोपभोगकी सामग्रीको अतृप्ति करनेवाली देखता है— ॥ ८८ ॥

सन्ज्ञानभावनापास्तमिथ्याज्ञानतमोघनः । विशुद्धदर्शनापोढगाढमिथ्यात्वशल्यकः ॥ ८९ ॥

जिसने सम्यग्ज्ञानकी भावनासे मिथ्याज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट कर दिया है, जिसने विशुद्ध सम्यग्दर्शनके द्वारा गाढ़ मिथ्यात्वरूपी शल्यको निकाल दिया है— ॥ ८९ ॥

क्रियानिःश्रेयसोदर्काः प्रपद्योज्झितदुष्क्रियः । प्रोद्यतः करणीयेषु व्युत्सृष्टाकरणीयकः ॥ ९० ॥

जिसने मोक्षरूपी फल देनेवाली उत्तम क्रियाओंको प्राप्त कर समस्त अशुभ क्रियाएँ छोड़ दी हैं, जो करने योग्य उत्तम कार्योंमें सदा तत्पर रहता है, जिसने नहीं करने योग्य कार्योंका परित्याग कर दिया है— ॥ ९० ॥

व्रतानां प्रत्यनीका ये दोषा हिंसाहतादयः । तानशोषांनिराकृत्य व्रतशुद्धिमुपेयिवान् ॥ ९१ ॥

हिंसा, असत्य आदि जो व्रतोंके विरोधी दोष हैं उन सबको दूर कर जिसने व्रतोंकी परम शुद्धिको प्राप्त किया है— ॥ ९१ ॥

> स्वैरुदारतरैः क्षान्तिमार्दवार्जवलाघवैः । कषायवैरिणस्तीव्रान् क्रोधादीन् विनिवर्तयन् ॥ ९२ ॥

जो अत्यन्त उत्कृष्ट अपने क्षमा, मार्दव, आर्जव और लाघव रूप धर्मोंके द्वारा अतिशय प्रवृद्ध क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायरूपी शत्रुओंका परिहार करता रहता है— ॥ ९२ ॥

> अनित्यानशुचीन् दुःखान् पश्यन् सायाननात्मकान् । वपुरायुर्बलारोग्ययौवनादीन् विकल्पितान् ॥ ९३ ॥

जो शरीर, आयु, बल, आरोग्य और यौवन आदि अनेक पदार्थोंको अनित्य, अपवित्र, दुःखदायी तथा आत्मस्वभावसे अत्यन्त भिन्न देखा करता है— ॥ ९३ ॥

> समुत्सृज्य चिरं रूढान् भावान् रागादिलक्षणान् । भावयन् ज्ञानवैराग्यभावनानवभाविताः ॥ ९४ ॥

जिनका चिरकालसे अभ्यास हो रहा है ऐसे राग, द्वेष आदि भावोंको छोड़कर जो पहले कभी चिन्तवनमें न आयी हुई ज्ञान तथा वैराग्य रूप भावनाओंका चिन्तवन करता रहता है— ॥ ९४ ॥

> भावनाभिरसंमूढो मुनिर्ध्यानस्थिरो भवेत् । ज्ञानदर्शनचारित्रवैराग्योपगताश्च ताः ॥ ९५ ॥

और जो आगे कही जानेवाली भावनाओंके द्वारा कभी मोहको प्राप्त नहीं होता ऐसा मुनि ही ध्यानमें स्थिर हो सकता है। जिन भावनाओंके द्वारा वह मुनि मोहको प्राप्त नहीं होता वे भावनाएँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्यकी भावनाएँ कहलाती हैं ॥ ९५ ॥

> वाचना प्रच्छना चापि चानुप्रेक्षा परिवर्तनम् । सद्धर्मदेशना चेति ज्ञातव्या ज्ञानभावनाः ॥ ९६ ॥

जैन शास्त्रोंका स्वयं पढ़ना, दूसरोंसे पूछना, पदार्थके स्वरूपका चिन्तवन करना, श्लोक आदि कण्ठ करना तथा समीचीन धर्मका उपदेश देना ये पाँच ज्ञानकी भावनाएँ जाननी चाहिए ॥ ९६ ॥

संवेगः प्रशमस्थैर्यमसंमूढत्वमस्मयः । भक्तिः सर्वसत्त्वकृपेति ज्ञेयाः सम्यक्त्वभावनाः ॥ ९७ ॥

संसारसे भय होना, शान्त परिणाम होना, धीरता रखना, मूढ़ताओंका त्याग करना, गर्व नहीं करना, श्रद्धा रखना और दया करना ये सात सम्यग्दर्शनकी भावनाएँ जाननेके योग्य हैं ॥ ९७ ॥

ईर्यादिविषया यत्ना मनोवाक्कायगुप्तयः । परीषहसहिष्णुत्वमिति चारित्रभावनाः ॥ ९८ ॥

चलने आदिके विषयमें यत्न रखना अर्थात् ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पाँच समितियोंका पालन करना, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिका पालन करना तथा परीषहोंको सहन करना ये चारित्रकी भावनाएँ जानना चाहिए ॥ ९८ ॥

विषयेष्वनभिश्वङ्गः कायतत्त्वानुचिन्तनम् । जगत्स्वभावचिन्तेति वैराग्यस्यैव भावनाः ॥ ९९ ॥

विषयोंमें आसक्त न होना, शरीरके स्वरूपका बार-बार चिन्तवन करना, और जगत्के स्वभावका विचार करना ये वैराग्यको स्थिर रखनेवाली भावनाएँ हैं ॥ ९९ ॥

एवं भावयतो नित्यं ज्ञानचर्यादिसंपदि । तत्त्वज्ञस्य विरागस्य भवेदव्याहता मतिः ॥ १०० ॥

इस प्रकार ऊपर कही हुई भावनाओंका चिन्तवन करनेवाले, तत्त्वोंको जाननेवाले और राग-द्वेषसे रहित मुनिकी बुद्धि ज्ञान और चारित्र आदि सम्पदामें स्थिर हो जाती है ॥ १०० ॥

स चतुर्दशपूर्वो वा दशपूर्वधरोऽपि वा । नवपूर्वधरो वा स्याद् ध्याता सम्पूर्णलक्षणः ॥ १०१ ॥

यदि ध्यान करनेवाला मुनि चौदह पूर्वका जाननेवाला हो, दस पूर्वका जाननेवाला हो अथवा नौ पूर्वका जाननेवाला हो तो वह ध्याता सम्पूर्ण लक्षणोंसे युक्त कहलाता है ॥ १०१ ॥

अपि विकलेनापि श्रुतेन ध्याता मुनिसत्तमः । प्रबुद्धधीरधः श्रेण्यो धर्मध्यानस्य सुश्रुतः ॥ १०२ ॥

इसके सिवाय अल्प-श्रुतज्ञानी, अतिशय बुद्धिमान् और श्रेणीके पहले-पहले धर्म्यध्यान धारण करनेवाला उत्कृष्ट मुनि भी उत्तम ध्याता कहलाता है ॥ १०२ ॥

> स एवं लक्षणो ध्याता सामग्रीं प्राप्य भूयसीम् । क्षपकोपशमश्रेण्योरुत्कृष्टं ध्यानमाप्नुयात् ॥ १०३ ॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणोंसे सहित ध्यान करनेवाला मुनि ध्यानकी बहुत-सी सामग्री प्राप्त कर उपशम अथवा क्षपक श्रेणीमें उत्कृष्ट ध्यानको प्राप्त होता है। भावार्थ—उत्कृष्ट ध्यान शुक्लध्यान कहलाता है और वह उपशम अथवा क्षपकश्रेणीमें ही होता है ॥ १०३ ॥

> आद्यसंहननेनैव क्षपकश्रेण्यधिष्ठितः । त्रिभिराद्यैर्भजेच्छ्रेणीमितरां श्रुतपारगः ॥ १०४ ॥

श्रुतज्ञानके द्वारा तत्त्वोंको जाननेवाला मुनि पहले वज्रवृषभनाराचसंहननसे सहित होनेपर ही क्षपकश्रेणीपर चढ़ सकता है तथा दूसरी उपशम श्रेणीको आदि तीन संहननों (वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच) वाला मुनि भी प्राप्त कर सकता है ॥ १०४ ॥

> किंचिद्दृष्टिमुपावर्त्य बहिरर्थकदम्बकात् । स्मृतिमात्मनि संधाय ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥ १०५ ॥

अध्यात्मको जाननेवाला मुनि बाह्य पदार्थोंके समूहसे अपनी दृष्टिको कुछ हटाकर और अपनी स्मृतिको अपने-आपमें ही लगाकर ध्यान करे ॥ १०५ ॥

> हृषीकाणि स्वविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य ततो मनः । ततोऽपि धियमव्यग्रां धारयेद् ध्येयवस्तुनि ॥ १०६ ॥

प्रथम तो स्पर्शन आदि इन्द्रियोंको उनके स्पर्श आदि विषयोंसे हटावे और फिर मनको मनके विषयसे हटाकर स्थिर बुद्धिको ध्यान करने योग्य पदार्थमें धारण करे—लगावे ॥ १०६ ॥

> ध्येयमध्यात्मतत्त्वं स्यात् पुरुषार्थोपयोगि यत् । पुरुषार्थश्च निर्मोक्षो भवेत्तत्साधनानि च ॥ १०७ ॥

जो पुरुषार्थका उपयोगी है ऐसा अध्यात्मतत्त्व ध्यान करने योग्य है। मोक्ष प्राप्त होना ही पुरुषार्थ कहलाता है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र उसके साधन कहलाते हैं। ये सब भी ध्यान करने योग्य हैं ॥ १०७ ॥

अहमात्मा ममास्रवो बन्धः संवर एव च । निर्जरा च तथा मोक्षः कर्मणामिति तत्त्वतः ॥ १०८ ॥

मैं अर्थात् जीव और मेरे अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा कर्मोंका क्षय होने रूप मोक्ष इस प्रकार ये सात तत्त्व ध्यान करने योग्य हैं अथवा इन्हीं सात तत्त्वोंमें पुण्य और पाप मिला देनेपर नौ पदार्थ भी ध्यान करने योग्य हैं ॥ १०८ ॥

षड्द्रव्यपर्यायथारूपस्यानुचिन्तनम् । यतो ध्यानं ततो ध्येयः षड्द्रव्यविस्तरः ॥ १०९ ॥

क्योंकि छह नयोंके द्वारा ग्रहण किये हुए जीव आदि छह द्रव्यों और उनकी पर्यायोंके यथार्थ स्वरूपका बार-बार चिन्तवन करना ही ध्यान कहलाता है, इसलिए छह द्रव्योंका समस्त विस्तार भी ध्यान करने योग्य है ॥ १०९ ॥

नयप्रमाणजीवादिपदार्थाः सप्तभङ्गिकैः । जिनेन्द्रवक्त्रप्रसृता ध्येया सिद्धान्तपद्धतिः ॥ ११० ॥

नय, प्रमाण, जीव, अजीव आदि पदार्थ और सप्तभंगी रूप न्यायसे देदीप्यमान होनेवाली तथा जिनेन्द्रदेवके मुखकमलसे प्रकट हुई सिद्धान्तशास्त्रोंकी परिपाटी भी ध्यान करने योग्य है अर्थात् जैन शास्त्रोंमें कहे गये समस्त पदार्थ ध्यान करनेके योग्य हैं ॥ ११० ॥

श्रुतमर्थाभिधानं च प्रत्ययश्चेत्यदस्त्रिधा । तस्मिन् ध्येये जगत्सर्वं ध्येयतामेति कात्स्न्यर्तः ॥ १११ ॥

शब्द, अर्थ और ज्ञान इस प्रकार तीन प्रकारका ध्येय कहलाता है। इस तीन प्रकारके ध्येयमें ही जगत्के समस्त पदार्थ ध्येयकोटिको प्राप्त हो जाते हैं। भावार्थ—जगत्के समस्त पदार्थ शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों भेदोंमें विभक्त हैं इसलिए शब्द, अर्थ और ज्ञानके ध्येय (ध्यान करने योग्य) होनेपर जगत्के समस्त पदार्थ ध्येय हो जाते हैं ॥ १११ ॥

अथवा पुरुषार्थस्य परां काष्ठामधिष्ठितः । परमेष्ठी जिनो ध्येयो विजितात्मा निरञ्जनः ॥ ११२ ॥

अथवा पुरुषार्थकी परम काष्ठाको प्राप्त हुए, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले, कृतकृत्य और समस्त कर्ममलोंसे रहित सिद्ध परमेष्ठी ध्यान करने योग्य हैं ॥ ११२ ॥

> स हि कर्ममलापायाच्छुद्धिमात्यन्तिकीं श्रितः । सिद्धो निरामयो नित्यं ध्यातॄणां भावसिद्धये ॥ ११३ ॥

क्योंकि वे सिद्ध परमेष्ठी कर्मरूपी मलके दूर हो जानेसे अविनाशी विशुद्धिको प्राप्त हुए हैं और रोगादि क्लेशोंसे रहित हैं इसलिए ध्यान करनेवाले पुरुषोंको अपने भावोंकी शुद्धिके लिए उनका अवश्य ही ध्यान करना चाहिए ॥ ११३ ॥

> क्षायिकानन्तदृग्बोधसुखवीर्यादिभिर्गुणैः । युक्तोऽसौ योगिनां गम्यः सूक्ष्मोऽपि व्यक्तलक्षणः ॥ ११४ ॥

वे सिद्ध भगवान् कर्मोंके क्षय होनेसे प्रकट हुए अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि गुणोंसे सहित हैं और उनके यथार्थस्वरूपको केवल योगी लोग ही जान सकते हैं। यद्यपि वे सूक्ष्म हैं तथापि उनके लक्षण प्रकट हैं ॥ ११४ ॥

> अमूर्तो निष्कलोऽप्येष योगिनां ध्यानगोचरः । किंचिन्न्यूनान्त्यदेहानुकारी जीवघनाकृतिः ॥ ११५ ॥

यद्यपि वे भगवान् अमूर्त और अशरीर हैं तथापि योगी लोगोंके ध्यानके विषय हैं अर्थात् योगी लोग उनका ध्यान करते हैं। उनका आकार अन्तिम शरीरसे कुछ कम केवल जीव प्रदेशरूप है ॥ ११५ ॥

> निःश्रेयसार्थिभिर्भव्यैः प्राप्तनिःश्रेयसः स हि । ध्येयः श्रेयस्करः साक्षात् सर्वदृक् सर्वभाववित् ॥ ११६ ॥

मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको उन्हींसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। वे स्वयं कल्याण रूप हैं, कल्याण करनेवाले हैं, सबका हित करनेवाले हैं, सर्वदर्शी हैं और सब पदार्थोंको जाननेवाले अर्थात् सर्वज्ञ हैं ॥ ११६ ॥

> साकारोऽप्यनाकारो निराकारोऽपि साकृतिः । स्वसात्कृताखिलज्ञेयः सुज्ञातो ज्ञानचक्षुषाम् ॥ ११७ ॥

वे भगवान् साकार होकर भी निराकार हैं और निराकार होकर भी साकार हैं। यद्यपि उन्होंने जगत्के समस्त पदार्थोंको अपने अधीन कर लिया है अर्थात् वे जगत्के समस्त पदार्थोंको जानते हैं, परन्तु उन्हें ज्ञानरूप नेत्रोंके धारण करनेवाले ही जान सकते हैं। भावार्थ—वे सिद्ध भगवान् कुछ कम अन्तिम शरीरके आकार होते हैं इसलिए साकार कहलाते हैं परन्तु उनका वह आकार इन्द्रियज्ञानगम्य नहीं है इसलिए निराकार भी कहलाते हैं। शरीररहित होनेके कारण संसारी पुरुष उन्हें यद्यपि देख नहीं पाते हैं इसलिए वे निराकार हैं, परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञानी जीव कुछ कम अन्तिम

शरीरके आकार परिणत हुए उनके असंख्य जीव प्रदेशोंको स्पष्ट जानते हैं इसलिए साकार भी कहलाते हैं। यद्यपि वे संसारके सब पदार्थोंको जानते हैं परन्तु उन्हें संसारके सभी लोग नहीं जान सकते, वे मात्र ज्ञानरूप नेत्रोंके द्वारा ही जाने जा सकते हैं ॥ ११७ ॥

> मणिदर्पणसंक्रान्तच्छायावत् स्फुटाकृतिम् । दधज्जीवघनाकारममूर्तोऽप्यचलस्थितिः ॥ ११८ ॥

निर्मल दर्पणमें पड़े हुए प्रतिबिम्बके समान उनका आकार अतिशय स्पष्ट है। यद्यपि वे अमूर्तिक हैं तथापि चैतन्यरूप घनाकारको धारण करनेवाले हैं और सदा स्थिर हैं ॥ ११८ ॥

> वीतरागोऽप्यसौ ध्यातैर्भव्यानां भवविच्छिदे । विच्छिन्नबन्धनस्यास्य तादृङ्नैसर्गिको गुणः ॥ ११९ ॥

यद्यपि वे भगवान् स्वयं वीतराग हैं तथापि ध्यान किये जानेपर भव्य जीवोंके संसारको सर्वथा नष्ट कर देते हैं। भवके बन्धनको छिन्न-भिन्न करनेवाले उन सिद्ध भगवानका यह उस प्रकारका एक स्वाभाविक गुण ही समझना चाहिए ॥ ११९ ॥

> अथवा स्नातकावस्थां प्राप्तो घातिकर्मक्षयात् । जिनोऽर्हन् स परं ध्येयो बिभ्रत्तेजोमयं वपुः ॥ १२० ॥

अथवा घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे जो स्नातक अवस्थाको प्राप्त हुए हैं और जो तेजोमय परमौदारिक शरीरको धारण किये हुए हैं ऐसे केवलज्ञानी अर्हन्त जिनेन्द्र भी ध्यान करने योग्य हैं ॥ १२० ॥

> रागाद्यविद्याजयनाज्जिनोऽर्हन् घातिकर्महतेः । स्वात्मोपलब्धितः सिद्धो बुद्धस्त्रैलोक्यबोधनात् ॥ १२१ ॥

राग आदि अविद्याओंको जीत लेनेसे जो जिन कहलाते हैं, घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जो अर्हत् (अरिहन्त) कहलाते हैं, शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे जो सिद्ध कहलाते हैं और त्रैलोक्यके समस्त पदार्थोंको जाननेसे जो बुद्ध कहलाते हैं— ॥ १२१ ॥

> त्रिकालगोचरानन्तपर्यायोपेतातार्थदृक् । विश्वज्ञो विश्वदर्शी च विश्वसाद्भूतचिद्गुणः ॥ १२२ ॥

जो तीनों कालोंमें होनेवाली अनन्त पर्यायोंसे सहित समस्त पदार्थोंको देखते हैं इसलिए विश्वदृक् (सबको देखनेवाले) कहलाते हैं और जो अपने ज्ञानरूप चैतन्य गुणसे संसारके सब पदार्थोंको जानते हैं इसलिए विश्वज्ञ (सर्वज्ञ) कहलाते हैं— ॥ १२२ ॥

> केवली केवलालोकविशालामललोचनः । घातिकर्मक्षयादाविर्भूतानन्तचतुष्टयः ॥ १२३ ॥

जो केवलज्ञानी हैं, केवलज्ञान ही जिनका विशाल और निर्मल नेत्र है, तथा घातिया कर्मोंके क्षय होनेसे जिनके अनन्तचतुष्टय प्रकट हुआ है— ॥ १२३ ॥

> द्वादशभेदगणाकीर्णां सभामवनिमधिष्ठितः । प्रातिहार्यैरभिव्यक्तत्रिजगत्प्रभवो विभुः ॥ १२४ ॥

जो बारह प्रकारके गणोंके समूहसे भरी हुई सभाभूमि (समवसरण) में विराजमान हैं, अष्ट प्रातिहार्योंके द्वारा जिनकी तीनों जगत्की प्रभुता प्रकट हो रही है, जो सर्वसामर्थ्यवान् हैं— ॥ १२४ ॥

> नियताकृतिरप्येष विश्वरूपः स्वचिद्गुणैः । संक्रान्ताशेषविज्ञेयप्रतिबिम्बानुकारतः ॥ १२५ ॥

जो यद्यपि निश्चित आकारवाले हैं तथापि अपने चैतन्यरूप गुणोंके द्वारा प्रतिबिम्बित हुए समस्त पदार्थोंके प्रतिबिम्ब रूप होनेसे विश्वरूप हैं अर्थात् संसारके सभी पदार्थोंके आकार धारण करनेवाले हैं— ॥ १२५ ॥

> विश्वव्यापी स विश्वाप्तविज्ञानयोगतः । विश्वाक्षो विश्वतश्चक्षुर्विश्वलोकशिखामणिः ॥ १२६ ॥

जो समस्त ज्ञेयोंमें व्याप्त होनेवाले केवलज्ञानके सम्बन्धसे विश्वव्यापी कहलाते हैं, समवसरण-भूमिमें चारों ओर मुख देखनेके कारण जो विश्वाक्ष (विश्वतोमुख) कहलाते हैं, संसारके सब पदार्थोंको देखनेके कारण जो विश्वतश्चक्षु (सब ओर हैं नेत्र जिनके ऐसे) कहलाते हैं, तथा सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण जो समस्त लोकके शिखामणि कहलाते हैं— ॥ १२६ ॥

> संसारसागराच्छीघ्रमुत्तीर्णः सुखसाद्भवन् । विध्वस्तसकलक्लेशो विच्छिन्नभवबन्धनः ॥ १२७ ॥

जो संसाररूपी समुद्रसे शीघ्र ही पार होनेवाले हैं, जो सुखमय हैं, जिनके समस्त क्लेश नष्ट हो गये हैं और जिनके संसाररूपी बन्धन कट चुके हैं— ॥ १२७ ॥

> निर्भयश्च निराकाङ्क्षो निराबाधो निराकुलः । निरपेक्षो निरातङ्को नित्यं निष्कर्मकल्मषः ॥ १२८ ॥

जो निर्भय हैं, निष्काम हैं, बाधारहित हैं, आकुलतारहित हैं, अपेक्षारहित हैं, नीरोग हैं, नित्य हैं और कर्मरूपी कालिमासे रहित हैं— ॥ १२८ ॥

> नवकेवललब्ध्यादिगुणारब्धं वपुर्वरम् । अभेद्यं संहृतिवज्रशिलोत्तीर्ण इवाचलः ॥ १२९ ॥

क्षायिक ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र इन नौ केवललब्धि आदि अनेक गुणोंसे जिनका शरीर अतिशय उत्कृष्ट है, जिनका कोई भेदन नहीं कर सकता और जो संवर्तक शिलामें उकेरे हुए अथवा वज्रकी शिलाओंसे व्याप्त हुए पर्वतके समान निश्चल हैं—स्थिर हैं— ॥ १२९ ॥

> स एवं लक्षणो ध्येयः परमात्मा परः पुमान् । परमेष्ठी परं तत्त्वं परमज्योतिरक्षरम् ॥ १३० ॥

इस प्रकार जो ऊपर कहे हुए लक्षणोंसे सहित हैं, परमात्मा हैं, परम पुरुष रूप हैं, परमेष्ठी हैं, परम तत्त्वस्वरूप हैं, परमज्योति (केवलज्ञान) रूप हैं और अविनाशी हैं ऐसे अर्हन्तदेव ध्यान करने योग्य हैं ॥ १३० ॥

> साधारणमिदं ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः । विशुद्धिस्वामिभेदात्तु तयोर्विशेषोऽवधार्यताम् ॥ १३१ ॥

अभीतक जिन ध्यान करने योग्य पदार्थोंका वर्णन किया गया है वे सब धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दोनों ही ध्यानोंके साधारण ध्येय हैं अर्थात् ऊपर कहे हुए पदार्थोंका दोनों ही ध्यानोंमें चिन्तवन किया जा सकता है। इन दोनों ध्यानोंमें विशुद्धि और स्वामीके भेदसे ही परस्परमें विशेषता समझनी चाहिए। भावार्थ—धर्म्यध्यानकी अपेक्षा शुक्लध्यानमें विशुद्धिके अंश बहुत अधिक होते हैं, धर्म्यध्यान चौथे गुणस्थानसे लेकर श्रेणी चढ़नेके पहले-पहले तक ही रहता है और शुक्लध्यान श्रेणियोंमें ही होता है। इन्हीं सब बातोंसे उक्त दोनों ध्यानोंमें विशेषता होती है ॥ १३१ ॥

> प्रशस्तप्रणिधानं यत् स्थिरमेकत्र वस्तुनि । तद्ध्यानमुक्तं मुक्तिहेतुस्तद् धर्म्यं शुक्लमिति द्विधा ॥ १३२ ॥

जो किसी एक ही वस्तुमें परिणामोंकी स्थिर और प्रशंसनीय एकाग्रता होती है उसे ही ध्यान कहते हैं, ऐसा ध्यान ही मुक्तिका कारण होता है। वह ध्यान धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यानके भेदसे दो प्रकारका होता है ॥ १३२ ॥

धर्मानपेतं यद्धर्म्यं तद्ध्यानं धर्म्यमिष्यते । धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमुत्पादादित्रयात्मकम् ॥ १३३ ॥

उन दोनोंमें-से जो ध्यान धर्मसे सहित होता है वह धर्म्यध्यान कहलाता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों सहित जो वस्तुका यथार्थ स्वरूप है वही धर्म कहलाता है। भावार्थ—वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं और जिस ध्यानमें वस्तुके स्वभावका चिन्तवन किया जाता है उसे धर्म्यध्यान कहते हैं ॥ १३३ ॥

तदाज्ञापायसंस्थानविपाकविचयात्मकम् । चतुर्विकल्पमाम्नातं ध्यानमाम्नायवेदिभिः ॥ १३४ ॥

आगमकी परम्पराको जाननेवाले ऋषियोंने उस धर्म्यध्यानके आज्ञाविचय, अपायविचय, संस्थानविचय और विपाकविचय इस प्रकार चार भेद माने हैं ॥ १३४ ॥

तत्राज्ञाऽस्त्यागमः सूक्ष्मविषयः प्रतिपाद्यते । दर्शनानुमेयव्ये हि धर्मेऽस्या गतिः स्मृता ॥ १३५ ॥

उनमें-से अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थको विषय करनेवाला जो आगम है उसे आज्ञा कहते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमानके विषयसे रहित केवल श्रद्धान करने योग्य पदार्थमें एक आगमकी ही गति होती है। भावार्थ—संसारमें कितने ही पदार्थ ऐसे हैं जो न तो प्रत्यक्षसे जाने जा सकते हैं और न अनुमानसे ही। ऐसे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंका ज्ञान सिर्फ आगमके द्वारा ही होता है अर्थात् आप्तप्रणीत शास्त्रोंमें जैसा लिखा है इसलिए ही वे माने जाते हैं ॥ १३५ ॥

श्रुतिः सूनृतमाज्ञाप्तवचो वेदाङ्गमागमः । आम्नायश्चेति पर्यायैः सोऽधिगम्यो मनीषिभिः ॥ १३६ ॥

श्रुति, सूनृत, आज्ञा, आप्तवचन, वेदांग, आगम और आम्नाय इन पर्यायवाची शब्दोंसे बुद्धिमान् पुरुष उस आगमको जानते हैं ॥ १३६ ॥

अनादिनिधनं सूक्ष्मं सम्यगर्थप्रकाशनम् । पुरुषार्थोपदेशित्वाद् यद्भूतहितमूर्जितम् ॥ १३७ ॥

जो आदि और अन्तसे रहित है, सूक्ष्म है, यथार्थ अर्थको प्रकाशित करनेवाला है, जो मोक्षरूप पुरुषार्थका उपदेशक होनेके कारण संसारके समस्त जीवोंका हित करनेवाला है— ॥ १३७ ॥

अजय्यममितं तीर्थ्यैरनालीढमहोदयम् । महानुभावमर्थावगाढं गम्भीरशासनम् ॥ १३८ ॥

युक्तियोंसे प्रबल है, जो किसीके द्वारा जीता नहीं जा सकता, जो अपरिमित है, परवादी लोग जिसके माहात्म्यको छू भी नहीं सकते हैं, जो अत्यन्त प्रभावशाली है, जीव-अजीव आदि पदार्थोंसे भरा हुआ है, जिसका शासन अतिशय गंभीर है— ॥ १३८ ॥

तद् वचनं सूक्ष्ममाप्तोपज्ञमनन्यथा । मन्यमानो मुनिर्ध्यायेद् भावानज्ञाविभावितान् ॥ १३९ ॥

जो परम उत्कृष्ट है, सूक्ष्म है और आप्तके द्वारा कहा हुआ है ऐसे प्रवचन अर्थात् आगमको सत्यार्थ रूप मानता हुआ मुनि आगममें कहे हुए पदार्थोंका ध्यान करे ॥ १३९ ॥

जैनीं प्रमाणयन्नाज्ञां योगी योगविदां वरः । ध्यायेद्धर्मास्तिकायादीन् भावान् सूक्ष्मान् यथागमम् ॥ १४० ॥

योगको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ योगी जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञाको प्रमाण मानता हुआ धर्मास्तिकाय आदि सूक्ष्म पदार्थोंका आगममें कहे अनुसार ध्यान करे ॥ १४० ॥

आज्ञाविचय एष स्यादपायविचयः पुनः । तापत्रयादिजन्माब्धिगतापायविचिन्तनम् ॥ १४१ ॥

इस प्रकारके ध्यान करनेको आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान कहते हैं। अब आगे अपायविचय नामके धर्म्यध्यानका वर्णन किया जाता है। तीन प्रकारके संताप आदिसे भरे हुए संसाररूपी समुद्रमें जो प्राणी पड़े हुए हैं उनके अपायका चिन्तवन करना सो अपायविचय नामका धर्म्यध्यान है। भावार्थ—यह संसाररूपी समुद्र मानसिक, वाचनिक, कायिक अथवा जन्म-जरा-मरणसे होनेवाले तीन प्रकारके संतापोंसे भरा हुआ है। इसमें पड़े हुए जीव निरन्तर दुःख भोगते रहते हैं। उनके दुःखका बार-बार चिन्तवन करना सो अपायविचय नामका धर्म्यध्यान है ॥ १४१ ॥

तदपायाप्रतीकारविविधोपायानुचिन्तनम् । अप्रेक्षान्तर्गतं वापि धर्मानुपेक्षणादिलक्षणम् ॥ १४२ ॥

अथवा उन अपायों (दुःखों) के दूर करनेकी चिन्तासे उन्हें दूर करनेवाले अनेक उपायोंका चिन्तवन करना भी अपायविचय कहलाता है। बारह अनुप्रेक्षा तथा दशधर्म आदिका चिन्तवन करना इसी अपायविचय नामके धर्म्यध्यानमें शामिल समझना चाहिए ॥ १४२ ॥

शुभाशुभविभक्तानां कर्मणां परिपाकतः । भवावर्ते विचित्राणामभिसंदधतो मुनेः ॥ १४३ ॥

शुभ और अशुभ भेदोंमें विभक्त हुए कर्मोंके उदयसे संसाररूपी आवर्तकी विचित्रताका चिन्तवन करनेवाले मुनिके जो ध्यान होता है उसे आगमके जाननेवाले गणधरादि देव विपाकविचय नामका धर्म्यध्यान मानते हैं ॥ १४३ ॥

विपाकविचयं धर्म्यमामनन्ति कृतागमाः । विपाकश्च द्विधाम्नातः कर्मणामाप्तसूरिभिः ॥ १४४ ॥

जैन शास्त्रोंमें कर्मोंका उदय दो प्रकारका माना गया है ॥ १४४ ॥

यथाकालमुपायाच्च पच्यते फलं वनस्पतेः । यथा तथा कर्मापि फलकाले दत्ते शुभाशुभम् ॥ १४५ ॥

जिस प्रकार किसी वृक्षके फल एक तो समय पाकर अपने आप पक जाते हैं और दूसरे किसी कृत्रिम उपायोंसे पकाये जाते हैं उसी प्रकार कर्म भी अपने शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं, अर्थात् एक तो स्थिति पूर्ण होनेपर यथासमय फल देते हैं और दूसरे तपश्चरण आदिके द्वारा स्थिति पूर्ण होनेसे पहले ही अपना फल देने लगते हैं ॥ १४५ ॥

मूलोत्तरप्रकृत्यादिबन्धसत्तासमाश्रयः । कर्मणामुदयो विचित्रः सम्भवति द्रव्यादिसन्निधेः ॥ १४६ ॥

मूल और उत्तर प्रकृतियोंके बन्ध तथा सत्ता आदिका आश्रय लेकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके निमित्तसे कर्मोंका उदय अनेक प्रकारका होता है ॥ १४६ ॥

यतश्च तद्विपाकोत्थं तदुपायाय यतते । ततो ध्येयमिदं ध्यानं मुक्तेरुपायो मुमुक्षुभिः ॥ १४७ ॥

क्योंकि कर्मोंके विपाक (उदय) को जाननेवाला मुनि उन्हें नष्ट करनेके लिए प्रयत्न करता है इसलिए मोक्षाभिलाषी मुनियोंको मुक्तिके उपायभूत इस विपाकविचय नामके धर्म्यध्यानका अवश्य ही चिन्तवन करना चाहिए ॥ १४७ ॥

संस्थानविचयं प्राहुर्लोकाकारानुचिन्तनम् । तदन्तर्भूतजीवादितत्त्वानां वीक्षणलक्षितम् ॥ १४८ ॥

लोकके आकारका बार-बार चिन्तवन करना तथा लोकके अन्तर्गत रहनेवाले जीव, अजीव आदि तत्त्वोंका विचार करना सो संस्थानविचय नामका धर्म्यध्यान है ॥ १४८ ॥

> द्वीपाब्धिवलयान्द्रींश्च गिरिकूटानि सरांसि च । विमानभवनव्यन्तरावासनरकक्षितीः ॥ १४९ ॥

संस्थानविचय धर्म्यध्यानको प्राप्त हुआ मुनि तीनों लोकोंकी रचनाके साथ-साथ द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी, सरोवर— ॥ १४९ ॥

> त्रिजगत्सन्निवेशेन सममेतान्यथागमम् । आगमानुगतो मुनिरनुध्यायेत् संस्थानविचयोपगः ॥ १५० ॥

विमानवासी, भवनवासी तथा व्यन्तरोंके रहनेके स्थान और नरकोंकी भूमियाँ आदि पदार्थोंका भी शास्त्रानुसार चिन्तवन करे ॥ १५० ॥

> जीवभेदांश्च तत्रस्थान् ध्यायेन्मुक्तेतरात्मकान् । ज्ञातृत्वं च स्वभोक्तृत्वद्रष्टृत्वादींश्च तद्गुणान् ॥ १५१ ॥

इसके सिवाय उस लोकमें रहनेवाले संसारी और मुक्त ऐसे दो प्रकारके जीवोंके भेदोंका जानना, तथा उनका ज्ञातापना, कर्तापना, भोक्तापना और दर्शन आदि जीवोंके गुणोंका भी ध्यान करे ॥ १५१ ॥

> भवार्णवं स्वकृतकर्मानुभावोत्थमतिदुस्तरम् । महामोहव्यसनावर्तं दोषयादःकुलाकुलम् ॥ १५२ ॥

अध्यात्मको जाननेवाला मुनि इस संसाररूपी समुद्रका ध्यान करे जो कि स्वयं किये हुए कर्मोंके माहात्म्यसे उत्पन्न हुआ है, अत्यन्त दुस्तर है, महामोहरूपी व्यसनोंके भँवरोंसे भरा हुआ है और दोषरूपी जल-जन्तुओंके समूहोंसे आकुल-व्याप्त है ॥ १५२ ॥

> सज्ज्ञाननावा संतार्यमतार्यं ग्रन्थिकात्मभिः । अपारमतिगम्भीरं ध्यायेदध्यात्मविद् मुनिः ॥ १५३ ॥

जो सम्यग्ज्ञानरूपी नावसे पार करनेके योग्य है, परिग्रही साधु जिसे कभी नहीं तैर सकते, जिसका पार नहीं है और जो अतिशय गम्भीर है, ऐसे उस संसार-समुद्रका अध्यात्मवेत्ता मुनि ध्यान करे ॥ १५३ ॥

किं वा बहुनोक्तेन सर्वोऽप्यागमविस्तरः । नयभङ्गशताकीर्णो ध्येयोऽध्यात्मविशुद्धये ॥ १५४ ॥

अथवा इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है ! नयोंके सैकड़ों भंगोंसे भरा हुआ जो समस्त आगमका विस्तार है वह सब अन्तरात्माकी शुद्धिके लिए ध्यान करने योग्य है ॥ १५४ ॥

तदप्रमत्ततालम्बं स्थितिसान्तर्मुहूर्तिकम् । ध्यानमप्रमत्तेषु परां कोटिमधिष्ठितम् ॥ १५५ ॥

यह धर्म्यध्यान अप्रमत्त अवस्थाका आलम्बन कर अन्तर्मुहूर्त तक स्थित रहता है और प्रमादरहित (सप्तम गुणस्थानवर्ती) जीवोंमें ही अतिशय उत्कृष्टताको प्राप्त होता है ॥ १५५ ॥

सद्दृष्टिषु यथाम्नायं शेषेष्वपि कृतस्थिति । अकृष्णरक्तपीतादिलेश्याश्रयोपोद्बलं महत् ॥ १५६ ॥

इसके सिवाय अतिशय शुद्धिको धारण करनेवाला और पीत, पद्म तथा शुक्ल ऐसी तीन शुभ लेश्याओंके आश्रयसे वृद्धिको प्राप्त हुआ यह धर्म्यध्यान शास्त्रानुसार सम्यग्दर्शनसे सहित चौथे गुणस्थानमें तथा असंयत, देशसंयत और प्रमत्त (पाँचवें और छठे गुणस्थान) में भी होता है। भावार्थ—इन गुणस्थानोंमें धर्म्यध्यान हीनाधिक भावसे रहता है। धर्म्यध्यान धारण करनेके लिए कम-से-कम सम्यग्दृष्टि अवश्य होना चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान और निर्णय नहीं होता। मन्दकषायी मिथ्यादृष्टि जीवोंके जो ध्यान होता है उसे शुभ भावना कहते हैं ॥ १५६ ॥

क्षायोपशमिकं भावं स्वसात्कृत्य विवर्धते । महोदर्कं महाप्राज्ञैर्महर्षिभिरुपासितम् ॥ १५७ ॥

यह धर्म्यध्यान क्षायोपशमिक भावोंको स्वाधीन कर बढ़ता है। इसका फल भी बहुत उत्तम होता है और अतिशय बुद्धिमान् महर्षि लोग भी इसे धारण करते हैं ॥ १५७ ॥

वस्तुधर्मानुयायित्वात् प्राप्तान्वर्थनिरुक्तिकम् । ध्यायेद् धर्म्यमिदं विद्वान् यथोक्तध्येयविस्तरम् ॥ १५८ ॥

वस्तुओंके धर्मका अनुयायी होनेके कारण जिसे धर्म्यध्यान ऐसा सार्थक नाम प्राप्त हुआ है और जिसमें ध्यान करने योग्य पदार्थोंका ऊपर विस्तारसे वर्णन किया जा चुका है ऐसे इस धर्म्यध्यानका बार-बार चिन्तवन करना चाहिए ॥ १५८ ॥

प्रसन्नचित्तता धर्मसंवेगः शुभयोगता । सुश्रुतत्वं समाधानमाज्ञाधिगमजा रुचिः ॥ १५९ ॥

प्रसन्नचित्त रहना, धर्मसे प्रेम (संवेग) करना, शुभ योग रखना, उत्तम शास्त्रोंका अभ्यास करना, चित्त स्थिर रखना और आज्ञा (शास्त्रका कथन) तथा स्वकीय ज्ञानसे एक प्रकारकी विशेष रुचि (प्रीति अथवा श्रद्धा) उत्पन्न होना ॥ १५९ ॥

बाह्यानि लक्षणानीह धर्मस्यान्तर्गतानि तु । सानुप्रेक्षाश्च पूर्वोक्ता विविधाः शुभभावनाः ॥ १६० ॥

ये सब इस धर्म्यध्यानके बाह्य लक्षण (चिह्न) हैं और अनुप्रेक्षाएँ तथा पहले कही हुई अनेक प्रकारकी शुभ भावनाएँ उसके अन्तरंग चिह्न हैं ॥ १६० ॥

सन्निवेशश्च लिङ्गानां पल्यादिः पुरोदितः । प्रसन्नवक्त्रता सौम्या दृष्टिरित्यादि चेतरत् ॥ १६१ ॥

पहले कहा हुआ अंगोंका सन्निवेश होना अर्थात् पहले जिन पर्यङ्क आदि आसनोंका वर्णन कर चुके हैं उन आसनोंको धारण करना, मुखकी प्रसन्नता होना और दृष्टिका सौम्य होना आदि सब भी धर्म्यध्यानके बाह्य चिह्न समझना चाहिए ॥ १६१ ॥

फलं ध्यानवरस्यास्य विपुला निर्जरा मता । शुभकर्मोदयोद्भूतं सुखं च त्रिदशेशिनाम् ॥ १६२ ॥

अशुभ कर्मोंकी अधिक निर्जरा होना और शुभ कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ इन्द्र आदिका सुख प्राप्त होना यह सब इस उत्तम धर्म्यध्यानका फल है ॥ १६२ ॥

स्वर्गापवर्गसंप्राप्तिः फलमस्य प्रचक्षते । साक्षात् स्वर्गपरिप्राप्तिः पारम्पर्यात् परं पदम् ॥ १६३ ॥

अथवा स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होना इस धर्म्यध्यानका फल कहा जाता है। इस धर्म्यध्यानसे स्वर्गकी प्राप्ति तो साक्षात् होती है परन्तु परम पद अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति परम्परासे होती है ॥ १६३ ॥

ध्यानेऽप्युपरते धीमानभीक्ष्णं भावयेन्मुनिः । सानुप्रेक्षाः शुभोदर्का भवाभावाय भावनाः ॥ १६४ ॥

ध्यान छूट जानेपर भी बुद्धिमान मुनिको चाहिए कि वह संसारका अभाव करनेके लिए अनुप्रेक्षाओंसहित शुभ फल देनेवाली उत्तम-उत्तम भावनाओंका चिन्तवन करे ॥ १६४ ॥

> इत्युक्तलक्षणं धर्म्यं मगधाधीश निश्चिनु । शुक्लध्यानमितो वक्ष्ये साक्षान्मुक्त्यङ्गमङ्गिनाम् ॥ १६५ ॥

गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे मगधाधीश, इस प्रकार जिसका लक्षण कहा जा चुका है ऐसे इस धर्म्यध्यानका तू निश्चय कर—उसपर विश्वास ला। अब आगे शुक्लध्यानका निरूपण करूँगा जो कि जीवोंके मोक्ष प्राप्त होनेका साक्षात् कारण है ॥ १६५ ॥

> कषायमलविश्लेषात् शुक्लशब्दाभिधेयताम् । उपेयिवदिदं ध्यानं सान्दर्भेदं निबोध मे ॥ १६६ ॥

कषायरूपी मलके नष्ट होनेसे जो शुक्ल ऐसे नामको प्राप्त हुआ है ऐसे इस शुक्लध्यानका अवान्तर भेदोंसे सहित वर्णन करता हूँ सो तू उसे मुझसे अच्छी तरह समझ ले ॥ १६६ ॥

> शुक्लं परमशुक्लं चेत्यागमे तद्द्विधोदितम् । छद्मस्थस्वामिकं पूर्वं परं केवलिनां मतम् ॥ १६७ ॥

वह शुक्ल ध्यान शुक्ल और परम शुक्लके भेदसे आगममें दो प्रकारका कहा गया है। उनमें-से पहला शुक्लध्यान तो छद्मस्थ मुनियोंके होता है और दूसरा परम शुक्लध्यान केवली भगवान (अरहन्तदेव) के होता है ॥ १६७ ॥

> द्वेधायं स्यात् पृथक्त्वादि वीचारान्तसवितर्ककम् । तथैकत्वाद्यवीचारपदान्तं च सवितर्ककम् ॥ १६८ ॥

पहले शुक्लध्यानके दो भेद हैं, एक पृथक्त्ववितर्कवीचार और दूसरा एकत्ववितर्कावीचार ॥ १६८ ॥

> इत्याद्यस्य भिदा स्यातामन्वर्था श्रुतिमाश्रिते । तदर्थव्यक्तये चेदं तन्नामद्वयनिर्वचः ॥ १६९ ॥

इस प्रकार पहले शुक्लध्यानके जो ये दो भेद हैं, वे सार्थक नामवाले हैं। इनका अर्थ स्पष्ट करनेके लिए दोनों नामोंकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति-शब्दार्थ) इस प्रकार समझना चाहिए ॥ १६९ ॥

पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र तद्विदुः । सवितर्कं सवीचारं पृथक्त्वादिपदाह्र्वयम् ॥ १७० ॥

जिस ध्यानमें वितर्क अर्थात् शास्त्रके पदोंका पृथक्-पृथक् रूपसे वीचार अर्थात् संक्रमण होता रहे उसे पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका शुक्लध्यान कहते हैं। भावार्थ—जिसमें अर्थ, व्यंजन और योगोंका पृथक्-पृथक् संक्रमण होता रहता है अर्थात् अर्थको छोड़कर व्यंजन (शब्द) का और व्यंजनको छोड़कर अर्थका चिन्तवन होने लगे अथवा इसी प्रकार मन, वचन और काय इन तीनों योगोंका परिवर्तन होता रहे उसे पृथक्त्ववितर्कवीचार कहते हैं ॥ १७० ॥

एकत्वेन वितर्कस्य स्याद् यत्राविचरिष्णुता । सवितर्कमवीचारमेकत्वादिपदाभिधम् ॥ १७१ ॥

जिस ध्यानमें वितर्कका एकरूप होनेके कारण वीचार नहीं होता अर्थात् जिसमें अर्थ, व्यंजन और योगोंका संक्रमण नहीं होता उसे एकत्ववितर्कावीचार नामका शुक्लध्यान कहते हैं ॥ १७१ ॥

पृथक्त्वं विद्धि नानात्वं वितर्कः श्रुतमुच्यते । अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमो मतः ॥ १७२ ॥

अनेक प्रकारताको पृथक्त्व समझो, श्रुत अर्थात् शास्त्रको वितर्क कहते हैं और अर्थ, व्यंजन तथा योगोंका संक्रमण (परिवर्तन) वीचार माना गया है ॥ १७२ ॥

अर्थादर्थान्तरं गच्छन् व्यञ्जनाद् व्यञ्जनान्तरम् । योगाद्योगान्तरं गच्छन् ध्यायतीदं वशी मुनिः ॥ १७३ ॥

इन्द्रियोंको वश करनेवाला मुनि, एक अर्थसे दूसरे अर्थको, एक शब्दसे दूसरे शब्दको और एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त होता हुआ इस पहले पृथक्त्ववितर्कवीचार नामके शुक्लध्यानका चिन्तवन करता है ॥ १७३ ॥

त्रियोगः पूर्वविद् यस्माद् ध्यायत्येतन्मुनीश्वरः । सवितर्कं सवीचारमतः स्याच्छुक्लमादिमम् ॥ १७४ ॥

क्योंकि मन, वचन, काय इन तीनों योगोंको धारण करनेवाले और चौदह पूर्वोंके जाननेवाले मुनिराज ही इस पहले शुक्लध्यानका चिन्तवन करते हैं, इसलिए ही यह पहला शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार कहा जाता है ॥ १७४ ॥

ध्येयमस्य श्रुतस्कन्धवार्धेर्वागर्थविस्तरः । फलं स्यान्मोहनीयस्य प्रक्षयः प्रशमोऽपि वा ॥ १७५ ॥

श्रुतस्कन्धरूपी समुद्रके शब्द और अर्थोंका जितना विस्तार है वह सब इस प्रथम शुक्लध्यानका ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य विषय है और मोहनीय कर्मका क्षय अथवा उपशम होना इसका फल है। भावार्थ—यह शुक्लध्यान उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनों प्रकारकी श्रेणियोंमें होता है। उपशमश्रेणीवाला मुनि इस ध्यानके प्रभावसे मोहनीय कर्मका उपशम करता है और क्षपक श्रेणीमें आरूढ़ हुआ मुनि इस ध्यानके प्रतापसे मोहनीय कर्मका क्षय करता है, इसलिए सामान्य रूपसे उपशम और क्षय दोनों ही इस ध्यानके फल कहे गये हैं ॥ १७५ ॥

अवगाह्यावगाह्यैवं श्रुतस्कन्धमहार्णवात् । अर्थमेकं समादाय ध्यायन्नर्थान्तरं भजेत् ॥ १७६ ॥

यहाँ ऐसा भाव समझना चाहिए कि ध्यान करनेवाला मुनि श्रुतस्कन्धरूपी महासमुद्रमें बार-बार अवगाहन कर कोई एक पदार्थ लेकर उसका ध्यान करता हुआ किसी दूसरे पदार्थको प्राप्त हो जाता है अर्थात् पहले ग्रहण किये हुए पदार्थको छोड़कर दूसरे पदार्थका ध्यान करने लगता है ॥ १७६ ॥

शब्दाच्छब्दान्तरं गच्छेदू योगाद्योगान्तरादपि । सवीचारमिदं तस्मात् सवितर्कं च कथ्यते ॥ १७७ ॥

एक शब्दसे दूसरे शब्दको प्राप्त हो जाता है और इसी प्रकार एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त हो जाता है, इसीलिए इस ध्यानको सवीचार और सवितर्क कहते हैं ॥ १७७ ॥

वागर्थरत्नसंपूर्णं नयभङ्गतराङ्गकम् । प्रसृतध्यानगम्भीरं पदवाक्यमहाजलम् ॥ १७८ ॥

जो श्रुतस्कन्धरूपी समुद्र शब्द और अर्थरूपी रत्नोंसे भरा हुआ है, जिसमें अनेक नयभंगरूपी तरंगें उठ रही हैं, जो विस्तृत ध्यानसे गम्भीर है और पद तथा वाक्यरूपी अथाह जलसे सहित है ॥ १७८ ॥

उत्पादव्ययध्रौव्योद्वेलं सप्तभङ्गीमहास्वनम् । पूर्वपक्षदृशायातपरमतयादसां कुलम् ॥ १७९ ॥

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके द्वारा उद्वेल (ज्वार-भाटाओंसे सहित) हो रहा है, स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति आदि सप्तभंग ही जिसके विशाल शब्द (गर्जन) हैं और जो पूर्वपक्ष करनेके लिए आये हुए अनेक परमतवादीरूपी जल-जन्तुओंके समूहोंसे भरा हुआ है ॥ १७९ ॥

कृतावतारमुद्बोधयानपात्रैर्महर्द्धिभिः । गणाधीशमहासार्थवाहैश्चारित्रकेतनैः ॥ १८० ॥

बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारण करनेवाले गणधरदेवरूपी मुख्य व्यापारियोंने चारित्ररूपी पताकाओंसे सुशोभित सम्यग्ज्ञानरूपी जहाजोंके द्वारा जिसमें अवतरण किया है ॥ १८० ॥

नयोपनयसंपातमहावातविधूर्णितम् । रत्नत्रयमयैर्द्वीपैः संव्याप्तमनेकधा ॥ १८१ ॥

जो नय और उपनयोंके समागम (वर्णन) रूपी महावायुसे क्षोभित हो रहा है और जो रत्नत्रयरूपी अनेक प्रकारके द्वीपोंसे व्याप्त है ॥ १८१ ॥

श्रुतस्कन्धमहासन्धुमवगाह्य महामुनिः । ध्यायेत् पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानमग्रिमम् ॥ १८२ ॥

ऐसे श्रुतस्कन्धरूपी महासागरमें अवगाहन कर महामुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार नामके पहले शुक्लध्यानका चिन्तवन करे। भावार्थ—ग्यारह अंग और चौदह पूर्वके जाननेवाले मुनिराज ही प्रथम शुक्लध्यानको धारण कर सकते हैं ॥ १८२ ॥

प्रशान्तक्षीणमोहेषु श्रेण्योः शेषगुणेषु ते । यथाम्नायमिदं ध्यानमामनन्ति मनीषिणः ॥ १८३ ॥

यह ध्यान प्रशान्तमोह अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान, क्षीणमोह अर्थात् बारहवें गुणस्थान और उपशमक तथा क्षपक इन दोनों प्रकारकी श्रेणियोंके शेष आठवें, नौवें तथा दसवें गुणस्थानमें भी हीनाधिक रूपसे होता है, ऐसा बुद्धिमान् महर्षि लोग मानते हैं ॥ १८३ ॥

द्वितीयमाद्यवज्ज्ञेयं विशेषस्त्वेकयोगिनः । प्रक्षीणमोहनीयस्य पूर्वज्ञस्यामितद्युतेः ॥ १८४ ॥

दूसरा एकत्ववितर्क नामका शुक्लध्यान भी पहले शुक्लध्यानके समान ही जानना चाहिए किन्तु विशेषता इतनी है कि जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया हो, जो पूर्वोंका जाननेवाला हो, जिसका आत्मतेज अपरिमित हो और जो तीन योगोंमें-से किसी एक योगका धारण करनेवाला हो ऐसे महामुनिका ही यह दूसरा शुक्लध्यान होता है ॥ १८४ ॥

> सवितर्कमवीचारमेकत्वं ध्यानमर्जितम् । ध्यायत्यस्तकषायोऽसौ घातिकर्माणि पातयन् ॥ १८५ ॥

जिसकी कषाय नष्ट हो चुकी है और जो घातिया कर्मोंको नष्ट कर रहा है, ऐसा मुनि सवितर्क अर्थात् श्रुतज्ञानसहित और अवीचार अर्थात् अर्थ, व्यंजन तथा योगोंके संक्रमणसे रहित दूसरे एकत्ववितर्क नामके अर्जित शुक्लध्यानका चिन्तवन करता है ॥ १८५ ॥

> फलमस्य भवेज्ज्ञानं घातित्रितयप्रक्षयोद्भवम् । केवलं प्रमिताशेषपदार्थं ज्योतिर्लक्षणम् ॥ १८६ ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला तथा समस्त पदार्थोंको जाननेवाला अविनाशी ज्योतिःस्वरूप केवलज्ञानका उत्पन्न होना ही इस शुक्लध्यानका फल होता है ॥ १८६ ॥

> ततः पूर्वविदामार्ये शुक्ले श्रेण्योर्यथायथम् । त्रियोगैकप्रयोगाणां यथोक्तफलयोगिनी ॥ १८७ ॥

इस प्रकार ऊपर कहे अनुसार फलको देनेवाले पहलेके दोनों शुक्लध्यान ग्यारह अंग तथा चौदह पूर्वके जाननेवाले और तीन तथा तीनमें-से किसी एक योगका अवलम्बन करनेवाले मुनियोंके दोनों प्रकारकी श्रेणियोंमें यथायोग्य रूपसे होते हैं। भावार्थ—पहला शुक्लध्यान उपशम अथवा क्षपक दोनों ही श्रेणियोंमें होता है परन्तु दूसरा शुक्लध्यान क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानमें ही होता है। पहला शुक्लध्यान तीनों योगोंको धारण करनेवालेके होता है परन्तु दूसरा शुक्लध्यान एक योगका धारण करनेवालेके ही होता है, वह एक योग तीन योगोंमें-से कोई भी हो ॥ १८७ ॥

> स्नातकः कर्मवैकल्यात् केवलं पदमाप्तवान् । स्वामी परमशुक्लस्य द्विधा भेदमुपेयुषः ॥ १८८ ॥

घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जो उत्कृष्ट केवलज्ञानको प्राप्त हुआ है ऐसा स्नातक मुनि ही दोनों प्रकारके परम शुक्लध्यानोंका स्वामी होता है। भावार्थ—परम शुक्लध्यान केवलज्ञानी भगवानके ही होता है ॥ १८८ ॥

> स हि योगनिरोधार्थमुद्यतः केवलं जिनः । समुद्धातविधिं पूर्वमाविःकुर्यान्निसर्गतः ॥ १८९ ॥

वे केवलज्ञानी जिनेन्द्रदेव जब योगोंका निरोध करनेके लिए तत्पर होते हैं तब वे उसके पहले स्वभावसे ही समुद्धातकी विधि प्रकट करते हैं ॥ १८९ ॥

> दण्डमुच्चैः कवाटं च प्रतरं लोकपूरणम् । चतुर्भिः समयैः कुर्वंल्लोकमापूर्य तिष्ठति ॥ १९० ॥

पहले समयमें उनके आत्माके प्रदेश चौदह राजू ऊँचे दण्डके आकार होते हैं, दूसरे समयमें कपाटका आकार होते हैं, तीसरे समयमें प्रतर रूप होते हैं और चौथे समयमें समस्त लोकमें भर जाते हैं। इस प्रकार वे चार समयमें समस्त लोकाकाशको व्याप्त कर स्थित होते हैं ॥ १९० ॥

> तदा सर्वगतः सर्वः सर्ववित् पूरको भवेत् । ततो रेचकावस्थामधितिष्ठन्महीयते ॥ १९१ ॥

उस समय समस्त लोकमें व्याप्त हुए, सबका हित करनेवाले और सब पदार्थोंको जाननेवाले वे केवली जिन पूरक कहलाते हैं। उसके बाद वे रेचक अवस्थाको प्राप्त होते हैं अर्थात् आत्माके प्रदेशोंका संकोच करते हैं और यह सब करते हुए वे अतिशय पूज्य गिने जाते हैं ॥ १९१ ॥

> जगदापूर्य विश्वज्ञः समयात् प्रतरं श्रितः । ततः कवाटदण्डं च क्रमेणैवापसंहरन् ॥ १९२ ॥

वे सर्वज्ञ भगवान् समस्त लोकको पूर्ण कर उसके एक-एक समय बाद ही प्रतर अवस्थाको और फिर क्रमसे एक-एक समय बाद संकोच करते हुए कपाट तथा दण्ड अवस्थाको प्राप्त होकर स्वशरीरमें प्रविष्ट हो जाते हैं ॥ १९२ ॥

> तत्राघातिस्थितेर्भागानसंख्येयान्निहन्त्यसौ । अनुभागस्य चानन्तान् भागानशुभकर्मणाम् ॥ १९३ ॥

उस समय वे सर्वज्ञ भगवान् अघातिया कर्मोंकी स्थितिके असंख्यात भागोंको नष्ट कर देते हैं और इसी प्रकार अशुभ कर्मोंके अनुभाग अर्थात् फल देनेकी शक्तिके भी अनन्त भाग नष्ट कर देते हैं ॥ १९३ ॥

> पुनरन्तर्मुहूर्तेन निरुन्धन् योगमास्रवम् । कृत्वा वाङ्मनसे सूक्ष्मे काययोगव्यपाश्रयात् ॥ १९४ ॥

तदनन्तर अन्तर्मुहूर्तमें योगरूपी आस्रवका निरोध करते हुए बादर काययोगके आश्रयसे वचनयोग और मनोयोगको सूक्ष्म करते हैं ॥ १९४ ॥

> सूक्ष्मीकृत्य पुनः कायं च तदुपाश्रयम् । ध्यायेत् सूक्ष्मक्रियं ध्यानमप्रतिपातपराङ्मुखम् ॥ १९५ ॥

और फिर काययोगको भी सूक्ष्म कर उसके आश्रयसे होनेवाले सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामक तीसरे शुक्लध्यानका चिन्तवन करते हैं ॥ १९५ ॥

> ततो निरुद्धयोगोऽसौ योगी विगतसंस्रवः । समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमनिवर्ति तदा भजेत् ॥ १९६ ॥

तदनन्तर जिनके समस्त योगोंका बिलकुल ही निरोध हो गया है ऐसे वे योगिराज समस्त आस्रवोंसे रहित होकर समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति नामके चौथे शुक्लध्यानको प्राप्त होते हैं ॥ १९६ ॥

> अन्तर्मुहूर्तमातन्वंस्तद् ध्यानमतिनिर्मलम् । विधूताशेषकर्मांशो जिनो निर्वाति सर्वथा ॥ १९७ ॥

जिनेन्द्र भगवान् उस अतिशय निर्मल चौथे शुक्लध्यानको अन्तर्मुहूर्त तक धारण करते हैं और फिर समस्त कर्मोंके अंशोंको नष्ट कर निर्वाण अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १९७ ॥

> त्रयोदशास्य प्रक्षीणाः कर्मांशाश्चरमे क्षणे । द्वासप्ततिरुपांत्ये स्युरयोगपरमेष्ठिनः ॥ १९८ ॥

इन अयोगी परमेष्ठीके चौदहवें गुणस्थानके उपान्त्य समयमें बहत्तर और अन्तिम समयमें तेरह कर्मप्रकृतियोंका क्षय होता है ॥ १९८ ॥

> निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निर्व्याबाधो निरामयः । सूक्ष्मोऽव्यक्तस्तथा व्यक्तो मुक्तात्मा लोकान्तमावसन् ॥ १९९ ॥

वे जिनेन्द्रदेव चौदहवें गुणस्थानके अनन्तर लेपरहित, शरीररहित, शुद्ध, अव्याबाध, रोगरहित, सूक्ष्म, अव्यक्त, व्यक्त और मुक्त होते हुए लोकके अन्तभागमें निवास करते हैं ॥ १९९ ॥

> ऊर्ध्वव्रज्यास्वभावत्वात् समयेनैव नीरजाः । लोकान्तं प्राप्य शुद्धात्मा सिद्धश्चूडामणीयते ॥ २०० ॥

कर्मरजसे रहित होनेके कारण जिनकी आत्मा अतिशय शुद्ध हो गयी है ऐसे वे सिद्ध भगवान् ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेके कारण एक समयमें ही लोकके अन्तभागको प्राप्त हो जाते हैं और वहाँपर चूड़ामणि रत्नके समान सुशोभित होने लगते हैं ॥ २०० ॥

तत्र कर्ममलापायात् शुद्धिरात्यन्तिकी मता । शरीरापायतोऽनन्तं भवेत् सुखमतीन्द्रियम् ॥ २०१ ॥

वहाँ कर्ममलका सर्वथा अभाव हो जानेसे उनकी आत्यन्तिक (परम) शुद्धि मानी गयी है और शरीरके छूट जानेसे उन्हें अनन्त अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होता है ॥ २०१ ॥

निष्कर्मा विधुताशेषसांसारिकसुखासुखः । चरमाङ्गात् किमप्यूनपरिमाणस्तदाकृतिः ॥ २०२ ॥

जो निष्कर्म हैं अर्थात् हर प्रकारके कर्मोंसे रहित हैं, जिन्होंने संसार-सम्बन्धी समस्त सुख और दुःख नष्ट कर दिये हैं, जिनके आत्मप्रदेशोंका आकार अन्तिम शरीरके सदृश है और परिमाण अन्तिम शरीरसे कुछ कम है ॥ २०२ ॥

अमूर्तोऽप्ययमन्त्याङ्गसमाकारोपलक्षणात् । मूषारन्ध्रनिरुद्धस्य स्थितिं खस्यानुकुर्वते ॥ २०३ ॥

जो अमूर्तिक होनेपर भी अन्तिम शरीरका आकार होनेके कारण उपचारसे मूषा (कुठली) के भीतर रुके हुए आकाशकी उपमाको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २०३ ॥

शारीरमानसाशेषदुःखबन्धनवर्जितः । निर्द्वन्द्वो निष्क्रियः शुद्धो गुणैरष्टाभिरन्वितः ॥ २०४ ॥

जो शरीर और मनसम्बन्धी समस्त दुःखरूपी बन्धनोंसे रहित हैं, द्वन्द्वरहित हैं, निष्क्रिय (क्रियारहित) हैं, शुद्ध हैं और सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे सहित हैं ॥ २०४ ॥

अभेद्यसंहतिर्लोकशिखरैकशिखामणिः । ज्योतिर्मयः परिप्राप्तस्वात्मा सिद्धः सुखायते ॥ २०५ ॥

जिनके आत्मप्रदेशोंका समुदाय अभेद्य है, जो लोकके शिखरपर मुख्य शिरोमणिके समान सुशोभित हैं, जो ज्योतिर्मय हैं और जिन्होंने अपने शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लिया है, ऐसे वे सिद्ध भगवान् अनन्त काल तक सुखी रहते हैं ॥ २०५ ॥

कृतार्था निष्ठिताः सिद्धाः कृतकृत्या निरामयाः । सूक्ष्मा निरञ्जनाश्चेति पर्यायाः सिद्धिमायुषाम् ॥ २०६ ॥

कृतार्थ, निष्ठित, सिद्ध, कृतकृत्य, निरामय, सूक्ष्म और निरञ्जन ये सब मुक्तिको प्राप्त होनेवाले जीवोंके पर्यायवाची शब्द हैं ॥ २०६ ॥

> तेषामतीन्द्रियं सौख्यं दुःखप्रक्षयलक्षणम् । तदेव हि परं प्राहुः सुखमानन्त्यवेदिनः ॥ २०७ ॥

उन सिद्धोंके समस्त दुःखोंके क्षयसे होनेवाला अतीन्द्रिय सुख होता है और यथार्थमें केवलज्ञानी भगवान् उस अतीन्द्रिय सुखको ही उत्कृष्ट सुख बतलाते हैं ॥ २०७ ॥

> क्षुदादिवेदनाभावात्तेषां न विषयकामिता । किमु सेवेत भैषज्यं गदापेतः सुधीः पुमान् ॥ २०८ ॥

क्षुधा आदि वेदनाओंका अभाव होनेसे उनके विषयोंकी इच्छा नहीं होती सो ठीक ही है, क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष होगा जो नीरोग (स्वस्थ) होनेपर भी औषधियोंका सेवन करता हो ॥ २०८ ॥

> न तत्सुखं यत्परवस्तुसंबन्धादुपजायते । नित्यमव्ययमक्षय्यमात्मोत्थं हि परं शिवम् ॥ २०९ ॥

जो सुख पर-पदार्थोंके सम्बन्धसे होता है वह सुख नहीं है, किन्तु जो शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होता है, नित्य है, अव्यय (अविनाशी) है और क्षयरहित है, वही वास्तवमें उत्तम (परम) सुख है ॥ २०९ ॥

> स्वास्थ्यं चेत् सुखमेतेषामदोऽस्त्यानन्त्यमाश्रितम् । ततोऽन्यच्चेत् सुखं नाम न किंचिद् भुवनोदरे ॥ २१० ॥

यदि स्वास्थ्य (समस्त इच्छाओंका अपनी आत्मामें ही समावेश रहना—इच्छाजन्य आकुलताका अभाव होना) ही सुख कहलाता है तो वह अनन्त सुख सिद्ध भगवानके रहता ही है, और यदि स्वास्थ्यके सिवाय किसी अन्य वस्तुका नाम सुख है तो वह सुख लोकके भीतर कुछ भी नहीं है। भावार्थ—विषयोंकी इच्छा अर्थात् आकुलताका न होना ही सुख कहलाता है सो ऐसा सुख सिद्ध परमेष्ठीके सदा विद्यमान रहता है। इसके सिवाय यदि किसी अन्य वस्तुका नाम सुख माना जाये तो वह सुख नामका पदार्थ लोकमें किसी जगह भी नहीं है ऐसा समझना चाहिए ॥ २१० ॥

> सकलक्लेशनिर्मुक्तो निर्मोहो निरुपद्रवः । केनासौ बाध्यते सूक्ष्मस्तदस्यात्यन्तिकं सुखम् ॥ २११ ॥

वे सिद्ध भगवान् समस्त क्लेशोंसे रहित हैं, मोहरहित हैं, उपद्रवरहित हैं और सूक्ष्म हैं, इसलिए वे किसके द्वारा बाधित हो सकते हैं—उन्हें कौन बाधा पहुँचा सकता है अर्थात् कोई नहीं। इसीलिए उनका सुख आत्यन्तिक (अन्तरहित) कहा जाता है ॥ २११ ॥

> तद् ध्यानफलं प्राहुरानन्त्यमृषिपुङ्गवाः । तदर्थं हि तपस्यन्ति यतयो वातवल्कलाः ॥ २१२ ॥

ऋषियोंमें श्रेष्ठ गणधरादि देव इस अनन्त सुखको ही ध्यानका फल कहते हैं और उसी सुखके लिए ही मुनिजन दिगम्बर (वातवल्कल) होकर तपश्चरण करते हैं ॥ २१२ ॥

> यद्वद् वाताहताः सद्यो विलीयन्ते घनाघनाः । तद्वत् कर्मघना यान्ति विलयं ध्यानानिलाहताः ॥ २१३ ॥

जिस प्रकार वायुसे टकराये हुए मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यानरूपी वायुसे टकराये हुए कर्मरूपी मेघ शीघ्र ही विलयको प्राप्त हो जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं। भावार्थ—उत्तम ध्यानसे ही कर्मोंका क्षय होता है ॥ २१३ ॥

> सर्वाङ्गीणं विषं यद्वन्मन्त्रशक्त्या प्रकृष्यते । तद्वत् कर्मविषं कृत्स्नं ध्यानशक्त्यापसार्यते ॥ २१४ ॥

जिस प्रकार मन्त्रकी शक्तिसे समस्त शरीरमें व्याप्त हुआ विष खींच लिया जाता है उसी प्रकार ध्यानकी शक्तिसे समस्त कर्मरूपी विष दूर हटा दिया जाता है ॥ २१४ ॥

> ध्यानस्यैव तपोयोगाः शेषाः परिकरा मताः । ध्यानाभ्यासे ततो यत्नः शश्वत्कार्यो मुमुक्षुभिः ॥ २१५ ॥

बाकीके ग्यारह तप एक ध्यानके ही परिकर (सहायक) माने गये हैं, इसलिए मोक्षाभिलाषी जीवोंको निरन्तर ध्यानका अभ्यास करनेमें ही प्रयत्न करना चाहिए ॥ २१५ ॥

> इति ध्यानविधिं श्रुत्वा तुतोष मगधाधिपः । तदा विशुद्धमस्यासीत्तमोऽपायान्मनोऽम्बुजम् ॥ २१६ ॥

इस प्रकार ध्यानकी विधि सुनकर मगधेश्वर राजा श्रेणिक बहुत ही सन्तुष्ट हुए, और उस समय अज्ञानरूपी अन्धकारके नष्ट हो जानेसे उनका मनरूपी कमल भी प्रफुल्लित हो उठा था ॥ २१६ ॥

> ततस्तमृषयोऽभ्येत्य गौतमं कृतवन्दनाः । पप्रच्छुरिति योगार्थान् ध्यानभेदान् कांश्चित् ॥ २१७ ॥

तदनन्तर भक्तिपूर्वक वन्दना करनेवाले ऋषियोंने योगिराज गौतम गणधरके समीप आकर नीचे लिखे अनुसार और भी कुछ ध्यानके भेद पूछे ॥ २१७ ॥

> श्रुतं नः सर्वथाप्येतद् योगशास्त्रस्य वेदनम् । इदानीं बोद्धुमिच्छामस्तद्दिगन्तरशोधनम् ॥ २१८ ॥

कि हे भगवन्, हम लोगोंने आपसे योगशास्त्रका रहस्य अनेक बार सब प्रकारसे सुना है, अब इस समय आपसे अन्य प्रकारके ध्यानोंका निराकरण जानना चाहते हैं ॥ २१८ ॥

> तदस्य ध्यानशास्त्रस्य याः परा विप्रतिपत्तयः । निराकुरुष्व ता देव भास्वानिव तमस्ततीः ॥ २१९ ॥

हे देव, जिस प्रकार सूर्य अन्धकारके समूहको नष्ट कर देता है उसी प्रकार आप भी इस ध्यानशास्त्रके विषयमें जो कुछ भी विप्रतिपत्तियाँ (शंकाएँ/बाधाएँ) हैं उन सबको दूर कर दीजिए ॥ २१९ ॥

> ऋद्धिप्राप्तेर्ऋषिस्त्वं हि त्वं हि प्रत्यक्षविन्मुनिः । अनगारोऽस्य सङ्गत्याद् यतिः श्रेणिद्वयोन्मुखः ॥ २२० ॥

हे स्वामिन्, अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त होनेसे आप 'ऋषि' कहलाते हैं, आप अनेक पदार्थोंको प्रत्यक्ष जाननेवाले 'मुनि' हैं, परिग्रहरहित होनेके कारण आप 'अनगार' कहलाते हैं और दोनों श्रेणियोंके सम्मुख हैं इसलिए 'यति' कहलाते हैं ॥ २२० ॥

> ततो भागवतादीनां योगानामभिभूतये । वदस्व नो योगबीजानि हेत्वाज्ञाभ्यां यथाश्रुतम् ॥ २२१ ॥

इसलिए भागवत आदिमें कहे हुए अन्य योगोंका पराभव (निराकरण) करनेके लिए युक्ति और शास्त्रके अनुसार आपने जैसा सुना है वैसा ही हम लोगोंके लिए योग (ध्यान) के समस्त बीजों (कारणों अथवा बीजाक्षरों) का निरूपण कीजिए ॥ २२१ ॥

> इति पृष्टस्तदा तैस्तु भगवान् स्माह गौतमः । यत्पृष्टं योगतत्त्वं वः कथयिष्यामि तत्तथा ॥ २२२ ॥

इस प्रकार उन ऋषियोंके ये वचन सुनकर भगवान् गौतम स्वामी कहने लगे कि आप लोगोंने जो योगशास्त्रका तत्त्व अथवा रहस्य पूछा है उसे मैं स्पष्ट रूपसे कहता हूँ ॥ २२२ ॥

> षोढापि योगवादी स प्रष्टव्योऽत्र समाहितैः । योगः कः किं समाधानं प्राणायामश्च कीदृशः ॥ २२३ ॥

जो छह प्रकारसे योगोंका निरूपण करता है ऐसे योगवादीसे सावधान पुरुषोंको पूछना चाहिए कि योग क्या है? समाधान क्या है? और प्राणायाम कैसा है? ॥ २२३ ॥

> का धारणा किमाध्यानं किं ध्येयं कीदृशी स्मृतिः । किं फलं कानि बीजानि प्रत्याहारोऽस्य कीदृशः ॥ २२४ ॥

धारणा क्या है? आध्यान (चिन्तवन) क्या है? ध्येय क्या है? स्मृति कैसी है? ध्यानका फल क्या है? ध्यानके बीज क्या हैं? और इसका प्रत्याहार कैसा है? ॥ २२४ ॥

> कायाक्षमनसां कर्म योगो योगविदां मतः । स चाशुभाशुभभेदेन द्वैविध्यमश्नुते ॥ २२५ ॥

योगके जाननेवाले विद्वान् काय, वचन (इन्द्रिय) और मनकी क्रियाको योग मानते हैं, वह योग शुभ और अशुभके भेदसे दो भेदोंको प्राप्त होता है ॥ २२५ ॥

> यत्सम्यक्परिणामेषु चित्तस्याधानमञ्जसा । स समाधिरिति ज्ञेयः स्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम् ॥ २२६ ॥

उत्तम परिणामोंमें जो चित्तका स्थिर रखना है वही यथार्थमें समाधि या समाधान कहलाता है अथवा पंचपरमेष्ठियोंके स्मरणको भी समाधि कहते हैं ॥ २२६ ॥

> त्रिधाप्यसद्वियोगो यः स्यात् स प्राणादिको मतः । धारणा श्रुतनिर्दिष्टबीजानामवधारणम् ॥ २२७ ॥

मन, वचन और काय इन तीनों योगोंका निग्रह करना तथा शुभभावना रखना प्राणायाम कहलाता है और शास्त्रोंमें बतलाये हुए बीजाक्षरोंका अवधारण करना धारणा कहलाती है ॥ २२७ ॥

> आध्यानं स्यादनुध्यानमनित्यतादिचिन्तनैः । ध्येयं स्यात् परमं तत्त्वमवाङ्मनसगोचरम् ॥ २२८ ॥

अनित्यत्व आदि भावनाओंका बार-बार चिन्तवन करना आध्यान कहलाता है तथा मन और वचनके अगोचर जो अतिशय शुद्ध परमतत्त्व आत्मतत्त्व है वह ध्येय कहलाता है ॥ २२८ ॥

> स्मृतिर्जीवादितत्त्वानां याथात्म्यानुस्मृतिः स्मृता । तद्गुणानां च वा संवित् सिद्धार्हत्परमेष्ठिनाम् ॥ २२९ ॥

जीव आदि तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपका स्मरण करना स्मृति कहलाती है अथवा सिद्ध और अर्हन्त परमेष्ठीके गुणोंका स्मरण करना भी स्मृति कहलाती है ॥ २२९ ॥

> फलं प्रागुदितं बीजानि वक्ष्यमाणान्यनुक्रमात् । प्रत्याहारस्तु तस्योपसंहृतौ चित्तनिर्वृतिः ॥ २३० ॥

ध्यानका फल ऊपर कहा जा चुका है, बीजाक्षर आगे कहे जायेंगे और मनकी प्रवृत्तिका संकोच कर लेनेपर जो मानसिक शान्ति प्राप्त होती है उसे प्रत्याहार कहते हैं ॥ २३० ॥

> अकारादिहकारान्तरेफमध्यान्तबिन्दुकम् । ध्यायन् परमिदं बीजं मुक्त्यर्थी नावसीदति ॥ २३१ ॥

जिसके आदिमें अकार है, अन्तमें हकार है, मध्यमें रेफ है और ऊपर बिन्दु है (अर्हम्) ऐसे इस उत्कृष्ट बीजाक्षरका ध्यान करता हुआ मुमुक्षु पुरुष कभी भी दुःखी नहीं होता ॥ २३१ ॥

> षडक्षरात्मकं बीजमित्यर्हद्भ्यो नमोऽस्त्विति । ध्यात्वा मुमुक्षुरार्हन्त्यमनन्तगुणमृच्छति ॥ २३२ ॥

अथवा 'अर्हद्भ्यो नमः' अर्थात् 'अर्हन्तोंके लिए नमस्कार हो' इस प्रकार छह अक्षरवाला जो बीजाक्षर है उसका ध्यान कर मोक्षाभिलाषी मुनि अनन्त गुणयुक्त अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ २३२ ॥

> नमः सिद्धेभ्य इत्येतत् पञ्चार्णस्तत्पदं परम् । जपन् जप्येषु भव्यात्मा समीतान् कामानवाप्नुयात् ॥ २३३ ॥

अथवा जप करने योग्य पदार्थोंमें-से 'नमः सिद्धेभ्यः' अर्थात् 'सिद्धोंके लिए नमस्कार हो' इस प्रकार सिद्धोंके स्तवन करनेवाले पाँच अक्षरोंका जो भव्य जीव जप करता है वह अपने इच्छित पदार्थोंको प्राप्त होता है अर्थात् उसके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं ॥ २३३ ॥

> अष्टाक्षरं परं बीजं नमोऽर्हत्परमेष्ठिने । इतीदमनुसंस्मृत्य दुःखादीन्न स पश्यति ॥ २३४ ॥

अथवा 'नमोऽर्हत्परमेष्ठिने' अर्थात् 'अर्हत् परमेष्ठीके लिए नमस्कार हो' यह जो आठ अक्षरवाला परम बीजाक्षर है उसका चिन्तवन करके भी यह जीव फिर दुःखोंको नहीं देखता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥ २३४ ॥

> यत् षोडशाक्षरं बीजं सर्वबीजपदान्वितम् । तत्त्ववित् तदनुध्यायन् ध्रुवमेष विमुच्यते ॥ २३५ ॥

तथा 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः' अर्थात् 'अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु इन पाँचों परमेष्ठियोंके लिए नमस्कार हो' इस प्रकार सब बीजपदोंसे सहित जो सोलह अक्षरवाला बीजाक्षर है उसका ध्यान करनेवाला तत्त्वज्ञानी मुनि अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होता है ॥ २३५ ॥

> पञ्चब्रह्माभिधैर्मन्त्रैः सकलं कृत्य निष्कलम् । परं तत्त्वमनुध्यायन् योगी परब्रह्मतत्त्ववित् ॥ २३६ ॥

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इस प्रकार पंचब्रह्मस्वरूप मन्त्रोंके द्वारा जो योगिराज शरीररहित परमतत्त्व परमात्माको शरीरसहित कल्पना कर उसका बार-बार ध्यान करता है वह परब्रह्मके तत्त्वको जाननेवाला कहलाता है ॥ २३६ ॥

> योगिनः परमानन्दो योऽस्य स्याच्चित्तनिर्वृतेः । स ऐश्वर्यस्य पर्यन्तो योगजाः किमुतर्द्धयः ॥ २३७ ॥

ध्यान करनेवाले योगीके चित्तके सन्तुष्ट होनेसे जो परम आनन्द होता है वही सबसे अधिक ऐश्वर्य है, फिर योगसे होनेवाली अनेक ऋद्धियोंका तो कहना ही क्या है? भावार्थ—ध्यानके प्रभावसे हृदयमें जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है वही ध्यानका सबसे उत्कृष्ट फल है और अनेक ऋद्धियोंकी प्राप्ति होना गौण फल है ॥ २३७ ॥

अणिमादिगुणयुक्तमैश्वर्यं परमोदयम् । भुक्त्वा पुना रुजन्मुक्त्वा मुनिर्निर्वाति योगवित् ॥ २३८ ॥

योगको जाननेवाला मुनि अणिमा आदि गुणोंसे युक्त तथा उत्कृष्ट उदयसे सुशोभित इन्द्र आदिके ऐश्वर्यका इसी संसारमें उपभोग करता है और बादमें कर्मबन्धनसे छूटकर निर्वाण स्थानको प्राप्त होता है ॥ २३८ ॥

बीजान्येतान्यजाननो नाममात्रेण मन्त्रवित् । मिथ्याभिमानोपहतो बध्यते कर्मबन्धनैः ॥ २३९ ॥

इन ऊपर कहे हुए बीजोंको न जानकर जो नाममात्रसे ही मन्त्रवित् (मन्त्रोंको जाननेवाला) कहलाता है और झूठे अभिमानसे दग्ध होता है वह सदा कर्मरूपी बन्धनोंसे बँधता रहता है ॥ २३९ ॥

नित्यो वा स्यादनित्यो वा जीवो योगाभिमानिनाम् । नित्यश्चेदविकार्यत्वान्न ध्येयध्यानसंगतिः ॥ २४० ॥

अब यहाँसे अन्य मतावलम्बी लोगोंके द्वारा माने गये योगका निराकरण करते हैं—योगका अभिमान करनेवाले अर्थात् मिथ्या योगको भी यथार्थ योग माननेवालोंके मतमें जीव पदार्थ नित्य है अथवा अनित्य? यदि नित्य है तो वह अविकार्य अर्थात् विकार (परिणमन) से रहित होगा और ऐसी अवस्थामें उसके ध्येयके ध्यानरूपसे परिणमन नहीं हो सकेगा ॥ २४० ॥

सुखासुखानुभवनस्मरणेच्छाद्यसंभवात् । प्रागेवास्य न दिध्यासा दूरात्तत्त्वानुचिन्तनम् ॥ २४१ ॥

इसके सिवाय नित्य जीवके सुख-दुःखका अनुभव, स्मरण और इच्छा आदि परिणमनोंका होना भी असम्भव है, इसलिए जब इस जीवके सर्वप्रथम ध्यानकी इच्छा ही नहीं हो सकती तब तत्त्वका चिन्तन तो दूर ही रहा ॥ २४१ ॥

तद्वृत्तौ तु कुतो ध्यानं कुतस्त्यो वा फलोदयः । बन्धमोक्षार्थनिष्ठानां प्रक्रियाप्यफला ततः ॥ २४२ ॥

और तत्त्व-चिन्तनके बिना ध्यान कैसे हो सकता है? ध्यानके बिना फलकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? और उसके बिना बन्ध तथा मोक्षके कारणभूत समस्त क्रियाकलाप भी निष्फल हो जाते हैं ॥ २४२ ॥

> क्षणिकानां च चित्तानां सन्ततौ कानुभावना । ध्यानस्य स्यानुभूतार्थस्मृतिरेवात्र दुर्घटा ॥ २४३ ॥

यदि जीवको अनित्य माना जाये तो क्षण-क्षणमें नवीन उत्पन्न होनेवाली चित्तोंकी सन्ततिमें ध्यानकी भावना ही नहीं हो सकेगी, क्योंकि इस अनित्यवृत्तिमें अपने द्वारा अनुभव किये हुए पदार्थोंका स्मरण होना असम्भव (दुर्घटना) है ॥ २४३ ॥

> सन्तानान्तरवत्तस्मान्न दिध्यासादिसंभवः । नो ध्यानं न च निर्मोक्षो नाप्यस्याष्टाङ्गभावना ॥ २४४ ॥

जिस प्रकार अन्य पुरुषकी सन्तानमें स्मरण नहीं होता उसी प्रकार मूलभूत जीवके नष्ट हो जानेपर उसकी उत्तर सन्तानमें भी ध्यानकी इच्छादिका होना असम्भव है, अतः न ध्यान हो सकता है, न मोक्ष हो सकता है और न सम्यग्दृष्टि आदि अष्टांगकी भावना ही हो सकती है ॥ २४४ ॥

> तथा पुद्गलवादेऽपि देहिपुद्गलतत्त्वयोः । तत्त्वान्यत्वाद्यवक्तव्यसङ्गराद्ध्यातुरस्थितेः ॥ २४५ ॥

इसी प्रकार पुद्गलवादी (आत्माको पुद्गलरूप माननेवाले) वात्सीपुत्रियोंके मतमें भी देह और पुद्गलतत्त्वके तत्त्व (अभेद), अन्यत्व (भेद) और अवक्तव्य पक्षोंमें ध्याताकी सत्ता सिद्ध नहीं हो पाती ॥ २४५ ॥

> दिध्यासापूर्विका ध्यानप्रवृत्तिर्नात्र युज्यते । अशक्यः खपुष्पस्य काचिद्गन्धादिकल्पना ॥ २४६ ॥

अतः ध्यानकी इच्छापूर्वक होनेवाली ध्यानप्रवृत्ति नहीं बन सकती, क्योंकि सर्वथा असत् आकाशपुष्पमें सुगन्धि आदिकी कल्पना नहीं हो सकती ॥ २४६ ॥

> विज्ञप्तिमात्रवादे च ज्ञप्तेर्न ज्ञेयगोचरः । ततो निर्विषया ज्ञप्तिः क्वात्मानं विभृयात् कथम् ॥ २४७ ॥

इसी प्रकार विज्ञानमात्रवादियों (विज्ञानाद्वैतवादियों) के मतमें भी ज्ञप्ति (ज्ञान) का कोई ज्ञेय विषय नहीं रहता, इसलिए निर्विषय विज्ञान अपने स्वरूपको कहाँ और कैसे धारण कर सकेगा! ॥ २४७ ॥

> ज्ञानाभावे न च ध्यानं न ध्येयं मोक्ष एव वा । प्रदीपार्कहुताशादौ सत्येव हि प्रकाशनम् ॥ २४८ ॥

और विज्ञानका अभाव होनेपर न ध्यान, न ध्येय और न मोक्ष ही सिद्ध हो सकता है; क्योंकि दीपक, सूर्य, अग्नि आदि प्रकाशकोंके रहते हुए ही पदार्थोंका प्रकाशन हो सकता है, अन्य प्रकारसे नहीं ॥ २४८ ॥

> नैरात्म्यवादपक्षेऽपि किं तु केन प्रमीयते । कच्छपाङ्गरुहैः स्यूतं स्यात् खपुष्पापीडधारणम् ॥ २४९ ॥

इसी प्रकार जो आत्माको नहीं मानते ऐसे नैरात्म्यवादी (शून्यवादी) बौद्धोंके मतमें भी कौन किसके द्वारा किसको जानेगा? उनके यहाँ ध्यानकी कल्पना करना कछुएके बालोंसे स्यूत किये हुए आकाशके फूलोंका मुकुट धारण करनेके समान है ॥ २४९ ॥

> ध्येयतत्त्वेऽपि नेतव्या विकल्पद्वययोजना । अनादेयाप्रहेयातिशये तत्त्वे न युज्यते ॥ २५० ॥

इसके सिवाय शून्यवादियोंके मतमें ध्येयतत्त्वकी भी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ध्येयमें हेय और उपादेय ऐसे दो प्रकारके विकल्प होते हैं। जब शून्यवादी मूलभूत किसी पदार्थको ही नहीं मानते तब अनादेय और अप्रहेय ऐसे शून्यमें ध्येयका विकल्प किस प्रकार किया जा सकता है? अर्थात् नहीं किया जा सकता ॥ २५० ॥

> मुक्तात्मनोऽपि चैतन्यविरहाल्लक्षणक्षतेः । ध्येयता कापिलानां न स्यान्निर्गुणत्वाच्च खाब्जवत् ॥ २५१ ॥

सांख्य (कपिल) मतमें मुक्तात्माका स्वरूप चैतन्यरहित मानते हैं, परन्तु उनकी इस मान्यतामें चैतन्यरूप लक्षणका अभाव होनेसे आत्मारूप लक्ष्यकी भी सिद्धि नहीं हो पाती। जिस प्रकार रूपत्व और सुगन्धि आदि गुणोंका अभाव होनेसे आकाशकमलकी सिद्धि नहीं हो सकती, ठीक उसी प्रकार निर्गुण होनेसे मुक्तात्माकी भी सिद्धि नहीं हो सकती और वह ध्येय नहीं हो सकता ॥ २५१ ॥

> सुषुप्तसदृशो मुक्तः स्यादित्येष कदर्पितः । सुपुत्सत्येव मुग्धोऽसौ ध्येयतत्त्वविचारणे ॥ २५२ ॥

जो सांख्यमतावलम्बी ऐसा कहते हैं कि मुक्त आत्मा सुषुप्ति (निद्रा) में सोये हुए पुरुषके समान अचेत रहता है, मालूम होता है कि वे मुग्ध अज्ञानी ध्येयतत्त्वका विचार करते समय स्वयं सोना चाहते हैं अर्थात् अज्ञानी बने रहना चाहते हैं ॥ २५२ ॥

शेषेष्वपि प्रवादेषु न ध्यानध्येयनिर्णयः । एकान्तदोषदुष्टत्वाद् द्वैताद्वैतादिवादिनाम् ॥ २५३ ॥

इसी प्रकार द्वैतवादी तथा अद्वैतवादी लोगोंके जो अन्य मत शेष रह गये हैं वे सभी एकान्तरूपी दोषसे दूषित हैं, इसलिए उन सभीमें ध्यान और ध्येयका कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता है ॥ २५३ ॥

नित्यानित्यात्मकं जीवतत्त्वमभ्युपगच्छताम् । ध्यानं स्याद्वादिनामेव घटते नान्यवादिनाम् ॥ २५४ ॥

इसलिए जीवतत्त्वको नित्य और अनित्य दोनों ही रूपसे माननेवाले स्याद्वादी लोगोंके मतमें ही ध्यानकी सिद्धि हो सकती है, अन्य एकान्तवादी लोगोंके मतमें नहीं हो सकती ॥ २५४ ॥

विरुद्धधर्मयोरेकं वस्तु नाधारतां व्रजेत् । इति चेन्नार्पणाभेदादविरोधप्रसिद्धितः ॥ २५५ ॥

कदाचित् यहाँ कोई कहे कि एक ही वस्तु दो विरुद्ध धर्मोंका आधार नहीं हो सकती अर्थात् एक ही जीव नित्य और अनित्य नहीं हो सकता, तो उसका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अर्पणा (विवक्षा) के भेदसे वैसा माननेमें कोई विरोध नहीं आता ॥ २५५ ॥

नित्यो द्रव्यार्पणादात्मा न पर्यायभिदार्पणात् । अनित्यः पर्ययोत्पादविनाशैर्द्रव्यतो न तु ॥ २५६ ॥

जीवतत्त्व द्रव्यकी विवक्षासे नित्य है, न कि पर्यायके भेदोंकी विवक्षासे भी। इसी प्रकार वही जीवतत्त्व पर्यायोंके उत्पाद और विनाशकी अपेक्षा अनित्य है, न कि द्रव्यकी अपेक्षासे भी ॥ २५६ ॥

देवदत्तः पिता ज्ञेयः स्यात् पुत्रश्चैवार्पणावशात् । विपक्षेतरयोर्योगः स्याद्वस्तुतद्युभयात्मनि ॥ २५७ ॥

जिस प्रकार एक ही देवदत्त विवक्षाके वशसे पिता और पुत्र दोनों ही रूप होता है—अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है और अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र है, उसी प्रकार एक ही वस्तु विवक्षाके वशसे नित्य तथा अनित्य दोनों रूप ही होती है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुमें दोनों विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं, परन्तु उनका समावेश विवक्षा और अविवक्षाके अनुसार ही होता है ॥ २५७ ॥

> जिनप्रवचनाभ्यासप्रसरद्बोधसंपदाम् । युक्तं स्याद्वादिनां ध्यानं नान्येषां कुदृशामिदम् ॥ २५८ ॥

इसलिए जिन-प्रवचन (जैन शास्त्रों) के अभ्याससे जिनकी ज्ञानरूपी सम्पदा सभी ओर फैल रही है ऐसे स्याद्वादी लोगोंके मतमें ही ध्यानकी सिद्धि हो सकती है, अन्य मिथ्यादृष्टियोंके मतमें नहीं ॥ २५८ ॥

> जिनो मोहारिविजयादाप्तः स्याद् वीतधीमलः । वाचस्पतिरसौ प्रोक्तः सन्मार्गप्रतिबोधनात् ॥ २५९ ॥

भगवान् जिनेन्द्रदेवने मोहरूपी शत्रुपर विजय प्राप्त कर ली है इसलिए वे 'जिन' कहलाते हैं, उनकी बुद्धिका समस्त मल नष्ट हो गया है इसलिए वे 'आप्त' कहलाते हैं और उन्होंने अपने वचनों द्वारा सर्वश्रेष्ठ मोक्षमार्गका उपदेश दिया है इसलिए वे 'वाचस्पति' कहलाते हैं ॥ २५९ ॥

> स्यादर्हन्नरिघातादिगुणैरपरगोचरैः । बुद्धस्त्रैलोक्यतत्त्वार्थावबोधनाद् विश्वदृग्विशुः ॥ २६० ॥

अन्य किसीमें नहीं पाये जानेवाले, राग-द्वेष आदि कर्मशत्रुओंका घात करना आदि गुणोंके कारण वे 'अर्हन्' कहलाते हैं, तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंको जाननेके कारण वे 'बुद्ध' कहलाते हैं और वे समस्त जगतकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिए 'विभु' कहलाते हैं ॥ २६० ॥

> स विष्णुश्च विजिष्णुश्च शङ्करोऽप्यभयंकरः । शिवः सनातनः सिद्धो ज्योतिः परममक्षरम् ॥ २६१ ॥

इसी प्रकार वे समस्त संसारमें व्याप्त होनेसे 'विष्णु', कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेसे 'विजिष्णु', शान्ति करनेसे 'शंकर', सब जीवोंको अभय देनेसे 'अभयंकर', आनन्दरूप होनेसे 'शिव', आदि-अन्तरहित होनेके कारण 'सनातन', निष्पन्न होनेके कारण 'सिद्ध', केवलज्ञानरूप होनेसे 'ज्योतिर्मय', अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे सहित होनेके कारण 'परम' और अविनाशी होनेसे 'अक्षर' कहलाते हैं ॥ २६१ ॥

> इत्यन्वर्थानि नामानि श्रुत्वा लोकेशिनः प्रभोः । विदुषां हृदयेष्वाप्तबुद्धिं कर्तुमलं तराम् ॥ २६२ ॥

इस प्रकार जिस त्रैलोक्यनाथ प्रभुके अनेक सार्थक नाम हैं वही अरहन्तदेव विद्वानोंके हृदयमें आप्तबुद्धि करनेके लिए समर्थ हैं अर्थात् विद्वान् पुरुष उन्हें ही आप्त मान सकते हैं ॥ २६२ ॥

यस्य रूपमधिज्योति रनम्बरविभूषणम् । शास्ति कामज्वरापायमकटाक्षनिरीक्षणम् ॥ २६३ ॥

जिनका रूप वस्त्र और आभूषणोंसे रहित होनेपर भी अतिशय प्रकाशमान है और जिनका कटाक्षरहित देखना कामरूपी ज्वरके अभावको सूचित करता है ॥ २६३ ॥

निरायुधत्वान्निर्ध्वंसभयकोपमकोपनात् । अरक्तनयनं सौम्यं सदा प्रहसितायितम् ॥ २६४ ॥

शस्त्ररहित होनेके कारण जो भय और क्रोधसे रहित है तथा क्रोधका अभाव होनेसे जिसके नेत्र लाल नहीं हैं, जो सदा सौम्य और मन्द मुसकानसे पूर्ण रहता है ॥ २६४ ॥

रागाद्यशेषदोषाणां विजयादतिमानुषम् । मुखाब्जं यस्य शास्तृत्वमनुशास्ति सुमेधसः ॥ २६५ ॥

राग आदि समस्त दोषोंके जीत लेनेसे जो समस्त अन्य पुरुषोंके मुखोंसे बढ़कर अतिमानुष है, ऐसा जिनका मुखकमल ही विद्वानोंके लिए उत्तम शासकपनेका उपदेश देता है अर्थात् विद्वान् लोग जिनका मुखकमल देखकर ही उन्हें उत्तम शासक समझ लेते हैं ॥ २६५ ॥

स एवाप्तो जगद्व्याप्तज्ञानवैराग्यवैभवः । जिनोक्तमेतद् ध्यानं च श्रेयः श्रेयोऽर्थिनामिदम् ॥ २६६ ॥

इसके सिवाय जिनके ज्ञान और वैराग्यका वैभव समस्त जगत् में फैला हुआ है ऐसे अरहन्तदेव ही आप्त हैं। यह ध्यानका स्वरूप सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ है, इसलिए कल्याण चाहनेवालोंके लिए कल्याणस्वरूप है ॥ २६६ ॥

इति वदति गणेन्द्रे ध्यानतत्त्वं महर्द्धौ मुनिसदसि मुनीन्द्राः प्रापुषस्तत्प्रसादात् ।
घनपुलकितमुद्गाद्गात्रमाविर्मुखाब्जं दिनकरकरयोगादाकरा वाम्बुजानाम् ॥ २६७ ॥

इस प्रकार बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले गौतम गणधरने जब मुनियोंकी सभामें ध्यानतत्त्वका निरूपण किया तब भक्तिको धारण करनेवाले वे मुनिराज बहुत ही सन्तुष्ट हुए। उनके शरीर बार-बार रोमांचित हो उठे और जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंके सम्पर्कसे कमलोंका समूह प्रफुल्लित हो जाता है उसी प्रकार हर्षसे उनके मुखकमल भी प्रफुल्लित हो गये थे ॥ २६७ ॥

स्तुतिमुखरमुखास्ते योगिनो योगिमुख्यं क्षणमथ जिनसेनाधीश्वरं तं प्रणुत्य । प्रणिदधुरथ चेतः श्रोतुमार्हन्त्यलक्ष्मीं समधिगतसमग्रज्ञानधाम्नः स्वधाम्नः ॥ २६८ ॥

तदनन्तर स्तुति करनेसे जिनके मुख वाचालित हो रहे हैं ऐसे उन सभी योगियोंने योगियोंमें मुख्य और जिनसेनाधीश्वर अर्थात् जिनेन्द्र भगवानकी चार संघरूपी सेनाके अथवा आचार्य जिनसेनके स्वामी गौतम गणधरकी थोड़ी देर तक स्तुति कर, जिन्हें समस्त ज्ञानका तेज प्राप्त हुआ है और जो अपने आत्मस्वरूपमें ही स्थिर हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवकी आर्हन्त्य लक्ष्मी (वैभव) को सुननेके लिए अपना चित्त स्थिर किया ॥ २६८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे ध्यानतत्त्वानुवर्णनं नामैकविंशं पर्व समाप्तम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें ध्यानतत्त्वका वर्णन करनेवाला इक्कीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

अथ घातिजये जिष्णोरनुष्णीकृतविष्टपे । त्रैलोक्यामभवत् क्षोभः कैवल्योत्पत्तिवातया ॥ १ ॥

अथानन्तर जब जिनेन्द्र भगवानने घातिया कर्मोंपर विजय प्राप्त की तब समस्त संसारका ताप नष्ट हो गया—सारे संसारमें शान्ति छा गयी और केवलज्ञानकी उत्पत्तिरूप वायुके समूहसे तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न हो गया ॥ १ ॥

तदा प्रक्षुभिताम्भोधिबेलाध्वानानुकारिणी । घण्टा मुखरयामास जगत् कल्पामरेशिनाम् ॥ २ ॥

उस समय क्षोभको प्राप्त हुए समुद्रकी वेलाके प्रचण्ड शब्दका अनुकरण करता हुआ कल्पवासी देवोंके इन्द्रका घण्टा समस्त संसारको वाचाल कर रहा था ॥ २ ॥

ज्योतिर्लोके महान् सिंहप्रणादोऽभूत् समुत्थितः । येनाशु विमदीभावमवापन् सुरवारणाः ॥ ३ ॥

ज्योतिषी देवोंके लोकमें बड़ा भारी सिंहनाद हो रहा था जिससे देवताओंके हाथी भी शीघ्र ही मदरहित अवस्थाको प्राप्त हो गये थे ॥ ३ ॥

दध्वान ध्वनदम्भोदध्वनितानि तिरोदधन् । वैयन्तरेषु गेहेषु महानानकनिःस्वनः ॥ ४ ॥

व्यन्तर देवोंके भवनोंमें नगाड़ोंके ऐसे जोरदार शब्द हो रहे थे जो कि गरजते हुए मेघोंके शब्दोंको भी तिरस्कृत कर रहे थे ॥ ४ ॥

> शङ्खः शैलाटवागच्छेत्युच्चैः सौख्यं जिघृक्षवः । इतीव घोषयन्नुच्चैः फणीन्द्रभवनेऽध्वनत् ॥ ५ ॥

'हे भवनवासी देवो! तुम भी आकाशमें चलनेवाले कल्पवासी देवोंके साथ-साथ भगवानके दर्शनसे उत्पन्न हुए सुख अथवा शान्ति को ग्रहण करनेके लिए आओ!' इस प्रकार मानो जोर-जोरसे घोषणा करता हुआ शंख भवनवासी देवोंके भवनोंमें अपने आप शब्द करने लगा था ॥ ५ ॥

> विष्टराण्यमरेशानामञ्जसैव प्रचकम्पिरे । अक्षमाणीव तद्गर्वं सोढुं जिनजयोत्सवे ॥ ६ ॥

उसी समय समस्त इन्द्रोंके आसन भी शीघ्र ही कम्पायमान हो गये थे, मानो जिनेन्द्रदेवको घातिया कर्मोंके जीत लेनेपर जो गर्व हुआ था उसे वे सहन करनेके लिए असमर्थ होकर ही कम्पायमान होने लगे थे ॥ ६ ॥

> हस्तैः करैः स्वैरुत्क्षिप्तपुष्करार्थाः प्रनर्तिताः । ननृतुः पर्वताभासा महाहिभिरिवाहयः ॥ ७ ॥

जिन्होंने अपनी-अपनी सूँड़ोंके अग्रभागोंसे पकड़कर कमलरूपी अर्घ्य ऊपरको उठाये हैं और जो पर्वतोंके समान ऊँचे हैं ऐसे देवोंके हाथी नृत्य कर रहे थे तथा वे ऐसे मालूम होते थे मानो बड़े-बड़े सर्पोंसहित पर्वत ही नृत्य कर रहे हों ॥ ७ ॥

> पुष्पाञ्जलिमिवातेनुः समन्तात् सुरभूरुहाः । चलच्छाखाकरैर्दीर्घैर्विगलत्कुसुमोत्करैः ॥ ८ ॥

अपनी लम्बी-लम्बी शाखाओंरूपी हाथोंसे चारों ओर फूल बरसाते हुए कल्पवृक्ष ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भगवानके लिए पुष्पाञ्जलि ही समर्पित कर रहे हों ॥ ८ ॥

> दिशः प्रसत्तिमासेदुः प्रपेदेऽभ्रमदम्बरम् । विरजीकृतभूलोकः शिशिरो मरुदाववौ ॥ ९ ॥

समस्त दिशाएँ प्रसन्नताको प्राप्त हो रही थीं, आकाश मेघोंसे रहित होकर सुशोभित हो रहा था और जिसने पृथ्वीलोकको धूलिरहित कर दिया है ऐसी ठण्डी-ठण्डी वायु चल रही थी ॥ ९ ॥

इति प्रमोदमातन्वन्नकस्माद् भुवनोदरे । केवलज्ञानपूर्णेन्दुर्जगदब्धिमवर्धयत् ॥ १० ॥

इस प्रकार संसारके भीतर अकस्मात् आनन्दको विस्तृत करता हुआ केवलज्ञानरूपी पूर्ण चन्द्रमा संसाररूपी समुद्रको बढ़ा रहा था अर्थात् उद्वेलित कर रहा था ॥ १० ॥

चिह्नैरेमीभिरज्ञासीद् द्रुतमेव स सावधिः । वैभवं भुवनव्यापि प्रभुं भवध्वंसिवैभवम् ॥ ११ ॥

अवधिज्ञानी इन्द्रने इन सब चिह्नोंके द्वारा तीनों लोकोंमें व्याप्त हुए और संसारको नष्ट करनेवाले, भगवान् वृषभदेवके केवलज्ञानरूपी वैभवको शीघ्र ही जान लिया था ॥ ११ ॥

अथोत्थायासनादाशु प्रमोदं परमुद्वहन् । तद्भरादिव नम्रोऽभून्नतमूर्धा शचीपतिः ॥ १२ ॥

तदनन्तर परम आनन्दको धारण करता हुआ इन्द्र शीघ्र ही आसनसे उठा और उस आनन्दके भारसे ही मानो नतमस्तक होकर उसने भगवानके लिए नमस्कार किया था ॥ १२ ॥

किमेतदिति पृच्छन्त्यै पौलोम्यै चातिसंभ्रमात् । हरिः प्रबोधयामास विभोः कैवल्यसंभवम् ॥ १३ ॥

'यह क्या है?' इस प्रकार बड़े आश्चर्यसे पूछती हुई इन्द्राणीके लिए भी इन्द्रने भगवानके केवलज्ञानकी उत्पत्तिका समाचार बतलाया था ॥ १३ ॥

आतोद्येषु प्रध्वनत्सु स तदा शतमन्युराट् । विभोः कैवल्यपूजायै निश्चक्राम दिवौकसैः ॥ १४ ॥

अथानन्तर जब प्रस्थानकालकी सूचना देनेवाले नगाड़े जोर-जोरसे शब्द कर रहे थे तब इन्द्र अनेक देवोंसे परिवृत होकर भगवानके केवलज्ञानकी पूजा करनेके लिए निकला ॥ १४ ॥

ततो बलाहककाकारं विमानं कामगाह्वयम् । चक्रे बलाहको देवो जम्बूद्वीपप्रमान्वितम् ॥ १५ ॥

उसी समय बलाहक देवने एक कामग नामका विमान बनाया जिसका आकार बलाहक अर्थात् मेघके समान था और जो जम्बूद्वीपके प्रमाण था ॥ १५ ॥

मुक्तालम्बनसंशोभि सदामं रत्ननिर्मितम् । तोषाट्टहासमातन्वदिव किङ्किणिकास्वनैः ॥ १६ ॥

वह विमान रत्नोंका बना हुआ था और मोतियोंकी लटकती हुई मालाओंसे सुशोभित हो रहा था तथा उसपर जो किंकिणियोंके शब्द हो रहे थे उनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो सन्तोषसे हँस ही रहा हो ॥ १६ ॥

शारदाभ्रमिवोदग्रं श्वेतिताखिलदिङ्मुखम् । नागदत्तोऽभियोग्येशो नागमैरावतं व्यधात् ॥ १७ ॥

जो आभियोग्य जातिके देवोंमें मुख्य था ऐसे नागदत्त नामके देवने विक्रिया ऋद्धिसे एक ऐरावत हाथी बनाया। वह हाथी शरद् ऋतुके बादलोंके समान सफेद था, बहुत बड़ा था और उसने अपनी सफेदीसे समस्त दिशाओंको सफेद कर दिया था ॥ १७ ॥

ततस्तद्विक्रियारब्धमारूढो दिव्यवाहनम् । मघवा च सहैशानः प्रतस्थे सपुलोमजः ॥ १८ ॥

तदनन्तर सौधर्मेन्द्रने अपनी इन्द्राणी और ऐशान इन्द्रके साथ-साथ विक्रिया ऋद्धिसे बने हुए उस दिव्य वाहनपर आरूढ़ होकर प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशत्पारिषदामराः । सात्मरक्षा जगत्पालाः सानीकाः सप्रकीर्णकाः ॥ १९ ॥

सबसे आगे किल्विषिक जातिके देव जोर-जोरसे सुन्दर नगाड़ोंके शब्द करते जाते थे और उनके पीछे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक और प्रकीर्णक आदि देव चले ॥ १९ ॥

पुरः किल्विषिकेषूच्चैरातन्वत्स्वानकस्वनान् । ययुः स्वैर्वाहनैः कामं व्रजन्तमनुयद्व्रजुः ॥ २० ॥

तथा आभियोग्य और किल्विषिक जातिके देव अपनी-अपनी सवारियोंपर आरूढ़ हो इच्छानुसार जाते हुए सौधर्मेन्द्रके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ २० ॥

अप्सरस्सु नटन्तीषु गन्धर्वातोद्यवादनैः । किन्नरेषु च गायत्सु चचाल सुरवाहिनी ॥ २१ ॥

उस समय अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं, गन्धर्व देव बाजे बजा रहे थे और किन्नरी जातिकी देवियाँ गीत गा रही थीं, इस प्रकार वह देवोंकी सेना बड़े वैभवके साथ जा रही थी ॥ २१ ॥

> इन्द्रादीनामथैतेषां लक्षणं किंचिदुच्यते । इन्दनादणिमाद्यष्टगुणैरिन्द्रो महीयते ॥ २२ ॥

अब यहाँपर इन्द्र आदि देवोंके कुछ लक्षण लिखे जाते हैं—अन्य देवोंमें न पाये जानेवाले अणिमा, महिमा आदि गुणोंसे जो परम ऐश्वर्यको प्राप्त हों उन्हें इन्द्र कहते हैं ॥ २२ ॥

> आज्ञैश्वर्याद् विनान्यैस्तु गुणैस्तत्संमिताः सुराः । सामानिका इमे ज्ञेयाः शक्रेणापि गुरूकृताः ॥ २३ ॥

जो आज्ञा और ऐश्वर्यके बिना अन्य सब गुणोंसे इन्द्रके समान हों और इन्द्र भी जिन्हें बड़ा मानता हो वे सामानिक देव कहलाते हैं ॥ २३ ॥

> पितृमातृगुरुप्रख्याः पूजिताः स्युः सुरेशिनाम् । प्रत्यहं सममिन्द्रैश्च सत्कारं मान्यतोचितम् ॥ २४ ॥

ये सामानिक जातिके देव इन्द्रोंके पिता, माता और गुरुके तुल्य होते हैं तथा ये अपनी मान्यताके अनुसार इन्द्रोंके समान ही सत्कार प्राप्त करते हैं ॥ २४ ॥

> त्रायस्त्रिंशास्त्रयस्त्रिंशदेव देवाः प्रकीर्तिताः । पुरोधोमन्त्र्यमात्यानां सदृशास्ते दिवौकसाम् ॥ २५ ॥

इन्द्रोंके पुरोहित, मन्त्री और अमात्यों (सदा साथमें रहनेवाले मन्त्री) के समान जो देव होते हैं वे त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं। ये देव एक-एक इन्द्रकी सभामें गिनतीके तैंतीस-तैंतीस ही होते हैं ॥ २५ ॥

> स्थिताः परिषदीत्यासन्नमी पारिषदाह्वयाः । ते पीठमर्दसदृशाः सुरेशै रतिलालिताः ॥ २६ ॥

जो इन्द्रकी सभामें उपस्थित रहते हैं उन्हें पारिषद कहते हैं। ये पारिषद जातिके देव इन्द्रके पीठमर्द अर्थात् मित्रके समान होते हैं और इन्द्र उनपर अतिशय प्रेम रखता है ॥ २६ ॥

आत्मरक्षाः शिरोरक्षसमानाः प्रोद्यतायुधाः । विभवायेव पर्यन्ते पर्यटन्त्यमरेशिनाम् ॥ २७ ॥

जो देव अंगरक्षकके समान शस्त्रोंको ऊँची उठाकर इन्द्रके चारों ओर घूमते रहते हैं वे आत्मरक्ष कहलाते हैं। यद्यपि इन्द्रको कुछ भय नहीं रहता तथापि ये देव इन्द्रका वैभव दिखलानेके लिए ही उसके पास ही पास घूमा करते हैं ॥ २७ ॥

लोकपालास्तु लोकान्तपालका दुर्गपालवत् । पदात्यादीन्यनीकानि दण्डकल्पानि तानि वै ॥ २८ ॥

जो दुर्गरक्षकके समान स्वर्गलोककी रक्षा करते हैं उन्हें लोकपाल कहते हैं और सेनाके समान पदाति आदिके जो सात प्रकारके देव हैं उन्हें अनीक कहते हैं (हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, बैल, गन्धर्व और नृत्य करनेवाली देवियाँ, यह सात प्रकारकी देवोंकी सेना है) ॥ २८ ॥

पौरजानपदप्रख्याः सुरा ज्ञेयाः प्रकीर्णकाः । भवेयुराभियोग्याख्या दासकर्मकरोपमाः ॥ २९ ॥

नगर तथा देशवासियोंके समान जो देव हैं उन्हें प्रकीर्णक जानना चाहिए और जो नौकर-चाकरोंके समान हैं वे आभियोग्य कहलाते हैं ॥ २९ ॥

तथा किल्विषमस्त्येषामिति किल्विषिकामराः । बाह्याः प्रजा इव स्वर्गे स्वल्पपुण्योदितर्द्धयः ॥ ३० ॥

जिनके किल्विष अर्थात् पापकर्मका उदय हो उन्हें किल्विषिक देव कहते हैं। ये देव अन्त्यजोंकी तरह अन्य देवोंसे बाहर रहते हैं। उनके जो कुछ थोड़ा-सा पुण्यका उदय होता है उसीके अनुरूप उनकी थोड़ी-सी ऋद्धियाँ होती हैं ॥ ३० ॥

एकैकस्मिन् निकाये स्युर्दश भेदाः सुरा इमे । व्यन्तरा ज्योतिषां त्रायस्त्रिंशलोकपवर्जिताः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार प्रत्येक निकायमें ये ऊपर कहे हुए दस-दस प्रकारके देव होते हैं, परन्तु व्यन्तर और ज्योतिषी देव त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल भेदसे रहित होते हैं ॥ ३१ ॥

ऐरावतः कीदृगिति चेत् सोऽनुवर्ण्यते । पृथुवंशो महावर्ष्मा सुवृत्तोन्नतमस्तकः ॥ ३२ ॥

अब इन्द्रके ऐरावत हाथीका भी वर्णन करते हैं—उसका वंश अर्थात् पीठपरकी हड्डी बहुत ऊँची थी, उसका शरीर बहुत बड़ा था, मस्तक अतिशय गोल और ऊँचा था ॥ ३२ ॥

बहुवक्त्रो बहुदन्तो बहुशुण्डो बहुप्रथः । लक्षणव्यञ्जनैर्युक्तः शक्तियुक्तस्तरस्वी बली ॥ ३३ ॥

उसके अनेक मुख थे, अनेक दाँत थे, अनेक सूँड़ें थीं, उसका आसन बहुत बड़ा था, वह अनेक शुभ लक्षणों और व्यंजनोंसे सहित था, शक्तिशाली था, शीघ्र गमन करनेवाला था और महाबली था ॥ ३३ ॥

कामगः कामरूपी च शूरः संवृत्तकन्धरः । समसंबन्धनो धूर्तः क्षौद्रस्निग्धरदेक्षणः ॥ ३४ ॥

वह इच्छानुसार चाहे जहाँ गमन कर सकता था, इच्छानुसार चाहे जैसा रूप बना सकता था, अतिशय शूरवीर था, उसके कन्धे अतिशय गोल थे, वह समचतुरस्र संस्थानका धारी था, उसके अंग-प्रत्यंगके बन्धन उत्तम थे, वह धुरन्धर था तथा उसके दाँत और नेत्र मनोहर तथा चिकने थे ॥ ३४ ॥

तिर्यग्लोलायतस्थूलसमवृत्तर्जुसत्करः । स्निग्धाताम्रपृथुस्रोतोदीर्घाङ्गुलिसपुष्करः ॥ ३५ ॥

उसकी उत्तम सूँड़ नीचेकी ओर तिरछी लटकती हुई चंचल, लम्बी, मोटी तथा अनुक्रमसे पतली होती हुई गोल और सीधी थी; पुष्कर अर्थात् सूँड़का अग्रभाग चिकना और लाल था, उसमें बड़े-बड़े छेद थे और बड़ी-बड़ी अंगुलियोंके समान चिह्न थे ॥ ३५ ॥

वृत्तापरः स्थेयान् दीर्घमेहनवालधिः । व्यूढोरस्को महारवः सत्कर्णपल्लवः ॥ ३६ ॥

उसके शरीरका पिछला हिस्सा गोल था, वह हाथी अतिशय गम्भीर और स्थिर था, उसकी पूँछ और लिंग दोनों ही बड़े थे, उसका वक्षःस्थल बहुत ही चौड़ा और मजबूत था, उसके कान बड़ा भारी शब्द कर रहे थे और उसके कानरूपी पल्लव बहुत ही मनोहर थे ॥ ३६ ॥

> अर्धन्दुनिभसुश्लिष्टविद्रुमाभनखोस्करः । सच्छायस्ताम्रतालवास्यः शैलाभस्तु महाकटः ॥ ३७ ॥

उसके नखोंका समूह अर्धचन्द्रमाके आकारका था, अंगुलियोंमें खूब जड़ा हुआ था और मूँगाके समान कुछ-कुछ लाल वर्णका था, उसकी कान्ति उत्तम थी। उसका मुख और तालु दोनों ही लाल थे, वह पर्वतके समान ऊँचा था और उसके गण्डस्थल भी बहुत बड़े थे ॥ ३७ ॥

> वाराहजघनः श्रीमान् पृथ्वोष्ठो दुन्दुभिस्वनः । सुगन्धिदीर्घनिःश्वासः सोऽमितायुः कृशोदरः ॥ ३८ ॥

उसके पुट्ठे सुअरके समान गोल थे, वह अतिशय लक्ष्मीमान् था, उसके ओष्ठ बड़े-बड़े थे, उसका शब्द दुन्दुभीके शब्दके समान था, श्वास सुगन्धित तथा दीर्घ था, उसकी आयु अपरिमित थी और उसका पेट कृश (पतला) था ॥ ३८ ॥

> अन्वर्थवेदी कल्याणः कल्याणप्रकृतिः शुभः । अयोनिजः सुजातश्च सप्तधा सुप्रतिष्ठितः ॥ ३९ ॥

वह सार्थक शब्दार्थका जाननेवाला था, स्वयं मंगलमूर्ति था, उसका स्वभाव भी मंगलरूप था, वह शुभ था, बिना योनिके उत्पन्न हुआ था, उसकी जाति उत्तम थी और वह पराक्रम, तेज, बल, शूरता, शक्ति, उद्योग और वेग इन सात प्रकारकी प्रतिष्ठाओंसे सहित था ॥ ३९ ॥

> मदनिर्झरसंसिक्तकर्णचामरलम्बिनीः । मदस्रुतीरिवाबिभ्रदपराः षट्पदावलीः ॥ ४० ॥

वह अपने कानोंके समीप बैठी हुई उन भ्रमरोंकी पंक्तियोंको धारण कर रहा था जो कि गण्डस्थलोंसे निकलते हुए मदरूपी जलके झरनोंसे भीग गयी थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो मदकी दूसरी धाराएँ ही हों ॥ ४० ॥

> मुखैर्बहुभिराकीर्णो गजराजः स राजते । सेव्यमान इवायातेर्भक्त्या विश्वैरनेकपैः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार अनेक मुखोंसे व्याप्त हुआ वह गजराज ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भक्तिपूर्वक आये हुए संसारके समस्त हाथी ही उसकी सेवा कर रहे हों ॥ ४१ ॥

> अशोकपल्लवाताम्रतालुच्छायाच्छलेन यः । वमन् मुहुरिवारुच्या पल्लवान् कवलीकृतान् ॥ ४२ ॥

उस हाथीका तालु अशोकवृक्षके पल्लवके समान अतिशय लाल था। इसलिए वह ऐसा जान पड़ता था मानो लाल-लाल तालुकी छायाके बहानेसे खाये हुए पल्लवोंको अच्छे न लगनेके कारण बार-बार वमन ही कर रहा हो ॥ ४२ ॥

> सस्निग्धमृदङ्गध्वनिभिः कर्णतालैरभिताडनैः । सालिवीणारुतैह्रस्वैरारब्धातोद्यविभ्रमः ॥ ४३ ॥

उस हाथीके कर्णरूपी तालोंके आघातसे मृदंगके समान गम्भीर शब्द हो रहा था और वहींपर जो भ्रमर बैठे हुए थे वे वीणाके समान शब्द कर रहे थे, उन दोनोंसे वह हाथी ऐसा जान पड़ता था मानो उसने बाजा बजाना ही प्रारम्भ किया हो ॥ ४३ ॥

> करं सुदीर्घनिःश्वासं मदवेणीं च यो वहन् । सनिर्झरस्य नागस्य श्रियं समदधौ गिरेः ॥ ४४ ॥

वह हाथी, जिससे बड़ी लम्बी श्वास निकल रही है ऐसी शुण्ड तथा मदजलकी धाराको धारण कर रहा था और उन दोनोंसे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो झरने और सर्पसे सहित किसी पर्वतकी ही शोभा धारण कर रहा हो ॥ ४४ ॥

> दन्ताग्रलग्नमृणालैर्यो राजते स्मायतैर्भृशम् । प्ररोहैरिव दन्तानां शशाङ्ककलामलैः ॥ ४५ ॥

उसके दाँतोंके अग्रभागमें जो लम्बे-लम्बे मृणाल लगे हुए थे उनसे वह ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो चन्द्रमाकी कलाके समान उज्ज्वल दाँतोंके अंकुरोंसे ही सुशोभित हो रहा हो ॥ ४५ ॥

> पद्माकर इव श्रीमान् दधानः पुष्करश्रियम् । कल्पद्रुम इवोद्दण्डो दानार्थिभिरुपासितः ॥ ४६ ॥

वह शोभायमान हाथी एक सरोवरके समान मालूम होता था क्योंकि जिस प्रकार सरोवर पुष्कर अर्थात् कमलोंकी शोभा धारण करता है उसी प्रकार वह हाथी भी पुष्कर अर्थात् सूँड़के अग्रभागकी शोभा धारण कर रहा था, अथवा वह हाथी एक कल्पवृक्षके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार कल्पवृक्ष दान अर्थात् अभिलाषित वस्तुओंकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंके द्वारा उपासित होता है उसी प्रकार वह हाथी भी दान अर्थात् मदजलके अभिलाषी भ्रमरोंके द्वारा सेवित हो रहा था ॥ ४६ ॥

रेजे हैमकक्ष्यश्च हैमवल्लीवृताद्रिवत् । नक्षत्रमालयाक्षिप्तशरदम्बरविभ्रमः ॥ ४७ ॥

उसके वक्षःस्थलपर सोनेकी साँकल पड़ी हुई थी जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो सुवर्णमयी लताओंसे ढका हुआ पर्वत ही हो और गलेमें नक्षत्रमाला नामकी माला पड़ी हुई थी जिससे वह अश्विनी आदि नक्षत्रोंकी मालासे सुशोभित शरद् ऋतुके आकाशकी शोभाको तिरस्कृत कर रहा था ॥ ४७ ॥

किङ्किणीजालेन स वाचालितमुद्वहन् । पक्षिमालाञ्चितस्याद्रेर्नितम्बस्य श्रियं दधौ ॥ ४८ ॥

जो गलेमें पड़ी हुई किंकिणियोंसे शब्दायमान हो रहा है ऐसे कण्ठको धारण करता हुआ वह हाथी पक्षियोंकी पंक्तिसे घिरे हुए किसी पर्वतके नितम्ब भाग (मध्य भाग) की शोभा धारण कर रहा था ॥ ४८ ॥

घण्टाद्वयेन चोद्भासी कनकेन निनादिना । सुराणामवबोधाय जिनार्चामिव घोषयन् ॥ ४९ ॥

वह हाथी शब्द करते हुए सुवर्णमयी दो घण्टोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो देवोंको बतलानेके लिए जिनेन्द्रदेवकी पूजाकी घोषणा ही कर रहा हो ॥ ४९ ॥

जम्बूद्वीपविशालोरुकायश्रीः स सरोवरान् । कुलाद्रीनिव कुम्भौ च रदानायामशालिनः ॥ ५० ॥

उस हाथीका शरीर जम्बूद्वीपके समान विशाल और स्थूल था तथा वह कुलाचलोंके समान लम्बे और सरोवरोंसे सुशोभित दाँतोंको धारण कर रहा था, इसलिए वह ठीक जम्बूद्वीपके समान जान पड़ता था ॥ ५० ॥

सितवपुः श्वेतद्वीपलक्ष्मीमुवाह सः । चलत्कैलासशैलाभः प्रक्षरन्मदनिर्झरः ॥ ५१ ॥

वह हाथी अपने अत्यन्त सफेद शरीरसे श्वेत द्वीपकी शोभाको धारण कर रहा था और झरते हुए मदजलके झरनोंसे चलते-फिरते कैलास पर्वतके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ५१ ॥

इति व्यागणितारोहपरिणाहवपुर्गुणम् । गजानीकेश्वरश्चक्रे महैरावतदन्तिनम् ॥ ५२ ॥

इस प्रकार हाथियोंकी सेनाके अधिपति देवने जिसके विस्तार आदिका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ऐसा बड़ा भारी ऐरावत हाथी बनाया ॥ ८२ ॥

> तमैरावणमारूढः सहस्राक्षोऽप्युदञ्चितः । पद्माकर इवोत्फुल्लपङ्कजो गिरिमस्तके ॥ ८३ ॥

जिस प्रकार किसी पर्वतके शिखरपर फूले हुए कमलोंसे युक्त सरोवर सुशोभित होता है उसी प्रकार उस ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हुआ इन्द्र भी अतिशय सुशोभित हो रहा था ॥ ८३ ॥

> द्वात्रिंशद्वदनान्यस्य प्रत्येकं चाष्टदन्तकाः । सरः प्रतिरदं तस्मिन्नब्जिन्येका सरः प्रति ॥ ८४ ॥

उस ऐरावत हाथीके बत्तीस मुख थे, प्रत्येक मुखमें आठ-आठ दाँत थे, एक-एक दाँतपर एक-एक सरोवर था और एक-एक सरोवरमें एक-एक कमलिनी थी ॥ ८४ ॥

> द्वात्रिंशत्प्रमदा अब्जास्तावत्प्रमितपत्रकाः । तेष्वायतेषु देवानां नर्तक्यस्तत्प्रभाः पृथक् ॥ ८५ ॥

एक-एक कमलिनीमें बत्तीस-बत्तीस कमल थे, एक-एक कमलमें बत्तीस-बत्तीस पंखुड़ियाँ थीं और उनपर फैली हुई प्रभासे युक्त बत्तीस-बत्तीस देवांगनाएँ थीं ॥ ८५ ॥

> ननृतुस्ताः स्मेरवक्त्राब्जा ललितभ्रूलताश्चलत् । पङ्क्तिस्मितेषु प्रेक्ष्याङ्गे न्यस्यन्त्यः प्रमदाङ्कुरान् ॥ ८६ ॥

जिनके मुखकमल मन्द हास्यसे सुशोभित हैं, जिनकी भ्रूलताएँ सुन्दर हैं और जो दर्शकोंके चित्तरूपी वृक्षोंमें आनन्दरूपी अंकुर उत्पन्न करा रही हैं ऐसी वे बत्तीस-बत्तीस अप्सराएँ लयसहित नृत्य कर रही थीं ॥ ८६ ॥

> तासां नृत्तं सहास्यं च श्रृङ्गाररससंभृतम् । पश्यन्तः कैशिकीप्रायं सुराः पिप्रियिरे भृशम् ॥ ८७ ॥

जो हास्य और श्रृंगाररससे भरा हुआ था, जो भाव और लयसहित था तथा जिसमें कैशिकी नामक वृत्तिका ही अधिकतर प्रयोग हो रहा था, ऐसे अप्सराओंके उस नृत्यको देखते हुए देवलोग बड़े ही प्रसन्न हो रहे थे ॥ ८७ ॥

प्रयाणे सुरराजस्य नर्तक्यश्चाप्सरःपुरः । रक्तकण्ठाश्च किन्नर्यो जगुर्जिनपतेर्जयम् ॥ ५८ ॥

उस प्रयाणके समय इन्द्रके आगे अनेक अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं और जिनके कण्ठ अनेक राग-रागिनियोंसे भरे हुए थे ऐसी किन्नरी देवियाँ जिनेन्द्रदेवके विजयगीत गा रही थीं ॥ ५८ ॥

ततो द्वात्रिंशदिन्द्राणां पूतना बहुकेतनाः । प्रसस्रुर्विलसच्छत्रचामराः प्रततामराः ॥ ५९ ॥

तदनन्तर जिनमें अनेक पताकाएँ फहरा रही थीं, जिनमें छत्र और चमर सुशोभित हो रहे थे और जिनमें चारों ओर देव ही देव फैले हुए थे ऐसी बत्तीस इन्द्रोंकी सेनाएँ फैल गयीं ॥ ५९ ॥

अप्सरःकुङ्कुमारक्तकुचचक्राह्वयुग्मके । तद्वक्त्रपङ्कजच्छन्ने लसन्नयननोत्पले ॥ ६० ॥

जिसमें अप्सराओंके केसरसे रंगे हुए स्तनरूपी चक्रवाक पक्षियोंके जोड़े निवास कर रहे हैं, जो अप्सराओंके मुखरूपी कमलोंसे ढका हुआ है और जिसमें अप्सराओंके नेत्ररूपी नीले कमल सुशोभित हो रहे हैं ॥ ६० ॥

नभःसरसि हारांशुस्वच्छवारिणि हारिणि । चलन्तश्चामरापीडा हंसायन्ते स्म नाकिनाम् ॥ ६१ ॥

तथा जिसमें उन्हीं अप्सराओंके हारोंकी किरणरूप ही स्वच्छ जल भरा हुआ है, ऐसे आकाशरूपी सुन्दर सरोवरमें देवोंके ऊपर जो चमरोंके समूह ढोले जा रहे थे वे ठीक हंसोंके समान जान पड़ते थे ॥ ६१ ॥

इन्द्रनीलमयाहार्यकान्तिभिः क्वचिदाततम् । स्वाभासां विभरामास धौतासिनिभमम्बरम् ॥ ६२ ॥

स्वच्छ तलवारके समान निर्मल आकाश कहीं-कहींपर इन्द्रनीलमणिके बने हुए आभूषणोंकी कान्तिसे व्याप्त होकर अपनी स्वाभाविक ही नीली कान्ति धारण कर रहा था ॥ ६२ ॥

पद्मरागरुचा व्याप्तं क्वचिद्व्योमतलं बभौ । सान्ध्यं रागमिवाबिभ्रदनुरञ्जितदिङ्मुखम् ॥ ६३ ॥

वही आकाश कहींपर पद्मरागमणियोंकी कान्तिसे व्याप्त हो रहा था, जिससे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो समस्त दिशाओंको अनुरंजित करनेवाली सन्ध्याकालकी लालिमा ही धारण कर रहा हो ॥ ६३ ॥

क्वचिन्मरकतच्छायासमाक्रान्तमभान्नभः । सशैवलामिवाम्भोधेर्जलं पर्यन्तसंश्रितम् ॥ ६४ ॥

कहींपर मरकतमणिकी छायासे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो शैवालसे सहित और किनारेपर स्थित समुद्रका जल ही हो ॥ ६४ ॥

देवाभरणमुक्तौघशबलं सहविद्रुमम् । भेजे पयोमुचां वर्त्म वारिधेः फेनिलश्रियम् ॥ ६५ ॥

देवोंके आभूषणोंमें लगे मोतियोंके समूहसे चित्र-विचित्र तथा मूँगाओंसे व्याप्त हुआ वह नीला आकाश समुद्रकी शोभाको धारण कर रहा था ॥ ६५ ॥

तन्व्यः सुरुचिराकारा लसदंशुकभूषणाः । तदामरस्त्रियो रेजुः कल्पवल्ल्य इवाम्बरे ॥ ६६ ॥

जो शरीरसे पतली हैं, जिनका आकार सुन्दर है और जिनके वस्त्र तथा आभूषण अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसी देवांगनाएँ उस समय आकाशमें ठीक कल्पलताओंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥ ६६ ॥

स्मेरवक्त्राम्बुजा रेजुर्नयनोत्पलराजिताः । सरस्य इव लावण्यरसपूर्णाः सुरस्त्रियः ॥ ६७ ॥

उन देवांगनाओंके कुछ-कुछ हँसते हुए मुख कमलोंके समान थे, नेत्र नीले कमलके समान सुशोभित थे और वे स्वयं लावण्यरूपी जलसे भरी हुई थीं, इसलिए वे ठीक सरोवरोंके समान शोभायमान हो रही थीं ॥ ६७ ॥

तासां स्मेराणि वक्त्राणि पद्मबुद्ध्यानुधावताम् । रेजे मधुलिहां माला कामस्येव शरावलिः ॥ ६८ ॥

कमल समझकर उन देवांगनाओंके मुखोंकी ओर दौड़ती हुई भ्रमरोंकी पंक्ति कामदेवके बाणोंकी डोरीके समान सुशोभित हो रही थी ॥ ६८ ॥

हाराञ्चितस्तनोपान्ता रेजुरप्सरसस्तदा । दधाना भुजगोन्मोकसमच्छायं स्तनांशुकम् ॥ ६९ ॥

जिनके स्तनोंके समीप भागमें हार पड़े हुए हैं ऐसी वे देवांगनाएँ उस समय ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो साँपकी काँचलीके समान स्वच्छ स्तन-वस्त्र (चोली) ही धारण कर रही हों ॥ ६९ ॥

सुरानकमहाध्वानैः पूजावेलां दधन्मुहुः । चलत्तनुतरङ्गोऽसौ देवागमाम्बुधिः ॥ ७० ॥

उस समय वह देवोंका आगमन एक समुद्रके समान जान पड़ता था क्योंकि समुद्र जिस प्रकार अपनी गरजनासे बेला अर्थात् ज्वार-भाटाको धारण करता है उसी प्रकार वह देवोंका आगमन भी बजते हुए नगाड़ोंके बड़े-बड़े शब्दोंसे पूजा-वेला अर्थात् भगवानकी पूजाके समयको धारण कर रहा था, और समुद्रमें जिस प्रकार लहरें उठा करती हैं उसी प्रकार उस देवोंके आगमनमें इधर-उधर चलते हुए देवरूपी लहरें उठ रही थीं ॥ ७० ॥

ज्योतिर्मय इवैतस्मिन् जाते दृष्ट्यन्तरे मुहुः । ज्योतिषां निकरा ह्रीणा मन्दच्छायास्तिरोदधुः ॥ ७१ ॥

जिस समय वह प्रकाशमान देवोंकी सेना नीचेकी ओर आ रही थी उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो ज्योतिषी देवोंकी एक दूसरी ही सृष्टि उत्पन्न हुई हो और इसलिए ही ज्योतिषी देवोंके समूह लज्जासे कान्तिरहित होकर अदृश्य हो गये हों ॥ ७१ ॥

तदा दिव्याङ्गनां रूपैर्हयहस्त्यादिवाहनैः । उच्चावचैर्नभोवर्त्म भेजे चित्रपटश्रियम् ॥ ७२ ॥

उस समय देवांगनाओंके रूपों और ऊँचे-नीचे हाथी, घोड़े आदिकी सवारियोंसे वह आकाश एक चित्रपटकी शोभा धारण कर रहा था ॥ ७२ ॥

देवाङ्गद्युतिविद्युद्भिस्तदाभरणरोहितैः । सुरैरनीलजीमूतैर्व्योमाधात् प्रावृषः श्रियम् ॥ ७३ ॥

अथवा उस समय यह आकाश देवोंके शरीरकी कान्तिरूपी बिजली, देवोंके आभूषणरूपी इन्द्रधनुष और देवोंके शरीररूपी काले बादलोंसे वर्षाऋतुकी शोभा धारण कर रहा था ॥ ७३ ॥

गच्छत्सु देवेषु तथा यानविमानकैः । सजानिषु तदा स्वर्गश्चिरादुद्वासितो बभौ ॥ ७४ ॥

इस प्रकार जब सब देव अपनी-अपनी देवियोंसहित सवारियों और विमानोंके साथ-साथ आ रहे थे तब खेदकी बात थी कि स्वर्गलोक बहुत देर तक शून्य हो गया था ॥ ७४ ॥

समारुद्ध्य नभोऽशेषमित्यायातैः सुरासुरैः । जगद्व्याप्ताद्भुतैर्दिव्यस्वर्गान्तरमिवारुचत् ॥ ७५ ॥

इस प्रकार उस समय समस्त आकाशको घेरकर आये हुए सुर और असुरोंसे यह जगत् ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उत्पन्न होता हुआ कोई दूसरा दिव्य स्वर्ग ही हो ॥ ७५ ॥

ददृशुर्दूरतो देवा विभोरास्थानमण्डलम् । सुरशिल्पिभिरारब्धपरार्ध्यरचनाशतम् ॥ ७६ ॥

अथानन्तर जिसमें देवरूपी कारीगरोंने सैकड़ों प्रकारकी उत्तम-उत्तम रचनाएँ की हैं ऐसा भगवान् वृषभदेवका समवसरण देवोंने दूरसे ही देखा ॥ ७६ ॥

द्वियोजनाधिकविस्तारमभूदास्थानमीशितुः । हरिनीलमहारत्नघटितं तिर्यगुज्ज्वलम् ॥ ७७ ॥

जो बारह योजन विस्तारवाला है और जिसका तिर्यग्भाग अतिशय देदीप्यमान हो रहा है ऐसा इन्द्रनीलमणियोंसे बना हुआ वह भगवानका समवसरण बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ ७७ ॥

सुरत्ननीलनिर्माणं समवृत्तं बभौ भुवि । त्रिजगच्छ्रीमुखालोकमङ्गलादर्शविभ्रमम् ॥ ७८ ॥

इन्द्रनीलमणियोंसे बना और चारों ओरसे गोलाकार वह समवसरण ऐसा जान पड़ता था मानो तीन जगत् की लक्ष्मीके मुख देखनेके लिए मंगलरूप एक दर्पण ही हो ॥ ७८ ॥

आस्थानमण्डलस्यास्य विन्यासं कोऽनुवर्णयेत् । सुत्रामा सूत्रधारोऽभून्निर्माणे यस्य कर्मठः ॥ ७९ ॥

जिस समवसरणके बनानेमें सब कामोंमें समर्थ इन्द्र स्वयं सूत्रधार था ऐसे उस समवसरणकी वास्तविक रचनाका कौन वर्णन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं ॥ ७९ ॥

तथाप्यनुवदेत् किंचिदस्य शोभासमुच्चयम् । श्रुतेन येन निर्वृतिं भजेद् भव्यात्मनां मनः ॥ ८० ॥

फिर भी उसकी शोभाके समूहका कुछ थोड़ा-सा वर्णन करता हूँ क्योंकि उसके सुननेसे भव्य जीवोंका मन शान्ति (आनन्द) को प्राप्त होता है ॥ ८० ॥

> तस्य पर्यस्तभूभागमलंचक्रे स्फुरद्द्युतिः । धूलीशालपरिक्षेपो रत्नपांसुभिराचितः ॥ ८१ ॥

उस समवसरणके बाहरी भागमें रत्नोंकी धूलिसे बना हुआ एक धूलीसाल नामका घेरा था जिसकी कान्ति अतिशय देदीप्यमान थी और जो अपने समीपके भूभागको अलंकृत कर रहा था ॥ ८१ ॥

> धनुरैन्द्रमिवोल्लासिवलयाकृतिमुद्वहन् । सेवेतां तां महीं विष्वग् धूलीशालापदेशतः ॥ ८२ ॥

वह धूलीसाल ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो अतिशय देदीप्यमान और वलय (चूड़ी) का आकार धारण करता हुआ इन्द्रधनुष ही धूलीसालके बहानेसे उस समवसरण भूमिकी सेवा कर रहा हो ॥ ८२ ॥

> कटीसूत्रश्रियं तन्वन् धूलीशालपरिच्छदः । परीयाय जिनास्थानभूमिं तां वलयाकृतिः ॥ ८३ ॥

कटिसूत्रकी शोभाको धारण करता हुआ और वलयके आकारका वह धूलीसालका घेरा जिनेन्द्रदेवके उस समवसरणको चारों ओरसे घेरे हुए था ॥ ८३ ॥

> क्वचिदञ्जनपुञ्जाभः क्वचिद् वासीकरच्छविः । क्वचिद्विद्रुमसंछायो नानारूपै रत्नपांसुभिः ॥ ८४ ॥

अनेक प्रकारके रत्नोंकी धूलिसे बना हुआ वह धूलीसाल कहीं तो अंजनके समूहके समान काला-काला सुशोभित हो रहा था, कहीं सुवर्णके समान पीला-पीला लग रहा था और कहीं मूँगाकी कान्तिके समान लाल-लाल भासमान हो रहा था ॥ ८४ ॥

> क्वचिच्छुकच्छदच्छायैर्मणिपांसुभिरुच्छ्रितैः । स रेजे नलिनीवालपलाशैरिव सन्ततः ॥ ८५ ॥

जिसकी किरणें ऊपरकी ओर उठ रही हैं ऐसे, तोतेके पंखोंके समान हरित वर्णकी मणियोंकी धूलिसे कहीं-कहीं व्याप्त हुआ वह धूलीसाल ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानो कमलिनीके छोटे-छोटे नये पत्तोंसे ही व्याप्त हो रहा हो ॥ ८५ ॥

> चन्द्रकान्तशिलाचूर्णैः क्वचिज्ज्योत्स्नाश्रयं दधत् । जनानामकरोच्चित्तमनुरक्ततरं परम् ॥ ८६ ॥

वह कहीं-कहींपर चन्द्रकान्तमणिके चूर्णसे बना हुआ था और चाँदनीकी शोभा धारण कर रहा था, फिर भी लोगोंके चित्तको अनुरक्त (अतिशय लाल / प्रीतिसहित) कर रहा था, यह भारी आश्चर्यकी बात थी ॥ ८६ ॥

> स्फुरन्मरकताप्राप्तपद्मरागालोकैः कल्पितैः । क्वचिदिन्द्रधनुर्लेखां खस्थानोद्भावयन्निव ॥ ८७ ॥

कहींपर परस्परमें मिली हुई मरकतमणि और पद्मरागमणिकी किरणोंसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशरूपी आँगनमें इन्द्रधनुषकी शोभा ही बढ़ा रहा हो ॥ ८७ ॥

> क्वचित्पद्मरागेन्द्रनीलालोकैः परिष्कृतः । परागसाद् कृतैर्मन्तुः कामक्रोधांशकैरिव ॥ ८८ ॥

कहींपर पद्मरागमणि और इन्द्रनीलमणिके प्रकाशसे व्याप्त हुआ वह धूलीसाल ऐसा जान पड़ता था मानो भगवानके द्वारा चूर्ण किये गये काम और क्रोधके अंशोंसे ही बना हो ॥ ८८ ॥

> क्वचित् क्वचिज्ज्वलन्नासौ कुतो जाल्मो विलोक्यताम् । निर्दग्धोऽस्माभिरित्युच्चैर्ध्यानाग्निरिव चोत्थितः ॥ ८९ ॥

कहीं-कहींपर सुवर्णकी ज्वालाओंके समूहसे देदीप्यमान होता हुआ वह धूलीसाल ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो 'वह धूर्त कामदेव कहाँ छिपा है उसे देखो, वह हमारे द्वारा जलाये जानेके योग्य है' ऐसा विचारकर ऊँची उठी हुई ध्यानाग्निका समूह ही हो ॥ ८९ ॥

> विभाष्यते नभो यस्य प्रोच्चैर्ज्वलन्महाशिखः । यत्रोच्चावचरत्नांशुजालैर्जटिलदिङ्मुखः ॥ ९० ॥

इसके सिवाय वह छोटे-बड़े रत्नोंकी किरणावलीसे समस्त दिशाओंके मुखोंको व्याप्त कर रहा था ॥ ९० ॥

> चतसृष्वपि दिक्ष्वस्य हेमस्तम्भाग्रलम्बिताः । तोरणा मकरास्योढरत्नमाला बभूविरे ॥ ९१ ॥

इस धूलीसालके बाहर चारों दिशाओंमें सुवर्णमय खम्भोंके अग्रभागपर अवलम्बित चार तोरणद्वार सुशोभित हो रहे थे, उन तोरणोंमें मत्स्य (मकर) के आकार बनाये गये थे और उनपर रत्नोंकी मालाएँ लटक रही थीं ॥ ९१ ॥

ततोऽन्तरन्तरं किंचिद् गत्वा हाटकनिर्मिताः । रेजुर्मध्येषु वीथीनां मानस्तम्भाः समुच्छ्रिताः ॥ ९२ ॥

उस धूलीसालके भीतर कुछ दूर जाकर गलियोंके बीचो-बीचमें सुवर्णके बने हुए और अतिशय ऊँचे मानस्तम्भ सुशोभित हो रहे थे। भावार्थ—चारों दिशाओंमें एक-एक मानस्तम्भ था ॥ ९२ ॥

चतुर्गोपुरसंबद्धशालत्रितयवेष्टिताम् । जगतीं जगतोनाथस्नपनाम्बुपवित्रिताम् ॥ ९३ ॥

जिस जगतीपर मानस्तम्भ थे वह जगती चार-चार गोपुरद्वारोंसे युक्त तीन कोटोंसे घिरी हुई थी और तीनों लोकोंके स्वामी जिनेन्द्रदेवके अभिषेकके जलसे पवित्र थी ॥ ९३ ॥

हैमषोडशसोपानां स्वमध्यार्पितपीठिकाम् । न्यस्तपुष्पोपहाराढ्यामर्चितां चामरादिभिः ॥ ९४ ॥

उसपर चढ़नेके लिए सुवर्णकी सोलह सीढ़ियाँ बनी हुई थीं, उसके मध्यमें एक पीठिका थी, मनुष्य, देव-दानव आदि सभी चामरादिसे उसकी पूजा करते थे और उसपर सदा पूजाके अर्थ पुष्पोंका उपहार रखा रहता था ॥ ९४ ॥

अधितिष्ठन् विरेजुस्ते मानस्तम्भा नभोवलिहः । ये दूराद्वीक्षिता मानं स्तम्भयन्त्याशु दुर्हृदाम् ॥ ९५ ॥

ऐसी उस पीठिकापर आकाशको स्पर्श करते हुए वे मानस्तम्भ सुशोभित हो रहे थे, जो दूरसे दिखाई देते ही मिथ्यादृष्टि जीवोंका मान-अभिमान बहुत शीघ्र नष्ट कर देते थे ॥ ९५ ॥

नभःस्पृशो महामाना घण्टाभिः परिवारिताः । सचामरध्वजा बभ्रुः स्तम्भास्ते दिग्गजायिताः ॥ ९६ ॥

वे मानस्तम्भ आकाशका स्पर्श कर रहे थे, महाप्रमाणके धारक थे, घण्टाओंसे घिरे हुए थे और चमर तथा ध्वजाओंसे सहित थे, इसलिए ठीक दिग्गजोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ९६ ॥

दिक्षतुष्टयमाश्रित्य रेजे स्तम्भचतुष्टयम् । छद्मना यद्विभोर्भूतं जिनानन्तचतुष्टयम् ॥ ९७ ॥

वे चार मानस्तम्भ चार दिशाओंमें सुशोभित हो रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो उन मानस्तम्भोंके छलसे भगवानके अनन्तचतुष्टय ही प्रकट हुए हों ॥ ९७ ॥

हिरण्मयीर्जिनेंद्राणां तेषां बुध्नप्रतिष्ठिताः । देवेन्द्राः पूजयन्ति स्म प्रतिमाः क्षीरवारिभिः ॥ ९८ ॥

उन मानस्तम्भोंके मूल भागमें जिनेन्द्र भगवानकी सुवर्णमयी प्रतिमाएँ विराजमान थीं, जिनकी इन्द्र लोग क्षीरसागरके जलसे अभिषेक करते हुए पूजा करते थे ॥ ९८ ॥

निनादितमहावाद्यैर्नित्यसङ्गीतमङ्गलैः । नृत्तैर्नित्यप्रवृत्तैश्च मानस्तम्भाः स्म भान्त्यमी ॥ ९९ ॥

वे मानस्तम्भ निरन्तर बजते हुए बड़े-बड़े बाजोंसे, निरन्तर होनेवाले मंगलमय गानोंसे और निरन्तर प्रवृत्त रहनेवाले नृत्योंसे सदा सुशोभित रहते थे ॥ ९९ ॥

पीठिका जगतीमध्ये तन्मध्ये च त्रिमेखलम् । पीठं तन्मूर्ध्नि सद्रूपा मानस्तम्भाः प्रतिष्ठिताः ॥ १०० ॥

ऊपर जगतीके बीचमें जिस पीठिकाका वर्णन किया जा चुका है उसके मध्यभागमें तीन कटनीदार एक पीठ था, उस पीठके अग्रभागपर ही वे सुन्दर रूपवाले मानस्तम्भ प्रतिष्ठित थे ॥ १०० ॥

हिरण्मयाङ्गास्तुङ्गाग्राश्छत्रत्रितयान्विताः । सुरेन्द्रनिर्मितत्वाच्च प्राप्तेन्द्रध्वजरूढिकाः ॥ १०१ ॥

उनका मूल भाग बहुत ही सुन्दर था, वे सुवर्णके बने हुए थे, बहुत ऊँचे थे, उनके मस्तकपर तीन छत्र फिर रहे थे और इन्द्रके द्वारा बनाये जानेके कारण उनका दूसरा नाम इन्द्रध्वज भी रूढ़ हो गया था ॥ १०१ ॥

मानस्तम्भा महामानयोगात् त्रैलोक्यमाननात् । अन्वर्थसंज्ञया तज्ज्ञैर्मानस्तम्भाः प्रकीर्तिताः ॥ १०२ ॥

उनके देखनेसे मिथ्यादृष्टि जीवोंका सब मान नष्ट हो जाता था, उनका परिमाण बहुत ऊँचा था और तीनों लोकोंके जीव उनका सम्मान करते थे, इसलिए विद्वान् लोग उन्हें सार्थक नामसे मानस्तम्भ कहते थे ॥ १०२ ॥

स्तम्भपर्यस्तभूभागमलंचक्रुः समन्ततः । प्रसन्नसलिला वाप्यो भव्यानामिव बुद्धयः ॥ १०३ ॥

जो अनेक प्रकारके कमलोंसे सहित थीं, जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ था और जो भव्य जीवोंकी विशुद्ध बुद्धिके समान जान पड़ती थीं ऐसी बावड़ियाँ उन मानस्तम्भोंके समीपवर्ती भूभागको अलंकृत कर रही थीं ॥ १०३ ॥

> वाप्यस्ता रेजिरे फुल्लकमलोत्पलसंपदः । भक्त्या जैनीं श्रियं द्रष्टुं भुवेवोद्घाटिता दृशः ॥ १०४ ॥

जो फूले हुए सफेद और नीले कमलरूपी सम्पदासे सुशोभित थीं ऐसी वे बावड़ियाँ इस प्रकार सुशोभित हो रही थीं मानो भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी लक्ष्मीको देखनेके लिए पृथिवीने अपने नेत्र ही खोले हों ॥ १०४ ॥

> निलीनालिकुलै रेजुरुत्पलैस्ता विकस्वरैः । असितैश्च सितैश्चाक्ष्णां साञ्जनैरिव संवृतैः ॥ १०५ ॥

जिनपर भ्रमरोंका समूह बैठा हुआ है ऐसे फूले हुए नीले और सफेद कमलोंसे ढँकी हुई वे बावड़ियाँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो अंजनसहित काले और सफेद नेत्रोंसे ही ढँक रही हों ॥ १०५ ॥

> दिशं प्रति चतस्रस्ता बभूवुः समविस्तराः । दधुः स्म शकुन्तानां मञ्जीरैः स्वतटाश्रितैः ॥ १०६ ॥

वे बावड़ियाँ एक-एक दिशामें चार-चार थीं और उनके किनारेपर पक्षियोंकी शब्द करती हुई पंक्तियाँ बैठी हुई थीं जिनसे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो उन्होंने शब्द करती हुई ढीली करधनी ही धारण की हो ॥ १०६ ॥

> उत्पला मणिसोपानाः स्फटिकोच्चतटीभुवः । भुवः प्रसृतलावण्याः कुल्या इव विनिर्गताः ॥ १०७ ॥

उन बावड़ियोंमें मणियोंकी सीढ़ियाँ लगी हुई थीं, उनके किनारेकी ऊँची उठी हुई जमीन स्फटिकमणिकी बनी हुई थी और उनमें पृथिवीसे निकलता हुआ लावण्यरूपी जल भरा हुआ था, इस प्रकार वे प्रसिद्ध बावड़ियाँ कृत्रिम नदीके समान सुशोभित हो रही थीं ॥ १०७ ॥

> द्विरेफगुञ्जनैर्मञ्जु गायन्त्योऽर्हद्गुणान् भृशम् । नर्तक्य इव जिनेशजयतोषान्महोर्मिभिः ॥ १०८ ॥

वे बावड़ियाँ भ्रमरोंकी गुंजारसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अच्छी तरहसे अरहन्त भगवानके गुण ही गा रही हों, उठती हुई बड़ी-बड़ी लहरोंसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो जिनेन्द्र भगवानकी विजयसे सन्तुष्ट होकर नृत्य ही कर रही हों ॥ १०८ ॥

> कुर्वन्त्यो वा जिनस्तोत्रं चक्रवाकविकूजितैः । संतोषं प्रकटयन्त्यो वा प्रसन्नोदकधारणात् ॥ १०९ ॥

चकवा-चकवियोंके शब्दोंसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो जिनेन्द्रदेवका स्तवन ही कर रही हों और स्वच्छ जल धारण करनेसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो सन्तोष ही प्रकट कर रही हों ॥ १०९ ॥

> नन्दोत्तरादिनाम्न्यस्ताः सरस्यस्तटसंश्रितैः । पादप्रक्षालनोद्देशकुण्डैर्बभ्रुः सपुत्रकाः ॥ ११० ॥

तथा किनारेपर बने हुए पाँव धोनेके कुण्डोंसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अपने-अपने पुत्रोंसे सहित ही हों, इस प्रकार नन्दोत्तरा आदि नामोंको धारण करनेवाली वे बावड़ियाँ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थीं ॥ ११० ॥

> स्तोकान्तरं ततोऽतीत्य तां महीमम्बुजोज्ज्वला । परिययौ विना वीथीं वीथीं सा जलखातिका ॥ १११ ॥

उन बावड़ियोंसे थोड़ी ही दूर आगे जानेपर प्रत्येक वीथी (गली) को छोड़कर जलसे भरी हुई एक परिखा (खाई) थी जो कि कमलोंसे व्याप्त थी और समवसरणकी भूमिको चारों ओरसे घेरे हुए थी ॥ १११ ॥

> स्वच्छाम्बुसंभृता रेजे सा खातिका नृणाम् । सुरापगेव तद्रूपा जिनं सेवितुमागता ॥ ११२ ॥

स्वच्छ जलसे भरी हुई और मनुष्योंको पवित्र करनेवाली वह परिखा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो परिखाका रूप धरकर गंगा नदी ही भगवानकी सेवा करनेके लिए आयी हो ॥ ११२ ॥

> संक्रान्ताशेषतारक्षप्रतिबिम्बा नभःश्रियम् । दधात् स्फटिकसन्द्रावशुचिभिः सलिलैर्भृशम् ॥ ११३ ॥

वह परिखा स्फटिकमणिके पिघले हुए रसके समान स्वच्छ जलसे भरी हुई थी और उसमें समस्त तारा तथा नक्षत्रोंका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, इसलिए वह आकाशकी शोभा धारण कर रही थी ॥ ११३ ॥

> सा स्म रत्नतटैर्घोषि पक्षिमालां दधन्मनाक् । तरङ्गकरसंधार्यां रसनामिव भास्वराम् ॥ ११४ ॥

वह परिखा अपने रत्नमयी किनारोंपर मधुर शब्द करती हुई पक्षियोंकी माला धारण कर रही थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो लहरोंरूपी हाथोंसे पकड़ने योग्य, उत्तम कान्तिवाली करधनी ही धारण कर रही हो ॥ ११४ ॥

> यादोदोर्दण्डनिर्मुक्तैस्तरङ्गैः पवनाहतैः । प्रनृत्यन्तीव सा रेजे तोषाज्जिनजयोत्सवे ॥ ११५ ॥

जलचर जीवोंकी भुजाओंके संघट्टनसे उठी हुई और वायु द्वारा ताड़ित हुई लहरोंसे वह परिखा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवानके विजयोत्सवमें सन्तोषसे नृत्य ही कर रही हो ॥ ११५ ॥

> वीच्यन्तरगतोदञ्चच्छफरीकुलसंकुला । सा प्रायोऽभ्यस्यमानेव नाकस्त्रीनेत्रविभ्रमम् ॥ ११६ ॥

लहरोंके भीतर घूमते-घूमते जब कभी ऊपर प्रकट होनेवाली मछलियोंके समूहसे भरी हुई वह परिखा ऐसी जान पड़ती थी मानो देवांगनाओंके नेत्रोंके विलासों (कटाक्षों) का अभ्यास ही कर रही हो ॥ ११६ ॥

> याः सुराङ्गनानेत्रविलासैस्ताः पराजिताः । शफर्यो वीचिमालासु निमग्ना इव दध्युर्मुहुः ॥ ११७ ॥

जो मछलियाँ उस परिखाकी लहरोंके बीचमें बार-बार दब रही थीं वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो देवांगनाओंके नेत्रोंके विलासोंसे पराजित होकर ही लज्जावश लहरोंमें छिप रही हों ॥ ११७ ॥

> तदभ्यन्तरभूभागं पर्यष्कुरुत तादृशम् । वल्लीगुल्मद्रुमोद्भूतसर्वर्तुकुसुमाचितम् ॥ ११८ ॥

उस परिखाके भीतरी भूभागको एक लतावन घेरे हुए था, वह लतावन लताओं, छोटी-छोटी झाड़ियों और वृक्षोंमें उत्पन्न हुए सब ऋतुओंके फूलोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ ११८ ॥

> पुष्पवल्ल्यो व्यराजन्त तत्र पुष्पस्मितोज्ज्वलाः । स्मितलीलां सुरनारीणां नाटयन्त्य इव स्फुटम् ॥ ११९ ॥

उस लतावनमें पुष्परूपी हास्यसे उज्ज्वल अनेक पुष्पलताएँ सुशोभित हो रही थीं, जो कि स्पष्ट रूपसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो देवांगनाओंके मन्द हास्यका अनुकरण ही कर रही हों ॥ ११९ ॥

> भ्रमरैर्मञ्जुगुञ्जद्भिरावृतान्ता विरेजिरे । यत्रानीलपटच्छन्नविग्रहा इव वीरुधः ॥ १२० ॥

मनोहर गुंजार करते हुए भ्रमरोंसे जिनका अन्त भाग ढका हुआ है ऐसी उस वनकी लताएँ इस भाँति सुशोभित हो रही थीं मानो उन्होंने अपना शरीर नील वस्त्रसे ही ढक लिया हो ॥ १२० ॥

> अशोकवनिका यत्र दधुराताम्रपल्लवान् । स्पर्धमाना इवाताम्रैरप्सरःकरपल्लवैः ॥ १२१ ॥

उस लतावनकी अशोक लताएँ लाल-लाल नये पत्ते धारण कर रही थीं और उनसे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अप्सराओंके लाल-लाल हाथरूपी पल्लवोंके साथ स्पर्धा ही कर रही हों ॥ १२१ ॥

> यत्र मन्दानिलोद्धूतकिञ्जल्कास्ततमम्बरम् । दधौ साक्षात्पटवासाभां पिञ्जरीकृतदिङ्मुखम् ॥ १२२ ॥

मन्द-मन्द वायुके द्वारा उड़ी हुई केशरसे व्याप्त हुआ और जिसने समस्त दिशाएँ पीली-पीली कर दी हैं ऐसा वहाँका आकाश सुगन्धित चूर्ण (अथवा चँदोवे) की शोभा धारण कर रहा था ॥ १२२ ॥

> प्रतिप्रसूनमासीनमञ्जुगुञ्जन्मधुव्रतम् । विडम्बयद् विभाति स्म सहस्राक्षविभ्रमम् ॥ १२३ ॥

उस लतावनमें प्रत्येक फूलपर मधुर शब्द करते हुए भ्रमर बैठे हुए थे, जिनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो हजार नेत्रोंको धारण करनेवाले इन्द्रके विलासकी विडम्बना ही कर रहा हो ॥ १२३ ॥

> सुमनोमञ्जरीपुञ्जात् किञ्जल्कं सान्द्रमाहरन् । यत्र गन्धवहो मन्दं वाति स्मान्दोलयँल्लुताः ॥ १२४ ॥

फूलोंकी मंजरियोंके समूहसे सघन परागको ग्रहण करता हुआ और लताओंको हिलाता हुआ वायु उस लतावनमें धीरे-धीरे बह रहा था ॥ १२४ ॥

> यत्र क्रीडागृहा रम्याः सशय्याश्च लतागृहाः । हर्षाय स्म सुरस्त्रीणां कल्पन्ते शिशिरानिलाः ॥ १२५ ॥

उस लतावनमें बने हुए मनोहर क्रीड़ा-भवन, शय्याओंसे सुशोभित लतागृह और ठण्डी-ठण्डी हवा देवांगनाओंको बहुत ही आनन्द देनेवाली थीं ॥ १२५ ॥

वल्ल्यः कुसुमिता यत्र समालिङ्गन्ति स्म मधुव्रताः । रजस्वला अपि प्रायः क्व शौचं मधुपायिनाम् ॥ १२६ ॥

उस वनमें अनेक कुसुमित अर्थात् फूली हुई और रजस्वला अर्थात् परागसे भरी हुई लताओंका मधुव्रत अर्थात् भ्रमर आलिंगन कर रहे थे सो ठीक ही है, क्योंकि मधुपायी अर्थात् मद्य पीनेवालोंके पवित्रता कहाँ हो सकती है? भावार्थ—जिस प्रकार मदिरापान करनेवाले पुरुषोंको पवित्र और अपवित्रका कुछ भी विचार नहीं रहता, वे रजोधर्मसे युक्त अपनी स्त्रीका भी आलिंगन करने लगते हैं, उसी प्रकार पुष्परसका पान करनेवाले उन भ्रमरोंको भी पवित्र-अपवित्रका कुछ भी विचार नहीं था, क्योंकि वे ऊपर कही हुई कुसुमित और रजस्वला लतारूपी स्त्रियोंका आलिंगन कर रहे थे ॥ १२६ ॥

लताभवनमध्यस्था हिमानोत्स्पर्शशीतलाः । चन्द्रकान्तशिलास्तत्र विश्रामायामरेशिनाम् ॥ १२७ ॥

उस वनके लतागृहोंके बीचमें पड़ी हुई बर्फके समान शीतल स्पर्शवाली चन्द्रकान्तमणिकी शिलाएँ इन्द्रोंके विश्रामके लिए हुआ करती थीं ॥ १२७ ॥

ततोऽध्वानमतीत्यान्तः कियन्तमपि तां महीम् । प्राकारः प्रथमो वव्रे निषधाभो हिरण्मयः ॥ १२८ ॥

उस लतावनके भीतरकी ओर कुछ मार्ग उल्लंघन कर निषध पर्वतके आकारका सुवर्णमय पहला कोट था जो कि उस समवसरण भूमिको चारों ओरसे घेरे हुए था ॥ १२८ ॥

रुरुचे सो महान् शालः क्षितिं तां परितः स्थितः । यथासौ चक्रवालोऽद्रिर्मर्त्यलोकाध्युषितां भुवम् ॥ १२९ ॥

उस समवसरणभूमिके चारों ओर स्थित रहनेवाला वह कोट ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मनुष्यलोककी भूमिके चारों ओर स्थित हुआ मानुषोत्तर पर्वत ही हो ॥ १२९ ॥

वपुषा रचितं साक्षात् सुरचापपरःशतम् । तामलंकुरुते शालां पिञ्जरीकृतखाङ्गणम् ॥ १३० ॥

उस कोटको देखकर ऐसा मालूम होता था मानो आकाशरूपी आँगनको चित्र-विचित्र करनेवाला सैकड़ों इन्द्रधनुषोंका समूह ही कोटके बहानेसे आकर उस समवसरणभूमिको अलंकृत कर रहा हो ॥ १३० ॥

> यस्योपरितले लग्ना सुव्यक्ता मौक्तिकावली । तारावलिरियं किंस्विद इत्याशङ्कास्पदं नृणाम् ॥ १३१ ॥

उस कोटके ऊपरी भागपर स्पष्ट दिखाई देते हुए जो मोतियोंके समूह जड़े हुए थे वे 'क्या यह ताराओंका समूह है?' इस प्रकार लोगोंकी शंकाके स्थान हो रहे थे ॥ १३१ ॥

> क्वचिद्विद्रुमसंघातः पद्मरागांशुसङ्गतः । यस्मिन् सान्ध्यघनच्छायामाविष्कर्तुमलं तराम् ॥ १३२ ॥

उस कोटमें कहीं-कहीं जो मूँगाओंके समूह जड़े हुए थे वे पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे और भी अधिक लाल हो गये थे और सन्ध्याकालके बादलोंकी शोभा प्रकट करनेके लिए समर्थ हो रहे थे ॥ १३२ ॥

> क्वचिन्नवघनच्छायः क्वचिच्छाद्वलसच्छविः । क्वचिच्च सुरगोपाभः क्वचिद्विद्युत्प्रभोज्ज्वलः ॥ १३३ ॥

वह कोट कहीं तो नवीन मेघके समान काला था, कहीं हरी घासके समान हरा था, कहीं इन्द्रगोपके समान लाल-लाल था और कहीं बिजलीके समान पीला-पीला उज्ज्वल था ॥ १३३ ॥

> क्वचिद्विचित्ररत्नांशुरचितेन्द्रशरासनः । घनकालस्य वैदग्धीं स शालोऽलं व्यडम्बयत् ॥ १३४ ॥

कहीं अनेक प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे इन्द्रधनुषकी शोभा उत्पन्न कर रहा था। इस प्रकार वह वर्षाकालकी शोभाकी विडम्बना कर रहा था ॥ १३४ ॥

> क्वचिद्द्विपहरिव्याघ्ररूपैर्मिथुनवर्तिभिः । निचितः क्वचिदुद्देशे शुकैर्हंसैश्च बर्हिभिः ॥ १३५ ॥

वह कोट कहीं तो युगल रूपसे बने हुए हाथी, घोड़े और सिंह-व्याघ्रोंके जोड़ोंके आकारसे व्याप्त हो रहा था, कहीं तोते, हंस और मयूरोंके जोड़ोंसे उद्भासित हो रहा था ॥ १३५ ॥

> विचित्ररत्ननिर्माणैर्मनुष्यमिथुनैः क्वचित् । क्वचिच्च कल्पवल्लीभिर्बहिरन्तश्च चित्रितः ॥ १३६ ॥

कहीं अनेक प्रकारके रत्नोंसे बने हुए मनुष्य और स्त्रियोंके जोड़ोंसे सुशोभित हो रहा था और कहीं भीतर तथा बाहरकी ओर बनी हुई कल्पलताओंसे चित्रित हो रहा था ॥ १३६ ॥

> हसन्निवोन्मिषद्रत्नमयूखनिवहैः क्वचित् । क्वचित् सिंहलवान् कुर्वन्निवोत्कृष्टप्रतिध्वनिः ॥ १३७ ॥

कहींपर चमकते हुए रत्नोंकी किरणोंसे हँसता हुआ-सा जान पड़ता था और कहींपर गूँजती हुई प्रतिध्वनिसे सिंहनाद करता हुआ-सा जान पड़ता था ॥ १३७ ॥

> दीप्ताकारः स्फुरद्रत्नरूचिसंरुद्धखाङ्गणः । निषधाद्रिप्रतिस्पर्धी स शालो व्यरुचत्तराम् ॥ १३८ ॥

जिसका आकार बहुत ही देदीप्यमान है, जिसने अपने चमकीले रत्नोंकी किरणोंसे आकाशरूपी आँगनको घेर लिया है और जो निषध कुलाचलके साथ स्पर्धा करनेवाला है ऐसा वह कोट बहुत ही अधिक शोभायमान हो रहा था ॥ १३८ ॥

> महान्ति गोपुराण्यस्य विबभुर्दिक्चतुष्टये । राजतानि खगेन्द्राङ्गैर्गगनाग्रं स्पृशन्त्यलम् ॥ १३९ ॥

उस कोटके चारों दिशाओंमें चाँदीके बने हुए चार बड़े-बड़े गोपुरद्वार सुशोभित हो रहे थे, जो कि विजयार्ध पर्वतके शिखरोंके समान आकाशका स्पर्श कर रहे थे ॥ १३९ ॥

> ज्योत्स्नामन्यानि तान्युच्चैस्त्रिभूम्यानि प्रकाशन्ते । प्रहासमिव तन्वन्ति निर्जित्य त्रिजगच्छ्रियम् ॥ १४० ॥

चाँदनीके समूहके समान निर्मल, ऊँचे और तीन-तीन खण्डवाले वे गोपुरद्वार ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो तीनों लोकोंकी शोभाको जीतकर हँस ही रहे हों ॥ १४० ॥

> पद्मरागमयैरुच्चैः शिखरैर्व्योमलङ्घिभिः । दिशः पल्लवयन्तीव प्रसरैः शोणरोचिषाम् ॥ १४१ ॥

वे गोपुरद्वार पद्मरागमणिके बने हुए और आकाशको उल्लंघन करनेवाले शिखरोंसे सहित थे तथा अपनी फैलती हुई लाल-लाल किरणोंके समूहसे ऐसे जान पड़ते थे मानो दिशाओंको नये-नये कोमल पत्तोंसे युक्त ही कर रहे हों ॥ १४१ ॥

> जगद्गुरोर्गुणानत्र गायन्ति सुरगायनाः । केचिच्छृण्वन्ति नृत्यन्ति केचिदाविष्कृतस्मिताः ॥ १४२ ॥

इन गोपुर-दरवाजोंपर कितने ही गानेवाले देव जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवके गुण गा रहे थे, कितने ही उन्हें सुन रहे थे और कितने ही मन्द-मन्द मुसकाते हुए नृत्य कर रहे थे ॥ १४२ ॥

> शतमष्टोत्तरं तेषु मङ्गलद्रव्यसंपदः । भृङ्गारकलशाब्जाद्याः प्रत्येकं गोपुरेष्वभान् ॥ १४३ ॥

उन गोपुर-दरवाजोंमें-से प्रत्येक दरवाजेपर भृंगार, कलश और शंख आदि एक सौ आठ मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ सुशोभित हो रही थीं ॥ १४३ ॥

> रत्नाभरणभाभारपरिपिञ्जरिताम्बराः । प्रत्येकं तोरणास्तेषु शतसंख्या व्यभासिरे ॥ १४४ ॥

तथा प्रत्येक दरवाजेपर रत्नमय आभूषणोंकी कान्तिके भारसे आकाशको अनेक वर्णवाला करनेवाले सैकड़ों तोरण शोभायमान हो रहे थे ॥ १४४ ॥

> स्वभावभास्वरे भर्तुर्देहे स्वानवकाशताम् । मत्वेवाभरणान्यासन्नुद्बद्धान्यनुतोरणम् ॥ १४५ ॥

उन प्रत्येक तोरणोंमें जो आभूषण बँधे हुए थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो स्वभावसे ही सुन्दर भगवानके शरीरमें अपने लिए अवकाश न पाकर उन तोरणोंमें ही आकर बँध गये हों ॥ १४५ ॥

> निधयो नव संख्यातास्तद्द्वारोपान्तसेविनः । शशंसुः प्रभावं जैनं भुवनत्रितयातिगम् ॥ १४६ ॥

उन गोपुरद्वारोंके समीप प्रदेशोंमें जो शंख आदि नौ निधियाँ रखी हुई थीं वे जिनेन्द्र भगवानके तीनों लोकोंको उल्लंघन करनेवाले भारी प्रभावको सूचित कर रही थीं ॥ १४६ ॥

> त्रिजगन्नाथपुण्येन विभोर्नात्यवधीरिताः । बहिर्द्वारं स्थिता दूरात् निधयस्तं निषेविरे ॥ १४७ ॥

अथवा दरवाजेके बाहर रखी हुई वे निधियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो मोहरहित, तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् जिनेन्द्रदेवने उनका तिरस्कार कर दिया था, इसलिए दरवाजेके बाहर स्थित होकर दूरसे ही उनकी सेवा कर रही हों ॥ १४७ ॥

> तेषामन्तर्महावीथ्या उभयोर्भागयोरभूत् । नाट्यशालाद्वयं रम्यं प्रत्येकं चतसृष्वपि ॥ १४८ ॥

उन गोपुरदरवाजोंके भीतर जो बड़ा भारी रास्ता था उसके दोनों ओर दो नाट्यशालाएँ थीं, इस प्रकार चारों दिशाओंके प्रत्येक गोपुर-द्वारमें दो-दो नाट्यशालाएँ थीं ॥ १४८ ॥

> त्रिसप्तभूमिमिन्नस्थौ मण्डपौ तौ विरेजतुः । विमुक्तेस्त्र्यात्मकं मार्गं नृणां वक्तुमिबोद्यतौ ॥ १४९ ॥

वे दोनों ही नाट्यशालाएँ तीन-तीन खण्डकी थीं और उनसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो लोगोंके लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके भेदसे तीन भेदवाला मोक्षका मार्ग ही बतलानेके लिए तैयार खड़ी हों ॥ १४९ ॥

> हिरण्मयमहास्तम्भौ शुभ्रस्फटिकभित्तिकौ । तौ रत्नशिखरारूढनभोभागौ विरेजतुः ॥ १५० ॥

जिनके बड़े-बड़े खम्भे सुवर्णके बने हुए हैं, जिनकी दीवारें देदीप्यमान स्फटिकमणिकी बनी हुई हैं और जिन्होंने अपने रत्नोंके बने हुए शिखरोंसे आकाशके प्रदेशको व्याप्त कर लिया है ऐसी वे दोनों नाट्यशालाएँ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थीं ॥ १५० ॥

> नाट्यमण्डपमध्येषु ननृतुः स्मामरस्त्रियः । शतह्रदा इवामग्नमूर्तयः स्वप्रभाह्रदे ॥ १५१ ॥

उन नाट्यशालाओंके मध्यभागमें ऐसी अनेक देवांगनाएँ नृत्य कर रही थीं, जिनके शरीर अपनी कान्तिरूपी सरोवरमें डूबे हुए थे और जिससे वे बिजलीके समान सुशोभित हो रही थीं ॥ १५१ ॥

> गायन्ति जिनराजस्य विजयं ताः स्म सस्मिताः । तमेवाभिनयन्त्योऽमूः चिक्षिपुः पौष्पमञ्जलिम् ॥ १५२ ॥

उन नाट्यशालाओंमें इकट्ठी हुई वे देवांगनाएँ जिनेन्द्रदेवकी विजयके गीत गा रही थीं और उसी विजयका अभिनय करती हुई पुष्पाञ्जलि छोड़ रही थीं ॥ १५२ ॥

> तत्र वीणानिनादेन मन्द्रध्वनिरुदञ्चरन् । व्यतनोत् प्रावृषः शङ्कां तत्रत्यानां शिखण्डिनाम् ॥ १६३ ॥

उन नाट्यशालाओंमें वीणाकी आवाजके साथ-साथ जो मन्द्र (गम्भीर) आवाज उठ रही थी वह मयूरोंको वर्षाऋतुके प्रारम्भ होनेकी शंका उत्पन्न कर रही थी ॥ १६३ ॥

> शरदभ्रनिभे तस्मिन् सिते नाट्यशालयोः । विद्युद्विलासमातेनुर्नृत्यन्त्यः सुरयोषितः ॥ १६४ ॥

वे दोनों ही नाट्यशालाएँ शरद् ऋतुके मेघके समान सफेद थीं, इसलिए उनमें नृत्य करती हुई वे देवांगनाएँ ठीक बिजलीकी शोभा फैला रही थीं ॥ १६४ ॥

> किन्नराणां कलैर्गीतैः सोद्गानैरुपवीणितैः । तत्रासक्तिं परां भेजुः प्रेक्षिणां चित्तवृत्तयः ॥ १६५ ॥

उन नाट्यशालाओंमें किन्नर जातिके देव उत्तम संगीतके साथ-साथ मधुर शब्दोंवाली वीणा बजा रहे थे, जिससे देखनेवालोंकी चित्तवृत्तियाँ उनमें अतिशय आसक्तिको प्राप्त हो रही थीं ॥ १६५ ॥

> ततो धूपघटौ द्वौ द्वौ वीथीनामुभयोर्दिशोः । धूपधूमैर्व्यरौत्सीतां प्रसरद्भिर्नभोऽङ्गणम् ॥ १६६ ॥

उन नाट्यशालाओंसे कुछ आगे चलकर गलियोंके दोनों ओर दो-दो धूपघट रखे हुए थे, जो कि उठते हुए धूपके धुएँसे आकाशरूप आँगनको व्याप्त कर रहे थे ॥ १६६ ॥

> तद्धूपधूमसंरुद्धं नभो वीक्ष्य नभोजुषः । प्रावृट्पयोधराशङ्कामकालेऽपि व्यतानिषुः ॥ १६७ ॥

उन धूपघटोंके धुएँसे भरे हुए आकाशको देखकर आकाशमें चलनेवाले देव अथवा विद्याधर असमयमें ही वर्षाऋतुके मेघोंकी आशंका करने लगे ॥ १६७ ॥

> दिशः सुरभयन्धूपो मन्दानिलवशोद्धतः । स रेजे पृथिवीदेव्या उच्छ्वास इव सौरभः ॥ १६८ ॥

मन्द-मन्द वायुके वशसे उड़ा हुआ और दिशाओंको सुगन्धित करता हुआ वह धूप ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उच्छ्वास लेनेसे प्रकट हुई पृथिवी देवीके मुखकी सुगन्धि ही हो ॥ १६८ ॥

तदामोदं समाघ्राय सन्ततिर्मधुलेहिनाम् । दिशामुपान्तके विस्तारं केशपाशे व्यधत्त सा ॥ १५९ ॥

उस धूपकी सुगन्धको सूँघकर सब ओर उड़ती हुई भ्रमरोंकी पंक्तियाँ दिशारूपी स्त्रियोंके मुखपर फैले हुए केशोंकी शोभा बढ़ा रही थीं ॥ १५९ ॥

इतो धूपघटामोदमितश्च सुरयोषिताम् । सुगन्धिमुखनिःश्वासमलिनां जघ्नुरारुहाः ॥ १६० ॥

एक ओर उन धूपघटोंसे सुगन्धि निकल रही थी और दूसरी ओर देवांगनाओंके मुखसे सुगन्धित निश्वास निकल रहा था, सो व्याकुल हुए भ्रमर दोनोंको ही सूँघ रहे थे ॥ १६० ॥

मन्द्रध्वानैर्मृदङ्गानां स्तनयित्नुजिगीषिभिः । पतन्त्या पुष्पवृष्ट्या च सदान्भ्रासीद् घनागमः ॥ १६१ ॥

वहाँपर मेघोंकी गर्जनाको जीतनेवाले मृदंगके शब्दोंसे तथा पड़ती हुई पुष्पवृष्टिसे सदा वर्षाकाल विद्यमान रहता था ॥ १६१ ॥

ततो वीथ्यन्तरेष्वासंश्चतस्रो वनवीथयः । नन्दनाद्या वनश्रेण्यो विभुं द्रष्टुमिवागताः ॥ १६२ ॥

धूपघटोंसे कुछ आगे चलकर मुख्य गलियोंके बगलमें चार-चार वनोंकी वीथियाँ थीं, जो कि ऐसी जान पड़ती थीं मानो नन्दन आदि वनोंकी श्रेणियाँ ही भगवानके दर्शन करनेके लिए आयी हों ॥ १६२ ॥

अशोकसप्तपर्णाख्यचम्पकाम्रमहीरुहाम् । वनानि तान्यधुस्तोषादिवोच्चैः कुसुमस्मितम् ॥ १६३ ॥

वे चारों वन अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आमके वृक्षोंके थे, उन सबपर फूल खिले हुए थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सन्तोषसे हँस ही रहे हों ॥ १६३ ॥

वनानि तरुभिश्चित्रैः फलपुष्पोपशोभिभिः । जिनस्यार्घ्यमिवोत्क्षिप्य तस्थुस्तानि जगद्गुरोः ॥ १६४ ॥

फल और फूलोंसे सुशोभित अनेक प्रकारके वृक्षोंसे युक्त वे वन ऐसे जान पड़ते थे मानो जगद्गुरु जिनेन्द्रदेवके लिए अर्घ्य लेकर ही खड़े हों ॥ १६४ ॥

वनेषु तरवस्तेषु रेजिरे पवनाहतैः । शाखाकरैर्मुहुर्नृत्यं तन्वाना इव संमदात् ॥ १६५ ॥

उन वनोंमें जो वृक्ष थे वे पवनसे हिलती हुई शाखाओंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो अधिक हर्षसे बार-बार नृत्य ही कर रहे हों ॥ १६५ ॥

सच्छायाः सफलास्तुङ्गा नृणां प्रीतिकराः समाः । सुराजान इवाभूवंस्ते तरवः सुखशीतलाः ॥ १६६ ॥

अथवा वे वृक्ष उत्तम छायासे सहित थे, अनेक फलोंसे युक्त थे, तुंग अर्थात् ऊँचे थे, मनुष्योंके सन्तोषके कारण थे, सुख देनेवाले और शीतल थे, इसलिए किन्हीं उत्तम राजाओंके समान जान पड़ते थे; क्योंकि उत्तम राजा भी उत्तम छाया अर्थात् आश्रयसे सहित होते हैं, अनेक फलोंसे युक्त होते हैं, तुंग अर्थात् उदारहृदय होते हैं, मनुष्योंको आनन्द देनेवाले होते हैं और सुख तथा शान्ति देनेवाले होते हैं ॥ १६६ ॥

पुष्पामोदसमाहूतैर्मिलितैरलिनां कुलैः । गायन्त इव तद्गीतं रेजुर्वनमहीरुहाः ॥ १६७ ॥

फूलोंकी सुगन्धिसे बुलाये गये और इसीलिए आकर इकट्ठे हुए तथा मधुर गुंजार करते हुए भ्रमरोंके समूहसे वे वृक्ष ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनेन्द्रदेवका गुणगान ही कर रहे हों ॥ १६७ ॥

क्वचिद्विकीर्य पुष्पाणि मुञ्चन्तो वनवीरुधः । पुष्पोपहारमातेनुरिव भक्त्या जगद्गुरोः ॥ १६८ ॥

कहीं-कहीं विखररूपसे वे वृक्ष ऊपरसे फूल छोड़ रहे थे, जिनसे ऐसे मालूम होते थे मानो जगद्गुरु भगवानके लिए भक्तिपूर्वक फूलोंकी भेंट ही कर रहे हों ॥ १६८ ॥

अलिकुलकलैर्मन्दैरातोद्यैर्मदमञ्जुभिः । मदनं तर्जयन्तीव वनान्यासन् समन्ततः ॥ १६९ ॥

कहीं-कहींपर मधुर शब्द करते हुए भ्रमरोंके मद-मनोहर शब्दोंसे ये वन ऐसे जान पड़ते थे मानो चारों ओरसे कामदेवकी तर्जना ही कर रहे हों ॥ १६९ ॥

पुंस्कोकिलकलक्वाणैराह्वयन्तीव सेवितुम् । जिनेन्द्रममराधीशान् वनानि विबभुस्तराम् ॥ १७० ॥

उन वनोंमें कोयलोंके जो मधुर शब्द हो रहे थे उनसे वे वन ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनेन्द्र भगवानकी सेवा करनेके लिए इन्द्रोंको ही बुला रहे हों ॥ १७० ॥

> पुष्पकेसरसंकीर्णा वनस्याधस्तले मही । सुवर्णरजसाच्छन्ना दधौ रुचिमिवोत्थिताम् ॥ १७१ ॥

उन वनोंमें वृक्षोंके नीचेकी पृथिवी फूलोंके परागसे ढकी हुई थी, जिससे वह ऐसी मनोहर जान पड़ती थी मानो उसका तलभाग सुवर्णकी धूलिसे ही ढक रहा हो ॥ १७१ ॥

> इत्थममूनि वनान्यासन्नतिरम्याणि पादपैः । यत्र प्रवृत्ता वृष्टिर्नर्तुपर्यायमपेक्षते ॥ १७२ ॥

इस प्रकार वे वन वृक्षोंसे बहुत ही रमणीय जान पड़ते थे, वहाँपर होनेवाली फूलोंकी वृष्टि ऋतुओंके परिवर्तनको कभी नहीं देखती थी अर्थात् वहाँ सदा ही सब ऋतुओंके फूल खिले रहते थे ॥ १७२ ॥

> न रात्रिर्दिनं तत्र तरुभिर्भास्वरैर्भृशम् । तरुशैत्यादिवाबिभ्यत् संजहार करान् रविः ॥ १७३ ॥

उन वनोंके वृक्ष इतने अधिक प्रकाशमान थे कि उनसे वहाँ न तो रातका ही व्यवहार होता था और न दिनका ही। वहाँ सूर्यकी किरणोंका प्रवेश नहीं हो पाता था, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वहाँके वृक्षोंकी शीतलतासे डरकर ही सूर्यने अपने कर अर्थात् किरणों (पक्षमें हाथों) का संकोच कर लिया हो ॥ १७३ ॥

> अन्तर्वने क्वचिद्वाप्यस्त्रिकोणाश्चतुरस्रिकाः । स्नातोत्तीर्णासुरस्त्रीणां स्तनकुङ्कुमपिञ्जराः ॥ १७४ ॥

उन वनोंके भीतर कहींपर तिकोनी और कहींपर चौकोनी बावड़ियाँ थीं तथा वे बावड़ियाँ स्नान कर बाहर निकली हुई देवांगनाओंके स्तनोंपर लगी हुई केसरके घुल जानेसे पीली-पीली हो रही थीं ॥ १७४ ॥

> पुष्करिण्यः क्वचिच्चासन् क्वचिच्च कृत्रिमाद्रयः । क्वचिद्रम्याणि हर्म्याणि क्वचिदाक्रीडमण्डपाः ॥ १७५ ॥

उन वनोंमें कहीं कमलोंसे युक्त छोटे-छोटे तालाब थे, कहीं कृत्रिम पर्वत बने हुए थे, कहीं मनोहर महल बने हुए थे और कहींपर क्रीड़ा-मण्डप बने हुए थे ॥ १७५ ॥

क्वचित्प्रेक्षागृहाण्यासन् चित्रशालाः क्वचित् क्वचित् । एकद्वित्रिप्रभेदाश्च महाप्रासादपङ्क्तयः ॥ १७६ ॥

कहींपर नाट्यगृह बने हुए थे, कहीं चित्रशालाएँ बनी हुई थीं और कहीं एक खण्डकी तथा कहीं दो, तीन आदि खण्डोंकी बड़े-बड़े महलोंकी पंक्तियाँ बनी हुई थीं ॥ १७६ ॥

क्वचिच्च हरितैर्भूमिरिन्द्रगोपैस्तता क्वचित् । सरांस्यतिमनोज्ञानि सरितश्च सैकताः ॥ १७७ ॥

कहीं हरी-हरी घाससे युक्त भूमि थी, कहीं इन्द्रगोप नामके कीड़ोंसे व्याप्त पृथिवी थी, कहीं अतिशय मनोज्ञ तालाब थे और कहीं उत्तम बालूके किनारोंसे सुशोभित नदियाँ बह रही थीं ॥ १७७ ॥

हारि मेदुरमुन्निद्रकुसुमं सश्रीककामदम् । सुकलत्रमिवासीत्तत् कृतं वनचतुष्टयम् ॥ १७८ ॥

वे चारों ही वन उत्तम स्त्रियोंके समान सेवन करने योग्य थे क्योंकि वे वन भी उत्तम स्त्रियोंके समान ही मनोहर थे, मेदुर अर्थात् अतिशय चिकने थे, उद्निद्रकुसुम अर्थात् खिले हुए फूलोंसे सहित (पक्षमें ऋतुधर्मसे रहित) थे, सश्री अर्थात् शोभासे सहित थे और कामद अर्थात् इच्छित पदार्थके (पक्षमें कामके) देनेवाले थे ॥ १७८ ॥

अपास्तातपसंस्पर्शं विकसत्पल्लवाञ्चितम् । पयोधरस्पृगाभासि तत् स्त्रीणामुत्तरीयवत् ॥ १७९ ॥

अथवा वे वन स्त्रियोंके उत्तरीय (ओढ़नेकी चूनरी) वस्त्रके समान सुशोभित हो रहे थे; क्योंकि जिस प्रकार स्त्रियोंका उत्तरीय वस्त्र घाम (धूप) की बाधाको नष्ट कर देता है उसी प्रकार उन वनोंने भी घामकी बाधाको नष्ट कर दिया था, स्त्रियोंका उत्तरीय वस्त्र जिस प्रकार उत्तम पल्लव अर्थात् अंचलसे सुशोभित होता है उसी प्रकार वे वन भी पल्लव अर्थात् नवीन कोमल पत्तोंसे सुशोभित हो रहे थे और स्त्रियोंका उत्तरीय वस्त्र जिस प्रकार पयोधर अर्थात् स्तनोंका स्पर्श करता है उसी प्रकार वे वन भी ऊँचे होनेके कारण पयोधर अर्थात् मेघोंका स्पर्श कर रहे थे ॥ १७९ ॥

वनानां प्रथमं चाशोकं शोकापनोदि देहिनाम् । रागं वमदिवात्मीयमारक्तैः पुष्पपल्लवैः ॥ १८० ॥

उन चारों वनोंमें पहला अशोक वन जो कि प्राणियोंके शोकको नष्ट करनेवाला था, लाल रंगके फूलों और नवीन पत्तोंसे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अपने अनुराग (प्रेम) का ही वमन कर रहा हो ॥ १८० ॥

पर्णानि सप्त बिभ्राणं द्वितीयाख्यं तु यद् वनम् । सप्त स्थानानि धामानि दर्शयत्यतिपर्व यत् ॥ १८१ ॥

प्रत्येक गाँठपर सात-सात पत्तोंको धारण करनेवाले सप्तपर्ण वृक्षोंका दूसरा वन भी सुशोभित हो रहा था, जो कि ऐसा जान पड़ता था मानो वृक्षोंके प्रत्येक पर्वपर भगवानके सज्जातित्व, सद्गृहस्थत्व, पारिव्राज्य आदि सात परम स्थानोंको ही दिखा रहा हो ॥ १८१ ॥

चाम्पेयं वनमप्यन्यत् सुमनोभरभूषणम् । वनं दीपाङ्गवृक्षाणां विभुं भक्त्वा इवागतम् ॥ १८२ ॥

फूलोंके भारसे सुशोभित तीसरा चम्पक वृक्षोंका वन भी सुशोभित हो रहा था और वह ऐसा जान पड़ता था मानो भगवानकी सेवा करनेके लिए दीपांग जातिके कल्पवृक्षोंका वन ही आया हो ॥ १८२ ॥

चुतव्रातं वनं रेजे कलकण्ठीशुभस्वनैः । स्तुवानमिव भक्त्यैनमीशानं पुण्यशासनम् ॥ १८३ ॥

तथा कोयलोंके मधुर शब्दोंसे मनोहर चौथा आम्रवृक्षोंका वन भी ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो पवित्र उपदेश देनेवाले भगवानकी भक्तिसे स्तुति ही कर रहा हो ॥ १८३ ॥

अशोकवनमध्येऽभूदशोकानोकहो महान् । हैमं त्रिमेखलं पीठं समुत्तुङ्गमधिष्ठितः ॥ १८४ ॥

अशोक वनके मध्यभागमें एक बड़ा भारी अशोकका वृक्ष था जो कि सुवर्णकी बनी हुई तीन कटनीदार ऊँची पीठिकापर स्थित था ॥ १८४ ॥

चतुर्गोपुरसंबद्धत्रिशालपरिवेष्टितः । मङ्गलद्रव्यसंभारैरभितः संवृतस्तथा ॥ १८५ ॥

वह वृक्ष, जिनमें चार-चार गोपुरद्वार बने हुए हैं ऐसे तीन कोटोंसे घिरा हुआ था तथा उसके चारों ओर छत्र, चमर, दर्पण और कलश आदि मंगलद्रव्य रखे हुए थे ॥ १८५ ॥

जम्बूद्वीपस्थलीमध्ये भाति जम्बूद्रुमो यथा । तथा वनस्थलीमध्ये स बभौ चैत्यपादपः ॥ १८६ ॥

जिस प्रकार जम्बूद्वीपकी मध्यभूमिमें जम्बू वृक्ष सुशोभित होता है उसी प्रकार उस अशोकवनकी मध्यभूमिमें वह अशोक नामक चैत्यवृक्ष सुशोभित हो रहा था ॥ १८६ ॥

> शाखाप्रव्याप्तविश्वाशः स रेजेऽशोकपादपः । अशोकमयमेवेदं जगत्कर्तुमिबोद्यतः ॥ १८७ ॥

जिसने अपनी शाखाओंके अग्रभागसे समस्त दिशाओंको व्याप्त कर रखा है ऐसा वह अशोक वृक्ष ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो समस्त संसारको अशोकमय अर्थात् शोकरहित करनेके लिए ही उद्यत हुआ हो ॥ १८७ ॥

> सुरभीकृतविश्वाशः कुसुमैः स्थगितम्बरः । सिद्धाध्वानमिवारुन्धन् विबभौ चैत्यपादपः ॥ १८८ ॥

समस्त दिशाओंको सुगन्धित करनेवाले फूलोंसे जिसने आकाशको व्याप्त कर लिया है ऐसा वह चैत्यवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो सिद्ध-विद्याधरोंके मार्गको ही रोक रहा हो ॥ १८८ ॥

> गारुडोपलनिर्माणैः पत्रैश्चित्रैश्चितोऽभितः । पद्मरागमणेः पुष्पस्तबकैः परितो वृतः ॥ १८९ ॥

वह वृक्ष नीलमणियोंके बने हुए अनेक प्रकारके पत्तोंसे व्याप्त हो रहा था और पद्मरागमणियोंके बने हुए फूलोंके गुच्छोंसे घिरा हुआ था ॥ १८९ ॥

> हिरण्मयमहोग्रशाखो दीप्तामूलस्थलः सुरैः । अलिकुलझङ्कारैस्तर्जयन्निव मन्मथम् ॥ १९० ॥

सुवर्णकी बनी हुई उसकी बहुत ऊँची-ऊँची शाखाएँ थीं, उसका देदीप्यमान मूलभाग मणियोंसे बना हुआ था तथा उसपर बैठे हुए भ्रमरोंके समूह जो मनोहर झंकार कर रहे थे उनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवको तर्जना ही कर रहा हो ॥ १९० ॥

> सुरासुरनरेन्द्रान्तःकरणालानविग्रहः । स्वप्रभापरिवेषेण द्योतिताखिलदिङ्मुखः ॥ १९१ ॥

वह चैत्यवृक्ष सुर, असुर और नरेन्द्र आदिके मनरूपी हाथियोंके बाँधनेके लिए खंभेके समान था तथा उसने अपने प्रभामण्डलसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित कर रखा था ॥ १९१ ॥

रणल्लम्बिकघण्टाभिर्बधिरीकृतविश्वभूः । भूर्भुवःस्वर्जयं भर्तुः प्रतोषादिव घोषयन् ॥ १९२ ॥

उसपर टन-टन शब्द करते हुए घण्टे लटक रहे थे, उनसे उसने समस्त दिशाएँ बहिरी कर दी थीं और उनसे वह ऐसा जान पड़ता था कि भगवानने अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकपर जो विजय प्राप्त की है, सन्तोषसे मानो वह उसकी घोषणा ही कर रहा हो ॥ १९२ ॥

ध्वजांशुकपरामृष्टनिर्मेघघनपद्धतिः । जगज्जनाङ्गसंलग्नमंहः परिमृजन्निव ॥ १९३ ॥

वह वृक्ष ऊपर लगी हुई ध्वजाओंके वस्त्रोंसे पोंछ-पोंछकर आकाशको मेघरहित कर रहा था और उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो संसारी जीवोंकी देहमें लगे हुए पापोंको ही पोंछ रहा हो ॥ १९३ ॥

मूर्ध्ना छत्रत्रयं बिभ्रन्मुक्तालम्बनभूषितम् । विभोस्त्रिभुवनेश्वर्यं विना वाचेव दर्शयन् ॥ १९४ ॥

वह वृक्ष मोतियोंकी मालाओंसे सुशोभित तीन छत्रोंको अपने सिरपर धारण कर रहा था और उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवानके तीनों लोकोंके ऐश्वर्यको बिना वचनोंके ही दिखला रहा हो ॥ १९४ ॥

दीप्ता बुध्नभागेऽस्य प्रतिमा दिक्षतुष्टये । जिनेश्वराणामिन्द्राद्यैः समवाप्ताभिषेचनाः ॥ १९५ ॥

उस चैत्यवृक्षके मूलभागमें चारों दिशाओंमें जिनेन्द्रदेवकी चार प्रतिमाएँ थीं जिनका इन्द्र स्वयं अभिषेक करते थे ॥ १९५ ॥

गन्धस्रग्धूपदीपाद्यैः फलैरपि सहाक्षतैः । तत्र नित्यं सुरा देवा जिनार्चनं वितेनिरे ॥ १९६ ॥

देव लोग वहाँपर विराजमान उन जिनप्रतिमाओंकी गन्ध, पुष्पोंकी माला, धूप, दीप, फल और अक्षत आदिसे निरन्तर पूजा किया करते थे ॥ १९६ ॥

क्षीरोदोदकधौताङ्गीर्हेमजास्ता जिनार्चयः । प्रणिपत्यार्हतामर्चां भावशुद्धाः सुरासुराः ॥ १९७ ॥

क्षीरसागरके जलसे जिनके अंगोंका प्रक्षालन हुआ है और जो अतिशय निर्मल हैं ऐसी सुवर्णमयी अरहन्तकी उन प्रतिमाओंको नमस्कार कर भावशुद्धिपूर्वक मनुष्य, सुर और असुर सभी उनकी पूजा करते थे ॥ १९७ ॥

> स्तुवन्ति स्तुतिभिः केचिदर्थ्याभिः प्रणमन्ति च । स्मृत्वावधार्य गायन्ति केचिच्च सुरसत्तमाः ॥ १९८ ॥

कितने ही उत्तम देव अर्थसे भरी हुई स्तुतियोंसे उन प्रतिमाओंकी स्तुति करते थे, कितने ही उन्हें नमस्कार करते थे और कितने ही उनके गुणोंका स्मरण कर तथा चिन्तन कर गान करते थे ॥ १९८ ॥

> यथाशोकस्तथान्येऽपि विज्ञेयास्तस्य भूरुहाः । वने वने सजातीया जिनबिम्बोद्यद्बुध्नकाः ॥ १९९ ॥

जिस प्रकार अशोकवनमें अशोक नामका चैत्यवृक्ष है उसी प्रकार अन्य तीन वनोंमें भी अपनी-अपनी जातिका एक-एक चैत्यवृक्ष था और उन सभीके मूलभाग जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाओंसे देदीप्यमान थे ॥ १९९ ॥

> अशोकः सप्तपर्णश्च चम्पकश्चूत एव च । चत्वारोऽमी वनेष्वासन् प्रोत्तुङ्गाश्चैत्यपादपाः ॥ २०० ॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए चारों वनोंमें क्रमसे अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र नामके चार बहुत ही ऊँचे चैत्यवृक्ष थे ॥ २०० ॥

> चैत्याधिष्ठितबुध्नत्वाद् रूढतन्नामरूढयः । शाखिनोऽमी विभान्ति स्म सुरैः प्राप्तपूजनाः ॥ २०१ ॥

मूलभागमें जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमा विराजमान होनेसे जो 'चैत्यवृक्ष' इस सार्थक नामको धारण कर रहे हैं और इन्द्र जिनकी पूजा किया करते हैं ऐसे वे चैत्यवृक्ष बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥ २०१ ॥

> फलैरलंता दीप्ताः स्वपादाक्रान्तभूतलाः । पार्थिवा इव ते रेजुः पार्थिवाः पत्रिणो द्रुमाः ॥ २०२ ॥

पार्थिव अर्थात् पृथिवीसे उत्पन्न हुए वे वृक्ष सचमुच ही पार्थिव अर्थात् पृथिवीके स्वामी राजाके समान जान पड़ते थे; क्योंकि जिस प्रकार राजा अनेक फलोंसे अलंकृत होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी अनेक फलोंसे अलंकृत थे, राजा जिस प्रकार तेजस्वी होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी तेजस्वी (देदीप्यमान) थे, राजा जिस प्रकार अपने पाद अर्थात् पैरोंसे समस्त पृथिवीको आक्रान्त किया करते हैं (समस्त पृथिवीमें अपना यातायात रखते हैं) उसी प्रकार वे वृक्ष भी

अपने पाद अर्थात् जड़ भागसे समस्त पृथिवीको आक्रान्त कर रहे थे (समस्त पृथिवीमें उनकी जड़ें फैली हुई थीं) और राजा जिस प्रकार पत्र अर्थात् सवारियोंसे भरपूर रहते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी पत्र अर्थात् पत्तोंसे भरपूर थे ॥ २०२ ॥

> प्रभ्यञ्जितानुरागास्तैः पल्लवैः कुसुमोत्करैः । प्रसादं दर्शयन्तोऽन्तर्विभुं सेविरे द्रुमाः ॥ २०३ ॥

वे वृक्ष अपने पल्लव अर्थात् लाल-लाल नयी कोंपलोंसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अन्तरंगका अनुराग (प्रेम) ही प्रकट कर रहे हों और फूलोंके समूहसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो हृदयकी प्रसन्नता ही दिखला रहे हों—इस प्रकार वे वृक्ष भगवानकी सेवा कर रहे थे ॥ २०३ ॥

> तरूणामेव तावच्चेदीदृशो विभवोदयः । किमस्ति वाच्यमीशस्य विभवेऽतीदृशात्मनः ॥ २०४ ॥

जब कि उन वृक्षोंका ही ऐसा बड़ा भारी माहात्म्य था तब अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप भगवान् वृषभदेवके केवलज्ञानरूपी विभवके विषयमें कहना ही क्या है—वह तो सर्वथा अनुपम ही था ॥ २०४ ॥

> ततो वनानां पर्यन्ते बभूव वनवेदिका । चतुर्भिर्गोपुरैस्तुङ्गै राारुद्धगगनाङ्गणा ॥ २०५ ॥

उन वनोंके अन्तमें चारों ओर एक-एक वनवेदी थी, जो कि ऊँचे-ऊँचे चार गोपुर-द्वारोंसे आकाशरूपी आँगनको रोक रही थी ॥ २०५ ॥

> काञ्चीयष्टिरिवोर्वीशा सा बभौ वनवेदिका । जाम्बूनदमयी रत्नैरन्विता च समन्ततः ॥ २०६ ॥

वह स्वर्णमयी वनवेदिका सब ओरसे रत्नोंसे जड़ी हुई थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो उस वनकी करधनी ही हो ॥ २०६ ॥

> सा बभौ वेदिकोदग्रा सवप्रा समया वनम् । भव्यधीरिव संश्रित्य सचर्या समयावनम् ॥ २०७ ॥

अथवा वह वनवेदिका भव्य जीवोंकी बुद्धिके समान सुशोभित हो रही थी; क्योंकि जिस प्रकार भव्य जीवोंकी बुद्धि उदग्र अर्थात् उत्कृष्ट होती है उसी प्रकार वह वनवेदिका भी उदग्र अर्थात् बहुत ऊँची थी, भव्य जीवोंकी बुद्धि जिस प्रकार सचर्या अर्थात् उत्तम चारित्रसे सहित होती है उसी प्रकार वह वनवेदिका भी सचर्या अर्थात् रक्षा (वप्र) से सहित थी और भव्य जीवोंकी बुद्धि जिस प्रकार समयावन (सिद्धान्तरक्षण) अर्थात् आगमरक्षाका आश्रय कर प्रवृत्त रहती है

उसी प्रकार वह वनवेदिका भी समया वनम् (वनस्य समीपम्) अर्थात् वनके समीप भागका आश्रय कर स्थित हो रही थी ॥ २०७ ॥

> सुगुप्ताङ्गी सतीवासौ रुचिरा सूत्रपा वनम् । परिवव्रे श्रुतं जैनं सद्धीर्वा सूत्रपावनम् ॥ २०८ ॥

अथवा वह वनवेदिका सुगुप्तांगी अर्थात् सुरक्षित थी, सती अर्थात् समीचीन थी, रुचिरा अर्थात् देदीप्यमान थी, सूत्रपा अर्थात् सूत्र (डोरा) की रक्षा करनेवाली थी—सूतके नापमें बनी हुई थी—कहीं ऊँची-नीची नहीं थी और वनको चारों ओरसे घेरे हुए थी, इसलिए किसी सत्पुरुषकी बुद्धिके समान जान पड़ती थी; क्योंकि सत्पुरुषकी बुद्धि भी सुगुप्तांगी अर्थात् सुरक्षित होती है—पापाचारोंसे अपने शरीरको सुरक्षित रखती है, सती अर्थात् शंका आदि दोषोंसे रहित होती है, रुचिरा अर्थात् श्रद्धागुण प्रदान करनेवाली होती है, सूत्रपा अर्थात् आगमकी रक्षा करनेवाली होती है और सूत्रपावन अर्थात् सूत्रोंसे पवित्र जैनशास्त्रको घेरे रहती है—उन्हींके अनुकूल प्रवृत्ति करती है ॥ २०८ ॥

> घण्टाजालानि लम्बानि मुक्तालम्बनकानि च । पुष्पस्रजश्च संरेजुरमुष्यां गोपुरं प्रति ॥ २०९ ॥

उस वेदिकाके प्रत्येक गोपुर-द्वारमें घण्टाओंके समूह लटक रहे थे, मोतियोंकी झालर तथा फूलोंकी मालाएँ सुशोभित हो रही थीं ॥ २०९ ॥

> राजतानि व्यरोचन्त गोपुराण्यष्टमङ्गलैः । सङ्गीतातोद्यनृत्तैश्च रत्नाभरणतोरणैः ॥ २१० ॥

उस वेदिकाके चाँदीके बने हुए चारों गोपुर-द्वार अष्टमंगलद्रव्य, संगीत, बाजोंका बजना, नृत्य तथा रत्नमय आभरणोंसे युक्त तोरणोंसे बहुत ही सुशोभित हो रहे थे ॥ २१० ॥

> ततः परं व्यलंचक्रुर्नाना ध्वजविपङ्क्तयः । महीं वीथ्यन्तरालस्थां हेमस्तम्भाग्रलम्बिताः ॥ २११ ॥

उन वेदिकाओंसे आगे सुवर्णमय खम्भोंके अग्रभागपर लगी हुई अनेक प्रकारकी ध्वजाओंकी पंक्तियाँ महावीथीके मध्यकी भूमिको अलंकृत कर रही थीं ॥ २११ ॥

> सुस्थास्ते मणिपीठेषु ध्वजस्तम्भाः स्फुरद्रुचः । विरेजुर्जगतां मान्याः सुराजान इवोन्नताः ॥ २१२ ॥

वे ध्वजाओंके खम्भे मणिमयी पीठिकाओंपर स्थिर थे, देदीप्यमान कान्तिसे युक्त थे, जगत्मान्य थे और अतिशय ऊँचे थे, इसलिए किसी उत्तम राजाओंके समान सुशोभित हो रहे थे; क्योंकि उत्तम राजा भी मणिमय आसनोंपर स्थित होते हैं—बैठते हैं, तेजस्वी होते हैं, जगत्में मान्य होते हैं और उन्नत अर्थात् उदार होते हैं ॥ २१२ ॥

आदिपुराण - पर्व २२ (श्लोक २१३ - ३१६)

> अष्टाशीत्यङ्गुलास्तेषां पृथुत्वं परिकीर्तितम् । पञ्चविंशतिकोदण्डान्यमीषामन्तरं विदुः ॥ २१३ ॥

उन खम्भोंकी चौड़ाई अठ्यासी अंगुल कही गयी है और उनका अन्तर पचीस-पचीस धनुष प्रमाण जानना चाहिए ॥ २१३ ॥

> सिद्धार्थचैत्यवृक्षाश्च प्राकारवनवेदिकाः । स्तूपाः सतोरणा मानस्तम्भाः स्तम्भाश्च केतुषु ॥ २१४ ॥

सिद्धार्थवृक्ष, चैत्यवृक्ष, परकोटा (प्राकार), वनवेदिका, तोरणसहित स्तूप, मानस्तम्भ और ध्वजाओंके खम्भे—

> प्रोक्तास्तीर्थकृदुत्सेधादुत्सेधेन द्विषड्गुणाः । दैर्घ्यानुरूपमेतेषां पृथुत्वमाहुर्मनीषिणः ॥ २१५ ॥

ये सब तीर्थंकरोंके शरीरकी ऊँचाईसे बारह गुने ऊँचे कहे गये हैं और विद्वानोंने इनकी चौड़ाई आदि इनकी लम्बाईके अनुरूप बतलायी है ॥ २१५ ॥

> वनानां स्वगृहाणां च पर्वतानां तथैव च । भवेदुन्नतिरेषैव वर्णितागमकोविदैः ॥ २१६ ॥

इसी प्रकार आगमके जाननेवाले विद्वानोंने वन, वनके मकान और पर्वतोंकी भी यही ऊँचाई बतलायी है अर्थात् ये सब भी तीर्थंकरके शरीरसे बारह गुने ऊँचे होते हैं ॥ २१६ ॥

> भवेयुरिङ्गिरायो रुद्धाः स्वोत्सेधादष्टसंगुणम् । स्तूपानां रोद्धमुच्छायात् सातिरेकं विदो विदुः ॥ २१७ ॥

पर्वत अपनी ऊँचाईसे आठ गुने चौड़े होते हैं और स्तूपोंका व्यास (विस्तार) विद्वानोंने अपनी ऊँचाईसे कुछ अधिक बतलाया है ॥ २१७ ॥

> उशन्ति वेदिकादीनां स्वोत्सेधस्य तुर्यभागम् । रोद्धं विमलविज्ञानमहाकूपारपारगाः ॥ २१८ ॥

परमज्ञानरूपी समुद्रके पारगामी गणधर देवोंने वनवेदियोंकी चौड़ाई उनकी ऊँचाईसे चौथाई बतलायी है ॥ २१८ ॥

> स्रग्वस्त्रमयूरमालाब्जहंसवैनतेयकेशिनाम् । वृषमेभाङ्कचक्राणां केतवः स्युर्दशभेदकाः ॥ २१९ ॥

ध्वजाओंमें माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, बैल, हाथी और चक्रके चिह्न थे इसलिए उनके दस भेद हो गये थे ॥ २१९ ॥

> अष्टोत्तरशतं श्रेण्यः प्रत्येकं पालिकेतवः । एकैकस्यां दिशि प्रोच्चास्तरङ्गास्तोयधेरिव ॥ २२० ॥

एक-एक दिशामें एक-एक प्रकारकी ध्वजाएँ एक सौ आठ एक सौ आठ थीं, वे ध्वजाएँ बहुत ही ऊँची थीं और समुद्रकी लहरोंके समान जान पड़ती थीं ॥ २२० ॥

> पवनान्दोलितस्तेषां केतूनामंशुकोत्करः । व्याजह्वपुरिवाभासीद् जिनेज्यायै नरामरान् ॥ २२१ ॥

वायुसे हिलता हुआ उन ध्वजाओंके वस्त्रोंका समुदाय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिनेन्द्र भगवानकी पूजा करनेके लिए मनुष्य और देवोंको बुलाना ही चाहता हो ॥ २२१ ॥

> स्रग्ध्वजेषु स्रजो दिव्याः सौमनस्यं व्यलम्बिरे । भव्यानां दर्शयन्त्योऽथ कल्पितास्त्रिदिवाधिपैः ॥ २२२ ॥

मालाओंके चिह्नवाली ध्वजाओंपर फूलोंकी बनी हुई दिव्यमालाएँ लटक रही थीं और वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो भव्य-जीवोंका सौमनस्य अर्थात् प्रसन्न परिणाम दिखलानेके लिए ही इन्द्रोंने उन्हें बनाया हो ॥ २२२ ॥

> श्लक्ष्णांशुकध्वजा रेजुः पवनान्दोलितोच्छ्रिताः । व्योमाम्बुधेरिवोद्भूतास्तरङ्गास्तुङ्गसन्तयः ॥ २२३ ॥

वस्त्रोंके चिह्नवाली ध्वजाएँ महीन और सफेद वस्त्रोंकी बनी हुईं थीं तथा वे वायुसे हिल-हिलकर उड़ रही थीं जिससे ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो आकाशरूपी समुद्रकी उठती हुई बड़ी ऊँची लहरें ही हों ॥ २२३ ॥

> बर्हिध्वजेषु बर्हालिं लीलयोत्क्षिप्य बर्हिणः । रेजुर्ग्रस्तांशुकाः सर्पबुद्धयेव ग्रस्तकृत्तयः ॥ २२४ ॥

मयूरोंके चिह्नवाली ध्वजाओंमें जो मयूर बने हुए थे वे लीलापूर्वक अपनी पूँछ फैलाये हुए थे और साँपकी बुद्धिसे वस्त्रोंको निगल रहे थे जिससे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो साँपकी काँचली ही निगल रहे हों ॥ २२४ ॥

> पद्मध्वजेषु पद्मानि सहस्रदलसञ्चयैः । व्योमसरोऽवगाढानि फुल्लानीव सरोजिनः ॥ २२५ ॥

कमलोंके चिह्नवाली ध्वजाओंमें जो कमल बने हुए थे वे अपने एक हजार दलोंके विस्तारसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो आकाशरूपी सरोवरमें कमल ही फूल रहे हों ॥ २२५ ॥

> रत्नभूमौ प्रतिमया संक्रान्तानि महीतले । अमरान् मोहयाञ्चक्रुः पद्मबुद्ध्यावपातिनः ॥ २२६ ॥

रत्नमयी पृथिवीमें उन ध्वजाओंमें बने हुए कमलोंके जो प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे वे कमल समझकर उनपर पड़ते हुए भ्रमरोंको भ्रम उत्पन्न करते थे ॥ २२६ ॥

> तेषां तदात्वनीं शोभां दृष्ट्वा नान्यत्र भाविनीम् । कञ्जान्मुमुचे सर्वान् लक्ष्मीस्तेषु पदं दधे ॥ २२७ ॥

उन कमलोंकी दूसरी जगह नहीं पायी जानेवाली उस समयकी शोभा देखकर लक्ष्मीने अन्य समस्त कमलोंको छोड़ दिया था और उन्हींमें अपने रहनेका स्थान बनाया था। भावार्थ—वे कमल बहुत ही सुन्दर थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मी अन्य सब कमलोंको छोड़कर उन्हींमें रहने लगी हो ॥ २२७ ॥

> हंसध्वजेष्वमी हंसाश्चञ्च्वा ग्रसितवाससः । विरेजुः प्रस्तृतास्यन्तौ वा प्रभां तदात्मना ॥ २२८ ॥

हंसोंके चिह्नवाली ध्वजाओंमें जो हंसोंके चिह्न बने हुए थे वे अपनी चोंचसे वस्त्रोंको ग्रस रहे थे और ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो उसके बहाने अपनी द्रव्यलेश्याका ही प्रसार कर रहे हों ॥ २२८ ॥

> गरुत्मद्ध्वजदण्डाग्राण्यध्यासीना विनायकाः । रेजुः पक्षविक्षेपैर्विलङ्घयिषवो नु खम् ॥ २२९ ॥

जिन ध्वजाओंमें गरुड़ोंके चिह्न बने हुए थे उनके दण्डोंके अग्रभागपर बैठे हुए गरुड़ अपने पंखोंके विक्षेपसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो आकाशको ही उल्लंघन करना चाहते हों ॥ २२९ ॥

> बभुर्नीलमणिष्मास्था गरुडाः प्रतिमागताः । समाक्रष्टुमिवाहीन्द्रान् प्रविशन्तो रसातले ॥ २३० ॥

नीलमणिमयी पृथिवीपर उन गरुड़ोंके जो प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे उनसे वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो नागेन्द्रोंको खींचनेके लिए पातालमें ही प्रवेश कर रहे हों ॥ २३० ॥

> मृगेन्द्रकेतनाग्रेषु प्रोत्तुङ्गाः प्लवनेप्सवः । कृतयत्ना विरेजुस्ते जेतुं वा सुरसामजान् ॥ २३१ ॥

सिंहोंके चिह्नवाली ध्वजाओंके अग्रभागपर जो सिंह बने हुए थे वे छलाँग भरनेकी इच्छासे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो देवोंके हाथियोंको जीतनेके लिए ही प्रयत्न कर रहे हों ॥ २३१ ॥

> स्थूलमुक्ताफलान्येषां मुखेभ्यो गलदंशुभिः । गजेन्द्रकुम्भसंभेदात् सञ्चितानि यशोंसि वा ॥ २३२ ॥

उन सिंहोंके मुखोंपर जो बड़े-बड़े मोती लटक रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो बड़े-बड़े हाथियोंके मस्तक विदारण करनेसे इकट्ठे हुए यश ही लटक रहे हों ॥ २३२ ॥

> उक्षाणः श्रृङ्गसंलग्नलम्बमानोज्ज्वलांशुकाः । रेजुर्विपक्षजस्येव संलब्धजयकेतनाः ॥ २३३ ॥

बैलोंके चिह्नवाली ध्वजाओंमें, जिनके सींगोंके अग्रभागपर ध्वजाओंके वस्त्र लटक रहे हैं ऐसे बैल बने हुए थे और वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो शत्रुओंको जीत लेनेसे उन्हें विजयपताका ही प्राप्त हुई हो ॥ २३३ ॥

> उच्छ्रिताग्रकरैर्बद्धा ध्वजा रेजुर्गजाधिपाः । गिरीन्द्रा इव कूटाग्रनिष्पतत्पृथुनिर्झराः ॥ २३४ ॥

हाथीके चिह्नवाली ध्वजाओंपर जो हाथी बने हुए थे वे अपनी ऊँची उठी हुई सूँड़ोंसे पताकाएँ धारण कर रहे थे और उनसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनके शिखरके अग्रभागसे बड़े-बड़े झरने पड़ रहे हैं ऐसे बड़े पर्वत ही हों ॥ २३४ ॥

> आरैः सहस्रैरभ्रंङ्कषैरुत्सपद्भिश्च रश्मिभिः । चक्राण्यधुर्भानुमता सार्धं स्पर्धां कर्तुमिवोद्यताः ॥ २३५ ॥

और चक्रोंके चिह्नवाली ध्वजाओंमें जो चक्र बने हुए थे उनमें हजार-हजार आरियाँ थीं तथा उनकी किरणें ऊपरकी ओर उठ रही थीं, उन चक्रोंसे वे ध्वजाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो सूर्यके साथ स्पर्धा करनेके लिए ही तैयार हुई हों ॥ २३५ ॥

> खान्तः परिसृजन्तो वा श्लिष्यन्तो वा दिगङ्गनाः । भुवमास्फालयन्तो वा स्फूर्जन्ति स्म महाध्वजाः ॥ २३६ ॥

इस प्रकार वे महाध्वजाएँ ऐसी फहरा रही थीं मानो आकाशको साफ ही कर रही हों, अथवा दिशारूपी स्त्रियोंको आलिंगन ही कर रही हों अथवा पृथिवीका आस्फालन ही कर रही हों ॥ २३६ ॥

> इत्यमी केतवो मोहनिर्जयोपार्जिता बभुः । विभोस्त्रिभुवनेशीद्वं शंसन्तोऽनन्यगोचरम् ॥ २३७ ॥

इस प्रकार मोहनीय कर्मको जीत लेनेसे प्राप्त हुई वे ध्वजाएँ अन्य दूसरी जगह नहीं पाये जानेवाले भगवानके तीनों लोकोंके स्वामित्वको प्रकट करती हुई बहुत ही सुशोभित हो रही थीं ॥ २३७ ॥

> दिश्येकस्यां ध्वजानां च शतं स्यादशीतियुक् । चतसृष्वपि ते स्युश्च द्विश्रिका सागराः ॥ २३८ ॥

एक-एक दिशामें वे सब ध्वजाएँ एक हजार अस्सी थीं और चारों दिशाओंमें चार हजार तीन सौ बीस थीं ॥ २३८ ॥

> ततोऽनन्तरमेवान्तर्भागे सालो महानभूत् । श्रीमानर्जुननिर्माणो द्वितीयोऽप्यद्वितीयकः ॥ २३९ ॥

उन ध्वजाओंके अनन्तर ही भीतरके भागमें चाँदीका बना हुआ एक बड़ा भारी कोट था, जो कि बहुत ही शोभायुक्त था और अद्वितीय अनुपम होनेपर भी द्वितीय था अर्थात् दूसरा कोट था ॥ २३९ ॥

> पूर्ववद्गोपुराण्यस्य राजतानि रराजिरे । हासलक्ष्मीर्भुवो यातुं पुञ्जीभूता तदात्मना ॥ २४० ॥

पहले कोटके समान इसके भी चाँदीके बने हुए चार गोपुर-द्वार थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वे गोपुर-द्वारोंके बहानेसे इकट्ठी हुई पृथिवीरूपी देवीके हास्यकी शोभा ही हों ॥ २४० ॥

> तेष्वाभरणविन्यस्ततोरणेषु परा द्युतिः । तेने निधिभिरद्भूतैः कुबेरैश्वर्यहासिनी ॥ २४१ ॥

जिनमें अनेक आभरणसहित तोरण लगे हुए हैं ऐसे उन गोपुर-द्वारोंमें जो निधियाँ रखी हुई थीं वे कुबेरके ऐश्वर्यकी भी हँसी उड़ानेवाली बड़ी भारी कान्तिको फैला रही थीं ॥ २४१ ॥

> अपरश्च विधिरशेषोऽपि प्राक्साले वर्णितः । पौनरुक्त्यभयान्नात्र तस्य प्रपञ्चो निदर्शितः ॥ २४२ ॥

उस कोटकी और सब विधि पहले कोटके वर्णनके साथ ही कही जा चुकी है, पुनरुक्ति दोषके भयसे यहाँ फिरसे उसका विस्तारके साथ वर्णन नहीं किया जा रहा है ॥ २४२ ॥

> अत्रापि पूर्ववद्ध्येयं द्वितयं नाट्यशालयोः । तद्वद्धूपघटीद्वन्द्वं महावीथ्युभयान्तयोः ॥ २४३ ॥

पहलेके समान यहाँ भी प्रत्येक महावीथीके दोनों ओर दो नाट्यशालाएँ थीं और दो धूपघट रखे हुए थे ॥ २४३ ॥

> अथ वीथ्यन्तरेष्वस्यां कक्ष्यायां कल्पभूरुहाम् । नानारत्नप्रभोत्सपैर्वनमासीत् प्रभास्वरम् ॥ २४४ ॥

इस कक्षामें विशेषता इतनी है कि धूपघटोंके बाद गलियोंके बीचके अन्तरालमें कल्पवृक्षोंका वन था, जो कि अनेक प्रकारके रत्नोंकी कान्तिके फैलनेसे देदीप्यमान हो रहा था ॥ २४४ ॥

> कल्पद्रुमाः समभ्युच्चाः सच्छायाः फलशालिनः । नानास्रग्वस्त्रभूषाढ्या राजायन्ते स्म संपदा ॥ २४५ ॥

उस वनके वे कल्पवृक्ष बहुत ही ऊँचे थे, उत्तम छायावाले थे, फलोंसे सुशोभित थे और अनेक प्रकारकी माला, वस्त्र तथा आभूषणोंसे सहित थे इसलिए अपनी शोभासे राजाओंके समान जान पड़ते थे क्योंकि राजा भी बहुत ऊँचे अर्थात् अतिशय उन्नत अथवा उदार होते हैं, उत्तम छाया अर्थात् कान्तिसे युक्त होते हैं, अनेक प्रकारकी वस्तुओंकी प्राप्तिरूपी फलोंसे सुशोभित होते हैं और तरह-तरहकी माला, वस्त्र तथा आभूषणोंसे युक्त होते हैं ॥ २४५ ॥

> देवोदङ्कुरवो नूनमागताः सेवितुं जिनम् । दशप्रभेदैः पङ्क्तीतः कल्पतरुभिः श्रिताः ॥ २४६ ॥

उन कल्पवृक्षोंको देखकर ऐसा मालूम होता था मानो अपने दस प्रकारके कल्पवृक्षोंकी पंक्तियोंसे युक्त हुए देवकुरु और उत्तरकुरु ही भगवानकी सेवा करनेके लिए आये हों ॥ २४६ ॥

> फलान्याभरणान्येषामंशुकानि नवाङ्कुराः । शाखाप्रलम्बिन्यो मह्यः प्ररोहा इव जटाः ॥ २४७ ॥

उन कल्पवृक्षोंके फल आभूषणोंके समान जान पड़ते थे, नवीन कोमल पत्ते वस्त्रोंके समान मालूम होते थे और शाखाओंके अग्रभागपर लटकती हुई जटाएँ बड़ी-बड़ी जटाओंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥ २४७ ॥

> तेषामधःस्थलच्छायामध्यासीनाः सखेचराः । स्वावासेषु रतिं त्यक्त्वा विबुधाश्चिरं रेसिरे ॥ २४८ ॥

उन वृक्षोंके नीचे छायातलमें बैठे हुए देव और धरणेन्द्र अपने-अपने भवनोंका प्रेम छोड़कर वहींपर चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहते थे ॥ २४८ ॥

> ज्योतिष्का ज्योतिरङ्गेषु दीपाङ्गेषु च कल्पजाः । भावना इन्द्राश्च मालाङ्गेषु यथायोग्यां रतिं दधुः ॥ २४९ ॥

ज्योतिष्कदेव ज्योतिरङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंमें, कल्पवासी देव दीपाङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंमें और भवनवासियोंके इन्द्र मालाङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंमें यथायोग्य प्रीति धारण करते थे। भावार्थ—जिस देवको जो वृक्ष अच्छा लगता था वे उसीके नीचे क्रीड़ा करते थे ॥ २४९ ॥

स्रग्भिः साभरणं स्रग्वि सुवस्त्रं पल्लवाधरम् । सदीपं वनं शुशुभे वधूवरमिवारुचत् ॥ २८० ॥

वह कल्पवृक्षोंका वन वधू-वरके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार वधू-वर मालाओंसे सहित होते हैं उसी प्रकार वह वन भी मालाओंसे सहित था, वधू-वर जिस प्रकार आभूषणोंसे युक्त होते हैं उसी प्रकार वह वन भी आभूषणोंसे युक्त था, जिस प्रकार वधू-वर सुन्दर वस्त्र पहिने रहते हैं उसी प्रकार उस वनमें सुन्दर वस्त्र टँगे हुए थे, जिस प्रकार वर-वधूके अधर (ओठ) पल्लवके समान लाल होते हैं उसी प्रकार उस वनके पल्लव (नये पत्ते) लाल थे, वर-वधूके आस-पास जिस प्रकार दीपक जला करते हैं उसी प्रकार उस वनमें भी दीपक जल रहे थे और वर-वधू जिस प्रकार अतिशय सुन्दर होते हैं उसी प्रकार वह वन भी अतिशय सुन्दर था। भावार्थ—इस वनमें कहीं मालाङ्ग जातिके वृक्षोंपर मालाएँ लटक रही थीं, कहीं भूषणाङ्ग जातिके वृक्षोंपर भूषण लटक रहे थे, कहीं वस्त्राङ्ग जातिके वृक्षोंपर सुन्दर-सुन्दर वस्त्र टँगे हुए थे, कहीं उन वृक्षोंमें नये-नये, लाल-लाल पत्ते लग रहे थे, और कहीं दीपाङ्ग जातिके वृक्षोंपर अनेक दीपक जल रहे थे ॥ २८० ॥

अन्तर्वणमथाभूवन्निह सिद्धार्थपादपाः । सिद्धार्थाधिष्ठितां वीक्ष्य मुदिता भानव इवोज्ज्वलाः ॥ २८१ ॥

उन कल्पवृक्षोंके मध्यभागमें सिद्धार्थ वृक्ष थे, सिद्ध भगवानकी प्रतिमाओंसे अधिष्ठित होनेके कारण उन वृक्षोंके मूल भाग बहुत ही देदीप्यमान हो रहे थे और उन सबसे वे वृक्ष सूर्यके समान प्रकाशमान हो रहे थे ॥ २८१ ॥

चैत्यवृक्षेषु पूर्वोक्ता वर्णनात्रापि योज्यताम् । किं तु कल्पद्रुमा एते संकल्पितफलप्रदाः ॥ २८२ ॥

पहले चैत्यवृक्षोंमें जिस शोभाका वर्णन किया गया है वह सब इन सिद्धार्थवृक्षोंमें भी जान लेना चाहिए किन्तु विशेषता इतनी ही है कि ये कल्पवृक्ष अभिलषित फलके देनेवाले थे ॥ २८२ ॥

क्वचिद् वाप्यः क्वचिन्नद्यः क्वचित् सैकतमण्डलम् । क्वचित्सभागृहादीनि रेजिरे तद्वनान्तरे ॥ २८३ ॥

उन कल्पवृक्षोंके वनमें कहीं बावड़ियाँ, कहीं नदियाँ, कहीं बालूके ढेर और कहीं सभागृह आदि सुशोभित हो रहे थे ॥ २८३ ॥

वनवीथीमिमामास्त सर्वतो वनवेदिका । काञ्चनी मेखलेवोर्वी तुङ्गगोपुरसंगता ॥ २८४ ॥

उन कल्पवृक्षोंकी वनवीथीको भीतरकी ओर चारों तरफसे वनवेदिका घेरे हुए थी, वह वनवेदिका सुवर्णकी बनी हुई थी, और चार गोपुरद्वारोंसे सहित थी ॥ २५४ ॥

> तत्र तोरणसाङ्गल्यसंपदः पूर्ववर्णिताः । गोपुराणि च पूर्वोक्तमानोन्मातान्यमुत्र च ॥ २५५ ॥

उन गोपुरद्वारोंमें तोरण और मङ्गलद्रव्यरूप सम्पदाओंका वर्णन पहले ही किया जा चुका है तथा उनकी ऊँचाई, चौड़ाई आदि भी पूर्वके समान ही जानना चाहिए ॥ २५५ ॥

> ततो गत्वा तामुल्लङ्घ्य परतः परिवीथ्यभूत् । प्रासादपङ्क्तिर्विविधा निर्मिता सुरशिल्पिभिः ॥ २५६ ॥

उन गोपुर-द्वारोंके आगे भीतरकी ओर बड़ा लम्बा-चौड़ा रास्ता था और उसके दोनों ओर देवरूप कारीगरोंके द्वारा बनायी हुई अनेक प्रकारके मकानोंकी पंक्तियाँ थीं ॥ २५६ ॥

> हिरण्मयमहत्स्तम्भा वज्राधिष्ठानबन्धनाः । चन्द्रकान्तशिलाकान्तभित्तयो रत्नचित्रिताः ॥ २५७ ॥

जिनके बड़े-बड़े खम्भे सुवर्णके बने हुए थे, जिनकी नींव वज्रमयी थी, जिनकी सुन्दर दीवालें चन्द्रकान्तमणियोंकी बनी हुई थीं और जो अनेक प्रकारके रत्नोंसे चित्र-विचित्र हो रहे थे ऐसे वे सुन्दर मकान थे ॥ २५७ ॥

> भवनानि द्वितलाः केचित् केचित् स्युस्त्रितलाश्रिताः । चन्द्रशालायुजः केचिद् वलभ्यश्चारुशोभिनः ॥ २५८ ॥

वे मकान कितने ही दो खण्ड (मंजिल) के थे, कितने ही तीन खण्डके और कितने ही चार खण्डके थे, कितने ही चन्द्रशालाओं (मकानोंके ऊपरी भाग) से सहित थे तथा कितने ही वलभी (छज्जों) आदिसे सुशोभित थे ॥ २५८ ॥

> रेजिरे स्म भवन्त्येते स्वप्रभामग्नमूर्तयः । नभोलिहानाः कूटाग्रज्योत्स्नयेव विनिर्मिताः ॥ २५९ ॥

जो अपनी ही प्रभामें डूबे हुए हैं ऐसे वे मकान अपने शिखरोंके अग्रभागसे आकाशका स्पर्श करते हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो चाँदनीसे ही बने हों ॥ २५९ ॥

कूटागारसभागृहप्रेक्षाशालाः क्वचिद् विभुः । सासनास्तुङ्गसोपानाः श्वेतिताम्बराः ॥ २६० ॥

कहींपर कूटागार (अनेक शिखरोंवाले अथवा सुख देनेवाले मकान), कहींपर सभागृह और कहींपर प्रेक्षागृह (नाट्यशाला अथवा अजायबघर) सुशोभित हो रहे थे, उन भवनों आदिमें चादरें बिछी हुई थीं, आसन रखे हुए थे, ऊँची-ऊँची सीढ़ियाँ लगी हुई थीं और उन सबने अपनी कान्तिसे आकाशको सफेद-सफेद कर दिया था ॥ २६० ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धा विद्याधराः सदा । उरगाः किन्नराश्चासन् रमन्ते स्म कृतादराः ॥ २६१ ॥

उन मकानोंमें देव, गन्धर्व, सिद्ध (एक प्रकारके देव), विद्याधर, नागकुमार और किन्नर जातिके देव बड़े आदरके साथ सदा क्रीड़ा किया करते थे ॥ २६१ ॥

केचिद् गानेषु वाद्येषु वादने केचिदुद्यताः । संगीतनृत्यगोष्ठीभिर्विभुमाराधयन्नमी ॥ २६२ ॥

उन देवोंमें कितने ही देव तो गानेमें संलग्न थे और कितने ही बाजा बजानेमें तत्पर थे, इस प्रकार वे देव संगीत और नृत्य आदिकी गोष्ठियों-द्वारा भगवानकी आराधना कर रहे थे ॥ २६२ ॥

वीथीनां मध्यभागेऽत्र स्तूपश्रेणी नव स्थिताः । पद्मरागमयोत्तुङ्गवपुषः खाग्रलङ्घिनः ॥ २६३ ॥

महावीथियोंके मध्यभागमें नौ-नौ स्तूप खड़े हुए थे, जो कि पद्मरागमणियोंके बने हुए बहुत ऊँचे थे और अपने अग्रभागसे आकाशका उल्लंघन कर रहे थे ॥ २६३ ॥

जनानुरागास्ताद्रूप्यमापन्ना इव ते बभुः । सिद्धार्हत्प्रतिबिम्बोत्थैरभितश्चित्रमूर्तयः ॥ २६४ ॥

सिद्ध और अर्हन्त भगवानकी प्रतिमाओंके समूहसे वे स्तूप चारों ओरसे चित्र-विचित्र हो रहे थे और ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मनुष्योंका अनुराग ही स्तूपोंके आकारको प्राप्त हो गया हो ॥ २६४ ॥

स्वोन्नत्या गगनाभोगं व्याप्नुवन्तः समं श्रिया । स्तूपा विद्याधराराध्याः प्राप्तेज्या मेरुवो यथा ॥ २६५ ॥

वे स्तूप ठीक मेरु पर्वतके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार मेरु पर्वत अपनी ऊँचाईसे आकाशको घेरे हुए है उसी प्रकार वे स्तूप भी अपनी ऊँचाईसे आकाशको घेरे हुए थे, जिस प्रकार मेरु पर्वत विद्याधरोंके द्वारा आराधना करने योग्य है उसी प्रकार वे स्तूप भी विद्याधरोंके द्वारा आराधना करने योग्य थे और जिस प्रकार मेरु पर्वत पूजाको प्राप्त है उसी प्रकार वे स्तूप भी पूजाको प्राप्त थे ॥ २६५ ॥

स्तूपाः समुच्छ्रिता रेजुराराध्याः सिद्धचारणैः । तादूप्यमिव बिभ्राणा नवकेवललब्धयः ॥ २६६ ॥

सिद्ध तथा चारण मुनियोंके द्वारा आराधना करने योग्य वे अतिशय ऊँचे स्तूप ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो स्तूपोंका आकार धारण करती हुई भगवानकी नौ केवललब्धियाँ ही हों ॥ २६६ ॥

स्तूपानामन्तरेष्वेषा रत्नतोरणमालिकाः । बभुरिन्द्रधनुष्येव चित्रिताकाशप्राङ्गणाः ॥ २६७ ॥

उन स्तूपोंके बीचमें आकाशरूपी आँगनको चित्र-विचित्र करनेवाले रत्नोंके अनेक बन्दनवार बँधे हुए थे जो कि ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो इन्द्रधनुषके ही बँधे हुए हों ॥ २६७ ॥

सच्छत्राः सपताकाश्च सर्वमङ्गलसंगताः । राजान इव रेजुस्ते स्तूपाः कृतजनोत्सवाः ॥ २६८ ॥

उन स्तूपोंपर छत्र लगे हुए थे, पताकाएँ फहरा रही थीं, मङ्गलद्रव्य रखे हुए थे और इन सब कारणोंसे वे लोगोंको बहुत ही आनन्द उत्पन्न कर रहे थे इसलिए ठीक राजाओंके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि राजा लोग भी छत्र-पताका और सब प्रकारके मङ्गलोंसे सहित होते हैं तथा लोगोंको आनन्द उत्पन्न करते रहते हैं ॥ २६८ ॥

तत्राभिषिच्य जैनेन्द्रीरर्चाः कीर्तितपूजिताः । ततः प्रदक्षिणीकृत्य भव्याः सुदमयासिषुः ॥ २६९ ॥

उन स्तूपोंपर जो जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाएँ विराजमान थीं भव्यजन उनका अभिषेक कर उनकी स्तुति और पूजा करते थे तथा प्रदक्षिणा देकर बहुत ही हर्षको प्राप्त होते थे ॥ २६९ ॥

स्तूपहर्म्यावलिरुद्धां भुवमुल्लङ्घ्य तां ततः । नभःस्फटिकसालोऽभूज्जातं खमिव मूर्तताम् ॥ २७० ॥

उन स्तूपों और मकानोंकी पंक्तियोंसे घिरी हुई पृथिवीको उल्लंघन कर उसके कुछ आगे आकाशके समान स्वच्छ स्फटिकमणिका बना हुआ कोट था जो कि ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो आकाश ही उस कोटरूप हो गया हो ॥ २७० ॥

> विशुद्धपरिणामत्वाज्जिनपर्यन्तसेवनात् । भव्यात्मेव रराजैष सालस्तुङ्गसद्वृत्ततान्वितः ॥ २७१ ॥

अथवा विशुद्ध परिणाम (परिणमन) होनेसे और जिनेन्द्र भगवानके समीप ही सेवा करनेसे वह कोट भव्यजीवके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि भव्यजीव भी विशुद्ध परिणामों (भावों) का धारक होता है और जिनेन्द्र भगवानके समीप रहकर ही उनकी सेवा करता है। इसके सिवाय वह कोट भव्य जीवके समान ही तुङ्ग अर्थात् ऊँचा (पक्षमें श्रेष्ठ) और सद्वृत्त अर्थात् गोल (पक्षमें सदाचारी) था ॥ २७१ ॥

> खगेन्द्रैरुपसेव्यत्वादुन्नतत्वादचलतः । रूप्याद्रिरिव ताद्रूप्यमापन्नः प्रगाद् विभुम् ॥ २७२ ॥

अथवा वह कोट बड़े-बड़े विद्याधरोंके द्वारा सेवनीय था, ऊँचा था, और अचल था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो विजयार्ध पर्वत ही कोटका रूप धारण कर भगवानकी प्रदक्षिणा दे रहा हो ॥ २७२ ॥

> दिक्षु सालोत्तमस्यास्य गोपुराण्युदशिश्रियन् । पद्मरागमयान्युच्चैर्भव्यरागमयानि वा ॥ २७३ ॥

उस उत्तम कोटकी चारों दिशाओंमें चार ऊँचे गोपुर-द्वार थे जो पद्मरागमणिके बने हुए थे, और ऐसे मालूम पड़ते थे मानो भव्य जीवोंके अनुरागसे ही बने हों ॥ २७३ ॥

> द्वितीयाः पूर्ववदत्रापि मङ्गलद्रव्यसंपदः । द्वारोपान्ते च निधयो ज्वलद्गम्भीरमूर्तयः ॥ २७४ ॥

जिस प्रकार पहले दोनों कोटोंके गोपुर-द्वारोंपर मङ्गलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ रखी हुई थीं उसी प्रकार इन गोपुर-द्वारोंपर भी मङ्गलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ जानना चाहिए। और पहलेकी तरह ही इन गोपुर-द्वारोंके समीपमें भी देदीप्यमान तथा गम्भीर आकारवाली निधियाँ रखी हुई थीं ॥ २७४ ॥

> सतालमङ्गलच्छत्रचामरध्वजदर्पणाः । सुप्रतिष्ठकभृङ्गारकलशाः प्रतिगोपुरम् ॥ २७५ ॥

प्रत्येक गोपुर-द्वारपर पंखा, छत्र, चामर, ध्वजा, दर्पण, सुप्रतिष्ठक (ठौना), झारी और कलश ये आठ-आठ मङ्गल द्रव्य रखे हुए थे ॥ २७५ ॥

> गदादिपाणयस्तेषु गोपुरेष्वभवन् सुराः । क्रमात् त्रिकोटिद्वारस्था भौमभावनकल्पजाः ॥ २७६ ॥

तीनों कोटोंके गोपुर-द्वारोंपर क्रमशः गदा आदि हाथमें लिये हुए व्यन्तर, भवनवासी और कल्पवासी देव द्वारपाल थे। भावार्थ—पहले कोटके दरवाजोंपर व्यन्तर देव पहरा देते थे, दूसरे कोटके दरवाजोंपर भवनवासी पहरा देते थे और तीसरे कोटके दरवाज़ोंपर कल्पवासी देव पहरा दे रहे थे। ये सभी देव अपने-अपने हाथोंमें गदा आदि हथियारोंको लिये हुए थे ॥ २७६ ॥

> ततः स्फटिकसालादापीठान्तं समायताः । भित्तयः षोडशाभूवन् महावीध्यन्तराश्रिताः ॥ २७७ ॥

तदनन्तर उस आकाशके समान स्वच्छ स्फटिकमणिके कोटसे लेकर पीठ पर्यन्त लम्बी और महावीथियों (बड़े-बड़े रास्तों) के अन्तरालमें आश्रित सोलह दीवालें थीं। भावार्थ—चारों दिशाओंकी चारों महावीथियोंके अगल-बगल दोनों ओर आठ दीवालें थीं और दो-दोके हिसाबसे चारों विदिशाओंमें भी आठ दीवालें थीं, इस प्रकार सब मिलाकर सोलह दीवालें थीं। ये दीवालें स्फटिक कोटसे लेकर पीठ पर्यन्त फैली थीं और बारह सभाओंका विभाग कर रही थीं ॥ २७७ ॥

> नभःस्फटिकनिर्माणः प्रसरन्निर्मलत्विषः । सालपीठतटालग्ना ज्योत्स्नायन्ते स्म भित्तयः ॥ २७८ ॥

जो आकाशस्फटिकसे बनी हुई हैं, जिनकी निर्मल कान्ति चारों ओर फैल रही है और जो प्रथम पीठके किनारे तक लगी हुई हैं, ऐसी वे दीवालें चाँदनीके समान आचरण कर रही थीं ॥ २७८ ॥

> व्यक्ता दर्शिताशेषवस्तुबिम्बा महोदयाः । भित्तयस्ता जगद्भव्यशुचिविद्या इवाबभुः ॥ २७९ ॥

वे दीवालें अतिशय पवित्र थीं, समस्त वस्तुओंके प्रतिबिम्ब दिखला रही थीं और बड़े भारी ऐश्वर्यके सहित थीं इसलिए ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों जगत्के भव्यजीवोंके लिए भगवान् वृषभदेवकी श्रेष्ठ विद्याएँ हों ॥ २७९ ॥

> तासामुपरि विस्तीर्णो रत्नस्तम्भैः समुद्धृतः । वियत्स्फटिकनिर्माणः श्रीमान् श्रीमण्डपोऽभवत् ॥ २८० ॥

उन दीवालोंके ऊपर रत्नमय खम्भोंसे खड़ा हुआ और आकाशस्फटिकमणिका बना हुआ बहुत बड़ा भारी शोभायुक्त श्रीमण्डप बना हुआ था ॥ २८० ॥

> यथार्थः श्रीमण्डपः सोऽभूद् यत्रासीत् परमेश्वरः । नृसुरासुरसांनिध्ये स्वीचक्रे त्रिजगच्छ्रियम् ॥ २८१ ॥

वह श्रीमण्डप वास्तवमें श्रीमण्डप था क्योंकि वहाँपर परमेश्वर भगवान वृषभदेवने मनुष्य, देव और धरणेन्द्रोंके समीप तीनों लोकोंकी श्री (लक्ष्मी) स्वीकृत की थी ॥ २८१ ॥

> यो बभावाम्बरस्यान्ते बिम्बितोऽन्याम्बरोपमः । त्रिजगज्जनतास्थानसंग्रहावाप्तवैभवः ॥ २८२ ॥

तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको स्थान दे सकनेके कारण जिसे बड़ा भारी वैभव प्राप्त हुआ है ऐसा वह श्रीमण्डप आकाशके अन्तभागमें ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो प्रतिबिम्बित हुआ दूसरा आकाश ही हो। भावार्थ—उस श्रीमण्डपका ऐसा अतिशय था कि उसमें एक साथ तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको स्थान मिल सकता था, और वह अतिशय ऊँचा तथा स्वच्छ था ॥ २८२ ॥

> अस्योपरितले मुक्ता यक्षैः कुसुमसञ्चयाः । विदधुस्तारकाशङ्कामधोभाजां नृणां हृदि ॥ २८३ ॥

उस श्रीमण्डपके ऊपर यक्षदेवोंके द्वारा छोड़े हुए फूलोंके समूह नीचे बैठे हुए मनुष्योंके हृदयमें ताराओंकी शंका कर रहे थे ॥ २८३ ॥

> यत्र मत्तरवद्भृङ्गसंसूच्याः कुसुमस्त्रजः । न म्लानिमीयुर्जैनाङ्घ्रिच्छायाशैत्याश्रयादिव ॥ २८४ ॥

उस श्रीमण्डपमें मदोन्मत्त शब्द करते हुए भ्रमरोंके द्वारा सूचित होनेवाली फूलोंकी मालाएँ मानों जिनेन्द्रदेवके चरण-कमलोंकी छायाकी शीतलताके आश्रयसे ही कभी म्लानताको प्राप्त नहीं होती थीं—कभी नहीं मुरझाती थीं। भावार्थ—उस श्रीमण्डपमें स्फटिकमणिकी दीवालोंपर जो सफेद फूलोंकी मालाएँ लटक रही थीं वे रंगकी समानताके कारण अलगसे पहचानमें नहीं आती थीं परन्तु उनपर शब्द करते हुए जो काले-काले मदोन्मत्त भ्रमर बैठे हुए थे

उनसे ही उनकी पहचान होती थी। वे मालाएँ सदा हरी-भरी रहती थीं—कभी मुरझाती नहीं थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवानके चरण-कमलोंकी शीतल छायाका आश्रय पाकर ही नहीं मुरझाती हों ॥ २८४ ॥

> नीलोत्पलोपहारेषु निलीना भ्रमरावलिः । गुञ्जारवैर्जगौ सार्धं यत्र सा स्यादरक्षिता ॥ २८५ ॥

उस श्रीमण्डपमें नील कमलोंके उपहारोंपर बैठी हुई भ्रमरोंकी पंक्ति रंगकी सदृशताके कारण अलगसे दिखाई नहीं देती थी किन्तु गुंजारशब्दोंसे प्रकट हो रही थी ॥ २८५ ॥

> योजनप्रमिते यस्मिन् सम्बभूवुर्नृसुरासुराः । निविष्टाः सुखमसंबाधमहो माहात्म्यमीशितुः ॥ २८६ ॥

अहा, जिनेन्द्र भगवानका यह कितना बड़ा माहात्म्य था कि केवल एक योजन प्रमाण उस श्रीमण्डपमें समस्त मनुष्य, सुर और असुर एक-दूसरेको बाधा न देते हुए सुखसे बैठ सकते थे ॥ २८६ ॥

> तस्मिन् शुचिमणिप्रान्तमुपेता हंससन्ततिः । गुणसादृश्ययोगेऽपि व्यज्यते स्म विकूजितैः ॥ २८७ ॥

उस श्रीमण्डपमें स्वच्छ मणियोंके समीप आया हुआ हंसोंका समूह यद्यपि उन मणियोंके समान रंगवाला ही था—उन्हींके प्रकाशमें छिप गया था तथापि वह अपने मधुर शब्दोंसे प्रकट हो रहा था ॥ २८७ ॥

> यद्भित्तयः स्वसंक्रान्तजगत्त्रितयबिम्बिकाः । चित्रिता इव संरेजुर्जगच्छ्रीदर्पणश्रियः ॥ २८८ ॥

जिनकी शोभा जगत्की लक्ष्मीके दर्पणके समान है ऐसी श्रीमण्डपकी उन दीवालोंमें तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंके प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे और उन प्रतिबिम्बोंसे वे दीवालें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों उनमें अनेक प्रकारके चित्र ही खींचे गये हों ॥ २८८ ॥

> यदुत्सर्पन्प्रभाजालजलस्नपितमूर्तयः । तीर्थावगाहं चक्रुरिव देवाः सदानवाः ॥ २८९ ॥

उस श्रीमण्डपकी फैलती हुई कान्तिके समुदायरूपी जलसे जिनके शरीर नहलाये जा रहे हैं ऐसे देव और दानव ऐसे जान पड़ते थे मानो किसी तीर्थमें स्नान ही कर रहे हों ॥ २८९ ॥

तदुद्दक्षेत्रमध्यस्था प्रथमा पीठिका बभौ । वैदूर्यरत्ननिर्माणा कुलाद्रिशिखराञ्चिता ॥ २९० ॥

उसी श्रीमण्डपसे घिरे क्षेत्रके मध्यभागमें स्थित पहली पीठिका सुशोभित हो रही थी, वह पीठिका वैडूर्यमणिकी बनी हुई थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो कुलाचलका शिखर ही हो ॥ २९० ॥

तत्र षोडशसोपानमार्गाः स्युर्बहुविस्तृताः । महादिक्षु सभाकोष्ठप्रवेशेषु च विस्तृताः ॥ २९१ ॥

उस पीठिकापर सोलह जगह अन्तर देकर सोलह जगह ही बड़ी-बड़ी सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। चार जगह तो चार महादिशाओं अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिणमें चार महावीथियोंके सामने थीं और बारह जगह सभाके कोठोंके प्रत्येक प्रवेशद्वार पर थीं ॥ २९१ ॥

तां पीठिकामलञ्चक्रुरष्टमङ्गलसंपदः । धर्मचक्राणि दीप्तानि शृङ्गैरुत्तुङ्गसूनुभिः ॥ २९२ ॥

उस पीठिकाको आठ मङ्गलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ और यक्षोंके ऊँचे-ऊँचे मस्तकोंपर उठे हुए धर्मचक्र अलंकृत कर रहे थे ॥ २९२ ॥

सहस्राराणि चास्त्राणि रत्नदीप्त्या विरेजिरे । भानुबिम्बानीवोद्यन्ति पीठिकोदग्रपर्वतात् ॥ २९३ ॥

जिनमें लगे हुए रत्नोंकी किरणें ऊपरकी ओर उठ रही हैं ऐसे हजार-हजार आराओंवाले वे धर्मचक्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पीठिकारूपी उदयाचलसे उदय होते हुए सूर्यके बिम्ब ही हों ॥ २९३ ॥

द्वितीयमभवत् पीठं तस्योपरि हिरण्मयम् । दिवाकरकरस्पर्धिवपुरुद्द्योतिताम्बरम् ॥ २९४ ॥

उस प्रथम पीठिकापर सुवर्णका बना हुआ दूसरा पीठ था, जो सूर्यकी किरणोंके साथ स्पर्धा कर रहा था और आकाशको प्रकाशमान बना रहा था ॥ २९४ ॥

तस्योपरितले रेजुर्दिक्ष्वष्टासु महाध्वजाः । लोकपाला इवोदग्राः सुरेशैरभिसंमताः ॥ २९५ ॥

उस दूसरे पीठके ऊपर आठ दिशाओंमें आठ बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ सुशोभित हो रही थीं, जो बहुत ऊँची थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो इन्द्रोंको स्वीकृत आठ लोकपाल ही हों ॥ २९५ ॥

> चक्रेभवृषभाम्भोजवस्त्रसिंहगरुत्मताम् । माल्यस्य च ध्वजा रेजुः सिद्धाष्टगुणनिर्मलाः ॥ २९६ ॥

चक्र, हाथी, बैल, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड़ और मालाके चिह्न सहित तथा सिद्ध भगवानके आठ गुणोंके समान निर्मल वे ध्वजाएँ बहुत अधिक सुशोभित हो रही थीं ॥ २९६ ॥

> अथ पापपरागस्य संमार्जनमिव व्यधुः । द्योतमाना मरुद्धूतस्फुरदंशुकजृम्भणैः ॥ २९७ ॥

वायुसे हिलते हुए देदीप्यमान वस्त्रोंकी फटकारसे वे ध्वजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानों पापरूपी धूलिका संमार्जन ही कर रही हों अर्थात् पापरूपी धूलिको झाड़ ही रही हों ॥ २९७ ॥

> तस्योपरि स्फुरद्रत्नकिरणावलीताण्डवितम् । तृतीयमभवत् पीठं सर्वसत्त्वमयोद्गतम् ॥ २९८ ॥

उस दूसरे पीठपर तीसरा पीठ था जो कि सब प्रकारके रत्नोंसे बना हुआ था, बड़ा भारी था और चमकते हुए रत्नोंकी किरणोंसे अन्धकारके समूहको नष्ट कर रहा था ॥ २९८ ॥

> त्रिमेखलमदः पीठं परार्ध्यमणिनिर्मितम् । रराज मेरुरिवोपास्ये भर्तुस्ताद्रूप्यमाश्रितः ॥ २९९ ॥

वह पीठ तीन कटनियोंसे युक्त था तथा श्रेष्ठ रत्नोंसे बना हुआ था इसलिए ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों उस पीठका रूप धरकर सुमेरु पर्वत ही भगवानकी उपासना करनेके लिए आया हो ॥ २९९ ॥

> स चक्रश्चक्रवर्तीव सध्वजः सुरदन्तिवत् । सुवर्णमूर्तिमहामेरुरिव पीठाद्रिरुद्बभौ ॥ ३०० ॥

वह पीठरूपी पर्वत चक्रसहित था इसलिए चक्रवर्तीके समान जान पड़ता था, ध्वजासहित था इसलिए ऐरावत हाथीके समान मालूम होता था और सुवर्णका बना हुआ था इसलिए महामेरुके समान प्रतीत हो रहा था ॥ ३०० ॥

> पुष्पप्रकरमाघ्रातुं निलीना यत्र षट्पदाः । हेमच्छायासमाक्रान्ताः सौवर्णा इव रेजिरे ॥ ३०१ ॥

पुष्पोंके समूहको सूँघनेके लिए जो भ्रमर उस पीठपर बैठे हुए थे उनपर सुवर्णकी छाया पड़ रही थी जिससे वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सुवर्णके ही बने हों ॥ ३०१ ॥

> अधरीकृतनिःशेषभवनं भासुरद्युति । जिनस्येव वपुर्भाति तद्धाम देवासुरार्चितम् ॥ ३०२ ॥

जिसने समस्त लोकको नीचा कर दिया है, जिसकी कान्ति अतिशय देदीप्यमान है और जो देव तथा धरणेन्द्रोंके द्वारा पूजित है ऐसा वह पीठ जिनेन्द्र भगवानके शरीरके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिनेन्द्र भगवानके शरीरने भी समस्त लोकोंको नीचा कर दिया था, उसकी कान्ति भी अतिशय देदीप्यमान थी, और वह भी देव तथा धरणेन्द्रोंके द्वारा पूजित था ॥ ३०२ ॥

> ज्योतिर्गणपरीतत्वात् सर्वोत्तरे तयापि तत् । न्यक्कुर्वच्छ्रियं मेरोर्धारणाच्च जगद्गुरोः ॥ ३०३ ॥

अथवा वह पीठ सुमेरु पर्वतकी शोभा धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार सुमेरु पर्वत ज्योतिर्गण अर्थात् ज्योतिषी देवोंके समूहसे घिरा हुआ है उसी प्रकार वह पीठ भी ज्योतिर्गण अर्थात् किरणोंके समूहसे घिरा हुआ था, जिस प्रकार सुमेरुपर्वत सर्वोत्तर अर्थात् सब क्षेत्रोंसे उत्तर दिशामें है उसी प्रकार वह पीठ भी सर्वोत्तर अर्थात् सबसे उत्कृष्ट था, और जिस प्रकार सुमेरु पर्वत (जन्माभिषेकके समय) जगद्गुरु जिनेन्द्र भगवानको धारण करता है उसी प्रकार वह पीठ भी (समवसरण भूमिमें) जिनेन्द्र भगवानको धारण कर रहा था ॥ ३०३ ॥

> ईदृक्त्रिमेखलं पीठमस्योपरि जिनाधिपः । त्रिलोकशिखरे सिद्धपरमेष्ठीव विराजते ॥ ३०४ ॥

इस प्रकार तीन कटनीदार वह पीठ था, उसके ऊपर विराजमान हुए जिनेन्द्र भगवान् ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि तीन लोकोंके शिखरपर विराजमान हुए सिद्ध परमेष्ठी सुशोभित होते हैं ॥ ३०४ ॥

> अन्तः स्फटिकसालस्य क्षेत्रं योजनसम्मितम् । वनत्रयस्य चैकैकं ध्वजरुद्धावनेरपि ॥ ३०५ ॥

आकाशके समान स्वच्छ स्फटिकमणियोंसे बने हुए तीसरे कोटके भीतरका विस्तार एक योजन प्रमाण था, तथा तीनों वनों (लतावन, अशोक आदिके वन और कल्पवृक्ष वन) एवं ध्वजाओंसे आवेष्टित भूमिके विस्तारका प्रमाण भी एक-एक योजन था ॥ ३०५ ॥

तथा चैव ज्ञेयं धूलीसालाच्च खातिका । पश्चाच्च योजनमेकैकं स्याज्जिनदेशितविस्तृतिः ॥ ३०६ ॥

इसी प्रकार धूलीसालसे लेकर खाई (परिखा) तकका विस्तार भी एक योजन प्रमाण जानना चाहिए, यह सब विस्तार जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट है ॥ ३०६ ॥

नभःस्फटिकसालात्तु पश्चार्धे वनवेदिका । योजनाद्धे तृतीयाच्च सालात् पीठं प्रदृश्यते ॥ ३०७ ॥

आकाशस्फटिकमणियोंसे बने हुए कोटसे कल्पवृक्षोंके वनकी वेदिका आधा योजन दूर थी और उसी सालसे प्रथमपीठ डेढ़ योजन दूरीपर था ॥ ३०७ ॥

क्रोशार्धं चाग्रपीठस्य विष्कम्भो मेखलेऽपरे । प्रत्येकं धनुषां ज्ञेये स्यातामर्धाष्टमं शतम् ॥ ३०८ ॥

पहले पीठके मस्तकका विस्तार आधे कोशका था, इसी प्रकार दूसरे और तीसरे पीठकी मेखलाएँ भी प्रत्येक साढ़ेसात सौ धनुष चौड़ी थीं ॥ ३०८ ॥

क्रोशाः स्युर्महावीथ्यः षोडश भित्तयः पृथुत्वतः । प्राक्निर्णीता तदुच्छ्रितिः ॥ ३०९ ॥

महावीथियों अर्थात् गोपुर-द्वारोंके सामनेके बड़े-बड़े रास्ते एक-एक कोश चौड़े थे और सोलह दीवालें अपनी ऊँचाईसे बारहवें भाग चौड़ी थीं तथा उन दीवालोंकी ऊँचाईका वर्णन पहले कर चुके हैं—तीर्थंकरोंके शरीरकी ऊँचाईसे बारह गुनी ॥ ३०९ ॥

अष्टदण्डोच्छ्रिता ज्ञेया जगती पीठमादिमम् । द्वितीयं च तदर्धेन मितोच्छ्रायं विदुर्बुधाः ॥ ३१० ॥

प्रथम पीठरूप जगती आठ धनुष ऊँची जाननी चाहिए और विद्वान् लोग द्वितीय पीठको उससे आधा अर्थात् चार धनुष ऊँचा जानते हैं ॥ ३१० ॥

तावदुच्छ्रितमन्त्यं च पीठं सिंहासनोन्नतिः । धनुरेकमिहाम्नातं धर्मचक्रस्य चोच्छ्रितिः ॥ ३११ ॥

इसी प्रकार तीसरा पीठ भी चार धनुष ऊँचा था, तथा सिंहासन और धर्मचक्रकी ऊँचाई एक धनुष मानी गयी है ॥ ३११ ॥

> इत्युक्तेन विभागेन जिनस्यास्थानिका स्थिता । तन्मध्ये तदवस्थानमितः श्रृणुत मन्मुखात् ॥ ३१२ ॥

इस प्रकार ऊपर कहे अनुसार जिनेन्द्र भगवानकी समवसरण सभा बनी हुई थी। अब उसके बीचमें जो जिनेन्द्र भगवानके विराजमान होनेका स्थान अर्थात् गन्धकुटी बनी हुई थी उसका वर्णन भी मेरे मुखसे सुनो ॥ ३१२ ॥

> इत्युच्चैर्गणनायके निगदति प्रीतं जिनास्थानिकां प्रव्यक्तैर्मधुरैर्वचोभिरुचितैस्तत्त्वार्थसंबोधिभिः । शुद्धान्तःकरणो विकासि वदनं धत्ते स्म भूयः पुनः श्रेणिकः प्रातरिवाब्जिनीवनचयः प्रोन्मीलितं वारिजम् ॥ ३१३ ॥

इस प्रकार जब गणनायक गौतम स्वामीने अतिशय स्पष्ट, मधुर, योग्य और तत्त्वार्थके स्वरूपका बोध करानेवाले वचनोंसे भगवानकी समवसरण-सभाका वर्णन किया तब जिस प्रकार प्रातःकालके समय कमलिनियोंका समूह प्रफुल्लित कमलोंको धारण करता है उसी प्रकार जिसका अन्तःकरण प्रबोधको प्राप्त हुआ है ऐसे श्रेणिक राजाने अपने प्रफुल्लित मुखको धारण किया था अर्थात् गौतम स्वामीके वचन सुनकर राजा श्रेणिकका मुखरूपी कमल बहुत प्रफुल्लित हो गया था ॥ ३१३ ॥

> दृष्ट्वा तां समवेत्य सभ्यकुमतध्वान्तच्छिदं भारतीं श्रुत्वा तामपवाक्छलां गणभृतः श्रीगौतमस्वामिनः । सार्धं योगिभिरागमन् जिनपतौ प्रीतिं स्फुरल्लोचनाः प्रोत्फुल्लाः कमलाकरा इव रवेरासाद्य दीप्तिश्रियम् ॥ ३१४ ॥

मिथ्यादृष्टियोंके मिथ्यामतरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाली, अतिशय योग्य और वचनसम्बन्धी दोषोंसे रहित गणधर गौतम स्वामीकी उस वाणीको सुनकर सभामें बैठे हुए सब लोग मुनियोंके साथ-साथ जिनेन्द्र भगवानमें परम प्रीतिको प्राप्त हुए थे, उस समय उन सभी सभासदोंके नेत्र हर्षसे प्रफुल्लित हो रहे थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सूर्यकी किरणरूपी लक्ष्मीका आश्रय पाकर फूले हुए कमलोंके समूह ही हों ॥ ३१४ ॥

> स जयति जिननाथो यस्य कैवल्यपूजां विततविभुरुदग्रामद्भुतश्रीमहन्तः । सममरनिकायैरेत्य दूरात् प्रणामः समवसरणभूमिं विश्रिये प्रेक्षमाणः ॥ ३१५ ॥

जिनके केवलज्ञानकी उत्तम पूजा करनेका अभिलाषी तथा अद्भुत विभूतिको धारण करनेवाला इन्द्र चारों निकायोंके देवोंके साथ आकर दूरसे ही नम्रीभूत हुआ था और समवसरण भूमिको देखता हुआ अतिशय प्रसन्न हुआ था ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव सदा जयवन्त रहें ॥ ३१५ ॥

> किमयममरसर्गः किं नु जैनानुभावः किमुत नियतिरेषा किं स्विदैन्द्रः प्रभावः । इति विततवितर्कैः कौतुकाद् वीक्ष्यमाणा भवतु सुरसमाजैमर्तुरास्थानभूमिः ॥ ३१६ ॥

क्या यह देवोंकी नयी सृष्टि है? अथवा यह जिनेन्द्र भगवानका प्रभाव है, अथवा ऐसा नियोग ही है, अथवा यह इन्द्रका ही प्रभाव है? इस प्रकार अनेक तर्क-वितर्क करते हुए देवोंके समूह जिसे बड़े कौतुकके साथ देखते थे ऐसी वह भगवानकी समवसरण भूमि सदा जयवन्त रहे ॥ ३१६ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें समवसरणका वर्णन करनेवाला बाईसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

आदिपुराण - पर्व २३ (श्लोक १ - १७०)

> अथ त्रिमेखलस्यास्य महतः पीठस्य विस्तीर्णे । स्फुरन्मणिविभाजालरचितामरकार्मुके ॥ १ ॥

अथानन्तर—जो तीन कटनीदार बड़े भारी पीठके विस्तृत मस्तकपर देदीप्यमान मणियोंकी किरणोंके समूहसे अनेक इन्द्रधनुषोंकी रचना कर रहा था—

> सुरेन्द्रकरविक्षिप्तपुष्पप्रकरशोभिनि । हसन्तीव शरद्व्योम स्फुरत्तारकाम्बरम् ॥ २ ॥

जो स्वयं इन्द्रके हाथोंसे बिखेरे हुए पुष्पोंके समूहसे सुशोभित हो रहा था और जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो मेघोंके नष्ट हो जानेसे जिसमें तारागण चमक रहे हैं ऐसे शरद्ऋतुके आकाशकी ओर हँस ही रहा हो—

> चलच्चामरसंघातप्रतिबिम्बनिमागतेः । हंसैरिव सरोबुद्ध्या सेव्यमानतटे ततौ ॥ ३ ॥

जिसपर ढुरते हुए चमरोंके समूहके प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे और उनसे जो ऐसा जान पड़ता था मानो उसे सरोवर समझकर हंस ही उसके बड़े भारी तटभागकी सेवा कर रहे हों—

> मार्तण्डमण्डलच्छायाप्रस्पर्धिनि महर्द्धिके । स्वर्धुनीफेननीकाशैः स्फटिकैर्घटिते क्वचित् ॥ ४ ॥

जो अपनी कान्तिसे सूर्यमण्डलके साथ स्पर्धा कर रहा था, बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंसे युक्त था, और कहीं-कहींपर आकाश-गङ्गाके फेनके समान स्फटिकमणियोंसे जड़ा हुआ था—

> पद्मरागसमुत्सर्पन्मयूखैः क्वचिदास्तृते । जिनपादतलच्छायाशोणिम्नेवानुरञ्जिते ॥ ५ ॥

जो कहीं-कहींपर पद्मरागमणियोंकी फैलती हुई किरणोंसे व्याप्त हो रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवानके चरणतलकी लाल कान्तिसे ही अनुरक्त हो रहा हो—

> शुचौ स्निग्धे मृदौ पीने जिनार्चाङ्घ्रिस्पर्शपावने । पर्यन्तरचितानेकमङ्गलद्रव्यसंपदि ॥ ६ ॥

जो अतिशय पवित्र था, चिकना था, कोमल तथा स्थूल आकारसहित था, जिनेन्द्र भगवानके चरणोंके स्पर्शसे पवित्र था और जिसके समीपमें अनेक मङ्गलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ रखी हुई थीं—

> तत्र विस्तीर्णां तुङ्गसालोपशोभिनीम् । धनदः स गन्धकुटीं चक्रे निवेशयामास
> स्वर्गविमानातिशायिनीम् ॥ ७ ॥

ऐसे उस पीठके विस्तृत मस्तकके अग्रभागपर कुबेरने गन्धकुटी बनायी। वह गन्धकुटी बहुत ही विस्तृत थी, ऊँचे कोटसे शोभायमान थी और अपनी कान्तिसे स्वर्गके विमानोंका भी उल्लंघन कर रही थी ॥ ७ ॥

> त्रिमेखलाञ्चिते पीठे सैषा गन्धकुटी बभौ । नन्दनादि वनश्रेणीत्रयाद् वोपरि चूलिका ॥ ८ ॥

तीन कटनियोंसे चिह्नित पीठपर वह गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो नन्दन वन, सौमनस वन और पाण्डुक वन इन तीन वनोंके ऊपर सुमेरु पर्वतकी चूलिका ही सुशोभित हो रही हो ॥ ८ ॥

> यथा सर्वार्थसिद्धिश्च दिद्युते त्रिदिवमूर्धनि । तथा गन्धकुटी दीप्ता पीठस्याधितले बभौ ॥ ९ ॥

अथवा जिस प्रकार स्वर्ग लोकके ऊपर स्थित हुई सर्वार्थसिद्धि सुशोभित होती है उसी प्रकार उस पीठके ऊपर स्थित हुई वह अतिशय देदीप्यमान गन्धकुटी सुशोभित हो रही थी ॥ ९ ॥

> नानारत्नप्रभोत्सर्पिकूटैस्ततमम्बरम् । सचित्रमिव भाति स्म सेन्द्रचापमिवाथवा ॥ १० ॥

अनेक प्रकारके रत्नोंकी कान्तिको फैलानेवाले उस गन्धकुटीके शिखरोंसे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो अनेक चित्रोंसे सहित ही हो रहा हो अथवा इन्द्रधनुषसे युक्त ही हो रहा हो ॥ १० ॥

प्रोत्तुङ्गैः शिखरैर्बद्धजयकेतनकोटिभिः । प्रसारितभुजैर्हस्तैर्नभोगानाह्वयन्निव ॥ ११ ॥

जिनपर करोड़ों विजयपताकाएँ बँधी हुई हैं ऐसे ऊँचे शिखरोंसे वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने हाथोंको फैलाकर देव और विद्याधरोंको ही बुला रही हो ॥ ११ ॥

त्रिभिस्तलैरुपेतैषा भुवनत्रितयश्रियः । प्रतिमेव बभौ व्योमसरोमध्येऽम्बुबिम्बिता ॥ १२ ॥

तीनों पीठोंसहित वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो आकाशरूपी सरोवरके मध्यभागमें जलमें प्रतिबिम्बित हुई तीनों लोकोंकी लक्ष्मीकी प्रतिमा ही हो ॥ १२ ॥

स्थूलैर्मुक्तामयैर्दामभिरावृता समन्ततः । महाब्धिभिरिवानीतैः सोपायनशतैरभात् ॥ १३ ॥

चारों ओर लटकते हुए बड़े-बड़े मोतियोंकी मालाओंसे वह गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो बड़े-बड़े समुद्रोंने उसे मोतियोंके सैकड़ों उपहार ही समर्पित किये हों ॥ १३ ॥

जालिकैः क्वचिदुत्तुङ्गैः स्थूलैरायतैर्योजितैः । कल्पद्रुपोत्थैरुत्तुङ्गैः प्ररोहैर्वावलम्बितैः ॥ १४ ॥

कहीं-कहींपर वह गन्धकुटी सुवर्णकी बनी हुई मोटी और लम्बी जालीसे ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न होनेवाले लटकते हुए देदीप्यमान अङ्कुरोंसे ही सुशोभित हो रही हो ॥ १४ ॥

रत्नभूषणमालाभिर्लम्बिताभिरितस्ततः । या बभौ स्वर्गलक्ष्म्येव प्रहितोपायनर्द्धिभिः ॥ १५ ॥

जो स्वर्गकी लक्ष्मीके द्वारा भेजे हुए उपहारोंके समान जान पड़ती थी ऐसी चारों ओर लटकती हुई रत्नमय आभूषणोंकी मालासे वह गन्धकुटी बहुत ही अधिक शोभायमान हो रही थी ॥ १५ ॥

स्रग्भिराकृष्टगन्धान्धभ्राम्यन्मधुपकोटिभिः । जिनेन्द्रमिव संस्तोतुं या मुखरीकृता ॥ १६ ॥

वह गन्धकुटी पुष्पमालाओंसे खिंचकर आये हुए गन्धसे अन्धे करोड़ों मदोन्मत्त भ्रमरोंसे शब्दायमान हो रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानों जिनेन्द्र भगवानकी स्तुति ही करना चाहती हो ॥ १६ ॥

> स्तुवतः सुरनाथस्य गद्यपद्यस्तवस्वनैः । सरस्वतीय भाति स्म या जिनं स्तोतुमुद्यता ॥ १७ ॥

स्तुति करते हुए इन्द्रके द्वारा रचे हुए गद्य-पद्यरूप स्तोत्रोंके शब्दोंसे व्याप्त हुई वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानों भगवानका स्तवन करनेके लिए उद्यत हुई सरस्वती हो ॥ १७ ॥

> रत्नालोके विसर्पन्त्या मूर्त्या व्यराजत । जिनेन्द्राङ्गप्रभालक्ष्म्या घटितेव महाद्युतिः ॥ १८ ॥

चारों ओर फैलते हुए रत्नोंके प्रकाशसे जिसके समस्त अङ्ग ढके हुए हैं ऐसी वह देदीप्यमान गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों जिनेन्द्र भगवानके अङ्गोंकी लक्ष्मीसे ही बनी हो ॥ १८ ॥

> या प्रोत्सर्पद्भिराहूतपदालिकुलसंकुलैः । धूपैर्दिशामिवाऽऽयामं प्रमित्सुस्ततधूमकैः ॥ १९ ॥

जो अपनी सुगन्धिसे बुलाये हुए मदोन्मत्त भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त हो रहा है और जिसका धुआँ चारों ओर फैल रहा है ऐसी सुगन्धित धूपसे वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो दिशाओंकी लम्बाई ही नापना चाहती हो ॥ १९ ॥

> गन्धैर्गन्धमयीवासीत् सृष्टिः पुष्पमयीव च । प्रसूनैर्धूपमयीवासीद् धूपैर्या दिग्विसर्पिभिः ॥ २० ॥

सब दिशाओंमें फैलती हुई सुगन्धिसे वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानों सुगन्धिसे ही बनी हो, सब दिशाओंमें फैले हुए फूलोंसे ऐसी मालूम होती थी मानो फूलोंसे ही बनी हो और सब दिशाओंमें फैले हुए धूपसे ऐसी प्रतिभासित हो रही थी मानो धूपसे ही बनी हो ॥ २० ॥

> सुगन्धिधूपनिःश्वासा सुमनोमालधारिणी । नानामरणरक्ताङ्गी या वधूरिव दिद्युते ॥ २१ ॥

अथवा वह गन्धकुटी स्त्रीके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार स्त्रीका निःश्वास सुगन्धित होता है उसी प्रकार उस गन्धकुटीमें जो धूपसे सुगन्धित वायु बह रहा था वही उसके सुगन्धित निःश्वासके समान था। स्त्री जिस प्रकार फूलोंकी माला धारण करती है उसी प्रकार वह गन्धकुटी भी जगह-जगह मालाएँ धारण कर रही थी, और स्त्रीके अङ्ग जिस प्रकार नाना आभरणोंसे देदीप्यमान होते हैं उसी प्रकार उस गन्धकुटीके अङ्ग (प्रदेश) भी नाना आभरणोंसे देदीप्यमान हो रहे थे ॥ २१ ॥

> धूपगन्धैर्जिनेन्द्राङ्गसौरभ्यसखिलीलयैः । सुरभीकृतविश्वाशा याधाद् गन्धकुटीश्रुतिम् ॥ २२ ॥

भगवानके शरीरकी सुगन्धिसे बढ़ी हुई धूपकी सुगन्धिसे उसने समस्त दिशाएँ सुगन्धित कर दी थीं इसलिए ही वह गन्धकुटी इस सार्थक नामको धारण कर रही थी ॥ २२ ॥

> गन्धानामेव या सूतिर्द्युतीनां चैव देवता । शोभानां प्रसवक्ष्मा वा या लक्ष्मीमधिकामधात् ॥ २३ ॥

अथवा वह गन्धकुटी ऐसी शोभा धारण कर रही थी मानो सुगन्धको उत्पन्न करनेवाली ही हो, कान्तिकी अधिदेवता अर्थात् स्वामिनी ही हो और शोभाओंको उत्पन्न करनेवाली भूमि ही हो ॥ २३ ॥

> धनुषां षट्शतीमेषा विस्तीर्णा यावदायता । विष्कम्भात् साधिकोच्छाया मानोन्मानप्रभान्विता ॥ २४ ॥

वह गन्धकुटी छह सौ धनुष चौड़ी थी, उतनी ही लम्बी थी और चौड़ाईसे कुछ अधिक ऊँची थी, इस प्रकार वह मान और उन्मानके प्रमाणसे सहित थी ॥ २४ ॥

> तस्या मध्ये हेमपीठं नानारत्नाव्रातकीर्णम् । मेरोः श्रृङ्गं न्यक्कुर्वाणं चक्रे शक्रादेशाद् धनदः ॥ २५ ॥

उस गन्धकुटीके मध्यमें धनपतिने एक सिंहासन बनाया था जो कि अनेक प्रकारके रत्नोंके समूहसे जड़ा हुआ था और मेरु पर्वतके शिखरको तिरस्कृत कर रहा था ॥ २५ ॥

> भानुद्वेषि श्रीमद्धेमोद्यद्भासा जित्वरं मेरोः श्रृङ्गादप्युच्चैर्भासा । मेरुः श्रृङ्गं स्वं वा निन्ये
> पीठव्याजाज्जेतुं भासा ॥ २६ ॥

वह सिंहासन सुवर्णका बना हुआ था, ऊँचा था, अतिशय शोभायुक्त था और अपनी कान्तिसे सूर्यको भी लज्जित कर रहा था तथा ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवानकी सेवा करनेके लिए सिंहासनके बहानेसे सुमेरु पर्वत ही अपने अत्यधिक देदीप्यमान शिखरको ले आया हो ॥ २६ ॥

> यत्प्रसर्पदंशुदृष्टदिङ्मुखं महर्द्धिभासि । चारुरत्नसारमूर्ति भासते स्म नेत्रहारि ॥ २७ ॥

जिससे निकलती हुई किरणोंसे समस्त दिशाएँ व्याप्त हो रही थीं, जो बड़े भारी ऐश्वर्यसे प्रकाशमान हो रहा था, जिसका आकार लगे हुए सुन्दर रत्नोंसे अतिशय श्रेष्ठ था और जो नेत्रोंको हरण करनेवाला था ऐसा वह सिंहासन बहुत ही शोभायमान हो रहा था ॥ २७ ॥

> यद्विशालमुच्चभासि संप्रसृत्वरप्रभाढ्यम् । परार्ध्यरत्नभासुरं सुराद्रिहासि यद् वपुः ॥ २८ ॥

जिसका आकार बहुत बड़ा और देदीप्यमान था, जिससे कान्तिका समूह निकल रहा था, जो श्रेष्ठ रत्नोंसे प्रकाशमान था और जो अपनी शोभासे मेरु पर्वतकी भी हँसी करता था ऐसा वह सिंहासन बहुत अधिक सुशोभित हो रहा था ॥ २८ ॥

> अथासीनं तदलञ्चक्रे भगवान् आदितीर्थकृत् । चतुर्भिरङ्गुलैः स्वेन महिम्नास्पृष्टतत्तकः ॥ २९ ॥

प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव उस सिंहासनको अलंकृत कर रहे थे। वे भगवान् अपने माहात्म्यसे उस सिंहासनके तलसे चार अंगुल ऊँचे अधर विराजमान थे, उन्होंने उस सिंहासनके तलभागको छुआ ही नहीं था ॥ २९ ॥

> तत्रासीनं तमिन्द्राद्याः परिचेरुर्महोदयैः । पुष्पदृष्टिं प्रवर्षन्तो नभोमार्गाद् घना इव ॥ ३० ॥

उसी सिंहासनपर विराजमान हुए भगवानकी इन्द्र आदि देव बड़ी-बड़ी पूजाओं-द्वारा परिचर्या कर रहे थे और मेघोंकी तरह आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ ३० ॥

> अपतन् कौसुमो वृष्टिः प्रोर्णुवाना नभोऽङ्गणम् । दृष्टिमालेव मत्तालिमाला वाचारिता नृणाम् ॥ ३१ ॥

मदोन्मत्त भ्रमरोंके समूहसे शब्दायमान तथा आकाशरूपी आँगनको व्याप्त करती हुई पुष्पोंकी वर्षा ऐसी पड़ रही थी मानों मनुष्योंके नेत्रोंकी माला ही हो ॥ ३१ ॥

> द्वादशयोजनभूभागमामुक्ता सुरवारिदैः । पुष्पवृष्टिः पतन्ती सा व्यधाच्चित्रं रजस्ततम् ॥ ३२ ॥

देवरूपी बादलों-द्वारा छोड़ी जाकर पड़ती हुई पुष्पोंकी वर्षाने बारह योजन तकके भूभागको पराग (धूलि) से व्याप्त कर दिया था, यह एक भारी आश्चर्यकी बात थी। भावार्थ—यहाँ पहले विरोध मालूम होता है क्योंकि वर्षासे तो धूलि शान्त होती है न कि बढ़ती है परन्तु जब इस बातपर ध्यान दिया जाता है कि वह पुष्पोंकी वर्षा थी और उसने

भूभागको पराग अर्थात् पुष्पोंके भीतर रहनेवाले केशरके छोटे-छोटे कणोंसे व्याप्त कर दिया था तब वह विरोध दूर हो जाता है, यह विरोधाभास अलंकार कहलाता है ॥ ३२ ॥

> सुभ्रुवां कुसुमानां तुष्टिकरी सन्ततिरुच्चैः । संस्पृष्टपदं प्रभुपदान्ते ॥ ३३ ॥

स्त्रियोंको सन्तुष्ट करनेवाली वह फूलोंकी वर्षा भगवानके समीपमें पड़ रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो खेचरियोंके नेत्रोंकी सन्तति ही भगवानके समीप पड़ रही हो ॥ ३३ ॥

> षट्पदवृन्दविकीर्णैः पुष्परजोभिरुपेता । वृष्टिरमर्त्यविसृष्टा सौमनसी रुरुचेऽसौ ॥ ३४ ॥

भ्रमरोंके समूहोंके द्वारा फैलाये हुए फूलोंके परागसे सहित तथा देवोंके द्वारा बरसायी वह पुष्पोंकी वर्षा बहुत ही अधिक शोभायमान हो रही थी ॥ ३४ ॥

> शीतलबारिभिरच्छैराप्लुता कौसुमी वृष्टिः । षड्पदभेदैराकुलापतत् प्रभुरग्रे ततामोदा ॥ ३५ ॥

जो गङ्गा नदीके शीतल जलसे भीगी हुई है, जो अनेक भ्रमरोंसे व्याप्त है और जिसकी सुगन्धि चारों ओर फैली हुई है ऐसी वह पुष्पोंकी वर्षा भगवानके आगे पड़ रही थी ॥ ३५ ॥

> मरकतरुचिरैः पत्रैर्मणिमयकुसुमैश्चित्रैः । मरुदुपविधुताः शाखाश्चिरमभजत महाशोकः ॥ ३६ ॥

भगवानके समीप ही एक अशोक वृक्ष था जो कि मरकतमणिके बने हुए हरे-हरे पत्ते और रत्नमय चित्र-विचित्र फूलोंसे सहित था तथा मन्द-मन्द वायुसे हिली हुई शाखाओंको धारण कर रहा था ॥ ३६ ॥

> मदकलविरुतैर्भृङ्गैरपि परपुष्टविहङ्गैः । स्तुतिमिव मधुरशोको मुखरितदिक् कुरुते स्म ॥ ३७ ॥

वह अशोकवृक्ष मदसे मधुर शब्द करते हुए भ्रमरों और कोयलोंसे समस्त दिशाओंको शब्दायमान कर रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवानकी स्तुति ही कर रहा हो ॥ ३७ ॥

> व्यायतशाखादोश्चलनैः स्वैर्जृम्भणमथासौ कर्तुमिवार्चाग्रे । पुष्पसमूहैरञ्जलिमिदं भर्तुरकार्षीद् व्यक्तमशोकः ॥ ३८ ॥

वह अशोकवृक्ष अपनी लम्बी-लम्बी शाखारूपी भुजाओंके चलानेसे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवानके आगे नृत्य ही कर रहा हो और पुष्पोंके समूहोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवानके आगे देदीप्यमान पुष्पाञ्जलि ही प्रकट कर रहा हो ॥ ३८ ॥

> रेजेऽशोकतरुरसौ वारयन् व्योमचरमहेशानाम् । तन्वन्योजनविस्तृताः शाखा धुन्वञ्शोकममदो ध्वान्तम् ॥ ३९ ॥

आकाशमें चलनेवाले देव और विद्याधरोंके स्वामियोंका मार्ग रोकता हुआ, अपनी एक योजन विस्तारवाली शाखाओंको फैलाता हुआ और शोकरूपी अन्धकारको समूल नष्ट करता हुआ वह अशोकवृक्ष बहुत ही अधिक शोभायमान हो रहा था ॥ ३९ ॥

> सर्वा हरितो विटपैस्ततैः संमार्ष्टुमिवोद्यतधीरसो । फुल्लैरभितः कुसुमोत्करैः पूजां जिनपतेर्विदधद् द्रुमः ॥ ४० ॥

फूले हुए पुष्पोंके समूहसे भगवानके लिए पुष्पोंका उपहार समर्पण करता हुआ वह वृक्ष अपनी फैली हुई शाखाओंसे समस्त दिशाओंको व्याप्त कर रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो उन फैली हुई शाखाओंसे दिशाओंको साफ करनेके लिए ही तैयार हुआ हो ॥ ४० ॥

> वज्रमूलरुचिरस्कन्धं रत्नचित्रप्रसूनम् । मत्तकोकिलकुलैः सेव्यमेतं जगदुत्तममचष्ट सुरेशाः ॥ ४१ ॥

जिसकी जड़ वज्रकी बनी हुई थी, जिसका मूल भाग स्फटिकसे देदीप्यमान था, जिसके अनेक प्रकारके पुष्प जपापुष्पकी कान्तिके समान पद्मरागमणियोंके बने हुए थे और जो मदोन्मत्त कोयल तथा भ्रमरोंसे सेवित था ऐसे उस वृक्षको इन्द्रने सब वृक्षोंमें मुख्य बनाया था ॥ ४१ ॥

> यद्वपुश्च रुचिमत्कान्त्या चन्द्रमजयत् सुरुचिरां लक्ष्मीम् । त्रेधा बभूव शशभृन्नूनं सेवां विदधज् जगतः पत्युः ॥ ४२ ॥

भगवानके ऊपर जो देदीप्यमान सफेद छत्र लगा हुआ था उसने चन्द्रमाकी लक्ष्मीको जीत लिया था और वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् वृषभदेवकी सेवा करनेके लिए तीन रूप धारण कर चन्द्रमा ही आया हो ॥ ४२ ॥

> छत्राकारं दधदिव भानुं सितं दधुश्छत्रत्रितयमदो भास्वत् । मुक्ताजालैः किरणसमूहैर्वा स्वैश्चक्रे सुरत्राणवचनतो वैराट् ॥ ४३ ॥

वे तीनों सफेद छत्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों छत्रका आकार धारण करनेवाले चन्द्रमाके बिम्ब ही हों, उनमें जो मोतियोंके समूह लगे हुए थे वे किरणोंके समान जान पड़ते थे, इस प्रकार उस छत्र-त्रितयको कुबेरने इन्द्रकी आज्ञासे बनाया था ॥ ४३ ॥

> मुक्ताफलैः खचितं परार्ध्यैरुद्यद्दिनेशश्रियमाहसन्तिः । छत्रत्रयं तद्रुरुचेऽतिशुभ्रं चन्द्रार्कसंपर्कविनिर्मितं वा ॥ ४४ ॥

वह छत्रत्रय उदय होते हुए सूर्यकी कान्तिकी हँसी उड़ानेवाले अनेक उत्तम-उत्तम रत्नोंसे जड़ा हुआ था तथा अतिशय निर्मल था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो चन्द्रमा और सूर्यके सम्पर्क (मेल) से ही बना हो ॥ ४४ ॥

> सन्मौक्तिकं वारिधिरायमानं सश्रीकमिन्दुद्युतिहारि हारि । मध्यप्रलम्बत्तरलसदिन्द्रनीलं तथा परां कान्तिमुपेत्य भाति ॥ ४५ ॥

जिसमें अनेक उत्तम मोती लगे हुए थे, जो समुद्रके जलके समान जान पड़ता था, बहुत ही सुशोभित था, चन्द्रमाकी कान्तिको हरण करनेवाला था, मनोहर था और जिसमें इन्द्रनील मणि भी देदीप्यमान हो रहे थे ऐसा वह छत्रत्रय भगवानके समीप आकर उत्कृष्ट कान्तिको धारण कर रहा था ॥ ४५ ॥

> किमेष हासस्तनुते जगच्छ्रियाः किमु प्रभोरुल्लसितो यशोगणः। धर्माधिपस्याथ सितातपत्रं जगत्त्रयानन्दकरो नु चन्द्रमाः ॥ ४६ ॥

क्या यह जगतरूपी लक्ष्मीका हास फैल रहा है? अथवा भगवानका शोभायमान यशरूपी गुण है? अथवा धर्मरूपी राजाका श्वेत छत्र (मन्द हास्य) है? अथवा तीनों लोकोंमें आनन्द करनेवाला कलङ्करहित चन्द्रमा है—

> इति प्रतर्कं जनतामनःसु तदा वितन्वदिद्धातपवारणत्रयम्। बभौ विभोर्मोहविनिर्जयोपार्जितं यशोमयं बिम्बमिव त्रिरूपम् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार लोगोंके मनमें तर्क-वितर्क उत्पन्न करता हुआ वह देदीप्यमान छत्रत्रय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मोहरूपी शत्रुको जीत लेनेसे इकट्ठा हुआ तथा तीन रूप धारण कर ठहरा हुआ भगवानके यशका मण्डल ही हो ॥ ४७ ॥

> पयः पयोघेरिव वीचिमाला प्रकीर्णकानां समितिः समन्तात्। जिनेन्द्रपर्यन्तनिषेविपक्षकरोत्करैराविरभूद् विधूता ॥ ४८ ॥

जिनेन्द्र भगवानके समीपमें सेवा करनेवाले यक्षोंके हाथोंके समूहोंसे जो चारों ओर चमरोंके समूह ढुराये जा रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो क्षीरसागरके जलके समूह ही हों ॥ ४८ ॥

> पीयूषशल्कैरिव निर्मिताङ्गी चान्द्रैरिवांशैर्घटिताऽमलश्रीः। जिनाङ्घ्रिपर्यन्तमुपेत्य भेजे प्रकीर्णकाली गिरिनिर्झराभाम् ॥ ४९ ॥

अत्यन्त निर्मल लक्ष्मीको धारण करनेवाला वह चमरोंका समूह ऐसा जान पड़ता था मानो अमृतके टुकड़ोंसे ही बना हो अथवा चन्द्रमाके अंशोंसे ही रचा गया हो तथा वही चमरोंके समूह भगवानके चरणकमलोंके समीप पहुँचकर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो किसी पर्वतसे झरते हुए निर्झर ही हों ॥ ४९ ॥

> जिनेन्द्रमासेवितुमागतेयं त्रिधापगा स्यादिति तर्क्यमाणा। पङ्क्तिर्विरेजे शुचिचामराणां यक्षैः समन्तात् परिवीजितानाम् ॥ ५० ॥

यक्षोंके द्वारा लीलापूर्वक चारों ओर ढुराये जानेवाले निर्मल चमरोंकी वह पंक्ति बड़ी ही सुशोभित हो रही थी और लोग उसे देखकर ऐसा तर्क किया करते थे मानो यह आकाशगङ्गा ही भगवानकी सेवाके लिए आयी हो ॥ ९० ॥

> जैनी किमङ्गद्युतिरुद्भवन्ती किमिन्दुभासां ततिरापतन्ती । इति स्म शङ्कां तनुते पतन्ती सा चामराली शरदिन्दुशुभ्रा ॥ ९१ ॥

शरद् ऋतुके चन्द्रमाके समान सफेद पड़ती हुई वह चमरोंकी पंक्ति ऐसी आशंका उत्पन्न कर रही थी कि क्या यह भगवानके शरीरकी कान्ति ही ऊपरको जा रही है अथवा चन्द्रमाकी किरणोंका समूह ही नीचेकी ओर पड़ रहा है ॥ ९१ ॥

> सुधामलाङ्गी परितो विरेजे सा चामराणां ततिरुल्लसन्ती । क्षीरोदफेनावलिरुच्चलन्ती मरुद्विधूतेव समिद्धकान्तिः ॥ ९२ ॥

अमृतके समान निर्मल अङ्गोंको धारण करनेवाली और अतिशय देदीप्यमान वह हिलती हुई चमरोंकी पंक्ति ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो वायुसे कम्पित तथा देदीप्यमान कान्तिको धारण करनेवाली हिलती हुई और समुद्रके फेनकी पंक्ति ही हो ॥ ९२ ॥

> लक्ष्मीं परामाप परा पतन्ती प्रभोः समन्तादमराङ्गनाभिः । सिषेविषुस्तं जिनमात्रजन्ती पयोधिवेलेव सुचामराली ॥ ९३ ॥

चन्द्रमा और समुद्रके समान कान्तिवाली ऊपरसे पड़ती हुई वह उत्तम चमरोंकी पंक्ति बड़ी उत्कृष्ट शोभाको प्राप्त हो रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनेन्द्र भगवानकी सेवा करनेकी इच्छासे आती हुई क्षीर-समुद्रकी वेला ही हो ॥ ९३ ॥

> पतन्ति हंसाः किमु मेघमार्गात् किमुत्पतन्तीश्वरतो यशांसि । विशङ्क्यमानानि सुरैरितस्तः पेतुः समन्तात् सितचामराणि ॥ ९४ ॥

क्या ये आकाशसे हंस उतर रहे हैं अथवा भगवानका यश ही ऊपरको जा रहा है, इस प्रकार देवोंके द्वारा शंका किये जानेवाले वे सफेद चमर भगवानके चारों ओर ढुराये जा रहे थे ॥ ९४ ॥

> यक्षैरुदक्षिप्यत चामराली दक्षैः सलीलं कमलायताक्षैः । वीचीव सिन्धोरमितोत्तमाङ्गा प्रोत्थाप्यमाना मरुताग्रतस्ते ॥ ९५ ॥

जिस प्रकार वायु समुद्रके आगे अनेक लहरोंके समूह उठाता रहता है उसी प्रकार कमलके समान दीर्घ नेत्रोंको धारण करनेवाले चतुर यक्ष भगवानके आगे लीलापूर्वक विस्तृत और सफेद चमरोंके समूह उठा रहे थे अर्थात् ऊपरकी ओर ढोर रहे थे ॥ ९५ ॥

> जिनेन्द्रभक्त्या सुरनिम्नगेव लब्ध्वाङ्गमभ्याम्बरतः पतन्ती । सा भ्राजते चामरपङ्क्तिरुच्चैर्ज्योत्स्नेव मध्योल्लसत्कुमुद्वतीनाम् ॥ ९६ ॥

अथवा वह सफेद चमरोंकी पंक्ति ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो उन चमरोंका बहाना प्राप्त कर जिनेन्द्र भगवानकी भक्तिवश आकाशगङ्गा ही आकाशसे उतर रही हो अथवा भव्य जीवरूपी कुमुदिनियोंको विकसित करनेके लिए चाँदनी ही नीचेकी ओर आ रही हो ॥ ९६ ॥

> इत्यात्ततोषैः स्फुरदक्षियक्षैः प्रवीज्यमानानि शशाङ्कभांसि । रेजुर्गगन्नाथगुणोत्करैर्वा स्पर्धां वितन्वन्त्यधिचामराणि ॥ ९७ ॥

इस प्रकार जिन्हें अतिशय संतोष प्राप्त हो रहा है और जिनके नेत्र प्रकाशमान हो रहे हैं ऐसे यक्षोंके द्वारा ढुराये जानेवाले वे चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिके धारक चमर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भगवानके गुणसमूहोंके साथ स्पर्धा ही कर रहे हों ॥ ९७ ॥

> लसत्सुधाराशिविनिर्मलानि सान्द्रामेयद्युतिकान्तिभाजि । विभोर्जगत्प्रभुत्वमद्वितीयं शंसुरुच्चैश्चमरीरुहाणि ॥ ९८ ॥

शोभायमान अमृतकी राशिके समान निर्मल और अपरिमित तेज तथा कान्तिको धारण करनेवाले वे चमर भगवान् वृषभदेवके अद्वितीय जगत्के प्रभुत्वको सूचित कर रहे थे ॥ ९८ ॥

> लक्ष्मीसमालिङ्गितवक्षसोऽस्य श्रीवृक्षचिह्नं दधतो जिनेशः । प्रकीर्णकानाममितद्युतीनां धीमन्दराश्चतुःषष्टिमुदाहरन्ति ॥ ५९ ॥

जिनका वक्षःस्थल लक्ष्मीसे आलिङ्गित है और जो श्रीवृक्षका चिह्न धारण करते हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्रदेवके अपरिमित तेजको धारण करनेवाले उन चमरोंकी संख्या विद्वान् लोग चौंसठ बतलाते हैं ॥ ५९ ॥

> जिनेश्वराणामिति चामराणि प्रकीर्तितानीह सनातनानाम् । अर्धर्धमानानि भवन्ति तानि चक्रेश्वराद् यावदसौ सुराजा ॥ ६० ॥

इस प्रकार सनातन भगवान जिनेन्द्रदेवके चौंसठ चमर कहे गये हैं और वे ही चमर चक्रवर्तीसे लेकर राजा पर्यन्त आधे-आधे होते हैं; अर्थात् चक्रवर्तीके बत्तीस, अर्धचक्रीके सोलह, मण्डलेश्वरके आठ, अर्धमण्डलेश्वरके चार, महाराजके दो और राजाके एक चमर होता है ॥ ६० ॥

> सुरदुन्दुभयो मधुरध्वनयो निनदन्ति सदा स्म नभोविवरे । जलदागमशङ्किभिरुन्मदिभिः शिखिभिः परिवीक्षितपद्धतयः ॥ ६१ ॥

इसी प्रकार उस समय वर्षाऋतुकी शंका करते हुए मदोन्मत्त मयूर जिनका मार्ग बड़े प्रेमसे देख रहे थे ऐसे देवोंके दुन्दुभि मधुर शब्द करते हुए आकाशमें बज रहे थे ॥ ६१ ॥

> पणवस्तुनवैः कलसन्त्रस्तैः सहकाहलशङ्खमहापटहैः । ध्वनिरुत्ससृजे बहुधा निनादः सुरैर्नभः पिदधन् मुखरं विदधन् ॥ ६२ ॥

जिनका शब्द अत्यन्त मधुर और गम्भीर था ऐसे पणव, तुणव, काहल, शङ्ख और नगाड़े आदि बाजे समस्त दिशाओंके मध्यभागको शब्दायमान करते हुए तथा आकाशको आच्छादित करते हुए शब्द कर रहे थे ॥ ६२ ॥

> घनकोणहताः सुरपाणविकैः कुपिता इव ते बुसदां पटहाः । ध्वनिमुत्ससृजुः किमहो तरसा परिताडयथेति विसृष्टगिरः ॥ ६३ ॥

देवरूप शिल्पियोंके द्वारा मजबूत दण्डोंसे ताड़ित हुए वे देवोंके नगाड़े जो शब्द कर रहे थे उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो कुपित होकर स्पष्ट शब्दोंमें यह कह रहे हों कि अरे दुष्टो, तुम लोग जोर-जोरसे क्यों मार रहे हो ॥ ६३ ॥

> ध्वनिरम्बुमुचां किमिदं स्फुरति क्षुभितोऽम्बुधिरुत्स्फुरदूर्मिरतः । कृततर्कमिति प्रसरन् जयताद् दुन्दुभीनां निनादः प्रभोः ॥ ६४ ॥

क्या यह मेघोंकी गर्जना है? अथवा जिसमें उठती हुई लहरें शब्द कर रही हैं ऐसा समुद्र ही क्षोभको प्राप्त हुआ है? इस प्रकार तर्क-वितर्क कराता हुआ चारों ओर फैलता हुआ भगवानके देवदुन्दुभियोंका शब्द सदा जयवन्त रहे ॥ ६४ ॥

> प्रभया परितो जिनदेहभुवा जगती सकला समयाविशतः । रुरुचे ससुरासुरमर्त्यजनाः किमिवाद्भुतमीदृशि धाम्नि विभोः ॥ ६५ ॥

सुर, असुर और मनुष्योंसे भरी हुई वह समवसरणकी समस्त भूमि जिनेन्द्रभगवानके अङ्गोंसे उत्पन्न हुई तथा चारों ओर फैली हुई प्रभा अर्थात् भामण्डलसे बहुत ही सुशोभित हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि भगवानके ऐसे तेजमें आश्चर्य ही क्या है ॥ ६५ ॥

> तरुणार्ककरुचिं नु तिरोदधती सुरकोटिमहांसि च निर्धुन्वती । जगदेकमहोदयमारचयन्त्युदगात् तदा जिनदेहरुचिः ॥ ६६ ॥

उस समय वह जिनेन्द्रभगवानके शरीरकी प्रभा मध्याह्नके सूर्यकी प्रभाको तिरोहित करती हुई—अपने प्रकाशमें उसका प्रकाश छिपाती हुई, करोड़ों देवोंके तेजको दूर हटाती हुई, और सर्वत्र भगवानका बड़ा भारी अभ्युदय प्रकट करती हुई चारों ओर फैल रही थी ॥ ६६ ॥

> जिनदेहरुचावमृताब्धिशुचौ सुरदानवमर्त्यजना ददृशुः । स्वभवान्तरसप्तकमात्तमुदो जगतो बहुमङ्गलदर्पणवत् ॥ ६७ ॥

अमृतके समुद्रके समान निर्मल और जगत्को अनेक मङ्गल करनेवाले दर्पणके समान, भगवानके शरीरकी उस प्रभा (प्रभामण्डल) में सुर, दानव और मनुष्य लोग प्रसन्न होकर अपने सात-सात भव देखते थे ॥ ६७ ॥

विधुमाशु विनिन्दितुमेव विभोर्गतमातपवारणतां श्रितयोः । रविरिद्धवपुः स पुरायकर्ति समशिश्रियदङ्गविभामिमतः ॥ ६८ ॥

"चन्द्रमा शीघ्र ही भगवानके छत्रत्रयकी अवस्थाको प्राप्त हो गया है" यह देखकर ही मानो अतिशय देदीप्यमान सूर्य भगवानके अङ्गोंकी प्रभाके छलसे पुराण कर्ता भगवान् वृषभदेवकी सेवा करने लगा था। भावार्थ—भगवानका छत्रत्रय चन्द्रमाके समान था और प्रभामण्डल सूर्यके समान था ॥ ६८ ॥

दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत् । भव्यमनोगतमोहतमोघ्नः स्फारयन्नमलं नयमार्गम् ॥ ६९ ॥

भगवानके मुखरूपी कमलसे बादलोंकी गर्जनाका अनुकरण करती हुई अतिशययुक्त महादिव्यध्वनि निकल रही थी और वह भव्य जीवोंके मनमें स्थित मोहरूपी अंधकारको नष्ट करती हुई न्यायके समान सुशोभित हो रही थी ॥ ६९ ॥

एकतयापि च या सकलैर्मनुजैः समवगम्यत सर्वजनैः । अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्वं बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना ॥ ७० ॥

यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकारकी थी तथापि भगवानके माहात्म्यसे समस्त मनुष्योंकी भाषाओं और अनेक कुभाषाओंको अपने अन्तर्भूत कर रही थी अर्थात् सर्वभाषारूप परिणमन कर रही थी और उनका अज्ञान दूर कर उन्हें तत्त्वोंका बोध करा रही थी ॥ ७० ॥

एकतयोऽपि पतन् जलौघश्चित्ररसो भवति द्रुमभेदात् । पात्रविशेषवशाच्च ततोऽयं सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्वम् ॥ ७१ ॥

जिस प्रकार एक ही प्रकारका जलका प्रवाह वृक्षोंके भेदसे अनेक रसवाला हो जाता है उसी प्रकार सर्वज्ञदेवकी वह दिव्यध्वनि भी पात्रोंके भेदसे अनेक प्रकारकी हो जाती थी ॥ ७१ ॥

> एकतयोऽपि यथा स्फटिकाश्मा यद्यदुपाहितमस्य विभासम् । स्वच्छतया स्वयमप्यनुधत्ते विश्वबुधोऽपि तथा ध्वनिरुच्चैः ॥ ७२ ॥

अथवा जिस प्रकार स्फटिक मणि एक ही प्रकारका होता है तथापि उसके पास जो-जो रंगदार पदार्थ रख दिये जाते हैं वह अपनी स्वच्छतासे अपने आप उन-उन पदार्थोंके रंगोंको धारण कर लेता है उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवानकी वह महान् दिव्यध्वनि भी यद्यपि एक प्रकारकी होती है तथापि श्रोताओंके भेदसे वह अनेक रूप धारण कर लेती थी ॥ ७२ ॥

> देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद् देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात् । साक्षर एव च वर्णसमूहास्तन्न विनाऽर्थगतिर्जगति स्यात् ॥ ७३ ॥

कोई-कोई लोग ऐसा कहते हैं कि वह दिव्यध्वनि देवोंके द्वारा की जाती है परन्तु उनका वह कहना मिथ्या है क्योंकि वैसा माननेपर भगवानके गुणका घात हो जायेगा अर्थात् वह भगवानका गुण नहीं कहलायेगा, देवकृत होनेसे देवोंका कहलायेगा। इसके सिवाय वह दिव्यध्वनि अक्षररूप ही है क्योंकि अक्षरोंके समूहके बिना लोकमें अर्थका परिज्ञान नहीं होता ॥ ७३ ॥

> सेयं विभोस्त्रिभुवनेश्वरस्य भक्त्या देवे कारयामास भूतिम् । दिव्यास्थानी देवराजोपसेव्यामध्यास्तैनां श्रीपतिर्विश्वदृश्वा ॥ ७४ ॥

इस प्रकार तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् वृषभदेवकी ऐसी विभूति इन्द्रने भक्तिपूर्वक देवोंसे करायी थी, और अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीके अधिपति सर्वज्ञदेव इन्द्रोंके द्वारा सेवनीय उस समवसरण भूमिमें विराजमान हुए थे ॥ ७४ ॥

> सर्वः साक्षात् सकलं वस्तुतत्त्वं विद्वान् विद्वज्जनतावन्दिताङ्घ्रिः । तत्रामरैर्हरिभिर्व्यात्तवक्त्रैरद्रेर्भेजे जगतां बोधनाय ॥ ७५ ॥

जो समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानते हैं और अनेक विद्वान् लोग जिनके चरणोंकी वन्दना करते हैं ऐसे वे भगवान् वृषभदेव जगत्के जीवोंको उपदेश देनेके लिए मुख फाड़े सिंहोंके द्वारा धारण किये हुए सुवर्णमय सिंहासनपर अधिरूढ़ हुए थे ॥ ७५ ॥

> दृष्ट्वा देवाः समवसरिमहीं चक्रुर्भक्त्या परिगतिमूचिताम् । त्रिः प्रदक्षिणतः प्रमुदितमनसो देवं द्रष्टुं विविशुरथ सभाम् ॥ ७६ ॥

इस प्रकार समवसरण भूमिको देखकर देव लोग बहुत ही प्रसन्नचित्त हुए, उन्होंने भक्तिपूर्वक तीन बार चारों ओर फिरकर उचित रीतिसे प्रदक्षिणाएँ दीं और फिर भगवानके दर्शन करनेके लिए उस सभाके भीतर प्रवेश किया ॥ ७६ ॥

> व्योममार्गपरिरोधिकेतनैः संमिमार्जिषुरिवाखिलं नभः । धूलिसालवलयेन शोभिता सन्ततामरधनुर्धृतामिव ॥ ७७ ॥

जो कि आकाशमार्गको उल्लंघन करनेवाली पताकाओंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो समस्त आकाशको झाड़कर साफ ही करना चाहती हो और धूलीसालके घेरेसे घिरी होनेके कारण ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो निरन्तर इन्द्रधनुषसे ही घिरी रहती हो ॥ ७७ ॥

> स्तम्भशृङ्गपरमानवास्थितान् या स्म धारयति खाग्रलङ्घिनः । स्वर्गलोकमिव सेवितुं विभुं आह्वयद्भिः शुभ्रकेतुभिः ॥ ७८ ॥

वह सभा आकाशके अग्रभागको भी उल्लंघन करनेवाले चार मानस्तम्भोंको धारण कर रही थी तथा उन मानस्तम्भोंपर लगी हुई निर्मल पताकाओंसे ऐसी जान पड़ती थी मानों भगवानकी सेवा करनेके लिए स्वर्गलोकको ही बुलाना चाहती हो ॥ ७८ ॥

> स्वच्छवारिशिशिराः सरसीश्च या बिभ्रद्विकसितोत्पलनेत्राः । जन्तुमोदमसुराऽन्तकमुच्चैर्नेत्रपङ्क्तिमिव संघटयन्ती ॥ ७९ ॥

वह सभा स्वच्छ तथा शीतल जलसे भरी हुई तथा नेत्रोंके समान प्रफुल्लित कमलोंसे युक्त अनेक सरोवरोंको धारण किये हुए थी और उनसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो जन्म, जरा, मरणरूपी असुरोंका अन्त करनेवाले भगवान् वृषभदेवका दर्शन करनेके लिए नेत्रोंकी पंक्तियाँ ही धारण कर रही हो ॥ ७९ ॥

खातिकां जलविहङ्गविरावैरुद्गतैश्च विततोर्मिकरोधः । या दधे जिनमुपासितुमिन्द्रान् आह्वयद्भिरिव निर्मलतोयाम् ॥ ८० ॥

वह समवसरण भूमि निर्मल जलसे भरी हुई, जलपक्षियोंके शब्दोंसे शब्दायमान तथा ऊपर उठती हुई बड़ी-बड़ी लहरोंके समूहसे युक्त परिखाको धारण कर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो लहरोंके समूहरूपी हाथ ऊँचे उठाकर जलपक्षियोंके शब्दोंके बहाने भगवानकी सेवा करनेके लिए इन्द्रोंको ही बुलाना चाहती हो ॥ ८० ॥

बहुविधवनकृतिकान्तिकान्तं सदमधुकरविरुतातोद्यम् । वनमुपवहति स्म वल्लीनां स्मितमिव कुसुमचितं या स्म ॥ ८१ ॥

वह भूमि अनेक प्रकारकी नवीन लताओंसे सुशोभित, मदोन्मत्त भ्रमरोंके मधुर शब्दरूपी बाजोंसे सहित तथा फूलोंसे व्याप्त लताओंके वन धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानों मन्द-मन्द हँस ही रही हो ॥ ८१ ॥

सालमाद्यमुच्चगोपुरोद्गमं दीप्यमानमभितः स्म हैमनम् । हैमनाकंसौम्यदीप्तिमुन्नतिं मूकवैरिव या प्रदर्शिका ॥ ८२ ॥

वह भूमि ऊँचे-ऊँचे गोपुर-द्वारोंसे सहित देदीप्यमान सुवर्णमय पहले कोटको धारण कर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानों भगवान् वृषभदेवकी हेमन्तऋतुके सूर्यके समान अतिशय सौम्य दीप्ति और उन्नतिको अक्षरोंके बिना ही दिखला रही हो ॥ ८२ ॥

शरद्घनसमश्रियौ नर्तकी तडिद्विलसिते इव नाट्यशाले । दधाति रुचिरे स्म योपासितुं जिनेन्द्रमिव भक्तिसंभाविता ॥ ८३ ॥

वह समवसरणभूमि प्रत्येक महावीथीके दोनों ओर शरद्ऋतुके बादलोंके समान स्वच्छ और नृत्य करनेवाली देवाङ्गनाओंरूपी बिजलियोंसे सुशोभित दो-दो मनोहर नाट्यशालाएँ धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवानकी उपासना करनेके लिए ही उन्हें धारण कर रही हो ॥ ८३ ॥

> घटीद्वन्द्वमुपात्तधूपकं बभार या द्विकस्तनयुग्मसंनिभम् । जिनस्य पुरतः श्रुतदेवता स्वयं तथा स्थितेव त्रिजगच्छ्रिया समम् ॥ ८४ ॥

वह भूमि नाट्यशालाओंके आगे दो-दो धूपघट धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनेन्द्र भगवानकी सेवाके लिए तीनों लोकोंकी लक्ष्मीके साथ-साथ सरस्वती देवी ही वहाँ बैठी हों और वे घट उन्हींके स्तनयुग्म हों ॥ ८४ ॥

> रम्यं वनं भृङ्गसमूहसेवितं बभ्रे चतुः संख्यमुपात्तकान्तिकम् । वसनं विनीलं परिधाय तन्निभाद् वरेण्यमाराधयितुं स्थितेव या ॥ ८५ ॥

वह भूमि भ्रमरोंके समूहसे सेवित और उत्तम कान्तिको धारण करनेवाले चार सुन्दर वन भी धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो उन वनोंके बहानेसे नील वस्त्र पहनकर भगवान्की आराधना करनेके लिए ही खड़ी हो ॥ ८५ ॥

> उपवनसरसीनां बालपद्मैर्युवतिमुखशोभामाहसन्ती । अभित इव वनवेदीं रत्नदीप्तां युवतितिरिव कटीस्थां काञ्चीं बभार ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार कोई तरुण स्त्री अपने कटि भागपर करधनी धारण करती है उसी प्रकार उपवनकी सरोवरियोंमें फूले हुए छोटे-छोटे कमलोंके बहाने युवतियोंके मुखकी शोभाकी ओर हँसती हुई वह समवसरण भूमि रत्नोंसे देदीप्यमान वनवेदिकाको धारण कर रही थी ॥ ८६ ॥

> ध्वजास्ततदिगम्बराः परिगता दश ध्वजनिवेशनेर्दशतयैः । जिनस्य महिमानमारचयितुं नभोऽङ्गणमिवामृजत्यतिबभौ ॥ ८७ ॥

ध्वजाओंके मस्तकपर आकाशको व्याप्त करनेवाली दस प्रकारकी ध्वजाओंसे सहित वह भूमि ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवानकी महिमा रचनेके लिए आकाशरूपी आँगनको साफ ही कर रही हो ॥ ८७ ॥

> खमिव तरलं कुसुमाद्यं या वनमतिरम्यं सुरभूरुहाणाम् । सह वेदिकां परतः प्राकारं व्यक्तमुद्वा सुकृतारामम् ॥ ८८ ॥

ध्वजाओंकी भूमिके बाद द्वितीयकोटके चारों ओर वनवेदिकासहित कल्पवृक्षोंका अत्यन्त मनोहर वन था, वह फूलोंसे सहित था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओंसे सहित आकाश ही हो। इस प्रकार पुण्यके बगीचेके समान उस वनको धारण कर वह समवसरणभूमि बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ ८८ ॥

> भवनं च यस्मात् परतो दीप्तं स्फुरदुरुरत्नं भवनाभोगम् । मणिमयदेहान्नव च स्तूपान् भुवनविजित्यायिव बद्धेच्छा ॥ ८९ ॥

उस वनके आगे वह भूमि, जिसमें अनेक प्रकारके चमकते हुए बड़े-बड़े रत्न लगे हुए हैं ऐसे देदीप्यमान मकानोंको तथा मणियोंसे बने हुए नौ-नौ स्तूपोंको धारण कर रही थी और उससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानों जगत्को जीतनेके लिए ही उसने इच्छा की हो ॥ ८९ ॥

> स्फटिकमयं या रुचिरं सालं प्रविततमूर्तिः खमणिसुभित्तीः । उपरि विलोक्य त्रिजगद्धाहि श्रीमण्डपं चाप सदनं लक्ष्म्याः ॥ ९० ॥

उसके आगे वह भूमि स्फटिक मणिके बने हुए सुन्दर कोटको, अतिशय विस्तारवाली आकाशस्फटिकमणिकी बनी हुई दीवालोंको और उन दीवालोंके ऊपर बने हुए, तथा तीनों लोकोंके लिए अवकाश देनेवाले अतिशय श्रेष्ठ श्रीमण्डपको धारण कर रही थी ॥ ९० ॥

> समं देववर्यैः पराध्योरुशोभां प्रपश्यंस्तदैनां महीं विस्मिताक्षः । प्रविष्टो महेन्द्रः प्रणष्टप्रमोहं जिनं द्रष्टुकामो महत्या विभूत्या ॥ ९१ ॥

इस प्रकार उत्कृष्ट शोभाको धारण करनेवाली उस समवसरण भूमिको देखकर जिसके नेत्र विस्मयको प्राप्त हुए हैं ऐसा वह सौधर्मेन्द्र मोहनीय कर्मको नष्ट करनेवाले जिनेन्द्रभगवानके दर्शनोंकी इच्छासे बड़ी भारी विभूतिपूर्वक उत्तम-उत्तम देवोंके साथ-साथ भीतर प्रविष्ट हुआ ॥ ९१ ॥

अथापश्यदुच्चैर्ज्वलत्पीठमूर्ध्नि स्थितं देवदेवं चतुर्वक्त्रशोभम् । सुरेन्द्रैर्नरैन्द्रैर्मुनीन्द्रैश्च वन्द्यं जगत्सृष्टिसंहारयोर्हेतुमाद्यम् ॥ ९२ ॥

अथानन्तर—जो ऊँची और देदीप्यमान पीठिकाके ऊपर विराजमान थे, देवोंके भी देव थे, चारों ओर दीखनेवाले चार मुखोंकी शोभासे सहित थे, सुरेन्द्र, नरेन्द्र और मुनीन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय थे, और जगत्‌की मोक्षमार्गरूपी सृष्टिको उत्पन्न करनेवाले तथा पापरूपी सृष्टिको संहार करनेवाले मुख्य कारण थे—

शरच्चन्द्रबिम्बप्रतिस्पर्धिवक्त्रं शरज्ज्योत्स्नयेव स्वकान्त्यातिकान्तम् । नवोत्फुल्लनीलाब्जसंशोभि नेत्रं सरः साब्जनीलोत्पलं व्याहसन्तम् ॥ ९३ ॥

जिनका मुख शरद् ऋतुके चन्द्रमण्डलके साथ स्पर्धा कर रहा था, जो शरद्ऋतुकी चाँदनीके समान अपनी कान्तिसे अतिशय शोभायमान थे, जिनके नेत्र नवीन फूले हुए नील कमलोंके समान सुशोभित थे और उनके कारण जो श्वेत तथा नील-कमलोंसे सहित सरोवरकी हँसी करते हुए-से जान पड़ते थे—

ज्वलद्भासुराङ्गं स्फुरद्भांशुबिम्बप्रतिद्वन्द्वि देहप्रभाम्भोधिनिमग्नम् । समुत्तुङ्गकायं सुराराधनीयं महामेरुरूपं सुचामीकराभम् ॥ ९४ ॥

जिनका शरीर अतिशय प्रकाशमान और देदीप्यमान था, जो चमकते हुए सूर्यमण्डलके साथ स्पर्धा करनेवाली अपने शरीरकी प्रभारूपी समुद्रमें निमग्न हो रहे थे, जिनका शरीर अतिशय ऊँचा था, जो देवोंके द्वारा आराधना करने योग्य थे, सुवर्ण-जैसी उज्ज्वल कान्तिके धारण करनेवाले थे और इसीलिए जो महामेरुके समान जान पड़ते थे—

विशालोरुवक्षःस्थलस्पारलक्ष्म्या जगद्भर्तृतां सूचयन्तं विना वाक् । निराहारवेषं निरस्तोरुभूषं निरक्षाक्षबोधं निरुद्धास्वरोधम् ॥ ९५ ॥

जो अपने विशाल वक्षःस्थलपर स्थित रहनेवाली अनन्तचतुष्टयरूपी आत्मलक्ष्मीसे शब्दोंके बिना ही तीनों लोकोंके स्वामित्वको प्रकट कर रहे थे, जो कवलाहारसे रहित थे, जिन्होंने सब आभूषण दूर कर दिये थे, जो इन्द्रिय ज्ञानसे रहित (अतीन्द्रिय ज्ञानी) थे, और जिन्होंने ज्ञानावरण आदि कर्मोंको नष्ट कर दिया था—

> विभावसोर्बिम्बस्य मध्यभाजं प्रकीर्णकैः सुरैर्वीज्यमानम् । ध्वनद्दुन्दुभिध्वानिनिर्घोषरम्यं
> सवीचीचयोन्मिश्रितं पयोधिं वदन्तम् ॥ ९६ ॥

जो सूर्यके समान देदीप्यमान रहनेवाली प्रभाके मध्यमें विराजमान थे, देवगण जिनपर अनेक चमरोंके समूह ढुरा रहे थे, बजते हुए दुन्दुभिबाजोंके शब्दोंसे जो अतिशय मनोहर थे और इसीलिये जो शब्द करती हुई अनेक लहरोंसे युक्त समुद्रके तटके समान जान पड़ते थे—

> सुरोत्मुक्तपुष्पैस्ततप्रान्तदेशं महाशोकशाखाश्रितोत्तङ्गमूर्तिम् । स्वकल्पद्रुमोद्यानमुक्तप्रसूनस्ततान्तं
> सुमेरुं रुचा ह्रेपयन्तम् ॥ ९७ ॥

जिनके समीपका प्रदेश देवोंके द्वारा वर्षाये हुए पुष्पोंसे व्याप्त हो रहा था, जिनका ऊँचा शरीर बड़े भारी अशोकवृक्षके नीचे स्थित था और इसीलिए जिसका समीप प्रदेश अपने कल्पवृक्षोंके उपवनों-द्वारा छोड़े हुए फूलोंसे व्याप्त हो रहा है ऐसे सुमेरु पर्वतको अपनी कान्तिके द्वारा लज्जित कर रहे थे—

> प्रविस्तारिशुभ्रातपत्रत्रयेण स्फुरन्मौक्तिकेनाहते द्युस्थितेन । स्वमाहात्म्यमैश्वर्यमुद्यद्यशश्च स्फुटीकर्तुमीशं
> तमीशानमाद्यम् ॥ ९८ ॥

और जो चमकते हुए मोतियोंसे सुशोभित आकाशमें स्थित अपने विस्तृत तथा उज्ज्वल छत्रत्रयसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपना माहात्म्य, ऐश्वर्य और फैलते हुए यशको ही प्रकट कर रहे हों, ऐसे उन आदि ईश प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवको उस सौधर्मेन्द्रने देखा ॥ ९२-९८ ॥

> प्रनम्याथ दूराद् नतस्वोत्तमाङ्गाः सुरेन्द्राः प्रणेमुर्महीस्पृष्टजानु । किरीटाग्रभाजां स्रजां
> मालिकाभिर्जिनेन्द्राङ्घ्रियुग्मं प्रवार्चयन्तः ॥ ९९ ॥

दर्शन कर दूरसे ही जिन्होंने अपने मस्तक नम्रीभूत कर लिये हैं ऐसे इन्द्रोंने जमीनपर घुटने टेककर उन्हें प्रणाम किया; प्रणाम करते समय वे इन्द्र ऐसे जान पड़ते थे मानों अपने मुकुटोंके अग्रभागमें लगी हुई मालाओंके समूहसे जिनेन्द्र भगवानके दोनों चरणोंकी पूजा ही कर रहे हों ॥ ९९ ॥

तदार्हत्प्रणामे समुत्फुल्लनेत्राः कृतैः स्मेरहासैः शुचिस्मेरवक्त्राः । सजन्तो वनालिः सपद्मोत्पलैः स्वैः कुलाद्रीनरेन्द्रैः सुमेरोरिवार्हाः ॥ १०० ॥

उस समय अरहन्त भगवानको प्रणाम करते समय जिनके नेत्र हर्षसे प्रफुल्लित हो गये और मुख सफेद मन्द हास्यसे युक्त हो रहे थे इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो जिनमें सफेद और नील कमल खिले हुए हैं ऐसे अपने सरोवरोंके साथ-साथ कुलाचल पर्वत सुमेरु पर्वतकी ही सेवा कर रहे हों ॥ १०० ॥

शची चाप्सरोशेषदेवीसमेता जिनाङ्घ्रिद्वयोः प्रणामं प्रकाराञ्चयन्ती । स्ववक्त्रोरुपद्मैः स्वनेत्रोत्पलैश्च विशुद्धैः सभावप्रसूनैरनूनैः ॥ १०१ ॥

उसी समय अप्सराओं तथा समस्त देवियोंसे सहित इन्द्राणीने भी भगवानके चरणोंको प्रणाम किया था; प्रणाम करते समय वह इन्द्राणी ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने प्रफुल्लित हुए मुखरूपी कमलोंसे, नेत्ररूपी नील कमलोंसे और विशुद्ध भावरूपी बहुत भारी पुष्पोंसे भगवानकी पूजा ही कर रही हो ॥ १०१ ॥

जिनेन्द्राङ्घ्रिपद्मौ नखांशुप्रतानैः सुरानास्पृशन्तौ समेत्याधिमूर्धम् । अजाम्लानमूर्ध्या स्वशेषां पवित्रां शिरःस्वार्पयेतां मिषानुग्रहीतुम् ॥ १०२ ॥

जिनेन्द्र भगवानके दोनों ही चरणकमल अपने नखोंकी किरणोंके समूहसे देवोंके मस्तकपर आकर उन्हें स्पर्श कर रहे थे और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानों कभी म्लान न होनेवाली अक्षतके बहानेसे अनुग्रह करनेके लिए उन देवोंके मस्तकोंपर शेषाक्षत ही अर्पण कर रहे हों ॥ १०२ ॥

जिनेन्द्राङ्घ्रिभासा पवित्रीकृतास्ते स्वमूर्ध्नः सुरेन्द्राः प्रणम्यातिमक्त्या । नखांशुप्रतानाम्बुलब्धाभिषेकं समुत्तङ्गमूर्ध्न्युत्तमं चोत्तमाङ्गम् ॥ १०३ ॥

वे इन्द्र लोग अतिशय भक्तिपूर्वक प्रणाम करते समय जो जिनेन्द्रभगवानके चरणोंकी कान्तिसे पवित्र किये गये हैं तथा उन्हींके नखोंकी किरणसमूहरूपी जलसे जिन्हें अभिषेक प्राप्त हुआ है ऐसे अपने उन्नत और अत्यन्त उत्तम मस्तकोंको धारण कर रहे थे। भावार्थ—प्रणाम करते समय इन्द्रोंके मस्तकपर जो भगवानके चरणोंकी प्रभा पड़ रही थी उससे वे उन्हें अतिशय पवित्र मानते थे, और जो नखोंकी कान्ति पड़ रही थी उससे उन्हें ऐसा समझते थे मानो उनका जलसे अभिषेक ही किया गया हो, इस प्रकार वे अपने उत्तमाङ्ग अर्थात् मस्तकको वास्तवमें उत्तमाङ्ग अर्थात् उत्तम अंग मानकर ही धारण कर रहे थे ॥ १०३ ॥

> नखांशूत्करस्याभ्रमण्याब्जशोभां पुलोमात्मजा साप्सरा भक्तिनम्रा । स्तनोपान्तलग्नं समूहेंऽशुके तस्प्रदासायमानं लसन्मुक्तिकक्ष्याः ॥ १०४ ॥

इन्द्राणी भी जिस समय अप्सराओंके साथ भक्तिपूर्वक नमस्कार कर रही थी उस समय देदीप्यमान मुक्तिरूपी लक्ष्मीके उत्तम हास्यके समान आचरण करनेवाला और स्वभावसे ही सुन्दर भगवानके नखोंकी किरणोंका समूह उसके स्तनोंके समीप भागमें पड़ रहा था और उससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो सुन्दर वस्त्र ही धारण कर रही हो ॥ १०४ ॥

> प्रणामक्षणे ते सुराग्र्या विरेजुः स्वदेवीसमेता उज्ज्वलद्भूषणाङ्गाः । महाकल्पवृक्षाः समं कल्पवल्लीं समेत्येव भव्यं जिनं सेवमानाः ॥ १०५ ॥

अपनी-अपनी देवियोंसे सहित तथा देदीप्यमान आभूषणोंसे सुशोभित वे इन्द्र प्रणाम करते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानों लताओंके साथ बड़े-बड़े कल्पवृक्ष ही भगवानकी सेवा कर रहे हों ॥ १०५ ॥

> अथोत्थाय हृष्टाः सुरेन्द्राः स्वहस्तैर्जिनेन्द्रस्याङ्घ्रिपूजां व्यधुः प्रतीताः । सुगन्धैः समाल्यैः सधूपैः सदीपैः सदिव्याक्षतैः प्राज्यपीयूषपिण्डैः ॥ १०६ ॥

अथानन्तर इन्द्रोंने बड़े सन्तोषके साथ खड़े होकर श्रद्धायुक्त हो अपने ही हाथोंसे गन्ध, पुष्पमाला, धूप, दीप, सुन्दर अक्षत और उत्कृष्ट अमृतके पिण्डों-द्वारा भगवानके चरणकमलोंकी पूजा की ॥ १०६ ॥

> सुरोरङ्गवृत्या तते भूमिभागे सुरेन्द्रोपनीता बभौ सा सपर्या । शुचिद्रव्यसंपत्समस्तेव यस्याः पदोपास्तिमिच्छुः श्रिता तच्छलेन ॥ १०७ ॥

विस्तारसे व्याप्त हुई भगवानके आगेकी भूमिपर इन्द्रोंके द्वारा समर्पित वह पूजाकी सामग्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो उसके छलसे संसारकी समस्त द्रव्यरूपी सम्पदाएँ भगवानके चरणोंकी उपासनाकी इच्छासे ही वहाँ आयी हों ॥ १०७ ॥

शची रत्नचूर्णैर्बलिं वर्तयन्ती ततानोर्ध्वमयूखप्ररोहैर्विचित्राम् । मृदुस्निग्धचित्रैरनूनैः सुरेन्द्रायुधानामिवांशून् विचित्रांश्च चूर्णैः ॥ १०८ ॥

इन्द्राणीने भगवानके आगे कोमल, चिकने और सूक्ष्म अनेक प्रकारके रत्नोंके चूर्णसे मण्डल बनाया था, वह मण्डल ऊपरकी ओर उठती हुई किरणोंके अंकुरोंसे चित्र-विचित्र हो रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्रधनुषके कोमल चूर्णसे ही बना हो ॥ १०८ ॥

ततो न्यस्यति स्म प्रणीतं पयो रत्नभृङ्गारनालोद्गतं सा । सिता स्वान्तवृत्तिप्रसन्नामिवाच्छां जिनेन्द्रोपरि संपातयामास भक्त्या ॥ १०९ ॥

तदनन्तर इन्द्राणीने भक्तिपूर्वक भगवानके चरणोंके समीपमें देदीप्यमान रत्नोंके झारीके नालसे निकलती हुई पवित्र जलधारा छोड़ी। वह जलधारा इन्द्राणीके समान ही पवित्र थी और उसीकी मनोवृत्तिके समान प्रसन्न तथा स्वच्छ थी ॥ १०९ ॥

स्वभूद्भूतगन्धैः सुगन्धीकृताशो भ्रमद्भृङ्गमालाकृतारावरम्यः । जिनाङ्घ्रौ स्मरन्त्या विभोः पादपीठं सुरद्रोद्भवाम्भोभिरर्चयति स्म तदा ॥ ११० ॥

उसी समय इन्द्राणीने जिनेन्द्रभगवानके चरणोंका स्मरण करते हुए भक्तिपूर्वक जिसने समस्त दिशाएँ सुगन्धित कर दी थीं, तथा जो फिरते हुए भ्रमरोंकी पंक्तियों-द्वारा किये हुए शब्दोंसे बहुत ही मनोहर जान पड़ती थी ऐसी स्वर्गलोकमें उत्पन्न हुई मन्दारमालासे भगवानके पादपीठ (सिंहासन) की पूजा की थी ॥ ११० ॥

व्यधास्मौक्तिकीयैर्दिशोस्तण्डुलैश्च शुचिस्वान्तहर्षैरिव स्वच्छभाभिः । तथाम्लानमन्दारमालाशतैश्च प्रसूनैः पादपूजामकार्षीत् प्रहर्षात् ॥ १११ ॥

इसी प्रकार अपने चित्तकी प्रसन्नताके समान स्वच्छ कान्तिको धारण करनेवाले मोतियोंके समूहोंसे भगवानकी अक्षतोंसे होनेवाली पूजा की तथा कभी नहीं मुरझानेवाली कल्पवृक्षके फूलोंकी सैकड़ों मालाओंसे बड़े हर्षके साथ भगवानके चरणोंकी पूजा की ॥ १११ ॥

ततो रत्नदीपैर्जिनाङ्गद्युतीनां प्रसर्पेण मन्दीकृतात्मप्रकाशैः । जिनाङ्घ्रौ प्रार्चयद्भक्तिनिघ्ना न भक्ता हि युक्तं विदन्त्यप्ययुक्तम् ॥ ११२ ॥

तदनन्तर भक्तिके वशीभूत हुई इन्द्राणीने जिनेन्द्र भगवानके शरीरकी कान्तिके प्रसारसे जिनका निजी प्रकाश मन्द पड़ गया है ऐसे रत्नमय दीपकोंसे जिनेन्द्ररूपी सूर्यकी पूजा की थी सो ठीक ही है क्योंकि भक्तपुरुष योग्य अथवा अयोग्य कुछ भी नहीं देखते। भावार्थ—यह कार्य करना योग्य है अथवा अयोग्य, इस बातका विचार भक्तिके सामने नहीं रहता। यही कारण था कि इन्द्राणीने जिनेन्द्ररूपी सूर्यकी पूजा दीपकों-द्वारा की थी ॥ ११२ ॥

ततः कांस्यपात्रे च पीयूषपिण्डं सधूपं ददे ज्वलद्दीपदीप्तम् । समाङ्गं शशाङ्कं सताराभिसंव्याप्तं जिनाग्रे समानेतुं समीपमासत् ॥ ११३ ॥

तदनन्तर इन्द्राणीने धूप तथा जलते हुए दीपकोंसे देदीप्यमान और बड़े भारी थालमें रखा हुआ, सुशोभित अमृतका पिण्ड भगवानके लिए समर्पित किया; वह थालमें रखा हुआ, धूप तथा दीपकोंसे सुशोभित अमृतका पिण्ड ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओंसे सहित और राहुसे आलिंगित चन्द्रमा ही जिनेन्द्रभगवानके चरणोंके समीप आया हो ॥ ११३ ॥

फलैरप्यनल्पैस्तताामोदरम्यैर्ध्वनद्भृङ्गयूथैरुपसेव्यमानैः । जिनेशं गातुकामैरिवातिप्रमोदात् फलान्यर्चयामास सुत्रामजाया ॥ ११४ ॥

तदनन्तर जो चारों ओर फैली हुई सुगन्धिसे बहुत ही मनोहर थे और जो गुञ्जार करते हुए भ्रमरोंके समूहोंसे सेवनीय होनेके कारण ऐसे जान पड़ते थे मानो भगवानका यश ही गा रहे हों ऐसे अनेक फलोंके द्वारा इन्द्राणीने बड़े भारी हर्षसे भगवानकी पूजा की थी ॥ ११४ ॥

इतीत्थं स्वभक्त्या सुरैरर्चितेऽर्हन् किमेभिस्तु कृत्यं कृतार्थस्य भर्तुः । विरागो न तुष्यत्यपि द्वेष्टि चासौ तथाप्येष स्वभक्तानहो योयुजीति ॥ ११९ ॥

इसी प्रकार देवोंने भी भक्तिपूर्वक भगवान् अर्हन्तकी पूजा की थी परन्तु कृतकृत्य भगवानको इन सबसे क्या प्रयोजन था? वे यद्यपि वीतराग थे न किसीसे सन्तुष्ट होते थे और न किसीसे द्वेष करते थे तथापि अपने भक्तोंको इष्टफलोंसे युक्त कर ही देते थे यह एक आश्चर्यकी बात थी ॥ ११९ ॥

> अथोच्चैः सुरेशा गिरामिशितारं जिनं स्तोतुकामाः प्रहृष्टास्तरङ्गाः । वचःसूनमालामिमां चित्रवर्णां समुच्चिक्षिपुर्भक्तिहस्तैरिति स्म ॥ ११६ ॥

अथानन्तर—जिन्हें समस्त विद्याओंके स्वामी जिनेन्द्रभगवानकी स्तुति करनेकी इच्छा हुई ऐसे वे बड़े-बड़े इन्द्र प्रसन्नचित्त होकर अपने भक्तिरूपी हाथोंसे चित्र-विचित्र वर्णोंवाली इस वचनरूपी पुष्पोंकी मालाको अर्पित करनेके लिए आगे लिखे अनुसार भगवानकी स्तुति करने लगे ॥ ११६ ॥

> जिननाथसंस्तवकृतौ भवतो वयमुद्यताः स्म गुणरत्ननिधेः । विधियोऽपि मन्दवचसोऽपि नृणां त्वयि भक्तिरेव फलतीष्टफलम् ॥ ११७ ॥

हे जिननाथ! यह निश्चय है कि आपके विषयमें की हुई भक्ति ही अभीष्ट फल देती है इसलिए हम लोग बुद्धिहीन तथा मन्दवचन होकर भी गुणरूपी रत्नोंके खजानेस्वरूप आपकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हो रहे हैं ॥ ११७ ॥

> मतिशक्तिसारकृतवाग्विभवस्तवयि भक्तिमेव वयमातनुमः । अमृताम्बुधेर्जडमपि न पुमांश्चिखिलं प्रपातुमिति किं न पिबेत् ॥ ११८ ॥

हे भगवन्! जिन्हें बुद्धिकी सामर्थ्यसे कुछ वचनोंका वैभव प्राप्त हुआ है ऐसे हम लोग इस समय आपकी भक्ति ही कर रहे हैं सो ठीक ही है क्योंकि जो पुरुष अमृतके समुद्रका सम्पूर्ण जल पीनेके लिए समर्थ नहीं है वह क्या अपनी सामर्थ्यके अनुसार थोड़ा भी नहीं पिये? अर्थात् अवश्य पिये ॥ ११८ ॥

> क्व वयं जडाः क्व च गुणाम्बुनिधिस्तव देव पाररहितः परमः । इति जानतोऽपि जिन सम्प्रति नस्त्वयि भक्तिरेव मुखरीकुरुते ॥ ११९ ॥

हे देव! कहाँ तो जड़ बुद्धि हम लोग, और कहाँ आपका पाररहित बड़ा भारी गुणरूपी समुद्र! हे जिनेन्द्र! यद्यपि इस बातको हम लोग भी जानते हैं तथापि इस समय आपकी भक्ति ही हम लोगोंको वाचाल कर रही है ॥ ११९ ॥

> गणभृद्भिरप्यगणितानणूंस्तव सद्गुणान्वयमभीष्टुमहे । किल चित्रमेतदथवा प्रभुतां तव संश्रितः किमिव नेशिशिषुः ॥ १२० ॥

हे देव! यह आश्चर्यकी बात है कि आपके जो बड़े-बड़े उत्तम गुण गणधरोंके द्वारा भी नहीं गिने जा सके हैं, उनकी हम स्तुति कर रहे हैं अथवा इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है क्योंकि जो मनुष्य आपकी प्रभुताको प्राप्त हुआ है वह क्या करनेके लिए समर्थ नहीं है? अर्थात् सब कुछ करनेमें समर्थ है ॥ १२० ॥

> तदियमीडितुं विदधाति नरं त्वयि निरूढतरा जिननिश्चला । प्रसृतभक्तिरपारगुणोदया स्तुतिपथेऽद्य ततो वयमुद्यताः ॥ १२१ ॥

हे जिनेन्द्र! आपके विषयमें उत्पन्न हुई अतिशय रूढ़, निश्चल और अपरिमित गुणोंका उदय करनेवाली विशाल भक्ति ही हम लोगोंको स्तुति करनेके लिए इच्छुक कर रही है और इसीलिए हम लोग आज आपकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हुए हैं ॥ १२१ ॥

> त्वमसि विश्वगगीश्वर विश्वसृट् त्वमसि विश्वगुणाम्बुधिरक्षयः । त्वमसि देव जगद्धितशासनः स्तुतिशतोऽनुगृहाण जिनेश नः ॥ १२२ ॥

हे ईश्वर! आप समस्त संसारके वागीश्वर हैं, कर्मभूमिरूप संसारकी रचना करनेवाले हैं, समस्त गुणोंके समुद्र हैं, अविनाशी हैं, और हे देव! आपका उपदेश जगत्‌के समस्त जीवोंका हित करनेवाला है, इसीलिए हे जिनेन्द्र! आप हम सबकी स्तुतिको स्वीकृत कीजिए ॥ १२२ ॥

> तव जिनार्क विभान्ति गुणांशवः सकलकर्मकलङ्कविनिःसृताः । घनवियोगविनिर्मलमूर्तयो दिनमणेरिव भासुरमानवः ॥ १२३ ॥

हे जिनेन्द्ररूपी सूर्य! जिस प्रकार मेघोंके हट जानेसे अतिशय निर्मल सूर्यकी देदीप्यमान किरणें सुशोभित होती हैं उसी प्रकार समस्त कर्मरूपी कलंकके हट जानेसे प्रकट हुई आपकी गुणरूपी किरणें अतिशय सुशोभित हो रही हैं ॥ १२३ ॥

> गुणमणींस्त्वमनन्ततयान्वितान् जिन समुद्वहसेऽतिविनिर्मलान् । जलधिरात्मगभीरजलाश्रितानिव मणीनमलाननणुत्विषः ॥ १२४ ॥

हे जिनेन्द्र! जिस प्रकार समुद्र अपने गहरे जलके भीतर आश्रित निर्मल और विशाल कान्तिके धारक मणियोंको धारण करता है उसी प्रकार आप अतिशय निर्मल अनन्तगुणरूपी मणियोंको धारण कर रहे हैं ॥ १२४ ॥

त्वमिमां संसृतिवल्लरिकामिततततामुरुदुःखफलप्रदाम् । जननरूग्ध्युजराकुसुमाचितां शमकरैर्भगवन्नुदपोपटः ॥ १२५ ॥

हे स्वामिन्! जो अत्यन्त विस्तृत है, बड़े-बड़े दुःखरूपी फलोंको देनेवाली है, और जन्म-मृत्यु तथा बुढ़ापारूपी फूलोंसे व्याप्त है ऐसी इस संसाररूपी लताको हे भगवन्! आपने अपने शान्तरूपी परिणामरूपी हाथोंसे उखाड़कर फेंक दिया है ॥ १२५ ॥

जिनवर मोहमहापृतनेशान् प्रबलतरांश्चतुरस्तु कषायान् । निशिततपोमयतीक्ष्णमहासिप्रहृतिभिराशुतरामजयस्त्वम् ॥ १२६ ॥

हे जिनवर! आपने मोहकी बड़ी भारी सेनाके सेनापति तथा अतिशय शूर-वीर चार कषायोंको तीव्र तपश्चरणरूपी पैनी और बड़ी तलवारके प्रहारोंसे बहुत शीघ्र जीत लिया है ॥ १२६ ॥

मनसिजशत्रुमजय्यमलक्ष्यं विरतिमयी निशितायुधततिस्ते । समरभरे विनिपातयति स्म त्वमसि ततो भुवनैकगरिष्ठः ॥ १२७ ॥

हे भगवन्! जो किसीके द्वारा जीता न जा सके और जो दिखाई भी न पड़े ऐसे कामदेवरूपी शत्रुको आपके चारित्ररूपी तीक्ष्ण हथियारोंके समूहने मार गिराया है इसलिए तीनों लोकोंमें आप ही सबसे श्रेष्ठ गुरु हैं ॥ १२७ ॥

जितमदनस्य तवेश महत्त्वं वपुरिदमेव हि शास्ति मनोज्ञम् । न विकृतिभाङ् न कटाक्षनिरीक्षा परमविकारमनाभरणोद्धतम् ॥ १२८ ॥

हे ईश्वर! जो न कभी विकारभावको प्राप्त होता है, न किसीको कटाक्षोंसे देखता है, जो विकाररहित है और आभरणोंके बिना ही सुशोभित रहता है ऐसा यह आपका सुन्दर शरीर ही कामदेवको जीतनेवाले आपके माहात्म्यको प्रकट कर रहा है ॥ १२८ ॥

विकुरुते हृदि यस्य मनोजः स विकुरुते स्फुटरागपरागः । विकृतिरनङ्गजिनस्तव नाभूद् दिनकरवान्भुवनैकगुरुस्तत् ॥ १२९ ॥

हे संसार-रहित जिनेन्द्र! कामदेव जिसके हृदयमें प्रवेश करता है वह प्रकट हुए रागरूपी परागसे युक्त होकर अनेक प्रकारकी विकारी चेष्टाएँ करने लगता है परन्तु कामदेवको जीतनेवाले आपके कुछ भी विकार नहीं पाया जाता है इसलिए आप तीनों लोकोंके मुख्य गुरु हैं ॥ १२९ ॥

> स किल विनृत्यति गायति वल्गत्यपलापति प्रहसत्यपि मन्दः । मदनवशो जितमन्मथ ते तु प्रशमसुखं वपुरेव निराह ॥ १३० ॥

हे कामदेवको जीतनेवाले जिनेन्द्र! जो मूर्ख पुरुष कामदेवके वश हुआ करता है वह नाचता है, गाता है, इधर-उधर घूमता है, सत्य बातको छिपाता है और जोर-जोरसे हँसता है परन्तु आपका शरीर इन सब विकारोंसे रहित है इसलिए यह शरीर ही आपके शान्तिसुखको प्रकट कर रहा है ॥ १३० ॥

> विरहितमानमत्सरं तवेदं वपुरपरागं मलरहितम् । तव भुवनेशवरत्वमपरागं प्रकटयति स्फुटं निकृतिहीनम् ॥ १३१ ॥

हे मान और मात्सर्यभावसे रहित भगवन्! पापरूपी धूलिसे रहित, कलहरूपी पंकको नष्ट करनेवाला, रागरहित और छलरहित आपका यह शरीर आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं इस बातको स्पष्टरूपसे प्रकट कर रहा है ॥ १३१ ॥

> वपुरखिलसकलशोभासमुदयमस्तवस्त्रमपि रम्यम् । अतिरुचिरस्य रत्नमणिराशेरपवरणं किमिवोचितं दीप्तेः ॥ १३२ ॥

हे नाथ! जिसमें समस्त शोभाओंका समुदाय मिल रहा है ऐसा यह आपका शरीर वस्त्ररहित होनेपर भी अत्यन्त सुन्दर है सो ठीक ही है क्योंकि विशाल कान्तिको धारण करनेवाले अतिशय देदीप्यमान रत्न मणियोंकी राशिको वस्त्र आदिसे ढक देना क्या किसीको अच्छा लगता है? अर्थात् नहीं लगता ॥ १३२ ॥

> स्वेदरहितं विहीनमलदोषं सुरुचिरलक्षणलक्षितं ते । क्षतजवियुक्तमस्ततिमिरालीव्यपगतधातु दृढसन्धि ॥ १३३ ॥

हे भगवन्! आपका यह शरीर पसीनेसे रहित है, मलरूपी दोषोंसे रहित है, अत्यन्त सुगन्धित है, उत्तम लक्षणोंसे सहित है, रक्तरहित है, अन्धकारके समूहको नष्ट करनेवाला है, सप्त धातुओंसे रहित है, और अत्यन्त सुदृढ़ वज्रवृषभनाराच संहनन (सन्धियों) से युक्त है—

> समचतुरस्रमप्रमितवीर्यं प्रियहितवाङ्निमेषपरिहीनम् । वपुरिदमच्छदिव्यमणिदीप्तं त्वमसि ततोऽधिदेवपदभागी ॥ १३४ ॥

तथा यह समचतुरस्र संस्थानवाला है, अपरिमित शक्तिका धारक है, प्रिय और हितकारी वचनोंसे सहित है, नेत्रोंके निमेष (पलक झपकने) से रहित है, और स्वच्छ दिव्य मणियोंके समान देदीप्यमान है, इसलिए आप देवाधिदेव पदको प्राप्त हुए हैं ॥ १३४ ॥

> इदमतिमानुषं तव शरीरं सकलविकारमोहमदहीनम् । प्रकटयतीश ते भुवनलब्धिमद्वितीयं कनककान्ति ॥ १३५ ॥

हे स्वामिन्! समस्त विकार, मोह और मदसे रहित तथा सुवर्णके समान कान्तिवाला आपका यह लोकोत्तर शरीर संसारको उल्लंघन करनेवाली आपकी अद्वितीय प्रभुताके वैभवको प्रकट कर रहा है ॥ १३५ ॥

> स्पृशति नहि भवन्तमघौघः परिगततेजसं वितिमिरम् । जगति भासमाने ज्वलदुरुमहसा प्रदीपायते ॥ १३६ ॥

हे अन्धकारसे रहित जिनेन्द्र! पापोंका समूह कभी आपको छूता भी नहीं है सो ठीक ही है क्योंकि क्या अन्धकारका समूह भी कभी सूर्यके सम्मुख जा सकता है? अर्थात् नहीं जा सकता। हे नाथ! आप इस जगतरूपी घरमें अपने देदीप्यमान विशाल तेजसे प्रदीपके समान आचरण करते हैं ॥ १३६ ॥

> पपात तेऽवतरणे समये लोकशानां पदविमशेषां रुध्वा । स्वर्गादारात् कनकमयी वा वृष्टिस्तन्वानासौ भुवनकुटीरस्यान्तः ॥ १३७ ॥

हे भगवन्! आपके स्वर्गसे अवतार लेनेके समय (गर्भकल्याणकके समय) रत्नोंकी धारा समस्त आकाशको रोकती हुई स्वर्गलोकसे शीघ्र ही इस जगत्रूपी कुटीके भीतर पड़ रही थी और वह ऐसी जान पड़ती थी मानो समस्त सृष्टिको सुवर्णमय ही कर रही हो ॥ १३७ ॥

ऐरावतकरदीर्घा रेजे धारा भजत जना दृष्येव । मूर्तीभूता तव जिनलक्ष्मीर्लोके संबोधं वा सपदि समातन्वाना ॥ १३८ ॥

हे जिनेन्द्र! ऐरावत हाथीकी सूँड़के समान लम्बी वह रत्नोंकी धारा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आपकी लक्ष्मी ही मूर्ति धारण कर लोकमें शीघ्र ही ऐसा सम्बोधन करा रही हो कि अरे मनुष्यों, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले इन जिनेन्द्र भगवानकी सेवा करो ॥ १३८ ॥

स्वर्गात् संभूता सुरकरमुक्ता व्योम्नि पौष्पी वृष्टिः सुरभितरा संरेजे । मत्तालीनां कलरुतमातन्वाना नाकस्त्रीणां नयनततिर्या भान्ती ॥ १३९ ॥

हे भगवन्! आपके जन्मके समय आकाशमें देवोंके हाथोंसे छोड़ी गयी अत्यन्त सुगन्धित और मदोन्मत्त भ्रमरोंकी मधुर गुंजारको चारों ओर फैलाती हुई जो पुष्पोंकी वर्षा हुई थी वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो देवाङ्गनाओंके नेत्रोंकी पंक्ति ही आ रही हो ॥ १३९ ॥

मेरोः शृङ्गे सुरपतिभिः स्वच्छाम्भोभिः कनकघटैर्गम्भीरैः । माहात्म्यं ते जगति वितन्वन् भावि स्वधौरैयैर्गुरुरभिषेकः पूतः ॥ १४० ॥

हे स्वामिन्! इन्द्रोंने मेरु पर्वतके शिखरपर क्षीरसागरके स्वच्छ जलसे भरे हुए सुवर्णके गम्भीर (गहरे) घड़ोंसे जगत्में आपका माहात्म्य फैलानेवाला आपका बड़ा भारी पवित्र अभिषेक किया था ॥ १४० ॥

तव निष्क्रान्तौ मणिमययानाधिरूढं वोढुं सन्नद्धा वयमिति नैतच्चित्रम् । आनिर्वाणान्नियतममी गौर्वाणाः किंकुर्वाणा ननु जिन कल्याणेषु ते ॥ १४१ ॥

हे जिन! तपकल्याणकके समय मणिमयी पालकीपर आरूढ़ हुए आपको ले जानेके लिए हम लोग तत्पर हुए थे इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है क्योंकि निर्वाण पर्यन्त आपके सभी कल्याणकोंमें ये देव लोग किङ्करोंके समान उपस्थित रहते हैं ॥ १४१ ॥

त्वं धातासि त्रिभुवनभर्तारस्त्वे कैवल्यार्क स्फुटमुदितेऽस्मिन् दीप्ते । आत्मानं जननजरान्तकारिं त्वां नमो गुणनिधिमग्र्यं लोके ॥ १४२ ॥

हे भगवन्! इस देदीप्यमान केवलज्ञानरूपी सूर्यका उदय होनेपर यह स्पष्ट प्रकट हो गया है कि आप ही धाता अर्थात् मोक्षमार्गकी सृष्टि करनेवाले हैं और आप ही तीनों लोकके स्वामी हैं। इसके सिवाय आप जन्म-जरारूपी रोगोंका अन्त करनेवाले हैं, गुणोंके खजाने हैं और लोकमें सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिए हे देव! आपको हम लोग बार-बार नमस्कार करते हैं ॥ १४२ ॥

त्वं मित्रं त्वमसि गुरुस्त्वमेव भर्ता त्वं धाता भुवनपितामहस्त्वमेव । त्वां ध्यायन् मरणसुखं प्रयाति जन्तुस्त्रायस्व त्रिजगत् त्वमद्य पातात् ॥ १४३ ॥

हे नाथ! इस संसारमें आप ही मित्र हैं, आप ही गुरु हैं, आप ही स्वामी हैं, आप ही धाता हैं और आप ही जगत्के पितामह हैं। आपका ध्यान करनेवाला जीव अवश्य ही मृत्युरहित सुख अर्थात् मोक्षसुखको प्राप्त होता है, इसलिए हे भगवन्! आज आप इन तीनों लोकोंको नष्ट होनेसे बचाइए—इन्हें ऐसा मार्ग बतलाइए जिससे ये जन्म-मरणके दुःखोंसे बचकर मोक्षका अनन्त सुख प्राप्त कर सकें ॥ १४३ ॥

परं पदं परमसुखोदयास्पदं विवित्सवश्चिरमिह योगिनोऽक्षरम् । त्वयोदितं जिन परमागमाक्षरं विचिन्वते भवविरतये सद्धियः ॥ १४४ ॥

हे जिनेन्द्र! परम सुखकी प्राप्तिके स्थान तथा अविनाशी उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को जाननेकी इच्छा करनेवाले उत्तम बुद्धिमान योगी संसारका नाश करनेके लिए आपके द्वारा कहे हुए परमागमके अक्षरोंका चिन्तवन करते हैं ॥ १४४ ॥

त्वयोदिते पथि जिन ये वितन्वते मुदं परां प्रमदपरम्परायुजः । त एव संसृतिलतिकां प्रवृद्धां ध्यायन्तो भवस्मृतिदहनार्चिषा दहुः ॥ १४५ ॥

हे जिनराज! जो मनुष्य आपके द्वारा बतलाये हुए मार्गमें परम अनुराग धारण करते हैं अथवा आनन्दकी परम्परासे युक्त होते हैं वे ही इस अतिशय विस्तृत संसाररूपी लताको आपके ध्यानरूपी अग्निकी ज्वालासे बिलकुल जला पाते हैं ॥ १४५ ॥

> वातोद्धूताः क्षीरपयोधेरिव वीचीर्वीक्ष्य मुहुश्चामरपङ्क्तीर्मदीयाः । पीयूषांशोर्दीप्तिततिसमे भवन्ति भव्या मुच्यन्ते संसृतिभाजो भवबन्धात् ॥ १४६ ॥

हे भगवन्! वायुसे उठी हुई क्षीरसमुद्रकी लहरोंके समान अथवा चन्द्रमाकी किरणोंके समूहके समान सुशोभित होनेवाली आपकी इन सफेद चमरोंकी पंक्तियोंको देखकर संसारी जीव अवश्य ही संसाररूपी बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं ॥ १४६ ॥

> भानुं दिष्ट्वा स्वद्युतिभिरतिभास्वरं तद्भाति विभोस्ते मेरोः श्रृङ्गाग्रवत् पीठम् । उच्चैरुच्चैर्वा मणिमयमिदं सुरसेव्यं न्यक्कुर्वाणं लोकमशेषं स्वमहिम्ना ॥ १४७ ॥

हे जिननाथ! सूर्यको भी तिरस्कृत करनेवाली और अतिशय देदीप्यमान अपनी कान्तिको चारों ओर फैलाता हुआ, अत्यन्त ऊँचा, मणियोंसे जड़ा हुआ, देवोंके द्वारा सेवनीय और अपनी महिमासे समस्त लोकोंको नीचा करता हुआ यह आपका सिंहासन मेरु पर्वतके शिखरके समान शोभायमान हो रहा है ॥ १४७ ॥

> महितोदयस्य शिवमार्गदेशिनः सुरशिल्पिनिर्मितमदोऽर्हतोऽस्ति ते । द्युतिभिः सितातपनिवारणत्रयं शरदिन्दुबिम्बरुचिरं कान्तिमत्तया ॥ १४८ ॥

जिनका ऐश्वर्य अतिशय उत्कृष्ट है और जो मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले हैं ऐसे आप अरहन्त देवका यह देवरूप कारीगरोंके द्वारा बनाया गया छत्रत्रय अपनी कान्तिसे शरद्ऋतुके चन्द्रमण्डलके समान सुशोभित हो रहा है ॥ १४८ ॥

> शोकोच्छेदी मरकतरुचिरस्कन्धो भाति श्रीमानयमतिरुचिराभिः शाखाभिः । भृङ्गव्रातैः स्फुटमिव नृत्यं तन्वन् वातोद्धूताभिः कलरुतमधुपवृन्दैः ॥ १४९ ॥

हे भगवन्! जिसका स्कन्ध मरकतमणियोंसे अतिशय देदीप्यमान हो रहा है और जिसपर मधुर शब्द करते हुए भ्रमरोंके समूह बैठे हैं ऐसा यह शोभायमान तथा वायुसे हिला हुआ आपका अशोकवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो अपनी अत्यन्त देदीप्यमान शाखाओंको भुजा बनाकर उनके द्वारा स्पष्ट नृत्य ही कर रहा हो ॥ १४९ ॥

> पुष्पाकीर्णो द्युसुरमुनिवरैः सेव्यो नित्यं यतः पवनैः सच्छायोऽयं विहतानृसुरशोकस्तरुरुचिमान् भाति श्रीमान् जगतां श्रेयस्करः ॥ १८० ॥

अथवा अत्यन्त सुकोमल वायुसे धीरे-धीरे हिलता हुआ यह अशोकवृक्ष आपके ही समान सुशोभित हो रहा है क्योंकि जिस प्रकार आप देवोंके द्वारा बरसाये हुए पुष्पोंसे आकीर्ण अर्थात् व्याप्त हैं उसी प्रकार यह अशोकवृक्ष भी पुष्पोंसे आकीर्ण है, जिस प्रकार मनुष्य, देव और बड़े-बड़े मुनिराज आपको चाहते हैं—आपकी प्रशंसा करते हैं उसी प्रकार मनुष्य, देव और बड़े-बड़े मुनिराज इस अशोकवृक्षको भी चाहते हैं, जिस प्रकार पवनकुमार देव मन्द-मन्द वायु चलाकर आपकी सेवा करते हैं उसी प्रकार इस वृक्षकी भी सेवा करते हैं—यह मन्द-मन्द वायुसे हिल रहा है, जिस प्रकार आप सच्छाय अर्थात् उत्तम कान्तिके धारक हैं उसी प्रकार यह वृक्ष भी सच्छाय अर्थात् छाँहका धारक है—इसकी छाया बहुत ही उत्तम है, जिस प्रकार आप मनुष्य तथा देवोंका शोक नष्ट करते हैं उसी प्रकार यह वृक्ष भी मनुष्य तथा देवोंका शोक नष्ट करता है और जिस प्रकार आप तीनों लोकोंके श्रेय अर्थात् कल्याणरूप हैं उसी प्रकार यह वृक्ष भी तीनों लोकोंमें श्रेय अर्थात् मङ्गल रूप है ॥ १८० ॥

> व्याप्ताकाशा भ्रमरकुलरुतोद्गीतां कुसुमावलिं देवाः प्रतिभुवनश्रृङ्गस्याग्रात् । वर्षन्त्येते दुन्दुभिमधुररवैः सार्धं प्रावृड्जीमूतान् स्तनितमुखरिताञ्जित्वा ॥ १८१ ॥

हे भगवन्! ये देव लोग, वर्षाकालके मेघोंकी गर्जनाके शब्दोंको जीतनेवाले दुन्दुभि बाजोंके मधुर शब्दोंके साथ-साथ जिसने समस्त आकाशको व्याप्त कर लिया है और जो भ्रमरोंकी मधुर गुंजारसे गाती हुई-सी जान पड़ती है ऐसी फूलोंकी वर्षा आपके सामने लोकरूपी घरके अग्रभागसे छोड़ रहे हैं ॥ १८१ ॥

> त्वद्धेतोर्दुन्दुभिपटहरवैरुन्मत्ता बहुरुचिघटानिरुद्धनभोऽङ्गणम् । विरचितरुचिसरकलापसु मन्थरा मदकलमधुना रुवन्ति शिखावलाः ॥ १८२ ॥

हे स्वामिन्! आपके देव-दुन्दुभियोंके कारण बड़े-बड़े मेघोंकी घटाओंसे आकाशरूपी आँगनको रोकनेवाली वर्षाऋतुकी शंका कर ये मयूर इस समय अपनी सुन्दर पूँछ फैलाकर मन्द-मन्द गमन करते हुए मदसे मनोहर शब्द कर रहे हैं ॥ १८२ ॥

> तव जिन ततवपुरुचिशयने चामररुहततिः सितविहङ्गानाम् । इयमभितनुते रुचिरतरतनुर्मणिमुकुटसमिद्धरुचिसुरधुता ॥ १८३ ॥

हे जिनेन्द्र! मणिमय मुकुटोंको देदीप्यमान कान्तिसे धारण करनेवाले देवोंके द्वारा ढोरी हुई तथा अतिशय सुन्दर आकारवाली यह आपके चमरोंकी पंक्ति आपके शरीरकी कान्तिरूपी सरोवरमें सफेद पक्षियों (हंसों) की शोभा बढ़ा रही है ॥ १८३ ॥

> त्वद्दिव्यवागियमशेषपदार्थगर्भा भाषान्तराणि सकलानि निदर्शयन्ती । तत्त्वावबोधमचिरात् कुरुते बुधानां स्याद्वादनीतिविहतान्धमतान्धकारा ॥ १८४ ॥

हे भगवन्! जिसमें संसारके समस्त पदार्थ भरे हुए हैं, जो समस्त भाषाओंका निदर्शन करती है अर्थात् जो अतिशय विशेषके कारण समस्त भाषारूप परिणमन करती है और जिसने स्याद्वादरूपी नीतिसे अन्यमतरूपी अन्धकारको नष्ट कर दिया है ऐसी आपकी यह दिव्यध्वनि विद्वान् लोगोंको शीघ्र ही तत्त्वोंका ज्ञान करा देती है ॥ १८४ ॥

> प्रक्षालयत्यपि मनांसि नृणां हि नित्यं त्वद्भारतीजलमिदं शुचिपुण्यमम्भः । तीर्थं तदेव हि विभो भवतारणार्थी पारावारसन्तरणवर्त्म भवत्प्रणीतम् ॥ १८५ ॥

हे भगवन्! आपकी वाणीरूपी यह पवित्र पुण्य जल हम लोगोंके मनके समस्त मलको धो रहा है, वास्तवमें यही तीर्थ है और यही आपके द्वारा कहा हुआ महान् तीर्थ भव्यजनोंको संसाररूपी समुद्रसे पार होनेका मार्ग है ॥ १८५ ॥

> त्वं सर्वगः सकलवस्तुगतावबोधस्त्वं सर्वविन्नमितविश्वपदार्थसार्थः । त्वं सर्वजिद् विदितमन्मथमोहशत्रुस्त्वं सर्वदृङ्निखिलभावविशेषदर्शी ॥ १८६ ॥

हे भगवन्! आपका ज्ञान संसारकी समस्त वस्तुओं तक पहुँचा है—समस्त वस्तुओंको जानता है इसलिए आप सर्वग अर्थात् व्यापक हैं, आपने संसारके समस्त पदार्थोंके समूह जान लिये हैं इसलिए आप सर्वविद् हैं, आपने काम और मोहरूपी शत्रुओंको जीत लिया है इसलिए आप सर्वजित् अर्थात् सबको जीतनेवाले हैं और आप संसारके समस्त पदार्थोंको विशेषरूपसे देखते हैं इसलिए आप सर्वदृक् अर्थात् सबको देखनेवाले हैं ॥ १८६ ॥

> त्वं तीर्थकृत् सकलपापमलापहारिसद्धर्मतीर्थविमलीकरणैकनिष्ठः । त्वं मन्त्रकृन् निखिलपापविषापहारिपुण्यश्रुतिप्रवरमन्त्रविधानबुद्धः ॥ १८७ ॥

हे भगवन्! आप समस्त पापरूपी मलको नष्ट करनेवाले समीचीन धर्मरूपी तीर्थके द्वारा जीवोंको निर्मल करनेके लिए सदा तत्पर रहते हैं इसलिए आप तीर्थकृत् हैं और आप समस्त पापरूपी विषको अपहरण करनेवाले पवित्र आगमके उत्तम मन्त्र बनानेमें चतुर हैं इसलिए आप मन्त्रकृत् हैं ॥ १६७ ॥

> त्वामामनन्ति मुनयः पुरुषं पुराणं त्वां प्राहुरच्युतमृषीश्वरमक्षयर्द्धिम् । तस्माद् भवान्तक भवन्तमचिन्त्ययोगं योगीश्वरं जगदुपास्यमुपास्महे स्म ॥ १६८ ॥

हे भगवन्! मुनि लोग आपको ही पुराण पुरुष अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष (पक्षमें ब्रह्मा) मानते हैं, आपको ही ऋषियोंके ईश्वर और अक्षय ऋद्धिको धारण करनेवाले अच्युत अर्थात् अविनाशी (पक्षमें विष्णु) कहते हैं तथा आपको ही अचिन्त्य योगको धारण करनेवाले और समस्त जगत्के उपासना करने योग्य योगीश्वर अर्थात् मुनियोंके अधिपति (पक्षमें महेश) कहते हैं इसलिए हे संसारका अन्त करनेवाले जिनेन्द्र! ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूप आपकी हम लोग भी उपासना करते हैं ॥ १६८ ॥

> तुभ्यं नमः सकलघातिमलव्यपायसंभूतकेवलमयामललोचनाय । तुभ्यं नमो दुरितबन्धनशृङ्खलानां छेत्रे भवार्गलभिदे जिनकुञ्जराय ॥ १६९ ॥

हे नाथ! समस्त घातियाकर्मरूपी मलके नष्ट हो जानेसे जिनके केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्र उत्पन्न हुआ है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो। जो पापरूपी बन्धनकी साँकलको छेदनेवाले हैं, संसाररूपी अर्गलको भेदनेवाले हैं और कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले जिनोंमें हाथीके समान श्रेष्ठ हैं ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥ १६९ ॥

> तुभ्यं नमस्त्रिभुवनैकपितामहाय तुभ्यं नमः परमनिर्वृतिकारणाय । तुभ्यं नमोऽपि गुरवे गुरुभिर्गुणौघैस्तुभ्यं नमो विदितविश्वजगत्त्रयाय ॥ १६० ॥

हे भगवन्! आप तीनों लोकोंके एक पितामह हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप परम निर्वृति अर्थात् मोक्ष अथवा सुखके कारण हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप गुरुओंके भी गुरु हैं तथा गुणोंके समूहसे भी गुरु अर्थात् श्रेष्ठ हैं इसलिए भी आपको नमस्कार हो, इसके सिवाय आपने समस्त तीनों लोकोंको जान लिया है इसलिए भी आपको नमस्कार हो ॥ १६० ॥

> इत्युच्चकैः स्तुतिमुदारगुणानुरागादस्माभिरीश रचितां त्वयि चित्रवर्णाम् । देव प्रसीद परमेश्वर भक्तिपूतां पादार्पितां स्रजमिवानुगृहाण चार्वीम् ॥ १६१ ॥

हे ईश! आपके उदार गुणोंमें अनुराग होनेसे हम लोगोंने आपकी यह अनेक वर्णों (अक्षरों अथवा रंगों) वाली उत्तम स्तुति की है इसलिए हे देव! हे परमेश्वर! हम सबपर प्रसन्न होइए और भक्तिसे पवित्र तथा चरणोंमें अर्पित की हुई सुन्दर मालाके समान इसे स्वीकार कीजिए ॥ १६१ ॥

> स्तुत्वा वयं जिन भवन्तमनेकशस्त्वं कुड्मलीकृतकरा वयमानमामः । त्वत्संस्तुतावुपचितं यदिहास्ति पुण्यं तेनास्तु भक्तिरमलाश्रिता त्वयि नः प्रसन्ना ॥ १६२ ॥

हे जिनेन्द्र! आपकी स्तुति कर हम लोग आपका बार-बार स्मरण करते हैं और हाथ जोड़कर आपको नमस्कार करते हैं। हे भगवन्! आपकी स्तुति करनेसे आज यहाँ हम लोगोंको जो कुछ पुण्यका संचय हुआ है उससे हम लोगोंकी आपमें निर्मल और प्रसन्नरूप भक्ति हो ॥ १६२ ॥

> एवं सुरासुरनरोरगयक्षसिद्धगन्धर्वचारणगणैस्समिद्धबोधाः । द्वात्रिंशदिन्द्रप्रमुखाः प्रणमन्तः स्तुत्वा जिनं विविधैर्नुतयो व्यधुस्ते ॥ १६३ ॥

इस प्रकार जिनका ज्ञान अतिशय प्रकाशमान हो रहा है ऐसे मुख्य-मुख्य बत्तीस इन्द्रोंने (भवनवासी १०, व्यन्तर ८, ज्योतिषी २ और कल्पवासी १२) सुर, असुर, मनुष्य, नागेन्द्र, यक्ष, सिद्ध, गन्धर्व और चारणोंके समूहके साथ-साथ सैकड़ों स्तुतियों-द्वारा मस्तक झुकाते हुए उन भगवान वृषभदेवके लिए नमस्कार किया ॥ १६३ ॥

> स्तुत्वेति तं जिनमजं जगदेकबन्धुं धर्मार्थिनो नतोरुमुकुटैरमरैः सहेन्द्राः । आस्थाय जिनपतिं परितो यथास्वमास्थानभूमिमभजन् जिनसम्मुखास्याः ॥ १६४ ॥

इस प्रकार धर्मसे प्रेम रखनेवाले इन्द्र लोग, अपने बड़े-बड़े मुकुटोंको नम्रीभूत करनेवाले देवोंके साथ-साथ फिर कभी जन्म न लेनेवाले और जगत्के एकमात्र बन्धु जिनेन्द्रदेवकी स्तुति कर समवसरण भूमिमें जिनेन्द्र भगवानकी ओर मुखकर उन्हींके चारों ओर यथायोग्यरूपसे बैठ गये ॥ १६४ ॥

> देहे जिनेन्द्रस्य जिताहितस्य कनकावदाते रुरुचे समन्तात् सुरदृष्टिपाताः । कल्पद्रुमाङ्गेष्विव मत्तभृङ्गा ओघाः प्रसूनमधुपानपिपासितानाम् ॥ १६५ ॥

उस समय घातियाकर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले जिनेन्द्रभगवानके सुवर्णके समान उज्ज्वल शरीरपर जो देवोंके नेत्रोंके प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे वे ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानों कल्पवृक्षके अवयवोंपर पुष्पोंका रस पीनेकी इच्छा करनेवाले मदोन्मत्त भ्रमरोंके समूह ही हों ॥ १६५ ॥

> कुञ्जरकराभभुजमिन्दुसमवक्त्रं कुञ्चितमितस्थितशिरोरुहकलापम् । मन्दरतटाभपृथुवक्षसमधीशं तं जिनमवेक्ष्य दिविजाः प्रमदमीयुः ॥ १६६ ॥

जिनकी भुजाएँ हाथीकी सूँड़के समान हैं, जिनका मुख चन्द्रमाके समान है, जिनके केशोंका समूह टेढ़ा, परिमित (वृद्धिसे रहित) और स्थित (नहीं फड़कनेवाला) है और जिनका वक्षःस्थल मेरुपर्वतके तटके समान है ऐसे देवाधिदेव जिनेन्द्रभगवानको देखकर वे देव बहुत ही हर्षित हुए थे ॥ १६६ ॥

> विकसितसरसिजदलनिभनयनं करिकरसुरुचिरभुजयुगममलम् । जिनवपुरतिशयरुचियुतममरा विददृशुरतिरति विकसुलनयनाः ॥ १६७ ॥

जिसके नेत्र फूले हुए कमलके दलके समान हैं, जिनकी दोनों भुजाएँ हाथीकी सूँड़के समान हैं, जो निर्मल है, और जो अत्यन्त कान्तिसे युक्त है ऐसे जिनेन्द्रभगवानके शरीरको वे देव लोग बड़े भारी सन्तोषसे नेत्रोंको उघाड़-उघाड़कर देख रहे थे ॥ १६७ ॥

> विधुरुचिहरचमररुहपरिगतं मनसिजशतहतनिपतनविजयि । जिनवरवपुरवधुतसकलमलं निपपुरमृतमिव शुचि सुरदृशः ॥ १६८ ॥

जो चन्द्रमाकी कान्तिको हरण करनेवाले चमरोंसे घिरा हुआ है, जो कामदेवके सैकड़ों बाणोंके निपातको जीतनेवाला है, जिसने समस्त मल नष्ट कर दिये हैं और जो अतिशय पवित्र है ऐसे जिनेन्द्रदेवके शरीरको देवरूपी भ्रमर अमृतके समान पान करते थे ॥ १६८ ॥

> कमलदलविलसदनिमिषनयनं प्रहसितनिभमुखमतिशयसुरभि । सुरनरपरिवृढनयनसुखकरं व्यरुचदधिकरुचि जिनवृषभवपुः ॥ १६९ ॥

जिसके टिमकाररहित नेत्र कमलदलके समान सुशोभित हो रहे थे, जिसका मुख हँसते हुएके समान जान पड़ता था, जो अतिशय सुगन्धिसे युक्त था, देव और मनुष्योंके स्वामियोंके नेत्रोंका सुख करनेवाला था, और अधिक कान्तिसे सहित था ऐसा भगवान् वृषभदेवका वह शरीर बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥ १६९ ॥

> जिनमुखशतदलमनिविषनयनभ्रमरमतिसुरभि विधुतविधुरुचि । मनसिजहिमहतिविरहितमतिरुक्
> पपुरविदिततृप्ति सुरयुवतिदृशः ॥ १७० ॥

जिसपर टिमकाररहित नेत्र ही भ्रमर बैठे हुए हैं, जो अत्यन्त सुगन्धित है, जिसने चन्द्रमाकी कान्तिको तिरस्कृत कर दिया है, जो कामदेवरूपी हिमके आघातसे रहित है और जो अतिशय कान्तिमान् है ऐसे भगवानके मुखरूपी कमलको देवाङ्गनाओंके नेत्र असन्तुष्टरूपसे पान कर रहे थे। भावार्थ—देवाङ्गनाएँ भगवानके मुखारविन्दको एकटक तृप्तिरहित होकर देख रही थीं ॥ १७० ॥

आदिपुराणम् - पर्व २३ (श्लोक १७१-१९६) एवं पर्व २४ (श्लोक १-७८)

> विजितकमलदलविलसदनुपमनयनं सुरयुवतिनयनमधुकरवृतवपुषम् । वृषभमजरमजममरपतिसुमहितं परममतममितरुचिमृषिपतिम् ॥ १७१ ॥

जिनके अनुपम नेत्र कमलदलको जीतते हुए सुशोभित हो रहे हैं, जिनका शरीर देवांगनाओंके नेत्ररूपी भ्रमरसे व्याप्त हो रहा है, जो जरारहित हैं, जन्मरहित हैं, इन्द्रोंके द्वारा पूजित हैं, अतिशय इष्ट हैं अथवा जिनका मत अतिशय उत्कृष्ट है, जिनकी कान्ति अपार है और जो ऋषियोंके स्वामी हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवको हे भव्य जीवो, तुम सब नमस्कार करो ॥ १७१ ॥

> सरसिजनिभवक्त्रं पीतगौराङ्गरूपं कमलदलविशालप्यायतास्पन्दिनेत्रम् ।
> सरसिरुहसमानामोदसच्छायमच्छस्फटिकमणिविभासि श्रीजिनाङ्गममीडे ॥ १७२ ॥

मैं श्रीजिनेन्द्रभगवानके उस शरीरकी स्तुति करता हूँ जिसका कि मुख कमलके समान है, जो कमलकी केशरके समान पीतवर्ण है, जिसके टिमकाररहित नेत्र कमलदलके समान विशाल और आयत हैं, जिसकी सुगन्धि कमलके समान थी, जिसकी छाया नहीं पड़ती और जो स्वच्छ स्फटिकमणिके समान सुशोभित हो रहा था ॥ १७२ ॥

> नयनयुगमताम्रं कोपव्यपायं भ्रुकुटिविरहितमास्यं शान्ततां यस्य शास्ति ।
> मदनजयमपाङ्गालोकनापायसौम्यं प्रकटयति वपुस्तं नौमि भक्त्या जिनेन्द्रम् ॥ १७३ ॥

जिनके ललाईरहित दोनों नेत्र जिनके कोपके अभावको बतला रहे हैं, भौंहोंकी टेढ़ाईसे रहित जिनका मुख जिनकी शान्तताको सूचित कर रहा है और कटाक्षावलोकनका अभाव होनेसे सौम्य अवस्थाको प्राप्त हुआ जिनका शरीर जिनके कामदेवकी विजयको प्रकट कर रहा है, ऐसे उन जिनेन्द्र भगवानको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥ १७३ ॥

गात्रमनङ्गमजकदतिसुरभिरुचिरं नेत्रमताम्रमपगतमलतररुचिविसरम् । वक्त्रमदष्टदशनवसनमिव विभाति तं जिनमवनमत सुधियः ॥ १७४ ॥

हे बुद्धिमान् पुरुषो, जिनका शरीर कामदेवको नष्ट करनेवाला अतिशय सुगन्धित और सुन्दर है, जिनके नेत्र ललाईरहित तथा अत्यन्त निर्मल कान्तिके समूहसे सहित हैं, और जिनका मुख ओंठोंको डसता हुआ नहीं है तथा हँसता हुआ-सा सुशोभित हो रहा है, ऐसे उन वृषभजिनेन्द्रको नमस्कार करो ॥ १७४ ॥

सौम्यवक्त्रममलकमलदलनिभदृशं हेमपुञ्जसमवपुषमृषिपम् । रक्तपद्मरुचिभवदुमलमृदुपदयुगं संप्रणतोऽस्मि परमपुरुषमपरुषगिरम् ॥ १७८ ॥

जिनका मुख सौम्य है, नेत्र निर्मल कमलदलके समान हैं, शरीर सुवर्णके पुञ्जके समान है, जो ऋषियोंके स्वामी हैं, जिनके निर्मल और कोमल चरणोंके युगल लाल कमलकी कान्ति धारण करते हैं, जो परम पुरुष हैं और जिनकी वाणी अत्यन्त कोमल है, ऐसे श्री वृषभ जिनेन्द्रको मैं अच्छी तरह नमस्कार करता हूँ ॥ १७८ ॥

जयति यस्य पादयुगलं जयत्पङ्कजं विलसति पद्मगर्भमधिरुह्य सल्लक्षणम् । मनसिजरागमर्दनसहं जगत्प्रीणनं सुरपतिमौलिशेखरगरुद्रजःपिञ्जरम् ॥ १७६ ॥

जिनके चरण-युगल कमलोंको जीतनेवाले हैं, उत्तम-उत्तम लक्षणोंसे सहित हैं, कामसम्बन्धी रागको नष्ट करनेमें समर्थ हैं, जगत्को सन्तोष देनेवाले हैं, इन्द्रके मुकुटके अग्रभागसे गिरती हुई मालाके परागसे पीले हो रहे हैं और कमलके मध्यमें विराजमान कर सुशोभित हो रहे हैं, ऐसे भगवान वृषभदेव सदा जयवन्त हों ॥ १७६ ॥

जयति जगति यस्योत्तुङ्गं विभाति महदासनं हरिपरिधृतं रत्नचितं परिस्फुरदंशुकम् । अधरितजगन्मेरोर्लीलां विडम्बयदुच्चकैर्नमत्सुरकिरीटाग्रप्राप्तद्युतीरिव तर्जयत् ॥ १७७ ॥

जो बहुत ऊँचा है, सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ है, रत्नोंसे जड़ा हुआ है, चारों ओर चमकती हुई किरणोंसे सहित है, संसारको नीचा दिखला रहा है, मेरुपर्वतकी शोभाको खूब विडम्बना कर रहा है और जो नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटके अग्रभागमें लगे हुए रत्नोंकी कान्तिकी तर्जना करता-सा जान पड़ता है, ऐसा जिनका बड़ा भारी सिंहासन सुशोभित हो रहा है, वे भगवान वृषभदेव संसारमें सदा जयवन्त रहें ॥ १७७ ॥

> जयति यदुपरि सकलशशिभृन्मण्डलगतां सितच्छत्रं भाति त्रिभुवनगुरोर्यस्य कान्तिम् । जयत्येष श्रीमान्
> वृषभजिनराण्निर्जितरिपुर्नमद्देवेन्द्रोद्यन्मुकुटमणिघृष्टाङ्घ्रिकमलः ॥ १७८ ॥

तीनों लोकोंके गुरु ऐसे जिन भगवानका सफेद छत्र पूर्ण चन्द्रमण्डलसम्बन्धी समस्त शोभाको धारण करता हुआ सुशोभित हो रहा है, जिन्होंने घातियाकर्मरूपी शत्रुओंको जीत लिया है, जिनके चरणकमल नमस्कार करते हुए इन्द्रोंके देदीप्यमान मुकुटोंमें जड़े हुए मणियोंसे घर्षित हो रहे हैं और जो अन्तरंग तथा बहिरंग लक्ष्मीसे सहित हैं, ऐसे श्री ऋषभ जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥ १७८ ॥

> जयत्यमरनायकैरसकृदर्चिताङ्घ्रिद्वयः सुरोत्करकराधुतैश्चमरजोत्करैर्वीजितः । गिरीन्द्रशिखरे गिरीन्द्र
> इव योऽभिषिक्तः सुरैः पयोब्धिशुचिवारिभिः शशिकराङ्कुरस्पर्धिभिः ॥ १७९ ॥

इन्द्रोंने जिनके चरण-युगलकी पूजा अनेक बार की थी, जिनपर देवोंके समूहने अपने हाथसे हिलाये हुए अनेक चमरोंके समूह ढुराये थे और देवोंने मेरुपर्वतके शिखरपर दूसरे मेरुपर्वतके समान स्थित हुए जिनका, चन्द्रमाकी किरणोंके अंकुरोंके साथ स्पर्धा करनेवाले क्षीरसागरके निर्मल जलसे अभिषेक किया था, वे श्री ऋषभ जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥ १७९ ॥

> यस्य समुज्ज्वला गुणगणा इव रुचिरतरा भान्त्यमितो मयूखनिबहा गुणसलिलनिधेः ।
> विश्वजनीनचारुचरितः सकलजगदिनः पातु सदा भव्यपङ्कजरविर्वृषभजिनविभुः ॥ १८० ॥

गुणोंके समुद्रस्वरूप जिन भगवानके उज्ज्वल और अतिशय देदीप्यमान किरणोंके समूह गुणोंके समूहके समान चारों ओर सुशोभित हो रहे हैं, जिनका सुन्दर चरित्र समस्त जीवोंका हित करनेवाला है, जो सकल जगत्के स्वामी हैं और जो भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं, ऐसे श्री वृषभ जिनेन्द्र देव हम-सबकी सदा रक्षा करें ॥ १८० ॥

> यस्याशोकश्चलकिसलयश्चित्रपत्रप्रसूनो भाति श्रीमान् मरकतमयस्कन्धबन्धोज्ज्वलाङ्गः । सान्द्रच्छायः
> सकलजनताशोकविच्छेदनेच्छुः जीयात् सोऽयं त्रिभुवनपतिर्भव्यपद्माकरार्कः ॥ १८१ ॥

जिसके पत्ते हिल रहे हैं, जिसके पत्ते और फूल अनेक वर्णके हैं, जो उत्तम शोभासे सहित है, जिसका स्कन्ध मरकतमणियोंसे बना हुआ है, जिसका शरीर अत्यन्त उज्ज्वल है, जिसकी छाया बहुत ही सघन है, और समस्त लोगोंका शोक नष्ट करनेकी जिसको इच्छा है ऐसा जिनका अशोकवृक्ष सुशोभित हो रहा है, और जो भव्य जीवरूपी

कमलोंके समूहको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं, ऐसे वे बहिरंग और अन्तरंग लक्ष्मीके अधिपति त्रिभुवनपति श्री वृषभ जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥ १८१ ॥

> जीयाज्जैनेन्द्रः सुरुचिरतनुः श्रीरशोकाङ्घ्रिपो यो वातोद्धूतैः स्वैः प्रचलविटपैर्नित्यपुष्पोपहारम् । तन्वन् व्याप्ताशः परभृतरुतेर्गीतवाद्यैर्मनोज्ञो नृत्यच्छाखाग्रैर्जिनमिव भजन् भाति भव्यः समन्तात् ॥ १८२ ॥

जिसका शरीर अतिशय सुन्दर है, जो वायुसे हिलती हुई अपनी चंचल शाखाओंसे सदा फूलोंका उपहार फैलाता रहता है, जिसने समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली हैं, जो कोयलोंके मधुर शब्दरूपी गाने-बजानेसे मनोहर है और जो नृत्य करती हुई शाखाओंके अग्रभागसे भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवानकी सेवा करते हुए भव्यके समान चारों ओर सुशोभित हो रहा है, ऐसा वह श्री जिनेन्द्रदेवका शोभायुक्त अशोकवृक्ष सदा जयवन्त रहे ॥ १८२ ॥

> यस्यां पुष्पप्रततिममराः पातयन्ति द्युमूर्ध्नो नेत्रप्रततिमिव तां लोकमत्तालिजुष्टाम् ।
> वातोद्धूतैर्ध्वजविततिभिर्व्योमसम्पादयन्ती वा सा भाति समवसतिभूः सा चिरं नस्तनोतु ॥ १८३ ॥

जिस समवसरणकी भूमिमें देव लोग प्रसन्न होकर अपने नेत्रोंकी पंक्तिके समान चंचल और मदोन्मत्त भ्रमरोंसे सेवित फूलोंकी पंक्ति आकाशके अग्रभागसे छोड़ते हैं अर्थात् वृष्टि करते हैं और जो वायुसे हिलती हुई अपनी ध्वजाओंकी पंक्तिसे आकाशको साफ करती हुई-सी सुशोभित होती है, ऐसी वह समवसरणभूमि चिरकाल तक हम सबके कल्याणको विस्तृत करे ॥ १८३ ॥

> यस्मिन् भान्त्यरुचिर्विभाति नितरां साभास्वरे भास्वान् सालवरो जयत्यमलिनो धूलीचयोऽसौ जिनस्य ।
> स्तम्भाः कल्पतरुप्रभा मणिरुचो मानाधिकाश्चोर्ध्वजा जीयासुर्जिनभर्तुरस्य गगनप्रोल्लङ्घिनो भासुराः ॥ १८४ ॥

अपनी प्रभासे देदीप्यमान रहनेवाले जिस धूलीसालमें सूर्य निमग्नकिरण होकर अत्यन्त शोभायमान होता है, ऐसा वह भगवानका निर्मल धूलीसाल सदा जयवन्त रहे तथा जो कल्पवृक्षसे भी अधिक कान्तिवाले हैं, जिनपर ऊँची ध्वजाएँ फहरा रही हैं, जो आकाशको उल्लंघन कर रही हैं, और जो अतिशय देदीप्यमान हैं, ऐसे जिनेन्द्रदेवके ये मानस्तम्भ भी सदा जयवन्त रहें ॥ १८४ ॥

मणिरचिततटाः स्वच्छवारिप्रपूर्णा नीलोत्पलैराततता गन्धान्धभ्रमरारवैर्मुखरिता भान्ति वाप्यः स्तुमः । तां चापि स्फुटपुष्पहासरुचिरां प्रोद्यत्प्रवालांकुरां वल्लीनां वनवीथिकां तमपि च प्राकारमाद्यं विभोः ॥ १८५ ॥

जिनके किनारे मणियोंसे बँधे हुए हैं, जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है, जो नील कमलोंसे व्याप्त हैं, और जो सुगन्धिसे अन्धे भ्रमरोंके शब्दोंसे शब्दायमान होती हुई सुशोभित हो रही हैं, मैं उन वावड़ियोंकी स्तुति करता हूँ, तथा जो फूले हुए पुष्परूपी हाससे सुन्दर है और जिसमें नवीन प्रवालरूपी अंकुर उठ रहे हैं ऐसे लताबनकी भी स्तुति करता हूँ, और इसी प्रकार भगवानके उस प्रसिद्ध प्रथम कोटकी भी स्तुति करता हूँ ॥ १८५ ॥

प्रोद्यद्विद्रुमसंनिभैः किसलयैरारञ्जयद् या दिशो वातोद्धूतैः पवनाहतैश्च विटपैर्नृत्तं रचितुं चोद्यतम् । रक्ताशोकवनादिकं वनमदश्चैत्यद्रुमैरन्वितं समवाप्तिकां सतिभिमां जैनीं चतुष्काश्रिताम् ॥ १८६ ॥

जो देदीप्यमान मूँगाके समान अपने पल्लवोंसे समस्त दिशाओंको लाल-लाल कर रहे हैं, जो वायुसे हिलती हुई अपनी ऊँची शाखाओंसे नृत्य करनेके लिए तत्पर हुएके समान जान पड़ते हैं, जो चैत्यवृक्षोंसे सहित हैं, जो जिनेन्द्र भगवानकी समवसरणभूमिमें प्राप्त हुए हैं और जिनकी संख्या चार है, ऐसे उन रक्त अशोक आदिके वनोंकी भी मैं स्तुति करता हूँ ॥ १८६ ॥

रक्ताशोकवनं तदेतदपि च रुचिमत्सप्तच्छदानामदश्चूतानामपि चोत्तरं यच्चम्पकानां वनम् । चैत्यद्रुमैरन्वितं भगवतो वन्दितं देवेन्द्रैर्विनयानतेन शिरसा श्रीजैनबिम्बान्वितम् ॥ १८७ ॥

जो चैत्यवृक्षोंसे मण्डित हैं, जिनमें श्री जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाएँ विराजमान हैं, और इन्द्र भी विनयके कारण झुके हुए अपने मस्तकोंसे जिनकी वन्दना करते हैं ऐसे, भगवानके लाल अशोकवृक्षोंका वन, यह देदीप्यमान सप्तपर्णवृक्षोंका वन, वह आम्रवन और वह अतिशय श्रेष्ठ चम्पकवृक्षोंका वन, इन चारों वनोंकी हम वन्दना करते हैं ॥ १८७ ॥

प्राकारात्पुरतो विभाति रुचिरा हरिवृषगरुडैः श्रीमन्माल्यगजाम्बरैश्च शिखिभिः प्रकटितमहिमा । हंसैश्चाप्युपलक्षिता प्रविलसद्ध्वजवसनततिः यातामप्यमरार्चितामभिनुमः पवनविलुलिताम् ॥ १८८ ॥

जो अतिशय सुन्दर हैं, जो सिंह, बैल, गरुड़, शोभायमान माला, हाथी, वस्त्र, मयूर और हंसोंके चिह्नोंसे सहित हैं, जिनका माहात्म्य प्रकट हो रहा है, जो देवताओंके द्वारा भी पूजित हैं और जो वायुसे हिल रही हैं, ऐसी जो कोटके आगे देदीप्यमान ध्वजाओंके वस्त्रोंकी पंक्तियाँ सुशोभित होती हैं, उन्हें भी मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १८८ ॥

> यद् दूराद्व्योममार्गं कलुषयति दिशां स्थगयति प्रोत्सपर्द्धूपधूमैः सुरभयति जगद्विश्वं द्रुततरम् ।
> सद्धूपकुम्भद्वयमुरुमनसः प्रीतिं घटयतु भ्राम्यतन्नाट्यशालाद्वयमपि रुचिरं सालत्रयगतम् ॥ १८९ ॥

जो फैलते हुए धूपके धुएँसे आकाश-मार्गको मलिन कर रहे हैं, जो दिशाओंके समीप भागको आच्छादित कर रहे हैं और जो समस्त जगत्को बहुत शीघ्र ही सुगन्धित कर रहे हैं ऐसे प्रत्येक दिशाके दो-दो विशाल तथा उत्तम धूप-घट हमारे मनमें प्रीति उत्पन्न करें, इसी प्रकार तीनों कोटोंसम्बन्धी, शोभासम्पन्न दो-दो मनोहर नाट्यशालाएँ भी हमारे मनमें प्रीति उत्पन्न करें ॥ १८९ ॥

> कल्पपादपोरुकाननेषु हारिषु श्रीमदिन्द्रवन्दिताः स्वबुध्नसुस्थितेद्धसिद्धबिम्बका द्रुमाः । तानपि
> प्रणौम्यथ नमामि च स्मरामि च प्रसन्नधीः स्तूपपंक्तिमप्यमूं समस्तरत्नविग्रहां जिनेन्द्रबिम्बिनीम् ॥ १९०
> ॥

फूल और पल्लवोंसे देदीप्यमान और अतिशय मनोहर कल्पवृक्षोंके बड़े-बड़े वनोंमें लक्ष्मीधारी इन्द्रोंके द्वारा वन्दित तथा जिनके मूलभागमें सिद्ध भगवानकी देदीप्यमान प्रतिमाएँ विराजमान हैं ऐसे जो सिद्धार्थ वृक्ष हैं, मैं प्रसन्नचित्त होकर उन सभीकी स्तुति करता हूँ, उन सभीको नमस्कार करता हूँ और उनका स्मरण करता हूँ, इसके सिवाय जिनका समस्त शरीर रत्नोंका बना हुआ है और जो जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाओंसे सहित हैं ऐसे स्तूपोंकी पंक्तिका भी मैं प्रसन्नचित्त होकर स्तवन, नमन तथा स्मरण करता हूँ ॥ १९० ॥

> वीथी कल्पद्रुमाणां सवनपरिवृतिं तामतीत्य स्थिता या प्रासादपङ्क्तिः स्फटिकमणिमयः
> सालवर्यस्तृतीयः । श्रीमण्डपश्च त्रिभुवनजनतासंश्रयात्प्रभावः पीठं चोच्चैस्त्रिभूमं श्रियमनु तमुताद्
> गन्धकुट्याश्रितं वः ॥ १९१ ॥

वनकी बाड़से घिरी हुई कल्पवृक्षोंके वनके आगे जो सफेद मकानोंकी पंक्ति है, उसके आगे स्फटिकमणिका बना हुआ जो तीसरा उत्तम कोट है, उसके आगे तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको आश्रय देनेका प्रभाव रखनेवाला जो भगवानका श्रीमण्डप है, और उसके आगे जो गन्धकुटीसे आश्रित तीन कटनीदार ऊँचा पीठ है, वह सब हम लोगोंकी लक्ष्मीको विस्तृत करे ॥ १९१ ॥

> मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिका पुष्पवाटी प्राकारो नाट्यशाला द्वितयमुपवनं वेदिकान्तर्ध्वजाध्वा । सालः कल्पद्रुमाणां सपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली च प्राकारः स्फाटिकोन्तः सुरमुनिसभा पीठिकाग्रे स्वयंभूः ॥ १९२ ॥

संक्षेपमें समवसरणकी रचना इस प्रकार है—सबसे पहले (धूलीसालके बाद) चारों दिशाओंमें चार मानस्तम्भ हैं, मानस्तम्भोंके चारों ओर सरोवर हैं, फिर निर्मल जलसे भरी हुई परिखा है, फिर पुष्पवाटिका (लतावन) है, उसके आगे पहला कोट है, उसके आगे दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाएँ हैं, उसके आगे दूसरा अशोक आदिका वन है, उसके आगे वेदिका है, तदनन्तर ध्वजाओंकी पंक्तियाँ हैं, फिर दूसरा कोट है, उसके आगे वेदिकासहित कल्पवृक्षोंका वन है, उसके बाद स्तूप और स्तूपोंके बाद मकानोंकी पंक्तियाँ हैं, फिर स्फटिकमणिमय तीसरा कोट है, उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियोंकी बारह सभाएँ हैं, तदनन्तर पीठिका है और पीठिकाके अग्रभागपर स्वयम्भू भगवान् अरहन्तदेव विराजमान हैं ॥ १९२ ॥

> देवोऽर्हन्प्राङ्मुखो वा नियतिमनुसरन्नुत्तराशामुखो वा यामध्यास्ते पुण्यां समवसृतिमहीं तां परीत्याध्यवात्सुः । प्रादक्षिण्येन दृष्ट्वा वतिगणिनी मुख्तियुद्धिश्च देवाः सेन्द्राश्च मनुजाः पशव इति गणा द्वादशामी क्रमेण ॥ १९३ ॥

अरहन्तदेव स्वभावसे ही पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुख कर जिस पवित्र समवसरणभूमिमें विराजमान होते हैं उसके चारों ओर प्रदक्षिणारूपसे क्रमपूर्वक १ बुद्धिके ईश्वर गणधर आदि मुनिजन, २ कल्पवासिनी देवियाँ, ३ आर्यिकाएँ-मनुष्योंकी स्त्रियाँ, ४ भवनवासिनी देवियाँ, ५ व्यन्तरणी देवियाँ, ६ ज्योतिष्किणी देवियाँ, ७ भवनवासी देव, ८ व्यन्तर देव, ९ ज्योतिष्क देव, १० कल्पवासी देव, ११ मनुष्य और १२ पशु इन बारह गणोंके बैठने योग्य बारह सभाएँ होती हैं ॥ १९३ ॥

> योगीन्द्रा विबुधयुवतयः राजपत्न्यो ज्योतिर्भव्येशकन्या भवनजवनिता भावना व्यन्तराश्च । ज्योतिष्काः कल्पनाथा नरवरवृषभास्तिर्यगिणैः सहामी कोष्ठेषूक्तेष्वतिष्ठन् जिनपतिमभितो भक्तिभारावनम्राः ॥ १९४ ॥

उनमें-से पहले कोठेमें अतिशय ज्ञानके धारक गणधर आदि मुनिराज, दूसरेमें कल्पवासी देवोंकी देवांगनाएँ, तीसरेमें आर्यिकासहित राजाओंकी स्त्रियाँ तथा साधारण मनुष्योंकी स्त्रियाँ, चौथेमें ज्योतिषी देवोंकी देवांगनाएँ, पाँचवेंमें व्यन्तर देवोंकी देवांगनाएँ, छठेमें भवनवासी देवोंकी देवांगनाएँ, सातवेंमें भवनवासी देव, आठवेंमें व्यन्तरदेव, नौवेंमें ज्योतिषी देव, दसवेंमें कल्पवासी देव, ग्यारहवेंमें चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ मनुष्य और बारहवेंमें पशु बैठते हैं। ये सब ऊपर कहे हुए कोठोंमें भक्तिभारसे नम्रीभूत होकर जिनेन्द्र भगवानके चारों ओर बैठा करते हैं ॥ १९४ ॥

प्रादुःष्यद्वाङ्मयूखैर्विघटिततिमिरो धूतसंसाररात्रिस्तत्सन्ध्यासन्धिकल्पां मुहुरपघटयन् क्षीणमोहामवस्थाम् । सज्ज्ञानोदग्रसारथिः प्रतिनियतनयोद्वेगसप्तिप्रयुक्तस्याद्वादस्यन्दनस्थो रुरुचे भव्यबन्धुर्जिनार्कः ॥ १९८ ॥

तदनन्तर जिन्होंने प्रकट होते हुए वचनरूपी किरणोंसे अन्धकारको नष्ट कर दिया है, संसाररूपी रात्रिको दूर हटा दिया है और उस रात्रिकी सन्ध्या सन्धिके समान क्षीण मोह नामक बारहवें गुणस्थानकी अवस्थाको भी दूर कर दिया है, जो सम्यग्ज्ञानरूपी उत्तम सारथिके द्वारा प्रयुक्त किये हुए सात नयरूपी वेगशाली घोड़ोंसे युक्त स्याद्वादरूपी रथपर सवार हैं और जो भव्य जीवोंके बन्धु हैं ऐसे श्री जिनेन्द्रदेवरूपी सूर्य अतिशय देदीप्यमान हो रहे थे ॥ १९८ ॥

सङ्गृहीतां समवसृतिमहीं धर्मचक्राधिभर्तुर्भव्यात्मा संस्मरेद्यः स्तुतिमुखरमुखो भक्तिनम्रेण मूर्ध्ना । जैनीं लक्ष्मीमचिन्त्यां सकलगुणमयीं प्राप्नुतेऽसौ चूड़ामिर्नाकभाजां मणिमुकुटजुषामलितां स्रग्धराभिः ॥ १९६ ॥

इस प्रकार ऊपर जिसका संग्रह किया गया है ऐसी, धर्मचक्रके अधिपति जिनेन्द्र भगवानकी इस समवसरणभूमिका जो भव्य जीव भक्तिसे मस्तक झुकाकर स्तुतिसे शब्दायमान करता हुआ स्मरण करता है वह अवश्य ही मणिमय मुकुटोंसे सहित देवोंके मालाओंको धारण करनेवाले मस्तकोंके द्वारा वन्दित, समस्त गुणोंसे भरपूर और बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंसे युक्त जिनेन्द्र भगवानकी लक्ष्मी अर्थात् अन्त अवस्थाकी विभूतिको प्राप्त करता है ॥ १९६ ॥

भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवत्समवसृतिविभूतिवर्णनं नाम त्रयोविंशं पर्व ॥ २३ ॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें समवसरणविभूतिका वर्णन करनेवाला तेईसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशतितमं पर्व

स जीयाद् भगवान् मोहविषसुप्तमिदं जगत् । पटुविद्येव यद्विद्या सद्यः समुदतिष्ठिपत् ॥ १ ॥

जिनके ज्ञानने पटुविद्या अर्थात् विष दूर करनेवाली विद्याके समान मोहरूपी विषसे सोते हुए इस समस्त जगत्को शीघ्र ही उठा दिया था-जगा दिया था, वे श्रीवृषभदेव भगवान् सदा जयवन्त रहें ॥ १ ॥

श्रीमान् भरतराजिन्द्रो बुबुधे युगपत् त्रयम् । गुरोः केवल्यसम्भूतिं सुतचक्रयोः ॥ २ ॥

अथानन्तर राज्यलक्ष्मीसे युक्त राजर्षि भरतको एक ही साथ नीचे लिखे हुए तीन समाचार मालूम हुए कि पूज्य पिताको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, अन्तःपुरमें पुत्रका जन्म हुआ है और आयुधशालामें चक्ररत्न प्रकट हुआ है ॥ २ ॥

धर्माधिकरणाद् गुरोः केवल्यं चक्रमायुधपालतः । काञ्चुकीयात् सुतोत्पत्तिं विदामास तदा नृपः ॥ ३ ॥

उस समय भरत महाराजने धर्माधिकारी पुरुषसे पिताके केवलज्ञान होनेका समाचार, आयुधशालाकी रक्षा करनेवाले पुरुषसे चक्ररत्न प्रकट होनेका वृत्तान्त, और कंचुकीसे पुत्र उत्पन्न होनेका समाचार मालूम किया था ॥ ३ ॥

पर्याकुल इवासीच्च क्षणं तदौग्यवान् नृपः । किमत्र प्रागनुष्ठेयं संविधानेन मन्त्रिणः ॥ ४ ॥

ये तीनों ही कार्य एक साथ हुए हैं, इनमें-से पहले किसका उत्सव करना चाहिए यह सोचते हुए राजा भरत क्षण-भरके लिए व्याकुल-से हो गये ॥ ४ ॥

त्रिवर्गफलसम्भूतिरक्रमोपनता मम । पुण्यतीर्थं सुतोत्पत्तिश्चक्ररत्नमिति त्रयी ॥ ५ ॥

पुण्यतीर्थ अर्थात् भगवानको केवलज्ञान उत्पन्न होना, पुत्रकी उत्पत्ति होना और चक्ररत्नका प्रकट होना ये तीनों ही धर्म, अर्थ, काम तीन वर्गके फल मुझे एक साथ प्राप्त हुए हैं ॥ ५ ॥

अत्र पुण्यफलं तीर्थं सुतः कामफलं मतम् । अर्थानुबन्धिनोऽर्थस्य शुभं चक्रं प्रभासनम् ॥ ६ ॥

इनमें-से भगवानके केवलज्ञान उत्पन्न होना धर्मका फल है, पुत्रका होना कामका फल है और देदीप्यमान चक्रका प्रकट होना अर्थ प्राप्त करानेवाले अर्थ पुरुषार्थका फल है ॥ ६ ॥

अथवा सर्वमप्येतत्फलं धर्मस्य पुष्कलम् । यतो धर्मतरोरर्थः फलं कामस्तदुद्भवः ॥ ७ ॥

अथवा यह सभी धर्मपुरुषार्थका पूर्ण फल है क्योंकि अर्थ धर्मरूपी वृक्षका फल है और काम उसका रस है ॥ ७ ॥

कार्येषु प्राग्विधेयं स्याद् यद् धर्मश्रेयोऽनुबन्धि यत् । महाफलं च तद्यस्मादिज्या प्राथमकल्पिका ॥ ८ ॥

सब कार्योंमें सबसे पहले धर्मकार्य ही करना चाहिए क्योंकि वह कल्याणोंको प्राप्त करानेवाला है और बड़े-बड़े फल देनेवाला है, इसलिए सर्वप्रथम जिनेन्द्र भगवानकी पूजा ही करनी चाहिए ॥ ८ ॥

निश्चिकायेति राजेन्द्रो गुरुपूजनमादितः । धर्मबुद्ध्यात्मनां चेष्टा प्रायः श्रेयोऽनुबन्धिनी ॥ ९ ॥

इस प्रकार राजाओंके इन्द्र भरत महाराजने सबसे पहले भगवानकी पूजा करनेका निश्चय किया सो ठीक ही है, क्योंकि धर्मात्मा पुरुषोंकी चेष्टाएँ प्रायः पुण्य उत्पन्न करनेवाली ही होती हैं ॥ ९ ॥

सानुजन्मा समेतोऽन्तःपुरपौरपुरोगमैः । प्राज्यामिज्यां प्रजग्राह जिनेशं गमनं प्रति ॥ १० ॥

तदनन्तर महाराज भरत अपने छोटे भाई, अन्तःपुरकी स्त्रियों और नगरके मुख्य-मुख्य लोगोंके साथ पूजाकी बड़ी भारी सामग्री लेकर जानेके लिए तैयार हुए ॥ १० ॥

> गुरौ भक्तिं परां तन्वन् धर्मप्रभावनाम् । स भूत्या परयोत्तस्थे भगवद्वन्दनाविधौ ॥ ११ ॥

गुरुदेव भगवान् वृषभदेवमें उत्कृष्ट भक्तिको बढ़ाते हुए और धर्मकी प्रभावना करते हुए महाराज भरत भगवानकी वन्दनाके लिए उठे ॥ ११ ॥

> अथ वारिधिनिर्घोषक्षोभमातन्वन्नुद्धतैः स्वनैः । आनन्दपटहो राज्ञो दध्वान ध्वानयन् दिशः ॥ १२ ॥

तदनन्तर जिनका शब्द समुद्रकी गर्जनाके समान है ऐसे आनन्दकालमें बजनेवाले नगाड़े सेनारूपी समुद्रमें क्षोभ फैलाते हुए और दिशाओंको शब्दायमान करते हुए गम्भीर शब्द करने लगे ॥ १२ ॥

> अतस्थेऽथ महाभागो वन्दारुर्भरताधिपः । जिनं हस्त्यश्वपादातरथसार्थसमावृतः ॥ १३ ॥

अथानन्तर जो महाभाग्यशाली हैं, जिनेन्द्र भगवानकी वन्दना करनेका अभिलाषी है, भरतक्षेत्रका स्वामी है, और चारों ओर हाथी-घोड़े, पदाति तथा रथोंके समूहसे घिरा हुआ है ऐसे महाराज भरतने प्रस्थान किया ॥ १३ ॥

> रेजे प्रचलिता सेना ततानकप्रधुध्वनिः । वेलेव वारिधेः प्रेङ्खच्चलच्चामरध्वजवीचिका ॥ १४ ॥

उस समय वह चलती हुई सेना समुद्रकी वेलाके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि सेनामें जो नगाड़ोंका शब्द फैल रहा था वही उसकी गर्जनाका शब्द था और फहराती हुई असंख्यात ध्वजाएँ ही लहरोंके समान जान पड़ती थीं ॥ १४ ॥

> तया परिवृतः प्राप स जिनास्थानमण्डलम् । प्रसर्पत्प्रभया दिष्टं जितमार्तण्डमण्डलम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार सेनासे घिरे हुए महाराज भरत, दिशाओंमें फैलती हुई प्रभासे जिसने सूर्यमण्डलको जीत लिया है ऐसे भगवानके समवसरणमें जा पहुँचे ॥ १५ ॥

> परीत्य पूजयन् मानस्तम्भान् सोऽत्येत्य ततः परम् । खातिकां लतावनं सालं वनानां च चतुष्टयम् ॥ १६ ॥

वे सबसे पहले समवसरणभूमिकी प्रदक्षिणा देकर मानस्तम्भोंकी पूजा करते हुए आगे बढ़े, वहाँ क्रम-क्रमसे परिखा, लताओंके वन, कोट और चार वनोंको उल्लंघन किया ॥ १६ ॥

> द्वितीयं सालमुत्क्रम्य ध्वजान् कल्पद्रुमावलीम् । स्तूपान् प्रासादमालां च पश्यन् विस्मयमाप सः ॥ १७ ॥

और दूसरे कोटको उल्लंघन कर ध्वजाओंको, कल्पवृक्षोंकी पंक्तियोंको, स्तूपोंको और मकानोंके समूहको देखते हुए आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥ १७ ॥

> ततो दौवारिकैर्देवैः सम्भ्राम्यद्भिः प्रवेशितः । श्रीमण्डपस्य वैदग्धीं सोऽपश्यत् स्वर्गजिद्वराम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर सम्भ्रमको प्राप्त हुए द्वारपाल देवोंके द्वारा भीतर प्रवेश कराये हुए भरत महाराजने स्वर्गको जीतनेवाली श्रीमण्डपकी रचना देखी ॥ १८ ॥

> ततः प्रदक्षिणीकुर्वन् धर्मचक्रचतुष्टयम् । लक्ष्मीवान् पूजयामास प्राप्य प्रथमपीठिकाम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर अतिशय शोभायुक्त भरतने प्रथम पीठिकापर पहुँचकर प्रदक्षिणा देते हुए चारों ओर धर्मचक्रोंकी पूजा की ॥ १९ ॥

> ततो द्वितीयपीठस्थान् विभोरष्टौ महाध्वजान् । सोऽर्चयामास सम्प्रीतिः पूतैर्गन्धादिवस्तुभिः ॥ २० ॥

तदनन्तर उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर दूसरे पीठपर स्थित भगवानकी ध्वजाओंकी पवित्र सुगन्ध आदि द्रव्योंसे पूजा की ॥ २० ॥

> मध्ये गन्धकुटीदर्सि महार्हे हरिविष्टरे । उदयाचलमूर्धस्थमिवार्कं जिनमैक्षत ॥ २१ ॥

तदनन्तर उदयाचल पर्वतके शिखरपर स्थित सूर्यके समान, गन्धकुटीके बीचमें महामूल्य-श्रेष्ठ सिंहासनपर स्थित और अनेक देदीप्यमान ऋद्धियोंको धारण करनेवाले जिनेन्द्र वृषभदेवको देखा ॥ २१ ॥

चलच्चामरसङ्घातवीज्यमानमहातनुम् । क्षीरोदफेनप्रसरैर्मेरुरिव चामीकरच्छविम् ॥ २२ ॥

ढुलते हुए चमरोंके समूहसे जिनका विशाल शरीर संवीज्यमान हो रहा है और जो सुवर्णके समान कान्तिको धारण करनेवाले हैं ऐसे वे भगवान उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसके चारों ओर झरने पड़ रहे हैं ऐसा सुमेरु पर्वत ही हो ॥ २२ ॥

महाशोकतरोर्मूले छत्रत्रितयसंश्रितम् । त्रिधाभूतावधूद्भासिबलाहकमिवाद्रिपम् ॥ २३ ॥

वे भगवान् बड़े भारी अशोकवृक्षके नीचे तीन छत्रोंसे सुशोभित थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसपर तीन रूप धारण किये हुए चन्द्रमासे सुशोभित मेघ छाया हुआ है ऐसा पर्वतोंका राजा सुमेरु पर्वत ही हो ॥ २३ ॥

पुष्पवृष्टिप्रतानेन परितो भान्तमुत्तमम् । कल्पद्रुमविगलितप्रसूनमिव मन्दरम् ॥ २४ ॥

वे भगवान् चारों ओर पुष्पवृष्टिके समूहसे सुशोभित थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसके चारों ओर कल्पवृक्षोंसे फूल गिरे हुए हैं, ऐसा सुमेरु पर्वत ही हो ॥ २४ ॥

नभोव्यापिभिरुद्घोषैः सुरदुन्दुभिनिःस्वनैः । प्रसरद्वेलमम्भोधिमिव वातविघूर्णितम् ॥ २५ ॥

आकाशमें व्याप्त होनेवाले देवदुन्दुभियोंके शब्दोंसे भगवानके समीप ही बड़ा भारी शब्द हो रहा था जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो वायुके द्वारा चलायमान हुआ और जिसकी लहरें किनारे तक फैल रही हैं ऐसा समुद्र ही हो ॥ २५ ॥

ध्वनन्तं प्रवर्षन्तं धर्मामृतमतर्कितम् । आह्लादितजगत्प्राणं प्रावृषेण्यं घनोपमम् ॥ २६ ॥

जिसका शब्द अतिशय गम्भीर है और जो जगत्के समस्त प्राणियोंको आनन्दित करनेवाला है ऐसे सन्देहरहित यथार्थ धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करते हुए भगवान् वृषभदेव ऐसे जान पड़ते थे मानो गरजता हुआ और वर्षा करता हुआ वर्षाऋतुका बादल ही हो ॥ २६ ॥

स्वदेहविसरज्ज्योत्स्नासलिलक्षालिताखिलम् । क्षीराब्धिमध्यसंवृद्धमिव शैशिरं हिरण्मयम् ॥ २७ ॥

अपने शरीरकी फैलती हुई प्रभारूपी जलसे जिन्होंने समस्त प्रभाको प्रक्षालित कर दिया है, वे भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो क्षीरसमुद्रके बीचमें बढ़ा हुआ सुवर्णमय पर्वत ही हो ॥ २७ ॥

सोऽन्वेत्य प्रदक्षिणीकृत्य वीक्ष्य जगद्गुरुम् । इयाज यायजूकानां ज्यायान्प्राज्येन पूजया ॥ २८ ॥

इस प्रकार आठ प्रातिहार्यरूप ऐश्वर्यसे युक्त और जगत्के गुरु स्वामी वृषभदेवको देखकर पूजा करनेवालोंमें श्रेष्ठ भरतने उनकी प्रदक्षिणा दी और फिर उत्कृष्ट सामग्रीसे उनकी पूजा की ॥ २८ ॥

पूजान्ते प्रणिपत्येशं न्यस्तजानुर्महीतले । वचःप्रसूनमालाभिरित्यानर्च गिरां पतिम् ॥ २९ ॥

पूजाके बाद महाराज भरतने अपने दोनों घुटने जमीनपर रखकर सब भाषाओंके स्वामी भगवान् वृषभदेवको नमस्कार किया और फिर वचनरूपी पुष्पोंकी मालाओंसे उनकी इस प्रकार पूजा की अर्थात् नीचे लिखे अनुसार स्तुति की ॥ २९ ॥

नमस्ते परमज्योतिस्त्वं प्रभूष्णूरजोऽरजाः । त्वमादिदेवो देवानां त्वमधिदेवो महेश्वरः ॥ ३० ॥

हे भगवन्, आप सर्वज्ञ हैं, परम ज्योतिःस्वरूप हैं, समर्थ हैं, जन्मरहित हैं, पापरहित हैं, मुख्यदेव अथवा प्रथम तीर्थंकर हैं, देवोंके भी अधिदेव और महेश्वर हैं ॥ ३० ॥

त्वं हि पातो विधातासि त्वमीशानः परः पुमान् । त्वमादिपुरुषो विश्वेड् विश्वजित् त्वं विश्वतोमुखः ॥ ३१ ॥

आप ही रक्षक हैं, विधाता हैं, ईश्वर हैं, सबसे उत्कृष्ट हैं, पवित्र करनेवाले हैं, आदि पुरुष हैं, जगत्के ईश हैं, जगत्में शोभायमान हैं और विश्वतोमुख अर्थात् सर्वदर्शी हैं ॥ ३१ ॥

विश्वव्यापी जगद्भर्ता विश्वदृग्विश्वाविक्षु विभुः । विश्वतोऽक्षिमयाज्ज्योतिर्विश्वयोनिर्विशालकः ॥ ३२ ॥

आप समस्त संसारमें व्याप्त हैं, जगत्के भर्ता हैं, समस्त पदार्थोंको देखनेवाले हैं, सबकी रक्षा करनेवाले हैं, विभु हैं, सब ओर फैली हुई आत्मज्योतिको धारण करनेवाले हैं, सबको योनिस्वरूप हैं-सबके ज्ञान आदि गुणोंको उत्पन्न करनेवाले हैं और स्वयं अयोनिरूप हैं-पुनर्जन्मसे रहित हैं ॥ ३२ ॥

> हिरण्यगर्भो भगवान् वृषभो वृषकेतनः । परमेष्ठी परं तत्त्वं परमात्मात्मभूरसि ॥ ३३ ॥

आप ही हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मा हैं, भगवान् हैं, वृषभ हैं, वृषभ चिह्नसे युक्त हैं, परमेष्ठी हैं, परतत्त्व हैं, परमात्मा हैं, और आत्मभू-अपने-आप उत्पन्न होनेवाले हैं ॥ ३३ ॥

> त्वमिनस्त्वमधिज्योतिस्त्वमीशस्त्वमयोनिजः । अजरस्त्वमनादिस्त्वमनन्तस्त्वं त्वमच्युतः ॥ ३४ ॥

आप ही स्वामी हैं, उत्कृष्ट ज्योतिःस्वरूप हैं, ईश्वर हैं, अयोनिज-योनिके बिना उत्पन्न होनेवाले हैं, जरारहित हैं, आदिरहित हैं, अन्तरहित हैं और अच्युत हैं ॥ ३४ ॥

> त्वमक्षरस्त्वमक्षय्यस्त्वमनक्षोऽस्त्यनक्षरः । विष्णुर्जिष्णुर्विजिष्णुश्च त्वं स्वयम्भूः स्वयंप्रभः ॥ ३५ ॥

आप ही अक्षर अर्थात् अविनाशी हैं, अक्षय्य अर्थात् क्षय होनेके अयोग्य हैं, अनक्ष अर्थात् इन्द्रियोंसे रहित हैं, अनक्षर अर्थात् शब्दागोचर हैं, विष्णु अर्थात् व्यापक हैं, जिष्णु अर्थात् कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेवाले हैं, विजिष्णु अर्थात् सर्वोत्कृष्ट स्वभाववाले हैं, स्वयम्भू अर्थात् स्वयं बुद्ध हैं, और स्वयंप्रभ अर्थात् अपने-आप ही प्रकाशमान हैं-असहाय केवलज्ञानके धारक हैं ॥ ३५ ॥

> त्वं शम्भुस्त्वं स्वयम्भूस्त्वं शंयुः शंपदः शङ्करो हरः । हरिसिंहोऽसुरारिश्च तमोऽरिः सेव्यभास्करः ॥ ३६ ॥

आप ही शम्भु हैं, स्वयम्भू हैं, शंयु-सुखी हैं, शंपद हैं-सुख या शान्तिका उपदेश देनेवाले हैं, शंकर हैं-शान्तिके करनेवाले हैं, हर हैं, हरि हैं, असुरके शत्रु हैं, अज्ञानरूप अन्धकारके अरि हैं और भव्य जीवोंके लिए उत्तम सूर्य हैं ॥ ३६ ॥

> पुराणः कविराद्यस्त्वं योगी योगविदां गुरुः । त्वं शरण्यो वरेण्योऽग्र्यः पवित्रः पुण्यनायकः ॥ ३७ ॥

आप पुराण हैं-सबसे पहलेके हैं, आद्य कवि हैं, योगी हैं, योगके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, सबको शरण देनेवाले हैं, श्रेष्ठ हैं, अग्रेसर हैं, पवित्र हैं, और पुण्यके नायक हैं ॥ ३७ ॥

> त्वं योगात्मा सयोगश्च सिद्धो बुद्धो निरध्वरः । सूक्ष्मो निरञ्जनः पद्मे गर्भे त्वं जिनकुञ्जरः ॥ ३८ ॥

आप योगस्वरूप हैं-ध्यानमय हैं, योगसहित हैं-आत्मपरिस्पन्दसे सहित हैं, सिद्ध हैं-कृतकृत्य हैं, बुद्ध हैं-केवलज्ञानसे सहित हैं, सांसारिक उत्सवोंसे रहित हैं, सूक्ष्म हैं-छद्मस्थज्ञानके अगम्य हैं, निरंजन हैं-कर्मकलंकसे रहित हैं, गर्भमें कमलकर्णिकापर उत्पन्न हुए हैं अतः ब्रह्मारूप हैं और जिनवरोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ३८ ॥

> छन्दोविच्छन्दसां कर्ता वेदविद् वेदपारगः । वाचस्पतिरधर्मारिर्धर्मादिर्धर्मनायकः ॥ ३९ ॥

आप द्वादशांगरूपी वेदोंके जाननेवाले हैं, द्वादशांगरूपी वेदोंके कर्ता हैं, आगमके जाननेवाले हैं, वक्ताओंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, वचनोंके स्वामी हैं, अधर्मके शत्रु हैं, जगत्में प्रथम धर्म हैं और धर्मके नायक हैं ॥ ३९ ॥

> त्वं जिनः कामजिज्जेता त्वमर्हन्नरिहाऽन्तरायहा । धर्मध्वजो धर्मपतिः कर्मारातिनिसूदनः ॥ ४० ॥

आप जिन हैं, कामको जीतनेवाले हैं, अर्हन्त हैं-पूज्य हैं, मोहरूप शत्रुको नष्ट करनेवाले हैं, अन्तरायरहित हैं, धर्मकी ध्वजा हैं, धर्मके अधिपति हैं और कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट करनेवाले हैं ॥ ४० ॥

> त्वं हि भव्याब्जिनीबन्धुस्त्वं हविर्भुक् त्वमध्वरः । त्वं यज्वा त्वं मखज्येष्ठस्त्वं होता हव्यमेव च ॥ ४१ ॥

आप भव्यजीवरूपी कमलिनियोंके लिए सूर्यके समान हैं, आप ही अग्नि हैं, यज्ञकुण्ड हैं, यज्ञके अंग हैं, श्रेष्ठ यज्ञ हैं, होम करनेवाले हैं और होम करने योग्य द्रव्य हैं ॥ ४१ ॥

> त्वमेवाज्यं च त्वमिज्या च पूतः पूज्यो गुणाकरः । त्वमपारिः पारगश्च त्वममध्योऽपि मध्यमः ॥ ४२ ॥

आप ही यज्वा हैं-यज्ञ करनेवाले हैं, आज्य हैं-घृतरूप हैं, पूजक हैं, पूज्य हैं, अपरिमित पुण्यस्वरूप हैं, गुणोंकी खान हैं, शत्रुरहित हैं, पाररहित हैं, और मध्यरहित होकर भी मध्यम हैं ॥ ४२ ॥

उत्तमोऽनुत्तरो ज्येष्ठो गरीयान् स्थेष्ठ एव च । त्वमणीयान् महीयांश्च स्थवीयान् गरिमास्पदम् ॥ ४३ ॥

हे भगवन्, आप उत्तम होकर भी अनुत्तर हैं (परिहार पक्षमें जिससे बढ़कर और दूसरा नहीं है), ज्येष्ठ हैं, सबसे बड़े गुरु हैं, अत्यन्त स्थिर हैं, अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अत्यन्त बड़े हैं, अत्यन्त स्थूल हैं और गौरवके स्थान हैं ॥ ४३ ॥

महान् महीयितो मह्यः स्थास्नुरनश्वरः । जयशीलोऽनिश्चलो नित्यः शिवः शान्तो भवान्तकः ॥ ४४ ॥

आप बड़े हैं, क्षमा गुणसे पृथिवीके समान आचरण करनेवाले हैं, पूज्य हैं, समर्थ हैं, स्थिर स्वभाववाले हैं, अविनाशी हैं, विजयशील हैं, अचल हैं, नित्य हैं, शिव हैं, शान्त हैं, और संसारका अन्त करनेवाले हैं ॥ ४४ ॥

त्वं हि ब्रह्मविदां ध्येयस्त्वं हि ब्रह्मपदस्थितः । त्वां नामसंख्यया देवमित्यमिष्टुमहे वयम् ॥ ४५ ॥

हे देव, आप ब्रह्मविद् अर्थात् आत्मस्वरूपके जाननेवालोंके ध्येय हैं-ध्यान करने योग्य हैं और ब्रह्मपद-आत्माकी शुद्ध अवस्थाको प्राप्त हैं। इस प्रकार हम लोग अनेक नामोंसे आपकी स्तुति करते हैं ॥ ४५ ॥

अष्टोत्तरशतं नाम्नामित्यनुध्याय चेतसा । त्वामीडे स्तुतिपात्राणां प्रातिहार्याष्टकप्रभुम् ॥ ४६ ॥

हे भगवन्, इस प्रकार आपके एक सौ आठ नामोंका हृदयसे स्मरण कर मैं आठ प्रातिहार्योंके स्वामी तथा स्तुतियोंके स्थानभूत आपकी स्तुति करता हूँ ॥ ४६ ॥

अयं प्रचलच्छाखस्तुङ्गोऽशोकमहाद्रुमः । स्वच्छायासंश्रितान् पाति त्वत्तः शिक्षामिवाश्रितः ॥ ४७ ॥

हे भगवन्, जिसकी शाखाएँ अत्यन्त चलायमान हो रही हैं ऐसा यह ऊँचा अशोक महावृक्ष अपनी छायामें आये हुए जीवोंकी इस प्रकार रक्षा करता है मानो इसने आपसे ही शिक्षा पायी हो ॥ ४७ ॥

तवामी चामरव्राता यक्षैरुत्क्षिप्य वीजिताः । निर्धूनन्तीव निर्व्याजमागो गोमक्षिका इव ॥ ४८ ॥

यक्षोंके द्वारा ऊपर उठाकर ढोले गये ये आपके चमरोंके समूह ऐसे जान पड़ते हैं मानो बिना किसी छलके मनुष्योंके पापरूपी मक्खियोंको ही उड़ा रहे हों ॥ ४८ ॥

त्वामापतन्ति परितः सुमनोऽञ्जल्यो दिवः । तुष्टया स्वर्गलक्ष्म्येव मुक्ता हर्षाश्रुबिन्दवः ॥ ४९ ॥

हे नाथ, आपके चारों ओर आकाशसे जो फूलोंकी अञ्जलि-रूप वर्षा हो रही है, वह ऐसी जान पड़ती है मानो सन्तुष्ट हुई स्वर्गलक्ष्मीके द्वारा छोड़ी हुई हर्षजनित आँसुओंकी बूँदें हों ॥ ४९ ॥

छत्रत्रितयमाभाति मूर्च्छितं जिन मूर्धनि । मुक्तालम्बनविभ्राजि लक्ष्म्याः क्रीडास्थलायितम् ॥ ५० ॥

हे जिनेन्द्र, मोतियोंके जालसे सुशोभित और अतिशय ऊँचा आपका यह छत्रत्रितय ऐसा जान पड़ता है मानो लक्ष्मीका क्रीड़ास्थल ही हो ॥ ५० ॥

तवेदं हर्यासनं भाति विश्वभर्तुर्महद्धुरम् । कृतयत्नैरिवाधोऽधः संधृतं मृगाधिपैः ॥ ५१ ॥

हे भगवन्, सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ यह आपका सिंहासन ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो आप समस्त लोकका भार धारण करनेवाले हैं-तीनों लोकोंके स्वामी हैं इसलिए आपका बोझ उठानेके लिए सिंहोंने प्रयत्न किया हो, परन्तु भारकी अधिकतासे झुककर ही उसे धारण कर सके हों ॥ ५१ ॥

तव देहप्रभोत्सर्पैरिदमाक्रम्यते सदः । पुण्याभिषेकसम्भारेराप्लावयद्भिरिवामितः ॥ ५२ ॥

हे भगवन्, आपके शरीरकी प्रभाका विस्तार इस समस्त सभाको व्याप्त कर रहा है और उससे ऐसा जान पड़ता है मानो वह समस्त जीवोंको चारों ओरसे पुण्यरूप जलके अभिषेकको ही प्राप्त करा रहा हो ॥ ५२ ॥

तव वाक्प्रसरो दिव्यः पुनाति जगतां मनः । मोहान्धतमसं ध्वंसन् स्वज्ञानांशुकोत्करैः ॥ ५३ ॥

हे प्रभो, आपके दिव्य वचनोंका प्रसार (दिव्यध्वनिका विस्तार) मोहरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट करता हुआ जगत्के जीवोंका मन पवित्र कर रहा है, इसलिए आप सम्यग्ज्ञानरूपी किरणोंको फैलानेवाले सूर्यके समान हैं ॥ ५३ ॥

प्रातिहार्याण्यहार्याणि तवामूनि चकासति । लक्ष्म्या हंस्याः समाक्रीडापुलिनानीव पावने ॥ ५४ ॥

हे भगवन्, इस प्रकार पवित्र और किसीके द्वारा हरण नहीं किये जा सकने योग्य आपके ये आठ प्रातिहार्य ऐसे देदीप्यमान हो रहे हैं मानो लक्ष्मीरूपी हंसीके क्रीड़ा करने योग्य पवित्र पुलिन (नदीतट) ही हों ॥ ५४ ॥

> नमो विश्वात्मने तुभ्यं विश्वसृजे नमो नमः । स्वयम्भुवे नमस्तुभ्यं क्षायिकैर्लब्धिपङ्कजैः ॥ ५५ ॥

हे प्रभो, ज्ञानकी अपेक्षा आप समस्त संसारमें व्याप्त हैं अथवा आपकी आत्मामें संसारके समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप जगत्‌की सृष्टि करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, कर्मोंके क्षयसे प्रकट होनेवाली नौ लब्धियोंसे आप स्वयम्भू हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ५५ ॥

> ज्ञानदर्शनवीर्याणि विरतिः शुद्धदर्शनम् । दानादिलब्धयश्चेति क्षायिक्यस्तव शुद्धयः ॥ ५६ ॥

हे नाथ, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र और क्षायिकदान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य ये आपकी नौ क्षायिकशुद्धियाँ कही जाती हैं ॥ ५६ ॥

> ज्ञानमप्रतिघं सिद्धं युगपत् सर्वमीक्षते । व्यवधानावरणं हेतुरुपाधिः करणक्रमः ॥ ५७ ॥

हे भगवन्, आपका बाधारहित ज्ञान समस्त ज्ञेयोंको एक साथ जानता है सो ठीक ही है क्योंकि व्यवधान होना, इन्द्रियोंकी आवश्यकता होना और क्रमसे जानना ये तीनों ही ज्ञानावरण कर्मसे होते हैं परन्तु आपका ज्ञानावरण कर्म बिल्कुल ही नष्ट हो गया है, इसलिए निर्बाधरूपसे समस्त संसारको एक साथ जानते हैं ॥ ५७ ॥

> चित्रं जगदिदं चित्रं त्वयाबोधि यदक्रमात् । अक्रमोऽपि क्वचिच्छ्लाघ्यः प्रभुमाश्रित्य लक्ष्यते ॥ ५८ ॥

हे प्रभो, यह एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि आपने इस अनेक प्रकारके जगत्‌को एक साथ जान लिया अथवा यह भी ठीक है क्योंकि कहीं बड़े पुरुषोंका आश्रय पाकर क्रमका छूट जाना भी प्रशंसनीय समझा जाता है ॥ ५८ ॥

> इन्द्रियेषु व्यवस्थेषु सत्स्वप्यतीन्द्रियम् । ज्ञानमासीदचिन्त्या हि योगिनां प्रभुशक्तयः ॥ ५९ ॥

हे विभो, समस्त इन्द्रियोंके विद्यमान रहते हुए भी आपका ज्ञान अतीन्द्रिय ही होता है सो ठीक ही है क्योंकि आपकी शक्तियोंका योगी लोग भी चिन्तवन नहीं कर सकते हैं ॥ ५९ ॥

> यथा ज्ञानं तवैवाभूत् क्षायिकं तथा दर्शनम् । ताभ्यां युगपदेवासीदुपयोगस्तवाद्भुतम् ॥ ६० ॥

हे भगवन्, जिस प्रकार आपका ज्ञान क्षायिक है उसी प्रकार आपका दर्शन भी क्षायिक है और उन दोनोंसे एक साथ ही आपके उपयोग रहता है, यह एक आश्चर्यकी बात है ॥ ६० ॥

> ततस्त्वं विश्वविज्ञेयव्यापिज्ञानगुणाद्भुतः । सर्वज्ञः सर्वदर्शी च योगिभिः परिगीयते ॥ ६१ ॥

हे देव, आपका ज्ञानगुण संसारके समस्त पदार्थोंमें व्याप्त हो रहा है, आप आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं और योगी लोग आपको सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी कहते हैं ॥ ६१ ॥

> विश्वं विजानतोऽपीश यत्ते नाहता अमक्लमो । अनन्तवीर्यताशक्तेस्तन्माहात्म्यं परिस्फुटम् ॥ ६२ ॥

हे ईश, आप संसारके समस्त पदार्थोंको जानते हैं फिर भी आपको कुछ भी परिश्रम और खेद नहीं होता है। यह आपके अनन्त बलकी शक्तिका प्रकट दिखाई देनेवाला माहात्म्य है ॥ ६२ ॥

> रागादिचित्तकालुष्यव्यपायादुदिता तव । विरतिः सुखमात्मोत्थं व्यनक्त्यात्यन्तिकं विभो ॥ ६३ ॥

हे विभो, चित्तको कलुषित करनेवाले राग आदि विभाव भावोंके नष्ट हो जानेसे जो आपके सम्यक्चारित्र प्रकट हुआ है वह आपके विनाशरहित और केवल आत्मासे उत्पन्न होनेवाले सुखको प्रकट करता है ॥ ६३ ॥

> विरतिः सुखमिष्टं चेत् त्वय्येवैतत् प्रतिष्ठितम् । नो चेदस्ति कथं नाम किञ्चिदप्यत्र जगत्त्रये ॥ ६४ ॥

यदि विषय और कषायसे निवृत्त होना ही सुख माना जाये तो वह सुख केवल आपमें ही माना जायेगा और यदि विषय कषायसे निवृत्त न होनेका सुख माना जाये तो फिर यही मानना पड़ेगा कि तीनों लोकोंमें दुःख है ही नहीं ॥ ६४ ॥

> प्रहस्तकलुषं यद्वत् सलिलं स्वच्छतां व्रजेत् । मिथ्यात्वकर्दमापायाद् दृक्शुद्धिस्ते तथा मता ॥ ६५ ॥

हे भगवन्, जिस प्रकार कलुष-मल अर्थात् कीचड़के नष्ट हो जानेसे जल स्वच्छताको प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी कीचड़के नष्ट हो जानेसे आपका सम्यग्दर्शन भी स्वच्छताको प्राप्त हुआ है ॥ ६५ ॥

सन्त्योऽपि लब्धयः शेषास्त्वयि नार्थक्रियाकृतः । कृतकृत्ये बहिर्द्रव्यसम्बन्धो हि निरर्थकः ॥ ६६ ॥

हे देव, यद्यपि दान, लाभ आदि शेष लब्धियाँ आपमें विद्यमान हैं तथापि वे कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं क्योंकि कृतकृत्य पुरुषके बाह्य पदार्थोंका संसर्ग होना बिल्कुल व्यर्थ होता है ॥ ६६ ॥

एवमाद्या गुणा नाथ भवतोऽनन्तथा मताः । स्तोतुं लेशतोऽपीश न स्तोतुमलमल्पधीः ॥ ६७ ॥

हे नाथ, ऐसे-ऐसे आपके अनन्तगुण माने गये हैं, परन्तु हे ईश, अल्पबुद्धिको धारण करनेवाला मैं उन सबकी लेशमात्र भी स्तुति करनेके लिए समर्थ नहीं हूँ ॥ ६७ ॥

तदास्तां ते गुणस्तोत्रं नाममात्रं च कीर्तितम् । पुनाति नस्ततो देव शरणं त्वामुपागताः ॥ ६८ ॥

इसलिए हे देव, आपके गुणोंका स्तवन करना तो दूर रहा, आपका लिया हुआ नाम ही हम लोगोंको पवित्र कर देता है अतएव हम लोग केवल नाम लेकर ही आपके आश्रयमें आये हैं ॥ ६८ ॥

हिरण्यगर्भमाहुस्त्वां यतो वृष्टिर्हिरण्मयी । गर्भावतरणे नाथ प्रादुरासीत्तदाद्भुता ॥ ६९ ॥

हे नाथ, आपके गर्भावतरणके समय आश्चर्य करनेवाली हिरण्यमयी अर्थात् सुवर्णमयी वृष्टि हुई थी इसलिए लोग आपको हिरण्यगर्भ कहते हैं ॥ ६९ ॥

वृषभोऽसि सुरैर्वृष्टैरत्नवर्षैः स्वसम्भवे । जन्माभिषेकतश्चे मेरुं स्पृष्टवानृषभोऽप्यसि ॥ ७० ॥

आपके जन्मके समय देवोंने रत्नोंकी वर्षा की थी इसलिए आप वृषभ कहलाते हैं और जन्माभिषेकके लिए आप सुमेरुपर्वतको प्राप्त हुए थे इसलिये आप ऋषभ भी कहलाते हैं ॥ ७० ॥

अशेषज्ञेयसंक्रान्तज्ञानमूर्तिर्यतो भवान् । अतः सर्वगतं प्राहुस्त्वां देव परमर्षयः ॥ ७१ ॥

हे देव, आप संसारके समस्त जानने योग्य पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले ज्ञानकी मूर्त्तिस्वरूप हैं इसलिए बड़े-बड़े ऋषि लोग आपको सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक कहते हैं ॥ ७१ ॥

त्वय्येवादीनि नामानि बिभ्रत्यन्वर्थतां ततः । ततोऽसि त्वं जगज्ज्येष्ठः परमेष्ठी सनातनः ॥ ७२ ॥

हे भगवन्, ऊपर कहे हुए नामोंको आदि लेकर अनेक नाम आपमें सार्थकताको धारण कर रहे हैं इसलिए आप जगज्ज्येष्ठ (जगत्में सबसे बड़े), परमेष्ठी और सनातन कहलाते हैं ॥ ७२ ॥

त्वद्भक्तिचोदितामेनां मामिकां धियमक्षमाम् । स्तुतिपथे देव प्रवृत्तोऽस्म्यहमञ्जसा ॥ ७३ ॥

हे अविनाशी, आपकी भक्तिसे प्रेरित हुई अपनी इस बुद्धिको मैं स्वयं धारण करनेके लिए समर्थ नहीं हो सका इसलिए ही आज आपकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ ॥ ७३ ॥

त्वयोपदर्शितं मार्गमुपासीनाः शिवेप्सवः । त्वां देवमित्युपासीनान् प्रसीदानुगृहाण नः ॥ ७४ ॥

हे प्रभो, आपके द्वारा दिखलाये हुए मार्गकी उपासना कर मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले और देव मानकर आपकी ही उपासना करनेवाले हम लोगोंपर प्रसन्न होइए और अनुग्रह कीजिए ॥ ७४ ॥

भवन्तमित्यभिष्टूय विश्वातिगवैभवम् । त्वयि भक्तिमकृशां प्रार्थये नान्यदर्थये ॥ ७५ ॥

हे भगवन्, इस प्रकार लोकोत्तर वैभवको धारण करनेवाले आपकी स्तुति कर हम लोग यही चाहते हैं कि हम लोगोंकी बड़ी भारी भक्ति आपमें ही रहे, इसके सिवाय हम और कुछ नहीं चाहते ॥ ७५ ॥

आदिपुराणम् - पर्व २४ (श्लोक ७६-१८६)

> स्तुत्वेति सुरसंघातैरीक्षितो विस्मितेक्षणैः । श्रीमण्डपं प्रविश्यास्मिन्नध्युवासोचितं सदः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार स्तुति कर चुकनेपर जिसे देवोंके समूह आश्चर्यसहित नेत्रोंसे देख रहे थे, ऐसे महाराज भरत श्रीमण्डपमें प्रवेश कर वहाँ अपनी योग्य सभामें जा बैठे ॥ ७६ ॥

> ततो निभृतमासीने प्रबद्धकरकुड्मले । सदःपद्माकरे भर्तुः प्रबोधमभिकाङ्क्षुके ॥ ७७ ॥

तदनन्तर भगवानसे प्रबोध प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला वह सभारूपी सरोवर जब हाथरूपी कमल जोड़कर बैठ गया—जब सब लोग तत्त्वोंका स्वरूप जाननेकी इच्छासे हाथ जोड़कर चुपचाप बैठ गये ॥ ७७ ॥

> भरतराजेन विनयानतमौलिना । विज्ञापनमकारीत्थं तत्त्वजिज्ञासुना गुरोः ॥ ७८ ॥

तब भगवान वृषभदेवसे तत्त्वोंका स्वरूप जाननेकी इच्छा करनेवाले महाराज भरतने विनयसे मस्तक झुकाकर प्रीतिपूर्वक ऐसी प्रार्थना की ॥ ७८ ॥

> तत्त्वं बोद्धुमिच्छामि कीदृशस्तत्त्वविस्तरः । मार्गो मार्गफलं चापि कीदृक् तत्त्वविदां वर ॥ ७९ ॥

हे भगवन्, तत्त्वोंका विस्तार कैसा है? मार्ग कैसा है? और उसका फल भी कैसा है? हे तत्त्वोंके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ, मैं आपसे यह सब सुनना चाहता हूँ ॥ ७९ ॥

> प्रश्नेऽवसिते इत्थं भगवानादितीर्थकृत् । तत्त्वं प्रपञ्चयामास गम्भीरतरया गिरा ॥ ८० ॥

इस प्रकार भरतका प्रश्न समाप्त होनेपर प्रथम तीर्थंकर भगवान वृषभदेवने अतिशय गम्भीर वाणीके द्वारा तत्त्वोंका विस्तारके साथ विवेचन किया ॥ ८० ॥

> प्रवक्तुरस्य वक्त्राब्जे विकृतिर्नैव काप्यभूत् । दर्पणस्येव भावानां नास्ति विक्रिया प्रकाशने ॥ ८१ ॥

कहते समय भगवानके मुखकमलपर कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ था सो ठीक है, क्योंकि पदार्थोंको प्रकाशित करते समय क्या दर्पणमें कुछ विकार उत्पन्न होता है? अर्थात् नहीं होता ॥ ८१ ॥

> ताल्वोष्ठमपरिस्पन्दि न च्छायान्तरमानने । अकरणोत्पन्ना वर्णा मुखादस्य विनिर्ययुः ॥ ८२ ॥

उस समय भगवानके न तो तालु, ओठ आदि स्थान ही हिलते थे और न उनके मुखकी कान्ति ही बदलती थी, तथा जो अक्षर उनके मुखसे निकल रहे थे उन्होंने इन्द्रियोंको छुआ भी नहीं था—इन्द्रियोंपर आघात किये बिना ही निकल रहे थे ॥ ८२ ॥

> स्फुरद्गिरिगुहोद्भूतप्रतिश्रुद् ध्वनिसन्निभः । प्रस्पष्टवर्णो निरगाद् ध्वनिः स्वायम्भुवान्मुखात् ॥ ८३ ॥

जिसमें सब अक्षर स्पष्ट हैं ऐसी वह दिव्यध्वनि भगवानके मुखसे इस प्रकार निकल रही थी जिस प्रकार कि किसी पर्वतकी गुफाके अग्रभागसे प्रतिध्वनि निकलती है ॥ ८३ ॥

> विवक्षामन्तरेणास्य विविक्तासीत् सरस्वती । महीयसामचिन्त्या हि योगजाः शक्तिसंपदः ॥ ८४ ॥

भगवानकी वह वाणी बोलनेकी इच्छाके बिना ही प्रकट हो रही थी सो ठीक ही है, क्योंकि योगबलसे उत्पन्न हुई महापुरुषोंकी शक्तिरूपी सम्पदाएँ अचिन्तनीय होती हैं—उनके प्रभुत्वका कोई चिन्तवन नहीं कर सकता ॥ ८४ ॥

> आयुष्मन् शृणु तत्त्वार्थान् वक्ष्यमाणाननुक्रमात् । जीवादीन् कात्स्न्र्येन तान् सप्रभेदान् सपर्ययान् ॥ ८५ ॥

भगवान् कहने लगे कि हे आयुष्मन्, जिनका स्वरूप आगे अनुक्रमसे कहा जायेगा, ऐसे भेद-प्रभेदों तथा पर्यायोंसे सहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्योंको तू सुन ॥ ८५ ॥

जीवादीनां पदार्थानां याथात्म्यं तत्त्वमिष्यते । सम्यग्ज्ञानाङ्गमेतद्धि विद्धि मोक्षपदार्थिनाम् ॥ ८६ ॥

जीव आदि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप ही तत्त्व कहलाता है, यह तत्त्व ही सम्यग्ज्ञानका अंग अर्थात् कारण है और यही भव्य जीवोंके मुक्तिका अंग है ॥ ८६ ॥

तदेकं तत्त्वसामान्याज्जीवाजीवाविति द्विधा । त्रिधा मुक्तेतराजीवविभागात्परिकीर्त्यते ॥ ८७ ॥

वह तत्त्व सामान्य रीतिसे एक प्रकारका है, जीव और अजीवके भेदसे दो प्रकारका है तथा जीवोंके संसारी और मुक्त इस प्रकार दो भेद करनेसे संसारी जीव, मुक्त जीव और अजीव इस प्रकार तीन भेदवाला भी कहा जाता है ॥ ८७ ॥

जीवो मुक्तश्च संसारी संसार्यात्मा द्विधा मतः । भव्योऽभव्यश्च साजीवास्ते चतुर्द्धा विभाविताः ॥ ८८ ॥

संसारी जीव दो प्रकारके माने गये हैं—एक भव्य और दूसरा अभव्य, इसलिए मुक्त जीव, भव्य जीव, अभव्य जीव और अजीव इस तरह वह तत्त्व चार प्रकारका भी माना गया है ॥ ८८ ॥

मुक्तेतरात्मको जीवो मूर्तामूर्तात्मकः परः । इति वा तस्य तत्त्वस्य चातुर्विध्यं विनिश्चितम् ॥ ८९ ॥

अथवा जीवके दो भेद हैं एक मुक्त और दूसरा संसारी, इसी प्रकार अजीवके भी दो भेद हैं एक मूर्तिक और दूसरा अमूर्तिक, दोनोंको मिला देनेसे भी तत्त्वके चार भेद निश्चित किये गये हैं ॥ ८९ ॥

पञ्चास्तिकायभेदेन पञ्चधा तत्त्वमुच्यते । ते जीवपुद्गलाकाशधर्माधर्माः सपायाः ॥ ९० ॥

पाँच अस्तिकायोंके भेदसे वह तत्त्व पाँच प्रकारका भी स्मरण किया है। अपनी-अपनी पर्यायोंसहित जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय कहे जाते हैं ॥ ९० ॥

ते पृथक् कालसंयुक्ताः षड्भेदाः स्युः पदार्थानाम् । इत्यनन्तो भवेदस्य प्रस्तारो विस्तरैषिणाम् ॥ ९१ ॥

उन्हीं पाँच अस्तिकायोंमें कालके मिला देनेसे तत्त्वके छह भेद भी हो जाते हैं, इस प्रकार विस्तारपूर्वक जाननेकी इच्छा करनेवालोंके लिए इसका विस्तार अनन्त भेदवाला हो सकता है ॥ ९१ ॥

> चेतनालक्षणो जीवः सोऽनादिनिधनस्थितिः । ज्ञाता द्रष्टा च कर्ता च भोक्ता देहप्रमाणकः ॥ ९२ ॥

जिसमें चेतना अर्थात् जानने-देखनेकी शक्ति पायी जाये उसे जीव कहते हैं, वह अनादि निधन है अर्थात् द्रव्य-दृष्टिकी अपेक्षा न तो वह कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट ही होगा। इसके सिवाय वह ज्ञाता है—ज्ञानोपयोगसे सहित है, द्रष्टा है—दर्शनोपयोगसे युक्त है, कर्ता है—द्रव्यकर्म और भावकर्मोंको करनेवाला है, भोक्ता है—ज्ञानादि गुण तथा शुभ-अशुभ कर्मोंके फलोंको भोगनेवाला है और देहके प्रमाणके बराबर है—सर्वव्यापक और अणुरूप नहीं है ॥ ९२ ॥

> गुणवान् कर्मनिर्मुक्त ऊर्ध्वयायी स्वभावतः । परिणमंस्तदुपसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ ९३ ॥

वह अनेक गुणोंसे युक्त है, कर्मोंका सर्वथा नाश हो जानेपर ऊर्ध्वगमन करना उसका स्वभाव है और वह दीपकके प्रकाशकी तरह संकोच तथा विस्ताररूप परिणमन करनेवाला है। भावार्थ—नामकर्मके उदयसे उसे जितना छोटा-बड़ा शरीर प्राप्त होता है वह उतना ही संकोच-विस्ताररूप हो जाता है ॥ ९३ ॥

> तस्येमे मार्गणोपाया गत्यादय उदाहृताः । चतुर्दशगुणस्थानैः सोऽन्वेष्यः सदादिभिः ॥ ९४ ॥

उस जीवका अन्वेषण करनेके लिए गति आदि चौदह मार्गणाओंका निरूपण किया गया है। इसी प्रकार चौदह गुणस्थान और सत्संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा भी वह जीवतत्त्व अन्वेषण करनेके योग्य है। भावार्थ—मार्गणाओं, गुणस्थानों और सत्संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा जीवका स्वरूप समझा जाता है ॥ ९४ ॥

> गतीन्द्रियं काययोगौ वेदश्चैव कषायकाः । ज्ञानसंयमदृग्लेश्या भव्यसम्यक्त्वसंज्ञिनः ॥ ९५ ॥

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व और संज्ञित्व ॥ ९५ ॥

> सममाहारकेणैते मार्गणस्थानकानि वै । सोऽन्वेष्यः सत्संख्याद्यनुयोगैर्विशेषतः ॥ ९६ ॥

तथा आहारक ये चौदह मार्गणास्थान हैं। इन मार्गणास्थानोंमें सत्संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा विशेषरूपसे जीवका अन्वेषण करना चाहिए—उसका स्वरूप जानना चाहिए ॥ ९६ ॥

> सत्संख्याक्षेत्रसंस्पर्शनकालभावान्तरैरयम् । अल्पबहुत्वतश्चात्मा अन्वेष्यः स्यात् श्रुतिचक्षुषाम् ॥ ९७ ॥

सिद्धान्तशास्त्ररूपी नेत्रको धारण करनेवाले भव्य पुरुषोंको सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा जीवतत्त्वका अन्वेषण करना चाहिए ॥ ९७ ॥

> स्युरिमेऽधिगमोपाया जीवस्याधिगमः पुनः । प्रमाणनयनिक्षेपैरवसेयो मनीषिभिः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार ये जीवतत्त्वके जाननेके उपाय हैं। इनके सिवाय विद्वानोंको प्रमाण, नय और निक्षेपोंके द्वारा भी जीवतत्त्वका निश्चय करना चाहिए—उसका स्वरूप जानकर दृढ़ प्रतीति करनी चाहिए ॥ ९८ ॥

> तस्यौपशमिको भावः क्षायिको मिश्र एव च । निजतत्त्वमौदयिकश्च पारिणामिक एव च ॥ ९९ ॥

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये पाँच भाव जीवके निजतत्त्व कहलाते हैं ॥ ९९ ॥

> निश्चितो यो गुणैरेभिः स जीव इति लक्ष्यताम् । द्विधा तस्योपयोगः स्याज्ज्ञानदर्शनभेदतः ॥ १०० ॥

इन गुणोंसे जिसका निश्चय किया जाये उसे जीव जानना चाहिए। उस जीवका उपयोग ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका होता है ॥ १०० ॥

> ज्ञानमष्टतयं ज्ञेयं दर्शनं च चतुष्टयम् । साकारं ज्ञानमुद्दिष्टमनाकारं तु दर्शनम् ॥ १०१ ॥

इन दोनों प्रकारके उपयोगोंमें-से ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका और दर्शनोपयोग चार प्रकारका जानना चाहिए। जो उपयोग साकार है अर्थात् विकल्पसहित पदार्थोंको जानता है उसे ज्ञानोपयोग कहते हैं और जो अनाकार है—विकल्परहित पदार्थोंको जानता है उसे दर्शनोपयोग कहते हैं ॥ १०१ ॥

> भेदग्रहस्तु साकारः प्रतिवस्तुव्यवस्थया । सामान्यमात्रनिर्भासादनाकारं तु दर्शनम् ॥ १०२ ॥

घट-पट आदिकी व्यवस्था लिये हुए किसी वस्तुके भेदग्रहण करनेको साकार कहते हैं और सामान्यरूप ग्रहण करनेको अनाकार कहते हैं। ज्ञानोपयोग वस्तुको भेदपूर्वक ग्रहण करता है इसलिए साकार—सविकल्पक उपयोग कहलाता है और दर्शनोपयोग सामान्यमात्रको ग्रहण करता है इसलिए अनाकार कहलाता है ॥ १०२ ॥

> जीवः प्राणी जन्तुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा । पुमानात्माऽन्तरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्ययाः ॥ १०३ ॥

जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी ये सब जीवके पर्यायवाचक शब्द हैं ॥ १०३ ॥

> जीवत्यजीविच्च जीविष्यति च जन्मसु । ततो जीवोऽयमाख्यातः सतां हि भूतपूर्वता ॥ १०४ ॥

चूँकि यह जीव वर्तमानकालमें जीता है, भूतकालमें भी जीवित था और आगामी कालमें भी अनेक जन्मोंतक जीवित रहेगा इसलिए इसे जीव कहते हैं। सिद्ध भगवान् भी अपनी पूर्वपर्यायोंमें जीवित थे इसलिए वे भी जीव हैं ॥ १०४ ॥

> प्राणा दशास्य प्राणी स्याज्जन्तुर्जन्मप्रबन्धतः । क्षेत्रं स्वरूपमस्य स्यात्तज्ज्ञानात् स तथोच्यते ॥ १०५ ॥

पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस प्राण इस जीवके विद्यमान रहते हैं इसलिए यह प्राणी कहलाता है, यह बार-बार अनेक जन्म धारण करता है इसलिए जन्तु कहलाता है, इसके स्वरूपको क्षेत्र कहते हैं और यह उसे जानता है इसलिए क्षेत्रज्ञ भी कहलाता है ॥ १०५ ॥

> पुरुषः पुरु भोगेषु शयनात् परिभाषितः । पुनात्यात्मानमिति च पुमानिति निगद्यते ॥ १०६ ॥

पुरु अर्थात् अच्छे-अच्छे भोगोंमें शयन अर्थात् प्रवृत्ति करनेसे यह पुरुष कहा जाता है और अपने आत्माको पवित्र करता है इसलिए पुमान् भी कहा जाता है ॥ १०६ ॥

भवेष्वतति सातत्यादतीत्यात्मा निरुच्यते । सोऽन्तरात्माष्टकर्मान्तर्वर्तित्वादभिलप्यते ॥ १०७ ॥

यह जीव नर-नारकादि पर्यायोंमें अतति अर्थात् निरन्तर गमन करता रहता है इसलिए आत्मा कहलाता है और ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके अन्तर्वर्ती होनेसे अन्तरात्मा भी कहा जाता है ॥ १०७ ॥

ज्ञः स्याज्ज्ञानगुणोपेतो ज्ञानी च तत एव सः । पर्यायशब्दैरेभिस्तु निर्णेयोऽन्यैश्च तद्विधैः ॥ १०८ ॥

यह जीव ज्ञानगुणसे सहित है इसलिए ज्ञ कहलाता है और इसी कारण ज्ञानी भी कहा जाता है, इस प्रकार यह जीव ऊपर कहे हुए पर्याय शब्दों तथा इन्हींके समान अन्य अनेक शब्दोंसे जाननेके योग्य है ॥ १०८ ॥

शाश्वतोऽयं भवेज्जीवः पर्यायास्तु पृथक् पृथक् । सद्द्रव्यस्येव पर्यायैस्तस्योत्पत्तिविपत्तयः ॥ १०९ ॥

यह जीव नित्य है परन्तु उसकी नर-नारकादि पर्याय जुदी-जुदी हैं। जिस प्रकार सत् द्रव्य नित्य है परन्तु पर्यायोंकी अपेक्षा उसका उत्पाद और विनाश होता रहता है उसी प्रकार यह जीव नित्य है परन्तु पर्यायोंकी अपेक्षा उसमें भी उत्पाद और विनाश होता रहता है। भावार्थ—द्रव्यत्व सामान्यकी अपेक्षा जीव द्रव्य नित्य है, और पर्यायोंकी अपेक्षा अनित्य है। एक साथ दोनों अपेक्षाओंसे यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है ॥ १०९ ॥

अभूत्वा भाव उत्पादो भूत्वा व्यय उदीरितः । तादवस्थ्यं स्थितिः स्यादेवमात्मा त्रिलक्षणः ॥ ११० ॥

जो पर्याय पहले नहीं थी उसका उत्पन्न होना उत्पाद कहलाता है, किसी पर्यायका उत्पाद होकर नष्ट हो जाना व्यय कहलाता है और दोनों पर्यायोंमें ध्रुवरूपसे होकर रहना स्थिति कहलाता है, इस प्रकार यह आत्मा उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य इन तीनों लक्षणोंसे सहित है ॥ ११० ॥

एवं धर्माणमात्मानमजानानाः कुदृष्टयः । बहुधात्र विमन्वानाः परस्परविरोधिनः ॥ १११ ॥

ऊपर कहे हुए स्वभावसे युक्त आत्माको नहीं जानते हुए मिथ्यादृष्टि पुरुष उसका स्वरूप अनेक प्रकारसे मानते हैं और परस्परमें विवाद करते हैं ॥ १११ ॥

> नास्त्यात्मेत्याहुरेकेऽन्ये सोऽस्त्यनित्य इति स्थिताः । न कर्तेत्यपरे केचिदभोक्तेति कुदृष्टयः ॥ ११२ ॥

कितने ही मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि आत्मा नामका पदार्थ ही नहीं है, कोई कहते हैं कि वह अनित्य है, कोई कहते हैं कि वह कर्ता नहीं है, और कोई कहते हैं कि वह भोक्ता नहीं है ॥ ११२ ॥

> आत्माऽस्ति किं तु मोक्षोऽस्य नास्तीत्येके विमन्वते । मोक्षोऽस्ति तदुपायस्तु नास्तीतीच्छन्ति केचन ॥ ११३ ॥

कोई कहते हैं कि आत्मा नामका पदार्थ है तो सही परन्तु उसका मोक्ष नहीं है, और कोई कहते हैं कि मोक्ष भी होता है परन्तु मोक्ष प्राप्तिका कुछ उपाय नहीं है ॥ ११३ ॥

> इत्यादि दुर्णयानेतानपास्य सुनयाश्रयात् । यथोक्तलक्षणं तत्त्वं त्वमायुष्मन् विनिश्चिनु ॥ ११४ ॥

इसलिए हे आयुष्मन् भरत, ऊपर कहे हुए इन अनेक मिथ्या नयोंको छोड़कर समीचीन नयोंके अनुसार जिसका लक्षण कहा गया है ऐसे जीवतत्त्वका तू निश्चय कर ॥ ११४ ॥

> संसारश्चैव मोक्षश्च तस्यावस्थाद्वयं मतम् । संसारश्चतुरस्रेऽस्मिन् भवावर्ते विवर्तनम् ॥ ११८ ॥

उस जीवकी दो अवस्थाएँ मानी गयी हैं एक संसार और दूसरी मोक्ष। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियोंसे युक्त संसाररूपी भँवरमें परिभ्रमण करना संसार कहलाता है ॥ ११८ ॥

> निःशेषकर्मनिर्मोक्षो मोक्षोऽनन्तसुखात्मकः । सम्यगविशेषितज्ञानदृष्टिचारित्रसाधनः ॥ ११६ ॥

और समस्त कर्मोंका बिल्कुल ही क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है, वह मोक्ष अनन्तसुख स्वरूप है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप साधनसे प्राप्त होता है ॥ ११६ ॥

> आप्तागमपदार्थानां श्रद्धा परया मुदा । सम्यग्दर्शनमाख्यातं प्रथमं मुक्तिसाधनम् ॥ ११७ ॥

सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और समीचीन पदार्थोंका बड़ी प्रसन्नतापूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है, यह सम्यग्दर्शन मोक्षप्राप्तिका पहला साधन है ॥ ११७ ॥

> ज्ञानं जीवादिभावानां याथात्म्यस्य प्रकाशकम् । अज्ञानध्वान्तसंतानप्रक्षयानन्तरोद्भवम् ॥ ११८ ॥

जीव, अजीव आदि पदार्थोंके यथार्थस्वरूपको प्रकाशित करनेवाला तथा अज्ञानरूपी अन्धकारकी परम्पराके नष्ट हो जानेके बाद उत्पन्न होनेवाला जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है ॥ ११८ ॥

> माध्यस्थ्यलक्षणं प्राहुश्चारित्रं विदुषो मुनेः । मोक्षकामस्य निर्मुक्तचेलस्याहिंसकस्य तत् ॥ ११९ ॥

इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें समताभाव धारण करनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं, वह सम्यक्चारित्र यथार्थरूपसे तृष्णारहित, मोक्षकी इच्छा करनेवाले, वस्त्ररहित और हिंसाका सर्वथा त्याग करनेवाले मुनिराजके ही होता है ॥ ११९ ॥

> तदेतत् समुदितं साधनं दर्शनादिकम् । नैकाङ्गविकलत्वेऽपि तत्स्वकार्यकृदिष्यते ॥ १२० ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर ही मोक्षके कारण कहे गये हैं, यदि इनमें-से एक भी अंगकी कमी हुई तो वे अपना कार्य सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकते ॥ १२० ॥

> दृष्टौ सत्यां तु ज्ञानं च चारित्रं च फलप्रदम् । ज्ञानं च दृष्टिसच्चर्यासांनिध्ये मुक्तिकारणम् ॥ १२१ ॥

सम्यग्दर्शनके होते हुए ही ज्ञान और चारित्र फलके देनेवाले होते हैं, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके रहते हुए ही सम्यग्ज्ञान मोक्षका कारण होता है ॥ १२१ ॥

> चारित्रं दर्शनज्ञानविकलं नार्थकृन्मतम् । प्रपातायैव तद्धि स्यादन्धस्येव विवल्गितम् ॥ १२२ ॥

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित चारित्र कुछ भी कार्यकारी नहीं होता किन्तु जिस प्रकार अन्धे पुरुषका दौड़ना उसके पतनका कारण होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे शून्य पुरुषका चारित्र भी उसके पतन अर्थात् नरकादि गतियोंमें परिभ्रमणका कारण होता है ॥ १२२ ॥

त्रितयैक्यविश्लेषाद् उद्भूता मार्गदुर्णयाः । षोढा भवन्ति मूढानां तेऽप्यत्र विनिपातिताः ॥ १२३ ॥

इनमें कोई तो अलग-अलग एक-एकसे मोक्ष मानते हैं और कोई दो-दोसे मोक्ष मानते हैं, इस प्रकार मूर्ख लोगोंने मोक्षमार्गके विषयमें छह प्रकारके मिथ्यानयोंकी कल्पना की है परन्तु इस उपर्युक्त कथनसे उन सभीका खण्डन हो जाता है। भावार्थ—कोई केवल दर्शनसे, कोई ज्ञानमात्रसे, कोई मात्र चारित्रसे, कोई दर्शन और ज्ञान दोसे, कोई दर्शन और चारित्र इन दोसे और कोई ज्ञान तथा चारित्र इन दोसे मोक्ष मानते हैं। इस प्रकार मोक्षमार्गके विषयमें छह प्रकारके मिथ्यानयोंकी कल्पना करते हैं परन्तु उनकी यह कल्पना ठीक नहीं है क्योंकि तीनोंकी एकतासे ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है ॥ १२३ ॥

नूनं नाधिकमस्त्यन्यन्नाभूच्च न भविष्यति । इत्याप्तादिनिश्चये दार्ढ्याद् दर्शनस्य विशुद्धता ॥ १२४ ॥

जैनधर्ममें आप्त, आगम तथा पदार्थका जो स्वरूप कहा गया है उससे अधिक या कम न तो है न था और न आगे ही होगा। इस प्रकार आप्त आदि तीनोंके विषयमें श्रद्धानकी दृढ़ता होनेसे सम्यग्दर्शनमें विशुद्धता उत्पन्न होती है ॥ १२४ ॥

आप्तो गुणैर्युतो धूतकलङ्को निर्मलाशयः । निष्ठितार्थो भवेत् सार्वस्तदाभासास्ततोऽपरे ॥ १२५ ॥

जो अनन्तज्ञान आदि गुणोंसे सहित हो, घातिया कर्मरूपी कलंकसे रहित हो, निर्मल आशयका धारक हो, कृतकृत्य हो और सबका भला करनेवाला हो वह आप्त कहलाता है। इसके सिवाय अन्य देव आप्ताभास कहलाते हैं ॥ १२५ ॥

आगमस्तद्वचोऽशेषपुरुषार्थानुशासनम् । नयप्रमाणगम्भीरं तदाभासोऽसतां वचः ॥ १२६ ॥

जो आप्तका कहा हुआ हो, समस्त पुरुषार्थोंका वर्णन करनेवाला हो और नय तथा प्रमाणोंसे गम्भीर हो उसे आगम कहते हैं, इसके अतिरिक्त असत्पुरुषोंके वचन आगमाभास कहलाते हैं ॥ १२६ ॥

पदार्थस्तु द्विधा ज्ञेयो जीवाजीवविभागतः । यथोक्तलक्षणो जीवः सदोर्ध्वपरिणामभाक् ॥ १२७ ॥

जीव और अजीवके भेदसे पदार्थके दो भेद जानना चाहिए। उनमें-से जिसका चेतनारूप लक्षण ऊपर कहा जा चुका है और जो उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूप तीन प्रकारके परिणमनसे युक्त है वह जीव कहलाता है ॥ १२७ ॥

> भव्योऽभव्यस्तथा मुक्त इति जीवस्त्रिधोदितः । भविष्यत्सिद्धिको भव्यः सुवर्णोपलसन्निभः ॥ १२८ ॥

भव्य, अभव्य और मुक्त इस प्रकार जीवके तीन भेद कहे गये हैं, जिसे आगामी कालमें सिद्धि प्राप्त हो सके उसे भव्य कहते हैं, यह भव्य जीव सुवर्ण-पाषाणके समान होता है अर्थात् जिस प्रकार निमित्त मिलनेपर सुवर्ण-पाषाण आगे चलकर शुद्ध सुवर्णरूप हो जाता है उसी प्रकार भव्यजीव भी निमित्त मिलनेपर शुद्ध सिद्धस्वरूप हो जाता है ॥ १२८ ॥

> अभव्यस्तद्विपक्षः स्यादन्धपाषाणसन्निभः । मुक्तिकारणसामग्री न तस्यास्ति कदाचन ॥ १२९ ॥

जो भव्यजीवसे विपरीत है अर्थात् जिसे कभी भी सिद्धिकी प्राप्ति न हो सके उसे अभव्य कहते हैं, अभव्यजीव अन्धपाषाणके समान होता है अर्थात् जिस प्रकार अन्धपाषाण कभी भी सुवर्णरूप नहीं हो सकता उसी प्रकार अभव्य जीव भी कभी सिद्धस्वरूप नहीं हो सकता। अभव्य जीवको मोक्ष प्राप्त होनेकी सामग्री कभी भी प्राप्त नहीं होती है ॥ १२९ ॥

> कर्मबन्धननिर्मुक्तस्त्रिलोकशिखरालयः । निरञ्जनः परमात्मा प्राप्तानन्तसुखोदयः ॥ १३० ॥

और जो कर्मबन्धनसे छूट चुके हैं, तीनों लोकोंका शिखर ही जिनका स्थान है, जो कर्मकालिमासे रहित हैं और जिन्हें अनन्तसुखका अभ्युदय प्राप्त हुआ है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी मुक्त जीव कहलाते हैं ॥ १३० ॥

> एष जीवपदार्थस्ते संक्षेपेण प्रकीर्तितः । अजीवतत्त्वमप्येवमवधारय धीधन ॥ १३१ ॥

इस प्रकार हे बुद्धिरूपी धनको धारण करनेवाले भरत, मैंने तेरे लिए संक्षेपसे जीवतत्त्वका निरूपण किया है अब इसी तरह अजीवतत्त्वका भी निश्चय कर ॥ १३१ ॥

> अजीवलक्षणं तावत् प्रपञ्च्यते श्रृणुष्व तत् । धर्माधर्मावथाकाशं कालः पुद्गल एव च ॥ १३२ ॥

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इस प्रकार अजीवतत्त्वका पाँच भेदों-द्वारा विस्तारसे निरूपण किया जाता है ॥ १३२ ॥

जीवपुद्गलयोर्यत्स्याद् गत्युपग्रहकारणम् । तदुद्दिष्टं धर्म इति स्थित्युपग्रहेऽपरः ॥ १३३ ॥

जो जीव और पुद्गलोंके गमनमें सहायक कारण हो उसे धर्म कहते हैं और जो उनके स्थित होनेमें सहकारी कारण हो उसे अधर्म कहते हैं ॥ १३३ ॥

गतिस्थितिमतामेतौ गतिस्थित्योरुपग्रहे । धर्माधर्मौ न च स्वयं प्रेरकौ मुनिभिर्मतौ ॥ १३४ ॥

धर्म और अधर्म ये दोनों ही पदार्थ अपनी इच्छासे गमन करते और ठहरते हुए जीव तथा पुद्गलोंके गमन करने और ठहरनेमें सहायक होकर स्थित होते हैं, स्वयं किसीको प्रेरित नहीं करते ॥ १३४ ॥

यथा मत्स्यस्य गमनं विना नैवाम्भसा भवेत् । न च प्रेरयत्यम्भस्तं तथा धर्मस्यानुग्रहः ॥ १३८ ॥

जिस प्रकार जलके बिना मछलीका गमन नहीं हो सकता फिर भी जल मछलीको प्रेरित नहीं करता उसी प्रकार जीव और पुद्गल धर्मके बिना नहीं चल सकते फिर भी धर्म उन्हें चलनेके लिए प्रेरित नहीं करता किन्तु जिस प्रकार जल चलते समय मछलीको सहारा दिया करता है उसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी जीव और पुद्गलोंको चलते समय सहारा दिया करता है ॥ १३८ ॥

तरुच्छाया यथा स्थापयत्यर्थिनं स्वतः । न चैषा प्रेरयत्येनं भवेच्च स्थितिकारणम् ॥ १३६ ॥

जिस प्रकार वृक्षकी छाया स्वयं ठहरनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषको ठहरा देती है—उसके ठहरनेमें सहायता करती है परन्तु वह स्वयं उस पुरुषको प्रेरित नहीं करती तथा इतना होनेपर भी वह उस पुरुषके ठहरनेकी कारण कहलाती है ॥ १३६ ॥

तथैवाधर्मकायोऽपि जीवपुद्गलयोः स्थितिम् । निवर्तयत्युदासीनो न स्वयं प्रेरकः स्थितेः ॥ १३७ ॥

उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय भी उदासीन होकर जीव और पुद्गलोंको स्थित करा देता है—उन्हें ठहरनेमें सहायता पहुँचाता है परन्तु स्वयं उनके ठहरनेकी प्रेरणा नहीं करता ॥ १३७ ॥

> जीवादीनां पदार्थानामवगाहनलक्षणम् । यत्तदाकाशमस्पर्शममूर्तं निष्क्रियं विभु ॥ १३८ ॥

जो जीव आदि पदार्थोंको ठहरनेके लिए स्थान दे उसे आकाश कहते हैं। वह आकाश स्पर्शरहित है, अमूर्तिक है, सब जगह व्याप्त है और क्रियारहित है ॥ १३८ ॥

> वर्तनालक्षणः कालो वर्तना स्वपराश्रया । गुणपर्यायैः परिणमतस्तस्य योजना ॥ १३९ ॥

जिसका वर्तना लक्षण है उसे काल कहते हैं, वह वर्तना काल तथा कालसे भिन्न जीव आदि पदार्थके आश्रय रहती है और सब पदार्थोंका जो अपने-अपने गुण तथा पर्यायरूप परिणमन होता है उसमें सहकारी कारण होती है ॥ १३९ ॥

> यथा कुलालचक्रस्य भ्रमणेऽधःशिला स्वयम् । निमित्तमात्रमेवैवं कालोऽपि कलितो बुधैः ॥ १४० ॥

जिस प्रकार कुम्हारके चक्रके फिरनेमें उसके नीचे लगी हुई शिला कारण होती है उसी प्रकार कालद्रव्य भी सब पदार्थोंके परिवर्तनमें कारण होता है ऐसा विद्वान् लोगोंने निरूपण किया है। भावार्थ—कुम्हारका चक्र स्वयं घूमता है परन्तु नीचे रखी हुई शिला या कीलके बिना वह घूम नहीं सकता इसी प्रकार समस्त पदार्थोंमें परिणमन स्वयमेव होता है परन्तु वह परिणमन कालद्रव्यकी सहायताके बिना नहीं हो सकता इसलिए कालद्रव्य पदार्थोंके परिणमनमें सहकारी कारण है ॥ १४० ॥

> व्यवहारात्मकात् कालात् मुख्यकालविनिर्णयः । मुख्ये सत्येव बाह्यालोकादेः प्रतीतितः ॥ १४१ ॥

(वह काल दो प्रकारका है—एक व्यवहार काल और दूसरा निश्चयकाल। घड़ी, घण्टा आदिको व्यवहारकाल कहते हैं और लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर रत्नोंकी राशिके समान एक दूसरेसे असंपृक्त होकर जो असंख्यात काल-अणु स्थित हैं उन्हें निश्चयकाल कहते हैं।) व्यवहारकालके द्वारा ही निश्चयकालका निर्णय होता है, क्योंकि मुख्य पदार्थके रहते हुए ही बाह्लीक आदि गौण पदार्थोंकी प्रतीति होती है। भावार्थ—बाह्लीक एक देशका नाम है परन्तु उपचारसे बाह्लीक देशके मनुष्योंको भी बाह्लीक कहते हैं। यहाँ बाह्लीक शब्दका मुख्य अर्थ देशविशेष है और गौण अर्थ है वहाँपर रहनेवाला सदाचारसे पराङ्मुख मनुष्य। यदि देशविशेष अर्थको बतलानेवाला बाह्लीक नामका कोई मुख्य पदार्थ नहीं होता तो वहाँ रहनेवाले मनुष्योंमें भी बाह्लीक शब्दका व्यवहार नहीं होता इसी प्रकार यदि मुख्य काल द्रव्य नहीं होता तो व्यवहारकाल भी नहीं होता। हम लोग सूर्योदय और सूर्यास्त आदिके द्वारा दिन-रात महीना आदिका ज्ञान प्राप्त कर व्यवहारकालको समझ लेते हैं परन्तु अमूर्तिक निश्चयकालके समझनेमें हमें कठिनाई

होती है इसलिए आचार्योंने व्यवहारकालके द्वारा निश्चयकालको समझनेका आदेश दिया है क्योंकि पर्यायके द्वारा ही पर्यायीका बोध हुआ करता है ॥ १४१ ॥

> स कालो लोकमात्रैस्तु स्वेरणुभिर्निश्चितः । ज्ञेयोऽन्योन्यमसङ्कीर्णो रत्नानामिव राशिभिः ॥ १४२ ॥

वह निश्चयकाल लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर स्थित लोकप्रमाण (असंख्यात) अपने अणुओंसे जाना जाता है और कालके वे अणु रत्नोंकी राशिके समान परस्परमें एक दूसरेसे नहीं मिलते, सब जुदे-जुदे ही रहते हैं ॥ १४२ ॥

> प्रदेशप्रचयायोगादकायोऽयं प्रकीर्तितः । शेषाः पञ्चास्तिकायाः स्युः प्रदेशोपचितात्मकाः ॥ १४३ ॥

परस्परमें प्रदेशोंके नहीं मिलनेसे कालद्रव्य अकाय अर्थात् अप्रदेशी कहलाता है। कालको छोड़कर शेष पाँच द्रव्योंके प्रदेश इकट्ठे हुए रहते हैं इसलिए वे अस्तिकाय कहलाते हैं। भावार्थ—जिसमें बहुप्रदेश हों उसे अस्तिकाय कहते हैं, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी होनेके कारण अस्तिकाय हैं और कालद्रव्य एकप्रदेशी होनेसे अनस्तिकाय कहलाता है ॥ १४३ ॥

> धर्माधर्मवियत्कालपदार्था मूर्तिवर्जिताः । मूर्तिमत्पुद्गलद्रव्यं शृणु भेदानितः परम् ॥ १४४ ॥

धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार पदार्थ मूर्तिसे रहित हैं, पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है। अब आगे उसके भेदोंका वर्णन सुन। भावार्थ—जीव द्रव्य भी अमूर्तिक है परन्तु यहाँ अजीव द्रव्योंका प्रकरण चल रहा है इसलिए उसका निरूपण नहीं किया है। पाँच इन्द्रियोंमेंसे किसी भी इन्द्रियके द्वारा जिसका स्पष्ट ज्ञान हो उसे मूर्तिक कहते हैं, पुद्गलको छोड़कर और किसी पदार्थका इन्द्रियोंके द्वारा स्पष्ट ज्ञान नहीं होता इसलिए केवल पुद्गलद्रव्य ही मूर्तिक है और शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं ॥ १४४ ॥

> वर्णगन्धरसस्पर्शयोगिनः पुद्गला मताः । पूरणाद् गलनाच्चैव संप्राप्तान्वर्थनामकाः ॥ १४५ ॥

जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पाया जाये उसे पुद्गल कहते हैं। पूरण और गलन रूप स्वभाव होनेसे पुद्गल यह नाम सार्थक है। भावार्थ—अन्य परमाणुओंका आकर मिल जाना पूरण कहलाता है और पहलेके परमाणुओंका बिछुड़ जाना गलन कहलाता है, पुद्गल स्कन्धोंमें पूरण और गलन ये दोनों ही अवस्थाएँ होती रहती हैं, इसलिए उसका पुद्गल यह नाम सार्थक है ॥ १४५ ॥

> स्कन्धाणुभेदतस्तस्य पुद्गलस्य व्यवस्थितिः । स्निग्धरूक्षात्मकाणूनां सङ्घातः स्कन्ध इष्यते ॥ १४६ ॥

स्कन्ध और परमाणुके भेदसे पुद्गलकी व्यवस्था दो प्रकारकी होती है। स्निग्ध और रूक्ष अणुओंका जो समुदाय है उसे स्कन्ध कहते हैं ॥ १४६ ॥

> द्व्यणुकादिमहास्कन्धपर्यन्तस्तस्य विस्तरः । छायातपतमोज्योत्स्नापयोदादिप्रभेदभाक् ॥ १४७ ॥

उस पुद्गल द्रव्यका विस्तार दो परमाणुवाले द्व्यणुक स्कन्धसे लेकर अनन्तानन्त परमाणुवाले महास्कन्ध तक होता है। छाया, आतप, अन्धकार, चाँदनी, मेघ आदि सब उसके भेद-प्रभेद हैं ॥ १४७ ॥

> अतीन्द्रियाः कार्यलिङ्गाः द्विस्पर्शाः परिमण्डलाः । एकवर्णरसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्ययैः ॥ १४८ ॥

परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, वे इन्द्रियोंसे नहीं जाने जाते। घट-पट आदि परमाणुओंके कार्य हैं उन्हींसे उनका अनुमान किया जाता है। उनमें कोई भी दो अविरुद्ध स्पर्श रहते हैं, एक वर्ण, एक गन्ध और एक रस रहता है। वे परमाणु गोल और नित्य होते हैं तथा पर्यायोंकी अपेक्षा अनित्य भी होते हैं ॥ १४८ ॥

> सूक्ष्मसूक्ष्मास्तथा सूक्ष्माः सूक्ष्मस्थूलात्मकाः परे । स्थूलसूक्ष्मात्मकाः स्थूलाः स्थूलस्थूलाश्च पुद्गलाः ॥ १४९ ॥

ऊपर कहे हुए पुद्गल द्रव्यके छह भेद हैं—१ सूक्ष्मसूक्ष्म, २ सूक्ष्म, ३ सूक्ष्मस्थूल, ४ स्थूलसूक्ष्म, ५ स्थूल और ६ स्थूलस्थूल ॥ १४९ ॥

> सूक्ष्मसूक्ष्मोऽणुरेकः स्याददृश्योऽस्पृश्य एव च । सूक्ष्मास्ते कर्मणां स्कन्धाः प्रदेशानन्त्ययोगतः ॥ १५० ॥

इनमें-से एक अर्थात् स्कन्धसे पृथक् रहनेवाला परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म है क्योंकि न तो वह देखा जा सकता है और न उसका स्पर्श ही किया जा सकता है। कर्मोंके स्कन्ध सूक्ष्म कहलाते हैं क्योंकि वे अनन्त प्रदेशोंके समुदायरूप होते हैं ॥ १९० ॥

> शब्दः स्पर्शो रसो गन्धः सूक्ष्मस्थूलो निगद्यते । अचाक्षुषत्वे सत्येषामिन्द्रियग्राह्यतेक्षणात् ॥ १९१ ॥

शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध सूक्ष्मस्थूल कहलाते हैं क्योंकि यद्यपि इनका नेत्र इन्द्रियके द्वारा ज्ञान नहीं होता इसलिए ये सूक्ष्म हैं परन्तु अपनी-अपनी कर्ण आदि इन्द्रियोंके द्वारा इनका ग्रहण हो जाता है इसलिए ये स्थूल भी कहलाते हैं ॥ १९१ ॥

> स्थूलसूक्ष्माः पुनर्ज्ञेयाश्छायाज्योत्स्नातपादयः । चाक्षुषत्वेऽप्यसंहार्यरूपत्वादविघातकाः ॥ १९२ ॥

छाया, चाँदनी और आतप आदि स्थूलसूक्ष्म कहलाते हैं क्योंकि नेत्र इन्द्रियके द्वारा दिखायी देनेके कारण ये स्थूल हैं परन्तु इनके रूपका संहरण नहीं हो सकता इसलिए विघातरहित होनेके कारण सूक्ष्म भी हैं ॥ १९२ ॥

> द्रवद्रव्यं जलादि स्यात् स्थूलभेदनिदर्शनम् । स्थूलस्थूलः पृथिव्यादिभेदैः षट्कः प्रकीर्तितः ॥ १९३ ॥

पानी आदि द्रव पदार्थ जो कि पृथक् करनेपर भी मिल जाते हैं वे स्थूल भेदके उदाहरण हैं, अर्थात् दूध, पानी आदि पतले पदार्थ स्थूल कहलाते हैं और पृथिवी आदि काठिन्य पदार्थ जो कि भेद किये जानेपर फिर न मिल सकें स्थूलस्थूल कहलाते हैं ॥ १९३ ॥

> इत्यमीषां पदार्थानां याथात्म्यमविपर्ययात् । यः श्रद्धत्ते स भव्यात्मा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ १९४ ॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए जीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका जो भव्य विपरीतता-रहित श्रद्धान करता है वह परब्रह्म अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ १९४ ॥

> तत्त्वार्थसंग्रहं कृत्स्नमित्युक्त्वास्मै विदां वरः । कानिचित्तत्त्वबीजानि पुनरुद्देशतो जगौ ॥ १९५ ॥

इस प्रकार ज्ञानवानोंमें अतिशय श्रेष्ठ भगवान वृषभदेवने भरतके लिए समस्त तत्त्वार्थोंके संग्रहका निरूपण कर फिर भी संक्षेपसे कुछ तत्त्वोंका स्वरूप कहने लगे ॥ १९५ ॥

> पुरुषं पुरुषार्थं च मार्गं मार्गफलं तथा । बन्धं मोक्षं तयोर्हेतून् बद्धं मुक्तं च सोऽभ्यधात् ॥ १५६ ॥

उन्होंने आत्मा, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ, मुनि तथा श्रावकोंका मार्ग, स्वर्ग और मोक्षरूप मार्गका फल, बन्ध और बन्धका कारण, मोक्ष और मोक्षका कारण, कर्मरूपी बन्धनसे बँधे हुए संसारी जीव और कर्मबन्धनसे रहित मुक्त जीव आदि विषयोंका निरूपण किया ॥ १५६ ॥

> त्रिजगदवस्थानं नरकप्रस्तरानपि । द्वीपाब्धिह्रदशैलादीनप्यथास्मा उपादिशत् ॥ १५७ ॥

इसी प्रकार तीनों लोकोंका आकार, नरकोंके पटल, द्वीप, समुद्र, ह्रद और कुलाचल आदिका भी स्वरूप भरतके लिए कहा ॥ १५७ ॥

> त्रिषष्टिपटलं स्वर्गं देवायुर्भोगविस्तरम् । मोक्षस्थानमपि प्राज्ञो लोकनाडीं च सञ्जगौ ॥ १५८ ॥

अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीके धारक भगवान् वृषभदेवने तिरसठ पटलोंसे युक्त स्वर्ग, देवोंके आयु और उनके भोगोंका विस्तार, मोक्षस्थान तथा लोकनाड़ीका भी वर्णन किया ॥ १५८ ॥

> तीर्थेशानां पुराणानि चक्रिणामर्धचक्रिणाम् । तत्कल्याणानि तद्धेतूनप्याचख्यौ जगद्गुरुः ॥ १५९ ॥

जगद्गुरु भगवान वृषभदेवने तीर्थंकर, चक्रवर्ती और अर्ध-चक्रवर्तियोंके पुराण, तीर्थंकरोंके कल्याणक और उनके हेतुस्वरूप सोलहकारण भावनाओंका भी निरूपण किया ॥ १५९ ॥

> गतिमागतिमुत्पत्तिं विनाशं च शरीरिणाम् । भुक्तिमृद्धिं कृत्याकृत्ये भगवान् व्याजहार सः ॥ १६० ॥

भगवानने, अमुक जीव मरकर कहाँ-कहाँ पैदा होता है, अमुक जीव कहाँ-कहाँसे आकर पैदा हो सकता है, जीवोंकी उत्पत्ति, विनाश, भोगसामग्री, विभूतियाँ अथवा मुनियोंकी ऋद्धियाँ, तथा मनुष्योंके करने और न करने योग्य काम आदि सबका निरूपण किया था ॥ १६० ॥

> भवद्भाविष्यद्भूतं च द्रव्यजातं सविस्तरम् । सर्ववित् सर्वमर्हन् स भरतं प्रत्यबोधयत् ॥ १६१ ॥

सबको जाननेवाले और सबका कल्याण करनेवाले भगवान् वृषभदेवने भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालसम्बन्धी सब द्रव्योंका सब स्वरूप भरतके लिए बतलाया था ॥ १६१ ॥

> इत्याकर्ण्य जगद्गुरोः परमपूरुषात् । प्रह्लादं परमं प्राप भरतो भक्तिनिर्भरः ॥ १६२ ॥

इस प्रकार जगद्गुरु-परमपुरुष भगवान वृषभदेवसे तत्त्वोंका स्वरूप सुनकर भक्तिसे भरे हुए महाराज भरत परम आनन्दको प्राप्त हुए ॥ १६२ ॥

> सम्यक्त्वशुद्धिं लब्ध्वा व्रतशुद्धिं च पुष्कलाम् । निष्कलमर्हन्तं भेजे परमानन्दमुद्वहन् ॥ १६३ ॥

तदनन्तर परम आनन्दको धारण करते हुए भरतने निष्कल अर्थात् शरीरानुरागसे रहित भगवान वृषभदेवसे सम्यग्दर्शनकी शुद्धि और अणुव्रतोंकी परम विशुद्धिको प्राप्त किया ॥ १६३ ॥

> प्रबुद्धो मानसीं शुद्धिं परमां परमर्षितः । अवाप्य भरतो रेजे शरदीवाम्बुजाकरः ॥ १६४ ॥

जिस प्रकार शरद् ऋतुमें प्रबुद्ध अर्थात् खिला हुआ कमलोंका समूह सुशोभित होता है उसी प्रकार महाराज भरत परमर्षि भगवान वृषभदेवसे प्रबुद्ध होकर—तत्त्वोंका स्वरूप जानकर परम विशुद्धिको प्राप्त हो अतिशय सुशोभित हो रहे थे ॥ १६४ ॥

> स लेभे गुरुमाराध्य सम्यग्दर्शननायकाम् । व्रतशीलावलिं रम्यां कण्ठिकामिव निर्मलाम् ॥ १६५ ॥

भरतने, गुरुदेवकी आराधना कर, जिसमें सम्यग्दर्शनरूपी प्रधान मणि लगा हुआ है और जो मुक्तिरूपी लक्ष्मीके कण्ठहारके समान जान पड़ती थी ऐसी व्रत और शीलोंकी निर्मल माला धारण की थी। भावार्थ—सम्यग्दर्शनके साथ-साथ पाँच अणुव्रत और सात शीलव्रत धारण किये थे तथा उनके अतिचारोंका बचाव किया था ॥ १६५ ॥

> गुरूपदेशसंस्काराद्विदीपे भरतेश्वरः । यथा महाकरोद्भूतो मणिः संस्कारयोगतः ॥ १६६ ॥

जिस प्रकार किसी बड़ी खानसे निकला हुआ मणि संस्कारके योगसे देदीप्यमान होने लगता है उसी प्रकार महाराज भरत भी गुरुदेवसे ज्ञानमय संस्कार पाकर सुशोभित हो रहे थे ॥ १६६ ॥

त्रिदशासुरमर्त्यानां सा सभा संसत्स्थिता । पीतसद्धर्मपीयूषा परामाप तदा मुदम् ॥ १६७ ॥

उस समय देव, असुर और मनुष्योंकी वह सभा भगवानके समवसरणमें बैठकर तथा समीचीन धर्मरूपी अमृतका पान कर परम आनन्दको प्राप्त हुई थी ॥ १६७ ॥

घनध्वनिमिव श्रुत्वा विभोर्दिव्यध्वनिं तदा । शिखिन इव संहृष्टाः परं प्रमदमाययुः ॥ १६८ ॥

उस समय भगवानकी मेघके समान गम्भीर दिव्यध्वनिको सुनकर सभाके समस्त भव्य जीव मयूरोंके समान परम आनन्दको प्राप्त हुए थे ॥ १६८ ॥

दिव्यध्वनिमनुश्रुत्य जलदस्वनितोपमम् । अशोकविटपारूढाः सस्वनुर्दिव्यबर्हिणः ॥ १६९ ॥

तथा मेघके शब्दके समान भगवानकी दिव्यध्वनिको सुनकर अशोकवृक्षकी शाखाओंपर बैठे हुए देव-सम्बन्धी मयूर भी आनन्दसे शब्द करने लगे थे ॥ १६९ ॥

सप्ताचिषमिवासाद्य तं त्रातारं प्रभास्वरम् । भव्यरत्नानि भेजुश्च दिव्यां दीप्तिं समन्ततः ॥ १७० ॥

अग्निके समान देदीप्यमान और सबकी रक्षा करनेवाले उन भगवान वृषभदेवको पाकर समवसरणमें बैठे हुए भव्य जीवरूपी रत्न चारों ओरसे दिव्य प्रभाको प्राप्त हो रहे थे ॥ १७० ॥

योऽसौ पुरिमतालेशो भरतस्यानुजः कृती । सुधीरो धीधनाध्यक्षो धौरेयो मानशालिनाम् ॥ १७१ ॥

अयोध्याके समीपवर्ती पुरिमताल नगरका स्वामी, भरतका छोटा भाई, परम चतुर, धीर-वीर, बुद्धिरूपी धनके स्वामियोंमें मुख्य और मानी पुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ ॥ १७१ ॥

वृषभसेनाख्यः प्रज्ञापारमितो वशी । स संबुध्य गुरोः पार्श्वे दीक्षित्वाभूद् गणाधिपः ॥ १७२ ॥

इन्द्रियोंको जीतनेवाला तथा बुद्धिकी पारको प्राप्त हुआ वह वृषभसेन कुमार भगवान्के समीप सम्बोध पाकर और दीक्षा धारण कर भगवानका गणधर हो गया ॥ १७२ ॥

> सप्तर्द्धिभिरतर्द्ध्या तपोदीप्त्यावृतोऽभितः । व्यदीपि घृतातस्नेहो दीप्ततमोदयः ॥ १७३ ॥

सात ऋद्धियोंसे जिनकी विभूति अतिशय देदीप्यमान हो रही है, जो चारों ओरसे तपकी दीप्तिसे घिरे हुए हैं और जिन्होंने अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारके उदयको नष्ट कर दिया है ऐसे वे वृषभसेन गणधर शरद् ऋतुके सूर्यके समान अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे ॥ १७३ ॥

> श्रीमान् कुरुशार्दूलो सोमप्रभोऽपि च । नृपाश्चान्ये तदोपात्तदीक्षा गणभृतोऽभवन् ॥ १७४ ॥

उसी समय श्रीमान् और कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ महाराज सोमप्रभ, श्रेयांस कुमार, तथा अन्य राजा लोग भी दीक्षा लेकर भगवानके गणधर हुए थे ॥ १७४ ॥

> ब्राह्मी भरतस्यानुजा दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात् । गणिनीपद्मार्याणां सा भेजे पूजितामरैः ॥ १७५ ॥

भरतकी छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुदेवकी कृपासे दीक्षित होकर आर्यिकाओंके बीचमें गणिनी (स्वामिनी) के पदको प्राप्त हुई थी। वह ब्राह्मी सब देवोंके द्वारा पूजित हुई थी ॥ १७५ ॥

> रराज राजकन्या सा राजहंसीव सुस्वना । दीक्षाशरन्नदीशीलपुलिनस्थकशायिनी ॥ १७६ ॥

उस समय वह राजकन्या ब्राह्मी दीक्षारूपी शरद् ऋतुकी नदीके शीलरूपी किनारेपर बैठी हुई और मधुर शब्द करती हुई हंसीके समान सुशोभित हो रही थी ॥ १७६ ॥

> सुन्दरी चाप्तनिर्वेदा तां ब्राह्मीमन्वदीक्षत । अन्ये चान्याश्च संविग्नाः स्त्रीपुंसः प्राव्रजिषुस्तदा ॥ १७७ ॥

वृषभदेवकी दूसरी पुत्री सुन्दरीको भी उस समय वैराग्य उत्पन्न हो गया था जिससे उसने भी ब्राह्मीके बाद दीक्षा धारण कर ली थी। इनके सिवाय उस समय और भी अनेक राजाओं तथा राजकन्याओंने संसारसे भयभीत होकर गुरुदेवके समीप दीक्षा धारण की थी ॥ १७७ ॥

> श्रुतकीर्तिर्महाप्राज्ञो गृहीतोपासकव्रतः । देशसंयमिनामासीद् धौरेयो गृहमेधिनाम् ॥ १७८ ॥

श्रुतकीर्ति नामके किसी अतिशय बुद्धिमान् पुरुषने श्रावकके व्रत ग्रहण किये थे, और वह देशव्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंमें सबसे श्रेष्ठ हुआ था ॥ १७८ ॥

> श्राविका धीरा प्रशान्तात्मा प्रियव्रता । इयं विदुषवतीनां बभूवाग्रेसरी सती ॥ १७९ ॥

इसी प्रकार अतिशय धीर-वीर और पवित्र अन्तःकरणको धारण करनेवाली कोई प्रियव्रता नामकी सती स्त्री श्रावकके व्रत धारण कर, उत्कृष्ट चारित्रको धारण करनेवाली स्त्रियोंमें सबसे श्रेष्ठ हुई थी ॥ १७९ ॥

> विभोः केवल्यसंप्राप्तिक्षण एव महौजसः । योगिनोऽन्येऽपि भूयांसो बभूवुर्भुवनोत्तमाः ॥ १८० ॥

जिस समय भगवानको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था उस समय और भी बहुत-से उत्तमोत्तम राजा लोग दीक्षित होकर बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले मुनिराज हुए थे ॥ १८० ॥

> संबुद्धोऽनन्तवीर्यश्च सुरैः सम्प्राप्तपूजनः । पुराणेऽस्मिन् भुवनप्रवरो मोक्षवतामभूत् ॥ १८१ ॥

भरतके भाई अनन्तवीर्यने भी सम्बोध पाकर भगवानसे दीक्षा प्राप्त की थी, देवोंने भी उसकी पूजा की थी और वह इस अवसर्पिणी युगमें मोक्ष प्राप्त करनेके लिए सबमें अग्रगामी हुआ था। भावार्थ—इस युगमें अनन्तवीर्यने सबसे पहले मोक्ष प्राप्त किया था ॥ १८१ ॥

> मरीचिवर्ज्याः सर्वेऽपि तापसास्तपसि स्थिताः । लब्ध्वाबोधं पुनस्तत्र महाप्रात्राज्यमास्थिताः ॥ १८२ ॥

जो तापस पहले भ्रष्ट हो गये थे उनमें-से मरीचिको छोड़कर बाकी सब तापस लोग भगवानके समीप सम्बोध पाकर तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप समझकर फिरसे दीक्षित हो तपस्या करने लगे थे ॥ १८२ ॥

> ततो भरतराजेन्द्रो गुरुं संपूज्य पुण्यधीः । स्वपुराभिमुखोऽगच्छच्चक्रपूजाकृतत्वरः ॥ १८३ ॥

तदनन्तर जिन्हें चक्ररत्नकी पूजा करनेके लिए कुछ जल्दी हो रही है और जो पवित्र बुद्धिके धारक हैं ऐसे महाराज भरत जगद्गुरुकी पूजा कर अपने नगरके सम्मुख हुए ॥ १८३ ॥

> युवा बाहुबली धीमानन्ये च भरतानुजाः । तमन्वीयुः कृतानन्दाः प्रणम्य जगद्गुरुम् ॥ १८४ ॥

युवावस्थाको धारण करनेवाला बुद्धिमान बाहुबली तथा और भी भरतके छोटे भाई आनन्दके साथ जगद्गुरुकी वन्दना करके भरतके पीछे-पीछे वापस लौट रहे थे ॥ १८४ ॥

> भरतपतिमथाविर्भूतदिव्यानुभावप्रसरमुदयरागं प्रत्युपात्ताभिमुख्यम् । विजयिनमनुजग्मुर्भ्रातरस्तद्दिनादौ दिनपमिव मयूखा दिक्मुखाक्रान्तभाजः ॥ १८५ ॥

अथानन्तर उस समय महाराज भरत ठीक सूर्यके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार सूर्यका दिव्य प्रभावका प्रसार (विस्तार) प्रकट होता है, उसी प्रकार भरतके भी दिव्य-अलौकिक प्रभावका प्रसार प्रकट हो रहा था, सूर्य जिस प्रकार उदय होते समय राग अर्थात् लालिमा धारण करता है उसी प्रकार भरत भी अपने राज्य-शासनके अभ्युदयसे प्रजासे राग अर्थात् प्रेम धारण कर रहे थे, सूर्य जिस प्रकार आभिमुख्य अर्थात् प्रधानताको धारण करता है उसी प्रकार भरत भी प्रधानताको धारण कर रहे थे, सूर्य जिस प्रकार विजयी होता है उसी प्रकार भरत भी विजयी थे, और सायंकालके समय जिस प्रकार समस्त दिशाओंको प्रकाशित करनेवाली किरणें सूर्यके पीछे-पीछे जाती हैं ठीक उसी प्रकार समस्त दिशाओंमें आक्रमण करनेवाले भरतके छोटे भाई उनके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ १८५ ॥

> स्वान्तर्नीतासमस्तवस्तुविसरां प्रास्तीर्णवर्णोज्ज्वलां निर्णीतां नयचक्रसन्निधिगुणां स्फीतप्रमोदावहाम् । विश्वास्यां निखिलाङ्गवृत्तपरिचितां जैनीमिव व्याहृतिं प्राविक्षत्परया मुदा निधिसुतः स्वामुत्पताकां पुरीम् ॥ १८६ ॥

इस प्रकार निधियोंके अधिपति महाराज भरतने बड़े भारी आनन्दके साथ अपनी अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया था। उस समय उसमें अनेक ध्वजाएँ फहरा रही थीं और वह ठीक जिनवाणीके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार जिनवाणीके भीतर समस्त पदार्थोंका विस्तार भरा रहता है उसी प्रकार उस अयोध्यामें अनेक पदार्थोंका विस्तार भरा हुआ था। जिस प्रकार जिनवाणी फैले हुए वर्णों अर्थात् अक्षरोंसे उज्ज्वल रहती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी फैले हुए-जगह-जगह बसे हुए क्षत्रिय आदि वर्णोंसे उज्ज्वल थी। जिस प्रकार जिनवाणी अत्यन्त शुचिरूप-पवित्र होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी शुचिरूप-कर्दम आदिसे रहित-पवित्र थी। जिस प्रकार जिनवाणी नयसमूहके सन्निधानसे श्रेष्ठ होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी नीतिसमूहके सन्निधानसे श्रेष्ठ थी। जिस प्रकार जिनवाणी विस्तृत आनन्दको देनेवाली होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी सबको विस्तृत आनन्दकी

देनेवाली थी, जिस प्रकार जिनवाणी विश्वास्य अर्थात् विश्वास करने योग्य होती है अथवा सब ओर मुखवाली अर्थात् समस्त पदार्थोंका निरूपण करनेवाली होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी विश्वास करनेके योग्य अथवा सब ओर हैं आस्य अर्थात् मुख जिसके ऐसी थी-उसके चारों ओर गोपुर बने हुए थे, और जिस प्रकार जिनवाणी सभी अंग अर्थात् द्वादशांगको धारण करनेवाले मुनियोंके द्वारा परिचित-अभ्यस्त रहती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी समस्त जीवोंके द्वारा परिचित थी-उसमें प्रत्येक प्रकारके प्राणी रहते थे ॥ १८६ ॥

> भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवद्धर्मोपदेशनोपवर्णनं नाम चतुर्विंशतितमं पर्व ॥ २४ ॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहमें भगवत्कृत धर्मोपदेशका वर्णन करनेवाला चौबीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

आदिपुराणम् - पर्व २८ (श्लोक १-१०६)

गते भरतराजर्षौ दिव्यध्वनावुपसंहृते । निवातस्तिमितोदन्वानिवानविष्कृतध्वनिः ॥ १ ॥

अथानन्तर—राजर्षि भरतके चले जाने और दिव्य ध्वनिके बन्द हो जानेपर वायु बन्द होनेसे निश्चल हुए समुद्रके समान जिनका शब्द बिलकुल बन्द हो गया है ॥ १ ॥

धर्माम्बुवर्षसंसिक्तजगज्जनवनद्रुमः । प्रावृड्घनमिवोद्वान्तवृष्टिरुत्सृष्टनिःस्वनः ॥ २ ॥

जिन्होंने धर्मरूपी जलकी वर्षाके द्वारा जगत्के जीवरूपी वनके वृक्ष सींच दिये हैं, अतएव जो वर्षा कर चुकनेके बाद शब्दरहित हुए वर्षाऋतुके बादलके समान जान पड़ते हैं ॥ २ ॥

कल्पद्रुममिवाभीष्टफलविश्राणनोद्यतम् । स्वपादाम्यर्णविश्रान्तत्रिजगज्जनसूरजितम् ॥ ३ ॥

जो कल्पवृक्षके समान अभीष्ट फल देनेमें तत्पर रहते हैं, जिनके चरणोंके समीपमें तीनों लोकोंके जीव विश्राम लेते हैं और जो अनन्त ऋद्धियोंसे सहित हैं ॥ ३ ॥

विवस्वन्तमिवोद्भूतमोहान्धतमसोदयम् । नवकेवललब्ध्युत्थकरोत्करविराजितम् ॥ ४ ॥

जिन्होंने सूर्यके समान मोहरूपी गाढ़ अन्धकारके उदयको नष्ट कर दिया है, और जो नव केवललब्धिरूपी देदीप्यमान किरणोंके समूहसे सुशोभित हैं ॥ ४ ॥

महाकरमिवोद्भूतगुणरत्नोच्चयान्वितम् । भगवन्तं जगत्कान्तमचिन्त्यानन्तवैभवम् ॥ ५ ॥

जो किसी बड़ी भारी खानके समान उत्पन्न हुए गुणरूपी रत्नोंके समूहसे व्याप्त हैं, भगवान् हैं, जगत्के अधिपति हैं, और अचिन्त्य तथा अनन्त वैभवको धारण करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

> वृतं श्रमणसङ्घेन चतुर्धेन समन्ततः । चतुर्विधवनामोदपरिष्कृतमिवाद्रिपम् ॥ ६ ॥

जो चार प्रकारके श्रमण संघसे घिरे हुए हैं और उनसे ऐसे जान पड़ते हैं मानो भद्रशाल आदि चारों वनोंके विस्तारसे घिरा हुआ सुमेरु पर्वत ही हो ॥ ६ ॥

> प्रातिहार्याष्टकोपेतमिद्धकल्याणपञ्चकम् । चतुस्त्रिंशदतिशयैर्विराजितं त्रिजगत्प्रभुम् ॥ ७ ॥

जो आठ प्रातिहार्योंसे सहित हैं, जिनके पाँच कल्याणक सिद्ध हुए हैं, चौंतीस अतिशयोंके द्वारा जिनका ऐश्वर्य बढ़ रहा है और जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं ॥ ७ ॥

> प्रपश्यन् विकसितैर्नेत्रैः सहस्रैः प्रीतमानसः । सौधर्मेन्द्रः स्तुतिं कर्तुमथारेभे समाहितः ॥ ८ ॥

ऐसे भगवान् वृषभदेवको देखते ही जिसके हजार नेत्र विकसित हो गये हैं और मन प्रसन्न हो रहा है ऐसे सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने स्थिरचित्त होकर भगवानकी स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥ ८ ॥

> स्तोष्ये त्वां भगवन् ज्योतिर्गुणरत्नमहाकरम् । मतिप्रकर्षहीनोऽपि केवलं भक्तिचोदितः ॥ ९ ॥

हे प्रभो, यद्यपि मैं बुद्धिकी प्रकर्षतासे रहित हूँ तथापि केवल आपकी भक्तिसे ही प्रेरित होकर परम ज्योतिःस्वरूप तथा गुणरूपी रत्नोंकी खानस्वरूप आपकी स्तुति करता हूँ ॥ ९ ॥

> त्वामभिष्टुवतां भव्या विविधाः फलसंपदः । स्वयमाविर्भवन्तीति निश्चित्य त्वां जिन स्तुवे ॥ १० ॥

हे जिनेन्द्र, भक्तिपूर्वक आपकी स्तुति करनेवाले भव्य पुरुषोंको उत्तम-उत्तम फलरूपी सम्पदाएँ अपने-आप ही प्राप्त होती हैं, यही निश्चय कर आपकी स्तुति करता हूँ ॥ १० ॥

> स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोताऽहं च प्रसन्नधीः । निष्ठावान् भवान् स्तुत्यः फलं नः स्यात् परं सुखम् ॥ ११ ॥

पवित्र गुणोंका निरूपण करना स्तुति है, प्रसन्न बुद्धिवाला भव्य मैं स्तोता अर्थात् स्तुति करनेवाला हूँ, जिनके सब पुरुषार्थ सिद्ध हो चुके हैं ऐसे आप स्तुत्य अर्थात् स्तुतिके विषय हैं, और मोक्षका सुख प्राप्त होना उसका फल है ॥ ११ ॥

> इति मत्वा समाधाय चेतो मां फलार्थिनम् । दृशा प्रसन्नया देव त्वं पुनीहि सनातन ॥ १२ ॥

हे विभो, हे सनातन देव, इस प्रकार विचार कर हृदयसे स्तुति करनेवाले और फलकी इच्छा करनेवाले मुझको आप अपनी प्रसन्न दृष्टिसे पवित्र कीजिए ॥ १२ ॥

> मामुदाकुरुते भक्तिस्त्वद्गुणैः परिचोदिता । ततः स्तुतिपथेऽस्मिंस्त्वां प्रवृत्तोऽहमुदासीनधीः ॥ १३ ॥

हे भगवन्, आपके गुणोंके द्वारा प्रेरित हुई भक्ति ही मुझे आनन्दित कर रही है इसलिए मैं संसारसे उदासीन होता हुआ भी आपकी इस स्तुतिके मार्गमें प्रवृत्त हो रहा हूँ ॥ १३ ॥

> त्वयि भक्तिः कृताल्पापि महतीः फलसंपदः । प्रसूते विधिना नृणां कल्पक्ष्मारुहसेवेव देहिनाम् ॥ १४ ॥

हे विभो, आपके विषयमें विधिपूर्वक की गयी थोड़ी भी भक्ति कल्पवृक्षकी सेवाकी तरह प्राणियोंके लिए बड़ी-बड़ी सम्पदाएँरूपी फल प्रदान करती है ॥ १४ ॥

> तवारिज्यमनाचष्टे वपुरस्पृष्टकैतवम् । दोषावेशविकारा हि रागिणां भूषणादयः ॥ १५ ॥

हे भगवन्, आभूषण आदि उपाधियोंसे रहित आपका शरीर आपके राग-द्वेष आदि शत्रुओंकी विजयको स्पष्ट रूपसे कह रहा है क्योंकि आभूषण आदि तो रागी मनुष्योंके दोष प्रकट करनेवाले विकार हैं। भावार्थ—रागी जन ही आभूषण पहनते हैं परन्तु आपने राग-द्वेष आदि अन्तरंग शत्रुओंपर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है इसलिए आपको आभूषण आदिके पहननेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १५ ॥

> निर्भूषमपि चात्यर्थं ते वपुर्भुवनभूषणम् । दीप्तं हि भूषणं यन्न भूषणान्तरमीक्षते ॥ १६ ॥

हे प्रभो, समस्त जगत्को सुशोभित करनेवाला आपका यह शरीर भूषणरहित होनेपर भी अत्यन्त सुन्दर है सो ठीक ही है क्योंकि जो आभूषण स्वयं देदीप्यमान होता है वह दूसरे आभूषणकी प्रतीक्षा नहीं करता ॥ १६ ॥

> न रुच्यः कबरीबन्धो न शेखरपरिग्रहः । न किरीटादिभारस्ते तथापि रुचिरं शिरः ॥ १७ ॥

हे भगवन्, यद्यपि आपके मस्तकपर न तो सुन्दर केशोंका बन्ध है, न शेखरका परिग्रह है और न मुकुटका भार ही है तथापि वह अत्यन्त सुन्दर है ॥ १७ ॥

> न मुखे भ्रुकुटीन्यासो न दृष्टो दशनच्छदः । नास्त्रे व्यापारितो हस्तस्तथापि त्वमरीनहन् ॥ १८ ॥

हे नाथ, आपके मुखपर न तो भौंह ही टेढ़ी हुई है, न आपने ओठ ही दबाये हैं और न आपने अपना हाथ ही शस्त्रोंपर व्यापारित किया है—हाथसे शस्त्र उठाया है फिर भी आपने घातियाकर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट कर दिया है ॥ १८ ॥

> त्वया नाताम्रीते नेत्रे नीलोत्पलदलायिते । मोहारिविजये देव प्रभुशक्तिस्तवाद्भुता ॥ १९ ॥

हे देव, आपने मोहरूपी शत्रुको जीतनेमें अपने नीलकमलके दलके समान बड़े-बड़े नेत्रोंको कुछ भी लाल नहीं किया था, इससे मालूम होता है कि आपकी प्रभुत्वशक्ति बड़ा आश्चर्य करनेवाली है ॥ १९ ॥

> अपाङ्गावलोकं ते जिनेन्द्र नयनद्वयम् । मदनारिजयं वक्ति व्यक्तं नः सौम्यवीक्षितम् ॥ २० ॥

हे जिनेन्द्र, आपके दोनों नेत्र कटाक्षावलोकनसे रहित हैं और सौम्य दृष्टिसे सहित हैं इसलिए वे हम लोगोंको स्पष्ट रीतिसे बतला रहे हैं कि आपने कामदेवरूपी शत्रुको जीत लिया है ॥ २० ॥

> त्वद्दृशोरमला दीप्तिरास्पृशन्ती शिरो नः । पुनाति पुण्यधारेव जगतामेकपावनी ॥ २१ ॥

हे नाथ, हम लोगोंके मस्तकका स्पर्श करती हुई और जगत्को एकमात्र पवित्र करनेवाली आपके दोनों नेत्रोंकी निर्मल दीप्ति पुण्यधाराके समान हम लोगोंको पवित्र कर रही है ॥ २१ ॥

तवेदमाननं भाति प्रफुल्लकमलश्रियम् । स्वकान्तिज्योत्स्नया विश्वमाक्रामच्छरदिन्दुवत् ॥ २२ ॥

हे भगवन्, शरद् ऋतुके चन्द्रमाके समान अपनी कान्तिरूपी चाँदनीसे समस्त जगत्को व्याप्त करता हुआ आपका यह मुख फूले हुए कमलकी शोभा धारण कर रहा है ॥ २२ ॥

अट्टहासादहंकारमदष्टोष्ठपुटं मुखम् । जिनाख्याति सुमेधोभ्यस्तावकीं वीतरागताम् ॥ २३ ॥

हे जिन, आपका मुख न तो अट्टहाससे सहित है, न अहंकारसे युक्त है और न ओठोंको ही दबाये है इसलिए वह बुद्धिमान लोगोंको आपकी वीतरागता प्रकट कर रहा है ॥ २३ ॥

त्वन्मुखादुद्यती दीप्तिः पावनीव सरस्वती । विधुन्वती तमो भाति जितबालातपद्युतिः ॥ २४ ॥

हे देव, जो अन्धकारको नष्ट कर रही है और जिसने प्रातःकालके सूर्यकी प्रभाको जीत लिया है ऐसी आपके मुखसे निकलती हुई पवित्र दीप्ति सरस्वतीके समान सुशोभित हो रही है ॥ २४ ॥

त्वन्मुखाम्बुरुहासक्ता सुराणां नयनावली । भात्येयमलिमालेव तदामोदानुपातिनी ॥ २५ ॥

हे भगवन्, आपके मुखरूपी कमलपर लगी हुई यह देवोंके नेत्रोंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती है मानो उसकी सुगन्धिके कारण चारों ओरसे झपटती हुई भ्रमरोंकी पंक्ति ही हो ॥ २५ ॥

मकरन्दमिवापीय त्वद्वक्त्राब्जोद्गतं वचः । अनातृप्तममी भव्यभ्रमरा मुदमाययुः ॥ २६ ॥

हे नाथ, जिससे तृप्ति न हो ऐसे आपके मुखरूपी कमलसे निकले हुए आपके वचनरूपी मकरन्दका पान कर ये भव्य जीवरूपी भ्रमर आनन्दको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २६ ॥

पुरतोऽभिमुखोऽपि त्वं लक्ष्यसे विश्वतोमुखः । तेजोगुणस्य माहात्म्यमिदं वा तवादद्भुतम् ॥ २७ ॥

हे भगवन्, यद्यपि आप आगेकी ओर ही मुख किये हुए विराजमान हैं तथापि ऐसे दिखाई देते हैं मानो आपके मुख चारों ओर हों। हे देव, निश्चय ही यह आपके तपश्चरणरूपी गुणका आश्चर्य करनेवाला माहात्म्य है ॥ २७ ॥

> विश्वदिक्षु विसर्पन्ति तावका वागमरीचयः । तिरश्चामपि हृद्ध्वान्तमुद्वहन्तो जिनांशुमान् ॥ २८ ॥

हे जिनेन्द्ररूपी सूर्य, तिर्यंचोंके भी हृदयगत अन्धकारको दूर करनेवाली आपकी वचनरूपी किरणें सब दिशाओंमें फैल रही हैं ॥ २८ ॥

> त्वद्वागमृतसंसेकादमराः स्म वयं त्वया । पीयूषमिदमिष्टं नो देव सर्वरुजाहरम् ॥ २९ ॥

हे देव, आपके वचनरूपी अमृतको पीकर आज हम लोग वास्तवमें अमर हो गये हैं इसलिए सब रोगोंको हरनेवाला आपका यह वचनरूप अमृत हम लोगोंको बहुत ही इष्ट—प्रिय है ॥ २९ ॥

> जिनेन्द्र तव वक्त्राब्जं प्रक्षरद्वचनामृतम् । भव्यानां प्रीणनं भाति धर्मस्येव निधानकम् ॥ ३० ॥

हे जिनेन्द्रदेव, जिससे वचनरूपी अमृत झर रहा है और जो भव्य जीवोंका जीवन है ऐसा यह आपका मुखरूपी कमल धर्मके खजानेके समान सुशोभित हो रहा है ॥ ३० ॥

> मुखेन्दुमण्डलाद्देव तव वाक्किरणा इमे । विनिर्यान्तो हतध्वान्ताः सभामाह्लादयन्त्यलम् ॥ ३१ ॥

हे देव, आपके मुखरूपी चन्द्रमण्डलसे निकलती हुई ये वचनरूपी किरणें अन्धकारको नष्ट करती हुई सभाको अत्यन्त आनन्दित कर रही हैं ॥ ३१ ॥

> इदं वाचां विचित्राणामक्रमं प्रभवः प्रभो । तीर्थङ्करत्वस्य देव वैभवमीदृशम् ॥ ३२ ॥

हे देव, यह भी एक आश्चर्यकी बात है कि आपसे अनेक प्रकारकी भाषाओंकी एक साथ उत्पत्ति होती है अथवा आपके तीर्थंकरपनेका वैभव ही ऐसा है ॥ ३२ ॥

> स्वेदमलापगतं सुगन्धि शुभलक्षणम् । सुसंस्थानमरक्तासृग्वपुर्वज्रस्थिरं तव ॥ ३३ ॥

हे भगवन्, जो पसीना और मलमूत्रसे रहित है, सुगन्धित है, शुभ लक्षणोंसे सहित है, समचतुरस्र संस्थान है, जिसमें लाल रक्त नहीं है और वज्रके समान स्थिर है ऐसा यह आपका शरीर अतिशय सुशोभित हो रहा है ॥ ३३ ॥

रूपं नयनाह्लादि सौभाग्यं चित्तरञ्जनम् । सूक्तं जगदानन्दि तवासाधारणा गुणाः ॥ ३४ ॥

हे देव, नेत्रोंको आनन्दित करनेवाली सुन्दरता, मनको प्रसन्न करनेवाला सौभाग्य और जगत्को हर्षित करनेवाली मीठी वाणी ये आपके असाधारण गुण हैं अर्थात् आपको छोड़कर संसारके अन्य किसी जीवमें नहीं रहते ॥ ३४ ॥

अमेयमपि ते वीर्यं मितं देहे प्रभान्विते । स्वल्पेऽपि दर्पणे बिम्बं गगनस्येव दृश्यते ॥ ३५ ॥

हे भगवन्, यद्यपि आपका वीर्य अपरिमित है तथापि वह आपके परिमित अल्प परिमाणवाले शरीरमें समाया हुआ है सो ठीक ही है क्योंकि आकाशका प्रतिबिम्ब छोटेसे दर्पणमें भी समा जाता है ॥ ३५ ॥

त्वदास्थानस्थितेर्देशात् समन्तात् शतयोजनम् । सुलभाशनपानादि त्वन्महिम्नोपजायते ॥ ३६ ॥

हे नाथ, जहाँ आपका समवसरण होता है उसके चारों ओर सौ-सौ योजन तक आपके माहात्म्यसे अन्न-पान आदि सब सुलभ हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

गगनानुगतं यानं तवासीत् पृथिवीस्पृशः । देवासुरं भरं सोढुमक्षमा धरणीति नु ॥ ३७ ॥

हे देव, यह पृथिवी समस्त सुर और असुरोंका भार धारण करनेमें असमर्थ है इसलिए ही क्या आपका समवसरणरूपी विमान पृथिवीका स्पर्श नहीं करता हुआ सदा आकाशमें ही विद्यमान रहता है ॥ ३७ ॥

प्राणिनः प्राणिभिर्हिंस्रा जातु नाक्रमते त्वयि । सद्धर्मदेशनोद्युक्ते त्वयि संजीवनौषधे ॥ ३८ ॥

हे भगवन्, संजीवनी ओषधिके समान आपके समीचीन धर्मका उपदेश देनेमें तत्पर रहते हुए सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर हिंसक जीव भी दूसरे प्राणियोंकी कभी हिंसा नहीं करते हैं ॥ ३८ ॥

न भुक्तिः क्षीणमोहस्य तवानन्तसुखोदयात् । क्षुत्क्लेशबाधितो जन्तुः कवलाहारभुग्भवेत् ॥ ३९ ॥

हे प्रभो, आपके मोहनीय कर्मका क्षय हो जानेसे अत्यन्त सुखकी उत्पत्ति हुई है इसलिए आपके कवलाहार नहीं है सो ठीक ही है, क्योंकि क्षुधाके क्लेशसे दुःखी हुए जीव ही कवलाहार भोजन करते हैं ॥ ३९ ॥

असातावेद्योदयाद् भुक्तिं त्वयि यो योजयेद्धीः । मोहानिलप्रतीकारे तस्यान्वेष्यं जरद्धृतम् ॥ ४० ॥

हे जिनेन्द्र, जो मूर्ख असातावेदनीय कर्मका उदय होनेसे आपके भी कवलाहारकी योजना करते हैं अर्थात् यह कहते हैं कि आप भी कवलाहार करते हैं क्योंकि आपके असातावेदनीय कर्मका उदय है, उन्हें मोहरूपी वातरोगको दूर करनेके लिए पुराने घीकी खोज करनी चाहिए। अर्थात् पुराने घीके लगानेसे जैसे सन्निपात-वातरोग नष्ट हो जाता है उसी तरह अपने मोहको दूर करनेके लिए किसी पुराने अनुभवी पुरुषका स्नेह प्राप्त करना होगा ॥ ४० ॥

असातावेद्यविषमप्येतद् विध्वस्तशक्तिकम् । त्वय्यकिंचित्करं मन्त्रशक्त्येवापबलं विषम् ॥ ४१ ॥

हे देव, मन्त्रकी शक्तिसे जिसका बल नष्ट हो गया है ऐसा विष जिस प्रकार कुछ भी नहीं कर सकता है उसी प्रकार घातियाकर्मोंके नष्ट हो जानेसे जिसकी शक्ति नष्ट हो गयी है ऐसा असातावेदनीयरूपी विष आपके विषयमें कुछ भी नहीं कर सकता ॥ ४१ ॥

असद्वेद्योदयों घातिसहकारिव्यपायतः । त्वय्यकिंचित्करो नाथ सामग्र्या हि फलोदयः ॥ ४२ ॥

हे नाथ, घातियाकर्मरूपी सहकारी कारणोंका अभाव हो जानेसे असातावेदनीयका उदय आपके विषयमें अकिंचित्कर है अर्थात् आपका कुछ नहीं कर सकता, सो ठीक ही है क्योंकि फलका उदय सब सामग्री इकट्ठी होनेपर ही होता है ॥ ४२ ॥

नेतरयो नोपसर्गाश्च प्रभवन्ति त्वयीशिनि । जगतां पालयितारि क्षालितांहसि विभो ॥ ४३ ॥

हे ईश, आप जगत्के पालक हैं और आपने लीलामात्रसे ही पापरूपी मलको धो डाला है, इसलिए आपपर न तो ईतियाँ अपना प्रभुत्व जमा सकती हैं और न उपसर्ग ही। भावार्थ—आप ईति, भीति तथा उपसर्गोंसे रहित हैं ॥ ४३ ॥

त्वय्यनन्तमुखोन्मेषकेवलामललोचने । चातुरास्यमिदं युक्तं नष्टघातिचतुष्टये ॥ ४४ ॥

हे भगवन्, यद्यपि आपका केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्र अनन्तमुख हो अर्थात् अनन्तज्ञेयोंको जानता हुआ फैल रहा है फिर भी चूँकि आपके चार घातियाकर्म नष्ट हो गये हैं इसलिए आपके यह चातुरास्य अर्थात् चार मुखोंका होना उचित ही है ॥ ४४ ॥

> विद्येश्वरो योगी चतुरास्यस्त्वमक्षरः । आत्मनोऽक्षिमयं ज्योतिस्तन्वानो भास्यधीशितः ॥ ४५ ॥

हे अधीश्वर, आप सब विद्याओंके स्वामी हैं, योगी हैं, चतुर्मुख हैं, अविनाशी हैं और आपकी आत्ममय केवलज्ञानरूपी ज्योति चारों ओर फैल रही है इसलिए आप अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं ॥ ४५ ॥

> अच्छायत्वमजुन्मेषनिमेषत्वं च ते वपुः । धत्ते तेजोमयं दिव्यं परमौदारिकाख्यम् ॥ ४६ ॥

हे भगवन्, तेजोमय और दिव्यस्वरूप आपका यह परमौदारिक शरीर छायाका अभाव तथा नेत्रोंकी अनुन्मेष वृत्तिको धारण कर रहा है अर्थात् आपके शरीरकी न तो छाया ही पड़ती है और न नेत्रोंके पलक ही झपते हैं ॥ ४६ ॥

> विभ्राणोऽप्यभिच्छन्नं च्छत्रत्रयमवेक्ष्यसे । अच्छायः स्यान्महतां चेष्टितं चित्रमथवौजस्तवेदृशम् ॥ ४७ ॥

हे नाथ, यद्यपि आप तीन छत्र धारण किये हुए हैं तथापि आप छायारहित ही दिखायी देते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंकी चेष्टाएँ आश्चर्य करनेवाली होती हैं अथवा आपका प्रताप ही ऐसा है ॥ ४७ ॥

> निमेषापायधीराक्षं तव वक्त्राब्जमीक्षितुम् । देवैर्नयननिस्पन्दो धार्यते निश्चितं विभो ॥ ४८ ॥

हे स्वामिन्, पलक न झपनेसे जिसके नेत्र अत्यन्त निश्चल हैं ऐसे आपके मुखरूपी कमलको देखनेके लिए ही देवोंने अपने नेत्रोंका संचलन अभ्याससे ही रोक रखा है। भावार्थ—देवोंके नेत्र कभी नहीं झपते सो ऐसा जान पड़ता है मानो देवोंने आपके सुन्दर मुखकमलको देखनेके लिए ही अपने पलकोंका झपना बन्द कर दिया हो ॥ ४८ ॥

> नखकेशमितावस्था तवाविष्कुरुते विभो । रसादिविरहं देहे विशुद्धस्फटिकामले ॥ ४९ ॥

हे भगवन्, आपके नख और केशोंकी जो परिमित अवस्था है वह आपके विशुद्ध स्फटिकके समान निर्मल शरीरमें रस आदिके अभावको प्रकट करती है। भावार्थ—आपके नख और केश ज्यों-के-त्यों रहते हैं—उनमें वृद्धि नहीं होती है, इससे मालूम होता है कि आपके शरीरमें रस, रक्त आदिका अभाव है ॥ ४९ ॥

> इत्युदारैर्गुणैरेभिस्त्वमनन्यप्रभाविभिः । स्वयमेत्य कृतो नूनमदृष्टशरणान्तरैः ॥ ८० ॥

हे नाथ, इस प्रकार ऊपर कहे हुए तथा जो दूसरी जगह न पाये जायें ऐसे आपके इन उदार गुणोंने दूसरी जगह आश्रय न देखकर स्वयं आपके पास आकर आपको स्वीकार किया है ॥ ८० ॥

> अहो अमी रूपसौन्दर्यकान्तिदीप्त्यादयो गुणाः । प्रार्थनीयाः सुरेन्द्राणां तव हेयाः किमाद्भुतम् ॥ ८१ ॥

हे देव, यह भी एक आश्चर्यकी बात है कि जिनकी प्राप्तिके लिए इन्द्र भी इच्छा किया करते हैं ऐसे ये रूप-सौन्दर्य, कान्ति और दीप्ति आदि गुण आपके लिए हेय हैं अर्थात् आप इन्हें छोड़ना चाहते हैं ॥ ८१ ॥

> गुणिनस्त्वामुपासीना निर्धूतगुणबन्धनाः । यान्ति सादृश्यमेवाहो स्वामिच्छन्दानुशिक्षितम् ॥ ८२ ॥

हे प्रभो, अन्य सब गुणरूपी बन्धनोंको छोड़कर केवल आपकी उपासना करनेवाले गुणी पुरुष आपकी ही सदृशता प्राप्त हो जाते हैं सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीके अनुसार चलना ही शिष्योंका कर्तव्य है ॥ ८२ ॥

> मन्दमन्दानिलोद्धूतचलच्छाखाकरोत्करैः । श्रीमानशोकवृक्षस्ते नर्तकीव रराज सः ॥ ८३ ॥

हे स्वामिन्, आपका यह शोभायमान अशोकवृक्ष ऐसा जान पड़ता है मानो मन्द-मन्द वायुसे हिलती हुई शाखारूपी हाथोंके समूहोंसे हर्षित होकर नृत्य ही कर रहा हो ॥ ८३ ॥

> अच्छक्षीरोदवीचीभिः स्पर्धां कर्तुमिवासितः । चामरौघाः पतन्त्येते मरुद्भिश्चालिताः पुरः ॥ ८४ ॥

हे नाथ, देवोंके द्वारा लीलापूर्वक धारण किये हुए चमरोंके समूह आपके दोनों ओर इस प्रकार ढोरे जा रहे हैं मानो वे क्षीरसागरकी स्वच्छ लहरोंके साथ स्पर्धा ही करना चाहते हों ॥ ८४ ॥

> मुक्तालम्बनविभ्राजि चारु विधुनिभं सितम् । छत्रत्रयं नभोऽङ्गेऽस्मिन् प्रारोह इव लक्ष्यते ॥ ८५ ॥

हे भगवन्, चन्द्रमाके समान निर्मल और मोतियोंकी जालीसे सुशोभित आपके तीन छत्र आकाशरूपी आँगनमें ऐसे अच्छे जान पड़ते हैं मानो उनमें अंकुर ही उत्पन्न हुए हों ॥ ८८ ॥

> सिंहैरूढं विभातीदं तव विष्टरमुच्चकैः । रत्नांशुभिर्भवत्स्पर्शादुद्भूतहर्षरोमवत् ॥ ८६ ॥

हे देव, सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ आपका यह ऊँचा सिंहासन रत्नोंकी किरणोंसे ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो आपके स्पर्शसे उसमें हर्षके रोमांच हो उठ रहे हों ॥ ८६ ॥

> ध्वनन्ति मधुरध्वानाः सुरदुन्दुभिकोटयः । व्याप्नुवन्तः प्रहर्षेण रोदसी त्वज्जयोत्सवम् ॥ ८७ ॥

हे स्वामिन्, मधुर शब्द करते हुए जो देवोंके करोड़ों दुन्दुभि बाजे बज रहे हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो आकाश और पातालको व्याप्त कर आपके जयोत्सवकी घोषणा ही कर रहे हों ॥ ८७ ॥

> तव दिव्यध्वनिं धीरमनुकर्तुमिवोद्यताः । ध्वनन्ति सुरतूर्याणां कोटयोऽर्धत्रयोदश ॥ ८८ ॥

हे प्रभो, जो देवोंके साढ़े बारह करोड़ दुन्दुभि आदि बाजे बज रहे हैं वे आपकी गम्भीर दिव्यध्वनिका अनुकरण करनेके लिए ही मानो तत्पर हुए हैं ॥ ८८ ॥

> सुरैरियं नभोरङ्गात् पौष्पी वृष्टिर्वितन्यते । तुष्टया स्वर्गलक्ष्म्येव चोदितैः कल्पशाखिभिः ॥ ८९ ॥

आकाशाङ्गणरूपी रंगभूमिसे जो देव लोग यह पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं वह ऐसी जान पड़ती है मानो सन्तुष्ट हुई स्वर्गलक्ष्मीके द्वारा प्रेरित हुए कल्पवृक्ष ही वह पुष्पवर्षा कर रहे हों ॥ ८९ ॥

> तव देहप्रभोत्सर्पः समाक्रामन्नभोऽमितः । शश्वत्प्रभातमास्थानीजनानां जनयत्यलम् ॥ ६० ॥

हे भगवन्, आकाशमें चारों ओर फैलता हुआ यह आपके शरीरका प्रभामण्डल समवसरणमें बैठे हुए मनुष्योंको सदा प्रभातकाल उत्पन्न करता रहता है अर्थात् प्रातःकालकी शोभा दिखलाता रहता है ॥ ६० ॥

> नखांशवस्तवाताम्राः प्रसरन्ति दिशस्तमी । त्वदङ्घ्रिकल्पवृक्षाग्रात् प्रारोहा इव निर्गताः ॥ ६१ ॥

हे देव, आपके नखोंकी ये कुछ-कुछ लाल किरणें दिशाओंमें इस प्रकार फैल रही हैं मानो आपके चरणरूपी कल्पवृक्षोंके अग्रभागसे अंकुर ही निकल रहे हों ॥ ६१ ॥

> शिरस्सु नः स्पृशन्त्येते प्रसादस्येव तेऽंशकाः । त्वत्पादनखशीतांशुकराः प्रह्लादिताखिलाः ॥ ६२ ॥

सब जीवोंको आह्लादित करनेवाली आपके चरणोंके नखरूपी चन्द्रमाकी ये किरणें हम लोगोंके सिरका इस प्रकार स्पर्श कर रही हैं मानो आपके प्रसादके अंश ही हों ॥ ६२ ॥

> त्वत्पादाम्बुरुहच्छायासरसीमवगाहते । दिव्यश्रीः कलहंसीयं नखरोचिस्तृणालिकाम् ॥ ६३ ॥

हे भगवन्, यह दिव्य लक्ष्मीरूपी मनोहर हंसी नखोंकी कान्तिरूपी कमलोंसे सुशोभित आपके चरणकमलोंकी छायारूपी सरोवरीमें अवगाहन करती है ॥ ६३ ॥

> मोहारिसंक्षयारूढशोणिताद्रं प्रभाङ्कुरैः । रक्तच्छायमिदं धत्ते त्वत्पादाम्बुरुहद्वयम् ॥ ६४ ॥

हे विभो, आपके ये दोनों चरणकमल जिस कान्तिसे लालिमाको धारण कर रहे हैं वह ऐसी जान पड़ती है मानो मोहरूपी शत्रुको नष्ट करते समय लगी हुई उसके गीले रक्तकी छटा ही हो ॥ ६४ ॥

> त्वत्पादनखभाःसारे सरसि प्रतिबिम्बिताः । सुराङ्गनाननच्छायास्तन्वते पङ्कजश्रियम् ॥ ६५ ॥

हे देव, आपके चरणोंके नखोंकी कान्तिरूप जलके सरोवरमें प्रतिबिम्बित हुई देवांगनाओंके मुखकी छाया कमलोंकी शोभा बढ़ा रही है ॥ ६५ ॥

> स्वयम्भुवे नमस्तुभ्यमुत्पाद्यात्मानमात्मनि । स्वात्मनैव तथोद्भूतवृत्तयेऽचिन्त्यवृत्तये ॥ ६६ ॥

हे नाथ, आप अपने आपमें अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माको उत्पन्न कर प्रकट हुए हैं इसलिए आप स्वयम्भू अर्थात् अपने-आप उत्पन्न हुए कहलाते हैं। इसके सिवाय आपका माहात्म्य भी अचिन्त्य है अतः आपके लिए नमस्कार हो ॥ ६६ ॥

> नमस्ते जगतां भर्त्रे लक्ष्मीभर्त्रे नमोऽस्तु ते । विदांवर नमस्तुभ्यं नमस्ते वदतां वर ॥ ६७ ॥

आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप मोक्षलक्ष्मीके भर्ता हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप विद्वानोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए आपको नमस्कार हो और आप वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ६७ ॥

> कामारिममलं देवमामनन्ति मनीषिणः । त्वामानुमः सुरेन्द्राणामौलिमालाभिरर्चितम् ॥ ६८ ॥

हे देव, बुद्धिमान् लोग आपको कामरूपी शत्रुको नष्ट करनेवाला मानते हैं, और आपके चरणकमल इन्द्रोंके मुकुटोंकी कान्तिके समूहसे पूजित हैं इसलिए हम लोग आपको नमस्कार करते हैं ॥ ६८ ॥

> ध्यानद्रुघणनिर्भिन्नघनघातिमहातरुः । अनन्तभवसन्तानजयादासीदनन्तजित् ॥ ६९ ॥

आपने ध्यानरूपी मुद्गरसे अतिशय मजबूत घातियाकर्मरूपी बड़े भारी वृक्षको काट डाला है तथा अनन्त संसारकी सन्ततिको भी आपने जीत लिया है इसलिए आप अनन्तजित् कहलाते हैं ॥ ६९ ॥

> त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदुर्दम्यमदुर्जयम् । मृत्युराजं विजित्यासीज्जिन मृत्युञ्जयो भवान् ॥ ७० ॥

हे जिनेन्द्र, तीनों लोकोंको जीत लेनेसे जिसे भारी अहंकार उत्पन्न हुआ है और जो अत्यन्त दुर्जय है ऐसे मृत्युराजको भी आपने जीत लिया है इसीलिए आप मृत्युंजय कहलाते हैं ॥ ७० ॥

> विधुताशेषसंसारबन्धनो भव्यबान्धवः । त्रिपुरारिस्त्वमीशोऽसि जन्ममृत्युजरान्तकृत् ॥ ७१ ॥

आपने संसारके समस्त बन्धन नष्ट कर दिये हैं, आप भव्य जीवोंके बन्धु हैं और आप जन्म, मरण तथा बुढ़ापा इन तीनोंका नाश करनेवाले हैं इसलिए आप ही 'त्रिपुरारि' कहलाते हैं ॥ ७१ ॥

> त्रिकालविषयाशेषज्ञेयभेदात् त्रिधोदितम् । केवलं दधच्चक्षुस्त्रिनेत्रोऽसि त्वमीशितः ॥ ७२ ॥

हे ईश्वर, जो तीनों कालविषयक समस्त ज्ञेयोंको जाननेके कारण तीन प्रकारसे उत्पन्न हुआ कहलाता है ऐसे केवलज्ञान नामक नेत्रको आप धारण करते हैं इसलिए आप ही 'त्रिनेत्र' कहे जाते हैं ॥ ७२ ॥

> त्वामन्धकान्तकं प्राहुर्मोहान्धासुरमर्दनात् । अर्धे ते नारयो यस्मादर्धनारीश्वरोऽस्यतः ॥ ७३ ॥

आपने मोहरूपी अन्धासुरको नष्ट कर दिया है इसलिए विद्वान् लोग आपको ही 'अन्धकान्तक' कहते हैं, आठ कर्मरूपी शत्रुओंमें-से आपके आधे अर्थात् चार घातियाकर्मरूपी शत्रुओंके ईश्वर नहीं हैं इसलिए आप 'अर्धनारीश्वर' कहलाते हैं ॥ ७३ ॥

> शिवः शिवपदाध्यासाद् दुरितारिहरो हरः । शंकरः शंविधानात् त्वं शंभवस्त्वं भवत्सुखे ॥ ७४ ॥

आप शिवपद अर्थात् मोक्षस्थानमें निवास करते हैं इसलिए 'शिव' कहलाते हैं, पापरूपी शत्रुओंका नाश करनेवाले हैं इसलिए 'हर' कहलाते हैं, लोकमें शान्ति करनेवाले हैं इसलिए 'शंकर' कहलाते हैं और सुखसे उत्पन्न हुए हैं इसलिए 'शंभव' कहलाते हैं ॥ ७४ ॥

> वृषभोऽसि जगज्ज्येष्ठः पुरुः पुरुगुणोदयः । नाभियो नाभिसम्भूतेरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ॥ ७५ ॥

जगत्में श्रेष्ठ हैं इसलिए 'वृषभ' कहलाते हैं, अनेक उत्तम-उत्तम गुणोंका उदय होनेसे 'पुरु' कहलाते हैं, नाभिराजासे उत्पन्न हुए हैं इसलिए 'नाभेय' कहलाते हैं और इक्ष्वाकु-कुलमें उत्पन्न हुए हैं इसलिए 'इक्ष्वाकुकुलनन्दन' कहलाते हैं ॥ ७५ ॥

> त्वमेकः पुरुषस्कन्धो द्विरूपो लोकलोचने । त्रिधा बुद्धसन्मार्गस्त्रिजस्त्रिज्ञानधारकः ॥ ७६ ॥

समस्त पुरुषोंमें मुख्य आप एक ही हैं, लोगोंके नेत्र होनेसे आप दो रूप धारण करनेवाले हैं तथा आप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके भेदसे तीन प्रकारका मोक्षमार्ग जानते हैं अथवा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालसम्बन्धी तीन प्रकारका ज्ञान धारण करते हैं इसलिए आप त्रिज भी कहलाते हैं ॥ ७६ ॥

चतुःशरणमाङ्गल्यमूर्तिस्त्वं चतुरस्रधीः । पञ्चब्रह्ममयो देव पूतात्मा त्वं पुनीहि माम् ॥ ७७ ॥

अरहन्त, सिद्ध, साधु और केवलि भगवानके द्वारा कहा हुआ धर्म ये चार शरण तथा मंगल कहलाते हैं आप इन चारोंकी मूर्तिस्वरूप हैं, आप चतुरस्रधी हैं अर्थात् चारों ओरकी समस्त वस्तुओंको जाननेवाले हैं, पंचपरमेष्ठीरूप हैं और अत्यन्त पवित्र हैं, इसलिए हे देव, मुझे भी पवित्र कीजिए ॥ ७७ ॥

स्वर्गावतरणे तुभ्यं सद्योजातात्मने नमः । जन्माभिषेकत्राताय वामदेव नमोऽस्तु ते ॥ ७८ ॥

हे नाथ, आप स्वर्गावतरणके समय सद्योजात अर्थात् शीघ्र ही उत्पन्न होनेवाले परमात्मा थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप जन्माभिषेकके समय बहुत सुन्दर जान पड़ते थे इसलिए हे वामदेव, आपके लिए नमस्कार हो ॥ ७८ ॥

परिनिष्क्रान्तावघोराय परं प्रशममीयुषे । केवलज्ञानसंविद्धावीशानाय नमोऽस्तु ते ॥ ७९ ॥

दीक्षा कल्याणकके समय आप परम शान्तिको प्राप्त हुए और केवलज्ञानके प्राप्त होनेपर परम पदको प्राप्त हुए तथा सबके ईश्वर हुए इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ७९ ॥

पुरस्तत्पुरुषत्वेन विमुक्तिपदभागिने । तस्मै ते तत्पुरुषावस्थां भाविनीं भजते नमः ॥ ८० ॥

अब आगे शुद्ध आत्मस्वरूपके द्वारा मोक्षस्थानको प्राप्त होंगे, इसलिए आगामी कालमें प्राप्त होनेवाली सिद्ध अवस्थाको धारण करनेवाले आपके लिए मेरा आज ही नमस्कार हो ॥ ८० ॥

ज्ञानावरणनिर्मुक्तान्नामस्तेऽनन्तचक्षुषे । दर्शनावरणोच्छेदाद् नमस्ते विश्वदृश्वने ॥ ८१ ॥

ज्ञानावरण कर्मका नाश होनेसे जो अनन्तचक्षु अर्थात् अनन्तज्ञानी कहलाते हैं ऐसे आपके लिए नमस्कार हो और दर्शनावरण कर्मका विनाश हो जानेसे जो विश्वदृश्वा अर्थात् समस्त संसारको देखनेवाले कहलाते हैं ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥ ८१ ॥

नमो दर्शनमोहघ्ने क्षायिकामलदृष्टये । नमश्चारित्रमोहघ्ने वीतरागाय महौजसे ॥ ८२ ॥

हे भगवन्, आप दर्शनमोहनीय कर्मको नष्ट करनेवाले तथा निर्मल क्षायिकसम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, इसी प्रकार आप चारित्रमोहनीय कर्मको नष्ट करनेवाले, वीतराग और अतिशय तेजस्वी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ८२ ॥

नमस्तेऽनन्तवीर्याय नमस्तेऽनन्तसौख्यभाक् । नमस्तेऽनन्तलोकाय लोकालोकावलोकिने ॥ ८३ ॥

आप अनन्तवीर्यको धारण करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्तसुखरूप हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्तप्रकाशसे सहित तथा लोक और अलोकको देखनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ८३ ॥

नमस्तेऽनन्तदानाय नमस्तेऽनन्तलब्धये । नमस्तेऽनन्तभोगाय नमोऽनन्तोपभोगिने ॥ ८४ ॥

अनन्तदानको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, अनन्तलाभको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, अनन्तभोगको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, और अनन्त उपभोगको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो ॥ ८४ ॥

नमः परमयोगाय नमस्तुभ्यमयोनये । नमः परमपूताय नमस्ते परमर्षये ॥ ८५ ॥

हे भगवन्, आप परम ध्यानी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अयोनि अर्थात् योनियोंके जन्म-मरणसे रहित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अत्यन्त पवित्र हैं इसलिए आपको नमस्कार हो और आप परमऋषि हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ८५ ॥

नमः परमविद्याय नमः परमतच्छिदे । नमः परमतत्त्वाय नमस्ते परमात्मने ॥ ८६ ॥

आप परमविद्या अर्थात् केवलज्ञानको धारण करनेवाले हैं, अन्य सब एकान्त मतोंका खण्डन करनेवाले हैं, परमतत्त्वस्वरूप हैं और परमात्मा हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ८६ ॥

> नमः परमरूपाय नमः परमतेजसे । नमः परममार्गाय नमस्ते परमेष्ठिने ॥ ८७ ॥

आप उत्कृष्ट रूपको धारण करनेवाले हैं, परम तेजस्वी हैं, उत्कृष्ट मोक्षमार्गस्वरूप हैं और परमेष्ठी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ८७ ॥

> परमं भेषुपे धाम परमज्योतिषे नमः । नमः पारेतमः प्राप्तधाम्ने परतरात्मने ॥ ८८ ॥

आप उत्कृष्ट मोक्षस्थानकी सेवा करनेवाले हैं, परम ज्योतिःस्वरूप हैं, आपका ज्ञानरूपी तेज अन्धकारसे परे है और आप सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ८८ ॥

> नमः क्षीणकलङ्काय क्षीणबन्ध नमोऽस्तु ते । नमस्ते क्षीणमोहाय क्षीणदोषाय ते नमः ॥ ८९ ॥

आप कर्मरूपी कलंकसे रहित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आपका कर्मबन्धन क्षीण हो गया है इसलिए आपको नमस्कार हो, आपका मोहकर्म नष्ट हो गया है इसलिए आपको नमस्कार हो और आपके समस्त राग आदि दोष नष्ट हो गये हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ८९ ॥

> नमः सुगतये तुभ्यं शोभनां गतिमीयुषे । नमस्तेऽतीन्द्रियज्ञानसुखायानिन्द्रियात्मने ॥ ९० ॥

आप मोक्षरूपी उत्तम गतिको प्राप्त होनेवाले हैं इसलिए सुगति हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप अतीन्द्रियज्ञान और सुखसे सहित हैं तथा इन्द्रियोंसे रहित अथवा इन्द्रियोंके अगोचर हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ९० ॥

> कायबन्धननिर्मोक्षादकायाय नमोऽस्तु ते । नमस्तुभ्यमयोगाय योगिनां प्रवियोगिने ॥ ९१ ॥

आप शरीररूपी बन्धनके नष्ट हो जानेसे अकाय कहलाते हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप योगरहित हैं और योगियों अर्थात् मुनियोंमें सबसे उत्कृष्ट हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ९१ ॥

> अवेदाय नमस्तुभ्यमकषायाय ते नमः । नमः परमयोगीन्द्रवन्दिताङ्घ्रिद्वयाय ते ॥ ९२ ॥

आप वेदरहित हैं, कषायरहित हैं, और बड़े-बड़े योगिराज भी आपके चरणयुगलकी वन्दना करते हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ९२ ॥

> नमः परमविज्ञान नमः परमसंयम । नमः परमदृष्टार्थपरमार्थाय तायिने ॥ ९३ ॥

हे परमविज्ञान अर्थात् उत्कृष्ट केवलज्ञानको धारण करनेवाले, आपको नमस्कार हो, हे परमसंयम अर्थात् उत्कृष्ट यथाख्यात चारित्रको धारण करनेवाले, आपको नमस्कार हो, हे भगवन् आपने उत्कृष्ट केवलदर्शनके द्वारा परमार्थको देख लिया है तथा आप सबकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ९३ ॥

> नमस्तुभ्यमलेश्य्याय शुद्धलेश्यांशकस्पृशे । नमो मध्येतरावस्थाव्यतीताय विमोक्षिणे ॥ ९४ ॥

आप यद्यपि लेश्याओंसे रहित हैं तथापि उपचारसे शुद्ध शुक्ललेश्याके अंशोंका स्पर्श करनेवाले हैं, भव्य तथा अभव्य दोनों ही अवस्थाओंसे रहित हैं और मोक्षरूप हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ९४ ॥

> संज्ञ्यसंज्ञिद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलात्मने । नमस्ते वीतसंज्ञाय नमः क्षायिकदृष्टये ॥ ९५ ॥

आप संज्ञी और असंज्ञी दोनों अवस्थाओंसे रहित निर्मल आत्माको धारण करनेवाले हैं, आपकी आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारों संज्ञाएँ नष्ट हो गयी हैं तथा क्षायिकसम्यग्दर्शनको धारण कर रहे हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ९५ ॥

> अनाहाराय तृप्ताय नमः परमभासुषे । व्यतीताशेषदोषाय भवाब्धेः पारमीयुषे ॥ ९६ ॥

आप आहाररहित होकर भी सदा तृप्त रहते हैं, परम दीप्तिको प्राप्त हैं, आपके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं और आप संसाररूपी समुद्रके पारको प्राप्त हुए हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ९६ ॥

> अजराय नमस्तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वजमृत्यवे । अमृत्यवे नमस्तुभ्यमचलायाक्षरात्मने ॥ ९७ ॥

आप बुढ़ापारहित हैं, जन्मरहित हैं, मृत्युरहित हैं, अचलरूप हैं और अविनाशी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ९७ ॥

> अलमास्तां गुणस्तोत्रमनन्तास्तावका गुणाः । तव नामस्मृतिमात्रेण पर्युपासिसिषामहे ॥ ९८ ॥

हे भगवन्, आपके गुणोंका स्तवन करना दूर रहे क्योंकि आपके अनन्त गुण हैं, उन सबका स्तवन होना कठिन है इसलिए केवल आपके नामोंका स्मरण करके ही हम लोग आपकी उपासना करना चाहते हैं ॥ ९८ ॥

> प्रसिद्धाष्टसहस्रैकलक्षणं त्वां गिरां पतिम् । नाम्नामष्टसहस्रेण तोष्टूमस्तेऽभीष्टसिद्धये ॥ ९९ ॥

आपके देदीप्यमान एक हजार आठ लक्षण अतिशय प्रसिद्ध हैं और आप समस्त वाणियोंके स्वामी हैं इसलिए हम लोग अपनी अभीष्टसिद्धिके लिए एक हजार आठ नामोंसे आपकी स्तुति करते हैं ॥ ९९ ॥

> श्रीमान् स्वयम्भूः शम्भूः शंभवः शम्भुरात्मभूः । स्वयंप्रभः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥ १०० ॥

आप अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरंग लक्ष्मी और अष्टप्रातिहार्यरूप बहिरंग लक्ष्मीसे सहित हैं इसलिए 'श्रीमान्' (१) कहलाते हैं, आप अपने-आप उत्पन्न हुए हैं—किसी गुरुके उपदेशकी सहायताके बिना अपने-आप ही सम्बुद्ध हुए हैं इसलिए 'स्वयम्भू' (२) कहलाते हैं, आप वृष अर्थात् धर्मसे सुशोभित हैं इसलिए 'वृषभ' (३) कहलाते हैं, आपके स्वयं अनन्त सुखकी प्राप्ति हुई है तथा आपके द्वारा संसारके अन्य अनेक प्राणियोंको सुख प्राप्त हुआ है इसलिए 'शंभव' (४) कहलाते हैं, आप परमानन्दरूप सुखके देनेवाले हैं इसलिए 'शंभु' (५) कहलाते हैं, आपने यह उत्कृष्ट अवस्था अपने ही द्वारा प्राप्त की है अथवा योगीश्वर अपनी आत्मामें ही आपका साक्षात्कार कर सकते हैं इसलिए आप 'आत्मभू' (६) कहलाते हैं, आप अपने-आप ही प्रकाशमान होते हैं इसलिए 'स्वयंप्रभ' (७) हैं, आप समर्थ अथवा सबके स्वामी हैं इसलिए 'प्रभु' (८) हैं, अनन्त आत्मोत्थ सुखका अनुभव करनेवाले हैं इसलिए 'भोक्ता' (९) हैं, केवलज्ञानकी अपेक्षा सब जगह व्याप्त हैं अथवा ध्यानादिके द्वारा सब जगह प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होते हैं इसलिए 'विश्वभू' (१०) हैं, अब आप पुनः संसारमें आकर जन्म धारण नहीं करेंगे इसलिए 'अपुनर्भव' (११) हैं ॥ १०० ॥

> विश्वात्मा विश्वलोकेशो विश्वतश्चक्षुरक्षरः । विश्वविद् विश्वविद्येशो विश्वयोनिस्त्वनश्वरः ॥ १०१ ॥

संसारके समस्त पदार्थ आपकी आत्मामें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं इसलिए आप 'विश्वात्मा' (१२) कहलाते हैं, आप समस्त लोकके स्वामी हैं इसलिए 'विश्वलोकेश' (१३) कहलाते हैं, आपके ज्ञानदर्शनरूपी नेत्र संसारमें सभी ओर अप्रतिहत हैं इसलिए आप 'विश्वतश्चक्षु' (१४) कहलाते हैं, अविनाशी हैं इसलिए 'अक्षर' (१५) कहे जाते हैं, समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिए 'विश्वविद्' (१६) कहलाते हैं, समस्त विद्याओंके स्वामी हैं इसलिए 'विश्वविद्येश' (१७) कहे जाते हैं, समस्त पदार्थोंकी उत्पत्तिके कारण हैं अर्थात् उपदेश देनेवाले हैं इसलिए 'विश्वयोनि' (१८) कहलाते हैं, आपके स्वरूपका कभी नाश नहीं होता इसलिए 'अनश्वर' (१९) कहे जाते हैं ॥ १०१ ॥

> विश्वदृश्वा विभुर्धाता विश्वेशो विश्वलोचनः । विश्वव्यापी विधिर्वेधाः शाश्वतो विश्वतोमुखः ॥ १०२ ॥

समस्त पदार्थोंको देखनेवाले हैं इसलिए 'विश्वदृश्वा' (२०) हैं, केवलज्ञानकी अपेक्षा सब जगह व्याप्त हैं अथवा सब जीवोंको संसारसे पार करनेमें समर्थ हैं अथवा परमोत्कृष्ट विभूतिसे सहित हैं इसलिए 'विभु' (२१) हैं, संसारी जीवोंका उद्धार कर उन्हें मोक्षस्थानमें धारण करनेवाले हैं—पहुँचानेवाले हैं अथवा सब जीवोंका पोषण करते हैं अथवा मोक्षमार्गकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिए 'धाता' (२२) कहलाते हैं, समस्त जगत्के ईश्वर हैं इसलिए 'विश्वेश' (२३) कहलाते हैं, सब पदार्थोंको देखनेवाले हैं अथवा सबके हितका उपदेश देनेके कारण सब जीवोंके नेत्रोंके समान हैं इसलिए 'विश्वलोचन' (२४) कहे जाते हैं, संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेके कारण आपका ज्ञान सब जगह व्याप्त है इसलिए आप 'विश्वव्यापी' (२५) कहलाते हैं, आप समीचीन धर्मका विधान करनेसे 'विधि' (२६) कहलाते हैं, धर्मरूप जगत्की वृद्धि करनेवाले हैं इसलिए 'वेधा' (२७) कहलाते हैं, सदा विद्यमान रहते हैं इसलिए 'शाश्वत' (२८) कहे जाते हैं, समवसरण-सभामें आपके मुख चारों दिशाओंसे दिखते हैं अथवा आप विश्वतोमुख अर्थात् जलकी तरह पापरूपी मैलको दूर करनेवाले, स्वच्छ तथा तृष्णाको नष्ट करनेवाले हैं इसलिए 'विश्वतोमुख' (२९) कहे जाते हैं ॥ १०२ ॥

> विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो विश्वमूर्तिर्जिनेश्वरः । विश्वदृग्विश्वभूतेशों विश्वज्योतिरनीश्वरः ॥ १०३ ॥

आपने कर्मभूमिकी व्यवस्था करते समय लोगोंकी आजीविकाके लिए असि-मषि आदि सभी कर्मों-कार्योंका उपदेश दिया था इसलिए आप 'विश्वकर्मा' (३०) कहलाते हैं, आप जगत्में सबसे ज्येष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ हैं इसलिए 'जगज्ज्येष्ठ' (३१) कहे जाते हैं, आप अनन्त गुणमय हैं अथवा समस्त पदार्थोंके आकार आपके ज्ञानमें प्रतिफलित हो रहे हैं इसलिए आप 'विश्वमूर्ति' (३२) हैं, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले सम्यग्दृष्टि आदि जीवोंके आप ईश्वर हैं इसलिए 'जिनेश्वर' (३३) कहलाते हैं, आप संसारके समस्त पदार्थोंका सामान्यावलोकन करते हैं इसलिए 'विश्वदृक्' (३४) कहलाते हैं, समस्त प्राणियोंके ईश्वर हैं इसलिए 'विश्वभूतेश' (३५) कहे जाते हैं, आपकी केवलज्ञानरूपी ज्योति अखिल जगत्में व्याप्त है इसलिए आप 'विश्वज्योति' (३६) कहलाते हैं, आप सबके स्वामी हैं किन्तु आपका कोई भी स्वामी नहीं है इसलिए आप 'अनीश्वर' (३७) कहे जाते हैं ॥ १०३ ॥

> जिनो जिष्णुरमेयात्मा विश्वेशो जगत्पतिः । अनन्तजिदचिन्त्यात्मा भव्यबन्धुरबन्धनः ॥ १०४ ॥

आपने घातियाकर्मरूपी शत्रुओंको जीत लिया है इससे आप 'जिन' (३८) कहलाते हैं, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतना ही आपका शील अर्थात् स्वभाव है इसलिए आप 'जिष्णु' (३९) कहे जाते हैं, आपकी आत्माको अर्थात् आपके अनन्त गुणोंको कोई नहीं जान सका है इसलिए आप 'अमेयात्मा' (४०) हैं, पृथिवीके ईश्वर हैं इसलिए 'विश्वेश' (४१) कहलाते हैं, तीनों लोकोंके स्वामी हैं इसलिए 'जगत्पति' (४२) कहे जाते हैं, अनन्त संसार अथवा मिथ्यादर्शनको जीत लेनेके कारण आप 'अनन्तजित्' (४३) कहलाते हैं, आपकी आत्माका चिन्तवन मनसे भी नहीं किया जा सकता

इसलिए आप 'अचिन्त्यात्मा' (४४) हैं, भव्य जीवोंके हितैषी हैं इसलिए 'भव्यबन्धु' (४५) कहलाते हैं, कर्मबन्धनसे रहित होनेके कारण 'अबन्धन' (४६) कहलाते हैं ॥ १०४ ॥

> युगादिपुरुषो ब्रह्मा पञ्चब्रह्ममयः शिवः । परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठी सनातनः ॥ १०५ ॥

आप इस कर्मभूमिरूपी युगके प्रारम्भमें उत्पन्न हुए थे इसलिए 'युगादिपुरुष' (४७) कहलाते हैं, केवलज्ञान आदि गुण आपमें बृह अर्थात् वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं इसलिए आप 'ब्रह्मा' (४८) कहे जाते हैं, आप पंचपरमेष्ठीस्वरूप हैं इसलिए 'पंचब्रह्म' (४९) कहलाते हैं, शिव अर्थात् मोक्ष अथवा आनन्दरूप होनेसे 'शिव' (५०) कहे जाते हैं, आप सब जीवोंका पालन अथवा समस्त ज्ञान आदि गुणोंको पूर्ण करनेवाले हैं इसलिए 'पर' (५१) कहलाते हैं, संसारमें सबसे उत्कृष्ट हैं इसलिए 'परतर' (५२) कहलाते हैं, इन्द्रियोंके द्वारा आपका आकार नहीं जाना जा सकता अथवा नामकर्मका क्षय हो जानेसे आपमें बहुत शीघ्र सूक्ष्मत्व गुण प्रकट होनेवाला है इसलिए 'सूक्ष्म' (५३) कहलाते हैं, परमपदमें स्थित होनेके कारण 'परमेष्ठी' (५४) कहलाते हैं और नित्य होनेके कारण 'सनातन' (५५) कहलाते हैं ॥ १०५ ॥

> स्वयंज्योतिरजोऽजन्मा ब्रह्मयोनिरयोनिजः । मोहारिविजयी जेता धर्मचक्रप्रवर्तकः ॥ १०६ ॥

आप असहाय केवलज्ञानरूपी ज्योतिको धारण करनेवाले हैं इसलिए 'स्वयंज्योति' (५६) कहलाते हैं, कर्मरूपी उपाधियोंसे उत्पन्न नहीं हुए हैं इसलिए 'अज' (५७) हैं, नवीन जन्म धारण नहीं करेंगे इसलिए 'अजन्मा' (५८) हैं, केवलज्ञान आदि गुणोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं इसलिए 'ब्रह्मयोनि' (५९) कहे जाते हैं, माता-पिताके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले शरीरसे रहित हैं इसलिए 'अयोनिज' (६०) कहलाते हैं, मोहरूपी शत्रुको जीतनेवाले होनेसे 'मोहारिविजयी' (६१) हैं, सब कर्मोंको जीतनेवाले होनेसे 'जेता' (६२) हैं, और द्वादशांगरूपी धर्मचक्रको चलानेवाले होनेसे 'धर्मचक्रप्रवर्तक' (६३) कहलाते हैं ॥ १०६ ॥

> स्वयंज्योतिरजोऽजन्मा ब्रह्मयोनिरयोनिजः । मोहारिविजयी जेता धर्मचक्री दयाध्वजः ॥ १०६ ॥

आप स्वयं प्रकाशमान हैं इसलिए स्वयंज्योति कहलाते हैं, संसारमें उत्पन्न नहीं होते इसलिए अज कहे जाते हैं, जन्मरहित हैं इसलिए अजन्मा कहलाते हैं, आप ब्रह्म अर्थात् वेद (द्वादशांग शास्त्र) की उत्पत्तिके कारण हैं इसलिए ब्रह्मयोनि कहलाते हैं, चौरासी लाख योनियोंमें उत्पन्न नहीं होते इसलिए अयोनिज कहे जाते हैं, मोहरूपी शत्रुको जीतनेवाले हैं इससे मोहारिविजयी कहलाते हैं, सर्वदा सर्वोत्कृष्ट रूपसे विद्यमान रहते हैं इसलिए जेता कहे जाते हैं, आप धर्मचक्रको प्रवर्तित करते हैं इसलिए धर्मचक्री कहलाते हैं, दया ही आपकी ध्वजा है इसलिए आप दयाध्वज कहे जाते हैं ॥ १०६ ॥

प्रशान्तारिरनन्तात्मा योगी योगीश्वरार्चितः । ब्रह्मविद् ब्रह्मतत्त्वज्ञो ब्रह्मोद्भाव्यो यतीश्वरः ॥ १०७ ॥

आपके समस्त कर्मरूप शत्रु शान्त हो गये हैं इसलिए आप प्रशान्तारि कहलाते हैं, आपकी आत्माका अन्त कोई नहीं पा सका है इसलिए आप अनन्तात्मा हैं, आप योग अर्थात् केवलज्ञान आदि प्रकृष्ट अर्थोंकी प्राप्तिसे सहित हैं अथवा ध्यानसे युक्त हैं अथवा मोक्षप्राप्तिके उपायभूत ज्ञानादिक उपायोंसे सुशोभित हैं इसलिए योगी कहलाते हैं, योगियों अर्थात् मुनियोंके ईश्वर आपकी पूजा करते हैं इसलिए योगीश्वरार्चित हैं, ब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपको जानते हैं इसलिए ब्रह्मविद् कहलाते हैं, ब्रह्म अर्थात् आत्मारूपी तत्त्वके रहस्यको जाननेवाले हैं इसलिए ब्रह्मतत्त्वज्ञ कहे जाते हैं, पूर्व आचार्यों द्वारा कहे हुए समस्त तत्त्व अथवा केवलज्ञानरूपी आत्मविद्याको जानते हैं इसलिए ब्रह्मोद्भाव्य कहे जाते हैं, मोक्ष प्राप्त करनेके लिए यत्न करनेवाले यती अर्थात् मुनियोंके स्वामी हैं इसलिए यतीश्वर कहलाते हैं ॥ १०७ ॥

शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थः सिद्धशासनः । सिद्धः सिद्धान्तविद्धेयः सिद्धसाध्यो जगद्धितः ॥ १०८ ॥

आप राग-द्वेषादि भाव कर्ममल कलंकसे रहित होनेके कारण शुद्ध हैं, संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेवाली केवलज्ञानरूपी बुद्धिसे संयुक्त होनेके कारण बुद्ध कहलाते हैं, आपकी आत्मा सदा प्रबुद्ध ज्ञानसे जगमगाती रहती है इसलिए आप प्रबुद्धात्मा हैं, आपके सब प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं इसलिए आप सिद्धार्थ कहलाते हैं, आपका शासन सिद्ध अर्थात् प्रसिद्ध हो चुका है इसलिए आप सिद्धशासन हैं, आप अपने अनन्तगुणोंको प्राप्त कर चुके हैं अथवा सिद्ध अर्थात् मोक्ष अवस्था प्राप्त करनेवाले हैं इसलिए सिद्ध कहलाते हैं, आप द्वादशांगरूपी सिद्धान्तको जाननेवाले हैं इसलिए सिद्धान्तविद् कहे जाते हैं, सभी लोग आपका ध्यान करते हैं इसलिए आप ध्येय कहलाते हैं, आपके समस्त साध्य अर्थात् करने योग्य कार्य सिद्ध हो चुके हैं इसलिए आप सिद्धसाध्य कहलाते हैं, आप जगत्के समस्त जीवोंका हित करनेवाले हैं इससे जगद्धित कहे जाते हैं ॥ १०८ ॥

सहिष्णुरच्युतोऽनन्तः प्रभविष्णुर्भवोद्भवः । प्रभूष्णुरजरोऽजय्यो भ्राजिष्णुर्धीश्वरोऽव्ययः ॥ १०९ ॥

सहनशील हैं अर्थात् क्षमा गुणके भण्डार हैं इसलिए सहिष्णु कहलाते हैं, ज्ञानादि गुणोंसे कभी च्युत नहीं होते इसलिए अच्युत कहे जाते हैं, विनाशरहित हैं इसलिए अनन्त कहलाते हैं, प्रभावशाली हैं इसलिए प्रभविष्णु कहे जाते हैं, संसारमें आपका जन्म सबसे उत्कृष्ट माना गया है इसलिए आप भवोद्भव कहलाते हैं, आप शक्तिशाली हैं इसलिए प्रभूष्णु कहे जाते हैं, वृद्धावस्थासे रहित होनेके कारण अजर हैं, आप कभी जीर्ण नहीं होते इसलिए अजय्य हैं, ज्ञानादि गुणोंसे अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं इसलिए भ्राजिष्णु हैं, केवलज्ञानरूपी बुद्धिके ईश्वर हैं इसलिए धीश्वर कहलाते हैं, कभी आपका व्यय अर्थात् नाश नहीं होता इसलिए आप अव्यय कहलाते हैं ॥ १०९ ॥

विभावसुरसम्भूष्णुः स्वयम्भूष्णुः पुरातनः । परमात्मा परं ज्योतिस्त्रिजगत्परमेश्वरः ॥ ११० ॥

आप कर्मरूपी इन्धनको जलानेके लिए अग्निके समान हैं अथवा मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान हैं इसलिए विभावसु कहलाते हैं, आप संसारमें पुनः उत्पन्न नहीं होंगे इसलिए असम्भूष्णु कहे जाते हैं, आप अपने-आप ही इस अवस्थाको प्राप्त हुए हैं इसलिए स्वयम्भूष्णु हैं, प्राचीन हैं—द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अनादिसिद्ध हैं इसलिए पुरातन कहलाते हैं, आपकी आत्मा अतिशय उत्कृष्ट है इसलिए आप परमात्मा कहे जाते हैं, उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप हैं इसलिए परं ज्योति कहलाते हैं, तीनों लोकोंके ईश्वर हैं इसलिए त्रिजगत्परमेश्वर कहे जाते हैं ॥ ११० ॥ इति श्रीमदादिशतम् ॥

दिव्यभाषापतिर्दिव्यः पूतवाक्पूतशासनः । पूतात्मा परमज्योतिर्धर्माध्यक्षो दमेश्वरः ॥ १११ ॥

आप दिव्य-ध्वनिके पति हैं इसलिए आपको दिव्यभाषापति कहते हैं, अत्यन्त सुन्दर हैं इसलिए आप दिव्य कहलाते हैं, आपके वचन अतिशय पवित्र हैं इसलिए आप पूतवाक् कहे जाते हैं, आपका शासन पवित्र होनेसे आप पूतशासन कहलाते हैं, आपकी आत्मा पवित्र है इसलिए आप पूतात्मा कहे जाते हैं, उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप हैं इसलिए परमज्योति कहलाते हैं, धर्मके अध्यक्ष हैं इसलिए धर्माध्यक्ष कहे जाते हैं, इन्द्रियोंको जीतनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए दमेश्वर कहलाते हैं ॥ १११ ॥

श्रीपतिर्भगवानर्हन् रजोविरजाः शुचिः । तीर्थकृत्केवलीशानः पूजार्हः स्नातकोऽमलः ॥ ११२ ॥

मोक्षरूपी लक्ष्मीके अधिपति हैं इसलिए श्रीपति कहलाते हैं, अष्टप्रातिहार्यरूप उत्तम ऐश्वर्यसे सहित हैं इसलिए भगवान् कहे जाते हैं, सबके द्वारा पूज्य हैं इसलिए अर्हन् कहलाते हैं, कर्मरूपी धूलिसे रहित हैं इसलिए अरजाः कहे जाते हैं, आपके द्वारा भव्य जीवोंके कर्ममल दूर होते हैं अथवा आप ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मसे रहित हैं इसलिए विरजाः कहलाते हैं, अतिशय पवित्र हैं इसलिए शुचि कहे जाते हैं, धर्मरूप तीर्थके करनेवाले हैं इसलिए तीर्थकृत् कहलाते हैं, केवलज्ञानसे सहित होनेके कारण केवली कहे जाते हैं, अनन्त सामर्थ्यसे युक्त होनेके कारण ईशान कहलाते हैं, पूजाके योग्य होनेसे पूजार्ह हैं, घातियाकर्मोंके नष्ट होने अथवा पूर्णज्ञान होनेसे आप स्नातक कहलाते हैं, आपका शरीर मलरहित है अथवा आत्मा राग-द्वेष आदि दोषोंसे वर्जित है इसलिए आप अमल कहे जाते हैं ॥ ११२ ॥

अनन्तदीप्तिर्ज्ञानात्मा स्वयंबुद्धः प्रजापतिः । मुक्तः शक्तो निराबाधो निष्कलो भुवनेश्वरः ॥ ११३ ॥

आप केवलज्ञानरूपी अनन्त दीप्ति अथवा शरीरकी अपरिमित प्रभाके धारक हैं इसलिए अनन्तदीप्ति कहलाते हैं, आपकी आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिए आप ज्ञानात्मा हैं, आप स्वयं संसारसे विरक्त होकर मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हुए हैं अथवा आपने गुरुओंकी सहायताके बिना ही समस्त पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त किया है इसलिए स्वयंबुद्ध कहलाते हैं, समस्त जनसमूहके रक्षक होनेसे आप प्रजापति हैं, कर्मरूप बन्धनसे रहित हैं इसलिए मुक्त कहलाते हैं, अनन्त शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण शक्त कहे जाते हैं, बाधा-उपसर्ग आदिसे रहित हैं इसलिए निराबाध कहलाते हैं, शरीर अथवा मायासे रहित होनेके कारण निष्कल कहे जाते हैं और तीनों लोकोंके ईश्वर होनेसे भुवनेश्वर कहलाते हैं ॥ ११३ ॥

> निरञ्जनो जगज्ज्योतिर्निरुक्तोक्तिरनामयः । अचलस्थितिरक्षोभ्यः कूटस्थः स्थाणुरक्षयः ॥ ११४ ॥

आप अज्ञानादिरूप अंजनसे रहित हैं इसलिए निरञ्जन कहलाते हैं, जगत्को प्रकाशित करनेवाले हैं इसलिए जगज्ज्योति कहे जाते हैं, आपके वचन सार्थक हैं अथवा पूर्वापर विरोधसे रहित हैं इसलिए आप निरुक्तोक्ति कहलाते हैं, रोगरहित होनेसे अनामय हैं, आपकी स्थिति अचल है इसलिए अचलस्थिति कहलाते हैं, आप कभी क्षोभको प्राप्त नहीं होते इसलिए अक्षोभ्य हैं, नित्य होनेसे कूटस्थ हैं, गमनागमनसे रहित होनेके कारण स्थाणु हैं और क्षयरहित होनेके कारण अक्षय हैं ॥ ११४ ॥

> अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता प्रणेता न्यायशास्त्रकृत् । शास्ता धर्मपतिर्धर्मी धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् ॥ ११५ ॥

आप तीनों लोकोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिए अग्रणी कहलाते हैं, भव्यजीवोंके समूहको मोक्ष प्राप्त करानेवाले हैं इसलिए ग्रामणी हैं, सब जीवोंको सन्मार्गमें प्राप्त कराते हैं इसलिए नेता हैं, द्वादशांगरुप शास्त्रकी रचना करनेवाले हैं इसलिए प्रणेता हैं, न्यायशास्त्रका उपदेश देते हैं इसलिए न्यायशास्त्रकृत् कहे जाते हैं, हितका उपदेश देनेके कारण शास्ता कहलाते हैं, उत्तम क्षमा आदि धर्मोंके स्वामी हैं इसलिए धर्मपति कहे जाते हैं, धर्मसे सहित हैं इसलिए धर्मी कहलाते हैं, आपकी आत्मा धर्मिरूप अथवा धर्मसे उपलक्षित है इसलिए आप धर्मात्मा कहलाते हैं और आप धर्मरूपी तीर्थके करनेवाले हैं इसलिए धर्मतीर्थकृत् कहे जाते हैं ॥ ११५ ॥

> वृषध्वजो वृषाधीशो वृषकेतुर्वृषायुधः । वृषो वृषपतिर्भर्ता वृषभाङ्को वृषोद्भवः ॥ ११६ ॥

आपकी ध्वजामें वृष अर्थात् बैलका चिह्न है अथवा धर्म ही आपकी ध्वजा है अथवा आप वृषभ चिह्नसे अंकित हैं इसलिए वृषध्वज कहलाते हैं, आप वृष अर्थात् धर्मके पति हैं इसलिए वृषाधीश कहे जाते हैं, आप धर्मकी पताकास्वरूप हैं इसलिए लोग आपको वृषकेतु कहते हैं, आपने मोहरूपी शत्रुओंको नष्ट करनेके लिए धर्मरूप शस्त्र धारण किये हैं इसलिए आप वृषायुध कहे जाते हैं, आप धर्मरूप हैं इसलिए वृष कहलाते हैं, धर्मके स्वामी हैं इसलिए वृषपति कहे जाते हैं, समस्त जीवोंका भरण-पोषण करते हैं इसलिए भर्ता कहलाते हैं, वृषभ अर्थात् बैलके

चिह्नसे सहित हैं इसलिए वृषभाङ्क कहे जाते हैं और पूर्व पर्यायोंमें उत्तम धर्म करनेसे ही आप तीर्थंकर होकर उत्पन्न हुए हैं इसलिए आप वृषोद्भव कहलाते हैं ॥ ११६ ॥

> हिरण्यनाभिर्भूतात्मा भूतभृद्भूतभावनः । प्रभवो विभवो भास्वान् भवो भावो भवान्तकः ॥ ११७ ॥

सुन्दर नाभि होनेसे आप हिरण्यनाभि कहलाते हैं, आपकी आत्मा सत्यरूप है इसलिए आप भूतात्मा कहे जाते हैं, आप समस्त जीवोंकी रक्षा करते हैं इसलिए पण्डितजन आपको भूतभृत् कहते हैं, आपकी भावनाएँ बहुत ही उत्तम हैं इसलिए आप भूतभावन कहलाते हैं, आप मोक्षप्राप्तिके कारण हैं अथवा आपका जन्म प्रशंसनीय है इसलिए प्रभव कहे जाते हैं, संसारसे रहित होनेके कारण आप विभव कहलाते हैं, देदीप्यमान होनेसे भास्वान् हैं, उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूपसे सदा उत्पन्न होते रहते हैं इसलिए भव कहलाते हैं, अपने चैतन्यरूप भावमें लीन रहते हैं इसलिए भाव कहे जाते हैं और संसारभ्रमणका अन्त करनेवाले हैं इसलिए भवान्तक कहलाते हैं ॥ ११७ ॥

> हिरण्यगर्भः श्रीगर्भः प्रभूतविभवोऽभवः । स्वयंप्रभुः प्रभूतात्मा भूतनाथो जगत्पतिः ॥ ११८ ॥

जब आप गर्भमें थे तभी पृथिवी सुवर्णमय हो गयी थी और आकाशसे देवोंने भी सुवर्णकी वृष्टि की थी इसलिए आप हिरण्यगर्भ कहे जाते हैं, आपके अन्तरंगमें अनन्तचतुष्टयरूपी लक्ष्मी देदीप्यमान हो रही है इसलिए आप श्रीगर्भ कहलाते हैं, आपका विभव बड़ा भारी है इसलिए आप प्रभूतविभव कहे जाते हैं, जन्मरहित होनेके कारण अभव कहलाते हैं, स्वयं समर्थ होनेसे स्वयंप्रभु कहे जाते हैं, केवलज्ञानकी अपेक्षा आपकी आत्मा सर्वत्र व्याप्त है इसलिए आप प्रभूतात्मा हैं, समस्त जीवोंके स्वामी होनेसे भूतनाथ हैं और तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे जगत्पति हैं ॥ ११८ ॥

> सर्वादिः सर्वदृक् सर्वः सर्वज्ञः सर्वदर्शनः । सर्वात्मा सर्वलोकेशः सर्ववित् सर्वलोकजित् ॥ ११९ ॥

सबसे मुख्य होनेके कारण सर्वादि हैं, सब पदार्थोंको देखनेके कारण सर्वदृक् हैं, सबका हित करनेवाले हैं इसलिए सर्व कहलाते हैं, सब पदार्थोंको जानते हैं इसलिए सर्वज्ञ कहे जाते हैं, आपका दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व अथवा केवलदर्शन पूर्ण अवस्थाको प्राप्त हुआ है इसलिए आप सर्वदर्शन कहलाते हैं, आप सबका भला चाहते हैं—सबको अपने समान समझते हैं अथवा संसारके समस्त पदार्थ आपके आत्मामें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं इसलिए आप सर्वात्मा कहे जाते हैं, सब लोकोंके स्वामी हैं इसलिए सर्वलोकेश कहलाते हैं, सब पदार्थोंको जानते हैं इसलिए सर्ववित् हैं, और समस्त लोकोंको जीतनेवाले हैं—सबसे बढ़कर हैं, इसलिए सर्वलोकजित् कहलाते हैं ॥ ११९ ॥

> सुगतिः सुश्रुतः सुश्राः सुवाग् बर्हिर्मुखेश्वरः । विश्रुतो विश्वतःपादो विश्वशीर्षः शुचिश्रवाः ॥ १२० ॥

आपकी मोक्षरूपी गति अतिशय सुन्दर है अथवा आपका ज्ञान बहुत ही उत्तम है इसलिए आप सुगति कहलाते हैं, अतिशय प्रसिद्ध हैं अथवा उत्तम श्रुतज्ञानको धारण करनेवाले हैं इसलिए सुश्रुतः कहे जाते हैं, सब जीवोंकी प्रार्थनाएँ सुनते हैं इसलिए सुश्राः कहलाते हैं, आपके वचन बहुत ही उत्तम निकलते हैं इसलिए आप सुवाक् कहलाते हैं, सबके गुरु हैं अथवा समस्त विद्याओंको प्राप्त हैं इसलिए बर्हिर्मुखेश्वर कहे जाते हैं, बहुत शास्त्रोंके पारगामी होनेसे बहुश्रुत हैं, बहुत प्रसिद्ध हैं अथवा केवलज्ञान होनेके कारण आपका क्षायोपशमिक श्रुतज्ञान नष्ट हो गया है इसलिए आप विश्रुत कहलाते हैं, आपका संचार प्रत्येक विषयोंमें होता है अथवा आपकी केवलज्ञानरूपी किरणें संसारमें सभी ओर फैली हुई हैं इसलिए आप विश्वतःपाद कहलाते हैं, लोकके शिखरपर विराजमान हैं इसलिए विश्वशीर्ष कहे जाते हैं और आपकी श्रवणशक्ति अत्यन्त पवित्र है इसलिए शुचिश्रवाः कहलाते हैं ॥ १२० ॥

सहस्रशीर्षा क्षेत्रज्ञः सहस्राक्षः सहस्रपात् । भूतभव्यभवद्दर्ता विश्वविद्यामहेश्वरः ॥ १२१ ॥

अनन्त सुखी होनेसे सहस्रशीर्षा कहलाते हैं, निज क्षेत्र अर्थात् आत्माको जाननेसे क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं, अनन्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिए सहस्राक्ष कहे जाते हैं, अनन्त बलके धारक हैं इसलिए सहस्रपात् कहलाते हैं, भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालके स्वामी हैं इसलिए भूतभव्यभवद्भर्ता कहे जाते हैं, समस्त विद्याओंके प्रधान स्वामी हैं इसलिए विश्वविद्यामहेश्वर कहलाते हैं ॥ १२१ ॥ इति दिव्यादिशतम् ॥

स्थविष्ठः स्थविरो ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रेष्ठो वरिष्ठधीः । स्थेष्ठो गरिष्ठो बंहिष्ठः श्रेष्ठाणिष्ठो गरिष्ठगीः ॥ १२२ ॥

आप समीचीन गुणोंकी अपेक्षा अतिशय स्थूल हैं इसलिए स्थविष्ठ कहे जाते हैं, ज्ञानादि गुणोंके द्वारा वृद्ध हैं इसलिए स्थविर कहलाते हैं, तीनों लोकोंमें अतिशय प्रशस्त होनेके कारण ज्येष्ठ हैं, सबके अग्रगामी होनेके कारण श्रेष्ठ कहलाते हैं, सबको अतिशय प्रिय हैं इसलिए प्रेष्ठ कहे जाते हैं, आपकी बुद्धि अतिशय श्रेष्ठ है इसलिए वरिष्ठधी कहलाते हैं, अत्यन्त स्थिर अर्थात् नित्य हैं इसलिए स्थेष्ठ कहलाते हैं, अत्यन्त गुरु हैं इसलिए गरिष्ठ कहे जाते हैं, गुणोंकी अपेक्षा अनेक रूप धारण करनेसे बंहिष्ठ कहलाते हैं, अतिशय प्रशस्त हैं इसलिए श्रेष्ठ हैं, अतिशय सूक्ष्म होनेके कारण अणिष्ठ कहे जाते हैं और आपकी वाणी अतिशय गौरवसे पूर्ण है इसलिए आप गरिष्ठगीः कहलाते हैं ॥ १२२ ॥

विश्वमुट् विश्वसृड् विश्वेड् विश्वभुग् विश्वनायकः । विश्वासी विश्वरूपात्मा विश्वजिद् विजितान्तकः ॥ १२३ ॥

चतुर्गतिरूप संसारको नष्ट करनेके कारण आप विश्वमुट् कहे जाते हैं, समस्त संसारकी व्यवस्था करनेवाले हैं इसलिए विश्वसृज् कहलाते हैं, सब लोकके ईश्वर हैं इसलिए विश्वेड् कहे जाते हैं, समस्त संसारकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिए विश्वभुज् कहलाते हैं, अखिल जगत्के स्वामी हैं इसलिए विश्वनायक कहलाते हैं, समस्त संसारमें व्याप्त होकर रहते

हैं इसलिए विश्वासी कहलाते हैं, विश्वरूप अर्थात् केवलज्ञान ही आपका स्वरूप है अथवा आपका आत्मा अनेकरूप है इसलिए आप विश्वरूपात्मा कहे जाते हैं, सबको जीतनेवाले हैं इसलिए विश्वजित् कहे जाते हैं और अन्तक अर्थात् मृत्युको जीतनेवाले हैं इसलिए विजितान्तक कहलाते हैं ॥ १२३ ॥

> विभवो विभयो वीरो विशोको विजरो जरन् । विरागो विरतोऽसङ्गो विविक्तो वीतमत्सरः ॥ १२४ ॥

आपका संसार-भ्रमण नष्ट हो गया है इसलिए विभव कहलाते हैं, भय दूर हो गया है इसलिए विभय कहे जाते हैं, अनन्त बलशाली हैं इसलिए वीर कहलाते हैं, शोकरहित हैं इसलिए विशोक कहे जाते हैं, जरा अर्थात् वृद्धावस्थासे रहित हैं इसलिए विजर कहलाते हैं, जगत्के सब जीवोंमें प्राचीन हैं इसलिए जरन् कहे जाते हैं, रागरहित हैं इसलिए विराग कहलाते हैं, समस्त पापोंसे विरत हो चुके हैं इसलिए विरत कहे जाते हैं, परिग्रहरहित हैं इसलिए असङ्ग कहलाते हैं, एकाकी अथवा पवित्र होनेसे विविक्त हैं और मात्सर्यसे रहित होनेके कारण वीतमत्सर कहलाते हैं ॥ १२४ ॥

> विनेयजनताबन्धुर्विलीनाशेषकल्मषः । वियोगो योगविद् विद्वान् विधाता सुविधिः सुधीः ॥ १२५ ॥

आप अपने शिष्य जनोंके हितैषी हैं इसलिए विनेयजनताबन्धु कहलाते हैं, आपके समस्त पापकर्म विलीन-नष्ट हो गये हैं इसलिए विलीनाशेषकल्मष कहे जाते हैं, आप योग अर्थात् मन, वचन, कायके निमित्तसे होनेवाले आत्मप्रदेश-परिस्पन्दसे रहित हैं इसलिए वियोग कहलाते हैं, योग अर्थात् ध्यानके स्वरूपको जाननेवाले हैं इसलिए योगविद् कहे जाते हैं, समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिए विद्वान् कहलाते हैं, धर्मरूप जगत्के कर्ता होनेसे विधाता कहे जाते हैं, आपका कार्य बहुत ही उत्तम है इसलिए सुविधि कहलाते हैं और आपकी बुद्धि उत्तम है इसलिए सुधी कहे जाते हैं ॥ १२५ ॥

> क्षान्तिभाक् पृथिवीमूर्तिः शान्तिभाक् सलिलात्मकः । वायुमूर्तिरसङ्गात्मा वह्निमूर्तिरधर्मधक् ॥ १२६ ॥

उत्तम क्षमाको धारण करनेवाले हैं इसलिए क्षान्तिभाक् कहलाते हैं, पृथिवीके समान सहनशील हैं इसलिए पृथिवीमूर्ति कहे जाते हैं, शान्तिके उपासक हैं इसलिए शान्तिभाक् कहलाते हैं, जलके समान शीतलता उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिए सलिलात्मक कहे जाते हैं, वायुके समान परपदार्थके संसर्गसे रहित होनेके कारण वायुमूर्ति कहलाते हैं, परिग्रहरहित होनेके कारण असङ्गात्मा कहे जाते हैं, अग्निके समान कर्मरूपी ईंधनको जलाते हैं इसलिए वह्निमूर्ति हैं, और अधर्मको जलानेवाले हैं इसलिए अधर्मधक् कहलाते हैं ॥ १२६ ॥

सुयज्वा यजमानात्मा सुता सुत्राsubमपूजितः । ऋत्विग् यज्ञपतिर्याज्यो यज्ञाङ्गममृतं हविः ॥ १२७ ॥

कर्मरूपी सामग्रीका अच्छी तरह होम करनेसे सुयज्वा हैं, निज स्वभावका आराधन करनेसे यजमानात्मा हैं, आत्मसुखरूप सागरमें अभिषेक करनेसे सुता हैं, इन्द्रके द्वारा पूजित होनेके कारण सुत्रामपूजित हैं, ज्ञानरूपी यज्ञ करनेमें आचार्य कहलाते हैं इसलिए ऋत्विक् हैं, यज्ञके प्रधान अधिकारी होनेसे यज्ञपति कहलाते हैं, पूजाके योग्य हैं इसलिए याज्य कहलाते हैं, यज्ञके अंग होनेसे यज्ञाङ्ग कहलाते हैं, विषयतृष्णाको नष्ट करनेके कारण अमृत कहे जाते हैं, और आपने ज्ञानयज्ञमें अपनी ही अशुद्ध परिणतिको होम दिया है इसलिए आप हविः कहलाते हैं ॥ १२७ ॥

व्योममूर्तिरमूर्तात्मा निर्लेपो निर्मलोऽचलः । सोममूर्तिः सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिर्महाप्रभः ॥ १२८ ॥

आप आकाशके समान निर्मल अथवा केवलज्ञानकी अपेक्षा लोक-अलोकमें व्याप्त हैं इसलिए व्योममूर्ति हैं, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे रहित होनेके कारण अमूर्तात्मा हैं, कर्मलेपरहित होनेसे निर्लेप हैं, मलरहित हैं इसलिए निर्मल कहलाते हैं, सदा एक रूपसे विद्यमान रहते हैं इसलिए अचल कहे जाते हैं, चन्द्रमाके समान शीतल, सुन्दर अथवा प्रकाशमान रहते हैं इसलिए सोममूर्ति कहलाते हैं, आपकी आत्मा अतिशय सौम्य है इसलिए सुसौम्यात्मा कहे जाते हैं, सूर्यके समान तेजस्वी हैं इसलिए सूर्यमूर्ति कहलाते हैं और अतिशय प्रभाके धारक हैं इसलिए महाप्रभ कहलाते हैं ॥ १२८ ॥

मन्त्रविन्मन्त्रकृन्मन्त्रो मन्त्रमूर्तिरनन्तगः । स्वतन्त्रस्तन्त्रकृत् स्वन्तः कृतान्तान्तः कृतान्तकृत् ॥ १२९ ॥

मन्त्रोंको जाननेवाले हैं इसलिए मन्त्रवित् कहे जाते हैं, अनेक मन्त्रोंके करनेवाले हैं इसलिए मन्त्रकृत् कहलाते हैं, मन्त्ररूपसे युक्त हैं इसलिए मन्त्र कहलाते हैं, मन्त्रस्वरूप हैं इसलिए मन्त्रमूर्ति कहे जाते हैं, अनन्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिए अनन्तग कहलाते हैं, कर्मबन्धनसे रहित होनेके कारण स्वतन्त्र कहलाते हैं, शास्त्रोंके करनेवाले हैं इसलिए तन्त्रकृत् कहे जाते हैं, आपका अन्तःकरण उत्तम है इसलिए स्वन्तः कहलाते हैं, आपने कृतान्त अर्थात् यमराज-मृत्युका अन्त कर दिया है इसलिए लोग आपको कृतान्तान्त कहते हैं और आप कृतान्त अर्थात् आगमकी रचना करनेवाले हैं इसलिए कृतान्तकृत् कहे जाते हैं ॥ १२९ ॥

कृती कृतार्थः सत्कृत्यः कृतकृत्यः कृतक्रतुः । नित्यो मृत्युञ्जयोऽमृत्युर्मृतात्मामृतसम्भवः ॥ १३० ॥

आप अत्यन्त कुशल अथवा पुण्यवान् हैं इसलिए कृती कहलाते हैं, आपने आत्माके सब पुरुषार्थ सिद्ध कर लिये हैं इसलिए कृतार्थ हैं, संसारके समस्त जीवोंके द्वारा सत्कार करनेके योग्य हैं इसलिए सत्कृत्य हैं, समस्त कार्य कर चुके हैं इसलिए कृतकृत्य हैं, आप ज्ञान अथवा तपश्चरणरूपी यज्ञ कर चुके हैं इसलिए कृतक्रतु कहलाते हैं, सदा विद्यमान रहनेसे नित्य हैं, मृत्युको जीतनेसे मृत्युञ्जय हैं, मृत्युसे रहित होनेके कारण अमृत्यु हैं, आपका आत्मा अमृतके समान सदा शान्तिदायक है इसलिए अमृतात्मा हैं, और अमृत अर्थात् मोक्षमें आपकी उत्कृष्ट उत्पत्ति होनेवाली है इसलिए आप अमृतसम्भव कहलाते हैं ॥ १३० ॥

> ब्रह्मनिष्ठः परं ब्रह्म ब्रह्मा ब्रह्मसमुद्भवः । महाब्रह्मपतिर्ब्रह्मेशो महाब्रह्मपदेश्वरः ॥ १३१ ॥

आप सदा शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन रहते हैं इसलिए ब्रह्मनिष्ठ कहलाते हैं, उत्कृष्ट ब्रह्मारूप हैं इसलिए परंब्रह्म कहे जाते हैं, ब्रह्म अर्थात् ज्ञान अथवा ब्रह्मचर्य ही आपका स्वरूप है इसलिए आप ब्रह्मा कहलाते हैं, आपको स्वयं ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति हुई है तथा आपसे दूसरोंको होती है इसलिए आप ब्रह्मसम्भव कहलाते हैं, गणधर आदि महाब्रह्माओंके भी अधिपति हैं इसलिए आप महाब्रह्मपति कहे जाते हैं, आप केवलज्ञानके स्वामी हैं इसलिए ब्रह्मेश कहलाते हैं, महाब्रह्मपद अर्थात् आर्हन्त्य और सिद्धत्व अवस्थाके ईश्वर हैं इसलिए महाब्रह्मपदेश्वर कहे जाते हैं ॥ १३१ ॥

> सुप्रसन्नः प्रसन्नात्मा ज्ञानधर्मदमप्रभुः । प्रशान्तो वा प्रशास्तात्मा पुराणपुरुषोत्तमः ॥ १३२ ॥

आप सदा प्रसन्न रहते हैं इसलिए सुप्रसन्न कहे जाते हैं, आपकी आत्मा कषायोंका अभाव हो जानेके कारण सदा प्रसन्न रहती है इसलिए लोग आपको प्रसन्नात्मा कहते हैं, आप केवलज्ञान, उत्तमक्षमा आदि धर्म और इन्द्रियनिग्रहरूप दमके स्वामी हैं इसलिए ज्ञानधर्मदमप्रभु कहे जाते हैं, आपकी आत्मा उत्कृष्ट शान्तिसे सहित है इसलिए आप प्रशान्त कहलाते हैं, आपकी आत्मा कषायोंका अभाव हो जानेसे अतिशय शान्त हो चुकी है इसलिए आप प्रशान्तात्मा कहलाते हैं, और शलाका पुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिए विद्वान् लोग आपको पुराणपुरुषोत्तम कहते हैं ॥ १३२ ॥ इति स्थविष्ठादिशतम् ॥

> महाशोकध्वजोऽशोकः कः स्रष्टा पद्मविष्टरः । पद्मेशः पद्मसंभूतिः पद्मनाभिरनुत्तरः ॥ १३३ ॥

बड़ा भारी अशोकवृक्ष ही आपका चिह्न है इसलिए आप महाशोकध्वज कहलाते हैं, शोकसे रहित होनेके कारण अशोक कहलाते हैं, सबको सुख देनेवाले हैं इसलिए 'क' कहलाते हैं, धर्म और मोक्षके मार्गकी सृष्टि करते हैं इसलिए स्रष्टा कहलाते हैं, आप कमलरूप आसनपर विराजमान हैं इसलिए पद्मविष्टर कहलाते हैं, पद्मा अर्थात् लक्ष्मीके स्वामी हैं इसलिए पद्मेश कहलाते हैं, विहारके समय देव लोग आपके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना कर

देते हैं इसलिए आप पद्मसंभूति कहे जाते हैं, आपकी नाभि कमलके समान है इसलिए लोग आपको पद्मनाभि कहते हैं, तथा आपसे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है इसलिए आप अनुत्तर कहलाते हैं ॥ १३३ ॥

> पद्मयोनिर्जगद्योनिरित्यः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः । स्तवनार्हो हृषीकेशो जितज्ञेयः कृतक्रियः ॥ १३४ ॥

हे भगवन्, आपका यह शरीर माताके पद्माकार गर्भाशयमें उत्पन्न हुआ था इसलिए आप पद्मयोनि कहलाते हैं, धर्मरूप जगत्की उत्पत्तिके कारण होनेसे जगद्योनि हैं, भव्य जीव तपश्चरण आदिके द्वारा आपको ही प्राप्त करना चाहते हैं इसलिए आप इत्य कहलाते हैं, इन्द्र आदि देवोंके द्वारा स्तुति करने योग्य हैं इसलिए स्तुत्य कहलाते हैं, स्तुतियोंके स्वामी होनेसे स्तुतीश्वर कहे जाते हैं, स्तवन करनेके योग्य हैं इसलिए स्तवनार्ह कहलाते हैं, इन्द्रियोंके ईश अर्थात् वश करनेवाले स्वामी हैं इसलिए हृषीकेश कहे जाते हैं, आपने जीतने योग्य समस्त मोहादि शत्रुओंको जीत लिया है इसलिए आप जितज्ञेय कहलाते हैं, और आप करने योग्य समस्त क्रियाएँ कर चुके हैं इसलिए कृतक्रिय कहे जाते हैं ॥ १३४ ॥

> गणाधिपो गणज्येष्ठो गण्यः पुण्यो गणाग्रणीः । गुणाकरो गुणाम्भोधिर्गुणज्ञो गुणनायकः ॥ १३५ ॥

आप बारह सभारूप गणके स्वामी होनेसे गणाधिप कहलाते हैं, समस्त गणोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण गणज्येष्ठ कहे जाते हैं, तीनों लोकोंमें आप ही गणना करनेके योग्य हैं इसलिए गण्य कहलाते हैं, पवित्र हैं इसलिए पुण्य हैं, समस्त सभामें स्थित जीवोंको मोक्षमार्गमें आगे ले जानेवाले हैं इसलिए गणाग्रणी कहलाते हैं, गुणोंकी खान हैं इसलिए गुणाकर कहे जाते हैं, आप गुणोंके समूह हैं इसलिए गुणाम्भोधि कहलाते हैं, आप गुणोंको जानते हैं इसलिए गुणज्ञ कहे जाते हैं और गुणोंके स्वामी हैं इसलिए गणधर आपको गुणनायक कहते हैं ॥ १३५ ॥

> गुणादरी गुणोच्छेदी निर्गुणः पुण्यगीर्गुणः । शरण्यः पुण्यवाक्पूतो वरेशः पुण्यनायकः ॥ १३६ ॥

आप गुणोंका आदर करते हैं इसलिए गुणादरी कहलाते हैं, सत्त्व, रज, तम अथवा काम, क्रोध आदि गुणोंकी श्रेणीको नष्ट करनेवाले हैं इसलिए आप गुणोच्छेदी कहे जाते हैं, आप वैभाविक गुणोंसे रहित हैं इसलिए निर्गुण कहलाते हैं, पवित्र वाणीके धारक हैं इसलिए पुण्यगीः कहे जाते हैं, गुणोंसे युक्त हैं इसलिए गुण कहलाते हैं, शरण आये हुए जीवोंकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिए शरण्य कहे जाते हैं, आपके वचन पवित्र हैं इसलिए पूतवाक् कहलाते हैं, स्वयं पवित्र हैं इसलिए पूत कहे जाते हैं, श्रेष्ठ हैं इसलिए वरेश कहलाते हैं और पुण्यके अधिपति हैं इसलिए पुण्यनायक कहे जाते हैं ॥ १३६ ॥

अगण्यः पुण्यधीर्गुण्यः पुण्यकृत् पुण्यशासनः । धर्मारामो गुणग्रामः पुण्यापुण्यनिरोधकः ॥ १३७ ॥

आपकी गणना नहीं हो सकती अर्थात् आप अपरिमित गुणोंके धारक हैं इसलिए अगण्य कहलाते हैं, पवित्र बुद्धिके धारक होनेसे पुण्यधी कहे जाते हैं, गुणोंसे सहित हैं इसलिए गुण्य कहलाते हैं, पुण्यकार्य करनेवाले हैं इसलिए पुण्यकृत् कहे जाते हैं, आपका शासन पुण्यरूप अर्थात् पवित्र है इसलिए आप पुण्यशासन माने जाते हैं, धर्मके उपवनस्वरूप होनेसे धर्माराम कहे जाते हैं, आपमें अनेक गुणोंका ग्राम अर्थात् समूह पाया जाता है इसलिए आप गुणग्राम कहलाते हैं, आपने शुद्धोपयोगमें लीन होकर पुण्य और पाप दोनोंका निरोध कर दिया है इसलिए आप पुण्यापुण्यनिरोधक कहे जाते हैं ॥ १३७ ॥

पापापेतो विपापात्मा विपाप्मा वीतकल्मषः । निष्परिग्रहो निर्मोहः शान्तो निर्मोहो निरुपद्रवः ॥ १३८ ॥

आप हिंसादि पापोंसे रहित हैं इसलिए पापापेत माने गये हैं, आपकी आत्मासे समस्त पाप विगत हो गये हैं इसलिए आप विपापात्मा कहे जाते हैं, आपने पापोंको नष्ट कर दिया है इसलिए विपाप्मा कहलाते हैं, आपके समस्त कल्मष अर्थात् रागादि भाव कर्ममल नष्ट हो चुके हैं इसलिए वीतकल्मष माने जाते हैं, परिग्रहरहित होनेसे निष्परिग्रह हैं, अहंकारसे रहित होनेके कारण निर्मम कहलाते हैं, आपका मोह निकल चुका है इसलिए आप निर्मोह हैं और उपद्रव उपसर्ग आदिसे रहित हैं इसलिए निरुपद्रव कहलाते हैं ॥ १३८ ॥

निर्निमेषो निराहारो निष्क्रियो निरुपप्लवः । निष्कलङ्को निरस्तैना निर्धूतागा निरास्रवः ॥ १३९ ॥

आपके नेत्रोंके पलक नहीं झपते इसलिए आप निर्निमेष कहलाते हैं, आप कवलाहार नहीं करते इसलिए निराहार हैं, सांसारिक क्रियाओंसे रहित हैं इसलिए निष्क्रिय हैं, बाधारहित हैं इसलिए निरुपप्लव हैं, कलंकरहित होनेसे निष्कलङ्क हैं, आपने समस्त एनस् अर्थात् पापोंको दूर हटा दिया है इसलिए निरस्तैना कहलाते हैं, समस्त अपराधोंको आपने दूर कर दिया है इसलिए निर्धूतागस् कहे जाते हैं, और कर्मोंके आस्रवसे रहित होनेके कारण निरास्रव कहलाते हैं ॥ १३९ ॥

विपुलो विपुलज्योतिरतुलोऽचिन्त्यवैभवः । सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सुभृत् सुनयतत्त्ववित् ॥ १४० ॥

आप सबसे महान् हैं इसलिए विपुल कहे जाते हैं, केवलज्ञानरूपी विशाल ज्योतिको धारण करनेवाले हैं इसलिए विपुलज्योति माने जाते हैं, उपमारहित होनेसे अतुल हैं, आपका वैभव अचिन्त्य है इसलिए अचिन्त्यवैभव कहलाते हैं, आप नवीन कर्मोंका आस्रव रोककर पूर्ण संवर कर चुके हैं इसलिए सुसंवृत कहलाते हैं, आपकी आत्मा अतिशय

सुरक्षित है अथवा मनोगुप्ति आदि गुप्तियोंसे युक्त है इसलिए विद्वान् लोग आपको सुगुप्तात्मा कहते हैं, आप समस्त पदार्थोंको अच्छी तरह जानते हैं इसलिए सुभृत् कहलाते हैं और आप समीचीन नयोंके यथार्थ रहस्यको जानते हैं इसलिए सुनयतत्त्वविद् कहलाते हैं ॥ १४० ॥

> एकविद्यो महाविद्यो मुनिः परिषद्ः पतिः । धीशो विद्यानिधिः साक्षी विनेता विहतान्तकः ॥ १४१ ॥

आप केवलज्ञानरूपी एक विद्याको धारण करनेसे एकविद्य कहलाते हैं, अनेक बड़ी-बड़ी विद्याएँ धारण करनेसे महाविद्य कहे जाते हैं, प्रत्यक्षज्ञानी होनेसे मुनि हैं, सबके स्वामी हैं इसलिए परिषद् कहलाते हैं, समस्त जीवोंकी रक्षा करते हैं इसलिए पति हैं, बुद्धिके स्वामी हैं इसलिए धीश कहलाते हैं, विद्याओंके भण्डार हैं इसलिए विद्यानिधि माने जाते हैं, समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानते हैं इसलिए साक्षी कहलाते हैं, विनयको प्रकट करनेवाले हैं इसलिए विनेता कहे जाते हैं और यमराज अर्थात् मृत्युको नष्ट करनेवाले हैं इसलिए विहतान्तक कहलाते हैं ॥ १४१ ॥

> पिता पितामहः पाता पवित्रः पावनो गतिः । त्राता भिषग्वरो वर्यो वरदः परमः पुमान् ॥ १४२ ॥

आप सब जीवोंकी नरकादि गतियोंसे रक्षा करते हैं इसलिए पिता कहलाते हैं, सबके गुरु हैं इसलिए पितामह कहे जाते हैं, सबका पालन करनेसे पाता कहलाते हैं, अतिशय शुद्ध हैं इसलिए पवित्र कहे जाते हैं, सबको शुद्ध या पवित्र करते हैं इसलिए पावन माने जाते हैं, समस्त भव्य तपस्या करके आपके ही अनुरूप होना चाहते हैं इसलिए आप सबकी गति अथवा खण्डाकार छेद निकालनेपर गतिरहित होनेसे अगति कहलाते हैं, समस्त जीवोंकी रक्षा करनेसे त्राता कहलाते हैं, जन्म-जरा-मरणरूपी रोगको नष्ट करनेके लिए उत्तम वैद्य हैं इसलिए भिषग्वर कहे जाते हैं, श्रेष्ठ होनेसे वर्य हैं, इच्छानुकूल पदार्थोंको प्रदान करते हैं इसलिए वरद कहलाते हैं, आपकी ज्ञानादि-लक्ष्मी अतिशय श्रेष्ठ है इसलिए परम कहे जाते हैं और आत्मा तथा पर पुरुषोंको पवित्र करनेके कारण पुमान् कहलाते हैं ॥ १४२ ॥

> कविः पुराणपुरुषो वर्षीयानृषभो गुरुः । प्रतिष्ठाप्रसवो हेतुर्भुवनैकपितामहः ॥ १४३ ॥

द्वादशांगका वर्णन करनेवाले हैं इसलिए कवि कहलाते हैं, अनादिकालसे होनेसे पुराणपुरुष कहे जाते हैं, ज्ञानादि गुणोंकी अपेक्षा अतिशय वृद्ध हैं इसलिए वर्षीयान् कहलाते हैं, श्रेष्ठ होनेसे ऋषभ कहलाते हैं, तीर्थंकरोंमें आदिपुरुष होनेसे गुरु कहे जाते हैं, आप प्रतिष्ठा अर्थात् सम्मान अथवा स्थिरताके कारण हैं इसलिए प्रतिष्ठाप्रसव कहलाते हैं, समस्त उत्तम कार्योंके कारण हैं इसलिए हेतु कहे जाते हैं और संसारके एकमात्र गुरु हैं इसलिए भुवनैकपितामह कहते हैं ॥ १४३ ॥ इति महादिशतम् ॥

श्रीवृक्षलक्षणः श्लक्ष्णो लक्षण्यो शुभलक्षणः । निरीक्षः पुण्डरीकाक्षः पुष्कलः पुष्करेक्षणः ॥ १४४ ॥

श्रीवृक्षके चिह्नसे चिह्नित हैं इसलिए श्रीवृक्षलक्षण कहे जाते हैं, सूक्ष्मरूप होनेसे श्लक्ष्ण कहलाते हैं, लक्षणोंसे अनपेत अर्थात् सहित हैं इसलिए लक्षण्य कहे जाते हैं, आपके शरीरमें अनेक शुभ लक्षण विद्यमान हैं इसलिए शुभलक्षण कहलाते हैं, आप समस्त पदार्थोंका निरीक्षण करनेवाले हैं अथवा आप नेत्रेन्द्रियके द्वारा दर्शन-क्रिया नहीं करते इसलिए निरीक्ष कहलाते हैं, आपके नेत्र पुण्डरीककमलके समान सुन्दर हैं इसलिए आप पुण्डरीकाक्ष कहलाते हैं, आत्म-गुणोंसे खूब ही परिपूर्ण हैं इसलिए पुष्कल कहे जाते हैं और कमलदलके समान लम्बे नेत्रोंको धारण करनेवाले होनेसे पुष्करेक्षण कहे जाते हैं ॥ १४४ ॥

सिद्धिदः सिद्धसङ्कल्पः सिद्धात्मा सिद्धसाधनः । बुद्धबोध्यो महाभूतिर्वर्धमानो महर्द्धिकः ॥ १४५ ॥

सिद्धिको देनेवाले हैं इसलिए सिद्धिद कहलाते हैं, आपके सब संकल्प सिद्ध हो चुके हैं इसलिए सिद्धसङ्कल्प कहे जाते हैं, आपकी आत्मा सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो चुकी है इसलिए सिद्धात्मा कहलाते हैं, आपको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी मोक्ष-साधन प्राप्त हो चुके हैं इसलिए आप सिद्धसाधन कहलाते हैं, आपने जानने योग्य सब पदार्थोंको जान लिया है इसलिए बुद्धबोध्य कहे जाते हैं, आपकी रत्नत्रयरूपी विभूति बहुत ही प्रशंसनीय है इसलिए आप महाभूति कहलाते हैं, आपके गुण उत्तरोत्तर बढ़ते रहते हैं इसलिए आप वर्धमान हैं और बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं इसलिए महर्द्धिक कहलाते हैं ॥ १४५ ॥

वेदाङ्गो वेदविद् वेद्यो जातरूपो विदांवरः । विनेयात्मा विभावज्ञो विवेदो वक्तृणां वरः ॥ १४६ ॥

आप अनुयोगरूपी वेदोंके अंग अर्थात् कारण हैं इसलिए वेदाङ्ग कहे जाते हैं, वेदको जाननेवाले हैं इसलिए वेदविद् कहलाते हैं, ऋषियोंके द्वारा जानने योग्य हैं इसलिए वेद्य कहे जाते हैं, आप दिगम्बररूप हैं इसलिए जातरूप कहे जाते हैं, जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए विदांवर कहलाते हैं, आगम अथवा केवलज्ञानके द्वारा जानने योग्य हैं इसलिए विनेयात्मा कहे जाते हैं, अनुभवगम्य होनेसे विभावज्ञ कहलाते हैं, आप तीन प्रकारके वेदोंसे रहित हैं इसलिए विवेद कहे जाते हैं और वक्ताओंमें श्रेष्ठ होनेसे वक्तृणां वर कहलाते हैं ॥ १४६ ॥

अनादिनिधनो व्यक्तो व्यक्तवाग् व्यक्तशासनः । युगादिकृद् युगाधारो युगादिर्जगदादिजः ॥ १४७ ॥

आदि-अन्तरहित होनेसे अनादिनिधन कहे जाते हैं, ज्ञानके द्वारा अत्यन्त स्पष्ट हैं इसलिए व्यक्त कहलाते हैं, आपके वचन अतिशय स्पष्ट हैं इसलिए व्यक्तवाक् कहे जाते हैं, आपका शासन अत्यन्त स्पष्ट या प्रकट है इसलिए आपको व्यक्तशासन कहते हैं, कर्मभूमिरूपी युगके आदि व्यवस्थापक होनेसे आप युगादिकृत् कहलाते हैं, युगकी समस्त व्यवस्था करनेवाले हैं इसलिए युगाधार कहे जाते हैं, इस कर्मभूमिरूप युगका प्रारम्भ आपसे ही हुआ था इसलिए आप युगादि माने जाते हैं और आप जगत्के प्रारम्भमें उत्पन्न हुए थे इसलिए जगदादिज कहलाते हैं ॥ १४७ ॥

> अतीन्द्रोऽतीन्द्रियो धीन्द्रो महेन्द्रोऽतीन्द्रियार्थदृक् । अनिन्द्रियोऽहमिन्द्राच्यो महेन्द्रमहितो महान् ॥ १४८ ॥

आपने अपने प्रभाव या ऐश्वर्यसे इन्द्रोंको भी अतिक्रान्त कर दिया है इसलिए अतीन्द्र कहे जाते हैं, इन्द्रियगोचर न होनेसे अतीन्द्रिय हैं, बुद्धिके स्वामी होनेसे धीन्द्र हैं, परम ऐश्वर्यका अनुभव करते हैं इसलिए महेन्द्र कहलाते हैं, अतीन्द्रिय (सूक्ष्म-अन्तरित-दूरार्थ) पदार्थोंको देखनेवाले होनेसे अतीन्द्रियार्थदृक् कहे जाते हैं, इन्द्रियोंसे रहित हैं इसलिए अनिन्द्रिय कहलाते हैं, अहमिन्द्रोंके द्वारा पूजित होनेसे अहमिन्द्राच्य कहे जाते हैं, बड़े-बड़े इन्द्रोंके द्वारा पूजित होनेसे महेन्द्रमहित कहलाते हैं और स्वयं सबसे बड़े हैं इसलिए महान् कहे जाते हैं ॥ १४८ ॥

> उद्भवः कारणं कर्ता पारगो भवतारकः । अगाधो गहनो गुह्यः परार्ध्यः परमेश्वरः ॥ १४९ ॥

आप समस्त संसारसे बहुत ऊँचे उठे हुए हैं अथवा आपका जन्म संसारमें सबसे उत्कृष्ट है इसलिए उद्भव कहलाते हैं, मोक्षके कारण होनेसे कारण कहे जाते हैं, सब कार्य करते हैं इसलिए कर्ता कहलाते हैं, संसाररूपी समुद्रके पारको प्राप्त होनेसे पारग माने जाते हैं, आप भव्यजीवोंको संसाररूपी समुद्रसे तारनेवाले हैं इसलिए भवतारक कहलाते हैं, आप किसीके भी द्वारा अवगाहन करने योग्य नहीं हैं अर्थात् आपके गुणोंको कोई नहीं समझ सकता है इसलिए आप अगाध कहे जाते हैं, आपका स्वरूप अतिशय गम्भीर या कठिन है इसलिए गहन कहलाते हैं, अप्रकट होनेसे गुह्य हैं, सबसे उत्कृष्ट होनेके कारण परार्ध्य हैं और सबसे अधिक समर्थ होनेके कारण परमेश्वर माने जाते हैं ॥ १४९ ॥

> अनन्तर्द्धिरमेयर्द्धिरचिन्त्यर्द्धिः समग्रधीः । प्राग्र्यः प्रत्यग्रधीः प्रत्यग्रोऽग्र्योऽग्रिमोऽग्रजः ॥ १५० ॥

आपकी ऋद्धियाँ अनन्त, अमेय और अचिन्त्य हैं इसलिए आप अनन्तर्द्धि, अमेयर्द्धि और अचिन्त्यर्द्धि कहलाते हैं, आपकी बुद्धि पूर्ण अवस्थाको प्राप्त हुई है इसलिए आप समग्रधी हैं, सबमें मुख्य होनेसे प्राग्र्य हैं, प्रत्येक मांगलिक कार्योंमें सर्वप्रथम आपका स्मरण किया जाता है इसलिए प्रत्यग्रधी हैं, लोकका अग्रभाग प्राप्त करनेके सम्मुख हैं इसलिए प्रत्यग्र हैं, आप समस्त लोगोंसे विलक्षण-नूतन हैं इसलिए प्रत्यग्र कहलाते हैं, सबके स्वामी हैं इसलिए

अग्र्य कहे जाते हैं, सबके आगे होनेसे अग्रिम कहलाते हैं और सबसे पहले होनेके कारण अग्रज कहे जाते हैं ॥ १५० ॥

> महातपा महातेजा महोदर्को महोदयः । महायशा महाधामा महासत्त्वो महाधृतिः ॥ १५१ ॥

आपने बड़ा कठिन तपश्चरण किया है इसलिए महातपा कहलाते हैं, आपका बड़ा भारी तेज चारों ओर फैल रहा है इसलिए आप महातेजा हैं, आपकी तपश्चर्याका उदर्क अर्थात् फल बड़ा भारी है इसलिए आप महोदर्क कहलाते हैं, आपका अभ्युदय बड़ा भारी है इसलिए आप महोदय माने जाते हैं, आपका बड़ा भारी यश चारों ओर फैल रहा है इसलिए आप महायशा माने जाते हैं, आप विशाल तेज-प्रताप अथवा ज्ञानके धारक हैं इसलिए महाधामा कहलाते हैं, आपकी शक्ति अपार है इसलिए विद्वान् लोग आपको महासत्त्व कहते हैं, और आपका धीरज महान् है इसलिए आप महाधृति कहलाते हैं ॥ १५१ ॥

> महाधैर्यो महावीर्यो महासम्पन्महाबलः । महाशक्तिर्महाज्योतिर्महाभूतिर्महाद्युतिः ॥ १५२ ॥

आप कभी अधीर नहीं होते इसलिए महाधैर्य कहे जाते हैं, अनन्त वीर्यके धारक होनेसे महावीर्य कहलाते हैं, समवसरणरूप अद्वितीय विभूतिको धारण करनेसे महासम्पद् माने जाते हैं, अत्यन्त बलवान् होनेसे महाबल कहलाते हैं, बड़ी भारी शक्तिके धारक होनेसे महाशक्ति माने जाते हैं, अतिशय ज्योति अथवा केवलज्ञानसे सहित होनेके कारण महाज्योति कहलाते हैं, आपका वैभव अपार है इसलिए आपको महाभूति कहते हैं, और आपके शरीरकी द्युति बड़ी भारी है इसलिए आप महाद्युति कहे जाते हैं ॥ १५२ ॥

> महामतिर्महानीतिर्महाक्षान्तिर्महादयः । महाप्राज्ञो महाभागो महानन्दो महाकविः ॥ १५३ ॥

अतिशय बुद्धिमान् हैं इसलिए महामति कहलाते हैं, अतिशय न्यायवान् हैं इसलिए महानीति कहे जाते हैं, अतिशय क्षमावान् हैं इसलिए महाक्षान्ति माने जाते हैं, अतिशय दयालु हैं इसलिए महादय कहलाते हैं, अत्यन्त विवेकवान् होनेसे महाप्राज्ञ, अत्यन्त भाग्यशाली होनेसे महाभाग, अत्यन्त आनन्द होनेसे महानन्द और सब श्रेष्ठ कवि होनेसे महाकवि माने जाते हैं ॥ १५३ ॥

> महामहो महाकीर्तिर्महाकान्तिर्महावपुः । महादानो महाज्ञानो महायोगो महागुणः ॥ १५४ ॥

अत्यन्त तेजस्वी होनेसे महामह, विशाल कीर्तिके धारक होनेसे महाकीर्ति, अद्भुत कान्तिसे युक्त होनेके कारण महाकान्ति, विशाल शरीरके धारक होनेसे महावपु, बड़े दानी होनेसे महादान, केवलज्ञानी होनेसे महाज्ञान, बड़े ध्यानी होनेसे महायोग और बड़े-बड़े गुणोंके धारक होनेसे महागुण कहलाते हैं ॥ १५४ ॥

> महामहपतिः प्राप्तमहाकल्याणपञ्चकः । महाप्रभुर्महाप्रातिहार्याधीशो महेश्वरः ॥ १५५ ॥

आप अनेक बड़े-बड़े उत्सवोंके स्वामी हैं इसलिए महामहपति कहलाते हैं, आपने गर्भ आदि पाँच महाकल्याणकोंको प्राप्त किया है इसलिए प्राप्तमहाकल्याणपञ्चक कहे जाते हैं, आप सबसे बड़े स्वामी हैं इसलिए महाप्रभु कहलाते हैं, अशोकवृक्ष आदि आठ महाप्रातिहार्योंके स्वामी हैं इसलिए महाप्रातिहार्याधीश कहे जाते हैं, और आप सब देवोंके अधीश्वर हैं इसलिए महेश्वर कहलाते हैं ॥ १५५ ॥ इति श्रीवृक्षादिशतम् ॥

> महामुनिर्महामौनी महाध्यानो महादमः । महाक्षमो महाशीलो महायज्ञो महामखः ॥ १५६ ॥

सब मुनियोंमें उत्तम होनेसे महामुनि, वचनालापरहित होनेसे महामौनी, शुक्लध्यानका ध्यान करनेसे महाध्यान, अतिशय जितेन्द्रिय होनेसे महादम, अतिशय समर्थ अथवा शान्त होनेसे महाक्षम, उत्तमशीलसे युक्त होनेके कारण महाशील और तपश्चरणरूपी अग्निमें कर्मरूपी हविके होम करनेसे महायज्ञ और अतिशय पूज्य होनेके कारण महामख कहलाते हैं ॥ १५६ ॥

> महाव्रतपतिर्मह्यो महाकान्तिधरोऽधिपः । महामैत्रीमयोऽमेयो महोपायो महोमयः ॥ १५७ ॥

पाँच महाव्रतोंके स्वामी होनेसे महाव्रतपति, पूज्य होनेसे मह्य, विशाल कान्तिके धारक होनेसे महाकान्तिधर, सबके स्वामी होनेसे अधिप, सब जीवोंके साथ मैत्रीभाव रखनेसे महामैत्रीमय, अपरिमित गुणोंके धारक होनेसे अमेय, मोक्षके उत्तमोत्तम उपायोंसे सहित होनेके कारण महोपाय और तेजःस्वरूप होनेसे महोमय कहलाते हैं ॥ १५७ ॥

> महाकारुणिको भर्ता महामन्त्रो महायतिः । महानादो महाघोषो महेज्यो महसां पतिः ॥ १५८ ॥

अत्यन्त दयालु होनेसे महाकारुणिक, सब पदार्थोंको जाननेसे ज्ञाता अथवा भरण-पोषण करनेसे भर्ता, अनेक मन्त्रोंके स्वामी होनेसे महामन्त्र, यतियोंमें श्रेष्ठ होनेसे महायति, गम्भीर दिव्यध्वनिके धारक होनेसे महानाद, दिव्यध्वनिका गम्भीर उच्चारण होनेके कारण महाघोष, बड़ी-बड़ी पूजाओंके अधिकारी होनेसे महेज्य और समस्त तेज अथवा प्रतापके स्वामी होनेसे महसांपति कहलाते हैं ॥ १५८ ॥

महाध्वरधरो धुर्यो महौदार्यो महिष्ठवाक् । महात्मा महसां धाम महर्षिर्महितोदयः ॥ १५९ ॥

ज्ञानरूपी विशाल यज्ञके धारक होनेसे महाध्वरधर, कर्मभूमिका समस्त भार सँभालने अथवा सबमें श्रेष्ठ होनेके कारण धुर्य, अतिशय उदार होनेसे महौदार्य, श्रेष्ठ वाणीसे युक्त होनेके कारण महिष्ठवाक्, महान् आत्माके धारक होनेसे महात्मा, समस्त तेजके स्थान होनेसे महसांधाम, ऋषियोंमें प्रधान होनेसे महर्षि और पूज्य जन्मके धारक होनेसे महितोदय कहलाते हैं ॥ १५९ ॥

महाक्लेशाङ्कुशः शूरो महाभूतपतिर्गुरुः । महापराक्रमोऽनन्तो महाक्रोधरिपुर्वशी ॥ १६० ॥

बड़े-बड़े क्लेशोंको नष्ट करनेके लिए अंकुशके समान हैं इसलिए महाक्लेशाङ्कुश कहलाते हैं, कर्मरूपी शत्रुओंका क्षय करनेमें शूर-वीर हैं इसलिए शूर कहे जाते हैं, गणधर आदि बड़े-बड़े प्राणियोंके स्वामी हैं इसलिए महाभूतपति कहे जाते हैं, तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए गुरु कहलाते हैं, विशाल पराक्रमके धारक हैं इसलिए महापराक्रम कहे जाते हैं, अन्तरहित होनेसे अनन्त हैं, क्रोधके बड़े भारी शत्रु होनेसे महाक्रोधरिपु कहे जाते हैं और समस्त इन्द्रियोंको वश कर लेनेसे वशी कहलाते हैं ॥ १६० ॥

महाभवाब्धिसंतारी महामोहाद्रिसूदनः । महागुणाकरः क्षान्तः महायोगीश्वरः शमी ॥ १६१ ॥

संसाररूपी महासमुद्रसे पार कर देनेके कारण महाभवाब्धिसंतारी, मोहरूपी महाचलके भेदन करनेसे महामोहाद्रिसूदन, सम्यग्दर्शन आदि बड़े-बड़े गुणोंकी खान होनेसे महागुणाकर, क्रोधादि कषायोंको जीत लेनेसे क्षान्त, बड़े-बड़े योगियों-मुनियोंके स्वामी होनेसे महायोगीश्वर और शान्त परिणामी होनेसे शमी कहलाते हैं ॥ १६१ ॥

महाध्यानपतिर्ध्यातमहाधर्मा महाव्रतः । महाकर्मारिहात्मज्ञो महादेवे महेशिता ॥ १६२ ॥

शुक्लध्यानरूपी महाध्यानके स्वामी होनेसे महाध्यानपति, अहिंसारूपी महाधर्मका ध्यान करनेसे ध्यातमहाधर्म, महाव्रतोंको धारण करनेसे महाव्रत, कर्मरूपी महाशत्रुओंको नष्ट करनेसे महाकर्मारिहा, आत्मस्वरूपके जानकार होनेसे आत्मज्ञ, देवोंमें प्रधान होनेसे महादेव और महान् सामर्थ्यसे सहित होनेके कारण महेशिता कहलाते हैं ॥ १६२ ॥

सर्वक्लेशापहः साधुः सर्वदोषहरो हरः । असंख्येयोऽप्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकरः ॥ १६३ ॥

सब प्रकारके क्लेशोंको दूर करनेसे सर्वक्लेशापह, आत्मकल्याण सिद्ध करनेसे साधु, समस्त दोषोंको दूर करनेसे सर्वदोषहर, समस्त पापोंको नष्ट करनेके कारण हर, असंख्यात गुण धारण करनेसे असंख्येय, अपरिमित शक्तिको धारण करनेसे अप्रमेयात्मा, शान्तस्वरूप होनेसे शमात्मा और उत्तम शान्तिकी खान होनेसे प्रशमाकर कहलाते हैं ॥ १६३ ॥

> सर्वयोगीश्वरोऽचिन्त्यः श्रुतात्मा विष्टरश्रवाः । दान्तात्मा दमतीर्थेशो योगात्मा ज्ञानसर्वगः ॥ १६४ ॥

सब मुनियोंके स्वामी होनेसे सर्वयोगीश्वर, किसीके चिन्तवनमें न आनेसे अचिन्त्य, भावश्रुतरूप होनेसे श्रुतात्मा, तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंको जाननेसे विष्टरश्रवा, मनको दमन करनेसे दान्तात्मा, संयमरूप तीर्थके स्वामी होनेके कारण दमतीर्थेश, योगमय होनेसे योगात्मा और ज्ञानके द्वारा सब जगह व्याप्त होनेके कारण ज्ञानसर्वग कहलाते हैं ॥ १६४ ॥

> प्रधानमात्मा प्रकृतिः परमः परमोदयः । प्रक्षीणबन्धः कामारिः क्षेमकृत् क्षेमशासनः ॥ १६५ ॥

एकाग्रतासे आत्माका ध्यान करने अथवा तीनों लोकोंमें प्रमुख होनेसे प्रधान, ज्ञानस्वरूप होनेसे आत्मा, समस्त कार्योंके कर्ता होनेसे प्रकृति, उत्कृष्ट लक्ष्मीके धारक होनेसे परम, उत्कृष्ट उदय अर्थात् जन्म या वैभवको धारण करनेसे परमोदय, कर्मबन्धनके क्षीण हो जानेसे प्रक्षीणबन्ध, कामदेव अथवा विषयाभिलाषाके शत्रु होनेसे कामारि, कल्याणकारी होनेसे क्षेमकृत् और मंगलमय उपदेशके देनेसे क्षेमशासन कहलाते हैं ॥ १६५ ॥

> प्रणवः प्रणतः प्राणः प्राणदः प्रणतेश्वरः । प्रमाणं प्रणिधिर्दक्षो दक्षिणोऽध्वर्युराध्वरः ॥ १६६ ॥

ओंकाररूप होनेसे प्रणव, सबके द्वारा नमस्कृत होनेसे प्रणत, जगत्को जीवित रखनेसे प्राण, सब जीवोंके प्राणदाता अर्थात् रक्षक होनेसे प्राणद, नम्रीभूत भव्य जीवोंके स्वामी होनेसे प्रणतेश्वर, प्रमाण अर्थात् ज्ञानमय होनेसे प्रमाण, अनन्तज्ञान आदि उत्कृष्ट निधियोंके स्वामी होनेसे प्रणिधि, समर्थ अथवा प्रवीण होनेसे दक्ष, सरल होनेसे दक्षिण, ज्ञानरूप यज्ञ करनेसे अध्वर्यु और समीचीन मार्गके प्रदर्शक होनेसे आध्वर कहलाते हैं ॥ १६६ ॥

> आनन्दो नन्दनो नन्दो वन्द्योऽनिन्द्योऽभिनन्दनः । कामहा कामदः काम्यः कामधेनुररिञ्जयः ॥ १६७ ॥

सदा सुखरूप होनेसे आनन्द, सबको आनन्द देनेसे नन्दन, सदा समृद्धिमान होते रहनेसे नन्द, इन्द्र आदिके द्वारा वन्दना करने योग्य होनेसे वन्द्य, निन्दारहित होनेसे अनिन्द्य, प्रशंसनीय होनेसे अभिनन्दन, कामदेवको नष्ट करनेसे

कामहा, अभिलषित पदार्थोंको देनेसे कामद, अत्यन्त मनोहर अथवा सबके द्वारा चाहने योग्य होनेसे काम्य, सबके मनोरथ पूर्ण करनेसे कामधेनु और कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेसे अरिञ्जय कहलाते हैं ॥ १६७ ॥ इति महामुन्यादिशतम् ॥

> असंस्कृतसुसंस्कारः प्राकृतो वैकृतान्तकृत् । कान्तः कान्तगुः कान्तिर्चिश्चिन्तामणिरभीष्टदः ॥ १६८ ॥

किसी अन्यके द्वारा संस्कृत हुए बिना ही उत्तम संस्कारोंको धारण करनेसे असंस्कृतसुसंस्कार, स्वाभाविक होनेसे प्राकृत, रागादि विकारोंका नाश करनेसे वैकृतान्तकृत्, अन्त अर्थात् कर्म अथवा जन्ममरणरूप संसारका अवसान करनेवाले होनेसे कान्त, सुन्दर कान्ति, वचन अथवा इन्द्रियोंके धारक होनेसे कान्तगु, अत्यन्त सुन्दर होनेसे कान्तर्चि, इच्छित पदार्थ देनेसे चिन्तामणि और भव्यजीवोंके लिए अभीष्ट-स्वर्ग-मोक्षके देनेसे अभीष्टद कहलाते हैं ॥ १६८ ॥

> अजितो जितकामारिरमितोऽमितशासनः । जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितान्तकः ॥ १६९ ॥

किसीके द्वारा जीते नहीं जा सकनेके कारण अजित, कामरूप शत्रुको जीतनेसे जितकामारि, अवधिरहित ज्ञानसे युक्त होनेसे अमित, अनुपम धर्मका उपदेश देनेसे अमितशासन, क्रोधको जीतनेसे जितक्रोध, शत्रुओंको जीतनेसे जितामित्र, क्लेशोंको जीत लेनेसे जितक्लेश और यमराजको जीत लेनेसे जितान्तक कहे जाते हैं ॥ १६९ ॥

> जिनेन्द्रः परमानन्दो मुनीन्द्रो दुन्दुभिस्वनः । महेन्द्रवन्द्यो योगीन्द्रो यतीन्द्रो नाभिनन्दनः ॥ १७० ॥

कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेवालोंमें श्रेष्ठ होनेसे जिनेन्द्र, उत्कृष्ट आनन्दके धारक होनेसे परमानन्द, मुनियोंके नाथ होनेसे मुनीन्द्र, दुन्दुभिके समान गम्भीर ध्वनिसे युक्त होनेके कारण दुन्दुभिस्वन, बड़े-बड़े इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय होनेसे महेन्द्रवन्द्य, योगियोंके स्वामी होनेसे योगीन्द्र, यतियोंके अधिपति होनेसे यतीन्द्र और नाभिमहाराजके पुत्र होनेसे नाभिनन्दन कहलाते हैं ॥ १७० ॥

> नाभेयो नाभिजोऽजातः सुव्रतो मनुरुत्तमः । अभेद्योऽनत्ययोऽनाश्वानधिकोऽधिगुरुः सुधीः ॥ १७१ ॥

नाभिराजाकी सन्तान होनेसे नाभेय, नाभिमहाराजसे उत्पन्न होनेके कारण नाभिज, द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा जन्मरहित होनेसे अजात, उत्तम व्रतोंके धारक होनेसे सुव्रत, कर्मभूमिकी समस्त व्यवस्था बताने अथवा मनन-ज्ञानरूप होनेसे मनु, उत्कृष्ट होनेसे उत्तम, किसीके द्वारा भेदन करने योग्य न होनेसे अभेद्य, विनाशरहित होनेसे अनत्यय,

तपश्चरण करनेसे अनाश्वान्, सबमें श्रेष्ठ होने अथवा वास्तविक सुख प्राप्त होनेसे अधिक, श्रेष्ठ गुरु होनेसे अधिगुरु और उत्तम वचनोंके धारक होनेसे सुधी कहलाते हैं ॥ १७१ ॥

> सुमेधा विक्रमी स्वामी दुराधर्षो निरूत्सुकः । विशिष्टः शिष्टभुक् शिष्टः प्रत्ययः कामनोऽनघः ॥ १७२ ॥

उत्तम बुद्धि होनेसे सुमेधा, पराक्रमी होनेसे विक्रमी, सबके अधिपति होनेसे स्वामी, किसीके द्वारा अनादर किया अथवा निवारण आदि नहीं किये जा सकनेके कारण दुराधर्ष, सांसारिक विषयोंकी उत्कण्ठासे रहित होनेके कारण निरूत्सुक, विशेषरूप होनेसे विशिष्ट, शिष्ट पुरुषोंका पालन करनेसे शिष्टभुक्, सदाचारयुक्त होनेसे शिष्ट, विश्वास अथवा ज्ञानरूप होनेसे प्रत्यय, मनोहर होनेसे कामन और पापरहित होनेसे अनघ कहलाते हैं ॥ १७२ ॥

> क्षेमी क्षेमङ्करोऽक्षय्यः क्षेमधर्मपतिः क्षमी । अग्राह्यो ज्ञाननिर्ग्राह्यो ध्यानगम्यो निरुत्तरः ॥ १७३ ॥

कल्याणसे युक्त होनेके कारण क्षेमी, भव्य जीवोंका कल्याण करनेसे क्षेमङ्कर, क्षयरहित होनेसे अक्षय्य, कल्याणकारी धर्मके स्वामी होनेसे क्षेमधर्मपति, क्षमासे युक्त होनेके कारण क्षमी, अल्पज्ञानियोंके ग्रहणमें न आनेसे अग्राह्य, केवलज्ञानके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य होनेसे ज्ञाननिर्ग्राह्य, ध्यानके द्वारा जाने जा सकनेके कारण ध्यानगम्य और सबसे उत्कृष्ट होनेके कारण निरुत्तर कहलाते हैं ॥ १७३ ॥

> सुकृतो धातुरीड्यश्च सुनयश्चतुराननः । श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्रश्चतुरास्यश्चतुर्मुखः ॥ १७४ ॥

पुण्यवान् होनेसे सुकृत, शब्दोंके उत्पादक होनेसे धातु, पूजाके योग्य होनेसे ईड्य, समीचीन नयोंसे सहित होनेके कारण सुनय, लक्ष्मीके निवास होनेसे श्रीनिवास और समवसरणमें अतिशय विशेषसे चारों ओर मुख दिखनेके कारण चतुरानन, चतुर्वक्त्र, चतुरास्य और चतुर्मुख कहलाते हैं ॥ १७४ ॥

> सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक् सत्यशासनः । सत्याशीः सत्यसन्धानः सत्यः सत्यपरायणः ॥ १७५ ॥

सत्यस्वरूप होनेसे सत्यात्मा, यथार्थ विज्ञानसे सहित होनेके कारण सत्यविज्ञान, सत्यवचन होनेसे सत्यवाक्, सत्यधर्मका उपदेश देनेसे सत्यशासन, सत्य आशीर्वाद होनेसे सत्याशीः, सत्यप्रतिज्ञ होनेसे सत्यसन्धान, सत्यरूप होनेसे सत्य और सत्यमें ही निरन्तर तत्पर रहनेसे सत्यपरायण कहलाते हैं ॥ १७५ ॥

> स्थेयान् स्थवीयान्नेदीयान् दवीयान् दूरदर्शनः । अणोरणीयाननणुर्गुरुराद्यो गरीयसाम् ॥ १७६ ॥

अत्यन्त स्थिर होनेसे स्थेयान्, अतिशय स्थूल होनेसे स्थवीयान्, भक्तोंके समीपवर्ती होनेसे नेदीयान्, पापोंसे दूर रहनेके कारण दवीयान्, दूरसे ही दर्शन होनेके कारण दूरदर्शन, परमाणुसे भी सूक्ष्म होनेके कारण अणोरणीयान्, अणुरूप न होनेसे अनणु और गुरुओंमें भी श्रेष्ठ गुरु होनेसे गरीयसामाद्यो गुरुः कहलाते हैं ॥ १७६ ॥

> सदायोगः सदाभोगः सदातृप्तः सदाशिवः । सदागतिः सदासौख्यः सदाविद्यः सदोदयः ॥ १७७ ॥

सदा योगरूप होनेसे सदायोग, सदा आनन्दके भोक्ता होनेसे सदाभोग, सदा सन्तुष्ट रहनेसे सदातृप्त, सदा कल्याणरूप रहनेसे सदाशिव, सदा ज्ञानरूप रहनेसे सदागति, सदा सुखरूप रहनेसे सदासौख्य, सदा केवलज्ञानरूपी विद्यासे युक्त होनेके कारण सदाविद्य और सदा उदयरूप रहनेसे सदोदय माने जाते हैं ॥ १७७ ॥

> सुघोषः सुमुखः सौम्यः सुखदः सुहितः सुहृत् । सुगुप्तो गुप्तिकृद् गोप्ता लोकाध्यक्षो दमेश्वरः ॥ १७८ ॥

उत्तमध्वनि होनेसे सुघोष, सुन्दर मुख होनेसे सुमुख, शान्तरूप होनेसे सौम्य, सब प्राणियोंको सुखदायी होनेसे सुखद, सबका हित करनेसे सुहित, उत्तम हृदय होनेसे सुहृत्, सुरक्षित अथवा मिथ्यादृष्टियोंके लिए अदृश्य होनेसे सुगुप्त, गुप्तियोंको धारण करनेसे गुप्तिकृत्, सबके रक्षक होनेसे गोप्ता, तीनों लोकोंका साक्षात्कार करनेसे लोकाध्यक्ष और इन्द्रियविजयरूपी दमके स्वामी होनेसे दमेश्वर कहलाते हैं ॥ १७८ ॥ इति असंस्कृतादिशतम् ॥

> बृहद्बृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पतिरुदारधीः । मनीषी धिषणो धीमान् शेमुषीशो गिरां पतिः ॥ १७९ ॥

इन्द्रोंके गुरु होनेसे बृहद्बृहस्पति, उत्तम वचनोंके धारक होनेसे वाग्मी, वचनोंके स्वामी होनेसे वाचस्पति, उत्कृष्ट बुद्धिके धारक होनेसे उदारधी, मनन शक्तिसे युक्त होनेके कारण मनीषी, चातुर्यपूर्ण बुद्धिसे सहित होनेके कारण धिषण, धारणपटु बुद्धिसे सहित होनेके कारण धीमान्, बुद्धिके स्वामी होनेसे शेमुषीश और सब प्रकारके वचनोंके स्वामी होनेसे गिरां पति कहलाते हैं ॥ १७९ ॥

> नैकरूपो नयोत्तुङ्गो नैकात्मा नैकधर्मकृत् । अविज्ञेयोऽप्रतर्क्यात्मा कृतज्ञः कृतलक्षणः ॥ १८० ॥

अनेकरूप होनेसे नैकरूप, नयोंके द्वारा उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त होनेसे नयोत्तुङ्ग, अनेक स्वरूप धारण करनेसे नैकात्मा, संसारमें अनेक धर्मोंका उपदेश करनेसे नैकधर्मकृत्, साधारण पुरुषोंके द्वारा जाननेके अयोग्य होनेसे अविज्ञेय, तर्क-वितर्करहित स्वरूपसे युक्त होनेके कारण अप्रतर्क्यात्मा, समस्त कृत्य जाननेसे कृतज्ञ और समस्त पदार्थोंका लक्षणस्वरूप बतलानेसे कृतलक्षण कहलाते हैं ॥ १८० ॥

> ज्ञानगर्भो दयागर्भो रत्नगर्भः प्रभास्वरः । पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भः सुदर्शनः ॥ १८१ ॥

अन्तरंगमें ज्ञान होनेसे ज्ञानगर्भ, दयालुहृदय होनेसे दयागर्भ, रत्नत्रयसे युक्त होनेके कारण अथवा गर्भगल्याणके समय रत्नमयी वृष्टि होनेसे रत्नगर्भ, देदीप्यमान होनेसे प्रभास्वर, कमलाकार गर्भाशयमें स्थित होनेके कारण पद्मगर्भ, ज्ञानके भीतर समस्त जगत्के प्रतिबिम्बित होनेसे जगद्गर्भ, गर्भवासके समय पृथिवीके स्वर्णमय हो जाने अथवा सुवर्णमय शरीर होनेसे हेमगर्भ और सुन्दर दर्शन होनेसे सुदर्शन कहलाते हैं ॥ १८१ ॥

> लक्ष्मीवांस्त्रिदशाध्यक्षो द्रढीयानिन ईशिता । मनोहरो मनोज्ञाङ्गो धीरो गम्भीरशासनः ॥ १८२ ॥

अन्तरंग तथा बहिरंग लक्ष्मीसे युक्त होनेके कारण लक्ष्मीवान्, देवोंके स्वामी होनेसे त्रिदशाध्यक्ष, अत्यन्त दृढ़ होनेसे द्रढीयान्, सबके स्वामी होनेसे इन, सामर्थ्यशाली होनेसे ईशिता, भव्यजीवोंका मनहरण करनेसे मनोहर, सुन्दर अंगोंके धारक होनेसे मनोज्ञाङ्ग, धैर्यवान् होनेसे धीर और शासनकी गम्भीरतासे गम्भीरशासन कहलाते हैं ॥ १८२ ॥

> धर्मयूपो दयायागो धर्मनेमिर्मुनीश्वरः । धर्मचक्रायुधो देवः कर्महा धर्मघोषणः ॥ १८३ ॥

धर्मके स्तम्भरूप होनेसे धर्मयूप, दयारूप यज्ञके करनेवाले होनेसे दयायाग, धर्मरूपी रथकी चक्रधारा होनेसे धर्मनेमि, मुनियोंके स्वामी होनेसे मुनीश्वर, धर्मचक्ररूपी शस्त्रके धारक होनेसे धर्मचक्रायुध, आत्मगुणोंमें क्रीड़ा करनेसे देव, कर्मोंका नाश करनेसे कर्महा और धर्मका उपदेश देनेसे धर्मघोषण कहलाते हैं ॥ १८३ ॥

> अमोघवागमोघाज्ञो निर्मलोऽमोघशासनः । सुरूपः सुभगस्त्यागी समयज्ञः समाहितः ॥ १८४ ॥

आपके वचन कभी व्यर्थ नहीं होते इसलिए अमोघवाक्, आपकी आज्ञा कभी निष्फल नहीं होती इसलिए अमोघाज्ञ, मलरहित हैं इसलिए निर्मल, आपका शासन सदा सफल रहता है इसलिए अमोघशासन, सुन्दर रूपके धारक हैं इसलिए सुरूप, उत्तम सौभाग्यसे युक्त हैं इसलिए सुभग, आपने पर पदार्थोंका त्याग कर दिया है इसलिए त्यागी,

सिद्धान्त, समय अथवा आगमके ज्ञाता हैं इसलिए समयज्ञ और समाधानरूप हैं इसलिए समाहित कहलाते हैं ॥ १८४ ॥

> सुस्थितः स्वास्थ्यभाक् स्वस्थो नीरजस्को निरुत्सवः । अलेपो निष्कलङ्कात्मा वीतरागो गतस्पृहः ॥ १८५ ॥

सुखपूर्वक स्थित रहनेसे सुस्थित, आरोग्य अथवा आत्मस्वरूपकी निश्चलताको प्राप्त होनेसे स्वास्थ्यभाक्, आत्मस्वरूपमें स्थित होनेसे स्वस्थ, कर्मरूप रजसे रहित होनेके कारण नीरजस्क, सांसारिक उत्सवोंसे रहित होनेके कारण निरुत्सव, कर्मरूपी लेपसे रहित होनेके कारण अलेप, कलंकरहित आत्मासे युक्त होनेके कारण निष्कलङ्कात्मा, राग आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण वीतराग और सांसारिक विषयोंकी इच्छासे रहित होनेके कारण गतस्पृह कहलाते हैं ॥ १८५ ॥

> वश्येन्द्रियो विमुक्तात्मा निःसपत्नो जितेन्द्रियः । प्रशान्तोऽनन्तधामर्षिर्मङ्गलं मलहानघः ॥ १८६ ॥

आपने इन्द्रियोंको वश कर लिया है इसलिए वश्येन्द्रिय कहलाते हैं, आपकी आत्मा कर्मबन्धनसे छूट गयी है इसलिए विमुक्तात्मा कहे जाते हैं, आपका कोई भी शत्रु या प्रतिद्वन्द्वी नहीं है इसलिए निःसपत्न कहलाते हैं, इन्द्रियोंको जीत लेनेसे जितेन्द्रिय कहे जाते हैं, अत्यन्त शान्त होनेसे प्रशान्त हैं, अनन्त तेजके धारक ऋषि होनेसे अनन्तधामर्षि हैं, मंगलरूप होनेसे मंगल हैं, मलको नष्ट करते हैं इसलिए मलहा कहलाते हैं और व्यसन अथवा दुःखसे रहित हैं इसलिए अनघ कहे जाते हैं ॥ १८६ ॥

> अनीदृगुपमाभूतो दैवं दैवमगोचरः । अमूर्तो मूर्तिमानेको नैको नानैकतत्त्वदृक् ॥ १८७ ॥

आपके समान अन्य कोई नहीं है इसलिए आप अनीदृक् कहलाते हैं, सबके लिए उपमा देने योग्य हैं इसलिए उपमाभूत कहे जाते हैं, सब जीवोंके भाग्यस्वरूप होनेके कारण दैव और दैव कहलाते हैं, इन्द्रियोंके द्वारा जाने नहीं जा सकते अथवा केवलज्ञान होनेके बाद ही आप गो अर्थात् पृथिवीपर विहार नहीं करते किन्तु आकाशमें गमन करते हैं इसलिए अगोचर कहे जाते हैं, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसे रहित होनेके कारण अमूर्त हैं, शरीरसहित हैं इसलिए मूर्तिमान् कहलाते हैं, अद्वितीय हैं इसलिए एक कहे जाते हैं, अनेक गुणोंसे सहित हैं इसलिए नैक कहलाते हैं और आत्माको छोड़कर आप अन्य अनेक तत्त्वोंको नहीं देखते—उनमें तल्लीन नहीं होते इसलिए नानैकतत्त्वदृक् कहे जाते हैं ॥ १८७ ॥

अध्यात्मगम्योऽगम्यात्मा योगविद् योगिवन्दितः । सर्वत्रगः सदाभावी त्रिकालविषयार्थदृक् ॥ १८८ ॥

अध्यात्मशास्त्रोंके द्वारा जानने योग्य होनेसे अध्यात्मगम्य, मिथ्यादृष्टि पुरुषोंके जानने योग्य न होनेसे अगम्यात्मा, योगके जानकार होनेसे योगविद्, योगियोंके द्वारा वन्दना किये जानेसे योगिवन्दित, केवलज्ञानकी अपेक्षा सब जगह व्याप्त होनेसे सर्वत्रग, सदा विद्यमान रहनेसे सदाभावी और त्रिकालविषयक समस्त पदार्थोंको देखनेसे त्रिकालविषयार्थदृक् कहलाते हैं ॥ १८८ ॥

शङ्करः शंवदो दान्तो दमी क्षान्तिपरायणः । अधिपः परमानन्दः परात्मज्ञः परात्परः ॥ १८९ ॥

सबको सुख करनेवाले होनेसे शङ्कर, सुखके बतलानेवाले होनेसे शंवद, मनको वश करनेसे दान्त, इन्द्रियोंका दमन करनेसे दमी, क्षमा धारण करनेमें तत्पर होनेसे क्षान्तिपरायण, सबके स्वामी होनेसे अधिप, उत्कृष्ट आनन्दरूप होनेसे परमानन्द, उत्कृष्ट अथवा पर और निजकी आत्माको जाननेसे परात्मज्ञ और श्रेष्ठसे श्रेष्ठ होनेके कारण परात्पर कहलाते हैं ॥ १८९ ॥

त्रिजगद्वल्लभोऽभ्यर्च्यस्त्रिजगन्मङ्गलोदयः । त्रिजगत्पतिपूज्याङ्घ्रिस्त्रिलोकाग्रशिखामणिः ॥ १९० ॥

तीनों लोकोंके प्रिय अथवा स्वामी होनेसे त्रिजगद्वल्लभ, पूजनीय होनेसे अभ्यर्च्य, तीनों लोकोंमें मंगलदाता होनेसे त्रिजगन्मङ्गलोदय, तीनों लोकोंके स्वामियोंसे पूजनीय चरणोंसे युक्त होनेके कारण त्रिजगत्पतिपूज्याङ्घ्रि और कुछ समयके बाद तीनों लोकोंके अग्रभागपर चूड़ामणिके समान विराजमान होनेके कारण त्रिलोकाग्रशिखामणि कहलाते हैं ॥ १९० ॥ इति बृहदादिशतम् ॥

त्रिकालदर्शी लोकेशो लोकधाता धृतव्रतः । सर्वलोकातिगः पूज्यः सर्वलोकैकसारथिः ॥ १९१ ॥

तीनों कालसम्बन्धी समस्त पदार्थोंको देखनेवाले हैं इसलिए त्रिकालदर्शी, लोकोंके स्वामी होनेसे लोकेश, समस्त लोकोंके पोषक या रक्षक होनेसे लोकधाता, व्रतोंको स्थिर रखनेसे धृतव्रत, सब जीवोंसे श्रेष्ठ होनेके कारण सर्वलोकातिग, पूजाके योग्य होनेसे पूज्य और सब लोगोंको मुख्यरूपसे अभीष्ट स्थान तक पहुँचानेमें समर्थ होनेसे सर्वलोकैकसारथि कहलाते हैं ॥ १९१ ॥

पुराणः पुरुषः पूर्वः कृतपूर्वाङ्गविस्तरः । आदिदेवः पुराणाद्यः पुरुदेवोऽधिदेवता ॥ १९२ ॥

सबसे प्राचीन होनेसे पुराण, आत्माके श्रेष्ठ गुणोंको प्राप्त होनेसे पुरुष, सबमें प्रथम होनेसे पूर्व, अंग और पूर्वोंका विस्तार करनेसे कृतपूर्वाङ्गविस्तर, सब देवोंमें मुख्य होनेसे आदिदेव, पुराणोंमें प्रथम होनेसे पुराणाद्य, महान् अथवा प्रथम तीर्थंकर होनेसे पुरुदेव और प्रधान देव होनेसे अधिदेवता कहलाते हैं ॥ १९२ ॥

> युगमुख्यो युगज्येष्ठो युगादिस्थितिदेशकः । कल्याणवर्णः कल्याणः कल्या कल्याणलक्षणः ॥ १९३ ॥

इस अवसर्पिणी युगके मुख्य पुरुष होनेसे युगमुख्य, इसी युगमें सबसे बड़े होनेसे युगज्येष्ठ, कर्मभूमिरूप युगके प्रारम्भमें तत्कालोचित व्यवस्थाके उपदेशक होनेसे युगादिस्थितिदेशक, कल्याण अर्थात् सुवर्णके समान कान्तिके धारक होनेसे कल्याणवर्ण, कल्याणरूप होनेसे कल्याण, मोक्ष प्राप्त करनेमें कल्या अर्थात् तत्पर अथवा निरामय-नीरोग होनेसे कल्या और कल्याणकारी लक्षणोंसे युक्त होनेके कारण कल्याणलक्षण कहलाते हैं ॥ १९३ ॥

> कल्याणप्रकृतिर्दीप्तकल्याणात्मा विकल्मषः । निष्कलङ्कः कलातीतः कलिघ्नः कलाधरः ॥ १९४ ॥

आपका स्वभाव कल्याणरूप है इसलिए आप कल्याणप्रकृति कहलाते हैं, आपकी आत्मा देदीप्यमान सुवर्णके समान निर्मल है इसलिए आप दीप्तकल्याणात्मा कहे जाते हैं, कर्मकालिमासे रहित हैं इसलिए विकल्मष कहलाते हैं, कलंकरहित हैं इसलिए निष्कलङ्क कहे जाते हैं, शरीररहित हैं इसलिए कलातीत कहलाते हैं, पापोंको नष्ट करनेवाले हैं इसलिए कलिघ्न कहे जाते हैं और अनेक कलाओंको धारण करनेवाले हैं इसलिए कलाधर माने जाते हैं ॥ १९४ ॥

> देवदेवो जगन्नाथो जगद्बन्धुर्जगद्विभुः । जगद्धितैषी लोकज्ञः सर्वगोजगदग्रजः ॥ १९५ ॥

देवोंके देव होनेसे देवदेव, जगत्के स्वामी होनेसे जगन्नाथ, जगत्के भाई होनेसे जगद्बन्धु, जगत्के स्वामी होनेसे जगद्विभु, जगत्का हित चाहनेवाले होनेसे जगद्धितैषी, लोकको जाननेसे लोकज्ञ, सब जगह व्याप्त होनेसे सर्वग और जगत्में सबमें अग्रज होनेके कारण जगदग्रज कहलाते हैं ॥ १९५ ॥

> चराचरगुरुर्गोप्यो गूढात्मा गूढगोचरः । सद्योजातो प्रकाशात्मा ज्वलज्ज्वलनसंनिभः ॥ १९६ ॥

चर, अचर सभीके गुरु होनेसे चराचरगुरु, बड़ी सावधानीके साथ हृदयमें सुरक्षित रखनेसे गोप्य, गूढ़ स्वरूपके धारक होनेसे गूढात्मा, अत्यन्त गूढ़ विषयोंको जाननेसे गूढगोचर, तत्कालमें उत्पन्न हुएके समान निर्विकार होनेसे

सद्योजात, प्रकाशस्वरूप होनेसे प्रकाशात्मा और जलती हुई अग्निके समान शरीरकी प्रभाके धारक होनेसे ज्वलज्ज्वलनसंनिभ कहलाते हैं ॥ १९६ ॥

> आदित्यवर्णो भर्माभः सुप्रभः कनकप्रभः । सुवर्णवर्णो रुक्माभः सूर्यकोटिसमप्रभः ॥ १९७ ॥

सूर्यके समान तेजस्वी होनेसे आदित्यवर्ण, सुवर्णके समान कान्तिवाले होनेसे भर्माभ, उत्तमप्रभासे युक्त होनेके कारण सुप्रभ, कनकके समान आभा होनेसे कनकप्रभ, सुवर्णवर्ण और रुक्माभ तथा करोड़ों सूर्योंके समान देदीप्यमान प्रभाके धारक होनेसे सूर्यकोटिसमप्रभ कहे जाते हैं ॥ १९७ ॥

> तपनीयनिभस्तुङ्गो बालार्काभोऽनलप्रभः । सन्ध्याभ्रवर्णो हेमाभस्तप्तचामीकरच्छविः ॥ १९८ ॥

सुवर्णके समान भास्वर होनेसे तपनीयनिभ, ऊँचा शरीर होनेसे तुङ्ग, प्रातःकालके सूर्यके समान बालप्रभाके धारक होनेसे बालार्काभ, अग्निके समान कान्तिवाले होनेसे अनलप्रभ, सन्ध्याकालके मेघके समान सुन्दर होनेसे सन्ध्याभ्रवर्ण, सुवर्णके तुल्य आभावाले होनेसे हेमाभ और तपाये हुए सुवर्णके समान प्रभासे युक्त होनेके कारण तप्तचामीकरच्छवि कहलाते हैं ॥ १९८ ॥

> निष्टप्तकनकच्छायः कनत्काञ्चनसन्निभः । हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः शातकुम्भनिभप्रभः ॥ १९९ ॥

अत्यन्त तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिवाले होनेसे निष्टप्तकनकच्छाय, देदीप्यमान सुवर्णके समान आभावाले होनेसे कनत्काञ्चनसन्निभ तथा सुवर्णके समान होनेसे हिरण्यवर्ण, स्वर्णाभ और शातकुम्भनिभप्रभ कहलाते हैं ॥ १९९ ॥

> द्युम्नाभो जातरूपाभस्तप्तजाम्बूनदद्युतिः । सुधौतकलधौतश्रीः प्रदीप्तो हाटकद्युतिः ॥ २०० ॥

सुवर्णके समान होनेसे द्युम्नाभ, जातरूपाभ, तप्तजाम्बूनदद्युति, सुधौतकलधौतश्री और हाटकद्युति तथा देदीप्यमान होनेसे प्रदीप्त कहलाते हैं ॥ २०० ॥

> शिष्टेष्टः पुष्टिदः पुष्टः स्पष्टः स्पष्टाक्षरः क्षमः । शत्रुघ्नोऽप्रतिघोऽमोघः प्रशास्ता शासिता स्वभूः ॥ २०१ ॥

शिष्ट अर्थात् उत्तम पुरुषोंके इष्ट होनेसे शिष्टेष्ट, पुष्टिको देनेवाले होनेसे पुष्टिद, बलवान् होनेसे अथवा लाभान्तराय कर्मके क्षयसे प्रत्येक समय प्राप्त होनेवाली अनन्त शुभ पुद्गलवर्गणाओंसे परमौदारिक शरीरके पुष्ट होनेसे पुष्ट, प्रकट दिखाई देनेसे स्पष्ट, स्पष्ट अक्षर होनेसे स्पष्टाक्षर, समर्थ होनेसे क्षम, कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेसे शत्रुघ्न, शत्रुरहित होनेसे अप्रतिघ, सफल आज्ञावाले अमोघ, उत्तम उपदेशक होनेसे प्रशास्ता, रक्षक होनेसे शासिता और अपने-आप उत्पन्न होनेसे स्वभू कहलाते हैं ॥ २०१ ॥

> शान्तिनिष्ठो मुनिज्येष्ठः शिवतातिः शिवप्रदः । शान्तिदः शान्तिकृच्छान्तिः कान्तिमान् कामितप्रदः ॥ २०२ ॥

शान्तिके आधार होनेसे शान्तिनिष्ठ, मुनियोंमें ज्येष्ठ होनेसे मुनिज्येष्ठ, कल्याण परम्पराके प्राप्त होनेसे शिवताति, कल्याण अथवा मोक्ष प्रदान करनेसे शिवप्रद, शान्तिको देनेवाले होनेसे शान्तिद, शान्तिके कर्ता होनेसे शान्तिकृत्, शान्तस्वरूप होनेसे शान्ति, कान्तियुक्त होनेसे कान्तिमान् और इच्छित पदार्थ प्रदान करनेसे कामितप्रद कहलाते हैं ॥ २०२ ॥

> श्रेयोनिधिरधिष्ठानमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठितः । सुस्थिरः स्थावरः स्थाणुः प्रथीयान् प्रथितः पृथुः ॥ २०३ ॥

कल्याणके भण्डार होनेसे श्रेयोनिधि, धर्मके आधार होनेसे अधिष्ठान, अन्यकृत प्रतिष्ठासे रहित होनेके कारण अप्रतिष्ठ, प्रतिष्ठा अर्थात् कीर्तिसे युक्त होनेके कारण प्रतिष्ठित, अतिशय स्थिर होनेसे सुस्थिर, समवसरणमें गमनरहित होनेसे स्थावर, अचल होनेसे स्थाणु, अत्यन्त विस्तृत होनेसे प्रथीयान्, प्रसिद्ध होनेसे प्रथित और ज्ञानादि गुणोंकी अपेक्षा महान् होनेसे पृथु कहलाते हैं ॥ २०३ ॥ इति त्रिकालदृशादिशतम् ॥

> दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः । निष्किञ्चनो निराशंसो ज्ञानचक्षुरमोमुहः ॥ २०४ ॥

दिशारूप वस्त्रोंको धारण करने—दिगम्बर रहनेसे दिग्वासा, वायुरूपी करधनीको धारण करनेसे वातरशन, निर्ग्रन्थ मुनियोंके स्वामी होनेसे निर्ग्रन्थेश, वस्त्ररहित होनेसे निरम्बर, परिग्रहरहित होनेसे निष्किञ्चन, इच्छारहित होनेसे निराशंस, ज्ञानरूप नेत्रके धारक होनेसे ज्ञानचक्षु और मोहसे रहित होनेके कारण अमोमुह कहलाते हैं ॥ २०४ ॥

> तेजोराशिरनन्तौजा ज्ञानाब्धिः शीलसागरः । तेजोमयोऽमितज्योतिर्ज्योतिर्मूर्तिस्तमोपहः ॥ २०५ ॥

तेजके समूह होनेसे तेजोराशि, अनन्त प्रतापके धारक होनेसे अनन्तौजा, ज्ञानके समुद्र होनेसे ज्ञानाब्धि, शीलके समुद्र होनेसे शीलसागर, तेजःस्वरूप होनेसे तेजोमय, अपरिमित ज्योतिके धारक होनेसे अमितज्योति, भास्वर शरीर होनेसे ज्योतिर्मूर्ति और अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करनेवाले होनेसे तमोपह कहलाते हैं ॥ २०५ ॥

> जगच्चूडामणिर्दीप्तः शंवांश्च विघ्नविनायकः । कलिघ्नः कर्मशत्रुघ्नो लोकालोकप्रकाशकः ॥ २०६ ॥

तीनों लोकोंके मस्तकके मुकुटके समान अतिशय श्रेष्ठ होनेसे जगच्चूडामणि, देदीप्यमान होनेसे दीप्त, सुखी अथवा शान्त होनेसे शंवान्, विघ्नोंके नाशक होनेसे विघ्नविनायक, कलह अथवा पापोंको नष्ट करनेसे कलिघ्न, कर्मरूप शत्रुओंका नाश करनेवाले होनेसे कर्मशत्रुघ्न और लोक तथा अलोकको प्रकाशित करनेसे लोकालोकप्रकाशक कहलाते हैं ॥ २०६ ॥

> अनिद्रालुरतन्द्रालुर्जागरूको प्रभामयः । लक्ष्मीपतिर्जगज्ज्योतिर्धर्मराजः प्रजाहितः ॥ २०७ ॥

निद्रारहित होनेसे अनिद्रालु, तन्द्रा—आलस्यरहित होनेसे अतन्द्रालु, सदा जागृत रहनेसे जागरूक, ज्ञानमय रहनेसे प्रभामय, अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी होनेसे लक्ष्मीपति, जगत्को प्रकाशित करनेसे जगज्ज्योति, अहिंसा धर्मके राजा होनेसे धर्मराज और प्रजाके हितैषी होनेसे प्रजाहित कहलाते हैं ॥ २०७ ॥

> मुमुक्षुर्बन्धमोक्षज्ञो जिताक्षो जितमन्मथः । प्रशान्तरसशैलूषो भव्यपेटकनायकः ॥ २०८ ॥

मोक्षके इच्छुक होनेसे मुमुक्षु, बन्ध और मोक्षका स्वरूप जाननेसे बन्धमोक्षज्ञ, इन्द्रियोंको जीतनेसे जिताक्ष, कामको जीतनेसे जितमन्मथ, अत्यन्त शान्तरूपी रसको प्रदर्शित करनेके लिए नटके समान होनेसे प्रशान्तरसशैलूष और भव्यसमूहके स्वामी होनेसे भव्यपेटकनायक कहलाते हैं ॥ २०८ ॥

> मूलकर्ताखिलज्योतिर्मलघ्नो मूलकारणम् । आप्तो वागीश्वरः श्रेयान् श्रेयसोक्तिर्निरुक्तवाक् ॥ २०९ ॥

धर्मके आद्यवक्ता होनेसे मूलकर्ता, समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेसे अखिलज्योति, कर्ममलको नष्ट करनेसे मलघ्न, मोक्षमार्गके मुख्य कारण होनेसे मूलकारण, यथार्थवक्ता होनेसे आप्त, वचनोंके स्वामी होनेसे वागीश्वर, कल्याणस्वरूप होनेसे श्रेयान्, कल्याणरूप वचन होनेसे श्रेयसोक्ति और सार्थकवचन होनेसे निरुक्तवाक् कहलाते हैं ॥ २०९ ॥

प्रवक्ता वचसामीशो मारजिद् विश्वभाववित् । सुतनुस्तनुनिर्मुक्तः सुगतो हतदुर्नयः ॥ २१० ॥

श्रेष्ठ वक्ता होनेसे प्रवक्ता, वचनोंके स्वामी होनेसे वचसामीश, कामदेवको जीतनेके कारण मारजित्, संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेसे विश्वभाववित्, उत्तम शरीरसे युक्त होनेके कारण सुतनु, शीघ्र ही शरीर बन्धनसे रहित हो मोक्षकी प्राप्ति होनेसे तनुनिर्मुक्त, प्रशस्त विहायोगति नामकर्मके उदयसे आकाशमें उत्तम गमन करने, आत्मस्वरूपमें तल्लीन होने अथवा उत्तमज्ञानमय होनेसे सुगत और मिथ्यानयोंको नष्ट करनेसे हतदुर्नय कहलाते हैं ॥ २१० ॥

श्रीशः श्रीश्रितपादाब्जो वीतभीरभयङ्करः । उत्सन्नदोषो निर्विघ्नो निश्चलो लोकवत्सलः ॥ २११ ॥

लक्ष्मीके ईश्वर होनेसे श्रीश कहलाते हैं, लक्ष्मी आपके चरणकमलोंकी सेवा करती है इसलिए श्रीश्रितपादाब्ज कहे जाते हैं, भयरहित हैं इसलिए वीतभी कहलाते हैं, दूसरोंका भय नष्ट करनेवाले हैं इसलिए अभयङ्कर माने जाते हैं, समस्त दोषोंको नष्ट कर दिया है इसलिए उत्सन्नदोष कहलाते हैं, विघ्न रहित होनेसे निर्विघ्न, स्थिर होनेसे निश्चल और जगत्के स्नेहपात्र होनेसे लोकवत्सल कहलाते हैं ॥ २११ ॥

लोकोत्तरो लोकपतिर्लोकचक्षुरपारधीः । धीरधीर्बुद्धसन्मार्गः शुद्धः सत्यसूनृतवाक् ॥ २१२ ॥

समस्त लोगोंमें उत्कृष्ट होनेसे लोकोत्तर, तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे लोकपति, समस्त पुरुषोंके नेत्रस्वरूप होनेसे लोकचक्षु, अपरिमित बुद्धिके धारक होनेसे अपारधी, सदा स्थिर बुद्धिके धारक होनेसे धीरधी, समीचीन मार्गको जान लेनेसे बुद्धसन्मार्ग, कर्ममलसे रहित होनेके कारण शुद्ध और सत्य तथा पवित्र वचन बोलनेसे सत्यसूनृतवाक् कहलाते हैं ॥ २१२ ॥

प्रज्ञापारमितः प्राज्ञो यतिर्नियमितेन्द्रियः । भदन्तो भद्रकृद् भद्रः कल्पवृक्षो वरप्रदः ॥ २१३ ॥

बुद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त होनेसे प्रज्ञापारमित, अतिशय बुद्धिमान् होनेसे प्राज्ञ, विषय कषायोंसे उपरत होनेके कारण यति, इन्द्रियोंको वश करनेसे नियमितेन्द्रिय, पूज्य होनेसे भदन्त, सब जीवोंका भला करनेसे भद्रकृत्, कल्याणरूप होनेसे भद्र, मनचाही वस्तुके दाता होनेसे कल्पवृक्ष और इच्छित वर प्रदान करनेसे वरप्रद कहलाते हैं ॥ २१३ ॥

समुन्मूलितकर्मारिः कर्मकाष्ठाशुशुक्षणिः । कर्मण्यः कर्मठः कण्ठ्यो हेयादेयविचक्षणः ॥ २१४ ॥

कर्मरूप शत्रुओंको उखाड़ देनेसे समुन्मूलितकर्मारि, कर्मरूप ईंधनको जलानेके लिए अग्निके समान होनेसे कर्मकाष्ठाशुशुक्षणि, कार्य करनेमें निपुण होनेसे कर्मण्य, समर्थ होनेसे कर्मठ, कण्ठ द्वारा उन्नत होनेसे कण्ठ्य और छोड़ने तथा ग्रहण करने योग्य पदार्थोंको जाननेमें विद्वान् होनेसे हेयादेयविचक्षण कहलाते हैं ॥ २१४ ॥

> अनन्तशक्तिरच्छेद्यस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः । त्रिनेत्रस्त्र्यम्बकस्त्र्यक्षः केवलज्ञानवीक्षणः ॥ २१५ ॥

अनन्तशक्तियोंके धारक होनेसे अनन्तशक्ति, किसीके द्वारा छिन्न-भिन्न करने योग्य न होनेसे अच्छेद्य, जन्म, जरा और मरण इन तीनोंका नाश करनेसे त्रिपुरारि, त्रिकालवर्ती पदार्थोंके जाननेसे त्रिलोचन, त्रिनेत्र, त्र्यम्बक और त्र्यक्ष तथा केवलज्ञानरूप नेत्रसे सहित होनेके कारण केवलज्ञानवीक्षण कहलाते हैं ॥ २१५ ॥

> समन्तभद्रः शान्तारिर्धर्माचार्यो दयानिधिः । सूक्ष्मदर्शी जितानङ्गः कृपालुर्धर्मदेशकः ॥ २१६ ॥

सब ओरसे मंगलरूप होनेके कारण समन्तभद्र, कर्मरूप शत्रुओंके शान्त हो जानेसे शान्तारि, धर्मके व्यवस्थापक होनेसे धर्माचार्य, दयाके भण्डार होनेसे दयानिधि, सूक्ष्म पदार्थोंको भी देखनेसे सूक्ष्मदर्शी, कामदेवको जीत लेनेसे जितानङ्ग, कृपायुक्त होनेसे कृपालु और धर्मके उपदेशक होनेसे धर्मदेशक कहलाते हैं ॥ २१६ ॥

> शुभंयुः सुखसाद्भूतः पुण्यराशिर्निरामयः । धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥ २१७ ॥

शुभयुक्त होनेसे शुभंयु, सुखके अधीन होनेसे सुखसाद्भूत, पुण्यके समूह होनेसे पुण्यराशि, रोगरहित होनेसे निरामय, धर्मकी रक्षा करनेसे धर्मपाल, जगत्की रक्षा करनेसे जगत्पाल और धर्मरूपी साम्राज्यके स्वामी होनेसे धर्मसाम्राज्यनायक कहलाते हैं ॥ २१७ ॥ इति दिग्वासाद्यष्टोत्तरशतम् ॥

> ओजस्तेजस्तवामूनि नामान्यागमकोविदैः । समुदितान्यनुध्यायन् पुमान् पूतस्मृतिर्भवेत् ॥ २१८ ॥

हे तेजके अधिपति जिनेन्द्रदेव, आगमके ज्ञाता विद्वानोंने आपके ये एक हजार आठ नाम संचित किये हैं, जो पुरुष आपके इन नामोंका ध्यान करता है उसकी स्मरणशक्ति अत्यन्त पवित्र हो जाती है ॥ २१८ ॥

> गोचरोऽपि गिरामासामगोचरमसि प्रभो । तथाप्यसन्दिग्धं स्तौत्यभीष्टफलं लभेत् ॥ २१९ ॥

हे प्रभो, यद्यपि आप इन नामसूचक वचनोंके गोचर हैं तथापि वचनोंके अगोचर ही माने गये हैं, यह सब कुछ है परन्तु स्तुति करनेवाला आपसे निःसन्देह अभीष्ट फलको पा लेता है ॥ २१९ ॥

> त्वमतोऽसि जगद्बन्धुस्त्वमतोऽसि जगद्भिषक् । त्वमतोऽसि जगद्धाता त्वमतोऽसि जगद्धितः ॥ २२० ॥

इसलिए हे भगवन्, आप ही इस जगत्के बन्धु हैं, आप ही जगत्के वैद्य हैं, आप ही जगत्का पोषण करनेवाले हैं और आप ही जगत्का हित करनेवाले हैं ॥ २२० ॥

> त्वमेको जगतां ज्योतिस्त्वं द्विरूपोपयोगभाक् । त्वं त्रिरूपैकमुक्त्यङ्गः स्वोत्थानन्तचतुष्टयः ॥ २२१ ॥

हे नाथ, जगत्को प्रकाशित करनेवाले आप एक ही हैं। ज्ञान तथा दर्शन इस प्रकार द्विविध उपयोगके धारक होनेसे दो रूप हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस प्रकार त्रिविध मुक्तिमार्गके अङ्ग होनेसे तीन रूप हैं, अपने-आपमें उत्पन्न हुए अनन्तचतुष्टयरूप होनेसे चार रूप हैं ॥ २२१ ॥

> त्वं पञ्चब्रह्मतत्त्वात्मा पञ्चकल्याणनायकः । षड्भेदभावतत्त्वज्ञस्त्वं सप्तनयसंग्रहः ॥ २२२ ॥

पंचपरमेष्ठीस्वरूप होने अथवा गर्भादि पंच कल्याणकोंके नायक होनेसे पाँच रूप हैं, जीव-पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंके ज्ञाता होनेसे छह रूप हैं, नैगम आदि सात नयोंके संग्रहस्वरूप होनेसे सात रूप हैं ॥ २२२ ॥

> दिव्याष्टगुणमूर्तिस्त्वं नवकेवललब्धिकः । दशावतारनिर्धार्यो मां पाहि परमेश्वर ॥ २२३ ॥

सम्यक्त्व आदि आठ अलौकिक गुणरूप होनेसे आठ रूप हैं, नौ केवललब्धियोंसे सहित होनेके कारण नव रूप हैं और महाबल आदि दस अवतारोंसे आपका निर्धार होता है इसलिए दस रूप हैं। इस प्रकार हे परमेश्वर, संसारके दुःखोंसे मेरी रक्षा कीजिए ॥ २२३ ॥

> युष्मन्नामावलीक्लृप्तविलसत्स्तोत्रमालया । भवन्तं परितुष्ट्यामः प्रसीदानुगृहाण नः ॥ २२४ ॥

हे भगवन्, हम लोग आपकी नामावलीसे बने हुए स्तोत्रोंकी मालासे आपकी पूजा करते हैं, आप प्रसन्न होइए, और हम सबको अनुगृहीत कीजिए ॥ २२४ ॥

> यो नामाष्टसहस्रस्य पूतो भवति सात्त्विकः । यः श्रृणोति पठेदेनं स भवेत् कल्याणभाजनम् ॥ २२५ ॥

भक्त लोग इस स्तोत्रका स्मरण करने मात्रसे ही पवित्र हो जाते हैं और जो इस पुण्य पाठका पाठ करते हैं वे कल्याणके पात्र होते हैं ॥ २२५ ॥

> ततः सदापि पुण्यार्थी पुमान् पठतु पुण्यधीः । पौरुहूतिं श्रियं प्राप्तुं परमामुदिलाषुकः ॥ २२६ ॥

इसलिए जो बुद्धिमान् पुरुष पुण्यकी इच्छा रखते हैं अथवा इन्द्रकी परम विभूति प्राप्त करना चाहते हैं, वे सदा ही इस स्तोत्रका पाठ करें ॥ २२६ ॥

> इति स्तुत्वा मघवा देवं चराचरजगद्गुरुम् । ततस्तीर्थविहारस्य व्यधात् प्रस्तावनामिमाम् ॥ २२७ ॥

इस प्रकार इन्द्रने चर और अचर जगत्के गुरु भगवान् वृषभदेवकी स्तुति कर फिर तीर्थ विहारके लिए नीचे लिखी हुई प्रार्थना की ॥ २२७ ॥

> भगवन् भव्यसस्यानां पापावग्रहशोषिणाम् । धर्मामृतप्रसेकेन त्वमेव शरणं विभो ॥ २२८ ॥

हे भगवन्, भव्य जीवरूपी धान्य पापरूपी अनावृष्टिसे सूख रहे हैं सो हे विभो, उन्हें धर्मरूपी अमृतसे सींचकर उनके लिए आप ही शरण होइए ॥ २२८ ॥

> भव्यसार्थाधिप प्रोद्यद्दयाध्वजविराजित । धर्मचक्रमिदं सज्जं त्वज्जयोद्योगसाधनम् ॥ २२९ ॥

हे भव्य जीवोंके समूहके स्वामी, हे फहराती हुई दयारूपी ध्वजासे सुशोभित जिनेन्द्रदेव, आपकी विजयके उद्योगको सिद्ध करनेवाला यह धर्मचक्र तैयार है ॥ २२९ ॥

> जित्वा मोहपृतनां मुक्तिमार्गोपरोधिनीम् । तवोपदेष्टुं सन्मार्गं कालोऽयं समुपस्थितः ॥ २३० ॥

हे भगवन्, मोक्षमार्गको रोकनेवाली मोहकी सेनाको नष्ट कर देनेके बाद अब आपका यह समीचीन मोक्षमार्गके उपदेश देनेका समय प्राप्त हुआ है ॥ २३० ॥

इति प्रबुद्धतत्त्वस्य स्वयं भवितुमिच्छतः । पुनरुक्ततरा वाचः प्रादुरासन् शतक्रतोः ॥ २३१ ॥

इस प्रकार जिन्होंने समस्त तत्त्वोंका स्वरूप जान लिया है और जो स्वयं ही विहार करना चाहते हैं, ऐसे भगवान् वृषभदेवके सामने इन्द्रके वचन पुनरुक्त हुए-से प्रकट हुए थे। भावार्थ—उस समय भगवान् स्वयं ही विहार करनेके लिए तत्पर थे इसलिए इन्द्र द्वारा की हुई प्रार्थना व्यर्थ-सी मालूम होती थी ॥ २३१ ॥

अथ त्रिभुवनक्षोभी तीर्थकृत्पुण्यसारथिः । भव्याब्जानुग्रहं कर्तुमुत्तस्थे जिनभानुमान् ॥ २३२ ॥

अथानन्तर—जो तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले हैं और तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति ही जिनका सारथि-सहायक है, ऐसे जिनेन्द्रदेवरूपी सूर्य भव्य जीवरूपी कमलोंपर अनुग्रह करनेके लिए तैयार हुए ॥ २३२ ॥

मोक्षाधिरोहनिःश्रेणीभूतच्छत्रत्रयोद्धुरः । यशःक्षीरोदफेनाभसितचामरवीजितः ॥ २३३ ॥

जो मोक्षरूपी महलपर चढ़नेके लिए सीढ़ियोंके समान तीन छत्रोंसे सुशोभित हो रहे हैं और जिनपर क्षीरसमुद्रके फेनके समान सुशोभित श्वेत चमर ढोले जा रहे हैं ॥ २३३ ॥

अवनन्मधुरगम्भीरधीरदिव्यमहाध्वनिः । भानुकोटिप्रतिस्पर्धिप्रभामण्डलभास्वरः ॥ २३४ ॥

मधुर, गम्भीर, धीर तथा दिव्य महाध्वनिसे जिनका शरीर शब्दायमान हो रहा है और जो करोड़ों सूर्योंके साथ स्पर्धा करनेवाले भामण्डलसे देदीप्यमान हो रहे हैं ॥ २३४ ॥

मरुदुपहतगम्भीरध्वनद्दुन्दुभिः प्रभुः । सुरोत्करकरोन्मुक्तपुष्पवर्षार्चितक्रमः ॥ २३५ ॥

जिनके समीप ही देव-वादकों द्वारा बजाये हुए दुन्दुभि बाजे गम्भीर शब्द कर रहे हैं, जो सबके स्वामी हैं और देवसमूहके हाथोंसे छोड़ी हुई पुष्पवर्षासे जिनके चरण-कमलोंकी पूजा हो रही है ॥ २३५ ॥

मेरुश्रृङ्गसमुत्तुङ्गसिंहविष्टरनायकः । सच्छायसफलाशोकप्रकटीकृतचेष्टितः ॥ २३६ ॥

जो मेरु पर्वतके शिखरके समान अतिशय ऊँचे सिंहासनके स्वामी हैं और छाया तथा फलसहित अशोकवृक्षसे जिनकी शान्त चेष्टाएँ प्रकट हो रही हैं ॥ २३६ ॥

> धूलिसालावृतास्थानजगतीपरिमण्डलः । मानस्तम्भनिरुद्धान्यदृष्टिमदविभ्रमः ॥ २३७ ॥

जिनके समवसरणकी पृथिवीका घेरा धूलिसाल नामक कोटसे घिरा हुआ है और जिन्होंने मानस्तम्भोंके द्वारा अन्य मिथ्यादृष्टियोंके अहंकार तथा सन्देहको नष्ट कर दिया है ॥ २३७ ॥

> स्वच्छाम्भःखातिकाभ्यर्णप्रतानवनवेष्टिताम् । सभाभूमिमलंकुर्वन्नपूर्वविभवोदयाम् ॥ २३८ ॥

जो स्वच्छ जलसे भरी हुई परिखाके समीपवर्ती लता-वनोंसे घिरी हुई और अपूर्व विभवसे सम्पन्न सभाभूमिको अलंकृत कर रहे हैं ॥ २३८ ॥

> समग्रगोपुरोदग्रैः प्राकारवलयैस्त्रिभिः । परार्ध्यरचनोपेतैराविष्कृतमहोदयः ॥ २३९ ॥

समस्त गोपुरद्वारोंसे उन्नत और उत्कृष्ट रचनासे सहित तीन कोटोंसे जिनका बड़ा भारी माहात्म्य प्रकट हो रहा है ॥ २३९ ॥

> अशोकादिवनश्रेणीकृतच्छायसभावनीः । स्रग्वस्त्रादिध्वजोल्लाससमाहूतजगज्जनः ॥ २४० ॥

जिनकी सभाभूमिमें अशोकादि वनसमूहसे सघन छाया हो रही है और जो माला, वस्त्र आदिसे चिह्नित ध्वजाओंकी फड़कनसे जगत्के समस्त जीवोंको बुलाते हुए-से जान पड़ते हैं ॥ २४० ॥

> कल्पद्रुमवनच्छायाविश्रान्तामरपूजितः । प्रासादरुद्धभूमिष्ठकिन्नरोद्गीतसद्यशाः ॥ २४१ ॥

कल्पवृक्षोंके वनकी छायामें विश्राम करनेवाले देव लोग सदा जिनकी पूजा किया करते हैं और बड़े-बड़े महलोंसे घिरी हुई भूमिमें स्थित किन्नर जोर-जोरसे जिनका सुयश गा रहे हैं ॥ २४१ ॥

स्फुरन्महोदयस्तूपप्रकटीकृतवैभवः । नाट्यशालाद्वयीवृद्धिप्रवर्धितजनोत्सवः ॥ २४२ ॥

प्रकाशमान और बड़ी भारी विभूतिको धारण करनेवाले स्तूपोंसे जिनका वैभव प्रकट हो रहा है और दोनों नाट्यशालाओंकी बढ़ी हुई ऋद्धियोंसे जो मनुष्योंका उत्सव बढ़ा रहे हैं ॥ २४२ ॥

धूपामोदितदिग्भागमहागन्धकुटीश्वरः । त्रिविष्टपपतिप्राज्यपूजार्हः पूज्यदर्शनः ॥ २४३ ॥

जो धूपकी सुगन्धिसे दसों दिशाओंको सुगन्धित करनेवाली बड़ी भारी गन्धकुटीके स्वामी हैं, जो इन्द्रोंके द्वारा की हुई बड़ी भारी पूजाके योग्य हैं और जिनके दर्शन अतिशय पूज्य हैं ॥ २४३ ॥

त्रिजगद्वल्लभः श्रीमान् भगवानादिपूरुषः । प्रचक्रे विजयोद्योगं धर्मचक्राधिनायकः ॥ २४४ ॥

जो तीनों जगत्के स्वामी हैं और धर्मचक्रके अधिपति हैं, ऐसे शोभासम्पन्न आदिपुरुष भगवान् वृषभदेवने विजय करनेका उद्योग किया—विहार करना प्रारम्भ किया ॥ २४४ ॥

अथ भगवदुद्योगसमये समुपेयुषि । प्रचेलुः प्रचमन्मौलिकोटयः सुरकोटयः ॥ २४५ ॥

तदनन्तर भगवान् के विहारका समय आनेपर जिनके मुकुटोंके अग्रभाग हिल रहे हैं, ऐसे करोड़ों देव लोग इधर-उधर चलने लगे ॥ २४५ ॥

तदा संभ्रान्तनाकीन्द्रकिरीटोच्छलिताः प्रभाम् । जगन्नीराजयामासुर्मणयो विप्रुषः श्रियः ॥ २४६ ॥

भगवान् के उस दिग्विजयके समय घबराये हुए इन्द्रोंके मुकुटोंसे विचलित हुए मणि ऐसे जान पड़ते थे मानो जगत् की आरती ही कर रहे हों ॥ २४६ ॥

जयन्त्युच्चैर्गिरो देवाः स्थगयन्तो नभोऽङ्गणम् । दिशां मुखानि तेजोभिर्द्योतयन्तः प्रतस्थिरे ॥ २४७ ॥

उस समय 'जय-जय' इस प्रकार उच्च स्वरसे शब्द करते हुए, आकाशरूपी आँगनको व्याप्त करते हुए और अपने तेजसे दिशाओंके मुखको प्रकाशित करते हुए देव लोग चल रहे थे ॥ २४७ ॥

जिनोद्योगमहावात्याक्षुभिता देवनायकाः । चतुर्निकायाश्चत्वारो महाब्धय इवाभवन् ॥ २४८ ॥

उस समय इन्द्रोंसहित चारों निकायके देव जिनेन्द्र भगवान् के विहाररूपी महावायुसे क्षोभको प्राप्त हुए चार महासागरके समान जान पड़ते थे ॥ २४८ ॥

जगाम भगवानित्थमन्वियातः सुरासुरैः । अनिच्छापूर्विकां वृत्तिमास्कन्दन् भानुमानिव ॥ २४९ ॥

इस प्रकार सुर और असुरोंसे घिरे हुए भगवान् ने सूर्यके समान इच्छारहित वृत्तिको धारण कर प्रस्थान किया ॥ २४९ ॥

अर्धमागधिकाभाषापरिणताखिलः । त्रिजगज्जनतामैत्रीसंपादितगुणाद्भुतः ॥ २५० ॥

जिन्होंने अर्धमागधी भाषामें जगत्के समस्त जीवोंको कल्याणका उपदेश दिया था और जो तीनों जगत्के लोगोंमें मित्रता कराने रूप गुणोंसे सबको आश्चर्यमें डालते हैं ॥ २५० ॥

स्वसंनिधानसंफुल्लफलिताङ्कुरितद्रुमः । आदर्शमण्डलाकारपरिवर्तितभूतलः ॥ २५१ ॥

जिन्होंने अपनी समीपतासे वृक्षोंको फूल, फल और अंकुरोंसे व्याप्त कर दिया है और जिन्होंने पृथिवीमण्डलको दर्पणके आकारमें परिवर्तित कर दिया है ॥ २५१ ॥

सुगन्धिशिशिरानुच्चैर्मरुद्यायिसमीरनः । अकस्माज्जनतानन्दसंपादिपरमोदयः ॥ २५२ ॥

जिनके साथ सुगन्धित शीतल तथा मन्द-मन्द वायु चल रही है और जो अपने उत्कृष्ट वैभवसे अकस्मात् ही जन-समुदायको आनन्द पहुँचा रहे हैं ॥ २५२ ॥

मरुत्कुमारसंसृष्टयोजनान्तररम्यभूः । स्तनितारमसंसिक्तगन्धाम्बुविरजोऽवनिः ॥ २५३ ॥

जिनके (विहार कालमें) ठहरनेके स्थानसे एक योजन तककी भूमिको पवनकुमार जातिके देव झाड़-बुहारकर अत्यन्त सुन्दर रखते हैं और जिनके विहारयोग्य भूमिको मेघकुमार जातिके देव सुगन्धित जलकी वर्षा कर धूलिरहित कर देते हैं ॥ २८३ ॥

> स्पृशन्सुखाम्भोजविन्यस्तपदपङ्कजः । शालिव्रीह्यादिसंपन्नवसुधासूचितारमः ॥ २८४ ॥

जो कोमल स्पर्शसे सुख देनेके लिए कमलोंपर अपने चरणकमल रखते हैं और शालि, व्रीहि आदिसे सम्पन्न अवस्थाको प्राप्त हुई पृथिवी जिनके आगमनकी सूचना देती है ॥ २८४ ॥

> शरत्सरोवरस्पर्धिव्योमोदाहृतसंनिधिः । ककुबन्तरवैमल्यसंदर्शितसमागमः ॥ २८५ ॥

शरद् ऋतुके सरोवरके साथ स्पर्धा करनेवाला आकाश जिनके समीप आनेकी सूचना दे रहा है और दिशाओंके अन्तरालकी निर्मलतासे जिनके समागमकी सूचना प्राप्त हो रही है ॥ २८५ ॥

> परस्परसमाह्वानध्वानरुद्धहरिन्मुखः । सहस्रारस्फुरद्धर्मचक्रसत्पुरःसरः ॥ २८६ ॥

देवोंके परस्पर एक दूसरेको बुलानेके लिए प्रयुक्त हुए शब्दोंसे जिन्होंने दिशाओंके मुख व्याप्त कर दिये हैं और जिनके आगे हजार अरोंवाला देदीप्यमान धर्मचक्र चल रहा है ॥ २८६ ॥

> पुरस्कृताष्टमाङ्गल्यध्वजमालाततताम्बरः । सुरासुरानुयातोऽभूद् विजिहीर्षुस्तदा विभुः ॥ २८७ ॥

जिनके आगे-आगे चलते हुए अष्ट मंगलद्रव्य तथा आगे-आगे फहराती हुई ध्वजाओंके समूहसे आकाश व्याप्त हो रहा है और जिनके पीछे अनेक सुर तथा असुर चल रहे हैं, ऐसे विहार करनेके इच्छुक भगवान् उस समय बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥ २८७ ॥

> तदा मधुरगम्भीरो वारुणी दुन्दुभिध्वनिः । नभः समन्तादापूर्य क्षुभ्यदब्धिस्वनोपमः ॥ २८८ ॥

उस समय क्षुब्ध होते हुए समुद्रकी गर्जनाके समान आकाशको चारों ओरसे व्याप्त कर दुन्दुभि बाजोंका मधुर तथा गम्भीर शब्द हो रहा था ॥ २८८ ॥

> ववृषुः सुमनोवृष्टिमापूरितनभोऽङ्गणम् । देवा भव्यद्विरेफाणां सौमनस्यविधायिनीम् ॥ २५९ ॥

देव लोग भव्य जीवरूपी भ्रमरोंको आनन्दित करनेवाली तथा आकाशरूपी आँगनको पूर्ण भरती हुई पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ २५९ ॥

> वातेरिताः स्फुरन्ति स्म पालिकेतनकोटयः । आह्वानुमिव भव्यौघानित इत्यूर्ध्वबाहवः ॥ २६० ॥

जिनके वस्त्र वायुसे हिल रहे हैं ऐसी करोड़ों ध्वजाएँ चारों ओर फहरा रही थीं और वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो 'इधर आओ, इधर आओ!' इस प्रकार भव्य जीवोंके समूहको बुला ही रही हों ॥ २६० ॥

> तर्जयन्निव कर्मारीन् जयश्रीकलहप्रियः । तूर्यघोषो दधत्त्रासं बभूव प्रतिपदं दिशाम् ॥ २६१ ॥

भगवान् के विहारकालमें पद-पदपर समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाला और ऊँचा जो भेरियोंका शब्द हो रहा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो कर्मरूपी शत्रुओंको तर्जना ही कर रहा हो—उन्हें धौंस ही दिखला रहा हो ॥ २६१ ॥

> नभोरङ्गे नटन्ति स्म प्रोल्लसद्भ्रूपताकिकाः । देवाङ्गना विकीर्यन्त्यः स्वदेहप्रभया दिशः ॥ २६२ ॥

जिनकी भौंहरूपी पताकाएँ उड़ रही हैं ऐसी देवांगनाएँ अपने शरीरकी प्रभासे दिशाओंको व्याप्त करती हुई आकाशरूपी रंगभूमिमें नृत्य कर रही थीं ॥ २६२ ॥

> देवाः पुण्यानि तन्वन्तः किन्नरा मधुरं जगुः । वीणावादनमातेनुर्गन्धर्वाश्च सहर्षिभिः ॥ २६३ ॥

देव लोग बड़े उत्साहके साथ पुण्य-पाठ पढ़ रहे थे, किन्नर जातिके देव मनोहर आवाजसे गा रहे थे और गन्धर्व देव विद्याधरोंके साथ मिलकर वीणा बजा रहे थे ॥ २६३ ॥

> प्रभामयमिवाशेषं जगत्कर्तुमुद्यताः । प्रतस्थिरे सुराधीशा ज्वलन्मुकुटकोटयः ॥ २६४ ॥

जिनके मुकुटोंके अग्रभाग देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे इन्द्र समस्त जगत्को प्रभामय करनेके लिए तत्पर हुएके समान भगवान् के इधर-उधर चल रहे थे ॥ २६४ ॥

> दिशः प्रसेदुरन्मुक्ताः पूरिकाः प्रमदादिव । व्योम धूतधनालेपमञ्चत्परमनिर्मलम् ॥ २६५ ॥

उस समय समस्त दिशाएँ मानो आनन्दसे ही प्रफुल्लित हो निर्मल हो गयी थीं और मेघरहित आकाश अतिशय निर्मलताको धारण कर सुशोभित हो रहा था ॥ २६५ ॥

> परिनिष्पन्नशाल्यादिसस्यसंपन्मही तदा । सोत्कम्पेव स्वामिसंगमादिवाभवत् ॥ २६६ ॥

भगवान् के विहारके समय पके हुए शालि आदि धान्योंसे सुशोभित पृथिवी ऐसी जान पड़ती थी मानो स्वामीका समागम होनेसे उसे रोमांच ही उठ आये हों ॥ २६६ ॥

> ववुः सुरभयो वाताः स्वर्धुनीशीकरस्पृशः । आकीर्णपद्मरजःपटवासपटावृताः ॥ २६७ ॥

जो आकाशगंगाके जलकणोंका स्पर्श कर रही थी और जो कमलोंके पराग-रजसे मिली हुई होनेसे सुगन्धित वस्त्रके समान जान पड़ती थी, ऐसी सुगन्धित वायु बह रही थी ॥ २६७ ॥

> मही समन्ततो रेजे संमुखीनसमेति या । सुरैर्गन्धाम्बुभिः सिक्ता स्नातेव विरजाः शुचिः ॥ २६८ ॥

उस समय पृथिवी भी दर्पणतलके समान उज्ज्वल तथा समतल हो गयी थी, देवोंने उसपर सुगन्धित जलकी वृष्टि की थी जिससे वह धूलिरहित होकर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो स्नान की हुई पवित्र स्त्री ही हो ॥ २६८ ॥

> अकालोत्फुल्लकुसुमोद्भेदं दर्शयन्ति स्म पादपाः । ऋतुभिः सममागत्य संश्लिष्टाः साध्वसादिव ॥ २६९ ॥

वृक्ष भी असमयमें पुष्पोंके उद्भेदको दिखला रहे थे अर्थात् वृक्षोंपर बिना समयके ही पुष्प आ गये थे और उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सब ऋतुओंने भयसे एक साथ आकर ही उनका आलिंगन किया हो ॥ २६९ ॥

> सुभिक्षं क्षेममारोग्यं गव्यूतीनां चतुःशती । भेजे भूजिनमाहात्म्यादजातप्राणिहिंसना ॥ २७० ॥

भगवान् के माहात्म्यसे चार सौ कोस तक सुभिक्ष था, सब प्रकारका कल्याण था, आरोग्य था और पृथिवी प्राणियोंकी हिंसासे रहित हो गयी थी ॥ २७० ॥

> अकस्मात् प्राणिनो भेजुः प्रमदस्य परम्पराम् । दधुः परस्परं मैत्रीं भूयिष्ठावाप्तबान्धवाः ॥ २७१ ॥

समस्त प्राणी अचानक आनन्दकी परम्पराको प्राप्त हो रहे थे और भाईपनेको प्राप्त हुएके समान परस्परकी मित्रता बढ़ा रहे थे ॥ २७१ ॥

> मकरन्दरजोवर्षि प्रत्यग्रोद्भिन्नकेसरम् । विचित्ररत्ननिर्माणकर्णिकं विमलाम्बरम् ॥ २७२ ॥

जो मकरन्द और परागकी वर्षा कर रहा है, जिसमें नवीन केसर उत्पन्न हुई है, जिसकी कर्णिका अनेक प्रकारके रत्नोंसे बनी हुई है और जिसके दल अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं ॥ २७२ ॥

> भगवच्चरणन्यासप्रवेशेऽचिरमन्तरे । ऋतुस्पर्शमुदारश्री प्रादुरासीत् सरोजजम् ॥ २७३ ॥

जिसका स्पर्श कोमल है और जो उत्कृष्ट शोभासे सहित है, ऐसा सुवर्णमय कमलोंका समूह आकाशतलमें भगवान् के चरण रखनेकी जगहमें सुशोभित हो रहा था ॥ २७३ ॥

> पृष्ठतश्च पुरश्चास्य पद्मानां सप्त विकासिनः । प्रादुर्बभूवुरुद्गन्धिसान्द्रकिञ्जल्करेणवः ॥ २७४ ॥

जिनकी केसरके रेणु उत्कृष्ट सुगन्धिसे व्याप्त थे, ऐसे प्रफुल्लित कमल सात तो भगवान् के आगे प्रकट हुए थे और सात पीछे ॥ २७४ ॥

> तथान्यान्यपि पद्मानि तत्पर्यन्तेषु रेजिरे । लक्ष्म्यावसथसौधानि संचारीणीव खेऽभवन् ॥ २७५ ॥

इसी प्रकार और कमल भी उन कमलोंके समीपमें सुशोभित हो रहे थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो आकाशरूपी आँगनमें चलते हुए लक्ष्मीके रहनेके भवन ही हों ॥ २७५ ॥

> हेमाम्भोजमयीं श्रेणीमलिश्रेणिभिरन्विताम् । देवा व्यरचयन् स्वेनां सुरराजनिदेशतः ॥ २७६ ॥

भ्रमरोंकी पंक्तियोंसे सहित इन सुवर्णमय कमलोंकी पंक्तिको देव लोग इन्द्रकी आज्ञासे बना रहे थे ॥ २७६ ॥

> रेजे राजीवराजी सा जिनपादाम्बुजोन्मुखी । आदित्सुरिव तस्कान्तिमतिरेकादधोगताम् ॥ २७७ ॥

जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलोंके सम्मुख हुई वह कमलोंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती थी मानो अधिकताके कारण नीचेकी ओर बहती हुई उनके चरणकमलोंकी कान्ति ही प्राप्त करना चाहती हो ॥ २७७ ॥

> ततिरविहारपद्मानां जिनस्योपर्यपि सा बभौ । नभःसरसि संफुल्ला पञ्चदशकृतप्रभा ॥ २७८ ॥

आकाशरूपी सरोवरमें जिनेन्द्र भगवान् के चरणोंके समीप खिली हुई वह विहार कमलोंकी पंक्ति पन्द्रहके वर्ग प्रमाण अर्थात् २२५ कमलोंकी थी ॥ २७८ ॥

> तदा हेमाम्बुजैर्व्योम समन्तादाततं बभौ । सरोवरमिवोत्फुल्लपङ्कजं जिनविग्रहे ॥ २७९ ॥

उस समय, भगवान् के दिग्विजयके समय सुवर्णमय कमलोंसे चारों ओरसे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिसमें कमल फूल रहे हैं ऐसा सरोवर ही हो ॥ २७९ ॥

> प्रमोदमसमं तन्वन्निदं विश्वं जगत्पतिः । विजहार महीं कृत्स्नां प्रीणयन् स्ववचोऽमृतैः ॥ २८० ॥

इस प्रकार समस्त जगत्के स्वामी भगवान् वृषभदेवने जगत्को आनन्दमय करते हुए तथा अपने वचनरूपी अमृतसे सबको सन्तुष्ट करते हुए समस्त पृथिवीपर विहार किया था ॥ २८० ॥

> मिथ्यान्धकारघटनां विघटन् वचोऽंशुभिः । जगदुद्योतयामास जिनार्को जनतार्तिहृत् ॥ २८१ ॥

जनसमूहकी पीड़ा हरनेवाले जिनेन्द्ररूपी सूर्यने वचनरूपी किरणोंके द्वारा मिथ्यात्वरूपी अन्धकारके समूहको नष्ट कर समस्त जगत् प्रकाशित किया था ॥ २८१ ॥

> यत्र यत्रावगाह्य भगवान् हेमाब्जन्यस्तसत्क्रमः । धर्मामृताम्बुसंवर्षैस्ततो भव्या धृतिं दधुः ॥ २८२ ॥

सुवर्णमय कमलोंपर पैर रखनेवाले भगवान् ने जहाँ-जहाँसे विहार किया वहीं-वहींके भव्योंने धर्मामृतरूप जलकी वर्षासे परम सन्तोष धारण किया था ॥ २८२ ॥

> जिने घने इवाभ्यर्णं धर्मवर्षं प्रवति । जगत्सुखप्रवाहेण पुप्लुवे हतनिर्वृतिः ॥ २८३ ॥

जिस समय वे जिनेन्द्ररूपी मेघ समीपमें धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करते थे उस समय यह सारा संसार सन्तोष धारण कर सुखके प्रवाहसे आप्लुत हो जाता था—सुखके प्रवाहमें डूब जाता था ॥ २८३ ॥

> धर्मवारि जिनाम्भोदात् पायंपायं कृतस्पृहाः । चिरं तृप्तिं दधुस्तदानीं भव्यचातकाः ॥ २८४ ॥

उस समय अत्यन्त लालायित हुए भव्य जीवरूपी चातक जिनेन्द्ररूपी मेघसे धर्मरूपी जलको बार-बार पीकर चिरकालके लिए सन्तुष्ट हो गये थे ॥ २८४ ॥

> अथ चराचरगुरुर्जगदुज्जिदीर्षुर्गर्तनिमग्नमभग्नवृत्तिः । सुरारिवृन्दानुगतो विजहार महीं
> हेमाब्जगर्भकृतपादपद्मः ॥ २८५ ॥

इस प्रकार जो चर और अचर जगत्के स्वामी हैं, जो संसाररूपी गर्तमें डूबे हुए जीवोंका उद्धार करना चाहते हैं, जिनकी वृत्ति अखण्डित है, देव और असुर जिनके साथ हैं तथा जो सुवर्णमय कमलोंके मध्यमें चरण-कमल रखते हैं ऐसे जिनेन्द्र भगवान् ने समस्त पृथिवीमें विहार किया ॥ २८५ ॥

> तीव्राजस्रभवदवानलदह्यमानमुर्वीवनं भुवनकाननमस्ततापः । धर्मामृताम्बुपृषतैः प्रशमयन् देवो रेजे
> घनागम इवोदितदिव्यनादः ॥ २८६ ॥

उस समय, संसाररूपी तीव्र दावानलसे जलते हुए संसाररूपी वनको धर्मामृतरूप जलके छींटोंसे सींचकर जिन्होंने सबका सन्ताप दूर कर दिया है और जिनके दिव्यध्वनि प्रकट हो रही है, ऐसे वे भगवान् वृषभदेव ठीक वर्षाऋतुके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ २८६ ॥

> काशीसकौशलकुरुप्रमुखास्तथाङ्गान् सौह्याङ्गमगधान्ध्रकलिङ्गमत्स्यान् ।
> पाञ्चालमालवदशार्णविदर्भदेशान् सन्मार्गदेशनपरो विजहार धीरः ॥ २८७ ॥

समीचीन मार्गके उपदेश देनेमें तत्पर तथा धीर-वीर भगवान् ने काशी, कौशल, कुरु, कुशांग, सुह्म, पुण्ड्र, चेदि, अंग, बंग, मगध, आन्ध्र, कलिंग, मत्स्य, पंचाल, मालव, दशार्ण और विदर्भ आदि देशोंमें विहार किया था ॥ २८७ ॥

> देवः प्रशान्तचरितः शनकैर्विहृत्य देशान् बहूनिति विबोधितभव्यसत्त्वः । भेजे जगत्त्रयगुरुर्विपुलाधिरूढं
> कैलासमात्मयशसोऽनुकृतिं दधानम् ॥ २८८ ॥

इस प्रकार जिनका चरित्र अत्यन्त प्रशान्त है, जिन्होंने अनेक भव्य जीवोंको तत्त्वज्ञान प्राप्त कराया है और जो तीनों लोकोंके गुरु हैं, ऐसे भगवान् वृषभदेव अनेक देशोंमें विहार कर चन्द्रमाके समान धवल, ऊँचे और अपने यशका अनुकरण करनेवाले कैलास पर्वतको प्राप्त हुए ॥ २८८ ॥

> तस्याग्रे सुरनिर्मिते सुरुचिरे श्रीमत्सभामण्डपे पूर्वोक्ताखिलवर्णनापरिगते स्वर्गश्रियं बिभ्रति । आस्ते स्म
> द्वादशभिर्गुणैः परियुतो भक्त्या नतैः सादरमासाञ्चक्रे विभुर्जिनः प्रविलसत्प्रातिहार्याष्टकः ॥ २८९ ॥

वहाँ उसके अग्रभागपर देवों द्वारा बनाये हुए, सुन्दर, पूर्वोक्त समस्त वर्णनसे सहित और स्वर्गकी शोभा बढ़ानेवाले सभामण्डपमें विराजमान हुए। उस समय वे जिनेन्द्रदेव अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे युक्त थे, आदरके साथ भक्तिसे नम्रीभूत हुए बारह सभाके लोगोंसे घिरे हुए थे और उत्तमोत्तम आठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित हो रहे थे ॥ २८९ ॥

> तं देवं त्रिदशाधिपार्चितपदं घातिक्षयानन्तरं प्रोत्थायानन्तचतुष्टयं जिनवरं भव्योत्पलिनीभास्करम् ।
> मानस्तम्भविलोकनावनतजगन्मान्यं त्रिलोकीपतिं प्राप्ताचिन्त्यबहिर्विभूतिमनघं भक्त्या प्रपद्यामहे ॥
> २९० ॥

जिनके चरणकमल इन्द्रों द्वारा पूजित हैं, घातियाकर्मोंका क्षय होनेके बाद जिन्हें अनन्तचतुष्टयरूपी विभूति प्राप्त हुई है, जो भव्यजीवरूपी कमलिनियोंको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं, जिनके मानस्तम्भोंके देखने मात्रसे जगत्के अच्छे-अच्छे पुरुष नम्रीभूत हो जाते हैं, जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं, जिन्हें अचिन्त्य बहिरंग विभूति प्राप्त हुई है, और जो पापरहित हैं, ऐसे श्रेष्ठ जिनेन्द्रदेवको हम लोग भी भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं ॥ २९० ॥

इति श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवद्विहारवर्णनं नाम पञ्चविंशतितमं पर्व ॥ २५ ॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रह में भगवान् के विहार का वर्णन करने वाला पच्चीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ २५ ॥

महापुराण-प्रथम भागस्थ-श्लोकानामकाराद्यनुक्रमः

अ

आ

इ

ई

उ

ऊ

ऋ

ए

ऐ

ओ, औ

क, का

महापुराण-प्रथम भागस्थ-श्लोकानामकाराद्यनुक्रमः

(Alphabetical Index of Verses - Part 1, Continued)

क

ग - घ - च

ज - झ - ञ - ट - ठ - ड - ढ - ण - त

त (अनुवृत्त)

त - थ - द

त - थ - द (अनुवृत्त)

ध - न

न - प - फ - ब - भ

(Alphabetical Index of Verses - Part 2 / Continued)

म

य

य (अनुवृत्त) - र

र (अनुवृत्त) - ल - व

व (अनुवृत्त)

श - ष - स

स (अनुवृत्त)

आदिपुराणम् - श्लोकानुक्रमणिका (सकार से हकार तक)

(मूल ग्रन्थके अन्तिम पृष्ठोंपर दी गई श्लोक-प्रतीक अनुक्रमणिका)

स / सा

सु / सू

से / सो / सौ / स्त / स्तु / स्त्र / स्थ / स्न / स्प / स्फ / स्म / स्य / स्र / स्व / स्वा

ह / हे / है

आदिपुराणम् - पारिभाषिक शब्दसूची (जैन पारिभाषिक शब्दकोष)

(आदिपुराणमें प्रयुक्त दार्शनिक, सैद्धान्तिक एवं पारिभाषिक शब्दोंका प्रामाणिक परिचय एवं सन्दर्भ)

अ

- **अजीवके दो भेद** - १ मूर्तिक २ अमूर्तिक । [२४।८९]
- **अजीवके पाँच भेद** - १ पुद्गल २ धर्म ३ अधर्म ४ आकाश ५ काल । [२४।८९]
- **अट्ट** - संख्याका एक प्रमाण है । [३।९२]
- **अणु** - पुद्गलका सबसे छोटा अंश । इसमें एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं । [२४।४८]
- **अणुव्रत** - हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाँच पापोंका एक देश-स्थूल रूपसे त्याग करना । ये पाँच होते हैं । [१०।१५८, १८।१४९]
- **अतिदुःषमा** - अवसर्पिणीका छठा काल । इसका दूसरा नाम दुःषमा-दुःषमा भी है । [३।१८]
- **अधःकरण** - पहला करण अथवा श्रेणी चढ़नेके सम्मुख अवस्था । इसमें जीवके परिणामरूप समय और परिणाम दोनों समान और असमान दोनों प्रकारके होते हैं । [२१।१६७]
- **अधर्म** - जो जीव और पुद्गलकी स्थितिमें सहायक हो । [२४।१३३-१३७]
- **अनिवृत्तिकरण** - नौवाँ गुणस्थान । इसमें समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम समान और भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान ही होते हैं । [२१।१६८]
- **अनीक** - देवोंका एक भेद (सेनाके समान देव) । [२।२२६]
- **अनुकम्पन** - सम्यग्दर्शनका एक लक्षण । जीवोंके दुःखको छुड़ानेका दयार्द्र परिणाम । [२४।२४]
- **अनुमतित्याग** - अनुमति त्याग नामक नौवीं प्रतिमा । इसमें व्यापारविषयक अनुमति भी नहीं दी जाती । [१०।१६०]
- **अन्तःपरिषदस्य** - अन्तरंग परिषद्के सदस्य देव । [१०।९०]

- **अपूर्वकरण** - आठवाँ गुणस्थान । इसमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम भिन्न और समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम भिन्न तथा अभिन्न दोनों प्रकारके होते हैं । [२१।१६७]
- **अपूर्व विक्रिया** - अपने ही शरीरको नाना रूप परिणमानेकी शक्ति । [१०।१०२]
- **अप्रत्याख्यान** - देशसंयमको घातनेवाली कषाय । [४।२४]
- **अभव्य** - जिसे मुक्ति प्राप्त न हो सके ऐसा जीव । [२४।२९]
- **अभिन्नदशपूर्विन्** - उत्पादपूर्व आदि दश पूर्वके ज्ञाता मुनि । [२।४४]
- **अमृतांग** - सब प्रकारके बरतन (पात्र) देनेवाला एक कल्पवृक्ष । [३।७६]
- **अभ्रक** - संख्याका एक प्रमाण । [३।७९]
- **अमृतस्राविन्** - अमृतस्राविणी ऋद्धिके धारक मुनि । [२।७४]
- **अष्टवर्गिक** - ऋद्धिका एक भेद । [२४।१४८]
- **अहंत् (अर्हन्त)** - अरहन्त जिनेन्द्र, चार घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले, जिनेन्द्र अरहन्त कहलाते हैं । [१०।२५४, २४।३२]
- **अलोकाकाश (अलोक)** - लोकके बाहरका अनन्त आकाश जिसमें सिर्फ आकाश ही आकाश रहता है । [२।४]
- **अवधि** - अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे प्रकट होनेवाला देश प्रत्यक्ष ज्ञान । [२।६६]
- **अवसर्पिणी** - जिसमें लोगोंके बल, विद्या, बुद्धि आदिका ह्रास होता है । इसमें दश कोड़ाकोड़ी सागरके सुषमा-सुषमा आदि छह काल हैं । [३।१६]
- **अष्टगुण** - अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ गुण हैं । [१०।७३]
- **अष्टप्रातिहार्य** - समवसरणमें तीर्थंकर भगवान्के प्रकट होनेवाले आठ प्रातिहार्य - १ अशोक वृक्ष २ सिंहासन ३ छत्र ४ भामण्डल ५ दिव्य ध्वनि ६ पुष्पवृष्टि ७ चामर और ८ दुन्दुभि बाजोंका बजना । [१।५७]
- **अष्टांग** - सम्यग्दर्शनके निम्नलिखित आठ अंग हैं - १ निःशंकित २ निःकांक्षित ३ निर्विचिकित्सा ४ अमूढ़दृष्टि ५ उपगूहन अथवा उपबृंहण ६ स्थितिकरण ७ वात्सल्य और ८ प्रभावना । [२।२४-२७]
- **अस्तिकाय** - बहुप्रदेशी द्रव्य । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय हैं । [२।२४]
- **अहमिन्द्र** - सोलह स्वर्गके आगेके नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानवासी देव अहमिन्द्र कहलाते हैं । [२।२१६]
- **अहस्तोसंगवर्जन** - दिवामैथुनत्याग नामक छठी प्रतिमा । इसका दूसरा नाम रात्रिभोजनत्याग भी है । [१०।१५९, २०।१४४]

आ

- **आकर** - जहाँ सोने-चाँदीकी खानें होती हैं। [१६।१७६]
- **आकार** - तद्-तद् पदार्थके भेदसे पदार्थको ग्रहण करना। [२४।१०२]
- **आकाश** - जो जीवादि द्रव्योंको अवगाहन (स्थान) देवे। [२४।१३८]
- **आक्षेपिणी** - स्वमतका निरूपण करनेवाली कथा। [१।१२४]
- **आगम** - वीतराग सर्वज्ञदेवकी वाणी, सच्चा शास्त्र। [४।२४]
- **आचाम्लवर्धन** - एक तप। [२।२१२]
- **आत्मरक्ष** - इन्द्रके अंगरक्षकके समान देव। [१०।९०]
- **आद्यशुक्लध्यान** - पृथक्त्ववितर्क शुक्ल ध्यान। [२१।१६९]
- **आनुपूर्वी** - वर्णनीय विषयका क्रम, इसके ३ भेद हैं - पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी, यत्रतत्रानुपूर्वी। [२।२२७]
- **आप्त** - वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी अरहन्त देव। [२४।३०]
- **आभियोग्य** - देवोंका एक भेद (वाहनादि रूप परिणमनेवाले देव)। [२।२२६]
- **आमर्ष** - एक ऋद्धि (आमर्षौषधि ऋद्धि)। [२।७२]
- **आरम्भपरिच्युति** - आरम्भत्याग नामक आठवीं प्रतिमा, इसमें व्यापारमात्रका त्याग हो जाता है। [१०।१६०]
- **आराधना** - समाधिमरण / रत्नत्रयकी आराधना। [९।१००]
- **आर्त्त** - ध्यानका एक भेद। इसके चार भेद हैं - १ इष्टवियोगज २ अनिष्टसंयोगज ३ वेदनाजन्य और ४ निदान। [२१।३१-४१]
- **आस्तिक्य** - सम्यग्दर्शनका एक गुण, आत्मा तथा परलोक आदिका श्रद्धान होना। [२।९८]

इ / उ / ऋ

- **इन्द्र** - देवोंका स्वामी। [२।११७]
- **इन्द्रक** - श्रेणीबद्ध विमानोंके बीचका विमान। [१०।८७]
- **उत्कृष्टोपासक स्थान** - ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक श्रावक (क्षुल्लक/ऐलक)। [१०।१५८]
- **उत्सर्पिणी** - जिसमें लोगोंके बल, विद्या, बुद्धि आदिकी वृद्धि होती है, यह १० कोड़ाकोड़ी सागरका काल होता है। इसके दुःषमा-दुःषमा आदि छह काल हैं। [३।१६, ९।२२४]
- **उपक्रम** - शास्त्रके नाम आदिका वर्णन, उपोद्घात-प्रस्तावना; इसके पाँच भेद हैं - आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्य और अर्थ। [१।१३४, ४।१४]
- **उपपादशय्या** - देवोंके जन्म लेनेका स्थान। [९।२९४]
- **उपयोगके दो भेद** - १ ज्ञानोपयोग २ दर्शनोपयोग। [२४।१००]

- **उपशम श्रेणी** - चारित्रमोहनीय कर्मका उपशम करनेवाले आठवेंसे लेकर ११ वें गुणस्थानवर्ती जीवोंके परिणाम । [१।८९]
- **उपशान्त कषायता** - ग्यारहवाँ गुणस्थान । [१।९०]
- **ऋजुमति** - ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान नामक ऋद्धिके धारक मुनि । [२४।१३९-१४२]
- **ऋद्धि** - आत्माकी विशुद्धिसे उत्पन्न होनेवाली शक्ति विशेष । [२।५६]

क / ख / ग / घ

- **कनकावली** - एक तपका नाम । [५।४६]
- **कमल** - संख्याका एक प्रमाण । [३।८२]
- **करण** - सम्यग्दर्शन प्राप्त करानेवाले भाव । इसके ३ भेद हैं - १ अधःकरण २ अपूर्वकरण ३ अनिवृत्तिकरण । [९।१२०]
- **करणानुयोग** - शास्त्रोंका एक भेद जिसमें तीन लोक एवं भूगोल-खगोलका वर्णन होता है । [२।९९]
- **कल्प** - उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीको मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है । [३। १८]
- **कल्पपादप** - कल्पवृक्ष, जिससे मनचाही वस्तुएं मिलती हैं । [४।८]
- **कामदेव** - कामदेव पदका धारक (कुल २४ कामदेव होते हैं) । [१६।४२]
- **कायगुप्ति** - काय = शरीरको वशमें करना । [२।७७]
- **कायबलिन्** - कायबल ऋद्धिके धारक । [२।७२]
- **कारण समयसार** - चेतना लक्षणसे युक्त एक आत्मद्रव्य । [२४।१३९-१४२]
- **किल्विषिक** - देवोंका एक भेद (दास/सेवक देव) । [२।२३०]
- **कुमुद** - संख्याका एक प्रमाण । [३।११२]
- **कुमुदांग** - संख्याका एक भेद । [३।८०]
- **केवली** - ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे प्रकट होनेवाला पूर्णज्ञान जिसे प्राप्त हो चुका है। उन्हें अरहन्त सर्वज्ञ अथवा जिनेन्द्र भी कहते हैं । [२।१३८]
- **केशव** - नारायण, ये नौ होते हैं । [२।११७]
- **कैवल्य** - केवलज्ञान, संसारके समस्त पदार्थोंको एक साथ जाननेवाला पूर्णज्ञान । [५।४९]
- **कोष्ठबुद्धि** - कोष्ठबुद्धि ऋद्धिके धारक मुनि । [२।७२]
- **क्षीरस्राविन्** - क्षीरस्राविणी ऋद्धिके धारक मुनि । [२।७४]
- **क्षुधासहन** - एक ऋद्धि । [२।७१]
- **खेल** - एक ऋद्धि (खेलौषधि ऋद्धि) । [२।७१]

- **खर्वट** - जो सिर्फ पर्वतसे घिरा हो ऐसा ग्राम । [१६।१७०]
- **खेट** - जो नदी और पर्वतसे घिरा हो ऐसा ग्राम । [१६।१७१]
- **गणधर** - तीर्थंकरोंके समवसरणमें प्रधान शिष्य गणधर कहलाते हैं । [२।५४]
- **गुणव्रत** - जो अणुव्रतोंका उपकार करे । ये तीन हैं - दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत । कोई-कोई आचार्य भोगोपभोग परिमाणको गुणव्रत और देशव्रतको शिक्षाव्रतमें शामिल करते हैं । [१०।१६२]
- **१४ गुणस्थान** - मोह और योगके निमित्तसे उत्पन्न आत्माके भावोंको गुणस्थान कहते हैं, वे १४ हैं - १ मिथ्यात्व २ सासादन ३ मिश्र ४ अविरत सम्यग्दृष्टि ५ देशविरत ६ प्रमत्तसंयत ७ अप्रमत्तसंयत ८ अपूर्वकरण ९ अनिवृत्तिकरण १० सूक्ष्मसाम्पराय ११ उपशान्तमोह १२ क्षीणमोह १३ सयोगकेवली १४ अयोगकेवली । [२४।९१-९३]
- **गृहांग** - भवनको देनेवाला एक कल्पवृक्ष । [३।७६]
- **ग्राम** - वह बस्ती जो काँटोंसे घिरी हुई हो और जिसमें अधिक शूद्र और किसान लोग रहते हों, बगीचा तथा तालाब हों । [१६।१६४]
- **घातिकर्म** - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया कहलाते हैं । [५।२४]
- **घोष** - जहाँ अहीर (ग्वाले) रहते हैं । [१६।१७६]

च / छ / ज / ज्ञ

- **चक्रवर्ती** - चक्ररत्नका स्वामी, राजाधिराज । ये १२ होते हैं तथा भरत, ऐरावत और छह विदेह क्षेत्रके छह खण्डोंके स्वामी होते हैं । [२।११७]
- **चतुर्थव्रतभावना** - १ स्त्रीकथात्याग २ स्त्रीआलोक त्याग ३ स्त्रीसंसर्ग त्याग ४ पूर्वस्त्रीस्मरण त्याग ५ वृष्येष्टरस-गरिष्ठ-उत्तेजक आहारका त्याग । [२०।१६४]
- **चतुर्दश महाविद्या** - उत्पाद आदि चौदह पूर्व । [५।१६८]
- **चरणानुयोग** - शास्त्रोंका एक भेद, जिसमें आचार तथा मुनियों एवं श्रावकोंके चारित्रका वर्णन रहता है । [२।१००]
- **चारण** - आकाशमें चलनेवाले ऋद्धिधारी मुनि (अथवा स्तुतिपाठक) । [२।७२]
- **चारित्रके पाँच भेद** - १ ज्ञानाचार २ दर्शनाचार ३ चारित्राचार ४ तपाचार ५ वीर्याचार, यह पाँच प्रकारका आचार चारित्र कहलाता है । चारित्रके भेद इस प्रकार भी हैं - १ सामायिक २ छेदोपस्थापना ३ परिहारविशुद्धि ४ सूक्ष्मसाम्पराय ५ यथाख्यात । [१।४८, २।१३४]
- **चारित्र भावना** - ईर्यादि पाँच समितियोंमें यत्न करना, मनोगुप्ति आदि गुप्तियोंका पालन और परिषह सहन करना ये चारित्र भावनाएँ हैं । [२।९८, २०।१६५]

- **छह बाह्यतप** - १ अनशन २ अवमोदर्य ३ वृत्तिपरिसंख्यान ४ रसपरित्याग ५ विविक्तशय्यासन ६ कायक्लेश । [२०।१७५-१८६]
- **छेदोपस्थापना** - चारित्रका एक भेद । [२।१३४]
- **६ प्रकारका जघन्य तप** - १ एकान्तर २ द्वयन्तर ३ त्र्यन्तर ४ स्वाध्याय ५ ... [१९।२०४]
- **जंघाचारण** - चारणऋद्धिका एक भेद । [२।७३]
- **जलचारण** - चारणऋद्धिका एक भेद । [२।७३]
- **जम्बुद्वीप** - पहला द्वीप । [२।७२]
- **जिनकल्प** - मुनिका एकाकी विहार करना । [२०।१७०]
- **जिनगुणर्द्धि** - एक तप । [५।५३]
- **जिनेन्द्रगुणसंपत्ति** - एक व्रतका नाम, विधि छठे पर्वके १४३-१४४ श्लोकमें है । [६।१४१]
- **जीव** - चेतना लक्षणसे युक्त द्रव्य । [२४।९२-९३]
- **जीवके नामान्तर** - जीव, प्राणी, भूत, सत्त्व, पुरुष, पुमान्, आत्मा, ज्ञानी । [२४।१०३]
- **जीवके पाँच भाव** - १ औपशमिक २ क्षायिक ३ क्षायोपशमिक ४ औदयिक ५ पारिणामिक । [२४।९९]
- **ज्योतिर्ध** - प्रकाशको देनेवाला एक कल्पवृक्ष । [३।७५]
- **ज्ञान** - पदार्थोंको साकार-सविकल्पक जानना । [२४।१०१]
- **ज्ञानोपयोगके आठ भेद** - १ मतिज्ञान २ श्रुतज्ञान ३ अवधिज्ञान ४ मनःपर्ययज्ञान ५ केवलज्ञान ६ कुमतिज्ञान ७ कुश्रुतज्ञान ८ कुअवधिज्ञान (विभंग) । [२४।१०६]
- **ज्ञेय** - जीवादि पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप । [२४।८५]
- **ज्ञेयके दो भेद** - १ जीव २ अजीव । [२४।८७]

त / द / ध

- **तत्त्वार्थ** - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये छह तत्त्वार्थ हैं । इन्हींको छह द्रव्य कहते हैं । [२४।८५]
- **तन्तुचारण** - चारणऋद्धिका एक भेद । [२।७३]
- **तीर्थकृत्** - धर्मके प्रवर्तक तीर्थंकर हैं, भरत और ऐरावत क्षेत्रमें इनकी संख्या २४-२४ होती है, विदेह क्षेत्रमें २० होते हैं । [२।११७]
- **तुटिकाब्द** - संख्याका एक प्रमाण । [३।८३]
- **तूर्यांग** - बाजोंको देनेवाला एक कल्पवृक्ष । [३।७५]
- **तृतीय व्रतकी भावना** - १ मिताहार ग्रहण २ उचिताहार ग्रहण ३ अभ्यनुज्ञात ग्रहण ४ विधिके विरुद्ध आहार ग्रहण नहीं करना ५ प्राप्त आहार-पानमें प्रीति रखना । [२०।१६३]

- **त्रायस्त्रिंश** - देवोंका एक भेद (मन्त्री/पुरोहित तुल्य देव) । [२।२२६]
- **त्रिबोध** - तीन ज्ञान - १ मतिज्ञान २ श्रुतज्ञान और ३ अवधिज्ञान । ये तीन ज्ञान तीर्थंकरके जन्मसे ही होते हैं । [१३।३]
- **त्रिमूढ़ता** - देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, लोकमूढ़ता । [२।२२]
- **त्रिवर्ग** - धर्म, अर्थ, काम । [१।१३४]
- **त्रिषष्टिपुरुष** - २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र ये ६३ शलाका पुरुष कहलाते हैं । [२।११९]
- **त्रैकालिक** - भूत, भविष्यत्, वर्तमान । [२।११९]
- **दण्ड** - चार हाथका एक दण्ड प्रमाण होता है । [१६।१७३]
- **दर्शन** - पदार्थोंको अनाकार-निर्विकल्प जानना । [२४।१०१]
- **दर्शनमोह** - मोहनीयकर्मका एक भेद जो सम्यग्दर्शन गुणको घातता है । [९।११७]
- **दर्शनोपयोगके ४ भेद** - १ चक्षुदर्शन २ अचक्षुदर्शन ३ अवधिदर्शन ४ केवलदर्शन । [२४।१०१]
- **दीपांग** - दीपकोंको देनेवाला एक कल्पवृक्ष । [३।७५]
- **देशावधि** - अवधिज्ञानका एक भेद । [२।६६]
- **दुःषमा** - अवसर्पिणीका पाँचवाँ काल । [३।१८]
- **द्वितीयव्रतभावना** - १ क्रोधत्याग २ लोभत्याग ३ भयत्याग ४ हास्यत्याग और ५ सूत्रानुगामी - शास्त्रके अनुसार वचन बोलना ये पाँच सत्य व्रतकी भावनाएँ हैं । [२०।१६२]
- **द्रव्यलेश्या** - शरीरका रूप रंग । इसके ६ भेद हैं - १ कृष्ण २ नील ३ कापोत ४ पीत ५ पद्म ६ शुक्ल । [१०।९६]
- **द्रव्यानुयोग** - शास्त्रोंका भेद, जिसमें द्रव्योंके स्वरूपका वर्णन रहता है । [२।९९]
- **द्रोणमुख** - जो किसी नदीके किनारे बसा हो ऐसा ग्राम/पत्तन । [१६।१७३]
- **धनुष** - चार हाथका एक धनुष होता है । [१०।९४]
- **धर्म** - जो जीव और पुद्गलकी गतिमें सहायक हो । [२४।१३३]
- **धर्मचक्र** - तीर्थंकरके केवलज्ञान हो चुकनेपर प्रकट होनेवाला देवोपनीत उपकरण । इसमें एक हजार अरे होते हैं और वह सूर्यके समान देदीप्यमान रहता है, विहारके समय तीर्थंकरके आगे-आगे चलता है । [२।१२५, २२।१०२]
- **धर्म्यध्यान** - ध्यानका एक भेद । इसके चार भेद हैं - १ आज्ञाविचय २ अपायविचय ३ विपाकविचय ४ संस्थानविचय । [२१।१३३-१६७]

न / प / फ / ब / भ

- **नय** - जो वस्तुके एक धर्म (नित्यत्व-अनित्यत्व आदि) को विवक्षावश क्रमसे ग्रहण करे, वह ज्ञान। यह द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, निश्चय, व्यवहार आदिके भेदसे अनेक प्रकारका होता है। [२।१०१]
- **नयुत** - संख्याका एक भेद। [३।११२]
- **नयुतांग** - संख्याका एक भेद। [३।८०]
- **नलिन** - संख्याका एक प्रमाण। [३।११३]
- **नवकेवल लब्धियाँ** - १ क्षायिक ज्ञान २ क्षायिक दर्शन ३ क्षायिक सम्यक्त्व ४ क्षायिक चारित्र ५ क्षायिक दान ६ क्षायिक लाभ ७ क्षायिक भोग ८ क्षायिक उपभोग ९ क्षायिक वीर्य। [२०।२६६]
- **नवपदार्थ** - जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ हैं। [२।११४]
- **निक्षेप** - नय और प्रमाणके अनुसार प्रचलित लोकव्यवहार (नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव)। [२।१०१]
- **निगोत (निगोद)** - साधारण वनस्पति काय, जिसके आश्रित अनन्त जीव रहते हैं। इसका दूसरा नाम निगोद प्रसिद्ध है। इसी प्रकारका एक निकोत शब्द भी आता है जो कि संमूर्च्छन जीवोंका वाचक है। [२।११४]
- **निर्यापक** - सल्लेखना-समाधिकी विधि करानेवाला निर्देशक / आचार्य। [५।२४४]
- **निर्वेद** - संसार, शरीर और भोगोंमें विरक्तता। [१०।५७]
- **निर्वेदिनी** - वैराग्यवर्धक कथा। [१।१३६]
- **पंचम व्रतभावना** - बाह्याभ्यन्तर भेदसे युक्त पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी सचित्त-अचित्त विषयोंमें अनासक्ति। [२०।१६५]
- **पञ्चास्तिकाय** - १ जीव २ पुद्गल ३ धर्म ४ अधर्म ५ आकाश। [२४।९०]
- **पत्तन** - जो समुद्रके पास बसा हो तथा जिसमें नावोंसे उतरना-चढ़ना होता है। [१६।१७२]
- **पदानुसारिन्** - पदानुसारी ऋद्धिके धारक मुनि। [२।७२]
- **पदार्थ** - जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप ये नौ पदार्थ कहलाते हैं। [९।२१]
- **पद्म** - संख्याका एक भेद। [३।११४]
- **परग्राम** - जिसमें पाँच सौ घर हों तथा सम्पन्न किसान हों, इसकी सीमा २ कोशकी होती है। [१६।१६५]
- **परमावधि** - अवधिज्ञानका एक भेद। [२।६६]
- **परमेष्ठी** - अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये ५ परमेष्ठी कहलाते हैं। [५।२३५]
- **पर्याप्त** - जिनके शरीरकी पर्याप्तियाँ पूर्ण हो चुकी हैं। [१०।३५]
- **पर्व** - संख्याका एक भेद। [३।११४]
- **परिग्रहपरिच्युति** - परिग्रहत्याग नामक नौवीं प्रतिमा, इसमें आवश्यक वस्त्र तथा निर्वाहयोग्य बरतनोंके सिवाय सब परिग्रहका त्याग हो जाता है। [१०।१६०]
- **पल्य** - असंख्यात वर्षोंका एक कालमान होता है। [३।५२]
- **पारिषद** - देवोंका एक भेद (सभासद् देव)। [२।२२६]
- **पुद्गल** - वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शसे सहित द्रव्य। [२४।१४५]
- **पुद्गलके छह भेद** - १ सूक्ष्मसूक्ष्म २ सूक्ष्म ३ सूक्ष्मस्थूल ४ स्थूलसूक्ष्म ५ स्थूल ६ अतिस्थूल। [२४।१४९]

- **पुर** - जो परिखा, गोपुर, कोट तथा अट्टालिका आदिसे सुशोभित हो, बाग-बगीचे और जलाशयसे सहित हो । [१६।१६९-१७०]
- **पुष्पचारण** - चारणऋद्धिका एक भेद । [२।७३]
- **पूर्वकोटी** - एक करोड़ पूर्व । चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वांग होता है और चौरासी लाख पूर्वांगका एक पूर्व होता है । ऐसे एक करोड़ पूर्व । [२।२२]
- **पूर्वरंग** - नाटकका प्रारम्भिक रूप । [१।१२६]
- **पृथक्त्ववितर्क (पृथक्त्ववितर्कवीचार)** - शुक्लध्यानका प्रथम पाया । [१९।११०, २१।१६६]
- **प्रकीर्णक** - फुटकर बसे हुए विमान । [१०।८७]
- **प्रत्यय** - सम्यग्दर्शनका पर्यायान्तर नाम । [९।२३]
- **प्रत्येक बुद्ध** - वैराग्यका कोई बाह्य कारण देख स्वयं दीक्षा धारण करनेवाले मुनि । [२।१४८]
- **प्रथम व्रत भावना** - १ ईर्यासमिति २ भाषासमिति ३ एषणासमिति ४ आदाननिक्षेपणसमिति ५ प्रतिष्ठापनसमिति अथवा १ मनोगुप्ति २ वचनगुप्ति ३ कायगुप्ति ४ ईर्यासमिति और ५ एषणा समिति ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावनाएँ हैं । [२०।१६१]
- **प्रथमानुयोग** - शास्त्रोंका एक भेद जिसमें महापुरुषोंके आख्यान एवं कथानक लिखे जाते हैं । [२।९९]
- **प्रमाण** - जो वस्तुके समस्त गुणों (नित्यत्व-अनित्यत्व आदि) को एक साथ ग्रहण करे वह सम्यग्ज्ञान प्रमाण कहलाता है । [२।१०१]
- **प्रशम** - सम्यग्दर्शनका एक गुण, कषायके असंख्यात लोकप्रमाण स्थानोंमें मनका स्वभावसे शिथिल होना / उपशम भाव । [२।९८, २४।२४]
- **प्रायोपगमन (प्रायोपगम)** - संन्यास । [१।९६]
- **प्रायोपगमन** - संन्यासमरणका एक भेद, जिसमें शरीरकी सेवा न आप करते हैं और न दूसरेसे कराते हैं । [५।२४४]
- **प्रायोपवेशन** - संन्यास-सल्लेखना । [१।९४-९५]
- **प्रोषधव्रत** - प्रोषधोपवास नामक चौथी प्रतिमा जिसमें प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास करना पड़ता है । [१०।१५९]
- **फलचारण** - चारण ऋद्धिका एक भेद । इस ऋद्धिके धारी वृक्षोंके फलोंपर पैर रखकर चलें फिर भी फल नहीं टूटते हैं । [२।७३]
- **बल** - बलभद्र, नारायणका ज्येष्ठ भाई, ये नौ होते हैं । [२।११७]
- **ब्रह्मचर्य** - यह सातवीं प्रतिमा है, इसमें स्त्रीमात्रका त्याग कर पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण करना पड़ता है । [१०।१६०]
- **भव्य** - जिसे सिद्धि-मुक्ति प्राप्त हो सके ऐसा जीव । [२४।२९]
- **भवन** - भवनवासी देवोंका निवास । [१३।३]
- **भावलेश्या** - कषायके उदयसे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्ति । [१०।९७]
- **भुक्ति** - भोगका क्षेत्र । [२०।२८४]
- **भोजनांग** - सब प्रकारका भोजन देनेवाला एक कल्पवृक्ष । [३।७५]

म / र / ल / व

- **मटम्ब** - जिसमें पाँच सौ गाँवोंका विस्तार हो ऐसा नगर । [१६।१७२]
- **मद्यांग** - एक कल्पवृक्ष जिससे अनेक प्रकारके पेय रसोंकी प्राप्ति होती है । [३।७८]
- **मधुस्राविन्** - मधुस्राविणी ऋद्धिके धारक मुनि । [२।७४]
- **मनोगुप्ति** - मनको वशमें करना । [२।७७]
- **मनोबलिन्** - मनोबल ऋद्धिके धारक । [२।७१]
- **मातृकापद** - १ ईर्या २ भाषा ३ एषणा ४ आदाननिक्षेपण और ५ प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियाँ तथा १ मनोगुप्ति २ वचनगुप्ति और ३ कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ ये आठ मातृकापद अथवा प्रवचनमातृका कहलाती हैं । चारित्र भावना भी यही हैं । [२०।१६४, १।६५]
- **१४ मार्गणाएँ** - १ गति २ इन्द्रिय ३ काय ४ योग ५ वेद ६ कषाय ७ ज्ञान ८ संयम ९ दर्शन १० लेश्या ११ भव्यत्व १२ सम्यक्त्व १३ संज्ञी और १४ आहार । [२४।५४-५५]
- **मुक्तावली** - एक तपका नाम । [५।४६]
- **मूर्तिक** - रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे सहित द्रव्य (पुद्गल) । [२४।८९]
- **मृगचारण** - चारणऋद्धिका एक भेद । [२।७३]
- **रज्जु** - असंख्यात योजनकी एक रज्जु प्रमाण होती है । [१०।८४]
- **रत्नप्रभा** - पहली पृथ्वी (पहला नरक) । [१०।२९]
- **रसविप्रुष** - एक ऋद्धि । [२।७४]
- **रत्नावली** - एक तप । [५।४६]
- **रुचि** - सम्यग्दर्शनका पर्यायान्तर नाम । [९।२३]
- **रौद्रध्यान** - ध्यानका एक भेद । इसके चार भेद हैं - १ हिंसानन्द २ मृषानन्द ३ स्तेयानन्द ४ विषयसंरक्षणानन्द । [३।४२-५४]
- **लोक** - जहाँ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छहों द्रव्य पाये जाते हैं उस १४ राजू ऊँचे और ३४३ राजू घनफलवाले आकाशको लोक कहते हैं । [१।१२]
- **लोकपाल** - देवोंका एक प्रकार, ये देव कोतवालके समान दिशाओं एवं नगरके रक्षक होते हैं । [१०।९०]
- **वचोबलिन्** - वचनबल ऋद्धिके धारक । [२।७१]
- **व्यन्तर (वन)** - व्यन्तर देव । इनके किन्नर, किम्पुरुष, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ भेद होते हैं । [२।२२७]
- **वाग्गुप्ति** - वचनको वशमें करना । [२।७७]
- **वाग्विप्राट** - एक ऋद्धि । [२।७४]
- **विकृष्टग्राम** - जिसमें सौ घर हों ऐसा ग्राम । इसकी सीमा १ कोशकी होती है । [१६।१६५]

- **विक्रिया ऋद्धि** - एक ऋद्धिविशेष । इसके आठ भेद हैं - अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व । [२।७६]
- **विक्षेपणी** - परमतका निराकरण करनेवाली कथा । [१।१३५]
- **विपुलमति** - विपुलमति मनःपर्ययज्ञान ऋद्धिके धारक मुनि । [२।७२]
- **विभंग** - मिथ्या अवधिज्ञान । [५।१०५]
- **विभूषणांग** - आभूषण देनेवाला कल्पवृक्ष । [३।७५]
- **वैराग्यस्थैर्य भावना** - विषयोंमें अनासक्ति, कायके स्वरूपका बार-बार चिन्तन करना और जगत्के स्वभावका विचार करना । ये वैराग्यस्थैर्य भावनाएँ हैं । [२१।९९]
- **वैयावृत्य** - १ रोगोपशमन २ क्षमावत्ता-क्षमा धारण करना ३ ध्यानेकाग्रता-चित्त व्याकुल नहीं होना । [२०।१६६]
- **व्रती** - दूसरी श्रावक प्रतिमा जिसमें ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत ये १२ व्रत धारण करने होते हैं । [१०।१५९]

श / ष / स / स्व

- **शिक्षाव्रत** - जिनसे मुनिव्रत धारण करनेकी शिक्षा मिले । ये चार हैं - सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और संन्यास-सल्लेखना । कोई-कोई आचार्य सल्लेखनाका पृथक् निरूपण कर उसके स्थानपर भोगोपभोगपरिमाण अथवा वैयावृत्यका वर्णन करते हैं । [१०।१६६]
- **शुक्लध्यान** - ध्यानका सर्वोत्तम भेद । इसके चार भेद हैं - १ पृथक्त्ववितर्कवीचार २ एकत्ववितर्क ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और ४ व्युपरतक्रियानिवृत्ति । [२१।१६६-२००]
- **श्रद्धा** - सम्यग्दर्शनका पर्यायान्तर नाम । [९।२३]
- **श्रमण संघके चार भेद** - १ ऋषि २ मुनि ३ यति ४ अनगार । [२४।५६]
- **श्रुतकेवली** - पूर्ण श्रुतज्ञान (द्वादशांग) के धारक मुनि । [५।१६९]
- **श्रुतज्ञान** - एक व्रतका नाम, इसकी विधि ४४वें पर्वके १४६ से १५१ श्लोक तक है । [६।१४१, ४४।१४६]
- **श्रुतज्ञानविधि** - एक तप । [७।५३]
- **श्रेणीचारण** - चारणऋद्धिका एक भेद । [२।७३]
- **श्रेणीबद्ध** - श्रेणीके अनुसार बसे हुए विमान । [१०।८७]
- **षड्द्रव्य** - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं । [२।२४]
- **सचित्तसेवाविरति** - सचित्तत्याग नामक पाँचवीं प्रतिमा । इसमें सचित्त वनस्पति तथा कच्चे पानीका त्याग होता है । [१०।१५९]
- **सत्संख्यानुयोग** - १ सत् २ संख्या ३ क्षेत्र ४ स्पर्शन ५ काल ६ अन्तर ७ भाव और ८ अल्पबहुत्व । [२।१००]

- **सद्दर्शन** - दर्शन प्रतिमा श्रावककी पहली प्रतिमा जिसमें आठ मूल गुणोंके साथ सम्यग्दर्शन धारण करना पड़ता है। [१०।१५८]
- **सप्तांग** - कथासुखके निम्नलिखित सात अंग हैं - १ द्रव्य २ क्षेत्र ३ काल ४ भाव ५ महाफल ६-७... । [४। १२४, ५।१४३]
- **समता** - सामायिक नामक तीसरी प्रतिमा, इसमें दिनमें ३ बार कम-से-कम दो-दो घड़ी पर्यन्त सामायिक करना पड़ता है। [१०।१५९]
- **समाहित** - समाधिमरणमें युक्त मुनि। [१०।११४]
- **सम्यक्चारित्र** - मोक्षाभिलाषी एवं संसारसे निवृत्त जीवोंकी माध्यस्थ वृत्तिको सम्यक्चारित्र कहते हैं। [२। ८९]
- **सम्यक्त्वभावना** - संवेग, प्रशम, संवेद, असंमूढ़ता, अस्मय-गर्व नहीं करना, आस्तिक्य और अनुकम्पा ये सम्यक्त्व भावनाएँ हैं। [२।९७]
- **सम्यग्ज्ञान** - जीवादि पदार्थोंकी यथार्थताको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान। [२।८६]
- **सम्यग्दर्शन** - सच्चे देव-शास्त्र-गुरुका श्रद्धान अथवा जीवादि सात तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान। [२।१२, २।८१]
- **सर्पिःस्राविन्** - घृतस्राविणी ऋद्धिके धारक मुनि। [२।७४]
- **सर्वतोभद्र** - एक व्रतका नाम। [५।२४]
- **सर्वावधि** - अवधिज्ञानका एक भेद। [२।६६]
- **सर्वौषधि** - एक ऋद्धि। [२४।७१]
- **सल्लेखना** - समाधिमरण। [५।२४४]
- **समानिक** - देवोंका एक भेद जो कि इन्द्रके माता-पिता आदिके समान पूज्य होता है। [१०।९०]
- **सिद्ध** - अष्ट कर्मोंसे सर्वथा रहित त्रिलोकके अग्रभागपर निवास करनेवाले अशरीरी मुक्त जीव। [२४।१३०]
- **सिद्धके आठ गुण** - १ सम्यक्त्व २ दर्शन ३ ज्ञान ४ वीर्य ५ सूक्ष्मत्व ६ अवगाहन ७ अव्याबाध ८ अगुरुलघुता। [२०।२२३-२२४]
- **सुदर्शन** - एक तप। [६।७७]
- **सुषमा** - अवसर्पिणीका दूसरा काल। [३।१८]
- **सुषमासुषमा** - अवसर्पिणीका पहला काल। [३।१८]
- **सूक्ष्म** - अणुस्तम्भके भेदकी अपेक्षा सूक्ष्म पुद्गल। [२४।१५०]
- **सूक्ष्मसाम्पराय** - दसवाँ गुणस्थान। [१।९०]
- **सूक्ष्मसूक्ष्म** - सूक्ष्मतर पुद्गल परमाणु। [२४।१५०]
- **स्थूलसूक्ष्म** - जो आँखोंसे न दिखे पर अन्य इन्द्रियोंके ग्रहणमें आवे जैसे शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध। [२४।१५१]
- **संकल्प** - विषयोंमें तृष्णा बढ़ानेवाली मनकी वृत्तिको संकल्प कहते हैं। इसीका दूसरा नाम दुःप्रणिधान भी है। [२१।२७]
- **संग्रहट** - दस गाँवोंके बीचका बड़ा गाँव। [१६।१७४]
- **संमिश्र** - संमिश्रयोनि, जो अलग करनेपर अलग हो जाये और मिलनेपर मिल जाये जैसे तेल-पानी आदि; अथवा अलग करनेपर अलग हो जाये और मिलानेपर न मिले जैसे पत्थर आदि। [२४।१५४]

- **संवाह** - जहाँ मस्तक पर्यन्त ऊँचे-ऊँचे धान्यके ढेर लगे हों ऐसा गाँव । [१६।१७२]
- **संवेग** - सम्यग्दर्शनका एक गुण - धर्म और धर्मके फलमें अनुत्साह न होकर उत्साहयुक्त मनका होना तथा चतुर्गतिक दुःखोंसे भयभीत रहना । [२।९८, २४।२३]
- **संवेदिनी** - धर्मकथाका एक प्रकार । [१।१३६]
- **संसारी जीवके ६ भेद** - ६ भव्य, ६ अभव्य भेद । [२४।९१]
- **सिद्धनिष्क्रीड़ित** - एक व्रतका नाम । [५।५२]
- **स्कन्ध** - द्वयणुकसे लेकर लोकरूप महास्कन्ध तकका पुद्गल प्रचय स्कन्ध कहलाता है । [२४।१४८]
- **स्थविर कल्प** - मुनिव्रतका पालन करते हुए संघमें साथ-साथ विहार करना स्थविर कल्प कहलाता है । [२०।१७०]
- **स्थूल** - जो आँखोंसे दिखे पर पकड़नेमें न आवे जैसे चाँदनी, धूप/आतप आदि । [२४।१५२]
- **स्पर्श** - सम्यग्दर्शनका पर्यायान्तर नाम । [९।२३]
- **स्वयंबुद्ध** - बाह्य उपदेशके बिना स्वयं संसारसे विरक्त होकर मुनिदीक्षा लेनेवाले । [८।२, १०।१४६]
- **स्वोद्दिष्टपरिवर्जन** - उद्दिष्टत्याग नामक ग्यारहवीं प्रतिमा । इसमें अपने उद्देश्यसे बनाये हुए आहारका भी सर्वथा त्याग हो जाता है । [१०।१६०]
- **स्रगंग** - नाना प्रकारकी दिव्य मालाएँ देनेवाला कल्पवृक्ष । [३।७५]

आदिपुराणम् - भौगोलिक शब्दसूची
(Geographical Index)

इस सूचीके अन्तर्गत दिये गये भौगोलिक शब्दोंका परिचय मुख्य रूपसे संक्षेपमें आदिपुराणके आधारसे दिया गया है। आधुनिक भूगोलकी दृष्टिसे इस सबका विशेष अध्ययन अपेक्षित है।

अ

- **अक्षोभ्य** - वि. उ. श्रे. (विजयार्ध उत्तर श्रेणी) का एक नगर । [१९।८५]
- **अग्निशिख** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८३]
- **अंग** - भागलपुरका समीपवर्ती प्रदेश । [१६।१५२]
- **अच्युत** - सोलहवाँ स्वर्ग । [५।२४]
- **अंजनगिरि** - नन्दीश्वर द्वीपका अंजनगिरि पर्वत । [७।९]
- **अंजना** - चौथी पृथिवी (चौथा नरक) । [१०।२९]
- **अधोग्रैवेयक** - सोलह स्वर्गोंके ऊपर नीचेके तीन विमान अधोग्रैवेयक कहलाते हैं । [१०।९३]
- **अनुदिश** - अच्युत कल्पके ऊपर नव अनुदिश नामक विमान । [१०।९३]
- **अपराजित नगर** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८४]
- **अमरावती** - इन्द्रकी नगरी । [६।२०५]
- **अम्बरतिलक** - विदेहका एक पर्वत । [७।५२]
- **अम्बरतिलक** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८२]
- **अयोध्या** - धातकी खण्डके पूर्व भागस्थ पश्चिम विदेहक्षेत्रके गन्धिला देशकी एक नगरी । [७।४१]
- **अयोध्या** - उत्तर प्रदेशकी प्रसिद्ध नगरी (साकेत/विनीता) । [१२।७६]
- **अर्जुनी** - वि. उ. श्रे. की एक नगरी । [१९।७९]
- **अरजस्का** - वि. द. श्रे. (विजयार्ध दक्षिण श्रेणी) का एक नगर । [१९।४९]

- **अरिंजय** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।५१]
- **अलका** - विजयार्ध पर्वतके दक्षिण विदेहके महाकच्छ देशका एक नगर । [४।१२२]
- **अलका** - विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीपर स्थित एक नगरी । [१९।८०]
- **अवन्ती** - एक देश, उज्जैनका पार्श्ववर्ती प्रदेश । [१६।१५३]
- **अवनि** - एक देश । [१६।१५२]
- **अशोका** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८१]
- **आनर्त** - एक देश (सौराष्ट्र/द्वारका प्रदेश) । [१६।१५३]
- **आन्ध्र** - दक्षिणका एक देश (गोदावरी-कृष्णाके बीचका क्षेत्र) । [१६।१५४]
- **अभिसार** - एक देश । [१६।१५५]
- **आभीर** - एक देश । [१६।१५४]
- **आरट्ट** - एक देश (पंजाबका प्राचीन नाम) । [१६।१५६]
- **इन्द्रक (इन्द्र)** - एक देश । [१६।१५५]
- **उत्तरकुरु** - विदेह क्षेत्रके अन्तर्गत एक प्रदेश जहाँ उत्तम भोगभूमि है । [५।७८]
- **उत्पलखेटक** - विदेह क्षेत्र पुष्कलावती देशका एक नगर । [९।७]
- **उच्छ्रित** - पाँचवीं पृथिवी (धूमप्रभा) । [१०।३०]
- **उज्जयिनी** - विदेह क्षेत्रका एक भाग जहाँ उत्तम भोगभूमिकी रचना है । [५।७८]
- **उशीनर** - एक देश । [१६।१५३]
- **ऊर्मिमालिनी** - विभंगा नदी । [५।५२]
- **ऋतु** - सौधर्म स्वर्गके प्रथम पटलका इन्द्रक विमान । [१३।६७]
- **ऐशानकल्प** - दूसरा स्वर्ग । [५।२५३]

क / ख / ग / घ / च

- **कच्छ** - एक देश । [१६।१५३]
- **कनकाद्रि** - सुमेरु पर्वत । [३।२४]
- **कर्णाट** - दक्षिणका एक देश (कर्नाटक) । [१६।१५४]
- **करहाट** - एक देश (कराड़) । [१६।१५४]
- **कलिंग** - आधुनिक नाम उड़ीसा । [१६।१५२]
- **कांचन** - ऐशान स्वर्गका एक विमान । [७।१२६]
- **काम्बोज** - काबुलका पार्श्ववर्ती प्रदेश । [१६।१५६]
- **काशी** - एक देश, वाराणसीका पार्श्ववर्ती प्रदेश । [१६।१५१]

ज / त / द / ध / न

- **ध्यानचतुष्क** - आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान । [४।९३]
- **नन्दन** - मेरु पर्वतका एक प्रसिद्ध वन । [५।८४]
- **नन्दीश्वर** - आठवाँ द्वीप जहाँ ५२ अकृत्रिम जिनालय हैं । [५।२]
- **नन्दोत्तरा तथा मानस्तम्भकी १६ वापिकाएँ** - समवसरणमें मानस्तम्भोंके समीप स्थित वापिकाएँ:
- पूर्व मानस्तम्भकी पूर्वादि दिशाओंमें: नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा, नन्दघोषा ।
- दक्षिण मानस्तम्भकी पूर्वादि दिशाओंमें: विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता ।
- पश्चिम मानस्तम्भकी पूर्वादि दिशाओंमें: अशोका, सुप्रतिबुद्धा, कुमुदा, पुण्डरीका ।
- उत्तर मानस्तम्भकी पूर्वादि दिशाओंमें: मनोरमा, महानन्दा, सुप्रबुद्धा, प्रभंकरा । [२०।११०]
- **नन्द्यावर्त** - ऐशान स्वर्गका एक विमान । [७।१२६]
- **नदीश** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।३४]
- **नित्यवाहिनी** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।५०]
- **नित्यद्योतिनी** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।५०]
- **निमिषर** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८०]
- **निषध** - एक कुलाचल पर्वत जिसपर सूर्योदय और सूर्यास्त होते हैं । [५।८०]
- **नील** - एक कुलाचल पर्वत । [५।१०९]

प / फ / ब / भ / म

- **पंकप्रभा** - चौथी पृथिवी (चौथा नरक) । [१०।३१]
- **पंचमाणव** - क्षीरसागर । [१३।१२]
- **पंचालक** - एक देश (पांचाल) । [१६।१५३]
- **पल्लव** - दक्षिणका देश (कांची प्रदेश) । [१६।१५५]
- **पलालपर्वत** - धातकी खण्ड विदेह क्षेत्र गन्धिला देशका एक ग्राम । [७।१३]
- **प्रभा** - दूसरे स्वर्गका विमान । [५।२५]
- **प्रभाकर** - ऐशान स्वर्गका एक विमान । [९।१९२]
- **प्रभाकरपुरी** - पुष्करवर द्वीपके विदेहकी एक नगरी । [९।७]
- **पादलीग्राम** - धातकी खण्ड विदेह क्षेत्र गन्धिला देशका एक ग्राम । [७।१२]
- **पाण्डुक** - मेरुका एक शिखर वन । [५।८३]
- **पादाद्रि** - प्रत्यन्त पर्वत । [५।७९]
- **प्राग्विदेह** - पूर्व विदेह क्षेत्र । [५।१२३]
- **प्राणत** - दसवाँ/बारहवाँ स्वर्ग । [५।२४]

- **प्रीतिवर्धन** - एक विमान । [५।८]
- **पुण्ड्र** - आधुनिक बंगालका उत्तरी भाग, अपर नाम पौण्ड्र देश । [१६।१५२]
- **पुण्डरीक** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।४२]
- **पुरंजय** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।४३]
- **पुस्किताल (पोदनपुर)** - एक नगर । [२८।७१]
- **पुष्कलावती** - विदेहका एक देश । [९।७]
- **पुष्पचुल** - वि. उ. श्रे. की एक नगरी । [१९।७९]
- **पूर्वमन्दर** - पूर्व मेरु पर्वत । [७।३]
- **प्रभाकर** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८५]
- **बंग** - बंगाल देश । [१६।१५२]
- **बलाहक** - वि. उ. श्रे. की एक नगरी । [१९।७९]
- **बहुकेतुक** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।३५]
- **बहुमुखी** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।४९]
- **बाह्यमन्दर** - मेरुका एक वन । [५।८२]
- **भद्रिला** - एक नगरी । [२१।१३५]
- **भद्राश्व** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८४]
- **भरत** - भरतक्षेत्र, हिमवत् कुलाचल और लवणसमुद्रके बीचका क्षेत्र जो कि ५२६ ६/१९ योजन विस्तारवाला है । [१५।५८, ५।१५०]
- **भूमितिलक** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८३]
- **मगध** - बिहार प्रदेश, राजगृहीका पार्श्ववर्ती प्रदेश । [१६।१५२]
- **मघवी** - छठी पृथिवी (छठा नरक) । [१०।३२]
- **मंगलावती** - विदेह क्षेत्रका एक देश । [७।४]
- **मणिवज्र** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८४]
- **मनोहर** - एक उद्यान । [५।२४]
- **मन्दर** - मेरु पर्वत । [५।३०]
- **मन्दिर** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८२]
- **महाकच्छ** - पूर्व विदेहका एक देश । [४।१२२]
- **महाट** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।३५]
- **महाज्याक** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८४]
- **महापूतजिनालय** - एक प्रसिद्ध मन्दिरका नाम । [६।७५]
- **महेन्द्रपुर** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८६]
- **माघवी** - सातवीं पृथिवी (सातवाँ नरक) । [१०।३२]
- **मानुषोत्तर पर्वत** - पुष्करवर द्वीपके मध्यमें स्थित चूड़ीके आकारका एक पर्वत जहाँ तक मनुष्योंका गमन है । [५।२९१]

- **मालव** - एक देश (मालवा प्रदेश) । [१६।१५३]
- **माहेन्द्र** - चौथा स्वर्ग । [५।२४]
- **मुक्ताहार** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८३]
- **मेखलाग्रनगर** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।४०]
- **मेघकूट** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।५१]

य / र / व / श / ष / स / ह

- **यवन** - एक देश (यूनान/ग्रीस) । [१६।१५५]
- **रुचक** - रुचकवर द्वीपमें स्थित एक पर्वत । [४।२९१]
- **रतिकूट** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।५१]
- **रत्नपुर** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८३]
- **रत्नप्रभा** - पहली पृथिवी (पहला नरक) । [१०।३१]
- **रत्नसंचय** - पुष्करार्ध द्वीपके विदेहसम्बन्धी मंगलावती देशका एक नगर । [१०।१५]
- **रत्नसंचय** - विदेह क्षेत्र पुष्कलावती देशका एक नगर । [९।४]
- **रत्नाकर** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८६]
- **रथनूपुरचक्रवाल** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।४६]
- **रम्यक** - एक देश/क्षेत्र । [१६।१५२]
- **रुषित** - दूसरे स्वर्गका एक विमान । [५।२५३]
- **रीष्याद्रि** - विजयार्ध पर्वत । [१९।६]
- **लोहागल** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।४१]
- **वंगपुर** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८६]
- **वेत्राद्रय** - वि. द. श्रेणीका एक नगर । [१९।४२]
- **वज्रार्गल** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।३२]
- **वत्स** - एक देश (कौशाम्बी प्रदेश) । [१६।१५३]
- **वत्सकावती** - पुष्करार्धके पश्चिम भागस्थ पूर्व विदेहका एक देश । [७।६]
- **वनवास** - दक्षिण भारतका एक देश (बनवासी) । [१६।१५४]
- **वसुमती** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८०]
- **वसुमक** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८०]
- **बालुकाप्रभा** - तीसरी पृथिवी (तीसरा नरक) । [१०।३१]
- **वाह्लीक** - एक देश (बल्ख़) । [१६।१५३]

- **श्रीनिकेत** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८२]
- **श्रीप्रभ** - ऐशान स्वर्गका एक विमान । [७।१२६]
- **श्रीप्रभ** - प्रत्यन्त पर्वत । [५।८०]
- **श्रीप्रभ** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।४०]
- **श्रीमन्दिर** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८३]
- **श्रीपुर** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।७९]
- **श्वेतकेतु** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।४२]
- **संजयन** - एक देश । [१६।१५२]
- **सज्जन्ती** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।५०]
- **समुद्रक** - एक देश । [१६।१५२]
- **सर्वार्थसिद्धि** - पञ्च अनुत्तर विमानोंका मध्यवर्ती सर्वोच्च विमान । [१।१११]
- **सरयू** - अयोध्याकी निकटवर्ती प्रसिद्ध नदी । [१६।१६३]
- **साकेत** - अयोध्याका नाम । [१२।७७]
- **सिद्धकूट** - विजयार्धका एक प्रमुख कूट । [१९।५]
- **सिद्धार्थक वन** - अयोध्याके निकटवर्ती एक वन जहाँ भगवान् आदिनाथने दीक्षा धारण की थी । [१७।८२]
- **सिद्धार्थक** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८०]
- **सिद्धायतन** - विजयार्ध पर्वतके कूटोंपर स्थित अकृत्रिम चैत्यालय । [१९।५]
- **सिन्धु** - सिन्धु देश एवं नदी । [१६।१५५]
- **सिंहध्वज** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।४०]
- **सिंहपुर** - पश्चिम विदेह गन्धिला देशका एक नगर । [५।२२२]
- **सीता** - विदेह क्षेत्रकी प्रसिद्ध महानदी । [५।८४]
- **सुकोसल** - एक देश, आधुनिक महाकोसल / मध्यप्रदेश । [१६।१५२]
- **सुगन्धिनी** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८६]
- **सुदर्शन** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८५]
- **सुप्रतिष्ठित** - एक नगर । [८।२३]
- **सुप्रभ** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।५२]
- **सुराद्रि** - सुमेरु पर्वत । [५।२४]
- **सुराष्ट्र** - सौराष्ट्र देश, गिरनारका पार्श्ववर्ती प्रदेश । [१६।१५४]
- **सुरेन्द्रकान्त** - वि. उ. श्रे. का एक नगर । [१९।८०]
- **सुसोमानगर** - जम्बूद्वीप-पूर्वविदेह क्षेत्र महावत्स देशका एक नगर । [२।२२२]
- **सुह्य** - एक देश । [१६।१५२]
- **सूर्यपुर** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।५२]
- **सूर्याभ** - वि. द. श्रे. का एक नगर । [१९।५०]
- **सौमनस** - मेरुका एक वन । [५।८३]

आदिपुराणम् - व्यक्तिवाचक शब्दसूची (Proper Names Index: अ से भ)

(आदिपुराणमें उल्लिखित ऐतिहासिक, पौराणिक, चारित्रिक महापुरुषों, तीर्थंकरों, कुलकरों, मुनियों एवं भगवान्के सहस्रनाम-पदोंका प्रामाणिक परिचय व सन्दर्भ)

अ

- **अग्रणी** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१५]
- **अग्निभ** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।५०]
- **अग्र्य** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।३७, २५।५०]
- **अचलस्थिति** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४]
- **अचल** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२८]
- **अचिन्त्य** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।५०]
- **अचिन्त्यर्द्धि** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।५०]
- **अचिन्त्यवैभव** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४०]
- **अचिन्त्यात्मन्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१०४]
- **अच्छेद्य** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१५]
- **अच्युत** - भगवान् आदिनाथका एक नाम । [१।६३]
- **अच्युत** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम (अनन्तज्ञानादिभिर्गुणैर्न च्युत इत्यच्युतः) । [२४।३४, २५।४]
- **अज** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम (न जायते इति अजः, जन्मरहितत्वात्) । [२४।३०, २५।१०६]
- **अजन्मन** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१०६]

- **अजर** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम (न विद्यते जरा वार्धक्यं यस्य सोऽजरः) । [२४।३४, २५।१०९]
- **अजय** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१०९]
- **अजात** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।७६]
- **अजित** - द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथ भगवान् । [१।१६, २।१२८]
- **अजित** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१०६]
- **अजितंजय** - जयवर्मा और जयसेनाका भाई । [७।४२]
- **अजितंजय** - विदेहका एक चक्रवर्ती । [७।४]
- **अजितेशी** - अजितनाथ नामक दूसरे तीर्थंकर । [२।१२८]
- **अजितंजय** - वत्सकावती सुसोमानगरका राजा । [७।२२]
- **अणिष्ठ** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम (अतिशयेन अणुः अणिष्ठः) । [२५।७६]
- **अणीयस्** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम (अतिशयेन अणुः अणीयान्) । [२४।४३]
- **अणोरणीयस्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।७६]
- **अतन्द्रालु** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२०७]
- **अतिगृद्ध** - प्रभाकरी पुरीका राजा । [९।३२]
- **अतिबल** - अलका नगरीका राजा एक विद्याधर । [४।१२२]
- **अतिबल** - महाबलका पुत्र । [७।१२२]
- **अतिवीर्य** - धातकी खण्ड विदेहक्षेत्र पुष्कलावती देश पुण्डरीकिणी नगरीके राजा वज्रदन्त और रानी यशस्वतीका पुत्र (नारायणपदका धारक) । [७।८१]
- **अतीन्द्र** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४८]
- **अतीन्द्रिय** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४८]
- **अतीन्द्रियार्थदृश्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४८]
- **अतुल** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४०]
- **अधर्मधक्ष (अधर्मदह)** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२६]
- **अधर्मारि** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम । [२४।४०]
- **अधिगुरु** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।७१]
- **अधिज्योति** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम (अधिकं लोकोत्तरं ज्योतिः प्रभा केवलज्ञानं वा यस्य सः) । [२४।३७]
- **अधिदेवता** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१९२]
- **अधिप** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१५७, २५।१८६]
- **अधिष्ठान** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२०३]
- **अध्यात्मगम्य** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१८८]
- **अध्वर** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।४१, २५।१६६]
- **अध्वर्यु** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६६]

- **अनक्ष** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम (न विद्यन्तेऽक्षाणि इन्द्रियाणि यस्य सोऽनक्षः, क्षायिकज्ञानयुक्तत्वेन भावेन्द्रियरहितत्वात्) । [२४।३३]
- **अनक्षर** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम (न विद्यते क्षरो विनाशो यस्मात् सोऽनक्षरः) । [२४।३३]
- **अनघ** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६८, २५।१७१, २५।१७२]
- **अनन्त** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम (द्रव्यार्थिकनयापेक्षया अन्तरहितः) । [२४।३४, २५।१०९, २५।१६०]
- **अनन्तग** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१८८]
- **अनन्तजित्** - चौदहवें अनन्तनाथ तीर्थंकर । [२।१३१]
- **अनन्तजिद्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम (अनन्तं संसारं जयतीति अनन्तजित्) । [२५।१०५]
- **अनन्तदीप्ति** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।११२]
- **अनन्तधामर्द्धि** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१८६]
- **अनन्तमति** - आनन्द पुरोहितकी माँ । [८।२१७]
- **अनन्तमति** - सन्मित्र वणिकका पिता । [१०।१५०]
- **अनन्तमती** - पुण्डरीकिणीके कुबेरदत्त वणिककी स्त्री । [११।१४]
- **अनन्तर्द्धि** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।५०]
- **अनन्तविजय** - भगवान् ऋषभदेवका पुत्र । [१६।२]
- **अनन्तवीर्य** - भगवान् ऋषभदेवका पुत्र । [६।३]
- **अनन्तशक्ति** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२१५]
- **अनन्तश्री** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१५०]
- **अनन्तौजस्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२०५]
- **अनन्यदृश्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१९४]
- **अनश्वर** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१०१]
- **अनादि** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम (न विद्यते आदिर्यस्य स अनादिः द्रव्यार्थिकनयापेक्षया) । [२४।३४]
- **अनादिनिधन** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।११४]
- **अनामय** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२१७]
- **अनास्रव** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४६]
- **अनित्वर** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम (नित्यत्वं यस्य सोऽनित्वरः) । [२४।३६]
- **अनिद्रालु** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२०८]
- **अनिन्द्रिय** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४८]
- **अनीदृश** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम । [२४।४३]
- **अनुत्तर** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१३३]
- **अनुन्धरा** - वज्रजंघकी बहन । [८।२२]
- **अन्तकृत्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।६८]

- **अपराजित** - चौदह पूर्वके ज्ञाता एक मुनि । [२।४१]
- **अपराजित** - वज्रसेन और श्रीकान्ताका पुत्र (नकुलका जीव) । [११।१०]
- **अपराजित सेनानी** - अकंपन सेनापतिके पिता । [८।२१६]
- **अपराजित** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम । [२४।४२]
- **अपारधी** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२१२]
- **अपारि** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम (अपगता अरयो यस्य स अपारि) । [२४।४२]
- **अपुनर्भव** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१००]
- **अप्रतर्क्यात्मन्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१९८]
- **अप्रतिघ** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२०१]
- **अप्रविष्ट** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२०३]
- **अप्रमेय** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।४२, २५।१०४]
- **अभव** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।११८, २५।२११]
- **अभिचन्द्र** - दसवाँ कुलकर । [३।१२८]
- **अभिनन्दन** - चतुर्थ तीर्थंकर श्री अभिनन्दननाथ । [१।१७]
- **अभिनन्दन** - एक मुनि । [७।४२]
- **अभिनन्दन** - एक विद्याधर । [७।५१]
- **अभिनन्दन** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६७]
- **अभीष्टद** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६८]
- **अभेद्य** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२१५]
- **अभ्यग्र** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२१७]
- **अभ्यर्च्य** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१९०]
- **अमल** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।११२]
- **अमित** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६९]
- **अमिततेजस्** - वज्रदन्त चक्रवर्तीका पुत्र । [८।३]
- **अमितशासन** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६९]
- **अमूर्त / अमूर्तात्मन्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१२८, २५।२०५]
- **अमृतमति** - अजितंजयका मन्त्री । [१०।४३]
- **अमृतात्मन्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२११]
- **अमेय** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१५७]
- **अमेयदि** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।५०]
- **अमेयात्मन्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१०५]
- **अमोघ** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२०१]
- **अमोघवाच्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१८४]
- **अमोघशासन** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१८४]

- **अमोघाङ्ग** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१८४]
- **अमोमुह** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम । [२४।४२]
- **अयोनिज** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम (योनौ न जायते इति अयोनिजः) । [२४।३४, २५।१०६]
- **अर** - अठारहवें तीर्थंकर श्री अरनाथ भगवान् । [२।१३२]
- **अरजस्** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम (कर्मरजोरहितत्वात् अरजा) । [२४।३०, २५।११२]
- **अरविन्द** - स्वयंबुद्धके मन्त्रीके भवमें आगत एक विद्याधर राजा महाउदका दूत । [५।८९]
- **अर्हत् (अरहत्)** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम (न विद्यते रहः अन्तरायकर्म यस्य सोऽर्हा) । [२४।३८, २४।४०, २५।११२]
- **अरिंजय** - एक मुनिराज । [५।१९४, ७।३०]
- **अरिंजय** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६७]
- **अरिहन्** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम । [२४।४०]
- **अरुण** - सूर्यका सारथि (प्रातःकाल सूर्योदयके पूर्व फैलनेवाली लाली) । [१५।१०९]
- **अरुण** - लौकान्तिक देवोंका एक भेद । [१७।४८]
- **अलेप** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१८८]
- **अविज्ञेय** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१८०]
- **अव्यक्त** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४७]
- **अव्यय** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१०९]
- **अव्याबाध** - लौकान्तिक देवोंका एक भेद । [१७।४८]
- **अशोक** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६३]
- **असंग** / **असंगात्मन्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१२४, २५।१९६]
- **असंख्येय** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६३]
- **असंस्पृष्णु** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।११०]
- **असंस्कृत** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२२।२३१, २५।१६८]
- **अहमिन्द्रादर्च्य** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१७७]
- **अरिष्ट** - लौकान्तिक देवोंका एक भेद । [१७।४८]
- **आज्य** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम । [२४।४२]
- **आत्मज्ञ** / **आत्मन्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६२, २५।१६५]
- **आत्मभू** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम (आत्मना भवतीति आत्मभूः स्वयंबुद्धत्वेन) । [२४।३३, २५।१००]
- **आदित्य** - लौकान्तिक देवोंका एक भेद । [१७।४८]
- **आदित्यगति** - एक मुनिराज । [५।१९५]
- **आदित्यवर्ण** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१९७]
- **आदिदेव** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।३०, २५।१९२]

- **आदिपुरुष** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम (आदौ भवः आदिपुरुषः कर्मभूमेः प्रथमव्यवस्थापकत्वात्) । [२४।३१]
- **आदिम** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम । [२४।३७]
- **आनन्द** - आनन्द पुरोहित । [८।२१६]
- **आनन्द** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६७]
- **आप्त** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२०९]
- **आर्जवा** - अकंपन सेनापतिकी माता । [८।२१६]
- **अकंपन** - वज्रजंघका सेनापति । [८।२१६]
- **अकंपन** - नाथवंशका नायक, वाराणसीका राजा जिसे भगवान् आदिनाथने स्थापित किया था । [१६।२६०]
- **अक्षयपद** / **अक्षय्य** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम (क्षेतृशक्त्योः क्षय्यं अविनश्यतीत्यर्थः) । [२४।३५, २५।७३]
- **अक्षर** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम (न क्षरतीति अक्षरो नित्यः) । [२४।३५, २५।१०१]
- **अक्षोभ्य** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।११४]
- **अखिलज्योतिस्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२०९]
- **अगण्य** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।३७]
- **अग्राह्य** / **अग्राद्य** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४९, २५।१७३]
- **अगोचर** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१८७]
- **अग्रज** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।५०]

इ / ई / उ / ऋ / ए / क

- **इक्ष्वाकु** - भगवान् आदिनाथका नाम । [१६।२६४]
- **इज्या** / **इज्यार्ह** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।३२, २५।७४]
- **इत्थ** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१३५]
- **इन** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम । [२४।३४]
- **इन्द्रभूति (गौतम)** - भगवान् महावीरके प्रमुख गणधर, इनका दूसरा नाम गौतम है । [२।५४]
- **ईश** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम (ईश्वरत्वेन सम्पन्नः) । [२४।३४]
- **ईशान** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।३०, २५।११२]
- **ईशित** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१८२]
- **उग्रसेन (शार्दूलका जीव)** - हस्तिनापुरके सागरदत्त और धनवतीका पुत्र । [८।२२३]
- **उत्तम** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।४३, २५।१७१]

- **उत्सन्नदोष** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२११]
- **उदारधी** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१७९]
- **उद्भव** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४९]
- **उपमातीत** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१८७]
- **ऋजुध्वज** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१२७]
- **एक** / **एकविश्व** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४१, २५।१८७]
- **कंक** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१३३]
- **कच्छ** - भगवान् आदिनाथका साला । [१५।७०]
- **कमठजात** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम (मातृगर्भमन्तरेण कमठवत् सरिसंजातत्वात्) । [२४।२८]
- **कनकप्रभ** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१२६]
- **कनकप्रभा** - ललितांगदेवकी प्रधान देवी । [५।२४३]
- **कनकलता** - ललितांगदेवकी प्रधान देवी । [५।२४३]
- **कनकाभ** - एक देव (वज्रजंघके महामन्त्रीका जीव) । [८।२१३]
- **कनककाञ्चनसन्निभ** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१९९]
- **कर्तृ** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४९]
- **कर्मकार्मुकनिक्षेपिन्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१९]
- **कर्मठ** / **कर्मण्य** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१२६, २५।२०४]
- **कर्मबन्धच्छिद्** / **कर्महृत्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१८६, २५।२०६]
- **कर्मारातिनिशूम्भन** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१७०]
- **कलातीत** / **कलाधर** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१९४]
- **काललग्न** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।२०६]
- **कलिलघ्न** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१९४]
- **कल्पवृक्ष** / **कल्प** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१३३, २५।१८२]
- **कल्याण** / **कल्याणगुण** / **कल्याणलक्षण** / **कल्याणवर्ण** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१३३, २५।१९३, २५।१९४]
- **कवि** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४३]
- **काणभिक्षु** - एक पूर्ववर्ती आचार्य एवं ग्रन्थकार । [१।५१]
- **कान्त** / **कान्तगु** / **कान्तिमान्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६८, २५।१८६, २५।२०२]
- **कामग** - एक विमान । [२२।१५]
- **कामजित्** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम । [२४।४०]
- **कामद** / **कामधेनु** / **कामन** / **कामहन्** / **कामारि** / **कामितप्रद** / **कामी** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६५, २५।१६७, २५।१७१, २५।१८२]
- **कारण** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१८९]
- **काश्यप (मघवा)** - उग्रवंशका प्रमुख राजा । [१६।२६१]

- **काश्यप** - भगवान् आदिनाथ । [२४।२८]
- **काष्ठ** - ग्यारह अंग दस पूर्वके ज्ञाता एक मुनि । [२।४४]
- **कीर्ति** - षट्कुमारी देवियोंमें-से एक देवी । [१२।१६४]
- **कुन्थु** - सत्रहवें तीर्थंकर श्री कुन्थुनाथ भगवान् । [२।१३२]
- **कुबेर** - धान्यपुरका एक सेठ । [८।२३०]
- **कुबेरदत्त** - जम्बूद्वीप विदेहक्षेत्र पुण्डरीकिणी नगरीका एक सेठ । [११।१४]
- **कुरुविन्द** - अरविन्द विद्याधरका पुत्र । [५।९१]
- **कुरुधर** - भगवान् आदिनाथका नाम । [१६।२६४]
- **कूटस्थ** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।११४]
- **कृतकृत्य** / **कृतक्रतु** / **कृतक्रिय** / **कृतज्ञ** / **कृतलक्षण** / **कृतार्थ** / **कृतिन्** / **कृत्स्नविद्** / **कृपालु** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१३०, २५।१३४, २५।१४३, २५।१८०, २५।१८६, २५।२१५]
- **कृतपूर्वाङ्गविस्तर** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।७५]
- **कृतान्तकृत् (यमान्तक)** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम (कृतान्तं यमं करोतीति कृतान्तः) । [२४।२९, २५।१२९]
- **केशव** - सुविधि और मनोरमाका पुत्र (श्रीमतीका जीव स्वयंप्रभ देवपर्यायसे च्यूत होकर केशव हुआ) । [१०। ४५]
- **केवल** - ग्यारह अंग दस पूर्वके ज्ञाता एक मुनि । [२।४३]

क्ष / ग / घ / च / छ / ज

- **क्षम** / **क्षमिन्** / **क्षान्त** / **क्षान्तिपरायण** / **क्षान्तिभाज्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१२६, २५।१६१, २५।१७३, २५।१८९, २५।२०१]
- **क्षेत्रज्ञ** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१२१]
- **क्षेमकृत्** / **क्षेमधपति** / **क्षेमशासन** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६५, २५।१७३]
- **क्षेमंकर** - प्रथम कुलकर । [३।४०]
- **क्षेमन्धर** - चौथा कुलकर । [३।४२]
- **गंगदेव** - ग्यारह अंग दस पूर्वके ज्ञाता एक मुनि । [२।४४]
- **गणज्येष्ठ** / **गणाग्रणी** / **गणाधिप** / **गण्य** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।४२, २५। १३५]
- **गतस्पृह** / **गति** / **गम्भीरशासन** / **गम्यात्मन्** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४६, २५।१८२, २५।१८६, २५।१८८]

- **गर्दतोय** - लौकान्तिक देवका एक भेद । [१७।४८]
- **गरिमास्पद** / **गरिष्ठ** / **गरिष्ठगीः** / **गरीयसां साद्** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।४३, २५।२२, २५।७६]
- **गहन** / **गिरांपति** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४१, २५।१७९]
- **गुण** / **गुणज्ञ** / **गुणनायक** / **गुणाकर** / **गुणादरिन्** / **गुणाम्भोधि** / **गुणोच्छेदिन्** / **गुण्य** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।३२, २५।१३५, २५।१३६, २५।१३७]
- **गुणधर** - यशोधर मुनिका शिष्य एक मुनि । [८।४]
- **गुप्तिसद्** / **गुरु** / **गुहा** / **गूढगोचर** / **गूढात्मन्** / **गोप्तृ** / **गोप्य** / **ग्रामणी** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।११५, २५।१३६, २५।१४९, २५।१६७, २५।१७८, २५।१९६]
- **गोवर्धन** - चौदह पूर्वके ज्ञाता एक मुनि । [२।४१]
- **गोपति** - भगवान् आदिनाथ । [१३।२६५]
- **गौतम (इन्द्रभूति)** - भगवान् महावीरके प्रमुख गणधर (सर्वज्ञवाणीं गोतमां वेत्तीति गौतमः) । [२।५२-५३]
- **चक्षुष्मान्** - आठवाँ कुलकर । [३।१२०]
- **चतुर** / **चतुरन्तक** / **चतुरानन** / **चतुरास्य** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।७४, २५।१७४, २५।२०८, २५।२१६]
- **चन्द्रकीर्ति** - वज्रदन्तका पूर्वभव । [७।४८]
- **चन्द्रप्रभ** - अष्टम तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ भगवान् । [२।१२९]
- **चन्द्रमती** - राजा रतिषेणकी स्त्री । [१०।५१]
- **चन्द्राम** - ग्यारहवाँ कुलकर । [३।१३४]
- **चन्द्रसेन** - एक मुनि । [७।१०]
- **चन्द्रोदय (कुमुदचन्द्रोदय)** - एक व्रतका नाम । [७।५३]
- **चराचरगुरु** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१९६]
- **चित्रमालिनी** - प्रभंजन राजाकी स्त्री । [१०।५२]
- **चित्रांगद** - शार्दूलका जीव जो चित्रांगद नामका देव हुआ । [८।२२३]
- **चिन्तामणि** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६८]
- **छन्दःकर्ता** / **छन्दोविद्** - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम । [२४।३९]
- **जगच्चूड़ामणि** / **जगज्ज्येष्ठ** / **जगज्ज्योतिष्** / **जगत्पति** / **जगत्पाल** / **जगद्गर्भ** / **जगद्बन्धु** / **जगद्भर्तृ** / **जगद्धातृ** / **जगद्धित** / **जगद्धिलेपिन्** / **जगद्धितु** / **जगद्योनि** / **जगन्नाथ** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१०३, २५।१०४, २५।१०८, २५।११४, २५।११८, २५।१३४, २५।१४७, २५।१८१, २५।१९५, २५।२०६, २५।२०७, २५।२१७]
- **जगन्नन्दन** - एक मुनिराज । [७।३९]
- **जटाचार्य (जटासिंहनन्दी)** - वरांगचरितके कर्ता आचार्य । [१।५०]
- **जम्बू (जम्बूस्वामी)** - सुधर्मस्वामीके बाद होनेवाले अन्तिम अनुबद्ध केवली । [१।९९, २।१३८]
- **जय** - दस पूर्वके ज्ञाता एक मुनि । [२।४३]

- **जयन्त** - वज्रसेन और श्रीकान्ताका पुत्र (वानरका जीव) । [११।१७]
- **जयपाल** - ग्यारह अंगके ज्ञाता एक मुनि । [२।४६]
- **जयवर्मा** - सिंहपुरके राजा श्रीषेण और सुन्दरी रानीका ज्येष्ठ पुत्र । [५।२०५]
- **जयवर्मा** - गन्धिलादेश अयोध्या नगरीका राजा । [७।४१]
- **जयसेन** - रत्नसंचय नगरके राजा महीधर और श्रीमती रानीका पुत्र । [१०।१६]
- **जयसेन** - महासेन और वसुन्धराका पुत्र । [७।८६]
- **जयसेन** - नागदत्त और सुमतिका पुत्र । [६।१२८]
- **जयसेना** - धातकीखण्ड विदेह पुष्कलावती देश पुण्डरीकिणी नगरीके राजा धनंजयकी रानी । [७।४२]
- **जरत्** / **जलज** / **जातरूप** / **जातरूपाभ** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१४६, २५।२००, २५।२०७, २५।२११]
- **जितकामारि** / **जितक्रोध** / **जितक्लेश** / **जितदोष** / **जितमन्मथ** / **जिताक्ष** / **जितान्तक** / **जितामित्र** / **जितेन्द्रिय** / **जित्वर** / **जिन** / **जिनकुञ्जर** / **जिनेन्द्र** / **जिनेश्वर** / **जिष्णु** / **जेतु** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।३६, २४।४०, २५।१०४, २५।१०६, २५।१६६, २५।१६९, २५।१७०, २५।२०८, २५।२१६]
- **जिनसेन** - महापुराण (आदिपुराण) के कर्ता आचार्य । [२।५३]

ज्ञ / त / द / ध / न

- **ज्ञानगर्भ** / **ज्ञानचक्षुष्** / **ज्ञानधर्मदमप्रभु** / **ज्ञाननिग्राह्य** / **ज्ञानसर्वज्ञ** / **ज्ञानस्वामिन्** / **ज्ञानाकर** / **ज्ञानाब्धि** / **ज्ञेय** / **ज्येष्ठ** / **ज्योतिमूर्ति** / **ज्योतिषांपति** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।४३, २५।११३, २५।१२२, २५।१३२, २५।१६४, २५।१७३, २५।१८१, २५।१९६, २५।२०४, २५।२०५]
- **ज्ञानभावना** - १ वाचना २ पृच्छना ३ अनुप्रेक्षा ४ आम्नाय/परिवर्तन और ५ धर्मोपदेश । [२।९६]
- **तनुनिर्मुक्त** / **तपनीयनिभ** / **तप्तजाम्बूनदद्युति** / **तप्तचामीकरच्छवि** / **तमोऽरि** / **तमोपह** / **तरण्ड** / **तरु** / **तर्क** / **तेजोमय** / **तेजोराशि** / **त्यागिन्** / **ऋतु** / **त्रिकालदर्शिन** / **त्रिकालविषयार्थदृश्** / **त्रिजगद्वल्लभ** / **त्रिजगत्पतिपूज्याङ्घ्रि** / **त्रिजगत्परमेश्वर** / **त्रिदशाध्यक्ष** / **त्रिनेत्र** / **त्रिपुरारि** / **त्रिलोकाग्रशिखामणि** / **त्रिविष्टपेश्वर** / **त्र्यक्ष** / **त्र्यम्बक** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।३०, २५।७६, २५।११०, २५।१२९, २५।१३०, २५।१४१, २५।१४२, २५।१८२, २५।१९०, २५।१९१, २५।१९८, २५।२००, २५।२०५, २५।२१५]
- **दक्ष** / **दक्षिण** / **दमतांपति** / **दमिन्** / **दमीश्वर** / **दर्भीश्वर** - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । [२५।१६४, २५।१६६, २५।१७४, २५।१७८, २५।१८९]
- **दण्ड** - महाबल विद्याधरके पूर्वभवका एक विद्याधर । [४।१२२]

- **दमधर** - एक मुनि । [८।६७]
- **दयागर्भ / दयाध्वज / दयानिधि / दयायाग / दवीयस् / दान्त / दान्तात्मन् / दिग्वासस् / दिव्य / दिव्यभाषापति / दिष्टि / दीप्त / दीप्तकल्याणात्मन् / दुन्दुभिध्वज / दूरदर्शन / दृढव्रत / देदीयस् / देव / देवेश / देवेन्द्र / देवेन्द्रवन्द्य / द्युतिमान् / द्युतिषेण / द्रविणेश / द्रष्ट्र / द्रुहिण** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।३२, २५।११, २५।८३, २५।८७, २५।१०६, २५।१११, २५।१६४, २५।१७०, २५।१७६, २५।१८१, २५।१८३, २५।१८९, २५।१९१, २५।१९४, २५।२०४, २५।२०६, २५।२१६]
- **दिवाकरप्रभ** - दूसरे स्वर्गका एक विमान । [८।२१०]
- **दुर्दान्त** - महापूत जिनालयमें चित्रपटके कल्पित मुनियोंमें एक । [६।११२]
- **दृढ** - एक मुनि । [९।१]
- **दृढवर्मा** - ललितांगदेवकी प्रभा देवीका अन्तर्परिषद् सभासद् देव । [६।५३]
- **देव (देवनन्दी / पूज्यपाद)** - जैनेन्द्रव्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र आदिके कर्ता आचार्य । [१।५२]
- **देविल** - पलालपर्वत ग्रामका एक पटेल / ग्रामकूट । [६।१३५]
- **देवी (मरुदेवी)** - भगवान् आदिनाथकी माता । [५।२०४]
- **धन (धनमित्र)** - एक श्रेष्ठि / सेठ । [८।२१८]
- **धनवती** - हस्तिनापुरके सागरदत्तकी स्त्री । [८।२२३]
- **धनश्री** - पलालपर्वत ग्रामके देविल पटेलकी सुमति स्त्रीसे उत्पन्न पुत्र । [६।१३५]
- **धर्म** - पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ भगवान् । [२।१३१]
- **धर्म / धर्मचक्रायुध / धर्मचक्रिन् / धर्मतीर्थकृत् / धर्मदेशक / धर्मध्वज / धर्मनायक / धर्मपति / धर्मपाल / धर्ममति / धर्मयूप / धर्मराज / धर्मसाम्राज्यनायक / धर्माचार्य / धर्मात्मन् / धर्मादि / धर्माध्यक्ष / धर्माराम / धर्म्य / धाता / धातु / धिषण / धीखट / धीमत् / धीर / धीवर / धीश / धीश्वर / धृतकल्याण / ध्यातमहाधर्म / ध्यानगम्य / ध्येय** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।३९, २४।४०, २५।१०२, २५।१०६, २५।१०८, २५।१०९, २५।१११, २५।११५, २५।१३०, २५।१३१, २५।१३२, २५।१३७, २५।१४१, २५।१४८, २५।१५९, २५।१६२, २५।१६४, २५।१७३, २५।१७४, २५।१७९, २५।१८२, २५।१८३, २५।२१२, २५।२१६, २५।२१७]
- **धर्मसेन** - ग्यारह अंग दस पूर्वके ज्ञाता एक मुनि । [२।१४४]
- **धृति** - षट्कुमारी देवियोंमें-से एक देवी । [१२।१६४]
- **धृतिषेण** - ग्यारह अंग दस पूर्वके ज्ञाता एक मुनि । [२।१४३]
- **ध्रुवसेन** - ग्यारह अंगके ज्ञाता एक मुनि । [२।१४६]
- **नक्षत्र / नन्द / नन्दन / नमि / नयोत्तुंग / नरकेसरी / नामैकतत्त्वदृश् / नाभिज / नाभिनन्दन / नाभेय / नित्य / नियमितेन्द्रिय / निरक्ष / निर्गुण / निर्ग्रन्थ / निरंजन / निर्द्वन्द्व / निर्धूतैनस् / निर्विवाद / निर्मद / निर्मल / निर्मोह / निरम्बर / निर्लेप / निर्विघ्न / निरस्तैनस् / निराबाध / निरालम्ब / निरास्रव / निराहार / निरुक्तवाच् / निरुक्तोक्ति / निरुत्तर / निरुत्सुक / निरुद्वेग / निरुपद्रव / निरुपप्लव / निश्चल / निष्कल / निष्कलंक / निष्कृष्टात्मन् / निष्क्रोध / निष्परिग्रह / निष्क्रिय / निःसपत्न / नीरजस्क / नीलोत्पल / नृप / नृपति / नैकधर्मकृत् / नैकरूप / नैकात्मन् / न्यायशास्त्रकृत्** - भगवान्के १०८ एवं

१००८ नामोंमें एक नाम । [२४।३६, २४।४४, २५।१०१, २५।१०२, २५।१०८, २५।१११, २५।११३, २५।११४, २५।११५, २५।१२८, २५।१३०, २५।१३६, २५।१३८, २५।१३९, २५।१४४, २५।१४६, २५।१४८, २५।१६४, २५।१६७, २५।१७०, २५।१७१, २५।१७३, २५।१८०, २५।१८४, २५।१८६, २५।१८७, २५।१९३, २५।२०३, २५।२०४, २५।२०९, २५।२११, २५।२१३]

- **नन्दिदत्त** / **नन्दिषेण** - नागदत्त और सुमतिका पुत्र । [६।१२९]
- **नन्दिषेण** - विदेहका एक राजा । [१०।५०]
- **नन्दिमित्र** - चौदह पूर्वके ज्ञाता एक मुनि । [२।४१]
- **नमि** - भगवान् आदिनाथके साले कच्छके पुत्र । [१४।९२]
- **नमि** - इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथ भगवान् । [२।१३३]
- **नागदत्त** - धान्यपुरके कुबेर वणिक और सुदत्ताका पुत्र । [८।२३१]
- **नागदत्त** - एक वणिक्-पुत्र । [६।१२८]
- **नागसेन** - ग्यारह अंग दस पूर्वके ज्ञाता एक मुनि । [२।४४]
- **नाभि** - चौदहवें कुलकर (भगवान् ऋषभदेवके पिता नाभिराज) । [१।९८, ३।१५२]
- **निर्मामा** - नागदत्त और सुमतिकी छोटी पुत्री (श्रीकान्ताका दूसरा नाम) । [६।१३०]
- **नेमि** - बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ भगवान् । [२।१३२]

प / फ / ब / भ

- **पद्म** / **पञ्चब्रह्ममय** / **पद्मराग** / **पद्मनाभि** / **पद्ममित्र** / **पद्मयोनि** / **पद्मसम्भूति** / **पद्मांग** / **पद्मेश** / **पर** / **परतत्त्व** / **परतर** / **परम** / **परमज्योतिष्** / **परमात्मन्** / **परमानन्द** / **परमेश्वर** / **परमेष्ठिन्** / **परमोदय** / **परापरज्ञ** / **पराध्य** / **परापर** / **परिदृढ** / **परंज्योतिष्** / **परब्रह्मन्** / **पवित्र** / **पात्र** / **पापापह** / **पापापेत** / **पारग** / **पावन** / **पितामह** / **पितृ** / **पुण्डरीकाक्ष** / **पुण्य** / **पुण्यकृत्** / **पुण्यगिर्** / **पुण्यधी** / **पुण्यनायक** / **पुण्यराशि** / **पुण्यवाच्** / **पुण्यशासन** / **पुण्यापुण्यनिरोधक** / **पुंस्** / **पुमान्** / **पुराण** / **पुराणपुरुष** / **पुराणपुरुषोत्तम** / **पुराणांश** / **पुरातन** / **पुरु** / **पुरुदेव** / **पुरुष** / **पुष्करेक्षण** / **पुष्कल** / **पुष्ट** / **पुष्टिद** / **पुष्पवन्त** / **पुष्पवृष्टि** / **पूजाह** / **पूतात्मन्** / **पूत** / **पूतशासन** / **पूर्व** / **पृथिवीमूर्ति** / **पृथु** / **पृथुक** / **प्रकाशात्मन्** / **प्रकृति** / **प्रक्षीणबन्ध** / **प्रजापति** / **प्रजाहित** / **प्रज्ञापारमित** / **प्रज्ञावत्** / **प्रणव** / **प्रणिधि** / **प्रणेतृ** / **प्रतार** / **प्रतिष्ठाप्रसव** / **प्रतिम** / **प्रत्यग्र** / **प्रत्यय** / **प्रथित** / **प्रथीयस्** / **प्रदीक्ष** / **प्रद्योत** / **प्रद्योतन** / **प्रभव** / **प्रभाकर** / **प्रभविष्णु** / **प्रभास्वर** / **प्रभु** / **प्रभूतविभव** / **प्रभूतात्मन्** / **प्रभूत** / **प्रभूष्णु** / **प्रमाण** / **प्रवक्ता** / **प्रशमाकर** / **प्रशमात्मन्** / **प्रशान्त** / **प्रशान्तमदन** / **प्रशान्तरजस्** / **प्रशान्तात्मन्** / **प्रशास्तारि** / **प्रशास्तृ** / **प्रष्ट** / **प्रसन्नात्मन्** / **प्राकृत** / **प्रागग्र** / **प्राग्रथ** / **प्रांशु** / **प्राण** / **प्राणनेश्वर** / **प्राणद** / **प्राप्तमहाकल्याणपंचक** / **प्राज्ञ** / **प्रेय** / **प्रोष्ठ** - भगवान्के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम ।

[२४।३०, २४।३१, २४।३२, २४।३५, २४।३७, २४।४०, २५।१०४, २५।१०५, २५।१०६, २५।१०७, २५।१०८, २५।१०९, २५।११०, २५।१११, २५।११२, २५।११३, २५।११५, २५।११६, २५।११७, २५।११८, २५।१२१, २५।१२२, २५।१२६, २५।१२८, २५।१३१, २५।१३२, २५।१३३, २५।१३४, २५।१३५, २५।१३६, २५।१३७, २५।१३८, २५।१३९, २५।१४०, २५।१४१, २५।१४२, २५।१४३, २५।१४४, २५।१४५, २५।१४९, २५।१५०, २५।१५५, २५।१५६, २५।१५७, २५।१६२, २५।१६३, २५।१६४, २५।१६५, २५।१६६, २५।१६७, २५।१६८, २५।१६९, २५।१७१, २५।१८०, २५।१८१, २५।१८२, २५।१८३, २५।१८४, २५।१८६, २५।१८८, २५।१८९, २५।१९०, २५।१९२, २५।१९६, २५।१९८, २५।२००, २५।२०१, २५।२०३, २५।२०६, २५।२०७, २५।२०८, २५।२१०, २५।२१५]

- **पण्डिता (पण्डितिका)** - श्रीमतीकी धात्री (धाय) । [२।१०२, २।११४]
- **पद्मप्रभ** - छठे तीर्थंकर श्री पद्मप्रभ भगवान् । [२।१२९]
- **पद्मावती** - एक आर्यिका । [७।३३१]
- **परमेश्वर** - वागर्थसंग्रह पुराणके कर्ता एक प्राचीन आचार्य । [१।५२]
- **पाण्डु** - ग्यारह अंगके ज्ञाता एक मुनि । [२।४६]
- **पात्रकेसरी** - एक प्रसिद्ध तार्किक पूर्ववर्ती आचार्य । [१।५३]
- **पार्श्व** - तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् । [२।१३२]
- **पिहितास्रव** - एक मुनिराज । [७।४५, ७।१३१, ८।२०२]
- **पुण्डरीक** - वज्रबाहुके पुत्र अमिततेजका पुत्र । [८।८]
- **पुरु (भगवान् ऋषभदेव)** - प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव । [३।२३९, १५।७१, १७।७२, २४।३०, २५।१४३]
- **पुरुहूत** - इन्द्र । [१४।१६३]
- **पुलक** - तीसरा कुलकर । [३।९०]
- **पुष्पचूल** - वि. उ. श्रे. की एक नगरी । [१९।७९]
- **प्रमंजन** - विदेहका एक राजा । [१०।५२]
- **प्रभाकर** - एक देव (सेनापतिके भवका जीव) । [८।२१६]
- **प्रभाकर** - एक प्राचीन आचार्य । [१।४६]
- **प्रभावती** - गन्धर्वनगरके राजा वासवकी रानी । [४।३०]
- **प्रसेनजित्** - तेरहवाँ कुलकर । [३।१४६]
- **प्रहर्षित** - वत्सकावती सुसोमानगरके अमृतमति और सत्यभामाका पुत्र । [७।६१]
- **प्रियदत्ता** - राजा विभीषणकी स्त्री । [२।७५]
- **प्रियदत्ता** - एक श्राविका । [२८।७९]
- **प्रियसेन** - धातकी विदेहक्षेत्र पुष्कलावती देश पुण्डरीकिणी नगरीका राजा । [९।१०८]
- **प्रीतिकर** - एक मुनि (स्वयंबुद्धका जीव) । [९।२]
- **प्रीतिकर** - स्वयंबुद्ध मन्त्रीका जीव जो मणिशूल देवसे आकर राजा प्रियसेन और सुन्दरीका पुत्र हुआ । [९।१०९]
- **प्रीतिदेव** - प्रियसेन और सुन्दरीका छोटा भाई जो तपस्वी मुनि हुआ । [९।१०९]

- **प्रीतिवर्धन** - एक राजा । [८।२०१]
- **बन्धमोक्षज्ञ / वह्निमूर्ति / बहुश्रुत / बालाग्रकाम / बुद्ध / बुद्धबोध्य / बुद्धिमान् / बृहद्बृहस्पति / बर्हिष्ठ / ब्रह्मतत्त्वज्ञ / ब्रह्मन् / महानिष्ट / ब्रह्मयोनि / ब्रह्मपदेश्वर / ब्रह्मविद् / ब्रह्मविदांध्येय / ब्रह्मसम्भव / ब्रह्मात्मन् / ब्रह्मेश / भर्तृ / भर्मान् / भद्र / भवतारक / भुवनैकपितामह / भूतनाथ / भूतभव्यभवत्कृत् / भूतभावन / भूतात्मन् / भूतात्मयुगभावक** - भगवान्‌के १०८ एवं १००८ नामोंमें एक नाम । [२४।३८, २४। ४०, २४।४५, २५।१०५, २५।१०६, २५।१०७, २५।१०८, २५।११६, २५।११७, २५।११८, २५।१२०, २५। १२६, २५।१२९, २५।१३१, २५।१३३, २५।१४२, २५।१४५, २५।१४९, २५।१५६, २५।१६०, २५।१७०, २५।१७४, २५।१७९, २५।१९७, २५।१९८, २५।२०१, २५।२१५]
- **बलाहक** - एक देवका नाम । [२।२२६]
- **वह्नि** - लौकान्तिक देवोंका एक भेद । [१७।४८]
- **बाहुबली** - भगवान् आदिनाथके सुनन्दासे उत्पन्न द्वितीय पुत्र, प्रथम कामदेव व कामबली । [३।४, १६।५०]
- **बुद्धि** - षट्कुमारी देवियोंमें-से एक देवी । [१२।१६४]
- **भरत** - प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र, प्रथम चक्रवर्ती । [१।५८, १५।५८]

आदिपुराण (Adi Purana) - परिशिष्ट

व्यक्तिवाचक शब्दसूची (Proper Noun Index)

भव्य — भगवान् आदिनाथके १०८ नामोंमें एक नाम, भवतीति भव्यः २४।३३

भट्टाकलंक — राजवार्तिक आदिके कर्ता १।५३

भदन्त — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१३

भद्रकृत — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११३

भद्रा — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११३

भव — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११७

भवोद्भव — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम, भवात् संसाराद् उद्गतो दूरीभूतो भव उत्पत्तियस्य सः २५।१०९

भास्वत् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११७

भिषग्वर — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४२

मणिकुण्डली — एक देव जो कि वराहका जीव है ९।९०

मणिचूल — सौधर्मस्वर्गके स्वयंप्रभ विमानका एक देव, स्वयंबुद्ध मन्त्रीका जीव ५।२८४

मणिमाली — दण्ड विद्याधरका पुत्र ५।११८

मतिवर — वज्रकण्ठका महामन्त्री ८।२१६

मतिसागर — मतिवर मन्त्रीका पिता ८।२१५

मतिसागर — एक मुनि ७।६६

मदनहस्ता — नागदत्त और सुमतिकी पुत्री ६।१३०

मध्यम — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।४२

मनीषिन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७९

मनु — कुलकर ३।८०

मनु — भगवान् आदिनाथका नाम १६।१९४, १५।७०

मनु — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७१

मनोगति — मन्दरमाली और यशोमतीका पुत्र ८।९३

महासत्त्व — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५३

महासत्त्वाब्धिसंतारिन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६१

महासाग — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५३

महास्थानपति — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६०

महानन्द — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५३

महानाद — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५४

महानीति — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५३

महापराक्रम — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६०

महापीठ — वज्रसेन तीर्थंकरका गणधर (धनमित्र सेठका जीव) ११।१३

महाप्रभ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२८

महाप्रभु — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५५

महाप्राज्ञ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५३

महाप्रातिहार्यधीश — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५५

महाबल — अलकाके राजा अतिबल और रानी मनोहराका पुत्र ४।१३२

महाबल — धातकीखण्ड विदेहक्षेत्र पुष्कलावती देश पुण्डरीकिणी नगरीके राजा वज्रदन्त और जयसेना रानीका पुत्र (रामपदका धारक) ७।५१

महासेन — धातकीखण्ड पूर्व विदेह वत्सकावती देश प्रभाकरी नगरीका राजा ७।८६

महितोदर्क — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५५

महिष्ठ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम, अतिशयेन महान् महिष्ठः २४।४२

महीधर — गन्धर्वनगरके राजा मन्दरमाली और रानी प्रभावतीका पुत्र ८।९४

महीधर — रत्नसञ्चयनगरका राजा १०।१५

महीयस् — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, अतिशयेन महान् महीयान् २४।४२

महौषधि — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम २४।४४

महेज्य — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५८

महेन्द्र — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४८

महेन्द्रसदिति — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४८

महेन्द्रबन्धु — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४९

महेन्द्र — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५४

महेश्वर — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३०

महेश्वर — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५५

महीदेव — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५१

महोदय — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५३

महोदर्क — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५१

महोपाय — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५७

महोमय — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५७

महौदार्य — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५९

महौषध — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम २४।४४

महौषधि — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४२

मारजिद् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१०

मुक्त — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७४

मुनि — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६४

मुनीन्द्र — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम, मुनीनामिन्द्रः २५।१०२

मुनीश — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७०

मुनेय — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८३

मूर्तिमत् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४४

मूलकर्तृ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०६

मूलकारण — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०६

मृत्युंजय — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१०

मोहारिविजयिन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०६

मोहासुरारि — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम, महामोहः सुरारिरिव तस्य रिपुः २४।३६

मौहूर्तिक — ज्योतिषी २४।३६

यजमानाङ्ग — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२७

यज्वपति — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२७

यज्वन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२६

यति — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३७

यति — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७०

यतीश्वर — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७०

यतोऽम्बर — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०७

यमधर — एक मुनिराज १०।१६

यमधर — एक चारणमुनि ८।४७

यशस्वती — धातकीखण्ड विदेह पुष्कलावती देश पुण्डरीकिणीनगरीके राजा वज्रदन्तकी रानी ७।४८

यशस्वती — भगवान् आदिनाथकी बड़ी रानी १५।७५

यशस्वन् — नौवें कुलकर ३।१२४

यशोभद्र — भगवान् ऋषभदेवके पुत्र मुनिराज ५।४८६

यशोधर — एक मुनि ८।८४

यशोमति — एक प्राचीन आचार्य १।५६

यशोमज — प्रथम अंगके ज्ञाता एक मुनि २।४६

याज्य — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२७

युगज्येष्ठ — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९३

युगन्धर — विदेहक्षेत्रके एक तीर्थंकर ५।९४

युगन्धर — एक मुनिराज ७।२

युगन्धर — पुष्करार्धके पूर्व विदेहके मंगलावती देशसम्बन्धी रत्नसञ्चयनगरके राजा अजितंजय और रानी सुमतिका पुत्र (तीर्थंकर) ७।३१

युगमुख्य — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९३

युगादि — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४७

युगादिकृत् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४७

युगादिपुरुष — भगवान् ऋषभदेव ३।८

युगादिपुरुष — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०५

युगादिस्थितिदेशक — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९३

युगाधार — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २२।१४७

योगविद् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२५

योगविद् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४६

योगविदांवर — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम, योगके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ २४।३७

योगात्मन् — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३७

योगात्मन् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६४

योगिन् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०७

योगिन् — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३७

योगिवन्दित — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८८

योगीश्वर — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७०

रत्नगर्भ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०७

रत्नगर्भ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८१

रतिषेण — विदेहका एक राजा १०।५१

राजर्षि — राजा श्रेणिक राजगृहका राजा २।४१

लक्षण्य — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २०।१८४

लक्ष्मी — षट्कुमारी देवियोंमें-से एक देवी १२।१६४

लक्ष्मीपति — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०७

लक्ष्मीमति — पुण्डरीकिणी नगरीके राजा वज्रदन्तकी स्त्री ७।५१

लक्ष्मीमती — हस्तिनापुरके राजा सोमप्रभकी स्त्री २०।१००

लक्ष्मीवत् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८२

ललिताङ्‍ग — एक देव, श्रीवर्माकी मनोहराका जीव ५।२५

ललिताङ्‍ग — एक देव, महाबलका जीव ५।२४

लोकचक्षुस् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१२

लोकज्ञ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९५

लोकधातु — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९१

लोकपाल — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१२

लोकवत्सल — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२११

लोकाध्यक्ष — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७४

लोकालोकप्रकाशक — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०६

लोकेश्वर — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९१

लोकेश्वर — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१२

लोलुप — सुप्रतिष्ठितनगरका हलवाई ८।१६

लोडार्य — प्रथम अंगके ज्ञाता एक मुनि २।४९

वचसामीशः — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१०

वज्रजङ्घ — विदेहक्षेत्र पुष्कलावतीदेश उत्पलखेटनगरके राजा वज्रबाहु और रानी वसुन्धराका पुत्र (ललिताङ्गका जीव) ६।२६

वज्रजङ्घ — सुदर्शन देशका राजा जो कि भोगभूमिमें आर्य हुआ था ९।८५

वज्रदन्त — विदेह क्षेत्र पुण्डरीकिणीनगरीका राजा ६।५८

वज्रदन्त — वज्रनाभिका पुत्र ११।६१

वज्रनाभि — पुण्डरीकिणीके राजा वज्रसेन और रानी श्रीकान्ताका पुत्र ११९

वज्रबाहु — विदेहक्षेत्र पुष्कलावतीदेश उत्पलखेट नगरका राजा ६।२८

वज्रसेन — जम्बूद्वीप पूर्व विदेह क्षेत्र पुण्डरीकिणी नगरीका राजा ११९

वदतांवर — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४८

वदतांवर — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४६

वन्द्य — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६७

वर्तना — द्रव्योंकी पर्यायोंके बदलनेमें सहायक कालद्रव्यकी एक परिणति ३।४२

वरद — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४२

वरदत्त — राजा विभीषण और रानी प्रियदत्ताका पुत्र, यह शार्दूलका जीव है १०।४९

वर्धमान — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४५

वरप्रद — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २०।२०९

वरप्रद — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४२

वरवीर — भगवान् आदिनाथका पुत्र १६।३

वर्षीयस् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४३

वरसेन — नागदत्त और सुमतिका पुत्र ६।१२९

वरसेन — नन्दिषेण और अनन्तमतीका पुत्र, यह शूकरका जीव है १०।५०

वराह — वराहका जीव जो कि भोगभूमिमें आर्य हुआ था ९।९०

वरिष्ठधी — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२३

वरेण्य — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३७

वरेण्य — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३६

वशिन् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६०

वश्येन्द्रिय — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६०

वसन्तसेना — विजयपुरके राजा महानन्दकी स्त्री ८।६७

वसुन्धरा — विदेहक्षेत्र पुष्कलावतीदेश उत्पलखेटनगरके राजा वज्रबाहुकी स्त्री (वज्रजङ्घकी माता) ६।२८

वसुन्धरा — धातकी खण्ड पश्चार्ध पूर्वविदेहसम्बन्धी वत्सकावतीदेशकी प्रभाकरीनगरीके राजा महासेनकी स्त्री ७।८६

वस्त्रराज — सर्वप्रकारके वस्त्र देनेवाला एक कल्पवृक्ष ३।५२

वागीश्वर — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७९

वाग्मिन् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७९

वाचस्पति — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३९

वाचस्पति — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७९

वातरशन — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०४

वादिसिंह — एक पूर्ववर्ती आचार्य १।५४

वानरार्य — वानरका जीव जो कि वानरके बाद भोगभूमिमें आर्य हुआ ९।९१

वायुमूर्ति — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२६

वासव — विजयार्धके गन्धर्वनगरके राजा एक विद्याधर ७।२९

वासव — महापूतजिनालयमें पण्डिता धायके द्वारा प्रसारित चित्रपटके कल्पित ज्ञाता पुरोहित ७।१२

वासुपूज्य — बारहवें तीर्थंकर २।१३०

विकल्प — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९४

विकल्मष — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९४

विकसित — वत्सकावती सुसीमानगरका एक विद्वान् (प्रहसितका मित्र) ७।६१

विक्रमिन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७२

विघ्नविनायक — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२११

विजय — ग्यारह अंग दस पूर्वका ज्ञाता एक मुनि २।४४

विजय — वज्रसेन और श्रीकान्ताका पुत्र (शार्दूलका जीव) ११।१२

विजया — भगवान् आदिनाथकी माताकी धाय १२।१२२

विजया — भगवान् आदिनाथकी रानी १५।७१

विजितान्तक — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१०

विजिष्णु — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, विशेषेण जेतुं शीलो विजिष्णुः २४।३५

विदांबर — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४६

विद्यानिधि — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४१

विद्युल्लता — ललिताङ्ग देवकी प्रधान देवी ५।२८३

विद्वस् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४१

विधाता — भगवान् आदिनाथका नाम १६।२६७

विधातृ — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, कर्मभूमेर्व्यवस्थाविधानात् विधाता २४।३०

विधातृ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२५

विधि — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०२

विनमि — भगवान् आदिनाथके साले महाकच्छका पुत्र १८।९२

विनयन्धर — एक मुनिराज ७।३४

विविक्त — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२४

विवेक — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४६

विशाल — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४०

विशिष्ट — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २४।७२

विशोक — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११८

विश्रुत — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२०

विश्वकर्मन् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०३

विश्वकर्मा — भगवान् आदिनाथका नाम १६।२६७

विश्वजित् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२३

विश्वज्योतिष — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०३

विश्वतःपाद् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२०

विश्वतश्चक्षुस् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०१

विश्वतोऽक्षमयज्योति — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम, विश्वतः समन्ताद् अक्षमयम् आत्मज्योतिर्यस्य सः २४।३२

विश्वतोमुख — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम, विश्वतः समन्तान्मुखं यस्य स विश्वतोमुखः २४।३१

विश्वतोमुख्य — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०२

विश्वदृक् — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम, सर्वदृशित्वेन विश्वं पश्यतीति विश्वदृक् २४।३२

विश्वदृश्वन् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०४

विश्वनायक — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२३

विश्वभावविद् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१०

विश्वभुज् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२३

विश्वभुज् — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम, विश्वं भुङ्क्ते बोधतीति विश्वभुज् २४।३२

विश्वभू — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१००

विश्वभूतेश — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११०

विश्वसद् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२३

विश्वमूर्ति — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०३

विश्वयोनि — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, विश्वेषां भव्यजीवानां जननाद् विश्वयोनिः २४।३०

विश्वयोनि — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०१

विश्वरीश — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम, विश्वस्य जगत ईशः २५।१०४

विश्वरूपात्मन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२३

विश्वलोकेश — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०१

विश्वलोचन — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०२

विश्वविद् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०१

विश्वविद्यामहेश्वर — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१२

विश्वविद्येश — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०१

विश्वव्यापिन् — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, सर्वज्ञत्वेन विश्वं व्याप्नोतीति विश्वव्यापी २४।३२

विश्वव्यापिन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०२

विश्वशीर्ष — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२०

विश्वसृज् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२३

विश्वात्मन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०१

विश्वाराट् — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, विश्वस्मिन् राजत इति विश्वाराट् २४।३१

विश्वेश — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२३

विश्वेड् — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, विश्वेषां स्वाम्येन पूज्यत्वात् विश्वेड् २४।३१

विश्वेड् — संसारके स्वामी भगवान् आदिनाथ १।११

विश्वेश — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०२

वृषभ — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४३

वृषभध्वज — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम, वृषभो बलीवर्दश्चिह्नं ध्वजो यस्य सः २४।३३

वृषभसेन — भगवान् ऋषभदेवका ज्येष्ठ पुत्र, जो कि पीछे चलकर उन्हींके गणधर हुए १६।७५, १८।६२

वृषबाहु — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११६

वृषभाधीश — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११६

वृषायुध — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११६

वृषोद्धत — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११६

वेदविद् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४६

वेदविद् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४६

वेदवेद्य — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४६

वेदाङ्ग — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४६

वेद्य — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४६

वेधस् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०२

वैकृतान्तकृत् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६८

वैजयन्त — वज्रसेन और श्रीकान्ताका पुत्र (वराहका जीव) ११।१०

व्यक्तवाच् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४६

व्यक्तशासन — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम २५।१४७

व्योममूर्ति — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२८

शक्त — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११३

शंकर — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम, शं करोतीति शंकरः २४।३६

शंकर — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८९

शतबल — सहस्रबलका पुत्र ५।४७

शतमख — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०१

शतानन्द — राजा महाबलका मन्त्री ४।१९१

शत्रुघ्न — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०१

शत्रुंजय — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१००

शम्भव — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम, शं सुष्ठु भवति यस्मात् स शम्भवः २५।१००

शम्भु — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१००

शम्भु — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, शं सुखं भवत्यस्माद् यस्मात् शम्भुः २४।३६

शमात्मन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६३

शमिन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६१

शरण्य — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, शरणे साधुः शरण्यः २४।३७

शरण्य — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४६

शर्व — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०६

शशधर — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८९

शंवद — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, शं सुखं वदतीति शंवदः २४।३६

शंयु — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, शं सुखं विद्यते यस्य सः शंयुः २४।३६

शान्त — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।४४

शान्त — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३८

शान्तारि — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४६

शान्ति — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०२

शान्ति — सोलहवें तीर्थंकर २।१३१

शान्तिकृत् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०२

शान्तिद — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०१

शान्तिनिष्ठ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०२

शान्तिभाज् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३८

शार्दूलार्य — शार्दूलका जीव जो भोगभूमिमें आर्य हुआ था ९।९०

शाश्वत — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०२

शासितृ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०१

शास्तृ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११५

शातकुम्भनिभप्रभ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९९

शिव — भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।४४

शिव — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०५

शिव — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०५

शिवकोटि — मूलाराधनाके कर्ता शिवार्य १।५१

शिवताति — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१४

शिवप्रद — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०२

शिष्ट — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७२

शिष्टभुज् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७२

शिष्टेश — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०१

शीतल — दसवाँ तीर्थंकर २।१३०

शीलसागर — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०५

शुचि — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११२

शुचिभव — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२०

शुद्ध — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०८

शुद्ध — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१२

शुभलक्षण — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४४

शुभंयु — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१७

शूर — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६०

शैमूषीश — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७९

श्रायसोक्ति — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०९

श्री — षट्कुमारी देवियोंमें एक देवी जो कि हिमवत्कुलाचलके सरोवरमें रहती है १२।१६४

श्री — नागदत्त और सुमतिकी पुत्री ६।१२९

श्रीकान्ता — पुण्डरीकिणी नगरीके राजा वज्रसेनकी स्त्री १।१९

श्रीद — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६०

श्रीदत्त — एक प्राचीन कवि १।४५

श्रीधर — एक देव जो कि वज्रजङ्घका जीव, भोगभूमिके बाद ऐशानस्वर्गके श्रीप्रभविमानमें उत्पन्न हुआ था ९।९५

श्रीधर — विदेहक्षेत्र मंगलावती देश रत्नसञ्चयनगरका राजा ७।५

श्रीनिवास — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६०

श्रीपति — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२११

श्रीपाल — एक पूर्ववर्ती आचार्य १।५३

श्रीमती — मतिवर मन्त्रीकी माता ८।२१५

श्रीमती — पुण्डरीकिणीनगरीके राजा वज्रदन्त और रानी लक्ष्मीमतीकी पुत्री (ललिताङ्गकी स्त्री स्वयंप्रभाका जीव) ६।६०

श्रीमान् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१००

श्रीवर्मा — श्रीधर और मनोहराका पुत्र ७।१५

श्रीवर्मा — सिंहपुरके राजा श्रीषेण और सुन्दरीका छोटा पुत्र ५।२०५

श्रीवीरसेन — जिनसेनके गुरु, षट्खण्डागमके टीकाकार १।५५

समाधिगुप्त — एक मुनिराज ६।१२८

समाधिगुप्त — एक मुनि ७।८३

समाहित — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।८४

समुन्मूलितकर्मारि — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८६

संभिन्नमति — राजा महाबलका मन्त्री ४।१९१

संभोग — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८६

सर्वक्लेशापह — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६३

सर्वग — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९५

सर्वज्ञ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९

सर्वदृग् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९

सर्वदेशिन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९

सर्वदिक् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९

सर्वदोषहर — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६३

सर्वयोगीश्वर — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६४

सर्वलोकजित् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९

सर्वलोकातिग — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९१

सर्वलोकेश — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९

सर्वलोकैकसारथि — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९१

सर्ववित् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९

सर्वात्मन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९

सर्वादि — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९

सर्वात्मक — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२६

सिद्धार्थ — ग्यारह अंग दस पूर्वके ज्ञाता एक मुनि २।४४

सिद्धार्थ — हस्तिनापुरके राजा सोमप्रभका द्वारपाल २०।६९

सिद्धार्थ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।८४

सुदृढ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।८३

सीता — विदेहक्षेत्रकी एक नदी २।१०४

सीमन्धर — विदेहक्षेत्रके तीर्थंकर ७।८८

सीमंकर — पाँचवें कुलकर ३।१०७

सीमंधर — छठा कुलकर ३।११२

सुकृतिन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७४

सुखद — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७८

सुखशान्त — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१७

सुगत — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१०

सुगति — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२०

सुगुप्त — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७८

सुगुप्तात्मन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४०

सुघोष — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७८

सुतनु — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१०

सुत्राप्रपूजित — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२७

सुधन — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२७

सुदत्ता — धान्यपुरके कुबेरवणिजकी स्त्री ८।२३१

सुदर्शन — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८१

सुदर्शना — एक आर्यिका ७।४८

सुदृष्टि — सुसीमानगरका राजा १०।२२

सुधर्म — पूर्व गणधर १।१९९

सुधर्म — गौतमके बाद प्रथम गणधर २।३७

सुधी — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९५

सुधर्मा — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७१

सुधौतकल्धौतश्री — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२००

सुनन्दा — भगवान् आदिनाथकी स्त्री १५।७०

सुनय — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७४

सुनयतत्त्ववित् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७४

सुन्दरनन्दा — सुसीमानगरके राजा सुदृष्टिकी स्त्री १०।२२

सुन्दरी — सिंहपुरके राजा श्रीषेणकी स्त्री ५।२०४

सुन्दरी — गन्धर्वनगरके राजा मन्दरमालीकी स्त्री ८।९२

सुन्दरी — सिंहपुरके राजा श्रीषेणकी स्त्री ८।८१

सुन्दरी — राजा प्रियसेनकी स्त्री ९।७९

सुन्दरी — रत्नसञ्चयनगरके राजा महीधरकी स्त्री १०।१५

सुन्दरी — भगवान् आदिनाथकी सुनन्दा स्त्रीसे उत्पन्न पुत्री १६।३

सुपार्श्व — सप्तम तीर्थंकर २।१२९

सुप्रभ — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९७

सुप्रभा — अयोध्याके राजा जयवर्माकी रानी ९।१४

सुप्रसन्न — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३२

सुबाहु — वज्रबाहु और श्रीकान्ताका पुत्र (मतिवर मन्त्रीका जीव) ११।१२

सुभग — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८७

सुभद्र — प्रथम अंगके ज्ञाता एक मुनि २।४९

सुभूत (सुभृत) — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम (सुष्ठु भृतवान्) २५।१४०

सुमति — पंचम तीर्थंकर २।१२९

सुमति — पाटनग्रामके नागदत्त वणिक्पुत्रकी स्त्री ६।१२८

सुमति — पलाशपर्वत ग्रामके देविल नामक पटेलकी स्त्री ६।१४५

सुमुख — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७८

सुमेधर — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७२

सुवचन — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२७

सुरूप — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८४

सुवर्णवर्ण — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९७

सुवाच् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२०

सुविधि — सुसीमानगरके राजा सुदृष्टि और रानी सुन्दरनन्दाका पुत्र (अमिततेज श्रीधर देवका जीव) १०।२२

सुविधि — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२५

सुव्रत — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७५

सुभ्रा — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२०

सुभृत — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४०

सुषमादु:षमा — अवसर्पिणीका तीसरा काल ३।१६

सुसंहत — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४०

सुसाधु — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६८

सुसौम्यात्मन् — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२८

सुस्थित — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६४

सुस्थिर — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४८

स्थावर — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०३

स्थास्नु — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३४

स्थास्नु (स्थाणु) — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११४

स्थिर — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७६

स्थेष्ठ — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम, अतिशयेन स्थिरः २५।१२९

स्नातक — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११२

स्पष्ट — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४१

स्पर्शाक्षर — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०१

स्पृष्ट — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३३

स्वतन्त्र — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२९

स्वन्त — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम, सुष्ठु अन्तो यस्य सः २५।१२६

स्वभू — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०१

स्वामिन् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७२

स्वयंप्रभ — एक देव जो कि श्रीमतीका जीव भोगभूमिके बाद स्वयंप्रभ विमानमें देव हुआ ९।९६

स्वयंप्रभा — ललिताङ्गदेवकी प्रधान देवी ५।२८३

स्वयंबुद्ध — राजा महाबलका मन्त्री ४।१९१

स्वयंबुद्ध — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११३

स्वयंभू — भगवान् महावीर २।१

स्वयंज्योति — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०६

स्वयंप्रभ — एक मुनि ५।२०८

स्वयंप्रभजिन — विदेहके तीर्थंकर ३।८०

स्वयंप्रभ — एक देव जो कि वज्रजङ्घकी स्त्री श्रीमतीका जीव था १०।४५

स्वयंप्रभ — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम, स्वयं प्रभा यस्य स स्वयंप्रभः २४।३५

स्वयंप्रभ — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१००

स्वयंप्रभ — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२८

स्वयंप्रभा — ललिताङ्ग देवकी ३-९ पल्यकी आयु बाकी रहनेपर उत्पन्न होनेवाली एक देवी ५।२८६

स्वयंप्रभा — ललिताङ्ग देवकी स्त्री ६।५०

स्वयंभू — प्रथम तीर्थंकर २।१

स्वयंभू — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम, स्वयं भवतीति स्वयंभूः २४।३५

स्वयंभू — भगवान्‌के १००८ नामोंमें-से एक नाम २५।१००

स्वयंसिष्णु — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११०

स्वर्णाभ — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९९

स्वसंवेद्य — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४५

स्वस्थ — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८५

स्वास्थ्यभाज् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८५

हतदुर्नय — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१०

हर — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम, हरति कर्मशत्रूनिति हरः २४।३६

हर — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४२

हरि (हरिकान्त) — हरिवंशका एक राजा जिसे सर्वप्रथम भगवान् आदिनाथने स्थापित किया था १६।२०९

हरि — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३६

हरिचन्द्र — अरविन्द विद्याधरका पुत्र ५।९१

हरिवाहन — विजयपुरके राजा महानन्दकी वसन्तसेना स्त्रीसे उत्पन्न पुत्र ८।२२८

हविर्भुज् — भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम २४।४०

हविष् — भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२७

आदिपुराण (Adi Purana) - परिशिष्ट

विशिष्ट शब्दसूची (Glossary of Rare and Special Words)

अ

अकश्य — नपुंसक ६।३२

अकारु — धोबी आदिसे भिन्न १६।१८५

अकृत्त — अच्छिन्न २।१५

अकृष्टपच्य — बिना हल जोते हुए अपने-आप पैदा होनेवाला अन्न ३।५६, ४।६

अक्ष — बहेड़ा ३।४९

अक्षग्राम — इन्द्रियोंका समूह ८।७३

अक्षणनीय — अछेद्य ५।१४७

अगोष्पद — अत्यन्त निर्जन जहाँ गायोंका पहुँचना भी कठिन है ऐसे घने वन ४।१११

अग्रमहिषी — प्रधान देवियाँ १०।२१६

अङ्घ्रिप — वृक्ष २।४७

अङ्गज — प्राणी, पक्षमें कामदेव, शरीरधारी अथवा देव २४।१८६

अङ्गलास — शरीरकी मोटाई १०।२०६

अङ्गहार — अङ्ग विक्षेप, नृत्यकालमें अङ्गोंका विशेष रीतिसे चलाना १३।१७९

अच्छोद्य — दृढ़तापूर्वक कहकर १८।३९

अच्युतेन्द्र — सोलहवें स्वर्गका इन्द्र १२।११९

अच्युतेन्द्र — अविनाशी पदसे युक्त, पक्षमें भगवान् ऋषभदेवकी सोलहवें अच्युत इन्द्रकी एक पर्याय २।४१

अतिसूक्ष्म — अत्यन्त विस्तृत १०।४७

अतिवर्ती — स्वच्छन्द प्रवर्तनेवाला १८।४२

अनुक्षपम् — क्षपां क्षपामनु अनुक्षपम्, प्रत्येक रात्रिमें १३।८३

अनुजु — कुटिल १८।९

अनुजिघृक्षा — अनुग्रह करनेकी इच्छा ४।२४

अनुध्यान — स्मरण १६।१४४

अनुप्रयुक्त — छन्दोंकी एक जाति १६।११३

अनूप — जलकी बहुलतासे युक्त देश १६।१८९

अनेकप — हाथी १८।१७९

अनेनस् — निष्पाप १।१६६

अनेहस् — काल ८।४

अन्तर्वेध्नी — गर्भिणी १३।२१२

अन्तर्वत्नी — गर्भिणी २०।२२

अन्धस् — भोजन ३।४९

अन्वयिनिक — जामाताके लिए दिया जानेवाला धन १७।२८८

अन्वीपता — अनुकूलता १।९२

अपघन — अवयव १८।२२३

अपचिति — पूजा ११।४७

अपवर्ग — मोक्ष १।९

अपवर्तिका — यष्टिहारकका एक भेद जिसके बीचमें निश्चित प्रमाणके अनुसार स्वर्ण, मणि, माणिक्य और मोती बीच-बीचमें अन्तर देकर गूँथे जाते हैं १६।८१

अपुनर्भवता — मोक्ष ८।२४४

अप्रतिपत्ति — अज्ञान २३।७०

अब्द — दर्पण ११।४२

अब्द — वर्ष २।४८

अब्द — मेघ २।८०

अब्द — मेघ ५।२१८

अभिगम्य — सेवनीय १४।२१०

अभिमत — योग्य, उचित १७।१७०

अभिज्ञान — पहिचान ७।५७

अभिरूप — मनोज्ञ ४।१०८

अभिष्टव — नाम १।१८

अभिसिसीर्षा — अभिसार-संभोगके लिए गमनकी इच्छा १०।४८

अभूत — अज्ञानी ७।७४

अभ्यस्त — गुणित १०।५५

अभ्युदय — स्वर्गादिका वैभव ५।२०

अमा — साथ २।६४

अमा — साथ ८।२५५

अमेध्यादन — विष्ठाका भोजन १।१४१

अमृतपद — मोक्ष १।१५९

अम्भोजवासिनी — लक्ष्मी १०।१३१

अयन — मार्ग, कालविशेष २।३०

अर्क — मन्दारवृक्ष, सूर्य ३।४९

अरण्यचरक — म्लेच्छोंकी एक जाति जो अधिकतर जंगलोंमें घूमती है १६।१६१

अर्धमाणवक — जिसमें दस लड़ियाँ हों ऐसा हार १६।६१

अर्धगुच्छ — जिसमें चौबीस लड़ियाँ हों ऐसा हार १६।६१

अर्धहार — जिसमें साठ लड़ियाँ हों ऐसा हार १६।५९

अराजू — कुटिल १८।१९२

अलस — भिलसाका तेल १०।५४

अलोकविचक्षण — झूठा बोलनेमें चतुर ७।११२

अवधाटकयष्टि — जिसके बीचमें एक बड़ा और उसके आसपास बाजूमें क्रमसे घटते हुए छोटे मोती लगे हों ऐसी एक लड़वाली माला १६।५३

अवधीक्षण — अवधिज्ञानी ५।१९९

अवनिप — राजा १७।२५२

अवमर्षण — स्पर्श ११।१९४

अवस्थ्य (अवस्था) — अन्तमें होनेवाला फल १३।२००

अवलग्न — मध्य भाग, कमर १२।३५

अवावा (अवावन) — दूर करनेवाला, ओणृ अपनयने इत्यस्माद् धातोर्वनिप् प्रत्ययः १५।१४९

अव्रजिन — निष्पाप ५।१५५

अशोकमहाद्रुम — अशोक वृक्ष-जिसके नीचे भगवान्को केवलज्ञान हुआ है वह वृक्ष समवसरणमें स्थित अशोकवृक्ष २४।४७

अशनायिन् — भूखा ५।१९०

असिपैत्रिक — छुरी ५।१३

अस्पृश्यकारु — नगरके बाह्य रहनेवाले चाण्डाल आदि १६।१८६

अस्वन्त — जिनका अन्त अच्छा न हो ९।३२

अहीश — धरणेन्द्र आदि नागकुमार देव २४।१८६

आ

आङ्‌जस — वास्तविक १।२०४

आतोद्य — वादित्र ४।३८

आत्मनीन — आत्मने हितम् आत्मनीनम् १९।८९

आह्निक — इस लोकसम्बन्धी १७।२१६

आधि — मानसिक व्यथा ६।८२

आप्तपाश — आप्ताभास, कुत्सिताः आप्ताः आप्तपाशाः याप्ये पाशप् २४।४४

आप्यायन — सन्तोषकारक २०।२४

आमिगामिक — सबके अनुकूल १८।१६९

आमुष्मिक — पारलौकिक १७।२१६

आयुर्वेद — वैद्यविद्या १६।१२३

आयुष्य — आयुवर्धक १।२०८

आराम — उद्यान ४।८९

आराम — शरीरादि पर्याय १४।३९

आशुशुक्षण — अग्नि २८।२१४

आहार्य — आभूषण २।२६२

इ, ई

इक्षुपत्वा — कामदेव १६।२६

इङ्‌गितकोविदा — चेष्टाओंके जाननेमें निपुण ६।९८

इज्या — पूजा ४।१०

इन — स्वामी २३।१८०

इन — सूर्य २।२४

इन्द्रकोश — बुरज १९।६५

इन्द्रगोप — बरसातमें निकलनेवाला लाल रंगका एक कीड़ा, वीरबहूटी ९।१४

इन्द्रचाप — इन्द्रधनुष १९।१६

इन्द्रच्छन्द — जिसमें १००० लड़ियाँ हों ऐसा हार; यह सबसे उत्कृष्ट हार है जिसे इन्द्र, चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर पहनते हैं १६।५६

इन्द्रच्छन्दमाणव — इन्द्रच्छन्द हारके बीचमें एक मणि लगा देनेपर इन्द्रच्छन्दमाणव कहलाता है १६।६२

इन्द्रमह — कार्तिकका महीना ११।१७८

इन्द्रदूषम — इन्द्रश्रेष्ठ २३।१६३

इभ — हाथी, ऐरावत २२।३२-५२

इषुधि — तरकश ६।६५

इष्टि — पूजा १३।२०२

ईडा — स्तुति ३।७३

ईडा — स्तुति २४।४६

ईडिडिषन् — स्तुति करनेकी इच्छा करता हुआ २३।१२१

ईति — अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, शलभ, शुक और निकटवर्ती राजा—ये छह ईतियाँ कहलाती हैं ४।१०७

ईश — आदिनाथ २४।३४

उ, ऊ, ऋ

उक्ता — छन्दोंकी एक जाति १६।११३

उडुप — चन्द्रमा १९।१००

उत्कच — उन्मुक्त केश १४।२९

उक्ष — बैल २२।२३३

उत्कर — सूँड ऊपर उठाये हुए १२।२४

उत्प्रोथ — जिसकी नाक ऊपरको उठी हुई है १०।७२

उदस्या — प्यास ११।१६८

उदात्त — प्रशस्त, श्रेष्ठ १०।१७६

उद्वाह — विवाह १७।८०

उद्विक्त — तीव्र उदयसे युक्त १०।११२

उद्बोधनालिका — प्रज्वलित करनेवाली नली, ऐसी नली जिससे सुनार लोग अग्निको फूँकते हैं १।११८

उपघ्न — आश्रय ८।१६६

उपनता — उपस्थित १७।२६९

उपमा — एक अलंकार १६।११५

उपशीर्षक — यष्टि नामक हारका एक भेद १६।४७

उपशीर्षकयष्टि — जिसके बीचमें क्रम-क्रमसे बढ़ते हुए तीन मोती हों ऐसी एक लड़वाली माला १६।५२

उपह्वर — एकान्त स्थान १०।४८

उप — परिग्रह ५।२३२

उपायन — भेंट-उपहार ५।११

उपालम्भ — दोष देना ९।५०

उपोद्घात — प्रस्तावना १।१

उरसिल — चौड़े वक्षस्थलवाला १०।१०४

उस्र — किरण (रश्मि) १०।१३७

ऊर्ध्वकाय — ऊँचा शरीर १५।१९९

ऋक्ष — रीछ, नक्षत्र ३।४९

ऋजुसूत्र — एक नय २४।८८

ए, ऐ, ओ, औ

एकचर्या — एक विहार, अकेले विहार करना १।१६६

एकद्वित्रिलघुक्रिया — छन्दशास्त्रका एक प्रकरण-प्रत्यय १६।११४

ऐकध्य — एकपना ४।१७९

एकावली — यष्टि नामक हारका भेद, एक लड़वाली माला जिसके बीचमें एक बड़ा मणि लगता है १६।५०

एनस् — पाप २।२३

ऐभ — हाथीसम्बन्धी १०।१७

ओकस् — स्थान ४।१

ओदय — उदयाचलसम्बन्धी १३।३९

औरभ्र — उरभ्र, मेढ़ासम्बन्धी १०।६४

औषस — प्रातःकालसम्बन्धी १९।९९

क

कणय — एक हथियारका नाम जिससे लकड़ी छीली जाती है २४।१४५

कण्ठीरव — सिंह १८।१७९

कण्ठ्य — कण्ठस्थानसे उच्चारित १४।३८

कद्वद — कुवचन बोलनेवाले, कुत्सितं वदन्तीति कद्वदाः १०।१०४

कनककणिका — स्वर्णकणिका, सोनेका बुरादा १०।१३७

कनकदर्पण — स्वर्णका दर्पण १०।२०७

करक — झारी ७।२४६

करक — ओला १३।१६१

करज — नख १९।१३२

करट — हाथीका गण्डस्थल ४।१०४

करण — इन्द्रिय अथवा शरीर २।९१

करण — करन्यास, नृत्यकालमें हाथोंका चलाना १३।१७९

करणग्राम — इन्द्रियसंग्रह ४।१६४

कर्णजपरव — चुगली १२।४८

कर्णपत्र — करौंत १०।१०१

करसंबाधा — टैक्सकी बाधा ४।७२

करी — हाथी १८।१७९

कलत्र — नितम्ब १२।२८

कलम्बित — मिश्रित ४।८९

कलाधर — चन्द्रमा ३।४९

कल्याणेन्द्रिय — नीरोग ९।८३

कल्याणी — पुण्यशालिनी ४।१०

कशिपु — भोजन, वस्त्र १८।२५

काचवाहन — काँवरको उठानेवाले ८।२१

काञ्चीयष्टि — मेखला २२।२०६

कापिक — हलवाई ८।२३४

कान्ताधर — सुन्दर ओठोंसे युक्त १०।२८

कान्तारचर्या — वनमें ही आहारार्थ भ्रमण करनेकी क्रिया ५।१६८

कापिल — सांख्यमत १८।६२

कायमान — तम्बूर ८।१६६

कार्पण्य — दीनता ५।७२

कारु — शूद्रवर्णका एक भेद (बढ़ई आदि स्पृश्य शूद्र) १६।१८६

कालकालाभ — अत्यन्त काला १०।९६

काहा — सीमा १३।८८

किञ्जल्क — केशर १२।१३

कुक्कुटसंपात्य — पास-पासमें बसे हुए गाँव ४।१०

कुणप — मुर्दा १०।१००

कुतपस्थान — वाद्योंका न्यास १४।१००

कुधार — हाथियोंपर डालनेका झूल १२।१४२

कुरव — छोटे घमण्डसे युक्त २४।२०७

कुरुवंश — कुरुवंशमें श्रेष्ठ हस्तिनापुरके राजा सोमप्रभ और उनके छोटे भाई श्रेयांस २०।२०

कुलधर — कुलकर, ये तृतीय कालके अन्तमें हुए हैं, इनकी संख्या चौदह है ३।२४

कुलुपत्र — ताम्रपत्र, जिसमें लेन-देन आदि लिखी जाती है २।९९

कुलाय — घोंसला ४।१८

कुलार — कुम्भकार ३।४

कुविन्द — जुलाहा ४।२६

कुवल्ली — बेर ९।७२

कुवल्लीफल — बेर ३।३०

कुसुमेषु — कामदेव ६।६८

कूटनाटक — कपटसे भरा नाटक १७।३८

कूर्च — दाढ़ी १२।३२

कृकवाकुव्रत — मुरगेके समान आचरण करनेवाले १४।१९७

कृष्णपक्ष — आषाढ़ मासके कृष्णपक्षकी प्रतिपदाके दिन भगवान् आदिनाथने इस युगका प्रारम्भ किया था १६।१९०

केतन — चिह्न, ध्वजा ४।८

केशव — नारायण ११।७०

केशाकेशि — बाल पकड़कर लड़ना २४।८८

कोक — चकवा १।६

कोण — वीणा बजानेमें काम आनेवाला दण्ड १८।१४६

कोमल — पल्लवके समान कोमल चरण १४।१४२

क्रमुक — सुपारी १७।२८२

क्षण — उत्सव १०।९९

क्षणदा — रात्रि ८।२१८

क्षणदामुख — रजनीमुख, रात्रिका प्रारम्भकाल १४।८७

क्षणप्रभा — बिजली ६।१४४

क्षतज — खून ८।१०८

क्षपण — एक महीनाका उपवास ८।२०२

क्षामता — कृशता ६।१६४

क्षेम — प्राप्त वस्तुकी रक्षा करना ३।१४

क्ष्माभृत् — पर्वत १८।८०

खरांश — सूर्य १२।३३

खाता — शिखा १९।८३

खातकृत — खँखारा हुआ १३।१४४

ग, घ

गणरात्र — बहुत रात्रियाँ १।१९९

गन्धर्व — गन्धर्व विद्याधर १६।२३३

गम्य — टीकाकार १।४४

गव्यूति — एक कोश ३।९४

गीर्वाणाधिप — इन्द्र १।६९

गुच्छ — जिसमें बत्तीस लड़ियाँ हों ऐसा हार १६।५९

गुरु — पिता ७।९८

गुरु — पिहितास्रव मुनि ७।९९

गुरु — पिता २०।२

गुह्यक — देवविशेष १७।१०१

गृहकोकिल — छिपकली ९।१०२

गोक्षुर — गोखुरू, काँटेदार एक वनस्पति १०।१०१

गोमक्षिका — गायपर बैठनेवाली एक खास प्रकारकी मक्खी जिसे ग्रामीण लोग डाँस कहते हैं २४।४८

ग्राम्यधर्म — मैथुन ५।२८०

घटाम्बर — वस्त्रहीन दिगम्बर मुनि २४।६४

घटोद्भव — अगस्त्य ऋषि १।४३

घूर्ण — चञ्चल ९।२६

च, छ

चक्रध्वज — चक्रके चिह्नसे सहित ध्वजाएँ २२।२३९

चक्राह्वा — चकवी ६।५०

चतुरक्षिका — चार कोनेवाली ३।१७४

चतुष्टय — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप—इन चार आराधना रूप १४।९

चरमाङ्ग — अन्तिम शरीर धारण करनेवाला, तद्भवमोक्षगामी १९।१२६

चषक — पानपात्र, कटोरा, ग्लास ९।४७

चामीकर — सुवर्ण २।५८

चार्वी — सुन्दरी १३।१६७

चित्तजन्मा — काम २।८९

चैत्यद्रुम — चैत्य वृक्ष—जिसके नीचे प्रतिमा विराजमान रहती है ६।२४

चोक्ष — पवित्र, शुद्ध २।५८

चोचचुम्बुचुम्ब — चुम्बन करनेकी निपुणता ७।६७

छन्दोविचिति — छन्दोंका समूह १६।११३

छाया — कान्ति ९।२९

ज, झ

जगत्त्रय — ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक २।११९

जनुष्यन्ध — जन्मान्ध ५।१४६

जन्य — पुत्र ३।२७

जलवाहिन — मेघ ३।१७४

जलाशय — जड़ अभिप्रायवाले, पक्षमें जलसे युक्त ४।२२

जल्पाक — वाचाल, बहुत बोलनेवाला २४।४७

जातृषी — छालकी बनी हुई १६।९

जानभूमि — देश ६।२६

जामी — बहन १५।७०

जाल्म — नीच २।८९

जिघृक्षु — ग्रहण करनेके इच्छुक २४।७८

जिनजननमख — जिनेन्द्रदेवकी जन्मकल्याणक पूजा १।७१

जीमूत — मेघ ४।७९

जीवके २ भेद — १. मुक्त, २. संसारी ५।८८

जीवके अधिगमके उपाय — सत्, संख्या आदि अनुयोग, प्रमाण, नय और निक्षेप २४।९७-९८

त, थ

तनूनपात् — अग्नि ५।२४२

तरलप्रतिबन्धयष्टि — जिसमें सब जगह एक समान मोती लगे हों ऐसी एक लड़वाली माला १६।५४

तरलप्रबन्ध — यष्टि नामक हारका एक भेद १६।४७

तल्प — शय्या ९।२४

तामिस्रपक्ष — कृष्णपक्ष २०।२६८

तामिस्रेतरपक्ष — कृष्ण और शुक्ल पक्ष ३।२१

तायिन् — रक्षक २०।९७

तारवी — तरु-वृक्षसम्बन्धी १४।५०

तारा — आँखकी पुतली १।१८

तिरस्करिणी — परदा १९।११८

तिरीट (किरीट) — मुकुट २०।२३३

तीक्ष्ण — उग्र ९।९

तुणव — वाद्य विशेष २३।६२

तृष — प्यास, विषयवासना २।३३

तृष्णा — तृणोंका समूह ८।५३

तोक — पुत्र ३।३२

तौयास्तिको — आकण्ठ मग्न १९।५६

त्रिकूट — लंकाका आधारभूत पर्वत १६।२

त्रिदोष — वात, पित्त, कफ ११।५५

त्रिपदी — उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य २४।९०

त्रिरत्न — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र २५।२२१

त्रिवर्ग — धर्म, अर्थ, काम १।९६

त्रिसाक्षिकम् — आत्मा, देव और सिद्धपरमेष्ठीकी साक्षीपूर्वक १७।१९९

द, ध

दम — इन्द्रियोंका वश करना २४।४२

दम — दण्ड ११।२७

दम्य — बछड़ा ८।५४

दम्भक — बछड़ा १८।५०

दर — कुल १२।२३

दवथु — सन्ताप ९।१६०

दवीयसी — अत्यन्त दूर रहनेवाला १०।८८

दशप्राण — काव्यके दस गुण: १. श्लेष, २. प्रसाद, ३. समता, ४. माधुर्य, ५. सुकुमारता, ६. अर्थव्यक्ति, ७. उदारता, ८. ओज, ९. कान्ति और १०. समाधि; पक्षमें अवस्था १५।११५

दशावतार — भगवान् ऋषभदेवके महाबल आदि १० पूर्व भव २५।२२३

दात्यूह — कृष्णवर्णका एक पक्षी ५।६

द्वादशगण — समवसरणमें भगवान्के चारों ओर १२ सभा-मण्डप होते हैं जिनमें क्रमसे: १. गणधरादि मुनिजन, २. कल्पवासिनी देवियाँ, ३. आर्यिकाएँ और मनुष्योंकी स्त्रियाँ, ४. भवनवासिनी देवियाँ, ५. व्यन्तरिणी देवियाँ, ६. ज्योतिष्क देवियाँ, ७. भवनवासी देव, ८. व्यन्तरदेव, ९. ज्योतिष्कदेव, १०. कल्पवासी, ११. मनुष्य और १२. पशु बैठते हैं। यही द्वादशगण कहलाते हैं २३।१९३-१९४

दाम — करधनी १४।१३

दिध्यासु — ध्यान करनेके इच्छुक २।६९

दिव्य — स्वर्गसम्बन्धी १०।१७

दिव्यचक्षुस् — अवधिज्ञानरूपी नेत्र धारण करनेवाले २५।२२३

दिव्यहंस — अहमिन्द्र, भगवान् आदिनाथका जीव ११।१२७

दिव्याष्टगुण — १. अनन्तज्ञान, २. अनन्तदर्शन, ३. अव्याबाधसुख, ४. अनन्तवीर्य, ५. सम्यक्त्व, ६. सूक्ष्मत्व, ७. अगुरुलघुत्व, ८. अनन्तवीर्य २५।२२३

दिव्यास्थानी — समवसरणभूमि २३।२

दिव्योपयोग — १. ज्ञानोपयोग, २. दर्शनोपयोग २५।२२३

दीधितिमालिन् — सूर्य १।९३

दीपांशु — दीपककी लौ ९।७

दीर्घनिद्रा — मरण ५।१०६

दूष्यकुटी — कपड़ेकी चाँदनी ८।१६०

दृश — आँख, दर्शन २५।२२३

देवच्छन्द — जिसमें मोतियोंकी सौ लड़ियाँ हों ऐसा हार १६।५८

देवधिष्ण्य — देवगृह, जिनमन्दिर १२।८९

देवमातृक — मेघकी वर्षापर निर्भर रहनेवाले देश १६।१०७

दोष — भुजा २०।८६, ८५

दोह — दुहना १६।१२५

दोहद — गर्भकालीन इच्छा ५।१३७

दौर्गत्य — दारिद्र्य ६।१३३

द्युम्न — सुवर्ण १।५

धनुर्वेद — शस्त्रविद्या १६।१२३

धनुष् — चार हाथ प्रमाण ३।६४

धम्मिल्ल — बालोंका बँधा हुआ जूड़ा १०।१४१

धात्रीफल — आँवला १६।५

धारागृह — फव्वारा ८।२८

धेनुक — गायोंका समूह ८।३१

न

नक्षत्रमाला — जिसमें २७ लड़ियाँ हों ऐसा हार १६।६०

नखंपच — अत्यन्त तपानेवाला १५।१५६

नक्तं — रात्रि ११।१४

नभस्वत् — वायु ११।१८२

नयसमूहयुक्त — सुदर्शनचक्र, पक्षमें नैगमादि नयोंका समूह २४।१८६

नलिन — कमल ३।१३

नवकेवललब्धि — १. केवलज्ञान, २. केवलदर्शन, ३. क्षायिकदान, ४. क्षायिकलाभ, ५. क्षायिकभोग, ६. क्षायिकउपभोग, ७. क्षायिकवीर्य, ८. क्षायिकसम्यक्त्व, ९. क्षायिकचारित्र २५।२२३

नवपुण्य — नवधाभक्ति: १. प्रतिग्रह (पड़गाहन), २. उच्चासन, ३. पादप्रक्षालन, ४. अर्चा, ५. प्रणाम, ६. मनशुद्धि, ७. वचनशुद्धि, ८. कायशुद्धि, ९. एषणाशुद्धि २०।८१, ८५

नव्य — नवीन १६।११४

नाभि — चक्रके बीचका बड़ा मणि १६।६०

नाभ्य — नाभिसे सम्बन्ध रखनेवाला १।८५

नाम्न्य — नामसम्बन्धी २३।१३१

निधुवन — सम्भोग १९।६२

निपान — कुआँ (पानीका गड्ढा) ४।७९

निर्याण — अपाङ्गप्रदेश (आँखके कटाक्षका निकटवर्ती प्रदेश), पक्षमें मृत्यु २३।१९२

निर्वापिणी — सुखकारिणी, सन्तोषदायिका ५।७४

निविष्ठ — प्रविष्ट ७।३८

निवेदन — समर्पण १३।२०४

निर्वृति — निर्वाण, मोक्ष २।४०

निर्वृति — सुख ५।९४

निर्वृत्ति — समाप्ति १३।२००

विशंक — सन्देह रहित ५।८६

निराति — अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, शलभ, शुक और निकटवर्ती राजा इन छह ईतियोंसे रहित १३।१६९

निवात — वायुके संचारसे रहित स्थान १८।९९

निशान — तीक्ष्ण करना ४।८६

निःश्रेयस — मोक्ष १।१२०

निःश्रेयस — मोक्ष ५।९८

निर्गम — निकलना १४।१४६

निष्क्रमण — दीक्षा धारण करना ११।४६

निषङ्ग — तरकश १६।४२

निष्यूत — बुना हुआ १३।१४४

निष्ठा — समाप्ति १३।८५

निर्हिनायु — जिसकी आयु पूर्ण हो चुकी है, मरणोन्मुख ५।२६८

नीकाश — सदृश १२।१०५

नीड़ — आश्रय ७।५५

नीहारंशु — चन्द्रमा ५।१४

नैगम — वैश्य १६।२४७

नैग्रन्थी — दिगम्बरमुनिसम्बन्धी दीक्षा १६।२

प, फ

पङ्कजवासिनी — लक्ष्मी १८।२४

पञ्चकल्याण — १. गर्भ, २. जन्म, ३. तप, ४. ज्ञान, ५. मोक्ष २५।२२२

पञ्चपरमेष्ठी — १. अरहन्त, २. सिद्ध, ३. आचार्य, ४. उपाध्याय, ५. साधु २५।२२२

पञ्चयन्ती — विस्तार करती हुई ४।७१

पञ्चाश्चर्य — १. रत्नवृष्टि, २. पुष्पवृष्टि, ३. गन्धोदकवृष्टि, ४. मन्दसुगन्धित पवन और ५. 'अहो दानं अहो दानम्' की ध्वनि ८।१७४

पटवास — कपड़ोंको सुगन्धित करनेवाला चूर्ण १४।८८

पटुविद्या — विद्यापहरण विद्या २४।१

पणव — वाद्य विशेष २३।६२

पतत्पति — पक्षियोंका स्वामी गरुड़ १।२०८

पतिलम्ब — अपनेको हठपूर्वक पति बतलानेवाले ६।१७२

पत्री — पक्षी, बाण २२।२०२

पत्रिन् — पक्षी १९।१४०

पदशास्त्र — व्याकरणशास्त्र १६।११२

पद्मविष्टर — पद्मासन २।३

पद्मा — लक्ष्मी, शोभा ३।११८

पद्मा — लक्ष्मी ३।१०७

पद्माकर — तालाब, कमलवन ११।१७

पयस्विनी — दूध देनेवाली गाय १६।१९६

पयोधर — मेघ ३।१७३

परचक्र — पराष्ट्र ५।११

पर्जन्य — मेघ ६।९०

परासुता — मृत्यु ९।३०

परिक्रम — नृत्यकालमें पादविक्षेप अथवा फिरकी लगाना १३।१७९

परिक्रम — पदविन्यास १८।२००

परिगति — प्रदक्षिणा २३।२१०

परिणत — पके हुए १७।२८२

परिणेता — विवाह करनेवाले अथवा परि उपसर्गपूर्वक नी धातुका रूप—विवाह करेंगे १५।७१

परिष्वक्त — आलिंगित १७।२२१

पल्वल — छोटा तालाब १८।१३२

पाकेसस्य — पके अन्नसे युक्त १६।१०८

पाणविक — पणववाद्यको बजानेवाला २३।६३

पादति — पैदल सैनिकोंका समूह १७।८

पाप — पापी ११।१९

पार्थिव — राजा, पक्षमें पृथ्वीसम्बन्धी ७।८१

पार्थिवकुञ्जर — श्रेष्ठ राजा ७।८१

पारदृश्वरी — पारको देखनेवाली २८।६

पावक — अग्नि १०।१३७

पुङ्ख — बाणका पिछला भाग ४।६३

पुङ्गव — बड़ा बैल ८।९६

पुत्री — पुत्रयुक्त ७।१४०

पुरोगम — प्रधान पुरुष २४।१०

पुलोमजा — इन्द्राणी १४।८

पुष्कर — वाद्यविशेष १।६६

पुष्कर — हाथीकी सूँडका अग्रभाग ३।८

पुष्करा — कमलरूप पूजाकी सामग्री २।२७

पुष्करिणी — कमलोंसे युक्त वापिकाएँ २२।१७८

पुष्प — पुष्पवृष्टि १२।४८

पुष्पवन्तौ — सूर्य-चन्द्रमा ८।१

पूषन् — सूर्य १३।१६८

पृथा — विशाल २३।७

पोगण्ड — विरलाङ्ग १०।९८

प्रकाण्डक — यष्टि नामक हारका एक भेद १६।४७

प्रकाण्डकयष्टि — जिसके बीचमें क्रमसे बढ़ते हुए पाँच मोती हों ऐसी एक लड़वाली माला १६।५३

प्रकृति — प्रजा ८।२५३

प्रज्ञा — प्रज्ञापारगामी मुनि १६।१२८

प्रणाम्या — असंमत-अप्रिय स्त्री १।१०६

प्रताथिनी — विस्तारिणी २।६

प्रतायिनी — विस्तृत २३।१४८

प्रतिक्रमण — लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित्त लेना २०।७१

प्रतिपत् — शिष्य, श्रोता १।८२

प्रतियातना — प्रतिबिम्ब १४।४९

प्रतिशिष्टि — प्रतिनिधि, तत्सदृश १६।८

प्रतीक्ष्य — पूज्य ४।८८

प्रत्यवर — नीचेका पद धारण करनेवाला १०।१७१

प्रत्यय — ज्ञान ७।७४

प्रमित्सु — नापनेके इच्छुक १५।८८

प्रवीचार — मैथुन ५।२८०

प्रवीक्षण — मैथुन १०।२०२

प्रव्रज्या — दीक्षा १०।१६९

प्रसत्ति — प्रसन्नता ५।३

प्रसेन — गर्भस्थ बालकके ऊपरका आवरण ३।५०

प्रस्तार — छन्दशास्त्रका एक प्रकरण-प्रत्यय १६।११४

प्रस्नुवाना — दूध देती हुई १८।८४

प्राज्या — श्रेष्ठा २४।१

प्रातर — आगे रहनेवाले २४।१०

प्रालम्ब — हारविशेष ७।२३४

प्रालेयांशु — चन्द्र १३।१६५

प्रावृषेण्य — वर्षाकालका ११।१६

प्रांशु — ऊँचा ३।७७

प्रीतिकर — प्रीति उत्पन्न करनेवाला १०।१२

फलकहार — अर्धमाणव हारके बीच यदि मणि युक्त हो तो उसे फलकहार कहते हैं १६।६५

ब, भ

बठर — स्थूल २२।६३

बद्धजीव — अष्टकर्मसे युक्त संसारी जीव २।१८

बन्ध — आत्मा और कर्मका संश्लेष सम्बन्ध २४।११४

बलाहकाकार — मेघके आकार २३।१५

बहुरूपक — अनेक भूमिकाओंसे युक्त १४।१०४

बहुश्रेयान् — अत्यन्त कल्याणसे युक्त २०।११

बाधित — सर्वज्ञके द्वारा कही हुई बात १।८९

बिम्बोष्ठ — लाल ओंठ १०।३३

बुभुत्सा — जाननेकी इच्छा २।३०

बुभुत्सु — जाननेका इच्छुक २३।२०

बोधि — रत्नत्रय १।६

ब्रध्न — सूर्य १२।१०

ब्रध्न — सूर्य १८।१७८

भंसगण — नक्षत्रोंका समूह १३।१६९

भवभीरु — कायर योद्धा २४।३

भरतात्मज — भरत चक्रवर्तीका प्रथम पुत्र अर्ककीर्ति १।१४

भागवत — भगवान्सम्बन्धी २०।१६१

भागीरथी — गंगा नदी १८।२०७

भिस — मृणाल १३।१९३

भुजङ्गी — साँप ९।२१०

भुजिष्या — चेटी ८।१२३

भूतवादी — पृथिव्यादि चार भूतोंके द्वारा जीवकी उत्पत्ति माननेवाला चार्वाक ५।६६

भूतोपसृष्ट — जिसे प्रेतकी बाधा है ५।६२

भोक्ता (भोक्तृ) — भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१००

म

मकराकर — समुद्र २।१६

मङ्गलाष्टक — आठ मंगलद्रव्य: १. छत्र, २. ध्वज, ३. कलश, ४. दर्पण, ५. चामर, ६. सुप्रतिष्ठित, ७. वर्धमान, ८. पंखा २९।२२२

मङ्गलतन्तु — गलेका धागा जिसके नीचे सोनेके पाँच दाने लगे हों ऐसा फलकहार १६।६६

मदनोत्कोचकारिन् — कामके उद्रेकको करनेवाला १०।१४१

मधुकृत् — मधुमक्खियाँ १०।३३

मधुव्रत — भ्रमर, पक्षमें मद्यपायी २२।११६

मध्येयवनिकम् — परदाके भीतर १९।९५

मनु — भगवान् आदिनाथ १५।७०

मनु — भगवान् वृषभदेवका पुत्र १५।७०

मन्द्रा — गंभीर स्वरवाली ८।१७५

मन्मनाकूजित — अव्यक्त-तोतली बोली १४।१६४

मन्वन्तर — एक कुलकरसे दूसरे कुलकरके होनेका मध्यवर्ती काल ३।८४

मरीचिका — मृगतृष्णा १।५६

मसृण — स्निग्ध, चिकनी ११।२८

महाद्रुम — कल्पवृक्ष ४।१३७

महाप्रज्ञप्तिविद्या — विद्याधरोंको सिद्ध होनेवाली विद्याओंमें-से एक प्रमुख विद्या १९।१२

महाप्राव्राज्य — दिगम्बरी दीक्षा ४।१७४

महार्घ्य — महामूल्य १४।७८

महास्थपति — चक्रवर्तीका रत्नस्वरूप विश्वकर्मा ७।२१०

माणव — जिसमें २० लड़ियाँ हों ऐसा हार १६।५९

मार्गद्वय — १. शब्दालंकार, २. अर्थालंकार १।९०

मृत्तिका — अच्छी मिट्टीसे बने हुए बर्तन १६।१२२

मुक्तजीव — अष्टकर्मरहित शुद्ध जीव, कर्मबन्धनसे मुक्त २।१८

मुनीन्द्र — मुनियोंमें सूर्य, मुनीनाम् इनः ११।७६

मूर्धज — बाल १।२

य, र

मूषा — धातु गलानेका पात्र १०।४३

मृग — पशु ५।४१

मृगयु — शिकारी ११।२०२

मेधाविनी — अत्यन्त बुद्धिमती १६।१०८

मेरवी — मेरुसम्बन्धी १३।२०९

मोच — कदली १।५४

मौख — मुखसम्बन्धी १४।११९

यतिचर्या — मुनियोंके आहारकी विधि २०।२

यवीयस् — तरुण १८।११८

यशस्य — यशको बढ़ानेवाला ५।२८

यादस् — जलजन्तु १४।६६

यामिनी — रात्रि ५।१

यायजूक — पूजा करनेवाला ४।२८

युग — जुआ (चार हाथ प्रमाण) २२।६४

योग — समाधिमरण ५।१४२

योग — अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति होना १६।१६८

योगबीज — ध्यानके साधन २।२२१

योगोद्ध — वज्रनाभिके पिता वज्रसेन महाराज मुनि होनेपर योगोद्ध कहलाये ११।४९

रजस्वला — परागसे सहित, पक्षमें मासिकधर्मसे युक्त स्त्रियाँ २२।१२६

रत्नसमुद्गक — रत्नोंका पिटारा १६।१६१

रत्नावली — रत्नोंकी वह माला जो हीरों और मणियोंसे चित्रित होती है १६।५०

रथकड्या — रथसमूह ३।१६१

रथाङ्ग — गाड़ीका पहिया ५।१२७

रश्मिकलाप — जिसमें ५४ लड़ियाँ हों ऐसा हार १६।५९

रसातल — नरक १०।२७

राजक — राजाओंका समूह १।५२

राजत — चाँदीके बने २२।२१०

राजन्वती — उत्तम राजासे युक्त २।६

राजन्वती — योग्य राजासे युक्त पृथिवी १७।७७

राजा — चन्द्रमा ५।२०४

राम — बलभद्र १।२

रिरंसा — रमण-क्रीड़ाकी इच्छा ४।२२

रूपक — नाटक १६।१०४

रेचक — भ्रमण, नृत्य करते-करते फिरकी लगाना १४।१२१

रोदसी — आकाश और पृथिवीका अन्तराल १२।८८

रौक्म — सुवर्ण सम्बन्धी २।९०

व

वज्रक — वज्रके समान सुदृढ़ जाँघोंवाले, पक्षमें भगवान् ऋषभदेवकी पूर्वपर्यायका नाम १४।४८

वज्रनाभि — वज्रके समान स्थिर नाभिसे युक्त, पक्षमें भगवान् ऋषभदेवकी पूर्व भवपरम्पराका एक नाम १४।५०

वज्रार — वज्रकी खान १९।४२

वज्री — इन्द्र ४।१८

वयस्या — तरुण अवस्थासे युक्त १०।२०६

वर्ण — ब्राह्मणादिवर्ण, पक्षमें अक्षर २४।१८६

वर्षधरकञ्चुकी — अन्तःपुरके नपुंसक सेवक ६।९५

वर्षवृद्धिदिन — जन्मोत्सवका दिन ५।२८

वर्षीयस् — वृद्ध १८।११८

वराक — दीनप्राणी, बेचारा १७।३५

वरारोहा — उत्तम स्त्री १५।७८

वरिव्रष्ट — अतिपाक १७।२४६

वरिव्रष्टि — अतिछेदन १७।२४६

वलिभ — नाभिरेखाओंसे युक्त ६।६७

वल्लभा — प्रिय देवाङ्गनाएँ ४।१०९

वल्लूर — सूखा मांस १०।५८

वसुन्धरा — पृथिवी ६।२८

वंशोचित — वंशके योग्य, पक्षमें बाँसके योग्य १४।११९

वाग्मिन् — प्रशस्त वचन बोलनेवाला १।१७५

वाङ्मय — व्याकरण, छन्द और अलंकारशास्त्रके समुदायको वाङ्मय कहते हैं १७।११

वाचंयमत्व — मौनव्रत १८।११

वाजिवदन — किन्नर १९।६७

वातरशन — दिगम्बर २।६४

वातवल्कला — दिगम्बर २।१८

वादिन् — शास्त्रार्थ करनेवाले १।८६

वार — वृक्षसम्बन्धी ३।५८

वालधि — पूँछ १२।९

वालधि — पूँछ ५।१०२

वास्तव्य — पतिपनेका चिह्न ३।१३

वास्तुविद्या — मकान बनानेकी विद्या १६।१२२

विकच — विकसित २३।४०

विकृत्य — विक्रिया करके ५।२१४

विचक्षण — विद्वान् १।६२

विचतुरक्रीडा — विशिष्ट अङ्‌गोंसे पूर्ण क्रीड़ा १८।१८४

विजयच्छन्द — जिसमें पाँच सौ लड़ियाँ होती हैं ऐसा हार; इसे नारायण तथा बलभद्र पहनते हैं १६।५७

वितस्ति — बारह अंगुलकी एक वितस्ति होती है १८।३

विदेह — शरीररहित मुनि ४।५३

विधुबोध — चन्द्रमाके समान शुक्ल १९।१६१

विनेय — शिष्य ११।१७७

विप्रलब्ध — ठगा हुआ ११।२०५

विप्रलम्भक — वञ्चक, ठगनेवाले ११।१९१

विभावरी — रात्रि ४।१७४

विमान — प्रमाणरहित, अत्यन्त विस्तृत १०।२०४

विमान — प्रमाण करता हुआ १४।११३

वियुत — दस लाख १०।९७

विरस — नीरस ६।३७

विवक्षा — कहनेकी इच्छा २४।८९

विवक्षु — कहनेका इच्छुक १।२७

विविक्ता — पवित्रा २३।८४

विवित्सु — जाननेके इच्छुक २८।१८

विशङ्कट — विशाल १७।१८८

विशिख — बाण ९।९८

विश्राणन — दान २८।१

विश्वजनीन — सर्वहितकारी १७।३

विश्वदिक्कम् — सब दिशाओंमें २३।२२

विश्वधृत् — भगवान् ऋषभदेव १।८८

विश्वम्भरी — पृथिवीका नाम २८।१०४

विश्वास्या — विश्वतोमुखी, जिसके चारों तरफ गोपुरद्वार थे, पक्षमें जो तत्त्वोंका प्रतिपादन करनेवाली थी २४।१८६

विष्वक् — सर्वत्र २०।२

विष्वाण — भोजन २३।१२

विष्टि — बेगार कराना १६।१६८

विष्टिपुरुष — मजदूर ८।२३८

विसंस्थुलासनस्थ — नाना प्रकारके अटपटे आसनोंमें स्थित २।१७०

वेणुध्मा — बाँसुरी बजानेवाले २३।६४

वैदग्धी — शोभा २।१३४

वैदग्धी — सौन्दर्य, चतुराई २४।१८

वैदग्ध्य — चतुराई ४।८६

वैधस्य — धृष्टता, लज्जा २४।१७

वैशाखस्थ — पैर फैलाकर खड़े हुए २३।१०८

व्यतिकर — कार्य ६।२०७

व्यलीक — असत्य १८।१९९

व्यलीक — शोक १३।४०

व्याधि — शारीरिक व्यथा ६।८२

व्युत्सृष्टकाय — जिसने शरीरसे ममत्वभाव छोड़ दिया है २४।६६

श

शङ्ख — नौ निधियोंमें एक निधि २२।१४६

शतघ्नीचर — शतघ्नी नामक तोप १०।१४

शक्रसख — इन्द्र ८।२८८

शताध्वर — इन्द्र १३।११७

शम्बु — अजगर ८।४

शरद् — वर्ष, हायनोऽस्त्री शरत्समाः २४।८

शरीरान्वयिगुण — वपुः, कान्ति, दीप्ति, लावण्य, प्रियवाक्यता और कलाकुशलता—ये शरीरान्वयी गुण हैं १६।२१८

शलाकापुरुष — त्रेसठ शलाकापुरुष २२।४९

शबर — म्लेच्छोंकी एक जाति १६।१६१

शाद्वल — हरी-हरी घाससे युक्त २२।१३३

शालमातुर — सौ माताओंका पुत्र ४।३६

शातित — तोड़े हुए, गिराये हुए १२।९१

शार — विविध वर्णवाली १८।२०३

शार्वर — शर्वरी-रात्रिसम्बन्धी ८।१८४

शिखावल — मयूर ९।१७

शिखावल — मयूर १९।१२०

शिलोच्चय — पर्वत १३।८४

शिवा — शृगाल ८।१४४

शीतक — मन्द, कार्यमें देर करनेवाला १०।७

शीतलिका — व्यजन, पंखा ८।४६

शीर्षक — यष्टि नामक हारका एक भेद १६।४७

शीर्षकयष्टि — जिसके बीचमें एक बड़ा मोती लगा हो ऐसी एक लड़की माला १६।५२

शुचि — ग्रीष्म ऋतु, आषाढ़ ६।५१

शुद्धान्त — अन्तःपुर १७।१७७

शुभंयु — कल्याणसे युक्त, शुभमस्ति येषां ते शुभंयवः ११।१३८

श्रद्धादिगुणसम्पन्न — १. श्रद्धा, २. शक्ति, ३. भक्ति, ४. विज्ञान, ५. अलुब्धता, ६. क्षमा और ७. त्याग—इन सात गुणोंसे युक्त २०।८१-८४

श्रुत — ज्ञान २।५६

श्रावक — ग्यारहवें श्रेयांसनाथ तीर्थंकरका पुराण १।६५

श्रीधर — लक्ष्मीके धारक, पक्षमें भगवान् ऋषभदेवकी पूर्वभवपरम्पराका देवपर्यायका नाम १४।४९

श्रेयान् — कुरुजांगलदेश हस्तिनापुरके राजा सोमप्रभका छोटा भाई २०।३१

श्रोतुः आठ गुण — १. शुश्रूषा, २. श्रवण, ३. ग्रहण, ४. धारण, ५. स्मृति, ६. ऊह, ७. अपोह, ८. निर्णीति

श्वेतभानु — चन्द्रमा १३।१६३

ष

षट्कर्म — असि, मषि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य—ये छह कर्म हैं १६।१९०

षड्भेदभाव — १. जीव, २. पुद्गल, ३. धर्म, ४. अधर्म, ५. आकाश, ६. काल २५।२२२

षाड्गुण्य — सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, आश्रय—ये छह गुण हैं ४।२३

स

संक्रन्दन — इन्द्र १२।९५

संचार — पादविक्षेपके सहित २३।१९४

सजानि — स्त्रीसहित ३।७५

सजानि — स्त्रीसहित ९।१४८

संज्वहार — भयानक ७।५६

सत्त्वानुपङ्गिगुण — सत्य, शौच, क्षमा, त्याग, प्रज्ञोत्साह, दया, दम, प्रशम और विनय—ये सत्त्वानुपङ्गी गुण हैं

सदाद्य — सत्को आदि लेकर: सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व, निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान—ये अनुयोगद्वार २४।१०१

सधर्मा — समान २।३७

सप्रेक्षी — सहचरी ७।४८

सनाभि — बन्धु १२।१०

सपर्या — पूजा ५।१९१

सप्तकक्षा — हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल, बैल, सुभट, नर्तकी—इन सात कक्षाओंसे युक्त २२।२५६

सप्तनय — १. नैगम, २. संग्रह, ३. व्यवहार, ४. ऋजुसूत्र, ५. शब्द, ६. समभिरूढ़, ७. एवंभूत २४।१०२

सप्तार्चिस् — अग्नि २४।७०

सभाग — सभायुक्त २२।४

सभावना — सभाओंके रक्षक देव १०।६५

समया — समीप २२।२०७

समवृत्त — जिसके चारों चरण एक समान अक्षरोंवाले हों ऐसा छन्द १६।११४

समा — कालविभाग ३।१९

समाहित — एकाग्रचित्त ६।२४

समिद्ध — अत्यन्त तेज ५।३

समीहा — चेष्टा ५।३४

सरीसृप — पृथिवीपर सरकनेवाले जीव ५।८६

सर्वज्ञोपज्ञ — सर्वज्ञके द्वारा प्रथम-उपदिष्ट ५।८९

सर्वार्थसिद्धिनाथ — सब सिद्धियोंके स्वामी, पक्षमें भगवान् ऋषभदेवकी पूर्वभव-परम्परामें अहमिन्द्र हुए १४।५०

सरस्वत् — समुद्र २०।३६

सलय — तालसे सहित १३।१७९

साकूत — अभिप्रायवती १४।८६

साचिव्य — सहायता ८।२०९

सात्त्विकबल — आत्मबल १८।२१०

साधन — सेना ४।२४

साधन — सेना ८।४१

साधारण — देशका एक भेद १६।१५९

साध्वस — भय १।५४

सानुजन्मा — छोटे भाइयोंसे सहित २।१०

सामायिक — चारित्रका एक भेद २०।७१

सामि — आधा १९।१७२

सारव — शब्दसहित १०।२०८

सारव — सरयूनदी २०।२०८

सार्थ — स्वहितकारी ७।३८

सार्वभौमत्व — चक्रवर्तीपना २४।१२८

सारस — सरोवरसम्बन्धी १६।२१३

सासार — धाराप्रवाह वर्षामें सहित १२।१०५

सितच्छदावली — हंसपङ्क्ति १६।२१४

सितांशुकप्रतिच्छन्न — सफेद वस्त्रसे ढँका हुआ १७।२०५

सुत्रामन् (सुत्रामा) — इन्द्र १५।१, १२।७५

सुदती — सुन्दर दाँतोंवाली स्त्री १९।१२९

सुधाशो — देव १।१३

सुधासूति — चन्द्रमा ६।८३

सुपर्वा — उत्तम पोरोंसे सहित १०।१३६

सुरद्रुम — कल्पवृक्ष २०।२७०

सुरभि — कामधेनु १७।४२

सुरसद्मन् — स्वर्ग १२।८९

सुराग (सुर+अग) — कल्पवृक्ष ४।८२

सुराग — अमृतसम्बन्धी ११।१५०

सौमुख्य — अनुकूलता १४।९१

सौरभेय — वृषभ १५।४२

सौरी — सूर्यसम्बन्धी १२।७०

स्तन्य — दुग्ध पिलानेमें १४।१६५

स्तम्बेरम — हाथीसम्बन्धी १०।१७

स्थानीय — राजधानीका दूसरा नाम १६।१६३

स्नानद्रोणी — स्नान करनेका टब १६।५

सूक्ष्मादि — सूक्ष्म, अन्तरित, दूरवर्ती पदार्थ २४।२

सूति — उत्पत्ति २४।२

सूत्र — यष्टिका एक भेद, एक लड़वाली माला जिसमें बीचमें नीचे एक मणि लगा रहता है १६।५०

सूत्रधार — शिल्पाचार्य, मकान आदिका काम करानेवाला १६।२५६

संख्या — छन्दशास्त्रका एक प्रकरण-प्रत्यय १६।११४

संविग्न — संसारसे भयभीत होकर वैराग्यमें तत्पर रहनेवाले पुरुष २४।७७

संवृति — भ्रान्ति ५।४०

संस्थान — उत्तरीयवस्त्र १९।११७

संस्थ्याय — रचनाविशेष १६।४४

संहार — प्रलयकाल २०।३५

सोपान — फलकहारमें नीचे यदि तीन दाने लगे हों तो उसे सोपान कहते हैं १६।६६

सौगन्धिक — सुगन्धित पदार्थ १४।१७४

स्पृश्यकारु — नाई आदि १६।१८६

स्फाति — वृद्धि १।२०७

स्फाति — विस्तार १४।३१

स्वःपृष्ठ — स्वर्गश्रेष्ठ इन्द्र १७।२२३

स्वभ्यस्त — अच्छी तरह अभ्यास किया हुआ १।१३२

स्वस्थ्य — स्वर्गकी प्राप्तिका साधक १६।७

स्वरुद्भूतगन्ध — स्वर्गमें उत्पन्न होनेवाली सुगन्धित वायु १२।५०

ह

स्वस्रीय — भानजा १०।४३

स्वापतेयक — धन २४।२८

स्वायंभुवी — आदिनाथ भगवान्की वाणी १।९४

स्वायंभुव — स्वयंभू भगवान् ऋषभदेव-द्वारा कहा हुआ १४।११२

स्रग्धरा — मालाको धारण करनेवाली ४।७६

हरिविष्टर — सिंहासन ५।३१४

हार — यष्टि-लड़ियोंके समूहसे बनी माला हार कहलाती है १६।५८

हार — जिसमें एक सौ आठ लड़ियाँ हों उसे हार कहते हैं १६।५९

हारिन् — सुन्दर ९।२४

हार्य — मनोहर १७।१२२

हिमानी — अत्यधिक बर्फ, महती हिमानी २२।१२७

हिरण्मयी — सुवर्णमयी १३।८९

हृदिशय — कामदेव १८।९७

हृषीक — इन्द्रिय २।१०६